

श्रीअरविन्द

योग-समन्वय

श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी



श्रीअरविन्द

योग-समन्वय

श्रीअरविन्द आश्रम

पाण्डिचेरी

प्रथम स स्करण १९६९
द्वितीय स स्करण १९९०
तृतीय आवृत्ति २०१२

अनुवादक : जगन्नाथ वेदाल कार

Rs 360
ISBN 978-81-7058-183-3

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट १९६९, १९९०
प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पॉण्डिचेरी ६०५ ००२
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

Yoga-Samanvay (Hindi)
The Synthesis of Yoga by Sri Aurobindo
Translator: Jagannath Vedalankar

First edition 1969
Second edition 1990
Third impression 2012

© Sri Aurobindo Ashram Trust 1969, 1990
Published by Sri Aurobindo Ashram Publication Department
Pondicherry 605 002
Web http://www.sabda.in

Printed at Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry
PRINTED IN INDIA

विषय-सूची

भूमिका

समन्वय की शर्तें

१. जीवन और योग	...	३
२. प्रकृति के तीन पग	...	८
३. त्रिविध जीवन	...	१९
४. योग की प्रणालियां	...	३१
५. समन्वय	...	४१

भाग १

दिव्य कर्मों का योग

१. चार साधन	...	५३
२. आत्म-निवेदन	...	७०
३. कर्म में आत्म-समर्पण—गीता का मार्ग	...	९१
४. यज्ञ, त्रिदल-पथ और यज्ञ के अधीश्वर	...	१०८
५. यज्ञ का आरोहण (१) : ज्ञान के कर्म—चैत्य पुरुष	...	१३६
६. यज्ञ का आरोहण (२) : प्रेम के कर्म—प्राण के कर्म	...	१६०
७. आचार के मानदंड और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य	...	१९०
८. परम इच्छाशक्ति	...	२१०
९. समता की प्राप्ति और अहं का नाश	...	२२३
१०. प्रकृति के तीन गुण	...	२३४
११. कर्म का स्वामी	...	२४५
१२. दिव्य कर्म	...	२६७
१३. अतिमानस और कर्मयोग	...	२८०

भाग २

पूर्ण ज्ञान का योग

१. ज्ञान का लक्ष्य	...	२८९
२. ज्ञान की भूमिका	...	३०२
३. विशुद्ध बुद्धि	...	३१९
४. एकाग्रता	...	३१९
५. त्याग	...	३२८
६. ज्ञानयोग की साधन-पद्धतियों का समन्वय	...	३३३
७. देह की दासता से मुक्ति	...	३४६
८. हृदय और मन के बन्धन से मुक्ति	...	३५३
९. अहं से मुक्ति	...	३५९
१०. विश्वात्मा का साक्षात्कार	...	३७१
११. आत्मा की अभिव्यक्ति के प्रकार	...	३७८
१२. सच्चिदानन्द का साक्षात्कार	...	३८८
१३. मनोमय सत्ता की कठिनाइयां	...	३९७
१४. निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म	...	४०६
१५. विराट् चेतना	...	४१५
१६. एकत्व	...	४२४
१७. पुरुष और प्रकृति	...	४३१
१८. पुरुष और उसकी मुक्ति	...	४४१
१९. हमारी सत्ता के स्तर	...	४९२
२०. निम्न त्रिविध पुरुष	...	४६४
२१. आत्म-अतिक्रमण की सीढ़ी	...	४७२
२२. विज्ञान	...	४८२
२३. विज्ञान की प्राप्ति की शर्तें	...	४९५
२४. विज्ञान और आनन्द	...	५०५
२५. उच्चतर और निम्नतर ज्ञान	...	५१९
२६. समाधि	...	५२७
२७. हठयोग	...	५३६
२८. राजयोग	...	५४५

भाग ३

भगवत्प्रेम का योग

१. प्रेम और त्रिमार्ग	...	५५५
२. भक्ति के हेतु	...	५६२
३. भगवन्मुख भाव	...	५७१
४. भक्ति का मार्ग	...	५८०
५. भागवत व्यक्तित्व	...	५८६
६. भगवान् का आनन्द	...	५९५
७. आनन्द-ब्रह्म	...	६००
८. प्रेम का रहस्य	...	६०६

भाग ४

आत्मसिद्धि योग

१. पूर्णयोग का मूल सिद्धान्त	...	६१५
२. सर्वांगीण पूर्णता	...	६२२
३. आत्म-पूर्णता का मनोविज्ञान	...	६३०
४. मानसिक सत्ता की पूर्णता	...	६४०
५. आत्मा के करण	...	६५२
६. शुद्धि : निम्नतर मन की शुद्धि	...	६६४
७. बुद्धि और संकल्प की शुद्धि	...	६७३
८. आत्मा की मुक्ति	...	६८५
९. प्रकृति की मुक्ति	...	६९४
१०. सिद्धि के मूलतत्त्व	...	७०४
११. समता की पूर्णता	...	७११
१२. समता का मार्ग	...	७२२
१३. समता की क्रिया	...	७३५
१४. करणों की शक्ति	...	७४३
१५. आत्मशक्ति और चतुर्विध व्यक्तित्व	...	७५४
१६. भागवती शक्ति	...	७६७
१७. भागवत शक्ति की क्रिया	...	७७८

१८. श्रद्धा और शक्ति ... ७८७
१९. अतिमानस का स्वरूप ... ७९९
२०. अंतर्ज्ञानात्मक मन ... ८१६
२१. अतिमानस के क्रमिक सोपान ... ८२९
२२. अतिमानसिक विचारशक्ति और ज्ञान ... ८४४
२३. अतिमानसिक करण—विचार-प्रक्रिया ... ८६०
२४. अतिमानसिक इन्द्रिय ... ८८३
२५. अतिमानसिक काल-दृष्टि की ओर ... ९०७
विशद विषय-सूची ... ९२९
अनुक्रमणिका ... ९६१
नामानुक्रमणिका ... १०१०
उद्धरण-सूची ... १०११

भूमिका

समन्वय की शर्तें

१

जीवन और योग

प्रकृति की क्रियाओं के दो प्रयोजन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सदा ही मानव-क्रिया के महत्तर रूपों में हस्तक्षेप करते रहते हैं। ये रूप या तो हमारे साधारण कार्यक्षेत्रों से सम्बन्धित हो सकते हैं या उन असाधारण क्षेत्रों और उपलब्धियों की खोज कर रहे होते हैं जो हमें उच्च और दिव्य प्रतीत होती हैं। ऐसा प्रत्येक रूप एक ऐसी समन्वित जटिलता या समग्रता की ओर उन्मुख होता है जो पुनः विशेष प्रयत्न और प्रवृत्ति की विविध धाराओं में विभक्त तो हो जाती है, पर फिर एक अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली समन्वय में जुड़ भी जाती है। दूसरी बात यह है कि किसी चीज का रूपों में विकास एक प्रभावशाली अभिव्यक्ति का अनिवार्य नियम है; पर फिर भी वह समस्त सत्य और व्यवहार अत्यधिक कठोर ढंग से निर्मित होता है, पुराना पड़ जाता है और यदि अपना पूरा गुण नहीं तो कम-से-कम उसका एक बड़ा भाग तो खो ही देता है। इसे लगातार आत्मा की नूतन धाराओं से जीवन-शक्ति मिलती रहनी चाहिए जो मृत या मृतप्राय साधन में जीवन का संचार करती रहें तथा उसमें परिवर्तन लाती रहें; केवल तभी उसे नव-जीवन प्राप्त हो सकता है। सदा ही पुनर्जन्म लेते रहना भौतिक अमरत्व की शर्त है। हम एक ऐसे युग में निवास कर रहे हैं जो भावी सृष्टि की प्रसव-वेदना से व्याकुल है। इस युग में विचार और कर्म-संबंधी वे समस्त रूप जिनके अंदर उपयोगिता की या स्थिरता के किसी गुप्त गुण की सबल शक्ति मौजूद है एक सर्वोच्च परीक्षा में से गुजर रहे हैं तथा उन्हें पुनः जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जा रहा है। वर्तमान जगत् 'मीडिया' के विशालकाय कड़ाह का दृश्य उपस्थित कर रहा है जिसमें सब कुछ डालकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये हैं, उन टुकड़ों पर प्रयोग किये जा रहे हैं तथा उन्हें एकत्रित और पुनः एकत्रित किया जा रहा है, जिससे या तो वे नष्ट होकर नये रूपों के लिये बिखरे हुए उपादान जुटाएं या फिर नव-जीवन प्राप्त कर के पुनः प्रकट हो जाएं अथवा यदि वे अभी और जीवित रहना चाहते हैं तो रूपांतरित हो जाएं। भारतीय योग अपने सार-तत्त्व में 'प्रकृति' की कुछ महान् शक्तियों की एक विशेष क्रिया या रचना है; यह स्वयं विशिष्ट एवं विभाजित है और विविध प्रकार से निर्मित है। अतएव, यह अपने बीज-रूप में मनुष्य-जाति के भावी जीवन के इन सक्रिय तत्त्वों में से एक है। यह अनादि युगों का शिशु है तथा हमारे इस आधुनिक समय में अपनी जीवन-शक्ति और सत्य के बल पर जीवित है। अब यह उन गुप्त संस्थाओं और संन्यासियों की गुफाओं में से बाहर निकल रहा है जिनमें इसने आश्रय लिया था; यह आजकल की जीवित मानवी शक्तियों

और उपयोगिताओं के भावी संघात में अपना स्थान खोज रहा है। किन्तु इसे पहले अपने-आपको पाना है, प्रकृति के जिस सामान्य सत्य और सतत उद्देश्य का यह प्रतिनिधित्व करता है उसमें इसे अपने अस्तित्व के गहनतम कारण को ऊपरी तल पर लाना है तथा इस नये आत्म-ज्ञान और आत्म-परिचयके द्वारा अपने पुनः प्राप्त और अधिक विशाल समन्वय को ढूंढ़ना है। अपनी पुनर्व्यवस्था प्राप्त कर लेने के बाद ही यह जाति के पुनर्व्यवस्थित जीवन में अधिक सरलता से तथा अधिक शक्तिशाली रूप में प्रवेश पा सकेगा। इसकी क्रियाएं दावा करती हैं कि वे जाति के इस जीवन को अन्तरतम गुप्त कक्ष तक, अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की उच्चतम चोटीतक ले जायंगी।

अगर हम जीवन और योग दोनों को यथार्थ दृष्टिकोण से देखें तो संपूर्ण जीवन ही चेतन या अवचेतन रूप में योग है। कारण, इस शब्द से हमारा मतलब सत्ता में प्रसुप्त क्षमताओं की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्म-परिपूर्णता के लिये किया गया विधिबद्ध प्रयत्न और मानव-व्यक्ति का उस विश्वव्यापी और परात्पर सत्ता के साथ मिलन है जिसे हम मनुष्य और विश्व में अंशतः अभिव्यक्त होता हुआ देखते हैं। किन्तु जब हम जीवन को उसके बाह्य रूपों के पीछे जाकर देखते हैं तो वह प्रकृति का एक विशाल योग दिखायी देता है। उन रूपों के द्वारा प्रकृति अपनी शक्यताओं की सदा-वृद्धिशील अभिव्यक्ति में अपनी पूर्णता प्राप्त करने की तथा अपनी दिव्य वास्तविक सत्ता के साथ एक होने की चेष्टा कर रही है। मनुष्य उसका एक विचारशील प्राणी है, अतएव, उसमें वह पहली बार क्रिया के उन स्व-चेतन साधनों और इच्छाशक्ति से युक्त प्रणालियों की रचना करती है जिनकी सहायता से यह महान् उद्देश्य अधिक द्रुत और शक्तिशाली वेग से पूरा हो सकेगा।

जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है योग एक ऐसा साधन माना जा सकता है जो व्यक्ति के विकास को शारीरिक जीवन के अस्तित्व के एक ही जीवन-काल में या कुछ वर्षों में, यहांतक कि कुछ महीनों में ही साधित कर दे। अतएव, योग की वर्तमान पद्धति उन सामान्य विधियों के अधिक संकुचित पर अधिक सबल और तीव्र रूपों के बीच एक संग्रह या संक्षेप से अधिक कुछ और नहीं हो सकती जिन्हें महती 'माता' अपने विशाल ऊर्ध्वमुख प्रयास में शिथिलतापूर्वक पर विस्तृत रूप में तथा मंद गति से पहले से प्रयुक्त कर रही है। इनका प्रयोग करते समय, बाह्य रूप से ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि सामग्री और शक्ति का अत्यधिक क्षय हो रहा है, किन्तु इससे मेल अधिक पूर्ण हो जाता है। योग-विषयक यह विचार यौगिक प्रणालियों के यथार्थ और युक्तियुक्त समन्वय का आधार बन सकता है। क्योंकि तब योग एक ऐसी गुह्य और असामान्य वस्तु नहीं रह जाता जिसका 'विश्व-शक्ति' की सामान्य प्रक्रियाओं के साथ तथा उस उद्देश्य के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो जिसे वह अपनी बाह्य और आन्तरिक परिपूर्णता की दो महान् गतियों में

अपने सामने रखती है। बल्कि वह अपने-आपको उन शक्तियों के एक तीव्र और असाधारण प्रयोग के रूप में व्यक्त करता है जिन्हें वह पहले ही अभिव्यक्त कर चुकी है या जिन्हें वह अपने अन्दर अपनी कम उन्नत पर अधिक सामान्य क्रियाओं में अधिकाधिक संगठित कर रही है।

यौगिक पद्धतियों का मनुष्य की प्रचलित मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के साथ वही सम्बन्ध है जो विद्युत् और वाष्प की स्वाभाविक शक्ति के वैज्ञानिक प्रयोग का वाष्प और विद्युत् की सामान्य क्रियाओं के साथ है। और, उनका निर्माण भी एक ऐसे ज्ञान पर आधारित है जो नियमित प्रयोगों, क्रियात्मक विश्लेषणों तथा सतत परिणामों के द्वारा विकसित एवं स्थापित हुआ है तथा जिसे इनसे समर्थन भी प्राप्त हुआ है। उदाहरणार्थ, समस्त 'राजयोग' इस ज्ञान एवं अनुभव पर आधारित है कि हमारे आन्तरिक तत्त्व, संयोग और कार्य तथा हमारी शक्तियां अलग-अलग की जा सकती हैं, उनमें विघटन हो सकता है, उन्हें नये सिरे से मिलाया जा सकता है तथा उनसे ऐसे नये कार्य कराये जा सकते हैं जो पहले असम्भव माने जाते थे, या फिर ये सब स्थायी आन्तरिक प्रक्रियाओं के द्वारा एक नये सामान्य समन्वय में रूपांतरित किये जा सकते हैं। इसी प्रकार 'हठयोग' भी इस बोध एवं अनुभव पर निर्भर करता है कि जिन प्राणिक शक्तियों और क्रियाओं की अधीनता हमारा जीवन स्वीकार कर लेता है तथा जिनके साधारण कार्य रूढ़ और अनिवार्य ढंग के प्रतीत होते हैं वे वश में की जा सकती हैं, उन्हें बदला जा सकता है अथवा उन्हें रोका जा सकता है। इस सब के ऐसे परिणाम निकल सकते हैं जो अन्यथा सम्भव न होते, साथ ही वे परिणाम उन लोगों को जो उनकी प्रक्रियाओं की युक्तियुक्तता को नहीं पकड़ सकते, चमत्कारपूर्ण भी प्रतीत होते हैं। यदि योग के किसी अन्य रूप में उसका यह गुण उतना प्रत्यक्ष न हो—कारण, ये रूप यान्त्रिक कम और सहजज्ञानयुक्त अधिक होते हैं तथा 'भक्तियोग' के समान एक दिव्य आनन्द के या 'ज्ञानयोग' के समान चेतना और सत्ता की एक दिव्य असीमता के अधिक निकट होते हैं—तो भी ये हमारे अन्दर किसी प्रधान क्षमता के प्रयोग से आरम्भ होते हैं; इनके ढंग तथा उद्देश्य ऐसे होते हैं जो उसकी दैनिक सहज क्रियाओं में, विचार में नहीं आते। जो प्रणालियां योग के सामान्य नाम के अन्तर्गत आती हैं वे सब विशेष मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं हैं जो 'प्रकृति'-सम्बन्धी एक स्थिर सत्य पर आधारित होती हैं। वे सामान्य क्रियाओं से ऐसी शक्तियां और परिणाम विकसित करती हैं जो सदा प्रसुप्त अवस्था में तो विद्यमान थे, पर जिन्हें उसकी साधारण क्रियाएं आसानी से अभिव्यक्त नहीं करतीं, यदि करती भी हैं तो बहुत कम।

किन्तु, जैसा कि भौतिक ज्ञान में होता है, वैज्ञानिक प्रक्रियाओं की बहुलता की अपनी हानियां होती हैं,—उदाहरणार्थ, इससे एक ऐसी विजयशील कृत्रिमता उत्पन्न हो जाती है जो हमारे सामान्य मानव-जीवन को यन्त्र के भारी बोझ के नीचे दबा

देती है तथा एक प्रबल दासता के मूल्य पर स्वतन्त्रता और स्वामित्व के कुछ रूपों का क्रय करती है। इसी प्रकार यौगिक प्रक्रियाओं के कार्य की और उनके असाधारण परिणामों की भी अपनी हानियां और बुराइयां हैं। योगी सामान्य जीवन से अलग हट जाना चाहता है और उसपर अपना अधिकार खो देता है। वह अपनी मानवीय क्रियाओं को दरिद्र बनाकर आत्मा का धन खरीदना चाहता है तथा बाह्य मृत्यु के मूल्य पर आन्तरिक स्वतन्त्रता की इच्छा करता है। यदि वह भगवान् को पा लेता है तो जीवन को खो बैठता है, अथवा यदि जीवन पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने प्रयत्नों को बाहर की ओर मोड़ता है तो उसे भगवान् को खो देने का डर रहता है। इसीलिये हम भारतवर्ष में सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक उन्नति और विकास में एक तीव्र प्रकार की असंगति पैदा हुई देखते हैं। यद्यपि आन्तरिक आकर्षण और बाह्य मांग में एक विजयपूर्ण समन्वय की परम्परा और आदर्श को स्थिर रखा गया है तो भी इसके अधिक उदाहरण देखने में नहीं आते। वस्तुतः जब मनुष्य अपनी दृष्टि और शक्ति अन्तर की ओर मोड़ता है तथा योग-मार्ग में प्रवेश करता है तो ऐसा माना जाता है कि वह हमारे सामूहिक जीवन के महान् प्रवाह और मनुष्यजाति के लौकिक प्रयत्न के लिये अनिवार्य रूप से निकम्मा हो गया है। यह विचार इतने प्रबल रूप में फैल गया है और इसपर प्रचलित दर्शनों और धर्मों ने इतना बल दिया है कि जीवन से भागना आजकल केवल योग की आवश्यक शर्त ही नहीं, वरन् उसका सामान्य उद्देश्य भी माना जाता है। योग का ऐसा कोई भी समन्वय संतोषप्रद नहीं हो सकता जो अपने लक्ष्य में भगवान् और प्रकृति को एक मुक्त और पूर्ण मानवीय जीवन में पुनः संयुक्त नहीं कर देता या जो अपनी पद्धति में हमारे आन्तरिक और बाह्य कर्मों और अनुभवों में समन्वय स्थापित करने की अनुमति ही नहीं देता, बल्कि उसका समर्थन भी नहीं करता; इस कार्य में दोनों अपनी चरम दिव्यता को प्राप्त कर लेते हैं। कारण, मनुष्य एक उच्चतर जीवन का उपयुक्त स्तर एवं प्रतीक है, वह एक ऐसे स्थूल जगत् में अवतरित हुआ है जिसमें निम्न तत्त्व का रूपांतरित होना, उच्चतर तत्त्व के स्वभाव को ग्रहण करना और उच्चतर तत्त्व का निम्न तत्त्व में अपने-आपको अभिव्यक्त करना संभव है। एक ऐसे जीवन से बचना जो उसे इसी संभावना को चरितार्थ करने के लिये दिया गया है कभी भी उसके सर्वोच्च प्रयत्न की अनिवार्य शर्त या उसका समस्त और अंतिम उद्देश्य नहीं हो सकता, न ही यह उसकी आत्म-उपलब्धि के अत्यधिक सबल साधन की शर्त या लक्ष्य हो सकता है। यह किन्हीं विशेष अवस्थाओं में एक अस्थायी आवश्यकता तो हो सकता है या यह एक ऐसा विशिष्ट अंतिम प्रयत्न भी हो सकता है जो व्यक्ति पर इसलिये लादा जाता है कि वह पूरी जाति के लिये एक महत्तर सामान्य संभावना को तैयार कर सके। योग का सच्चा और पूर्ण उपयोग और उद्देश्य तभी साधित हो सकते हैं जब कि मनुष्य के अंदर

सचेतन योग प्रकृति में चल रहे अवचेतन योग की भांति बाह्यतः जीवन के समान ही व्यापक हो जाय। और तभी हम मार्ग और उपलब्धि दोनों को देखते हुए एक बार फिर एक अधिक पूर्ण और आलोकित अर्थ में कह सकते हैं : "समस्त जीवन ही योग है।"

२

प्रकृति के तीन पग

हम 'योग' के पिछले विकासक्रमों में एक ऐसी विशिष्टताकारी और पृथक्कारी प्रवृत्ति देखते हैं जिस की, प्रकृति की और समस्त वस्तुओं की भांति, एक अपनी समर्थक उपयोगिता ही नहीं थी बल्कि अनिवार्य उपयोगिता भी थी। हम उन सब विशिष्ट उद्देश्यों और प्रणालियों का एक समन्वय प्राप्त करना चाहते हैं जो इस प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हो चुके हैं। किन्तु अपने प्रयत्न में बुद्धिमत्तापूर्ण पथप्रदर्शन प्राप्त करने के लिये हमें पहले इस पृथक्कारी प्रेरणा के आधारभूत सामान्य सिद्धान्त और प्रयोजन को जान लेना चाहिये, साथ ही हमें उन विशेष उपयोगिताओं को भी जान लेना चाहिये जिन के ऊपर योग के प्रत्येक संप्रदाय की प्रणाली आधारित है। सामान्य उद्देश्य को जानने के लिये हमें 'प्रकृति' की वैश्व क्रियाओं के विषय में छान-बीन करनी चाहिये। उस के अन्दर हमें केवल विकृतिकारी 'माया' की दिखावटी और भ्रान्तिपूर्ण क्रिया को ही नहीं, बल्कि भगवान् की सर्वव्यापक सत्ता के अन्दर उन की वैश्व शक्ति और क्रिया को भी पहचान लेना चाहिये, यह क्रिया एक विशाल, असीम पर सूक्ष्म रूप में चुनाव करनेवाली प्रज्ञा को रूप देती है तथा उस के द्वारा प्रेरित होती है—गीता में इसे 'प्रवृत्ति (प्रज्ञा) प्रसृता पुराणी' कहा गया है। यह प्रज्ञा आरम्भ में 'सनातन सत्ता' से निकली थी। विशेष उपयोगिताओं को जानने के लिये हमें 'योग' की विभिन्न प्रणालियों पर एक पैनी दृष्टि डालनी होगी तथा उन की बारीकियों के समूह के बीच में से उस प्रधान विचार को ढूंढ़ना होगा जिस के अधीन वे कार्य करती हैं, हमें उस में से उस मूलगत शक्ति को भी ढूंढ़ना होगा जो उन्हें चरितार्थ करनेवाली प्रक्रियाओं को जन्म एवं शक्ति देती है। इस के बाद हम उस सामान्य सिद्धान्त और सामान्य शक्ति को अधिक आसानी से ढूंढ़ सकते हैं जो सब की उत्पत्ति एवं प्रवृत्ति के स्रोत हैं, जिन की ओर सब शक्तियां अवचेतन रूप में गति करती हैं और जिनमें उन सब के लिये चेतन रूप में संयुक्त होना सम्भव है।

मनुष्य के अन्दर विकसनशील आत्माभिव्यक्ति को, जिसे आधुनिक भाषा में उस का विकास कहते हैं, तीन क्रमिक तत्त्वों पर आधारित होना चाहिये; पहला वह तत्त्व है जो पहले ही विकसित हो चुका है, दूसरा, जो लगातार चेतन विकास की अवस्था में रहता है और तीसरा जिसे विकसित होना है तथा जो प्रारम्भिक रचनाओं में या किन्हीं अन्य अधिक विकसित रचनाओं में, सतत रूप में नहीं तो कभी-कभी, एक नियमित अन्तरालपर, शायद पहले से प्रकट हो सकता है। यह भी सम्भव है कि वह कुछ ऐसे प्राणियों में—चाहे वे कितने भी विरल क्यों न

हों—प्रकट हो जो हमारी वर्तमान मनुष्य जाति की उच्चतम सम्भव उपलब्धि के निकट हैं। कारण, प्रकृति की गति एक नियमित और यांत्रिक रूप से आगे ही पग रखती हुई नहीं बढ़ती। वह सदा अपने से आगे प्रगति करती रहती है, उस समय भी जब कि उसे इस प्रगति के परिणाम-स्वरूप निराश होकर पीछे हटना पड़ता है। वह द्रुत वेग से आगे की ओर बढ़ती है। उसमें बहुत बड़े, सुन्दर और आकस्मिक विकास होते हैं, उसे बड़ी विशाल उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। कभी-कभी वह बड़े आवेगपूर्वक इस आशा से आगे बढ़ती है कि वह स्वर्ग के राज्य को बलपूर्वक प्राप्त कर लेगी। अपने को अतिक्रान्त करने वाली उस की ये क्रियाएं उस के अंदर के उस तत्त्व को दर्शाती हैं जो अत्यधिक दिव्य है अथवा अत्यधिक आसुरी है, किन्तु दोनों दशाओं में वह इतना अधिक शक्तिशाली अवश्य है कि वह उसे द्रुत गति से आगे, उस के लक्ष्य की ओर ले जायगा।

जिस तत्त्व को प्रकृति ने हमारे लिये विकसित किया है तथा दृढ़ रूप से स्थापित किया है वह हमारा शारीरिक जीवन है। उसने पृथ्वी पर हमारे कर्म और विकास के दो निम्न तत्त्वों में—किन्तु जो अधिक मूल रूप में आवश्यक हैं—एक प्रकार का सहयोग एवं समन्वय स्थापित कर दिया है। एक तत्त्व है 'जड़ पदार्थ', जिससे चाहे अत्यधिक आध्यात्मिक मनुष्य घृणा ही करे पर जो हमारा आधार है तथा हमारी समस्त प्राप्तियों और उपलब्धियों की पहली शर्त है। दूसरा तत्त्व 'जीवन-शक्ति' है जो स्थूल शरीर में हमारे अस्तित्व का साधन है, यहांतक कि जो वहां हमारी मानसिक और आध्यात्मिक क्रियाओं का भी आधार है। उसने सफलतापूर्वक अपनी सतत भौतिक क्रियाओं में एक प्रकार का स्थायित्व प्राप्त कर लिया है; ये क्रियाएं पर्याप्त रूप में स्थिर एवं स्थायी हैं, साथ ही ये इतनी नमनीय एवं परिवर्तनशील भी हैं कि ये मनुष्यजाति में अधिकाधिक अभिव्यक्त होनेवाले 'भगवान्' का उचित निवासस्थान और साधन बन सकती हैं। 'ऐतरेय' उपनिषद् में एक कथा आती है जिस का यही मतलब है। उसमें कहा गया है कि जब दिव्य सत्ता ने देवताओं के सामने बारी-बारी से पशुओं के रूप उपस्थित किये तो वे उन्हें अस्वीकार करते गये, पर ज्यों ही मनुष्य उन के सामने आया, वे चिल्ला उठे : "यही वस्तु पूर्ण रचना है", और उन्होंने उसमें प्रवेश करना स्वीकार कर लिया। प्रकृति ने जड़-पदार्थ के तमस् में और उस सक्रिय जीवन में जो उस जड़-पदार्थ में निवास करता है तथा उससे पोषण प्राप्त करता है एक क्रियात्मक समझौता भी साधित कर लिया है। उस समझौते पर प्राणिक जीवन ही निर्भर नहीं करता, वरन् उस की सहायता से मन का पूर्णतम विकास भी सम्भव हो सकता है। यह सन्तुलन मनुष्य में प्रकृति की आधारभूत स्थिति की रचना करता है तथा 'योग' की भाषा में उस का स्थूल शरीर कहलाता है; यह शरीर भौतिक सत्ता अर्थात् 'अन्नकोष' और स्नायु-प्रणाली अर्थात् प्राणकोष से बना है।

तब, यदि यह निम्न प्रकार का सन्तुलन ही उच्चतर क्रियाओं का एक आधार और प्रारम्भिक साधन हो जिसे वैश्व शक्ति ने प्रस्तुत किया है, और यदि यही उस साधन का निर्माण करता हो जिसमें भगवान् इस पृथ्वी पर अपने-आपको व्यक्त करना चाहते हैं, यदि यह भारतीय उक्ति सच्ची हो कि शरीर ही वह यंत्र है जो हमारी प्रकृति के यथार्थ नियम को चरितार्थ करने के लिये प्रदान किया गया है, तो भौतिक जीवन के किसी प्रकार के भी अन्तिम त्याग का अर्थ दिव्य प्रज्ञा की चरितार्थता से पीछे हटना होगा, साथ ही यह पार्थिव अभिव्यक्ति-सम्बन्धी उसके उद्देश्य का भी त्याग होगा। कुछ व्यक्तियों के लिये यह त्याग उनके विकास के किसी गुप्त नियम के कारण ठीक वृत्ति भी हो सकता है, किन्तु यह उद्देश्य के रूप में मनुष्यजाति के लिये कभी भी अभिप्रेत नहीं है। अतएव, ऐसा कोई भी योग पूर्णयोग नहीं हो सकता जो शरीर की उपेक्षा करे या उसके अन्त और त्याग को पूर्ण आध्यात्मिकता प्राप्त करने की अनिवार्य शर्त बना दे। बल्कि, शरीर को भी पूर्ण बनाना 'आत्मा' की अन्तिम विजय होनी चाहिये और शारीरिक जीवन को दिव्य बनाना भगवान् की वह अन्तिम मुहर होनी चाहिये जो वे अपने जागतिक कार्य पर स्वयं लगाते हैं। भौतिक शरीर आध्यात्मिकता के मार्ग में बाधा खड़ी करता है—यह भौतिक शरीर का त्याग करने के लिये कोई तर्क नहीं है, क्योंकि वस्तुसम्बन्धी अदृश्य भवितव्यता में हमारी सब से बड़ी कठिनाइयां हमारे सर्वश्रेष्ठ सुअवसर होती हैं। एक अत्यधिक बड़ी कठिनाई प्रकृति के इस संकेत को सूचित करती है कि हमें एक अत्यधिक बड़ी विजय प्राप्त करनी है तथा एक चरम समस्या का समाधान करना है। यह एक ऐसे विषय के सम्बन्ध में चेतावनी नहीं है जिससे बचने का प्रयत्न करना पड़े, न ही यह किसी ऐसे शत्रु के सम्बन्ध में चेतावनी है जिससे हमें भागना पड़े।

इसी प्रकार प्राणिक और स्नायविक शक्तियां भी हमारे अन्दर किसी महान् उपयोगिता के लिये ही मौजूद हैं। वे भी हमारी अन्तिम परिपूर्णता में अपनी सम्भावनाओं को दिव्य रूप में चरितार्थ करने की मांग करती हैं। विश्व-योजना में जो महान् कार्य इस तत्त्व को सौंपा गया है उसपर उपनिषदों की उदार बुद्धिमत्ता ने भी अत्यधिक बल दिया है : "जिस प्रकार पहिये के आरे उसके केन्द्र में जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार 'जीवन-शक्ति' में त्रिविध ज्ञान, 'यज्ञ' और सबल व्यक्तियों की शक्ति और ज्ञानियों की पवित्रता स्थापित है। वह सब जो त्रिविध स्वर्ग में विद्यमान है 'जीवन-शक्ति' के नियंत्रण में है।"[1] अतएव, ऐसा कोई योग 'पूर्णयोग' नहीं हो सकता जो इन स्नायविक शक्तियों को नष्ट कर दे, इनपर इस शक्तिहीन निश्चलता को जबर्दस्ती लाद दे या इन्हें हानिकारक क्रियाओं का स्रोत समझकर इनका समूल

[1] प्रश्न उपनिषद् २, ६ और १३

नाश कर दे। इनका नाश नहीं, बल्कि इनका पवित्रीकरण, इनका रूपान्तर, इनपर नियन्त्रण एवं इनका उचित प्रयोग ही वह उद्देश्य है जो हमारे सामने है, इसी उद्देश्य के लिये इन्हें हमारे अंदर उत्पन्न एवं विकसित किया गया है।

यदि शारीरिक जीवन को ही 'प्रकृति' ने हमारे लिये, अपने आधार और प्रथम यन्त्र के रूप में दृढ़तापूर्वक विकसित किया है, तो हमारे मानसिक जीवन को वह अपने अगले पग और उच्चतर यन्त्र के रूप में विकसित कर रही है। उसके साधारण उत्कर्षों में यह उसका उच्च एवं प्रधान विचार है। उन समयों को छोड़कर जब कि वह थक जाती है तथा विश्राम और शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये अंधकार में चली जाती है, अन्य समय उसका सदा यही लक्ष्य रहता है, पर ऐसा वहीं होता है जहां वह अपनी प्रथम प्राणिक और शारीरिक उपलब्धियों के जालों से मुक्त हो सकती है। कारण, यहां मनुष्य में अन्य प्राणियों से एक ऐसी विभिन्नता है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसके अंदर केवल एक मन नहीं, बल्कि द्विविध और त्रिविध मन हैं, भौतिक और स्नायविक मन, विशुद्ध बौद्धिक मन जो शरीर और इन्द्रियों की भ्रांतियों से अपने-आपको मुक्त कर लेता है और तीसरा, बुद्धि से ऊपर दिव्य मन जो तार्किक रूप से विवेक और कल्पनापूर्ण बुद्धि की अपूर्ण विधियों से अपने-आपको मुक्त कर लेता है। मनुष्य में मन सर्वप्रथम शारीरिक जीवन में आवृत रहता है, वनस्पति में वह पूर्ण रूप से छिपा रहता है और पशु में वह सदा बन्दी बना रहता है। वह इस जीवन को अपनी क्रियाओं की पहली शर्त के रूप में ही नहीं, वरन् समस्त शर्त के रूप में भी स्वीकार करता है तथा अपनी आवश्यकताओं को इस प्रकार पूर्ण करने का प्रयत्न करता है मानो वही जीवन का संपूर्ण उद्देश्य हों। किन्तु मनुष्य का शारीरिक जीवन एक आधार है, उद्देश्य नहीं, उसकी पहली अवस्था है, अन्तिम और निर्धारक अवस्था नहीं। प्राचीन लोगों के यथार्थ विचार में मनुष्य मूल रूप से विचारक है, विचारशील प्राणी है, 'मनु' है, एक मानसिक सत्ता है जो प्राण और शरीर को गति देती है,[1] वह पशु नहीं है जो उनके द्वारा चालित होता है। इसलिये, सच्चा मानवीय जीवन केवल तभी शुरू होता है जब कि बौद्धिक मन जड़ पदार्थ में से प्रकट होता है, जब हम स्नायविक और भौतिक आक्रमण से मुक्त होकर मन में अधिकाधिक निवास करने लगते हैं और जिस हद तक वह मुक्ति हमें प्राप्त होती है उस हद तक हम शारीरिक जीवन को यथार्थ रूप में स्वीकार कर सकते हैं तथा उसका यथार्थ प्रयोग करने में समर्थ होते हैं। कारण, स्वामित्व प्राप्त करने के लिये एक निपुण अधीनता नहीं, वरन् स्वतन्त्रता ही सच्चा साधन है। अपनी भौतिक सत्ता की अवस्थाओं को, विस्तृत एवं उन्नत अवस्थाओं को जबरदस्ती से नहीं, बल्कि स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार करना ही उच्च मानवीय आदर्श है।

[1] मनोमयः प्राणशरीरनेता—मुण्डक उपनिषद् २, २, ७.

इस प्रकार विकसित होता हुआ मनुष्य का मानसिक जीवन वस्तुतः सब के अन्दर एक-सा नहीं होता; बाह्य रूप से देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ व्यक्तियों में ही यह अत्यधिक पूर्ण रूप से विकसित है, जब कि बहुत से लोगों में, अधिकतर लोगों में, यह या तो उनकी सामान्य प्रकृति का एक छोटा-सा अंग होता है जो भली प्रकार व्यवस्थित भी नहीं होता या बिल्कुल ही विकसित नहीं होता, या फिर यह उनमें प्रसुप्त अवस्था में होता है तथा सरलता से सक्रिय नहीं बनाया जा सकता। निश्चय ही मानसिक जीवन प्रकृति का अन्तिम विकास नहीं है। यह अभीतक मानव-प्राणी में दृढ़तापूर्वक स्थापित भी नहीं हुआ। इसका संकेत हमें इस बात से मिलता है कि प्राण-शक्ति और जड़-पदार्थ का उत्कृष्ट एवं पूर्ण सन्तुलन और स्वस्थ, सबल एवं दीर्घ आयुवाला मानव-शरीर साधारणतया उन्हीं जातियों या समुदायों में पाया जाता है जो चिन्तन के प्रयत्न को, उससे उत्पन्न होनेवाली क्षुब्धता एवं खिंचाव को अस्वीकार कर देते हैं अथवा जो केवल स्थूल मन से ही सोचते हैं। सभ्य मनुष्य को अभी पूर्ण सक्रिय मन और शरीर में सन्तुलन स्थापित करना है, सामान्यतया यह सन्तुलन उसमें अभी नहीं है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि एक अधिक तीव्र प्रकार के मानसिक जीवन के लिये किया गया अधिकाधिक प्रयत्न प्रायः ही मानवी तत्त्वों में अधिकाधिक असन्तुलन पैदा कर देता है, जिसके परिणाम-स्वरूप प्रसिद्ध वैज्ञानिक मनीषी प्रतिभा को एक प्रकार का पागलपन कहने लगते हैं तथा उसे ह्रास का, प्रकृति की अस्वस्थ विकृति का परिणाम मानने लगते हैं। पर जो तथ्य इस अतिशयोक्ति को उचित ठहराने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं उन्हें यदि अलग-अलग न लेकर अन्य समस्त यथार्थ स्वीकृत तथ्यों के साथ लिया जाय, तो वे एक भिन्न सत्य की ओर संकेत करते हैं। प्रतिभा वैश्व शक्ति का एक प्रयत्न है; यह हमारी बौद्धिक शक्तियों को इस हद तक वेग एवं तीव्रता प्रदान करता है कि वे उन अधिक सबल, प्रत्यक्ष और द्रुत सामर्थ्यों के लिये तैयार हो जायं जो अतिबौद्धिक या दिव्य मन की क्रीड़ा होती हैं। तब यह एक सनक या एक अवर्णनीय तथ्यमात्र नहीं रहता, बल्कि यह प्रकृति के विकास की सीधी दिशा में एक पूर्णतया स्वाभाविक अगला कदम बन जाता है। प्रकृति ने शारीरिक जीवन और स्थूल मन में सुसंगति स्थापित कर दी है, वह उसमें और बौद्धिक मन की क्रीड़ा में भी सुसंगति स्थापित कर रही है। कारण, यद्यपि उसका कार्य पूर्णतया पाशव और प्राणिक शक्ति को कम करना होता है, तो भी वह किसी सक्रिय अस्तव्यस्तता को न तो उत्पन्न करती है और न उसे ऐसा करने की आवश्यकता ही पड़ती है। पर अभी भी वह द्रुत वेग से आगे की ही ओर बढ़ रही है, यह उसका पहले से अधिक ऊंचे स्तर पर पहुंचने का एक प्रयत्न है; उसकी प्रक्रिया से उत्पन्न अस्तव्यस्तताएं इतनी बड़ी नहीं होतीं जितनी कि वे मानी जाती हैं। उनमेंसे कुछ तो नयी अभिव्यक्तियों के स्थूल प्रारम्भिक प्रयास हैं और कुछ विघटन की ऐसी क्रियाएं

हैं जो आसानी से ठीक कर ली गयी हैं तथा जो प्रायः ही नयी क्रियाओं को जन्म देती हैं और सदा ही उन दूर तक पहुंचनेवाले प्रकृति के लक्ष्यभूत परिणामों का केवल थोड़ा-सा ही मूल्य चुकाती हैं।

यदि हम समस्त परिस्थितियों पर विचार करें तो हम शायद इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि मानसिक जीवन मनुष्य के अन्दर कोई हाल में ही प्रकट नहीं हुआ, बल्कि वह पहली उपलब्धि की ही द्रुत पुनरावृत्ति है जिससे च्युत होकर जाति की 'शक्ति' खेदजनक रूप में ह्रास को प्राप्त हो गयी थी। बर्बर जाति का मनुष्य शायद उतना सभ्य मनुष्य का पहला पूर्वज नहीं है जितना कि वह किसी पूर्व-सभ्यता का हीन-वंशज है। कारण, यदि वास्तविक बौद्धिक उपलब्धि असमान रूप से विभाजित है तो भी उसकी क्षमता सर्वत्र अवश्य फैली हुई है। यह देखा जा चुका है कि व्यक्तिगत दृष्टान्त में जो जाति अत्यधिक निम्न समझी जाती है,—उदाहरणार्थ, मध्य-अफ्रीका की चिरन्तन बर्बर जातियों से उत्पन्न नये हब्शी,--वह भी बौद्धिक संस्कृति का अनुसरण करने में समर्थ है, और इसके लिये उसमें रक्त के मिश्रण की आवश्यकता नहीं है, न ही इसके लिये उसे भावी पीढ़ियों तक ठहरने की जरूरत है, हां, प्रधान यूरोपीय संस्कृति की बौद्धिक क्षमता को पाने में वह अभी असमर्थ है। जन-समुदाय में भी मनुष्यों को अनुकूल परिस्थितयां मिलने पर उस उपलब्धि के लिये केवल कुछ ही पीढ़ियों की आवश्यकता प्रतीत होती है जिसे पाने के लिये बाह्य रूप से हजारों वर्ष लग सकते हैं। अतएव, या तो मनुष्य मनोमय प्राणी बननेका गौरव प्राप्त होने के कारण विकास के मंद नियमों के पूरे बोझ से मुक्त हो गया है, या फिर वह पहले से ही भौतिक योग्यता के एक ऊंचे स्तर का प्रतिनिधित्व करता है और यदि उसे सहायक अवस्थाएं और उचित उत्साहवर्धक वातावरण प्राप्त हो जायें, तो वह सदा ही बौद्धिक जीवन के कार्य के लिये इस योग्यता का प्रदर्शन कर सकता है। बर्बर मनुष्य की उत्पत्ति मानसिक अयोग्यता से नहीं होती, बल्कि अवसर को लंबे समय तक खोते रहने या उससे अलग रहने से तथा जागृत करनेवाली प्रेरणा को स्वीकार न करने से होती है। बर्बरता एक मध्यवर्ती निद्रा है, मूल अंधकार नहीं।

इसके अतिरिक्त, आधुनिक विचार और आधुनिक प्रयत्न की सारी प्रवृत्ति ही निरीक्षक की दृष्टि को यह बताती है कि वह मनुष्य के अन्दर प्रकृति का एक ऐसा विशाल और चेतन प्रयत्न है जिसका कार्य बौद्धिक साधन और योग्यता के एक सामान्य स्तर को तथा आगे की सम्भावना को चरितार्थ करना है, ऐसा वह उन अवसरों को, जिन्हें आधुनिक सभ्यता मानसिक जीवन को प्रदान करती है, सर्वसुलभ करके करना चाहती है। यूरोपीय बुद्धि जो इस प्रवृत्ति की विशेष समर्थक है तथा जो स्थूल प्रकृति और जीवन की बाह्य क्रियाओं में व्यस्त रहती है इसी प्रयत्न का एक आवश्यक अंग है। यह मनुष्य की भौतिक सत्ता में, उसके प्राणिक

और भौतिक वातावरण में उसकी पूर्ण मानसिक सम्भावनाओं के लिये एक पर्याप्त आधार तैयार करना चाहती है। शिक्षा का विस्तार, पिछड़ी जातियों की उन्नति, दलित वर्गों का उत्कर्ष, श्रम से बचने के साधनों की बहुलता, आदर्श सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं की ओर प्रगति तथा सभ्य मनुष्यजाति में उन्नत स्वास्थ्य, दीर्घ आयु एवं नीरोग शरीर की प्राप्ति के लिये विज्ञान का प्रयास—ये सब इस प्रवृत्ति के अर्थ और इसकी दिशा को व्यक्त करते हैं; ये इसके ऐसे संकेत हैं जो आसानी से समझ में आ सकते हैं। यथार्थ साधनों का या कम-से-कम अन्तिम साधनों का प्रयोग सदा न भी किया जाय, तो भी उनका उद्देश्य एक यथार्थ प्रारम्भिक उद्देश्य अवश्य है,—यह उद्देश्य है एक स्वस्थ वैयक्तिक और सामाजिक संगठन तथा स्थूल मन की उचित आवश्यकताओं और मांगों की तुष्टि, पर्याप्त सहजता, अवकाश और समान अवसर। इसके परिणाम-स्वरूप भगवान् की एक विशेष कृपापात्र जाति, वर्ग या व्यक्ति नहीं, बल्कि समस्त मनुष्यजाति अपनी भाविक और बौद्धिक सत्ता को उसकी पूर्णतम योग्यता तक विकसित करने के लिये स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकेगी। वर्तमान समय में भौतिक और आर्थिक उद्देश्य की प्रधानता हो सकती है, किन्तु पृष्ठभूमि में सदा ही उच्चतर और प्रमुख प्रेरणा कार्य करती है या अतिरिक्त शक्ति के रूप में प्रतीक्षा करती है।

पर जब प्रारम्भिक शर्तें पूरी हो जायं और इस महान् प्रयत्न को अपना अधिकार मिल जाय, तो उसके आगे की सम्भावना का क्या स्वरूप होगा जिसकी चरितार्थता के लिये बौद्धिक जीवन की क्रियाओं को काम करना होगा ? यदि 'मन' सचमुच ही 'प्रकृति' का उच्चतम तथ्य है तो तार्किक और कल्पनाकारी बुद्धि के समस्त विकास को और भावों और सम्वेदनों की सामंजस्यपूर्ण पुष्टि को अपने-आपमें पर्याप्त होना चाहिये। किन्तु, इसके विपरीत, यदि मनुष्य एक तर्कशील और भावुक प्राणी से कुछ अधिक है, जो कुछ विकसित हो रहा है उससे आगे भी यदि कोई और वस्तु है जिसे विकसित करना है तो यह बिल्कुल सम्भव है कि मानसिक जीवन की पूर्णता, बुद्धि की लचक, नमनीयता और विस्तृत योग्यता, भाव और सम्वेदना का व्यवस्थित प्राचुर्य एक उच्चतर जीवन और अधिक शक्तिशाली सामर्थ्यों के विकास की ओर केवल एक मार्ग होगा; इन सामर्थ्यों को अभिव्यक्त होना है तथा निम्न यन्त्र को उसी प्रकार अपने अधिकार में करना है जिस प्रकार मन ने शरीर पर अपना ऐसा अधिकार स्थापित कर लिया है कि भौतिक सत्ता अब केवल अपनी सृष्टि के लिये ही अपना अस्तित्व नहीं रखती, बल्कि एक उच्चतर क्रिया के लिये आधार और उपादान भी प्रस्तुत करती है।

मानसिक जीवन से एक अधिक उच्चतर जीवन की स्थापना ही भारतीय दर्शन का समस्त आधार है और इसे प्राप्त एवं संगठित करने का कार्य ही वह सच्चा उद्देश्य है जिसे चरितार्थ करने के लिये योग की प्रणालियां प्रयुक्त की जाती हैं।

मन विकास की अन्तिम अवस्था नहीं है, न ही वह उसका अन्तिम लक्ष्य है। वह शरीर के समान ही एक यन्त्रमात्र है, बल्कि योग की भाषा में उसे आन्तरिक यन्त्र[1] कहा जाता है। भारतीय परम्परा इस बात की पुष्टि करती है कि जो वस्तु हमें प्राप्त करनी है वह मानवी अनुभव में कोई नयी वस्तु नहीं, बल्कि वह पहले भी विकसित हो चुकी है, यहां तक कि उसने मनुष्यजाति पर उसके विकास के कुछ युगों में शासन भी किया है। जो भी हो, किसी समय वह आंशिक रूप में अवश्य ही विकसित हुई होगी, केवल तभी वह जानी जा सकती थी। और, यदि प्रकृति अब अपनी इस उपलब्धि से च्युत हो गयी है, तो इसका कारण सदा यही होगा कि कहीं कोई समन्वय साधित नहीं हुआ या बौद्धिक और भौतिक आधार कुछ हद तक अपर्याप्त रह गया जिसकी ओर अब वह लौट आयी है; या फिर निम्न जीवन को नुकसान पहुंचाकर उच्चतर जीवन पर विशेष बल देना भी एक कारण हो सकता है।

तो फिर वह उच्चतर या उच्चतम जीवन क्या है जिसकी ओर हमारा विकास बढ़ रहा है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें उच्चतम अनुभवों की श्रेणी को, असाधारण विचारों की श्रेणी को अपने हाथ में लेना होगा, इन सबको प्राचीन संस्कृत भाषा के सिवाय किसी और भाषा में ठीक-ठीक व्यक्त करना कठिन है, क्योंकि ये केवल उसी भाषा में कुछ हद तक क्रमबद्ध किये गये हैं। अंगरेजी भाषा में जो निकट शब्द हैं वे और बातों के साथ भी सम्बन्धित हैं और उनका प्रयोग बहुत-सी अशुद्धियों को ही नहीं, बल्कि गंभीर अशुद्धियों को भी उत्पन्न कर सकता है। योग की पारिभाषिक शब्द-सूची में हमारी भौतिक-प्राणिक सत्ता का नाम आता है, जिसे स्थूल शरीर कहते हैं और जो अन्नकोष और प्राणकोष—दो वस्तुओं से निर्मित है। उसमें हमारी मानसिक सत्ता का भी नाम है, यह सूक्ष्म शरीर है तथा केवल एक चीज से अर्थात् मनोमय कोष से बना है; पर इनके साथ-साथ उसमें एक तीसरा अर्थात् अतिमानसिक सत्ता का सर्वोच्च और दिव्य स्तर भी है जिसे कारण-शरीर कहते हैं तथा जो चौथे और पांचवें कोष से बना है जिन्हें विज्ञानकोष और आनन्दकोष कहा जाता है। किन्तु यह विज्ञान अथवा ज्ञान मानसिक प्रश्नों और तर्कों का कोई क्रमबद्ध परिणाम नहीं, न यह निष्कर्षों और मतों की कोई ऐसी अस्थायी अवस्था ही है जो उच्चतम सम्भावना की परिभाषाओं में वर्णित की गयी है, बल्कि यह एक विशुद्ध सत्य है, जो स्वयंभू और स्वयंप्रकाशमान है। यह आनन्द भी हृदय और संवेदनों का कोई बहुत बड़ा सुख नहीं जिसके पीछे दुःख और कष्ट विद्यमान हों, वरन् यह एक ऐसा आनन्द है जो स्वयंभू है तथा बाह्य वस्तुओं और किन्हीं विशेष अनुभूतियों से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व रखता है। यह

[1] अन्तःकरण

एक ऐसा आत्मानन्द है जो एक परात्पर और असीम सत्ता का स्वभाव है, बल्कि यह उसका सारतत्त्व है।

क्या ऐसे मनोवैज्ञानिक विचार किसी वास्तविक और सम्भव वस्तु के साथ सम्बन्ध रखते हैं ? समस्त योग ही इन्हें अपनी अन्तिम अनुभूति और सर्वोच्च लक्ष्य मानता है। ये हमारी चेतना की उच्चतम सम्भव अवस्था को, हमारे अस्तित्व के अधिकतम विस्तृत क्षेत्र को शासित करनेवाले नियम हैं। हमारे विचार में उच्चतम योग्यताओं का एक समन्वय है; ये योग्यताएं कुछ हद तक सत्य दृष्टि, दैवी प्रेरणा और सहजज्ञान की मनोवैज्ञानिक योग्यताओं से साम्य रखती हैं, पर फिर भी ये सहजज्ञानयुक्त बुद्धि या दिव्य मन में कार्य नहीं करतीं, बल्कि इनसे एक उच्चतर स्तर पर कार्य करती हैं। ये सत्य को प्रत्यक्ष रूप में देखती हैं, बल्कि वस्तुओं के वैश्व और परात्पर सत्य में निवास करती हैं तथा उसकी रचना एवं प्रकाशपूर्ण क्रिया होती हैं। ये शक्तियां एक ऐसे चेतन अस्तित्व का प्रकाश हैं जो अहंभावयुक्त अस्तित्व को लांघ जाता है और जो स्वयं वैश्व और परात्पर दोनों है, इसका स्वभाव है आनन्द। ये स्पष्ट ही दिव्य हैं और जैसा कि मनुष्य आजकल प्रत्यक्ष रूप में बना हुआ है उसे देखते हुए ये चेतना और क्रिया की अतिमानसिक अवस्थाएं हैं। परात्पर अस्तित्व, आत्म-बोध और आत्म-आनन्द'—ये तीनों सचमुच ही सर्वोच्च 'आत्मा' की दार्शनिक रूप में व्याख्या करते हैं, और हमारे जाग्रत् ज्ञान के सामने अज्ञेय तत्त्व की रचना करते हैं, चाहे उस अज्ञेय को हम शुद्ध निर्व्यक्तिक सत्ता के रूप में मानें या जगत् को व्यक्त करनेवाले विश्वव्यापी व्यक्तित्व के रूप में। किन्तु योग में ये अपने मनोवैज्ञानिक पक्षों में आध्यन्तरिक अस्तित्व की अवस्थाएं मानी जाती हैं जिन्हें हमारी जागृत चेतना इस समय नहीं जानती, किन्तु जो हमारे अन्दर एक अतिचेतन स्तर पर निवास करती हैं और इसीलिये जिनकी ओर हम सदा ही आरोहण कर सकते हैं।

'कारण-शरीर' इस शब्द से जो कुछ सूचित होता है उसके अनुसार, इस शरीर के लिये यह सर्वोच्च अभिव्यक्ति उस सबका स्रोत और प्रभावकारी शक्ति है जो वास्तविक विकासक्रम में उससे पहले आया है, जब कि दूसरे दो शरीरों के सम्बन्ध में, जो यन्त्र अर्थात् करण हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हमारी मानसिक क्रियाएं दिव्य ज्ञान से उत्पन्न हुई हैं तथा उसीमें से उनका चयन किया गया है और जबतक वे उस सत्य से जो गुप्त रूप में उनका स्रोत है अलग रहती हैं तबतक वे दिव्य ज्ञान की विकृतिमात्र होती हैं। हमारे सम्वेदन और आवेग का भी 'परमानन्द' के साथ यही सम्बन्ध है; हमारी स्नायविक शक्तियों और कार्यों का दिव्य चेतनाद्वारा धारण की हुई 'संकल्प-शक्ति' और 'सामर्थ्य' के पक्ष के साथ तथा हमारी भौतिक

' सच्चिदानन्द

सत्ता का उस 'परमानन्द' और 'चेतना' के विशुद्ध सार के साथ भी यही सम्बन्ध है। जिस विकास को हम अपने सामने देखते हैं तथा इस जगत् में हम जिसके सर्वोच्च रूप हैं उसे एक अर्थ में एक विपरीत अभिव्यक्ति माना जा सकता है। इस अभिव्यक्ति के द्वारा ही ये 'शक्तियां' अपनी एकता और विभिन्नता में, अपूर्ण सार-पदार्थ का तथा 'जड़-पदार्थ', 'प्राण' और 'मन' की क्रियाओं का प्रयोग करती हैं, उन्हें विकसित करती हैं तथा पूर्ण बनाती हैं जिससे कि वे उन दिव्य और सनातन अवस्थाओं के बढ़ते हुए सामंजस्य को जिनसे वे उत्पन्न हुई हैं एक परिवर्तनशील और अपेक्षित ढंग में व्यक्त कर सकें। यदि यही विश्व का सत्य हो तो विकास का लक्ष्य ही उसका कारण भी है, यही उसके तत्त्व में अन्तर्निहित है और उन्हींसे यह प्रस्फुटित भी होता है। किन्तु यह प्रस्फुटन यदि केवल बचने का एक तरीकामात्र है और, अपनेको धारण करनेवाले सारपदार्थ और उसकी क्रियाओं की ओर उन्हें उन्नत और रूपांतरित करने के लिये नहीं मुड़ता तो यह निश्चय ही अपूर्ण है। इस अन्तर्वर्ती अवस्था को अपने अस्तित्व के लिये कोई विश्वसनीय कारण नहीं मिलेगा, यदि इसका अन्तिम कार्य ऐसे रूपान्तर को साधित करना न हो। किन्तु यदि मानव-मन दिव्य 'प्रकाश' के वैभव को ग्रहण करने में समर्थ हो तो मानव भावना और सम्वेदन को इस ढांचे में रूपान्तरित किया जा सकता है और वे सर्वोच्च आनन्द की मात्रा और क्रिया को ग्रहण कर सकते हैं। यदि मानव कर्म एक दिव्य और निरभिमान 'शक्ति' की क्रिया का केवल प्रतिनिधित्व ही नहीं करता, वरन् अपने-आपको उस क्रिया से अभिन्न अनुभव भी करता है, यदि हमारी सत्ता का भौतिक तत्त्व सर्वोच्च सत्ता की पवित्रता में काफी भाग लेता है, और इन उच्चतम अनुभवों और साधनों को सहायता देने तथा इन्हें अधिक समय तक स्थिर रखने के लिये अपने अन्दर नमनीयता और स्थायी दृढ़ता को काफी मात्रा में एकत्रित करता है तो 'प्रकृति' के समस्त लम्बे परिश्रम का अन्त एक अत्यधिक बड़ी सफलता में होगा और उसके विकासक्रम अपने गहन अर्थ को प्रकट कर देंगे।

इस सर्वोच्च जीवन की एक झांकी भी इतनी चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली है तथा इसका आकर्षण इतना व्यस्तकारी है कि यह यदि एक बार भी दृष्टि में आ जाय और इसके पाने के प्रयत्न में और सब कुछ छोड़ देना भी पड़े तो भी हम उसे उचित ही मानेंगे। जो विचार सब वस्तुओं को 'मन' में निहित मानता है तथा मानसिक जीवन को ही एकमात्र आदर्श समझता है, उस विरोधी और अतिशयोक्तिपूर्ण विचार के कारण हम मन को एक अयोग्य विकृति, एक बहुत बड़ी बाधा, भ्रान्तिपूर्ण विश्व का स्रोत तथा 'सत्य' का निषेध मानने लगते हैं। वस्तुतः हम ऐसे मन के अस्तित्व से ही इन्कार कर देंगे और यदि हम अन्तिम रूप में मुक्त होना चाहते हैं तो उसके समस्त कार्य और परिणाम भी विनष्ट हो जायंगे। किन्तु यह एक अर्ध सत्य है और इसकी भूल यह है कि यह केवल 'मन' की

सीमाओं पर ही ध्यान देता है, और उसके दिव्य प्रयोजन की उपेक्षा कर देता है। अन्तिम ज्ञान वह है जो भगवान् को विश्व में और साथ ही विश्व के परे भी देखता है और स्वीकार करता है। पूर्णयोग वह है जो 'परात्पर सत्ता' को प्राप्त करके विश्व की ओर लौट आता है तथा उसे अधिकृत कर लेता है, उसके पास यह शक्ति रहती है कि वह अस्तित्व की महान् सीढ़ी पर स्वतन्त्रतापूर्वक चढ़-उतर ले। कारण, यदि सनातन 'प्रज्ञा' का अस्तित्व है तो मन की सामर्थ्य का भी कोई उच्च उपयोग और भविष्य होगा ही। इस उपयोग को उस स्तर एवं भूमिका पर निर्भर होना चाहिये जो उसे आरोहण और अवरोहण में प्राप्त है और उस भविष्य का अर्थ भी परिपूर्णता और रूपान्तर होना चाहिये, उन्मूलन और विनाश नहीं।

अतएव, हम प्रकृति में ये तीन क्रमिक अवस्थाएं देखते हैं : शारीरिक जीवन, जो यहां भौतिक जगत् में हमारे अस्तित्व की आधारशिला है; मानसिक जीवन, जिसमें हम अभिव्यक्त होते हैं और जिसकी सहायता से हम शारीरिक जीवन का अधिक उच्च प्रयोग करते हैं तथा उसे एक महत्तर पूर्णता में विकसित कर लेते हैं; दिव्य जीवन, जो इन दोनों का ही लक्ष्य है और जो इनकी ओर मुड़कर इन्हें इनकी उच्चतम सम्भावनाओं में उन्मुक्त करता है। क्योंकि हम इनमेंसे किसीको भी न तो अपनी पहुंच के बाहर समझते हैं और न अपनी प्रकृति से नीचे दर्जे की चीज समझते हैं और न ही इनमेंसे किसीके विनाश को अन्तिम उपलब्धि के लिये आवश्यक समझते हैं, हम इस मुक्ति और परिपूर्णता को कम-से-कम योग के लक्ष्य का एक अंग, बल्कि एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं।

३

त्रिविध जीवन

सो, प्रकृति एक सनातन और गुप्त अस्तित्व का विकास है अथवा उसकी एक विकसनशील आत्म-अभिव्यक्ति है; उसके तीन क्रमिक रूप उसके आरोहण के तीन पग हैं। अतएव, ये तीन परस्पर-आश्रित सम्भावनाएं, शारीरिक जीवन, मानसिक अस्तित्व और वह आवृत आध्यात्मिक सत्ता, जो निवर्तन में दूसरे अस्तित्वों का कारण है और विकास में उनका परिणाम है, हमारी समस्त क्रियाओं की शर्तें हैं। भौतिक जीवन को सुरक्षित रखते हुए और पूर्ण बनाते हुए तथा मानसिक जीवन को चरितार्थ करते हुए प्रकृति का उद्देश्य यह होता है और हमारा भी यही होना चाहिये कि पूर्णता प्राप्त मन और शरीर में 'आत्मा' की परात्पर क्रियाएं अभिव्यक्त हो जायं। जिस प्रकार मानसिक जीवन शारीरिक जीवन के उत्कर्ष और श्रेष्ठतर उपयोग में बाधा नहीं पहुंचाता, वरन् उसके लिये कार्य करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन को भी हमारी बौद्धिक, भाविक, सौन्दर्यात्मक और प्राणिक क्रियाओं का त्याग नहीं, वरन् रूपान्तर करना चाहिये।

कारण, मनुष्य जो पार्थिव प्रकृति का नेता है तथा जो अकेला ही एक ऐसा पार्थिव ढांचा है जिसमें प्रकृति का पूर्ण विकास सम्भव है, त्रिविध जीवन धारण करता है। उसे एक ऐसा सजीव ढांचा मिला है जिसमें शरीर एक पात्र है और प्राण दिव्य अभिव्यक्ति का सक्रिय साधन। उसकी क्रिया एक विकसनशील मन में केन्द्रित है, इस मन का उद्देश्य है अपने-आपको और उस घर को जिसमें वह निवास करता है पूर्ण बनाना, साथ ही उस प्राणरूपी साधन को भी पूर्ण बनाना जिसका कि वह प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त वह एक विकसनशील आत्मोपलब्धि के द्वारा 'आत्मा' के एक रूप में अपने सच्चे स्वभाव के प्रति जागृत भी हो सकता है। उसका चरम विकास उसमें होता है जो वह वास्तव में सदा से था, वह प्रकाश और आनन्द से पूर्ण आत्मा है जिसका प्रयोजन ही अन्त में प्राण और मन को उस वैभव से प्रकाशित कर देना है जो इस समय छुपा हुआ है।

क्योंकि मानवजाति में यही दिव्य शक्ति की योजना है, हमारे अस्तित्व की समस्त प्रणाली और उसके समस्त उद्देश्य को सत्ता में इन तीन तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया के द्वारा ही कार्य करना चाहिये। क्योंकि प्रकृति में इनकी रचना अलग-अलग हुई है, मनुष्य साधारण भौतिक जीवन, मानसिक क्रिया और विकास का जीवन तथा अपरिवर्तनशील आध्यात्मिक आनन्दमय जीवन—इन तीनों प्रकार के जीवनों में चुनाव करने के लिये स्वतन्त्र है। किन्तु ज्यों-ज्यों वह विकसित होता है वह इन तीनों रूपों को संयुक्त कर सकता है, इनके विरोधों को एक सामंजस्यपूर्ण लय में

विलीन कर सकता है और इस प्रकार अपने अन्दर एक पूर्ण देवता को, पूर्ण 'मनुष्य' को जन्म दे सकता है।

साधारण 'प्रकृति' में इनमेंसे प्रत्येक का अपना विशिष्ट गुण एवं अपनी प्रधान प्रेरणा होती है।

शारीरिक जीवन की विशेष शक्ति उतनी विकास के लिये उपयुक्त नहीं है जितनी कि स्थायित्व के लिये, उतनी व्यक्ति के विस्तार के लिये नहीं जितनी कि उसकी अपनी पुनरावृत्ति के लिये। भौतिक 'प्रकृति' में एक जाति से दूसरी जाति तक अर्थात् वनस्पति से पशु तक तथा पशु से मनुष्य तक विकास अवश्य होता है, कारण निर्जीव जड़ पदार्थ में भी मन कार्य करता है। किन्तु एक बार जब एक जाति स्थूल रूप में अपना विशेष आकार धारण कर लेती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि पार्थिव जननी का प्रमुख तात्कालिक कार्य उसके अस्तित्व को बनाये रखना होता है, और वह जाति फिर अपने प्रतिरूप को बार-बार उत्पन्न करती रहती है। कारण, जीवन सदा ही अमरत्व की चाहना करता है। किन्तु, वैयक्तिक आकार अस्थायी है और विश्व को उत्पन्न करनेवाली चेतना में आकार का विचार ही स्थायी है,—क्योंकि वहां वह नष्ट नहीं होता,—इसलिये ऐसे प्रतिरूपों को बार-बार उत्पन्न करना ही भौतिक अमरत्व का एकमात्र सम्भव रूप है। अतएव, अपनी रक्षा और पुनरावृत्ति करना तथा अपनेको बहुगुणित करना आवश्यक रूप में समस्त भौतिक अस्तित्व की प्रधान सहज-प्रवृत्तियां हैं।

विशुद्ध मन की विशेष शक्ति परिवर्तन है और जितना अधिक वह उत्कर्ष और संगठन को प्राप्त करता है उतना अधिक ही 'मन' का यह नियम एक सतत विस्तार का तथा उपलब्धियों की उत्कृष्टता और श्रेष्ठ व्यवस्था का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार वह एक छोटी और सरल पूर्णता से एक अधिक विशाल और जटिल पूर्णता तक का विच्छिन्न मार्ग बन जाता है। कारण, मन, शारीरिक जीवन के विपरीत, अपने क्षेत्र में असीम है, अपने विस्तार में नमनीय है, अपनी रचनाओं में सरलता से परिवर्तित हो सकता है। अतएव, परिवर्तन, आत्म-विस्तार एवं आत्म-सुधार उसकी उचित सहज-प्रवृत्तियां हैं। उसका धर्म है पूर्णता को प्राप्त करना, उसका सिद्धान्त है प्रगति करना।

'आत्मा' का विशेष नियम एक स्वयंस्थित पूर्णता और अपरिवर्तनीय असीमता है। 'जीवन' का उद्देश्य अमरत्व और 'मन' का लक्ष्य पूर्णत्व सदा इसके अधिकार में रहते हैं, इन्हें अपने पास रखने का उसका सहज अधिकार है। 'सनातन' सत्ता की प्राप्ति और सद्वस्तु की उपलब्धि आध्यात्मिक जीवन का वैभव है, उस सद्वस्तु की जो सब चीजों में तथा उनके आगे भी एक ही है, जो विश्व में और उसके बाहर भी समान रूप से आनन्दमय है, जो उन रूपों और क्रियाओं की जिनमें वह निवास करती है अपूर्णताओं और सीमाओं से अछूती है।

ऐसे प्रत्येक आकार में 'प्रकृति' वैयक्तिक और सामूहिक दोनों रूपों में काम करती है। कारण, सनातन सत्ता एक आकार और सामूहिक जीवन, दोनों में, समान रूप से अपनी स्थापना करती है, चाहे वह कुटुम्ब हो, चाहे जाति या राष्ट्र अथवा ऐसे समुदाय हों जो कम भौतिक सिद्धान्तों पर निर्भर हों, या फिर सबका सर्वोच्च समूह अर्थात् हमारी सामूहिक मानव जाति हो। मनुष्य अपनी वैयक्तिक भलाई की खोज इनमेंसे किसी या सभी कार्यक्षेत्रों में कर सकता है, या इन्हीं में समूह के साथ अपने-आपको एक कर सकता है और उसीकी खातिर जीवित रह सकता है, या फिर ऊपर उठकर इस जटिल विश्व के अधिक सच्चे बोध को प्राप्त करके वैयक्तिक उपलब्धि को सामूहिक उद्देश्य के साथ समन्वित कर सकता है। कारण, जिस प्रकार आत्मा का—जबतक वह विश्व में रहती है—सर्वोच्च सत्ता के साथ यथार्थ सम्बन्ध इसमें है कि वह न तो अहंभावयुक्त ढंग से अपनी पृथक् सत्ता की पुष्टि करे और न परिभाषातीत सत्ता में अपने-आपको मिटा ही डाले, बल्कि भगवान् और जगत् के साथ अपनी एकता स्थापित करके व्यक्ति में इन दोनों को संयुक्त कर दे, उसी प्रकार व्यक्ति का समूह के साथ यथार्थ सम्बन्ध न तो अहंभावयुक्त ढंग से बिना अपने साथियों की ओर ध्यान दिये अपनी भौतिक या मानसिक उन्नति को साधित करना या आध्यात्मिक मोक्ष को प्राप्त करना है और न समाज की खातिर अपने विकास को रोकना या कुचलना है; बल्कि उसे अपने अन्दर अपने विकास की सर्वश्रेष्ठ और पूर्णतम सम्भावनाओं को एकत्र करके उन्हें विचार, कर्म और अन्य समस्त साधनों के द्वारा अपने चारों ओर उंडेल देना है, जिससे समस्त जाति उस उपलब्धि के अधिक निकट पहुंच सके जिसे उसके महान् व्यक्ति पहले प्राप्त कर चुके हैं।

इस सबका निष्कर्ष यह निकलता है कि भौतिक जीवन का प्रयोजन अवश्य ही सबसे पहले 'प्रकृति' के प्राणिक उद्देश्य को पूरा करना है। भौतिक मनुष्य का समस्त उद्देश्य ही जीवित रहना है, जितना आराम और सुख रास्ते में प्राप्त हो सकता हो उतने के साथ उसे जन्म से मृत्यु तक पहुंचना है, मतलब यह कि किसी-न-किसी प्रकार जीना है। वह अपने इस उद्देश्य को निम्न स्थान भी दे सकता है, पर केवल भौतिक 'प्रकृति' की दूसरी सहज-प्रवृत्तियों की तुलना में ही; ये प्रवृत्तियां हैं—व्यक्ति के प्रतिरूप की उत्पत्ति और कुटुम्ब, जाति या समाज में उस प्रतिरूप की रक्षा। सत्ता, कौटुम्बिक जीवन, समाज और राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था—ये भौतिक अस्तित्व के निर्माणकारी अंग हैं। प्रकृति की मितव्ययितापूर्ण व्यवस्था में इसका अत्यधिक महत्त्व स्पष्ट है; मानव प्रतिरूप जो उसका प्रतिनिधित्व करता है उसका महत्त्व भी उतना ही है। जिस ढांचे का प्रकृति ने निर्माण किया है उसकी रक्षा का तथा उसकी पिछली उपलब्धियों की व्यवस्थित स्थिरता और सुरक्षा का वह उसे विश्वास दिलाता है।

किन्तु इसी उपयोगिता के कारण इस प्रकार के मनुष्य और उनका जीवन बुरे माने जाते हैं, वे सीमित और अन्यायतः अनुदार होते हैं, पृथ्वी के साथ बंधे होते हैं। प्रचलित कार्यक्रम, प्रचलित प्रथाएं, विचार के परम्परागत या अभ्यासगत रूप,—ये सब उनके नासारन्ध्रों के जीवन-श्वास होते हैं। भूतकाल में जो परिवर्तन उन्नतिशील व्यक्तियों ने किये हैं उन्हें वे स्वीकार करते हैं तथा उत्साहपूर्वक उनका समर्थन करते हैं, किन्तु साथ ही वे उतने ही उत्साह से उन परिवर्तनों का प्रतिरोध भी करते हैं जो आजकल किये जा रहे हैं। कारण, भौतिक मनुष्य के लिये विकासवादी विचारक कोरा आदर्शवादी है, स्वप्नद्रष्टा अथवा विक्षिप्त मनुष्य है। पुरानी यहूदी और अन्य जातियों के लोग जिन्होंने जीवित पैगम्बरों को पत्थरों से मारा था और मरने के बाद उनके स्मारकों की पूजा की थी, 'प्रकृति' में निहित इसी सहजप्रेरित और विवेकहीन सिद्धान्त के साक्षात् रूप थे। प्राचीन समय में भारतवर्ष में एक-जन्मा और द्वि-जन्मा में भेद किया जाता था, एक-जन्मा यही भौतिक मनुष्य कहा जा सकता है। वह 'प्रकृति' के निम्न काम करता है, उसके उच्चतर कार्यों का आधार सुनिश्चित करता है, किन्तु उसके सामने उसके दूसरे जन्म के वैभव आसानी से प्रकट नहीं होते।

फिर भी वह इतनी आध्यात्मिकता अवश्य स्वीकार करता है जितनी उसके साधारण विचारों पर भूतकाल की महान् धार्मिक क्रान्तियों ने लादी है। वह अपनी समाजसम्बन्धी योजना में किसी पुरोहित या विद्वान् अध्यात्मवेत्ता के लिये स्थान रखता है, उससे वह आशा करता है कि वह उसे एक सुरक्षाप्रद और साधारण आध्यात्मिक भोजन देता रहे, यह स्थान आदर-योग्य तो हो सकता है, पर प्रभावपूर्ण प्रायः नहीं होता। किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभव और आध्यात्मिक जीवन की स्वतन्त्रता की बलपूर्वक मांग करता है, उसके लिये मनुष्य पुरोहित का बाना नहीं वरन् संन्यासी का चोगा निश्चित करता है, बशर्ते कि वह उसे स्वीकार कर ले। समाज के बाहर उसे अपनी भयंकर स्वतन्त्रता का उपभोग करने दिया जाता है। वह वस्तुतः एक ऐसी मानवी विद्युत्-छड़ी का काम करता है जो आत्मा की विद्युत् को ग्रहण कर लेती है, पर उसे सामाजिक ढांचे से अलग रखती है।

पर यह सब होते हुए भी भौतिक मनुष्य और उसके जीवन की साधारण उन्नति की जा सकती है, ऐसा भौतिक मन पर उन्नति के नियम का, चेतन परिवर्तन के अभ्यास का तथा जीवन के सिद्धान्त के रूप में विकास के स्थिर विचार का प्रबल प्रभाव डालकर ही किया जाता है। यूरोप में इस साधन के द्वारा विकसनशील समाजों का निर्माण जड़ पदार्थ पर मन की एक बड़ी भारी विजय है। किन्तु भौतिक प्रकृति अपना बदला लेती है, क्योंकि तब जो उन्नति साधित होती है वह अधिक स्थूल एवं बाह्य ढंग की होती है और उसके अधिक उच्च और अधिक द्रुत कार्य

के लिये किये गये प्रयत्न अत्यधिक थकावट के, तीव्र भ्रान्ति और चौंका देनेवाली अवनति के भाव ले आते हैं।

भौतिक मन और उसके जीवन को कुछ थोड़ी-सी आध्यात्मिकता प्रदान करना इस प्रकार भी सम्भव है कि वह जीवन की समस्त प्रथाओं और उसकी साधारण क्रियाओं को धार्मिक भावना के दृष्टिकोण से विचारने का अभ्यस्त हो जाय। पूर्व में ऐसे आध्यात्मिक समाजों की उत्पत्ति वस्तुतः जड़ पदार्थ पर आत्मा की एक अत्यधिक बड़ी विजय रही है। किन्तु यहां भी इसमें एक दोष रह गया है। कारण, इसका परिणाम प्रायः ही एक धार्मिक स्वभाव को जन्म देता है जो कि आध्यात्मिकता का एक अत्यन्त बाह्य रूप है। उसकी उच्चतर अभिव्यक्तियां, उसकी अत्यधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली अभिव्यक्तियां भी सामाजिक जीवन से बहुत-से व्यक्तियों को बाहर ले आती हैं और इस प्रकार उसे दरिद्र बना देती हैं या फिर एक क्षणिक उत्कर्ष के द्वारा थोड़े समय के लिये समाज में क्षुब्धता पैदा कर देती हैं। सत्य वस्तुतः यह है कि यदि मानसिक प्रयत्न और आध्यात्मिक प्रेरणा को अलग-अलग लिया जाय तो वे भौतिक प्रकृति के प्रबल प्रतिरोध पर विजय प्राप्त करने के लिये काफी नहीं हैं। इससे पहले कि प्रकृति मनुष्यजाति में एक पूर्ण परिवर्तन लाये वह उन दोनों को एक पूर्ण प्रयत्न में एक साथ देखने की मांग करती है। किन्तु साधारणतया ये दोनों साधन ही एक-दूसरे को आवश्यक छूट देने के लिये अनिच्छुक रहते हैं।

मानसिक जीवन सौन्दर्यात्मक, नैतिक और बौद्धिक क्रियाओं पर अपने-आपको एकाग्र करता है। मूल मानसिकता आदर्शवादी होती है और पूर्णता की खोज करती है; उधर सूक्ष्म सत्ता, देदीप्यमान आत्मा[1] सदा ही स्वप्नद्रष्टा होता है। पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण आचार-व्यवहार और पूर्ण सत्य का स्वप्न, चाहे वह सनातन सत्ता के नये रूपों की खोज कर रहा हो या उसके पुराने रूपों में पुनः शक्ति का संचार कर रहा हो, विशुद्ध मन की वास्तविक आत्मा है, किन्तु वह 'जड़ पदार्थ' के प्रतिरोध का सामना करना नहीं जानता। वह वहीं रुक जाता है तथा अयोग्य प्रमाणित होता है, वह अनगढ़ प्रयोगों के द्वारा कार्य करता है; फिर उसे या तो संघर्ष से पीछे हटना पड़ता है या एक अन्धकारपूर्ण वास्तविकता की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। वह भौतिक जीवन का अध्ययन करके तथा संघर्ष की शर्तों को स्वीकार करके सफल भी हो सकता है, किन्तु वह केवल एक ऐसी कृत्रिम प्रणाली को कुछ समय के लिये लादने में ही सफल होता है जिसे असीम 'प्रकृति' या तो नष्ट-भ्रष्ट करके एक

[1] ऐसी आत्मा जो 'स्वप्न' में निवास करती है, जो आन्तरिक रूप से चेतन है, जो अमूर्त भावों का उपभोग करती है तथा दीप्ति से युक्त है।

—माण्डूक्य उपनिषद्, ४

ओर डाल देती है या उसे इतना विरूप बना देती है कि उसे पहचानना कठिन हो जाता है, या फिर वह अपनी अस्वीकृति से उसे एक मृत आदर्श के शव के रूप में छोड़ देती है। मनुष्य के अन्दर के स्वप्नद्रष्टा को बहुत कम उपलब्धियां हुई हैं और बहुत देर के बाद प्राप्त हुई हैं। इन्हें संसार ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक स्वीकार किया है, वह इन्हें अपनी मधुर स्मृति में रखकर पीछे की ओर देखता है तथा उसके तत्त्वों में इन्हें स्नेहपूर्वक सुरक्षित रखना चाहता है।

जब वास्तविक जीवन और विचारक के स्वभाव के बीच की खाई अत्यधिक चौड़ी हो जाती है तो इसके परिणाम-स्वरूप हम मन को जीवन से एक प्रकार से हटता देखते हैं, जिससे कि वह अपने क्षेत्र में अधिक बड़ी स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर सके। अपनी आलोकपूर्ण अन्तर्दृष्टियों में निवास करता हुआ कवि, अपनी कला में लीन कलाकार, अपने एकान्त कक्ष में बौद्धिक समस्याओं पर विचार करता हुआ दार्शनिक, अपने अध्ययनों और प्रयोगों की ही चिन्ता करनेवाला वैज्ञानिक और विद्वान् प्राचीन समय में, बल्कि अब भी, प्रायः ही बौद्धिक संन्यासी होते थे और होते हैं। मनुष्यजाति के लिये किये गये इनके कार्यों का पता हमें उसके प्राचीन इतिहास से लगता है।

किन्तु यह एकान्त जीवन उनके किसी विशेष कार्य के द्वारा ही उचित ठहराया जा सकता है। मन केवल तभी अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर सकता है और अपने कार्य को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर सकता है जब वह अपने-आपको जीवन पर एकाग्र कर लेता है तथा उसकी सम्भावनाओं और बाधाओं को एक अधिक बड़ी आत्म-परिपूर्णता के साधन के रूप में समान रूप से स्वीकार कर लेता है। भौतिक जगत् की कठिनाइयों के साथ संघर्ष करते हुए व्यक्ति का नैतिक विकास एक सुदृढ़ आकार ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार आचार-सम्बन्धी महान् सम्प्रदाय निर्मित हो जाते हैं। जीवन के तथ्यों के सम्पर्क में आकर ही 'कला' शक्ति प्राप्त करती है, 'विचार' अपनी धारणाओं को निश्चित करता है तथा दार्शनिक के निष्कर्ष अपने-आपको विज्ञान और अनुभव की स्थिर आधारशिला पर स्थापित करते हैं।

वैयक्तिक मन की खातिर मनुष्य जीवन के साथ इस सम्बन्ध को प्राप्त करने की चेष्टा कर सकता है; इसमें वह भौतिक जीवन के रूपों के प्रति या जाति के उत्थान के प्रति पूर्णतया उदासीन रहता है। यह उदासीनता ऐपीक्यूरियन अर्थात् भोगवादी अनुशासन में अपने चरम रूप में दिखायी पड़ती है, 'स्टोइक' (Stoic) अर्थात् तितिक्षावादी अनुशासन-प्रणाली में भी यह पूर्णता अनुपस्थित नहीं है। यहां तक कि परार्थवाद की दृष्टि से किया गया दयापूर्ण कार्य भी जितना अपनी खातिर किया जाता है उतना उस जगत् की खातिर नहीं जिसकी सहायता के निमित्त वह किया जाता है। किन्तु यह भी एक सीमित चरितार्थता ही है। विकसनशील मन का

सर्वश्रेष्ठ कार्य तब होता है जब वह समस्त जाति को अपने स्तर तक उठाने की कोशिश करता है; ऐसा वह या तो अपने विचार और अपनी परिपूर्णता की प्रतिमूर्त्ति के बीजों को प्रसारित करके करता है या फिर जाति के भौतिक जीवन को नये रूपों में अर्थात् धार्मिक, बौद्धिक, सामाजिक या राजनीतिक रूपों में परिवर्तित करके करता है। इन रूपों का उद्देश्य है सत्य के, सौन्दर्य, न्याय और सदाचार के उस आदर्श का अधिक निकट रूप में प्रतिनिधित्व करना जिससे मनुष्य की अपनी आत्मा आलोकित हो चुकी है। ऐसे क्षेत्र में यदि असफलता प्राप्त हो तो इसका कोई अधिक महत्त्व नहीं। कारण, स्वयं प्रयत्न ही सक्रिय और सर्जनकारी होता है। जीवन को उठाने के लिये मन का संघर्ष जीवन की उस वस्तु के द्वारा विजय की आशा और शर्त है जो मन से भी बड़ी है।

उच्चतम जीवन अर्थात् आध्यात्मिक जीवन सनातन सत्ता के साथ सम्बन्ध अवश्य रखता है, किन्तु इसी कारण वह क्षणिक सत्ता से पूर्णतया अलग नहीं हो जाता। आध्यात्मिक मनुष्य के लिये मन का पूर्ण सौन्दर्य-सम्बन्धी स्वप्न एक ऐसे सनातन प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द में चरितार्थ होता है जो किसीपर निर्भर नहीं है तथा जो समस्त दृश्यमान प्रतीतियों के पीछे समान रूप से स्थित है; पूर्ण सत्य-सम्बन्धी उसका स्वप्न उस सर्वोच्च, स्वयंस्थित, स्वयं-प्रत्यक्ष और सनातन सत्य में चरितार्थ होता है जो कभी परिवर्तित नहीं होता, बल्कि जो समस्त परिवर्तनों की और समस्त उन्नति के लक्ष्य की व्याख्या करता है तथा उनका रहस्य है। उसका पूर्ण-कर्म-सम्बन्धी स्वप्न उस सर्वशक्तिमान्, स्वयं अपना पथ-प्रदर्शन करनेवाले दिव्य विधान में चरितार्थ होता है जो सदा समस्त वस्तुओं के अन्दर निहित है और यहां जगतों की लयपूर्ण व्यवस्था में अपने-आपको व्यक्त करता है। आलोकपूर्ण 'सत्ता' में जो अस्थिर अन्तर्दृष्टि है या सृष्टि-सम्बन्धी सतत प्रयत्न है वह 'सत्ता' में सदा स्थिर रहनेवाली एक ऐसी सद्वस्तु है जो सब कुछ जानती है और सबकी स्वामिनी है।'

किन्तु यदि मानसिक जीवन अपने-आपको स्थूल रूप से प्रतिरोधकारी भौतिक क्रिया के अनुकूल बनाने में बहुधा कठिनाई अनुभव करता है तो आध्यात्मिक जीवन के लिये एक ऐसे जगत् में निवास करना कितना अधिक कठिन प्रतीत होगा जो 'सत्य' से नहीं, बल्कि प्रत्येक झूठ और भ्रान्ति से, 'प्रेम' और 'सौन्दर्य' से नहीं, बल्कि सर्वग्रासी विरोध और कुरूपता से, 'सत्य' के नियम से नहीं, बल्कि विजयी स्वार्थ और अधर्म से परिपूर्ण है ? इसीलिये आध्यात्मिक जीवन अपनानेवाले सन्त या संन्यासी की सामान्य प्रवृत्ति भौतिक जीवन को त्यागने की तथा उसे पूर्णतया

' वह एकीकृत सत्ता है, जिसमें चेतन विचार एकाग्र रहता है, जो सर्व-आनन्दपूर्ण है तथा आनन्द की भोक्त्री है, वह बुद्धिमत्तापूर्ण सत्ता है . . . वह सबकी स्वामिनी है, सर्वज्ञाश्री है, आन्तरिक पथ-प्रदर्शिका है।

—माण्डूक्य उपनिषद्-५, ६

और भौतिक रूप से या आत्मिक रूप से अस्वीकार करने की होती है। वह इस संसार को तो 'अशुभ' या 'अज्ञान' का राज्य समझता है और सनातन एवं दिव्य सत्ता को या तो सुदूर स्वर्ग में या इस जगत् और जीवन से परे देखता है। वह अपने-आपको उस अपवित्रता से अलग कर लेता है; वह आध्यात्मिक सद्वस्तु का समर्थन विशुद्ध एकान्त में करता है। उसका यह त्याग भौतिक जीवन की एक अमूल्य सेवा इस बातमें करता है कि वह उसे उस वस्तु का आदर करने और उसके सामने सिर झुकाने के लिये बाध्य करता है जो उसके तुच्छ आदर्शों का और हीन चिन्ताओं और अहंभावयुक्त स्वतुष्टि का सीधा निषेध है।

किन्तु संसार में आध्यात्मिक शक्ति जैसी सर्वोच्च शक्ति का कार्य इस प्रकार सीमित नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक जीवन भी भौतिक जीवन की ओर वापिस आकर उसपर क्रिया कर सकता है तथा अपनी महत्तर पूर्णता के लिये उसका एक साधन के रूप में प्रयोग कर सकता है। क्योंकि वह द्वंद्वों और बाह्य प्रतीतियों के द्वारा अन्धा होना अस्वीकार कर सकता है, वह सब बाह्य प्रतीतियों में, चाहे जो भी वे हों, उसी 'भगवान्' की, उसी सनातन 'सत्य','सौन्दर्य', 'प्रेम' और 'आनन्द' की झलक की खोज कर सकता है। समस्त वस्तुओं में उपस्थित 'आत्मा' का, 'आत्मा' में उपस्थित सब वस्तुओं का तथा 'आत्मा' की अभिव्यक्तियों के रूप में समस्त वस्तुओं का वैदान्तिक सूत्र इस अधिक समृद्ध और सबको अपने अन्दर धारण करनेवाले योग की कुंजी है।

किन्तु इस प्रकार, मानसिक जीवन की भांति आध्यात्मिक जीवन भी व्यक्ति के लाभ के लिये इस बाह्य अस्तित्व का प्रयोग कर सकता है; इसमें वह ऐसे जगत् के किसी भी सामूहिक उत्कर्ष की ओर से पूर्णतया उदासीन रह सकता है जो केवल एक प्रतीकमात्र है तथा जिसका वह प्रयोग करता है। क्योंकि सनातन सत्ता सदा सब वस्तुओं में एक ही रहती है और सब वस्तुएं सनातन सत्ता के लिये भी वही रहती हैं, क्योंकि मनुष्य में उसी एक महान् उपलब्धि की चरितार्थता के महत्त्व की अपेक्षा कार्य करने के यथार्थ ढंग और परिणाम का महत्त्व बहुत ही कम है, यह आध्यात्मिक उदासीनता किसी भी वातावरण को, किसी भी कर्म को शान्त भाव से स्वीकार कर लेती है, पर सर्वोच्च लक्ष्य के प्राप्त होते ही वह पीछे हटने के लिये भी तैयार हो जाती है। गीता के आदर्श को बहुतों ने इसी ढंग से समझा है। या फिर आन्तरिक प्रेम और आनन्द अच्छे कार्यों, सेवा और करुणा के रूप में अपने-आपको संसार में उंडेल सकते हैं और आन्तरिक सत्य ज्ञान के रूप में अपने-आपको संसार में उंडेल सकता है; अतएव, वे संसार को रूपान्तरित करने की कोशिश नहीं करते, क्योंकि वह अपने अविच्छेद्य स्वभाव के कारण द्वंद्वों का, पाप और पुण्य का, सत्य और भ्रान्ति का तथा सुख और दुःख का युद्ध-क्षेत्र ही बना रहता है।

किन्तु यदि 'उन्नति' जागतिक जीवन के प्रधान तथ्यों में से एक है और भगवान् की विकसनशील अभिव्यक्ति ही प्रकृति का सच्चा अर्थ है तो उन्नति-सम्बन्धी यह सीमा भी ठीक नहीं है। जगत् में आध्यात्मिक जीवन के लिये यह सम्भव है कि वह भौतिक जीवन को अपने प्रतिरूप में, भगवान् के प्रतिरूप में परिवर्तित कर दे, बल्कि यही उसका सच्चा कार्य है। इसीलिये, उन महान् एकान्तवासी योगियों को छोड़कर जिन्होंने अपनी मुक्ति की ही खोज की और उसे प्राप्त भी कर लिया, कुछ ऐसे महान् आध्यात्मिक गुरु भी हो चुके हैं जिन्होंने दूसरों को भी मुक्ति दिलायी है। इनसे भी अधिक ऊँची वे महान् सक्रिय आत्माएं हैं जो आत्मिक शक्ति में अपने-आपको भौतिक जगत् की सभी शक्तियों से अधिक सबल अनुभव करके एकत्रित हो गयी हैं, इन्होंने भी संसार पर कार्य किया है, प्रेमपूर्ण साम्मुख्य में उसके साथ संघर्ष किया है, तथा उसे इस बात के लिये बाध्य करने की चेष्टा की है कि वह अपने रूपान्तर के लिये अपनी स्वीकृति दे। साधारणतया मनुष्यजाति में मानसिक और नैतिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु इसका विस्तार हमारे जीवन के तथा उसके आचार-व्यवहारों के रूपों के परिवर्तन तक भी हो सकता है जिससे कि वे भी आत्मा के आन्तरिक रस को ग्रहण करने के लिये अधिक उपयुक्त सांचे बन जाएं। ये प्रयत्न मानवी आदर्शों की विकसनशील प्रगति तथा जाति की दिव्य तैयारी में सर्वोच्च संकेत रहे हैं। इनमेंसे प्रत्येक के बाह्य परिणाम चाहे जो हों उसने पृथ्वी को स्वर्ग-प्राप्ति के अधिक योग्य बना दिया है तथा 'प्रकृति' के विकासात्मक 'योग' की मंद गति को द्रुत कर दिया है।

भारतवर्ष में, पिछले एक हजार या इससे अधिक वर्षों में आध्यात्मिक और भौतिक जीवन पास-पास चलते रहे हैं, इन्होंने मन के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। आध्यात्मिकता ने जड़ पदार्थ के साथ यह समझौता कर लिया है कि वह सामान्य उन्नति साधित करने का प्रयोग छोड़ देगा। उसने समाज से उन सब के लिये स्वतन्त्र आध्यात्मिक उन्नति का अधिकार प्राप्त कर लिया है जो एक विशेष प्रतीक अर्थात् संन्यासी के वेश को अपना लेते हैं; उसने यह स्वीकार कर लिया है कि यही जीवन मनुष्य का लक्ष्य है और जो इसे अपनाते हैं वही पूर्ण सम्मान के योग्य हैं। उसने समाज को एक ऐसे धार्मिक सांचे में ढाल दिया है कि उसके अत्यधिक अभ्यस्त कार्यों के साथ भी जीवन और उसके अन्तिम लक्ष्य का आध्यात्मिक प्रतीक जुड़ा रहता है जिससे कि उसे इसकी याद बनी रहे। पर इसके विपरीत, समाज को अधिकार केवल तमस् और निश्चल आत्मरक्षा का ही मिला। इस छूट ने उन तथ्यों के महत्त्व को बहुत कुछ नष्ट कर दिया। जब धार्मिक सांचा नियत हो गया तो यह वैधिक ढंग से स्मरण दिलाने की रीति नित्यप्रति का क्रम हो गयी और उसने अपना सजीव अर्थ खो दिया। नये मतों और धर्मों के द्वारा सांचे को बदलने के सतत प्रयत्न एक नये क्रम में अथवा पुराने क्रम के संशोधित रूप

में समाप्त हो गये। मुक्त और सक्रिय मन का उद्धारक तत्त्व निर्वासित हो चुका था, क्योंकि स्थूल जीवन तब अज्ञान को, उद्देश्यहीन और अमिट द्वंद्व को सौंप दिया गया था। वह एक ऐसा बोझिल और दुःखदायी जुआ बन गया जिससे भागकर ही मनुष्य बच सकता था।

भारतीय योग की पद्धतियों ने तब स्वयं ही एक समझौता कर लिया। तब वैयक्तिक पूर्णता या मुक्ति लक्ष्य बन गया और साधारण कर्मों से एक प्रकार का सम्बन्ध-विच्छेद शर्त बन गयी और जीवन का त्याग अन्तिम उपलब्धि हो गया। गुरु अपना ज्ञान केवल कुछ शिष्यों को ही देता था। और, यदि एक विस्तृत क्षेत्र में कार्य करने के लिये प्रयत्न किया भी गया तो भी लक्ष्य व्यक्तिगत आत्मा की मुक्ति ही रहा। अधिकतर तो एक रूढ़ समाज के साथ समझौता ही काम में लाया जाता था।

उस वक्त जो संसार की वास्तविक दशा थी उसमें इस समझौते की उपयोगिता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। इसने भारतवर्ष में एक ऐसे समाज को सुरक्षित रखा जिसने आध्यात्मिकता की रक्षा एवं पूजा की; यह एक ऐसा देश बना रहा जिसमें एक किले की भांति सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श अपनी अत्यधिक पूर्ण विशुद्धता के साथ अपने-आपको बनाये रख सका, इस किले में वह अपने चारों ओर की शक्तियों के आक्रमण से सुरक्षित रहा। किन्तु यह केवल एक समझौता था, एक पूर्ण विजय नहीं। परिणाम-स्वरूप, भौतिक जीवन ने विकास-सम्बन्धी दिव्य प्रेरणा को खो दिया, आध्यात्मिक जीवन ने अलग रहकर अपनी उच्चता और विशुद्धता को सुरक्षित तो रखा, पर संसार की वह जो सेवा कर सकता था उसका तथा अपनी पूर्ण शक्ति का उसे बलिदान करना पड़ा। अतएव, दिव्य भवितव्यता में योगियों और संन्यासियों के देश को ठीक उसी तत्त्व के साथ अपना दृढ़ और अनिवार्य सम्बन्ध बनाना पड़ा जिसे वह पहले अस्वीकार कर चुका था, यह विकसनशील मन का तत्त्व था। यह सब इसलिये करना पड़ा कि जो चीज उसके पास अब नहीं है उसे वह पुनः प्राप्त कर सके।

हमें यह एक बार फिर स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यक्ति केवल अपने अन्दर ही नहीं, बल्कि समूह में भी निवास करता है और यह कि वैयक्तिक पूर्णता और मुक्ति ही संसार में भगवान् के अभिप्राय का समस्त अर्थ नहीं है। हमारी स्वाधीनता के स्वतन्त्र प्रयोग में दूसरों की बल्कि मनुष्यमात्र की मुक्ति निहित है। अपने अन्दर दिव्य प्रतीक को चरितार्थ करने के बाद, हमारी पूर्णता का प्रयोजन इसमें है कि हम इसे दूसरों में भी साधित करें, इसे बढ़ायें तथा अन्त में इसे विश्वव्यापी बना दें।

यदि हम मानवजीवन को उसकी तीनों सम्भावनाओं-सहित वास्तविक दृष्टिकोण से देखें तो हम ठीक उसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं जिसे हमने प्रकृति की सामान्य

क्रियाओं तथा उसके विकासक्रम के तीनों पगों का निरीक्षण करने के बाद निकाला था और तभी हम अपने योग-सम्बन्धी समन्वय के पूर्ण उद्देश्य को समझना आरम्भ करते हैं।

'आत्मा' वैश्व जीवन की उच्चतम चोटी है; 'जड़-पदार्थ' उसका आधार और 'मन' इन दोनोंको जोड़नेवाला सूत्र है। 'आत्मा' सनातन वस्तु है और मन और जड़-पदार्थ उसकी क्रियाएं हैं। आत्मा वह वस्तु है जो छुपी हुई है और जिसे प्रकाश में लाना है; मन और शरीर वे साधन हैं जिनके द्वारा वह अपने-आपको प्रकाश में लाने की चेष्टा करती है। आत्मा 'योग' के 'स्वामी' की प्रतिमूर्ति है; मन और शरीर वे साधन हैं जिन्हें उसने इस प्रतिमूर्ति को भौतिक जीवन में उत्पन्न करने के लिये हमें प्रदान किया है। समस्त प्रकृति इस छिपे हुए 'सत्य' को अधिकाधिक व्यक्त करने का एक प्रयत्न है, दिव्य प्रतिमूर्त्ति की एक अधिकाधिक सफल पुनरावृत्ति है।

किन्तु जिस वस्तु को प्रकृति समुदाय के लिये एक धीमे विकास के द्वारा उत्पन्न करने की कोशिश करती है उसे 'योग' व्यक्ति के लिये एक द्रुत विकास के द्वारा साधित कर लेता है। वह उसकी समस्त शक्तियों को वेग प्रदान करके और समस्त सामर्थ्य को ऊंचा उठाकर कार्य करता है। प्रकृति आध्यात्मिक जीवन को बड़ी कठिनाई से विकसित कर पाती है और इसमें उसे सदा अपनी निम्न उपलब्धियों की प्राप्ति के लिये निम्न स्तर पर आना पड़ता है, उधर योग की दिव्यभावापन्न शक्ति और केन्द्रित प्रणाली सीधे ही मन की पूर्णता प्राप्त कर सकती है, बल्कि वह उसे अपने साथ ही ला सकती है। इतना ही नहीं, यदि उसे प्रकृति का सहयोग मिले तो वह शरीर की पूर्णता भी प्राप्त कर सकती है। प्रकृति भगवान् को अपने प्रतीकों में खोजती है। योग 'प्रकृति' से आगे 'प्रकृति' के स्वामीतक, विश्व से आगे 'परात्पर सत्ता' तक जाता है और फिर परात्पर प्रकाश और परात्पर शक्ति सहित सर्वशक्तिमान् भगवान् के आदेश से वापिस भी लौट सकता है।

किन्तु दोनों का उद्देश्य अन्त में एक ही है। मनुष्यजाति में 'योग' को व्यापक बनाने का अर्थ यह है कि प्रकृति अपने विलम्बों और रहस्यों पर अन्तिम विजय प्राप्त कर ले। अभी तो वह विज्ञान के विकसनशील मन के द्वारा समस्त मनुष्यजाति को मानसिक जीवन के पूर्ण विकास के लिये तैयार करने की कोशिश करती है, इसी प्रकार योग के द्वारा उसे समस्त मनुष्यजाति को एक उच्चतर विकास के लिये, एक नये जन्म अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के लिये अनिवार्य रूप में समर्थ बनाने की कोशिश करनी चाहिये। जिस प्रकार मानसिक जीवन भौतिक जीवन का प्रयोग करके उसे पूर्ण बनाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन भी भौतिक और मानसिक जीवन का प्रयोग करके उन्हें पूर्ण बनायेगा, ये दिव्य आत्म-अभिव्यक्ति के यन्त्र होंगे। जिन युगों में यह कार्य साधित होगा वे पुराणप्रोक्त

'सत्य' और 'कृत'[1] अर्थात् प्रतीक के रूप में व्यक्त 'सत्य' के युग होंगे, ये उस महान् कार्य के युग होंगे जब कि प्रकृति मनुष्यजाति में प्रकाश, सन्तोष और आनन्द से परिपूर्ण हो जाती है तथा अपने प्रयत्न के शिखर पर पहुंचकर वहीं विश्राम करती है।

अब मनुष्य को विश्व प्रकृति का प्रयोजन समझना है, उसे विश्व-माता को गलत समझना, उसकी उपेक्षा करना, उसका दुरुपयोग करना छोड़ देना है। उसे माता के उच्चतम आदर्श को प्राप्त करने के लिये उसीके सबलतम साधनों के द्वारा सदैव अभीप्सा करनी है।

[1] सत्य, कृत अर्थात् चरितार्थ या पूर्ण।

४

योग की प्रणालियां

मानवी सत्ता के विभिन्न मनोवैज्ञानिक विभाजनों और उनपर आधारित प्रयत्न-सम्बन्धी इन अनेक उपयोगिताओं और उद्देश्यों के परस्पर-सम्बन्ध जिन्हें हमने प्राकृतिक विकासक्रम का संक्षेप में निरीक्षण करते हुए देखा है, हमें 'योग' की विभिन्न पद्धतियों के मूल सिद्धान्तों और प्रणालियों में बार-बार मिलेंगे। और, यदि हम उनके केन्द्रीय अभ्यासों और प्रधान उद्देश्यों को संयुक्त और समन्वित करना चाहें तो हम देखेंगे कि अभी भी प्रकृति-प्रदत्त आधार ही हमारा स्वाभाविक आधार है और उनके समन्वय की शर्त भी।

एक दृष्टि से योग वैश्व प्रकृति की सामान्य क्रिया से आगे निकल जाता है और उसे पीछे छोड़कर ऊपर की ओर आरोहण करता है। कारण, वैश्व माता का उद्देश्य भगवान् से, अपनी क्रीड़ा और सृष्ट रूपों में, मिलना है और वहीं उसे प्राप्त करना है। किन्तु योग के उच्चतम आरोहणों में वह अपनेसे आगे जाकर स्वयं अपने अन्दर ही भगवान् को प्राप्त कर लेती है, इसमें वह विश्व से आगे निकल जाती है, पर साथ ही वैश्व क्रीड़ा से अलग भी रहती है। इसलिये कुछ लोग यह मानते हैं कि यह योग का केवल उच्चतम उद्देश्य ही नहीं है, बल्कि एकमात्र सच्चा या वांछनीय उद्देश्य भी है।

किन्तु, जिस वस्तु का निर्माण प्रकृति ने अपने विकास-क्रम में किया है उसीके द्वारा वह सदा अपने विकासक्रम से आगे भी निकल जाती है। वैयक्तिक हृदय ही अपने उच्चतम और पवित्रतम भावों को ऊपर उठाकर परात्पर आनन्द या अनिर्वचनीय निर्वाण को प्राप्त करता है, वैयक्तिक मन ही अपनी सामान्य क्रियाओं को मानसिकता से परे के ज्ञान में परिवर्तित करके अनिर्वचनीय सत्ता के साथ अपने तादात्म्य को जान लेता है तथा अपने पृथक् अस्तित्व को उस परात्पर एकता में विलीन कर देता है। सदा व्यक्ति अर्थात् 'आत्मा' ही, जो अपने अनुभव में प्रकृति के द्वारा सीमित होता है और उसीकी रचनाओं के द्वारा कार्य करता है असीमित, मुक्त और परात्पर 'आत्मा' को प्राप्त करता है।

योगाभ्यास के सम्भव हो सकने के लिये क्रियात्मक दृष्टि से तीन विचार आवश्यक हैं। वस्तुतः इस प्रयत्न के लिये तीन पक्षों को अपनी सम्मति देनी होगी—भगवान्, प्रकृति और मानव-आत्मा, अधिक गहन भाषा में इन्हें 'परात्पर सत्ता', 'वैश्व सत्ता' और व्यक्ति भी कह सकते हैं। यदि व्यक्ति और प्रकृति अपने भरोसे ही छोड़ दिये जाएं तो उनमेंसे एक दूसरे के साथ बंध जाता है और दूसरे की मन्द गति के कारण अधिक आगे बढ़ने में समर्थ नहीं होता। यहीं आकर किसी

परात्पर वस्तु की आवश्यकता पड़ती है जो उससे स्वतन्त्र और बड़ी हो, जो हमपर और उसपर भी कार्य कर सके और जो हमें ऊपर अपनी ओर खींच सके तथा प्रकृति से, उसकी अपनी प्रसन्नता से या बलपूर्वक, वैयक्तिक आरोहण के लिये उसकी स्वीकृति मांग सके।

यही सत्य योग के प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त के लिये ईश्वर, भगवान्, सर्वोच्च आत्मा या सर्वोच्च सत्ता के विचार को आवश्यक बना देता है। इसी सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है और यही एक प्रकाशप्रद सम्पर्क तथा उसे प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करता है। उतना ही सच्चा योग का वह पूरक विचार है जिसे भक्तियोग ने बार-बार लागू किया है अर्थात् यह विचार कि जिस प्रकार परात्पर भगवान् व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं और व्यक्ति उसकी खोज करता है उसी प्रकार व्यक्ति भी एक प्रकार से भगवान् के लिये आवश्यक है और भगवान् उसकी खोज करते हैं। यदि भक्त भगवान् की खोज एवं अभिलाषा करता है तो भगवान् भी भक्त की खोज और अभिलाषा करते हैं।[1] ज्ञान-प्राप्ति के अभिलाषी मानव-जिज्ञासु के बिना, ज्ञान के सर्वोच्च विषय के बिना तथा व्यक्ति के द्वारा ज्ञान की वैश्व क्षमताओं के दिव्य प्रयोग के बिना 'ज्ञान-योग' का अस्तित्व नहीं हो सकता। भगवान् के मानव-प्रेमी के बिना, प्रेम और आनन्द के सर्वोच्च उद्देश्य के बिना तथा व्यक्ति के द्वारा आध्यात्मिक, भाविक और सौन्दर्यात्मक उपभोग की वैश्व क्षमताओं के दिव्य प्रयोग के बिना भक्तियोग का अस्तित्व नहीं हो सकता। मानव कार्यकर्ता के बिना, सर्वोच्च संकल्पशक्ति के बिना, समस्त कर्मों और यज्ञों के स्वामी के बिना और व्यक्ति के द्वारा शक्ति और कर्म की वैश्व क्षमताओं के दिव्य प्रयोग के बिना कोई कर्मयोग नहीं हो सकता। वस्तुओं का उच्चतम सत्य-सम्बन्धी हमारा बौद्धिक विचार कितना भी एकेश्वरवादी क्यों न हो, क्रियात्मक रूप में हमें इस सर्वव्यापक त्रिविध सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ता है।

कारण, मानव और वैयक्तिक चेतना का दिव्य चेतना के साथ सम्बन्ध ही योग का सार-तत्त्व है। जो चीज विश्व की क्रीड़ा में अलग हो गयी थी उसका अपनी सच्ची सत्ता के साथ, अपने स्रोत और अपनी वैश्वता के साथ मेल—इसीका नाम योग है। यह सम्बन्ध किसी भी समय तथा जटिल और गहनतः-संघटित चेतना के किसी भी स्थल पर हो सकता है, इसी चेतना को हम अपना व्यक्तित्व कहते हैं। यह भौतिक चेतना में शरीर के द्वारा चरितार्थ किया जा सकता है, प्राण में यह उन व्यापारों की क्रिया के द्वारा साधित होता है जो हमारी स्नायविक सत्ता की अवस्था और अनुभवों को निर्धारित करते हैं, जब कि मन में यह भाविक हृदय, सक्रिय संकल्पशक्ति अथवा विवेकशील मन के द्वारा साधित होता है, अधिकांश में यह

[1] भक्त अर्थात् भगवान् का अनुरागी या प्रेमी; भगवान् अर्थात् परमात्मा, प्रेम और आनन्द का स्वामी; त्रिविध सत्ता में से तीसरी सत्ता भागवत सत्ता है, अर्थात् प्रेम का दिव्य प्रकट रूप।

मानसिक चेतना के उसकी समस्त क्रियाओं में एक सामान्य रूपान्तर के द्वारा साधित होता है। यह सम्बन्ध वैश्व या परात्पर 'सत्य' और 'आनन्द' के प्रति सीधी जागृति के द्वारा और मन में केंद्रीय अहंभाव को परिवर्तित करके किया जा सकता है। इस सम्बन्ध को जिस स्थल पर हम स्थापित करना चाहेंगे वही हमारे योग का रूप निर्धारित करेगा।

कारण, यदि हम भारत में प्रचलित योग की प्रमुख प्रणालियों की विशिष्ट प्रक्रियाओं की जटिलताओं को एक ओर रखकर अपनी दृष्टि उनके केन्द्रीय विचार पर रखें तो हमें पता लगेगा कि वे एक ऐसे आरोहणकारी क्रम में अपने-आपको संगठित करती हैं जो सीढ़ी के सबसे निचले सोपान अर्थात् शरीर से आरम्भ होकर वैयक्तिक आत्मा और परात्पर और वैश्व सत्ता के अन्तर्वर्ती सीधे सम्बन्ध तक जाता है। हठयोग शरीर और प्राणिक क्रियाओं को पूर्णता और सिद्धि प्राप्त करने के अपने यन्त्रों के रूप में चुनता है, उसका सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ होता है। राजयोग मानसिक सत्ता को, उसके विभिन्न अंगों समेत, अपनी मुख्य शक्ति के रूप में चुनता है; वह सूक्ष्म शरीर पर अपने-आपको एकाग्र करता है। कर्म, प्रेम और ज्ञान का त्रिविध मार्ग, मानसिक सत्ता के एक भाग को, संकल्प-शक्ति, हृदय या बुद्धि को प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में प्रयुक्त करता है और मुक्तिदायक 'सत्य', आनन्द और असीमता पाने के लिये उसका रूपान्तर करना चाहता है, ये सत्य, आनन्द और असीमता ही आध्यात्मिक जीवन के प्रारूप के अंग हैं। इसकी प्रणाली व्यक्ति के शरीर में मानव पुरुष और उस दिव्य 'पुरुष' के बीच प्रत्यक्ष आदान-प्रदान की होती है जो प्रत्येक शरीर में निवास करता है, पर फिर भी समस्त रूप और नाम से आगे निकल जाता है।

हठयोग का लक्ष्य प्राण और शरीर पर विजय प्राप्त करना है और जैसा कि हम देख चुके हैं, इनका संयोग अन्नकोष और प्राणकोष के रूप में स्थूल शरीर का निर्माण करता है; प्राण और शरीर का सन्तुलन ही मानवी सत्ता में प्रकृति के समस्त कार्यों का आधार है। प्रकृतिद्वारा स्थापित सन्तुलन सामान्य अहंकारयुक्त जीवन के लिये तो पर्याप्त है, किन्तु वह हठयोगी के उद्देश्य को पूरा करने के लिये काफी नहीं है। कारण, उसका हिसाब उतनी ही प्राणिक या सक्रिय शक्ति पर लगाया जाता है जितनी की आवश्यकता मानवजीवन के सामान्य काल में भौतिक इंजिन को चलाने के लिये या उन विभिन्न कार्यों को थोड़ा-बहुत यथार्थ रूप में करने के लिये पड़ती है जिनकी मांग उससे इस शरीर में निवास करनेवाला वैयक्तिक प्राण और उसे सीमित करनेवाली जगत्-परिस्थिति करते हैं। अतएव हठयोग प्रकृति में शोधन करना चाहता है तथा एक ऐसा अन्य सन्तुलन स्थापित करना चाहता है जिसके द्वारा यह भौतिक ढांचा प्राण की वृद्धिशील प्राणिक या सक्रिय शक्ति के वेगवान् प्रवाह का सामना करने में समर्थ हो जायगा; यह शक्ति अपनी मात्रा और वेग में वस्तुतः

अनिश्चित और असीमप्राय है। प्रकृति में यह सन्तुलन प्राण की एक सीमित मात्रा और शक्ति के मूर्तीकरण पर आधारित है। इससे अधिक शक्ति को व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और पैतृक अभ्यास के कारण न तो सह सकता है और न ही उसे प्रयुक्त या नियन्त्रित कर सकता है। हठयोग में यह सन्तुलन वैयक्तिक प्राण-शक्ति को व्यापक बनाने के लिये एक द्वार खोल देता है, वह शरीर में वैश्व शक्ति की एक बहुत ही कम रूढ़ और सीमित क्रिया को प्रवेश करने देता है तथा उसे अपने अन्दर धारण करके प्रयुक्त एवं नियन्त्रित करता है।

हठयोग की मुख्य क्रियाएं 'आसन' और 'प्राणायाम' हैं। अनेक आसनों अर्थात् बैठने की नियत स्थितियों के द्वारा वह पहले शरीर को चंचलता से मुक्त करता है। यह चंचलता इस बात का संकेत है कि वह उन प्राणिक शक्तियों को जो उसमें वैश्व जीवन के महासागर से प्रविष्ट हुई हैं कर्म और गति में चरितार्थ किये बिना अपने अन्दर धारण करने में असमर्थ है। इसके बाद हठयोग शरीर को एक असाधारण प्रकार का स्वास्थ्य, बल तथा नमनीयता प्रदान करता है तथा उसे उन रूढ़ अभ्यासों से मुक्त कर देता है जो उसे साधारण भौतिक प्रकृति से बांधे रखते हैं और उसे उसकी सामान्य क्रियाओं की तंग सीमाओं में घेरे रहते हैं। हठयोग की प्राचीन परंपरा में लोग सदा ही यह मानते थे कि यह विजय इतनी दूर तक ले जायी जा सकती है कि वह काफी हद तक गुरुत्व-शक्ति पर भी विजय प्राप्त कर ले। हठयोगी का अगला कदम है विभिन्न प्रकार की गौण परन्तु जटिल प्रक्रियाओं के द्वारा शरीर को समस्त अपवित्रताओं से मुक्त करना तथा स्नायविक प्रणाली को श्वास-प्रश्वास के उन व्यापारों की सहायता से निर्बाध रखना जो उसके अत्यधिक महत्त्वपूर्ण यन्त्र हैं। इन्हें प्राणायाम कहते हैं अर्थात् श्वास अथवा प्राणिक शक्ति का नियन्त्रण, क्योंकि श्वास लेना प्राणिक शक्तियों की मुख्य भौतिक क्रिया है। पहले यह शरीर की पूर्णता को संपन्न करता है : प्राणिक शक्ति भौतिक प्रकृति की बहुत-सी साधारण आवश्यकताओं से मुक्त हो जाती है और व्यक्ति बढ़िया स्वास्थ्य, लंबा यौवन और प्रायः ही असाधारण रूप से लंबी आयु प्राप्त कर लेता है। दूसरी ओर, प्राणायाम प्राणकोष में प्राणिक सक्रियता की सर्पाकार कुंडलिनी-शक्ति को जगा देता है तथा योगी के सामने चेतना के ऐसे क्षेत्र, अनुभव की ऐसी शृंखलाएं तथा असामान्य शक्तियां खोलकर रख देता है जो सामान्य मानव-जीवन में प्राप्त नहीं होतीं, साथ ही वह उन सामान्य शक्तियों एवं क्षमताओं को भी जो उसके पास पहले से हैं अतिशय सबल बना देता है। हठयोगी को कुछ और भी गौण प्रक्रियाएं सुलभ हैं जिनके द्वारा वह इन लाभों को स्थिर एवं पुष्ट कर सकता है।

हठयोग के परिणाम देखने में बहुत विशेष प्रकार के प्रतीत होते हैं तथा स्थूल अथवा भौतिक मन पर प्रबल प्रभाव डालते हैं। पर अन्त में यह प्रश्न उठ सकता है कि इतने बड़े परिश्रम के बाद हमें मिला क्या? भौतिक प्रकृति का उद्देश्य

अर्थात् केवल भौतिक जीवन की सुरक्षा, उसकी उच्चतम पूर्णता, बल्कि कुछ हद तक भौतिक जीवन का अधिक उपभोग करने की सामर्थ्य—ये वस्तुएं असाधारण मात्रा में प्राप्त की जा चुकी हैं। किन्तु हठयोग की दुर्बलता इस बात में है कि इसकी श्रमपूर्ण एवं कठिन प्रक्रियाएं इतने समय और शक्ति की मांग करती हैं तथा मनुष्य के सामान्य जीवन से उसे इतने पूर्ण रूप से अलग होने को बाध्य करती हैं कि जगत् के जीवन के लिये इसके परिणामों की उपयोगिता या तो प्रयोग में ही नहीं लायी जा सकती या फिर वह असाधारण रूप से सीमित होती है। यदि हम इस हानि के बदले अन्दर के एक अन्य जगत् में एक अन्य जीवन अर्थात् मानसिक या सक्रिय जीवन प्राप्त करना चाहें तो ये परिणाम दूसरी प्रणालियों अर्थात् राजयोग और तन्त्रों से भी बहुत कम श्रमपूर्ण साधनों द्वारा प्राप्त हो सकते हैं और इन्हें स्थिर रखने के लिये इतने कठोर नियमों का पालन भी नहीं करना पड़ता। बल्कि, इन भौतिक परिणामों अर्थात् प्राणिक शक्ति की बहुलता, लंबा यौवन, स्वास्थ्य तथा लंबी आयु का लाभ बहुत ही कम होगा, यदि हम सामान्य जीवन से अलग रहकर इन्हींकी खातिर इन्हें कंजूसों की तरह पकड़े रहें, इनका उपयोग न करें या इनका प्रयोग संसार के सामान्य कार्यों के लिये न करें। हठयोग बहुत बड़े परिणाम प्राप्त कर लेता है, परन्तु बहुत ही असाधारण मूल्य पर और बड़े छोटे-से उद्देश्य की खातिर।

राजयोग इससे ऊंची उड़ान भरता है। इसका उद्देश्य शारीरिक सत्ता की मुक्ति और पूर्णता को नहीं, बल्कि मानसिक सत्ता की मुक्ति और पूर्णता को भी प्राप्त करना है तथा भाविक और संवेदनशील प्राण पर नियन्त्रण स्थापित करना एवं विचार और चेतना के समस्त यन्त्र पर प्रभुत्व पाना है। यह अपनी दृष्टि चित्त पर एकाग्र करता है जो मानसिक चेतना का एक ऐसा संघात है जिसमें ये समस्त क्रियाएं उठती हैं। जिस प्रकार हठयोग अपने भौतिक उपादान को शुद्ध एवं शांत करना चाहता है उसी प्रकार राजयोग भी मन को पवित्र और शांत बनाना चाहता है। मनुष्य की सामान्य अवस्था व्याकुलता और अस्तव्यस्तता की अवस्था है, यह एक ऐसा राज्य है जो या तो अपने-आपसे युद्ध करता रहता है या जो बुरी प्रकार शासित होता है। कारण, यहां स्वामी अर्थात् 'पुरुष' अपने मन्त्रियों अर्थात् अपनी शक्तियों के अधीन रहता है, बल्कि अपनी प्रजा के अर्थात् अपने सम्वेदन, भाव, कर्म और उपभोग के यन्त्रों के अधीन रहता है। वस्तुतः इस अधीनता के बदले अपने राज्य अर्थात् अपनी आत्मा के राज्य की स्थापना होनी चाहिये। अतएव सबसे पहले अव्यवस्था की शक्तियों पर व्यवस्था की शक्तियों को विजय प्राप्त करने के लिये सहायता मिलनी चाहिये। राजयोग की प्रारम्भिक क्रिया एक सतर्क आत्मनियन्त्रण की क्रिया होती है जिसके द्वारा निम्न स्नायविक सत्ता को सन्तुष्ट करनेवाली नियमरहित क्रियाओं के स्थान पर मन के अच्छे अभ्यास डाले जाते हैं।

सत्य के अभ्यास से, अहंकारयुक्त खोज के समस्त रूपों के त्याग से, दूसरों को हानि न पहुंचाने की प्रवृत्ति से और पवित्रता से तथा सतत ध्यान एवं उस दिव्य पुरुष की ओर आकर्षण से जो मानसिक राज्य का सच्चा स्वामी है, मन और हृदय की एक शुद्ध, प्रसन्न और निर्मल अवस्था स्थापित हो जाती है।

किन्तु यह केवल पहला कदम है। इसके बाद मन और इन्द्रियों की सामान्य क्रियाओं को पूर्ण रूप से शांत बना देना चाहिये जिससे आत्मा चेतना की उच्चतर स्थितियों तक आरोहण करने के लिये स्वतन्त्र हो सके और एक पूर्ण स्वाधीनता और आत्म-संयम के लिये आधार स्थापित कर सके; किन्तु राजयोग यह नहीं भूलता कि सामान्य मन की अयोग्यता इस बात में है कि वह स्नायविक प्रणाली और शरीर की प्रतिक्रियाओं के अधीन रहता है। इसीलिये वह हठयोग की पद्धति से उसके आसन और प्राणायाम के ढंग ग्रहण कर लेता है; किन्तु साथ ही वह प्रत्येक दशा में उनके अनेक और जटिल रूपों को एक ऐसी अत्यधिक सरल पर प्रत्यक्षतः प्रभावशाली प्रक्रिया में बदल देता है जो उसकी तात्कालिक उद्देश्य-प्राप्ति के लिये पर्याप्त होती है। इस प्रकार वह हठयोग की जटिलता और बोझिलपने से मुक्त रहकर उसकी प्रणालियों के द्रुत और शक्तिशाली प्रभाव का उपयोग कर लेता है, यह वह शारीरिक और प्राणिक व्यापारों के नियन्त्रण तथा उस आन्तरिक गतिशीलता को प्राप्त करने के लिये करता है जो एक प्रसुप्त पर असाधारण शक्ति से परिपूर्ण होती है; यौगिक भाषा में यह कुंडलिनी के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् अन्दर की कुंडलित और प्रसुप्त सर्पाकार शक्ति। जब यह हो जाता है तो यह प्रणाली और आगे बढ़ती है और अशान्त मन को पूर्णतया शान्त बना देती है तथा उसे समाधि तक पहुंचानेवाली क्रमिक अवस्थाओं में से गुजारते हुए मानसिक शक्ति की एकाग्रता के द्वारा उच्चतर स्तर तक ले जाती है।

'समाधि' में मन अपनी सीमित और सजग क्रियाओं से निकलकर चेतना की अधिक मुक्त और उच्च अवस्थाओं में प्रवेश करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा राजयोग दो उद्देश्य सिद्ध करता है; प्रथम तो वह एक ऐसे विशुद्ध मानसिक कर्म को अपने क्षेत्र के अन्दर ले आता है जो बाह्य चेतना की अस्तव्यस्तताओं से मुक्त होता है और तब वह वहां से उन उच्चतर अतिमानसिक स्तरों तक पहुंच जाता है जहां वैयक्तिक आत्मा सच्चे आध्यात्मिक अस्तित्व में प्रवेश करती है। साथ ही वह अपने विषय पर चेतना की उस मुक्त और एकाग्र शक्ति के प्रभाव को भी प्राप्त कर लेता है जिसे हमारा दर्शनशास्त्र प्रारम्भिक वैश्व शक्ति का नाम देता है और जिसे वह जगत् पर भागवत कार्य करने की प्रणाली मानता है, इसी शक्ति के द्वारा योगी, जो समाधि-अवस्था में उच्चतम अति-वैश्व ज्ञान और अनुभव को पहले से ही प्राप्त कर चुका होता है, जागृत अवस्था में भी उस ज्ञान को सीधा प्राप्त कर सकता है तथा उस आत्म-संयम का प्रयोग कर सकता है जो

भौतिक जगत् में उसकी क्रियाओं के लिये लाभदायक या आवश्यक हो सकते हैं। कारण, राजयोग की प्राचीन प्रणाली का उद्देश्य केवल 'स्वराज्य' या आन्तरिक 'प्रभुत्व' या अपने ही प्रदेश के समस्त क्षेत्रों और क्रियाओं पर आन्तरिक चेतना के द्वारा पूर्ण नियन्त्रण ही नहीं था, बल्कि 'साम्राज्य' अर्थात् बाह्य या आन्तरिक चेतना के द्वारा अपनी बाह्य क्रियाओं और परिस्थितियों पर भी नियन्त्रण था।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार हठयोग प्राण और शरीर के साथ व्यवहार करते हुए शारीरिक जीवन और उसकी सामर्थ्यों की असाधारण पूर्णता को अपना उद्देश्य मानता है तथा उससे भी आगे जाकर मानसिक जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करता है, उसी प्रकार राजयोग जिसका क्षेत्र मन है मानसिक जीवन की क्षमताओं की असाधारण पूर्णता और विस्तार को अपना लक्ष्य मानता है और फिर उससे आगे जाकर आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करता है। किन्तु इस प्रणाली में एक कमजोरी है कि यह समाधि की असामान्य अवस्थाओं पर बहुत अधिक निर्भर रहती है। इस कमजोरी का एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य भौतिक जीवन से अलग-सा हो जाता है जब कि वही उसका आधार और क्षेत्र है और उसीमें उसे अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उपलब्धियां प्राप्त करनी हैं। विशेषकर, आध्यात्मिक जीवन इस प्रणाली में समाधि की अवस्था से अत्यधिक जुड़ा होता है। हमारा उद्देश्य आध्यात्मिक जीवन और उसके अनुभवों को पूर्णतया सक्रिय बनाना है तथा जाग्रत् अवस्था में, साथ ही क्रियाओं के सामान्य प्रयोग में भी उन्हें पूर्णतया उपयोगी बनाना है। किन्तु राजयोग में यह उद्देश्य हमारे समस्त जीवन में उतरकर उसे अधिकृत करने के स्थान पर हमारी सामान्य अनुभूतियों के पीछे गौण स्तर पर ही रुक जाता है।

उधर भक्ति, ज्ञान और कर्म का त्रिविध मार्ग उस प्रदेश को हस्तगत करने का प्रयत्न करता है जिसे राजयोग ने विजित नहीं किया। यह राजयोग से इस बात में भिन्न है कि यह समूची मानसिक प्रणाली की विस्तृत शिक्षा को पूर्णता की शर्त नहीं मानता और इसलिये उसमें व्यस्त नहीं होता, बल्कि यह कुछ केन्द्रीय तत्त्वों को अर्थात् बुद्धि, हृदय और संकल्प-शक्ति को अपने हाथ में ले लेता है और उन्हें उनकी सामान्य और बाह्य क्रियाओं और व्यापारों से परे हटाकर और भगवान् पर केन्द्रित कर रूपान्तरित करना चाहता है। यह उससे इस बात में भी भिन्न है कि यह मानसिक और शारीरिक पूर्णता के प्रति उदासीन है तथा केवल पवित्रता को भागवत सिद्धि की शर्त मानकर उसीको अपना उद्देश्य मानता है और यहां इसमें पूर्णयोग के दृष्टिकोण से एक दोष देखने में आता है। दूसरा दोष यह है कि जिस प्रकार आजकल उसका अभ्यास किया जाता है उसके अनुसार वह तीन समानान्तर मार्गों में से किसी ऐसे मार्ग को चुनता है जो अनन्य रूपसे और प्रायः ही दूसरे मार्गों का विरोधी होता है, जब कि उसका कार्य एक पूर्ण दिव्य प्राप्ति में बुद्धि,

हृदय और संकल्प-शक्ति का एक समन्वयात्मक सामंजस्य साधित करना था।

ज्ञान के मार्ग का उद्देश्य एकमेव और सर्वोच्च 'सत्ता' की प्राप्ति है। यह बौद्धिक चिन्तन अर्थात् विचार की प्रणाली के द्वारा यथार्थ विवेक-बुद्धि की ओर बढ़ता है। यह हमारी ऊपरी अथवा दृश्यमान सत्ता के विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करता है तथा उनमें विभेद करता है और उन सबसे अलग रहता हुआ उनके परस्पर-विरोध और पार्थक्य के सिद्धान्त पर पहुंचता है। ये विभिन्न तत्त्व प्रकृति के अर्थात् दृश्यमान प्रकृति के अंगों के रूप में और माया अर्थात् बाह्य चेतना की रचनाओं के रूप में एक ही परम तत्त्व में उपस्थित हैं। इस प्रकार यह एकमेव 'सत्ता' के साथ अपना ऐसा यथार्थ तादात्म्य स्थापित कर सकता है जो न तो बदल सकता है और न नष्ट हो सकता है और जो न किसी एक तथ्य से या तथ्यों के संघात से निर्धारित किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से इस मार्ग का, जिसका साधारणतया अनुसरण किया जाता है, परिणाम यह होता है कि दृश्यमान लोकों को भ्रान्ति समझकर चेतना से बहिष्कृत कर दिया जाता है और व्यक्तिगत आत्मा सर्वोच्च सत्ता में अन्तिम रूप में लीन हो जाती है और फिर वहां से नहीं लौटती।

किन्तु यह एकाङ्गी अत्युच्च अवस्था ही ज्ञान के मार्ग का अकेला या अनिवार्य परिणाम नहीं। कारण, यदि इसका अनुसरण अधिक विस्तृत रूप से, और वैयक्तिक उद्देश्य से कम प्रेरित होकर किया जाय तो ज्ञान की पद्धति का परिणाम केवल परात्परता की प्राप्ति ही नहीं, बल्कि भगवान् के लिये वैश्व सत्ता पर सक्रिय विजय प्राप्त करना भी होगा। इस अतिक्रम का मुख्य अभिप्राय होगा—अपनी सत्ता में ही नहीं, बल्कि सब सत्ताओं में सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति और अन्त में तो जगत् के दृश्यमान रूपों की भी प्राप्ति, पर यह होगी दिव्य चेतना की एक क्रीड़ा के रूप में ही; यह कोई ऐसी वस्तु नहीं होगी जो उसके सच्चे स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल हो। इस प्राप्ति के आधार पर एक और आगे की उन्नति भी सम्भव है, अर्थात् ज्ञान के सब रूप, चाहे वे कितने ही सांसारिक क्यों न हों, दिव्य चेतना की क्रियाओं में बदल जायेंगे; ये रूप ज्ञान के एक अखंड ध्येय को अनुभव करने के लिये प्रयुक्त किये जायेंगे और यह अनुभव उसके अपने अन्दर और उसके रूपों और प्रतीकों की क्रीड़ा में प्राप्त किया जायगा। इस प्रणाली का यह परिणाम निकल सकता है कि मानव बुद्धि और बोध का समस्त क्षेत्र ही दिव्य स्तर तक ऊंचा उठ जाय तथा आध्यात्मिक बनकर मनुष्य-जाति में ज्ञान के वैश्व प्रयास की सार्थकता को सिद्ध कर दे।

भक्ति का मार्ग सर्वोच्च 'प्रेम' और 'आनन्द' के उपभोग को अपना उद्देश्य मानता है और सामान्य रूप से सर्वोच्च प्रभु के व्यक्तित्व के विचार को स्वीकार करके उसका उपयोग करता है, साथ ही वह उन्हें दिव्य प्रेमी और विश्व का भोक्ता भी मानता है। तब जगत् उस प्रभु की क्रीड़ा के रूप में दिखाई देता है और

मानव-जीवन उसकी अन्तिम अवस्था जान पड़ती है, इसका अनुसरण लुका-छिपी अर्थात् आत्मगोपन और आत्मप्रकाश के विभिन्न रूपों के द्वारा किया जाता है। भक्तियोग मानव-जीवन के उन सब सामान्य सम्पर्कों का उपयोग करता है जिनमें भावावेश उपस्थित रहता है और जिन्हें वह अब अस्थिर सांसारिक सम्बन्धों पर लागू नहीं करता, बल्कि 'सर्व-प्रेम', 'सर्व-सुन्दर' और 'सर्व-आनन्दमय सत्ता' की प्रसन्नता के लिये प्रयुक्त करता है। पूजा और ध्यान केवल भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की तैयारी के लिये और साथ ही उसे तीव्रता प्रदान करने के लिये किये जाते हैं। यह योग समस्त भाविक सम्बन्धों के प्रयोग में बहुत उदार है; यहां तक कि भगवान् के प्रति शत्रुता और विरोध को भी, जो प्रेम के ही तीव्र, अधीर और विकृत रूप समझे जाते हैं, सिद्धि और मुक्ति का एक सम्भव साधन स्वीकार किया जाता है। इस मार्ग का सामान्यतया जैसा अभ्यास किया जाता है उसके अनुसार यह भी मनुष्य को जगत् के अस्तित्व से दूर, परात्पर और अति-वैश्व सत्ता में लीन होने की अवस्था तक ले जाता है जो अद्वैतवादी की लीनता से भिन्न प्रकार की होती है।

किन्तु यहां भी एकपक्षीय परिणाम अनिवार्य नहीं है। योग इस गलती को सर्वप्रथम इस प्रकार सुधारता है कि वह दिव्य प्रेम की क्रीड़ा को सर्वोच्च आत्मा और व्यक्ति के सम्बन्ध तक सीमित नहीं रखता, बल्कि उसे उस भावना और पारस्परिक पूजा तक ले जाता है जो सर्वोच्च प्रेम और आनन्द की उसी उपलब्धि के लिये एकत्र हुए भक्तों के बीच एक-दूसरे के प्रति पायी जाती है। एक अधिक सामान्य संशोधन वह और भी उपस्थित करता है कि प्रेम का दिव्य उद्देश्य समस्त सत्ताओं में, मनुष्य में ही नहीं बल्कि पशु में भी चरितार्थ हो जाता है, इसकी पहुंच सभी साकार पदार्थों तक सरलता से हो सकती है। हम देख सकते हैं कि भक्तियोग को इतने व्यापक क्षेत्र में प्रयुक्त किया जाता है कि वह मानव भाव, सम्वेदन और सौन्दर्यात्मक बोध के समस्त क्षेत्र को दिव्य स्तरतक, उसके आध्यात्मीकरण तथा मनुष्यजाति में प्रेम और आनन्द के लिये किये गये वैश्व प्रयत्न की सार्थकता तक ले जाता है।

कर्म के मार्ग का उद्देश्य है मनुष्य के प्रत्येक कर्म का सर्वोच्च संकल्पशक्ति के प्रति समर्पण। इसका आरम्भ कर्म के समस्त अहंभावयुक्त उद्देश्य के त्याग से और स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की, किसी सांसारिक परिणाम की खातिर किये गये कर्म के त्याग से होता है। इस त्याग के द्वारा वह मन और संकल्पशक्ति को इतना शुद्ध कर लेता है कि हम सरलता से उस महान् वैश्व 'शक्ति' के प्रति सचेतन हो जाते हैं तथा उसे ही अपने समस्त कार्यों का सच्चा कर्त्ता मानने लगते हैं, साथ ही हम उस शक्ति के स्वामी को कर्मों का शासक और संचालक भी मानते हैं जब कि व्यक्ति केवल ऊपरी आवरण या बहाना होता है, एक यन्त्र या, अधिक निश्चित रूप में

कहें तो, कर्म और दृश्यमान सम्बन्ध का एक चेतन केन्द्र मात्र होता है। कर्म का चुनाव और उसकी दिशा अधिकाधिक चेतन रूप में इसी सर्वोच्च संकल्पशक्ति और वैश्व 'शक्ति' पर छोड़ दिये जाते हैं। इसीको हमारे कर्म और हमारे कर्मों के परिणाम अन्तर में समर्पित कर दिये जाते हैं। इसमें लक्ष्य यह होता है कि आत्मा बाह्य प्रतीतियों और दृश्यमान व्यापारों की प्रतिक्रियाओं के बंधन से छूट जाय। दूसरे मार्गों की तरह कर्मयोग का उपयोग भी दृश्यमान अस्तित्व से मुक्ति पाने और सर्वोच्च सत्ता में प्रवेश करने के लिये किया जाता है। किन्तु यहां भी एकांगी परिणाम अनिवार्य नहीं। इस मार्ग का अन्त भी समस्त शक्तियों में, समस्त घटनाओं और समस्त कार्यों में दिव्य सत्ता का बोध और वैश्व कर्म में आत्मा का स्वतन्त्र और निरभिमान सहयोग हो सकता है। यदि इसका इस प्रकार अनुसरण किया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि समस्त मानव-संकल्प-शक्ति और क्रिया दिव्य स्तर तक पहुंच जायगी, आध्यात्मिक बन जायगी तथा मानव-सत्ता में स्वतन्त्रता, शक्ति और पूर्णता के लिये किये गये प्रयास के औचित्य को सिद्ध कर देगी।

हम यह भी देख सकते हैं कि यदि वस्तुओं को सर्वांगीण दृष्टि से देखा जाय तो ये तीनों रास्ते एक ही हैं। सामान्यतया दिव्य प्रेम को पूर्ण घनिष्ठता के द्वारा 'प्रिय' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा, इस प्रकार वह 'ज्ञान' का मार्ग होगा। उसका ध्येय दिव्य सेवा भी होगा और तब वह 'कर्म' का मार्ग बन जायगा। इसी प्रकार, पूर्ण 'ज्ञान' पूर्ण 'प्रेम' और 'आनन्द' को जन्म देगा तथा ज्ञात 'सत्ता' के 'कर्मों' को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेगा। इसी प्रकार समर्पित 'कर्म' 'यज्ञ' के स्वामी के सम्पूर्ण प्रेम को तथा उसके मार्गों और उसकी सत्ता के गहनतम ज्ञान को जन्म देगा। इस त्रिविध मार्ग के द्वारा ही हम समस्त सत्ताओं में तथा 'एकमेव' की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में उसके पूर्ण ज्ञान, प्रेम और सेवा तक पहुंचते हैं।

५

समन्वय

सभी प्रमुख यौगिक प्रणालियों में मनुष्य के जटिल और पूर्ण रूप पर क्रिया की जाती है तथा उसकी उच्चतम सम्भावनाओं को प्रकाश में लाया जाता है। इन प्रणालियों के ऐसे स्वरूप को देखते हुए यह पता लगेगा कि इन सब के समन्वय को यदि विशाल रूप में विचार और प्रयोग में लाया जाय तो इसका परिणाम पूर्णयोग हो सकता है। किन्तु सब अपनी प्रवृत्तियों में इतनी विभिन्न हैं तथा अपने रूपोंमें इतनी अधिक विशिष्ट और जटिल हैं और साथ ही इनके विचारों और पद्धतियों के परस्पर-विरोध को इतने लम्बे समय तक पुष्टि मिलती रही है कि इन्हें यथार्थ रूप से संयुक्त करने की विधि का पता नहीं चलता।

बिना विचार और विवेक के एक संघात में इनको एकत्र कर देने का अर्थ समन्वय नहीं, बल्कि एक 'गड़बड़झाला' होगा। हमारे मानव-जीवन के इस छोटे से काल में इनका बारी-बारी से अभ्यास करना सहज नहीं है, विशेषतया जब कि हमारी शक्तियां भी सीमित हैं, और इस बोझिल प्रक्रिया में कितना परिश्रम व्यर्थ जायगा इसकी तो बात ही क्या। वस्तुतः कभी-कभी तो हठयोग और राजयोग का बारी-बारी से अभ्यास किया जाता है। अभी हाल में श्रीरामकृष्ण परमहंस के जीवन में इस बात का एक विशेष दृष्टान्त देखने में आया है : उनमें एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति मौजूद थी, जिसने पहले सीधे ही भगवान् की प्राप्ति की, मानो स्वर्ग के राज्य को बलपूर्वक हस्तगत कर लिया और बाद में जिसने हर एक यौगिक प्रणाली का प्रयोग करके द्रुतगति से उसका सार निकाल लिया। उसका उद्देश्य सदा पूरे विषय के अन्तस्तल तक अर्थात् प्रेम की शक्ति के द्वारा, विभिन्न प्रकार के अनुभवों में अन्तर्निहित आध्यात्मिकता के विस्तार तथा एक सहज ज्ञान की स्वाभाविक क्रीड़ा के द्वारा भगवान् की अनुभूति और प्राप्ति तक पहुंचना होता था। पर ऐसे उदाहरण को व्यापक रूप नहीं दिया जा सकता। उसका उद्देश्य भी विशेष और अस्थायी ही था। उसका कार्य एक महान् आत्मा की विशाल और अन्तिम अनुभूति में उस सत्य को सिद्ध करना था जो आजकल मनुष्यजाति के लिये अत्यधिक आवश्यक है तथा जिसे पाने के लिये चिरकाल से विरोधी मतों और सम्प्रदायों में विभाजित संसार कठोर प्रयास कर रहा है। वह सत्य यह है कि सभी सम्प्रदाय एक ही समग्र सत्य के रूप और खण्ड हैं और सभी अनुशासन-प्रणालियां अपने विभिन्न तरीकों से एक ही सर्वोच्च अनुभव की प्राप्ति के लिये श्रम कर रही हैं। भगवान् को जानना, वही बन जाना तथा उन्हें पाना ही एक आवश्यक वस्तु है; बाकी सब बातें या तो इसके अन्दर आ जाती हैं या इसका परिणाम होती हैं। इसी

अकेले 'शुभ' की ओर हमें बढ़ना है और यदि इसकी प्राप्ति हो गयी तो बाकी सब जिसे भागवत इच्छा-शक्ति हमारे लिये चुनेगी अर्थात् सब आवश्यक रूप और अभिव्यक्तियां पीछे अपने-आप प्राप्त हो जाएंगी।

अतएव, जिस समन्वय को हम चाहते हैं वह सब प्रणालियों को संयुक्त कर देने से या उनके क्रमिक अभ्यास से प्राप्त नहीं हो सकता। वह तभी प्राप्त हो सकेगा यदि हम यौगिक अनुशासन-प्रणालियों के रूप और बाह्य प्रकार छोड़कर किसी ऐसे केन्द्रीय सामान्य सिद्धान्त को पकड़ लेंगे जो उचित स्थान और उचित मात्रा में उनके विशिष्ट सिद्धान्तों को अपने अन्दर निहित कर लेगा तथा उनका उपयोग करेगा। हमें इसके लिये किसी केन्द्रीय सक्रिय शक्ति को अपने हाथ में लेना होगा जो उनकी विपरीत प्रणालियों का सर्वसामान्य रहस्य होगी और जो, फलतः, उनकी विविध प्रकार की सामर्थ्यों और विभिन्न उपयोगिताओं को स्वाभाविक चुनाव और संयोग के द्वारा व्यवस्थित करने में समर्थ होगी।

आरम्भ में जब कि हमने प्रकृति की तथा योग की प्रणालियों का तुलनात्मक विवेचन शुरू किया था तब यही उद्देश्य हमारे सामने था और अब हम इसीकी ओर इस संभावना के साथ लौटते हैं कि इसका शायद कोई निश्चित समाधान निकल आये।

सब से पहले हम यह देखते हैं कि भारतवर्ष में अब भी ऐसी विलक्षण यौगिक प्रणाली है जिसका स्वभाव समन्वयात्मक है और जो प्रकृति के महान् केन्द्रीय सिद्धान्त से, उसकी महान् सक्रिय शक्ति से आरम्भ होती है। किन्तु यह एक अलग योग-प्रणाली है, अन्य प्रणालियों का संयोग नहीं। यह तन्त्र-मार्ग है। इसकी कुछ विशेष पद्धतियों के कारण उन लोगों के सामने जो लोग तान्त्रिक नहीं हैं इसका गौरव कुछ घट गया है, विशेषतया उसकी वाममार्गी पद्धतियों के कारण ही ऐसा हुआ है; क्योंकि ये पद्धतियां पाप और पुण्य के द्वंद्व को अतिक्रान्त करने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं अतः इन्होंने उनकी जगह कर्म-सम्बन्धी सहज यथार्थता स्थापित करने के स्थान पर आत्म-उपभोग की असंयत सामाजिक अनैतिकता की प्रणाली विकसित कर ली प्रतीत होती है। यह सब होते हुए भी अपने मूल में 'तन्त्र' एक महान् और शक्तिशाली प्रणाली थी। यह कुछ ऐसे विचारों पर आधारित थी जिनमें कम-से-कम सत्य का कुछ अंश अवश्य विद्यमान था। दक्षिण और वाम मार्ग में इसका दोहरा विभाजन भी एक गहन अनुभव से ही शुरू हुआ था। 'दक्षिण' और 'वाम' शब्दों के प्राचीन प्रतीकात्मक अर्थ के अनुसार यह विभाजन 'ज्ञान' और 'आनन्द' के मार्गों में था। एक में प्रकृति मनुष्य के अन्दर अपनी शक्तियों, तत्त्वों और शक्यताओं के यथार्थ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेक के द्वारा अपने-आपको मुक्त करती है, जब कि दूसरे में वह यह कार्य उसके अन्दर अपनी शक्तियों, तत्त्वों और शक्यताओं की हर्षपूर्ण सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वीकृति के द्वारा करती है।

किन्तु अन्त में इन दोनों मार्गों में सिद्धान्त-सम्बन्धी अस्पष्टता, प्रतीकों की विकृति तथा ह्रास की अवस्था पैदा हो गयी थी।

पर यदि हम यहां भी वर्तमान प्रणालियों और अभ्यासों को एक ओर रखकर केन्द्रीय सिद्धान्त की खोज करें तो हमें सब से पहले यही पता लगेगा कि 'तन्त्र' 'योग' की वैदिक प्रणालियों से स्पष्ट रूप में भिन्न है। एक अर्थ में तो वे सब मत जिनका हमने अबतक निरीक्षण किया है अपने सिद्धान्त में वैदान्तिक हैं; उनकी शक्ति ज्ञान में है, उनकी प्रणाली भी ज्ञान है, यद्यपि यह सदा ही बुद्धिद्वारा प्राप्त नहीं होता, या यह उसके स्थान पर हृदय का एक ऐसा ज्ञान हो सकता है जो कि प्रेम और विश्वास में अभिव्यक्त होता है, या यह संकल्प में स्थित एक ऐसा ज्ञान भी हो सकता है जो कर्मद्वारा चरितार्थ होता है, पर सब में योग का स्वामी 'पुरुष' ही है, वह एक चेतन आत्मा है जो जानती है, निरीक्षण करती है, आकर्षित एवं शासित करती है। किन्तु तन्त्र में प्रकृति ही स्वामिनी होती है, वह 'प्रकृति-आत्मा' अर्थात् शक्ति होती है, यह वस्तुतः विश्व में कार्य करनेवाला शक्तिगत संकल्प होता है। इस संकल्प के अन्तरङ्ग रहस्यों को, इसकी प्रणाली और इसके तन्त्र को सीखकर तथा इनका प्रयोग करके ही तान्त्रिक योगी ने अपनी अनुशासन-सम्बन्धी क्रियाओं के उद्देश्यों अर्थात् स्वामित्व, पूर्णता, मुक्ति और आनन्द को प्राप्त करना चाहा था। अभिव्यक्त 'प्रकृति' और उसकी कठिनाइयों से पीछे हटने के स्थान पर उसने उनका सामना किया था, उन्हें प्राप्त एवं अधिकृत कर लिया था। किन्तु अन्त में, जैसा कि प्रकृति का स्वभाव होता है, तान्त्रिक योग अपनी जटिल यान्त्रिक क्रिया में अपने मूल सिद्धान्त को अधिकतर खो बैठा और उन सूत्रों और गुह्य यान्त्रिक प्रक्रियाओं की वस्तु बन गया जो ठीक प्रकार प्रयुक्त होने से अभी भी फलप्रद तो होती थीं, पर अपने मूल उद्देश्य की स्पष्टता से च्युत हो गयी थीं।

इस केन्द्रीय तान्त्रिक विचार में हमें सत्य के केवल एक पक्ष का ही आभास मिलता है, बल अर्थात् शक्ति की पूजा; यही शक्ति समस्त प्राप्ति की अकेली और प्रभावकारी प्रेरणा मानी जाती है। दूसरी ओर, शक्ति के वैदान्तिक विचार में, यह 'भ्रम' अर्थात् 'माया' की शक्ति मानी जाती है और शान्त निष्क्रिय 'पुरुष' की खोज में सक्रिय शक्ति से उत्पन्न भ्रान्तियों से मुक्त होने का साधन मानी जाती है, किन्तु एक समग्र विचार में चेतन आत्मा ही स्वामी है, और प्रकृति-आत्मा उसकी कार्यकारिणी शक्ति है, 'पुरुष' की प्रकृति 'सत्' है और यह 'सत्' चेतन, पवित्र और असीम स्वयंभू सत्ता है, 'शक्ति' या 'प्रकृति' का स्वभाव 'चित्' है—यह 'पुरुष' के स्वचेतन, पवित्र और असीम अस्तित्व की शक्ति है। इन दोनों का सम्बन्ध निश्चलता और सक्रियता दो ध्रुवों के बीच में गतिमान रहता है। जब 'शक्ति' चेतन अस्तित्व के आनन्द में लीन रहती है, तो वह निश्चल होती है, जब 'पुरुष' अपनी शक्ति के कार्य में अपने-आपको उंडेलता है तो वह सक्रियता होती

है; यही सक्रियता सृजन और कुछ बनने का आनन्द और आस्वाद होती है। किन्तु यदि 'आनन्द' समस्त अस्तित्व का सृजन करता है या उसे उत्पन्न करता है तो उसकी प्रणाली 'तपस्' अर्थात् 'पुरुष' की चेतना की शक्ति होती है जो सत्ता में रहनेवाली अपनी असीम शक्यता पर कार्य करती है तथा अपने अन्दर से विचारसम्बन्धी सत्य या वास्तविक 'विचार' अर्थात् विज्ञान उत्पन्न करती है। क्योंकि इन विचारों का स्रोत सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् 'स्वयंभू-अस्तित्व' में है, इन्हें इस बात का निश्चय है कि इनकी चरितार्थता सम्पन्न हो जायगी। ये अपने अन्दर मन, प्राण और जड़ पदार्थ के रूप में अपने अस्तित्व का स्वभाव और नियम भी सुरक्षित रखते हैं। 'तपस्' की चरम सर्वशक्तिमत्ता और 'विचार' की अचूक चरितार्थता समस्त योग का आधार है। मनुष्य में हम इन्हें संकल्प-शक्ति और विश्वास का नाम देते हैं, एक ऐसी संकल्प-शक्ति जो अन्त में स्वयं ही प्रभावशाली होती है, क्योंकि वह ज्ञानरूपी तत्त्व से बनी है; एक ऐसा विश्वास जो निम्न चेतना में एक ऐसे 'सत्य' या वास्तविक 'विचार' की सहज क्रिया है जो अभिव्यक्ति में अभी चरितार्थ नहीं हुआ है। 'विचार' की इसी आत्म-निश्चयता का वर्णन गीता में "**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**" इन शब्दों में किया गया है, अर्थात् "मनुष्य का जो कुछ भी विश्वास या निश्चयात्मक विचार होता है, वही वह बन जाता है।"

अतएव, अब हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से 'प्रकृति' का वह कौन-सा विचार है जिससे हमें अपना कार्य आरम्भ करना है,—और योग क्रियात्मक मनोविज्ञान के सिवाय और कुछ है ही नहीं। यह 'पुरुष' की उसकी अपनी 'शक्ति' के द्वारा आत्मचरितार्थता है। किन्तु प्रकृति की क्रिया दोहरी होती है, ऊपर की ओर और नीचे की ओर; इसे यदि हम चाहें तो दिव्य और अदिव्य भी कह सकते हैं। यह विभेद वस्तुतः क्रियात्मक प्रयोजनों के लिये ही किया जाता है, क्योंकि संसार में अदिव्य कुछ नहीं है, यदि एक विशालतर दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह भेद शब्दों में वैसा ही अर्थहीन प्रतीत होता है जैसा कि प्राकृतिक और अति-प्राकृतिक में किया गया भेद। कारण, वे सभी वस्तुएं जो अपना अस्तित्व रखती हैं प्राकृतिक हैं। समस्त वस्तुएं प्रकृति में विद्यमान हैं और समस्त वस्तुएं भगवान् में स्थित हैं। किन्तु क्रियात्मक प्रयोजन के लिये वहां एक वास्तविक विभेद उपस्थित रहता है। जिस निम्न प्रकृति को हम जानते हैं और जो हम हैं और जो हमें तबतक रहना ही होगा जबतक कि हमारे अन्दर का विश्वास बदल नहीं जाता, वह सीमाओं और विभाजन के द्वारा कार्य करती है, उसका स्वभाव 'अज्ञान' है, उसकी समाप्ति अहंभाव के जीवन में होती है। किन्तु उच्चतर 'प्रकृति' जिसकी हम अभीप्सा करते हैं एकीकरण के द्वारा तथा सीमाओं को पार करके कार्य करती है; इसका स्वभाव 'ज्ञान' है, इसका चरम रूप दिव्य जीवन में लक्षित होता है। निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति की ओर जाना ही 'योग' का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति

निम्न प्रकृति को त्याग करके उच्च प्रकृति में प्रवेश करने पर भी हो सकती है,—जो कि सामान्य दृष्टिकोण है,—या फिर यह निम्न प्रकृति का रूपान्तर करने और उसे उच्च 'प्रकृति' में ऊंचा उठाने से भी हो सकती है। वस्तुतः यही पूर्णयोग का उद्देश्य है।

किन्तु दोनों दशाओं में निम्न प्रकृति के ही किसी भाग से हमें उच्च अस्तित्व तक उठना है और योग की प्रत्येक प्रणाली अपने आरम्भ-बिन्दु या अपनी मुक्ति के द्वार को स्वयं ही चुनती है। ये प्रणालियां निम्न प्रकृति की कुछ क्रियाओं में विशेषता प्राप्त कर लेती हैं और उन्हें भगवान् की ओर मोड़ देती हैं। किन्तु हमारे अन्दर प्रकृति की सामान्य क्रिया एक ऐसी पूर्ण क्रिया है जिसमें हमारे समस्त तत्त्वों की पूर्ण जटिलता हमारे चारों ओर की परिस्थितियों के द्वारा प्रभावित होती है और साथ ही उन्हें प्रभावित भी करती है। समस्त जीवन ही प्रकृति का योग है। जिस योग का हम अनुसरण करना चाहते हैं उसे भी प्रकृति की ही एक सर्वांगीण क्रिया होना चाहिये। योगी और एक सामान्य मनुष्य में सारा भेद ही यह होता है कि योगी अहंभाव और विभाजन के अन्दर और उनके द्वारा कार्य करती हुई निम्न प्रकृति की पूर्ण क्रिया के स्थान पर भगवान् और ऐक्य के अन्दर और उनके द्वारा कार्य करनेवाली उच्च प्रकृति की सर्वांगीण क्रिया अपने अन्दर स्थापित करना चाहता है। वस्तुतः यदि हमारा उद्देश्य संसार से भागकर भगवान् को प्राप्त करना हो तो समन्वय की आवश्यकता ही नहीं रहती और इससे समय भी नष्ट होता है। कारण, तब हमारा एकमात्र क्रियात्मक उद्देश्य भगवान् को प्राप्त करने के हजारों मार्गों में से एक ही मार्ग को ढूंढ़ना होना चाहिये, जिसे अधिक-से-अधिक छोटा होना चाहिये और तब विभिन्न मार्गों की खोज करने के लिये ठहरने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी, क्योंकि ये सब मार्ग एक ही लक्ष्य को जाते हैं, किन्तु यदि हमारा उद्देश्य अपनी सम्पूर्ण सत्ता को भागवत जीवन के अंग-प्रत्यंग में रूपान्तरित करना है तो यह समन्वय आवश्यक हो जाता है।

और तब हमें इस प्रणाली का अनुसरण करना होगा कि हम अपनी समस्त चेतन सत्ता का भगवान् के साथ सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित करें और उन्हें हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपनी सत्ता में रूपान्तरित करने के लिये अपने अन्दर पुकारें, जिसका यह अर्थ है कि स्वयं भगवान् जो हमारे अन्दर के वास्तविक 'पुरुष' हैं साधना[1] के साधक बन जाने के साथ-साथ योग के स्वामी भी बन जाते हैं और उनके द्वारा तब निम्न व्यक्तित्व एक दिव्य रूपान्तर के केन्द्र के तथा अपनी पूर्णता के यन्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। परिणामतः 'तपस्' का दबाव अर्थात्

[1] 'साधना' वह क्रिया है जिसके द्वारा पूर्णता अर्थात् सिद्धि की प्राप्ति होती है। 'साधक' वह योगी है जो इस क्रिया के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक होता है।

हमारे अन्दर की चेतना-शक्ति जो दिव्य 'प्रकृति' के 'अतिमानसिक विचार' में हमारी सम्पूर्ण सत्ता पर कार्य करती है अपनी चरितार्थता अपने-आप सम्पन्न कर लेती है। दिव्य, सर्वज्ञाता और सर्व-साधक अस्तित्व सीमित और अस्पष्ट सत्ता पर छा जाता है और फिर धीरे-धीरे सम्पूर्ण निम्न प्रकृति को प्रकाश एवं शक्ति प्रदान करता है और निम्न मानव-प्रकाश और मानव-क्रिया के सब रूपों के स्थान पर अपनी क्रिया स्थापित कर देता है।

मनोवैज्ञानिक तथ्य में यह प्रणाली इस प्रकार लक्षित होती है कि अहंभाव अपने समस्त क्षेत्र और समस्त साधनों के साथ धीरे-धीरे अपने-आपको उस ऊपर के एकमेव 'अहम्' के आगे समर्पित करता जाता है जिसकी क्रियाएं विशाल और अगणित, पर सदा अनिवार्य होती हैं। निश्चय ही यह कोई छोटा-सा रास्ता या कोई सरल साधना नहीं है। इसमें अपार विश्वास की, पूर्ण साहस और, सब से बढ़कर, अडिग धैर्य की आवश्यकता पड़ती है। इसमें तीन अवस्थाएं अन्तर्निहित हैं जिनमेंसे केवल अन्तिम ही पूर्णतया आनन्दपूर्ण या द्रुत हो सकती है;—पहली, अहंभाव का भगवान् के सम्पर्क में आने के लिये किया गया प्रयत्न, दूसरी, दिव्य क्रिया के द्वारा समस्त निम्न प्रकृति की उच्चतर प्रकृति को ग्रहण करने और वही बनने के लिये विशाल, पूर्ण और, इसी कारण, कठिन तैयारी और तीसरी, अन्तिम रूपान्तर। पर सच्ची बात यह है कि दिव्य शक्ति जो प्रायः ही अनजाने में पर्दे के पीछे कार्य करती है स्वयं हमारी दुर्बलता का स्थान ले लेती है और जब-जब हम विश्वास, साहस और धैर्य खो बैठते हैं तब-तब वह हमारी सहायता करती है। वह "अन्धे को देखने और लँगड़े को पहाड़ पर चढ़ने की सामर्थ्य प्रदान करती है।" बुद्धि तब ऐसे 'नियम' को जान लेती है जिसका आग्रह कल्याणकारी होता है और एक ऐसे प्रश्रय को भी जो हमें स्थिर रखता है। हृदय तब समस्त वस्तुओं के 'स्वामी' की, मनुष्य के सखा की या जगत्-'माता' की चर्चा करता है जो हमें सब चूकों में संभाले रखती है। इसीलिये यह मार्ग अत्यधिक कठिन होते हुए भी अपने प्रयत्न और उद्देश्य की विशालता की तुलना में अत्यधिक सरल और सुनिश्चित है।

जब उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर सर्वांगीण रूप में क्रिया करती है तो उसकी क्रिया की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएं दृष्टि में आती हैं। प्रथम यह कि वह एक स्थिर प्रणाली या क्रम के अनुसार कार्य नहीं करती जैसा कि योग की विशिष्ट प्रणालियों में होता है। वह अपना कार्य एक प्रकार की स्वतन्त्र, विस्तृत पर उत्तरोत्तर प्रभावशाली और उद्देश्यपूर्ण क्रिया के द्वारा करती है जो उस व्यक्ति के स्वभाव के द्वारा निर्धारित होती है जिसमें वह कार्य करती है। उसका निर्धारण उन सहायक साधनों के द्वारा भी होता है जिन्हें व्यक्ति का स्वभाव प्रस्तुत करता है तथा उन बाधाओं के द्वारा भी जो वह पवित्रीकरण और पूर्णता के रास्ते में खड़ी करता है। अतएव, एक प्रकार से इस मार्ग में प्रत्येक मनुष्य की योग-सम्बन्धी अपनी प्रणाली

है। परन्तु फिर भी इस प्रक्रिया की कुछ मोटी-मोटी बातें ऐसी हैं जो सबके लिये समान हैं और जो हमें एक सामान्य प्रणाली बनाने में सहायता तो नहीं देतीं, पर फिर भी किसी शास्त्र या समन्वयात्मक योग की किसी वैज्ञानिक प्रणाली को गढ़ने की सामर्थ्य अवश्य प्रदान करती हैं।

उच्च प्रकृति की प्रक्रिया सर्वांगीण है, अतः वह हमारी प्रकृति को उसी रूप में स्वीकार कर लेती है जिस रूप में वह हमारे पूर्व विकास के द्वारा संगठित हो चुकी है और फिर वह किसी भी मूल वस्तु को अस्वीकार किये बिना सब कुछ को दिव्य तत्त्व में रूपान्तरित होने को बाध्य करती है। हमारे अन्दर की प्रत्येक वस्तु को एक शक्तिशाली शिल्पी अपने हाथ में लेता है और उसे एक ऐसी वस्तु की स्पष्ट प्रतिमूर्ति में रूपान्तरित कर देता है जिसे वह आज एक अव्यवस्थित ढंग से प्रकट करने की चेष्टा करती है। उस सदा-विकसनशील अनुभव में हम यह देखना प्रारम्भ कर देते हैं कि यह निम्न अभिव्यक्त जगत् किस प्रकार निर्मित हुआ है और इसके अन्दर की सब चीजें चाहे वे देखने में कितनी भी विकृत, तुच्छ या हीन क्यों न लगें, दिव्य 'प्रकृति' के समन्वय में किसी तत्त्व या क्रिया की ही थोड़ी-बहुत विकृत या अपूर्ण आकृति हैं। हम तब वैदिक ऋषियों के इस कथन का अभिप्राय भी समझने लगते हैं कि हमारे पूर्व पुरुष देवताओं को उसी प्रकार गढ़ते थे जैसे कि लुहार अपनी दुकान में कच्ची धातु से कोई चीज गढ़ता है।

तीसरी बात यह है कि हमारे अन्दर की भागवत दिव्य 'शक्ति' समस्त जीवन का इस पूर्ण 'योग' के साधन के रूप में प्रयोग करती है। जागतिक परिस्थितियों के साथ हमारा प्रत्येक बाह्य सम्पर्क, उसके विषयका हमारा प्रत्येक अनुभव चाहे वह कितना भी तुच्छ या कष्टपूर्ण क्यों न हो इस कार्य के लिये प्रयुक्त किया जाता है, और प्रत्येक आन्तरिक अनुभव, यहां तक कि अत्यधिक अप्रिय कष्ट या अत्यधिक दीनतापूर्ण पतन भी पूर्णता के रास्ते पर आगे ले जानेका एक कदम बन जाता है। तब हम संसार में प्रयुक्त भगवान् की प्रणाली को अपने अन्दर प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। हम अन्धकार में प्रकाश-सम्बन्धी उसके उद्देश्य को, दुर्बलों और पतितों में शक्ति-सम्बन्धी और दुःखियों और पीड़ितों में आनन्द-सम्बन्धी उसके उद्देश्य को देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि निम्न और उच्च दोनों प्रक्रियाओं में एक ही दिव्य प्रणाली प्रयुक्त होती है। भेद केवल इतना होता है कि एक में उसका अनुसरण धीमे-धीमे और अस्पष्ट रूप में, प्रकृति में अवचेतन सत्ता के द्वारा किया जाता है, जब कि दूसरी में वह द्रुत गति से और चेतन सत्ता के द्वारा कार्य करती है और तब मानव यन्त्र यह जानता है कि इसमें प्रभु का हाथ है। समस्त जीवन ही 'प्रकृति' का 'योग' है और अपने अन्दर भगवान् की अभिव्यक्ति करना चाहता है। योग वह अवस्था है जहां यह प्रयत्न चेतन रूपमें कार्य कर सकता है और इसी कारण फिर यह व्यक्ति में यथार्थ पूर्णता भी प्राप्त कर सकता है। यह वस्तुतः निम्न

विकास में बिखरी हुई और शिथिल रूप में संयुक्त क्रियाओं का एकत्रीकरण और उनकी एकाग्रता है।

सर्वांगीण प्रणाली का परिणाम भी सर्वांगीण ही होगा। सबसे पहले आवश्यकता है दिव्य सत्ता की पूर्ण प्राप्ति की, यहां एकमेव को उसके भेद-प्रभेद से रहित एकत्व में ही नहीं बल्कि उसके अनेक पक्षों में भी प्राप्त करना है। ये पक्ष सापेक्ष चेतना के द्वारा उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। इसे एकमेव सत्ता में ही एकत्व की प्राप्ति नहीं, बल्कि कार्यों, जगतों और प्राणियों की असीम विविधता में भी एकत्व की प्राप्ति होना चाहिये।

इसी प्रकार मुक्ति को भी सर्वांगीण होना चाहिये। हमारी मुक्ति ऐसी स्वतन्त्रता ही नहीं होनी चाहिये जो व्यक्ति के अपने सब भागों में भगवान्‌के साथ अपने अटूट सम्बन्ध से उत्पन्न होती है या जिसे 'सायुज्य-मुक्ति' कहा जाता है और जिसके द्वारा वह वियोग में और साथ ही द्वन्द में भी स्वतन्त्र हो जाता है; 'सालोक्य-मुक्ति' भी नहीं जिसके द्वारा समस्त चेतन अस्तित्व भागवत सत्ता की स्थिति में अर्थात् सच्चिदानन्द की अवस्था में निवास करता है, बल्कि इस निम्न सत्ता का भगवान् की मानव प्रतिमूर्ति में रूपान्तर होने के द्वारा हमें दिव्य प्रकृति अर्थात् 'साधर्म्य-मुक्ति' की भी प्राप्ति हो जानी चाहिये। पर सबसे अधिक पूर्ण और अन्तिम मुक्ति होती है अहंभाव के अस्थिर सांचे से चेतना की मुक्ति और उसका उस एकमेव सत्ता के साथ तादात्म्य जो संसार और व्यक्ति दोनों में वैश्व है तथा जगत् में और जगत् से परे भी परात्पर रूप में एक है।

इस सर्वांगीण प्राप्ति और मुक्ति के द्वारा ही 'ज्ञान', 'प्रेम' और 'कर्म' के परिणामों में पूर्ण समन्वय स्थापित होता है। कारण, इसके द्वारा अहंभाव से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है तथा सत्ता में सब के अन्दर और सब से परे विद्यमान एकमेव के साथ तदात्मता स्थापित हो जाती है। किन्तु प्राप्त करने वाली चेतना अपनी प्राप्ति के द्वारा सीमित नहीं होती, हम 'परमानन्द' में, एकता और 'प्रेम' में समन्वित विविधता भी प्राप्त कर लेते हैं, जिसका फल यह होता है कि क्रीड़ा के सब सम्बन्ध हमारे लिये तब भी सम्भव रहते हैं जब हम अपनी सत्ता के उच्च स्तरों पर 'प्रिय' के साथ सनातन एकत्व बनाये रखते हैं। इसी प्रकार के विस्तार के कारण और इस कारण भी कि हम आत्मा की उस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ हैं जो जीवन को स्वीकार करती है तथा जीवन के परित्याग पर निर्भर नहीं करती, हम अहंभाव, बन्धन या किसी प्रतिक्रिया के बिना अपने मन और शरीर में उस दिव्य कर्म के वाहक भी बन सकते हैं जो जगत् में मुक्त रूप से उंडेला जा रहा है।

दिव्य जीवन का स्वरूप स्वतन्त्रता ही नहीं है, बल्कि पवित्रता, आनन्द और पूर्णता भी है। जो पूर्ण पवित्रता हमारे अन्दर दिव्य सत्ता के पूर्ण चिन्तन को सम्भव बनाये और साथ ही जो इसके 'सत्य' और 'नियम' को जीवन के रूपों में ढार सके

और जो जटिल यन्त्र हम अपने बाह्य भागों में हैं उसकी यथार्थ क्रिया के द्वारा उन्हें हमारे अन्दर भी पूर्ण रूप से उँडेल सके वही पवित्रता पूर्ण स्वाधीनता की शर्त है। इसका परिणाम एक पूर्ण आनन्द है, इसमें उस सब का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है जो भगवान् के प्रतीकों के रूप में संसार के अन्दर देखा जाता है और साथ ही उसका भी आनन्द जो संसार से इतर है। यह पवित्रता मानव अभिव्यक्ति की अवस्थाओं के अनुसार दिव्य जाति के रूप में हमारी मानव-जाति की सर्वांगीण पूर्णता की तैयारी करती है और यह पूर्णता सत्ता की तथा प्रेम और आनन्द की स्वतन्त्र वैश्वता पर और ज्ञान की क्रीड़ा तथा शक्ति और निरभिमान कर्म के संकल्प की क्रीड़ा की स्वतन्त्र वैश्वता पर आधारित है। यह पूर्णता भी सर्वांगीण योग के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

पूर्णता के अन्दर मन और शरीर की पूर्णता भी आ जाती है, इसलिये राजयोग और हठयोग के सर्वोच्च परिणाम इस समन्वय के अत्यधिक विस्तृत सूत्र में समाविष्ट हो जाने चाहियें जिसे मनुष्य को अन्त में चरितार्थ करना है। योग के द्वारा मनुष्य-जाति को जो सामान्य मानसिक और भौतिक शक्तियां और अनुभूतियां प्राप्त हो सकती हैं, उनके पूर्ण विकास को तो कम-से-कम योग की पूर्ण प्रणाली के क्षेत्र में आ ही जाना चाहिये। बल्कि इन सब के अस्तित्व का कोई आधार ही नहीं रहेगा जब तक कि इनका प्रयोग पूर्ण मानसिक और भौतिक जीवन के लिये नहीं होगा। इस प्रकार के मानसिक और भौतिक जीवन का अर्थ अपने स्वभाव की दृष्टि से आध्यात्मिक जीवन को उसके अपने यथार्थ मानसिक और भौतिक मूल्यों में रूपान्तरित करना होगा। इस प्रकार हम प्रकृति के तीनों स्तरों और मानव-जीवन की उन तीन अवस्थाओं के समन्वय पर पहुंचेंगे जिन्हें वह विकसित कर चुकी है या कर रही है। हम अपनी मुक्त सत्ता में और कर्म की पूर्णता-प्राप्त प्रणालियों के क्षेत्र में भौतिक जीवन को अपने आधार के रूप में और मानसिक जीवन को अपने मध्यवर्ती यन्त्र के रूप में समाविष्ट कर लेंगे।

जिस पूर्णता की हम अभीप्सा करते हैं वह यदि एक ही व्यक्ति तक सीमित रहेगी तो वह यथार्थ तो होगी ही नहीं, बल्कि सम्भव भी नहीं रहेगी। क्योंकि हमारी दिव्य पूर्णता का अर्थ सत्ता, जीवन और प्रेम में दूसरों के द्वारा और स्वयं अपने द्वारा भी अपने-आपको प्राप्त करना है; हमारी स्वतन्त्रता का और दूसरों में उसके परिणामों का विस्तार ही हमारी स्वाधीनता और पूर्णता का अनिवार्य परिणाम और सब से बड़ी उपयोगिता होगी। और, इस विस्तार के लिये किये गये सतत और आन्तरिक प्रयत्न का उद्देश्य होगा मनुष्य-जाति में उसका वृद्धिशील और पूर्णतम सामान्यीकरण।

इस प्रकार एक विस्तृत रूप से पूर्ण आध्यात्मिक जीवन की सर्वांगीणता के द्वारा व्यक्ति और जाति में मनुष्य के सामान्य भौतिक जीवन का तथा मानसिक और

नैतिक आत्म-संस्कृति-सम्बन्धी उसके महान् ऐहिक प्रयत्न का दिव्यीकरण हमारे वैयक्तिक और सामूहिक प्रयत्न का उत्कृष्ट रूप होगा। यह चरम प्राप्ति, जिसका अर्थ एक ऐसा आन्तरिक स्वर्गराज्य होगा जो पीछे बाहर के स्वर्गराज्य में भी उत्पन्न कर दिया जाय, उस महान् स्वप्न की भी सच्ची चरितार्थता होगी जिसे पाने की संसार के धर्म विभिन्न अर्थों में इच्छा करते आये हैं।

पूर्णता के जिस विशालतम समन्वय के बारे में हम सोच सकते हैं वही एकमात्र ऐसा प्रयत्न है जिसके अधिकारी केवल वही लोग हैं जिनकी समर्पित दृष्टि यह देख लेती है कि भगवान् मनुष्य-जाति में गुप्त रूप में निवास करते हैं।

पहला भाग

दिव्य कर्मों का योग

अध्याय १

चार साधन

योग-सिद्धि, अर्थात् वह पूर्णता जो योगाभ्यास से प्राप्त होती है, चार महान् साधनों की सम्मिलित क्रिया द्वारा सर्वोत्तम रूप से सम्पादित की जा सकती है। पहला साधन है शास्त्र, अर्थात् उन सत्यों, सिद्धांतों, शक्तियों और विधियों का ज्ञान जिन पर सिद्धि निर्भर करती है। दूसरा है उत्साह, अर्थात् शास्त्रोक्त ज्ञान द्वारा निर्धारित पद्धतियों के आधार पर धीर और स्थिर क्रिया,—हमारे वैयक्तिक प्रयत्न का बल। तीसरा, गुरु,—गुरु का साक्षात् निर्देश, दृष्टान्त और प्रभाव जो हमारे ज्ञान और प्रयत्न को आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में ऊपर उठा ले जाते हैं। अन्तिम है काल, अर्थात् समय का माध्यम; कारण, सभी घटनाओं में क्रिया का एक चक्र और ईश्वरीय गति का एक विशेष समय होता है।

*

पूर्णयोग का परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक विचारशील मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से निहित है। नित्य ज्ञान और नित्य पूर्णता का कमल एक अविकसित और मुकुलित कली के रूप में हमारे अन्दर ही विद्यमान है। एक बार जब मनुष्य का मन सनातन की ओर मुड़ने लगता है, एक बार जब उसका हृदय सांत रूपों के मोह की संकीर्णता से ऊपर उठकर, चाहे किसी भी मात्रा में हो, अनन्त में अनुरक्त हो जाता है, तब वह कली शीघ्र या शनैः-शनैः, एक-एक पंखड़ी करके, एक-एक उपलब्धि के द्वारा खुलने लगती है। उस समय से उसका सारा जीवन, सारे विचार, उसके शक्ति-सामर्थ्य के सभी व्यापार और समस्त निष्क्रिय या सक्रिय अनुभव ऐसे बहुविध आघात बन जाते हैं जो आत्मा के आवरणों को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और उसके अनिवार्य विकास के रास्ते में आनेवाली बाधाओं को दूर कर देते हैं। जो भगवान् को चुनता है वह भगवान् द्वारा चुना जा चुका है। उसने वह दिव्य संस्पर्श प्राप्त कर लिया है जिसके बिना आत्मा का जागरण और उन्मीलन होता ही नहीं। बस, एक बार संस्पर्श प्राप्त हो जाना चाहिये, फिर सिद्धि तो निश्चित है, चाहे हम उसे अति शीघ्र, एक ही मानव-जीवन की अवधि में अधिगत कर लें या अभिव्यक्त जगत् में जन्म-जन्मान्तरों की परंपरा में से गुजरते हुए धैर्यपूर्वक उस ओर अग्रसर हों।

मन को ऐसी कोई भी शिक्षा नहीं दी जा सकती जिसका बीज मनुष्य की विकसनशील अन्तरात्मा में पहले से ही निहित न हो। अतएव, मनुष्य का बाह्य

व्यक्तित्व जिस पूर्णता को पहुंच सकता है वह भी सारी-की-सारी उसकी अपनी अन्तरस्थ आत्मा की सनातन पूर्णता को उपलब्ध करना मात्र है। हम भगवान् का ज्ञान प्राप्त करते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं, क्योंकि हम अपनी प्रच्छन्न प्रकृति में पहले से वही हैं। शिक्षणमात्र का अर्थ है आविर्भूत करना, संभूतिमात्र का अभिप्राय है प्रकट होना। आत्म-उपलब्धि ही रहस्य है; आत्म-ज्ञान और वर्द्धमान चेतना उसके साधन तथा प्रक्रिया हैं।

ज्ञान को आविर्भूत करने का साधारण साधन है 'श्रुत' शब्द, अर्थात् श्रवण किया हुआ 'शब्द'। शब्द हमें अन्दर से प्राप्त हो सकता है; वह हमें बाहर से भी प्राप्त हो सकता है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में वह निगूढ़ ज्ञान की क्रिया शुरू करा देने का साधनमात्र होता है। अन्दर का शब्द हमारी उस अन्तरतम अन्तरात्मा की वाणी हो सकता है जो भगवान् की ओर सदा खुली रहती है, अथवा यह उन प्रच्छन्न और विश्वव्यापी परम गुरु का शब्द हो सकता है जो सब के हृदयों में विराजमान हैं। कुछ एक महापुरुषों के लिये यही पर्याप्त होता है, उन्हें अन्य किसी शब्द की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि बाकी सारा योग तो उस परम गुरु के सतत संस्पर्श और पथ-प्रदर्शन की छाया में आवरणों का खुलनामात्र होता है। ज्ञान का कमल आप-से-आप, भीतर से ही, खिलता है, वह हृदय-कमल के अधिवासी से निःसृत जाज्वल्यमान तेज की शक्ति से विकसित होता है। निःसन्देह ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं जिनके लिये यह आन्तरिक आत्म-ज्ञान ही पर्याप्त होता है और जिन्हें किसी लिखित ग्रंथ या जीवित गुरु के प्रबल प्रभाव के अनुसार चलने की आवश्यकता नहीं होती।

किन्तु साधारणतया, भगवान् के प्रतिनिधि-स्वरूप, बाहर से प्राप्त ईश्वरीय शब्द की जरूरत पड़ती ही है, क्योंकि यह आत्म-प्रस्फुटन के कार्य में सहायक होता है। यह या तो किसी प्राचीन गुरु का शब्द हो सकता है या किसी जीवित गुरु का अधिक प्रभावपूर्ण शब्द। प्रतिनिधिभूत गुरु के उपदेश को कुछ साधक अपनी अन्तःशक्ति के जगाने और प्रकट करने के लिये केवल एक निमित्त के रूप में ही ग्रहण करते हैं, मानों सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् प्रकृति के संचालक सामान्य नियम की मर्यादा का मान कर रहे हों। उपनिषदों में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण के बारे में एक कथा आती है कि घोर ऋषिके एक शब्द से उनके अन्दर ज्ञान जागृत हो उठा। इसी प्रकार रामकृष्ण ने अपने निजी आन्तरिक प्रयत्न से केंद्रीय प्रकाश प्राप्त कर योग के विभिन्न मार्गों में अनेक गुरु धारण किये, पर अपनी उपलब्धि के ढंग और वेग से हर बार यह दिखा दिया कि उनका यह गुरु धारण करना उस सामान्य नियम का सम्मान ही था जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान मनुष्य को शिष्य-भाव में मनुष्य से ही प्राप्त करना चाहिये।

परन्तु सामान्यतया साधक के जीवन में भगवत्प्रतिनिधिरूप शास्त्र या जीवित गुरु

के शब्द के प्रभाव का बहुत ही बड़ा स्थान होता है। यदि साधक किसी ऐसे मान्य प्राचीन शास्त्र के अनुसार साधना कर रहा हो जिसमें कुछ प्राचीन योगियों का अनुभव दिया हो, तो वह केवल वैयक्तिक प्रयत्न से या किसी गुरु की सहायता से ही अपनी साधना चला सकता है। तब, वह उस शास्त्र में प्रतिपादित सत्यों के मनन-निदिध्यासन से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है और अपनी व्यक्तिगत अनुभूति में उन सत्यों का साक्षात्कार करके उस ज्ञान को जीवित और जागृत करता है। किसी शास्त्र या परंपरा के द्वारा उसे योग की कुछ निश्चित विधियों का ज्ञान होता है, और जब वह देखता है कि उसके गुरु भी अपनी शिक्षाओं में उन्हीं विधियों को संपुष्ट और स्पष्ट करते हैं तो वह भी उन्हीं का अनुसरण करके उनके फलस्वरूप योग-मार्ग में आगे बढ़ता है। अवश्य ही यह अधिक संकीर्ण पद्धति है, पर अपनी सीमाओं के भीतर सुरक्षित और फलप्रद है, क्योंकि यह चिर-परिचित लक्ष्य पर पहुंचने के लिये एक सुविदित पथ का अवलंबन करती है।

परन्तु पूर्णयोग के साधक को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी लिखित शास्त्र नित्य ज्ञान के केवल कुछ एक अंशों को ही प्रकट कर सकता है, चाहे उसकी प्रामाणिकता कितनी भी महान् क्यों न हो अथवा उसकी भावना कितनी भी विशाल क्यों न हो। साधक शास्त्र का उपयोग करेगा, किन्तु महान्-से-महान् शास्त्र से भी वह अपने-आपको बांधेगा नहीं। यदि धर्मशास्त्र गभीर, विशाल एवं उदार हो तो वह साधक के लिये अत्यंत हितकर तथा महत्त्वपूर्ण हो सकता है। वह उसके लिये सर्वोपरि सत्यों तथा उच्चतम अनुभूतियों की प्राप्ति का साधन बन सकता है। उसका योग दीर्घकाल तक एक ही शास्त्र या क्रमशः अनेक शास्त्रों के अनुसार चल सकता है, उदाहरणार्थ, यदि वह महान् हिन्दू परम्परा का अनुसरण करता है, तो वह गीता, उपनिषदों और वेद के अनुसार योग का अभ्यास कर सकता है। अथवा उसके विकास का अधिकतर भाग इस प्रकार का हो सकता है कि वह अनेक शास्त्रों के सत्यों के विविध अनुभवों की ऐश्वर्यराशि को अपने विकास के स्वरूप में समाविष्ट कर सकता है और अतीत में जो कुछ भी श्रेष्ठ था उस सब से भविष्य को समृद्ध बना सकता है। परन्तु अन्त में उसे अपनी आत्मा की ही शरण लेनी होगी। अथवा इससे भी अच्छा यह होगा (यदि वह ऐसा कर सके तो) कि वह लिखित सत्य का अतिक्रमण करके[1] और जो कुछ वह श्रवण कर चुका है एवं जो कुछ उसे अभी श्रवण करना है उस सबका[2] अतिक्रमण करके सदा-सर्वदा और प्रारम्भ से ही अपनी आत्मा में निवास करे। कारण, वह एक पुस्तक या अनेक पुस्तकों का साधक नहीं है, वह अनन्त का साधक है।

एक और प्रकार का भी शास्त्र होता है। यह धर्मशास्त्र नहीं होता; इसमें जिस

[1] शब्दब्रह्मातिवर्तते। गीता—६, ४४।

[2] श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। गीता—२, ५२।

योगपथ-पर साधक चलना पसन्द करता है उसकी विद्या एवं विधियों और फलोत्पादक सिद्धान्तों तथा क्रिया-प्रणाली का वर्णन होता है। प्रत्येक पथ का अपना-अपना शास्त्र होता है, चाहे वह लिखित हो या परंपरा-प्राप्त अर्थात् गुरुओं की दीर्घ परंपरा द्वारा गुरुमुख से प्राप्त होता चला आ रहा हो। भारतवर्ष में साधारणतः लिखित या परम्परा-प्राप्त शिक्षा को महान् प्रामाणिकता एवं अतिशय सम्मान तक प्रदान किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि योग-विशेष की सभी विधियां नियत और स्थिर होती हैं। इसलिये जिस गुरु ने परम्परा द्वारा शास्त्र को प्राप्त किया है और अभ्यासद्वारा उसे अनुभव-सिद्ध कर लिया है वह अतिप्राचीन पदचिह्नों के सहारे शिष्य को मार्ग दिखाता है। किसी नयी अभ्यास-क्रिया, नयी यौगिक शिक्षा और नवीन सूत्र के अंगीकार के विरुद्ध बलपूर्वक उठायी गयी आपत्ति भी प्रायः हमारे सुनने में आती है कि "यह शास्त्र के अनुसार नहीं है।" परन्तु असल में बात ऐसी नहीं है, न योगियों की क्रियात्मक साधना में ही वस्तुतः कोई ऐसी लोह-दुर्ग की-सी अभेद्य कठोरता होती है कि उसमें नवीन सत्य, नूतन ईश्वरीय ज्ञान एवं विस्तीर्ण अनुभव का प्रवेश ही न हो सके। लिखित या परम्परागत शिक्षा अनेक शताब्दियों के ज्ञान और अनुभवों को एक शास्त्रीय एवं क्रमबद्ध रीति से प्रकट कर देती है जिससे कि वे योग का आरम्भ करने वाले व्यक्ति के लिये सुलभ हो जाते हैं। अतएव, इसकी महत्ता और उपयोगिता अतीव महान् है। परन्तु विविधता और विकास के लिये अत्यधिक स्वाधीनता सदा ही प्रयोग में लायी जा सकती है। राजयोग जैसी अत्युच्च कोटि की वैज्ञानिक पद्धति का अभ्यास भी पतंजलि की क्रमबद्ध प्रणाली से भिन्न अन्य परिपाटियों द्वारा किया जा सकता है। त्रिमार्ग के[1] तीनों मार्ग अनेक उपमार्गों में विभक्त हो जाते हैं जो अपने लक्ष्य पर पहुंचकर फिर मिल जाते हैं। जिस सामान्य ज्ञान पर योग आश्रित है वह तो नियत है, किन्तु क्रम, पूर्वापरभाव, उपायों और रूपों में विभेद तो हमें स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि सामान्य सत्य स्थिर और शाश्वत रहते हैं तथापि वैयक्तिक प्रकृति की आवश्यकताओं और विशेष प्रवृत्तियों को तो तृप्त करना ही होता है।

विशेषकर, पूर्ण और समन्वयात्मक योग को किसी लिखित या परम्परागत शास्त्र से आबद्ध होने की आवश्यकता नहीं। जहां यह योग प्राचीन ज्ञान को अपने अन्दर समाविष्ट करता है वहां यह उसे वर्तमान और भविष्य के लिये नवीन रूप में व्यवस्थित करने का यत्न भी करता है। इसके स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये यह अनिवार्य है कि इसे अनुभव उपलब्ध करने की और नयी परिभाषाओं तथा नये रूपों में ज्ञान का फिर से प्रतिपादन करने की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो। क्योंकि यह सम्पूर्ण जीवन को अपने अन्दर समाविष्ट करने का यत्न करता है, इसकी स्थिति

[1] ज्ञान, भक्ति और कर्म का त्रिविध मार्ग।

उस यात्री की-सी नहीं है जो अपनी मंजिल की तरफ जाने वाले राजपथ पर चलता चला जाता है, बल्कि, कम-से-कम इस अंश में, इसकी स्थिति एक ऐसे मार्गान्वेषक की-सी है जो किसी अपरिचित वन में नये मार्ग बनाता है। कारण, योग चिरकाल तक जीवन से विमुख रहा है और प्राचीन पद्धतियां, उदाहरणार्थ, हमारे वैदिक पूर्वजों की पद्धतियां, जिन्होंने इसका आलिंगन करने का यत्न किया था, हमारे लिये अत्यन्त दुर्गम हैं। वे ऐसे शब्दों में वर्णित हैं जो आज हमारे लिये सुबोध नहीं हैं, ऐसे रूपों में विन्यस्त हैं जो आज व्यवहार्य नहीं। तब से मनुष्यजाति नित्य 'काल' की धारा पर आगे बढ़ चुकी है और इसीलिये अब उसी समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है।

इस योग के द्वारा हम अनन्त की केवल खोज ही नहीं करते, बल्कि उसका आवाहन भी करते हैं जिससे वह अपने-आपको मानवजीवन में प्रस्फुटित करे। अतएव, हमारे योग-शास्त्र को ग्रहणशील मानव आत्मा की अनन्त स्वतन्त्रता के लिये सब प्रकार की सुविधा प्रदान करनी होगी। मनुष्य के पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के लिये ठीक अवस्था यह होगी कि विराट् तथा परात्पर पुरुष को अपने में ग्रहण करने के ढंग और प्रकार में उसे हेर-फेर की पूरी स्वतन्त्रता हो। विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि सब धर्मों की एकता चरितार्थ करने के लिये यह आवश्यक है कि इसके रूपों की विविधता अधिकाधिक समृद्ध हो तथा उस मूलभूत एकता की पूर्ण अवस्था तब प्राप्त होगी जब प्रत्येक मनुष्य का अपना धर्म होगा और जब वह सम्प्रदाय या रूढ़ि-परम्परा से बंधा न रहकर परम पुरुष के साथ अपने संबन्धों में अपनी स्वतन्त्र और सामंजस्य-साधक प्रकृति का ही अनुसरण करेगा। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि पूर्णयोग की पूर्णता तब प्राप्त होगी जब प्रत्येक मनुष्य अपने निजी योग-मार्ग का अवलंबन कर सकेगा तथा प्रकृति से परे की किसी वस्तु की ओर उन्मुख होती हुई अपनी निजी प्रकृति के विकास का ही अनुसरण करेगा। कारण, स्वतन्त्रता ही अन्तिम विधान और चरम परिणति है।

इस बीच कुछ ऐसी सामान्य पद्धतियां निश्चित करने की जरूरत है जो साधक की चिंतना और साधना का मार्ग-निर्देश करने में सहायक हों। परन्तु इन्हें यथासम्भव व्यापक सत्यों एवं सामान्य सिद्धान्त-वाक्यों का और प्रयास एवं विकास की अत्यन्त शक्तिशाली विस्तृत दिशाओं का ही रूप धारण करना चाहिये, इन्हें कोई ऐसी बंधी-बंधायी विधियां नहीं होना चाहिये जिनका नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं की भांति पालन करना पड़े। शास्त्रमात्र भूतकाल के अनुभव का फल होता है और साथ ही भावी अनुभव में सहायक होता है। यह एक साधन और आंशिक मार्गदर्शक होता है। यह चिह्नित खंभे गाड़ देता है और मुख्य सड़कों एवं पहले खोजी जा चुकी दिशाओं के नाम बता देता है, जिससे पथिक को पता चल सके कि वह किधर और किन मार्गों से बढ़ रहा है।

शेष सब कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न और अनुभव पर और पथ-प्रदर्शक की शक्ति पर निर्भर करता है।

*

अनुभव का विकास कितने वेग एवं विस्तार के साथ होता है और उसके परिणाम कितने तीव्र एवं प्रभावशाली होते हैं—यह मार्ग के प्रारम्भ में और बाद में भी दीर्घकाल तक मुख्यतः साधक की अभीप्सा और उसके वैयक्तिक प्रयत्न पर ही निर्भर करता है। योग की मौलिक प्रक्रिया यह है कि मानव आत्मा वस्तुओं के बाह्य रूपों और आकर्षणों में ग्रस्त अहंभावमय चेतना से मुंह मोड़कर उस उच्चतर चेतना को अधिकृत कर ले जिसमें परात्पर और विराट् ईश्वर अपने-आपको व्यक्तिरूपी सांचे के अन्दर उंडेल सकें और उसे रूपान्तरित कर सकें। अतएव, सिद्धि का सर्वप्रथम निर्धारक तत्त्व यही है कि आत्मा उच्चतर चेतना की ओर कितनी तीव्रता से अभिमुख होती है अथवा अपने को अन्तर्मुख करनेवाली शक्ति उसमें कितनी है। इस तीव्रता के नाप हैं—हृदय की अभीप्सा की शक्ति, संकल्प का बल, मन की एकाग्रता, प्रयुक्त शक्ति का अनवरत उद्योग और दृढ़ निश्चय। आदर्श साधक को बाइबल की उक्ति के अनुसार यह कहने में समर्थ होना चाहिये "मेरे भगवत्प्राप्ति के उत्साह ने मुझे पूर्णतः ग्रस लिया है।" भगवान् के लिये ऐसा उत्साह, अपनी दिव्य परिणति के लिये सम्पूर्ण प्रकृति की व्यग्रता एवं व्याकुलता और भगवान् की प्राप्ति के लिये हृदय की उत्सुकता ही उसके अहं को ग्रस लेती है और इसके क्षुद्र तथा संकीर्ण सांचे की सीमाओं को तोड़ डालती है। फलतः, अहं अपनी अभीष्ट वस्तु को, जो विश्वव्यापी होने से विशालतम तथा उच्चतम व्यष्टिगत आत्मा और प्रकृति को भी अतिक्रान्त किये है और परात्पर होने के कारण उससे अत्यन्त उत्कृष्ट है, पूर्ण तथा विशाल रूप में ग्रहण कर पाता है।

परन्तु जो शक्ति पूर्णता के लिये कार्य करती है उसका यह केवल एक पार्श्व है। पूर्णयोग की प्रक्रिया में तीन अवस्थाएं आती हैं, निश्चय ही वे तीव्र रूप में भिन्न या पृथक्-पृथक् तो नहीं हैं, पर किसी अंश में क्रमिक अवश्य हैं। सबसे पहले हमें अपने अहंभाव से ऊपर उठने और भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न करना होगा जिससे कि हम, कम-से-कम, योग में दीक्षित होकर उसके अधिकारी बन सकें। उसके बाद यह आवश्यक है कि जो परब्रह्म हमसे अतीत है और जिसके साथ हमने अन्तर्मिलन प्राप्त कर लिया है उसे हम अपने अन्दर ग्रहण करें, ताकि वह हमारी सम्पूर्ण चेतन सत्ता का रूपान्तर कर सके। अन्त में, हमें अपनी रूपान्तरित मानवता का संसार में भगवान् के केंद्र के रूप में उपयोग करना होगा। जब तक भगवान् के साथ सम्बन्ध यथेष्ट मात्रा में स्थापित नहीं हो जाता, जब तक कुछ-न-कुछ सतत तादात्म्य, सायुज्य प्राप्त नहीं हो जाता तब तक

साधारणतया व्यक्तिगत प्रयत्नरूपी अंग अवश्य ही प्रधान रहता है। परन्तु जैसे-जैसे यह सम्बन्ध स्थापित होता जाता है वैसे-वैसे साधक निश्चित रूप में इस बात से सचेतन होता जाता है कि उसकी शक्ति से भिन्न कोई शक्ति, जो उसके अहंभावपूर्ण प्रयत्न और सामर्थ्य से अतीत है, उसके अन्दर काम कर रही है और वह उत्तरोत्तर उस परम शक्ति के प्रति अपने-आपको उत्सर्ग करना सीखता जाता है और अपने योग का कार्यभार उसे सौंप देता है। अन्त में उसका अपना संकल्प और सामर्थ्य उच्चतर शक्ति के साथ एक हो जाते हैं; वह उन्हें भागवत संकल्प और उसकी परात्पर तथा विश्वव्यापिनी शक्ति में निमज्जित कर देता है। तब से वह देखने लगता है कि यह शक्ति उसकी मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक सत्ता के आवश्यक रूपान्तर का सूत्रसंचालन ऐसे न्यायपूर्ण ज्ञान और दूरदर्शी क्षमता के साथ कर रही है जो उत्कंठित और स्वार्थरत अहं के सामर्थ्य से बाहर की वस्तु हैं। जब यह तादात्म्य और आत्म-निमज्जन पूर्ण हो जाते हैं तब संसार में भगवान् का केंद्र तैयार हो जाता है। विशुद्ध, मुक्त, सुनम्य और ज्ञानदीप्त होकर वह केंद्र मानवता या अतिमानवता के विस्तीर्णतर योग में, अर्थात् इस भूलोक की आध्यात्मिक प्रगति या इसके रूपान्तर के योग में, सर्वोच्च शक्ति की साक्षात् क्रिया के लिये साधन के तौर पर उपयोग में आने लग सकता है।

निःसन्देह हमारे अन्दर सदा उच्चतर शक्ति ही काम करती है। हम में जो यह भाव होता है कि स्वयं हम ही यत्न तथा अभीप्सा करते हैं उसका कारण यह है कि हमारा अहंकारमय मन अपने-आपको दिव्य शक्ति की क्रियाओं के साथ अशुद्ध और अपूर्ण ढंग से एकाकार करने की चेष्टा करता है। यह अतिप्राकृतिक स्तर के अनुभव पर भी मन की वही साधारण परिभाषाएं लागू करने का आग्रह करता है जिनका प्रयोग यह अपने सामान्य सांसारिक अनुभवों के लिये करता है। संसार में हम अहंकार की भावना के साथ कर्म करते हैं। हमारे अन्दर जो वैश्व शक्तियां काम करती हैं उन्हें हम दावे के साथ अपनी कहते हैं। मन, प्राण और शरीर के इस ढांचे में परात्पर की चयनशील एवं निर्माणकारी विकासात्मक क्रिया को हम अपने निजी संकल्प, ज्ञान, बल और पुण्य का परिणाम घोषित करते हैं। प्रकाश की प्राप्ति होने पर हमें यह ज्ञान होता है कि अहंकार तो यन्त्रमात्र है। हम यह देखने और समझने लगते हैं कि ये चीजें केवल इस अर्थ में हमारी हैं कि ये हमारी उस सर्वोच्च अखंड आत्मा से सम्बन्ध रखती हैं जो यन्त्रात्मक अहंकार के साथ नहीं वरन् परात्पर के साथ एकीभूत है। भागवत शक्ति की क्रिया पर हम केवल अपनी सीमाएं और विकृतियां ही थोपा करते हैं; उसमें जो सच्ची शक्ति है वह तो भगवान् की ही है। जब मनुष्य का अहंकार यह अनुभव कर लेता है कि उसका संकल्प एक उपकरण है, उसका ज्ञान अविद्या एवं मूढ़ता है, उसका बल मानों बच्चे का अन्धेरे में टटोलना है एवं उसका पुण्य पाखंडपूर्ण अपवित्रता है, और जब वह अपने-आपको अपने से अतीत सत्ता के हाथों में सौंपना सीख जाता है तभी वह

मुक्ति लाभ करता है। हम अपनी वैयक्तिक सत्ता के बाह्य स्वातंत्र्य तथा स्व-ख्यापन में अतीव गहरे आसक्त हैं, पर इनके पीछे उन सहस्रों सुझावों, प्रेरणाओं तथा शक्तियों के प्रति, जिन्हें हमने अपने क्षुद्र व्यक्तित्व से बाहर की वस्तु बना रखा है, हमारी अत्यन्त दयनीय दासता छिपी रहती है। हमारा अहंकार स्वतन्त्रता की डींग मारता हुआ भी प्रतिक्षण विश्व-प्रकृति के अन्दर अनगिनत सत्ताओं, शक्तियों, सामर्थ्यों और प्रभावों का दास, खिलौना तथा कठपुतली बना रहता है। अहं का भगवान् के प्रति आत्म-उत्सर्ग ही उसकी आत्म-परिपूर्णता है; अपने से अतीत तत्त्व के प्रति उसका समर्पण ही बन्धनों और सीमाओं से उसकी मुक्ति है, यही उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता है।

परन्तु फिर भी, क्रियात्मक विकास में, इन तीनों अवस्थाओं में से प्रत्येक की अपनी-अपनी आवश्यकता और उपयोगिता है और प्रत्येक को अपना समय और अपना स्थान प्राप्त होना चाहिये। अतएव, केवल अन्तिम तथा सर्वोच्च अवस्था के द्वारा आरम्भ करने से ही काम नहीं चलेगा और न ही ऐसा करना सुरक्षित वा फलप्रद हो सकता है। यह भी ठीक मार्ग नहीं होगा कि हम समय से पूर्व ही एक अवस्था से दूसरी पर छलांग मार कर पहुंच जायें। चाहे हम प्रारम्भ से ही मन और हृदय में परम पुरुष पर आस्था रखें तो भी प्रकृति में ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो आस्था के विषय के उपलब्ध होने में चिरकाल तक बाधा डालेंगे। परन्तु बिना उपलब्धि के हमारा मानसिक विश्वास क्रियाशील वस्तु नहीं बन सकता; वह केवल ज्ञान की प्रतिमूर्त्ति ही रहता है, जीवन्त सत्य नहीं बनता, वह केवल भावना ही रहता है, शक्ति नहीं बनता। उपलब्धि होना चाहे आरम्भ हो भी जाय तो भी तुरत-फुरत यह कल्पना कर लेना या यह मान बैठना भयावह हो सकता है कि हम पूरी तरह से परम पुरुष के हाथों में हैं और उसके यन्त्र बन कर काम कर रहे हैं। ऐसी कल्पना संकटपूर्ण असत्य को जन्म दे सकती है। यह असहाय जड़ता पैदा कर सकती है या भगवान् के नाम पर अहंकार की चेष्टाओं को बहुत अधिक बढ़ा कर योग के सम्पूर्ण अभ्यासक्रम को दुःखद रूप में विकृत और विनष्ट कर सकती है। आन्तरिक प्रयत्न और संघर्ष का एक कम या अधिक लंबा समय आया ही करता है जिसमें वैयक्तिक संकल्प को निम्न प्रकृति के अन्धकार तथा विकारजाल का निराकरण करके दृढ़ निश्चयपूर्वक या उत्साह के साथ दिव्य प्रकाश का पक्ष लेना होता है। हमें अपने मन की शक्तियों, हृदय के भावावेगों एवं प्राण की कामनाओं को और यहां तक कि शरीर को भी बाध्य करना होता है कि वे यथार्थ वृत्ति धारण करें, अथवा उन्हें सिखाना होता है कि वे शुद्ध प्रभावों को स्वीकार करें तथा उत्तर दें। जब यह सब कुछ ठीक-ठीक पूरा हो जाता है तभी निम्न का उच्चतर के प्रति समर्पण सम्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि तब हमारा यज्ञ स्वीकार करने योग्य हो जाता है।

साधक को पहले अपने वैयक्तिक संकल्प के द्वारा अहंकारमयी शक्तियों पर अधिकार करके उन्हें प्रकाश तथा सत्य की ओर मोड़ देना होता है। जब एक बार वे उधर मुड़ जाती हैं तब भी उसे उन्हें सधाना होता है कि वे सदा उस प्रकाश तथा सत्य को ही स्वीकार करें, सदा उसीका वरण और उसीका अनुसरण करें। आगे बढ़ने पर वह वैयक्तिक संकल्प, वैयक्तिक प्रयत्न एवं वैयक्तिक सामर्थ्यों का प्रयोग करता हुआ भी यह सीख जाता है कि किस प्रकार वह उन्हें सचेतन रूप से उच्चतर प्रभाव के अधीन रखकर उच्चतर शक्ति के प्रतिनिधियों के तौर पर व्यवहार में ला सकता है। जब वह और अधिक प्रगति कर लेता है तो उसका संकल्प, प्रयत्न एवं बल पहले की तरह वैयक्तिक तथा पृथक् नहीं रहते, वरन् व्यक्ति में काम कर रहे उच्चतर बल तथा प्रभाव की क्रियाएं बन जाते हैं। परन्तु अब भी दिव्य उद्गम तथा उसमें से निकलनेवाली मानवधारा के बीच एक प्रकार की खाई या दूरी बची रहती है। अनिवार्यतः ही, उसका परिणाम यह होता है कि उच्चतर बल एवं प्रभाव हमारे अन्दर अस्पष्ट रूप में पहुंचता है और हम तक उसके पहुंचने की प्रक्रिया सदा ठीक ही नहीं होती, यहां तक कि कभी-कभी तो वह बहुत विकृत करनेवाली भी होती है। विकास के अन्तिम छोर पर, अहंकार, अपवित्रता और अज्ञान का उत्तरोत्तर लोप होते-होते, यह अन्तिम विछोह भी दूर हो जाता है। तब, मनुष्य में जो कुछ भी है वह सब दिव्य क्रिया बन जाता है।

*

जिस प्रकार पूर्णयोग का परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निहित है, उसी प्रकार परम पथ-प्रदर्शक और गुरु वह अन्तःस्थित मार्ग-दर्शक और जगद्गुरु है जो हमारे भीतर प्रच्छन्न रूप में विद्यमान है। वही हमारे अंधकार को अपने ज्ञान की जाज्वल्यमान ज्योति से विध्वस्त करता है और उसकी ज्योति हमारे भीतर उसके आत्म-प्राकट्य की वर्धमान महिमा बन जाती है। वह हम में स्वातंत्र्य, आनन्द, प्रेम, शक्ति और अमर सत्ता की अपनी ही प्रकृति को उत्तरोत्तर आविर्भूत करता है। वह हमारे लिये अपने दिव्य दृष्टान्त को हमारे आदर्श के रूप में उपस्थित करता है और निम्नतर सत्ता को उस वस्तु की प्रतिच्छवि में परिणत कर देता है जिस पर यह अपनी निर्निमेष दृष्टि लगाये रहती है। वह अपने ही प्रभाव और अपनी ही उपस्थिति को हमारे अन्दर उंडेलकर हमारी वैयक्तिक सत्ता को विराट् तथा परात्पर सत्ता के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के योग्य बना देता है।

उसकी पद्धति और उसकी प्रणाली क्या है? उसकी कोई भी पद्धति नहीं है और प्रत्येक पद्धति उसीकी है। जिन ऊंची-से-ऊंची प्रक्रियाओं तथा गतियों के प्रयोग में प्रकृति समर्थ है उनका स्वाभाविक संगठन ही उसकी प्रणाली है। वे

गतियां तथा प्रक्रियाएं अपने को तुच्छ-से-तुच्छ ब्योरे की बातों में तथा अत्यन्त नगण्य दीखनेवाले कार्यों में भी उतनी ही सावधानता तथा पूर्णता के साथ व्यवहृत करती हैं जितनी कि बड़ी-से-बड़ी बातों और कार्यों में। इस प्रकार वे अन्त में सभी चीजों को प्रकाश में उठा ले जाती हैं तथा सभी को रूपान्तरित कर देती हैं। कारण, उस जगद्गुरु के योग में कोई भी चीज इतनी तुच्छ नहीं कि उसका उपयोग ही न हो सके और कोई भी चीज इतनी बड़ी नहीं कि उसके लिये यत्न ही न किया जा सके। जिस प्रकार परम गुरु के सेवक और शिष्य को अहंकार या अभिमान से कुछ सरोकार नहीं, क्योंकि उसके लिये सब कुछ ऊपर से ही संपन्न किया जाता है, उसी प्रकार उसे अपनी निजी त्रुटियों या अपनी प्रकृति के स्खलनों के कारण निराश होने का भी कोई अधिकार नहीं। क्योंकि, जो शक्ति उसके अन्दर काम करती है वह निर्वैयक्तिक—या अतिवैयक्तिक (superpersonal)—और अनन्त है।

इस अन्तःस्थित पथ-प्रदर्शक, योग के महेश्वर, समस्त यज्ञ और पुरुषार्थ के भर्त्ता, प्रकाशदाता, भोक्ता और लक्ष्य को पूरी तरह से पहिचानना और अंगीकार करना सर्वांगीण पूर्णता के पथ में अत्यन्त महत्त्व रखता है। यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि हम उसे पहले-पहल इस रूप में देखें कि वह सब चीजों का उद्गम-भूत निर्वैयक्तिक ज्ञान, प्रेम और बल है, या इस रूप में कि वह सापेक्ष वस्तु में प्रकट होनेवाला तथा उसे आकृष्ट करनेवाला निरपेक्ष तत्त्व है, या हमारी सर्वोच्च आत्मा और सब की सर्वोच्च आत्मा है, या हमारे तथा संसार के भीतर अवस्थित भागवत व्यक्ति है जो अपने स्त्री-पुरुषात्मक अनेक नाम-रूपों में से किसी एक में प्रकटीभूत है, या फिर वह एक ऐसा आदर्श है जिसकी मन कल्पना करता है। पर अन्त में हम देखते हैं कि वह सब कुछ है और इन सब चीजों के योगफल से भी अधिक है। उसके विषय में की जानेवाली परिकल्पना के क्षेत्र में हमारा मन जिस द्वार से प्रवेश करता है वह स्वभावतः ही हमारे अतीत विकास और वर्तमान प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

यह अन्तःस्थ पथ-प्रदर्शक प्रारम्भ में प्रायः हमारे व्यक्तिगत प्रयत्न की तीव्रता के कारण और अहंभाव के अपने-आप में तथा अपने उद्देश्यों में ही संलग्न रहने के कारण छुपा रहता है। ज्यों ही हम चेतना में स्वच्छता प्राप्त करते हैं और अहंमय प्रयत्न अपना स्थान एक अधिक प्रशान्त आत्म-ज्ञान को दे देता है, त्यों ही हम अपने भीतर बढ़ते हुए प्रकाश के स्रोत को पहचान लेते हैं। तब हम इस स्रोत के प्रभाव को अपने पहले के जीवन में भी पहचान लेते हैं, क्योंकि हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सब अन्धकारमयी और संघर्षकारी चेष्टाएं एक ऐसे लक्ष्य की ओर स्थिर रूप से ले जायी गयी हैं जिसे हम केवल अब ही देखने लगते हैं, और यह भी कि योगमार्ग में हमारे प्रवेश करने से पहले भी हमारे जीवन का विकास अपनी निर्णायक दिशा की ओर योजनापूर्वक ले जाया गया है। अब हम अपने

संघर्षों एवं प्रयत्नों और सफलताओं एवं विफलताओं का अभिप्राय समझने लगते हैं। अन्त में हम अपनी अग्नि-परीक्षाओं और कष्टों का मर्म भी हृदयंगम करने में समर्थ हो जाते हैं तथा उस सहायता का भी मूल्य समझ पाते हैं जो हमें आघात-प्रतिघात पहुंचानेवाली वस्तुओं से प्राप्त हुई, यहां तक कि हम अपने पतनों एवं स्खलनों की भी उपयोगिता समझने में समर्थ हो जाते हैं। आगे चलकर हम इस दिव्य पथ-प्रदर्शक को अपने गत जीवन पर दृष्टि डाल कर नहीं, बल्कि तत्क्षण ही अनुभव करने लगते हैं—हम अनुभव करते हैं कि एक परात्पर द्रष्टा हमारे विचार को, एक सर्वव्यापिनी शक्ति हमारे संकल्प एवं कर्मों को और एक सर्व-आकर्षी एवं सर्व-आत्मसात्कारी आनन्द और प्रेम हमारे भावमय जीवन को नये सिरे से गढ़ रहे हैं। हम प्रकाश के इस स्रोत को उस अधिक वैयक्तिक रूप में भी अनुभव करने लगते हैं जिसका स्पर्श हमें प्रारम्भ से ही प्राप्त हुआ था अथवा जो हमें अन्त में अधिकृत कर लेता है। हम एक परम स्वामी, सखा, प्रेमी एवं गुरु की शाश्वत उपस्थिति अनुभव करते हैं। जब हमारी सत्ता विकसित होते-होते महत्तर एवं विशालतर सत्ता के साथ सादृश्य एवं एकत्व लाभ कर लेती है तब हम अपनी सत्ता के सारतत्त्व में भी इसीको अनुभव करते हैं। हम देखते हैं कि यह अद्भुत विकास हमारे अपने प्रयत्नों का फल नहीं है, बल्कि एक सनातन पूर्णता हमें अपनी प्रतिच्छवि में परिणत कर रही है। वह एकमेव जो योगदर्शनों में वर्णित ईश्वर है, जो सचेतन सत्ता में विराजमान पथ-प्रदर्शक है (चैत्य गुरु या अन्तर्यामी है), जो विचारक का निरपेक्ष ब्रह्म है, जो अज्ञेयवादी का अज्ञेय तत्त्व और जड़वादी की वैश्व शक्ति है, जो परम आत्मा और परा-शक्ति है,—वह एकमेव जिसे नाना धर्म भिन्न-भिन्न नाम और रूप देते हैं, वही हमारे योग का स्वामी है।

इस एकमेव को अपनी अन्तरात्मा और अपनी सम्पूर्ण बाह्य प्रकृति में देखना एवं जानना और यही बन जाना तथा इसी को चरितार्थ करना सदा ही हमारी देहधारी सत्ता का गुप्त लक्ष्य रहा है और यही अब उसका सचेतन उद्देश्य भी बन जाता है। अपनी सत्ता के अंग-प्रत्यंग में और साथ ही इसके उन भागों में भी, जिन्हें विभाजक मन हमारी सत्ता से बाह्य समझता है, इस एकमेव से सचेतन होना हमारी वैयक्तिक चेतना की पराकाष्ठा है। इससे अधिकृत होना और अपने अन्दर तथा सभी चीजों में इसे अधिकृत करना सम्पूर्ण साम्राज्य और प्रभुत्व का लक्षण है। निष्क्रियता एवं सक्रियता, शान्ति एवं शक्ति और एकता एवं विभिन्नता के समस्त अनुभवों में इसका रस लेना ही वह सुख है जिसे जीवात्मा अर्थात् जगत् में अभिव्यक्त वैयक्तिक आत्मा अन्धकार में खोज रही है। पूर्णयोग के लक्ष्य की सम्पूर्ण परिभाषा यही है। प्रकृति ने जो सत्य अपने भीतर छिपा रखा है और जिसे प्रकाशित करने के लिये वह प्रसव-वेदना भोग रही है उसे वैयक्तिक अनुभव के रूप में प्रकट करना इस योग का उद्देश्य है। इसका अभिप्राय है मानव आत्मा का

दिव्य आत्मा में और प्राकृत जीवन का दिव्य जीवन में रूपान्तर करना।

*

इस पूर्ण कृतार्थता का अत्यन्त सुनिश्चित पथ यह है कि हम गुह्य रहस्य के उस स्वामी को ढूंढ़ लें जो हमारे अन्तर में निवास करता है तथा अपने-आपको निरन्तर उस दिव्य शक्ति की ओर उद्घाटित करें जो साथ ही दिव्य प्रज्ञा और प्रेम भी है, और फिर रूपान्तर करने का कार्य उसके हाथों में सौंप दें। परन्तु अहंमय चेतना के लिये शुरू में ऐसा करना ही कठिन होता है, और यदि वह ऐसा कर भी सके तो पूर्ण रूप से तथा प्रकृति के अंग-अंग में करना तो और भी कठिन होता है। शुरू-शुरू में यह इसलिये कठिन होता है कि हमारे विचार, संवेदन एवं भाव-भावनाओं की अहंमूलक आदतें उन द्वारों को बन्द कर देती हैं जिनसे हमें अपेक्षित अनुभव प्राप्त हो सकता है। बाद में यह इस कारण कठिन होता है कि इस पथ के लिये अपेक्षित श्रद्धा, समर्पण और साहस अहंभावाच्छन्न आत्मा के लिये आसान नहीं होते। दिव्य क्रिया कोई वैसी क्रिया नहीं होती जिसे अहंभावमय मन चाहता या मंजूर करता है। वह तो सत्य पर पहुंचने के लिये भ्रान्ति को, आनन्द पर पहुंचने के लिये दुःख को और पूर्णता पर पहुंचने के लिये अपूर्णता को काम में लाती है। अहंकार यह नहीं देख पाता कि वह किधर ले जाया जा रहा है; वह मार्गदर्शन के विरुद्ध विद्रोह करता है, विश्वास खो देता है, साहस छोड़ बैठता है। यदि केवल यही दुर्बलताएं होतीं तो कोई बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि हमारा अन्तःस्थ दिव्य मार्गदर्शक हमारे विद्रोह से रुष्ट नहीं होता, न तो वह हमारी श्रद्धा की कमी से निरुत्साहित होता है और न हमारी दुर्बलता के कारण उदासीन ही हो जाता है। उसमें माता का समस्त वात्सल्य और गुरु का अखंड धैर्य है। परन्तु, उसके नेतृत्व से अपनी अनुमति हटा लेने के कारण, हम सचेतन रूप में उसका लाभ अनुभव नहीं कर पाते, यद्यपि वह लाभ किसी अंश में फिर भी प्राप्त होता है और उसका अन्तिम परिणाम तो किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होता। और, हम अपनी अनुमति इसलिये हटा लेते हैं कि जिस निम्नतर सत्ता में से वह अपनी आत्म-अभिव्यक्ति तैयार कर रहा है उसमें और उच्चतर आत्मा में हम विवेक नहीं कर पाते। जैसे हम संसार में ईश्वर को नहीं देख पाते वैसे ही हम अपने अन्दर भी ईश्वर को देखने में असमर्थ होते हैं; कारण, उसकी कार्यशैलियां ही ऐसी हैं। हम उसे इसलिये भी नहीं देख पाते कि वह हमारे अन्दर हमारी प्रकृति के द्वारा ही काम करता है न कि एक के बाद एक मनमाने चमत्कारों से। मनुष्य चमत्कारों की मांग करता है जिससे वह विश्वास कर सके; वह चकाचौंध होना चाहता है, ताकि वह देख सके। परन्तु हमारी यह अधीरता और अज्ञान महान् भय और संकट का रूप

धारण कर सकते हैं यदि, दिव्य मार्गदर्शन के प्रति विद्रोह के भाव में, हम किसी अन्य विकारजनक शक्ति को, जो हमारे आवेगों और कामनाओं के लिये अधिक सन्तोषकारक होती है, अपने अन्दर बुला लें, उससे अपना पथ-प्रदर्शन करने को कहें और उसे ही भगवान् मान बैठें।

परन्तु जहां मनुष्य के लिये यह कठिन है कि वह अपने अन्दर की किसी अगोचर वस्तु में विश्वास करे, वहां उसके लिये यह आसान भी है कि वह किसी ऐसी वस्तु में विश्वास करे जिसे वह अपने से बाहर चित्रित कर सकता है। अनेकों मानव प्राणियों की आध्यात्मिक उन्नति बाह्य आश्रय की, अर्थात् उनसे बाहर विद्यमान किसी श्रद्धास्पद वस्तु की अपेक्षा करती है। उन्हें अपनी उन्नति के लिये ईश्वर की बाह्य मूर्ति या मानव-रूप प्रतिनिधि—अवतार, पैगंबर या गुरु—की आवश्यकता होती है। अथवा उन्हें इन दोनों की ही आवश्यकता होती है और दोनों को ही वे अंगीकार करते हैं। मानव आत्माकी आवश्यकता के अनुसार भगवान् अपने-आपको देवता, मानवरूपी भगवान् या सीधी-सादी मानवता के रूप में अभिव्यक्त करते हैं और अपनी प्रेरणा का संचार करने के लिये, साधन के तौर पर, उस घने पर्दे को प्रयोग में लाते हैं जो देवाधिदेव को अति सफलतापूर्वक छिपाये रहता है।

आत्मा की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही हिन्दू अध्यात्म-साधना ने इष्ट देवता, अवतार और गुरु की परिकल्पना की है। इष्ट देवता से हमारा अभिप्राय किसी निम्न कोटि की शक्ति से नहीं, वरन् परात्पर तथा विराट् देवाधिदेव के एक विशेष नाम-रूप से है। प्रायः सभी धर्म या तो भगवान् के किसी ऐसे नाम-रूप पर आधारित होते हैं या वे इसका उपयोग करते हैं। मानव आत्मा के लिये इसकी आवश्यकता स्पष्ट ही है। ईश्वर सर्व है और सर्व से भी अधिक है। परन्तु जो सर्व से भी अधिक है उसे भला मनुष्य कैसे अपनी कल्पना में लावे? यहां तक कि सर्व भी पहले-पहल उसके लिये अति दुर्बोध होता है; क्योंकि वह स्वयं अपनी सक्रिय चेतना में एक सीमित एवं छंटी-छंटायी रचना है और अपने को केवल उसी चीज की ओर खोल सकता है जो उसकी ससीम प्रकृति के साथ मेल खाती है। सर्व में ऐसी चीजें भी हैं जिन्हें पूरी तरह हृदयंगम करना उसके लिये अत्यन्त कठिन है या जो उसके सूक्ष्मग्राही भावावेगों एवं भयाकुल संवेदनों को अतीव भीषण प्रतीत होती हैं। अथवा, सीधी-सी बात यह है कि जो कोई भी चीज उसके अज्ञानपूर्ण या आंशिक विचारों के घेरे से अत्यधिक बाहर होती है उसे वह भगवान् के रूप में कल्पित नहीं कर सकता, न ही वह उसके पास पहुंच सकता या उसे अंगीकार ही कर सकता है। उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह ईश्वर को अपनी ही आकृति के रूप में या किसी ऐसे रूप में कल्पित करे जो उससे परे होता हुआ भी उसकी सर्वोच्च प्रवृत्तियों के साथ समस्वर और उसके भावों या उसकी बुद्धि के

लिये गोचर हो। नहीं तो, भगवान् से सम्पर्क और अन्तर्मिलन प्राप्त करना उसके लिये कठिन हो जायगा।

इस पर भी, उसकी प्रकृति मानव मध्यस्थ की मांग करती है। वह भगवान् को किसी ऐसी चीज में अनुभव करना चाहती है जो उसकी निजी मानवता के पूर्णतः निकट हो और साथ ही मानवी अनुभव एवं दृष्टान्त में प्रत्यक्षगम्य भी। यह मांग मानव आकार में व्यक्त हुए भगवान् या अवतार से, अर्थात् कृष्ण, ईसा या बुद्ध से पूरी होती है। अथवा, यदि इसे कल्पना में लाना उसके लिये अति कठिन होता है तो भगवान् एक कम अद्‌भुत मध्यस्थ के द्वारा, ईश्वरीय दूत या गुरु के द्वारा भी अपना रूप दिखाते हैं। कारण, बहुत से लोग भागवत मनुष्य को अपनी कल्पना में नहीं ला सकते अथवा उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहते; पर वे भी किसी परमोच्च मनुष्य के प्रति अपने-आपको खोलने को उद्यत होते हैं और उसे वे अवतार के नाम से नहीं, बल्कि जगद्‌गुरु या भगवत्प्रतिनिधि के नाम से पुकारते हैं।

परन्तु यह भी पर्याप्त नहीं है; सजीव प्रभाव, जीवन्त दृष्टान्त और प्रत्यक्ष उपदेश की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि, ऐसे लोग बहुत ही कम होते हैं जो भूतकाल के गुरु और उसकी शिक्षा को, भूतकाल के अवतार और उसके दृष्टान्त तथा प्रभाव को, अपने जीवन में सजीव शक्ति बना सकते हैं। इस आवश्यकता को भी हिन्दू-मर्यादा ने गुरु-शिष्य-सम्बन्ध के द्वारा पूरा किया है। गुरु कभी-कभी अवतार या जगद्‌गुरु भी हो सकता है; किन्तु वैसे इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने शिष्य के समक्ष दिव्य प्रज्ञाका प्रतिनिधि हो, उसे दिव्य आदर्श से यत्किंचित् अवगत कराये अथवा सनातन के साथ मानव आत्मा के अनुभूत सम्बन्ध का उसे कुछ अनुभव कराये।

पूर्णयोग का साधक इन सब साधनों का अपनी प्रकृति के अनुसार उपयोग करेगा। परन्तु यह आवश्यक है कि वह इनकी न्यूनताओं का परित्याग कर दे और अपने अन्दर से अहंभावपूर्ण मन की उस एकांगी प्रवृत्ति को निकाल फेंके जो आग्रहपूर्वक कहती है, "मेरा ईश्वर, मेरा अवतार, मेरा पैगम्बर, मेरा गुरु" और इसके बल पर साम्प्रदायिक या धर्मान्ध भाव से अन्य सब अनुभवों (तथा उपलब्धियों) का विरोध करती है। समस्त साम्प्रदायिकता एवं समस्त धर्मान्धता से उसे अलग रहना होगा, क्योंकि यह दिव्य उपलब्धि की अखंडता से असंगत है।

इसके विपरीत, पूर्णयोग का साधक तब तक सन्तुष्ट नहीं होगा जब तक वह इष्ट देवता के अन्य सभी नामों और रूपों को अपनी परिकल्पना में समाविष्ट नहीं कर लेता, अन्य सभी देवताओं में अपने इष्ट देवता के दर्शन नहीं कर लेता, सभी अवतारों को अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान् की एकता में एकीभूत नहीं कर लेता और सभी शिक्षाओं में निहित सत्य को नित्य ज्ञान की समस्वरता में समन्वित नहीं कर देता।

परन्तु उसे इन बाह्य साधनों का उद्देश्य भूल नहीं जाना चाहिये। इनका उद्देश्य है—उसकी आत्मा को उसके अन्तरस्थ भगवान् की ओर उद्‌बुद्ध कर देना। यदि यह कार्य सिद्ध नहीं हुआ है तो समझो कुछ भी अन्तिम तौर पर सिद्ध नहीं हुआ है। यदि बुद्ध, ईसा या कृष्ण हमारे अन्दर व्यक्त तथा मूर्त्तिमन्त नहीं हुए हैं तो केवल बाहर से ही कृष्ण, ईसा या बुद्ध की पूजा करना पर्याप्त नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य सब साधनों का भी इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं है। प्रत्येक साधन मनुष्य की अपरिवर्तित अवस्था तथा उसके अन्दर होनेवाली भगवान् की अभिव्यक्ति के बीच सेतु भर होता है।

*

पूर्णयोग का गुरु यथासम्भव हमारे अन्तःस्थित परम गुरु की पद्धति का ही अनुसरण करेगा। वह शिष्य को शिष्य की प्रकृति के द्वारा ही ले चलेगा। शिक्षण, दृष्टान्त, प्रभाव—ये गुरु के तीन साधन होते हैं। परन्तु ज्ञानी गुरु अपने-आपको अथवा अपनी सम्मतियों को (शिष्य के) ग्रहणशील मन की निष्प्रतिरोध स्वीकृति पर लादने की कोशिश नहीं करेगा। वह केवल कोई फलजनक संस्कार ही उसके भीतर डाल देगा जो बीज की तरह, निश्चितरूपेण, अन्दर-ही-अन्दर दिव्य पोषण पाकर उपजेगा और वृद्धि को प्राप्त होगा। वह शिक्षा देने की अपेक्षा कहीं अधिक उद्‌बुद्ध करने का ही यत्न करेगा। वह नैसर्गिक प्रक्रिया और स्वतन्त्र विस्तार के द्वारा शक्तियों और अनुभूतियों के विकास को ही लक्ष्य बनायेगा। वह किसी विधि को एक सहायक साधन एवं उपयोगी उपाय के रूप में ही बतलायेगा, किसी अनुल्लंघनीय नियम या नियत नित्याभ्यास के रूप में नहीं। वह इस बात से सावधान रहेगा कि कहीं वह साधन को किसी प्रकार का बन्धन न बना डाले और प्रक्रिया को यान्त्रिक रूप न दे दे। उसका सम्पूर्ण कर्तव्य बस यही है कि वह दिव्य प्रकाश को उद्‌बुद्ध कर दे और उस दिव्य शक्ति की क्रिया प्रारम्भ करा दे जिसका वह स्वयं एक साधन एवं उपकरण और आधार या प्रणालिका-मात्र है।

दृष्टान्त शिक्षण की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। परन्तु बाह्य कर्मों तथा व्यक्तिगत चरित्र का दृष्टान्त सर्वोत्तम दृष्टान्त नहीं है। इनका अपना स्थान और अपनी उपयोगिता अवश्य है; किन्तु जो चीज दूसरों में अभीप्सा को अत्यधिक उद्दीप्त करेगी वह गुरु के अन्दर विद्यमान दिव्य उपलब्धि का केंद्रीय तथ्य है जो उसके अपने जीवन तथा उसकी आन्तरिक अवस्था और उसके सारे कर्मों को नियन्त्रित करता है। यह उसके अन्दर एक सार्वभौम और सारभूत तत्त्व है। शेष सब कुछ व्यक्ति और परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है। इस क्रियाशील उपलब्धि को गुरु में प्रत्यक्ष देखकर साधक को इसे अपने अन्दर अपनी निजी प्रकृति के अनुसार

मूर्तिमान् करना होगा। उसे बाहर से अनुकरण करने का यत्न करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह अनुकरण यथोचित और स्वाभाविक फल पैदा करने के स्थान पर सहज ही पंगु बनानेवाला हो सकता है।

प्रभाव दृष्टान्त की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली होता है। प्रभाव का अर्थ गुरु का अपने शिष्य पर बाह्य शासन एवं अधिकार नहीं है, बल्कि उसके संस्पर्श एवं उसकी उपस्थिति की शक्ति है, उसकी आत्मा की दूसरे की आत्मा के साथ समीपता की शक्ति है, जो दूसरे की आत्मा के अन्दर, चाहे मौन रूप में ही, गुरु के अस्तित्व और गुरु को अन्तःसंचारित कर देती है। यह है गुरु का सर्वोत्कृष्ट लक्षण। वास्तव में परमोच्च कोटि का गुरु शिक्षक बहुत कम होता है; वह तो एक उपस्थिति होता है जो अपने आसपास के सभी ग्रहणशील लोगों में दिव्य चेतना और उसकी सारभूत ज्योति, शक्ति, पवित्रता और आनन्द उंडेलता रहता है।

इसके अतिरिक्त, पूर्णयोग के गुरु का यह भी एक चिह्न होगा कि वह मानवीय अहंकार के तरीके से तथा अभिमानवश गुरुपन का अनुचित दावा नहीं करेगा। उसका काम, यदि कोई काम उसके सुपुर्द है तो, ऊपर से सुपुर्द किया हुआ काम है, वह स्वयं एक प्रणालिका, आधार या प्रतिनिधि है। वह एक मनुष्य है जो अपने मनुष्य-भाइयों की सहायता करता है, एक बालक है जो बालकों का अग्रणी बनता है, एक प्रकाश है जो दूसरे प्रकाशों को प्रदीप्त करता है, एक प्रबुद्ध आत्मा है जो दूसरी आत्माओं को प्रबुद्ध करती है, अपने सर्वोच्च रूप में वह भगवान् की एक शक्ति या उपस्थिति है जो भगवान् की अन्य शक्तियों को अपनी ओर पुकारती है।

*

जिस साधक को ये सब साधन प्राप्त हैं वह अपने लक्ष्य को अवश्यमेव अधिगत करेगा। यहां तक कि पतन भी उसके लिये उत्थान का साधन बन जायगा और मृत्यु परिपूर्णता का पथ। क्योंकि, एक बार जब वह अपने मार्ग पर चल पड़ता है तो जन्म और मरण उसकी सत्ता के विकास में आनेवाली प्रक्रियाएं तथा उसकी यात्रा के पड़ावमात्र बन जाते हैं।

काल या समय एक और साधन है जो साधना की सफलता के लिये आवश्यक है। काल मानव-प्रयत्न के सम्मुख शत्रु या मित्र के रूप में, बाधक, माध्यम या साधन के रूप में उपस्थित होता है। परन्तु वास्तव में यह सदा ही आत्मा का एक साधन है।

काल उन परिस्थितियों और शक्तियों का क्षेत्र है जो एकत्र होकर एक परिणामभूत प्रगति को साधित करती हैं। इस प्रगति के पथ को नापने के लिये काल एक साधन है। अहं के लिये यह एक आततायी या प्रतिबन्धक है, पर

भगवान् के लिये एक यन्त्र। अतएव, जब हमारा प्रयत्न व्यक्तिगत होता है तब काल हमें प्रतिबन्धक प्रतीत होता है, क्योंकि यह हमारे सामने उन सब शक्तियों की बाधा उपस्थित करता है जो हमारी शक्तियों के साथ टक्कर खाती हैं। जब दिव्य क्रिया और व्यक्तिगत क्रिया हमारी चेतना में संयुक्त हो जाती हैं तब यह एक माध्यम और अनिवार्य शर्त की तरह प्रतीत होता है। जब ये दोनों क्रियाएं एक हो जाती हैं तब यह एक सेवक और यन्त्र प्रतीत होता है।

काल के सम्बन्ध में साधक की आदर्श मनोवृत्ति यह होनी चाहिये कि वह अनन्त धैर्य रखे, यह समझते हुए कि अपनी परिपूर्णता के लिये उसके सामने अनन्त काल पड़ा है, किन्तु फिर भी वह ऐसी शक्ति विकसित करे जो मानो आत्म-उपलब्धि को अभी साधित कर लेगी। फिर यह शक्ति एक सदा वृद्धिशील प्रभुत्व के साथ और तीव्र वेग से तब तक बढ़ती जानी चाहिये जब तक कि परम दिव्य रूपान्तर की चमत्कारक घड़ी उपस्थित नहीं हो जाती।

अध्याय २

आत्म-निवेदन

योगमात्र स्वरूपतः एक नूतन जन्म है। इसका अर्थ मनुष्य के साधारण मनोमय एवं स्थूल जीवन से निकलकर एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना और महत्तर तथा दिव्यतर सत्ता में जन्म लेना है। जब तक एक विशालतर आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता के प्रति प्रबल जागृति नहीं हो जाती तब तक किसी भी योग का सफलतापूर्वक प्रारम्भ तथा अनुसरण नहीं किया जा सकता। जिस आत्मा को इस गंभीर एवं बृहत्तर परिवर्तन के लिये आह्वान प्राप्त हुआ है वह इसके पथ पर नाना प्रकार से पदार्पण कर सकती है। वह इस पर अपने उस प्राकृतिक विकास के द्वारा पहुंच सकती है जो उसे अब तक, उसके अनजाने ही, आध्यात्मिक जागरण की ओर अग्रसर करता आ रहा है; वह किसी धर्म के प्रभाव अथवा किसी दर्शनशास्त्र के आकर्षण के कारण इस राह पर लग सकती है। एक क्रमशः बढ़ते हुए ज्ञान के प्रकाश के द्वारा भी वह इसमें प्रवेश पा सकती है अथवा सहसा किसी संस्पर्श या आघात की सहायता से एक छलांग में भी इस पर पहुंच सकती है। वह और साधनों से भी—बाह्य परिस्थितियों के दबाव से या आन्तरिक आवश्यकता के कारण, मन के आवरणों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले किसी एक ही शब्द से अथवा सुदीर्घ चिन्तन से, किसी अनुभवी के दूरस्थ दृष्टान्त से अथवा सम्पर्क या दैनिक प्रभाव से—इस ओर अभिप्रेरित या संचालित हो सकती है। वस्तुतः पुकार सदा साधक की प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार आती है।

परन्तु यह चाहे जैसे भी आवे, मन और इच्छा-शक्ति का निर्णय आवश्यक है और, उसके परिणामस्वरूप, पूर्ण तथा अमोघ आत्म-निवेदन भी। सत्ता में एक नवीन आध्यात्मिक विचारशक्ति का स्वागत और ऊर्ध्व की ओर अभिमुखता, ज्ञान का प्रकाश, एक ऐसा दिशा-परिवर्तन या रूपान्तर जिसे इच्छा-शक्ति और हृद्गत अभीप्सा एकदम ग्रहण कर लें—यह सब एक ऐसी वेगयुक्त प्रक्रिया है जिसमें सभी योगजन्य फल बीज-रूप में विद्यमान हैं। किसी उच्चतर परतत्त्व की कोरी कल्पना या बौद्धिक जिज्ञासा को हमारा मन चाहे कितनी भी रुचि और दृढ़ता के साथ क्यों न अपना ले, किन्तु हमारे जीवन पर इसका तब तक कुछ भी प्रभाव नहीं होगा जब तक हृदय इसे इस रूप में अंगीकार न कर ले कि यही एक चाहने योग्य वस्तु है और इच्छाशक्ति इस रूप में स्वीकार न कर ले कि यही एक करने योग्य कार्य है। कारण, आत्मा के सत्य को केवल विचार का विषय ही नहीं बनाना है अपितु, उसे जीवन में उतारना भी है और उसे जीवन में लाने के लिये सत्ता की एक संगठित एकाग्रता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जिस अतिमहान् परिवर्तन

को यह योग साधित करना चाहता है वह विभक्त इच्छा-शक्ति से, या शक्ति के एक स्वल्प अंश से, या दोलायमान मन से सम्पादित नहीं हो सकता। जो व्यक्ति भगवान् को पाना चाहता है उसे भगवान् के प्रति और केवल भगवान् के ही प्रति अपने-आपको उत्सर्ग करना होगा।

यदि परिवर्तन किसी अदम्य प्रभाव के द्वारा एकाएक और सुनिश्चित रूप में सम्पन्न हो जाय तो आगे कोई मूलगत या स्थायी कठिनाई रह ही नहीं जाती। विचार के बाद ही या उसके साथ-ही-साथ साधक मार्ग चुन लेता है और चुनाव के बाद आत्म-निवेदन भी कर देता है। पैर मार्ग पर धरे ही जा चुके हैं, चाहे वे पहले-पहल अनिश्चित दिशा में भटकते ही मालूम दें और चाहे हमें स्वयं मार्ग भी धुंधला-सा दिखायी दे और लक्ष्य का पूरा-पूरा ज्ञान भी न हो। गुप्त एवं अन्तःस्थ मार्ग-दर्शक की क्रिया शुरू हो चुकी है, भले ही वह अभी अपने को प्रकट न करे या अपने मानव-प्रतिनिधि के रूप में हमें अभी दिखायी न दे। साधक के आगे चाहे कैसी भी कठिनाइयां और दुविधाएं क्यों न पैदा हों, वे अन्त तक उस अनुभव की शक्ति के आगे टिकी नहीं रह सकतीं जिसने उसकी जीवन-धारा को पलट दिया है। जब एक बार निश्चित रूप से पुकार आ जाती है तो वह स्थायी हो जाती है; जो चीज उत्पन्न हो चुकी है वह अन्तिम तौर पर नष्ट नहीं की जा सकती। भले ही परिस्थिति का बल बाधा डाले और हमें प्रारम्भ से ही नियमित रूप में योगाभ्यास तथा पूर्ण एवं क्रियात्मक आत्म-निवेदन न भी करने दे तो भी, क्योंकि मन ने अपनी दिशा निश्चित कर ली है, वह डटा रहता है और सदा-वृद्धिशील प्रभाव के साथ अपने प्रमुख कार्य की ओर फिर-फिर लौट आता है। आन्तर सत्ता में एक अजेय दृढ़ता होती है, जिसके सामने परिस्थितियों का अन्त में कुछ बस नहीं चलता और प्रकृति की कोई भी दुर्बलता अधिक समय तक बाधा नहीं पहुंचा सकती।

परन्तु साधना का प्रारम्भ सदा इसी ढंग से नहीं होता। साधक प्रायः क्रमशः ही आगे ले जाया जाता है और मन जब पहले-पहल अपने ध्येय की ओर झुकता है तो उसके बाद भी प्रकृति द्वारा उस ध्येय की पूर्ण स्वीकृति में बहुत लम्बा समय लग जाता है। हो सकता है कि प्रारम्भ में साधक को अपने ध्येय में केवल एक जीवन्त बौद्धिक रुचि तथा उसके प्रति एक प्रबल आकर्षण भर हो और वह किसी प्रकार की अपूर्ण साधना का ही अभ्यास करे। अथवा यह भी सम्भव है कि वह प्रयत्न तो करे, परन्तु उसे पूरी प्रकृति का समर्थन प्राप्त न हो और उसका निर्णय या झुकाव बौद्धिक प्रभाव द्वारा थोपा हुआ हो या किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति वैयक्तिक प्रेम तथा आदर द्वारा निर्धारित हो जो अपने-आपको परम देव के चरणों में निवेदित और समर्पित कर चुका है। ऐसी दशा में, अटल आत्म-निवेदन की घड़ी आने से पूर्व, तैयारी के एक लंबे काल की आवश्यकता हो सकती है। कुछ व्यक्तियों में

शायद वह घड़ी आये ही नहीं; सम्भव है कि कुछ प्रगति हो, प्रबल प्रयत्न हो, यहां तक कि पर्याप्त शुद्धि भी हो और प्रधान या परमोच्च अनुभवों से भिन्न अन्य अनेक अनुभव भी प्राप्त हों; परन्तु हो सकता है कि जीवन या तो तैयारी में ही बीत जाय या शायद, अपने भरसक पुरुषार्थ से एक विशेष अवस्था तक पहुंच चुकने के बाद, मन का प्रेरक उत्साह और बल-वेग कम पड़ जाय और वह उतने में ही सन्तुष्ट हो रहे, यहां तक कि शायद पुनः निम्नतर जीवन की ओर लौट जाय,—जिसे योग की सामान्य परिभाषा में पथभ्रष्ट होना कहते हैं। ऐसे पतन का कारण यह होता है कि ठीक केंद्र में ही कोई दोष रह जाता है। बुद्धि उस पुरुषार्थ के प्रति अनुरक्त हो गयी है और हृदय आकृष्ट, इच्छाशक्ति ने भी उसके साथ गठबन्धन कर लिया है, परन्तु सम्पूर्ण प्रकृति भगवान् पर मुग्ध नहीं हुई है। उसने केवल उस अनुराग, आकर्षण या पुरुषार्थ के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी है, एक परीक्षण किया है, यहां तक कि शायद उत्सुकतापूर्वक परीक्षण भी किया है, पर आत्मा की अलंघ्य आवश्यकता या अपरिहार्य आदर्श के प्रति पूर्ण आत्मदान नहीं किया है। परन्तु ऐसा अपूर्ण योग भी निष्फल नहीं होता, क्योंकि कोई भी ऊर्ध्वमुख प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। इस समय यह असफल भले ही हो जाय या केवल एक आरम्भिक अवस्था या प्राथमिक उपलब्धि तक ही पहुंच पाये, पर फिर भी इसने आत्मा का भविष्य निश्चित कर दिया है।

परन्तु यदि हम उस अवसर का जो हमें इस जीवन ने प्रदान किया है अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहते हैं, यदि हम उस आवाहन का जो हमें प्राप्त हुआ है पूरी तरह से प्रत्युत्तर देना चाहते हैं और यदि हम उस लक्ष्य को जिसकी हमें झलक मिली है अधिगत करना चाहते हैं, न कि केवल उस ओर थोड़ा-सा बढ़ना भर चाहते हैं, तो यह अनिवार्य है कि हमारा आत्मदान पूर्ण हो। योग में सफलता का रहस्य ही यह है कि इसे जीवन के अनेक अनुसरणीय लक्ष्यों में से कोई एक नहीं, बल्कि जीवन का एक अनन्य लक्ष्य समझा जाये।

*

अधिकतर मनुष्यों के साधारण, स्थूल एवं पाशविक जीवन से या कुछ लोगों की एक अधिक मानसिक, पर तो भी संकुचित जीवन-शैली से मुंह मोड़ कर एक अधिक महान् आध्यात्मिक जीवन और दिव्य जीवन-प्रणाली की ओर उन्मुख होना ही योग का सार है। अतएव, हमारी शक्तियों का जो भी भाग निम्न सत्ता को उसी सत्ता की भावना में सौंपा जाता है वह हमारे लक्ष्य और हमारे आत्म-उत्सर्ग का विरोधी होता है। दूसरी ओर, जब हम किसी भी शक्ति या चेष्टा को रूपान्तरित करके उसे निम्नतर की सेवा से हटाकर उच्चतर की सेवा में लगाने में सफल हो

जाते हैं तब मानों हम इस मार्ग में उतनी कमाई कर लेते हैं और अपनी उन्नति की बाधक शक्तियों के हाथ से उतना वापस छीन लेते हैं। इसी आमूलचूल रूपान्तर की कठिनाई योगमार्ग की समस्त विघ्न-बाधाओं का मूल है। कारण, हमारी सारी प्रकृति तथा इसकी परिस्थिति और हमारी सब व्यक्तिगत एवं विश्वगत सत्ता कुछ ऐसे अभ्यासों और प्रभावों से परिपूर्ण है जो हमारे आध्यात्मिक नवजन्म के प्रतिकूल हैं और हमारे पूरे दिल से किये गये पुरुषार्थ का भी विरोध करते हैं। एक विशेष अर्थ में हम उन मानसिक, स्नायविक और शारीरिक अभ्यासों के जटिल पुंज के सिवा और कुछ नहीं हैं जिन्हें हमारे कुछ प्रधान विचार, कामनाएं और संस्कार एक-दूसरे के साथ जोड़े रखते हैं। हम उन बहुत-सी छोटी-छोटी पुनरावर्ती शक्तियों का संघात हैं जिनमें कुछ-एक मुख्य कंपन होते रहते हैं। इस योग में हम ने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है वह इससे लेशभर भी कम नहीं है कि हम अपने भूत और वर्तमान के उस सारे ढांचे को तोड़ डालें जो साधारण भौतिक तथा मानसिक मनुष्य का निर्माण करता है और उसके स्थान पर अपने अन्दर दृष्टि के उस नवीन केंद्र तथा कर्मण्यताओं के उस नये संसार की रचना करें जो एक दिव्य मानवता या अतिमानव-प्रकृति का गठन करेंगे।

इसके लिये सब से पहली आवश्यक बात यह है कि हम मन की उस केंद्रीय श्रद्धा और दृष्टि को तिलांजलि दे दें जिनके अनुसार यह एक चिरअभ्यस्त बहिर्मुखी संसार-व्यवस्था और घटनाक्रम में ही अपना विकास, सुख-संतोष और रस लाभ करने में अपनी सारी शक्ति लगाये रखता है। अवश्य ही इस बहिर्मुख झुकाव के स्थान पर हमें उस गभीरतर श्रद्धा और दृष्टि को प्रतिष्ठित करना होगा जो केवल भगवान् को देखती और केवल भगवान् की ही खोज करती है। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी सारी निम्नतर सत्ता को इस नवीन श्रद्धा और महत्तर दृष्टि के सम्मुख सीस नवाने के लिये बाधित करें। हमारी सारी प्रकृति को पूर्ण समर्पण करना होगा; उसे अपने-आपको अपने एक-एक अंग और एक-एक चेष्टा समेत, उस वस्तु के प्रति सौंप देना होगा जो असंस्कृत इंद्रिय-मानस को स्थूल संसार और इसके पदार्थों की अपेक्षा बहुत ही कम सत्य प्रतीत होती है। हमारी सम्पूर्ण सत्ता को—अन्तरात्मा, मन, इंद्रिय, हृदय, इच्छाशक्ति, प्राण और शरीर को—अपनी सभी शक्तियों का अर्पण इतनी पूर्णता के साथ तथा ऐसे तरीके से करना होगा कि वह भगवान् का उपयुक्त वाहन बन जाय। पर यह कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने रूढ़ स्वभाव का, जो उसके लिये एक नियम होता है, अनुसरण करती है और मौलिक परिवर्तन का प्रतिरोध करती है। इसके विपरीत, पूर्णयोग एक ऐसी क्रान्ति के लिये प्रयास करता है जिससे बढ़कर मौलिक रूपान्तर कोई हो ही नहीं सकता। इस योग में हमें अपने अन्दर की प्रत्येक चीज को बारंबार केंद्रगत श्रद्धा, संकल्प और दृष्टि की ओर फेरना

होगा। प्रत्येक विचार और आवेग को उपनिषद् की भाषा में यह स्मरण कराना होगा कि दिव्य ब्रह्म वह है, न कि यह जिसकी लोग यहां उपासना करते हैं।[1] अपने प्राण के तन्तु-तन्तु को इस बात के लिये प्रेरित करना होगा कि आज तक जो चीजें उसकी सत्ता की प्रतिनिधि थीं उन सब को वह पूरी तरह से त्यागना स्वीकार कर ले। मन को मन ही बने रहना छोड़कर अपने से परे की किसी वस्तु से प्रकाशमान बनना होगा। प्राण को एक ऐसी विशाल, शान्त, तीव्र और शक्तिशाली वस्तु में बदल जाना होगा जो अपनी पुरानी अन्ध, आतुर एवं संकीर्ण सत्ता को या क्षुद्र आवेग एवं कामना को पहचान तक न सके। यहां तक कि शरीर को भी परिवर्तन में से गुजरना होगा और आज की तरह एक तृष्णामय पशु या बाधक रोड़ा न रहकर आत्मा का सजग सेवक और तेजस्वी यन्त्र तथा जीवन्त विग्रह बनना होगा।

इस कार्य की कठिनाई के कारण स्वभावतः ही सरल और मर्मस्पर्शी उपायों का अनुसरण किया गया है। इस कठिनाई के कारण ही धर्मों और योग-सम्प्रदायों में जगत् के जीवन को आन्तरिक जीवन से पृथक् कर देने की प्रवृत्ति पैदा हुई है जो फिर गहराई से जमकर बैठ गयी है। ऐसा अनुभव किया जाता है कि इस जगत् की शक्तियां और उनके वास्तविक कार्य या तो ईश्वर से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं रखते अथवा वे माया या और किसी अबोध्य एवं विषम कारण के वश दिव्य सत्य के अन्धकारमय विरोधी हैं। इनसे विपरीत दिशा में हैं 'सत्य' की शक्तियां और उनके आदर्श कार्य। वे चेतना के उस स्तर से, जो अपने आवेगों एवं बलों में अन्ध, अज्ञ तथा विकृत हैं और जो हमारे पार्थिव जीवन का आधार हैं, एक सर्वथा भिन्न स्तर के साथ सम्बन्ध रखते दिखायी देते हैं। इस प्रकार, ईश्वर का शुभ्र और पवित्र राज्य तथा दानव का अन्धेरा और मलिन राज्य—इन दोनों में विरोध तुरन्त दीख पड़ता है। हम अपने रेंगनेवाले पार्थिव जन्म एवं जीवन का उदात्त आध्यात्मिक ईश्वर-चेतना से विरोध अनुभव करते हैं। हमें सहज ही निश्चय हो जाता है कि जीवन का माया के वश में होना और आत्मा का शुद्ध ब्रह्म-सत्ता में एकाग्र होना—दोनों में किसी प्रकार का भी मेल नहीं साधा जा सकता। इसलिये सब से सुगम उपाय यह है कि जो चीजें पार्थिव जीवन से सम्बन्ध रखती हैं उन सब से हम मुंह मोड़ लें और केवल नग्न आत्मा के साथ सीधे ऊपर चढ़कर ऊर्ध्वस्थित आध्यात्मिक लोक में वापिस लौट जायं। इस प्रकार एक अनन्य एकाग्रता का सिद्धान्त हमें अपनी ओर आकृष्ट करता है और साथ ही आवश्यक भी जान पड़ता है। योग के कुछ विशिष्ट संप्रदायों में इसे अत्यन्त प्रमुख स्थान प्राप्त है, क्योंकि इस एकाग्रता के द्वारा हम संसार का आग्रहपूर्वक त्याग करते हुए उस एक परम देव के प्रति पूर्ण आत्म-निवेदन के लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं जिस पर हम अपने-

[1] तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। —केनोपनिषद्, १-४

आपको एकाग्र करते हैं। उस समय हमारे लिये यह आवश्यक नहीं रहता कि हम सभी निम्न चेष्टाओं को नये एवं उच्चतर आध्यात्मीकृत जीवन की कठिन दीक्षा के लिये बाध्य करें और उन्हें इसके प्रतिनिधि या कार्यवाहक शक्तियां बनने के लिये शिक्षित करें। तब इतना ही काफी होता है कि हम उन्हें समाप्त या शान्त कर दें, और, अधिक-से-अधिक, कुछ-एक ऐसी शक्तियां सुरक्षित रखें जो एक ओर शरीर के भरण-पोषण के लिये तथा दूसरी ओर भगवन्मिलन के लिये आवश्यक हों।

पूर्णयोग का असली उद्देश्य और विचार ही हमें इस सीधी, किन्तु कष्टसाध्य तथा उत्तुंग विधि को अपनाने से रोकता है। सर्वांगीण रूपान्तर की आशा हमें इस बात से रोकती है कि हम किसी छोटी पगडंडी का अवलंबन करें अथवा लक्ष्य की ओर वेगपूर्वक अग्रसर होने के लिये अपनी सब विघ्न-बाधाओं को परे फेंककर अपने को हल्का बना लें। कारण, हम तो अपनी सम्पूर्ण सत्ता को और संसार को ईश्वर के लिये जीतने चले हैं। हमने अपनी सम्भूति और सत्ता दोनों को उसे दे देने का निश्चय किया है न कि केवल किसी दूरस्थ लोक में सुदूर और निगूढ़ देवता के प्रति अमूर्त्त-सी भेंट के रूप में केवल विशुद्ध और नग्न आत्मा को प्रस्तुत करने का अथवा जो कुछ भी हम हैं उस सब को अचल कूटस्थ ब्रह्म के प्रति सर्वमेध में स्वाहा करके मिटा देने का ही निश्चय किया है। जिस भगवान् की हम उपासना करते हैं वह केवल दूरस्थ विश्वातिरिक्त सद्वस्तु नहीं, बल्कि एक अर्द्ध-आवृत अभिव्यक्ति है जो यहीं विश्व में हमारे पास और सामने विद्यमान है। जीवन भगवान् की एक ऐसी अभिव्यक्ति का क्षेत्र है जो अभी पूर्ण नहीं हुई है। यहीं, इसी जीवन में, इसी भूतल पर, इसी शरीर में,—**इहैव**, जैसा कि उपनिषदें बार-बार कहती हैं,—हमें देवाधिदेव को प्रकट करना है। उसकी परात्पर महिमा, ज्योति और मधुरिमा को हमें यहीं अपनी चेतना के लिये जीवित-जागृत बनाना है, यहीं उसे अधिगत और यथासम्भव व्यक्त करना है। अतः अपने योग में हमें जीवन को, उसका पूर्ण रूपान्तर करने के लिये, अवश्य स्वीकार करना होगा। यह स्वीकृति हमारे संघर्ष में चाहे जो भी कठिनाइयां बढ़ा दे, उनसे हमें घबराना नहीं होगा। यद्यपि हमारा रास्ता अधिक ऊबड़-खाबड़ है, प्रयत्न अधिक जटिल, विकट, और चकरा देने यहां तक कि हताश कर देनेवाला है, तथापि इसके पुरस्कार-स्वरूप एक विशेष अवस्था के बाद हमें एक महान् लाभ प्राप्त हो जाता है। जब एक बार हमारा मन केंद्रीय दृष्टि में काफी हद तक स्थिर होता है और हमारी इच्छा-शक्ति समूचे रूप में उस एक ही उद्देश्य की ओर अभिमुख हो जाती है, तब जीवन स्वयं हमारा सहायक बन जाता है। एकनिष्ठ, जागरूक एवं पूर्णतः सचेतन रहकर हम जीवन के रूपों की हर एक छोटी-मोटी बारीकी को और उसकी चेष्टाओं के सभी प्रसंगों को अपने अन्दर की यज्ञीय अग्नि के लिये हवि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। संघर्ष में विजयी होकर, हम इस जड़ सत्ता तक को विवश कर सकते हैं कि

यह पूर्णता की प्राप्ति में हमारी सहायक हो। जो शक्तियां हमारा विरोध करती हैं उन्हीं का राज्य छीन कर हम अपनी उपलब्धि को समृद्ध कर सकते हैं।

*

एक और दिशा भी है जिसमें किसी साधारण योग का साधक सरलता की शरण लेता है। वह सरलता सहायक होने पर भी संकीर्णता पैदा करनेवाली है और सर्वांगीण लक्ष्य के साधक के लिये निषिद्ध है। योगसाधना करने से हमारी सत्ता की असाधारण जटिलता, हमारे व्यक्तित्व की उद्दीपक पर साथ ही व्याकुलकारी बहुविधता और विश्वप्रकृति की विपुल असीम अस्तव्यस्तता हमारे सामने उपस्थित होती है। जो मनुष्य आत्मा की प्रच्छन्न गहराइयां और विशालताएं न जानता हुआ अपने साधारण जागरित अवस्था के स्तर पर रहता है उस साधारण मनुष्य के लिये उसकी मनोवैज्ञानिक सत्ता काफी सरल होती है। इच्छाओं का एक छोटा-सा पर कोलाहलकारी दल, कुछ एक अनुपेक्षणीय बौद्धिक एवं सौन्दर्यमूलक तृष्णाएं, कुछ रुचियां, और असंगत या विसंगत एवं अधिकतर क्षुद्र विचारों की एक प्रबल धारा के बीच कतिपय प्रभुत्वपूर्ण और प्रधान विचार, न्यूनाधिक-अनिवार्य प्राणिक आवश्यकताओं का एक समुदाय, शारीरिक स्वास्थ्य और रोग की हेरा-फेरी, एक-के-बाद-एक करके आनेवाले विकीर्ण एवं असंगत हर्ष और शोक, बार-बार होनेवाली मामूली हलचलें और परिवर्तन, मन या शरीर की बहुत विरली प्रबल गवेषणाएं और उतार-चढ़ाव, अपि च, कुछ तो मनुष्य के विचार एवं संकल्प की सहायता लेकर और कुछ इसके बिना या इसके रहते भी, प्रकृति का इन सब चीजों को एक स्थूल व्यावहारिक ढंग से, एक कामचलाऊ अव्यवस्थित क्रम के साथ व्यवस्थित करना—यही उसकी सत्ता का उपादान होता है। औसत मानव प्राणी आज भी अपनी आन्तरिक सत्ता में उतना ही असंस्कृत और अविकसित है जितना कि पुरातन और आदिम मनुष्य अपने बाह्य जीवन में था। परन्तु ज्यों ही हम अपने भीतर गहरे उतरते हैं,—और योग का अर्थ ही आत्मा की समस्त बहुविध गहराइयों में डुबकी लगाना है,—त्यों ही हमें पता चलता है कि जैसे मनुष्य ने अपने विकास में अपने-आपको बाहरी तौर पर एक समूचे जटिल जगत् से घिरा पाया है वैसे ही हम आन्तरिक तौर पर भी एक जटिल जगत् से घिरे हुए हैं, जिसे जानने तथा जीतने की जरूरत है।

यह एक अत्यन्त क्षोभजनक उपलब्धि होती है जब हमें पता चलता है कि हमारे प्रत्येक अंग का, अर्थात् बुद्धि, इच्छा-शक्ति, इन्द्रिय-मानस, प्राणिक या कामनामय आत्मा, हृदय और शरीर का मानो सचमुच ही, अपना-अपना जटिल व्यक्तित्व है और शेष अंगों से स्वतन्त्र प्राकृतिक गठन है। प्रत्येक अंग न तो अपने-आपसे मेल

खाता है, न दूसरों से और न ही उस प्रतिनिधिरूप अहं से मेल खाता है जो हमारे उथले अज्ञान पर किसी केंद्रस्थ और केंद्रस्थकारक आत्माद्वारा डाला गया प्रतिबिम्ब है। इस उपलब्धि से हमें ज्ञात होता है कि हम एक ही नहीं, अपितु अनेक व्यक्तित्वों से गठित हैं और उनमें से प्रत्येक की अपनी-अपनी मांगें और पृथक्-पृथक् प्रकृति है। हमारा अस्तित्व भद्दे रूप से गढ़ा हुआ एक गड़बड़झाला है जिसमें हमें दिव्य व्यवस्था के नियम का सूत्रपात करना है। और, साथ ही हमें यह भी पता लगता है कि जैसे बाहर से वैसे ही अन्दर से भी हम संसार में अकेले नहीं हैं और हमारे अहं का तीव्र भेद एक प्रबल अध्यारोप एवं भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; हमारा कोई अपना पथक् अस्तित्व नहीं, और वास्तव में हम भीतरी निर्जनता या एकान्त में अलग-अलग भी नहीं रहते। हमारा मन एक ऐसी मशीन है जो ग्रहण, संवर्धन एवं परिवर्तन करती है और जिसमें ऊपर से, नीचे से और बाहर से प्रतिक्षण अविरत विजातीय द्रव्य,—विषम पदार्थों का एक प्रवहमान पुंज,—लगातार प्रविष्ट होता रहता है। हमारे आधे से अधिक विचार और भाव हमारे निजी नहीं होते अर्थात् उनका रूप हम से बाहर ही तैयार होता है। कदाचित् ही किसी विचार या भाव के विषय में ऐसा कहा जा सकता हो कि वह हमारी प्रकृति का सचमुच मौलिक अंग है। अधिकांश में वे दूसरों से या परिपार्श्व से हमारे अन्दर आते हैं, चाहे कच्चे माल के रूप में आवें या तैयार सामान के रूप में। परन्तु इससे भी बड़े परिमाण में वे यहां की विश्व-प्रकृति से या अन्य लोकों तथा स्तरों और उनके जीवों, शक्तियों एवं प्रभावों से आते हैं। हमारे ऊपर और चारों ओर चेतना के अन्य स्तर भी हैं,—मन के स्तर, प्राण के स्तर और सूक्ष्म अन्नमय स्तर जो हमारे ऐहिक जीवन और कर्म को पोषण प्रदान करते हैं, अथवा जो अपने पदार्थों और शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिये हमारे जीवन और कर्म को अपना साधन बनाते हैं, इन पर दबाव डालते तथा इन्हें वश में करके अपने काम में लाते हैं। क्योंकि हमारी सत्ता जटिल है और हम विश्व की अन्तःप्रवाही शक्तियों के प्रति बहुत तरफ से खुले हुए हैं और उनके दास हैं, हमारे पृथक् मोक्ष की कठिनाई अत्यधिक बढ़ जाती है। इस सब का हमें विचार करना है, इससे निबटना है, अपनी प्रकृति के गुप्त उपादान को तथा इसकी घटक और परिणामभूत चेष्टाओं को जानना है, और फिर इस सब में एक दिव्य केंद्र, एक सच्चा सामंजस्य और ज्योतिर्मय व्यवस्था स्थापित करना भी आवश्यक है।

योग के प्रचलित मार्गों में इन संघर्षकारी उपादानों का समाधान करने के लिये जो विधि प्रयोग में लायी जाती है वह सीधी और सरल है। हमारे अन्दर की प्रधान मानसिक शक्तियों में से कोई एक भगवत्प्राप्ति के एकमात्र साधन के तौर पर चुन ली जाती है और शेष सभी को जड़वत् स्तब्ध कर दिया जाता है अथवा अपनी क्षुद्रता में घुल-घुलकर मरने दिया जाता है। भक्त सत्ता की भावमय शक्तियों को

और हृदय की तीव्र उमंगों को अधिकार में लाकर ईश्वर-प्रेम में निमग्न रहता है, मानों वह एक अनन्य एकतान अग्निशिखा के रूप में समाहित हो। वह विचार की हलचल के प्रति उदासीन होता है, बुद्धि के आग्रहों को पीछे छोड़ देता है और मन की ज्ञान-पिपासा की कुछ परवाह नहीं करता। उसे जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह केवल उसकी श्रद्धा और उसकी वे अनुप्रेरणाएं हैं जो भगवान् के साथ युक्त हृदय से फूट निकलती हैं। कर्म करने के ऐसे किसी भी संकल्प से उसे कुछ मतलब नहीं जो प्रियतम की प्रत्यक्ष पूजा में या उसके मन्दिर की सेवा में तत्पर न हो। उधर, ज्ञानवान् मनुष्य स्वेच्छापूर्वक विवेकशक्ति तथा मनन-चिन्तन में लीन रहकर मन के अन्तर्मुख प्रयत्न में स्वातंत्र्य लाभ करता है। वह आत्मा का एकाग्र चिन्तन करता है, सूक्ष्म अन्तर्विवेक से वह प्रकृति के माया-प्रपंच में आत्मा की शान्त उपस्थिति को पहचान सकने में समर्थ होता है और बोधात्मक विचार के द्वारा प्रत्यक्ष अध्यात्म अनुभव प्राप्त करता है। वह भावावेशों की क्रीड़ा के प्रति तटस्थ, वासना की आतुर पुकार के प्रति बधिर और प्राण की हलचलों से विरत रहता है। जितनी भी जल्दी ये उससे झड़ जायं और उसे स्वतन्त्र, स्थिर और शान्त—नित्य अकर्ता—बने रहने दें उतना ही अधिक वह भाग्यशाली होता है। शरीर उसके मार्ग का रोड़ा है, प्राण के व्यापार उसके शत्रु हैं; यदि उनकी मांगें कम-से-कम की जा सकें तो वह उसका महान् सौभाग्य होता है। चारों ओर के संसार से जो अनगिनत कठिनाइयां पैदा होती हैं उनके विरुद्ध बाह्य भौतिक और आन्तर आध्यात्मिक एकान्त की मजबूत बाड़ खड़ी करके वह उनका निवारण करता है। आभ्यन्तर शान्ति की दीवार की ओट में सुरक्षित रहकर वह निर्विकार रहता है और साथ ही संसार से तथा दूसरों से निर्लिप्त भी। अपने संग या भगवान् के संग एकाकी रहना, ईश्वर और उसके भक्तों के संग एकान्तवास करना, मन के एकमात्र आत्मोन्मुख प्रयत्न के घेरे में या हृदय की ईश्वरमुखी उमंग के घेरे में अपने-आपको बन्द कर लेना—यही इन योगों की प्रवृत्ति की दिशा है। इनमें सभी ग्रंथियों को काटकर समस्या हल कर ली जाती है, केवल एक केंद्रीय कठिनाई रह जाती है जो हमारी एकमात्र मनोतीत प्रेरक-शक्ति का पीछा करती है। अपनी प्रकृति की विक्षिप्त करनेवाली पुकारों के बीच हम विशेष रूप से एकांगी एकाग्रता के सिद्धान्त की शरण लेते हैं।

परन्तु पूर्णयोग के साधक के लिये यह आन्तरिक या बाह्य एकान्तवास उसकी आध्यात्मिक उन्नति में एक प्रसंग या अवसरमात्र हो सकता है। जीवन को स्वीकार करते हुए उसे केवल अपना भार ही नहीं, बल्कि अपने काफी भारी बोझ के साथ-साथ जगत् का बहुत-सा भार भी वहन करना होता है। अतएव, उसका योग दूसरों के योग की अपेक्षा बहुत अधिक संग्राममय है, किन्तु वह केवल व्यष्टिगत संग्राम नहीं, बल्कि एक विस्तृत प्रदेश पर छेड़ा गया समष्टिगत युद्ध भी है। साधक को केवल अपने अन्दर ही अहंकारमूलक असत्य और अव्यवस्था की शक्तियों पर

विजय प्राप्त नहीं करनी है, बल्कि संसार में भी इन पर विजय प्राप्त करनी है जहां कि ये इन्हीं विरोधी और अक्षय शक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रही होती हैं। इनका यह प्रातिनिधिक स्वरूप इन्हें एक बहुत अधिक दुर्दम प्रतिरोध-शक्ति ही नहीं, बल्कि पुनरावर्तन का लगभग अनन्त अधिकार भी प्रदान करता है। प्रायः ही उसे यह अनुभव होता है कि अपना व्यक्तिगत युद्ध अविचल तौर पर जीत चुकने के बाद भी उसे, एक प्रत्यक्षतः अनन्त युद्ध के रूप में, वह युद्ध बार-बार जीतना है, क्योंकि उसकी आन्तरिक सत्ता अब इतनी अधिक विस्तृत हो चुकी है कि वह न केवल साधक की अपनी सुनिश्चित आवश्यकताओं और अनुभवों से युक्त उसकी अपनी सत्ता को समाविष्ट किये हुए है, अपितु वह दूसरों की सत्ता के साथ भी एकाकार है। कारण, अब साधक अपने अन्दर ब्रह्माण्ड को धारण किये होता है।

सर्वांगीण पूर्णता के अन्वेषक को ऐसी छूट भी प्राप्त नहीं है कि वह अपने आन्तरिक अंगों के संघर्ष को मनमाने ढंग से हल कर ले। उसे विचार-लब्ध ज्ञान को संशयरहित श्रद्धा के साथ समन्वित करना होगा; प्रेम की सौम्य आत्मा को शक्ति की अदम्य मांग के साथ सुसंगत करना होगा तथा परात्पर शांति में सन्तुष्ट रहनेवाली आत्मा की निष्क्रियता को दिव्य सहायक और दिव्य योद्धा की क्रियाशीलता के साथ घुला-मिला देना होगा। अन्य आत्म-जिज्ञासुओं की भांति उसके सामने भी बुद्धि के प्रतिकूल तर्क-वितर्क, इन्द्रियों का दुर्जय वेग, हृदय के विक्षोभ, कामनाओं के दांव-घात और स्थूल शरीर का बन्धन—ये सब अपने समाधान के लिये उपस्थित होते हैं। परन्तु इनके पारस्परिक तथा आन्तरिक संघर्षों के साथ और उसके लक्ष्य में ये संघर्ष जो बाधाएं पहुंचाते हैं उनके साथ उसे और ही ढंग से निबटना होता है। इन सब विद्रोही तत्त्वों के साथ बरतते हुए उसे एक असंख्यगुना अधिक दुःसाध्य पूर्णता प्राप्त करनी है। इन्हें दिव्य उपलब्धि और अभिव्यक्ति के यन्त्र मानकर उसे इनके बेसुरे स्वरों को बदलना होगा, इनकी घनी अन्धेरी गुहाओं में आलोक पहुंचाकर इन्हें अलग-अलग तथा सम्मिलित तौर पर रूपान्तरित करना होगा, इन्हें अपने-आपमें तथा एक-दूसरे के साथ पूर्णतया सुसंगत करना होगा। किसी एक भी कण या तंतु या कंपन की उपेक्षा नहीं करनी होगी, कहीं लेशमात्र भी अपूर्णता नहीं रहने देनी होगी। एकांगी एकाग्रता, यहां तक कि इस प्रकार की अनेक क्रमागत एकाग्रताएं भी उसके जटिल कार्य की सिद्धि के लिये केवल अस्थायी साधन ही हो सकती हैं; इनकी उपयोगिता समाप्त होते ही इन्हें त्याग देना होगा। जिस कठिन सिद्धि के लिये उसे श्रम करना है वह एक सर्वांगीण एकाग्रता है।

*

निःसन्देह, किसी भी योग की पहली शर्त होती है एकाग्रता, परन्तु पूर्णयोग के

असली स्वरूप के अनुसार वह एकाग्रता सर्वग्राही होनी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि यहां भी विचारों, भावों या इच्छा-शक्ति को अलग-अलग एक ही धारणा, विषय, अवस्था, आन्तरिक गति या तत्व पर दृढ़ता से टिकाने की आवश्यकता बारंबार पड़ती है, परन्तु यह केवल एक गौण एवं सहायक प्रक्रिया है। इस योग की अधिक विशाल क्रिया है—सम्पूर्ण सत्ता को एक विशाल और बृहत् रूप में परम देव की ओर उद्घाटित करना और समग्र सत्ता को अपने सब अंगों में तथा अपनी सभी शक्तियों के द्वारा उस एक विश्वात्मा में एक स्वर से तन्मय करना। इसके बिना यह योग अपने लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता। कारण, हम उस चेतना को पाने के अभिलाषी हैं जो परम देव में निहित है और विश्व में कार्य करती है; उसीको हम अपनी सत्ता के एक-एक अंग की और अपनी प्रकृति की एक-एक चेष्टा की अधिष्ठात्री बनाना चाहते हैं। विशालता और एकाग्रता से युक्त सम्पूर्ण सत्ता और प्रकृति ही इस साधना का सारभूत स्वरूप है और यह स्वरूप ही इसकी क्रिया-प्रणाली को निश्चित करेगा।

यद्यपि समस्त सत्ता को भगवान् पर एकाग्र करना योग का स्वरूप है तथापि हमारी सत्ता इतनी जटिल वस्तु है कि हम इसे आसानी से और एकदम ऊपर नहीं उठा सकते—यह तो ऐसा होगा मानों हम सारे संसार को दो हाथों में भर लेना चाहते हों। न ही हम सारी सत्ता को एक ही साथ किसी काम में लगा सकते हैं। मनुष्य को अपने स्व-अतिक्रमण के प्रयत्न में साधारणतया अपनी प्रकृतिरूपी जटिल मशीन के किसी एक करण या शक्तिशाली उपकरण को ही अपने वश में करना होता है। इस करण या उपकरण को दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छा समझकर ही वह उसको चुनता है और उसके सामने जो लक्ष्य है उसकी ओर मशीन को चलाने के लिये इसका उपयोग करता है। इस चुनाव में विश्व-प्रकृति ही सदा उसकी मार्गदर्शिका होनी चाहिये। परन्तु यहां उसके अन्दर प्रकृति अपनी उच्चतम और विशालतम अवस्था में होनी चाहिये, न कि अपनी निम्नतम अवस्था में या किसी संकीर्ण गति के रूप में। निम्नतर प्राणिक क्रियाओं में से एक कामना ही ऐसी है जिसे प्रकृति अपने अत्यन्त शक्तिशाली उपकरण के तौर पर अपनाती है। परन्तु मनुष्य का विशेष लक्षण यह है कि वह एक मानसिक प्राणी है, केवल प्राणमय जीव नहीं। जैसे वह अपने प्राणिक आवेगों को संयत और मर्यादित करने के लिये अपने चिन्तनशील मन और इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर सकता है, वैसे ही वह उस उच्चतर प्रकाशमान मन की क्रिया को भी अवतरित कर सकता है जिसे उसके अन्दर की गभीरतर आत्मा या हृत्पुरुष की सहायता प्राप्त होती रहती है, और इस प्रकार इन महत्तर तथा विशुद्धतर प्रेरक शक्तियों के द्वारा वह इस कामनारूपी प्राणिक और सांवेदनिक आवेग का प्रभुत्व दूर कर सकता है। वह इसे पूरी तरह से वशीभूत या परिचालित कर सकता है और रूपान्तर के लिये इसे इसके दिव्य स्वामी

को सौंप भी सकता है। यह उच्चतर मन और यह गभीरतर आत्मा, अर्थात् मनुष्य के अन्दर स्थित चैत्य तत्त्व दो अंकुश हैं जिनके द्वारा भगवान् उसकी प्रकृति को अपने अधिकार में ला सकते हैं।

मनुष्य में जो उच्चतर मन है वह तार्किक मन या तर्क-बुद्धि से भिन्न है, वह एक अधिक उच्च, पवित्र, विशाल और शक्तिशाली वस्तु है। पशु प्राणमय और इन्द्रिय-प्रधान जीव है; यह कहा जाता है कि मनुष्य पशु से इस बात में भिन्न है कि उसमें बुद्धि की शक्ति है। परन्तु यह इस विषय का एक अत्यन्त संक्षिप्त, अत्यन्त अपूर्ण और भ्रामक वर्णन है। बुद्धि तो एक विशिष्ट और सीमित, प्रयोजनीय और साधनभूत क्रियामात्र है। इस क्रिया का मूल इससे एक बहुत बड़ी वस्तु में है, एक ऐसी शक्ति में है जो एक उज्ज्वलतर, बृहत्तर एवं असीम आकाश में रहती है। निरीक्षण, तर्क-वितर्क, विचार-विमर्श तथा निर्णय करनेवाली हमारी बुद्धि के तात्कालिक या मध्यवर्ती महत्त्व से भिन्न इसका सच्चा और अन्तिम महत्त्व यह है कि यह मनुष्य को, एक ऊर्ध्व ज्योति को, ठीक प्रकार से ग्रहण करने के लिये तथा उसकी सम्यक् क्रिया के लिये तैयार करती है। यह ज्योति उत्तरोत्तर मनुष्य के उस निम्न तमसाच्छन्न प्रकाश का, जो पशु का परिचालन करता है, स्थान ग्रहण करती जाती है। पशु में भी प्राथमिक बुद्धि, एक प्रकार का मन, आत्मा, इच्छा-शक्ति और तीव्र भावावेश विद्यमान हैं; इसकी मानसिक रचना, कम विकसित होते हुए भी, मनुष्य के समान ही है। परन्तु पशु की ये सब शक्तियां स्वयंचल और सर्वथा सीमित, यहां तक कि प्रायः निम्नतर स्नायविक सत्ता से निर्मित होती हैं। उसके सभी बोधों,संवेदनों और क्रियाओं पर वे स्नायविक और प्राणिक सहज-प्रेरणाएं, क्षुधाएं, कामनाएं एवं भोग्य वस्तुएं शासन करती हैं जो जीवन-आवेग और प्राणिक कामना से बंधी हुई हैं। मनुष्य भी प्राणिक प्रकृति की इस यान्त्रिक क्रिया से बंधा हुआ है, पर अपेक्षाकृत कम। वह अपने आत्म-विकास के कठिन कार्य में एक प्रबुद्ध संकल्प, प्रबुद्ध विचार और प्रबुद्ध भावों का प्रयोग कर सकता है। वह कामना के निम्न व्यापार को उत्तरोत्तर इन अधिक सचेतन और विचारवान् मार्गदर्शकों के वश में ला सकता है। जितना ही वह अपने निम्न स्व को इस प्रकार नियन्त्रित और प्रबुद्ध कर सकता है उतना ही वह मनुष्य है, पशु नहीं। परन्तु एक इससे भी महत्तर प्रबुद्ध विचार, दृष्टि और संकल्प है जो अनन्त के साथ सम्बद्ध है और जो मनुष्य के अपने संकल्प से अधिक दिव्य संकल्प का सचेतन रूप से अनुसरण करता है तथा अधिक विराट् एवं परात्पर ज्ञान के साथ गुंथा हुआ है। इस विचार, दृष्टि एवं संकल्प को जब मनुष्य अपनी कामना के स्थान पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करना शुरू कर पाता है तब समझो कि उसने अतिमानवत्व की ओर आरोहण आरम्भ कर दिया है, वह भगवान् की ओर अपनी ऊर्ध्वमुखी यात्रा में अग्रसर होने लगा है।

इसलिये हमें सब से पहले विचार, प्रकाश और संकल्प से युक्त उच्चतम मन को या गभीरतम वेदन और भाव से समन्वित अन्तरीय हृदय को,—दोनों में से किसी एक को या, यदि हम समर्थ हों तो, एक साथ दोनों को—अपनी चेतना का केंद्र बनाना होगा और फिर उसे प्रकृति को पूरी तरह से भगवान् की ओर ले जाने के लिये एक साधन के रूप में प्रयुक्त करना होगा। योग का श्रीगणेश तब होता है जब हमारा प्रबुद्ध विचार, संकल्प और हृदय सब एक स्वर से हमारे ज्ञान के एकमात्र बृहत् ध्येय की ओर, हमारे कर्म के एकमात्र प्रकाशमय तथा अनन्त स्रोत की ओर, और हमारे भाव के एकमात्र अक्षय भाजन की ओर अभिमुख होकर उसीमें एकाग्र हो जाते हैं। हमारी खोज का ध्येय होना चाहिये उस प्रकाश का मूलस्रोत जो हमारे अन्दर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, और उस शक्ति का वास्तविक उद्गम जिसे हम अपने अंगों के संचालन के लिये पुकार रहे हैं। हमारा एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये स्वयं भगवान् जिनके लिये हमारी गुप्त प्रकृति का कोई भाग, जाने-अनजाने, सदैव अभीप्सा करता है। मन को एकमेव भगवान् के विचार, बोध, दिव्य दर्शन, उद्बोधक स्पर्श और आत्म-साक्षात्कार पर ही व्यापक, बहुमुख किन्तु अनन्य भाव में एकाग्र होना चाहिये। हृदय की ज्वाला को सर्वमय और सनातन भगवान् की ओर एकाग्र भाव से प्रज्वलित होना चाहिये और, एक बार जब हम उन्हें प्राप्त कर लें तो हमें सर्वसुन्दर की उपलब्धि और दिव्यानन्द में गहरी डुबकी लगाकर निमग्न हो जाना चाहिये। भगवान् जो कुछ भी हैं उस सब की प्राप्ति और चरितार्थता में संकल्प को दृढ़ और अचल रूप से एकाग्र होना चाहिये और भगवान् हमारे अन्दर जो कुछ प्रकट करना चाहते हैं उस सबकी ओर हमें अपने संकल्प को स्वतंत्र और नमनीय रूप में खोल देना चाहिये। यही योग का त्रिविध मार्ग है।

*

परन्तु जिस वस्तु को हम अभी जानते नहीं उस पर हम अपने-आपको एकाग्र कैसे करें? और फिर भी जब तक हम भगवान् पर अपनी सत्ता की एकाग्रता को सिद्ध नहीं कर लेते तब तक हम उसका ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकते। योग में ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के प्रयत्न से हमारा मतलब यह है कि हम एकमेव पर अपने को इस प्रकार एकाग्र करें कि हमें अपने अन्दर तथा उस सब के अन्दर जिससे हम अभिज्ञ हैं उसकी उपस्थिति का जीवन्त साक्षात्कार और सतत अनुभव प्राप्त हो। इतना ही बस नहीं कि हम शास्त्रों के स्वाध्याय से या दार्शनिक तर्क-वितर्क के बल पर भगवान् को बुद्धि द्वारा समझने में अपने को उत्सर्ग कर दें। क्योंकि, अपने लंबे मानसिक श्रम के अन्त में हम चाहे वह सब कुछ जान लें जो

सनातन देव के विषय में कहा गया है, वह सब कुछ आत्मसात् कर लें जो अनन्त के सम्बन्ध में सोचा जा सकता है, फिर भी सम्भव है कि हम उसे बिल्कुल न जान पायें। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योग में प्रथम अवस्था हो सकती है, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है; यह कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसमें से गुजरना सब के लिये आवश्यक हो या जिसमें से गुजरने को सब से कहा जा सके। ध्यान-चिन्तन करनेवाली बुद्धि ज्ञान की जिस बौद्धिक प्रतिभा को प्राप्त करती है वह यदि योग की आवश्यक शर्त या अनिवार्य प्रारम्भिक प्राप्ति हो तो योग इने-गिने लोगों के सिवा शेष सब के लिये असाध्य हो जाय। ऊपर से आनेवाला प्रकाश अपना काम शुरू कर सकने के लिये हम से जिस चीज की मांग करता है वह केवल आत्मा की पुकार है और है मन के भीतर पर्याप्त मात्रा में समर्थन। वह समर्थन मन में बार-बार भगवान् का विचार करके, क्रियाशील अंगों में तदनुरूप संकल्प करके और अभीप्सा, श्रद्धा तथा हार्दिक कामना के द्वारा किया जा सकता है। यदि ये सब एकस्वर होकर या एकताल होकर न चल सकते हों तो इनमें से किसी को अग्रणी या प्रधान भी बनाया जा सकता है। विचार प्रारम्भ में असमर्थ हो सकता है और होगा ही; अभीप्सा संकीर्ण और अपूर्ण हो सकती है। श्रद्धा अल्प प्रकाशित हो सकती है, यहां तक कि, ज्ञान की चट्टान पर सुप्रतिष्ठित न होने के कारण चलायमान तथा अनिश्चित भी हो सकती है। वह आसानी से मन्द भी पड़ सकती है। यह भी सम्भव है कि वह बार-बार बुझ जाय और आंधीदार घाटी में मशाल की भांति उसे कठिनाई से फिर-फिर प्रज्वलित करना पड़े। परन्तु यदि साधक एक बार अन्तर की गहराई से दृढ़ आत्म-निवेदन कर दे और आत्मा की पुकार के प्रति जाग जाय तो ये अपूर्ण चीजें भी दिव्य प्रयोजन के लिये पर्याप्त साधन हो सकती हैं। अतएव, ज्ञानी लोग ईश्वर की ओर मनुष्य की पहुंच के मार्गों को सीमित कर देने में सदा ही संकोचशील रहे हैं। वे उसके प्रवेश के लिये तंग-से-तंग द्वार, सब से नीची और सब से अंधेरी खिड़की तथा तुच्छ-से-तुच्छ प्रवेश-पथ भी बन्द नहीं करना चाहते। कोई भी नाम, कोई भी रूप, कोई भी प्रतीक, कोई भी अर्घ्य पर्याप्त समझा गया है यदि उसके साथ आत्म-निवेदन का भाव हो; क्योंकि जिज्ञासु के हृदय में भगवान् अपने को विराजमान देखते हैं और यज्ञ को स्वीकार कर लेते हैं।

तो भी, आत्म-निवेदन को प्रेरित करनेवाला विचार-बल जितना महान् और विशाल होगा, साधक के लिये यह उतना ही उत्तम होगा; उसकी उपलब्धि सम्भवतः, उतनी ही अधिक पूर्ण और प्रचुर होगी। यदि हमें पूर्णयोग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करना है तो यह अच्छा होगा कि भगवान् के एक ऐसे विचार को लेकर चलें जो स्वयं पूर्ण हो। हृदय में एक ऐसी अभीप्सा होनी चाहिये जो किन्हीं संकुचित सीमाओं से रहित साक्षात्कार को प्राप्त करने के लिये खूब विशाल हो।

हमें केवल एक सांप्रदायिक एवं धार्मिक बहिर्दृष्टि को ही नहीं, अपितु उन सभी एकपक्षीय दार्शनिक विचारों को भी त्यागना होगा जो अनिर्वचनीय भगवान् को एक सीमित करनेवाले मानसिक सूत्र में आबद्ध कर देने का यत्न करते हैं। हमारा योग जिस शक्तिशाली विचार या प्रबल भावना को लेकर सुचारु रूप से चल सकता है वह स्वभावतः ही एक ऐसे चेतन अनन्त देव का विचार या भाव है जिसमें सब कुछ आ जाता है तथा जो सब को अतिक्रान्त कर जाता है। हमें अपनी ऊर्ध्वदृष्टि उस स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान्, पूर्ण और आनन्दमय परम एकमेव तथा परम एकत्व की ओर रखनी होगी जिसमें भूतमात्र गति करते और निवास करते हैं और जिसके द्वारा सभी मिल सकते और एक हो सकते हैं। यह 'सनातन' परमदेव आत्मा के समक्ष अपने को प्रकट करने और उसपर अपना वरदहस्त रखने में एक साथ ही वैयक्तिक भी है और निर्वैयक्तिक भी। वह वैयक्तिक है, क्योंकि वह चेतन भगवान् एवं अनन्त पुरुष है जो विश्व के असंख्य दिव्य एवं अदिव्य व्यक्तियों में अपनी एक टूटी-फूटी छाया डालता है। वह निर्वैयक्तिक है, क्योंकि वह हमें अनन्त सत्, चित् और आनन्द प्रतीत होता है और क्योंकि वह सभी सत्ताओं और सभी शक्तियों का मूल स्रोत, आधार एवं घटक है और हमारी सत्ता अर्थात् हमारे मन-प्राण-शरीर का वास्तविक उपादान है तथा हमारी आत्मा और हमारी भौतिक सत्ता है। भगवान् पर एकाग्र होने का अभ्यास करते हुए विचार के लिये केवल यही पर्याप्त नहीं है कि यह उसके अस्तित्व को बौद्धिक रूप में समझ ले अथवा उसे एक अमूर्त्त भाव या तर्कसिद्ध आवश्यक तत्त्व मान ले। इसे एक द्रष्टा का विचार बनना होगा जो घट-घटवासी भगवान् से यहीं मिल सके, जो हमारे अन्दर उसे साक्षात् कर सके और जो उसकी शक्तियों की गति का साक्षी एवं स्वामी बन सके। वह एकमेव सत् है; वह मूल और विश्वव्यापी आनन्द है जिससे यह सब जगत् बना है और जो इससे परे भी है। वह एकमेव अनन्त चेतना है जो सब चेतनाओं को गठित करती और उनकी सब गतियों को अनुप्राणित करती है। वह एकमेव असीम सत् है जो समस्त कर्म और अनुभव को धारण करता है। उसका संकल्प वस्तुओं के विकास को उनके अब तक असिद्ध पर अनिवार्य लक्ष्य तथा पूर्णता की ओर ले चलता है। उस पर हृदय अपने-आपको उत्सर्ग कर सकता है, परम प्रियतम के रूप में उसके पास पहुंच सकता है और प्रेम के सार्वभौम माधुर्य एवं आनन्द के सजीव सिन्धु के रूप में उसके अन्दर स्पन्दन और विचरण कर सकता है। क्योंकि उसका हर्ष वह गुप्त हर्ष है जो आत्मा को उसके सभी अनुभवों में आश्रय देता है और भ्रान्तिशील अहं को भी उसकी अग्नि-परीक्षाओं और संघर्षों में तब तक धारण करता है जब तक समस्त दुःख और क्लेश मिट नहीं जाते। उसका प्रेम और आनन्द उस अनन्त दिव्य प्रेमी का प्रेम और आनन्द है जो सभी वस्तुओं को उनके पथ से अपनी सुखमय एकता की ओर खींच रहा है। उसी पर संकल्प अपने को इस रूप में

दृढ़तया एकाग्र कर सकता है कि वह एक अदृश्य शक्ति है जो इसे संचालित और क्रियान्वित करती है तथा इसके बल का स्रोत है। निर्वैयक्तिकता में यह प्रेरक बल एक स्वयं-प्रकाशमान शक्ति है जो सब परिणामों को धारण करती है और स्थिरतापूर्वक तब तक कार्य करती है जब तक कि वह उन्हें सिद्ध ही नहीं कर लेती। वैयक्तिकता में यह योग का सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर है जिसे अपने संकल्प के उद्देश्य की सिद्धि में कोई चीज बाधा नहीं पहुंचा सकती। इसी श्रद्धा से जिज्ञासु को अपनी खोज और प्रयत्न शुरू करना होता है। इस भूतल पर अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ में और, सब से बढ़ कर, अगोचर को प्राप्त करने के अपने पुरुषार्थ में मनोमय मनुष्य विवश होकर श्रद्धा द्वारा ही आगे बढ़ता है। जब उसे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होगा, तब श्रद्धा दिव्य रूपसे कृतार्थ और पूर्ण होकर ज्ञान की नित्य ज्योतिशिखा में परिणत हो जायगी।

*

हमारे समस्त ऊर्ध्वमुख प्रयत्न में कामना का निम्नतर तत्त्व प्रारम्भ में स्वभावतः ही आ घुसेगा। कारण, जिसे ज्ञानदीप्त संकल्प एकमात्र करने योग्य कार्य समझता है और एकमात्र प्राप्तव्य सर्वोच्च ध्येय के रूप में खोजता है, जिसे हृदय एकमात्र आनन्दपूर्ण वस्तु जानकर गले लगाता है, उसीको हमारे अन्दर का कामनामय पुरुष भी अहंमय कामना की क्षुब्ध व्यग्रता के साथ खोजेगा। यह कामनामय पुरुष अपने-आपको सीमित और व्याहत अनुभव करता है, और क्योंकि यह सीमित है, इसलिये यह कामना और संघर्ष करता है। अपने अन्दर की इस कामनाशील प्राणशक्ति या कामनामय पुरुष को हमें शुरू में स्वीकार करना होता है, पर केवल इसलिये कि इसका रूपान्तर किया जा सके। यहां तक कि सर्वथा प्रारम्भ से ही इसे सिखाना होता है कि यह और सभी इच्छाएं त्यागकर केवल भागवत्प्राप्ति की कामना पर ही अपने-आपको एकाग्र करे। इस महत्त्वपूर्ण अवस्था के प्राप्त हो जाने के बाद इसे यह सिखाना होता है कि यह अपने पृथक् स्वार्थ के लिये नहीं, बल्कि संसारवासी ईश्वर और हमारे अन्तर्वासी भगवान् के लिये कामना करे। किसी भी व्यक्तिगत आध्यात्मिक लाभ में इसे ध्यान नहीं लगाना होगा, यद्यपि हमें निश्चय है कि समस्त सम्भव आध्यात्मिक लाभ हमें प्राप्त होगा। बल्कि, इसे उस महान् कर्म में ध्यान लगाना होगा जो हमारे और दूसरों के अन्दर किया जाना है, उस उच्च, भावी अभिव्यक्ति में जो संसार में भगवान् की एक भव्य चरितार्थता होनेवाली है, उस परम सत्य में जिसे खोजना, जीवन में लाना और सदा के लिये सिंहासनाधिरूढ़ करना है। परन्तु सबसे अन्त में इसे जो बात सिखानी होती है वह इसके लिये अत्यन्त कठिन है। वह है ध्येय की ठीक प्रकार से खोज करना। यह बात ठीक

ध्येय को खोजने की अपेक्षा भी कहीं अधिक कठिन है, क्योंकि इसे अपने अहंभावमय तरीके से नहीं, बल्कि भगवान् के तरीके के अनुसार कामना करना सीखना होगा। इसे परिपूर्णता की अपनी शैली का, लक्ष्य-प्राप्ति के अपने स्वप्न का का, उचित और काम्य के विषय में अपने विचार का वैसा आग्रह करना सर्वथा छोड़ देना होगा जैसा कि प्रबल भेदमूलक इच्छा-शक्ति सदा ही किया करती है। एक अधिक विशाल और अधिक महान् इच्छा-शक्ति को चरितार्थ करने की इसे स्पृहा करनी होगी और एक कम स्वार्थासक्त तथा कम अज्ञ पथप्रदर्शन के द्वार पर प्रतीक्षा करने को राजी होना होगा। इस प्रकार शिक्षित होकर यह कामना जो अत्यन्त चंचल है, जो मनुष्य को अत्यधिक हैरान और परेशान करती है तथा प्रत्येक प्रकार का स्खलन पैदा करती है, अपने दिव्य स्वरूप में परिणत होने योग्य बन जायगी। क्योंकि, कामना और रागावेश के भी अपने दिव्य रूप हैं। समस्त तृष्णा और दुःख से परे आत्मा की जिज्ञासा का एक विशुद्ध हर्षावेश है, आनन्द की एक ऐसी इच्छा है जो परम दिव्यानन्दों की प्राप्ति में महामहिम होकर विराजमान है।

जब एक बार हमारी एकाग्रता का ध्येय हमारे तीन प्रधान करणों अर्थात् विचार, हृदय और संकल्प को अधिकृत कर लेता है और इनसे अधिकृत हो जाता है,—यह एक ऐसी ऊंची स्थिति है जो पूरी तरह तभी प्राप्त हो सकती है यदि हमारे अन्दर की कामनात्मा दिव्य विधान के अधीन हो जाय,—तभी हमारी रूपान्तरित प्रकृति में तन-मन-जीवन की पूर्णता सफलतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। किन्तु यह कार्य अहंकार की निजी तृप्ति के लिये नहीं, वरन् इसलिये करना होगा कि सम्पूर्ण सत्ता दिव्य उपस्थिति के लिये उपयुक्त मन्दिर एवं दिव्य कर्म के लिये निर्दोष यन्त्र बन सके। दिव्य कर्म सचमुच किया ही तभी जा सकता है जब यन्त्र समर्पित और पूर्णतायुक्त होकर निःस्वार्थ कार्य के योग्य बन जाय,—और यह तब होगा जब वैयक्तिक कामना और अहंकार तो मिट जायं, पर स्वातंत्र्यप्राप्त व्यक्ति बना रहे। जब क्षुद्र अहं मिट जाता है तब भी सच्चे आध्यात्मिक पुरुष का अस्तित्व रह सकता है और उसके अन्दर ईश्वर का संकल्प, कर्म और आनन्द तथा उसकी पूर्णता और समृद्धि का आध्यात्मिक उपयोग भी बना रह सकता है। हमारे कर्म तब दिव्य होंगे और दिव्य ढंग से ही किये जायंगे। हमारा ईश्वरार्पित मन, जीवन और संकल्प तब दूसरों के अन्दर और संसार के अन्दर उस चीज को चरितार्थ करने में सहायता पहुंचाने के लिये प्रयुक्त होंगे जिसे हम अपने अन्दर चरितार्थ कर चुके हैं, अर्थात् उस सब साकार एकता, प्रेम, स्वतन्त्रता, बल, शक्ति, ज्योति और अमर आनन्द को चरितार्थ करने में प्रयुक्त होंगे जिसे हम स्वयं प्रकट कर सकते हैं और जो इहलोक में आत्मा के साहसिक कर्म का लक्ष्य है।

इस पूर्ण एकाग्रता के प्रयत्न से या कम-से-कम इसकी ओर स्थिर प्रवृत्ति से ही योग का आरम्भ होता है। यह आवश्यक है कि परम देव के प्रति अपना सर्वस्व

समर्पित करने के लिये हमारे अन्दर अडिग और अटूट संकल्प हो और हम अपनी सम्पूर्ण सत्ता तथा प्रकृति को अंग-प्रत्यंगसहित उस सनातन देव पर उत्सर्ग कर दें जो 'सर्व' है। अपनी एकमात्र काम्य वस्तु पर हमारी अनन्य एकाग्रता जितनी शक्तिशाली तथा पूर्ण होगी, एकमात्र स्पृहणीय एकमेव के प्रति हमारा आत्म-समर्पण भी उतना ही पूर्ण होगा। परन्तु यह अनन्यता, अन्त में, संसार को देखने के हमारे मिथ्या ढंग और हमारे संकल्प के अज्ञान के सिवा और किसी चीज का बहिष्कार नहीं करेगी। सनातन देव पर हमारी एकाग्रता मन के द्वारा तब पूर्ण होगी जब हम सदा-सर्वदा-सर्वत्र भगवान् के ही दर्शन करने लगेंगे—केवल उनके निज स्वरूप में तथा अपने अन्दर ही नहीं, बल्कि सब पदार्थों, प्राणियों और घटनाओं में भी। हृदय के द्वारा यह तब पूर्ण होगी जब सारे भाव भगवान् के ही प्रेम में संपुटित हो जायेंगे,—शुद्ध और निरपेक्ष भगवान् के प्रेम में ही नहीं, बल्कि संसार के अन्दर अपने सभी जीवों, शक्तियों व्यक्तियों और दृश्य पदार्थों में रहने वाले भगवान् के प्रेम में भी। संकल्प के द्वारा यह तब पूर्ण होगी जब हम सदा दैवी प्रेरणा को अनुभव और ग्रहण करेंगे तथा उसीको अपनी एकमात्र चालक शक्ति स्वीकार करेंगे। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि अहंमूलक प्रकृति के भटकनेवाले आवेगों का तथा उनमें भी अन्तिम विद्रोही, उन्मार्गगामी आवेगतक का वध करके हमने अपने को विश्वमय बना लिया है और सभी पदार्थों में हो रही एक ही दैवी क्रिया को सदा हर्षपूर्वक स्वीकार करने के लिये हम योग्य बन गये हैं। यह पूर्णयोग की पहली आधारभूत सिद्धि है।

जब हम भगवान् के प्रति व्यक्ति के पूर्ण आत्म-निवेदन की बात करते हैं तब हमारा अभिप्राय अन्त में इसी चीज से होता है, इससे कम किसी चीज से नहीं। परन्तु निवेदन की यह समग्र पूर्णता अनवरत प्रगति के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है जब कि कामना का रूपान्तर करके उसका अस्तित्व मिटाने की लंबी और कठिन प्रक्रिया निःशेष रूप से पूर्ण कर ली जाय। पूर्ण आत्मनिवेदन में पूर्ण आत्म-समर्पण भी निहित है।

*

इस योग की दो गतियां हैं जिनके बीच में एक संक्रमण-अवस्था आती है, अथवा यूं कहें कि इस योग में दो काल आते हैं,—एक तो समर्पण की क्रिया-प्रणाली का, दूसरा उसके शिखर और परिणाम का। पहले में व्यक्ति भगवान् को अपने अंगों में ग्रहण करने के लिये अपने-आपको तैयार करता है। इस सारे प्रारम्भिक काल में उसे निम्नतर प्रकृति के करणों द्वारा काम करते हुए भी ऊपर से अधिकाधिक सहायता प्राप्त करनी होती है। परन्तु इस गति की पिछली संक्रमण-

अवस्था में हमारा व्यक्तिगत और अनिवार्यतः-अज्ञानपूर्ण प्रयत्न उत्तरोत्तर कम होता जाता है और उच्चतर प्रकृति कार्य करने लगती है; अनादि परम शक्ति इस सीमित मर्त्य शरीर में अवतरित होती है और इसे उत्तरोत्तर अधिकृत तथा रूपान्तरित करती जाती है। दूसरी अवस्था में महत्तर गति निम्नतर गति का, जो पहले अनिवार्य प्रारम्भिक क्रिया थी, पूर्णतया स्थान ले लेती है। किन्तु यह केवल तभी किया जा सकता है जब हमारा आत्म-समर्पण पूर्ण हो। हमारे अन्दर का अहं-रूप पुरुष अपने बल, ज्ञान या इच्छा-शक्ति के सहारे या अपने किसी गुण के बल पर अपने-आपको भगवान् की प्रकृति में रूपान्तरित नहीं कर सकता। वह केवल इतना ही कर सकता है कि वह अपने-आपको रूपान्तर के योग्य बनाये और जो कुछ वह बनना चाहता है उसके प्रति अपना अधिकाधिक समर्पण करता जाय। जब तक अहं हमारे अन्दर क्रियाशील रहता है तब तक हमारी व्यक्तिगत क्रिया अपने स्वरूप में सत्ता के निम्नतर स्तरों का एक अंगमात्र रहती है और सदा रहेगी ही। वह अज्ञानमय या अर्द्ध-प्रकाशयुक्त अपने क्षेत्र में सीमित और अपनी शक्ति की दृष्टि से बहुत अपूर्ण रूप में प्रभावशाली होती है। यदि आध्यात्मिक रूपान्तर किंचित् भी सिद्ध करना है, और यदि अपनी प्रकृति का केवल प्रकाशप्रद परिवर्तन करना ही इष्ट नहीं है, तो हमें अपनी व्यष्टि-सत्ता में यह चमत्कारक कार्य सिद्ध करने के लिये दिव्य शक्ति का आह्वान करना होगा; कारण, उसीमें इस कार्य के लिये अपेक्षित सामर्थ्य, निर्णायक, सर्वज्ञानमय और असीम सामर्थ्य विद्यमान है। परन्तु मानवीय व्यक्तिगत क्रिया के स्थान पर भगवान् की क्रिया को पूर्णतया स्थापित करना तुरत ही पूरी तरह से सम्भव नहीं होता, क्योंकि नीचे से होनेवाला हस्तक्षेप ऊर्ध्व स्तर की क्रिया के सत्य को मिथ्या रूप दे देता है। इसलिये पहले हमें ऐसे समस्त हस्तक्षेप को बन्द या निष्फल कर देना होगा और वह भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से। जिस चीज की हमसे मांग की जाती है वह यह है कि हम निम्नतर प्रकृति की प्रवृत्तियों और मिथ्यात्वों का सतत और सदा-सर्वदा पुनः-पुनः परित्याग करें और जैसे-जैसे हमारे अंगों में सत्य की वृद्धि हो वैसे-वैसे हम इसे दृढ़ आश्रय प्रदान करते जायें। क्योंकि, भीतर प्रविष्ट होती हुई संजीवनी ज्योति, पवित्रता और शक्ति को अपनी प्रकृति में उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित करने और इनकी चरम पूर्णता साधित करने के लिये हमें इनका पोषण एवं संवर्धन करना होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इन्हें मुक्त हृदय से अंगीकार करें और जो कुछ भी इनके विपरीत एवं इनसे हीनतर या असंगत है उस सबका दृढ़तापूर्वक परित्याग करें।

अपने-आपको तैयार करने की प्रथम गति में अर्थात् व्यक्तिगत प्रयत्न के काल में जिस विधि का हमें प्रयोग करना है वह सम्पूर्ण सत्ता की एकाग्रता है,—उस भगवान् पर एकाग्रता है जिसे वह पाना चाहती है और, इसके स्वाभाविक परिणाम के तौर पर, उस सबका सतत परित्याग एवं उस सबका परिवर्जन है जो भगवान्

का सच्चा सत्य नहीं है। इस दृढ़ परित्याग का परिणाम उस सबका समग्र निवेदन होगा जो कुछ कि हम हैं और जो कुछ हम सोचते, अनुभव करते और कार्य करते हैं। आत्म-निवेदन क्रमशः सर्वोच्च देव के प्रति समग्र आत्मदान में परिसमाप्त होगा, क्योंकि आत्म-निवेदन का शिखर और उसकी पूर्णता का चिह्न है सम्पूर्ण प्रकृति का सर्वसंग्राहक निरपेक्ष समर्पण। योग की दूसरी अवस्था में, जो मानवीय और दिव्य क्रिया के बीच की संक्रमण-अवस्था है, मानवीय क्रिया के स्थान पर एक अन्य क्रिया ऊर्ध्व में अधिष्ठित होगी। वह है दिव्य शक्ति के प्रति वृद्धिशील, विशुद्ध और जागरूक नमनशीलता, उसके प्रति अधिकाधिक प्रकाशयुक्त दिव्य प्रत्युत्तर— किन्तु उसीके प्रति, किसी अन्य के प्रति नहीं। इसके फलस्वरूप, ऊपर से आयेगा एक महान् और सचेतन चमत्कारी क्रिया का वर्धमान प्रवाह। अन्तिम अवस्था में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं होता, न कोई नियत विधि और न कोई बंधी साधना ही होती है। प्रयत्न और तपस्या का स्थान एक सहज-स्वाभाविक विकास ले लेता है। विशुद्ध और पूर्णता-प्राप्त पार्थिव प्रकृति की कली में से भगवान्‌रूपी कुसम शक्तिशाली और आनन्दप्रद ढंग से स्वयमेव विकसित होने लगता है। योग की क्रिया के स्वाभाविक क्रम यही हैं।

ये गतियां वास्तव में सदा तथा अटल रूप में इस प्रकार एक कठोर आनुक्रमिक रूप में बंधी हुई नहीं होतीं। पहली अवस्था की समाप्ति से पूर्व दूसरी अवस्था कुछ-कुछ शुरू हो जाती है। पहली अवस्था अंशतः तब तक जारी रहती है जब तक दूसरी पूर्ण नहीं हो लेती। इस बीच चरम दिव्य क्रिया समय-समय पर आश्वासन के रूप में अभिव्यक्त हो सकती है और बाद में वह हमारे अन्दर अन्तिम तौर पर प्रतिष्ठित तथा हमारी प्रकृति के लिये सहज-स्वाभाविक हो जाती है। वैसे तो सदा ही व्यक्ति की अपेक्षा कोई उच्चतर और महत्तर शक्ति उसके पीछे विद्यमान होती है जो उसके वैयक्तिक प्रयत्न और पुरुषार्थ में भी उसका पथ-प्रदर्शन करती है। पर्दे की ओट में प्रच्छन्न इस महत्तर पथप्रदर्शन के प्रति वह कितनी ही बार सचेतन भी हो सकता है, यहां तक कि कुछ काल के लिये पूर्ण रूप से और अपनी सत्ता के कुछ भागों में तो नित्य रूप से भी सचेतन रह सकता है। बल्कि, यह सचेतनता उसे बहुत पहले भी प्राप्त हो सकती है, जब कि उसकी सम्पूर्ण सत्ता अपने सभी अंगों में निम्नतर परोक्ष नियंत्रण की अपवित्रता से अभी मुक्त भी नहीं हुई होती। यहां तक कि वह प्रारम्भ से ही इस प्रकार सचेतन रह सकता है; उसके अन्य अंग न भी सही, किन्तु उसका मन और हृदय दोनों योग में सर्वप्रथम पदार्पण करने के बाद से ही इस प्रच्छन्न शक्ति के अभिभूतकारी और तीक्ष्ण पथ-प्रदर्शन का प्रत्युत्तर एक प्रकार की प्रारम्भिक पूर्णता के साथ दे सकते हैं। परन्तु संक्रमण-अवस्था जैसे-जैसे आगे बढ़ती और अपनी समाप्ति के निकट पहुंचती है वैसे-वैसे जो लक्षण उसे अन्य अवस्थाओं से अधिकाधिक स्पष्ट रूप में

पृथक् करता है वह इस महान् प्रत्यक्ष नियन्त्रण की सतत, पूर्ण एवं समरस क्रिया है। यह महत्तर एवं दिव्यतर पथ-प्रदर्शन हमारे लिये व्यक्तिगत नहीं होता, इसकी प्रधानता इस बात का चिह्न होती है कि प्रकृति समग्र आध्यात्मिक रूपान्तर के लिये उत्तरोत्तर परिपक्व हो रही है। यह इस बात का अचूक चिह्न होती है कि आत्म-निवेदन केवल सिद्धान्ततः ही स्वीकार नहीं किया गया है अपितु वह क्रिया और शक्ति में भी पूर्णतः चरितार्थ हो गया है। परम देव ने अपनी चमत्कारमयी ज्योति, शक्ति और आनन्द के चुने हुए मानवीय आधार के सिर पर अपना ज्योतिर्मय हस्त धर दिया है।

अध्याय ३

कर्म में आत्म-समर्पण—गीता का मार्ग

केवल दूरस्थ, नीरव या उन्नीत आनन्द-विभोर पारलौकिक जीवन ही नहीं, वरन् समस्त जीवन हमारे योग का क्षेत्र है। सोचने, देखने, अनुभव करने और रहने की हमारी स्थूल, संकीर्ण और खंडात्मक मानवीय शैली का गंभीर एवं विशाल अध्यात्म-चेतना में तथा एक सर्वांगपूर्ण आन्तरिक एवं बाह्य अस्तित्व में रूपान्तर और हमारे सामान्य मानव-जीवन का दिव्य जीवन-प्रणाली में रूपान्तर इसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस परम लक्ष्य का साधन है—हमारी सम्पूर्ण प्रकृति का अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप देना। हमें अपनी प्रत्येक चीज अपने अन्तःस्थ ईश्वर, विश्वमय 'सर्व' और विश्वातीत परमात्मा को समर्पित कर देनी होगी। अपने संकल्प, अपने हृदय और अपने विचार को उस एक और बहुरूप भगवान् पर पूर्णरूपेण एकाग्र करना और अपनी सम्पूर्ण सत्ता को निःशेष रूप से भगवान् पर ही न्योछावर कर देना इस योग की एक निर्णायक गति है, यह अहं का उस 'तत्' की ओर मुड़ना है जो उससे अनन्तगुना महान् है, यही उसका आत्मदान और अनिवार्य समर्पण है।

मानव प्राणी का जीवन, जैसा कि यह साधारणतया बिताया जाता है, नाना तत्त्वों के अर्द्ध-स्थिर, अर्द्ध-तरल समूह से बना है। वे तत्त्व हैं—अत्यन्त अपूर्णतया नियन्त्रित विचार, इंद्रियानुभव, संवेदन, भाव, कामनाएं, सुखोपभोग तथा कर्म जो अधिकतर रूढ़िबद्ध एवं पुनरावर्ती और केवल अंशतः प्रभावशाली और विकसनशील होते हैं, पर जो सबके सब उथले अहं के इर्द-गिर्द केंद्रित रहते हैं। इन (विचार, इंद्रियानुभव आदि) क्रियाओं की गति का सम्मिलित परिणाम वह आन्तरिक विकास होता है जो कुछ अंश में तो इसी जीवन में प्रत्यक्ष और फलप्रद होता है और कुछ अंश में भावी जन्मों में होनेवाली प्रगति के लिये बीज का काम करता है। सचेतन सत्ता की यह प्रगति, उसके उपादानभूत अंगों का विस्तार, उत्तरोत्तर आत्म-प्रकाशन और अधिकाधिक समस्वरित विकास ही मानव के अस्तित्व एवं जीवन का सम्पूर्ण अर्थ और समस्त सार है। चेतना के इस सार्थक विकास के लिये ही मनुष्य ने, मनोमय प्राणी ने इस स्थूल शरीर में प्रवेश किया है। यह विकास विचार, इच्छाशक्ति, भाव, कामना, कर्म और अनुभव की सहायता से होता है और अन्त में परम दिव्य आत्म-ज्ञान प्राप्त करा देता है। इसके सिवा शेष सब कुछ सहायक और गौण है अथवा आनुषंगिक और निष्प्रयोजन है; केवल वही चीज आवश्यक है जो मनुष्य की प्रकृति के विकास में और उसकी अन्तरात्मा एवं आत्मा

की उन्नति में अथवा यूं कहें कि उनकी उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति और उपलब्धि में पोषक और सहायक हो।

हमारे योग का लक्ष्य बस इह-जीवन के इस परम लक्ष्य को शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त करना है। यह योग प्राकृतिक विकास की मन्द तथा अस्त-व्यस्त प्रगति की साधारण, लम्बी विधि को छोड़ देता है। प्राकृतिक विकास तो, अधिक-से-अधिक, एक प्रच्छन्न अनिश्चित-सी उन्नति ही होता है; यह कुछ हद तक परिस्थिति के दबाव के द्वारा और कुछ हद तक लक्ष्यहीन शिक्षा और अर्द्ध-प्रकाशमान सोद्देश्य प्रयत्न के द्वारा सम्पन्न होता है। यह सुयोगों का अंशतः प्रबुद्ध और अर्द्ध-यान्त्रिक उपयोगमात्र होता है जिसमें अनेक भूलें, पतन और पुनः-पतन भी होते हैं। इसका एक बहुत बड़ा भाग प्रत्यक्ष परिस्थितियों और आकस्मिक घटनाओं एवं उनके परिवर्तनों से गठित होता है, यद्यपि इसके पीछे गुप्त दिव्य सहायता एवं पथ-प्रदर्शन अवश्य छिपा रहता है। योग में हम इस अस्त-व्यस्त, केंकड़े की-सी टेढ़ी चाल के स्थान पर एक वेगशाली, सचेतन और आत्म-प्रेरित विकास-प्रक्रिया को प्रतिष्ठित करते हैं जो हमें यथासम्भव सीधे ही अपने लक्ष्य की ओर ले जा सकती है। एक ऐसे विकास में जो सम्भवतः असीम हो सकता है कहीं किसी लक्ष्य की चर्चा करना एक दृष्टि से अशुद्ध होगा। फिर भी हम अपनी वर्तमान उपलब्धि से परे एक तात्कालिक लक्ष्य एवं दूरतर उद्देश्य की कल्पना कर सकते हैं जिसके लिये मनुष्य की आत्मा अभीप्सा कर सकती है। एक नूतन जन्म की सम्भावना का द्वार उसके सामने खुला पड़ा है; वह सत्ता के एक उच्चतर और विशालतर स्तर में आरोहण कर सकता है और वह स्तर उसके अंगों का रूपान्तर करने के लिये यहां अवतरित हो सकता है। एक विस्तृत और प्रदीप्त चेतना का उदय होना भी सम्भव है जो उसे मुक्त आत्मा और पूर्णताप्राप्त शक्ति बना देगी और यदि वह चेतना व्यक्ति के परे भी सब ओर व्याप्त हो जाय तो वह दिव्य मानवता अथवा नवीन, अतिमानसिक और अतएव अतिमानवीय जाति की भी रचना कर सकती है। इसी नूतन जन्म को हम अपना लक्ष्य बनाते हैं। दिव्य चेतना में विकसित होना, केवल आत्मा को ही नहीं, अपितु अपनी प्रकृति के सभी अंगों को पूर्ण रूप से दिव्यता में रूपान्तरित करना हमारे योग का सम्पूर्ण प्रयोजन है।

*

हमारी योग साधना का उद्देश्य है—सीमित एवं बहिर्मुख अहं को बहिष्कृत कर देना और उसके स्थान पर ईश्वर को प्रकृति के नियन्ता अन्तर्यामी के रूप में सिंहासनासीन करना। इसका तात्पर्य है—सब से पहले कामना को उसके अधिकार से च्युत कर देना और फिर उसके सुख को प्रधान मानवीय प्रेरक भाव के रूप में कदापि स्वीकार न करना। आध्यात्मिक जीवन अपना पोषण कामना से नहीं, बल्कि

मूल सत्ता के विशुद्ध और अहंतारहित आध्यात्मिक आनन्द से प्राप्त करेगा। हमारी उस प्राणिक प्रकृति को ही नहीं जिसकी निशानी कामना है, बल्कि हमारी मानसिक सत्ता को भी नूतन जन्म तथा रूपान्तरकारी परिवर्तन का अनुभव करना होगा। हमारे विभक्त, अहंपूर्ण, सीमित और अज्ञानयुक्त विचार एवं बोध को विलुप्त हो जाना होगा और इसके स्थान पर उस अन्धकाररहित दिव्य प्रकाश की एक व्यापक एवं अविकल धारा को प्रवाहित होना होगा जिसका अन्तिम और सर्वोच्च रूप एक ऐसी स्वाभाविक स्वयं-सत् सत्य-चेतना हो जिसमें अन्धकार में खोजनेवाला अर्द्ध-सत्य तथा स्खलनशील भ्रान्ति न हो। हमारे विमूढ़, व्याकुल, अहं-केंद्रित तथा क्षुद्र-भाव-प्रेरित संकल्प एवं कर्म का अन्त हो जाना चाहिये और इसके स्थान पर एक तीव्र-प्रभावशाली, ज्ञानपूर्वक स्वयंचालित और भगवान् से प्रेरित एवं अधिष्ठित शक्ति की पूर्ण क्रिया को प्रतिष्ठित होना चाहिये। हमारे सभी कार्यों में उस परम निर्वैयक्तिक, अविचल और निर्भ्रान्त संकल्प को दृढ़ और सक्रिय होना चाहिये जो भगवान् के संकल्प के साथ सहज और शान्त एकत्व रखता हो। हमें अपने दुर्बल अहंकारमय भावों की अतृप्तिकर ऊपरी क्रीड़ा का बहिष्कार कर इसके स्थान पर उस निभृत, गंभीर और विशाल अन्तरस्थ चैत्य हृदय का आविर्भाव करना होगा जो उन भावों के पीछे छिपा हुआ अपने मुहूर्त्त की प्रतीक्षा कर रहा है। इस अन्तरीय हृदय से—जिसमें भगवान् का वास है—प्रेरित होकर हमारे सब भाव और अनुभव भागवत प्रेम और बहुविध आनन्द की दोहरी उमंग की प्रशान्त और प्रगाढ़ गतियों में रूपान्तरित हो जायेंगे। यही है दिव्य मानवता या विज्ञानमय जाति का लक्षण। यही—न कि मानवीय बुद्धि और कर्म की अतिरंजित किंवा उदात्तीकृत शक्ति—उस अतिमानव का रूप है जिसे अपने योग के द्वारा विकसित करने के लिये हमें आह्वान प्राप्त हुआ है।

साधारण मानव जीवन में बहिर्मुख कर्म स्पष्ट ही हमारे जीवन का तीन-चौथाई या इससे भी बड़ा भाग होता है; केवल कुछ-एक असाधारण व्यक्ति ही,—जैसे ऋषि-मुनि, विरले मनीषी, कवि और कलाकार,—अपने भीतर अधिक रह सकते हैं। निःसन्देह ये, कम-से-कम अपनी प्रकृति के अन्तरतम अंगों में, अपने-आपको बाह्य कर्म की अपेक्षा आन्तरिक विचार और भाव में ही अधिक गढ़ते हैं। परन्तु इन आन्तर और बाह्य पक्षों में से कोई भी दूसरे से पृथक् होकर पूर्ण जीवन के रूप की रचना नहीं करेगा, वरंच जब आन्तर और बाह्य जीवन पूर्णतः एकीभूत होकर अपने से परे की किसी वस्तु की लीला में रूपान्तरित हो जायंगे तब उनकी वह समरसता ही पूर्ण जीवन को मूर्त्त रूप देगी। अतएव, कर्मयोग,—अर्थात् केवल ज्ञान और भाव में ही नहीं, अपितु अपने संकल्प और कार्यों में भी भगवान् के साथ मिलन,—पूर्णयोग का एक अनिवार्य अंग है, एक ऐसा आवश्यक अंग है जिसके महत्त्व का वर्णन नहीं हो सकता। वास्तव में, हमारे विचार और भाव का

रूपान्तर एक पंगु उपलब्धि ही रहेगा यदि इसके साथ हमारे कार्यों की भावना और बाह्य रूप का भी एक अनुरूप रूपान्तर न हो जाय।

परन्तु यदि यह पूर्ण रूपान्तर संपन्न करना है तो हमें अपने मन और हृदय की भांति अपने कार्यों और बाह्य चेष्टाओं को भी भगवान् के चरणों में समर्पित करना होगा, अपनी कार्य करने की सामर्थ्यों का अपने पीछे विद्यमान महत्तर शक्ति के हाथों में समर्पण करने के लिये सहमत होना होगा तथा इस समर्पण को उत्तरोत्तर सम्पन्न भी करना होगा। हम ही कर्ता और कर्मी हैं इस भाव को मिटा देना होगा। जो भागवत संकल्प इन सम्मुखीन प्रतीतियों के पीछे छिपा हुआ है, उसीके हाथों में हमें सब कुछ सौंप देना होगा, ताकि वह इस सबका अधिक सीधे तौर से उपयोग कर सके, क्योंकि उस अनुमन्ता संकल्प के द्वारा ही हमारे लिये कोई भी कार्य करना सम्भव होता है। एक निगूढ़ शक्तिशाली देव ही हमारे कार्यों का सच्चा स्वामी और अधिष्ठाता साक्षी है, और केवल वही हमारे अहंकार से उत्पन्न अज्ञान, कालुष्य और विकार में भी हमारे कर्मों का सम्पूर्ण मर्म और अन्तिम प्रयोजन जानता है। हमें अपने सीमित और विकृत अहंभावमय जीवन और कर्मों का उस महत्तर दिव्य जीवन, संकल्प और बल के विशाल एवं प्रत्यक्ष प्रवाह में पूर्ण रूपान्तर साधित करना होगा जो हमें इस समय गुप्त रूप में धारण कर रहा है। इस महत्तर संकल्प और बल को हमें अपने अन्दर सचेतन और स्वामी बनाना होगा; इसे आज की तरह केवल अतिचेतन और धारण करनेवाली और अनुमति देनेवाली शक्ति ही नहीं बने रहना होगा। जो सर्वज्ञ शक्ति और सर्वशक्तिमान् ज्ञान आज गुप्त है उसका पूर्ण ज्ञानमय प्रयोजन एवं प्रक्रिया हमारे अन्दर बिना विकृत हुए संचरित हो—ऐसी अवस्था हमें प्राप्त करनी होगी। वह शक्ति और ज्ञान हमारी समस्त रूपान्तरित प्रकृति को अपनी उस शुद्ध और निर्बाध प्रणालिका में परिणत कर देंगे जो सहर्ष स्वीकृति देने और भाग लेनेवाली होगी। यह पूर्ण निवेदन तथा समर्पण और इससे फलित होनेवाला यह समग्र रूपान्तर तथा (ज्ञान और बल का) स्वतंत्र संचार सर्वांगीण कर्मयोग का समस्त मूल साधन और अन्तिम लक्ष्य हैं।

उन लोगों के लिये भी जिनकी पहली स्वाभाविक गति चिन्तनात्मक मन और उसके ज्ञान का अथवा हृदय और उसके भावों का पूर्ण निवेदन तथा समर्पण और फलतः उनका पूर्ण रूपान्तर होती है, कर्मों का अर्पण इस रूपान्तर के लिये एक आवश्यक अंग है। अन्यथा, पारलौकिक जीवन में वे ईश्वर को भले ही पा लें पर इह-जीवन में वे भगवान् को अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगे, इह-जीवन उनके लिये निरर्थक, अदिव्य और असंगत वस्तु ही रहेगा। वह सच्ची विजय उनके भाग्य में नहीं है जो हमारे पार्थिव जीवन की पहेली की कुंजी होगी; उनका प्रेम आत्म-विजयी एवं परिपूर्ण प्रेम नहीं होगा, न उनका ज्ञान ही एक समग्र चेतना और सर्वांगीण ज्ञान होगा। निःसन्देह, यह सम्भव है कि केवल ज्ञान या ईश्वराभिमुख भाव को लेकर या

इन दोनों को एक साथ लेकर योग प्रारम्भ किया जाय और कर्मों को योग की अन्तिम गति के लिये रख छोड़ा जाय। परन्तु इसमें हानि यह है कि हम आन्तरिक अनुभव में सूक्ष्म वृत्तिवाले बनकर तथा अपने बाह्य-सम्बन्धशून्य आन्तरिक अंगों में बन्द रहते हुए अतीव एकांगी रूप में भीतर-ही-भीतर निवास करने की ओर आकृष्ट हो सकते हैं। सम्भव है कि वहां हम अपने आध्यात्मिक एकान्तवास के कठोर आवरण से आच्छादित हो जायें और फिर बाद में अपनी आन्तरिक जीवनधारा को सफलतापूर्वक बाह्य जीवन में प्रवाहित करना और उच्चतर प्रकृति में हमने जो सिद्धि प्राप्त की है उसे बाह्य जीवन के क्षेत्र में व्यवहृत करना हमें कठिन मालूम होने लगे। जब हम इस बाह्य राज्य को भी अपनी आन्तरिक विजयों में जोड़ने की ओर प्रवृत्त होंगे, तब हम अपने को एक ऐसी शुद्ध रूप से आन्तरिक क्रिया के अत्यधिक अभ्यस्त पायेंगे जिसका जड़ स्तर पर कोई प्रभाव नहीं होगा। तब बहिर्जीवन और शरीर का रूपान्तर करने में हमें बड़ी भारी कठिनाई होगी। अथवा हम देखेंगे कि हमारा कर्म अन्तर्ज्योति के साथ मेल नहीं खाता; यह अभी तक पुराने अभ्यस्त भ्रान्त पथों का ही अनुसरण करता है और पुराने सामान्य अपूर्ण प्रभावों के अधीन है; हमारा अन्तरस्थ सत्य एक कष्टकर खाई के द्वारा हमारी बाह्य प्रकृति की अज्ञानपूर्ण क्रिया से पृथक् होता चला जाता है। यह अनुभव प्रायः ही होता है, क्योंकि ऐसी एकांगी पद्धति में प्रकाश और बल स्वयंपूर्ण बन जाते हैं और अपने-आपको जीवन में प्रकट करने या पृथ्वी और इसकी प्रक्रियाओं के लिये नियत भौतिक साधनों का प्रयोग करने को इच्छुक नहीं होते। यह ऐसा ही है मानो हम किसी अन्य विशालतर एवं सूक्ष्मतर जगत् में रह रहे हों और जड़ तथा पार्थिव सत्ता पर हमारा दिव्य प्रभुत्व बिल्कुल भी न हो या शायद किसी प्रकार का भी प्रभुत्व नहीं के बराबर हो।

फिर भी प्रत्येक को अपनी प्रकृति के अनुसार चलना चाहिये और यदि हमें अपने स्वाभाविक योगमार्ग का अनुसरण करना है तो उसमें कुछ कठिनाइयां तो सदा ही आयेंगी जिन्हें कुछ काल के लिये स्वीकार करना पड़ेगा। योग, अन्ततः, मुख्य रूप में आन्तर चेतना और प्रकृति का परिवर्तन है, पर यदि हमारे अंगों का सन्तुलन ही ऐसा हो कि प्रारम्भ में यह परिवर्तन कुछ अंगों में ही करना सम्भव हो और शेष को अभी ऐसे ही छोड़कर बाद में अपने हाथ में लेना आवश्यक हो तो हमें इस प्रक्रिया की प्रत्यक्ष अपूर्णता को स्वीकार करना ही होगा। तथापि पूर्णयोग की आदर्श क्रियाप्रणाली एक ऐसी विकासधारा होगी जो अपनी प्रक्रिया में प्रारम्भ से ही सर्वांगीण और अपनी प्रगति में अखंड तथा सर्वतोमुखी हो। कुछ भी हो, इस समय हमारा प्रमुख विषय उस योग-मार्ग का निरूपण करना है जो अपने लक्ष्य और सम्पूर्ण गतिधारा की दृष्टि से सर्वांगीण हो, किन्तु जो कर्म से प्रारम्भ करे और कर्मद्वारा ही अग्रसर हो, पर साथ ही हर सीढ़ी पर एक जीवनदायी दिव्य प्रेम से

अधिकाधिक प्रेरित और एक सहायक दिव्य ज्ञान से अधिकाधिक आलोकित हो।

*

आध्यात्मिक कर्मों का सब से महान् दिव्य सत्य जो आज तक मानव-जाति के लिये प्रकट किया गया है, अथवा कर्मयोग की पूर्णतम पद्धति जो अतीत में मनुष्य को विदित थी, भगवद्गीता में पायी जाती है। महाभारत के उस प्रसिद्ध उपाख्यान में कर्मयोग की महान् मूलभूत रूपरेखा अनुपम अधिकार के साथ और विश्वस्त अनुभव की निर्भ्रान्त दृष्टि के साथ सदा के लिये अंकित कर दी गयी है। यह ठीक है कि केवल उसका मार्ग ही, जैसा कि पूर्वजों ने इसे देखा था, पूरी तरह खोलकर बताया गया है; पूर्ण चरितार्थता या सर्वोच्च रहस्य के विकास का संकेत ही दिया गया है, उसे खोलकर नहीं रखा गया है; उसे परम रहस्य के अव्यक्त अंश के रूप में छोड़ दिया गया है। इस मौन के कारण स्पष्ट हैं, क्योंकि चरितार्थता अनुभव का विषय होती है और कोई भी उपदेश इसे प्रकट नहीं कर सकता। इसका वर्णन किसी ऐसे ढंग से नहीं किया जा सकता जिसे मन सचमुच में समझ सके, क्योंकि मन को वह प्रकाशमय रूपान्तरकारी अनुभव प्राप्त ही नहीं है। इसके अतिरिक्त जो आत्मा उन चमकीले द्वारों को पार कर अन्तर्ज्योति की ज्वाला के सम्मुख पहुंच गयी है उसके लिये समस्त मानसिक तथा शाब्दिक वर्णन जितना क्षुद्र, अपर्याप्त तथा प्रगल्भ होता है उतना ही निःसार भी होता है। सभी दिव्य सिद्धियों का निरूपण हमें विवश होकर मनोमय मनुष्य के साधारण अनुभव के अनुरूप रचित भाषा की अनुपयुक्त और भ्रामक शब्दावली में ही करना पड़ता है। इस प्रकार वर्णित होने के कारण वे सिद्धियां केवल उन्हींको ठीक-ठीक समझ में आ सकती हैं जो पहले से ही ज्ञानी हों और, ज्ञानी होने के कारण, इन निःसार बाह्य शब्दों को एक परिवर्तित, आन्तरिक तथा रूपान्तरित अभिप्राय प्रदान कर सकते हों। वैदिक ऋषियों ने प्रारम्भ में ही बल देकर कहा था कि परम ज्ञान के शब्द केवल उन्हीं के लिये अर्थ-द्योतक होते हैं जो पहले से ही ज्ञानी हों। गीता ने अपने गूढ़ उपसंहार के रूप में जो मौन साध लिया है उससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जिस समाधान की हम खोज कर रहे हैं उस तक वह नहीं पहुंच पायी है; वह उच्चतम आध्यात्मिक मन की सीमाओं पर ही रुक जाती है और उन्हें पार कर अतिमानसिक प्रकाश की दीप्तियों तक नहीं पहुंचती। फिर भी उसका प्रधान रहस्य है—हृदयस्थ ईश्वर के साथ केवल स्थितिशील ही नहीं, वरन् क्रियाशील एकत्व और हमारे दिव्य मार्गदर्शक तथा हमारी प्रकृति के स्वामी एवं अन्तर्वासी के प्रति पूर्ण समर्पण का सर्वोच्च गुह्य ज्ञान। यह समर्पण अतिमानसिक रूपान्तर का अनिवार्य साधन है और फिर अतिमानसिक परिवर्तन से ही सक्रिय एकत्व सम्भव होता है।

तब गीताद्वारा प्रतिपादित कर्मयोग-प्रणाली क्या है? इसके मुख्य सिद्धान्त या

इसकी आध्यात्मिक पद्धति का हम संक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं कि वह चेतना की दो विशालतम और उच्चतम अवस्थाओं या शक्तियों, अर्थात् समता और एकता का मिलन है। इसकी पद्धति का सार है भगवान् को अपने जीवन में तथा अपनी अन्तरात्मा और आत्मा में निःशेष रूप से अंगीकार करना। व्यक्तिगत कामना के आन्तरिक त्याग से समता प्राप्त होती है। इससे भगवान् के प्रति हमारा पूर्ण समर्पण साधित होता है तथा हमें विभाजक अहं से मुक्ति पाने में सहायता मिलती है और यह मुक्ति ही हमें एकत्व प्रदान करती है। परन्तु यह एकत्व शक्ति की सक्रिय अवस्था में होना चाहिये न कि केवल स्थितिशील शान्ति या निष्क्रिय आनन्द की अवस्था में। गीता हमें कर्मों के और प्रकृति की पूर्ण वेगमयी शक्तियों के भीतर भी आत्मा की स्वतन्त्रता का आश्वासन देती है, पर केवल तभी यदि हम अपनी समस्त सत्ता की उस सत्ता के प्रति अधीनता स्वीकार कर लें जो पृथक् और सीमित करनेवाले अहं से उच्चतर है। यह एक ऐसी सर्वांगपूर्ण शक्तिमय सक्रियता को प्रस्थापित करती है जो प्रशान्त निष्क्रियता पर आधारित हो। इसका रहस्य है—एक ऐसा बृहत्तम कर्म जो अचल शान्ति के आधार पर दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो अर्थात् परम अन्तरीय निश्चल-नीरवता की एक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति हो।

यह संसार एक एवं अखंड, नित्य, विश्वातीत और विश्वमय ब्रह्म है जो विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों में विभिन्न प्रतीत होता है। पर वह केवल प्रतीति में ही ऐसा है, क्योंकि वास्तव में वह सदा सभी पदार्थों और प्राणियों में एक तथा 'सम' है और भिन्नता तो केवल ऊपरी वस्तु है। जब तक हम अज्ञानमय प्रतीति में रहते हैं तब तक हम 'अहं' हैं और प्रकृति के गुणों के अधीन रहते हैं। बाह्य आकारों के दास बने हुए, द्वंद्वों से बंधे हुए और शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, सौभाग्य-दुर्भाग्य एवं जय-पराजय के बीच ठोकरें खाते हुए हम लाचार माया के पहिये के लोहमय या स्वर्णलोहमय घेरे पर चक्कर काटते रहते हैं। सबसे अच्छी अवस्था में भी हमारी स्वतन्त्रता अत्यन्त तुच्छ और सापेक्ष ही होती है और उसीको हम अज्ञानपूर्वक अपनी स्वतन्त्र इच्छा कहते हैं। पर मूलतः वह मिथ्या होती है, क्योंकि प्रकृति के गुण ही हमारी व्यक्तिगत इच्छा में से अपने-आपको व्यक्त करते हैं; प्रकृति की शक्ति ही हमें ज्ञानपूर्वक वश में रखती हुई, पर हमारी समझ और पकड़ से बाहर रहकर यह निर्धारित करती है कि हम क्या इच्छा करेंगे और वह इच्छा किस प्रकार करेंगे। हमारा स्वतन्त्र अहं नहीं, बल्कि प्रकृति यह चुनाव करती है कि अपने जीवन की किसी घड़ी में हम एक युक्तियुक्त संकल्प या विचाररहित आवेग के द्वारा किस पदार्थ की अभिलाषा करेंगे। इसके विपरीत, यदि हम ब्रह्म की एकीकारक वास्तविक सत्ता में निवास करते हैं तो हम अहं से ऊपर उठकर विश्वप्रकृति को लांघ जाते हैं। तब हम अपनी सच्ची अन्तरात्मा को पुनः प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा बन जाते हैं। आत्मा में हम प्रकृति की प्रेरणा से ऊपर और

उसके गुणों एवं शक्तियों से उत्कृष्ट होते हैं। अन्तरात्मा, मन और हृदय में पूर्ण समता प्राप्त करके हम अपनी उस सच्ची आत्मा को, जो स्वभाव से ही एकत्व धर्मवाली है, अनुभव कर लेते हैं। हमारी यह सच्ची आत्मा सभी सत्ताओं के साथ एकीभूत है। यह उस सत्ता के साथ भी एकीभूत है जो अपने-आपको इन सब सत्ताओं में तथा उस सबमें प्रकट करती है जिसे हम देखते और अनुभव करते हैं। यह समता और एकता एक अनिवार्य दोहरी नींव है जो हमें भागवत सत्ता, भागवत चेतना और भागवत कर्म के लिये स्थापित करनी होगी। यदि हम सबके साथ एकाकार नहीं हैं तो आध्यात्मिक दृष्टि से हम दिव्य नहीं हैं। सब वस्तुओं, घटनाओं और प्राणियों के प्रति आत्मिक समता रखे बिना हम दूसरों को आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं देख सकते, न हम उन्हें दिव्य ढंग से जान सकते हैं और न उनके प्रति दिव्य ढंग से सहानुभूति ही रख सकते हैं। परा शक्ति एवं एकमेव नित्य और अनन्त देव सब पदार्थों और सब प्राणियों के प्रति 'सम' है, और क्योंकि वह 'सम' है, वह अपने कर्मों और अपनी शक्ति के सत्य के अनुसार और प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी के सत्य के अनुसार पूर्ण ज्ञानपूर्वक कार्य कर सकता है।

अपिच, मनुष्य को जो सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है वह केवल यही है। यह एक ऐसी स्वतन्त्रता है जिसे वह तब तक नहीं प्राप्त कर सकता जब तक वह अपनी मानसिक पृथक्ता से ऊपर नहीं उठता और विश्व-प्रकृति में एक चिन्मय आत्मा नहीं बन जाता। भगवान् की इच्छा ही संसार में एकमात्र स्वतन्त्र इच्छा है और इसीको प्रकृति कार्य-रूप में परिणत करती है; कारण, वह अन्य सभी इच्छाओं की स्वामिनी और स्रष्टी है। मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा एक अर्थ में सच्ची हो सकती है, परन्तु प्रकृति के गुणों से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य सभी चीजों की भांति, यह भी केवल सापेक्ष रूप में ही सत्य है। मन प्राकृतिक शक्तियों के भंवर पर सवार होता है, अनेक सम्भावनाओं के बीच एक स्थिति पर अपने को सन्तुलित कर लेता है, एक या दूसरी तरफ झुक जाता है, एक निश्चय कर लेता है और समझता है कि मैंने चुनाव किया है। परन्तु यह उस शक्ति को नहीं देखता और न इसे उसका तनिक आभास ही होता है जिसने पीछे छिपे रहकर इसके चुनाव का निश्चय किया है। यह उसे देख भी नहीं सकता, क्योंकि वह शक्ति एक ऐसी वस्तु है जो अखण्ड है और हमारी दृष्टि के लिये निर्विशेष है। मन तो अधिक-से-अधिक इस शक्ति के उन नानाविध और जटिल विशिष्ट निर्धारणों में से कुछ-एक का पर्याप्त स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ विवेचन मात्र कर सकता है जिसके द्वारा यह शक्ति अपने अप्रमेय प्रयोजनों को सिद्ध करती है। स्वयं एकांगी होने से, मन हमारी सत्तारूपी मशीन के एक भाग पर सवार हो जाता है और काल एवं परिपार्श्व में इसकी जो चालक शक्तियां हैं उनके नौ-दशमांश से तथा अपनी गत तैयारी एवं भावी दिशा से अनभिज्ञ ही रहता है। परन्तु, क्योंकि यह सवार होता है, यह समझता है कि यह

मशीन को चला रहा है। एक दृष्टि से इसका महत्त्व है : क्योंकि मन की वह स्पष्ट रुचि जिसे हम अपनी इच्छा कहते हैं और उस रुचि के सम्बन्ध में हमारा वह दृढ़ निश्चय जो हमारे सामने ऐच्छिक चुनाव के रूप में उपस्थित होता है, विश्व-प्रकृति के अत्यन्त शक्तिशाली निर्धारकों में से एक है; किन्तु यह निश्चय कभी भी स्वतन्त्र और सर्वेसर्वा नहीं होता। मानव-इच्छा की इस क्षुद्र निमित्तमात्रता के पीछे कोई विराट्, शक्तिशाली और नित्य वस्तु है जो उसकी रुचि की दिशा की देख-रेख करती है और उसकी इच्छा के किसी विशेष रुख को बल प्रदान करती है। प्रकृति में एक अखंड सत्य है जो हमारी वैयक्तिक रुचि से अधिक महान् है और इस अखण्ड सत्य में, या इसके परे और पीछे भी, कोई ऐसी चीज है जो सब परिणामों को निश्चित करती है। उसकी उपस्थिति और उसका गुप्त ज्ञान प्रकृति की क्रियाप्रणाली के अन्दर ठीक सम्बन्धों, परिवर्तनशील या स्थिर आवश्यकताओं तथा गति के अनिवार्य सोपानों के एक सक्रिय और सहजप्राय बोध को स्थिर रूप से बनाये रखते हैं। एक निगूढ़ दिव्य इच्छाशक्ति है,—नित्य और अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्,—जो इन सब प्रत्यक्षतः-अनित्य और सान्त, निश्चेतन या अर्धचेतन पदार्थों की समष्टि में तथा इनमें से प्रत्येक व्यष्टि में अपनेको प्रकट करती है। जब गीता कहती है कि सब जीवों के हृदेश में ईश्वर विराजमान है और वह प्राणिमात्र को प्रकृति की माया के द्वारा यंत्रारूढ़ की भांति चला रहा है तो वहां उसका अभिप्राय इसी निगूढ़ शक्ति या उपस्थिति से है।

यह दिव्य इच्छाशक्ति कोई विजातीय शक्ति या उपस्थिति नहीं है। इसका हमसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और हम स्वयं इसके अंग हैं, क्योंकि यह हमारी अपनी उच्चतम आत्मा की ही चीज है और हमारी आत्मा ही इसे धारण करती है। हां, यह हमारी सचेतन मानसिक इच्छाशक्ति नहीं है। प्रत्युत, जिसे हमारी सचेतन इच्छाशक्ति स्वीकार करती है उसे यह प्रायः ही ठुकरा देती है और जिसे हमारी सचेतन इच्छाशक्ति ठुकरा देती है उसे यह प्रायः स्वीकार कर लेती है। कारण, जहां यह गुप्त एकमेव इच्छाशक्ति सबको और प्रत्येक अखण्ड वस्तु को तथा एक-एक अंश को जानती है वहां हमारा स्थूल मन केवल वस्तुओं के एक छोटे-से भाग को ही जानता है। हमारी इच्छाशक्ति मन के भीतर सचेतन है और जो कुछ भी यह जानती है विचार द्वारा ही जानती है। दिव्य इच्छाशक्ति हमारे लिये अतिचेतन है, क्योंकि यह मूलतः मन से परे की वस्तु है; यह सब कुछ जानती है, क्योंकि यह स्वयं सब कुछ है। हमारी सर्वोच्च आत्मा जो इस वैश्व शक्ति की स्वामिनी और भर्त्री है हमारा अहं-रूप स्व नहीं है, न ही वह हमारी वैयक्तिक प्रकृति है। वह तो कोई परात्पर तथा विश्वमय वस्तु है जिसकी ये क्षुद्रतर वस्तुएं फेनराशि और तरल तरंगेंमात्र हैं। यदि हम अपनी सचेतन इच्छा को अर्पित कर दें और इसे सनातन पुरुष की इच्छा के साथ एक हो जाने दें, तब और केवल तभी हम सच्चा स्वातंत्र्य

प्राप्त कर सकते हैं। भागवत स्वातंत्र्य में निवास करते हुए हम बन्धनों में जकड़ी हुई उस तथाकथित स्वतंत्र-इच्छा से तब और नहीं चिमटे रहेंगे जो कठपुतली के समान चालित स्वतंत्रता होती है तथा जो अज्ञ, मिथ्या एवं सापेक्ष है और अपने ही न्यूनतापूर्ण प्राणिक प्रेरक भावों एवं मानसिक आकारों की भ्रान्ति से बद्ध है।

*

एक विभेद को, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है, हमें अपनी चेतना में दृढ़तया अंकित कर लेने की जरूरत है, वह है प्रकृति और पुरुष में विभेद, यांत्रिक प्रकृति और इसके स्वतंत्र स्वामी में, ईश्वर या एकमात्र ज्योतिर्मयी भागवती संकल्प-शक्ति और विश्व के अनेक कार्यवाहक गुणों और शक्तियों में विभेद।

प्रकृति,—सनातन की चेतनाशक्ति के रूप में नहीं जो कि इसका दिव्य सत्य रूप है, बल्कि अपने उस रूप में जिसमें यह हमें अज्ञान में प्रतीत होती है,—एक कार्यवाहक शक्ति है, जो यंत्रवत् क्रिया करती है। इसके विषय में हमें जो अनुभव होते हैं उनके अनुसार यह सचेतन रूप में बुद्धिशाली नहीं है, यद्यपि इसके सभी काम पूर्ण बुद्धि से प्रेरित होते हैं। अपने-आप स्वामिनी न होती हुई भी, यह एक ऐसी आत्म-सचेतन शक्ति[1] से पूर्ण है जो अपने अन्दर अनन्त प्रभुत्व को धारण किये हुए है। इस शक्ति के द्वारा परिचालित होने के कारण यह सबपर शासन करती है और जिस कार्य को ईश्वर इसके द्वारा करना चाहते हैं उसे यह ठीक-ठीक संपन्न करती है। भोग न करती हुई भी यह भोगी जाती है और सब भोगों का भार अपने अन्दर वहन करती है। प्रक्रिया-शक्ति के रूप में 'प्रकृति' एक यन्त्रवत् कार्य करनेवाली सक्रिय शक्ति है, क्योंकि यह अपने पर लादी हुई गति को पूरा करती है। परन्तु इसके अन्दर वह एकमेव है जो जानता है,—एक सत्ता वहां विराज रही है जो इसकी समस्त क्रिया-प्रक्रिया से अभिज्ञ है। प्रकृति अपने साथ संयुक्त या अपने अन्दर विराजमान 'पुरुष' का ज्ञान, प्रभुत्व और आनन्द धारण करती हुई कार्य करती है; परन्तु यह इनमें भाग तभी ले सकती है यदि यह अपने अन्दर व्याप्त उस पुरुष के अधीन रहकर उसे प्रतिबिम्बित करे। पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और फिर भी स्थिर तथा निष्क्रिय है; वह प्रकृति के कार्य को अपनी चेतना और ज्ञान में धारण करता है और उसका उपभोग करता है। वह प्रकृति के कार्यों को अनुमति देता है और प्रकृति उससे अनुमत कार्यों को उसकी प्रसन्नता के लिये संपादित करती है। पुरुष अपनी अनुमति को अपने-आप कार्यान्वित नहीं करता; वह प्रकृति को उसके कार्य में आश्रय देता है और जो कुछ वह अपने ज्ञान में देखता है उसे शक्ति, प्रक्रिया एवं मूर्त्त परिणाम में प्रकट करने के लिये उसे अनुमति देता है। यह प्रकृति और पुरुष का सांख्यकृत विवेचन है। यद्यपि सारा वास्तविक सत्य यही नहीं

[1] यह शक्ति ईश्वर की चिन्मयी दिव्य शक्ति है, परात्पर और विश्वगत जननी है।

है, यद्यपि यह किसी भी प्रकार पुरुष या प्रकृति का सर्वोच्च सत्य नहीं है फिर भी यह सत्ता के अपरार्ध में एक प्रामाणिक तथा अपरिहार्य अनिवार्य ज्ञान है।

किसी भी पिंड में विद्यमान व्यष्टिरूप आत्मा या चेतन सत् इस अनुभवग्राही पुरुष के साथ या इस क्रियाशील प्रकृति के साथ तदाकार हो सकता है। यदि वह अपने-आपको प्रकृति के साथ तदाकार करता है तो वह स्वामी, भोक्ता और ज्ञाता नहीं होता, बल्कि प्रकृति के गुणों और व्यापारों को प्रतिबिम्बित करता है। अपनी इस तदाकारता से वह उस दासता और यांत्रिक क्रिया-प्रणाली में भाग लेता है जो इस प्रकृति का अपना विशेष धर्म है। यहां तक कि प्रकृति में पूर्णतया लीन होकर यह आत्मा अचेतन या अवचेतन बन जाती है, प्रकृति के स्थूल रूपों में पूर्ण रूप से प्रसुप्त हो रहती है जैसे मिट्टी और धातु में, या फिर लगभग प्रसुप्त हो रहती है जैसे उद्भिज-जीवन में। वहां, उस अचेतना में, यह तमस् के अर्थात् अन्धता और जड़ता के तत्त्व के, उनकी शक्ति या गुण की प्रबलता के अधीन होती है। सत्त्व और रज भी वहां अवश्य होते हैं, पर वे तम के घने आवरण में छिपे रहते हैं। देहधारी जीव जब अपनी विशेष प्रकार की चेतना में उदित हो रहा होता है, किन्तु अभी प्रकृति में तम की अत्यधिक प्रबलता के कारण सच्चे अर्थों में चेतन नहीं होता, तब वह उत्तरोत्तर रजस् के अधीन होता जाता है। रजस् कामना तथा अन्धप्रेरणा से प्रेरित कर्म और आवेश का तत्त्व, शक्ति, गुण या अवस्था है। इस अवस्था में एक प्रकार की पाशविक प्रकृति गठित और विकसित होती है जिसकी चेतना संकीर्ण और बुद्धि असंस्कृत होती है तथा जिसके प्राणिक अभ्यास और आवेग राजस-तामसिक होते हैं। महत् अचेतना से आध्यात्मिक स्तर की ओर और भी अधिक बाहर आकर देहधारी पुरुष सत्त्व को, अर्थात् प्रकाश के गुण को, उन्मुक्त करता है और एक प्रकार का ज्ञान, स्वामित्व तथा सापेक्ष स्वातंत्र्य प्राप्त करता है और इसके साथ-साथ उसे आन्तरिक सन्तोष और सुख का परिच्छिन्न तथा मर्यादित अनुभव भी प्राप्त होता है। मनुष्य की अर्थात् स्थूल देह में रहनेवाले मनोमय पुरुष की प्रकृति ऐसी ही होनी चाहिये, परन्तु इन कोटि-कोटि देहधारी जीवों में से कुछ-एक को छोड़कर किसी की भी प्रकृति ऐसी नहीं होती। साधारणतः उसमें अन्ध पार्थिव जड़ता और विक्षुब्ध एवं अज्ञ पाशव जीवन-शक्ति इतनी अधिक होती है कि वह प्रकाशमय और आनन्दमय आत्मा नहीं बन सकता, बल्कि वह समस्वर संकल्प और ज्ञान से युक्त मन भी नहीं बन सकता। हम देखते हैं कि स्वतन्त्र, स्वामी, ज्ञाता और भोक्ता पुरुष के सच्चे स्वभाव की ओर मनुष्य का आरोहण अभी यहां पूर्ण नहीं हुआ है, अभी तक यह विघ्न-बाधा और विफलता से ही आक्रान्त है। कारण, मानवीय और पार्थिव अनुभव में ये सत्त्व, रज और तम सापेक्ष गुण हैं; इनमें से किसी का भी ऐकान्तिक और पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता। सब एक-दूसरे से मिले हुए हैं और इनमें से किसी एक की भी शुद्ध क्रिया कहीं

नहीं पायी जाती। इनकी अस्तव्यस्त और अनिश्चित परस्पर-क्रिया ही अहम्मन्य मानव-चेतना के अनुभवों को निर्धारित करती है और इस प्रकार वह चेतना प्रकृति के एक अस्थिर सन्तुलन के झूले में झूलती रहती है।

देहधारी आत्मा के प्रकृति में लीन होने का चिह्न यह होता है कि उसकी चेतना अहं के घेरे में ही सीमित रहती है। इस सीमित चेतना की स्पष्ट छाप मन और हृदय की सतत असमता में और अनुभव के स्पर्शों के प्रति उनकी अनेकविध प्रतिक्रियाओं के बीच के अस्तव्यस्त संघर्ष और असामंजस्य में देखी जा सकती है। मानवीय प्रतिक्रियाएं लगातार द्वंद्वों में चक्कर काटती रहती हैं। द्वंद्व इस कारण पैदा होते हैं कि आत्मा प्रकृति के अधीन है और प्रभुत्व तथा उपभोग के लिये प्रायः ही एक तीव्र पर ओछा संघर्ष करती रहती है। परन्तु वह संघर्ष अधिकांश में निष्फल जाता है और आत्मा प्रकृति के प्रलोभक तथा दुःखमय विरोधी द्वंद्वों,—सफलता और विफलता, सौभाग्य और दुर्भाग्य, शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य, हर्ष और शोक तथा सुख और दुःख—के अन्तहीन घेरे में चक्कर काटती रहती है। प्रकृति के अन्दर ग्रस्त रहने की इस अवस्था से जागकर जब यह एकमेव और भूतमात्र के साथ अपनी एकता अनुभव करती है तभी यह इन द्वंद्वों से मुक्त होकर कर्त्री जगत्-प्रकृति से अपना ठीक सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। तब यह उसके हीनतर गुणों के प्रति तटस्थ, उसके द्वंद्वों के प्रति समचित्त और स्वामित्व तथा स्वातंत्र्य के योग्य हो जाती है। अपनी ही नित्य सत्ता के प्रशान्त, प्रगाढ़ एवं अमिश्रित आनन्द से परिपूर्ण होकर यह उच्च सिंहासनाधिरूढ़ ज्ञाता और साक्षी के रूप में प्रकृति से ऊर्ध्व में आसीन (उदासीन) रहती है। देहधारी आत्मा अपनी शक्तियों को कर्म में प्रकट करना जारी रखती है, किन्तु यह अज्ञान में अब और ग्रस्त नहीं रहती, न ही अपने कर्मों से बद्ध होती है। इसके कर्मों का इसके भीतर अब कोई परिणाम उत्पन्न नहीं होता, बल्कि केवल बाहर प्रकृति में ही परिणाम उत्पन्न होता है। प्रकृति की संपूर्ण गति इसे ऊपरी सतह पर तरंगों का उठना और गिरनामात्र प्रतीत होती है। इन तरंगों से इसकी अगाध शान्ति एवं विशाल आनन्द में, इसकी बृहत् विश्वव्यापिनी समता या निःसीम ईश्वर-भाव में किंचित् भी अन्तर नहीं पड़ता।[1]

*

[1] यह आवश्यक नहीं कि कर्मयोग के लिये हमें गीता का सम्पूर्ण दर्शन निर्विवाद स्वीकार करना चाहिये। हम चाहें तो इसे एक मनोवैज्ञानिक अनुभव का वर्णन मान सकते हैं, जो योग की व्यावहारिक भित्ति के रूप में उपयोगी है। इस क्षेत्र में यह पूर्णतः युक्तियुक्त है और ऊंचे तथा विस्तृत अनुभव से पूरी तरह संगत भी है। इस कारण मैंने यह उचित समझा है कि इसे यहां यथासम्भव आधुनिक चिन्तन की भाषा में प्रतिपादित कर दूं। जो कुछ मनोविज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक वैश्व-सत्ता-विषयक दर्शन से सम्बन्ध रखता है वह सब मैंने छोड़ दिया है।

हमारे प्रयत्न की प्रतिज्ञाएं निम्नलिखित हैं और वे एक ऐसे आदर्श की ओर इंगित करती हैं जो अधोलिखित सूत्रों में या इनके समानार्थक सूत्रों में प्रकट किया जा सकता है—

ईश्वर में निवास करना, अहं में नहीं। एक बृहत् आधार पर प्रतिष्ठित होकर कार्य करना, क्षुद्र अहम्मन्य चेतना पर प्रतिष्ठित होकर नहीं, बल्कि विश्व-आत्मा और विश्वातीत परम देव की चेतना पर प्रतिष्ठित होकर कार्य करना।

सभी घटनाओं में और सभी सत्ताओं के प्रति पूर्णतया सम होना और उन्हें इस रूप में देखना तथा अनुभव करना कि वे अपने साथ और भगवान् के साथ एक हैं। सभीको अपने में और सभीको ईश्वर में अनुभव करना; ईश्वर को सब में तथा अपने-आपको सबमें अनुभव करना।

ईश्वर में निवास करते हुए कर्म करना, अहं में नहीं। यहां सब से पहली बात यह है कि कर्म का चुनाव व्यक्तिगत आवश्यकताओं और मानदंडों के विचार से नहीं, बल्कि ऊर्ध्व-स्थित सजीव और सर्वोच्च सत्य के आदेश के अनुसार करना। इसके बाद, ज्यों ही हम आध्यात्मिक चेतना में काफी हद तक प्रतिष्ठित हो जायें, त्यों ही अपनी पृथक् इच्छाशक्ति या चेष्टा से कर्म करना छोड़ देना, वरंच अपने से अतीत भागवत संकल्प की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन की छाया में कर्म को उत्तरोत्तर होने और बढ़ने देना। अन्त में, चरम-फलस्वरूप, उस उच्च अवस्था में उठ जाना जिसमें हमें भागवत शक्ति के साथ ज्ञान तथा शक्ति, चेतना, कर्म और सत्ता के आनन्द में तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही एक ऐसी प्रबल क्रियाशीलता अनुभव करना जो मर्त्य कामना, प्राणिक अन्ध-प्रेरणा, आवेग और मायामय मानसिक स्वतन्त्र इच्छा के वशीभूत न हो, प्रत्युत अमर आत्म-आनन्द और अनन्त आत्म-ज्ञान में ज्योतिष्मान् रूप से धारित और विकसित हो। यही वह सक्रियता है जो प्राकृतिक मनुष्य को, सचेतन रूप में, दिव्य आत्मा और सनातन आत्मा के अधीन और उसमें निमज्जित कर देने से प्रवाहित होती है। आत्मा ही वह सत्ता है जो सदा से इस जगत्-प्रकृति के परे है और इसे संचालित करती है।

*

परन्तु आत्म-साधना के किन क्रियात्मक उपायों से हम यह सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं ?

स्पष्ट है कि समस्त अहम्मूलक क्रिया और उसकी नींव अर्थात् अहम्मय चेतना का बहिष्कार ही हमारी अभीष्ट सिद्धि का उपाय है। और, क्योंकि कर्मयोग के पथ में कर्म ही सब से पहले खोलने योग्य ग्रंथि है, हमें इसे वहीं से खोलने का प्रयत्न करना होगा जहां, अर्थात् कामना और अहंभाव में, यह मुख्य रूप से बंधी हुई है।

अन्यथा हम केवल कुछ-एक बिखरे धागे ही काटेंगे न कि अपने बंधन का मर्मस्थल। इस अज्ञानमय एवं विभक्त प्रकृति के प्रति हमारी अधीनता की यही दो ग्रन्थियां हैं—कामना और अहंभाव। इन दो में से कामना की जन्मभूमि है भाव, सम्वेदन और अन्ध-प्रेरणाएं, वहीं से यह विचारों और इच्छाशक्ति पर अपना प्रभाव डालती है। अहंभाव इन चेष्टाओं में तो रहता ही है, पर साथ ही वह चिन्तनात्मक मन और उसकी इच्छाशक्ति में भी अपनी गहरी जड़ें फैलाता है और वहीं वह पूर्णतः आत्म-सचेतन भी होता है। भूत की तरह बसेरा डाले हुई जगद्व्यापिनी अविद्या की ये ही युगल अन्धकारमय शक्तियां हैं जिनमें हमें प्रकाश पहुंचाना है और जिनसे हमें छुटकारा प्राप्त करना है।

कर्म के क्षेत्र में कामना अनेक रूप धारण करती है। उनमें सबसे अधिक प्रबल रूप है अपने कर्मों के फल के लिये प्राणमय पुरुष की लालसा या उत्कण्ठा। जिस फल की हम लालसा करते हैं वह आन्तरिक सुखरूपी पुरस्कार हो सकता है; वह किसी अभिमत विचार या किसी प्रिय संकल्प की पूर्ति या अहंकारमय भावों की तृप्ति, या अपनी उच्चतम आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की सफलता का गौरवरूपी पुरस्कार हो सकता है। अथवा वह एक बाह्य पारितोषिक हो सकता है, अर्थात् एक ऐसा प्रतिफल जो सर्वथा स्थूल हो, जैसे धन, पद, प्रतिष्ठा, विजय, सौभाग्य अथवा प्राणिक या शारीरिक कामना की किसी और प्रकार की तृप्ति। परन्तु ये सब समान रूप से कुछ ऐसे फंदे हैं जिनके द्वारा अहंभाव हमें बांधता है। सदा ही ये सुख-सन्तोष हमारे अन्दर यह भाव और विचार पैदा करके कि हम स्वामी और स्वतन्त्र हैं हमें छला करते हैं, जब कि वास्तव में अन्ध 'कामना' की कोई स्थूल या सूक्ष्म, भली या बुरी मूर्त्ति ही—जो जगत् को प्रचालित करती है,—हमें जोतती और चलाती है अथवा हमपर सवार होती और हमें कोड़े लगाती है। इसीलिये गीता ने कर्म का जो सब से पहला नियम बताया है वह है फल की किसी भी प्रकार की कामना के बिना कर्तव्य कर्म करना, अर्थात् निष्काम कर्म करना।

देखने में तो यह नियम आसान है, फिर भी इसे एक प्रकार की पूर्ण सद्हृदयता और स्वतन्त्रकारी समग्रता के साथ निभाना कितना कठिन है! अपने काम के अधिक बड़े भाग में यदि हम इस सिद्धान्त का प्रयोग करते भी हैं तो बहुत कम, और तब भी प्रायः कामना के सामान्य नियम को एक प्रकार से सन्तुलित करने और इस क्रूर आवेग की अतिशयित क्रिया को कम करने के लिये ही करते हैं। अधिक-से-अधिक हम इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि हम अपने अहंभाव को संयत और संशोधित कर लें जिससे वह हमारी नैतिक भावना को बहुत अधिक ठेस लगाने और दूसरों को अत्यन्त निर्दयतापूर्वक पीड़ा पहुंचानेवाला न रहे। और, अपनी इस आंशिक आत्म-साधना को हम अनेक नाम और रूप देते हैं; अभ्यास के द्वारा हम कर्तव्य-भावना, दृढ़ सिद्धान्त-निष्ठा, वैराग्यपूर्ण सहिष्णुता या धार्मिक

समर्पण और ईश्वरेच्छा के प्रति एक शान्त या आनन्दपूर्ण निर्भरता का स्वभाव बना लेते हैं। परन्तु गीता का आशय इन चीजों से नहीं है, यद्यपि ये अपने-अपने स्थान में उपयोगी अवश्य हैं। इसका लक्ष्य है एक चरम-परम, पूर्ण एवं दृढ़-स्थिर अवस्था, एक ऐसी प्रवृत्ति और भावना जो आत्मा का सम्पूर्ण सन्तुलन ही बदल डालेगी। प्राणिक आवेग का मन द्वारा निग्रह करना नहीं, बल्कि अमर आत्मा की दृढ़ अविचल स्थिति ही इसका नियम है।

इसके लिये वह जिस कसौटी का उल्लेख करती है वह है मन और हृदय की पूर्ण समता—सभी परिणामों के प्रति, सभी प्रतिक्रियाओं के प्रति, सभी घटनाओं के प्रति। यदि सौभाग्य और दुर्भाग्य, यदि मान और अपमान, यदि यश और अपयश, यदि जय और पराजय, यदि प्रिय घटना और अप्रिय घटना आवें और चली जावें, पर हम उनसे चलायमान न हों, इतना ही नहीं, वरन् वे हमें छू तक न सकें और हम भावों, स्नायविक प्रतिक्रियाओं एवं मानसिक दृष्टि में स्वतन्त्र बने रहें, प्रकृति के किसी भी भाग में जरा-सी भी चंचलता या हलचल के साथ प्रत्युत्तर न दें, तभी समझना चाहिये कि हमें वह पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी है जिसकी ओर गीता निर्देश करती है, अन्यथा नहीं। छोटी-से-छोटी प्रतिक्रिया भी इस बात का प्रमाण होती है कि हमारी साधना अभी अपूर्ण है, हमारी सत्ता का कोई भाग अज्ञान और बन्धन को अपना नियम स्वीकार करता है और अभी तक पुरानी प्रकृति से चिपटा हुआ है, हमारी आत्म-विजय कुछ ही अंश में सिद्ध हुई है, यह हमारी प्रकृतिरूपी भूमि की कुछ लम्बाई में या किसी हिस्से में या किसी छोटे से चप्पे में अभी तक अपूर्ण या अवास्तविक है। अथच अपूर्णता का वह जरा-सा कंकड़ योग के सम्पूर्ण भवन को भूमिसात् कर सकता है!

सम आत्म-भाव से मिलती-जुलती और अवस्थाएं भी होती हैं जिन्हें गीता की गंभीर और बृहत् आध्यात्मिक समता समझ बैठने की भूल हमें नहीं करनी चाहिये। निराशाजनित त्याग की भी एक समता होती है और अभिमान की तथा कठोरता एवं तटस्थता की भी समता होती है। ये सब अपनी प्रकृति में अहंभावमय होती हैं। साधना-पथ में ये आया ही करती हैं, किन्तु इन्हें त्याग देना होगा अथवा इन्हें वास्तविक शम में रूपान्तरित कर देना होगा। इनसे और अधिक ऊंचे स्तर पर तितिक्षावादी (stoic) की समता, धार्मिक-वृत्तिमय त्याग की या साधु-सन्तों की-सी अनासक्ति की समता तथा जगत् से किनारा खींच कर उसके कर्मों से तटस्थ रहनेवाली आत्मा की समता भी होती हैं। ये भी पर्याप्त नहीं हैं; ये प्रारम्भिक प्रवेश-पथ हो सकती हैं, किन्तु आत्मा के वास्तविक और पूर्ण स्वतःसत् विशाल सम-एकत्व में हमारे प्रवेश के लिये ये प्रारम्भिक आत्म-अवस्थाएं ही होती हैं अथवा ये अपूर्ण मानसिक तैयारियों से अधिक कुछ नहीं होतीं।

यह निश्चित है कि इतने बड़े परिणाम पर हम बिना किन्हीं प्रारम्भिक अवस्थाओं

के तुरन्त ही नहीं पहुंच सकते। सब से पहले हमें संसार के आघातों को इस प्रकार सहना सीखना होगा कि हमारी सत्ता का केंद्रीय भाग उनसे अछूता और शान्त रहे, भले ही हमारा स्थूल मन, हृदय और प्राण खूब जोर से डगमगा जायें। अपने जीवन की चट्टान पर अविचल खड़े रहकर, हमें अपनी आत्मा को विलग कर लेना होगा, ताकि वह हमारी प्रकृति के इन बाह्य व्यापारों का पीछे से निरीक्षण करती रहे या अन्दर बहुत गहरे स्थित होकर इनकी पहुंच से परे रहे। इसके बाद, निर्लिप्त आत्मा की इस शान्ति और स्थिरता को इसके करणों तक फैला कर, शान्ति की किरणों को प्रकाशमय केंद्र से अधिक अन्धकारमय परिधि तक शनैः-शनैः प्रसारित करना सम्भव हो जायगा। इस प्रक्रिया में हम बहुत-सी गौण अवस्थाओं की क्षणिक सहायता ले सकते हैं, किसी प्रकार की तितिक्षा का अभ्यास (stoism), कोई शान्तिप्रद दर्शन, किसी प्रकार का धार्मिक भावातिरेक हमें अपने लक्ष्य के किंचित् निकट पहुंचाने में सहायक हो सकते हैं। अथवा हम अपनी मानसिक प्रकृति की कम प्रबल एवं उन्नत किन्तु उपयोगी शक्तियों को भी सहायता के लिये पुकार सकते हैं। परन्तु अन्त में हमें इनका त्याग या रूपान्तर करके इनके स्थान पर पूर्ण आन्तरिक समता और स्वतःसत् शान्ति, यहां तक कि, यदि सम्भव हो तो, अपने सभी अंगों में एक अखंड, अक्षय, आत्मसंस्थित और स्वाभाविक आनन्द प्राप्त करना होगा।

किन्तु तब हम काम करना ही कैसे जारी रख सकेंगे? क्योंकि साधारणतया मानव प्राणी काम इसलिये करता है कि उसे कोई कामना होती है अथवा वह मानसिक, प्राणिक या शारीरिक अभाव या आवश्यकता अनुभव करता है। वह या तो शरीर की आवश्यकताओं से परिचालित होता है या धन-सम्पत्ति एवं मान-प्रतिष्ठा की तृष्णा से, अथवा मन या हृदय की व्यक्तिगत सन्तुष्टि की लालसा किंवा शक्ति या सुख की अभिलाषा से। अथवा वह किसी नैतिक आवश्यकता के वशीभूत होकर उसीसे इधर-उधर प्रेरित होता है, या कम-से-कम इस आवश्यकता या कामना से प्रेरित होता है कि वह अपने विचारों या अपने आदर्शों या अपने संकल्प या अपने दल या अपने देश या अपने देवताओं का संसार में प्रभुत्व स्थापित करे। यदि इनमें से कोई भी कामना अथवा अन्य कोई भी कामना हमारे कार्य की परिचालिका नहीं होती तो ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त प्रवर्तक कारण या प्रेरकशक्ति ही हटा ली गयी है और तब स्वयं कर्म भी अनिवार्य रूप से बन्द हो जाता है। गीता दिव्य जीवन का अपना तीसरा महान् रहस्य खोलकर इस शंका का उत्तर देती है। एक अधिकाधिक ईश्वराभिमुख और अन्ततः ईश्वर-अधिकृत चेतना में रहते हुए हमें समस्त कर्म करने ही होंगे; हमारे कर्म भगवान् के प्रति यज्ञ-रूप होने चाहियें, और अन्त में तो हमें सम्पूर्ण सत्ता को,—मन, संकल्प-शक्ति, हृदय, इंद्रिय, प्राण और शरीर, सब को—एकमेव के प्रति समर्पित कर देना चाहिये

जिससे कि ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-सेवा ही हमारे कर्मों का एकमात्र प्रेरक भाव बन जाय। निःसन्देह प्रेरक शक्ति का और कर्मों के स्वरूप तक का यह रूपान्तर ही गीता का प्रधान विचार है। कर्म, प्रेम और ज्ञान के गीताकृत अद्वितीय समन्वय का यही आधार है। अन्त में, कामना नहीं, बल्कि सनातन की प्रत्यक्षतः अनुभूत इच्छा ही हमारे कर्म की एकमात्र परिचालिका और इसके आरम्भ का एकमात्र उद्गम रह जाती है।

समता, अपने कर्मों के फल की समस्त कामना का त्याग, अपनी प्रकृति और समष्टि-प्रकृति के परम प्रभु के प्रति यज्ञ-रूप में कर्म करना,—यही गीता की कर्मयोग-प्रणाली में ईश्वर-प्राप्ति के तीन प्रधान साधन हैं।

अध्याय ४

यज्ञ, त्रिदल-पथ और यज्ञ के अधीश्वर

यज्ञ के विधान का अभिप्राय वह सार्वजनीन दिव्य कर्म है जो इस सृष्टि के आदि में लोकसंग्रह के प्रतीक के रूप में प्रकट हुआ था। इसी विधान के आकर्षण से एक दिव्यीकारक, रक्षक शक्ति इस अहम्मय और विभक्त सृष्टि की भूलों को सीमित और संशोधित तथा उन्हें शनैः-शनैः दूर करने के लिये अवतरित होती है। यह अवतरण, अथवा पुरुष या भागवत आत्मा का यह यज्ञ,—जिसके द्वारा वह अपने-आपको शक्ति और जड़-प्रकृति के अधीन कर देता है, ताकि वह इन्हें अनुप्राणित और प्रकाशयुक्त कर सके—निश्चेतना और अविद्या के इस संसार की रक्षा का बीज है। कारण, गीता कहती है कि "यज्ञ को इन प्रजाओं का साथी बनाकर प्रजापति ने इन्हें उत्पन्न किया।"[1] यज्ञ के विधान को स्वीकार करना अहं का इस बात को क्रियात्मक रूप से अंगीकार करना है कि इस संसार में वह न तो अकेला है और न मुख्य ही है। यह उसका इस बात को मान लेना है कि, इस अत्यन्त खंडित सत्ता में भी, उसके परे और पीछे कोई ऐसी वस्तु है जो उसका अपना अहंमय व्यक्तित्व नहीं है, कोई ऐसी वस्तु है जो उससे महत्तर और पूर्णतर है, एक दिव्यतर सर्वमय सत्ता है जो उससे दास्य और सेवा की मांग करती है। निःसन्देह, विराट् विश्व-शक्ति यज्ञ को हमारे ऊपर थोपती है और जहां आवश्यकता हो वहां वह हमें इसके लिये बाध्य भी करती है। जो इस विधान को सचेतन रूप में स्वीकार नहीं करते उनसे भी यह यज्ञ का भाग ले लेती है—और यह अनिवार्य ही है, क्योंकि यह जगत् का अन्तरीय स्वभाव है। हमारे अज्ञान या हमारी मिथ्या अहंमूलक जीवन-दृष्टि से प्रकृति के इस शाश्वत आधारभूत सत्य में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। कारण, यह प्रकृति का एक अन्तर्निहित सत्य है कि यह अहं जो अपने को एक पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता समझता है और स्वयं अपने लिये जीने का अपना अधिकार जताता है स्वतन्त्र नहीं है और हो भी नहीं सकता, न ही यह दूसरों से पृथक् है और न हो ही सकता है। यदि यह चाहे भी, तो भी यह केवल अपने लिये ही नहीं जी सकता, बल्कि सच पूछो तो सभी अहं एक निगूढ़ एकता के द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। प्रत्येक सत्ता विवश होकर अपने भंडार में से लगातार कुछ-न-कुछ वितरण कर रही है। प्रकृति से प्राप्त उसकी मानसिक आय में से या उसकी प्राणिक और शारीरिक संपत्ति, उपलब्धि और निधि में से एक धारा उस सबकी ओर बहती रहती है जो उसके चारों ओर है। और, फिर वह अपनी ऐच्छिक या अनैच्छिक भेंट के बदले में अपने परिपार्श्व से सदैव कुछ-न-कुछ प्राप्त भी करती

[1] सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। गीता ३-१०

है। अपने इस आदान-प्रदान से ही यह अपना विकास सम्पन्न कर सकती है और साथ ही इससे यह समष्टि को भी सहायता देती है। इस प्रकार प्रारम्भ में थोड़ा-थोड़ा और अपूर्ण रूप में यज्ञ करते हुए दीर्घ काल के बाद हम सचेतन रूप से यज्ञ करना सीख जाते हैं। यहां तक कि अन्त में हम अपने-आपको तथा उन सब चीजों को, जिन्हें हम अपनी समझते हैं, प्रेम और भक्तिभाव के साथ 'उस' को दे देने में आनन्द अनुभव करते हैं, चाहे 'वह' हमें आपाततः अपने से भिन्न प्रतीत होता है और निश्चय ही हमारे सीमित व्यक्तित्वों से भिन्न है भी। यज्ञ एवं उसका दिव्य प्रतिफल तब हमारी अन्तिम पूर्णता का साधन बन जाते हैं जिसे हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; कारण, अब हम इसे अपने अन्दर सनातन प्रयोजन की परिपूर्ति का मार्ग समझने लगते हैं।

परन्तु बहुधा यज्ञ अचेतन रूप से, अहंभावपूर्वक और महान् सार्वभौम विधान के सच्चे अर्थ को जाने या अंगीकार किये बिना किया जाता है। पृथ्वीतल के अधिकांश प्राणी इसे इसी प्रकार करते हैं; और, जब यह इस प्रकार किया जाता है तब व्यक्ति इसके प्राकृतिक अवश्यम्भावी लाभ की एक यान्त्रिक न्यूनतम मात्रा ही प्राप्त करता है। इसके द्वारा वह धीमे-धीमे और कठिनाई से प्रगति करता है और वह प्रगति भी अहं की क्षुद्रता तथा यातना से सीमित एवं पीड़ित होती है। दिव्य यज्ञ का गम्भीर आनन्द और मंगलमय फल तो तभी उपलब्ध हो सकते हैं जब हृदय, संकल्प और ज्ञानात्मक मन अपने-आपको इस विधान से सम्बद्ध करके इसका हर्षपूर्वक अनुसरण करें। इस विधान के सम्बन्ध में मन के ज्ञान तथा हृदय की प्रसन्नता की पराकाष्ठा इस अनुभव में होती है कि हम जो उत्सर्ग करते हैं वह अपनी ही आत्मा और आत्मतत्त्व के तथा सबकी एकमेव आत्मा और आत्मतत्त्व के प्रति ही करते हैं। और, यह बात तब भी सत्य होती है जब कि हम अपनी आत्माहुति परम देव के प्रति नहीं, बल्कि मनुष्यों या क्षुद्रतर शक्तियों और तत्त्वों के प्रति अर्पित कर रहे होते हैं। याज्ञवल्क्य उपनिषद् में कहते हैं, "पत्नी हमें पत्नी के लिये नहीं, बल्कि आत्मा के लिये प्यारी होती है।" इसे व्यक्तिगत अहं के निम्नतर अर्थ में लिया जाय, तो भी यह एक ऐसा निर्विवाद सत्य है जो अहंमूलक प्रेम के रंजित एवं आवेशयुक्त दावों के पीछे छिपा रहता है। परन्तु उच्चतर अर्थ में यह उस प्रेम का भी आन्तरिक आशय है जो अहंभावमय नहीं, बल्कि दिव्य होता है। समस्त सच्चा प्रेम एवं समस्त यज्ञ वास्तव में, एक मूलगत अहंभाव और उसकी विभाजनात्मक भ्रान्ति का प्रकृतिद्वारा किया गया विरोध है; यह एक आवश्यक प्रथम विभाजन से एकत्व की पुनरुपलब्धि की ओर मुड़ने का उसका प्रयत्न है। प्राणियों की समस्त एकता वास्तव में एक आत्म-गवेषणा है, यह उसके साथ मिलन है जिससे हम पृथक् हो चुके हैं और साथ ही दूसरों में अपनी आत्मा की उपलब्धि है।

परन्तु, एक दिव्य प्रेम और एकत्व ही उस वस्तु को प्रकाश में अधिकृत कर सकते हैं जिसे इन चीजों के मानवीय रूप अन्धकार में खोज रहे हैं। कारण, सच्चा एकत्व केवल उस प्रकार का संगठन और राशिकरण ही नहीं होता जिस प्रकार का समान हितवाले जीवन के द्वारा जुड़े हुए भौतिक कोषाणुओं का होता है, न यह भावों का ज्ञानमूलक सामंजस्य किंवा सहानुभूति, सामाजिकता या निकट संसर्ग ही होता है। जो हम से प्रकृतिजनित भेदों के कारण अलग हो गये हैं उनसे हम वास्तव में एकीभूत केवल तभी हो सकते हैं जब हम भेद को मिटाकर अपने को उस वस्तु में प्राप्त कर लें जो हमें 'अपना-आप' नहीं प्रतीत होती। संगठन प्राणिक और भौतिक एकता है; इसका यज्ञ पारस्परिक सहायता और सुविधाओं का यज्ञ है। निकटता, सहानुभूति और सामाजिकता, मानसिक, नैतिक और भावुक एकता को जन्म देती है; इनका यज्ञ पारस्परिक सहायता और पारस्परिक सन्तुष्टि का यज्ञ है। परन्तु सच्ची एकता तो केवल आध्यात्मिक एकता ही होती है; इसका यज्ञ पारस्परिक आत्मदान और हमारी आन्तरिक सत्ताओं का परस्पर मिलन होता है। यज्ञ का विधान विश्व-प्रकृति में इस पूर्ण और निःशेष आत्मदान की पराकाष्ठा की ओर ही गति करता है, यह इस चेतना को जागृत करता है कि यजनकर्ता में और यज्ञ के ध्येय में एक ही सार्वभौम आत्मा है। यज्ञ की यह पराकाष्ठा मानवीय प्रेम एवं भक्ति की भी सर्वोच्च अवस्था होती है जब कि वह दिव्य बनने के लिये प्रयत्न करती है। कारण, प्रेम की सब से ऊंची चोटी भी पूर्ण पारस्परिक आत्मदान के स्वर्ग की ओर इंगित करती है, इसका सर्वोच्च शिखर भी दो आत्माओं का उल्लासपूर्वक घुल-मिल जाना है।

विश्वव्यापी विधान का यह गंभीरतर विचार गीता की कर्म-सम्बन्धी शिक्षा का मर्म है; यज्ञ के द्वारा सर्वोच्च देव के साथ आध्यात्मिक मिलन और सनातन देव के प्रति निःशेष आत्मदान इसके सिद्धान्त का सार है। यज्ञ के विषय में एक असंस्कृत विचार यह है कि यह कष्टमय आत्मबलिदान, कठोर आत्मपीड़न तथा कृच्छ्र आत्मोच्छेद का कार्य है। इस प्रकार का यज्ञ आत्मपंगूकरण और आत्म-यातना की सीमा तक भी पहुंच सकता है। ये चीजें मनुष्य के अपने प्रकृतिगत 'अहं' को अतिक्रान्त करने के कठिन प्रयास में कुछ समय के लिये आवश्यक हो सकती हैं। यदि मनुष्य की प्रकृति में अहंभाव उग्र और आग्रहपूर्ण हो तो कभी-कभी एक तदनुरूप प्रबल आन्तरिक अवदमन और उसीके तुल्य उग्रता के द्वारा उसका मुकाबला करना ही होता है। परन्तु गीता अपने प्रति किसी मात्रा में भी अधिक उग्रता के प्रयोग को मना करती है। क्योंकि अन्तःस्थित आत्मा वास्तव में विकसित हो रहा परमेश्वर ही है, वह कृष्ण है, वह भगवान् है। उसे उस प्रकार पीड़ा और यन्त्रणा नहीं पहुंचानी है जिस प्रकार संसार के असुर उसे पीड़ा और यन्त्रणा पहुंचाते हैं, बल्कि उसे उत्तरोत्तर संवर्धित, पालित-पोषित और दिव्य प्रकाश, बल, हर्ष और विशालता की ओर ज्वलन्त रूप से उद्घाटित करना है। अपनी आत्माको नहीं,

बल्कि आत्मा के आन्तरिक रिपुओं के दल को हमें निरुत्साहित और निष्कासित करना है, इन्हें आत्मोन्नति की वेदी पर बलि चढ़ा देना है। निर्दयतापूर्वक इन सब का उच्छेद किया जा सकता है। इनके नाम हैं,—काम, क्रोध, असमता, लोभ, बाह्य सुख-दुःखों के प्रति मोह और बलात् आक्रमण करनेवाले दैत्यों का सैन्यदल जो आत्मा की भ्रान्तियों और दुःखों के मूल कारण हैं। इन्हें अपने अंग नहीं, बल्कि अपनी आत्मा की वास्तविक और दिव्य प्रकृति पर अनधिकार आक्रमण करनेवाले और उसे विकृत करनेवाले समझना चाहिये; बलि शब्द के कठोरतर अर्थ के अनुसार इनकी बलि चढ़ा देनी होगी, भले ही ये जाते समय अपनी प्रतिच्छाया द्वारा जिज्ञासु की चेतना पर कैसा भी दुःख क्यों न डाल जायें।

परन्तु यज्ञ का वास्तविक सार बलिदान नहीं, आत्मार्पण है। इसका उद्देश्य आत्मोच्छेद नहीं आत्म-परिपूर्णता है। इसकी विधि आत्म-दमन नहीं, महत्तर जीवन है, आत्म-पंगूकरण नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक मानवीय अंगों का दिव्य अंगों में रूपान्तर है, आत्म-यन्त्रणा नहीं, वरन् क्षुद्रतर सुख से महत्तर आनन्द की ओर प्रयाण है। केवल एक ही चीज है जो उपरितल की प्रकृति के अपरिपक्व या कलुषित भाग के लिये प्रारम्भ में दुःखदायी होती है। यह एक अनिवार्य अनुशासन है जिसकी उससे मांग की जाती है, एक ऐसा परित्याग है जो अपूर्ण अहं के विलय के लिये आवश्यक है। परन्तु इसके बदले में उसे शीघ्र ही एक अपरिमित फल मिल सकता है, यह दूसरों में, सभी वस्तुओं में, विश्वव्यापी एकता में, विश्वातीत आत्मा एवं आत्म-तत्त्व की स्वतन्त्रता में और भगवान् के स्पर्श के हर्षोन्माद में एक वास्तविक महत्तर या चरम पूर्णता प्राप्त कर सकती है। हमारा यज्ञ कोई ऐसा दान नहीं है जिसके बदले दूसरी ओर से कोई प्रतिदान या फलप्रद स्वीकृति प्राप्त न हो। यह तो हमारी सनातन आत्मा और हमारी शरीरधारी आत्मा एवं सचेतन प्रकृति का पारस्परिक आदान-प्रदान है। क्योंकि, यद्यपि हम किसी भी प्रतिफल की मांग नहीं करते, तथापि हमारे अन्दर गहराई में यह ज्ञान रहता ही है कि एक अद्भुत प्रतिफल की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। आत्मा जानती है कि वह अपने-आपको भगवान् पर वृथा ही न्योछावर नहीं करती। कुछ भी याचना न करती हुई भी वह दिव्य शक्ति और उपस्थिति की अनन्त संपदाओं को प्राप्त करती है।

अन्त में हमें यज्ञ के पात्र (यजनीय) और यज्ञ की विधि पर विचार करना है। यज्ञ अदिव्य शक्तियों को अर्पण किया जा सकता है अथवा यह दिव्य शक्तियों को भी अर्पण किया जा सकता है। यह विराट् विश्वमय देव को अर्पण किया जा सकता है अथवा यह विश्वातीत परम देव को भी अर्पण किया जा सकता है। जो अर्घ्य चढ़ाया जाता है उसका कोई भी रूप हो सकता है—पत्र-पुष्प-फल-तोय या अन्न-धान्य का उत्सर्ग, यहां तक कि उस सबका निवेदन जो कुछ कि हमारे पास है और उस सबका अर्पण जो कुछ कि हम हैं। पात्र और हवि चाहे कोई भी हो, पर

जो हवि को ग्रहण करता और स्वीकार करता है वह परात्पर और विश्वव्यापी सनातन देव ही होता है, भले ही तात्कालिक पात्र उसे अस्वीकार कर दे या उसकी ओर उपेक्षा दिखाये। परात्पर देव जो विश्व से अतीत है, यहां भी, प्रच्छन्न रूप में ही सही, हम में, जगत् में और इसकी घटनाओं में विद्यमान है; हमारे निखिल कर्मों के सर्वज्ञ द्रष्टा और ग्रहीता तथा उनके गुप्त स्वामी के रूप में वह यहां उपस्थित है। एकमेव देव ही हमारे सब कार्यों और प्रयत्नों, पापों और स्खलनों तथा दुःखों और संघर्षों का अन्तिम परिणाम निर्धारित करता है, चाहे हम इस बात के प्रति सचेतन हों या अचेतन, चाहे हम इसे जानते एवं प्रत्यक्ष अनुभव करते हों अथवा न जानते हों और न अनुभव करते हों। सब वस्तुएं उसके अगणित रूपों में उसीकी ओर प्रेरित होती और उन रूपों के द्वारा उसी एक सर्वव्यापक सत्ता के प्रति अर्पित होती हैं। चाहे जिस भी रूप में और चाहे जिस भी भावना के साथ हम उसके पास पहुंचें उसी रूप में और उसी भावना के साथ वह हमारे यज्ञ को ग्रहण करता है।

कर्मों के यज्ञ का फल भी कर्म और उसके प्रयोजन के अनुसार एवं उस प्रयोजन की मूल भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। परन्तु (आत्मदान के सिवा) अन्य सभी यज्ञ एकांगी, अहंभावमय, मिश्रित, कालावच्छिन्न तथा अपूर्ण होते हैं,—ऊंची-से-ऊंची शक्तियों और तत्त्वों के प्रति अर्पित यज्ञों का भी ऐसा ही स्वरूप होता है; उनका फल भी आंशिक, सीमित, कालावच्छिन्न तथा अपनी प्रतिक्रियाओं में मिश्रित होता है और उससे केवल एक तुच्छ या अवान्तर प्रयोजन ही सिद्ध हो सकता है। पूर्ण रूपसे स्वीकार्य यज्ञ तो केवल चरम और परम ऐकान्तिक आत्म-दान ही होता है अर्थात् एक ऐसा समर्पण होता है जो एकमेव देव के प्रति उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति में, भक्ति और ज्ञान के साथ, स्वेच्छापूर्वक और निःसंकोच किया जाता है, उस एकमेव देव के प्रति जो एक साथ ही हमारी अन्तर्यामी आत्मा एवं चतुर्दिग्व्यापी उपादानभूत विश्वात्मा है तथा अभिव्यक्तिमात्र से परे परम सद्वस्तु है और गुप्त रूप से एक साथ ये सभी चीजें है, जो सर्वत्र निगूढ़ अन्तर्यामी परात्परता है। जो आत्मा अपने-आपको पूर्ण रूप से ईश्वर को दे देती है, उसे ईश्वर भी अपने-आपको पूर्ण रूप से दे देता है। केवल वही जो अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को अर्पित कर देता है आत्मा को प्राप्त करता है। केवल वही जो प्रत्येक वस्तु दे सकता है सर्वत्र विश्वमय भगवान् का रसास्वादन कर सकता है। केवल एक परम आत्म-उत्सर्ग ही परात्पर देव तक पहुंच पाता है। जो कुछ भी हम हैं उस सब को यज्ञद्वारा ऊपर उठा ले जाने से ही हम सर्वोच्च देव को साकार रूप में प्रकट करने और यहां परात्पर आत्मा की अन्तर्यामी चेतना में निवास करने में समर्थ हो सकते हैं।

*

जो मांग हम से की जाती है वह संक्षेप में यही है कि हम अपने सम्पूर्ण जीवन को एक सचेतन यज्ञ का रूप दे दें। हमें अपनी सत्ता के प्रत्येक पल और प्रत्येक गति को सनातन देव के प्रति एक सतत और भक्तियुक्त आत्मदान में परिणत करना होगा। अपने सब कर्मों को, छोटे-से-छोटे और अत्यन्त साधारण एवं तुच्छ कर्मों को तथा बड़े-से-बड़े और अत्यन्त असाधारण एवं श्रेष्ठ कर्मों को, सभी को एक समान, ईश्वरार्पण-भाव से करना होगा। हमारी व्यष्टिभावापन्न प्रकृति को एक ऐसी बाह्य तथा आन्तर क्रिया की अखंड चेतना में निवास करना होगा जो हम से परे की ओर अहं से महान् किसी वस्तु के प्रति निवेदित हो। यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि हवि किस वस्तु की है और उसे हम किसकी भेंट चढ़ाते हैं, पर भेंट करते समय ऐसी चेतना होनी चाहिये कि सब सत्ताओं में विद्यमान एकमेव दिव्य परम सत्ता को ही हम यह वस्तु भेंट कर रहे हैं। हमारे अत्यन्त साधारण और अति स्थूल भौतिक कार्योंको भी ऐसा उदात्त रूप धारण करना होगा। जब हम भोजन करें, हमें इस रूप में सचेतन होना चाहिये कि हम अपना भोजन अपने अन्दर विराजमान उस दिव्य उपस्थिति को दे रहे हैं। अवश्य ही इसे मन्दिर में एक पवित्र आहुति होना चाहिये और केवल शारीरिक आवश्यकता या शारीरिक भोग का भाव हम से दूर हट जाना चाहिये। किसी महान् प्रयास में, किसी ऊंची साधना में अथवा किसी कठिन या उदात्त पुरुषार्थ में—चाहे हम उसका बीड़ा अपने लिये उठावें या दूसरों के लिये या जाति के लिये,—यह अब सम्भव नहीं होना चाहिये कि हम जाति-सम्बन्धी, अपने-आप-सम्बन्धी या दूसरों-सम्बन्धी धारणा में ही आबद्ध हो जायें। जो काम हम कर रहे हैं वह हमें सचेतन भाव से कर्मों के यज्ञ के रूप में अर्पित करना होगा, पर अपने-आपको, दूसरों को या जाति को नहीं, बल्कि इनके द्वारा या सीधे ही एकमेव देवाधिदेव को अर्पित करना होगा; जो अन्तर्वासी भगवान् इन आकारों के पीछे छिपा हुआ था उसे अब और अधिक हमसे छिपा नहीं रहना चाहिये, बल्कि हमारी आत्मा, हमारे मन और हमारी इंद्रियों के समक्ष सदा उपस्थित रहना चाहिये। अपने कर्मों की प्रक्रियाएं और परिणाम हमें उस एकमेव के हाथों में सौंप देने चाहियें, इस भाव से कि वह उपस्थिति अनन्त और परमोच्च है और वही हमारे प्रयत्न तथा हमारी अभीप्सा को सम्भव बनाती है। उसीकी सत्ता में सब कुछ घटित होता है; उसीके लिये प्रकृति हम से समस्त प्रयत्न और अभीप्सा करवाती है और उस सबको फिर उसीकी वेदी पर अर्पित कर देती है। जिन कार्यों में अति स्पष्ट रूप से प्रकृति स्वयं ही कर्त्री होती है और हम उसकी क्रिया के साक्षी, धारक और सहायक मात्र होते हैं उनमें भी हमें कर्म और उसके दिव्य स्वामी का ऐसा ही अखंड स्मरण और स्थिर ज्ञान रहना चाहिये। हमारे अन्दर हमारे श्वास-प्रश्वास और हमारे हृदय की धड़कन तक को भी सचेतन बनाया जा सकता है और बनाना होगा ही। उन्हें विश्वव्यापी यज्ञ के जीवित-जागृत लय-ताल के रूप में अनुभव करना होगा।

स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचार और इसके प्रबल अभ्यास में तीन परिणाम अन्तर्निहित हैं जो हमारे आध्यात्मिक आदर्श के लिये केंद्रीय महत्त्व रखते हैं। सर्वप्रथम यह प्रत्यक्ष है कि यद्यपि ऐसा अभ्यास भक्ति के बिना भी प्रारम्भ किया जा सकता है तथापि वह सम्भवनीय उच्चतम भक्ति की ओर सीधे और अनिवार्य तौर पर ले जायगा, क्योंकि यह स्वभावतः ही गंभीर होकर एक कल्पनीय पूर्णतम आराधना एवं अत्यन्त गंभीर ईश्वर-प्रेम में परिणत हो जायगा। इसके साथ-साथ हमें सब वस्तुओं में भगवान् का अधिकाधिक अनुभव भी अवश्य प्राप्त होगा, अपने समस्त विचार, इच्छाशक्ति एवं कर्म में तथा अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में हम भगवान् के साथ उत्तरोत्तर गहरा अन्तर्मिलन लाभ करेंगे और अधिकाधिक भाव-विभोर होकर अपनी सम्पूर्ण सत्ता भगवान् को निवेदित कर देंगे। वस्तुतः, पूर्ण और निरपेक्ष भक्ति का असली सार भी कर्मयोग के इन फलितार्थों के अन्तर्गत हो जाता है। जो जिज्ञासु इन्हें जीवन्त-जाग्रत् रूप में चरितार्थ करता है वह आत्म-निष्ठता की असली भावना की एक स्थिर और प्रभावशाली प्रतिमूर्ति का अपने में निरन्तर निर्माण करता है, और यह अनिवार्य ही है कि इसमें से फिर उस सर्वोच्च देव की अत्यन्त मग्न करनेवाली पूजा का जन्म हो जिसे यह सेवा अर्पित की जाती है। समर्पित कर्मी जिस दिव्य उपस्थिति के साथ उत्तरोत्तर घनिष्ठ समीपता अनुभव करता है उसके प्रति उस में अनन्य प्रेम क्रमशः प्रबल होता जाता है। इसके साथ ही एक सार्वभौम प्रेम भी पैदा होता है या वह इस अनन्य प्रेम के अन्दर निहित रहता है। यह कोई भेदमूलक, क्षणिक, चंचल एवं लोलुप भाव नहीं होता, बल्कि एक सुस्थिर निःस्वार्थ प्रेम, एकत्व का एक गंभीरतर स्पन्दन होता है और सभी सत्ताओं, जीवित गोचर पदार्थों एवं प्राणियों के लिये, जो भगवान् के वास-स्थान हैं, समान रूप से उत्पन्न होता है। सभी में जिज्ञासु अपने एकमात्र सेव्य और आराध्य देव से मिलन अनुभव करने लगता है। कर्मों का मार्ग यज्ञ के इस पथ से चल कर भक्ति के मार्ग से जा मिलता है। यह स्वयं एक परिपूर्ण, तन्मयकारी और सर्वांगीण भक्ति हो सकता है, एक ऐसी गहरी-से-गहरी भक्ति हो सकता है जिसे हृदय की उमंग पाना चाह सकती है अथवा मन का प्रबल भाव कल्पना में ला सकता है।

और फिर, इस योग का अभ्यास एकमात्र केंद्रीय मोक्षदायक ज्ञान के सतत आन्तरिक स्मरण की अपेक्षा रखता है। उस ज्ञान को निरन्तर सक्रिय ढंग से कर्मों के रूप में बाहर उंडेलने से इस स्मरण को उद्दीप्त करने में सहायता मिलती है। सबमें एक ही आत्मा है, एकमेव भगवान् ही सब कुछ है; सब भगवान् में हैं, सब भगवान् हैं और विश्व में भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—यह विचार या यह श्रद्धा तब तक कर्मी की चेतना की सम्पूर्ण पीठिका रहती है, जब तक कि यह उसकी चेतना का सार-सर्वस्व ही नहीं बन जाती। इस प्रकार के स्मरण को अर्थात् अपने-आपको क्रियाशील बनानेवाले इस प्रकार के ध्यान को उस 'तत्'

के—जिसका हम इतने शक्तिशाली रूप से स्मरण करते हैं अथवा इतने अनवरत रूप से ध्यान करते हैं,—प्रगाढ़ और निर्बाध सन्दर्शन तथा सजीव और सर्वस्पर्शी ज्ञान में बदल जाना चाहिये और निश्चय ही अन्त में यह इसमें बदल भी जाता है। क्योंकि इससे बाध्य होकर हम प्रतिक्षण समस्त सत्ता, संकल्प और कर्म के उद्गम के सामने निरन्तर अपनी जिज्ञासा निवेदित करते हैं और इन सब विभिन्न आकारों तथा प्रतीतियों का हम उस 'तत्' में, जो इनका कर्त्ता और धर्त्ता है, आलिङ्गन करते हैं और साथ-ही-साथ इन्हें अतिक्रान्त भी कर जाते हैं। यह मार्ग अपने लक्ष्य पर तब तक नहीं पहुंच सकता जब तक कि यह सर्वत्र एक विश्वव्यापी आत्मा की कृतियों को स्पष्ट एवं सजीव रूप में, भौतिक रूप में देखने के समान ही प्रत्यक्ष तौर पर नहीं देख लेता। अपने शिखर पर यह उस अवस्था तक ऊंचा उठ जाता है जहां हम नित्य-निरन्तर अतिमानसिक और परात्पर भगवान् की उपस्थिति में ही रहते-सहते, सोचते-विचारते और संकल्प तथा कर्म करते हैं। जो कुछ हम देखते और सुनते हैं, जो कुछ भी हम छूते और अनुभव करते हैं और जिस-किसी भी चीज के प्रति हम सचेतन होते हैं उस सबको हमें उसी वस्तु के रूप में जानना और अनुभव करना होगा जिसकी हम पूजा और सेवा करते हैं; सभीको भगवान् की प्रतिमा में परिणत करना होगा, सभीको उसके देवत्व का निवासधाम अनुभव करना होगा तथा नित्य सर्वव्यापकता से आच्छादित करना होगा। बहुत पहले नहीं तो अपनी समाप्ति के समय यह कर्ममार्ग, भागवत उपस्थिति और संकल्प एवं बल के साथ अन्तर्मिलन होने पर, एक ज्ञानमार्ग में बदल जाता है। वह ज्ञानमार्ग ऐसे किसी भी मार्ग से अधिक पूर्ण एवं सर्वांगीण होता है जिसे कोरी मानवी मति रच सकती या बुद्धि की खोज उपलब्ध कर सकती है।

अन्त में, इस यज्ञ-रूपी योग का अभ्यास हमें इस बात के लिये बाध्य करता है कि हम अपने संकल्प, मन और कर्म में से अहंभाव के समस्त आन्तरिक अवलंबनों का त्याग कर दें और अपनी प्रकृति में से इसके बीज, इसकी उपस्थिति एवं इसके प्रभाव को निकाल फेंकें। सब कुछ भगवान् के लिये ही करना होगा; सब कुछ भगवान् को लक्ष्य करके ही करना होगा। हमें अपने लिये पृथक् सत्ता के रूप में कुछ भी नहीं करना होगा, दूसरों के लिये भी, चाहे वे पड़ोसी, मित्र और परिजन हों, अथवा देश या मानवजाति या अन्य प्राणी हों, केवल इस नाते से कुछ नहीं करना होगा कि वे हमारे निजी जीवन, विचार और भावधारा से सम्बद्ध हैं, न इस नाते से ही कुछ करना होगा कि हमारा अहं उनकी भलाई में अपेक्षाकृत अधिक रुचि रखता है। कर्म तथा विचार के इस दृष्टिकोण से सभी काम और समस्त जीवन भगवान् की अपनी विराट् वैश्व सत्ता के निःसीम मन्दिर में उसकी दैनिक सक्रिय आराधना और सेवा ही बन जाते हैं। जीवन व्यक्ति में सनातन देव का उत्तरोत्तर एक ऐसा यज्ञ बनता जाता है जो अनवरत एक नित्य परात्परता के प्रति

स्वयमेव अर्पित होता रहता है। यह सनातन विश्वगत आत्मा के क्षेत्र की विशाल यज्ञीय भूमि में अर्पित किया जाता है और नित्य शक्ति या सर्वव्यापिनी माता ही स्वयं इसे अर्पित करती है। अतएव, यह मार्ग कर्मोंद्वारा और कर्मगत भाव तथा ज्ञानद्वारा मिलन एवं अन्तःसंभाषण प्राप्त करने का मार्ग है, और यह वैसा ही पूर्ण और सर्वांगीण है जैसे कि हमारी ईश्वराभिमुख इच्छाशक्ति आशा कर सकती है, अथवा जैसे कि हमारी आत्म-शक्ति कार्यान्वित कर सकती है।

सर्वांगीण और चरम-परम कर्मयोग की समस्त शक्ति इस मार्ग में विद्यमान है। साथ ही, दिव्य आत्मा और स्वामी के प्रति अपने यज्ञ और आत्मोत्सर्ग के विधान के कारण, यह प्रेममार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों की सम्पूर्ण शक्ति से भी सम्पन्न है। इसके अन्त में ये तीनों दिव्य शक्तियां एक-दूसरे से घुलमिलकर और एकीभूत, परिपूरित एवं सर्वगुण-सम्पन्न होकर एक साथ काम करती हैं।

भगवान् या सनातन पुरुष हमारे कर्मों के यज्ञ का अधीश्वर है और अपनी सम्पूर्ण सत्ता एवं चेतना में तथा इसके अभिव्यक्तिक्षम करणों में उसके साथ मिलन ही यज्ञ का एकमात्र लक्ष्य है। अतएव, कर्मों के यज्ञ की क्रमिक प्रगति की नाप दो प्रकार से करनी होगी—प्रथम, हमारी प्रकृति में किसी ऐसी वस्तु के विकास के द्वारा जो हमें भागवत प्रकृति की ओर अधिक निकट ले जाती है, और दूसरे, भगवान् के अर्थात् उसकी उपस्थिति के अनुभव के द्वारा, हमारे प्रति उसकी अभिव्यक्ति के तथा उस 'उपस्थिति' के साथ अधिकाधिक सान्निध्य एवं मिलन के अनुभव के द्वारा। परन्तु भगवान् तत्त्वतः अनन्त है और उसकी अभिव्यक्ति भी बहुल रूप से अनन्त है। यदि ऐसी ही बात है तो अपनी सत्ता और प्रकृति में सच्ची सर्वांगीण पूर्णता हम किसी एक ही प्रकार के अनुभव से नहीं प्राप्त कर सकते; इसके लिये तो दिव्य अनुभव की अनेक विभिन्न लड़ियों को मिलाना आवश्यक होगा। न ही हम इसे तादात्म्य की किसी एक ही दिशा का एकांगी अनुसरण करके और उसे उसकी चरम सीमा तक पहुंचाकर प्राप्त कर सकते हैं; बल्कि इसके लिये तो हमें अनन्त के अनेक पार्श्वों में सामंजस्य साधना होगा। हमारी प्रकृति के पूर्ण रूपान्तर के लिये यह अनिवार्य है कि हमारी चेतना सर्वांगीण हो और साथ ही बहुरूप एवं शक्तिमय अनुभव से सम्पन्न भी हो।

इस अनन्त के किसी भी समग्र ज्ञान या बहुमुख अनुभव के लिये एक आधारभूत अनुभूति परमावश्यक है, वह यह कि हम भगवान् को एक ऐसी सारभूत सत्ता और सत्य अनुभव करें जिसके स्वरूप में आकृतियों या गोचर पदार्थों के कारण कुछ अन्तर नहीं पड़ता। अन्यथा, सम्भव है कि हम आकृतियों के जाल में ही फंसे रह जायं अथवा विश्वगत या विशेष रूपों के विशृंखल बाहुल्य में अव्यवस्थित रूप से भटकते फिरें। और, यदि हम इस गड़बड़ से बच भी जायं तो इसके बदले हमें किसी मानसिक सूत्र से या किसी सीमित व्यक्तिगत अनुभव के

घेरे में आबद्ध होना पड़ेगा। एकमात्र सुनिश्चित और सर्वसमन्वयात्मक सत्य, जो विश्व की वास्तविक भित्ति है, यह है कि जीवन एक अज आत्मा तथा आत्मसत्ता की अभिव्यक्ति है, और जीवन के गुप्त रहस्य की कुंजी इस आत्मा का अपनी रची हुई सत्ताओं से सच्चा सम्बन्ध है। इस सब जीवन के पीछे सनातन पुरुष की एक ऐसी दृष्टि है जो अपने असंख्य भूतभावों को देख रही है; इसमें सब ओर तथा सभी जगह एक अव्यक्त कालातीत सनातन पुरुष कालगत अभिव्यक्ति के बाहर और भीतर ओत-प्रोत है। परन्तु यदि यह ज्ञान केवल एक ऐसा बौद्धिक तथा दार्शनिक विचारमात्र हो जिसमें न कोई जीवन हो और न जिसका कोई फल ही होता हो, तो योग के लिये यह किसी काम का नहीं; कारण, कोई भी निरी मानसिक उपलब्धि जिज्ञासु के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती। योग जिसकी खोज करता है वह केवल विचार या मन का सत्य नहीं, वरंच एक सजीव और अभिव्यंजक अध्यात्म-अनुभव का सक्रिय सत्य है। एक सच्ची अनन्त उपस्थिति का सतत अन्तर्वासी और सर्वव्यापी सान्निध्य, जीवन्त बोध, घनिष्ठ सम्वेदन तथा समागम और प्रत्यक्ष अनुभव एवं संस्पर्श हमारे भीतर सदा-सर्वदा और सर्वत्र जागृत रहना चाहिये। वह उपस्थिति हमारे संग एक ऐसी सजीव और सर्वव्यापक सद्वस्तु के रूप में रहनी चाहिये जिसमें हम और सभी पदार्थ निवास करते, चलते-फिरते और काम-काज करते हैं। उसे हमें हर समय और हर जगह मूर्त्त, गोचर एवं घटघटवासी अनुभव करना होगा। हमें उसके प्रत्यक्ष दर्शन इस रूप में करने होंगे कि वह सब पदार्थों की सच्ची आत्मा है, उसे इस रूप में स्पर्श करना होगा कि वह सबका अविनाशी सार है, उससे इस रूप में घनिष्ठ मिलन लाभ करना होगा कि वह सबकी अन्तरतम आत्मा है। यहां सभी सत्ताओं में इस आत्मा और आत्म-तत्त्व को मानसिक विचारद्वारा ग्रहण करना ही नहीं, बल्कि इसे देखना, अनुभव करना, इंद्रियों द्वारा जानना तथा प्रत्येक प्रकार से इसका संस्पर्श प्राप्त करना और ऐसे ही सुस्पष्ट रूप से सभी सत्ताओं को इस आत्मा और आत्मतत्त्व में अनुभव करना—यह एक आधारभूत अनुभव है जिसके चारों ओर अन्य समस्त ज्ञान को केंद्रित होना होगा।

वस्तुओं की यह अनन्त और नित्य आत्मा सर्वव्यापक सद्वस्तु है, सर्वत्र विद्यमान एक ही सत्ता है; यह एकमेवाद्वितीय एकीकारक उपस्थिति है और भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न नहीं है। इस विश्व में प्रत्येक आत्मा या प्रत्येक दृश्य पदार्थ के भीतर हम उसके परिपूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार, संदर्शन या अनुभव कर सकते हैं। कारण, इसकी अनन्तता एक निरी देश और काल की असीमता या अनन्तता ही नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक और सारभूत वस्तु है। एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु में या काल के एक क्षण में भी वह अनन्त वैसे ही असंदिग्ध रूप में अनुभव किया जा सकता है जैसे कि युगों के विस्तार या सौर पिण्डों की पारस्परिक दूरी के बृहत्

प्रमाण में किया जा सकता है। उसका ज्ञान या अनुभव कहीं भी शुरू हो सकता है और किसी भी वस्तु के द्वारा प्रकट हो सकता है; क्योंकि भगवान् सबमें हैं और सब कुछ भगवान् ही है।

तथापि इस आधारभूत अनुभव का प्रारम्भ भिन्न-भिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के लिये विभिन्न प्रकार से होगा और उस सम्पूर्ण सत्य के विकसित होने में बहुत समय लगेगा जो इसके सहस्रों पहलुओं में छिपा हुआ है। उस शाश्वत उपस्थिति को मैं पहले-पहल सम्भवतः अपने में या अपनी आत्मा के तौर पर देखता अथवा अनुभव करता हूं और बाद में ही अपनी इस महत्तर आत्मा के दर्शन और अनुभव को प्राणिमात्र तक विस्तारित कर सकता हूं। तब मैं संसार को अपने अन्दर या अपने साथ एकीभूत अनुभव करता हूं। इस विश्व को मैं अपनी सत्ता के अन्दर एक नाटक के रूप में और इसकी प्रक्रियाओं के अभिनय को अपनी विराट् आत्मा के अन्दर पदार्थों, आत्माओं और शक्तियों की एक गति के रूप में देखता हूं। सभी जगह मैं अपने-आपसे ही मिलता हूं, और किसीसे नहीं। किन्तु इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि यह सब मैं उस असुर की-सी भ्रांत दृष्टि के कारण नहीं करता जो अपनी ही अत्यधिक विस्तृत प्रतिमूर्त्ति में निवास करता है, अहं को ही भ्रमवश अपना स्वरूप और अपनी आत्मा समझता है और अपने आंशिक व्यक्तित्व को अपने चारों ओर की सभी वस्तुओं पर एक प्रभुत्वशाली सत्ता के रूप में थोपने का यत्न करता है। कारण, ज्ञान का उदय होने से मैं यह सत्य तो ग्रहण कर ही चुका हूं कि मेरी सच्ची आत्मा अहं नहीं है; और साथ ही अपनी महत्तर आत्मा मुझे सदा यूं अनुभव होती है कि यह एक निर्वैयक्तिक बृहत् सत्ता या एक तात्त्विक व्यक्ति है जो फिर भी अपने से परे सब व्यक्तियों को अंतर्गत रखता है या फिर यह एक ही साथ दोनों चीजें है। परन्तु कुछ भी हो, चाहे यह निर्वैयक्तिक हो या असीम व्यक्तित्व, अथवा युगपत् दोनों ही हो तो भी यह एक अहं-अतीत अनन्त है। यदि मैंने इसे पहले दूसरों के अन्दर नहीं, वरन् इसके उस रूप में ढूंढ़ा तथा पाया है, जिसे मैं 'अपना-आप' कहता हूं, तो इसका कारण यही है कि वहां, मेरी चेतना के विषयिगत होने के कारण, इसे पाना, तत्काल जान लेना और अनुभव करना मेरे लिये अत्यंत सुगम है। परन्तु ज्यों ही यह आत्मा दिखायी दे त्यों ही यदि संकुचित साधनरूप अहं इसमें विलीन न होने लगे, अथवा यदि क्षुद्रतर बाह्य मनोनिर्मित 'मैं' उस महत्तर स्थिर अजन्मा आध्यात्मिक 'मैं' में विलुप्त हो जाने से इन्कार करे, तो मेरा अनुभव या तो विशुद्ध नहीं है या उसके मूल में ही कहीं त्रुटि है। अभी भी मुझमें कहीं एक अहंमूलक बाधा है; मेरी प्रकृति के किसी भाग ने एक 'स्व'-दर्शी और 'स्व'-संरक्षी निषेध को आत्मा के सर्वग्रासी सत्य के विरोध में खड़ा कर दिया है।

दूसरी तरफ— और कुछ लोगों के लिये यह अधिक सुगम तरीका है—मैं

भगवान् को पहले अपने से बाहर जगत् में अर्थात् अपने में नहीं, बल्कि दूसरों में देख सकता हूं। वहां प्रारम्भ से ही मैं उससे इस रूप में मिलता हूं कि वह एक अन्तर्वासी और सर्वाधार अनन्त है जो अपने उपरितल पर धारण की हुई इन सब आकृतियों, प्राणियों और शक्तियों से बंधा हुआ नहीं है। अथवा मैं यह देखता और अनुभव करता हूं कि वह एक शुद्ध एकाकी आत्मा और आत्मतत्त्व है जो इन सब शक्तियों और सत्ताओं को अपने अन्दर धारण किये हुए है, और तब मैं अपनी अहंबुद्धि को अपने चारों ओर की इस निश्चल-नीरव सर्वव्यापक उपस्थिति में विलीन कर देता हूं। बाद में यही मेरी करणात्मक सत्ता को व्याप्त और अधिकृत करने लगती है, और कर्म-सम्बन्धी मेरी सभी प्रेरणाएं, विचार और वाणी का मेरा सब प्रकाश, मेरी चेतना की समस्त रचनाएं और इस एकमेव विश्व-विस्तृत सत्ता के अन्य आत्म-रूपों के साथ मेरी चेतना के सम्बन्ध और संघर्ष—ये सभी इसीमें से निकलते प्रतीत होते हैं। मैं अब पहले की तरह यह क्षुद्र व्यक्तिगत स्व नहीं, वरन् 'तत्' हूं जिसने अपना कुछ अंश आगे कर रखा है और वह अंश विश्व में उस ('तत्') की क्रियाओं के एक विशेष रूप को धारण करता है।

एक और आधारभूत अनुभव भी है जो सबसे परले सिरे का है और फिर भी कभी-कभी प्रथम निर्णायक उद्घाटन या योग की प्रारम्भिक प्रगति के रूप में प्राप्त होता है। वह उस अनिर्वचनीय, उच्च, परात्पर एवं अविज्ञेय सत्ता के प्रति जागरण है जो मेरे और इस संसार के भी, जिसमें मैं निवास करता प्रतीत होता हूं, ऊपर अवस्थित है, वह उस कालातीत और देशातीत अवस्था या सत्ता के प्रति जागरण है जो, साथ ही, मेरे अन्दर की तात्त्विक चेतना के लिये, सबल और असंदिग्ध रूप में, एक अनन्य दुर्निवार सत्य है। प्रायः इस अनुभव के साथ एक और भी इतना ही प्रबल बोध होता है,—वह यह कि इहलोक की सब वस्तुएं या तो स्वप्न वा छाया की भांति भ्रमात्मक हैं अथवा वे अस्थायी, गौण और केवल अर्द्ध-वास्तविक हैं। कम-से-कम कुछ समय के लिये मेरे चारों ओर का सब दृश्य जगत् ऐसा दिखायी दे सकता है कि यह चलचित्र-से छाया-रूपों या तलीय आकारों का चलना-फिरना है और मेरा अपना कर्म ऐसा मालूम हो सकता है कि यह मेरे ऊपर या बाहर के किसी अब तक अगृहीत और सम्भवतः अनधिगम्य स्रोत से निकली तरल रचना हो। इस चेतना में रहने और इस प्रवेशात्मक अनुभव को विकसित करने अथवा वस्तुओं के स्वरूप के इस प्रथम संकेत का अनुसरण करने का अर्थ होगा—अहं और जगत् का अज्ञेय में लय करने किंवा मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने के लक्ष्य की ओर अग्रसर होना। किन्तु परिणति की केवल यही एक दिशा हो ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत, मेरे लिये यह भी सम्भव है कि मैं तब तक प्रतीक्षा करता रहूं जब तक इस कालातीत रिक्त मोक्ष की निश्चल-नीरवता के द्वारा मैं अपनी सत्ता और अपने कार्यों के इस अद्यावधि अज्ञात स्रोत के साथ सम्बन्ध न जोड़ लूं।

तब रिक्तता भरने लगती है और इसमें से भगवान् का सकल बहुविध सत्य और क्रियाशील अनन्त सत्ता के समस्त रूप एवं अभिव्यक्तियां तथा अनेकानेक स्तर उदित होने लगते हैं अथवा वे इसके अन्दर ही प्रवाहित होने लगते हैं। यह अनुभव पहले तो मन में और फिर हमारी सारी सत्ता में एक चरम, अथाह और अतल-प्राय शान्ति और नीरवता स्थापित कर देता है। अभिभूत, वशीकृत, स्तब्ध तथा अपने-आपसे निर्मुक्त होकर मन स्वयं इस नीरवता को ही परात्पर सत्ता स्वीकार कर लेता है। परन्तु पीछे जिज्ञासु को पता चलता है कि उसके लिये सब कुछ ही अन्तर्निहित या नवसृष्ट रूप में इस निश्चल-नीरवता में विद्यमान है अथवा सब कुछ इस निश्चल-नीरवता के ही द्वारा एक महत्तर निगूढ़ परात्पर सत्ता से उसके अन्दर अवतरित होता है। कारण, यह परात्पर एवं निरपेक्ष सत्ता अलक्षण शून्यता की शान्तिमात्र नहीं है; इसके अपने अनन्त आधेय और ऐश्वर्य हैं जब कि हमारे आधेय और ऐश्वर्य इनसे हीन और न्यून हैं। यदि सब वस्तुओं का यह स्रोत न होता तो विश्व उत्पन्न ही न हो सकता; सब शक्तियां, क्रियाएं और कर्म भ्रमरूप होते, सृष्टि और अभिव्यक्तिमात्र असम्भव होती।

यही हैं तीन मूल-रूप अनुभव इतने मूलभूत कि ज्ञानमार्ग के योगी को ये चरम तथा स्वतः-पर्याप्त प्रतीत होते हैं, साथ ही ये उसे निश्चित रूप में अन्य सब अनुभवों के शिरोमणि एवं प्रतिनिधि भी प्रतीत होते हैं। परन्तु परिपूर्णता के अन्वेषक के लिये ये अनन्य सत्य नहीं होते, न ही ये सनातन के समग्र सत्य के पूर्ण और एकमात्र सूत्र होते हैं, वरंच ये एक महत्तर दिव्य ज्ञान के अपूर्ण आरम्भ एवं विशाल आधारमात्र होते हैं, भले ही ये उसे कृपा के चमत्कार से शुरू की अवस्था में ही एकाएक और अनायास प्राप्त हो जायें या लंबी यात्रा और श्रम के पश्चात् कठिनाई से उपलब्ध हों। अन्य अनुभव भी हैं जिनकी निश्चय ही आवश्यकता है और जिनकी खोज उनकी सम्भाव्यताओं के परले छोर तक करनी होगी। यद्यपि उनमें से कुछ एक प्रथम दृष्टि में ऐसे प्रतीत होते हैं कि ये केवल उन भागवत रूपों को समाविष्ट करते हैं जो सत्ता की क्रियाशीलता के लिये यन्त्रात्मक हैं किन्तु उसके सारतत्त्व में अन्तर्निहित नहीं हैं, तो भी जब हम उनका अनुसरण अन्त तक करते हैं अर्थात् क्रियाशीलता में से होते हुए उनके सनातन स्रोत तक पहुंचते हैं तो हमें पता चलता है कि वे भगवान् के उस रूप का प्रकाश करते हैं जिसके बिना वस्तुओं के मूल सत्य का हमारा ज्ञान असमृद्ध और अपूर्ण ही रह जाता। ये यन्त्रात्मक सत्ताएं जो देखने में ऐसी प्रतीत होती हैं, उस रहस्य की कुंजी हैं जिसके बिना स्वयं मूलभूत तत्त्व भी अपना सम्पूर्ण गुह्यार्थ प्रकाशित नहीं करते। भगवान् का प्रकाश करने वाले सभी रूपों को हमें पूर्णयोग की विशाल परिधि के अन्दर ले आना होगा।

*

यदि संसार और उसके कर्मों से पलायन, अर्थात् परम मोक्ष एवं शम ही जिज्ञासु का एकमात्र ध्येय होता, तो ये तीन महान् आधारभूत अनुभव उसके आध्यात्मिक जीवन की कृतार्थता के लिये पर्याप्त होते। इन्हींमें एकाग्र होकर वह अन्य समस्त दिव्य या लौकिक ज्ञान का त्याग कर देता और स्वयं भारमुक्त होकर शाश्वत प्रशांति की ओर प्रयाण करता। परन्तु उसे संसार और उसके कर्मों को भी अपने ध्यान में रखना है, इनके मूलभूत दिव्य सत्य को जानना है और दिव्य सत्य तथा व्यक्त सृष्टि के उस प्रतीयमान विरोध का समाधान करना है जो अधिकतर आध्यात्मिक अनुभवों के आरम्भ में जिज्ञासु के सामने उपस्थित हुआ करता है। साधना की चाहे जिस भी दिशा का वह अनुसरण करे उसमें एक शाश्वत द्वैत अर्थात् सत्ता की दो अवस्थाओं का पार्थक्य उसके सामने उपस्थित होता है। उसे प्रतीत होता है कि ये अवस्थाएं परस्पर-विरोधी हैं और इनका विरोध ही जगत् की पहेली की असली जड़ है। बाद में, वह जान सकता है और अवश्य ही जान लेता है कि ये 'एकं सत्' के दो ऐसे ध्रुव हैं जो शक्ति की दो परस्पर-सम्बद्ध, ऋण-धनात्मक समकालीन धाराओं से जुड़े हुए हैं और इनकी एक दूसरे पर क्रिया ही सत्ता के अन्तर्निहित तत्त्वों की अभिव्यक्ति की वास्तविक अवस्था है, इनका पुनर्मिलन ही जीवन की विषमताओं के समाधान का एक नियत साधन है और इसीसे उस सर्वांगीण सत्य की उपलब्धि हो सकती है जिसकी कि वह खोज कर रहा है।

एक ओर तो उसे भान होता है कि यह आत्मा या नित्य आत्म-तत्त्व—ब्रह्म, यह सनातन सब जगह रमा हुआ है, एक ही स्वयंभू-सत्ता यहां कालगत रूप में प्रत्येक दृश्य या गोचर पदार्थ के पीछे विद्यमान है और विश्व से परे कालातीत है। उसे एक प्रबल और सर्वाभिभावी अनुभव होता है कि यह आत्मा न तो हमारा सीमित अहं है और न ही यह हमारा मन, प्राण या शरीर है; यह विश्वव्यापी है पर बाह्य दृश्य प्रपंच-रूप नहीं है और फिर भी उसकी आत्मिक इन्द्रिय-शक्ति के लिये यह किसी भी साकार या दृश्य वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक प्रत्यक्ष है; यह सार्वभौम है पर अपने अस्तित्व के लिये संसार की किसी वस्तु पर या संसार की समूची सृष्टि पर भी निर्भर नहीं है; यदि यह सारे-का-सारा जगत् लुप्त हो भी जाय, तो भी इसके लय से उसके स्थिर अंतरीय अनुभव के विषयभूत इस सनातन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। उसे निश्चय हो चुका है कि एक अवर्णनीय स्वयंभू-सत्ता है जो उसका तथा सब वस्तुओं का सार है। उसे उस तात्त्विक चेतना का अन्तरंग ज्ञान हो गया है जिसकी हमारा चिन्तक मन, प्राण-सम्वेदन और देह-सम्वेदन आंशिक और हीन प्रतिमाएंमात्र हैं, उसे यह भी अनुभव हो गया है कि वह चेतना एक ऐसी असीम शक्ति से सम्पन्न है जो इन सब शक्तियों का आदिस्रोत है और फिर भी इन सब सम्मिलित शक्तियों के योग या बल या स्वरूप के द्वारा समझ में नहीं आ सकती,

न इनके द्वारा उसकी व्याख्या ही हो सकती है। वह एक ऐसा अविच्छेद्य स्वयं-सत् आनन्द अनुभव करता है और उसमें निवास करता है जो हमारा क्षुद्रतर क्षणिक हर्ष या प्रसन्नता या सुख नहीं है। एक निर्विकार अविनाशी अनन्तता, एक कालातीत नित्यता, एक ऐसी आत्म-सचेतनता जो यह ग्रहणशील एवं प्रतिक्रियाकारी या स्पर्शक-तुल्य (tentacular) मानसिक चेतना नहीं है, वरन् इसके पीछे और ऊपर है तथा इसके नीचे भी विद्यमान है, यहां तक कि निश्चेतना में भी अन्तर्निहित है, और एक ऐसी एकता जिसमें किसी और सत्ता की सम्भावना ही नहीं है—यह इस सुस्थिर अनुभव का चतुर्विध स्वरूप है। तथापि यह नित्य स्वयंभू-सत्ता उसे इस रूप में भी दिखायी देती है कि यह एक चेतन काल-पुरुष है जो घटनाओं के प्रवाह को वहन करता है, एक आत्म-विस्तृत आत्मिक 'देश' है जो सब वस्तुओं और सत्ताओं को धारण करता है, एक आत्मिक सत्तत्त्व है जो अनाध्यात्मिक, अनित्य और सांत प्रतीत होनेवाली सभी वस्तुओं का वास्तविक रूप और उपादान है। जो क्षणभंगुर, देश-काल-बद्ध और सीमित है वह सब भी उसे यूं अनुभूत होता है कि वह अपने सारतत्त्व, बल और ऊर्जा में उस एकमेव, सनातन तथा अनन्त से भिन्न कुछ नहीं है।

तो भी उसके अन्दर या उसके सामने केवल यह नित्य आत्म-सचेतन सत्ता, यह आध्यात्मिक चेतना, स्वयं-प्रकाश शक्ति की यह अनन्तता और यह कालातीत तथा अपार परमानन्द ही विद्यमान नहीं है। इसके साथ ही, परिमित देश-काल में बंधा यह विश्व या शायद एक प्रकार का निःसीम सांत भी उसके अनुभव के सम्मुख निरन्तर वर्तमान है। इसके अन्दर सब कुछ नश्वर, सीमित, खण्डित, अनेकात्मक तथा अज्ञ है, दुःख-द्वंद्व के प्रति खुला हुआ है, एकता की किसी असिद्ध किन्तु अन्तर्निहित स्वरमाधुरी की सन्देहपूर्वक खोज कर रहा है, अचेतन या अर्द्ध-चेतन है या, जब अधिक-से-अधिक चेतन होता है तब भी मूल अविद्या और निश्चेतना से बंधा रहता है। सुतरां, वह सदा शान्ति या आनन्द की समाधि में ही नहीं रहता और यदि वह रहे भी तो भी यह कोई हल नहीं होगा, क्योंकि वह जानता है कि यह अविद्यामय जगत् तब भी उससे बाहर अथच उसकी किसी विस्तीर्णतर आत्मा के भीतर मानो सदा के लिये चल रहा होगा। कभी तो उसे यह प्रतीत होता है कि उसकी आत्मा की ये दो अवस्थाएं उसकी चेतना की स्थिति के अनुसार उसके लिये बारी-बारी से आती हैं। और, कभी ऐसा लगता है कि ये उसकी सत्ता के दो अवयव हैं, दो अर्द्ध—ऊर्ध्व और निम्न या आन्तर और बाह्य अर्द्ध—हैं जिनमें मेल नहीं है और जिनमें मेल बैठाना आवश्यक है। उसे शीघ्र ही मालूम हो जाता है कि उसकी चेतना के इस पार्थक्य में एक बड़ी भारी मोक्षजनक शक्ति है, क्योंकि इसके कारण वह अब अविद्या एवं निश्चेतना से पूर्ववत् बद्ध नहीं रहता। यह पार्थक्य अब उसे अपना और जगत् का वास्तविक स्वरूप नहीं, वरन् एक भ्रम

प्रतीत होता है जो दूर किया जा सकता है अथवा यह उसे कम-से-कम एक अस्थायी मिथ्या स्वानुभव अर्थात् माया मालूम देता है। उसके अन्दर प्रलोभन पैदा होता है कि वह इसे केवल भगवान् का प्रतिषेध, अथवा अनन्त की अगम रहस्य-लीला किंवा उसका छद्मवेश या हास्यास्पद अभिनय मान ले। समय-समय पर उसके अनुभव को यह वास्तव में दुर्दम रूप से ऐसा ही भासित होता है,—एक ओर तो ब्रह्म की प्रोज्ज्वल सत्यता और दूसरी ओर माया का अन्धकारमय भ्रम। परन्तु उसके अन्दर की कोई चीज उसे इस प्रकार सदा के लिये सत्ता को दो भागों में विभक्त कर डालने की अनुमति नहीं देगी। अधिक सूक्ष्मता से देखने पर वह जान जाता है कि इस अर्द्ध-प्रकाश या अन्धकार में भी सनातन विद्यमान है—माया का आवरण पहने हुए स्वयं ब्रह्म ही यहां विराजमान है।

यह एक वर्द्धनशील आध्यात्मिक अनुभव का प्रारम्भ है। यह उसके समक्ष इस बात को अधिकाधिक प्रकट कर देता है कि जो चीज उसे पहले अन्धकारमय अगम माया प्रतीत होती थी वह तब भी सनातन पुरुष की चिच्छक्ति से भिन्न और कुछ नहीं थी। वह शक्ति इस विश्व से परे कालातीत और असीम है, पर वह यहां, उज्ज्वल और धूसर, विरोधी तत्त्वों का जामा पहन कर मन, प्राण और जड़ में भगवान् की क्रमिक अभिव्यक्ति के चमत्कार के लिये सर्वत्र फैली हुई है। समस्त कालातीत सत्ता कालगत क्रीड़ा के लिये दबाव डालती है; कालगत सभी कुछ कालातीत आत्म-तत्त्व के आधार पर और उसीके चारों ओर परिभ्रमण करता है। यदि पार्थक्य का अनुभव मोक्षजनक था तो यह एकत्व का अनुभव गतिशील और कार्यक्षम है। वह अब अपने को केवल ऐसा ही अनुभव नहीं करता कि वह अपने आत्म-तत्त्व में सनातन पुरुष का अंश है, अपनी तात्त्विक आत्मा और आत्म-तत्त्व में सनातन पुरुष के साथ पूर्णतया एकीभूत है, वरंच यह भी कि वह अपनी सक्रिय प्रकृति में उसकी सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ चिच्छक्ति का यन्त्र है। उसके अन्दर सनातन देव की वर्तमान लीला चाहे कितनी भी सीमित और सापेक्ष क्यों न हो तथापि वह उसकी अधिकाधिक विस्तृत चेतना और शक्ति की ओर उद्घाटित हो सकता है और इस विस्तार की कोई भी निर्धारणीय सीमा नहीं प्रतीत होती। उस चिच्छक्ति का एक आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक स्तर भी उसके ऊर्ध्व में अपने को प्रकट करता है और सम्पर्क स्थापित करने के लिये नीचे झुकता हुआ प्रतीत होता है। उस स्तर में ये सीमाएं और शृंखलाएं नहीं हैं और उसकी शक्तियां भी सनातन के एक महत्तर अवतरण और एक कम प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न आत्म-प्रकाश के आश्वासन के साथ कालगत क्रीड़ा पर दबाव डाल रही हैं। इस प्रकार, ब्रह्म-माया का जो द्वैत एक समय विरोधमय प्रतीत होता था और अब द्विदल या द्वयात्मक अनुभव होता है उसका रहस्य जिज्ञासु के समक्ष इस रूप में आविष्कृत हो जाता है कि वह सब आत्माओं की आत्मा, सत्ता के स्वामी और विश्व-यज्ञ के एवं

उसके अपने यज्ञ के अधीश्वर का प्रथम महान् और क्रियाशील रूप है।

भगवत्प्राप्ति की एक और दिशा में एक दूसरा द्वैत जिज्ञासु के अनुभव के विषय के रूप में उपस्थित होता है। एक तरफ तो उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि एक साक्षि-चेतना है जो ग्रहण, निरीक्षण और अनुभव करती है, जो कर्म करती नहीं जान पड़ती, किन्तु जिसके लिये हमारे भीतर और बाहर के ये सभी कर्म प्रारम्भ किये जाते और जारी रखे जाते प्रतीत होते हैं। उसके साथ ही, दूसरी तरफ वह एक कर्त्री शक्ति या कार्य-प्रक्रिया की शक्ति को जानता है जो सभी कल्पनीय क्रियाओं को गठित, प्रेरित और परिचालित करती, गोचर एवं अगोचर अगणित पदार्थों को उत्पन्न करती तथा अपनी अविरत कर्मधारा और सृष्टि-प्रवाह के स्थिर आधारों के तौर पर उन्हें प्रयोग में लाती दिखायी देती है। साक्षि-चेतना में एकान्तभाव से प्रवेश करके वह शान्त, निर्लिप्त तथा निश्चल हो जाता है। वह देखता है कि अब तक वह प्रकृति की गतियों को निष्क्रिय भाव में प्रतिबिंबित करता आया है और फिर पीछे उन्हींको अपनी मान लेता रहा है; तथाच, इसी प्रतिबिंबित करने की क्रिया के कारण उन्हें उसकी अन्तरस्थ साक्षी आत्मा से एक आध्यात्मिक-सा मूल्य और महत्त्व प्राप्त हो गया है। परन्तु अब उसने वह अध्यारोप या प्रतिबिंबात्मक तादात्म्य वापिस ले लिया है। वह केवल अपनी शान्त आत्मा के प्रति ही सचेतन है और उसके चारों ओर जो गतिशील है उस सबसे विलग है। सब चेष्टाएं उसके बाहर हो रही हैं और उनकी अन्तरीय वास्तविकता की एकदम इति हो गयी है। वे उसे अब यान्त्रिक प्रतीत होती हैं, अब वह उनसे अनासक्त रहकर उन्हें समाप्त कर सकता है। केवल राजसिक गति में प्रवेश करने पर उसे एक विपरीत प्रकार का आत्मज्ञान होता है। स्वयं अपने विषय में उसे ऐसा अनुभव होता है मानो वह क्रियाओं का एक पुंज और शक्तियों की रचना एवं परिणाम है; यदि इस सब प्रपंच के बीच कोई सक्रिय चेतना, यहां तक कि किसी प्रकार का गतिशील पुरुष हो भी सही तो भी इसमें स्वतन्त्र आत्मा तो कहीं नहीं है। सत्ता की ये दो विभिन्न और विरोधी अवस्थाएं उसमें बारी-बारी से आती हैं अथवा एक साथ एक-दूसरे के आमने-सामने ही आ उपस्थित होती हैं। एक तो आन्तर सत्ता में प्रशान्त रहकर निरीक्षण करती है, किन्तु चलायमान नहीं होती और प्रकृति की क्रिया में भाग नहीं लेती; दूसरी किसी बाह्य या तलवर्त्ती आत्मा में सक्रिय रहती हुई अपनी अभ्यस्त गतियां जारी रखती है। उसने पुरुष-प्रकृति के महान् द्वैत के एक तीव्र पृथक्कारक अनुभव में प्रवेश पा लिया है।

परन्तु जैसे-जैसे चेतना गभीर होती जाती है, वैसे-वैसे वह इस बात से सचेतन होता जाता है कि यह केवल एक प्रारम्भिक सम्मुखीन प्रतीति है। उसे विदित हो जाता है कि उसकी अन्तःस्थित साक्षी आत्मा के प्रशान्त अवलम्बन के द्वारा अथवा उसकी स्वीकृति या अनुमति से ही यह कार्यवाहिका प्रकृति उसकी सत्ता पर घनिष्ठता

या दृढ़ता से कार्य कर सकती है। यदि आत्मा अपनी अनुमति वापिस ले ले तो भी प्रकृति की गतियां सर्वथा यंत्रवत् बार-बार होती ही रहती हैं। प्रारम्भ में ये जबर्दस्त होती हैं मानो अब भी बलात् अपना अधिकार जमाने का यत्न कर रही हों, पर बाद में इनकी सक्रियता और वास्तविकता न्यूनातिन्यून हो जाती है। स्वीकृति या अस्वीकृति की इस शक्ति का अधिक सक्रिय प्रयोग करने पर वह देखता है कि प्रकृति की गतियों को वह पहले तो धीमे-धीमे तथा अनिश्चित रूप से और पीछे अधिक निश्चित तौर पर परिवर्तित कर सकता है। अन्त में उसके समक्ष यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि इस साक्षी आत्मा में या इसके पीछे एक ज्ञाता और अधिष्ठाता संकल्प विराजमान है जो प्रकृति में क्रिया कर रहा है। उसे उत्तरोत्तर ऐसा भासित होने लगता है कि प्रकृति के सब व्यापार उस चीज की अभिव्यक्तियां हैं जिसे प्रकृति की सत्ता का यह प्रभु जानता है और जिसके लिये यह या तो सक्रिय संकल्प करता है या निष्क्रिय अनुमति देता है। स्वयं प्रकृति भी यान्त्रिक इसी अंश में प्रतीत होती है कि उसके व्यापार सावधानी से व्यवस्थित किये हुए दिखायी देते हैं, परन्तु वास्तव में वह एक चिन्मय शक्ति है जिसके अन्दर एक आत्मा है, जिसकी प्रवृत्तियों में एक आत्मसचेतन आशय है और जिसकी गतिविधियों तथा रचनाओं में एक गुप्त संकल्प एवं ज्ञान का प्रकाश अभिव्यक्त होता है। यह द्वैत, पक्षतः भिन्न होने पर भी, अपने-आपमें अविच्छेद्य है; जहां-जहां प्रकृति है वहां-वहां पुरुष है, जहां-जहां पुरुष वहां-वहां प्रकृति। अपनी निष्क्रियता में भी वह प्रकृति की सम्पूर्ण शक्ति एवं बलों को, प्रयोग के लिये तैयार अवस्था में, अपने अन्दर धारण किये होता है। प्रकृति कर्म के वेग में भी अपने सर्जनोद्देश्य के सम्पूर्ण आधार तथा आशय के रूप में पुरुष की समस्त निरीक्षक और आदेशात्मक चेतना को अपने साथ लिये फिरती है। एक बार फिर जिज्ञासु अपने अनुभव से जान लेता है कि 'एकं सत्' के दो ध्रुव हैं और इनकी परस्पर-सम्बद्ध ऋण-धनात्मक शक्ति की दो दिशाएं या धाराएं हैं जो एक-दूसरी के साथ मिल कर 'सत्' के अन्तर्निहित वस्तुमात्र की अभिव्यक्ति संपादित करती हैं। यहां भी वह देखता है कि भेदात्मक रूप मोक्षजनक है; यह उसे उस बन्धन से मुक्त कर देता है जो अविद्या में प्रकृति की दोषपूर्ण क्रियाओं के साथ एकाकारता स्थापित करने से पैदा होता है। एकीकारक रूप क्रियाशील और फलोत्पादक है; यह उसे प्रभुत्व और पूर्णता प्राप्त करने की सामर्थ्य देता है। प्रकृति के अन्दर जो चीज कम दिव्य या प्रत्यक्षतः अदिव्य है उसे त्याग कर वह अपने अन्दर इसके आकारों और गतियों को एक महत्तर जीवन के उत्कृष्टतर आदर्श तथा उसके विधान एवं लयताल के अनुसार फिरसे गढ़ सकता है। एक आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्तर-विशेष पर यह द्वैत और भी अधिक पूर्णता के साथ एक चिच्छक्तिमय परम आत्मा का द्विक बन जाता है। इसकी शक्तिमत्ता किन्हीं भी बाधाओं को नहीं मानती और प्रत्येक सीमा को

तोड़ डालती है। इस प्रकार पुरुष-प्रकृति का यह द्वैत, जो पहले भेदयुक्त प्रतीत होता था पर अब द्वयात्मक अनुभव होता है, उसके समक्ष अपने समस्त सत्यसहित इस रूप में प्रकाशित हो जाता है कि यह सब आत्माओं की आत्मा का, सत्ता के स्वामी और यज्ञ के ईश्वर का द्वितीय महान्, यन्त्रात्मक और कार्यसाधक रूप है।

भगवत्प्राप्ति की इनसे भिन्न एक तीसरी दिशा में जिज्ञासु के सामने एक और, इनसे मिलता-जुलता पर पक्षतः विभिन्न, द्वैत उपस्थित होता है जिसमें द्वयात्मक स्वरूप अधिक शीघ्रता से प्रत्यक्ष होता है। वह ईश्वर और शक्ति का क्रियाशील द्वैत है। एक तरफ तो जिज्ञासु को अनन्त और स्वयंभू देवाधिदेव के उस सत्तात्मक रूप का ज्ञान होता है जिसमें वह देव सब वस्तुओं को सत्ता की अनिर्वचनीय गर्भावस्था में धारण करता है, जिसमें वह सब आत्माओं की आत्मा और सब जीवों का जीव है, सब पदार्थों का आध्यात्मिक पदार्थ और निर्वैयक्तिक अकथनीय सत् है; पर साथ ही वह एक असीम व्यक्ति भी है जो यहां अगणित व्यक्तित्वों में अपने-आपको ही प्रकट करता है, वह ज्ञान का स्वामी, शक्तियों का स्वामी, प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य का ईश्वर, सब लोकों का एक ही उद्गम, आत्म-अभिव्यंजक और आत्मसर्जक है, विश्वात्मा, विश्व-मन तथा विश्व-प्राण है, वह एक चेतन और सजीव सद्वस्तु है और इस दृश्य जगत् को, जो अचेतन एवं निर्जीव जड़तत्त्व प्रतीत होता है, आश्रय प्रदान करता है। दूसरी तरफ उसे देवाधिदेव के उस रूप का भी ज्ञान होता है जो कार्य-निष्पादक चिच्छक्ति से सम्पन्न है। वह चिच्छक्ति एक ऐसी आत्म-सचेतन शक्ति के रूप में प्रकट की गयी है जो अपने भीतर सब कुछ धारण और वहन करती है और उसे विश्वगत देश-काल में अभिव्यक्त करने के लिये नियुक्त है। उसे प्रत्यक्ष हो गया है कि यहां एक परम और अनन्त सत् है जो अपने दो भिन्न पार्श्वों में हमारे सामने प्रकट है और उन पार्श्वों का एक-दूसरे के साथ सीधे और उल्टे का सम्बन्ध है। उस सत्स्वरूप देवाधिदेव में सभी कुछ तैयार या पूर्व-वर्तमान है, वह उससे प्रादुर्भूत तथा उसके संकल्प और उपस्थिति के द्वारा धारित होता है। शक्तिस्वरूप देवाधिदेव सबको प्रकट करता है और उन्हें यहां गति में वहन भी करता है। उसी शक्ति से और उसी शक्ति में सब कुछ संभूत होता तथा क्रिया करता है और अपने वैयक्तिक या सार्वभौम प्रयोजन को विकसित करता है। यह भी एक द्वैत है जो अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक है। यह शक्ति की उस द्विगुण धारा को उत्पन्न करता तथा समर्थ बनाता है जो जगत् के व्यापारों के लिये सदैव आवश्यक प्रतीत होती है। शक्ति की ये धाराएं एक ही सत्ता के दो ध्रुव हैं, परन्तु द्वैत के इस रूप में ये ध्रुव एक-दूसरे के अधिक निकट हैं तथा प्रत्येक दूसरे की शक्ति को अपने सारतत्त्व तथा सक्रिय प्रकृति में सदैव स्पष्ट रूप से धारण करता है। इस तथ्य के बल पर दिव्य परम रहस्य के दो महान् तत्त्व—वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक अथवा सगुण और निर्गुण—यहां परस्पर

एकीभूत हैं , सर्वांगीण सत्य का अन्वेषक ईश्वरशक्ति के द्वैत में अपने-आपको दिव्य परत्परता और अभिव्यक्ति के उस परम रहस्य के निकट अनुभव करता है जो किसी अन्य अनुभव के द्वारा प्रस्तुत रहस्य की अपेक्षा अधिक अन्तरंग और चरम है।

ईश्वरी शक्ति, भागवती चिच्छक्ति एवं जगज्जननी, सनातन 'एक' और व्यक्त 'बहु' के बीच मध्यस्था बनती है। एक तरफ तो यह एकमेव से लायी शक्तियों की क्रीड़ाद्वारा, अपने व्यक्तीकारक तत्त्व में 'एक' की अनन्त आकृतियों को तिरोभूत रखती और उसीमें से उन्हें आविर्भूत करती हुई, विश्व में बहुगुणित भगवान् को प्रकट करती है; दूसरी तरफ उन्हीं शक्तियों की पुनरारोहणकारिणी धारा से वह सब वस्तुओं को 'तत्' में, जिससे वे निर्गत हुई हैं, वापिस ले जाती है, जिससे कि आत्मा अपनी विकासशील अभिव्यक्ति में वहां भगवान् की ओर अधिकाधिक लौट सके अथवा यहां अपना दिव्य स्वरूप धारण कर सके। यद्यपि प्रकृति संसार के यन्त्रवत् चलने की क्रिया को आयोजित करती है तो भी उसका वास्तविक रूप यह नहीं कि वह निश्चेतन तथा यन्त्रवत् कार्य-निष्पादन करनेवाली शक्ति है, जैसा कि उसके बाह्याकार पर प्रथम दृष्टि डालते ही हम अनुभव करते हैं; न ही उसमें वह 'मिथ्यात्व' का धर्म है जो 'माया'-विषयक हमारी प्रथम धारणा के साथ जुड़ा रहता है, अर्थात् यह धर्म कि वह भ्रमों या अर्द्ध-भ्रमों की सृष्टि करनेवाली है। अनुभवित्री आत्मा को यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि यहां एक चिन्मय शक्ति है जिसका सारतत्त्व और स्वभाव वही है जो परमदेव का है, क्योंकि वह उसीसे प्रकट हुई है। यदि ऐसा लगता है कि उसने हमें अविद्या और निश्चेतना में डुबा दिया है,—किसी ऐसी योजना की पूर्त्ति के लिये जिसे हम अभी समझ नहीं पाते,—यदि उसकी शक्तियां हमें विश्व की इन सब अनिश्चित शक्तियों के रूप में दिखायी देती हैं तो भी यह पता चलते देर नहीं लगती कि वह हमारे अन्दर दिव्य चेतना के विकास के लिये कार्य कर रही है और ऊपर स्थित होकर वह हमें अपनी उच्चतर सत्ता की ओर खींच रही तथा दिव्य ज्ञान, संकल्प एवं आनन्द के वास्तविक सार को हमारे सम्मुख अधिकाधिक प्रकट कर रही है। अज्ञान की गतियों में भी जिज्ञासु की आत्मा को यह अनुभव हो जाता है कि प्रकृति का सचेतन मार्ग-निर्देश उसके पगों को अवलंब दे रहा है और उन्हें शनैः-शनैः या शीघ्रता से, सीधे रास्ते या बहुत घुमा-फिराकर, अन्धकार से महत्तर चेतना के प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर और अशुभ एवं दुःख से उस शुभ और सुख की ओर ले जा रहा है जिनकी उसका मानवीय मन अभी एक धुंधली-सी कल्पना ही कर सकता है। इस प्रकार उसकी शक्ति एक साथ मोक्षप्रद तथा गतिशील, सर्जनकारी एवं कार्यक्षम है,—वस्तुएं जैसी आज हैं, केवल उन्हींकी नहीं, बल्कि जो आगे पैदा होने को हैं उनकी भी वह रचना करती है। अज्ञान के तत्त्व से निर्मित उसकी निम्नतर चेतना की टेढ़ी-मेढ़ी और उलझी गतियों को बहिष्कृत कर वह उसकी

आत्मा और प्रकृति को फिरसे उच्चतर दैवी प्रकृति के सत्त्व और बलों में गढ़ती और नया बनाती है।

इस द्वैत में भी भेदात्मक अनुभव सम्भव है। इसके एक सिरे पर जिज्ञासु केवल सत्ता के उस स्वामी से सचेतन हो सकता है जो उसे मुक्त और दिव्य बनाने के लिये उसके अन्दर अपने ज्ञान, शक्ति और आनन्द के सामर्थ्य बलपूर्वक उंडेल रहा है; शक्ति उसे इन ज्ञान आदि का द्योतक निर्वैयक्तिक बल या ईश्वर का गुणमात्र प्रतीत हो सकती है। दूसरे सिरे पर वह विश्व का सृजन करनेवाली उस जगज्जननी से मिलन प्राप्त कर सकता है जो अपने आत्मतत्त्व में से देवताओं और लोकों को तथा सब पदार्थों और सत्ताओं को उत्पन्न करती है। अथवा, यदि वह इन दोनों ही रूपों को देखता है तो भी वह इन्हें एक असम एवं विभेदक दृष्टि से ही देख सकता है, वह एक को दूसरे के अधीन कर देता है तथा शक्ति को ईश्वर के पास पहुंचने का साधनमात्र समझता है। इसके परिणामस्वरूप एक एकांगी प्रवृत्ति पैदा होती है अथवा समतोलता नष्ट हो जाती है; अर्थात् कार्य-निष्पादन का जो बल प्राप्त होता है वह अपने आधार पर सुप्रतिष्ठित नहीं होता अथवा ईश्वरीय सत्य का जो प्रकाश उपलब्ध होता है वह पूर्णतः क्रियाशील नहीं होता। जब इस द्वैत के दोनों पक्षों का पूर्ण मिलन साधित हो जाता है और वह उसकी चेतना पर अधिकार कर लेता है तब जिज्ञासु उस पूर्णतर शक्ति के प्रति उद्घाटित होने लगता है जो उसे यहां के विचारों और बलों के अस्त-व्यस्त संघर्ष से सर्वथा बाहर निकालकर उच्चतर सत्य में ले जायगी और इस अविद्यामय जगत् को प्रकाशयुक्त और मुक्त करने तथा इसपर प्रभुत्वपूर्ण ढंग से क्रिया करने के लिये उस सत्य के अवतरण को सम्भव बना देगी। उसने अब सर्वांगीण रहस्य को स्पर्श करना प्रारम्भ कर दिया है। यह रहस्य अपने पूर्ण रूप में तभी अधिगत हो सकता है जब वह मूल अज्ञान के साथ जटिलतापूर्वक गुंथे हुए ज्ञान के उस दोहरे स्तर को लांघ जाता है जिसका यहां राज्य छाया हुआ है और जब वह उस सीमा को पार कर लेता है जहां आध्यात्मिक मन अतिमानसिक विज्ञान में विलीन हो जाता है। एकमेव के इस तीसरे तथा अत्यन्त क्रियाशील द्वैत-पक्ष के द्वारा ही जिज्ञासु यज्ञ-महेश्वर की सत्ता के गहनतम रहस्य में अत्यन्त सर्वांगीण पूर्णता के साथ प्रवेश करने लगता है।

कारण, जीवन की पहेली का हल जैसे इस रहस्य में छिपा है कि अचित् में से चेतना, प्राणहीन में से प्राण और प्रकृति में से आत्मा प्रकट होती है वैसे ही यह इस रहस्य के पीछे भी छिपा है कि इस आपाततः निर्वैयक्तिक विश्व में भी व्यक्तित्व उपस्थित है। यहां फिर एक और क्रियाशील द्वैत विद्यमान है जो प्रथम दृष्टि में जैसा दिखायी देता है उससे कहीं अधिक व्यापक है और जो शनैः-शनैः आत्म-प्रकाश करनेवाली शक्ति की लीला के लिये नितान्त आवश्यक है। अपनी अध्यात्म-अनुभूति में जिज्ञासु के लिये यह सम्भव है कि वह द्वैत के एक ध्रुव पर खड़ा

होकर विराट् मन का अनुसरण करता हुआ सभी जगह मूलभूत निर्वैयक्तिकता के दर्शन करे। कारण, जड़ जगत् में विकासोन्मुख आत्मा एक ऐसी बृहत् निर्वैयक्तिक निश्चेतना से प्रारम्भ करती है जिसमें हमारी अन्तर्दृष्टि को तब भी एक प्रच्छन्न अनन्त आत्मा की उपस्थिति दिखायी देती है। फिर यह उस अनिश्चित चैतन्य और व्यक्तित्व के प्रादुर्भाव के साथ-साथ आगे बढ़ती है जो अपनी पूर्णतम अवस्था में भी एक उपाख्यान से प्रतीत होते हैं—एक ऐसा उपाख्यान जो अविच्छिन्न धारा के रूप में बराबर ही चलता रहता है। बाद में, यह जीवन के अनुभवद्वारा मन से ऊपर उठकर एक अनन्त, निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष अतिचेतना में जा पहुंचती है जहां व्यक्तित्व, मनश्चेतना, प्राण-चेतना—सभी निर्वाण या मोक्षकारक नास्ति के कारण अन्तर्धान होते जान पड़ते हैं। इससे निचले शिखर पर जिज्ञासु अब भी इस आधारभूत निर्वैयक्तिकता को ही एक सर्वत्र विद्यमान, साथ ही बड़ी भारी मोक्षप्रद शक्ति के रूप में अनुभव करता है। यह उसके ज्ञान को वैयक्तिक मन की संकीर्णता से मुक्त कर देती है, यह उसके संकल्प को वैयक्तिक कामना के पंजे से, उसके हृदय को क्षुद्र विकारी भावों के बन्धन से, उसके प्राण को उसकी तुच्छ निजी प्रणाली से और उसकी आत्मा को अहंबुद्धि से मुक्त कर देती है। यह उन्हें शान्ति, समता, विशालता एवं सार्वभौमता प्रदान करती है और साथ ही अनन्तता का आलिंगन करने की स्वतंत्रता भी। ऐसा प्रतीत होगा कि कर्मयोग के लिये व्यक्तित्व एक आवश्यक तत्त्व है, मानो यह उसका मुख्य अवलंब तथा उद्गमतुल्य है। परन्तु यहां भी पता चलता है कि निर्वैयक्तिक एक अत्यन्त प्रत्यक्ष मोक्षकारक शक्ति है, क्योंकि एक विशाल अहंरहित निर्वैयक्तिकता से ही मनुष्य स्वतन्त्र कर्त्ता और दिव्य स्रष्टा बन सकता है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि द्वैत के निर्वैयक्तिक ध्रुव से प्राप्त इस अनुभव के दुर्दम प्रभाव के द्वारा प्रेरित होकर ही ऋषियों ने यह घोषणा कर दी हो कि बस यही एक मार्ग है और निर्वैयक्तिक अतिचेतना ही सनातन का अनन्य सत्य है।

परन्तु इस द्वैत के विपरीत ध्रुव पर स्थित जिज्ञासु को अनुभव की एक अन्य ही दिशा दिखायी देती है जो हमारे हृदय के मूल तथा हमारी ठेठ जीवन-शक्ति में गहरे जमे हुए अन्तर्ज्ञान को प्रमाणित करती है। वह यह है कि निर्वैयक्तिक सनातनता में व्यक्तित्व चेतना, प्राण और आत्मा की तरह थोड़े दिनों का मेहमान नहीं है, वरंच इसमें सत्ता का वास्तविक मर्म निहित है। विराट् शक्ति के इस सुन्दर पुष्प को विश्व-प्रयास के लक्ष्य का पूर्वाभास तथा इसके वास्तविक आशय की झलक प्राप्त है। जैसे ही जिज्ञासु में गुह्य नेत्र खुलता है, उसे पीछे अवस्थित उन लोकों का ज्ञान होता है जिनमें चैतन्य और व्यक्तित्व बहुत बड़ा स्थान रखते हैं तथा प्रथम महत्त्व की वस्तु बन जाते हैं। यहां स्थूल जगत् में भी इस गुह्य दृष्टि के लिये जड़-तत्त्व की निश्चेतना एक गुप्त व्यापक चेतना से भर उठती है, इसकी निर्जीवता

स्पन्दनशील जीवन को बसाये हुए है और इसकी यांत्रिक प्रणाली एक अन्तर्वासी प्रज्ञा का कौशल है, क्योंकि ईश्वर और जीव सभी जगह हैं। सब से ऊपर वह अनन्त चिन्मय पुरुष है जिसने अपने-आपको इन सब लोकों के अन्दर नाना रूपों में प्रकट कर रखा है। निर्वैयक्तिकता तो उसके प्राकट्य का केवल एक प्रथम साधन है। यह मूल तत्त्वों तथा शक्तियों का क्षेत्र है और अभिव्यक्ति का एक सम आधार है। परन्तु वे शक्तियां अपने-आपको सत्ताओं के द्वारा प्रकट करती हैं और सचेतन आत्माएं उनके अधिष्ठातृदेवता हैं। वे उस चिन्मय पुरुष की, जो उनका मूलस्रोत है, अंशविभूतियां हैं। नानारूप अगणित व्यक्तित्व, जो उस एकमेव को प्रकट करता है, अभिव्यक्ति का वास्तविक आशय और प्रधान उद्देश्य है। आज यदि व्यक्तित्व संकुचित, खंडित तथा प्रतिबन्धक प्रतीत होता है तो इसका कारण यही है कि यह अपने उद्गम की ओर नहीं खुला है अथवा अपने को विराट् तथा अनन्त से परिपूरित करके अपने दैवी सत्य और पूर्णत्व में कुसुमित नहीं हुआ है। इस प्रकार यह सृष्टि-रचना कोई भ्रम या आकस्मिक यान्त्रिक-संयोग नहीं है, कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसके होने की जरूरत नहीं थी; यह कोई निष्फल प्रवाह भी नहीं है, बल्कि सचेतन और जीवन्त सनातन की प्रगाढ़ गतिशीलता है।

एक ही सत्ता के दो सिरों से दिखायी देनेवाला यह दृश्यगत आत्यन्तिक विरोध पूर्णयोग के जिज्ञासु के सामने कोई मौलिक कठिनाई नहीं पैदा करता। उसके सम्पूर्ण अनुभव ने उसे दिखा दिया है कि इन युगलरूप अवस्थाओं और इनकी शक्तियों की परस्परसम्बद्ध ऋण-योगात्मक धाराओं की इसलिये आवश्यकता है कि एकमेव सत्ता के भीतर जो कुछ है उसकी अभिव्यक्ति साधित हो सके। स्वयं उसके लिये व्यक्तित्व और अव्यक्तित्व उसके आध्यात्मिक आरोहण के हितार्थ दो पंख रहे हैं और उसे यह भाविदृष्टि प्राप्त हो गयी है कि वह एक ऐसी चोटी पर पहुंचेगा जहां उनकी साहाय्यप्रद परस्पर-क्रिया उनकी शक्तियों के सम्मिलन का रूप ले लेगी और एक अखंड सद्वस्तु को आविर्भूत करेगी तथा भगवान् की आद्या शक्ति को क्रिया में प्रवृत्त कर देगी। सत्ता के मूलभूत पक्षों में ही नहीं, बल्कि अपनी साधना की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भी उसने उनका दोहरा सत्य तथा परस्परपूरक व्यापार अनुभव किया है। एक निर्वैयक्तिक उपस्थिति ने उसकी प्रकृति पर ऊपर से अधिकार जमा लिया है अथवा उसके अन्दर प्रविष्ट होकर उसे अपने वश में कर लिया है। एक प्रकाश ने अवतीर्ण होकर उसके मन तथा जीवन-शक्ति को एवं उसके शरीर के ठेठ कोषों तक को आप्लावित कर दिया है, उन्हें ज्ञान से प्रकाशित कर दिया है और उसके अपने स्वरूप को एवं उसकी अत्यन्त प्रच्छन्न तथा सन्देहातीत चेष्टाओं तक को उसके आगे खोलकर रख दिया है; जो-जो अज्ञान से सम्बन्ध रखता था उस सबको या तो प्रकाश में लाकर पवित्र कर दिया है या उसे मिटा डाला है अथवा उसे एक उज्ज्वल रूप में परिणत कर दिया है। एक शक्ति उसके अन्दर

धाराओं में या समुद्र की भांति प्रवाहित हुई है, उसने उसकी सत्ता में तथा सभी अंगों में क्रिया की है, सभी जगह विघटन, नव-निर्माण, पुनर्गठन तथा रूपान्तर किया है। एक आनन्द ने उसे आक्रान्त किया है और जतला दिया है कि वह दुःख-ताप को असम्भव कर दे सकता है तथा स्वयं पीड़ा को भी दिव्य सुख में बदल सकता है। एक सीमातीत प्रेम ने प्राणिमात्र से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया है अथवा एक अभेद्य घनिष्ठता और अकथ मधुरता एवं सुन्दरता का लोक उसके सामने प्रकाशित कर दिया है और पार्थिव जीवन की विषमता के बीच भी अपने पूर्णता के विधान तथा अपने परमोल्लास को आरोपित करना आरम्भ कर दिया है। एक आध्यात्मिक सत्य और ऋत ने इस संसार के शुभ और अशुभ को अपूर्णता या मिथ्यात्व का दोषी ठहराया है और एक परम शुभ एवं उसके सूक्ष्म सामंजस्य-सूत्र का तथा उसके द्वारा कर्म, अनुभूति और ज्ञान के उन्नयन का रहस्य खोल दिया है। परन्तु इन सबके पीछे तथा इनके अन्दर उसने एक देव को अनुभव किया है जो ये सभी चीजें है,—जो प्रकाश का दाता, मार्गदर्शक, सर्वज्ञ, शक्ति का स्वामी, आनन्ददाता, सखा, सहायक, पिता, माता, संसार-क्रीड़ा में खेल का साथी, उसकी सत्ता का परम प्रभु, उसकी आत्मा का प्रियतम और प्रेमी है। भगवान् के साथ आत्मा के सम्पर्क में वे सभी सम्बन्ध विद्यमान रहते हैं जिनसे मानव व्यक्ति परिचित है; किन्तु वे अतिमानवीय स्तरों पर पहुंच जाते हैं और उसे दिव्य प्रकृति धारण करने के लिये बाध्य कर देते हैं।

जिस चीज की हम खोज कर रहे हैं वह पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण शक्ति है और साथ ही सत्ता के मूल में अवस्थित 'सर्व' एवं अनन्त के साथ मिलन की परिपूर्ण विपुलता है। पूर्णयोग के जिज्ञासु के लिये कोई भी एक अनुभव या कोई भी एक भागवत पथ सनातन देव के ऐकान्तिक सत्य का रूप धारण नहीं कर सकता, चाहे वह मानव-मन के लिये कितना भी अभिभूतकारी, उसकी क्षमता के लिये कितना भी पर्याप्त और एकमात्र या चरम सद्वस्तु के रूप में कितनी भी सुगमता से स्वीकार्य क्यों न हो। भागवत एकत्व के चरम-परम अनुभव का और भी अधिक प्रगाढ़ आलिंगन तथा यथेष्ट अवगाहन वह केवल तभी कर सकता है यदि वह भागवत बहुत्व के अनुभव का पूर्ण रूप से अनुसरण करे। बहुदेवतावाद और एकदेवतावाद के पीछे जो कुछ भी सत्य है वह सब उसकी खोज के क्षेत्र के भीतर आ जाता है; परन्तु मानव-मन के निकट इनका जो स्थूल अर्थ है उसे लांघकर वह भगवान् के भीतर निहित इनके गुह्य सत्य को पकड़ पाता है। वह देख लेता है कि कलहायमान संप्रदायों और दर्शनों का लक्ष्य क्या है और सद्वस्तु के प्रत्येक पार्श्व को वह उसके अपने स्थान में स्वीकार करता है। किन्तु उनकी संकीर्णता और भ्रान्तियों को तजकर वह तब तक आगे बढ़ता जाता है जब तक वह उस एकमेव सत्य को ही नहीं ढूंढ़ लेता जो उन्हें एक साथ बांधे हुए है। मानवरूप-ईश्वरवाद (Anthropomorphism) एवं मनुष्यपूजा की निन्दा उसे

विचलित नहीं कर सकती, क्योंकि वह देखता है कि ये तो उस अज्ञ तथा गर्वित तर्कबुद्धि या विश्लेषक मन के पक्षपात हैं जो अपने संकुचित क्षेत्र में अपनी ही धुरी के चारों ओर घूमता रहता है। यद्यपि मानवीय सम्बन्ध, जैसे कि ये आज मनुष्य द्वारा व्यवहार में लाये जाते हैं, तुच्छता, विकार और अज्ञान से पूर्ण हैं तो भी ये भगवान् की ही किसी वस्तु के विरूप प्रतिबिम्ब हैं और इन्हें भगवान् की ओर फेरकर वह उसे पा लेता है जिसके ये प्रतिबिम्ब हैं और उसे जीवन में अपनी अभिव्यक्ति करने के लिये नीचे उतार लाता है। मनुष्य के ही द्वारा, जब कि वह अपने-आपको अतिक्रान्त करके परम पूर्णत्व की ओर उद्घाटित हो जाता है, भगवान् अपने को यहां व्यक्त करते हैं। आध्यात्मिक विकास की धारा और प्रक्रिया में ऐसा होना अनिवार्य है। अतएव, वह ईश्वर को मानव-शरीर धारण किये देखकर, **मानुषीं तनुमाश्रितम्,** उससे घृणा नहीं करेगा, न उसके प्रति अपने को अन्धा ही बना लेगा। ईश्वर-विषयक सीमित मानवीय धारणा को पार कर वह एकमेव दिव्य सनातन के विचार पर पहुंच जायेगा। परन्तु वह देवताओं के,—सनातन के उन वैश्व व्यक्तित्वों के,—जो जगत्-क्रीड़ा को आश्रय देते हैं, रूपों में भी उस सनातन का साक्षात् करेगा और विभूतियों—देहधारी जगत्-शक्तियों या मानव-नायकों—के आवरण के पीछे भी उसे पहचानेगा, वह गुरु में उसका आदर और आज्ञा-पालन करेगा और अवतार में भी उसकी पूजा करेगा। यदि वह किसी ऐसे व्यक्ति से मिल सके जो उस 'सत्' को उपलब्ध कर चुका है या वही 'तत्' बन रहा है जिसकी वह स्वयं खोज कर रहा है और यदि 'तत्' की अभिव्यक्ति के इस आधार में उसकी ओर खुल कर वह स्वयं भी उसे उपलब्ध कर सके तो इसे वह अपना परम सौभाग्य मानेगा। कारण, यह एक विकसनशील परिपूर्णता का अत्यन्त स्पष्ट चिह्न होता है और साथ ही जड़तत्त्व में उस वृद्धिशील अवतरण के महत् रहस्य का आश्वासन होता है जो स्थूल सृष्टि का गुप्त तात्पर्य है और पार्थिव सत्ता की सार्थकता है।

यज्ञ की प्रगति में यज्ञ का अधीश्वर जिज्ञासु के सामने अपने को इसी प्रकार प्रकट करता है। यह प्राकट्य किसी भी स्थिति में प्रारम्भ हो सकता है; किसी भी रूप में कर्म का स्वामी उसके अन्दर कर्म को अपने हाथ में ले सकता है और अपनी उपस्थिति को निरावृत करने के लिये उसपर तथा कर्म पर उत्तरोत्तर दबाव डाल सकता है। समय आने पर सभी रूप अपने-आपको प्रकाशित करते हैं, एक-दूसरे से वियुक्त और संयुक्त होते हैं, घुलते-मिलते और एक हो जाते हैं। अन्त में उस सबमें से वह परम सर्वांगीण सद्वस्तु उद्भासित हो उठती है जो मन के लिये अज्ञेय है, क्योंकि मन अज्ञान का अंग है, पर जो फिर भी ज्ञेय है, क्योंकि वह अध्यात्म-चेतना और अतिमानसिक ज्ञान के प्रकाश में अपने प्रति सचेतन है।

*

यज्ञ का प्रथम लक्ष्य और इसकी चरम सफलता की शर्त है—सर्वोच्च सत्य या सर्वोच्च सत्, चित्, शक्ति, आनन्द और प्रेम का दिव्य दर्शन— उन सत्य आदि का जो निर्वैयक्तिक भी हैं और वैयक्तिक भी और जो इस कारण हमारी सत्ता के दोनों पार्श्वों को ऊंचा उठा ले जाते हैं—क्योंकि हमारे अन्दर भी तो व्यक्तित्व, और अव्यक्तित्वमय तत्त्वों तथा शक्तियों का समुदाय अस्पष्ट रूप से मिले हुए हैं। यज्ञ की सफलता का रूप यह होता है कि जो 'तत्' हमारी दृष्टि और अनुभूति के समक्ष इस प्रकार व्यक्त होता है उसके साथ हम अपनी सत्ता का मिलन प्राप्त कर लेते हैं। यह मिलन तीन प्रकार का होता है। एक तो आध्यात्मिक सारतत्त्व में तादात्म्य, दूसरा इस परमोच्च सत्ता और चेतना में हमारी आत्मा का अन्तर्वास, तीसरा 'तत्' और हमारी ऐहिक यन्त्रात्मक सत्ता में प्रकृतिगत साधर्म्य या एकत्वरूपी सक्रिय मिलन। पहला अज्ञान से मुक्ति और सत्य तथा सनातन से तादात्म्य अर्थात् मोक्ष और सायुज्य है जो ज्ञानयोग का विशेष लक्ष्य है। दूसरा आत्मा का भगवान् के साथ या उसके अन्दर निवास अर्थात् सामीप्य और सालोक्य है। यह सब प्रकार के प्रेमयोग एवं आनन्दयोग की बलवती आशा है। तीसरा प्रकृति में एकरूपता या भगवत्साधर्म्य है अर्थात् वैसा ही पूर्ण बनना जैसा पूर्ण 'वह' है,—यह शक्ति एवं पूर्णता के या दिव्य कर्मों तथा सेवा के सभी योगों का उच्च उद्देश्य है। तीनों की सम्मिलित पूर्णता,—जो यहां आत्म-अभिव्यंजक भगवान् की बहुगुणित एकता पर आधारित होती है,—सर्वांगीण योग की परिणति है, इसके त्रिविध पथ का लक्ष्य तथा इसके त्रिविध यज्ञ का फल है।

तादात्म्य-रूप मिलन हमें उपलब्ध हो सकता है अर्थात् हमारी सत्ता के उपादान का उस परम आत्मिक उपादान में, हमारी चेतना का उस दिव्य चेतना में, हमारी आत्मस्थिति का आध्यात्मिक परमानन्द की उस मस्ती में अथवा सत्ता के उस शान्त शाश्वत आनन्द में मोक्ष तथा रूपान्तर साधित हो सकता है। भगवान् में प्रकाशमय अन्तर्निवास हम प्राप्त कर सकते हैं; इससे हम अन्धकार तथा अज्ञान की इस निम्नतर चेतना में किसी प्रकार के पतन या निर्वासन से सुरक्षित रहेंगे और हमारी आत्मा प्रकाश, हर्ष, स्वातंत्र्य और एकत्व के अपने स्वाभाविक लोक में स्वतन्त्रता तथा स्थिरतापूर्वक विचरण करेगी। यह अन्तर्निवास हमें किसी अन्य पारलौकिक जीवन में ही प्राप्त नहीं करना है, वरन् इसे यहां भी खोजना और उपलब्ध करना है, और ऐसा तभी हो सकता है यदि एक अवतरण सम्पन्न हो, अर्थात् यदि भागवत सत्य को यहां उतार लाया जाय और आत्मा के निज धाम को, प्रकाश, हर्ष, स्वतंत्रता और एकता के धाम को यहां प्रतिष्ठित किया जाय। हमारी आत्मा और चेतन तत्त्व के समान ही जब हमारी करणात्मक सत्ता भी मिलन लाभ कर लेगी, तब हमारी अपूर्ण प्रकृति दैवी प्रकृति के साक्षात् रूप और प्रतिमूर्ति में परिणत हो जायगी। इसे अज्ञान की अन्ध, कुंठित, पंगु और विषम चेष्टाओं को तजकर ज्योति,

शान्ति, आनन्द, सामंजस्य, सार्वभौमता, प्रभुता, पवित्रता और पूर्णता का स्वभाव धारण करना होगा। इसे अपने-आपको दिव्य ज्ञान के पात्र में, सत्ता की दिव्य संकल्पशक्ति और बल के यंत्र में तथा दिव्य प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य के स्रोत में रूपान्तरित कर देना होगा। यही वह रूपान्तर है जो हमें सम्पन्न करना होगा, अपनी कालबद्ध सांत सत्ता को सनातन और अनन्त के साथ योगयुक्त करके हमें उस सब को, जो कुछ कि हम इस समय हैं या प्रतीत होते हैं, पूर्ण रूप से रूपान्तरित करना होगा।

यह सब कठिन परिणति तभी सम्भव हो सकती है यदि हमारी चेतना का एक महान् परिवर्तन तथा आमूलचूल विपर्यय और हमारी प्रकृति का एक अलौकिक समग्र रूपान्तर सम्पन्न हो जाय। सम्पूर्ण सत्ता को आरोहण करना होगा, इहलोक में बंधी हुई और अपने करणोंपकरणों तथा अपनी परिस्थितियोंसे जकड़ी हुई आत्माको ऊर्ध्वस्थ स्वतंत्र शुद्ध आत्मा की ओर आरोहण करना होगा, जीव को किसी आनन्दमय अति-जीव की ओर, मन को किसी प्रकाशमय अतिमानस की ओर तथा प्राण को किसी बृहत् अति-प्राण की ओर आरोहण करना होगा; यहां तक कि हमारे शरीर को भी अपने उद्गम से मिलने के लिये एक शुद्ध तथा नमनीय आत्मिक उपादान की ओर आरोहण करना होगा। यह आरोहण एक ही तेज उड़ान में पूरा नहीं हो सकता, बल्कि वेद में वर्णित यज्ञ के आरोहण की भांति यह एक शिखर से दूसरे शिखर पर आरोहण होता है जिसमें मनुष्य प्रत्येक चोटी से यह देखता है कि अभी ऊपर और बहुत कुछ है जिसे सम्पन्न करना शेष है।[1] साथ ही, ऊपर हमने जो उपलब्ध किया है उसे नीचे प्रतिष्ठित करने के लिये अवतरण का होना भी आवश्यक है। प्रत्येक शिखर को जीतने के बाद हमें उसकी शक्ति और प्रकाश को निम्नतर मर्त्य गति में उतारने के लिये लौटना होता है। ऊर्ध्व में नित्य-प्रकाशमान ज्योति की उपलब्धि के अनुरूप ही नीचे अवचेतन प्रकृति की गहनतम गुहाओं तक प्रत्येक अंग में छिपी हुई उस ज्योति का उन्मुक्त होना भी आवश्यक है। आरोहण की यह तीर्थयात्रा एवं रूपान्तर के प्रयास के लिये यह अवतरण अनिवार्य रूप से अपने साथ तथा अपने चारों ओर की विरोधी शक्तियों के साथ एक संघर्ष होता है, एक लंबा युद्ध होता है। जब तक यह चलता रहता है तब तक स्वभावतः ही ऐसा लग सकता है कि यह कभी समाप्त नहीं होगा। क्योंकि, हमारी सारी पुरानी तमसावृत और अज्ञ प्रकृति रूपान्तरकारी प्रभाव का बार-बार हठपूर्वक विरोध करेगी, पारिपार्श्विक विश्वप्रकृति की अनेकों बद्धमूल शक्तियां इसकी शिथिल अनिच्छुकता या इसके सबल प्रतिरोध का पृष्ठपोषण करेंगी, अज्ञान की शक्तियां, उसकी शासक सत्ताएं और उसके अधिपति अपना राज्य आसानी से नहीं छोड़ेंगे। प्रारम्भ में दीर्घ काल के लिये एक प्रायः आयासपूर्ण तथा कष्टप्रद अवस्था आ

[1] यत्सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्—। ऋ.—१. १०. २

सकती है जिसमें हमारी सत्ता की तैयारी और शुद्धि होती रहती है। यह अवस्था तब तक रहती है जब तक कि सारी-की-सारी सत्ता ही महत्तर सत्य और प्रकाश अथवा भागवत प्रभाव और उपस्थिति के प्रति उद्घाटित होने के लिये उद्यत और उपयुक्त नहीं हो जाती। और, जब यह केंद्रतः योग्य, उद्यत और उद्घाटित हो जाती है तब भी उस अवस्था के आने में बहुत समय लग जाता है जब हमारे मन, प्राण और शरीर की सब गतियां और हमारे व्यक्तित्व के सब बहुविध एवं संघर्षकारी अंग तथा तत्त्व रूपांतर की कठिन और कठोर प्रक्रिया को स्वीकार करने के योग्य बन जाते हैं और स्वीकार करके उसे सहन करने में भी समर्थ होते हैं। जब हम अपनी चेतना का अंतिम अतिमानसिक रूपान्तर और विपर्यय करना चाहते हैं, तब अपनी सत्ता के सभी अंगों के इच्छुक रहते भी हमें वर्तमान अस्थिर सृष्टि से संबद्ध सार्वभौम शक्तियों के विरुद्ध जो संघर्ष जीतना पड़ता है वह अत्यधिक कठिन होता है। कारण, वह अतिमानसिक रूपान्तर तो किसी प्रकाशयुक्त अज्ञान को नहीं, वरन् भागवत सत्य को उसकी परिपूर्णता में हमारे अंदर प्रतिष्ठित करेगा जब कि ये शक्तियां केवल प्रकाशयुक्त अज्ञान को ही अधिक सुगमता से अवकाश देना चाहेंगी।

इसीलिये यह अनिवार्य है कि हम उस 'तत्' के प्रति जो हमसे परे है पूर्ण रूप से नमन और समर्पण करें। इससे उसकी शक्ति हमारे अन्दर पूर्ण और स्वतंत्र रूप से क्रिया कर सकेगी। जैसे-जैसे यह आत्म-दान बढ़ता है, यज्ञ का कर्म अधिक सुगम और अधिक शक्तिशाली होता जाता है और विरोधी शक्तियों की बाधा का अधिकांश बल, वेग और सत्त्व नष्ट हो जाता है। जो कुछ इस समय कठिन या अव्यवहार्य प्रतीत होता है उसे सम्भवनीय और यहां तक कि सुनिश्चित वस्तु में परिणत करने के लिये दो आभ्यन्तर परिवर्तन अत्यधिक सहायक होते हैं। प्रथम तो अन्दर की वह गुप्त अन्तरतम आत्मा सामने आ जाती है जो मन की चंचल क्रियाशीलता से, हमारे प्राणिक आवेगों की हलचल से तथा भौतिक चेतना के अन्धकार से आवृत थी—यही वे तीन शक्तियां हैं जिन्हें हम इस समय, इनके अस्तव्यस्त संयोग में, अपनी आत्मा कहकर पुकारते हैं। आत्मा के सामने आने के फलस्वरूप केंद्र में एक भागवत उपस्थिति अपनी मोक्षजनक ज्योति और अमोघ शक्ति के सहित, अपेक्षाकृत निर्बाध रूप में, विकसित होने लगेगी और फिर उसकी ज्योति एवं शक्ति हमारी प्रकृति के समस्त चेतन और अवचेतन स्तरों के भीतर विकीर्ण होने लगेगी। यही दो चिह्न हैं, इनमें से पहला यह सूचित करता है कि परम खोज के प्रति हमारी दीक्षा और समर्पण पूर्ण हो गये हैं, दूसरा यह कि भगवान् ने हमारा यज्ञ अन्तिम रूप में स्वीकार कर लिया है।

अध्याय ५

यज्ञ का आरोहण (१)

ज्ञान के कर्म—चैत्य पुरुष

इस प्रकार, यही हमारे यज्ञ के यजनीय परम और अनन्त देव का आधारभूत सर्वांगीण ज्ञान है और यही त्रिविध यज्ञ अर्थात् कर्मों के यज्ञ, प्रेम और पूजा के यज्ञ एवं ज्ञान के यज्ञ का वास्तविक रूप है। कारण, जब हम केवल कर्मों के यज्ञ की चर्चा करते हैं तब भी हमारा मतलब केवल अपने बाह्य कर्मों के अर्पण से नहीं, अपितु उस सबके अर्पण से होता है जो हमारे अन्दर क्रियाशील और शक्तिमय है। अपनी बाह्य क्रियाओं के समान ही अपनी आन्तरिक गतियां भी हमें उसी एक वेदी पर अर्पित करनी होती हैं। यज्ञ के रूप में किये गये समस्त कर्म का मूल तत्त्व होता है आत्म-साधना तथा आत्म-पूर्णता का एक ऐसा प्रयत्न जिसके द्वारा हम उस ऊर्ध्व ज्योति से, जो हमारे मन, हृदय, संकल्प, इन्द्रिय, प्राण और शरीर की सभी गतियों में प्रवाहित होती है, चैतन्यमय और ज्योतिर्मय बनने की आशा कर सकते हैं। दिव्य चेतना की बढ़ती हुई ज्योति से हम अपनी आत्मा में संसार-यज्ञ के स्वामी का सान्निध्य और साथ ही अपनी अन्तरतम सत्ता तथा आध्यात्मिक स्वरूप में उससे तादात्म्य भी प्राप्त कर लेंगे, जो कि प्राचीन वेदान्त के अनुसार जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। अपिच, इसकी सहायता से हम, अपनी प्रकृति में भगवत्-साधर्म्य लाभ कर, अपनी संभूति में भी उससे एकमय हो जायेंगे, जो कि वेद के ऋषियों की गूढ़ भाषा में यज्ञ के प्रतीक का गुह्य तात्पर्य है।

परन्तु, यदि पूर्णयोग की दृष्टि में मानसिक सत्ता से आध्यात्मिक सत्ता की ओर द्रुत विकास का स्वरूप यही है तो एक प्रश्न पैदा होता है जो अत्यधिक जटिल होते हुए भी क्रियात्मक दृष्टि से अत्यन्त प्रबल महत्त्व रखता है। जीवन और कर्म के वर्तमान रूप के साथ और अपनी अभी भी अपरिवर्तित मानव-प्रकृति की विशेष प्रवृत्तियों के साथ हमें किस प्रकार व्यवहार करना होगा ? एक महत्तर चेतना की ओर आरोहण करना एवं इसकी शक्तियों का हमारे मन, प्राण और शरीर पर अधिकार कर लेना योग का प्रमुख लक्ष्य माना गया है; तथापि इहलोक का जीवन ही—कहीं और का कोई अन्य जीवन नहीं—आत्मा के कार्य के वर्तमान क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है; यह कार्य हमारी यंत्रात्मक सत्ता और प्रकृति का रूपान्तर है, उसका उच्छेद नहीं। तो फिर हमारी सत्ता की वर्तमान क्रियाओं का क्या होगा ? ज्ञान और इसके प्राकट्य की ओर अभिमुख मन की क्रियाओं का, हमारी भावग्राही और सम्वेदनग्राही अंगों की क्रियाओं का, बाह्य आचार, जनन और

उत्पादन की क्रियाओं का और मनुष्य, पदार्थ, जीवन, संसार एवं विश्वप्रकृति की शक्तियों पर प्रभुत्व प्राप्त करने में प्रवृत्त इच्छाशक्ति की क्रियाओं का क्या होगा? क्या इनका त्याग करना होगा और इनके स्थान पर जीवन-यापन की कोई अन्य प्रणाली प्रतिष्ठित करनी होगी जिसमें अध्यात्मभावापन्न चेतना अपनी सच्ची अभिव्यक्ति और आकृति प्राप्त कर सके? क्या इन्हें वैसी-की-वैसी जारी रखना होगा जैसी कि ये अपने बाह्य रूप में हैं और केवल कर्मगत आन्तरिक भावना के द्वारा ही इन्हें रूपान्तरित करना होगा अथवा क्या इनका क्षेत्र विस्तृत करना और इन्हें नये रूपों में उन्मुक्त करना होगा? क्या यह कार्य चेतना के एक वैसे विपर्यय के द्वारा करना होगा जैसा कि भूतल पर तब देखने में आया था जब मनुष्य ने पशु की प्राणिक क्रियाओं को तर्क, विचारयुक्त इच्छा-शक्ति, परिष्कृत भाव एवं सुव्यवस्थित बुद्धि के अन्तःसंचार से मानसीकृत, विस्तारित और रूपान्तरित करने का बीड़ा उठाया था? अथवा, क्या कुछ कार्यों का तो त्याग करना होगा और केवल ऐसे ही कर्मों को जारी रखना होगा जो आध्यात्मिक परिवर्तन सहन कर सकें, और शेष कर्मों के स्थान पर एक नये जीवन का सर्जन करना होगा जो, अपनी स्फुरणा और प्रेरकशक्ति की भांति अपने रूप में भी, मुक्त आत्मा की एकता, विशालता, शान्ति, हर्ष और सामंजस्य को प्रकट करनेवाला हो? सभी समस्याओं में से यही एक ऐसी समस्या है जिसने उन लोगों के मन को बहुत व्याकुल कर रखा है जिन्होंने योग की लंबी यात्रा में मानव से भगवान् की ओर ले जानेवाले पथों का अनुसरण करने का यत्न किया है।

इसके लिये सब प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके एक छोर पर तो यह समाधान है कि कर्म और जीवन का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिये,—जहां तक कि ऐसा करना शारीरिक तौर पर सम्भव है— और दूसरे छोर पर यह कि जीवन को ज्यों-का-त्यों पर एक नयी भावना के साथ अंगीकार करना चाहिये, एक ऐसी भावना के साथ जिससे इसकी सभी चेष्टाएं अनुप्राणित और उदात्त हो उठें, और देखने में चाहे वे वैसी ही रहें जैसी पहले थीं, किन्तु उनकी मूल भावना और, फलतः, उनका अन्तरीय अर्थ परिवर्तित हो जाय। संसारत्यागी तपस्वी या अन्तर्मुख, आनन्द-विभोर एवं आत्म-विस्मृत गुह्यदर्शी जिस आत्यन्तिक समाधान पर आग्रह करते हैं वह स्पष्ट ही पूर्णयोग के उद्देश्य के प्रतिकूल है; क्योंकि यदि हमें जगत् में भगवान् को उपलब्ध करना है तो यह जगत्-व्यवहार तथा स्वयं कर्म को सर्वथा एक ओर तजकर नहीं किया जा सकता। इससे कुछ निचले शिखर पर, प्राचीन काल में धार्मिक विचारकों ने यह नियम निर्धारित किया था कि मनुष्य को केवल ऐसे काम ही जारी रखने चाहियें जो स्वाभाविक रूप से भगवान् की जिज्ञासा, सेवा या पूजाप्रणाली के अंग हों और कुछ अन्य ऐसे काम जो इनसे सम्बद्ध हों अथवा इनके साथ ही कुछ वे काम भी जो जीवन की सामान्य

व्यवस्था के लिये अनिवार्य हों, किन्तु जो धार्मिक भावना से और परंपरागत धर्म तथा धर्मशास्त्र के विधि-निषेधों के अनुसार ही किये जायं। परन्तु यह इतना रूढ़िबद्ध नियम है कि इसके द्वारा स्वतंत्र आत्मा अपने-आपको कर्मों में चरितार्थ नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त, यह एक घोषित तथ्य है कि यह नियम ऐहिक जीवन से पारलौकिक जीवन की ओर जाने की कठिनाइयों को पार करने के लिये एक अस्थायी समाधान से अधिक कुछ नहीं है। इसके अनुसार अन्तिम ध्येय तो एकमात्र पारलौकिक जीवन ही रहता है। वास्तव में, किसी भी सर्वांगीण योग को गीता के इस व्यापक आदेश की ही शरण लेनी होगी कि मुक्त आत्मा को भी, सत्य में निवास करते हुए जीवन के सभी कर्म करते रहने चाहियें, ताकि एक गुप्त दिव्य पथ-प्रदर्शन के अनुसार हो रहे विश्व-विकास की योजना मंद या विनष्ट न हो जाय। परंतु यदि सभी कर्म वैसे ही आकार-प्रकार के साथ और वैसी ही पद्धति के अनुसार करने होंगे जैसे वे अब अज्ञान में किये जाते हैं, तो हमारी प्राप्ति केवल आन्तरिक ही होगी और इस बात का भी भय रहेगा कि कहीं हमारा जीवन बाह्य क्षीण ज्योति के कार्यों में लगी हुई अन्तर्ज्योति का एक संदिग्ध और अस्पष्ट सूत्र ही न बन जाय और परिपूर्ण आत्मा अपनी दिव्य प्रकृति से भिन्न या विजातीय अपूर्णता के सांचे में ही अपने-आपको प्रकट न करती रहे। यदि कुछ समय तक इससे अच्छा कुछ नहीं किया जा सकता,—और संक्रमण के दीर्घकाल में ऐसा कुछ अनिवार्यतः होता ही है,—तो ऐसी स्थिति तबतक बनी ही रहेगी जबतक सब साधन-सामग्री तैयार नहीं हो जाती और अंतःस्थित आत्मा शरीर और बहिर्जगत् के जीवन पर अपने रूपों को लागू करने में पर्याप्त समर्थ नहीं हो जाती। किन्तु इसे केवल एक संक्रमणावस्था के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, अपनी आत्मा के आदर्श या अपने पथ के चरम लक्ष्य के रूप में नहीं।

इसी कारण, नैतिक समाधान भी अपर्याप्त है। नैतिक नियम प्रकृति के दुर्दम अश्वों के मुंह में लगाममात्र डालता है और उनपर एक कठिन तथा आंशिक नियंत्रण का प्रयोग करता है, परंतु इसमें प्रकृति का ऐसा रूपान्तर करने की शक्ति नहीं है कि वह दिव्य आत्म-ज्ञान से प्राप्त होनेवाली अन्तःस्फुरणाओं को चरितार्थ करती हुई सुरक्षित स्वतंत्रता में विचरण कर सके। इसके सर्वोत्तम रूप में भी इसकी विधि है—सीमाओं को निर्धारित करना, दानव का निग्रह करना तथा हमारे चारों तरफ एक सापेक्ष और अत्यन्त संदिग्ध रक्षा की दीवार खड़ी कर देना। आत्म-रक्षण का यह या इसी प्रकार का कोई अन्य उपाय साधारण जीवन में किंवा योग में कुछ काल के लिये आवश्यक हो सकता है; किंतु योग में यह केवल संक्रमणावस्था का एक चिह्न भर हो सकता है। हमारा लक्ष्य है आमूल रूपान्तर और आध्यात्मिक जीवन की पावन विशालता और यदि हमें यह प्राप्त करना है तो हमें एक अधिक गम्भीर समाधान तथा एक अधिक विश्वस्त अति-नैतिक और क्रियाशील तत्त्व की

खोज करनी होगी। इस विषय में साधारण धार्मिक समाधान यह है कि व्यक्ति को अंदर से आध्यात्मिक और बाहरी जीवन में नैतिक होना चाहिये, पर यह एक समझौता मात्र है। हम जिस लक्ष्य की खोज कर रहे हैं वह जीवन और आत्मा में समझौता नहीं, वरन् आन्तर सत्ता और बाह्य जीवन दोनों का आध्यात्मीकरण है। अतएव, वस्तुओं के मूल्य और महत्त्व के सम्बन्ध में मनुष्य ने जो गड़बड़ मचा रखी है,—ऐसी गड़बड़ जो आध्यात्मिक और नैतिक के भेद को उड़ा देती है और यहां तक दावा करती है कि नैतिक तत्त्व ही हमारी प्रकृति में एकमात्र सच्चा आध्यात्मिक तत्त्व है,— वह हमारे लिये किसी काम की नहीं हो सकती। वास्तव में नीतिधर्म एक मानसिक नियंत्रण है और सीमित भ्रांतिशील मन स्वतंत्र और सदा-प्रकाशमान आत्मा नहीं है और न हो ही सकता है। इसी प्रकार, उस सिद्धान्त को भी स्वीकार करना असम्भव है जो जीवन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानता है, उसके तत्त्वों को ज्यों-का-त्यों मूलभूत रूप में ग्रहण करता है और उसे रंजित तथा सुशोभित करने के लिये एक अर्द्ध-आध्यात्मिक या मिथ्या-आध्यात्मिक प्रकाश को आमंत्रित करता है। न ही प्राण और अध्यात्म में एक प्रकार का कुसम्बन्ध स्थापित करने के लिये बार-बार यत्न करना उपयुक्त हो सकता है,—ऐसा कुसम्बन्ध कि भीतर तो गुह्य अनुभव हो और बाहर एक ऐसा सौन्दर्यरसिक, बौद्धिक एवं ऐन्द्रिय प्रकृतिपूजावाद या उच्च सुखवाद हो जो गुह्य अनुभव का सहारा लेकर और आध्यात्मिक स्वीकृति की चमक-दमक में अपनी कामनाओं को तृप्त करता रहे। कारण, यह भी एक अनिश्चित समझौता है और यह कभी भी सफल नहीं हो सकता, यह दिव्य सत्य और उसकी सर्वांगपूर्णता से उतना ही दूर है जितना कि इससे उल्टा अतिनैतिकवाद। ये सभी उस भ्रांतिशील मानव-मन के स्खलनपूर्ण हल हैं जो उच्च आध्यात्मिक शिखरों और साधारण मानसिक एवं प्राणिक प्रेरक-भावों की निम्नतर उपत्यका के बीच कार्य-निर्वाह करने का मार्ग टटोल रहा है। इनके मूल में जो भी आंशिक सत्य छिपा हो उसे केवल तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि उसे आध्यात्मिक स्तर तक ऊंचा उठाकर और परम सत्य-चेतना में परखकर अविद्या की मलिनता और भ्रांति से छुड़ा लिया जाय।

संक्षेप में, यह निःशंक होकर कहा जा सकता है कि जबतक वह अति-मानसिक सत्य-चेतना प्राप्त नहीं हो जाती जिसके द्वारा वस्तुओं के बाह्य रूप अपने-अपने स्थान में सुस्थित हो जायेंगे और उनका सारतत्त्व तथा वह अन्तरीय तत्त्व भी जो सीधा इस आध्यात्मिक सारतत्त्व से निकलता है प्रकट हो जायेंगे, तबतक कोई भी प्रस्तावित समाधान सामयिक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस बीच हमारी एकमात्र सुरक्षा इस बात में है कि हम आध्यात्मिक अनुभूति के पथ-प्रदर्शक नियम की खोज करें अथवा अपने भीतर के उस प्रकाश को उन्मुक्त करें जो हमें तबतक मार्ग दिखा सकता है जबतक कि वह महत्तर साक्षात् सत्य-चेतना

हमें अपने से ऊर्ध्व स्तर में प्राप्त नहीं हो जाती या हमारे अन्दर ही उत्पन्न नहीं हो जाती। क्योंकि हमारे अन्दर की और सब चीजें जो केवल बाहरी हैं, वह सब कुछ जो आध्यात्मिक बोध या प्रत्यक्षानुभव नहीं है,—बुद्धि की कल्पनाएं, उसके उपपादन अथवा निष्कर्ष, जीवन-शक्ति के निर्देश या उसकी प्रेरणाएं तथा भौतिक पदार्थों की असंदिग्ध आवश्यकताएं, ये सब कभी अर्ध-प्रकाश होते हैं और कभी मिथ्या प्रकाश। ये प्रकाश, अपने श्रेष्ठ रूप में भी, केवल कुछ काल के लिये ही सहायक हो सकते हैं या केवल थोड़ी-सी ही सहायता कर सकते हैं और शेषांश में तो ये हमें बाधा पहुंचाते या भ्रम में ही डालते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति का पथ-प्रदर्शक नियम तो मानव-चेतना को भागवत चेतना की ओर खोल देने से ही अवगत हो सकता है। हममें ऐसी शक्ति होनी चाहिये कि हम भागवती शक्ति की क्रिया, आज्ञा और सक्रिय उपस्थिति को अपने अन्दर ग्रहण कर सकें और अपने-आपको उसके नियंत्रण के प्रति समर्पित कर सकें। इस समर्पण और नियंत्रण से ही पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है। परन्तु समर्पण तबतक निश्चित रूप से साधित नहीं हो सकता और न ही तब तक पथ-प्रदर्शन का कोई पूरा भरोसा हो सकता है जबतक कि हम उन मानसिक रचनाओं, प्राणिक आवेगों और अहं के उत्तेजनों से आक्रान्त हैं जो हमें आसानी से छल कर मिथ्या अनुभव के हाथों में सौंप सकते हैं। इस विपत्ति का सामना हम अपनी उस अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष के उद्घाटन के द्वारा ही कर सकते हैं जो अभी नौ बटा दस भाग छिपा हुआ है। यह हमारे अन्दर विद्यमान तो आरम्भ से ही होता है, पर साधारणतया क्रियाशील नहीं होता। यही हमारी वह अन्तर्ज्योति है जिसे हमें उन्मुक्त करना होगा। कारण, जबतक हम अविद्या के घेरे में ही घूमते रहते हैं और सत्य-चेतना हमारे ईश्वराभिमुख पुरुषार्थ का सम्पूर्ण नियंत्रण अपने हाथ में नहीं ले लेती, तबतक इस अन्तरतम आत्मा का प्रकाश ही हमारा एकमात्र अचूक प्रकाश होता है। भागवती शक्ति की क्रिया जो हमारे अन्दर संक्रमण के नियमों के अनुसार कार्य करती है, और चैत्य पुरुष का प्रकाश जो हमें सदा अज्ञान की शक्तियों की मांगों और उत्तेजनाओं से बचाकर एक उच्चतर संवेग का सचेतन रूप में और सावधानता के साथ अनुसरण करने के लिये प्रेरित करता है—ये दोनों अपने बीच के संक्रमण-काल में हमारे कर्म के एक नित्य-विकसनशील आभ्यन्तर नियम को जन्म देते हैं। वह नियम तब तक चालू रहता है जब तक हम अपनी प्रकृति में आध्यात्मिक और अतिमानसिक विधान को प्रतिष्ठित नहीं कर पाते। इस संक्रमण में, स्वभावतः ही, तीन अवस्थाएं आ सकती हैं, एक तो वह जिसमें हम समस्त जीवन और कर्म को स्वीकार करते और इन्हें भगवान् को सौंप देते हैं ताकि वह इन्हें शुद्ध तथा परिवर्त्तित करे और इनके अन्दर के सत्य को उन्मुक्त कर दे, दूसरी वह जिसमें हम पीछे की ओर हट जाते हैं और अपने चारों ओर एक आध्यात्मिक दीवार खड़ी करके इसके दरवाजों में से केवल ऐसे कार्यों

को प्रवेश करने देते हैं जो आध्यात्मिक रूपान्तर के नियम के अधीन रहना स्वीकार करते हैं, तीसरी वह जिसमें आत्मा के सम्पूर्ण सत्य के उपयुक्त नये रूपों से सम्पन्न, स्वतंत्र और सर्वस्पर्शी कर्म करना हमारे लिये फिर से सम्भव हो जाता है। किन्तु इन चीजों का निर्णय किसी मानसिक नियम से नहीं, बल्कि अपनी अन्तरस्थ आत्मा के प्रकाश में और भागवती शक्ति के नियामक बल एवं वृद्धिशील मार्गदर्शन के अनुसार करना होगा। वह भागवती शक्ति पहले तो परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में प्रेरित करती है, फिर स्पष्ट रूप में नियंत्रण रखना और आदेश देना आरम्भ करती है और अन्त में योग का सम्पूर्ण भार ही अपने हाथ में ले लेती है।

यज्ञ के त्रिविध स्वरूप के अनुसार हम कर्मों को भी तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं, ज्ञान के कर्म, प्रेम के कर्म तथा प्राणगत शक्ति के कर्म, और यह देख सकते हैं कि किस प्रकार यह अधिक सुनम्य आध्यात्मिक नियम प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है और निम्नतर प्रकृति से उच्चतर प्रकृति की ओर के संक्रमण को सम्पादित करता है।

*

ज्ञान की खोज में मानव-मन की जो क्रियाएं होती हैं उन्हें योग के दृष्टिकोण से स्वभावतः ही दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो है पराविद्या या परम अतिबौद्धिक ज्ञान जो अपने-आपको परात्पर-रूप एकमेव और अनन्त की खोज पर एकाग्र करता है अथवा प्राकृतिक प्रपंच के मूल में स्थित चरम सत्यों के भीतर अन्तर्ज्ञान, निदिध्यासन एवं साक्षात् आन्तर संस्पर्श के द्वारा प्रवेश करने का यत्न करता है। दूसरी है अपरा विद्या; यह अपने-आपको गोचर पदार्थों अर्थात् एकमेव और अनन्त देव के उन छद्म-रूपों के बाह्य ज्ञान में विकीर्ण कर देती है जिनमें वह देव हमें अपने चारों ओर की जगत्-अभिव्यक्ति के बाह्यतर पदार्थों के भीतर और इनके द्वारा दृष्टिगोचर होता है। इन दो, पर और अपर, गोलार्धों का जो स्वरूप मनुष्यों ने मन की अज्ञ सीमाओं में निर्मित या कल्पित किया है उसमें भी ये, विकसित होकर, कुछ तीव्र रूप में पृथक् हो गये हैं... दर्शन ने कभी तो आध्यात्मिक या कम-से-कम अन्तर्ज्ञानात्मक और कभी वस्तुनिरपेक्ष एवं बौद्धिक बनकर तथा कभी आध्यात्मिक अनुभव को बौद्धिक रूप देकर या आत्मिक उपलब्धियों को तर्क के उपकरण का सहारा देकर, सदैव अन्तिम सत्य के निर्धारण को अपना क्षेत्र मानने का दावा किया है। परन्तु जब बौद्धिक दर्शन ने तत्त्व-चिन्तन के अति सूक्ष्म शिखरों पर पहुंचकर अपने को व्यावहारिक जगत्-सम्बन्धी तथा नश्वर पदार्थों के अनुशीलन-विषयक ज्ञान से विलग नहीं भी किया तब भी यह, अमूर्त चिन्तन के अपने स्वभाव के कारण, जीवन के लिये शक्ति का स्रोत शायद कभी

नहीं रहा। अवश्य ही, कभी-कभी यह उच्च चिन्तन के लिये शक्तिशाली रहा है, इसने बिना किसी परोक्ष उपयोग या लक्ष्य के मानसिक सत्य का उसीके लिये अनुसन्धान किया है और कभी-कभी शब्दों और विचारों के अस्पष्ट एवं काल्पनिक आदर्शलोक में मन के सूक्ष्म व्यायाम के लिये भी इसने शक्तिशाली रूप में कार्य किया है। परन्तु जीवन के अधिक गोचर तथ्यों से यह दूर ही हट गया है अथवा उनके ऊपर से छलांग मार कर उन्हें छोड़ता चला गया है। यूरोप में प्राचीन दर्शन बहुत शक्तिशाली रहा, पर केवल कुछ एक लोगों के लिये ही; भारत में इसने, अपने अधिक आध्यात्मीकृत रूपों में, प्रबल प्रभाव डाला, किन्तु जाति के जीवन का रूपान्तर नहीं कर सका . . . धर्म ने, दर्शन की भांति, शिखरों पर ही रहने का यत्न नहीं किया, वरन् इसका लक्ष्य मनुष्य के मन के भागों की अपेक्षा कहीं अधिक उसके प्राण या जीवन के भागों को अधिकार में लाना और उन्हें ईश्वर की ओर आकृष्ट करना था। इसने आध्यात्मिक सत्य और प्राणिक तथा भौतिक जीवन के बीच सेतु बांधने की घोषणा की। इसने निम्नतर को उच्चतर के अधीन करने और दोनों में संगति बैठाने, जीवन को भगवान् की सेवा करने के योग्य तथा भूतल को द्युलोक का आज्ञा-पालक बनाने का यत्न किया। यह स्वीकार करना होगा कि बहुधा इस आवश्यक प्रयत्न का परिणाम विपरीत ही हुआ, इसने द्यौ को पृथ्वी की कामनाओं का समर्थक बना दिया, क्योंकि धार्मिक विचार का बहाना बनाकर मनुष्य लगातार अपने अहं की पूजा और सेवा ही करता रहा। धर्म अपने सारभूत आध्यात्मिक अनुभव की छोटी-सी उज्ज्वल रश्मि को निरन्तर त्याग कर, जीवन के साथ किये गये अपने सदा-विस्तारशील अनिश्चित समझौतों के धुंधले समुदाय में ही पूरी तरह खो गया। चिन्तनात्मक मन को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न में इसने बहुत बार इसे या तो दबा डाला या मत-मजहब के सिद्धान्तों की बेड़ी पहिना दी। मानव-हृदय को अपने पाश में पकड़ने की चेष्टा करते हुए, यह स्वयं ही धर्मानुरागी भावुकतावाद और सम्वेदनवाद के गर्त्तों में जा गिरा। मनुष्य की प्राणिक प्रकृति पर शासन करने के लिये उसे अपने अधिकार में लाने का यत्न करते हुए, यह स्वयं ही कलुषित हो गया और उस समस्त धर्मान्धता, नरसंहारी क्रोधोन्माद, अत्याचार की जंगली या कठोर प्रवृत्ति, प्ररोही मिथ्यात्व एवं दृढ़ अज्ञानासक्ति का शिकार हो गया जिनमें कि प्राणिक प्रकृति की स्वाभाविक रुचि होती है। मनुष्य के स्थूल भाग को ईश्वर की ओर आकृष्ट करने की इसकी इच्छा ने स्वयं इसे ही धोखा देकर धर्मसम्बन्धी यांत्रिकता, खोखले संस्कार और निर्जीव कर्मकांड की जंजीर से बांध दिया। सर्वोत्कृष्ट वस्तु ने बिगड़कर सब से निकृष्ट को जन्म दिया; कारण, जीवन-शक्ति की विचित्र रसायन-विद्या अच्छाई में से बुराई पैदा करती है जैसे कि यह बुराई में से अच्छाई भी पैदा कर सकती है। साथ ही, इस अधोमुख पतन के विरुद्ध आत्मरक्षा के व्यर्थ प्रयास में, धर्म ने एक प्रबल प्रेरणा के वश ज्ञान, कर्म-

कलाप, कला एवं जीवन तक को दो विपरीत श्रेणियों,—आध्यात्मिक और सांसारिक, धार्मिक और ऐहिक, पवित्र और अपवित्र,—में बांट कर सत्तामात्र को दो खंडों में विभक्त कर दिया। परन्तु स्वयं यह रक्षात्मक विभाजन भी रूढ़िरूप तथा कृत्रिम बन गया और इसने रोग को ठीक करने के स्थान पर उसे बढ़ा दिया . . . दूसरी ओर विज्ञान, कला और जीवन-विद्या यद्यपि पहले धर्म की छत्रछाया में ही सेवा या निवास करते रहे, पर आगे चलकर ये उससे अलग हो गये, उसके विजातीय या विरोधी बन गये, अथवा यहां तक कि उसके उन शिखरों से, जिनके लिये तत्त्वज्ञानात्मक दर्शन और धर्म अभीप्सा करते हैं, पर जो इन्हें निरुत्साह, वन्ध्य और सुदूर या निःसार और मायामय तथा अवास्तविकता के शिखर प्रतीत होते हैं, ये उदासीनता, घृणा या सन्देहपूर्वक पीछे हट गये। कुछ काल के लिये यह विच्छेद उस चरम सीमा को पहुंच गया जहां तक कि मानव-मन की एकांगी असहिष्णुता इसे ले जा सकती थी, यहां तक कि यह भय पैदा हो गया कि कहीं इसके परिणामस्वरूप एक अधिक उच्च या अधिक आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्नमात्र सर्वथा लुप्त ही न हो जाय। पर वास्तव में पार्थिव जीवन में भी एक उच्चतर ज्ञान ही एकमात्र ऐसी चीज है जिसकी सदा-सर्वदा आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना निम्नतर विज्ञान और कार्य-व्यवहार, चाहे वे अपने परिणामों की प्रचुरता की दृष्टि से कितने भी फलप्रद, समृद्ध, स्वतंत्र और चमत्कारक क्यों न हों, सहज ही एक ऐसे यज्ञ का रूप धर लेते हैं जो बिना ठीक विधि के मिथ्या देवों को अर्पित होता है। अन्त में वे मनुष्य के हृदय को कलुषित और कठोर बनाकर एवं उसके मन के क्षितिजों को सीमित कर या तो एक पाषाणमय भौतिक कारागृह में बंद कर देते हैं या एक अन्तिम निराशाजनक संशय-विकल्प और मोहभंग की ओर ले जाते हैं। इस अर्द्ध-ज्ञान के, जो अभी तक अज्ञान ही है, भास्वर प्रस्फुरण के ऊपर एक वन्ध्य अज्ञेयवाद हमारी प्रतीक्षा कर रहा है।

एक ऐसा योग, जो परम देव को सर्वांगीण रूप में प्राप्त करने के लिये किया जाता है, विश्वात्मा के कर्मों या स्वप्नों की भी— यदि वे स्वप्न हैं तो—अवहेलना नहीं करेगा, न ही वह उस भव्य उद्यम और बहुमुखी विजय से पराङ्मुख होगा जिसे परम देव ने मानव प्राणी में अपने लिये निर्धारित किया है। परन्तु इस प्रकार की व्यापकता के लिये इसकी पहली शर्त्त यह है कि संसार में हमारे कर्म भी यज्ञ के अंग होने चाहियें और वह यज्ञ हमें सर्वोच्च देव तथा भागवती शक्ति को ही अर्पित करना चाहिये, किसी अन्य देव तथा अन्य शक्ति को नहीं, साथ ही वह हमें ठीक भावना के साथ और यथार्थ ज्ञानपूर्वक, अपनी स्वतंत्र आत्मा के द्वारा अर्पित करना चाहिये, जड़-प्रकृति के सम्मोहित क्रीतदास द्वारा नहीं। यदि कर्मों का विभाजन करना ही हो तो इन दो प्रकार के कर्मों में ही विभाजन करना होगा—एक तो वे जो हृदय की पावन ज्वाला के अत्यन्त निकट हैं और दूसरे वे जो इससे

अधिक दूर हैं तथा इसी कारण इसके द्वारा न्यूनतम प्रभावित या प्रकाशित हैं,—अथवा यूं कहें कि एक तो वे समिधाएं जो जोर से या चमक के साथ जलती हैं और दूसरे वे काष्ठ जो वेदी पर अत्यन्त घना ढेर लगा दिये जाने के कारण अपनी आर्द्र, भारी और विस्तृत बहुलता से आग की तेजी को रोक देते हैं। परन्तु वैसे, इस विभाजन के अतिरिक्त, ज्ञान के सभी कर्म जो सत्य को खोजते या प्रकट करते हैं, अपने-आपमें, पूर्ण उत्सर्ग के लिये उचित सामग्री हैं; उनमें से किसीको भी दिव्य जीवन के विशाल ढांचे से बहिष्कृत करने की आवश्यकता नहीं। मानसिक और भौतिक विज्ञान जो पदार्थों के नियमों, आकारों तथा प्रक्रियाओं का अनुसंधान करते हैं, वे विज्ञान जो मनुष्यों और जीव-जन्तुओं के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, सामाजिक, राजनीतिक, भाषासम्बन्धी तथा ऐतिहासिक विज्ञान और साथ ही वे विज्ञान जो उन कार्यों और व्यापारों को जानने तथा नियंत्रित करने का यत्न करते हैं जिनसे मनुष्य अपने संसार और परिपार्श्व को वशीभूत कर उन्हें उपयोग में लाता है, उत्कृष्ट ललित कलाएं जो एक साथ ही कर्म भी हैं और ज्ञान भी,—कारण, प्रत्येक सुनिर्मित और अर्थगर्भित कविता, चित्र, मूर्त्ति या भवन सर्जनशील ज्ञान की कृति होता है, चेतना की जीवन्त उपलब्धि एवं सत्य की प्रतिमा होता है, मानसिक और प्राणिक अभिव्यक्ति या जगत्-अभिव्यक्ति का सक्रिय रूप होता है,—वह सब जो कि खोज करता है, वह सब जो कि उपलब्ध करता है, वह सब जो कि वाणी या आकार प्रदान करता है, अनन्त की लीला के ही किसी अंश को चरितार्थ करता है और उतने अंश में वह ईश्वर-उपलब्धि या दिव्य सृष्टि का साधन बनाया जा सकता है। परन्तु योगी को देखना होगा कि आगे से वह उसे अज्ञ मानसिक जीवन के अंग के रूप में कभी स्वीकार न करे। उसे वह केवल तभी स्वीकार कर सकता है यदि वह अपने अन्तर्निहित सम्वेदन, स्मरण और समर्पण के द्वारा अध्यात्म-चेतना की गति में परिणत हो जाय और इसके सर्वग्राही एवं प्रकाशप्रद ज्ञान की विशाल पकड़ का अंग बन जाय।

सब कुछ यज्ञ के रूप में ही करना चाहिये, सब कार्यों का ध्येय और उनके प्रयोजन का सार एकमेव भगवान् ही होना चाहिये। जो विद्याएं ज्ञान-वृद्धि में सहायक हैं उनके अध्ययन में योगी का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह मनुष्य में तथा प्राणियों, पदार्थों और शक्तियों में भागवती चित्-शक्ति के व्यापारों तथा उसके सृष्टि-सम्बन्धी आशयों की खोज करे और उन्हें हृदयंगम करे, साथ ही उन रहस्यों एवं प्रतीकों का, जिनमें वह अपनी अभिव्यक्ति को व्यवस्थित करती है, कार्यान्वित करने के उसके ढंग को भी खोजे और समझे। व्यावहारिक विद्याओं में, चाहे वे मानसिक और भौतिक हों अथवा गुह्य और आन्तरात्मिक, योगी का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह भगवान् के तरीकों और उसकी गतिविधियों की तह में जाय और जो काम हमें सौंपा गया है उसकी साधन-सामग्री का ज्ञान प्राप्त करे जिससे हम

आत्मा के रहस्य, आनन्द और आत्म-कृतार्थता को सचेतन और निर्दोष रूप से प्रकट करने के लिये उस ज्ञान को काम में ला सकें। कलाओं में योगी का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-भावना की और मन या प्राण की तृप्ति करना नहीं, बल्कि यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान् को देखना, उसके कार्यों में उसके भाव और अर्थ का आत्म-प्रकाश अनुभव करते हुए उसकी पूजा करना तथा देवताओं, मनुष्यों, प्राणियों और पदार्थों में उसी एकमेव भगवान् को व्यक्त करना होना चाहिये। जो सिद्धान्त धार्मिक अभीप्सा और सच्ची-से-सच्ची तथा महान्-से-महान् कला में घनिष्ठ सम्बन्ध देखता है वही सार-रूप में सही देखता है; किन्तु हमें मिश्रित और संदिग्ध धार्मिक प्रेरकभाव के स्थान पर आध्यात्मिक अभीप्सा, दृष्टि एवं अर्थ-प्रकाशक अनुभूति को प्रतिष्ठित करना होगा। क्योंकि दृष्टि जितनी अधिक विशाल और व्यापक होगी, जितना ही अधिक यह मानवता में और सब पदार्थों में छुपे हुए भगवान् की अनुभूति को अपने अन्दर धारण करेगी और एक स्थूल धार्मिकता के परे अध्यात्म-जीवन में उन्नीत हो जायगी, इस उच्च आशय से उद्‌भूत होनेवाली कला भी उतनी ही अधिक प्रकाशमान, नमनीय, गभीर और शक्तिशाली होगी। योगी की दूसरे लोगों से विशेषता यह होती है कि वह एक उच्चतर तथा विशालतर अध्यात्म-चेतना में निवास करता है; अतः उसकी समस्त ज्ञान-कृति या सर्जन-कृति निश्चय ही वहीं से उद्‌भूत होनी चाहिये, वह मन में नहीं गढ़ी जानी चाहिये,—क्योंकि वह दृष्टि एवं सत्य मनोमय मनुष्य की दृष्टि एवं सत्य से अधिक महान् है जिसकी अभिव्यक्ति योगी को करनी होती है अथवा यूं कहना चाहिये कि जो योगी की व्यक्तिगत संतुष्टि के हित नहीं, बल्कि दिव्य प्रयोजन के हित अपने-आपको उसके द्वारा प्रकट करने तथा उसके कार्यों को ढालने के लिये उसपर दबाव डालता है।

इसके साथ ही जो योगी परम देव को जानता है वह इन कर्मों में किसी प्रयोजन या आवश्यकता के वशीभूत नहीं होता, क्योंकि उसके लिये ये न तो कोई कर्तव्य होते हैं, न मन का आवश्यक धंधा और न ही कोई उत्कृष्ट विनोद या सर्वोच्च मानवीय प्रयोजन द्वारा आरोपित कोई कार्य। वह किसी कर्म में भी आसक्त और अवरुद्ध नहीं हो जाता, न ही इन कर्मों में यश, गौरव या व्यक्तिगत सन्तोषरूपी उसका कोई निजी हेतु होता है; वह इन्हें छोड़ भी सकता है या जारी भी रख सकता है, जैसी भी उसके अन्तःस्थित भगवान् की इच्छा हो, परन्तु उच्चतर पूर्ण ज्ञान की खोज में किसी अन्य कारण से इनका त्याग करने की उसे आवश्यकता नहीं। वह इन कर्मों को ठीक वैसे ही करेगा जैसे परम शक्ति कर्म करती है और सर्जन करती है, अर्थात् सर्जन और अभिव्यंजन के आध्यात्मिक हर्षविशेष के लिये अथवा ईश्वर के रचे इस संसार को सुसंबद्ध रखने या लोकसंग्रह करने और इसे यथावत् व्यवस्थित या परिचालित करने में सहायता देने के लिये। गीता की शिक्षा है कि ज्ञानी मनुष्य को अपने जीवन के ढंग से उन लोगों में भी जिन्हें अभी

आध्यात्मिक चेतना प्राप्त नहीं हुई है 'सभी' कर्मों के लिये—केवल उन्हींके लिये नहीं जो अपने स्वरूप की दृष्टि से पुण्यमय, धार्मिक या तपोमय समझे जाते हैं, बल्कि सभी के लिये—प्रेम पैदा करना चाहिये, साथ ही उसे उनके अन्दर सब कर्म करने का अभ्यास भी डलवाना चाहिये। उसे अपने दृष्टान्त से मनुष्यों को संसार-कर्म से हटाना नहीं चाहिये। कारण, संसार को उसकी महान् ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा में आगे बढ़ाना होगा; मनुष्यों और राष्ट्रों को ऐसी राह से नहीं ले चलना होगा कि वे अज्ञानमय कर्म से अकर्म के निकृष्टतर अज्ञान में जा गिरें अथवा शोचनीय विघटन और विनाश की उस प्रवृत्ति में जा डूबें जो जातियों तथा राष्ट्रों पर तब आक्रमण करती है जब कि तामसिक तत्त्व,—अन्धकारमय अस्तव्यस्तता और भ्रान्ति का या क्लान्ति और जड़ता का तत्त्व—प्रबल हो जाता है। गीता में भगवान् कहते हैं, "मुझे भी कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई चीज नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो या जो मुझे अभी अपने लिये प्राप्त करनी आवश्यक हो; तो भी मैं संसार में कर्म करता हूं, क्योंकि यदि मैं कर्म न करूं तो सब नियम-धर्म अस्त-व्यस्त हो जायंगे, लोकों में अव्यवस्था छा जायगी और मैं इन प्रजाओं का विनाशक बन जाऊंगा।" आध्यात्मिक जीवन को अपनी पवित्रता के लिये इस बात की आवश्यकता नहीं कि वह अवर्णनीय ब्रह्म के सिवा और सभी वस्तुओं में रस लेना छोड़ दे या ज्ञान-विज्ञान, कला-कलाप और जीवन के मूल पर ही कुठाराघात करे। अपितु पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान एवं कर्म का एक सहज फल यह हो सकता है कि यह उन्हें उनकी सीमाओं से ऊपर उठा ले जा सकता है, साथ ही उनमें हमारे मन को जो अज्ञानयुक्त, परिमित, मंद या क्षुब्ध सुख मिलता है उसके स्थान पर आनन्द का एक स्वतंत्र, प्रगाढ़ और उन्नायक वेग प्रतिष्ठित करके यह उन्हें सर्जनशील आध्यात्मिक बल और प्रकाश का एक नवीन उद्गम प्रदान कर सकता है। वह उद्गम फिर उन्हें उनकी परिपूर्ण ज्ञान-ज्योति और अद्यावधि स्वप्नातीत सम्भावनाओं की ओर तथा अर्थ, रूप और प्रयोग की अत्यन्त सक्रिय शक्ति की ओर अधिक शीघ्रता तथा गम्भीरता के साथ ले जा सकता है। जो एकमात्र आवश्यक वस्तु है उसीका सर्वप्रथम तथा सदा-सर्वदा अनुसरण करना होगा, और सभी चीजें तो उसके परिणाम-स्वरूप स्वयमेव प्राप्त हो जायंगी। उनकी हमें अपने अन्दर कोई नयी वृद्धि नहीं करनी पड़ेगी, वरंच उस आवश्यक वस्तु के आत्म-प्रकाश में तथा उसके आत्म-प्रकाशक बल के अंशों के रूप में उनकी पुनः-प्राप्ति एवं पुनर्निर्माण ही करना होगा।

*

यही दिव्य और मानवीय ज्ञान में सच्चा सम्बन्ध है। इनके पारस्परिक भेद का मर्म यह नहीं है कि ये पवित्र और अपवित्र दो विषम क्षेत्रों में विभक्त हैं, बल्कि

यह है कि इनकी क्रिया के मूल में रहनेवाली चेतना भिन्न-भिन्न प्रकार की है। जो ज्ञान उस साधारण मानसिक चेतना से उत्पन्न होता है जो पदार्थों की बाहरी या ऊपरी सतहों में, क्रिया-पद्धति और प्रपंच में रुचि रखती है,—चाहे वह रुचि उस प्रपंच के लिये हो या किसी ऊपरी उपयोगिता के लिये अथवा कामना या बुद्धि की मानसिक या प्राणिक सन्तुष्टि के लिये हो,—वह मानवीय ज्ञान है। परन्तु ज्ञान की यह क्रिया यदि आध्यात्मिक या आध्यात्मीकारक चेतना से उत्पन्न हो तो यह योग का अंग बन सकती है। कारण, आध्यात्मिक चेतना जिस भी वस्तु का निरीक्षण करती है या जिस भी वस्तु के भीतर प्रवेश करती है उसमें कालातीत सनातन की उपस्थिति को और सनातन की कालगत अभिव्यक्ति के तरीकों को खोजती और उपलब्ध करती है। यह तो स्पष्ट ही है कि अज्ञान से ज्ञान की ओर संक्रमण करने के लिये एकनिष्ठता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अतएव, जिज्ञासु के लिये यह आवश्यक हो सकता है कि वह अपनी शक्तियां एकत्र कर उन्हें केवल उसीपर केंद्रित करे जो संक्रमण की क्रिया में सहायक है, साथ ही, जो कुछ सीधा उस अनन्य लक्ष्य की ओर उन्मुख नहीं है उस सबसे कुछ काल के लिये किनारा खींच ले या उसे केवल गौण स्थान ही दे। वह अनुभव कर सकता है कि मानव-ज्ञान का यह या वह अनुशीलन, जिसमें वह अपने मन की स्थूल शक्ति के द्वारा व्यस्त रहने का अभ्यस्त था, अब भी उसे उसी प्रवृत्ति या अभ्यास के वश, गहराइयों में से ऊपरी सतह की ओर ले आता है अथवा यह उसे उन शिखरों से, जिन पर वह चढ़ चुका है या जिनके पास वह पहुंचनेवाला ही है, निचले स्तरों पर उतार लाता है। तब ये प्रवृत्तियां कुछ काल के लिये स्थगित रखनी या छोड़नी पड़ सकती हैं जब तक कि वह उच्चतर चेतना में सुस्थिर होकर इसकी शक्तियों को सभी मानसिक क्षेत्रों पर प्रयुक्त करने में समर्थ नहीं हो जाता; बाद में ये उस प्रकाश के अधीन होकर या उसमें उन्नीत होकर उसकी चेतना के रूपान्तर के द्वारा अध्यात्म तथा देवत्व के क्षेत्र में परिवर्तित हो जाती हैं। जो कुछ इस प्रकार रूपान्तरित नहीं किया जा सकता या दिव्य चेतना का अंग बनने से इन्कार करता है उस सबको वह बिना झिझक के त्याग देगा। पर ऐसा वह किसी ऐसी पूर्वनिश्चित धारणा के कारण नहीं करेगा कि यह सब सारशून्य है या नये अन्तर्जीवन का अंश बनने में असमर्थ है। इन चीजों के लिये कोई निश्चित मानसिक कसौटी या सिद्धान्त नहीं हो सकता। अतः वह किसी अपरिवर्तनीय नियम का अनुसरण नहीं करेगा, बल्कि मन की किसी भी प्रवृत्ति को अपने सम्वेदन, अन्तर्दृष्टि या अनुभूति के अनुसार स्वीकार या अस्वीकार करेगा। इस प्रकार, अन्त में महत्तर शक्ति और ज्योति प्रकट हो जायंगी, नीचे जो कुछ भी है उस सबकी ये अचूक छानबीन करेंगी और मानव-विकास ने दिव्य प्रयास के लिये जो कुछ तैयार किया है उसमें से अपने लिये सामग्री का ग्रहण या वर्जन करेंगी।

ठीक किस प्रकार से या किस क्रम से यह विकास एवं परिवर्तन होगा यह बात निश्चय ही वैयक्तिक प्रकृति के स्वरूप, उसकी आवश्यकता और सामर्थ्यों पर निर्भर करेगी। आध्यात्मिक क्षेत्र में सारतत्त्व सदा एक ही होता है, पर फिर भी वहां विविधता का कोई अन्त नहीं होता; कम-से-कम पूर्णयोग में तो सीमित तथा सुनिश्चित मानसिक नियम की कठोरता प्रायः ही लागू नहीं होती। कारण, कोई भी दो प्रकृतियां, जब वे एक ही दिशा में चलती हैं तब भी, ठीक एकसमान लीकों अथवा पद-चिह्नों पर या अपनी प्रगति की सर्वथा एकसमान अवस्थाओं में से होती हुई आगे नहीं बढ़तीं। तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्नति की अवस्थाओं का तर्क-सम्मत क्रम बहुत कुछ इस प्रकार का होता है। सर्वप्रथम, एक विस्तीर्ण परिवर्तन होता है जिसमें व्यक्तिगत प्रकृति की सभी विशिष्ट एवं स्वाभाविक मानसिक क्रियाएं ऊंची उठायी जाती हैं या उच्चतर दृष्टिबिन्दु से जांची जाती हैं और हमारी अन्तःस्थित आत्मा, चैत्य पुरुष अथवा यज्ञ के पुरोहित के द्वारा भगवान् की सेवा में उत्सर्ग कर दी जाती हैं। उसके बाद सत्ता के आरोहण के लिये तथा इसके ऊर्ध्वमुख प्रयास से प्राप्त होनेवाले चेतना-सम्बन्धी एक नवीन शिखर की विशिष्ट ज्योति और शक्ति को ज्ञान की सम्पूर्ण क्रिया में उतार लाने के लिये प्रयत्न होता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने-आपको चेतना के आभ्यन्तर केंद्रीय परिवर्तन पर प्रबल रूप से एकाग्र कर सकता है और बहिर्गामी मानसिक जीवन के बड़े भारी भाग को त्याग सकता है अथवा उसे तुच्छ और गौण स्थान दे सकता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वह इसे या इसके कुछ भागों को समय-समय पर फिर से अपना भी सकता है—यह देखने के लिये कि कहां तक नवीन अन्तरीय आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक चेतना इसकी गतियों के भीतर लायी जा सकती है। परन्तु शनैः-शनैः स्वभाव या प्रकृति का वह दबाव कम होता जायगा जो मानव प्राणियों में किसी एक या दूसरे प्रकार के कर्म को ऐसा आवश्यक बना देता है कि वह जीवन का एक अनिवार्य-सा अंग प्रतीत होने लगता है। अन्त में कोई भी आसक्ति शेष नहीं रहेगी, कहीं भी कोई निम्नतर दबाव या चालक शक्ति अनुभूत नहीं होगी। हमें केवल भगवान् से ही मतलब होगा, केवल भगवान् ही हमारी सारी सत्ता की एकमात्र आवश्यकता होंगे। यदि कर्म करने के लिये कोई दबाव होगा भी तो वह दृढ़मूल कामना का या विश्वप्रकृति की शक्ति का नहीं, बल्कि उस महत्तर चित्-शक्ति की ज्योतिर्मयी प्रेरणा का दबाव होगा जो उत्तरोत्तर हमारी सारी सत्ता का एकमात्र प्रेरक-बल बनती जा रही है। दूसरी तरफ, आन्तर आध्यात्मिक विकास के किसी काल में व्यक्ति को कर्मों के निषेध की अपेक्षा कहीं अधिक उनके विस्तार का अनुभव भी हो सकता है; योगशक्ति के चमत्कारी स्पर्श से मानसिक सर्जन की नयी क्षमताओं और ज्ञान के नये क्षेत्रों का उद्घाटन भी हो सकता है। सौन्दर्यात्मक अनुभूति, एक क्षेत्र में या युगपत् अनेक क्षेत्रों में कलात्मक सर्जन की शक्ति,

साहित्यिक भावप्रकाशन की बुद्धि या प्रतिभा, दार्शनिक चिन्तन की योग्यता, आंख या कान या हाथ की कोई शक्ति या मन की शक्ति भी उद्‌बुद्ध हो सकती है जहां पहले इनमें से कोई भी दिखायी नहीं देती थी। अन्तरस्थ भगवान् इन निगूढ़ ऐश्वर्यों को उन गहराइयों में से जिनमें ये छिपे पड़े हैं, बाहर निकाल ला सकता है अथवा ऊपर से कोई शक्ति अपने सामर्थ्यों को नीचे उंडेल सकती है, इसलिये कि वह हमारी यंत्रात्मक प्रकृति को उस कर्म या सर्जन के योग्य बना सके जिसकी प्रणालिका या निर्मात्री बनना ही इसका प्रयोजन है। योग के गुप्त महेश्वर की चुनी हुई विधि या विकास-पद्धति कोई भी क्यों न हो, फिर भी इस अवस्था की सामान्य परिसमाप्ति इस वृद्धिशील चेतना में होती है कि वह ऊर्ध्वस्थित योग-महेश्वर हमारे मन की सभी गतियों का तथा ज्ञान की सम्पूर्ण क्रियाओं का संचालक, निर्णायक तथा निर्मायक है।

जिस रूपान्तर से जिज्ञासु का ज्ञानात्मक मन और ज्ञान के कर्म अविद्या की कार्यप्रणाली छोड़कर, पहले थोड़ा-थोड़ा और फिर पूरी तरह से आत्मा के प्रकाश में काम करनेवाली मुक्त चेतना की कार्यप्रणाली का अनुसरण करने लगते हैं, उसके दो चिह्न होते हैं। प्रथम यह कि चेतना का एक केंद्रीय परिवर्तन हो जाता है और परम तथा विश्वमय सत्ता का, स्वयं भगवान् और सर्वगत भगवान् का एक वर्धमान प्रत्यक्ष अनुभव, दर्शन तथा वेदन प्राप्त होता है। फलतः मन उन्नीत होकर सबसे पहले और प्रधान रूप से इसी चीज में अधिकाधिक संलग्न होता जायगा और यह अनुभव करने लगेगा कि वह उच्च एवं विशाल होकर एकमात्र आधारभूत ज्ञान के प्रकाशन का एक उत्तरोत्तर उद्दीप्त साधन बन रहा है। पर साथ ही केंद्रीय चेतना समय पाकर ज्ञान की बाह्य मानसिक क्रियाओं को उत्तरोत्तर ऊंचा ले जायगी और इन्हें अपना एक भाग या अधिकृत प्रदेश बना लेगी। यह इनके भीतर अपनी अधिक विशुद्ध गति का संचार करेगी और अधिकाधिक आध्यात्मीकृत तथा ज्ञानोद्दीप्त मन को इन तलीय क्षेत्रों अर्थात् अपने नवविजित प्रदेशों में, और साथ ही अपने गभीरतर आध्यात्मिक साम्राज्य में अपना यंत्र बना लेगी। यह दूसरा चिह्न होगा जो इस बात की विशेष पूर्ति तथा सिद्धि का चिह्न होगा कि भगवान् स्वयं ज्ञाता बन गये हैं और जो किसी समय शुद्ध रूप से मानवीय मानसिक कार्य था उसकी गतियों सहित, सभी आन्तरिक व्यापार उनके ज्ञान का क्षेत्र बन गये हैं। वैयक्तिक चुनाव, सम्मति किंवा अभिरुचि न्यूनातिन्यून होती जायगी, बौद्धिक क्रिया, मानसिक उधेड़बुन या अतिकठोर मस्तिष्क-श्रम भी न्यूनातिन्यून हो जायगा; जो कुछ देखना आवश्यक है, जो कुछ जानना आवश्यक है वह सब अन्दर की एक ज्योति ही देखेगी और जानेगी, वही विकास, निर्माण एवं संघटन भी करेगी। अन्दर का ज्ञाता ही व्यक्ति के मुक्त तथा विश्वभावापन्न मन में एक सर्वग्राही ज्ञान के कर्म करेगा।

ये दो परिवर्तन उस प्रारम्भिक सफलता के चिह्न हैं जिसके होने पर मानसिक प्रकृति के कार्य उन्नीत, आध्यात्मीकृत, विस्तारित, विश्वमय एवं मुक्त हो जाते हैं और अपने इस असली प्रयोजन से सचेतन हो जाते हैं कि वे कालावच्छिन्न विश्व में अपनी अभिव्यक्ति को विरचित और विकसित करनेवाले भगवान् के साधन हैं। परन्तु यह नहीं हो सकता कि रूपान्तर का सम्पूर्ण क्षेत्र केवल इतना ही हो, क्योंकि पूर्ण सत्य का जिज्ञासु अपना आरोहण केवल इन सीमाओं तक ही समाप्त नहीं कर सकता, न वह अपनी प्रकृति के विशालीकरण को ही यहीं तक सीमित कर सकता है। यदि वह ऐसा करेगा तो ज्ञान अभी भी उस मन का व्यापार बना रहेगा जो मुक्त, विश्वमय एवं अध्यात्ममय तो बन चुका है, पर फिर भी अपेक्षाकृत सीमाबद्ध एवं सापेक्ष है और अपनी क्रियाशीलता के असली सार में भी अपूर्ण है, जैसा कि मनमात्र स्वभावतः ही होता है। यह सत्य की महान् रचनाओं को स्पष्ट रूप से प्रतिक्षिप्त तो करेगा, पर जिस क्षेत्र में सत्य विशुद्ध, प्रत्यक्ष, प्रभुत्वशाली और स्वाभाविक है वहां-वहां विचरण नहीं कर सकेगा। इस शिखर से अभी और ऊंचा आरोहण करना होगा, जिससे आध्यात्मीकृत मन अपने को अतिक्रान्त कर ज्ञान की अतिमानसिक शक्ति में रूपान्तरित हो जायगा। आध्यात्मीकरण की प्रक्रिया में यह मानव-बुद्धि की भड़कीली दरिद्रता में से बाहर निकलना शुरू कर ही चुका होगा; और अब यह पहले उच्चतर मन के विशुद्ध विपुल विस्तारों में और तदनन्तर ऊर्ध्व के प्रकाश से प्रकाशित और भी महत्तर प्रज्ञा के ज्योतिष्मान् मण्डलों में क्रमशः आरोहण करेगा। इस अवस्था में यह एक अन्तर्ज्ञान की जो परतः-प्रकाशित नहीं, बल्कि स्वतः-प्रकाशमान एवं स्वतः-सत्य होता है और जो पहले की तरह पूर्ण रूप से मानसिक न होने के कारण भ्रांति के बहुल आक्रमण से अभिभूत भी नहीं होता,—प्रारम्भिक दीप्तियों को अधिक खुलकर अनुभव करने लगेगा और एक कम मिश्रित प्रतिक्रिया के साथ उन्हें अपने अन्दर प्रवेश भी करने देगा। परन्तु यहां भी आरोहण की समाप्ति नहीं हो जायगी, फिर इसे और भी ऊपर उस अखण्डित अन्तर्ज्ञान के असली स्तर में उठना होगा जो मूलभूत सत् की आत्मसंवित् से निकला हुआ प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश है और, इससे भी परे, वह तत्त्व प्राप्त करना होगा जहां से यह प्रकाश आता है। कारण, मन से भी परे एक अधिमानस है, एक अधिक मूलभूत और क्रियाशील शक्ति है जो मन को आश्रय देती है, उसे अपने में से निकली हुई एक क्षीण रश्मि समझती है और एक अधोमुखी गति को संक्रान्त करनेवाले पट्टे या अविद्या को उत्पन्न करनेवाले साधन के तौर पर उसका प्रयोग करती है। आरोहण का अन्तिम पग होगा स्वयं इस अधिमानस को भी पार करना, अथवा इसका अपने और भी महत्तर उद्गम में लौट जाना तथा विज्ञान की अतिमानसिक ज्योति में रूपान्तरित हो जाना। अतिमानसिक ज्योति में ही भागवत सत्य-चेतना की मुहर है। इस चेतना में विश्वगत निश्चेतना और छाया से अकलुषित

परम सत्य के कर्मों को संगठित करने की एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जैसी इससे नीचे की अन्य किसी चेतना में हो ही नहीं सकती। वहां पहुंचना और अविद्या का रूपान्तर कर सकनेवाली अतिमानसिक क्रियाशक्ति को वहां से उतार लाना पूर्णयोग का सुदूर पर अटल और परम लक्ष्य है।

जैसे ही इनमें से प्रत्येक उच्चतर शक्ति का प्रकाश ज्ञान के मानवीय कार्यों पर डाला जाता है, पवित्र एवं अपवित्र और मानवीय एवं दैवी का सब प्रकार का भेद अधिकाधिक क्षीण होने लगता है और आगे चलकर यह अन्तिम तौर पर मिट जाता है, मानो यह एक सर्वथा निरर्थक वस्तु हो। भागवत विज्ञान जिस चीज को स्पर्श करता तथा जिसके भीतर पूर्णरूपेण प्रवेश करता है, वह रूपान्तरित होकर इसके निज प्रकाश और बल की गति बन जाती है। वह गति निम्नतर बुद्धि की मलिनता और सीमाओं से मुक्त होती है। अतएव, कुछ कार्यों से नाता तोड़ लेना नहीं, वरन् उन्हें अनुप्राणित करनेवाली चेतना को बदलकर उन सबका कायापलट कर देना ही मुक्ति का मार्ग है, यही ज्ञानयज्ञ का एक अधिक महान्—सदा ही अधिकाधिक महान्—ज्योति और शक्ति की ओर अरोहण है। मन और बुद्धि के सब कर्मों को पहले उच्च और विशाल बनाना होगा, फिर उन्हें प्रकाशयुक्त करके उच्चतर प्रज्ञा के स्तर में उठा ले जाना होगा, तत्पश्चात् उन्हें एक महत्तर मनोतीत अन्तर्ज्ञान की क्रियाओं में परिणत कर अधिमानस-ज्योति के प्रबल प्रवाहों में रूपान्तरित करना होगा, और फिर इन्हें भी अतिमानसिक विज्ञान के पूर्ण प्रकाश और प्रभुत्व में रूपान्तरित कर देना होगा। इस जगत् में चेतना का जो विकास हो रहा है उसमें इस चीज के पूर्वचिह्न विद्यमान हैं पर अभी यह वहां बीजरूप में तथा उसकी प्रक्रिया के आयासपूर्ण दृढ़ आशय में छुपी हुई है। यह प्रक्रिया या यह विकास तब तक नहीं रुक सकता जब तक यह आत्मा की अद्यावधि-अपूर्ण अभिव्यक्ति के स्थान पर पूर्ण अभिव्यक्ति के यंत्र विकसित नहीं कर लेता।

*

यदि ज्ञान चेतना की एक विशालतम शक्ति है और इसका व्यापार मुक्त और आलोकित करना है, तो प्रेम एक गंभीरतम तथा तीव्रतम शक्ति है और दिव्य परम रहस्य की अतिशय गम्भीर तथा निगूढ़ गुहाओं की कुंजी बनने का विशेष सौभाग्य भी इसीको प्राप्त है। मनोमय जीव होने के कारण मनुष्य की प्रवृत्ति यह है कि वह चिन्तक मन तथा इसके तर्क एवं संकल्प को और सत्य के पास पहुंचने तथा उसे कार्यान्वित करने के इसके तरीके को सर्वोपरि महत्त्व देता है, यहां तक कि उसका झुकाव यह मानने की ओर है कि और कोई तरीका है ही नहीं। उसका हृदय, जो अपने भावों और अपरिमेय गतियों से सम्पन्न है, उसकी बुद्धि को ऐसा दिखायी

देता है कि यह एक अन्धकारयुक्त एवं संदिग्ध शक्ति है—जो प्रायः ही भयानक तथा भ्रामक होती है—और इसलिये इसे तर्कबुद्धि, मानसिक संकल्प और प्रज्ञा के नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता है। परन्तु हृदय में या इसके पीछे एक गंभीरतर गुह्य ज्योति भी है। यह हृदय की ज्योति चाहे वह चीज नहीं है जिसे हम अन्तर्ज्ञान कहते हैं,— क्योंकि अन्तर्ज्ञान मन की चीज न होते हुए भी मन से होकर ही नीचे आता है— तथापि, यह सत्य से सीधा सम्बन्ध रखती है और ज्ञानगर्वित मानवीय बुद्धि की अपेक्षा भगवान् के अधिक निकट है। प्राचीन शिक्षा के अनुसार अन्तर्यामी भगवान् या निगूढ़ पुरुष का स्थान गुह्य हृदय में है,—**हृदये गुहायाम्,** जैसा कि उपनिषदें कहती हैं,— और अनेक योगियों के अनुभव के अनुसार, इसी की गहराइयों से आन्तर आप्त पुरुष की वाणी या निःश्वास प्रकट होता है।

हृदयसम्बन्धी यह द्विविध भाव, उसकी यह गभीरता और अन्धता, जो परस्परविरोधी दिखायी देती हैं, मानव की भावमय सत्ता के दोहरे स्वरूप के कारण पैदा होती हैं। सामने की तरफ तो मनुष्य में प्राणमय भाव का हृदय है जो पशु के हृदय जैसा है, यद्यपि है अधिक विविध रूप से विकसित। इसके भाव अहंकारमय आवेश के द्वारा अन्ध और सहज राग-अनुराग तथा उन जीवन-आवेगों की समस्त क्रीड़ा के द्वारा शासित होते हैं जो दोषों और विकारों से भरे हुए हैं और प्रायः ही निकृष्ट पतन का कारण बनते हैं। यह निस्तेज तथा भ्रष्ट जीवन-शक्ति की वासनाओं, कामनाओं, क्रोधों, उत्कट या भयानक मांगों या तुच्छ लोभों और नीच क्षुद्रताओं से आक्रान्त है और उनमें आबद्ध है और साथ ही, आवेगमात्र के अधीन होने के कारण, हीन अवस्था में गिरा हुआ है। भावमय हृदय और सम्वेदनशील सतृष्ण प्राण का यह मिश्रण मनुष्य में कामना की मिथ्या आत्मा को जन्म देता है। यह कामनात्मा वह अपरिष्कृत और भयावह तत्त्व है जिस पर तर्कबुद्धि, ठीक ही, अविश्वास करती है तथा नियंत्रण रखने की आवश्यकता अनुभव करती है, यद्यपि जिस वास्तविक नियंत्रण किंवा निग्रह को यह हमारी अपरिपक्व और आग्रहशील प्राणिक प्रकृति पर स्थापित करने में सफल होती है वह सदा अत्यन्त अनिश्चित और वंचनात्मक ही रहता है। परन्तु मनुष्य की सच्ची आत्मा इस भावमय हृदय में नहीं है। वह प्रकृति की किसी ज्योतिर्मयी गुहा में निभृत एक सच्चे और अदृश्य हृदय में है। वहां, दिव्य ज्योति के एक विशेष अन्तर्निस्यंदन की छाया में हमारी आत्मा वा प्रशान्त अन्तरतम सत्ता अवस्थित है जिसका ज्ञान विरले ही लोगों को है। चाहे आत्मा है तो सभीमें, पर बहुत कम ही अपनी सच्ची आत्मा को जानते हैं अथवा इसकी प्रत्यक्ष प्रेरणा अनुभव करते हैं। भगवान् की इस नन्ही-सी चिनगारी का वास हम सभीमें है। यह हमारी प्रकृति के इस तमसाच्छन्न पिण्ड को धारण करती है और इसीके चारों ओर चैत्य पुरुष अर्थात् हमारे अन्दर की गठित आत्मा या वास्तविक 'मनुष्य' वर्धित होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के अन्दर का यह चैत्य पुरुष

विकसित होता है और हृदय की गतियां इसकी भविष्यवाणियों तथा प्रेरणाओं को प्रतिबिंबित करने लगती हैं त्यों-त्यों मनुष्य अपनी आत्मा के प्रति उत्तरोत्तर सचेतन होता चलता है; वह अब केवल एक ऊंची श्रेणी का पशु नहीं रहता। वह अपने अन्तर्यामी परमेश्वर की झांकियों के प्रति जागृत होकर इसकी गंभीरतर जीवन और चेतना-विषयक सूचनाओं को तथा दिव्य वस्तुओं के प्रति संवेग को अपने अन्दर अधिकाधिक ग्रहण करने लगता है। वह पूर्णयोग का एक निर्णायक क्षण होता है जब कि यह चैत्य पुरुष मुक्त होकर, पर्दे के पीछे से सामने की ओर आकर, अपनी भविष्य-सूचनाओं, दृष्टियों और प्रेरणाओं की परिपूर्ण बाढ़ से मनुष्य के तन-मन-प्राण को आप्लावित करने और पार्थिव प्रकृति में देवत्व के निर्माण का उपक्रम करने में समर्थ होता है।

हृदय की क्रियाओं पर विचार करते हुए, ज्ञान के कर्मों की भांति ही, इसकी दो प्रकार की गतियों में प्रारम्भिक भेद करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। एक तो वे गतियां हैं जो सच्ची अन्तरात्मा से प्रेरित होती हैं अथवा उसके मुक्त होने में सहायता करती हैं और प्रकृति पर शासन करती हैं और दूसरी वे जो अशुद्ध प्राणिक प्रकृति की सन्तुष्टि में ही लगी रहती हैं। परन्तु इस अर्थ में साधारणतः जो भेद किये जाते हैं वे योग के गम्भीर या आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये नहीं के बराबर उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ, धार्मिक भावों और लौकिक सम्वेदनों में भी भेद किया जा सकता है और आध्यात्मिक जीवन का यह एक नियम बनाया जा सकता है कि केवल धार्मिक भावों को ही बढ़ाना उचित है और सभी सांसारिक सम्वेदनों तथा रागों को या तो त्याग देना चाहिये या उन्हें अपनी सत्ता से निकाल फेंकना चाहिये। क्रियात्मक रूप में इसका अर्थ होगा—एक ऐसे संत या भक्त का धार्मिक जीवन जो भगवान् के साथ अकेला रहता है या केवल सार्वभौम ईश्वर-प्रेम में ही दूसरों से जुड़ा होता है अथवा, अधिक-से-अधिक, बाह्य संसार पर पवित्र, धार्मिक या भक्तिमूलक प्रेम के स्रोतों को प्रवाहित कर रहा होता है। परन्तु स्वयं धार्मिक भाव भी प्राणिक चेष्टाओं के उपद्रव और अन्धकार से प्रायः निरन्तर ही आक्रान्त होता रहता है। यह बहुत बार या तो असंस्कृत होता है या संकुचित या मतांध, अथवा यह ऐसी चेष्टाओं से मिला रहता है जो आत्मिक पूर्णता के चिह्न नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि सन्तभाव की यह उत्कट प्रतिमूर्त्ति, जो कठोर पुरोहितीय पद्धति में जकड़ी हुई है, अपने सर्वोत्तम रूप में भी, पूर्णयोग के व्यापक आदर्श से बिल्कुल भिन्न वस्तु है। ईश्वर और जगत् के साथ एक अधिक व्यापक आन्तरात्मिक तथा भावमय सम्बन्ध जोड़ना अनिवार्य है जो अपने स्तर में अधिक गम्भीर तथा नमनीय हो, अपने व्यवहारों में अधिक व्यापक और सर्वस्पर्शी हो और अपने क्षेत्र के भीतर सारे-के-सारे जीवन को समा लेने में अधिक समर्थ हो।

मनुष्य के संसारी मन ने एक इससे भी अधिक व्यापक सूत्र प्रदान किया है जो

नैतिक भावना पर आधारित है। संसारी मन भावों को दो श्रेणियों में विभक्त करता है, एक तो वे भाव हैं जो नैतिक भावना से अनुमोदित हैं और दूसरे वे जो अहम्मूलक हैं तथा स्वार्थपूर्ण रूप में सर्वसाधारण एवं लौकिक हैं। परार्थ, परोपकार, करुणा, शुभेच्छा, मानवहित, सेवा-कार्य, अथवा मनुष्य तथा प्राणिमात्र के मंगल के लिये प्रयत्न ही हमारा आदर्श होना चाहिये; इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के अन्तर्विकास का पथ यह है कि वह अहंभाव की केंचुली उतारकर आत्म-त्याग की एक ऐसी आत्मा में विकसित हो जाय जो केवल या मुख्यतः दूसरों के लिये अथवा समूची मनुष्यजाति के लिये जीवन यापन करे। अथवा, यदि यह पथ इतना अधिक सांसारिक और मानसिक है कि हमारी सम्पूर्ण सत्ता इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकती,—क्योंकि हमारे अन्दर एक अधिक गहरा धार्मिक तथा आध्यात्मिक स्वर भी है जिसे यह मानवहितवादी सूत्र विचार में नहीं लाता,—तो इसे एक धार्मिक-नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है, और वास्तव में इसकी मूल भित्ति थी भी ऐसी ही। एवं, हृदय की भक्तिद्वारा भगवान् या पुरुषोत्तम की आन्तरिक पूजा में या परम ज्ञान की खोज द्वारा अनिर्वचनीय के अनुसन्धान में एक और चीज भी सम्मिलित की जा सकती है। वह है परार्थ के कार्यों द्वारा पुरुषोत्तम की पूजा अथवा मनुष्यजातिके प्रति या अपने आस-पास के लोगों के प्रति प्रेम और सेवा के कार्यों के द्वारा अपनी सत्ता की तैयारी। सच पूछो तो इस धार्मिक-नैतिक भावनाद्वारा ही सार्वभौम हितकामना या विश्वजनीन करुणा के नियम का या पड़ोसी के प्रति प्रेम और सेवा के नियम का, अर्थात् वैदान्तिक, बौद्ध या ईसाई आदर्श का जन्म हुआ था। कारण, मानव-हित का आदर्श सब बन्धनों से मुक्त होकर मानसिक और नैतिक आचार-धर्म की सांसारिक पद्धति का उच्चतम स्तर तभी बन सकता था यदि वह एक प्रकार के सांसारिक शीतलीकरण (refrigeration) के द्वारा अपने अन्दर के धार्मिक तत्त्व की प्रचण्डता को शान्त कर देता। धार्मिक प्रणाली में कर्मों का यह नियम एक ऐसा साधन है जो अपना उद्देश्य सिद्ध होने पर लुप्त हो जाता है या फिर यह एक गौण विषय ही है। यह उस मतवाद का अंश है जिसके द्वारा मनुष्य देवत्व की पूजा और खोज करता है अथवा यह निर्वाण के मार्ग में आत्मा के उच्छेद का अन्तिम से पहला कदम है। सांसारिक आदर्श में इसे अपने-आपमें एक उद्देश्य का उच्च पद प्रदान किया जाता है। यह मानव-प्राणी की नैतिक पूर्णता का चिह्न बन जाता है, अथवा यह भूतल पर मनुष्य की एक अधिक सुखमय अवस्था या एक अधिक श्रेष्ठ समाज की किंवा जाति के एक अधिक एकीभूत जीवन की शर्त बन जाता है। परन्तु इनमें से कोई भी चीज आत्मा की उस मांग को पूरा नहीं करती जिसे पूर्णयोग हमारे सामने रखता है।

परार्थ, परोपकार, मानवहित और सेवा मानसिक चेतना के पुष्प हैं और, अपने सर्वोत्तम रूप में भी, ये सार्वभौम दिव्य प्रेम की आध्यात्मिक ज्योतिशिखा का मन

द्वारा किया गया एक भावशून्य और निस्तेज अनुकरणमात्र हैं। ये वास्तव में मनुष्य को अहं-बुद्धि से मुक्त नहीं करते, बल्कि इसे केवल विस्तारित कर उच्चतर तथा विपुलतर तृप्ति प्रदान करते हैं। मनुष्य के प्राणिक जीवन एवं प्रकृति का परिवर्तन करने में क्रियात्मक रूप से अशक्त होते हुए, ये केवल इसकी चेष्टा को कुछ संशोधित और शान्त करके इसके अपरिवर्तित अहंभावमय मूलतत्त्व पर लीपापोती कर देते हैं। अथवा यदि एक पूर्ण सत्य-संकल्प के साथ एवं अतिकठोरतापूर्वक इनका अनुसरण किया जाय तो इसके लिये हमारी प्रकृति के एक ही अंग को अतीव विस्तृत करने की जरूरत होगी। इस प्रकार की अति करने से विश्वमय और विश्वातीत सनातन की ओर हमारी व्यष्टिभूत सत्ता के अनेक पहलुओं के पूर्ण तथा समग्र दिव्य विकास के लिये कोई आधार नहीं रह जायगा। धार्मिक-नैतिक आदर्श भी पर्याप्त पथप्रदर्शक नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो केवल धार्मिक और नैतिक आवेगों में पारस्परिक सहायता के लिये समझौता है या पारस्परिक रियायतों का शर्तनामा। धार्मिक आवेग साधारण मानव-प्रकृति की उच्चतर प्रवृत्तियों को अपने अन्दर समाकर पृथ्वी पर एक अधिक दृढ़ आधिपत्य जमाना चाहता है और नैतिक आवेग थोड़े-से धार्मिक उत्साह के द्वारा अपने-आपको अपनी मानसिक कठोरता और रूक्षता में से निकालकर ऊपर उठने की आशा करता है। इन दोनों के बीच शर्तनामा करने में धर्म अपने-आपको गिराकर मानसिक स्तर पर ले आता है और इस प्रकार उसे मन की स्वभावगत त्रुटियां तथा जीवन का परिवर्तन एवं रूपान्तर करने में इसकी अक्षमता उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती हैं। मन द्वंद्वों का क्षेत्र है और जैसे इसके लिये केवल सापेक्ष या भ्रम-मिश्रित सत्यों को छोड़ कर किसी निरपेक्ष सत्य को प्राप्त करना असम्भव है वैसे ही किसी निरपेक्ष शुभ की प्राप्ति भी असम्भव है। कारण, नैतिक शुभ तो अशुभ के सहायक और संशोधक के रूप में ही अपना अस्तित्व रखता है और अशुभ उसके साथ सदा लगा रहता है, मानो यह उसकी छाया, उसका पूरक एवं उसकी सत्ता का हेतु-सा हो। परन्तु आध्यात्मिक चेतना मानसिक स्तर से ऊंचे स्तर के साथ सम्बन्ध रखती है और वहां सब द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। वहां असत्य जब उस सत्य के सामने आता है जिसे मिथ्या बना कर तथा बलपूर्वक हथियाकर यह उससे लाभ उठाता था और अशुभ जब उस शुभ के सम्मुख खड़ा होता है जिसका यह विकार या मलिन प्रतिनिधि था, तब ये असत्य और अशुभ, पोषण न मिलने के कारण, विवश होकर क्षीण होने लगते हैं और अन्त में समाप्त हो जाते हैं। पूर्णयोग मानसिक तथा नैतिक आदर्शों के भंगुर सत्त्व का अवलंबन लेने से इन्कार करता है और इस क्षेत्र में अपना सारा बल तीन केंद्रीय प्रबल विधियों पर लगाता है—सच्ची अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष को विकसित करना जिससे कि यह कामना की मिथ्या आत्मा का स्थान ले ले, मानव-प्रेम को दिव्य प्रेम में उदात्त करना और चेतना को उसके मानसिक स्तर से उठाकर

उस आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्तर में ले जाना जिसकी शक्ति से ही आत्मा और जीवन-शक्ति—दोनों अविद्या के आवरणों और छलछद्मों से पूर्णरूपेण मुक्त की जा सकती हैं।

अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष का निज स्वभाव भागवत सत्य की ओर मुड़ना है, वैसे ही जैसे सूर्यमुखी का स्वभाव सूर्य की ओर मुड़ना है। जो कुछ भी दिव्य है या दिव्यता की ओर बढ़ रहा है उस सबको यह स्वीकार करता है और उससे चिपक जाता है और जो कुछ उस दिव्यता का विकार या इन्कार है तथा जो कुछ मिथ्या और अदिव्य है उस सबसे यह परे हटता है। परन्तु यह अन्तरात्मा पहले-पहल देवाधिदेव की एक चिनगारीमात्र और बाद में घने अन्धकार के बीच जल रही एक नन्हीं-सी ज्वाला ही होती है। अधिकांश में यह अपने आन्तर पावन धाम में छिपी रहती है और अपने-आपको आविर्भूत करने के लिये इसे मन, प्राणशक्ति और भौतिक चेतना से अनुरोध करना और उन्हें प्रेरित करना पड़ता है कि वे यथासम्भव उत्तम प्रकार से इसे प्रकट करें। साधारणतः यह अधिक-से-अधिक उनकी बहिर्मुखता को अपने अन्तःप्रकाश से आप्लावित करने तथा उनके अन्ध तमस् या उनके स्थूलतर मिश्रण को अपनी पावन सूक्ष्मता द्वारा कुछ कम करने में ही सफल होती है। यहां तक कि जब चैत्य पुरुष गठित हो जाता है और अपने-आपको जीवन में कुछ प्रत्यक्ष ढंग से प्रकट करने में समर्थ होता है तब भी यह इने-गिने लोगों के सिवा शेष सभी में सत्ता का एक छोटा-सा अंश ही होता है। प्राचीन ऋषि इसके लिये जिस रूपक का प्रयोग करते थे वह यह है कि "इस देह-संघात में यह मनुष्य के अंगूठे से अधिक बड़ा नहीं है।" यह शारीरिक चेतना के अन्धकार एवं अज्ञ क्षुद्रता और मन के भ्रान्त निश्चयों या प्राणिक प्रकृति की धृष्टता तथा उग्रता पर विजय पाने में सदा सक्षम नहीं होता। यह अन्तरात्मा मनुष्य के मानसिक, भावुक एवं सम्वेदनात्मक जीवन को, जैसा कि यह है, उसके सम्बन्धों, उसकी चेष्टाओं, उसके पालित-पोषित रूपों तथा आकारों के सहित स्वीकार करने के लिये बाध्य होती है। इसे इस सब सापेक्ष सत्य में से जो एक सतत मिथ्याकारी भ्रम से मिला हुआ है, इस प्रेम में से जो पाशविक शरीर के प्रयोजनों या प्राणिक अहंकार की तृप्ति में लगा हुआ है, औसत मनुष्य के इस जीवन में से जो देवाधिदेव की विरल तथा मन्द झांकियों तथा राक्षस और पिशाच की घोरतर बीभत्सताओं से बिंधा हुआ है, दिव्य तत्त्व को निर्मुक्त और संवर्धित करने के लिये यत्न करना होता है। यद्यपि इसका संकल्प सारतः निर्भ्रान्त होता है तो भी यह प्रायः अपने करणों के दबाव में आकर अपने कार्य में गलती कर जाती है, अशुद्ध वेदन प्राप्त कर लेती है, व्यक्ति के चुनाव में अशुद्धि करती है और अपने संकल्प के यथार्थ रूप के विषय में तथा अभ्रान्त आन्तर आदर्श की अभिव्यक्ति की अवस्थाओं के सम्बन्ध में बरबस भूलें कर बैठती है। तथापि इसके अन्दर एक

ऐसा भविष्य-ज्ञान है जो इसे तर्क-बुद्धि की अपेक्षा या ऊंची-से-ऊंची कामना की भी अपेक्षा अधिक अचूक पथप्रदर्शक बना देता है, प्रत्यक्ष भ्रान्तियों तथा स्खलनों के मध्य भी इसकी आवाज सूक्ष्म बुद्धि और विवेकपूर्ण मानसिक निर्णय की अपेक्षा अधिक अच्छा मार्गदर्शन कर सकती है। आत्मा की यह आवाज वह चीज नहीं है जिसे हम नैतिक भावना (Conscience) कहते हैं, वह तो केवल एक मानसिक स्थानापन्न-वस्तु है जो प्रायः ही रूढ़ तथा भ्रान्तिशील होती है। आत्मा की आवाज एक अधिक गम्भीर और बहुत ही कम सुनायी देनेवाली पुकार है। तथापि जब कभी यह सुनायी दे, इसका अनुसरण करना अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण होता है, यहां तक कि तर्कबुद्धि और बाह्य नैतिक उपदेश की सहायता से प्रत्यक्षतया सीधे रास्ते पर चलने की अपेक्षा अपनी आत्मा की पुकार के पीछे भटकना अधिक अच्छा होता है। परन्तु जब जीवन भगवान् की ओर मुड़ता है तभी अन्तरात्मा वास्तव में आगे आ सकती है और बाह्य अंगों पर अपनी शक्ति का बलपूर्वक प्रयोग कर सकती है। स्वयं भगवान् की चिनगारी होने से, भगवान् की ओर ज्योतिशिखा के रूप में बढ़ना ही इसका सच्चा जीवन और इसके अस्तित्व का वास्तविक हेतु है।

योग में एक विशेष अवस्था में पहुंचने पर जब कि मन पर्याप्त अचंचल हो जाता है और पहले की तरह पग-पग पर अपने मानसिक निश्चयों की क्षमता का आश्रय नहीं लेता, जब प्राण स्थिर और वशीभूत हो चुकता है और अपनी अविवेकपूर्ण इच्छाशक्ति, मांग और कामना के सम्बन्ध में पूर्ववत् निरन्तर आग्रहशील नहीं रहता, और जब शरीर को भी इतना बदल दिया जाता है कि वह अन्तरीय ज्वाला को अपनी बहिर्मुखता, जड़ता या निष्क्रियता के ढेर के नीचे पूरी तरह से दबा नहीं सकता, तब एक भीतर छुपी हुई और अपने विरल प्रभावों के समय ही अनुभूत होनेवाली अन्तरतम सत्ता सामने आने में समर्थ हो जाती है, यह शेष अंगों को भी आलोकित कर सकती है तथा साधना का नेतृत्व अपने हाथ में ले सकती है। इसका स्वभाव ही भगवान् या सर्वोच्च देव की ओर अनन्य अभिमुखता है,—एक ऐसी अनन्य अभिमुखता जो अनन्य होती हुई भी क्रिया तथा गति में नमनशील होती है। यह एकनिष्ठ बुद्धि की तरह किसी लक्ष्य की कट्टरता को अथवा एकनिष्ठ प्राणिक शक्ति की भांति किसी प्रभुत्वशाली विचार या आवेग की हठधर्मिता को जन्म नहीं देती। प्रतिक्षण और नमनशील असंदिग्धता के साथ यह सत्य की ओर ले जानेवाले मार्ग का निर्देश करती है, सही कदम और गलत कदम में सहज ही भेद जतलाती है, दिव्य या ईश्वरमुखी गति को अदिव्य वस्तु के चिमटनेवाले मिश्रण से पृथक् कर देती है। इसका कार्य एक जाज्वल्यमान मशाल के समान है जो, प्रकृति में जो कुछ भी परिवर्तनीय है, उस सबको स्पष्ट दिखा देती है। इसमें संकल्प की एक अग्नि है जो पूर्णता के लिये और समस्त आन्तर तथा बाह्य सत्ता के रूपान्तरकारी परिवर्तन के लिये आग्रह करती है। यह सर्वत्र दिव्य

सारतत्त्व ही देखती है और आवरण एवं आवरक आकारमात्र का परित्याग कर देती है। यह सत्य, संकल्पशक्ति, बल एवं प्रभुत्व तथा हर्ष, प्रेम एवं सौन्दर्य की आग्रहपूर्वक मांग करती है, स्थिर ज्ञान के उस सत्य की जो अज्ञान के केवल व्यावहारिक क्षणिक सत्य का अतिक्रमण कर जाता है, केवल प्राणिक सुख की नहीं, बल्कि आन्तरिक हर्ष की,—क्योंकि यह पतनकारी सुखों की अपेक्षा पवित्रीकारक कष्ट-क्लेश को कहीं अधिक पसन्द करती है,—उस प्रेम की नहीं जो अहंकारमय लालसा के खूंटे से बंधा हुआ है या जिसके पैर पंक में फंसे हुए हैं, बल्कि ऊंची उड़ान लेनेवाले प्रेम की, उस सौन्दर्य की जो सनातन का निरूपण करने के अपने पुरोहित-पद पर प्रतिष्ठित है तथा अहं के नहीं, बल्कि आत्मा के यन्त्रों के रूप में काम आनेवाले बल, संकल्प और प्रभुत्व की आग्रहपूर्वक मांग करती है। इसका संकल्प जीवन को दिव्य बनाने, उसके द्वारा उच्चतर सत्य को अभिव्यक्त करने और उसे भगवान् तथा सनातन सत्ता पर उत्सर्ग कर देने के लिये होता है।

परन्तु चैत्य पुरुष का अत्यन्त अन्तरंग स्वभाव है भगवान् को पाने के लिये पवित्र प्रेम, हर्ष और एकत्व द्वारा प्रवृत्त होना। भागवत प्रेम ही उसकी खोज का प्रथम विषय होता है, यही प्रेरक, उसका लक्ष्य तथा उसका सत्य का सितारा होता है जो हमारे अन्दर के नवजात देवत्व के नवोदित या अभी भी अन्धकारावृत पालने की प्रकाशमय गुहा पर चमक रहा होता है। अपने विकास और अपरिपक्व अस्तित्व की प्रथम दीर्घ अवस्था में वह पार्थिव प्रेम, वात्सल्य, मृदुता, सद्भावना, करुणा और दया की और समस्त सुन्दरता, कोमलता, सूक्ष्मता, प्रकाश, बल एवं साहस आदि उन सब चीजों की सहायता ले चुका होता है जो मानव-प्रकृति की स्थूलता तथा साधारणता को सूक्ष्म एवं पवित्र करने में सहायक हो सकती हैं। परन्तु वह जानता है कि अपने सर्वोत्तम रूप में भी ये मानवीय गतियां कितनी मिश्रित होती हैं, वह यह भी जानता है कि अपने निकृष्टतम रूप में ये कैसी पतित होती हैं और साथ ही अहं तथा आत्मवंचक कल्पना-जनित मिथ्यात्व की और आत्मगति के अनुकरण से लाभ उठानेवाले निम्नतर 'स्व' की मुहरछाप से कैसी चिह्नित होती हैं। आविर्भूत होते ही यह, एकदम, सभी पुराने सम्बन्धों तथा त्रुटिपूर्ण भावमय चेष्टाओं का उच्छेद करने और उनके स्थान पर प्रेम तथा एकत्व के महत्तर आध्यात्मिक सत्य को स्थापित करने के लिये उद्यत तथा उत्सुक होता है। यह मानवीय रीतियों और गतियों को फिर भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु इस शर्त पर कि वे एकमेव देव की ओर ही मोड़ दी जायंगी। यह केवल उन्हीं सम्बन्धों को स्वीकार करता है जो सहायक होते हैं,—हृदय में गुरु के लिये मान, ईश्वरान्वेषकों का समागम, अज्ञानमय मानवीय और जीव-जन्तुमय जगत् तथा इसके प्राणियों के प्रति आध्यात्मिक करुणा, सौन्दर्य का वह हर्ष, सुख एवं सन्तोष जो सर्वत्र भगवान् के

दर्शन करने से ही प्राप्त होता है। यह हृदय के गुह्य केंद्र में विराजमान अन्तर्यामी भगवान् के साथ प्रकृति का मिलन सम्पादित करने के लिये उसे भीतर निमज्जित करता है और जब ऐसी पुकार विद्यमान होगी तब अहंभाव की कोई भर्त्सना, परार्थ या कर्तव्य या परोपकार या सेवा के कोरे बाहरी बुलावे इसे धोखा नहीं देंगे अथवा इसे इसकी पवित्र अभीप्सा से और निज अन्तःस्थित दिव्यता के आकर्षण के प्रति इसकी आज्ञाकारिता से विमुख नही करेंगे। यह सत्ता को परात्पर आनन्दोद्रेक की ओर उठा ले जाता है और एकमेव सर्वोच्च देव तक पहुंचने के लिये अपनी ऊर्ध्वगति में संसार के समस्त अधोमुख आकर्षण को अपने पंखोंपर से झाड़ फेंकने के लिये उद्यत रहता है। पर साथ ही यह घृणा, कलह, विभाजन, अन्धकार और कलहशील अज्ञान के इस जगत् को मुक्त तथा रूपान्तरित करने के लिये उस परात्पर प्रेम तथा परम आनन्द का यहां आह्वान भी करता है। सार्वभौम भागवत प्रेम, व्यापक करुणा तथा तीव्र और अति महान् संकल्प की ओर यह अपने-आपको खोल देता है—सबके मंगल के लिये, उस जगन्माता के आलिंगन के लिये जो अपनी सन्तानों को सब ओर से आच्छादित किये हुई है या अपने चारों ओर एकत्र कर रही है, उस दिव्य अनुराग के संस्पर्श के लिये जिसने संसार का सार्वभौम अज्ञान से उद्धार करने के लिये रात्रि के भीतर डुबकी लगायी है। यह सत्ता के इन महान् एवं सुप्रतिष्ठित सत्यों के मानसिक अनुकरणों या किसी प्राणिक दुरुपयोग से आकृष्ट या भ्रान्त नहीं होता। यह अपनी अन्वेषक विद्युत्-दृष्टि से इन्हें प्रकाश में ले आता है और दिव्य प्रेम के सम्पूर्ण सत्य का नीचे आवाहन करता है इसलिये कि वह इन दूषित रचनाओं में सुधार करे, मानसिक, प्राणिक एवं दैहिक प्रेम को इनकी त्रुटियों या इनके विकारों से मुक्त करे और घनिष्ठता, एकता, आरोही हर्षावेश तथा अवरोही उल्लास का इनका प्रचुर भाग इनके सामने प्रकट करे।

प्रेम के और प्रेमसम्बन्धी कर्मों के सभी सच्चे सत्यों को चैत्य पुरुष उनके अपने स्थान में स्वीकार करता है। परन्तु इसकी ज्वाला सदा ऊपर की ओर आरोहण करती है और यह आरोहण को सत्य की निम्नतर से उच्चतर कोटियों की ओर अग्रसर करने को उत्कण्ठित होता है। कारण, यह जानता है कि सर्वोच्च सत्य की ओर आरोहण के तथा उस सर्वोच्च सत्य के अवरोहण के द्वारा ही प्रेम को शूली से मुक्त किया जा सकता है और सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। शूली एक ऐसे भागवत अवतरण का चिह्न है जो जागतिक रूप-विकृति की आड़ी रेखा से अवरुद्ध और प्रतिबद्ध है। यह विकृति जीवन को दुःख और दुर्भाग्य की अवस्था में परिणत कर देती है। मूल सत्य की ओर आरोहण के द्वारा ही यह विकृति सुधारी जा सकती है और प्रेम के सभी कर्म तथा ज्ञान के और जीवन के सब कर्म भी पुनः दिव्य अर्थ प्राप्त करके सर्वांगीण आध्यात्मिक सत्ता के अंग बन सकते हैं।

अध्याय ६

यज्ञ का आरोहण (२)

प्रेम के कर्म—प्राण के कर्म

चैत्य पुरुष को यज्ञ का नेता और पुरोहित बनाकर प्रेम, कर्म और ज्ञान का यज्ञ करने से यह प्राण भी अपने सच्चे आध्यात्मिक स्वरूप में रूपान्तरित किया जा सकता है। यदि ज्ञान-यज्ञ, यथाविधि करने पर, सहज ही एक ऐसी विशालतम और पवित्रतम हवि बन जाता है जो सर्वोच्च देव के प्रति अर्पित करने योग्य होती है, तो हमारी आध्यात्मिक पूर्णता के लिये प्रेम-यज्ञ भी इससे कुछ कम आवश्यक नहीं है। अपितु, यह अपनी अनन्यता में अधिक तीव्र एवं समृद्ध होता है और ज्ञान-यज्ञ के समान ही विशाल तथा पवित्र भी बनाया जा सकता है। प्रेम-यज्ञ की तीव्रता में यह पावन विशालता तब आती है जब हमारे समस्त क्रिया-कलाप में एक दिव्य असीम आनन्द की भावना एवं शक्ति प्रवाहित होती है और हमारे जीवन का सम्पूर्ण वातावरण सर्वमय और परमोच्च एकमेव की अनन्य भक्ति से परिपूरित हो उठता है। प्रेम-यज्ञ अपनी पूर्णता की पराकाष्ठा को तब पहुंचता है जब सर्वमय भगवान् को अर्पित होकर यह सर्वांगीण, उदार और असीम हो जाता है तथा जब, पुरुषोत्तम की ओर उन्नीत होकर, यह वह दुर्बल, स्थूल तथा क्षणिक चेष्टा नहीं करता जिसे सामान्य लोग प्रेम कहते हैं, बल्कि एक विशुद्ध, बृहत् तथा गभीर एकीकारक आनन्द बन जाता है।

यद्यपि परात्पर और विश्वव्यापी भगवान् के प्रति दिव्य प्रेम ही हमारे आध्यात्मिक जीवन का नियम होना चाहिये, तथापि यह वैयक्तिक प्रेम के अखिल रूपों का अथवा व्यक्त जगत् में एक आत्मा को दूसरी के प्रति आकृष्ट करनेवाले सम्बन्धों का नितान्त बहिष्कार नहीं करता। बल्कि, यह एक आन्तरात्मिक परिवर्तन की, अविद्या के आवरणों को दूर करने की और पुरानी निम्नतर चेतना को जारी रखनेवाली अहंभावमय मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाओं को शुद्ध करने की मांग करता है। प्रेम की प्रत्येक गति को अध्यात्मभावापन्न होकर मानसिक अभिरुचि, प्राणिक आवेश या शारीरिक लालसा पर नहीं, बल्कि आत्मा द्वारा आत्मा के अंगीकार और प्रत्यभिज्ञान पर निर्भर करना होगा। प्रेम को उसके मूलभूत आध्यात्मिक तथा आन्तरात्मिक सारतत्त्व में पुनः प्रतिष्ठित करके मन-प्राण-शरीर को उस महत्तर एकत्व के अभिव्यंजक यंत्र एवं अंग बनाकर रखना होगा। इस परिवर्तन में वैयक्तिक प्रेम भी आप-से-आप ऊंचा उठ जायगा और उस दिव्य अन्तर्वासी के

प्रति, जो प्राणिमात्र में रहनेवाले एकमेव के द्वारा अधिकृत मन, आत्मा और शरीर के अन्दर विराजमान है, दिव्य प्रेम में परिणत हो जायगा।

निःसन्देह, समस्त आराधन-रूप प्रेम के मूल में एक आध्यात्मिक शक्ति होती है। जब यह अज्ञानपूर्वक तथा ससीम पदार्थ को अर्पित किया जाता है तब भी विधि-विधान की दरिद्रता तथा उसके परिणामों की तुच्छता में से आध्यात्मिक वैभव की कुछ छटा दिखायी देती है। पूजात्मक प्रेम एक साथ ही अभीप्सा भी होता है और तैयारी भी। यह अपनी अविद्यागत क्षुद्र सीमाओं के भीतर भी एक साक्षात्कार की झलक प्राप्त करा सकता है जो अभी न्यूनाधिक अन्ध तथा आंशिक होने पर भी आश्चर्यजनक होता है। अतएव, ऐसे क्षण भी आते हैं जब हम नहीं, बल्कि एकमेव ही हम में प्रेम करता है और प्रेम का पात्र होता है और मानवीय अनुराग भी इस अनन्त प्रेम और प्रेमी की जरा-सी झांकी से उदात्त एवं महिमान्वित किया जा सकता है। यही कारण है कि देवता एवं प्रतिमा की अथवा किसी आकर्षक व्यक्ति या श्रेष्ठ पुरुष की पूजा को तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये, क्योंकि ऐसी पूजाएं सोपान होती हैं जिनके द्वारा मानवजाति अनन्त के आनन्दपूर्ण रागावेश और उल्लास की ओर गति करती है। ये अनन्त को सान्त करती हुई भी उसके रागावेश और उल्लास को हमारी अपूर्ण दृष्टि के समक्ष प्रकाशित करती हैं, जब कि अभी हमें निम्नतर सोपानों को, जो प्रकृति ने हमारी प्रगति के लिये बनाये हैं, प्रयोग में लाना तथा अपनी उन्नति के क्रमों को अंगीकार करना होता है। वस्तुतः हमारी भावमय सत्ता के विकास के लिये कई प्रकार की प्रतिमा-पूजाएं अनिवार्य हैं, अतएव ज्ञानीजन को तबतक किसी भी अवसर पर प्रतिमा को भंग करने के लिये उतावला नहीं होना चाहिये जबतक वह इसके स्थान पर इससे प्रतिरूपित सद्वस्तु को पुजारी के हृदय में प्रतिष्ठित न कर सके। अपिच, इनमें यह शक्ति इसलिये है कि इनके अन्दर सदैव कोई ऐसी चीज होती है जो इनके रूपों से बड़ी है, और यहां तक कि जब हम परमोच्च पूजा की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं तब भी वह चीज बनी रहती है और इस पूजा का विस्तार या इसकी व्यापक समग्रता का अंग बन जाती है। सब रूपों और अभिव्यक्तियों से अतीत 'तत्' को जानकर भी यदि हम प्राणी और पदार्थ में, मनुष्य में और सम्पूर्ण जाति में, पशु, पौधे और पुष्प में, अपने हाथों की कृति और प्रकृति की शक्ति में, जो अब हमारे लिये जड़ मशीनरी की अन्ध क्रिया नहीं रहती, वरन् विश्वशक्ति का मुखमंडल और बल-वैभव बन जाती है, भगवान् को स्वीकार नहीं कर सकते तो हमारा ज्ञान अभी हमारे अन्दर अपक्व है और हमारा प्रेम भी अपूर्ण है, क्योंकि वह सनातन इन चीजों में भी उपस्थित है।

परात्पर एवं परम सत्[1] को किंवा अनिर्वचनीय को हमारे द्वारा अर्पित चरम

[1] परं भावम्। गीता—९-११.

अवर्णनीय आराधना भी पूर्ण पूजा नही होती यदि हम मनुष्य,[1] पदार्थ और प्रत्येक प्राणी में, जहां कहीं वह अपना दिव्यत्व प्रकट करता है अथवा जहां कहीं वह इसे छिपाता है वहां-वहां सर्वत्र उसे अपनी पूजा अर्पित नहीं करते। अवश्य ही, इसमें एक प्रकार का अज्ञान होता है जो हृदय को कैद कर रखता है, उसके भावों को विकृत कर डालता है और उसकी आहुति के मर्म को धुंधला कर देता है। समस्त आंशिक पूजा एवं समस्त धर्म, जो मानसिक या भौतिक प्रतिमा खड़ी करता है, इससे मोहित होकर इसके भीतरी सत्य को अज्ञान के किसी-न-किसी आवरण के द्वारा आच्छादित तथा रक्षित रखने का यत्न करता है और सत्य को उसकी मूर्त्ति में सहज ही खो बैठता है। परन्तु ऐकान्तिक ज्ञान का अभिमान भी एक अन्तराय और बाधा ही होता है। कारण, वैयक्तिक प्रेम के पीछे, इसके अज्ञ मानवीय रूप से ढका हुआ, एक रहस्य छुपा है जिसे मन पकड़ नहीं पाता। वह भगवान् के शरीर का रहस्य है, अनन्त के गुह्य रूप का मर्म है, जिसके पास हम हृदय के हर्षोन्माद तथा शुद्ध और उदात्त सम्वेदन की तीव्रता के द्वारा ही पहुंच सकते हैं। इसका आकर्षण, जो दिव्य मुरलीमोहन की पुकार और सर्व-सुन्दर की मोहक प्रेरणा है, गुह्य प्रेम एवं स्पृहा के द्वारा ही हमें प्राप्त हो सकता है तथा हमें अधिकृत कर सकता है। यह प्रेम एवं स्पृहा अन्त में रूप तथा रूपातीत को एक कर देती है, आत्मा तथा जड़ को अभिन्न कर देती है। इसी एकत्व को प्रेमगत भावना यहां अज्ञान के अन्धकार में खोज रही है और इसीको वह तब प्राप्त भी कर लेती है जब वैयक्तिक मानवी प्रेम स्थूल जगत् में प्रकट हुए अन्तर्यामी भगवान् के प्रेम में परिवर्तित हो जाता है।

जो बात वैयक्तिक प्रेम के सम्बन्ध में कही गयी है, वही सार्वभौम प्रेम के बारे में भी लागू होती है। सहानुभूति, सद्भावना, सर्वजनीन शुभकामना और परोपकार, मानवजाति से प्रेम, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, हमारे चारों ओर के अखिल रूपों एवं आकृतियों का आकर्षण—इन सबके द्वारा ही आत्मा सब प्रकार से विशाल बनती है। फलतः मनुष्य मनोमय तथा भावमय रूप में अपने अहं की प्रथम सीमाओं से मुक्त हो जाता है। इस विशालता को फिर विश्वमय भगवान् के प्रति एकीकारक दिव्य प्रेम में ऊंचा उठाना आवश्यक होता है। प्रेम में परिसमाप्त आराधन, आनन्द में परिसमाप्त प्रेम—सीमातिशायी प्रेम, परात्पर में प्राप्त होनेवाले लोकोत्तर आनन्द का आत्म-परिवेष्टित हर्षविश, जो भक्ति-मार्ग के अन्त में हमारी प्रतीक्षा करता है,—एक अधिक व्यापक परिणाम पैदा करता है, अर्थात् यह हमारे अन्दर भूतमात्र के प्रति सार्वभौम प्रेम एवं सत्मात्र का आनन्द सरसाता है। हम प्रत्येक पर्दे के पीछे भगवान् के दर्शन करते हैं, सभी गोचर पदार्थों में सर्व-सुन्दर का आत्मिक तौर पर आलिंगन करते हैं। उसकी असीम अभिव्यक्ति में विद्यमान सार्वभौम आनन्द

[1] मानुषीं तनुमाश्रितम्। गीता—९-११.

हमारे द्वारा प्रवाहित होता है, वह प्रत्येक रूप और गति को अपनी तरंग में समा लेता है, पर किसीमें बद्ध या स्थित नहीं हो जाता और सदैव एक महत्तर तथा पूर्णतर अभिव्यक्ति की ओर बढ़ता रहता है। यह सार्वभौम प्रेम मोक्षकारी है और साथ ही रूपान्तर करने में भी समर्थ है। आकृतियों और प्रतीतियों का विरोध-वैषम्य अब हृदय पर प्रभाव नहीं डालता, क्योंकि हृदय ने इन सबके पीछे विद्यमान एकमेव परम सत्य को अनुभव कर लिया है और इनका सम्पूर्ण प्रयोजन भी समझ लिया है। निःस्वार्थ कर्मी और ज्ञानी की आत्मा की निष्पक्ष समता दिव्य प्रेम के जादूभरे स्पर्श से आलिंगन करनेवाले हर्षविश तथा शत-सहस्रदेहधारी दिव्यानन्द में परिवर्तित हो जाती है। सभी वस्तुएं दिव्य प्रियतम के असीम सुख-सदन में उसीकी मूर्त्तियां बन जाती हैं और अखिल गतियां उसीकी लीलाएं। यहां तक कि दुःख भी परिवर्तित हो जाता है और दुःखदायक वस्तुएं अपनी प्रतिक्रिया में तथा अपने सार रूप में भी बदल जाती हैं; दुःख के रूप झड़ जाते हैं, उनके स्थान पर आनन्द के रूप उत्पन्न हो जाते हैं।

चेतना के परिवर्तन का स्वरूप अपने सार रूप में यही है। यह परिवर्तन स्वयं जीवन को भी दिव्य प्रेम और आनन्द के महिमान्वित क्षेत्र में परिणत कर देता है। अपने सार-तत्त्व में यह जिज्ञासु के लिये तब आरम्भ होता है जब वह साधारण स्तर से आध्यात्मिक में पदार्पण करता है और संसार पर तथा अपने-आप और दूसरों पर एक प्रकाशयुक्त दृष्टि एवं अनुभूतिवाले नूतन हृदय से दृष्टिपात करता है। यह अपनी पराकाष्ठा को तब पहुंचता है जब आध्यात्मिक स्तर अतिमानसिक भी बन जाता है। वहां हम इसे केवल सार रूप में ही अनुभव नही करते, बल्कि समस्त आन्तर जीवन तथा सम्पूर्ण बाह्य सत्ता का रूपान्तर करनेवाली शक्ति के रूप में इसका सक्रिय अनुभव भी प्राप्त कर सकते हैं।

*

प्रेम की आत्मा और प्रकृति का मिश्रित एवं सीमित मानवी भाव के स्वरूप से परम तथा सर्व-समालिंगी दिव्य अनुराग में यह जो रूपान्तर होता है इसे स्वीकार करना अनेक पार्थिव बन्धनों में फंसे मानवी संकल्प के लिये कठिन भले ही हो, पर मन के लिये इसे कल्पना में लाना नितान्त कठिन नहीं है। हां, जब हम प्रेम के कर्मों पर आयेंगे तब एक प्रकार की समस्या खड़ी हो सकती है। जैसे ज्ञानमार्ग की एक अतीव अतिरंजित पद्धति में उस समस्या की ग्रंथि को ही काट डाला जाता है वैसे ही यहां भी समस्या की ग्रंथि को काट डालना और सांसारिक कर्म का परित्याग करके उसके असंस्कृत रूपों के साथ प्रेम की भावना को एकीभूत करने की कठिनाई से भाग जाना सम्भव है। हमारे सामने यह मार्ग खुला है कि हम बाह्य जीवन और कर्म से सर्वथा हटकर हृदय की नीरवता में भगवान् का आराधन

करते हुए एकाकी रहें। यह भी सम्भव है कि हम केवल वही कर्म अपनावें जो या तो स्वतः भगवत्प्रेम को प्रकट करते हैं,—जैसे प्रार्थना, स्तुति एवं प्रतीकात्मक पूजा-पाठादिरूप अनुष्ठान,—या ऐसी अंगभूत क्रियाएं लें जो इन चीजों से सम्बद्ध होकर इनकी भावना को कुछ-कुछ धारण कर सकती हैं, और अन्य सब कर्मों को एक तरफ छोड़ दें; आत्मा सन्त और भक्त के आत्म-मग्न या परमात्म-केंद्रित जीवन में अपनी अन्तरीय अभिलाषा पूरी करने के लिये संसार-पथ से हट जाय। दूसरी तरफ, यह भी सम्भव है कि जीवन के किवाड़ अधिक विशालतया खोल दिये जायं और अपना भगवत्प्रेम अपने अड़ोस-पड़ोस के लोगों के प्रति तथा मानवजाति के प्रति सेवा-कार्यों में लगाया जाय। हम मनुष्य तथा पशु एवं प्रत्येक प्राणी के प्रति विश्वप्रेम, शुभकामना एवं परोपकार और दान तथा सहायता के कार्य कर सकते हैं, एक प्रकार की आध्यात्मिक उमंग के द्वारा उन्हें रूपान्तरित भी कर सकते हैं, कम-से-कम उनके निरे नैतिक बाह्य रूप के भीतर आध्यात्मिक प्रेरक-भाव की एक महत्तर शक्ति का प्रवेश करा सकते हैं। आज के धार्मिक विचारक प्रायः इसी समाधान का समर्थन करते हैं, और हम देखते हैं कि इसीको वे सर्वत्र ईश्वरान्वेषक के या दिव्य प्रेम तथा ज्ञान पर अपने जीवन को आधारित करनेवाले मनुष्य के उपयुक्त कर्म-क्षेत्र के रूप में विश्वासपूर्वक प्रस्तुत कर रहे हैं। परन्तु पार्थिव जीवन के साथ भगवान् के पूर्ण मिलन के लिये प्रचालित पूर्णयोग इस संकुचित क्षेत्र में ही नहीं रुक सकता, न ही वह इस मिलन को भूतदया तथा परोपकार के नैतिक नियम की क्षुद्रतर चारदीवारी के अन्दर बन्द ही कर सकता है। इसमें तो कर्ममात्र को भगवज्जीवन का अंग बनाना होगा, केवल प्रेम और परोपकारमय सेवा के कर्मों को ही नहीं, बल्कि ज्ञान के कर्मों को, बल, उत्पादन एवं सर्जन के कर्मों को, हर्ष, सौन्दर्य एवं अध्यात्मसुख के कर्मों और संकल्प, प्रयत्न एवं सामर्थ्य के कर्मों को भी भगवज्जीवन के अंग बनाना होगा। ये सब कार्य करने का इस योग का तरीका बाह्य और मानसिक नहीं, बल्कि आंतरिक और आध्यात्मिक होगा। इसी आशय से यह सभी कर्मों में, वे चाहे जो भी हों, दिव्य प्रेम एवं भजन-पूजन की भावना और भगवान् एवं उसके सौन्दर्य में प्रसन्नता की भावना ले आयेगा, ताकि यह समस्त जीवन को आत्मा के भगवत्-प्रेममय कर्मों के यज्ञ तथा इसकी सत्ता के स्वामी की पूजा के रूप में परिणत कर सके।

इस प्रकार अपने कर्मों की भावना से मनुष्य अपने जीवन को पुरुषोत्तम के प्रति पूजात्मक कर्म में परिवर्तित कर सकता है। गीता में कहा गया है कि, "जो मुझे भक्तिभरे हृदय से पत्र-पुष्प या फल-तोय अर्पित करता है, उसकी वह भक्ति-भेंट मैं स्वीकार करता हूं और उसका उपभोग करता हूं।"[1] यह बात नहीं कि कोई

[1] पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। गीता ९—२६

समर्पित बाहरी भेंट ही इस प्रकार प्रेम और भक्तिपूर्वक दी जा सकती है, बल्कि हमारे सब विचार, हमारे सब भाव और सम्वेदन तथा हमारी सब बाह्य चेष्टाएं और उनके रूप एवं विषय भी सनातन के प्रति ऐसे उपहार हो सकते हैं। यह ठीक है कि एक विशेष कार्य का या कार्य के किसी विशेष रूप का अपना महत्त्व होता है, यहां तक कि भारी महत्त्व होता है, पर मुख्य वस्तु तो कार्यगत भावना ही है। कार्य जिस भावना का प्रतीक या मूर्त प्रकाश होता है वही इसे इसका सम्पूर्ण मूल्य प्रदान करती है तथा इसका मर्म बताकर इसका समर्थन करती है। अथवा यह कहा जा सकता है कि दिव्य प्रेम और पूजा के पूर्ण कर्म में तीन अवयव होते हैं जो एक ही अखण्ड अवयवी की अभिव्यक्तियां होते हैं,—कर्म में भगवान् की क्रियात्मक पूजा, कर्म के बाह्य रूप में किसी दिव्य दृष्टि और जिज्ञासा को या भगवान् के साथ किसी सम्बन्ध को प्रकट करनेवाला पूजा-प्रतीक, और तीसरा हृदय, अन्तरात्मा और आत्मा में एकत्व या एकत्वानुभूति के लिये आन्तरिक परानुरक्ति और अतिस्पृहा। इस तरीके से ही जीवन पूजा में परिवर्तित किया जा सकता है,—इसके पीछे परात्पर तथा सार्वभौम प्रेम की भावना और एकत्व की खोज एवं अनुभूति को प्रतिष्ठित करके, प्रत्येक कार्य को ईश्वरोन्मुख भाव का या भगवान् के साथ सम्बन्ध का प्रतीक या अभिव्यक्ति बनाकर, जो कुछ हम करें उस सब को पूजा के कार्य में तथा आत्मा के अन्तर्मिलन, मन की समझ, प्राण के आज्ञापालन और हृदय के समर्पण के कार्य में परिणत करके इसे पूजा का रूप दिया जा सकता है।

किसी भी पूजाविधि में प्रतीक, अर्थपूर्ण विधि-विधान या अभिव्यंजक प्रतिमा केवल गतिशील और समृद्धिवर्धक सौन्दर्यात्मक तत्त्व ही नहीं होती, अपितु एक ऐसा भौतिक साधन भी होती है जिससे मानव प्राणी अपने हृदय के भाव और अभीप्सा को बाहरी तौर पर सुनिश्चित, पुष्ट तथा क्रियाशील बनाने लगता है। क्योंकि, यद्यपि आध्यात्मिक अभीप्सा के बिना पूजा निरर्थक और वृथा है, तथापि अभीप्सा भी कर्म और रूप के बिना एक शरीर-रहित शक्ति होती है और जीवन के लिये पूरी तरह फलप्रद नहीं हो सकती। परन्तु दुर्भाग्यवश मानव-जीवनगत सभी रूपों का यही अन्त बदा है कि वे स्थिर आकार में बंधकर निरे लोकाचारात्मक और, परिणामतः, निर्जीव हो जाते हैं। यद्यपि पूजापद्धति तथा रूप अपनी शक्ति को उस मनुष्य के लिये सदैव सुरक्षित रखते हैं जो उनके आशय में अब भी पैठ सकता है, तथापि अधिकतर लोग विधि-विधान को यान्त्रिक रीति-रस्म के रूप में तथा प्रतीक को निर्जीव चिह्न के रूप में बरतने लगते हैं। यह चीज धर्म की आत्मा का हनन कर डालती है, इसलिये अन्त में पूजा-विधि और रूप को बदलना या बिल्कुल छोड़ देना पड़ता है। यहां तक कि कुछ ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जिनकी दृष्टि में समस्त पूजा-विधि और रूप इसी कारण संदिग्ध और सदोष होते हैं; किन्तु ऐसे तो विरले ही होते हैं जो बाह्य प्रतीकों की सहायता के बिना काम चला सकें।

और फिर, मानव-प्रकृति का एक दिव्य तत्त्व-विशेष भी अपनी आध्यात्मिक तृप्ति की पूर्णता के लिये सदैव इनकी अपेक्षा रखता है। सदा ही प्रतीक वहीं तक युक्तियुक्त होता है जहां तक वह यथार्थ एवं सत्य-शिव-सुन्दर होता है, और कोई यहां तक भी कह सकता है कि जो आध्यात्मिक चेतना रसग्राही या भावुक तत्त्व से सर्वथा रहित होती है वह पूर्ण रूप में या कम-से-कम सर्वांगीण रूप में आध्यात्मिक नहीं होती। आध्यात्मिक जीवन में कर्म का आधार आध्यात्मिक चेतना होती है जो नित्य-स्थायिनी और नवस्फूर्त्तिदायिनी है, अपने को नित नये रूपों में प्रकट करने को प्रेरित होती है अथवा सदैव किसी रूप के सत्य को आत्मा के प्रवाह के द्वारा पुनः नूतन कर सकती है। अपने को इस प्रकार प्रकट करके हर एक काम को आत्मा के किसी सत्य का जीवन्त प्रतीक बनाना ही इसकी सर्जनशील दृष्टि और प्रेरणा का वास्तविक स्वभाव है। इसी भाव से आत्म-जिज्ञासु को जीवन के साथ बरतना होगा, उसका रूप बदलना होगा तथा उसे उसके सारतत्त्व में महिमान्वित करना होगा।

परमोच्च दिव्य प्रेम एक सर्जनशील शक्ति है। यद्यपि यह स्वयं अपने में शान्त और निर्विकार रह सकता है तो भी यह बाह्य रूप और प्राकट्य में रस लेता है और मूक तथा निराकार देवत्व बने रहने के लिये बाधित नहीं है। यहां तक कहा गया है कि स्वयं यह सृष्टि भी प्रेम का कार्य थी या कम-से-कम एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण थी जिसमें भागवत प्रेम अपने प्रतीकों का आविष्कार करके अपने को परस्पर-व्यवहार तथा आत्मदान के कर्म में चरितार्थ कर सके। यह सृष्टि का आदि स्वरूप भले ही न हो किन्तु यह इसका अन्तिम लक्ष्य और आशय सहज में हो सकता है। यह ठीक है कि इस समय सृष्टि का स्वरूप ऐसा नहीं प्रतीत होता, परन्तु इसका कारण यह है कि यद्यपि भागवत प्रेम संसार में है और प्राणियों के इस सब विकास को धारण कर रहा है तो भी जीवन का उपादान और कार्य-व्यवहार तो अहंमूलक रचना तथा भेदभावना से ही गठित है, वह एक ऐसे संघर्ष से निर्मित है जो हमारे जीवन और चेतना को, निष्प्राण तथा निश्चेतन प्रकृति के इस प्रत्यक्षतः-उदासीन, निष्ठुर, यहां तक कि शत्रुरूप जगत् में, अपने अस्तित्व तथा स्थायित्व के लिये करना पड़ता है। इस संघर्ष के गोलमाल और अन्धकार में सबकी एक-दूसरे से मुठभेड़ होती है, प्रत्येक की इच्छा होती है कि वह अपनी निजी अस्ति का अधिकार प्रथम और प्रधान जतावे और केवल गौण रूप में ही अपने-आपको दूसरों में तथा बहुत थोड़ा-सा दूसरों के लिये माने। यहां तक कि मनुष्य का परार्थ-भाव भी वास्तव में स्वार्थपूर्ण रहता है और वह ऐसा रहेगा ही जब तक कि आत्मा को दिव्य एकत्व का रहस्य प्राप्त नहीं हो जाता। उस एकत्व का परम उद्गम ढूंढ़ने, उसे अन्दर से निकाल लाने और बाह्य जीवन के परले छोरों तक प्रसारित करने के लिये ही योग का अभ्यास किया जाता है। कर्ममात्र तथा सर्जनमात्र को पूजा,

उपासना और यज्ञ के ही एक रूप तथा प्रतीक में बदल जाना होगा। इसे अपने अन्दर एक ऐसी चीज धारण करनी होगी जो इस पर उत्सर्ग की और भागवत चेतना के ग्रहण एवं प्रतिरूपण की तथा प्रियतम की सेवा, आत्म-दान एवं समर्पण की छाप लगा दे। ऐसा हमें यथासम्भव कर्म के बाह्य शरीर और रूप में भी करना होगा; इसकी भीतरी उमंग में तो ऐसा सदा ही करना होगा,—ऐसी तीव्रता के साथ जिससे पता चले कि यह हमारी आत्मा से सनातन की ओर बहनेवाला एक प्रवाह है।

कर्ममय आराधन स्वतः एक महान्, पूर्ण एवं प्रभावशाली यज्ञ होता है जो अपने-आपको अनेकगुना करके एकमेव का ज्ञान प्राप्त करता है और भगवान् के तेजःपुंज के प्रसार को सम्भव बनाता जाता है। कारण, भक्ति अपने-आपको कर्म में मूर्त्त करके न केवल अपने मार्ग को विशाल, समृद्ध और शक्तिशाली बनाती है, बल्कि इस जगत् के अन्दर कर्मों के कठोरतर पथ में हर्ष तथा प्रेम का एक दिव्य-रसमय तत्त्व भी ले आती है। भक्तिमार्ग के प्रारम्भ में इस तत्त्व का प्रायः अभाव भी होता है, क्योंकि तब केवल तपोमय आध्यात्मिक संकल्प ही संघर्षमय उन्नतिकारी प्रयास के साथ एक सीधी चढ़ाई चढ़ता है और हृदय अभी या तो प्रसुप्त होता है या मूक रहने को बाध्य होता है। यदि दिव्य प्रेम की भावना प्रवेश पा सके तो पथ की कठोरता कम पड़ जायगी, तनाव हल्का हो जायगा, कठिनाई तथा संघर्ष के गर्भ में भी माधुर्य एवं हर्ष उपस्थित रहेगा। निश्चय ही, हमारे समस्त संकल्पों, कर्मों और चेष्टाओं का परम देव के प्रति अनिवार्य समर्पण पूरी तरह से संपन्न और सफल तभी होगा जब कि वह एक प्रेममय समर्पण हो। यदि समस्त जीवन इस पूजा-विधि में परिणत हो जाय, यदि सभी कर्म भगवान् के प्रेम में तथा संसार और इसके प्राणियों के प्रेम में किये जायें और सब प्राणी ऐसे दिखें और लगें मानों वे नाना छद्म-रूपों में अभिव्यक्त भगवान् ही हों तो इस भाव के बल पर सारा जीवन और कर्म पूर्णयोग के अंग बन जायेंगे।

यज्ञ का असली प्राण है—हृदय की भक्ति का आन्तरिक अर्पण और यज्ञ के प्रतीक एवं उसकी क्रिया में अर्पण की भाव-भावना। यदि अर्पण को पूर्ण और विराट् बनाना है, तो सब भावों को भगवान् की ओर मोड़ना ही होगा। यह मानव-हृदय की शुद्धि का एक अत्यन्त तीव्र उपाय है। कोई भी नैतिक या सौन्दर्यबोधात्मक शुद्धीकरण अपने अपूर्ण बल और ऊपरी दबाव को लिये हुए इसके समान प्रभावशाली कभी नहीं हो सकता। अन्तर में एक चैत्य अग्नि प्रज्ज्वलित करनी होगी जिसमें प्रत्येक चीज भगवान् के नाम से होम देनी होगी। उस अग्नि में सब भाव अपने स्थूलतर अंशों को त्याग देने के लिये बाधित किये जायंगे, जो भाव अदिव्य विकार हैं वे राख कर दिये जायंगे, और अन्य सब भाव भी अपनी न्यूनताएं त्यागते जायंगे जब तक कि विशालतम प्रेम और निर्मल दिव्य

आनन्द की भावना ज्वाला और धूम और धूप में से उद्‌भूत नहीं हो उठेगी। इस प्रकार एक दिव्य प्रेम उदित होगा और उस प्रेम को जब एक सक्रिय विश्वव्यापिनी समता के साथ, मनुष्य एवं प्राणिमात्र में विराजमान भगवान् के प्रति एक अन्तरीय भाव के रूप में विस्तारित किया जायगा, तो वह जीवन की पूर्णता की सिद्धि के लिये अधिक समर्थ होगा और एक अधिक सच्चा साधन होगा। भ्रातृभाव का निर्बल मानसिक आदर्श कभी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। कर्मों में प्रवाहित इस प्रकार का प्रेम ही जगत् में समस्वरता और इसके सभी प्राणियों में सच्ची एकता सम्पादित कर सकता है। इसके सिवा अन्य सभी उपाय इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व्यर्थ के प्रयास होंगे जब तक कि दिव्य प्रेम इस पार्थिव प्रकृति में प्रकट हुई अभिव्यक्ति के सार के रूप में अपने-आपको प्रकट नहीं कर देता।

यहीं हमारे अन्तःस्थ निगूढ़ चैत्य पुरुष का यज्ञ के अग्रणी के रूप में आविर्भाव अत्यन्त महत्त्व रखता है। यह अन्तरतम पुरुष ही कर्म में आत्मा का पूर्ण बल तथा प्रतीक में सारतत्त्व ला सकता है। यही प्रतीक की सनातन नूतनता, सत्यता और सुन्दरता का विश्वास दिला सकता है, तब भी जब कि आध्यात्मिक चेतना अपूर्ण होती है; यह उसे मृत रूप या दूषित तथा दूषक जादू-टोना बन जाने से बचा सकता है। यही कर्म के लिये प्रतीक की शक्ति को इसके आशय सहित सुरक्षित रख सकता है। हमारी सत्ता के अन्य सभी अंग—मन, प्राण-शक्ति, भौतिक या शारीरिक चेतना—इतने अधिक अविद्या के वश में हैं कि ये विश्वस्त यन्त्र नहीं हो सकते, किसी पथ-प्रदर्शक या निर्भ्रान्त आवेग के स्रोत बनना तो और भी दूर की बात है। इन अंगों या शक्तियों के प्रेरक भाव और कर्म का बहुत बड़ा भाग सदैव प्रकृति के पुराने नियम, धोखा देनेवाली मीठी गोलियों तथा रुचिकर निम्न गतियों से ही चिपटा रहता है। ये उन वाणियों और शक्तियों का, जो हमें अपनी ओर पुकारती हैं और प्रेरित करती हैं कि हम अपने को अतिक्रान्त करके महत्तर सत्ता तथा विशालतर प्रकृति में रूपान्तरित कर दें, अनिच्छा, धमकी या विद्रोह या बाधक जड़ता के द्वारा सामना करती हैं। इनके अधिकतर भाग का प्रत्युत्तर या तो विरोध-रूप होता है अथवा मर्यादित या समयानुकूल स्वीकृति-रूप। यदि ये पुकार के पीछे चलती भी हैं तो भी, जान-बूझकर नहीं तो यान्त्रिक अभ्यासवश, ये आध्यात्मिक क्रिया के अन्दर अपनी स्वभावगत दुर्बलताएं तथा भ्रान्तियां ले आने में लग जाती हैं। प्रतिक्षण ही ये आन्तरात्मिक तथा आध्यात्मिक प्रभावों से स्वार्थपूर्ण लाभ उठाने के लिये प्रेरित होती हैं। उन प्रभावों से हमारे भीतर जो बल, हर्ष या प्रकाश आता है उसे ये निम्नतर प्राणिक हेतु के लिये प्रयुक्त करती हुई पकड़ी जा सकती हैं। बाद में, जब जिज्ञासु विश्वातीत, विश्वव्यापी या अन्तर्यामी भागवत प्रेम की ओर खुल जाता है तब भी, यदि वह इसे जीवन के अन्दर उंडेलने का यत्न करता है, तो उसे इन निम्नतर प्रकृति-शक्तियों के अन्धकार तथा विकार पैदा करनेवाले बल

का सामना करना पड़ता है। सदैव ये गड्ढों की ओर घसीटती हैं, उस उच्चतर तीव्रता में अपने पतनकारी तत्त्व ढार देती हैं, उतरती हुई शक्ति को अपने लिये तथा अपने स्वार्थों के लिये पकड़ लेने की चेष्टा करती हैं और इसे कामना तथा अहंकार का एक बढ़ा-चढ़ा मानसिक, प्राणिक या भौतिक साधन बनाकर पतित कर डालती हैं। भागवत प्रेम तो सत्य और प्रकाश के एक नये स्वर्ग तथा नये संसार की सृष्टि करनेवाला प्रेम है, किन्तु ये उलटे उसीको यहां बन्दी बना लेना चाहती हैं, इसलिये कि वह पुराने संसार की दलदल पर सोने का मुलम्मा चढ़ाने के लिये और भावोद्दीपक प्राणिक कल्पना तथा मानसिक आदर्शभूत मनोरथ-सृष्टि के पुराने मलिन मिथ्या आकाशों को अपने नीले-गुलाबी रंग से रंगने के लिये एक बड़ी भारी अनुमति तथा गौरवप्रद एवं उन्नायक बल बनकर रहे। यदि ऐसा मिथ्याकरण होने दिया गया तो उच्चतर प्रकाश, बल और आनन्द लौट जायंगे और हम निम्नतर अवस्था में पतित हो जायंगे; अथवा हमारी उपलब्धि एक अरक्षित पड़ाव और मिश्रण तक ही सीमित रहेगी या वह एक हीनतर हर्षविग से ढक जायगी, यहां तक कि उसमें डूब ही जायगी, पर वह हर्षविग सच्चा आनन्द नहीं होगा। यही कारण है कि भागवत प्रेम समस्त सृष्टि का हृदय और सभी उद्धारक तथा सर्जक शक्तियों में अत्यन्त बलशाली होता हुआ भी पार्थिव जीवन में बहुत ही कम सामने उपस्थित, सब से कम सफल रक्षक एवं सब से कम सर्जक रहा है। मानव-प्रकृति इसे इसकी शुद्धावस्था में सहन करने में असमर्थ रही है, कारण यही है कि यह सभी दिव्य बलों में सर्वाधिक प्रबल, पवित्र, विरल और तीव्र है। जो थोड़ा-सा ग्रहण किया जा सकता था उसे भी तुरन्त बिगाड़कर प्राणगत अतिशय पुण्याडम्बर, दुर्बल धार्मिक या नैतिक भावुकता, प्रफुल्ल मन या उत्तेजना-कलुषित जीवम-आवेग के ऐंद्रिय या यहां तक कि लंपट प्रेमसम्बन्धी गुह्यवाद का रूप दे दिया गया है। जो गुह्य ज्वाला अपनी होम-शिखाओं से संसार का नव-निर्माण कर सकती है, यह विकृत प्रेम उसे आश्रय देने में असमर्थ है और इस कमी की पूर्त्ति उक्त मिथ्याचारों से की गयी है। केवल अन्तरतम हृत्पुरुष ही अनावृत और अपनी पूरी शक्ति के साथ उदित होकर हमारी जीवनयात्रा के यज्ञ को इन गर्त्तजालों में से अक्षत ले चल सकता है। प्रतिक्षण यह मन और प्राण के असत्यों को पकड़ता है, उनकी पोल खोलता तथा उन्हें हटाता है, दिव्य प्रेम एवं आनन्द के सत्य को दृढ़तापूर्वक अधिकृत करता है और उसे मन की उमंगों के उत्तेजन से तथा मार्गभ्रष्ट करनेवाली प्राण-शक्ति के अन्ध-उत्साह से पृथक् करता है। परन्तु मन, प्राण और स्थूल सत्ता में जो भी चीजें अपने अन्तःसार की दृष्टि से सत्य हैं उन सबका यह उद्धार करता है और उन्हें तब तक यात्रा में अपने संग लिये चलता है जब तक कि वे भावना में नवीन तथा आकृति में उदात्त होकर शिखरों पर आरोहण करती चल सकती हैं।

परन्तु अन्तरतम हृत्पुरुष का पथप्रदर्शन तब तक पर्याप्त नहीं प्रतीत होता जब

तक यह अपने-आपको निम्नतर प्रकृति के इस ढेर में से निकालकर उच्चतम आध्यात्मिक स्तरों तक उठाने में सफल नहीं हो जाता और इहलोक में अवतीर्ण वह दिव्य स्फुलिंग एवं ज्वाला अपने-आपको अपने मूल, तेजोमय आकाश के साथ फिर से मिला नहीं देती। क्योंकि अब यह वह आध्यात्मिक चेतना नहीं है जो अपूर्ण है तथा मानव मन, प्राण एवं शरीर के घने कोषों में अपने-आपको खोये हुए है, अब तो यह वह पूर्ण आध्यात्मिक चेतना है जो अपनी पवित्रता, स्वतन्त्रता तथा तीव्र विशालता से सम्पन्न है। जिस प्रकार इसमें नित्य ज्ञाता ही हमारे अन्दर ज्ञाता तथा ज्ञानमात्र का प्रेरक एवं प्रयोक्ता बन जाता है, उसी प्रकार वह नित्य आनन्द-स्वरूप ही हमारा उपास्य देव हो जाता है और वह अपनी सत्ता तथा आनन्द के इस सनातन दिव्य अंश को, जो बाहर विश्व की लीला में संलग्न है, अपनी ओर आकर्षित करता है, वह अनन्त प्रेमी ही अपनेको अपनी असंख्य व्यक्त आत्माओं के अन्दर मधुर एकत्व में उंडेल देता है। संसार में जो भी सौन्दर्य है वह सब तब इस प्रियतम का सौन्दर्य हो जाता है; सौन्दर्य के सभी रूपों को उस शाश्वत सौन्दर्य के प्रकाश के तले स्थित होकर अनावृत दिव्य पूर्णता के एक उन्नायक तथा रूपान्तरकारी बल के आगे आत्मसमर्पण करना पड़ता है। तब समस्त आनन्द और हर्ष सर्वानन्दमय के ही हो जाते हैं; भोग, सुख या आराम के सभी हीनतर रूपों को इसकी बाढ़ों या धाराओं के वेग का आघात सहन करना पड़ता है। इसके आकर्षक दबाव के नीचे वे या तो असमर्थ वस्तुओं की तरह चूर-चूर हो जाते हैं या वे अपने को दिव्य आनन्द के रूपों में परिणत करने को बाध्य होते हैं। इस प्रकार वैयक्तिक चेतना के लिये एक ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है जो इसके अन्दर अज्ञान के मूल्यों की न्यूनताओं और हीनताओं का प्रभावपूर्वक प्रतिकार कर सकती है। अन्त में, सनातन के अपने निज प्रेम और हर्ष की अतिशय वास्तविकता तथा सघन मूर्त्तता को जीवन में उतार लाना सम्भव होने लगता है। अथवा, कम-से-कम हमारी अध्यात्म-चेतना के लिये अपनेको मन से अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और विशालता में उठा ले जाना सम्भव हो जाता है। अतिमानसिक विज्ञान के प्रकाश और बल में ही दिव्य आत्म-प्रकटन तथा आत्म-संगठन की शक्ति का तेज और हर्ष विद्यमान हैं। वही अज्ञान के जगत् का परित्राण कर सकते हैं और वही आत्मा के सत्य की प्रतिमा में इसका नवसर्जन कर सकते हैं।

अतिमानसिक विज्ञान में ही आन्तरिक आराधना की कृतार्थता, परिपूर्ण उच्चता तथा सर्वसमालिंगी विस्तीर्णता है, गभीर और पूर्ण मिलन है, परम ज्ञान के बल और हर्ष को वहन करनेवाले प्रेम के प्रज्वलित पंख हैं। कारण, जो शून्य निष्क्रिय शान्ति तथा निस्तब्धता मुक्त मन का द्युलोक है उसे अतिक्रान्त करनेवाले सक्रिय हर्षविश को अतिमानसिक प्रेम जन्म देता है, साथ ही यह अतिमानसिक निश्चल-नीरवता की प्रारम्भिक गम्भीरतम महत्तर प्रशान्ति का परित्याग भी नहीं करता। प्रेम

की एकता, जो भेदों की वर्तमान सीमाओं तथा प्रत्यक्ष विषमताओं के द्वारा न्यून या नष्ट हुए बिना इन सबको अपने में सम्मिलित कर सकती है, अतिमानसिक स्तर पर अपनी सम्पूर्ण सम्भाव्य शक्ति के शिखर पर पहुंच जाती है। वहां प्राणिमात्र के बीच प्रगाढ़ एकत्व, जो भगवान् और आत्मा के गभीर एकत्व पर प्रतिष्ठित होता है, सम्बन्धों की क्रीड़ा से संगति स्थापित कर सकता है और यह क्रीड़ा ही एकत्व को अधिक पूर्ण एवं निरपेक्ष बनाती है। प्रेम की शक्ति विज्ञानमय होकर जीवन के सभी सम्बन्धों को बिना संकोच या भय के स्वायत्त कर सकती है और उन्हें अपरिष्कृत, मिश्रित तथा क्षुद्र मानवीय ढंगों से मुक्त करके तथा दिव्य जीवन की सुखमय साधन-सामग्री के रूप में उदात्त करके ईश्वर की ओर मोड़ सकती है। अतिमानसिक अनुभव का यह स्वभाव ही है कि यह दिव्य मिलन या अनन्त एकत्व से च्युत हुए बिना या उसे जरा भी कम किये बिना भेद की क्रीड़ा को जारी रख सकता है। अतिमानसीकृत चेतना के लिये मनुष्यों और जगत् के साथ स्थापित सभी सम्बन्धों को शुद्ध तेजोबल में तथा रूपान्तरित अर्थ के द्वारा आलिंगित करना पूरी तरह सम्भव होगा। कारण, आत्मा तब प्रेम या सौन्दर्य-विषयक समस्त भाव एवं सम्पूर्ण खोज के लक्ष्य के रूप में एकमेव सनातन को निरन्तर अनुभव करेगी और सब वस्तुओं तथा सब प्राणियों में उस एकमेव भगवान् से मिलने और उसके साथ एक हो जाने के लिये विस्तृत तथा मुक्त प्राणावेग का आत्मिक रूप में प्रयोग कर सकेगी।

*

यज्ञ के कर्मों की तीसरी वा अन्तिम श्रेणी में उन सब कर्मों का समावेश किया जा सकता है जो प्रत्यक्षतः ही कर्मयोग के विशेष अंग हैं; क्योंकि वही यज्ञ की सिद्धि का क्षेत्र और उसके मुख्य प्रदेश हैं। जीवन के अधिक प्रत्यक्ष कार्य-व्यवहार का सम्पूर्ण क्षेत्र भी इसके अन्दर आ जाता है। पार्थिव जीवन से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने के लिये अपने-आपको बाहर की ओर झोंकनेवाली जीवनेच्छा के नानाविध सामर्थ्य भी इसी के अन्तर्गत हो जाते हैं। यहीं तपस्यात्मक या पारलौकिक आध्यात्मिकता अपनी खोज के लक्ष्यभूत सत्य का अकाट्य खण्डन अनुभव करती है; परिणामतः वह पार्थिव जीवन से मुंह मोड़ने को विवश हो जाती है और इसे अप्रतिकार्य अविद्या का एक नित्य अन्धकारमय क्रीड़ाक्षेत्र मानकर त्याग देती है। तथापि ठीक इसी कार्य-व्यवहार को पूर्णयोग आध्यात्मिक विजय और दिव्य रूपान्तर के लिये अपना क्षेत्र बनाने का दावा करता है। अधिक तपस्यामय अभ्यासक्रम जिस क्षेत्र को सर्वथा त्याग देते हैं तथा अन्य विधियां जिसे केवल अल्पकालिक अग्नि-परीक्षा के क्षेत्र या निगूढ़ आत्मा की एक क्षणिक, बाह्य तथा

संदिग्धार्थक क्रीड़ा के रूप में स्वीकार करती हैं, पूर्णयोग का जिज्ञासु उसका पूरी तरह से आलिंगन एवं स्वागत करता है, इस नाते कि यह परिपूर्णता तथा दिव्य कर्म का और गुप्त एवं अन्तर्वासी आत्मा की पूर्ण आत्मोपलब्धि का क्षेत्र है। अपने अन्दर देवत्व की उपलब्धि उसका प्रथम लक्ष्य है, परन्तु संसार में—इसकी योजना और रूप-रचना द्वारा किये गये देवत्व के प्रत्यक्ष निषेध के पीछे भी—देवत्व की पूर्ण उपलब्धि और, अन्त में, किसी परात्पर सनातन की क्रियाशीलता की पूर्ण उपलब्धि उसका लक्ष्य है। इस क्रियाशीलता के अवतरण से ही यह संसार और आत्मा अपने आवरक कोषों को खोल डालने में समर्थ होंगे और अपने आविष्कारक स्वरूप तथा अभिव्यंजक प्रक्रिया में दिव्य बन जायंगे जैसे वे अब गुप्त रूप से अपने निगूढ़ सार में हैं ही।

पूर्णयोग का यह लक्ष्य इसके अनुगामियों को पूरी तरह से स्वीकार करना होगा, परन्तु इसे स्वीकार करते हुए भी इसकी प्राप्ति के मार्ग में आनेवाली अनन्त बाधाओं से अनभिज्ञ नहीं रहना होगा। बल्कि, हमें उस प्रबल कारण का पूरा ज्ञान होना आवश्यक है जिसके बल पर अन्य कितनी ही साधनाएं यह भी मानने से इनकार करती हैं कि यह लक्ष्य पार्थिव जीवन का सच्चा मर्म हो सकता है, इसकी अनिवार्यता स्वीकार करने की बात तो दूर रही। कारण, यहां पृथ्वी-प्रकृति में प्राण के कर्मों में ही उस कठिनाई का असली मर्म छिपा है जिसके कारण दर्शन एकाकिता के शिखरों की ओर झुक गया है तथा धर्म की आतुर दृष्टि भी मर्त्य-शरीरगत जन्म की व्याधि से दूरस्थ स्वर्ग या निर्वाण की नीरव शान्ति की ओर फिर गयी है। हमारी मर्त्य सीमाओं और अविद्या के गर्त्तजालों के होते हुए भी शुद्ध ज्ञान का मार्ग जिज्ञासु के अनुसरण के लिये अपेक्षाकृत सीधा और सरल होता है। शुद्ध प्रेम के पथ की अपनी ही विघ्न-बाधाएं, विरह-वेदनाएं एवं अग्नि-परीक्षाएं होती हैं तथापि वह, तुलनात्मक दृष्टि से, खुले आकाश में पक्षी के विचरने की भांति सुगम हो सकता है। ज्ञान और प्रेम तत्त्वतः पवित्र हैं और ये मिश्रित, जटिल, भ्रष्ट एवं पतित तभी होते हैं जब कि ये प्राण-शक्तियों की अस्पष्ट गति में भाग लेते हैं और उनके द्वारा बाह्य जीवन की असंस्कृत गतियों तथा हठीले निम्नतर प्रेरक-भावों के लिये बलात् अधिकृत किये जाते हैं। इन शक्तियों में से केवल जीवन-शक्ति या कम-से-कम एक प्रकार की प्रबल जीवनेच्छा अपने असली सार में भी एक अपवित्र, अभिशप्त या भ्रष्ट वस्तु प्रतीत होती है। इसके संसर्ग से, इसके मलिन आवरणों में लिपटी हुई या इसकी सतरंगी दलदल में फंसी हुई दिव्यताएं भी स्वयं सामान्य एवं पंकिल हो जाती हैं और इनके विकारों में नीचे की ओर घसीटी जाने तथा दुर्भाग्यवश दानव एवं असुर जैसी बन जाने से मुश्किल से ही बच पाती हैं। अंधेरी और मलिन जड़ता का तत्त्व इसकी जड़ में है; शरीर और इसकी आवश्यकताओं तथा कामनाओं के कारण सभी मनुष्य क्षुद्र मन, तुच्छ तृष्णाओं

और उमंगों से, छोटी-छोटी व्यर्थ की चेष्टाओं, आवश्यकताओं, चिन्ताओं, व्यग्रताओं तथा सुख-दुःखों की निरर्थक आवृत्ति से बंधे हुए हैं। ये सब चीजें अपने से परे किसी चीज की ओर नहीं ले जातीं और इनपर एक ऐसे अज्ञान की छाप लगी हुई है जिसे अपने 'क्यों' और 'किधर' का कुछ पता नहीं है। यह जड़ स्थूल मन अपने छोटे पार्थिव देवों के अतिरिक्त और किसी देवत्व में विश्वास नहीं करता; यह सम्भवतः और भी अधिक सुख-सुविधा तथा सुप्रबन्ध की आकांक्षा करता है, पर ऊर्ध्वगति और आध्यात्मिक मुक्ति की याचना नहीं करता। सत्ता के केंद्र में हमारी एक अधिक रसिक और बलवत्तर जीवनेच्छा से भेंट होती है, पर यह एक अन्धी राक्षसी एवं विकृत आत्मा होती है और ठीक उन्हीं तत्त्वों में मजा लेती है जो जीवन को आयासमय संघर्ष तथा दुःखदायी कलह बना डालते हैं। यह मानवीय या पैशाचिक कामना की आत्मा है जो भड़कीले रंग, उच्छृंखल काव्य तथा शुभ-अशुभ, हर्ष-शोक, प्रकाश-अन्धकार, मादक हर्ष और कटु यंत्रणा के एक मिश्रित प्रवाह के उग्र दुःखान्त या उद्दीपक गीति-नाटक में आसक्त रहती है। यह इन चीजों से प्यार करती है और इन्हें अधिकाधिक पाना चाहती है, अथवा, जब यह दुःख भोगती तथा इनके विरुद्ध चिल्लाती भी है तब भी यह और कोई चीज स्वीकार नहीं कर सकती और न ही उसमें रस ले सकती है। यह उच्चतर वस्तुओं से घृणा और विद्रोह करती है और अपने आवेश में ऐसी किसी भी दिव्यतर शक्ति को कुचल देना, चीर डालना या गला घोंट के मार देना चाहती है जो जीवन को शुद्ध, उज्वल तथा सुखी बनाने तथा उस उत्तेजक मिश्रण की तीक्ष्ण सुरा को इसके अधरों से छीनने का प्रस्ताव रखने का दुःसाहस करती है। एक और जीवनेच्छा भी है जो एक उत्थापक आदर्शात्मक मन का अनुसरण करने को उद्यत होती है तथा उसके इस प्रस्ताव से आकृष्ट हो जाती है कि जीवन में से कुछ सामंजस्य, सौन्दर्य, प्रकाश तथा उत्कृष्टतर व्यवस्था का रस ले लेना चाहिये; परन्तु यह प्राणिक प्रकृति का एक बहुत छोटा-सा भाग है और अपने अधिक उग्र या अन्धतर एवं मूढ़तर साथियों से सहज ही अभिभूत हो सकती है। यह मन की पुकार से अधिक ऊंची किसी पुकार का तब तक आसानी से साथ नहीं देती जब तक वह पुकार अपना नाश आप ही नहीं कर लेती, जैसा कि धर्म प्रायः ही करता है, यह नाश वह अपनी मांग को उन अवस्थाओं तक कम कर लेने से करती है जिन्हें हमारी अन्ध प्राणिक प्रकृति अधिक अच्छी तरह से समझ सके। आध्यात्मिक जिज्ञासु अपने अन्दर इन सब शक्तियों से सचेतन हो जाता है तथा इन्हें अपने चारों ओर सब जगह अनुभव करता है। उसे इनके साथ निरन्तर संघर्ष तथा युद्ध करना पड़ता है, ताकि वह इनके चंगुल से छुटकारा पा सके तथा इन्होंने उसकी सत्ता एवं पारिपार्श्विक मानव-सत्ता पर जो चिर-रक्षित आधिपत्य जमा रखा है उससे इन्हें च्युत कर सके। यह कठिनाई एक बड़ी भारी कठिनाई है; क्योंकि उनका अधिकार अत्यन्त दृढ़ है, स्पष्ट

रूप से अदम्य है, यहां तक कि यह इस तिरस्कारपूर्ण उक्ति को सत्य सिद्ध करता है कि मानव-प्रकृति कुत्ते की दुम के समान है। इसे आचार-शास्त्र, धर्म, तर्कबुद्धि या अन्य किसी उद्धारक पुरुषार्थ के बल से चाहे कितना भी सीधा करने का यत्न क्यों न करो, यह अन्त में सदा ही विश्व-प्रकृति की कुटिल वक्रावस्था में पुनः-पुनः लौट आती है। इस अत्यन्त विक्षुब्ध जीवनेच्छा का बल तथा चंगुल इतना दृढ़ है, इसकी वासनाओं तथा भ्रान्तियों का संकट इतना महान् है, इसके आक्रमण का आवेश या इसके विघ्नों की कष्टकर बाधा इतनी सूक्ष्म-आग्रहशील या दृढ़-विद्रोही है तथा द्युलोक के ठेठ द्वारों तक ऐसी अड़ी रहती है कि संत और योगी भी इसके षड्यन्त्र या इसके बलात्कार के विरुद्ध खड़े होने के लिये अपनी मुक्त पवित्रता या अपने अभ्यस्त आत्मप्रभुत्व पर भरोसा नहीं कर सकते। इस जन्मजात कुटिलता को सीधा कर डालने का सारा परिश्रम संघर्षकारिणी संकल्पशक्ति को वृथा प्रतीत होता है। सुखमय स्वर्ग की ओर पलायन या निवृत्ति अथवा शान्तिपूर्ण लय, सहज ही, एकमात्र तत्त्व ज्ञान होने के श्रेय को प्राप्त कर लेता है और पुनः जन्म न लेने के मार्ग की खोज इस रूप में प्रचलित हो जाती है कि पार्थिव जीवन के नीरस बन्धन की या एक दयनीय मिथ्या उन्माद या अन्ध तथा संदिग्ध सुख-सौभाग्य एवं सिद्धि-सफलता की यही एकमात्र औषधि है।

तथापि इस विक्षुब्ध प्राणिक प्रकृति की कोई औषधि, इसके उद्धार का कोई उपाय तथा रूपान्तर की सम्भावना तो होनी ही चाहिये और है भी। किन्तु इसके लिये पहले इसकी पथ-भ्रष्टता का कारण ढूंढ़ना होगा और उस कारण का प्रतिकार स्वयं प्राण या जीवन के केंद्र में तथा उसके असली तत्त्व में करना होगा, चूंकि प्राण भी भगवान् की शक्ति है, यह किसी अतिदुष्ट आकस्मिकता या अन्धकारमय दानवीय आवेग की रचना नहीं है, इसकी वर्तमान आकृति चाहे कैसी भी तमसावृत या विकृत क्यों न हो। प्राण की मुक्ति का बीज स्वयं इसके अपने अन्दर ही है, प्राणशक्ति से ही हमें अपना साधन-बल प्राप्त करना होगा। कारण, यद्यपि ज्ञान में रक्षाकारी प्रकाश है, प्रेम में उद्धारकारी तथा रूपान्तरकारी सामर्थ्य है, तथापि ये इह-जीवन में तबतक सफल नहीं हो सकते जबतक ये प्राण की अनुमति प्राप्त नहीं कर लेते और इसके केंद्र में निहित किसी मुक्त-शक्ति-रूपी साधन का प्रयोग भ्रान्तिशील मानवीय प्राण-शक्ति को दिव्य प्राणशक्ति में उठा ले जाने के लिये नहीं कर पाते। यज्ञ के कर्मों का विभाजन करके कठिनाई की गांठ काट डालना सम्भव नहीं। हम यह निश्चय करके इससे नहीं बच सकते कि हम केवल प्रेम और ज्ञान के ही कर्म करेंगे और संकल्प एवं शक्ति, अधिकार एवं उपार्जन, उत्पादन एवं सार्थक शक्ति-व्यय तथा युद्ध, विजय एवं प्रभुत्व के कर्मों से किनारा कर लेंगे, कि हम जीवन के अधिक बड़े भाग को अपनेसे दूर कर देंगे क्योंकि यह साक्षात् कामना और अहंकाररूपी उपादान से ही निर्मित प्रतीत होता है और इसलिये

असामंजस्य तथा निरे संघर्ष एवं अव्यवस्था का क्षेत्र बनना ही इसके भाग्य में लिखा है। ऐसा विभाग वास्तव में किया ही नहीं जा सकता; अथवा, यदि इसके लिये प्रयत्न किया भी जाय तो यह अपने असली उद्देश्य में अवश्य ही असफल रहेगा। कारण, यह हमें संसार-शक्ति के कुल सामर्थ्यों से पृथक् कर देगा और अखंड विश्व-प्रकृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग को, इसकी एकमात्र उसी शक्ति को जो किसी भी सृष्टयुत्पादक कर्म में आवश्यक साधन है, बन्धन बना देगा। प्राण-शक्ति यहां विश्वप्रकृति में एक अपरिहार्य माध्यम है, एक कार्य-साधक तत्त्व है। मन को इसकी सहायता की आवश्यकता है, यदि मन के कर्मों को केवल आकृतिहीन उज्ज्वल आन्तरिक रचनाएं ही नहीं रहना है। आत्मा को इसकी इसलिये जरूरत है कि वह अपनी व्यक्त सम्भावनाओं को बाह्य सामर्थ्य और रूप प्रदान करके जड़-प्रकृति के अन्दर अपनी पूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति को मूर्त्त रूप में चरितार्थ कर सके। यदि प्राण आत्मा की अन्य क्रिया-प्रणालियों को अपनी मध्यस्थ शक्ति की सहायता देने से इंकार करता है अथवा यदि आत्मा ही प्राण को अंगीकार नहीं करती है, तो ये दोनों इह-लोक पर अपने समस्त सम्भव प्रभाव के होते हुए भी, स्थितिशील पर एकाकी या स्वर्णिम पर निर्वीर्य वस्तु में परिणत हो सकते हैं। अथवा, यदि कुछ सम्पन्न हुआ भी तो वह हमारे कर्म का एक आंशिक तेजः-प्रसार होगा जो बाह्य की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक ही होगा। वह शायद जीवन में कुछ हेर-फ़ेर तो करेगा, पर उसे परिवर्तित नहीं कर सकेगा। दूसरी तरफ, यदि प्राण अपनी शक्तियों को आत्मा के समक्ष प्रस्तुत तो करे, पर असंस्कृत रूप में, तो इसका परिणाम और भी बुरा हो सकता है। कारण, सम्भव है कि वह प्रेम या ज्ञान की आध्यात्मिक क्रिया को हीन और भ्रष्ट गतियों में परिणत कर डाले अथवा उन्हें अपनी निकृष्ट या विकृत क्रियाओं की दुःसंगिनी बना दे। प्राण एक सर्जनशील आध्यात्मिक उपलब्धि की पूर्णता के लिये अपरिहार्य है, किन्तु वह प्राण जो मुक्त, रूपान्तरित और उदात्त हो, न कि वह जो साधारण मानसीकृत मानव-पाशविक हो अथवा आसुरिक या पैशाचिक हो, और न ही वह जो दिव्य तथा अदिव्य दोनों का मिश्रण हो। अन्य संसार-त्यागी या स्वर्गकामी अभ्यास-विधियां चाहे जो करें, पर कठिन होते हुए भी पूर्णयोग का अटल व्रत यही है। यह जीवन के बाह्य कर्मों की समस्या को उलझा नहीं रहने दे सकता, इसे उनके अंदर की नैसर्गिक दिव्यता को ढूंढ़कर उसे प्रेम तथा ज्ञान की दिव्यताओं के साथ सदा के लिये और दृढ़तापूर्वक संबद्ध कर देना होगा।

यह भी कोई हल नहीं है कि जीवन के कर्मों से सम्बन्ध तबतक स्थगित रखा जाय जबतक प्रेम और ज्ञान उस शिखर तक विकसित नहीं हो जाते जहां वे जीवन-शक्ति का नव-निर्माण करने के लिये एक प्रभावशाली तथा सुरक्षित रूप में अपना अधिकार स्थापित कर सकें। कारण, हम देख चुके हैं कि इसके लिये उन्हें

पहले अमित ऊंचाइयों तक उठना होता है; तभी वे उस प्राणिक विकार से सुरक्षित रह सकते हैं जो उनकी उद्धारक शक्ति को कुंठित या पंगु कर देता है। यदि एक बार हमारी चेतना अतिमानसिक प्रकृति के शिखरों तक पहुंच सके तो ये दुर्बलताएं सचमुच में दूर हो जायंगी। परन्तु इसमें द्विविधा यह है कि जहां अपने कन्धों पर असंस्कृत जीवन-शक्ति का भार उठाये अतिमानसिक शिखरों तक पहुंचना असम्भव है वहां आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक स्तरों के निर्भ्रान्त प्रकाश तथा अजेय बल को नीचे उतारे बिना प्राणेच्छा का जड़मूल से नव-निर्माण करना भी उतना ही असम्भव है। अतिमानसिक चेतना केवल ज्ञान, आनन्द, घनिष्ठ प्रेम और एकत्व ही नहीं है, वह तपस् या संकल्प भी है, बल और शक्ति का तत्त्व भी है, और वह तबतक अवतरित नहीं हो सकती जबतक इस व्यक्त प्रकृति में तपस् अर्थात् बल एवं शक्ति का तत्त्व उसे ग्रहण करने तथा स्पन्दित करने के लिये पर्याप्त विकसित तथा उदात्त नहीं हो जाता। परन्तु संकल्प, बल और शक्ति प्राण-शक्ति के सहजात तत्त्व हैं, इस कारण प्राण ठीक कहता है कि ज्ञान और प्रेम ही सर्वोच्च नहीं हैं, और वह ठीक ही किसी ऐसी चीज की तृप्ति के लिये प्रेरित होता है जो अपेक्षाकृत अत्यधिक विचारशून्य, दुर्दान्त और भयानक होते हुए भी भगवान् तथा परब्रह्म की प्राप्ति के लिये अपने ही वीरतापूर्ण और उत्साहपूर्ण ढंग से साहस कर सकती है। प्रेम और ज्ञान ही भगवान् के एकमात्र पहलू नहीं हैं, उसका एक पहलू शक्ति का भी है। जैसे मन ज्ञान के लिये टटोलता है, हृदय प्रेम के लिये टोहता है, वैसे ही प्राण भी शक्ति और शक्ति-लभ्य अधिकार की प्राप्ति के लिये यत्न करता है, भले ही यह यत्न वह लड़खड़ाते हुए, अनाड़ीपन से या हड़बड़ी के साथ क्यों न करे। 'शक्ति' की इस प्रकार की निन्दा करना कि यह स्वभावतः पतनकारिणी और अशुभ होने के कारण अपने-आपमें अनुपादेय या अवांछनीय वस्तु है, नैतिक वा धार्मिक मन की भूल है। अनेकों उदाहरणों से प्रत्यक्षतः ठीक प्रमाणित होने पर भी, यह मूलतः एक अन्ध एवं अयुक्तियुक्त धारणा है। शक्ति चाहे कितनी भी विकृत और दुष्प्रयुक्त क्यों न हो, जैसे प्रेम और ज्ञान भी विकृत और दुष्प्रयुक्त होते हैं, फिर भी वह दिव्य है तथा भगवान् के उपयोग के लिये यहां प्रतिष्ठित की गयी है। शक्ति,—संकल्प वा बल—लोकों की संचालिका है और चाहे वह ज्ञान-शक्ति हो या प्रेम-शक्ति अथवा प्राण-शक्ति हो या कर्म-शक्ति या शरीर-शक्ति, वह सदा ही अपने मूल में आध्यात्मिक होती है और साथ ही अपने स्वभाव में दिव्य भी। परन्तु नर-पशु, मानव या दानव अज्ञान में इसका जो प्रयोग करता है उसका त्याग करना होगा और उसके स्थान पर इसके एक ऐसे महत्तर एवं स्वाभाविक व्यापार को—हमारे लिये वह चाहे अलौकिक ही क्यों न हो—प्रतिष्ठित करना होगा जो कि अनन्त तथा सनातन के साथ एकीभूत अन्तश्चेतना के द्वारा ही प्रेरित और परिचालित हो। पूर्णयोग जीवन के कर्मों का वर्जन करके आन्तरिक अनुभव-मात्र से सन्तुष्ट

नहीं रह सकता। उसका बाह्य को बदलने के लिये अन्दर जाना आवश्यक है, और इसके लिये प्राण-बल को उस योग-शक्ति का अंग तथा व्यापार बनाना होगा जो भगवान् के साथ सम्पर्क रखती है तथा जो अपने मार्गदर्शन में दिव्य है।

जीवन के कर्मों के साथ आध्यात्मिक तौर पर सम्बन्ध स्थापित करने में सारी कठिनाई इसलिये पैदा होती है कि जिजीविषा-शक्ति ने अपने अविद्यागत प्रयोजनों के लिये एक मिथ्या प्रकार की कामनात्मा को जन्म दिया है और इसे वास्तविक चैत्य-रूपी भगवत्स्फुलिंग के स्थान पर ला बिठाया है। जीवन के सभी या अधिकतर कर्म आज इस कामनामय आत्मा से प्रचालित या कलुषित हैं अथवा वे ऐसे प्रतीत होते हैं। जो कर्म नैतिक या धार्मिक हैं, जो परार्थवाद, परोपकार, आत्म-बलिदान एवं स्वार्थत्याग का जामा पहने हैं वे भी इसीके तैयार किये तानेबाने से बुने हुए हैं। यह कामनामय आत्मा एक अहमात्मक एवं विभाजक आत्मा है और इसकी सभी सहजप्रेरणाएं भेदमूलक अहंख्यापन के लिये होती हैं। यह खुल्लमखुल्ला या न्यूनाधिक चमकीले पर्दों की आड़ में अपनी ही वृद्धि के लिये, अपने स्वत्व एवं उपभोग तथा विजय और साम्राज्य के लिये सदा ही जोर लगाती रहती है। यदि विक्षोभ, असामंजस्य और विकार के अभिशाप को जीवन से हटाना है, तो सच्ची आत्मा वा हृत्पुरुष को उसके प्रमुख पद पर प्रतिष्ठित करना ही होगा और साथ ही कामना तथा अहंकार की मिथ्या आत्मा का विनाश भी करना होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्वयं जीवन पर ही बलात्कार करना होगा और उसे अपनी कृतार्थता की स्वाभाविक दिशा में चलने से मना करना होगा। कारण, इस बाह्य कामनामय आत्मा के पीछे हमारे भीतर एक आन्तर तथा वास्तविक प्राणमय पुरुष भी है जिसे विनष्ट नहीं करना, बल्कि प्रमुख स्थान देना है और भागवत प्रकृति की शक्ति के तौर पर अपनी सच्ची कार्यप्रणाली के प्रयोग के लिये उन्मुक्त करना है। हमारी सच्ची अन्तरतम आत्मा के पथप्रदर्शन में इस वास्तविक प्राणमय पुरुष का प्रधान बनकर रहना प्राण-शक्ति के दिव्य ढंग से चरितार्थ करने के लिये आवश्यक है। वे उद्देश्य अपने सार में चाहे वही रहेंगे, पर अपने आन्तरिक आशय और बाह्य स्वरूप में पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जायेंगे। भागवत प्राण-शक्ति भी विकास का एक संकल्प तथा आत्मख्यापन की शक्ति ही होगी, किन्तु यह ख्यापन तलवर्ती क्षुद्र अस्थायी व्यक्तित्व का नहीं, बल्कि अन्तरस्थ भगवान् का होगा, यह विकास भी उस सच्चे दिव्य व्यक्ति, केंद्रीय सत्ता एवं गुप्त अक्षर पुरुष के रूप में होगा जो अहं को वशीभूत तथा विलुप्त करके ही उदित हो सकता है। जीवन का सच्चा उद्देश्य है—विकास, पर प्रकृति में एक ऐसी आत्मा का विकास जो अपने-आपको मन, प्राण और शरीर में प्रतिष्ठित तथा अभिवर्धित करे; स्वामित्व , पर सब पदार्थों में भगवान् का भगवान् पर स्वामित्व, न कि अहं की कामना का वस्तुओं पर वस्तुओं के लिये स्वामित्व; उपभोग, पर संसार में दिव्य आनन्द का उपभोग; अन्धकार की

शक्तियों के साथ एक विजयी संघर्ष के रूप में युद्ध, विजय और साम्राज्य, आन्तर तथा बाह्य प्रकृति पर पूर्ण आध्यात्मिक स्व-शासन और प्रभुत्व, अज्ञान के क्षेत्रों पर ज्ञान, प्रेम एवं भागवत संकल्प द्वारा विजय।

यही जीवन के कर्मों के इस दिव्य अनुष्ठान की तथा प्रगतिशील रूपान्तर की, जो त्रिविध यज्ञ का तीसरा अंग है, शर्तें हैं और यही इसके उद्देश्य भी होने चाहियें। योग का लक्ष्य जीवन को बौद्धिक नहीं, बल्कि अतिमानसिक बनाना है, नैतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक बनाना है। इसका मुख्य प्रयोजन बाह्य व्यवहारों या स्थूल मनोवैज्ञानिक हेतुओं को नियन्त्रित करना नहीं, वरन् जीवन तथा इसके कर्म को इनके गुप्त दिव्य तत्त्व पर पुनः प्रतिष्ठित करना है; क्योंकि, इस प्रकार नये आधार पर प्रतिष्ठित होकर ही जीवन सीधे ऊर्ध्व-स्थित गुप्त भागवती शक्ति के द्वारा परिचालित हो सकता है और आज की भांति सनातन नटवर का छद्मवेश और विरूपकारी आवरण न रहकर दिव्यता की एक स्पष्ट अभिव्यक्ति में रूपान्तरित हो सकता है। बाह्य कार्य-कुशलता नहीं, जो मन तथा बुद्धि का तरीका है, बल्कि चेतना का मूलगत आध्यात्मिक परिवर्तन ही जीवन का कायापलट कर सकता है और इसके दुःख-द्विविधाग्रस्त वर्तमान स्वरूप से इसका परित्राण कर सकता है।

*

इस प्रकार, जीवन के दृश्य-प्रपंच पर बाह्य कौशल-प्रयोग के द्वारा नहीं, बल्कि इसके असली तत्त्व के रूपान्तर के द्वारा ही पूर्णयोग इसे प्रकृति की विक्षुब्ध तथा अज्ञानमय गति से ज्योतिर्मय तथा समस्वर गति में परिवर्तित करने का विचार प्रस्तुत करता है। तीन शर्तें हैं जो इस केंद्रीय आन्तर क्रान्ति तथा नवीन निर्माण की सफलता के लिये अनिवार्य हैं। इनमें से एक भी अपने-आपमें पूर्ण रूप से पर्याप्त नहीं है, किन्तु इनकी संयुक्त त्रिगुण शक्ति से जीवन को ऊंचा उठाया जा सकता है, उसका रूपान्तर किया जा सकता है और सम्पूर्ण रूप से किया जा सकता है। सर्वप्रथम, जीवन, अपने वर्तमान रूप में, कामना की एक हलचल ही है और इसने हमारे अन्दर अपने केंद्र के तौर पर एक कामनामय पुरुष की रचना कर रखी है। यह कामना-पुरुष जीवन की सभी चेष्टाओं को अपने द्वारा जांचता है और उनमें अपने अज्ञानयुक्त, अर्द्ध-प्रकाशित एवं पराजित प्रयत्न की व्याकुल चीख-पुकार और दुःख-दर्द को निहित कर देता है। दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिये कामना को मिटाना होगा और उसके स्थान पर एक शुद्धतर तथा स्थिरतर प्रेरक-शक्ति की प्रतिष्ठा करनी होगी, कामना की पीड़ित आत्मा को विनष्ट कर उसके स्थान पर अपने अन्दर के प्रच्छन्न सच्चे प्राणमय पुरुष की प्रशान्ति, शक्ति एवं प्रसन्नता को प्रकट करना होगा। दूसरे, जीवन का वर्तमान रूप कुछ तो प्राण-शक्ति के आवेग से

प्रेरित वा परिचालित होता है और कुछ मन से। मन, अधिकांश में, अज्ञानयुक्त प्राणावेग का दास और पुष्ट-पोषक है, पर अंशतः यह उसका एक चंचल और कम प्रकाशमय या कम योग्य मार्गदर्शक तथा उपदेशक भी है। दिव्य जीवन के लिये मन और प्राणावेग को यन्त्र मात्र बनकर रहना होगा, इससे अधिक कुछ नहीं, और अन्तरतम हृत्पुरुष को योगमार्ग के अग्रणी या दिव्य मार्ग-दर्शन के निर्देशक के तौर पर उनका स्थान ग्रहण करना होगा। अन्त में जीवन, अपने वर्तमान रूप में, विभाजक अहं की सन्तुष्टि में तत्पर है; इस अहं को विलुप्त होना होगा और इसका स्थान सच्चे आध्यात्मिक पुरुष अर्थात् केंद्रीय पुरुष को लेना होगा। स्वयं जीवन को भी पार्थिव सत्ता में भगवान् की चरितार्थता की ओर मोड़ देना होगा। इसे अपने भीतर जाग रही भागवत शक्ति को अनुभव करना तथा उसके लक्ष्य का आज्ञाकारी यन्त्र बनना होगा।

इन तीन रूपान्तरकारी आन्तर गतियों में से पहली में ऐसी कोई चीज नहीं है जो प्राचीन तथा परिचित न हो, क्योंकि यह सदैव आध्यात्मिक साधना का एक मुख्य उद्देश्य रही है। गीता के एक सुस्पष्ट सिद्धान्त में इसका अत्युत्तम निरूपण किया गया है। उसमें बताया गया है कि कर्म के प्रेरक के रूप में फलों की कामना का पूर्ण त्याग, स्वयं कामना का पूर्ण उच्छेद एवं विशुद्ध समता की पूर्ण प्राप्ति आध्यात्मिक व्यक्ति की सामान्य अवस्थाएं हैं। कामना के विनाश का एकमात्र सच्चा और अचूक चिह्न पूर्ण आध्यात्मिक समता है, अर्थात् सब पदार्थों के प्रति आत्मिक समता रखना, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय और सफलता-विफलता से चलायमान न होना, उच्च और नीच, मित्र और शत्रु, पुण्यात्मा और पापी को सम दृष्टि से देखना, सर्वभूत में एकमेव की नानारूप अभिव्यक्ति और सब पदार्थों में देहधारी आत्मा की बहुविध क्रीड़ा या गुप्त क्रमविकास को अनुभव करना। हमारा लक्ष्य मन की अचंचलता, एकाकिता तथा उदासीनता की स्थिति नहीं है, न प्राण की जड़ निस्तब्धता एवं उस शरीर-चेतना की निष्क्रिय अवस्था ही हमारा लक्ष्य है जो या तो कोई भी चेष्टा करने को सहमत नहीं होती अथवा हर प्रकार की चेष्टा करने को उद्यत हो जाती है—यद्यपि इन चीजों को कभी-कभी भूल से आध्यात्मिक स्थिति मान लिया जाता है—बल्कि हमारा लक्ष्य एक ऐसा विशाल एवं सर्वग्राही अविचल विश्वात्मभाव है जैसा कि प्रकृति के पीछे रहनेवाली साक्षी आत्मा का होता है। यद्यपि यहां की सब वस्तुएं शक्तियों का एक अस्थिर और अर्द्ध-व्यवस्थित एवं अर्द्ध-अस्तव्यस्त संगठन प्रतीत होती हैं, फिर भी मनुष्य यह अनुभव कर सकता है कि इनके मूल में एक सर्वाधार शान्ति, निश्चल-नीरवता एवं विशालता विद्यमान है जो निष्क्रिय नहीं, बल्कि शान्त है, अशक्त नहीं, बल्कि गुप्त रूप से सर्वशक्तिमान् है; यह शान्ति एक ऐसी घनीभूत तथा अचल-अटल शक्ति से संपन्न है जो विश्व की सभी हलचलों को सहन करने में समर्थ है। यह पीछे रहनेवाली उपस्थिति सब

वस्तुओं के प्रति आत्मिक समता रखती है। इसके अन्दर जो शक्ति निहित है वह किसी भी कार्य के लिये प्रवाहित की जा सकती है, पर साक्षी आत्मा की कोई भी कामना अपने लिये किसी भी कर्म का चुनाव नहीं करती। असल में कर्म का कर्त्ता तो वह सत्य है जो स्वयं कर्म तथा उसके प्रत्यक्ष रूपों और आवेगों से परे तथा अधिक महान् है, मन या प्राण-शक्ति या शरीर से भी परे तथा अधिक महान् है, चाहे अपने तात्कालिक प्रयोजन के लिये वह मानसिक, प्राणिक या शारीरिक रूप भी धारण कर सकता है। जब इस प्रकार कामना की मृत्यु हो जाती है और यह शान्त सम विशालता चेतना में सर्वत्र छा जाती है तभी हमारे अन्दर का सच्चा प्राणमय पुरुष पर्दे से बाहर निकल आता है और अपनी निर्विकार, गम्भीर तथा शक्तिशाली उपस्थिति को व्यक्त करता है। प्राणमय पुरुष का सच्चा स्वरूप यही है; यह दिव्य पुरुष का जीवन के अन्दर प्रसारित अंश है,—शान्त, सशक्त और प्रकाशमय है, नाना सामर्थ्यों से सम्पन्न है, भगवत्संकल्प का आज्ञाकारी है, अहं से रहित है और फिर भी, बल्कि वास्तव में इसी कारण समस्त कार्य, ध्येयसिद्धि तथा अत्यन्त उच्च या अति बृहत् साहस-कर्म करने में समर्थ है। तब एक सच्ची प्राण-शक्ति भी पहले की तरह क्षुब्ध, व्याकुल, विभक्त एवं आयासकारी स्थूल बल के रूप में नहीं, वरन् एक महान्, ज्योतिर्मय दिव्य शक्ति के रूप में प्रकट होती है। वह शक्ति शान्ति, बल और आनन्द से परिपूर्ण है, वह विशाल पथ पर विचरण करनेवाला जीवन का देवदूत है जिसके शक्ति के पंख संसार को आच्छादित किये हैं।

परन्तु विशाल सामर्थ्य और समता की अवस्था में पहुंचानेवाला यह रूपान्तर भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह हमारे लिये दिव्य जीवन के करणोपकरण को खोल देता है, तथापि यह उसका शासन और सूत्र-संचालन हमें प्रदान नहीं करता। यहीं पर उन्मुक्त ह्रत्पुरुष की उपस्थिति हस्तक्षेप करती है। यह ह्रत्पुरुष हमें सर्वोच्च शासन और मार्ग-दर्शन तो प्रदान नहीं करता,—क्योंकि वह इसका कार्य नहीं है,—किन्तु यह अज्ञान से दिव्य ज्ञान में संक्रमण के काल में आन्तर तथा बाह्य जीवन एवं कर्म के लिये एक वृद्धिशील पथ-प्रदर्शन अवश्य प्रदान करता है। प्रतिक्षण यह एक पद्धति, पथ एवं सोपानक्रम का निर्देश करता है जो हमें एक ऐसी संसिद्ध आध्यात्मिक स्थिति में पहुंचा देगा, जहां एक परम क्रियाशील उपक्रम-शक्ति सदा उपस्थित रहकर दिव्यीकृत प्राण-शक्ति की क्रियाओं का संचालन करती रहेगी। इसके द्वारा प्रसारित प्रकाश से प्रकृति के अन्य अंग भी आलोकित हो उठते हैं जो अबतक अपनी भ्रान्त तथा स्खलनशील शक्तियों से अधिक श्रेष्ठ किसी मार्गदर्शक के अभाव के कारण अज्ञान के घेरे में भटकते आ रहे हैं। मन को तो यह विचारों तथा बोधों का यथार्थ अनुभव प्रदान करता है और प्राण को इस बात का अचूक ज्ञान कि कौन-सी चेष्टाएं भ्रान्त हैं अथवा भ्रान्त करनेवाली हैं और कौन-सी

सत्प्रेरित। अन्दर विराजमान एक शान्त भविष्यवक्ता के समान कोई हमारे पतनों के कारणों को हमारे सामने खोलकर हमें समय पर चेतावनी दे देता है कि वे फिर नहीं होने चाहियें, अनुभव तथा अन्तर्ज्ञान के द्वारा हमारे कार्यों की सही दिशा का, उनके ठीक कदम तथा यथार्थ आवेग का एक ऐसा नियम निकाल लेता है जो कठोर नहीं, बल्कि नमनीय होता है। एक ऐसी संकल्प-शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो जिज्ञासाकुल पर अत्यधिक भ्रान्तिशील मन के साथ नहीं, बल्कि विकसनशील सत्य के साथ अधिक समस्वर होती है। उदय होनेवाले महत्तर प्रकाश के प्रति सुनिश्चित अभिमुखता, आत्मिक सहज-प्रेरणा, आन्तरात्मिक कुशलता, तथा वस्तुओं के वास्तविक तत्त्व, गति एवं आशय में पैठनेवाली एक ऐसी अन्तर्दृष्टि जो आन्तर संस्पर्श, आन्तर दृष्टि और यहां तक कि तादात्म्य के द्वारा उपलब्ध ज्ञान के तथा आध्यात्मिक दिव्य दृष्टि के सदा अधिकाधिक निकट पहुंचती जाती है, ये सब मानसिक निर्णय की उथली सूक्ष्मता का और प्राण-शक्ति के उत्सुक अवधारणों का स्थान लेने लगते हैं। जीवन के कर्म भी अपने को शुद्ध करने तथा भ्रान्ति का त्याग करने लगते हैं और बुद्धिद्वारा थोपी हुई कृत्रिम या तार्किक व्यवस्था की तथा कामना के मनमाने नियम की जगह अन्तरात्मा की गभीर अन्तर्दृष्टि के निर्देश को प्रतिष्ठित करके परम आत्मा के गूढ़ पथों में प्रवेश करने लगते हैं। हृत्पुरुष जीवन पर यह नियम लागू कर देता है कि यह अपने सारे कर्मों को भगवान् और सनातन के प्रति आहुति के रूप में अर्पित करे। जीवन जीवनातीत के प्रति आह्वान बन जाता है; इसका प्रत्येक छोटे-से-छोटा कार्य भी अनन्त की भावना से विशाल हो उठता है।

जैसे-जैसे हमारे अन्दर आन्तरिक समता बढ़ती है और हमें उस सच्चे प्राणमय पुरुष का अधिकाधिक अनुभव प्राप्त होता है जो एक महत्तर आदेश-निर्देश देने के लिये प्रतीक्षा कर रहा है, जैसे-जैसे हमारी प्रकृति के सभी अंगों में अन्तरात्मा की पुकार बढ़ती है वैसे-वैसे वह, जिसे हमारी पुकार सम्बोधित करती है, अपनेको प्रकाशित करने लगता है, जीवन तथा इसके सामर्थ्यों को अधिकृत करने के लिये अवतरित होता है, और उन्हें अपनी उपस्थिति तथा प्रयोजन की उच्चता, गभीरता और विशालता से भर देता है। अधिकतर लोगों में नहीं तो बहुतों में यह समता तथा मुक्त आन्तरात्मिक संवेग या निर्देश की अवस्था से पहले भी अपना कुछ-न-कुछ अंश प्रकट करता है। बाह्य अज्ञान के ढेर के नीचे दबे पड़े और छुटकारे के लिये क्रन्दन कर रहे प्रच्छन्न चैत्य तत्त्व की पुकार, विह्वल ध्यान का एवं ज्ञान की खोज का दबाव, हृदय की उत्कण्ठा और एक ऐसा सच्चा एवं तीव्र संकल्प जो अभी अज्ञानमय है—ये सब उच्चतर प्रकृति को निम्नतर से पृथक् करनेवाले पर्दे को हटाकर मूल स्रोत के द्वार खोल सकते हैं। दिव्य पुरुष की एक कला अपने-आपको या अनन्त के कुछ प्रकाश, बल, आनन्द एवं प्रेम को व्यक्त कर सकती है। सम्भव है कि यह केवल एक क्षणिक सत्य-दर्शन, एक झलक या एक अचिर

झांकी ही हो जो शीघ्र ही लौट जाये तथा प्रकृति के तैयार होने तक प्रतीक्षा करे, परन्तु यह बार-बार भी प्राप्त हो सकती है, बढ़ सकती है और देर तक भी रह सकती है। ऐसी दशा में एक लंबी और विस्तृत सर्वांगीण क्रिया आरम्भ हो जाती है, जो कभी विशद या तीव्र और कभी मन्द एवं धुंधली होती है। किसी-किसी समय एक भागवत शक्ति सामने आकर मार्ग दिखाती है और प्रेरणा या निर्देश तथा प्रकाश प्रदान करती है। अन्य समयों में यह पीछे हट जाती है तथा सत्ता को उसी के साधनों के भरोसे छोड़ती प्रतीत होती है। सत्ता में जो कुछ भी अज्ञ, अन्ध एवं कलुषित है अथवा केवल अपूर्ण तथा निकृष्ट है उसे उभाड़कर और शायद चरम सीमा को पहुंचाकर उसका उपाय वा सुधार किया जाता है, अथवा उसे समाप्त किया जाता है, उसे अपने दुखदायी परिणाम दिखाकर अपने लोप या रूपान्तर के लिये पुकार करने को विवश किया जाता है, या फिर उसे एक निकम्मी या सुधार के अयोग्य वस्तु की भांति प्रकृति से निकाल दिया जाता है। यह प्रक्रिया सरल तथा सम नहीं हो सकती, दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, शान्ति और निर्माण अथवा युद्ध और उथल-पुथल, वर्धमान भागवत चेतना की उपस्थिति और अनुपस्थिति, आशा के शिखर तथा निराशा के अतल गर्त, प्रियतम का आलिंगन और उसके विरह की वेदना, विरोधी शक्तियों का दुर्धर्ष आक्रमण तथा प्रबल धोखा, उग्र विरोध एवं दुर्बल करनेवाला परिहास अथवा देवताओं तथा ईश्वरीय दूतों की सहायता, सांत्वना एवं सन्देश बारी-बारी से आते हैं। जीवन-समुद्र को दीर्घकाल तक और बलपूर्वक अत्यधिक मथा और बिलोड़ा जाता है जिससे कि इसका अमृत और गरल प्रबलता के साथ उछल-उछलकर ऊपर आते हैं। यह क्रिया तबतक चलती रहती है जबतक कि हमारी सारी सत्ता और प्रकृति वृद्धिशील अवतरण के पूर्ण राज्य एवं उसकी व्यापक उपस्थिति के लिये पूर्ण रूप से सज्जित और सन्नद्ध नहीं हो जाती। परन्तु यदि समता, आन्तरात्मिक ज्योति और इच्छाशक्ति विद्यमान हों, तो यह प्रक्रिया—यद्यपि यह पूर्ण रूप से टाली तो नहीं जा सकती—बहुत हलकी एवं सुगम अवश्य की जा सकती है। निश्चय ही, तब यह अपनी अत्यन्त कष्टकर विपदाओं से मुक्त हो जायगी; आन्तर शम, प्रसाद एवं विश्वास रूपान्तर की सभी कठिनाइयों और परीक्षाओं में कदमों को सहारा देंगे और वर्धमान शक्ति प्रकृति की पूर्ण स्वीकृति से लाभ उठाकर विरोधी शक्तियों के सामर्थ्य को शीघ्र ही न्यून और नष्ट कर देगी। निश्चित मार्ग-दर्शन और रक्षण सदा-सर्वदा विद्यमान रहेंगे, कभी सामने उपस्थित और कभी पर्दे के पीछे कार्यरत। अन्तिम परिणाम की शक्ति प्रयत्न के आरम्भ में तथा बीच की लंबी अवस्थाओं में भी पहले से ही उपस्थित रहेगी। हर समय जिज्ञासु दिव्य मार्गदर्शक और रक्षक से या परम मातृ-शक्ति की क्रिया से सचेतन रहेगा; उसे इस बात का ज्ञान होगा कि सब कुछ अधिक-से-अधिक भले के लिये ही किया जा रहा है और प्रगति निश्चित है एवं विजय

अनिवार्य। दोनों अवस्थाओं में एक ही प्रक्रिया अटल रूप से काम करती है; आन्तर तथा बाह्य, सम्पूर्ण प्रकृति को, सम्पूर्ण जीवन को, अपनाना होगा जिससे इसकी शक्तियों एवं इनकी गतियों को ऊर्ध्व के दिव्यतर जीवन के दबाव के द्वारा अभिव्यक्त, परिचालित तथा रूपान्तरित किया जा सके। ऐसा तबतक करना होगा जबतक कि महत्तर आध्यात्मिक शक्तियां इहलोक के सब कुछको अपने अधिकार में लाकर आध्यात्मिक कर्म तथा दिव्य लक्ष्य का साधन नहीं बना लेतीं।

इस प्रक्रिया में तथा इसकी प्रारम्भिक अवस्था में ही यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अपने सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं वह अर्थात् हमारी वर्तमान चेतन सत्ता हमारी गुप्त सत्ता के विशाल संघात की एक प्रतिनिधि-रचना, तलीय क्रिया एवं परिवर्तनशील बाह्य परिणाम है। हमारा प्रत्यक्ष जीवन और इसके कर्म कुछ-एक अर्थपूर्ण अभिव्यक्तियों की शृंखला से अधिक कुछ नहीं हैं, किन्तु जिसे यह जीवन अभिव्यक्त करने का यत्न करता है वह उपरितल पर नहीं है। जिस गोचर सम्मुखस्थ सत्ता को हम 'अपना-आप' मानते हैं और जिसे हम अपने चारों ओर के संसार के सामने प्रस्तुत करते हैं, उसकी अपेक्षा हमारी सत्ता एक बहुत अधिक विस्तृत वस्तु है। यह सम्मुखस्थ तथा बाह्य सत्ता मानसिक रचनाओं, प्राणिक चेष्टाओं तथा शारीरिक व्यापारों का एक अस्त-व्यस्त संकर है। इसके घटक अवयवों तथा मशीनरी में इसका पूर्ण विश्लेषण करने पर भी हमारी वास्तविक सत्ता का सारा रहस्य प्रकाश में नहीं आता। उसे तो हम अपनी सत्ता के पीछे, नीचे और ऊपर, इसके प्रच्छन्न स्तरों में, प्रवेश करके ही जान सकते हैं। अत्यन्त पूर्ण तथा सूक्ष्मतलीय छानबीन और प्रयोग-कुशलता से भी हमें अपने जीवन का, उसके उद्देश्यों एवं उसकी प्रवृत्तियों का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, न हम उनका पूरी सफलता के साथ नियंत्रण ही कर सकते हैं। हमारी यह असमर्थता ही मानवजाति के जीवन को नियंत्रित, मुक्त तथा पूर्ण बनाने में हमारी बुद्धि, नैतिकता और अन्य प्रत्येक बाह्य क्रिया की असफलता का वास्तविक कारण है। हमारी अत्यन्त धुंधली भौतिक चेतना के भी नीचे एक अवचेतन सत्ता है। इसमें सब प्रकार के बीज, जो हमारे बिना जाने ही हमारे उपरितल पर अंकुरित हो उठते हैं, ऐसे छिपे पड़े हैं जैसे आच्छादक एवं पोषक धरती में सब प्रकार के बीज छिपे रहते हैं। साथ ही, इसमें हम निरन्तर ऐसे नये बीज भी डाल रहे हैं जो हमारे अतीत को चिरायु करते हैं और हमारे भविष्य पर प्रभाव डालते हैं। यह अवचेतन सत्ता एक अन्धकारपूर्ण सत्ता है जो अपनी गतियों में क्षुद्र एवं विशृंखल है और प्रायः ही मनमौजी ढंग से अवबौद्धिक होती है, किन्तु पार्थिव जीवन पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अथच हमारे मन, हमारे प्राण एवं हमारी सचेतन स्थूल सत्ता के मूल में एक विस्तृत प्रच्छन्न चेतना भी है,—आन्तर मनोमय, आन्तर प्राणमय, आन्तर सूक्ष्मतर अन्नमय स्तर हैं जो अन्तरतम चैत्य सत्ता, अर्थात् अन्य सब को सम्बद्ध करनेवाली अन्तरात्मा

के द्वारा धारित हैं। इन निगूढ़ स्तरों में भी ऐसे अनेकों पूर्व-विद्यमान व्यक्तित्व निहित हैं जो हमारी विकसनशील तलीय सत्ता की साधन-सामग्री, चालक शक्तियां तथा अन्तःप्रवृत्तियां जुटाते हैं। यहां हममें से प्रत्येक के अन्दर एक केंद्रीय पुरुष के साथ-साथ अनेक गौण व्यक्तित्व भी हो सकते हैं जो इस पुरुष की अभिव्यक्ति के विगत इतिहास के द्वारा अथवा बाह्य जड़जगत् में इसकी वर्तमान क्रीड़ा को आश्रय देनेवाले आन्तर स्तरों पर इसके आविर्भावों के द्वारा निर्मित होते हैं। अपने ऊपरी तल पर हम अपने चारों ओर के सब पदार्थों से विच्छिन्न हैं, सिवा इसके कि हम उस बाह्य मन एवं इंद्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा उनसे सम्पर्क प्राप्त करते हैं जो हमें जगत् के प्रति तथा जगत् को हमारे प्रति केवल बहुत थोड़ा-सा ही खोलता है, किन्तु इन आन्तर स्तरों में हमारे तथा शेष सत्ता के बीच की दीवार पतली है तथा आसानी से टूट जाती है। यहां हम वैश्व तथा वैयक्तिक सत्ता का निर्माण करनेवाली गुप्त विश्व-शक्तियों, मानस-शक्तियों, प्राण-शक्तियों एवं सूक्ष्मभौतिक शक्तियों की क्रिया तुरन्त अनुभव कर सकते हैं—यह नहीं कि उनके परिणामों से इसका अनुमानमात्र कर सकते हैं, बल्कि इसे प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। यदि हम अपनेको इसके लिये कुछ शिक्षित करें तो हम इन विश्व-शक्तियों को, जो अपने-आपको हम पर या हमारे चारों ओर फेंकती हैं, अपने हाथ में लेकर अधिकाधिक अपने वश में कर सकते हैं अथवा कम-से-कम हमपर तथा दूसरों पर होनेवाली इनकी क्रिया को और इनकी रचनाओं एवं वास्तविक गतियों को भी बहुत काफी परिवर्तित कर सकते हैं। हमारे मानव मन के ऊपर और भी महत्तर स्तर हैं जो इसके लिये अतिचेतन हैं। वहां से प्रभाव, शक्तियां तथा संस्पर्श गुप्त रूप से अवतीर्ण होते हैं; वे यहां की वस्तुओं के आद्य निर्धारक हैं और यदि उनके पूर्ण ऐश्वर्य समेत उनका यहां आवाहन किया जाय तो वे स्थूल संसार के जीवन की सम्पूर्ण रचना और व्यवस्था को पूर्ण रूप से बदल सकते हैं। यह सब एक गुप्त अनुभव और ज्ञान है। पूर्णयोग में जब हम भागवत शक्ति की ओर उद्घाटित होते हैं तो वह हमपर क्रिया करती हुई इस सब अनुभव और ज्ञान को उत्तरोत्तर हमारे समक्ष प्रकाशित करती है, इसे प्रयोग में लाती और इसके परिणामों को हमारी सम्पूर्ण सत्ता तथा प्रकृति के रूपान्तर के लिये साधनों एवं सोपानों के रूप में तैयार करती है। तब हमारा जीवन ऊपरी तल पर उछलती हुई एक छोटी-सी लहर नहीं रहता, बल्कि विश्व-जीवन और हमारा जीवन एक-दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं, भले ही अभी वे घुल-मिलकर एकीभूत नहीं हो जाते। हमारी आत्मसत्ता एवं हमारी आत्मा किसी विशाल विश्वात्मा के साथ आन्तरिक तादात्म्य की स्थिति में ही नहीं, अपितु परात्पर के साथ एक प्रकार के सायुज्य की स्थिति में भी उन्नीत हो जाती है, यद्यपि विश्व-व्यापार से भी वह सचेतन रहती है और उसपर प्रभुत्व भी रखती है।

इस प्रकार हमारी खण्डित सत्ता को अखण्ड बनाने की प्रक्रिया से ही योगनिष्ठ

भागवत शक्ति अपने ध्येय की ओर अग्रसर होगी। मुक्ति, सिद्धि एवं स्वामित्व इस अखंडीकरण पर ही आश्रित हैं, क्योंकि उपरितल की लघु तरंग अपनी ही गति पर काबू नहीं पा सकती, अपने चारों ओर के विराट् जीवन पर कोई वास्तविक नियंत्रण प्राप्त करना तो उसके लिये और भी कम सम्भव है। शक्ति,—अनन्त और सनातन देव की शक्ति,—हमारे भीतर अवतरित होती है, कार्य करती है, प्रत्येक आवरण को टुकड़े-टुकड़े करके हमें विशाल तथा मुक्त कर देती है, दृष्टि, विचारणा और प्रत्यक्ष ज्ञान की नित्य नवीनतर तथा महत्तर शक्तियों और नूतनतर तथा महत्तर प्राणिक प्रेरक-भावों को हमारे सामने प्रस्तुत करती है, आत्मा और उसके करणों को अधिकाधिक विस्तृत करके नये नमूने में ढालती है, प्रत्येक न्यूनता को हमारे सामने ला खड़ा करती है, ताकि उसे दोषी ठहराकर दूर किया जाय। यह हमें महत्तर पूर्णता की ओर खोल देती है, अनेक जन्मों या युगों का कार्य अल्प काल में कर डालती है जिसके फल-स्वरूप नूतन जन्म तथा अभिनव दृश्य हमारे भीतर लगातार खुलते जाते हैं। अपने कार्य में विस्तारशील यह हमारी चेतना को शरीर की सीमा से मुक्त कर देती है। फलतः, हमारी चेतना समाधि या निद्रा में अथवा यहां तक कि जागरित अवस्था में भी बाहर जाकर अन्य लोकों में या इस लोक के अन्य प्रदेशों में प्रवेश कर वहां कार्य कर सकती है अथवा अपना अनुभव अपने साथ ला सकती है। यह बाहर फैल जाती है, शरीर को अपना एक छोटा-सा भागमात्र अनुभव करती है, और उसे अपने अन्तर्गत करने लगती है जो पहले इसे अपने अन्तर्गत रखता था। यह विश्वचेतना को प्राप्त करती है और विश्व के समान व्यापक बनने के लिये अपने को विस्तृत करती है। जगत् में क्रीड़ारत शक्तियों को यह बाह्य निरीक्षण तथा सम्पर्क से ही नहीं, बल्कि अन्दर से तथा प्रत्यक्ष रूप से जानने लगती है, उनकी गति को अनुभव करती है, उनके व्यापार को पहचानती है, और उनपर तुरन्त ही उसी प्रकार क्रिया कर सकती है जिस प्रकार एक वैज्ञानिक भौतिक शक्तियों पर क्रिया करता है। हमारे मन-प्राण-शरीर में उनके कार्यों तथा परिणामों को स्वीकृत या अस्वीकृत करके अथवा संशोधित, परिवर्तित या पुनर्गठित करके यह प्रकृति की पुरानी क्षुद्र चेष्टाओं के स्थान पर नयी अति महत् शक्तियां तथा गतियां उत्पन्न कर सकती है। हम वैश्व मन की शक्तियों के व्यापार को अनुभव करने लगते हैं तथा यह जानने लगते हैं कि किस प्रकार उस व्यापार से हमारे विचार उत्पन्न होते हैं। अपने मानसिक बोधों के सत्य और अनृत को हम अन्दर से अलग-अलग करते हैं और उनका क्षेत्र बढ़ाते हैं तथा उनका अर्थ विस्तृत एवं प्रकाशित करते हैं। हम अपने मन तथा कर्म के स्वामी बन जाते हैं और अपने चारों ओर के जगत् में मन की गतियों का रूप निर्धारित करने में समर्थ और तत्पर हो जाते हैं। विश्वव्यापी प्राण-शक्तियों की धारा और तरंग को हम अनुभव करने लगते हैं, अपने बोधों, भावों, सम्वेदनों एवं आवेगों के उद्गम और नियम को जान

लेते हैं, स्वीकार, परित्याग एवं पुनर्गठन करने में स्वतंत्र होते हैं और प्राणशक्ति के उच्चतर स्तरों की ओर उठ जाते हैं। 'जड़तत्त्व' की पहेली की कुंजी भी हमें उपलब्ध होने लगती है, 'मन', 'प्राण' तथा 'चेतना' के साथ होनेवाली इसकी क्रीड़ा को हम समझ लेते हैं, इसका करणात्मक तथा फलित व्यापार हम अधिकाधिक जानते जाते हैं तथा अन्त में इसके इस चरम रहस्य का पता पा लेते हैं कि यह केवल शक्ति का नहीं, बल्कि निवर्त्तित तथा अवरुद्ध या अस्थिर तथा बद्ध चेतना का भी रूप है और हम यह भी देखने लगते हैं कि यह मुक्त हो सकता है तथा उच्चतर शक्तियों को प्रत्युत्तर देने के लिये नमनीय बन सकता है, और साथ ही इसमें ऐसी शक्यताएं भी हैं कि यह आत्मा की आधी से अधिक निश्चेतन प्रतिमूर्त्ति और अभिव्यक्ति न रहकर उसका सचेतन शरीर बन सकता है। यह सब और इससे भी अधिक कुछ उत्तरोत्तर सम्भव होता जाता है जैसे-जैसे भागवती शक्ति की क्रिया हमारे अन्दर बढ़ती है और प्रत्युत्तर देने में हमारी तमसाच्छन्न चेतना के अत्यधिक प्रतिरोध या आयास के विरुद्ध आगे बढ़ने, पीछे हटने और फिर आगे बढ़ने के बहुत अधिक संघर्ष और प्रयत्न के द्वारा महत्तर पवित्रता, सत्यता, उच्चता तथा विशालता की ओर अग्रसर होती है— एक ऐसे संघर्ष और प्रयत्न के द्वारा जो अर्द्ध-निश्चेतन तत्त्व का सचेतन तत्त्व में सुमहान् रूपान्तर करने के कार्य के कारण अनिवार्य हो जाता है। यह सब हमारे अन्दर होनेवाले आन्तरात्मिक जागरण पर, भागवत शक्ति के प्रति हमारे प्रत्युत्तर की पूर्णता तथा हमारे वर्धमान समर्पण पर निर्भर करता है।

परन्तु यह सब तो केवल बाह्य कर्म की महत्तर सम्भावना से समन्वित एक महत्तर आन्तर जीवन ही कहला सकता है और केवल एक संक्रमण-कालीन उपलब्धि होता है। पूर्ण रूपान्तर तो तभी हो सकता है यदि हमारा यज्ञ अपने उच्चतम शिखरों पर आरोहण करे और दिव्य अतिमानसिक विज्ञान की शक्ति, ज्योति एवं आनन्द के द्वारा जीवन पर अपनी क्रिया करे। कारण, केवल तभी वे सब शक्तियां, जो विभक्त हैं और अपने-आपको जीवन तथा इसके कर्मों में अधूरे तौर पर प्रकट करती हैं, अपने मूल एकत्व, सामंजस्य, एकमेव सत्य, वास्तविक पूर्णत्व तथा पूर्ण मर्म तक ऊंची उठ सकती हैं। वहां ज्ञान और संकल्प एक ही हैं, प्रेम और बल एक अखण्ड गति हैं। जो-जो द्वंद्व हमें यहां सताते हैं वे वहां अपनी समस्वरित एकता में परिणत हो जाते हैं। शिव वहां अपना चरम रूप विकसित करता है और अशिव अपने को अपने दोष से मुक्त करके उस शिव में लौट जाता है जो इसके पीछे बराबर ही विद्यमान था। पाप-पुण्य एक दिव्य पवित्रता तथा निर्भ्रान्त सत्य गतिमें विलीन हो जाते हैं। सुख की दोलायमान क्षणिकता एक ऐसे आनन्द में विलीन हो जाती है जो एक शाश्वत तथा प्रसन्न आध्यात्मिक ध्रुवता की क्रीड़ा है। दुःख ध्वस्त होता हुआ उस आनन्द का स्पर्श पा लेता है जो निश्चेतन

की इच्छा के किसी घोर विकार के वश तथा आनन्द को ग्रहण करने में इसकी असमर्थता के कारण विश्वासघातपूर्वक त्याग दिया गया था। जैसे-जैसे हमारी चेतना सीमित एवं देहबद्ध अन्न-मन में से परा-प्रज्ञा के उच्चात्युच्च शिखर की स्वतंत्रता तथा पूर्णता में उठती जाती है, वैसे-वैसे ये चीजें, जो मन के निकट एक कल्पना या रहस्यमात्र हैं, प्रत्यक्ष तथा अनुभवग्राह्य होती जाती हैं। परन्तु ये पूर्ण रूप से सत्य तथा स्वाभाविक तभी हो सकती हैं जब अतिमानस-सत्य हमारी प्रकृति का नियम बन जाय।

अतएव, जीवन की सार्थकता एवं इसकी मुक्ति और रूपान्तरित पार्थिव प्रकृति के अन्दर इसका दिव्य जीवन में कायापलट—यह सब इसपर निर्भर करता है कि आरोहण सफलतापूर्वक सम्पन्न हो और इन उच्चतम स्तरों से पृथ्वी-चेतना में एक परिपूर्ण गतिशीलता का अवतरण साधित हो जाय।

*

जैसी कि पूर्णयोग के स्वरूप की कल्पना या अवधारणा की गयी है, यह इन आध्यात्मिक साधनों को लेकर आगे बढ़ता है तथा इसका सारा आधार प्रकृति के इस पूर्ण रूपान्तर पर ही है। इसका यह स्वरूप अपने-आप इस प्रश्न का निश्चित उत्तर दे देता है कि इस योग में जीवन के साधारण कार्यों को किस भाव से करना होता है और उनका क्या स्थान है।

पूर्णयोग में कर्मों और जीवन का तपस्वी या ध्यानी या रहस्यवादी का-सा कोई भी नितान्त त्याग, निमग्न ध्यान और निष्क्रियता का कोई सिद्धान्त, प्राण-शक्ति और इसकी क्रियाओं का कोई भी उन्मूलन या तिरस्कार, पृथ्वी-प्रकृति में अभिव्यक्ति का किसी प्रकार का परिवर्जन—इन सबका कुछ भी स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। जिज्ञासु के लिये किसी समय यह आवश्यक हो सकता है कि वह तब तक अपने भीतर, पीछे की ओर हटकर रहे, अपनी आन्तर सत्ता में निमग्न रहे, वर्तमान जीवन के कलह-कोलाहल के प्रति अपने द्वार बन्द रखे जबतक कि एक विशेष आन्तर परिवर्तन सम्पादित न हो जाय या कोई ऐसी चीज उपलब्ध न हो जाय जिसके बिना अब जीवन पर कोई प्रभावपूर्ण क्रिया करना कठिन या असम्भव हो गया हो। परन्तु यह केवल एक अवसर या प्रसंग, एक अस्थायी आवश्यकता या उपक्रमरूप आध्यात्मिक दांव-पेच ही हो सकता है; यह उसके योग का नियम या सिद्धान्त नहीं हो सकता।

मानव-जीवन के कार्यकलाप का धार्मिक या नैतिक आधार पर अथवा एक साथ दोनों आधारों पर विभाग करना, उन्हें केवल पूजासम्बन्धी कर्मों या केवल लोकसेवा और परोपकार के कर्मों तक सीमित कर देना पूर्णयोग की भावना के

विपरीत होगा। कोई निपट मानसिक नियम या निरा मानसिक अंगीकार या निषेध इसकी साधना के उद्देश्य और क्रम के विरुद्ध होता है। सभी चीजों को आध्यात्मिक शिखर तक ऊंचा उठा ले जाना होगा और आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित करना होगा। आन्तर आध्यात्मिक परिवर्तन के प्रत्यक्षानुभव तथा बाह्य रूपान्तर को जीवन के किसी एक भाग पर ही नहीं, बल्कि सारे-के-सारे जीवन पर लागू करना होगा। जो कुछ इस परिवर्तन में सहायक है या इसे अनुमति देता है वह सब स्वीकार करना होगा, जो कुछ अपने-आपको रूपान्तरकारिणी गति के अधीन कर देने में अशक्त या अयोग्य है अथवा इससे इन्कार करता है वह सब त्याग देना होगा। वस्तुओं के या जीवन के किसी भी रूप के प्रति, किसी पदार्थ और कार्य के प्रति नाममात्र की भी आसक्ति नहीं रखनी होगी। सब कुछ त्याग देना होगा यदि ऐसी जरूरत आ पड़े; वह सब कुछ स्वीकार करना होगा जिसे भगवान् दिव्य जीवन के लिये अपनी साधन-सामग्री के रूप में वरण करें। परन्तु जो स्वीकार या परित्याग करे वह न तो मन होना चाहिये, न कामना की स्पष्ट या प्रच्छन्न प्राणिक शक्ति, और न ही नैतिक भावना, प्रत्युत वह होना चाहिये हृत्पुरुष का आग्रह, योग के दिव्य मार्गदर्शक का आदेश, उच्चतर आत्मा या आत्म-तत्त्व की दिव्य दृष्टि और परम प्रभु का ज्ञानदीप्त मार्गदर्शन। अध्यात्म-मार्ग कोई मानसिक मार्ग नहीं है। मानसिक नियम या मानसिक चेतना इसकी निर्धारयित्री या इसकी नेत्री नहीं हो सकती।

ऐसे ही, चेतना की दो श्रेणियों, आध्यात्मिक और मानसिक अथवा आध्यात्मिक और प्राणिक, में मेल या समझौता करना अथवा बाह्यतः अपरिवर्तित जीवन को केवल भीतर से उदात्त कर देना योग का नियम या लक्ष्य नहीं हो सकता। सारे जीवन को अपनाना होगा पर सारे ही जीवन का रूपान्तर भी करना होगा; सारे जीवन को अतिमानस-प्रकृति में अवस्थित आध्यात्मिक सत्ता का एक अंग, रूप एवं समुचित अभिव्यक्ति बनना होगा। जड़ जगत् में आध्यात्मिक विकास का शिखर और उसकी सर्वोच्च गति यही है। जैसे प्राण-प्रधान पशु से मनोमय मनुष्य में परिवर्तित होने पर जीवन अपनी मूल चेतना, क्षेत्र और प्रयोजन में कुछ-से-कुछ हो गया था, वैसे ही देहभावापन्न मनोमय जीव से एक ऐसे आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक जीव में परिवर्तन, जो जड़तत्त्व का प्रयोग तो करेगा, पर इसके वश में नहीं होगा, जीवन को ऊंचा उठा कर कुछ-से-कुछ बना देगा। तब जीवन दोषयुक्त, त्रुटिपूर्ण, सीमित एवं मानवीय न रहकर अपनी आधारिक चेतना, क्षेत्र और प्रयोजन में बिल्कुल और ही चीज बन जायगा। जीवन के उन सब रूपों को, जो परिवर्तन को नहीं सह सकते, लुप्त हो जाना होगा, जो इसे सहन कर सकते हैं केवल वही जीवित बचे रहेंगे और आत्मा के राज्य में प्रवेश करेंगे। भागवत शक्ति कार्य कर रही है और वह हर क्षण चुनाव करेगी कि क्या करना है या क्या नहीं

करना है, किसे क्षणिक या स्थायी रूप से ग्रहण करना है और किसे क्षणिक या स्थायी रूप से त्याग देना है। यदि हम उसके स्थान पर अपनी कामना या अपनी 'मैं' को नहीं ला बिठाते,—और इस बारे में आत्मा को सदा जाग्रत्, सदा सावधान, दिव्य मार्गदर्शन के प्रति सचेतन तथा हमारे अन्दर या बाहर से होनेवाले अदिव्य कुपथप्रवर्तन के प्रति प्रतिरोधपूर्ण रहना होगा,—तो वह शक्ति सुपर्याप्त है तथा अकेली ही सर्वसमर्थ है और वही हमें ऐसे मार्गों एवं ऐसे साधनों से कृतार्थता की ओर ले जायगी जो मन के लिये इतने विशाल, इतने अन्तरीय और इतने जटिल हैं कि यह उनका अनुसरण ही नहीं कर सकता, उनके सम्बन्ध में आदेश-निर्देश देना तो दूर रहा। यह एक दुर्गम, विकट एवं विपत्संकुल पथ है, पर इसके सिवाय और कोई पथ है भी नहीं।

दो नियम ऐसे हैं जो कठिनाई को कम कर देंगे और विपदा का निवारण करेंगे। हमें उस सबका परित्याग करना होगा जिसका स्रोत अहंकार में, प्राणिक कामना, कोरे मन और उसकी अत्यभिमानपूर्ण तर्कणा और अक्षमता में है, तथा उस सबका भी जो अविद्या के इन प्रतिनिधियों की सहायता करता है। हमें अन्तरतम आत्मा की वाणी, गुरु के निर्देश, परम प्रभु के आदेश और भगवती माता की क्रियाप्रणाली का श्रवण और अनुसरण करना सीखना होगा। जो कोई शरीर की कामनाओं तथा दुर्बलताओं से, क्षुब्ध-अज्ञानयुक्त प्राण की तृष्णाओं और वासनाओं से, तथा महत्तर ज्ञान की शान्ति और ज्योति को न पाये हुए वैयक्तिक मन के आदेशों से चिपटा रहता है वह सच्चे आन्तरिक नियम को नहीं ढूंढ़ सकता और दिव्य चरितार्थता के मार्ग में रोड़े अटका रहा है। जो कोई तमसाच्छन्न करनेवाली उन शक्तियों को जान लेने तथा त्यागने और भीतर तथा बाहर विद्यमान सच्चे मार्गदर्शक को पहचानने तथा उसके पीछे चलने में समर्थ है वह आध्यात्मिक नियम को खोज लेगा और योग के लक्ष्य पर पहुंच जायगा।

चेतना का आमूल तथा पूर्ण रूपान्तर पूर्णयोग का सम्पूर्ण मर्म है। इतना ही नहीं, अपने उत्तरोत्तर प्रबल रूप में तथा अपनी विकसनशील अवस्थाओं के द्वारा यह इस योग की सम्पूर्ण पद्धति भी है।

अध्याय ७

आचारके मानदंड और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य

जिस ज्ञान पर कर्मयोगी को अपने समस्त कर्म और विकास की नींव रखनी होती है उसके भवन की मुख्य शिला है एकता का अधिकाधिक प्रत्यक्ष बोध एवं सर्वव्यापी एकत्व का जीवन्त-जाग्रत् अनुभव। कर्मयोगी जिस वर्धमान चेतना में रहता-सहता है वह यह है कि सम्पूर्ण सत्ता एक अविभाज्य समष्टि है—समस्त कर्म भी इसी दिव्य अविभाज्य समष्टि का अंग है। अब उसका वैयक्तिक कर्म तथा इसके परिणाम पहले की तरह कोई ऐसी पृथक् गति नहीं हो सकते और न ही वे कोई ऐसी पृथक् गति प्रतीत हो सकते हैं जो समष्टि में पृथग्भूत व्यष्टि की अहंभावमयी "स्वतंत्र" इच्छा से मुख्यतया या पूर्णतया निर्धारित हो। हमारे कर्म एक अविभाज्य विश्व-कर्म का भाग हैं। वे जिस समष्टि में से उठते हैं उसके अन्दर यथास्थान रखे हुए होते हैं अथवा यों कहना अधिक ठीक होगा कि वे अपनेको स्वयं अपने स्थान में रखते हैं और उनका परिणाम उन शक्तियों के द्वारा निर्धारित होता है जो हमारी पहुंच से परे हैं। वह विश्व-कर्म अपनी विराट् समग्रता तथा अपनी प्रत्येक छोटी-मोटी क्रिया में उस एकमेव की अखंड गति है जो अपने-आपको विश्व में उत्तरोत्तर अभिव्यक्त कर रहा है। मनुष्य भी अपने अन्दर तथा बाहर रम रहे इस एकमेव के प्रति तथा प्रकृति की गति में इसकी शक्तियों की गूढ़, अद्भुत तथा मार्मिक प्रक्रिया के प्रति जितना जाग्रत् होता है उतना ही वह अपने तथा वस्तुओं के सच्चे स्वरूप से अधिकाधिक सचेतन होता जाता है। यह कर्म एवं गति हममें तथा हमारे चारों ओर रहनेवालों में भी वैश्व व्यापारों के उस छोटे-से खंडित अंश तक ही सीमित नहीं है जिससे हम अपनी स्थूल चेतना में अभिज्ञ हैं; इसके आधार में वह अपरिमेय मूलभूत पारिपार्श्विक सत्ता विद्यमान है जो हमारे मन के लिये प्रच्छन्न या अवचेतन है, साथ ही यह उस अनन्त परात्पर सत्ता से भी आकृष्ट होती है जो हमारी प्रकृति के लिये अतिचेतन है। हमारा कर्म भी हम से अज्ञात विश्वमयता में से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार हम स्वयं उससे प्रादुर्भूत हुए हैं। हम तो इसे अपने वैयक्तिक स्वभाव और व्यक्तिगत विचारात्मक मन या संकल्प से अथवा आवेग या कामना की शक्ति से एक आकारमात्र देते हैं। किन्तु वस्तुओं का वास्तविक सत्य एवं कर्म का यथार्थ नियम इन वैयक्तिक तथा मानवीय रचनाओं को अतिक्रान्त किये हुए हैं। जो कोई भी दृष्टिबिन्दु एवं मनुष्य का बनाया हुआ कर्म का जो कोई भी नियम वैश्व गति की इस अविभाज्य समग्रता की उपेक्षा करता है वह आध्यात्मिक सत्य के नेत्र के लिये एक अपूर्ण दृष्टिकोण तथा अज्ञानयुक्त सिद्धान्त होता है, भले ही बाह्य व्यवहार में वह कितना भी उपयोगी क्यों न हो।

जब हम इस विचार की कुछ झांकी प्राप्त कर चुकते हैं अथवा इसे अपनी चेतना में इस रूप में जमा देने में सफल हो जाते हैं कि यह मन का एक ज्ञान है तथा उससे फलित एक अन्तरात्म-वृत्ति है, तब भी अपने बाह्य अंगों में तथा क्रियाशील प्रकृति में इस सार्वभौम दृष्टिबिन्दु का अपनी वैयक्तिक सम्मति, वैयक्तिक इच्छा-शक्ति और वैयक्तिक उमंग एवं कामना की मांगों के साथ मेल बैठाना हमारे लिये कठिन होता है। हमें अब भी इस अखंड गति के साथ इस प्रकार व्यवहार करते रहना पड़ता है मानो यह एक निर्वैयक्तिक साधन-सामग्री का पुंज हो जिसमें से हमें, अहं को अथवा व्यक्ति को, अपनी ही इच्छा-शक्ति तथा मन की मौज के अनुसार निजी संघर्ष एवं प्रयत्न से कुछ गढ़ना है। अपनी परिस्थिति के प्रति मनुष्य की साधारण वृत्ति यही है, पर वास्तव में है यह मिथ्या, क्योंकि हमारी 'मैं' और उसकी इच्छा-शक्ति वैश्व शक्तियों की रचनाएं एवं कठपुतलियां हैं और जब हम अहं से पीछे हटकर उस सनातन देव के दिव्य ज्ञान-संकल्प की चेतना में भीतर लौटते हैं जो इन शक्तियों में कार्य करता है, तभी हम ऊर्ध्वलोक से एक तरह प्रतिनिधि-रूप में नियुक्त होकर इनके स्वामी बन सकते हैं। परन्तु दूसरी तरफ यह वैयक्तिक स्थिति मनुष्य के लिये तबतक यथार्थ वृत्ति बनी रहती है जबतक वह अपने व्यक्तित्व से प्रेम करता है, किन्तु उसे पूर्ण रूप से विकसित नहीं कर पाता है; क्योंकि इस दृष्टिबिन्दु तथा प्रेरक बल के बिना वह अपने अहं में वर्धित नहीं हो सकता, न ही अवचेतन या अर्ध-चेतन विश्वमय समष्टि-सत्ता में से अपने-आपको पर्याप्त रूप से विकसित कर सकता है और विशिष्ट बना सकता है।

परन्तु पीछे जब हमें विकास की पृथक्कारक, व्यक्तिप्रधान एवं उग्र अवस्था की आवश्यकता नहीं रहती, जब हम इस क्षुद्र अवस्था से, जिसकी शिशु-आत्मा को आवश्यकता पड़ती है, एकता, सार्वभौमता तथा विश्वचेतना की ओर और इससे भी परे अपनी परात्पर आत्म-प्रकृति की ओर बढ़ना चाहते हैं तब अपने सम्पूर्ण जीवन-अभ्यास पर से इस अहं-चेतना के प्रभुत्व को दूर करना कठिन हो जाता है। अपनी विचारशैली ही नहीं, अपितु अनुभव, सम्वेदन और कर्म करने के अपने तरीके में भी हमारे लिये यह स्पष्टतया समझ लेना अनिवार्य है कि यह गति या यह वैश्व कर्म-सत्ता की कोई ऐसी असहाय निर्वैयक्तिक तरंग नहीं है जो किसी अहं के बल एवं आग्रह के अनुसार उस अहं की इच्छाशक्ति का साथ देती हो। बल्कि, यह उस वैश्व पुरुष की गति है जो अपने क्षेत्र का ज्ञाता है, उस ईश्वर के कदम हैं जो अपनी विकासशील कर्म-शक्ति का स्वामी है। जैसे गति एक तथा अखण्ड है, वैसे ही जो गति के अन्दर विद्यमान है वह भी एक, अद्वितीय तथा अखण्ड है। यही नहीं कि समस्त परिणाम उसीके द्वारा निर्धारित होता है, अपितु समस्त प्रारम्भ, क्रिया तथा प्रक्रिया उसकी वैश्व शक्ति की गति पर निर्भर हैं और केवल गौणतया तथा अपने बाह्य रूप में ही ये प्राणी से सम्बन्ध रखते हैं।

तो फिर व्यक्तिरूपी कर्मी की आध्यात्मिक स्थिति क्या होगी ? सक्रिय विश्वप्रकृति में इस एक विश्वमय पुरुष तथा इस एक समग्र गति से उसका वास्तविक सम्बन्ध क्या है ? वह केवल एक केंद्र है— एक ही वैयक्तिक चेतना के विभेदन का केंद्र, एक ही अखण्ड गति के निर्धारण का केंद्र। उसका व्यक्ति-भाव एक दृढ़ व्यक्तित्व की तरंग के रूप में एकमेव विराट् पुरुष तथा परात्पर एवं सनातन पुरुष को प्रतिबिम्बित करता है। अज्ञान में यह सदा एक भग्न एवं विरूप प्रतिबिम्ब ही होता है, क्योंकि हमारी चेतन जाग्रत् आत्मा, जो उस तरंग का शिखर है, दिव्य आत्मा के अपूर्ण तथा मिथ्याभूत सादृश्य को ही प्रतिक्षिप्त करती है। हमारी सब सम्मतियां, कसौटियां, रचनाएं एवं नियम-व्यवस्थाएं केवल ऐसी चेष्टाएं होती हैं जो वैश्व तथा विकसनशील समग्र क्रिया को और भगवान् की एक चरम अभिव्यक्ति में सहायक इसकी बहुमुखी गति को इस टूटे-फूटे, प्रतिबिंबित तथा विकृत करनेवाले दर्पण में यत्किञ्चित् प्रदर्शित करती हैं। हमारा मन भी इस वैश्व क्रिया को यथासम्भव उत्तम रूप में एक ऐसे सीमित सादृश्य के साथ प्रदर्शित करता है जो वैसे-वैसे अधिक सक्षम होता जाता है जैसे-जैसे मन का विचार अपनी विशालता, ज्योति और शक्ति में बढ़ता है; किन्तु यह सदा एक सादृश्य ही होता है, यहांतक कि यह एक सच्चा आंशिक प्रतिरूप भी नहीं होता। भागवत संकल्प केवल विश्व की एकता में और जीवधारी तथा विचारशील प्राणियों की समष्टि में ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यष्टि की आत्मा में अपने दिव्य रहस्य के किञ्चित् अंश को तथा अनन्त के निगूढ़ सत्य को उत्तरोत्तर आविर्भूत करने के लिये युग-युग तक कार्य करता रहता है। अतएव, विश्व में, समष्टि तथा व्यष्टि में एक बद्धमूल सहज-ज्ञान किंवा विश्वास है कि वह पूर्णता लाभ कर सकता है, उसके अन्दर एक निरन्तर वृद्धिशील तथा अधिक पर्याप्त एवं अधिक समस्वर आत्म-विकास के लिये अविराम प्रवृत्ति है,—एक ऐसे विकास के लिये जो वस्तुओं के गुप्त सत्य के अधिक निकट हो। यह प्रवृत्ति वा प्रयत्न मनुष्य के रचनाकारी मन के समक्ष ज्ञान, वेदन, चरित्र, सौन्दर्यबोध और कर्म के मानदण्डों के रूप में प्रकट होता है,—ऐसे नियमों, आदर्शों, सूत्रों एवं सिद्धान्तों के रूप में प्रकट होता है जिन्हें मनुष्य सार्वभौम नियमों का रूप दे देने का यत्न करता है।

*

यदि हमें आत्मा में स्वतंत्र होना है, यदि हमें केवल परम सत्य के ही अधीन रहना है, तो हमें इस विचार को तिलाञ्जलि दे देनी होगी कि अनन्त सत्ता हमारे मानसिक या नैतिक नियमों से बंधी हुई है या कि हमारे ऊंचे-से-ऊंचे वर्तमान मानदण्डों में भी कोई अनुल्लंघनीय, पूर्ण या नित्य वस्तु विद्यमान हो सकती है। अधिकाधिक ऊंचे अस्थायी मानदण्डों का तबतक निर्माण करना, जबतक कि उनकी

आवश्यकता हो, भगवान् की विश्व-विकासयात्रा में उनकी सेवा करना है; किन्तु एक पूर्णनिरपेक्ष मानदण्ड की कठोर स्थापना करना सनातन स्रोत के प्रवाह-पथ में बाधा खड़ी करने का यत्न करना है। प्रकृति-बद्ध आत्मा जब एक बार यह सत्य अनुभव कर लेती है तब वह शुभाशुभ के द्वंद्व से मुक्त हो जाती है। कारण, जो कुछ भी व्यक्ति और विश्व को उनकी दिव्य परिपूर्णता के लिये सहायता देता है वह सब शुभ है, और जो कुछ उस वर्धमान पूर्णता को रोकता या भंग करता है वह सब अशुभ है। परंतु, क्योंकि पूर्णता काल में प्रगतिशील या विकासशील है, शुभ और अशुभ भी परिवर्तनशील वस्तुएं हैं तथा अपने अर्थ एवं मूल्य को समय-समय पर बदलते रहते हैं। कोई एक वस्तु, जो आज अशुभ है तथा जो अपने वर्तमान रूप में अवश्यमेव त्याज्य है, एक समय सामूहिक तथा वैयक्तिक उन्नति के लिये सहायक एवं आवश्यक थी। कोई दूसरी वस्तु जिसे आज हम अशुभ मानते हैं एक अन्य आकार तथा विन्यास में सहज ही किसी भावी पूर्णता का अंग बन सकती है। और, फिर आध्यात्मिक धरातल पर हम इस विभेद से भी परे चले जाते हैं, क्योंकि तब हम इन सब चीजों का जिन्हें हम शुभ और अशुभ कहते हैं प्रयोजन एवं दिव्य उपयोग जान लेते हैं। इनमें जो कुछ भी मिथ्या है उसका तब हमें त्याग करना होता है; जिसे हम अशुभ कहते हैं उसमें और जिसे हम शुभ कहते हैं उसमें जो कुछ भी विकृत, अज्ञ तथा तमोग्रस्त है उस सबका हमें समान रूप से त्याग करना होता है। तब हमें केवल सत्य और दिव्य को ही अंगीकार करना होता है, किन्तु शाश्वत प्रक्रियाओं में हमें कोई और भेद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जो लोग केवल कठोर मानदंड के अनुसार ही कार्य कर सकते हैं और केवल मानवीय मूल्यों को ही अनुभव कर सकते हैं, दिव्य मूल्यों को नहीं, उन्हें यह सत्य सम्भवतः एक ऐसी भयानक रियायत प्रतीत होगा जो नैतिकता के आधार तक को नष्ट कर सकती है और आचारमात्र में अव्यवस्था पैदा करके केवल संकर को ही स्थापित कर सकती है। निःसन्देह, यदि चुनाव नित्य एवं अपरिवर्तनशील नैतिकता और नैतिकता के नितान्त अभाव के बीच हो, तो अविद्याग्रस्त मनुष्य के लिये इसका ऐसा ही परिणाम होगा। परन्तु मानवीय स्तर पर भी, यदि हममें यह पहचानने के लिये पर्याप्त ज्योति एवं पर्याप्त नमनशीलता हो कि आचार का कोई मानदंड अस्थायी होता हुआ भी अपने समयतक के लिये आवश्यक हो सकता है और यदि हम उसका तबतक सच्चाई से पालन कर सकें जबतक उसके स्थान पर एक श्रेष्ठतर मानदंड प्रतिष्ठित न कर लें, तो हमें कोई ऐसी हानि नहीं होगी, बल्कि हम केवल एक अपूर्ण तथा असहिष्णु सद्गुण की कट्टरता को ही खोयेंगे। परन्तु इसके स्थान पर हमें प्राप्त होगी उन्मुक्तता, अनवरत नैतिक प्रगति की क्षमता, उदारता, संघर्षरत और स्खलनशील प्राणियों के प्रति, इस सब संसार के प्रति ज्ञानयुक्त सहानुभूति रखने की योग्यता; साथ ही इस उदारता के द्वारा हमें इसे इसके

मार्ग पर अग्रसर होने में सहायता देने का अधिक योग्य अधिकार और अधिक महान् बल भी प्राप्त होंगे। अन्त में, जहां मनुष्यता समाप्त होगी तथा दिव्यता आरम्भ होगी, जहां मानसिक चेतना अतिमानसिक में अन्तर्धान हो जायगी और सांत अपने को अनन्त में निमज्जित कर देगा वहां अशुभमात्र एक परात्पर दिव्य शुभ में विलीन हो जायगा और यह शुभ फिर चेतना के जिस-जिस स्तर को स्पर्श करेगा उस-उस पर एक सार्वभौम रूप धारण कर लेगा।

इसलिये, यह एक निश्चित बात है कि जिन किन्हीं भी मानदंडों से हम अपने आचार का नियमन करना चाहें वे सभी केवल हमारे अस्थायी, अपूर्ण एवं विकासशील प्रयत्न ही होते हैं। इन प्रयत्नों का प्रयोजन यह होता है कि जिस वैश्व उपलब्धि की ओर प्रकृति बढ़ रही है उसमें अपनी लड़खड़ाती मानसिक प्रगति को हम अपने प्रति प्रदर्शित कर सकें। परन्तु दिव्य अभिव्यक्ति हमारे क्षुद्र नियमों तथा भंगुर पुण्य भावनाओं से आबद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि इसके मूल में जो चेतना है वह इन वस्तुओं की तुलना में अतीव बृहत् है। यदि एक बार हम इस तथ्य को, जो हमारी तर्कशक्ति के स्वेच्छाचारी राज्य के लिये काफी क्षोभजनक है, हृदयंगम कर लें तो हम मनुष्य जाति की वैयक्तिक तथा सामूहिक यात्रा की प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं को नियंत्रित करनेवाले क्रमिक मानदंडों को पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से उनके समुचित स्थान पर रखने में अधिक अच्छी तरह समर्थ होंगे। इनमें से अत्यन्त व्यापक मानदंडों पर यहां हम एक विहंगम दृष्टि डाल लें। हमें देखना है कि उस अन्य माप-रहित आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक कार्यशैली से इनका कैसा सम्बन्ध है। योग इस शैली को आयत्त करना चाहता है और इस ओर उसकी प्रगति तब होती है जब व्यक्ति भगवत्संकल्प के प्रति समर्पण करता है, और इस ओर अधिक सफलतापूर्वक वह तब अग्रसर होता है जब व्यक्ति इस समर्पण के द्वारा एक ऐसी महत्तर चेतना की ओर आरोहण करता है जिसमें सक्रिय सनातन ब्रह्म के साथ एक प्रकार का तादात्म्य सम्भव हो जाता है।

*

मानवीय आचार के मुख्य मानदंड चार हैं जो एक सीढ़ी के उत्तरोत्तर ऊंचे सोपान हैं। प्रथम है वैयक्तिक आवश्यकता, अभिरुचि एवं कामना; द्वितीय है समष्टि का नियम एवं हित; तृतीय है आदर्श नैतिक नियम और अन्तिम है प्रकृति का सर्वोच्च दिव्य नियम।

मनुष्य इन चार में से पहले दो को ही अपने प्रकाशप्रद और मार्गदर्शक साधनों के रूप में संग लेकर अपने जीवन-विकास की सुदीर्घ यात्रा आरम्भ करता है, क्योंकि ये दोनों उसकी पाशविक एवं प्राणिक सत्ता के नियम हैं, और प्राण-प्रधान तथा देहप्रधान पशुवृत्ति मनुष्य के तौर पर ही वह अपना विकास प्रारम्भ करता है।

इस भूतल पर मनुष्य का असली कार्य है—मानवता के सांचे में भगवान् को अधिकाधिक मूर्तिमन्त करना; सचेत रूप में हो या अचेत रूप में, इसी लक्ष्य के लिये विश्वप्रकृति अपनी बाह्य तथा आन्तर प्रक्रियाओं के घने पर्दे की आड़ में उसके अन्दर कार्य कर रही है। परन्तु भौतिक या पाशविक मनुष्य जीवन के आन्तरिक लक्ष्य से अनभिज्ञ है; वह केवल इसकी आवश्यकताओं तथा कामनाओं को ही जानता है और, स्वभावतः ही, अपनी आवश्यकता की प्रतीति तथा कामना के उत्तेजनों और निर्देशों को छोड़कर और कोई ऐसा मार्गदर्शक उसके पास नहीं है जो उसे बता सके कि उससे किस चीज की अपेक्षा की जाती है। निःसन्देह, और सब चीजों से पहले अपनी शारीरिक तथा प्राणिक मांगें और आवश्यकताएं पूरी करना, तथा, दूसरे स्थान पर, अपने अन्दर जो भी हृद्गत या मनोगत तृष्णाएं या कल्पनाएं या गतिशील विचार उठते हैं उन्हें पूरा करना उसके आचार का पहला प्राकृतिक नियम होता है। केवल एक ही ऐसा समबल या प्रबल नियम है जो इस अनिवार्य प्राकृतिक मांग का परिवर्तन या प्रतिषेध कर सकता है। यह वह मांग है जो उसके परिवार के अथवा समाज या वंश एवं गण या समुदाय के, जिसका वह सदस्य है, विचारों, आवश्यकताओं और कामनाओं के द्वारा उसपर लादी जाती है।

यदि मनुष्य केवल अपने लिये ही जी सकता,—ऐसा तो वह तभी कर सकता था यदि व्यक्ति का विकास जगत् में भगवान् का एकमात्र लक्ष्य होता,—तो इस दूसरे नियम के कार्यान्वित होने की आवश्यकता ही न पड़ती। परन्तु सत्तामात्र अवयवी तथा अवयवों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा और निर्मित द्रव्य एवं उसके निर्मायक अंगों की एक-दूसरे के लिये आवश्यकता तथा समुदाय एवं उसके व्यक्तियों की अन्योन्य-निर्भरता के द्वारा ही प्रगति करती है। भारतीय दर्शन के शब्दों में, भगवान् अपने-आपको सदा ही व्यष्टि तथा समष्टि के द्विविध रूप में प्रकट करता है। मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व तथा इसकी पूर्णता एवं स्वतंत्रता की वृद्धि के लिये बल लगाता हुआ भी अपनी वैयक्तिक आवश्यकताएं एवं कामनाएं पूरी करने में तब तक असमर्थ रहता है जब तक वह अन्य मनुष्यों के साथ मिल करके बल नहीं लगाता। वह अपने-आपमें पूर्ण है और फिर भी दूसरों के बिना अधूरा है। यह बाध्यता उसके वैयक्तिक आचार-नियम को सामुदायिक नियम के घेरे में ले आती है। सामुदायिक नियम की उत्पत्ति एक स्थायी समुदायसत्ता के निर्माण से होती है जिसका अपना सामूहिक मन तथा प्राण होता है। व्यक्ति के अपने देहबद्ध मन और प्राण एक नश्वर इकाई के रूप में उस सामूहिक मन और प्राण के अधीन होते हैं। तथापि उसके अन्दर एक ऐसी सत्ता भी है जो अमर तथा स्वतन्त्र है और जो समष्टि-शरीर से बंधी हुई नहीं है,—ऐसे समष्टि-शरीर से जो उसके देहबद्ध जीवन की समाप्ति के बाद भी बना रहता है, परन्तु जो उसकी नित्य आत्मा से अधिक स्थायी नहीं हो सकता, न ही इसे अपने नियम से बांधने का दावा कर सकता है।

यह देखने में अधिक व्यापक तथा प्रभुत्वपूर्ण नियम, अपने-आपमें, उस प्राणिक तथा शारीरिक सिद्धान्त के विस्तार से अधिक कुछ नहीं है जो व्यष्टिरूप प्राथमिक मनुष्य को संचालित करता है; यह गण या समुदाय का नियम है। व्यक्ति अपने जीवन को कुछ अन्य व्यक्तियों के जीवन के साथ जिनसे वह जन्म, अभिरुचि या परिस्थिति के कारण सम्बद्ध होता है, कुछ हद तक एकीभूत कर लेता है। समुदाय की सत्ता उसकी अपनी सत्ता एवं तृप्ति के लिये आवश्यक है; अतएव, आरम्भ से नहीं तो समय आने पर, इसकी सुरक्षा, इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति और इसके सामूहिक विचारों, कामनाओं एवं जीवन-अभ्यासों की चरितार्थता, जिनके बिना यह संयुक्त ही नहीं रह सकता, निश्चित रूप से प्रमुख स्थान ले लेती हैं। तब, वैयक्तिक विचार एवं भाव, आवश्यकता एवं कामना और प्रवृत्ति एवं प्रकृति की तृप्ति को किसी नैतिक या परोपकारात्मक प्रेरक-भाव के कारण नहीं, बल्कि परिस्थितिवश इस या उस अन्य व्यक्ति वा व्यक्तिसमूह के नहीं, बल्कि समूचे समाज के विचारों एवं भावों, आवश्यकताओं एवं कामनाओं और प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों की तृप्ति के निरन्तर अधीन करना होता है। यह सामाजिक आवश्यकता ही नैतिकता का तथा मनुष्य के सदाचारसम्बन्धी संवेग का गुप्त मूल है।

यह यथार्थ रूप से ज्ञात नहीं है कि किसी आदिम काल में मनुष्य अकेला या केवल अपनी संगिनी के संग रहता था जैसे कि कुछ-एक पशु रहते हैं। उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त हमें बताता है कि वह एक सामाजिक प्राणी था, एकाकी शरीर और आत्मा नहीं। समुदाय का नियम सदैव उसके स्व-विकास के वैयक्तिक नियम पर सवार रहा है; प्रतीत होता है कि सदैव समूह के अन्दर एक इकाई के रूप में ही उसका जन्म, रहन-सहन तथा विकास हुआ है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिबिन्दु से, तर्कतः और स्वभावतः, वैयक्तिक आवश्यकता तथा कामना का नियम ही प्रधान होता है, सामाजिक नियम एक ऐसी गौण शक्ति के रूप में प्रवेश करता है जो बलपूर्वक अधिकार जमा लेती है। मनुष्य में दो विस्पष्ट प्रभुत्वशाली आवेग हैं, व्यक्तिप्रधान तथा संघप्रधान, वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन, आचार का वैयक्तिक प्रेरकभाव तथा आचार का सामाजिक प्रेरकभाव। इनके परस्पर-विरोध की सम्भावना तथा इनके साम्य को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न मानव-सभ्यता का वास्तविक मूल है तथा जब वह प्राणिक-शारीरिक उन्नति को अतिक्रान्त कर उच्चतया व्यष्टिभावापन्न मानसिक तथा आध्यात्मिक विकासक्रम में पहुंच जाता है तब भी ये किन्हीं अन्य रूपों में बने ही रहते हैं।

व्यक्ति से बहिःस्थित सामाजिक नियम का अस्तित्व भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में मनुष्यवर्तिनी दिव्यता के विकास में पर्याप्त लाभकारक अथवा हानिकारक होता है। प्रारम्भ में जब मनुष्य असंस्कृत एवं आत्म-संयम तथा आत्मोपलब्धि में अशक्त होता है तब यह लाभदायक होता है, क्योंकि यह उसके वैयक्तिक अहंभाव की

शक्ति से भिन्न किसी शक्ति को खड़ा करता है जिसके द्वारा वह अहंभाव अपनी भीषण मांगों को संयत करने, अपनी अयुक्तियुक्त एवं प्रायः-उग्र चेष्टाओं को नियंत्रित करने और एक अधिक विस्तृत एवं कम व्यक्तिगत अहंभाव में अपने-आपको कभी-कभी विलीन तक कर देने के लिये प्रेरित वा बाधित किया जा सकता है। मानवीय सूत्र का अतिक्रमण करने को उद्यत परिपक्व आत्मा के लिये यह हानिकर होता है, क्योंकि यह एक बाह्य मानदंड है जो अपने-आपको बाहर से उस आत्मा पर लादने की चेष्टा करता है। किन्तु मनुष्य की पूर्णता की शर्त यह है कि वह अन्दर से तथा अधिकाधिक स्वतन्त्रता के साथ विकसित हो, अपने समुन्नत व्यक्ति-भाव को दबा करके नहीं, बल्कि इसका अतिक्रमण करके एवं अपने ऊपर थोपे गये किसी ऐसे नियम के द्वारा नहीं जो उसके अंगों को प्रशिक्षित तथा अनुशासित करे, बल्कि अन्दर से अपनी उस आत्मा के द्वारा विकसित हो जो सब पुराने रूपों को छिन्न-भिन्न करके उसके अंगों को अपने प्रकाश से अधिकृत कर लेती है तथा उनका रूपान्तर करती है।

*

समाज के अधिकारों और व्यक्ति के अधिकारों के पारस्परिक संघर्ष में दो आदर्श तथा चरम समाधान एक-दूसरे के सम्मुख उपस्थित होते हैं। समष्टि की मांग यह है कि व्यष्टि को अपने-आपको न्यूनाधिक पूर्णता के साथ समाज के वशीभूत अथवा अपनी स्वतंत्र सत्ता को समाज में विलीन तक कर देना चाहिये, छोटी इकाई को या तो बड़ी पर बलि चढ़ा देना चाहिये या उसे स्वयमेव अपनेको इसपर उत्सर्ग कर देना चाहिये। उसे समाज की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता और समाज की कामना को अपनी कामना समझना चाहिये; उसे अपने लिये नहीं, बल्कि उस जाति, कुल, समाज या राष्ट्र के लिये जीना चाहिये जिसका वह सदस्य है। व्यक्ति के दृष्टिकोण से आदर्श एवं चरम समाधान एक ऐसा समाज होगा जिसका अस्तित्व अपने लिये या अपने सर्वातिशयी सामूहिक उद्देश्य के लिये न हो, बल्कि व्यक्ति के हित एवं पूर्णत्व के लिये तथा अपने सभी सदस्यों के महत्तर एवं पूर्णतर जीवन के लिये हो। यथासम्भव उसकी सर्वश्रेष्ठ आत्मा को निदर्शित करता हुआ तथा इसकी उपलब्धि में उसे सहायता पहुंचाता हुआ, यह अपने प्रत्येक सदस्य की स्वतंत्रता का मान करेगा तथा अपनी रक्षा किसी नियम और बल के द्वारा नहीं, बल्कि अपने अंगभूत व्यक्तियों की स्वतंत्र एवं सहज सहमति के द्वारा ही करेगा। इनमें से किसी भी प्रकार का आदर्श समाज कहीं भी नहीं है और जब तक व्यक्ति अपने अहंभाव को जीवन का प्रधान प्रेरक मानकर इससे चिपटा रहेगा तब तक ऐसे समाज का निर्माण करना अत्यन्त कठिन होगा

और इसके अनिश्चित अस्तित्व को बनाये रखना तो और भी अधिक दुष्कर। अधिक सुगम उपाय यह है कि समाज व्यक्ति पर पूर्ण रूप से नहीं, बल्कि सामान्य रूप से शासन करे। प्रकृति प्रारम्भ से ही सहज-स्वभाववश इसी प्रणाली का अनुसरण करती है और कठोर नियम एवं अलंघ्य लोकाचार के द्वारा तथा मानव प्राणी की अब तक वशवर्ती एवं अल्प विकसित बुद्धि को सावधानतापूर्वक अनुशासित करके इस प्रणाली को सन्तुलित रखती है।

आदिम समाजों में वैयक्तिक जीवन एक कठोर और अपरिवर्तनशील सांघिक रीति-रिवाज एवं नियम के अधीन पाया जाता है; यह मानवी समुदाय का एक प्राचीन तथा नित्यताभिलाषी नियम है जो सदा ही अविनाशी देव के सनातन आदेश, **एष धर्मः सनातनः**, का वेश धारण करने का यत्न करता है। यह आदर्श मानव मन से मिटा नहीं है; मानव-विकास की अत्यन्त अभिनव दिशा यह है कि मानव की आत्मा को दास बनाने के लिये सामूहिक जीवन की इस प्राचीन प्रवृत्ति का एक परिवर्द्धित एवं बहुमूल्य संस्करण प्रचलित किया जाय। किन्तु इसमें भूतल पर महत्तर सत्य तथा महत्तर जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये एक बहुत बड़ा खतरा है। व्यक्ति की कामनाएं एवं स्वतन्त्र अन्वेषणाएं चाहे कैसी भी अहंकारमय क्यों न हों, अपने वर्तमान रूप में चाहे वे कैसी भी मिथ्या या विकृत क्यों न हों, फिर भी उनके प्रच्छन्न अणुओं में विकास का एक ऐसा बीज निहित है जो समष्टि के लिये अपरिहार्य है। व्यक्ति के अनुसंधानों और स्खलनों के मूल में एक ऐसी शक्ति निहित है जिसे सुरक्षित रखना तथा दिव्य आदर्श की प्रतिमूर्त्ति में रूपान्तरित करना अनिवार्य है। उस शक्ति को आलोकित तथा प्रशिक्षित करना तो आवश्यक है, किन्तु उसे दबा डालना अथवा केवल समाज की गाड़ी के भारी-भरकम पहिये को खींचने में ही लगा देना कदापि उचित नहीं।

चरम पूर्णता के लिये व्यक्तिवाद की भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी समष्टि-भावना के मूल में निहित शक्ति की। व्यक्ति का गला घोंटना सहज ही मनुष्यवर्ती ईश्वर का गला घोंटने के समान ही हो सकता है। अपिच, मानवता के वर्तमान सन्तुलन में इस प्रकार का कोई वास्तविक भय कदाचित् ही हो सकता है कि अतिरञ्जित व्यक्तिवाद सामाजिक अखंड सत्ता को विभक्त कर डालेगा। पर इस बात की निरन्तर आशंका है कि कहीं समाजरूपी समुदाय का अतिमात्र दबाव अपने भारी अप्रकाशयुक्त यन्त्रसम बोझ से व्यक्तिगत आत्मा के स्वतन्त्र विकास को दबा ही न डाले अथवा अनुचित रूप से निरुत्साहित ही न कर दे। कारण, व्यष्टिगत मनुष्य को अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से प्रकाशयुक्त एवं सचेतन बनाया जा सकता है और साथ ही उसे स्पष्ट प्रभावों के प्रति उन्मीलित भी किया जा सकता है; समष्टिगत मनुष्य अब तक भी अन्धकारयुक्त एवं अर्ध-चेतन है तथा उन वैश्व शक्तियों के द्वारा शासित है जो समष्टि के वश तथा ज्ञान से बाहर हैं।

दमन और पंगुकरण के इस भय के विरुद्ध व्यक्ति की प्रकृति प्रतिक्रिया करती है। यह एक एकाकी प्रतिरोध के द्वारा भी प्रतिक्रिया कर सकती है और वह प्रतिरोध अपराधी के अन्धप्रेरित तथा पाशविक विद्रोह से लेकर एकान्तवासी तथा तपस्वी के पूर्ण परित्याग तक का रूप धारण कर सकता है। यह सामाजिक भावना में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समर्थन के द्वारा भी प्रतिक्रिया कर सकती है, यह इस प्रवृत्ति को समष्टि-चेतना पर बलपूर्वक थोप कर वैयक्तिक तथा सामाजिक मांग में समझौता भी करा सकती है। परन्तु समझौता कोई समाधान नहीं होता; यह तो केवल कठिनाई को ताक पर धर देता है और अन्त में समस्या को और भी जटिल बनाकर उसके विचारणीय पहलुओं को कई गुना बढ़ा देता है। आवश्यकता है एक नये तत्त्व का आह्वान करने की जो इन दो विरोधी प्रवृत्तियों से भिन्न एवं उच्चतर हो तथा इन्हें पार कर जाने और साथ ही इनका समन्वय करने का सामर्थ्य रखता हो। प्राकृतिक वैयक्तिक नियम यह स्थापना करता है कि हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं, अभिरुचियों तथा कामनाओं की पूर्त्ति ही आचार का एकमात्र मानदंड है और प्राकृतिक सांघिक नियम यह स्थापना करता है कि समूचे समाज की आवश्यकताओं, अभिरुचियों एवं कामनाओं की पूर्त्ति एक अधिक उत्कृष्ट मानदण्ड है। इन दोनों नियमों के ऊपर एक ऐसे आदर्श नैतिक नियम के विचार को जन्म लेना ही था जो आवश्यकता एवं कामना की पूर्त्ति-रूप न हो, बल्कि इन्हें एक आदर्श व्यवस्था के हित नियंत्रित करे, यहां तक कि इन्हें बलपूर्वक दबाये या विनष्ट करे,—एक ऐसी व्यवस्था के हित जो पाशविक, प्राणिक एवं शारीरिक नहीं, वरन् मानसिक हो और जो प्रकाश एवं ज्ञान तथा यथार्थ प्रभुत्व एवं यथार्थ गति और सत्य व्यवस्था के लिये मन की खोज की उपज हो। जिस क्षण यह विचार मनुष्य में प्रबल हो जाता है उसी क्षण से वह व्यस्तकारी प्राणिक तथा शारीरिक जीवन को त्यागकर मानसिक जीवन में प्रवेश करने लगता है; वह विश्व-प्रकृति के त्रिविध आरोहण के प्रथम सोपान से द्वितीय पर आरोहण करता है। उसकी आवश्यकताएं तथा इच्छाएं भी अपने प्रयोजन के उच्चतर प्रकाश से किञ्चित् प्रभावित हो जाती हैं; मानसिक आवश्यकता तथा सौन्दर्य-भावनात्मक, बौद्धिक एवं भावगत कामना भौतिक तथा प्राणिक प्रकृति की मांग पर प्रभुत्व करने लगती हैं।

*

आचार का प्राकृतिक नियम शक्तियों, अन्तःप्रवृत्तियों तथा कामनाओं के संघर्ष से इनके सन्तुलन की ओर गति करता है; उच्चतर नैतिक नियम मानसिक तथा नैतिक प्रकृति के विकास के द्वारा एक स्थिर अन्तरीय मानदण्ड की ओर अथवा निरपेक्ष गुणों अर्थात् न्याय, सत्य, प्रेम, यथार्थ तर्क, यथार्थ सामर्थ्य, सौन्दर्य एवं

प्रकाश के एक स्वयं-रचित आदर्श की ओर बढ़ता है। अतएव, मूलतः, यह एक वैयक्तिक मानदण्ड है; यह समष्टि-मन की रचना नहीं है। विचारक व्यक्ति होता है; जो वस्तु अन्यथा रूपरहित मानवीय समष्टि में अवचेतन पड़ी रहती है उसे निकाल लाने तथा आकार देनेवाला भी वही होता है। नैतिक प्रयासी भी व्यक्ति होता है; बाह्य नियम के जूए तले आकर नहीं, प्रत्युत आभ्यन्तर प्रकाश के आदेशानुसार आत्म-साधना करना भी मूलतः एक वैयक्तिक प्रयत्न होता है। परन्तु अपने वैयक्तिक मानदण्ड को एक चरम नैतिक आदर्श के प्रतिरूप के तौर पर स्थापित करके विचारक इसे केवल अपने पर नहीं, अपितु उन सब व्यक्तियों पर, जिन तक उसका विचार पहुंच तथा पैठ सकता है, लाद देता है। जैसे-जैसे बहु-संख्यक लोग इसे विचार में अधिकाधिक स्वीकार करने लगते हैं,—चाहे व्यवहार में वे इसे बिल्कुल न मानें या केवल अधूरे तौर पर ही मानें,—वैसे-वैसे समाज भी नयी स्थिति का अनुसरण करने को बाधित होता है। यह विचारात्मक प्रभाव को आत्मसात् करता है तथा अपनी संस्थाओं को इन उच्चतर आदर्शों से ईषत् प्रभावित नये रूपों में ढाल देने का यत्न करता है, पर इसमें उसे कोई विशेष आश्चर्यजनक सफलता नहीं मिलती। सदा ही उसकी प्रवृत्ति इन्हें एक अनुल्लंघनीय नियम, आदर्श रीति-नीति, यांत्रिक विधि-विधान तथा अपनी सजीव इकाइयों पर एक बाह्य सामाजिक बलात्कार के रूप में परिणत कर देने की ओर होती है।

कारण, जब व्यक्ति अंशतः स्वतंत्र हो चुकता है, एक ऐसा नैतिक अवयवी बन चुकता है जो सचेतन विकास के योग्य, अन्तर्मुख जीवन से सज्ञान तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये उत्सुक होता है, उसके बाद भी चिरकाल तक समाज अपनी परिपाटियों में बाह्य बना रहता है, एक ऐसा भौतिक तथा आर्थिक संगठन बना रहता है जो यांत्रिक होता है; वह उन्नति तथा आत्म-पूर्णता की अपेक्षा स्थिति तथा स्व-रक्षा की ओर ही अधिक दत्तचित्त रहता है। वर्तमान काल में, स्वभावप्रेरित तथा स्थितिशील समाज पर विचारशाली तथा प्रगतिशील व्यक्ति ने यह एक बड़ी भारी विजय प्राप्त की है कि उसने अपने विचार-संकल्प से समाज को इस बात के लिये बाधित करने की शक्ति अधिगत कर ली है कि वह भी चिन्तन करे, सामाजिक न्याय एवं सत्याचरण तथा सांघिक सहानुभूति एवं पारस्परिक करुणा के विचार के प्रति अपने-आपको खोले, अपनी संस्थाओं की कसौटी के रूप में अन्ध प्रथा की अपेक्षा कहीं अधिक तर्क-बुद्धि के नियम की खोज करे और यह समझे कि उसके नियमों की न्याय्यता के लिये उसके सदस्यों की मानसिक तथा नैतिक सहमति कम-से-कम एक मुख्य तत्त्व अवश्य है। और, नहीं तो, एक आदर्श के रूप में समष्टि-मन के लिये अब यह मानना सम्भव हो चला है कि उसका अनुमतिदाता प्रकाश होना चाहिये, बल नहीं, यहां तक कि उसके दण्ड-विधान का लक्ष्य भी नैतिक विकास होना चाहिये, प्रतिशोध या दमन नहीं। भविष्य में विचारक

की सबसे महान् विजय तब होगी जब वह व्यष्टि तथा समष्टि दोनों को इस बात के लिये प्रेरित कर सकेगा कि वे अपना जीवन-सम्बन्ध तथा इसकी एकता एवं स्थिरता स्वतंत्र तथा समस्वर सहमति और आत्म-अनुकूलन पर आधारित करें और आन्तर आत्मा को बाह्य रूप और रचना की यंत्रणा से दबा न डालें बल्कि बाह्य रूप को आन्तर सत्य के अनुसार निर्मित तथा नियंत्रित करें।

परन्तु यह जो सफलता उसने प्राप्त की है वह भी वास्तविक सफलता होने से कहीं अधिक एक बीजरूप वस्तु ही है। व्यक्ति में निहित नैतिक नियम तथा उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओं के नियम के बीच, समाज के समक्ष प्रस्तुत नैतिक नियम तथा जाति, कुल, धार्मिक संघ, समाज एवं राष्ट्र की भौतिक एवं प्राणिक आवश्यकताओं, कामनाओं, रीति-रिवाजों, पक्षपातों, स्वार्थों एवं आवेशों के बीच सदैव असामंजस्य तथा वैषम्य रहता है। नैतिकतावादी वृथा ही अपने चरम सदाचारसम्बन्धी मानदंड को उत्तोलित करता है तथा सबसे यह अनुरोध करता है कि वे परिणामों का विचार किये बिना ही इसके प्रति स्थिरनिष्ठ रहें। उसकी दृष्टि में व्यक्ति की आवश्यकताएं एवं कामनाएं—यदि ये नैतिक नियम के विरुद्ध हों तो—अयुक्त होती हैं और सामाजिक नियम भी—यदि यह उसकी औचित्य-भावना के विपरीत हो और यदि उसका अन्तःकरण भी इसे स्वीकार न करता हो तो—उसपर कोई अधिकार नहीं रख सकता। व्यक्ति के लिये उसका चरम समाधान यह है कि वह ऐसी कामनाओं और अधिकारों का पालन-पोषण न करे जो प्रेम, सत्य और न्याय से संगत न हों। समाज या राष्ट्र से वह मांग करता है कि यह सत्य, न्याय, मानवता और परम लोक-कल्याण की तुलना में अन्य सभी चीजों को, यहां तक कि अपनी सुरक्षा तथा अपने अत्यन्त आवश्यक हितों को भी, तुच्छ समझे।

कुछ-एक महान् क्षणों को छोड़कर और किसी समय कोई भी व्यक्ति इन शिखरों तक ऊंचा नहीं उठता, आज तक उत्पन्न किसी भी समाज ने इस आदर्श को पूर्ण नहीं किया है। अथच नैतिकता तथा मानव-विकास की वर्तमान दशा में सम्भवतः कोई भी इसे पूर्ण नहीं कर सकता अथवा किसीको भी ऐसा नहीं करना चाहिये। प्रकृति ऐसा नहीं करने देगी, प्रकृति जानती है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। पहला कारण यह है कि हमारे नैतिक आदर्श स्वयं अधिकांशतः अपूर्ण-विकसित, अज्ञानयुक्त तथा मनमाने हैं, ये आत्मा के सनातन सत्यों की प्रतिलिपियां होने की अपेक्षा कहीं अधिक मानसिक रचनाएं हैं। शास्त्रमूलक तथा दुराग्रहपूर्ण होने से ये कतिपय ऐकान्तिक मानदंडों को सिद्धान्त-रूप में प्रबलतया प्रतिपादित करते हैं, पर क्रियात्मक रूप में आचारशास्त्र की प्रत्येक विद्यमान पद्धति अव्यवहार्य सिद्ध होती है या वास्तव में उस ऐकान्तिक मानदंड से निरन्तर न्यून रहती है जिसका कि आदर्श दावा करता है। यदि हमारी आचारसम्बन्धी पद्धति कोई समझौता या कामचलाऊ चीज हो, तो यह अपनेको निःसत्त्व बनानेवाले उन और अगले समझौतों को भी

तुरन्त औचित्य का आधार दे देगी जिन्हें करने के लिये समाज और व्यक्ति जल्दी मचाया करते हैं। और, यदि यह समझौता-न-करनेवाली दृढ़ता के साथ पूर्ण प्रेम, न्याय एवं सत्य का आग्रह करे, तो यह मानवीय सम्भाव्यता के शिखर से बहुत ऊंची चली जायगी और बगला भगति के साथ मानी तो जायगी, पर व्यवहार में उपेक्षित ही रहेगी। यहां तक भी देखने में आता है कि नैतिक पद्धति मानवता में विद्यमान उन अन्य तत्त्वों की अवगणना करती है जो जीवित बचे रहने के लिये इसके समान ही आग्रह करते हैं, पर नैतिक सूत्र की चारदीवारी के भीतर बन्द होने से इन्कार करते हैं। जिस प्रकार कामना के वैयक्तिक नियम में अनन्त अखंड वस्तु के कुछ ऐसे अमूल्य तत्त्व अन्तर्निहित हैं जिन्हें प्रबल सामाजिक विचार के अत्याचार से बचाना होता है, ठीक इसी प्रकार व्यष्टिगत मानव तथा समष्टिगत मानव दोनों के स्वभावज आवेगों में भी कुछ ऐसे बहुमूल्य तत्त्व अन्तर्निहित हैं जो अब तक आविष्कृत किसी भी सदाचारसम्बन्धी सूत्र की सीमाओं से बाहर हैं और फिर भी चरम दिव्य पूर्णता की समृद्धि एवं समस्वरता के लिये आवश्यक हैं।

अपिच पूर्ण प्रेम, पूर्ण न्याय, पूर्ण सत्-तर्क व्याकुल तथा अपूर्ण मानवता के द्वारा वर्तमान काल में प्रयोग में लाये जाते हुए सहज ही संघर्षकारी तत्त्व बन जाते हैं। न्याय प्रायः उस चीज की मांग करता है जिससे प्रेम दूर भागता है। सत्-तर्क एक सन्तुष्टिकारक सूत्र या नियम की खोज में प्रकृति के तथा मानवीय सम्बन्धों के तथ्यों पर निष्पक्ष भाव से विचार करता हुआ पूर्ण न्याय या पूर्ण प्रेम के कैसे भी शासन को हेर-फेर के बिना स्वीकार नहीं कर पाता है। सच तो यह है कि मनुष्य का पूर्ण न्याय व्यवहार में अनायास ही महान् अन्याय सिद्ध होता है; क्योंकि उसका मन, अपनी रचनाओं में एकपक्षीय तथा कठोर होने के कारण, एकपक्षीय, आंशिक एवं उग्र योजना वा रचना प्रस्तुत करता है और उसकी सर्वांगता तथा पूर्णता का दावा भरता है, साथ ही वह उसके एक ऐसे प्रयोग का भी दावा भरता है जो वस्तुओं के सूक्ष्मतर सत्य एवं जीवन की नमनीयता की उपेक्षा करता है। हमारे सभी मानदंड कार्य में परिणत किये जाने पर या तो समझौतों की दोला में दोलायमान रहते हैं अथवा इस आंशिकता एवं अनमनीय रचना के कारण अपने लक्ष्य से चूक जाते हैं। मानवता एक से दूसरी स्थिति में डोलती रहती है; जाति परस्पर-विरोधी दावों से प्रेरित होकर टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर चलती रहती है और, सर्वतोदृष्ट्या, प्रकृति के अभिमत को ही स्वाभाविक रूप में क्रियान्वित करती है, पर करती है बहुत अपव्यय तथा कष्टसहन के साथ। वह उस कार्य को सम्पन्न नहीं कर पाती जिसे वह चाहती या ठीक मानती है अथवा ऊपर से आनेवाली सर्वोच्च ज्योति शरीरधारी आत्मा से जिसकी मांग करती है।

*

तथ्य यह है कि जब हम पूर्ण नैतिक गुणों के सिद्धान्त पर पहुंच जाते हैं तथा एक आदर्श नियम का निरपवाद एवं अलंघ्य शासन स्थापित कर लेते हैं तब भी हम अपने अनुसंधान की समाप्ति पर नहीं पहुंच गये होते, न हमें कोई मोक्षकारक सत्य ही प्राप्त हो गया होता है। निःसन्देह, नैतिक नियम में एक ऐसी चीज निहित है जो हमें अपने अन्दर के अन्नमय तथा प्राणमय पुरुष के द्वारा सीमाबद्ध होने की स्थिति से ऊंचा उठने में सहायता देती है, एक ऐसा आग्रह निहित है जो मानवता की वैयक्तिक तथा सामूहिक आवश्यकताओं एवं कामनाओं का अतिक्रम कर जाता है,—ऐसी मानवता की जो अभी तक उस प्राणपूरित पार्थिव पंक में फंसी है जिसमें इसने अपनी जड़ें जमायी थीं। साथ ही, नैतिक नियम में एक ऐसी अभीप्सा भी निहित है जो हमें अपने अन्दर के मानसिक तथा नैतिक पुरुष को विकसित करने में सहायता देती है। अतएव, इस नये उन्नायक तत्त्व के रूप में हमें एक बड़े महत्त्व की प्राप्ति हुई है; इसके परिणामों ने पार्थिव प्रकृति के कठिन विकास में एक काफी महान् प्रगति को परिलक्षित किया है। इन नैतिक धारणाओं की अपर्याप्तता के पीछे कोई ऐसी चीज भी छिपी हुई है जो अवश्यमेव परम सत्य से सम्बद्ध है; इनमें एक ऐसे प्रकाश और बल की भी आभा है जो अब तक अप्राप्त दिव्य प्रकृति का अंग हैं। परन्तु इन चीजों की मानसिक धारणा वह प्रकाश नहीं है और न इनकी नैतिक परिकल्पना ही वह बल है। ये तो केवल मन की बनायी प्रतिनिधि रचनाएं हैं, ये उस दिव्य आत्मा को मूर्त्तिमान् नहीं कर सकतीं जिसे ये अपने सुनिश्चित सूत्रों में बांधने की व्यर्थ में चेष्टा करती हैं। परन्तु हमारे अन्दर के मनोमय तथा नैतिक पुरुष के परे एक महत्तर दिव्य पुरुष भी है जो आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक है; क्योंकि विस्तीर्ण आध्यात्मिक स्तर के द्वारा ही, जहां मन के सूत्र साक्षात् आन्तर अनुभूति की शुभ्र ज्योति में विलीन हो जाते हैं, हम मन से परे पहुंच सकते हैं और इसकी रचनाओं का अतिक्रम कर अतिमानसिक सद्वस्तुओं की विशालता एवं स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। वहीं हम उन दिव्य शक्तियों का सामंजस्य भी अनुभव कर सकते हैं जो हमारे मन के सामने तुच्छ और गलत रूप में उपस्थित की जाती हैं अथवा नैतिक नियम के संघर्षकारी वा दोलायमान तत्त्वों के द्वारा मिथ्या रूप में चित्रित की जाती हैं। वहीं रूपान्तरित प्राणमय तथा अन्नमय एवं ज्ञानदीप्त मनोमय पुरुष का उस अतिमानसिक आत्मा में एकीकरण सम्भव हो सकता है जो हमारे मन, प्राण और शरीर का गुप्त स्रोत है और साथ ही इनका लक्ष्य भी है। वहीं परम दिव्य ज्ञान की ज्योति में परस्पर एकीभूत पूर्ण न्याय, प्रेम एवं सत्याचरण की—जो उससे अत्यन्त भिन्न होता है जिसकी हम कल्पना करते हैं—किसी तरह की सम्भावना हो सकती है। वहीं हमारी सत्ता के अंगों के परस्पर-संघर्ष का सम्यक् समाधान हो सकता है।

दूसरे शब्दों में, समाज के बाह्य नियम तथा मनुष्य के नैतिक नियम के ऊपर

और इनके परे भी एक सत्य एवं नियम है जिसे इनके अन्दर की कोई चीज शिथिल रूप में तथा अज्ञानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाती है। यह एक बृहत् निर्बन्ध चेतना का विस्तीर्णतर सत्य है, एक दिव्य नियम है जिसकी ओर मनुष्य तथा समाज की ये अन्ध तथा स्थूल व्यवस्थाएं क्रमिक और स्खलनशील पगों से बढ़ रही हैं। ये पग पशु के प्राकृतिक नियम को लांघ कर एक अधिक उन्नत प्रकाश या सार्वभौम नियम में पहुंचने का यत्न करते हैं। वह दिव्य मानदंड ही हमारी प्रकृति का परम आध्यात्मिक नियम और सत्य होना चाहिये, क्योंकि हमारे अन्दर का देवत्व हमारी आत्मा है जो अपनी गुप्त पूर्णता की ओर बढ़ रही है। और, फिर, क्योंकि हम संसार में ऐसे देहधारी जीव हैं जिनका एक-सा जीवन और प्रकृति है और साथ ही हम ऐसी व्यष्टि-आत्माएं हैं जो परात्पर के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हैं, हमारी आत्मा का यह परम सत्य द्विविध होना चाहिये। यह एक ऐसा नियम एवं सत्य होना चाहिये जो महान् आध्यात्मीकृत सामूहिक जीवन की पूर्ण गतिविधि, समस्वरता और लयताल की खोज करे और प्रकृति की विविधतापूर्ण एकता में प्रत्येक प्राणी तथा सभी प्राणियों के साथ हमारे सम्बन्धों को भी पूर्ण रूप से निर्धारित करे। साथ ही यह एक ऐसा नियम एवं सत्य भी होना चाहिये जो जीवधारी व्यक्ति की आत्मा तथा उसके मन, प्राण और शरीर में भगवान् की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लयताल और यथार्थ क्रमों को हमारे सामने प्रतिक्षण प्रकाशित करता रहे।[१] अनुभव से हम देखते हैं कि कार्य का यह परम प्रकाश एवं बल अपने सर्वोच्च प्रकट रूप में एक अलंघ्य नियम है और साथ ही पूर्ण स्वातंत्र्य भी। अलंघ्य नियम तो यह इसलिये है कि एक शाश्वत सत्य के द्वारा यह हमारी प्रत्येक आन्तर तथा बाह्य चेष्टा को नियंत्रित करता है, परन्तु फिर भी क्षण-क्षण में और एक-एक चेष्टा में परम पुरुष का पूर्ण स्वातंत्र्य हमारी सचेतन और मुक्त प्रकृति की पूर्ण नमनीयता को प्रयोग में लाता है।

नैतिक आदर्शवादी अपने आचारसम्बन्धी ज्ञात तथ्यों में और मानसिक तथा नैतिक सूत्र से सम्बन्ध रखनेवाले हीनतर बलों और घटक-तत्त्वों में इस परम नियम को खोजने का यत्न करता है। अथच इन्हें धारित तथा व्यवस्थित करने के लिये वह आचार का एक आधारभूत तत्त्व चुन लेता है जो मूलतः निस्सार होता है तथा बुद्धि, उपयोगिता, भोगवाद, तर्कणा, अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक-बुद्धि अथवा किसी अन्य सामान्यीकृत मानदंड से विरचित होता है। ऐसे सब प्रयत्नों का असफल होना पहले से ही निश्चित है। हमारी आन्तर प्रकृति नित्य आत्मा की एक प्रगतिशील अभिव्यक्ति है और यह ऐसी जटिल शक्ति है कि किसी एक प्रभुत्वशाली मानसिक

[१] अतएव गीता के अनुसार "धर्म" उस कार्य को कहते हैं जो हमारी आत्म-सत्ता की सारभूत प्रकृति के द्वारा नियंत्रित हो। धर्म वास्तव में एक ऐसा शब्द है जो मत-मजहब या नैतिकता से परे किसी और ही वस्तु को द्योतित करता है।

वा नैतिक सिद्धान्त से बांधी नहीं जा सकती। अतिमानसिक चेतना ही इसकी विभिन्न एवं परस्परविरुद्ध शक्तियों के समक्ष उनके आध्यात्मिक सत्य को प्रकाशित करके उनकी विषमताओं को समस्वर कर सकती है।

अर्वाचीनतर धर्म आचार के परम सत्य की आदर्शमूर्त्ति को स्थिर करने, किसी पद्धति को स्थापित करने तथा अवतार या पैगम्बर के मुख से ईश्वरीय नियम को घोषित करने का प्रयत्न करते हैं। ये पद्धतियां नीरस नैतिक धारणा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली एवं क्रियाशील होती हुई भी, अधिकांश में, उस नैतिक तत्त्व के आदर्शवादात्मक गुणगान के अतिरिक्त कुछ नहीं होतीं जो धार्मिक भाव से तथा अपने अतिमानवीय उद्गम की छाप से पवित्रीकृत होता है। ईसाई आचार-शास्त्र-जैसी कई एक चूड़ान्त पद्धतियां भी प्रकृति के द्वारा त्याग दी जाती हैं, क्योंकि वे अव्यवहार्य ऐकान्तिक नियम पर अक्रियात्मक रूप से आग्रह करती हैं। अन्य कई पद्धतियां अन्त में विकासात्मक समझौते ही सिद्ध होती हैं और काल-प्रवाह के अग्रसर होने पर उनका कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता। यथार्थ दिव्य नियम इन मानसिक मिथ्या रूपों से भिन्न है। यह उन कठोर नैतिक निर्णयों की पद्धति नहीं हो सकता जो हमारी सभी जीवन-गतियों को जबर्दस्ती अपने कड़े सांचों में ढालने का यत्न करते हैं। दिव्य नियम तो जीवन तथा आत्मा का सत्य है और यह, निश्चय ही, हमारे कर्म के प्रत्येक क्रम को तथा हमारे जीवनप्रश्नों की सारी जटिलताओं को एक स्वतंत्र एवं सजीव नमनीयता के साथ अपनावेगा और उन्हें अपने शाश्वत प्रकाश के साक्षात् स्पर्श से अनुप्राणित कर देगा। निस्सन्देह, यह किसी नियम एवं सूत्र की तरह नहीं, बल्कि उस सर्वतोव्यापी तथा अन्तर्व्यापी चेतन उपस्थिति के रूप में कार्य करेगा जो हमारे सब विचारों, कर्मों, भावों और संकल्पावेगों को अपने अचूक बल एवं ज्ञान के द्वारा निर्धारित करती है।

प्राचीनतर धर्मों ने मनीषियों के धर्मसूत्र, मनु या कन्फ्यूशस के स्मृतिवाक्य और एक ऐसे गहन शास्त्र की स्थापना की जिसमें उन्होंने सामाजिक नियम तथा नैतिक सिद्धान्त को और हमारी उच्चतम प्रकृति के कतिपय नित्य तत्त्वों के निरूपण को एक प्रकार के एकीकारक मिश्रण में मिला देने का यत्न किया। इन तीनों का उन्होंने एक समान आधार पर वर्णन किया,—इस आधार पर कि ये तीनों ही, समान रूप से, नित्य सत्यों या सनातन धर्म की अभिव्यक्ति हैं। परन्तु इनमें से दो तो विकसनशील तत्त्व हैं और कुछ काल के लिये वे युक्तियुक्त होते हैं, वे मानसिक रचनाएं किंवा सनातन देव की इच्छा की मानवकृत व्याख्याएं हैं; तीसरे के लिये कुछ सामाजिक एवं नैतिक सूत्रों से सम्बद्ध तथा उनके वशीभूत होने के कारण, अपने रूपों के भाग्य में भागीदार होना ही बदा है। फलतः, या तो शास्त्र अव्यवहार्य हो जाता है और इसे उत्तरोत्तर परिवर्तित करना या अन्तिम रूप से त्याग देना होता है अथवा यह व्यक्ति तथा जाति की आत्मोन्नति में अत्यधिक बाधक

बना रहता है। यह एक सामूहिक तथा बाह्य मर्यादा खड़ी करता है और व्यक्ति की आन्तर प्रकृति की अर्थात् उसके अन्दर की गूढ़ अध्यात्म-शक्ति के अनिर्धार्य तत्त्वों की अवहेलना करता है। परन्तु व्यक्ति की प्रकृति की उपेक्षा नहीं हो सकती; इसकी मांग अलंघ्य है। बाह्य आवेगों का असंयत उपभोग करने से व्यक्ति अराजकता तथा विध्वंस की स्थिति में जा पड़ता है, किन्तु किसी निश्चित यांत्रिक नियम के द्वारा उसकी आत्मा की स्वतन्त्रता को कुचलने तथा दबा देने से उसका विकास रुक जाता है अथवा उसकी आन्तरिक मृत्यु हो जाती है। अतएव, इस प्रकार का बाह्य दमन या निर्धारण नहीं, वरन् अपनी उच्चतम आत्मा की स्वतंत्र खोज तथा शाश्वत गति का सत्य ही वह परमार्थ है जो उसे उपलब्ध करना है।

उच्चतर नैतिक नियम को व्यक्ति अपने मन तथा संकल्प एवं आन्तरात्मिक अनुभूति में खोज निकालता है और फिर उसे जाति में व्यापक बनाता है। परम नियम की खोज भी व्यक्ति को ही अपनी आत्मा में करनी होगी। उसके बाद ही वह इसे आध्यात्मिक प्रभाव के द्वारा—मानसिक विचार के बल पर नहीं—दूसरों तक विस्तारित कर सकता है। किसी नैतिक नियम को कुछ एक ऐसे मनुष्यों पर एक नियम या आदर्श के रूप में आरोपित किया जा सकता है जिन्होंने चेतना की वह भूमिका या मन, संकल्प और आन्तरात्मिक अनुभव की वह सूक्ष्मता अधिगत न की हो जिसमें यह नियम या आदर्श उनके लिये वास्तविक वस्तु और सजीव शक्ति बन सकता है। एक आदर्श के रूप में इसे तनिक भी व्यवहार में लाने की आवश्यकता के बिना इसकी पूजा भी की जा सकती है। एक नियम के तौर पर इसके बाह्य रूप में इसका पालन भी किया जा सकता है चाहे इसका आन्तरिक आशय सर्वथा छूट ही क्यों न जाय। पर अतिमानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन ऐसे ढंग से यन्त्रवत् नहीं चलाया जा सकता, उसे मानसिक आदर्श वा बाह्य नियम का रूप नहीं दिया जा सकता। उसकी अपनी ही महान् सरणियां हैं, किन्तु उन्हें वास्तविक बनाने की आवश्यकता है, वे व्यक्ति की चेतना में अनुभूत सक्रिय शक्ति की कार्य-प्रणालियां तथा मन, प्राण एवं शरीर का रूपान्तर करने में समर्थ सनातन सत्य की प्रतिलिपियां होनी चाहियें। और, क्योंकि यह इस प्रकार वास्तविक, कार्यक्षम तथा अनिवार्य है, अतिमानसिक चेतना और आध्यात्मिक जीवन को सार्वभौम बनाना ही एकमात्र ऐसी शक्ति है जो इस भूतल के सर्वोच्च प्राणियों में व्यक्तिगत और सामूहिक पूर्णता का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। दिव्य चेतना तथा उसके पूर्ण सत्य के साथ हमारा सतत सम्बन्ध स्थापित होने से ही चिन्मय भगवान् या क्रियाशील ब्रह्म का कोई रूप-विशेष हमारी पार्थिव सत्ता का उद्धार कर सकता है तथा इसके कलह, स्खलन, दुःखों और असत्यों को परम ज्योति, शक्ति एवं आनन्द की प्रतिमूर्त्ति में रूपान्तरित कर सकता है।

परम पुरुष के साथ आत्मा के ऐसे अविच्छिन्न सम्बन्ध की पराकाष्ठा ही

आत्मदान है। इसीको हम भगवत्संकल्प के प्रति समर्पण तथा पृथग्भूत अहं का सर्वमय 'एक' में निमज्जन कहते हैं। आत्मा की बृहत् विश्वमयता एवं सबके साथ प्रगाढ़ एकता ही अतिमानसिक चेतना तथा आध्यात्मिक जीवन की भित्ति और अनिवार्य स्थिति है। उस विश्वमयता तथा एकता में ही हम देहधारी आत्मा के जीवन के भीतर दिव्य अभिव्यक्ति का परम नियम ढूंढ़ सकते हैं; उसीमें हम अपनी वैयक्तिक प्रकृति की परम गति-विधि तथा यथार्थ लीला का पता पा सकते हैं। उसीमें ये सब निम्नतर विषमताएं इन व्यक्त जीवों के बीच—जो एकमेव परमेश्वर के अंश तथा एक ही विश्व-जननी की संतानें हैं,—सच्चे सम्बन्धों की विजयी समस्वरता में परिणत हो सकती हैं।

*

समस्त आचार तथा कर्म उस बल एवं शक्ति की गति का अंग हैं, जो अपने उद्गम, गूढ़ आशय तथा संकल्प में अनन्त एवं दिव्य है, चाहे उसके ये रूप जिन्हें हम देखते हैं निश्चेतन या अज्ञानयुक्त, भौतिक, प्राणिक, मानसिक तथा सांत ही क्यों न प्रतीत होते हों। यह शक्ति व्यष्टिगत तथा समष्टिगत प्रकृति की अन्धता में भगवान् तथा अनन्त के किञ्चित् अंश को उत्तरोत्तर प्रकाशित करने के लिये कार्य कर रही है। यह ज्योति की ओर ले चल रही है पर अभी अविद्या के द्वारा ही। पहले-पहल यह मनुष्य को उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओं में से राह दिखाती है; तदनंतर यह उसे उसकी विस्तारित आवश्यकताओं तथा कामनाओं में से, जो मानसिक तथा नैतिक आदर्श से संयत एवं आलोकित होती हैं, परिचालित करती है। यह उसे एक ऐसी आध्यात्मिक चरितार्थता की ओर ले जाने की तैयारी कर रही है जो इन सब चीजों को पार कर जायगी और फिर भी इनके भाव तथा प्रयोजन में जो कुछ भी दिव्यतया सत्य है उस सबमें इन्हें कृतार्थ तथा समन्वित करेगी। आवश्यकताओं तथा कामनाओं को यह दिव्य संकल्प तथा आनन्द में रूपान्तरित कर देती है। मानसिक तथा नैतिक अभीप्सा को यह सत्य तथा पूर्णत्व की ऐसी शक्तियों में रूपान्तरित कर देती है जो इनसे परे हैं। वैयक्तिक प्रकृति के खंडित प्रयास एवं पृथक् अहं के क्षोभ और संघर्ष के स्थान पर यह हमारे अन्दर के विश्वात्मभूत पुरुष, केंद्रीय सत्ता एवं परम आत्मा की अंशरूप आत्मा का शान्त, गम्भीर, समस्वर और कल्याणकर नियम प्रतिष्ठित करती है। हमारे अन्दर का यह सच्चा पुरुष विश्वमय होने के कारण अपनी पृथक् तृप्ति की खोज नहीं करता, बल्कि केवल यही चाहता है कि प्रकृति के अन्दर इसकी बाह्य अभिव्यक्ति में इसके वास्तविक स्वरूप का विकास हो, इसकी आन्तरिक दिव्य आत्मा, तथा इसके अन्दर की वह परात्पर आध्यात्मिक शक्ति एवं उपस्थिति प्रकट हो जो सभी के

साथ एकमय है और प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी तथा दिव्य सत्ता के समस्त सामूहिक व्यक्तित्व और शक्तियों के साथ भी समरस है। साथ ही यह सच्चा पुरुष इन सब को अतिक्रान्त भी कर जाता है तथा किसी प्राणी या समुदाय के अहंभाव में नहीं बंधता और न उनकी निम्न प्रकृति के अज्ञ नियंत्रणों द्वारा सीमित ही होता है। हमारे समस्त अन्वेषण और प्रयास की तुलना में यह एक उच्च उपलब्धि है, यह हमारी प्रकृति के सभी तत्त्वों के पूर्ण समन्वय तथा रूपान्तर का निश्चित आश्वासन देती है। शुद्ध, समग्र और निर्दोष कार्य तो केवल तभी किया जा सकता है जब यह उपलब्धि सम्पन्न हो जाय तथा हम अपने अन्दर के इस गुप्त देवाधिदेव का उच्च स्तर प्राप्त कर लें।

पूर्ण अतिमानसिक कर्म किसी एक ही मूलसूत्र या सीमित नियम का अनुसरण नहीं करेगा। व्यष्टिभूत अहंवादी के या किसी संगठित समष्टिमन के मानदंड को यह सम्भवतः पूरा नहीं करेगा। यह न तो संसार के पक्के व्यावहारिक मनुष्य की मांग के अनुसार चलेगा, न लोकाचारी नैतिकतावादी की, न देशभक्त की, न भावनाप्रधान विश्वप्रेमी की और न ही आदर्शस्रष्टा दार्शनिक की। एक आलोकित एवं ऊर्ध्वीकृत सत्ता, इच्छा-शक्ति तथा ज्ञान की अखंडता में यह शिखरों पर से एक स्वतःप्रवृत्त स्रोतसुस्रवण के द्वारा उदभूत होगा न कि किसी निर्वाचित, अवधारित एवं मर्यादित क्रिया के द्वारा जो बौद्धिक तर्क वा नैतिक संकल्प से प्राप्त होनेवाली अन्तिम चीज होती है। इसका एकमात्र ध्येय होगा—हमारे अन्दर निहित देवत्व को प्रकट करना और लोकसंग्रह करना अर्थात् संसार को एक साथ सम्बद्ध रखना तथा भावी अभिव्यक्ति की ओर आगे बढ़ाना। यह भी इसका ध्येय और प्रयोजन तो बहुत कम होगा, अधिकांश में यह सत्ता का एक स्वतःस्फूर्त नियम तथा दिव्य सत्य के प्रकाश और इसके स्वयं गतिशील प्रभाव के द्वारा कार्य का सहज निर्धारण ही होगा। यह उसी प्रकार निःसृत होगा जिस प्रकार प्रकृति का कार्य उसके मूल-स्थित समग्र संकल्प और ज्ञान से निःसृत होता है। पर वह संकल्प तथा ज्ञान अब और इस अज्ञ प्रकृति में तमसाच्छन्न नहीं रहेंगे, बल्कि चिन्मय परमा प्रकृति में आलोकित होंगे। यह एक ऐसा कार्य होगा जो द्वंद्वों से बंधा हुआ नहीं होगा, वरन् उस एकसार आनन्द में परिपूर्ण और विशाल होगा जो आत्मा को सत्तामात्र में उपलब्ध होता है। पीड़ित तथा अज्ञानग्रस्त अहं की व्यग्रताओं और स्खलनों का स्थान दिव्य शक्ति तथा प्रज्ञा की मंगलकारी एवं अन्तःस्फुरित गति ले लेगी और यह शक्ति एवं प्रज्ञा ही हमें प्रेरित और प्रचालित करेगी।

यदि ईश्वरीय हस्तक्षेप के किसी चमत्कार से सम्पूर्ण मानवजाति एक साथ इस स्तर तक उठायी जा सके तो इसके फलस्वरूप इस भूतल पर परम्परा-प्रसिद्ध स्वर्णयुग या सत्ययुग अर्थात् सत्य के या सच्चे जीवन के युग जैसी कोई वस्तु हमें प्राप्त हो जायगी। सत्ययुग का चिह्न यह होता है कि दिव्य नियम प्रत्येक प्राणी में

स्वतःस्फूर्त्त एवं सचेतन होता है और अपने कार्य पूर्ण समस्वरता तथा स्वतंत्रता के साथ करता है। पृथक्कारक विभाजन नहीं, बल्कि एकता और सार्वभौमता जाति की चेतना की आधारशिला होगी। प्रेम निरपेक्ष होगा; समानता धर्मशासन के साथ संगत और विभिन्नता में भी परिपूर्ण होगी। पूर्ण न्याय हमारी अन्तःसत्ता की,—जो पदार्थों के और अपने तथा दूसरों के स्वरूप के सत्य के साथ समस्वर है और अतएव यथार्थ तथा युक्त परिणाम के सम्बन्ध में विश्वस्त है,—एक स्वतःस्फूर्त्त क्रिया के द्वारा उपलब्ध होगा। सत्-तर्क अब पूर्ववत् मानसिक नहीं, वरन् अतिमानसिक होगा और वह कृत्रिम मापदण्डों के पर्यवेक्षण से नहीं, बल्कि युक्त सम्बन्धों के स्वतंत्र और सहज बोध तथा उनकी अनिवार्य कार्यान्विति के द्वारा ही सन्तुष्टि अनुभव करेगा। व्यक्ति और समाज में कलह या समाज-समाज में दुःखदायी संघर्ष नहीं रहने पायेगा। देहधारी जीवों में निहित सार्वभौम चेतना एकता में समरस विविधता को सुनिश्चित आधार प्रदान करेगी।

मानवजाति की वर्तमान अवस्था में, सर्वप्रथम, व्यक्ति को ही मार्गदर्शक तथा नायक के रूप में इस शिखर पर आरोहण करना होगा। निश्चय ही, उसका एकाकीपन उसके बाह्य कार्यों को एक ऐसी दिशा और रूप दे देगा जो सचेतनतः-दिव्य सामूहिक कार्य की दिशा और रूप से सर्वथा भिन्न होंगे। उसके कार्यों की मूल भित्ति एवं आन्तरिक भूमिका तो वही होगी, किन्तु स्वयं कार्य उनसे बहुत भिन्न हो सकते हैं जैसे वे अज्ञानमुक्त भूतल पर होंगे। तथापि उसकी चेतना और उसके आचार की दिव्य यांत्रिकता—यदि इस प्रकार का शब्द इतनी स्वतंत्र वस्तु के लिये बरता जा सकता हो—वैसी ही होगी जैसी कि वर्णित की गयी है। यह प्राणिक अपवित्रता, कामना और अशुद्ध आवेग के प्रति उस दासता से मुक्त होगी जिसे हम पाप के नाम से पुकारते हैं, यह निर्दिष्ट नैतिक सूत्रों के उस नियंत्रण से बंधी हुई नहीं होगी जिसे हम पुण्य का नाम देते हैं। यह मन से अधिक महान् चेतना में सहज रूप से निश्चयात्मक, पवित्र एवं पूर्ण होगी और पद-पद पर आत्मा के प्रकाश तथा सत्य से परिचालित होगी। परन्तु जो लोग अतिमानसिक पूर्णता प्राप्त कर चुके हों उनका यदि कोई समूह या समुदाय बनाया जा सके, तो निश्चय ही वहां एक दिव्य सृष्टि मूर्त्तिमन्त हो सकेगी; एक नयी पृथ्वी अवतरित हो सकेगी जो नूतन स्वर्ग होगी, इस पार्थिव अज्ञान के तिरोहित होते हुए अन्धकार में विज्ञानमय ज्योति के जगत् का यहां सर्जन हो सकेगा।

अध्याय ८

परम इच्छाशक्ति

आत्मा की इस विकसनशील अभिव्यक्ति के प्रकाश में,—उस आत्मा की जो पहले प्रत्यक्षतः अज्ञान में बद्ध होती है और पीछे अनन्त की शक्ति तथा प्रज्ञा में स्वतंत्र होती है,—हम कर्मयोगी के प्रति गीता के इस महान् एवं सर्वोच्च उपदेश को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं कि, "सब धर्मों अर्थात् आचार-व्यवहार के सब सिद्धान्तों, विधानों एवं नियमों को त्यागकर केवल मेरी ही शरण ले।" सभी मानदण्ड और नियम कुछ ऐसी अस्थायी रचनाएं होते हैं जो जड़-प्रकृति से आत्मा की ओर संक्रमण करते हुए अहं की आवश्यकताओं पर आधारित होती हैं। निःसन्देह ये सामयिक उपाय सापेक्ष रूप में अनिवार्य होते हैं जब तक कि हम संक्रमण की अवस्थाओं से तृप्त, शरीर और प्राण के जीवन से सन्तुष्ट एवं मन के व्यापार में आसक्त रहते हैं, अथवा मानसिक स्तर के उन प्रदेशों में ही आबद्ध रहते हैं जो आध्यात्मिक दीप्तियों के द्वारा थोड़े-बहुत प्रभावित हैं। परन्तु इनके परे एक असीम अतिमानसिक चेतना की निर्बाध विशालता है जहां सभी अस्थायी रचनाओं का अन्त हो जाता है। यदि हममें ऐसा विश्वास एवं साहस नहीं है कि हम अपने-आपको सर्वलोकमहेश्वर तथा सर्वभूत-सुहृत् के हाथों में सौंप दें और अपनी मानसिक सीमाओं एवं मर्यादाओं का पूरी तरह से त्याग कर दें तो सनातन तथा अनन्त के आध्यात्मिक सत्य में पूर्ण रूप से प्रवेश करना हमारे लिये सम्भव नहीं हो सकता। एक-न-एक समय हमें निःशेष भाव से, संकोच, भय वा संशय के बिना, मुक्त, अनन्त तथा परिपूर्ण ब्रह्म के महासागर में डुबकी लगानी ही होगी। विधान से परे हैं मुक्तता; वैयक्तिक मापदण्डों और सार्वजनिक एवं सार्वभौम मापदंडों के परे कोई अधिक महान् वस्तु है, एक निर्वैयक्तिक नमनीयता, दिव्य स्वतंत्रता, लोकोत्तर बल एवं स्वर्गीय सम्वेग है। आरोहण के संकीर्ण पथ के पश्चात् ही शिखर पर विस्तृत अधित्यकाएं आती हैं।

आरोहण के तीन क्रम हैं,—सबसे नीचे शारीरिक जीवन है जो आवश्यकता तथा कामना के दबाव के वशीभूत है, मध्य में मानसिक, उच्चतर भावमय तथा आन्तरात्मिक नियम है जो महत्तर हितों, अभीप्साओं, अनुभवों एवं विचारों को टोहता है और शिखर पर पहले तो गम्भीरतर आन्तरात्मिक तथा आध्यात्मिक भूमिका है और फिर अतिमानसिक नित्य चेतना है जिसमें हमारी सब अभीप्साएं एवं जिज्ञासाएं अपना अन्तरीय अर्थ जान लेती हैं। शारीरिक जीवन में सर्वप्रथम कामना एवं आवश्यकता और तदनन्तर व्यक्ति तथा समाज के क्रियात्मक हित ही प्रभुत्वशाली विचार तथा प्रधान प्रेरकबल होते हैं। मानसिक जीवन में विचारों तथा

आदर्शों का प्रभुत्व होता है—उन विचारों का जो सत्य का वेश धारण किये हुए अर्द्ध-प्रकाश होते हैं, तथा उन आदर्शों का जो वर्धमान पर अपूर्ण अन्तर्ज्ञान एवं अनुभव के परिणाम के रूप में मन के द्वारा विरचित होते हैं। जब कभी मानसिक जीवन प्रबल होता है तथा शारीरिक जीवन अपना पाशविक आग्रह कम कर देता है, तब मनुष्य—मनोमय प्राणी—अपने-आपको मानसिक प्रकृति के उस आवेग से प्रेरित अनुभव करता है जो व्यक्ति के जीवन को विचार वा आदर्श की भावना में ढाल देने का आवेग होता है, और अन्त में समाज का अधिक अनिश्चित एवं अधिक जटिल जीवन भी इस सूक्ष्म प्रक्रिया में से गुजरने को बाध्य होता है। आध्यात्मिक जीवन में अथवा उस अवस्था में जब मन से अधिक ऊंची शक्ति प्रकट हो चुकती है तथा प्रकृति को अपने अधिकार में कर लेती है, ये सीमित प्रेरक-बल पीछे हटने लगते हैं और क्षीण तथा लुप्त होते जाते हैं। तब, एकमात्र, आध्यात्मिक वा अतिमानसिक आत्मा, भागवत पुरुष या परात्पर तथा विश्वगत सत्तत्त्व ही हमारा ईश्वर होता है और वही हमारी प्रकृति के नियम या 'स्व-धर्म' की उच्चतम, विशालतम एवं सर्वांगीणतम सम्भव अभिव्यक्ति के अनुसार हमारे चरम विकास को स्वच्छन्दतापूर्वक गढ़ता है। अन्त में हमारी प्रकृति पूर्ण सत्य तथा इसकी सहज स्वतंत्रता में कार्य करने लगती है; क्योंकि वह केवल सनातन की ज्योतिर्मय शक्ति का ही अनुसरण करती है। व्यक्ति के लिये तब और कोई चीज प्राप्त करने को नहीं रह जाती, न कोई कामना ही पूर्ण करने को शेष रहती है; वह तो सनातन के निर्वैयक्तिक स्वरूप या विराट् व्यक्तित्व का अंश बन जाता है। जीवन में भागवत आत्मा को अभिव्यक्त और लीलायित करना तथा दिव्य लक्ष्य की ओर यात्रा करते हुए संसार का धारण और परिचालन करना—इन उद्देश्यों को छोड़ कर और कोई उद्देश्य तब उसे कार्य के लिये प्रेरित नहीं कर सकता। मानसिक धारणाएं, सम्मतियां और कल्पनाएं तब और उसकी अपनी नहीं रहतीं; क्योंकि उसका मन निश्चल-नीरव हो जाता है, यह तब दिव्य ज्ञान के प्रकाश तथा सत्य की प्रणालिकामात्र होता है। आदर्श उसकी आत्मा की विशालता के लिये अत्यन्त संकीर्ण हो जाते हैं; उसके अन्दर तो अनन्त का महासागर सदा हिलोरें मारता और उसे गति देता रहता है।

*

जो कोई भी व्यक्ति सच्चाई के साथ कर्मों के पथ पर आरूढ़ होता है उसे उस अवस्था को, जिसमें आवश्यकता तथा कामना हमारे कार्यों का प्रथम नियम होती हैं, कोसों दूर छोड़ देना होगा। कारण, जो भी इच्छाएं अभी तक उसकी सत्ता को व्याकुल करती हैं उनको उसे—यदि वह योग के उच्च ध्येय को अपनाता है

तो—अपने से पृथक् कर अपने अन्दर स्थित ईश्वर के हाथों में सौंप देना होगा। परा शक्ति साधक के और सर्वजन के मंगल के लिये उन इच्छाओं के साथ यथायोग्य बर्ताव करेगी। क्रियात्मक रूप में हम यह देखते हैं कि जब एक बार ऐसा समर्पण कर दिया जाता है,— हां, इसके साथ सच्चा परित्याग भी सदैव आवश्यक होता है,—तब भी पुरानी प्रकृति के अविरत आवेग के वश कामना के अहंमूलक उपभोग की प्रवृत्ति कुछ काल के लिये उभर सकती है। परन्तु वह केवल इसलिये उभरती है कि कामना के अर्जित आवेग को समाप्त कर दे तथा इसकी प्रतिक्रियाओं द्वारा, इसके दुःख तथा बेचैनी द्वारा—जो उच्चतर शान्ति की प्रसादपूर्ण घड़ियों किंवा दिव्य आनन्द की अद्‌भुत गतियों से तीव्र रूप में भिन्न होते हैं—शरीरधारी प्राणी की सत्ता के अत्यन्त अशिक्षणीय अंग को, उसकी स्नायविक, प्राणिक एवं भाविक प्रकृति को भी यह सिखा दे कि अहंभावमयी कामना उस आत्मा के लिये नियम नहीं होती जो मुक्ति चाहती है अथवा अपनी मूल देव-प्रकृति के लिये अभीप्सा करती है, फिर भी उन प्रवृत्तियों के अन्दर कामना का जो तत्त्व है वह आगे चलकर एक अनवरत वर्जक और रूपान्तरकारी दबाव के द्वारा निकाल फेंका जायगा या दृढ़तापूर्वक दूर कर दिया जायगा। केवल उनके अन्दर की वह शुद्ध क्रिया-शक्ति (प्रवृत्ति) ही जो ऊपर से प्रेरित या आरोपित समस्त कर्म तथा फल में एक समान आनन्द लेने के कारण अपना औचित्य सिद्ध करती है, अन्तिम पूर्णता के सुखद सामंजस्य में सुरक्षित रखी जायगी। कर्म करना एवं उपभोग करना स्नायवीय सत्ता का स्वाभाविक नियम तथा अधिकार है; किन्तु वैयक्तिक कामना के द्वारा अपने कर्म तथा भोग का चुनाव करना उसकी एक अज्ञानयुक्त इच्छामात्र है, उसका अधिकार नहीं। चुनाव तो परम तथा वैश्व इच्छाशक्ति को ही करना होगा; कर्म को उस परम इच्छाशक्ति की प्रबल गति में बदल जाना होगा; भोग का स्थान शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द की क्रीड़ा को लेना होगा। समस्त वैयक्तिक इच्छा या तो ऊपर से प्राप्त अस्थायी प्रतिनिधित्व होती है या अज्ञानी असुरके द्वारा परकीय स्वत्व का अपहरण।

सामाजिक नियम अर्थात् हमारी उन्नति की दूसरी अवस्था एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा अहं को वश में रखा जाता है, इसलिये कि वह विस्तीर्णतर सामूहिक अहं के अधीन रहकर अनुशासन सीख सके। यह नियम किसी भी नैतिक अर्थ से सर्वथा शून्य हो सकता है और केवल समाज की आवश्यकताओं या क्रियात्मक हित को—हित के विषय में किसी समाज की जैसी भी कल्पना हो उसके अनुसार—प्रकट कर सकता है।अथवा यह उन आवश्यकताओं और उस हित को एक ऐसे रूप में भी प्रकट कर सकता है जो एक उच्चतर नैतिक या आदर्श नियम के द्वारा संशोधित, रंजित तथा परिपूरित हो। जो व्यक्ति विकास कर रहा है, पर अभी तक पूर्णतः विकसित नहीं हुआ है उसके लिये यह नियम सामाजिक कर्त्तव्य,

पारिवारिक दायित्व, सांप्रदायिक या राष्ट्रीय मार्ग के रूप में तब तक अनिवार्य ही होता है जब तक कि यह उच्चतर शुभ-विषयक उसकी प्रगतिशील भावना के विरुद्ध नहीं होता। परन्तु कर्मयोग का साधक इसे भी कर्मों के स्वामी पर उत्सर्ग कर देगा। जब वह इस प्रकार का समर्पण कर चुकेगा, उसके बाद से उसके सामाजिक आवेग तथा निर्णय, उसकी कामनाओं की भांति ही, केवल इसलिये उपयोग में लाये जायेंगे कि वे सर्वथा समाप्त हो जायें। अथवा जहां तक ये कुछ काल के लिये अभी भी आवश्यक होंगे वहां तक ये सम्भवतः उसे इस योग्य बनाने के लिये काम में लाये जायेंगे कि वह अपनी निम्नतर मानसिक प्रकृति को समूची मानवजाति या इसके किसी समूह-विशेष के साथ, इसकी चेष्टाओं, आशाओं और अभीप्साओं के साथ एकाकार कर सके। परन्तु वह अल्पकाल बीत जाने के बाद ये हटा लिये जायंगे और एकमात्र दिव्य शासन ही स्थिर रहेगा। वह भगवान् के साथ तथा दूसरों के साथ दिव्य चेतना के द्वारा ही एकमय होगा, मनोमय प्रकृति के द्वारा नहीं।

कारण, जब साधक स्वतंत्र हो जायगा उसके बाद भी वह संसार में ही रहेगा और संसार में रहने का मतलब है कर्मों में रहना। परन्तु कामना के बिना कर्मों में रहने का अर्थ है समूचे संसार की भलाई के लिये या वर्ग या जाति के लिये या भूतल पर विकसित होनेवाली किसी नयी सृष्टि के लिये कर्म करना अथवा अपने अन्तःस्थ भागवत संकल्प द्वारा नियुक्त कार्य करना। यह कार्य उसे उस परिस्थिति या समुदाय से प्राप्त ढांचे में करना होगा जिसमें वह पैदा हुआ है या जिसमें उसे रखा गया है अथवा यह उसे एक ऐसे ढांचे में करना होगा जो दैवी आदेश ने उसके लिये चुना या पैदा किया है। अतएव, हमारी पूर्णता की अवस्था में हमारी मानसिक सत्ता के अन्दर ऐसी कोई भी चीज शेष नहीं रहनी चाहिये जो उस वर्ग एवं समुदाय का या भगवान् के और किसी भी सामूहिक रूप का विरोध करे या उसके साथ हमारी सहानुभूति एवं स्वतंत्र एकमयता में बाधा डाले जिसका नेता, सहायक या सेवक बनने के लिये वह भगवान् के द्वारा नियुक्त है। परन्तु अन्त में इसे भगवान् के साथ तादात्म्य द्वारा प्राप्त एक स्वतंत्र आत्म-एकाकारता बन जाना होगा, न कि मेल-मिलाप की कोई ऐसी मानसिक शर्त्त या नैतिक गांठ या कोई प्राणिक साहचर्य बने रहना होगा जो किसी प्रकार के वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांप्रदायिक या धार्मिक अहंकार से नियंत्रित हो। यदि किसी सामाजिक नियम का पालन किया भी जायगा तो वह किसी भौतिक आवश्यकता या वैयक्तिक या सार्वभौम हितबुद्धि या उपयोगिता के वश अथवा परिस्थिति के दबाव या किसी कर्त्तव्य-भावना के कारण नहीं किया जायगा, बल्कि केवल कर्मों के स्वामी के लिये तथा इस बात को ईश्वरेच्छा अनुभव करते या जानते हुए किया जायगा कि सामाजिक विधान या नियम या सम्बन्ध, जैसा भी वह है, अन्तर्जीवन की प्रतिमा के

रूप में अभी भी सुरक्षित रखा जा सकता है और उसका उल्लंघन करके मनुष्यों में 'बुद्धिभेद' नहीं पैदा करना चाहिये। दूसरी ओर, यदि सामाजिक विधान या नियम या सम्बन्ध की अवहेलना की भी जायगी तो वह कामना, वैयक्तिक संकल्प या वैयक्तिक सम्मति को तुष्ट करने के लिये नहीं की जायगी, वरन् इसलिये कि हमें आत्मा के विधान को प्रकट करनेवाले एक महत्तर नियम का अनुभव हो चुका होगा अथवा यह ज्ञान प्राप्त हो चुका होगा कि दिव्य सर्व-संकल्प की प्रगति में वर्तमान नियमों और रूपों के परिवर्तन, अतिक्रमण या उन्मूलन के लिये प्रयास अवश्य होना चाहिये जिससे कि विश्व-विकास के लिये आवश्यक एक अधिक स्वतंत्र और विशाल जीवन का उदय हो सके।

अब रहा नैतिक नियम या आदर्श; ये दोनों उन बहुत-से लोगों को भी जो अपने को स्वतंत्र समझते हैं, सदैव पवित्र एवं बुद्धि-अगोचर प्रतीत होते हैं। परन्तु अपनी दृष्टि सदा ऊर्ध्वमुखी रहने के कारण, साधक, इन्हें उन भगवान् के प्रति उत्सर्ग कर देगा जिन्हें समस्त आदर्श अपूर्ण एवं आंशिक रूप से ही प्रकट करने की चेष्टा करते हैं। सभी नैतिक गुण उनके स्वभावसिद्ध तथा असीम पूर्णत्व के तुच्छ तथा अनमनीय हास्यास्पद अभिनयमात्र हैं। स्नायविक या प्राणिक कामना के मिटने के साथ ही पाप एवं अशुभ का बंधन भी मिट जाता है; क्योंकि इसका सम्बन्ध हमारे अन्दर के उस गुण से है जो प्राणगत आवेश का गुण (रजोगुण) है तथा जो हमें प्रवृत्ति के लिये प्रेरित या प्रचालित करता है, और इसलिये प्रकृति के इस गुण का रूपान्तर होते ही यह छिन्न-भिन्न हो जाता है। परन्तु अभीप्सु को रूढ़िभूत या अभ्यासगत पुण्य की अथवा किसी मनोनिर्दिष्ट या उच्च या निर्मल सात्त्विक पुण्य की सुवर्ण-रंजित या स्वर्णिम शृंखला से भी आबद्ध नहीं रहना होगा। इसके स्थान पर उसे एक ऐसी वस्तु प्रतिष्ठित करनी होगी जो उस क्षुद्र एवं न्यूनतापूर्ण वस्तु से जिसे मनुष्य (Virtue) या पुण्य कहते हैं अधिक गंभीर और अधिक तात्त्विक हो। 'वर्चु' (Virtue) शब्द का मूल अर्थ था मनुष्यत्व और यह नैतिक मन तथा इसकी रचनाओं से अधिक विस्तृत और अधिक गहरी वस्तु है। कर्मयोग की सिद्धि इससे भी ऊंची और गहरी अवस्था है जिसे शायद "आत्म-भाव" कह सकते हैं—क्योंकि आत्मा मनुष्य से अधिक महान् है। परम सत्य और प्रेम के कर्मों में स्वयमेव स्रवित होता हुआ यह स्वतंत्र आत्म-भाव मानवीय पुण्य का स्थान ले लेगा। परन्तु इस परम सत्य को न तो व्यावहारिक बुद्धि के छोटे-मोटे कमरों में रहने के लिये बाधित किया जा सकता है और न ही इसे उस व्यापकतर चिन्तक बुद्धि की अधिक गरिमामयी रचनाओं में आबद्ध किया जा सकता है जो अपने निरूपणों को परिमित मानव-बुद्धि पर शुद्ध सत्य के रूप में आरोपित किया करती है। यह भी आवश्यक नहीं कि यह परम प्रेम मानवीय आकर्षण, सहानुभूति तथा दया की आंशिक एवं मन्द और अज्ञ एवं भावोद्वेलित चेष्टाओं से संगत ही

हो, इनसे अभिन्न होना तो दूर की बात रही। क्षुद्र नियम विशालतर गति को बांध नहीं सकता; मन की खण्ड उपलब्धि आत्मा की परम परिपूर्णता पर शासन नहीं कर सकती।

सर्वप्रथम, उच्चतर प्रेम एवं सत्य अपनी गति को साधक में उसकी निजी प्रकृति के सारभूत धर्म या पथ के अनुसार ही चरितार्थ करेगा। क्योंकि, वह धर्म या पथ दिव्य प्रकृति का एक विशेष रूप एवं परा शक्ति की एक विशिष्ट शक्ति ही होता है, जिसमें से उसकी अन्तरात्मा लीला में आविर्भूत होती है,—निःसन्देह यह उस धर्म वा पथ के रूपों से सीमित नहीं होती, क्योंकि आत्मा तो सीमारहित है। फिर भी इसके प्रकृति-तत्त्व पर उस गति का प्रभाव अंकित रहता है और यह तत्त्व उस प्रबल प्रभाव के चक्राकार घुमावों के चारों ओर उन सरणियों या दिशाओं में निर्बाध रूप से विकसित होता है। साधक दिव्य सत्य-गति को ज्ञानी या शूरवीर योद्धा या प्रेमी तथा उपभोक्ता या कर्मी एवं सेवक के स्वभाव के अनुसार अथवा तीन मूल गुणों के किसी अन्य ऐसे सम्मिश्रण में प्रकट करेगा जो उसकी सत्ता के अपनी ही आन्तर प्रेरणा द्वारा नियत आकार का गठन करनेवाला हो। उसके कार्यों में स्वच्छन्द क्रीड़ा करती हुई उसकी इस स्व-प्रकृति (स्वधर्म) को ही मनुष्य उसमें देखेंगे न कि किसी बाह्य क्षुद्रतर नियम या विधान के द्वारा गठित, निर्धारित तथा कृत्रिमतया नियमित आचार को।

परन्तु, इससे भी ऊंची एक और उपलब्धि है, एक 'आनंत्य' है जिसमें यह अन्तिम नियम-मर्यादा भी अतिक्रान्त हो जाती है, क्योंकि प्रकृति पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है तथा इसकी सीमाएं विलुप्त हो जाती हैं। वहां आत्मा सभी सीमाओं से मुक्त रहती है, क्योंकि वह अपने अन्दर की दिव्य इच्छाशक्ति के अनुसार सभी रूपों तथा सांचों का प्रयोग करती है, पर वह जिस भी शक्ति या रूप को उपयोग में लाती है उससे निगड़ित नहीं हो जाती, उससे आबद्ध या उसके अन्दर अवरुद्ध नहीं हो जाती। यह कर्म-मार्ग का शिखर है और यही आत्मा की उसके कर्मों में पूर्ण स्वाधीनता है। वास्तव में, वहां कोई भी कर्म इसके नहीं होते; इसकी सभी चेष्टाएं 'परम' की ही स्वरलहरी होती हैं। वे उसीसे निःसृत होती हैं—ऐसे स्वतंत्र रूप में जैसे अनन्त में से एक स्वतःस्फूर्त संगीत निःसृत होता है।

*

अतएव, समर्पण ही कर्मयोग का साधन तथा साध्य है—अपनी समस्त चेष्टाओं का परम तथा विश्वव्यापी इच्छाशक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण, अशेष कर्मों का अपने अन्तःस्थित किसी ऐसी नित्य सत्ता के शासन के प्रति बिना किसी शर्त तथा नियम-मर्यादा के समर्पण, जो हमारी अहं-प्रकृति की साधारण कर्म-प्रणाली का स्थान

ग्रहण कर लेती है। परन्तु वह दिव्य परम इच्छाशक्ति क्या है तथा हमारे भ्रान्त करणों एवं हमारी अन्ध तथा बन्दीकृत बुद्धि द्वारा वह कैसे पहचानी जा सकती है ?

साधारणतया हम अपने विषय में ऐसा सोचते हैं कि हम संसार में एक पृथक् "अहं" हैं जो एक पृथक् शरीर तथा मनोमय एवं नैतिक प्रकृति पर शासन करता है, अपने स्व-निर्धारित कार्य पूरी स्वाधीनता से चुनता है तथा स्वतंत्र है और इसी कारण अपने कर्मों का एकमात्र स्वामी एवं उत्तरदायी है। यह कल्पना करना कि कैसे हमारे अन्दर इस प्रतीयमान "अहं" तथा इसके साम्राज्य की अपेक्षा अधिक सत्य, अधिक गंभीर एवं अधिक शक्तिशाली कोई अन्य वस्तु हो सकती है साधारण मनुष्य के लिये सुगम नहीं—उस मनुष्य के लिये जिसने अपनी रचना तथा रचनाकारी तत्त्वों पर विचार नहीं किया है तथा इनके मूल में गंभीर दृष्टि नहीं डाली है; यह उन मनुष्यों के लिये भी कठिन है जिन्होंने चिन्तन तो किया है, पर जिन्हें आध्यात्मिक दृष्टि एवं अनुभूति प्राप्त नहीं हुई है। परन्तु दृश्य-प्रपंच के यथार्थ ज्ञान की भांति आत्मज्ञान का भी सबसे पहला कदम यह है कि हम वस्तुओं के प्रतीयमान सत्य के मूल में जायं और उस वास्तविक पर निगूढ़ तथा तात्त्विक और क्रियाशील सत्य को ढूंढ़ निकालें जो इनकी प्रतीतियों से आवृत है।

यह अहं या "मैं" हमारा सारभूत भाग होना तो दूर रहा, हमारा स्थायी सत्य भी नहीं है; यह प्रकृति की एक रचनामात्र है, उसका एक रूप है, बोधग्राही तथा विवेककारी मन में यह विचार का केंद्रीकरण करनेवाला एक मानसिक रूप है, हमारे प्राणमय भागों में यह भाव तथा सम्वेदन का केंद्रीकरण करनेवाला एक प्राणिक रूप है और हमारे शरीरों में यह शारीरिक सचेतन ग्रहणशीलता का एक रूप है जो देहतत्त्व तथा इसके व्यापार का केंद्रीकरण करता है। आन्तरिक तौर पर हम जो कुछ हैं वह अहं नहीं, बल्कि चेतना, अन्तरात्मा या आत्मसत्ता है। बाहर से एवं स्थूल रूप में हम जो कुछ हैं तथा जो कुछ करते हैं वह अहं नहीं, वरन् विश्व-प्रकृति है। कर्त्री वैश्व शक्ति हमारा रूप गढ़ती है और इस प्रकार गठित हमारी प्रकृति तथा परिस्थिति एवं मनोवृत्ति के द्वारा, वैश्व शक्तियों से रचित हमारी व्यष्टिभावापन्न रूप-रचना के द्वारा, हमारे कार्यों तथा उनके परिणामों को प्रेरित वा निर्दिष्ट करती है। वास्तव में विचार, इच्छा वा कर्म हम नहीं करते, बल्कि विचार हममें उदित होता है, इच्छाशक्ति हममें उद्‌भूत होती है, आवेग तथा कर्म हममें घटित होते हैं। हमारा अहंभाव प्राकृतिक चेष्टाओं के इस समस्त प्रवाह को अपने चारों ओर एकत्र कर लेता है तथा इसे अपने सम्मुख विचारार्थ उपस्थित करता है। वैश्व शक्ति किंवा विश्व-प्रकृति ही विचार की रचना करती है, इच्छाशक्ति को बलात् आरोपित करती है और प्रेरणा का संचार करती है। हमारे शरीर, मन तथा अहं उस कार्यरत शक्ति-समुद्र की तरंग हैं, ये उसपर शासन नहीं करते प्रत्युत उसके द्वारा शासित तथा परिचालित होते हैं। सत्य तथा आत्मज्ञान की ओर प्रगति करते-

करते साधक को एक ऐसे स्थल पर पहुंचना होगा जहां आत्मा अपनी दिव्यदृष्टिसम्पन्न आंखें खोलती है और अहं तथा कर्म-सम्बन्धी इस सत्य को पहचान लेती है। तब साधक यह विचार त्याग देता है कि कोई मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक "अहं" है जो कर्म करता या कर्म का संचालन करता है; वह जान जाता है कि प्रकृति एवं वैश्व प्रकृति की शक्ति ही अपने निश्चित गुणों का अनुसरण करती हुई उसमें तथा सभी पदार्थों एवं प्राणियों में एकमात्र और अद्वितीय कर्मकर्त्री है।

परन्तु प्रकृति के गुणों को किसने निश्चित किया है? अथवा शक्ति की गतियों का उद्गम एवं अधिष्ठाता कौन है? इसके मूल में अवस्थित है एक चेतना—अथवा एक 'चेतन'—जो इसके कर्मों का स्वामी, साक्षी, ज्ञाता, भोक्ता, धर्त्ता तथा अनुमन्ता है; यह चेतना है आत्मा या पुरुष। प्रकृति हमारे अन्दर कर्म को आकार देती है; पुरुष इसके अन्दर या इसके पीछे रहकर उसे साक्षिभाव से देखता और अनुमति देता है तथा उसका धारण एवं भरण करता है। प्रकृति हमारे मन में विचार की रचना करती है; इसके अन्दर या पीछे अवस्थित पुरुष उस विचार को तथा उसके अन्तर्निहित सत्य को जानता है। प्रकृति कर्म का परिणाम निश्चित करती है; इसके अन्दर या पीछे अवस्थित पुरुष उस परिणाम को भोगता या सहता है। प्रकृति मन और तन की रचना करती है, उनपर परिश्रम करती एवं उन्हें विकसित करती है; पुरुष उस रचना एवं विकास को धारण करता है और प्रकृति के कार्यों के प्रत्येक पग को अनुमति देता है। प्रकृति एक संकल्पशक्ति का प्रयोग करती है जो पदार्थों एवं मनुष्यों में कार्य करती है और पुरुष, जो करना चाहिये उसे अपनी अन्तर्दृष्टि से देख कर, उस संकल्प-शक्ति को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह पुरुष तलीय अहं नहीं है, बल्कि अहं के पीछे अवस्थित निश्चल-नीरव आत्मा है, शक्ति का स्रोत है, ज्ञान का उद्गम तथा ग्रहीता है। हमारा मानसिक "मैं" इस आत्मा अथवा शक्ति एवं ज्ञान की एक मिथ्या प्रतिच्छायामात्र है। अतः यह पुरुष या भरण करनेवाला चैतन्य प्रकृति के अखिल कर्मों का मूल, ग्रहीता तथा आधार है, पर यह स्वयं कर्ता नहीं है। सामने की ओर अवस्थित प्रकृति अथवा प्रकृति-शक्ति तथा इसके मूल में विद्यमान शक्ति अथवा चित्-शक्ति या आत्म-शक्ति—क्योंकि यही दो विश्वजननी के आन्तर तथा बाह्य रूप हैं,—उस सबकी व्याख्या कर देती हैं जो कुछ कि संसार में किया जाता है। विश्वजननी किंवा प्रकृति-शक्ति ही एकमात्र तथा अद्वितीय कर्मकर्त्री है।

पुरुष-प्रकृति, चित्-शक्ति किंवा विश्वप्रकृति को धारण करनेवाली आत्मा,—क्योंकि ये दोनों अपने पार्थक्य में भी एक तथा अविभेद्य हैं,—एक साथ ही विश्वव्यापी तथा विश्वातीत शक्ति हैं। परन्तु व्यक्ति में भी कोई ऐसी सत्ता है जो मानसिक अहं नहीं है, कोई ऐसी सत्ता है जो इस महत्तर सद्वस्तु से सारतः अभिन्न है। यह सत्ता उस एकमेव पुरुष का शुद्ध प्रतिबिम्ब या अंश है; यह अन्तरात्मा है,

पुरुष या शरीरधारी जीव है, व्यक्तिगत आत्मा या जीवात्मा है; यह शुद्ध आत्मा है जो अपने बल एवं ज्ञान को इसलिये सीमित करती प्रतीत होती है कि परात्पर तथा विश्वगत प्रकृति की वैयक्तिक क्रीड़ा को आश्रय दे सके। गम्भीरतम वास्तविकता के क्षेत्र में अनन्ततया 'एक' अनन्ततया 'बहु' भी है; हम 'तत्' के प्रतिबिम्ब या अंशमात्र नहीं, बल्कि 'तत्' ही हैं। हमारे अहं के विपरीत, हमारा आध्यात्मिक व्यक्तित्व हमारी विश्वमयता तथा परात्परता का निषेध नहीं करता। परन्तु इस समय हमारी अन्तःस्थ अन्तरात्मा या आत्मा विश्वप्रकृति में व्यष्टि-भाव के निर्माण में तल्लीन रहने के कारण अपने-आपको अहं के विचार से भ्रान्त होने देती है। उसे इस अज्ञान से छुटकारा पाना है, उसे जानना है कि वह परम तथा विश्वव्यापी आत्मा की एक प्रतिच्छाया या एक अंश या रूप है और विश्वकर्म में इसकी चेतना का एकमात्र केंद्र है। परन्तु यह 'जीव पुरुष' भी कर्मों का कर्त्ता नहीं है वैसे ही जैसे कि अहं कर्त्ता नहीं है, अथवा जैसे द्रष्टा तथा ज्ञाता की धारक चेतना कर्त्री नहीं है। इस प्रकार, सदा-सर्वदा परात्पर तथा विश्वव्यापिनी शक्ति ही एकमात्र कर्त्री है, परन्तु इसके पीछे अवस्थित है एकमेव परमदेव जो इसमें से युगल-शक्ति, पुरुष-प्रकृति एवं ईश्वर-शक्ति[1] के रूप में प्रकट होता है। वह 'परम' इस शक्ति के रूप में गतिशील हो जाता है और इसीके द्वारा वह विश्व में कर्मों का एकमात्र आरम्भक और स्वामी है।

*

यदि कर्म-विषयक सत्य यही है तो सबसे पहले साधक को यह करना होगा कि

[1] ईश्वर-शक्ति और पुरुष-प्रकृति बिल्कुल एक ही चीज हों ऐसी बात नहीं; क्योंकि पुरुष और प्रकृति पृथक्-पृथक् शक्तियां हैं, पर ईश्वर और शक्ति अपने अन्दर एक-दूसरे को समाविष्ट रखते हैं। ईश्वर वह पुरुष है जो प्रकृति को अपने अन्तर्गत रखता है तथा अपने अन्दर विराजमान शक्ति के सामर्थ्य से शासन करता है। शक्ति वह प्रकृति है जो पुरुष-रूप आत्मा से युक्त है तथा ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करती है; ईश्वर की इच्छा उस शक्ति की अपनी ही इच्छा है तथा अपनी गति में वह ईश्वर की उपस्थिति को सदा अपने संग रखती है। पुरुष-प्रकृति का अनुभव कर्म-मार्ग पर चलनेवाले जिज्ञासु के लिये अत्यन्त उपयोगी होता है; क्योंकि चेतन पुरुष और शक्ति का पार्थक्य तथा शक्ति की यांत्रिक क्रिया के प्रति पुरुष की अधीनता हमारे अज्ञान एवं अपूर्णत्व का एक प्रबल कारण हैं। अतएव इस अनुभव से पुरुष अपने को प्रकृति की यांत्रिक प्रक्रिया से मुक्त करके स्वतन्त्र हो सकता है और प्रकृति पर प्रथम आध्यात्मिक नियंत्रण प्राप्त कर सकता है। ईश्वर-शक्ति पुरुष-प्रकृति के सम्बन्ध और इस सम्बन्ध की अज्ञ क्रिया के पीछे अवस्थित है और विकास के प्रयोजन के लिये इसका उपयोग करती है। ईश्वर-शक्ति का अनुभव पुरुष को उच्चतर गतिशीलता और दिव्य व्यापार में सहयोगी बना सकता है और आध्यात्मिक प्रकृति में सत्ता का पूर्ण एकत्व एवं सामंजस्य साधित कर सकता है।

वह कर्म के अहंकारमय रूपों से पीछे हटे तथा इस भावना से मुक्त हो जाय कि कोई "मैं" है जो कार्य करता है। उसे यह देखना तथा अनुभव करना होगा कि जो कोई भी चीज उसमें घटित होती है वह उसके उन मानसिक तथा शारीरिक करणों की सुनम्य, सचेतन वा अवचेतन या कभी पराचेतन सहज प्रक्रिया से घटित होती है जो कि आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक विश्व-प्रकृति की शक्तियों के द्वारा परिचालित होते हैं।उसके उपरितल पर एक व्यक्तित्व है जो चुनाव करता तथा इच्छा करता है, हार मान लेता तथा संघर्ष करता है और प्रकृति में अपने-आपको सुरक्षित रखने अथवा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का यत्न करता है। पर यह व्यक्तित्व स्वयं प्रकृति की ही रचना है और यह उसके द्वारा इस प्रकार शासित, परिचालित तथा निर्धारित होता है कि यह स्वतंत्र नहीं कहला सकता। यह उसमें निहित आत्मा की रचना या अभिव्यक्ति है,—यह आत्मा की अंशभूत आत्मा होने की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकृति का अंशभूत 'स्व' है, यह आत्मा की प्राकृतिक तथा प्रक्रियात्मक सत्ता है न कि उसकी आध्यात्मिक तथा शाश्वत सत्ता, यह एक अस्थायी निर्मित व्यक्तित्व है, न कि वास्तविक अमर व्यक्ति। साधक को तो वास्तविक अमर व्यक्ति बनना होगा। उसे आन्तरिक तौर पर निश्चल बनने में सफल होना होगा और बाह्य क्रियाशील व्यक्तित्व से अपने-आपको निरीक्षक के रूप में पृथक् कर लेना होगा। उसे अपने अन्दर वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा का अध्ययन करना होगा और इसके लिये उसे इसके पैंतरों तथा गतियों में आसक्त रहने की विमूढ़कारी अवस्थाओं से पीछे स्थित होना होगा। इस प्रकार निश्चल, शान्त, अनासक्त, आत्म-अध्ययनार्थी तथा अपनी प्रकृति का द्रष्टा बन कर वह अनुभव करता है कि वह व्यष्टि-रूप आत्मा है जो विश्व-प्रकृति के कर्मों का निरीक्षण करती है, इसके परिणामों को शान्त भाव से स्वीकार करती है तथा प्राकृतिक-कर्मसम्बन्धी आवेग को अनुमति देती या उससे अपनी अनुमति हटा लेती है। इस समय यह आत्मा या पुरुष एक सन्तुष्ट दर्शक से अधिक कुछ नहीं है, अपनी आवृत चेतना के दबाव से यह हमारी सत्ता की क्रिया और अभिवृद्धि पर शायद प्रभाव डालता है, किन्तु अधिकांश में अपनी शक्तियां या इनका कुछ भाग बाह्य व्यक्तित्व को सौंप देता है,—वास्तव में यह इन्हें प्रकृति को ही सौंप देता है, क्योंकि यह बाह्य 'स्व' प्रकृति का ईश नहीं, बल्कि उसके अधीन है, अनीश है। परन्तु एक बार अनावृत होकर यह अपनी स्वीकृति या निषेध को कार्यकारी बना सकता है, अपने कर्म का स्वामी बन सकता है और प्रकृति के परिवर्तन का प्रभुत्वपूर्ण भाव में निर्धारण कर सकता है। चाहे प्रकृति की अभ्यस्त गति स्थिर संस्कार और पुराने शक्ति-संग्रह के परिणाम-स्वरूप, दीर्घकाल तक, पुरुष की स्वीकृति के बिना भी होती रहे और चाहे, पहले से अभ्यास न होने के कारण, प्रकृति किसी स्वीकृत गति का भी दृढ़तापूर्वक निषेध करती रहे, फिर भी उसे पता चलेगा कि अन्त में उसीकी स्वीकृति या

अस्वीकृति की विजय होती है,—धीमे-धीमे, बहुत प्रतिरोध के साथ अथवा शीघ्रतापूर्वक, अपने साधनों एवं प्रवृत्तियों को द्रुतगति से अनुकूल बनाते हुए,—प्रकृति अपने-आपको और अपने व्यापारों को उसकी आन्तर दृष्टि या संकल्प के द्वारा निर्दिष्ट दिशा में परिवर्तित कर लेती है। इस प्रकार साधक मानसिक नियंत्रण या अहंमूलक इच्छाशक्ति के प्रयोग के स्थान पर आन्तरिक आध्यात्मिक संयम सीख जाता है जो उसे उसके अन्दर काम करनेवाली प्रकृति-शक्तियों का स्वामी बना देता है और तब वह उनका अचेतन यन्त्र या जड़ दास नहीं रहता। उसके ऊपर तथा चारों ओर विराजमान है शक्ति अर्थात् जगज्जननी और यदि उसे इसकी प्रणालियों का सत्य ज्ञान हो तथा इसमें निहित दिव्य इच्छाशक्ति के प्रति वह सच्चे भाव से समर्पण करे तो वह इससे वे सभी चीजें प्राप्त कर सकता है जिनकी आवश्यकता वा इच्छा उसकी अन्तरतम आत्मा को होती है। अन्तमें, वह अपने तथा प्रकृति के भीतर उस सर्वोच्च क्रियाशील आत्मा से सज्ञान हो जाता है जो उसके सब 'देखने' तथा 'जानने' का स्रोत है, और साथ ही अनुमति, स्वीकृति तथा परित्याग का भी स्रोत है। यह है महेश्वर, परात्पर देव, सर्वगत एक, ईश्वर-शक्ति जिसका उसकी आत्मा एक अंश है अर्थात् उस परम सत्ता का सत्तांश तथा उस परम शक्ति का शक्त्यंश है। हमारी शेष प्रगति उन प्रणालियों के विषय में हमारे ज्ञान पर निर्भर करती है जिनके अनुसार कर्मों का स्वामी जगत् में तथा हममें अपनी इच्छा को प्रकट करता है और जिनके अनुसार वह परात्पर एवं विराट् शक्ति के द्वारा सभी कर्म सम्पन्न करता है।

ईश्वर अपनी सर्वज्ञता में वह चीज देखता है जो करनी होती है। यह 'देखना' (ईक्षण) ही उसका संकल्प है, यह सर्जनक्षम शक्ति का एक रूप है। जो कुछ वह देखता है उसे उसके साथ एकीभूत सर्व-सचेतन माता अपनी क्रियाशील आत्मा के अन्दर ले लेती और मूर्तिमन्त करती है और कार्यवाहिका प्रकृति-शक्ति उसे उनकी सर्वशक्तिमती सर्वज्ञता की स्वाभाविक क्रिया के रूप में चरितार्थ कर देती है। परन्तु जो होना है और अतएव जो करना है उसके विषय में यह अन्तर्दृष्टि ईश्वर की निज सत्ता में से ही उद्भूत होती है, सीधे उसकी चेतना से तथा उसकी सत्ता के आनन्द से ही प्रवाहित होती है, सहज-स्फूर्त्त रूप में, जैसे सूर्य से प्रकाश निकलता है। यह अन्तर्दृष्टि मानवीय 'देखने' का प्रयास नहीं है, न ही यह कर्म एवं उद्देश्य के सत्य का अथवा प्रकृति की यथार्थ मांग का कष्टसाध्य मानवीय ज्ञान है। जब हमारी व्यष्टिगत आत्मा अपनी सत्ता तथा ज्ञान में ईश्वर के साथ पूर्णतः एकीभूत हो जाती है तथा आद्या शक्ति या परात्पर माता से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, तब हममें भी परम इच्छाशक्ति उच्च एवं दिव्य प्रकार से उद्भूत हो सकती है,—एक ऐसी वस्तु के रूप में उद्भूत हो सकती है जो विश्वप्रकृति की सहज-स्फूर्त्त क्रिया से सम्पन्न होनी निश्चित है तथा सम्पन्न होती ही है। तब कोई कामना,

कोई उत्तरदायित्व, कोई प्रतिक्रिया नहीं रहती; आश्रयदायी तथा सर्वतोव्यापी एवं अन्तर्वासी भगवान् की शान्ति, निश्चलता, ज्योति एवं शक्ति में ही सब कुछ घटित होता है।

परन्तु तादात्म्य की यह सर्वोच्च उपलब्धि साधित होने से पहले भी परम इच्छाशक्ति का कोई रूप हमारे अन्दर एक अलंघ्य प्रेरणा एवं ईश्वर-प्रेरित क्रिया के रूप में प्रकट हो सकता है। तब हम एक स्वयंस्फूर्त आत्मनिर्धारक शक्ति के द्वारा कर्म करते हैं, पर प्रयोजन और उद्देश्य का पूर्णतर ज्ञान बाद में ही उत्पन्न होता है। अथवा कर्म का आवेग अन्तःप्रेरणा या सम्बोधि के रूप में भी प्रकट हो सकता है, पर वह प्रकट होता है मन की अपेक्षा कहीं अधिक हृदय एवं शरीर में ही। यहां अमोघ दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, पर पूर्ण एवं यथार्थ ज्ञान अभी भी स्थगित रहता है और जब आता है तो देर में। परन्तु भागवत इच्छाशक्ति करणीय कार्य के एक प्रकाशमान अनन्य आदेश अथवा समग्र बोध या एक अविच्छिन्न बोध-शृंखला के रूप में भी हमारे संकल्प या विचार के भीतर अवतरित हो सकती है अथवा वह ऊपर से एक ऐसे निर्देश के रूप में भी उतर सकती है जिसे निम्नतर अंग सहज भाव से क्रियान्वित करते हैं। जब योग अभी अपरिपक्व होता है, केवल कुछ-एक कार्य ही इस ढंग से किये जा सकते हैं, अथवा केवल एक सामान्य क्रिया ही इस प्रकार प्रवृत्त हो सकती है और वह भी केवल उच्चता और ज्ञानदीप्ति की अवस्थाओं में ही। जब योग में पूर्णता प्राप्त होती है तो कर्ममात्र इसी कोटि का हो जाता है। निःसन्देह इस वृद्धिशील प्रगति को हम तीन अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं जिनके द्वारा सर्वप्रथम, हमारी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति अपने से परतर परम इच्छाशक्ति या चिच्छक्ति के द्वारा यदा-कदा या बहुधा आलोकित या प्रेरित होती है, बाद में यह उसे निरन्तर अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करती जाती है और अन्त में यह उस दिव्य बल-क्रिया के साथ एकीभूत तथा उसमें निमज्जित हो जाती है। प्रथम अवस्था वह है जब हम अभी बुद्धि, हृदय तथा इन्द्रियों के द्वारा ही संचालित होते हैं; इन बुद्धि आदि को दिव्य स्फुरणा तथा पथप्रदर्शन की खोज अथवा प्रतीक्षा करनी होती है और उसे ये सदा ही उपलब्ध अथवा ग्रहण नहीं कर पाते। दूसरी अवस्था वह है जब उच्च, प्रकाशित या अन्तर्ज्ञानात्मक अध्यात्मभावित मन उत्तरोत्तर मानवीय बुद्धि का स्थान ग्रहण करता जाता है और आन्तर चैत्य हृदय बाह्य मानवीय हृदय का तथा विशुद्ध एवं निःस्वार्थ प्राणिक बल इन्द्रियों का स्थान लेता जाता है। तीसरी अवस्था वह है जब हम अध्यात्म-भावापन्न मन से भी ऊपर उठकर अतिमानसिक स्तरों पर पहुंच जाते हैं।

इन तीनों ही अवस्थाओं में मुक्त कर्म का मूल स्वरूप एक ही होता है,—यह प्रकृति का एक स्वतःस्फूर्त व्यापार होता है, किन्तु अब यह पूर्ववत् अहं के द्वारा या उसके लिये नहीं प्रत्युत परम पुरुष की इच्छा के अनुसार तथा उसके भोग के लिये

सम्पन्न किया जाता है। और भी ऊंचे स्तर पर यह व्यापार निरपेक्ष तथा विश्वमय परब्रह्म का परम सत्य बन जाता है, जिसे अब और हमारी निम्नतर प्रकृति की स्खलनशील, अज्ञ और सर्व-विकारक शक्ति अपने अपूर्ण बोध और अपनी हीन या विकृत कार्यान्विति के द्वारा चरितार्थ नहीं करती, बल्कि सर्वज्ञ एवं परात्पर विश्वजननी ही व्यष्टि की आत्मा के द्वारा व्यक्त करती है और उसीकी प्रकृति के द्वारा सचेतन रूप में कार्यान्वित भी करती है। ईश्वर ने अपने-आपको और अपनी परम प्रज्ञा एवं नित्य चेतना को अज्ञ प्रकृति-शक्ति में छुपा रखा है और इसे अनुमति देता है कि यह व्यक्ति को, उसकी सहायता के द्वारा, अहं के रूप में प्रचालित करे। अपने आशयों को अधिक श्रेष्ठ बनाने और अधिक शुद्ध आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य अर्द्धप्रबुद्ध एवं अपूर्ण ढंग से जो-जो प्रयत्न करता है उन सबके रहते भी प्रकृति की यह निम्नतर क्रिया प्रायः प्रधान बनी रहती है। हमारे अन्दर प्रकृति के पिछले कार्यों की जो शक्ति संचित है, उसकी जो अतीत रचनाएं एवं चिरूढ़ संस्कार निहित हैं उनके कारण हमारा पूर्णता-प्राप्ति का मानवीय प्रयत्न विफल हो जाता है, अथवा यह बहुत ही अधूरे ढंग से आगे बढ़ता है। यह सफलता के सच्चे और गगनचुंबी शिखर पर केवल तभी आरोहण करता है जब हमारे ज्ञान या शक्ति से अधिक महान् ज्ञान या शक्ति हमारे अज्ञान का आवरण भेद डालती है और हमारी वैयक्तिक इच्छाशक्ति को परिचालित करती अथवा अपने हाथ में ले लेती है। कारण, हमारी मानवीय इच्छाशक्ति एक पथभ्रष्ट एवं भ्रान्तिशील रश्मि है जो परम इच्छाशक्ति से विच्छिन्न हो गयी है। निम्नतर क्रिया में से उच्चतर ज्योति तथा शुद्धतर शक्ति में शनैः-शनैः उदित होने का काल पूर्णता के प्रयासी के लिये मृत्यु के अन्धकार की उपत्यका होता है; यह परीक्षाओं, यातनाओं, दुःखों, अज्ञानावरणों, स्खलनों, भ्रान्तियों, गर्त्तजालों से संकुल एक भीषण पथ होता है। इस अग्नि-परीक्षा को संक्षिप्त तथा हल्का करने के लिये अथवा इसमें दिव्य आनन्द का संचार करने के लिये अपेक्षित है—श्रद्धा, और मन का उस ज्ञान के प्रति वृद्धिशील समर्पण जो अपने को भीतर से हमपर आरोपित करता है तथा सबसे अधिक अपेक्षित है सच्ची अभीप्सा और यथार्थ, अविचल एवं निष्कपट अभ्यास। गीता कहती है, "निराशारहित हृदय के साथ, स्थिरचित्त होकर, योग का अभ्यास करो";[1] क्योंकि पथ की प्रारम्भिक अवस्था में हमें चाहे आन्तरिक कलह एवं दुःख के तीक्ष्ण गरल के बड़े लंबे घूंट पीने पड़ते हैं, तो भी इस प्याले का अन्तिम स्वाद है—अमृतत्व की सुधा की मधुरिमा तथा नित्य आनन्द की सोम-सुरा।

[1] स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा। गीता ६-२३।

अध्याय ९

समता की प्राप्ति और अहं का नाश

समग्र आत्म-निवेदन, पूर्ण समता, अहं का निर्मम उन्मूलन, प्रकृति का उसकी अज्ञानमय कार्यशैलियों से रूपान्तरकारी उद्धार—ये सब सोपान हैं जिनसे भागवत इच्छाशक्ति के प्रति समस्त सत्ता एवं प्रकृति का समर्पण अर्थात् सच्चा, सर्वांगीण एवं अशेष आत्मदान निष्पन्न तथा सिद्ध किया जा सकता है। सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है अपने कर्मों में आत्म-निवेदन की पूर्ण भावना; इसे पहले-पहल सारी सत्ता में व्याप्त एक सतत संकल्प का रूप धारण करना होगा, फिर इसे उसकी एक अन्तरीय आवश्यकता बनना होगा, अन्त में इसे उसका एक स्वयं-प्रेरित पर सजीव एवं सचेतन अभ्यास तथा हममें, सभी प्राणियों में एवं विश्व के सभी व्यापारों में विद्यमान परमदेव एवं निगूढ़ शक्ति के प्रति यज्ञरूप में सब कर्म करने का एक सहज स्वभाव ही बन जाना होगा। जीवन इस यज्ञ की वेदी है, कर्म आहुति हैं, वे परात्पर और विश्वमय शक्ति एवं उपस्थिति, जिनका हमें अभी ज्ञान या साक्षात्कार तो प्राप्त नहीं हुआ है पर अनुभूति या झांकी मिली है, हमारे इष्टदेव हैं जिनके प्रति हमारे कर्म अर्पित होते हैं। इस यज्ञ या आत्म-निवेदन के दो पहलू हैं; एक तो स्वयं कर्म और दूसरा वह भाव जिससे उसे सम्पन्न किया जाता है अर्थात् जो कुछ भी हम देखते, सोचते और अनुभव करते हैं उस सबमें अपने कर्मों के स्वामी की पूजा का भाव।

अपने अज्ञान में हम जो अच्छे-से-अच्छा प्रकाश साधिकार प्राप्त कर सकते हैं उसीसे प्रारम्भ में हमारा कर्म भी निर्धारित होता है। उसीको हम करणीय कर्म समझते हैं। कर्म का मूलतत्व तो एक ही है, कर्म का रूप चाहे किसी भी हेतु से नियत क्यों न हो, चाहे वह हमारी कर्तव्य-विषयक भावना से नियत हो या अपने सजातियों के प्रति हमारी सहानुभूति से, अथवा दूसरों के लिये या संसार के लिये क्या हितकर है इस विषय में हमारी धारणा से नियत हो किंवा एक ऐसे व्यक्ति के आदेश से जिसे हम मानव गुरु मानते हैं, जो हमसे अधिक ज्ञानी है तथा हमारे लिये कर्ममात्र के उस स्वामी का प्रतिनिधि है जिसमें हम आस्था तो रखते हैं, पर जिसे हम अभी तक जानते नहीं। परन्तु कर्म-यज्ञ का मूलतत्त्व हमारे कर्मों में अवश्य होना चाहिये और वह मूलतत्त्व है अपने कर्मों के फल की समस्त कामना का समर्पण, कर्म के जिस परिणाम के लिये हम अब तक भी हाथ-पांव मारते हैं उसके प्रति आसक्तिमात्र का परित्याग। कारण, जब तक हम फल में आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं तब तक यज्ञ भगवान् के प्रति नहीं बल्कि हमारे अहं के प्रति ही अर्पित होता है। हम भले ही दूसरी तरह सोचें, पर हम अपने को धोखा दे

रहे होते हैं; भगवान्-विषयक अपने विचार की, कर्तव्य-विषयक अपनी भावना की, अपने सजातीयों के प्रति सहानुभूति की, संसार के या दूसरों के हित के सम्बन्ध में अपनी धारणा की, गुरु के प्रति अपने आज्ञापालन तक की ओट में हम अपनी अहंकारमयी तृप्तियों तथा अभिरुचियों को छिपाये होते हैं तथा अपनी प्रकृति में से कामनामात्र का उन्मूलन करने की हम से जो मांग की जाती है उससे बचने के लिये इन सभी चीजों को दिखावटी ढाल के रूप में प्रयुक्त कर रहे होते हैं।

योग की इस अवस्था में और इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया में भी कामना का यह रूप एवं अहं का यह आकार एक ऐसा शत्रु होता है जिसके विरुद्ध हमें सदैव निर्निद्र जागरूकता के साथ सावधान रहना होगा। जब हम इसे अपने अन्दर छुपे हुए और सब प्रकार के भेस धारण करते हुए पायें तो हमें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये, बल्कि इसके सभी छद्मरूपों के पीछे इसे ढूंढ़ निकालने के लिये सजग रहना चाहिये और इसके प्रभाव को दूर करने के लिये निष्ठुर। इस गति का प्रकाशप्रद शब्द गीता की यह निर्णायक पंक्ति है, "कर्म करने में तेरा अधिकार है, परन्तु उसके फल पर कभी, किसी भी अवस्था में नहीं।"[1] फल तो केवल कर्ममात्र के स्वामी का ही है; हमारा इससे इतना ही मतलब है कि हम सच्चाई और सावधानी के साथ कर्म करके उसका फल तैयार करें और यदि यह प्राप्त हो जाय तो इसे इसके दिव्य स्वामी को सौंप दें। जैसे हमने फल के प्रति आसक्ति का त्याग किया है वैसे ही हमें कर्म के प्रति आसक्ति भी त्यागनी होगी। एक काम, एक कार्यक्रम या एक कार्यक्षेत्र के स्थान पर दूसरे को ग्रहण करने अथवा, यदि प्रभु का स्पष्ट आदेश हो, तो सब कर्मों को छोड़ देने के लिये भी हमें प्रतिक्षण तैयार रहना होगा। अन्यथा हम कर्म प्रभु के लिये नहीं करते, बल्कि कर्म से मिलनेवाली निजी सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता के लिये अथवा राजसिक प्रकृति को कर्म की आवश्यकता होने के कारण या अपनी रुचियों की पूर्ति के लिये करते हैं; पर ये सब तो अहं के पड़ाव और अड्डे हैं। हमारे जीवन की साधारण चेष्टाओं के लिये ये कैसे भी आवश्यक क्यों न हों, फिर भी आध्यात्मिक चेतना की प्रगति में इनका त्याग करना होगा, इनके स्थान पर इनके दिव्य प्रतिरूपों की प्रतिष्ठा करनी होगी। आनन्द, अर्थात् निर्वैयक्तिक एवं ईश्वर-प्रेरित आनन्द अप्रकाशित प्राणिक सुख सन्तोष को और भागवत शक्ति का आनन्दपूर्ण आवेग राजसिक आवश्यकता को बहिष्कृत अथवा पदच्युत कर देगा। अपनी रुचियों की पूर्ति करना हमारी कोई आवश्यकता या उद्देश्य नहीं रहेगा, इसके स्थान पर स्वतंत्र आत्मा और प्रकाशयुक्त प्रकृति के कर्म में एक स्वाभाविक क्रियाशील सत्य के द्वारा भगवत्संकल्प की परिपूर्ति करना ही हमारा उद्देश्य हो जायगा। अन्त में, जैसे कर्मफल तथा कर्म के प्रति आसक्ति हृदय से बाहर निकाल दी गयी है, वैसे ही अपने कर्त्ता होने के विचार तथा भाव के प्रति अन्तिम

[1] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता २-४७।

दृढ़ आसक्ति भी छोड़नी होती है; भगवती शक्ति को अपने ऊपर तथा भीतर इस रूप में जानना एवं अनुभव करना होता है कि वही सच्ची तथा एकमात्र कर्त्री है।

*

कर्म तथा उसके फल के प्रति आसक्ति का परित्याग मन एवं अन्तरात्मा में पूर्ण समता की प्राप्ति के लिये एक विशाल गति का प्रारम्भ है; यदि हमें आत्मा में पूर्णता प्राप्त करनी है तो इस समता को सर्वतोव्यापी बनना होगा। कारण, कर्मों के स्वामी की पूजा यह मांग करती है कि हम अपनेमें, सब वस्तुओं तथा सभी घटनाओं में उनके स्वामी को स्पष्ट रूप से पहचानें तथा हर्षपूर्वक स्वीकार करें। समता इस पूजा का प्रतीक है; यह आत्मा की वेदी है जिस पर सच्चा यजन-पूजन किया जा सकता है। ईश्वर सर्वभूतों में समान रूप से विराजमान हैं, अपने-आप और दूसरों में, ज्ञानी और अज्ञानी में, मित्र और शत्रु में, मनुष्य और पशु में, पापी और पुण्यात्मा में हमें किसी प्रकार का भी तात्त्विक भेद नहीं करना चाहिये। हमें किसी से घृणा नहीं करनी चाहिये, किसीको नीच नहीं समझना चाहिये, किसी से जुगुप्सा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सभीमें हमें उस एकमेव के दर्शन करने हैं जो स्वेच्छापूर्वक प्रकट या प्रच्छन्न है। ईश्वर पदार्थों तथा व्यक्तियों में जो भी आकार धारण करना चाहता है तथा उनकी प्रकृति में जो भी कर्म करना चाहता है उसके लिये जो कुछ सर्वोत्तम है उसके ज्ञान के अनुसार और साथ ही अपनी इच्छा के अनुसार वह किसी एक में कम प्रकट है या किसी दूसरे में अधिक, अथवा कुछ दूसरों में गुप्त तथा पूर्णतः विकृत है। सब कुछ हमारी आत्मा ही है, वही एक आत्मा जिसने अनेक रूप धारण कर रखे हैं। घृणा-द्वेष और अवज्ञा-वितृष्णा, मोह-आसक्ति और राग-अनुराग किसी विशेष अवस्था में स्वाभाविक, आवश्यक एवं अनिवार्य होते हैं; ये हमारे अन्दर प्रकृति के चुनाव का साथ देते हैं अथवा उसके करने और बनाये रखने में सहायक होते हैं। परन्तु कर्मयोगी के लिये तो ये एक पुरानी वस्तु के अवशेष होते हैं, मार्ग के विघ्न और अज्ञान की प्रक्रिया होते हैं और जैसे वह प्रगति करता है, ये उसकी प्रकृति से झड़कर अलग हो जाते हैं। शिशु-आत्मा को अपने विकास के लिये इनकी आवश्यकता होती है; परन्तु दिव्य विकास में एक प्रौढ़ आत्मा से ये पृथक् हो जाते हैं। दैवी प्रकृति में, जिसकी ओर हमें आरोहण करना है, एक वज्रोपम यहांतक कि विनाशक कठोरता हो सकती है, परन्तु घृणा नहीं; दिव्य व्यंग्य हो सकता है किन्तु तिरस्कार नहीं; शान्त, स्पष्टदर्शी और प्रबल निराकरण हो सकता है पर घृणा और जुगुप्सा नहीं। जिस वस्तु का हमें विनाश करना है उससे भी घृणा नहीं करनी होगी और यह मानना ही होगा कि वह भी उस सनातन की ही एक प्रच्छन्न एवं अस्थायी गति है।

और, क्योंकि सब वस्तुएं अभिव्यक्तिगत आत्मा ही हैं, हमें कुरूप तथा सुन्दर, पंगु तथा पूर्ण, सभ्य तथा असभ्य, रुचिकर तथा अरुचिकर, शुभ तथा अशुभ के प्रति आत्मिक समता धारण करनी होगी। यहां भी घृणा, अवज्ञा एवं जुगुप्सा नाममात्र नहीं होगी, वरंच इनके स्थान पर होगी वह समदृष्टि जो सब वस्तुओं को उनके सत्य स्वरूप तथा नियत स्थान में देखती है। कारण, हमें जानना चाहिये कि सभी वस्तुएं यथासम्भव उत्तम रीति से या किसी अपरिहार्य त्रुटि के साथ, अपने लिये अभिमत परिस्थितियों में, अपनी प्रकृति की तात्कालिक अवस्था या इसके व्यापार या विकास के लिये सम्भवनीय ढंग से, भगवान् के किसी ऐसे सत्य या तथ्य अथवा उसकी शक्ति या शक्यता को ही प्रकाशित या आच्छादित और विकसित या विकृत करती हैं जो वर्द्धनशील अभिव्यक्ति में अपनी उपस्थिति के द्वारा वस्तुओं की वर्तमान सम्पूर्ण समष्टि के हित और अन्तिम परिणाम की पूर्णता के लिये आवश्यक होती है। उसी सत्य की हमें क्षणिक अभिव्यक्ति के पीछे खोज एवं उपलब्धि करनी होगी। तब हम प्रतीतियों से और अभिव्यक्ति की त्रुटियों या विकृतियों से अवरुद्ध न होकर उस भगवान् की पूजा कर सकेंगे जो अपने आवरणों के पीछे सदा निष्कलुष, शुद्ध, सुन्दर और परिपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी कुछ बदल डालना है, कुरूपता का नहीं, बल्कि दिव्य सुन्दरता का वरण करना है, अपूर्णता को अपना विश्राम-स्थल नहीं मानना है, वरन् पूर्णता के लिये प्रयास करना है, अशिव को नहीं, बल्कि परम शिव को अपना सार्वभौम लक्ष्य बनाना है। परन्तु हम जो कुछ भी करें उसे आध्यात्मिक समझ तथा ज्ञान के साथ करना होगा; हमें केवल दिव्य शुभ, सौन्दर्य, पूर्णत्व एवं हर्ष की प्राप्ति के लिये ही चेष्टा करनी होगी, इनके मानवीय मानों की प्राप्ति के लिये नहीं। यदि हममें समता नहीं है, तो यह इस बात का चिह्न है कि अविद्या अभीतक हमारे पीछे लगी है; हम वास्तव में कुछ भी नहीं समझ पावेंगे और यह सम्भव ही नहीं वरन् निश्चित-सा है कि तब हम पुरानी अपूर्णता का नाश केवल दूसरी को जन्म देने के लिये ही करेंगे; क्योंकि हम अपने मानव-मन तथा कामनामय पुरुष की चीजों को दिव्य वस्तुओं की स्थानापन्न बना रहे हैं।

समता का अर्थ कोई नया अज्ञान अथवा अंधता नहीं है; यह हम से दृष्टि के धुंधलेपन की तथा समस्त विविधता के अन्त की मांग नहीं करती और न इसे ऐसा करने की आवश्यकता ही है। भेद का अस्तित्व है ही, अभिव्यक्ति की विविधता भी विद्यमान है और इस विविधता को हम खूब अच्छी तरह समझेंगे,—पहले जब हमारी दृष्टि पक्षपातपूर्ण तथा भ्रान्तिशील प्रेम और घृणा से, स्तुति और निन्दा से, सहानुभूति और वैर-विरोध से तथा राग और द्वेष से तिमिराच्छन्न थी तब हम इसे जितना समझ पाते थे उसकी अपेक्षा अब बहुत अधिक ठीक रूप में समझ पायेंगे। परन्तु इस विविधता के मूल में हम सदा उस परिपूर्ण तथा निर्विकार ब्रह्म

को ही देखेंगे जो इसके अन्दर विराजमान है और किसी भी विशिष्ट अभिव्यक्ति के—चाहे वह हमारे मानवीय मानदण्डों को सुडौल एवं पूर्ण प्रतीत होती हो या बेडौल एवं अपूर्ण और चाहे वह मिथ्या एवं अशुभ ही क्यों न प्रतीत होती हो—ज्ञानपूर्ण प्रयोजन किंवा दिव्य आवश्यकता को हम अनुभव करेंगे और जानेंगे अथवा यदि यह हमसे छिपी हुई हो तो कम-से-कम इसमें विश्वास अवश्य करेंगे।

इसी प्रकार हम दुःखदायी वा सुखदायी सभी घटनाओं के प्रति, जय और पराजय, मान और अपमान, यश और अपयश तथा सौभाग्य और दुर्भाग्य के प्रति मन तथा आत्मा की ऐसी ही समता धारण करेंगे। कारण, सभी घटनाओं में हम अखिल कर्मों तथा फलों के स्वामी की इच्छा के दर्शन करेंगे तथा उन्हें भगवान् की विकासशील अभिव्यक्ति के सोपान अनुभव करेंगे। देखनेवाली अन्दर की आंख जिनकी खुली हुई है उनके समक्ष भगवान् अपने-आपको शक्तियों तथा उनकी क्रीड़ा एवं परिणामों में और पदार्थों एवं प्राणियों में प्रकट करता है। सब वस्तुएं एक दिव्य परिणति की ओर बढ़ रही हैं; हर्ष तथा सन्तोष की भांति प्रत्येक अनुभव, दुःख एवं अभाव भी वैश्व गति को, जिसे समझना तथा संपुष्ट करना हमारा कर्तव्य है, पूरा करने में एक आवश्यक कड़ी होता है। विद्रोह, निन्दा या चीख-पुकार हमारी अपरिष्कृत एवं अज्ञानयुक्त अन्ध-प्रवृत्तियों का आवेग होती है। अन्य प्रत्येक वस्तु की तरह विद्रोह के भी लीला में अनेक उपयोग हैं, यहां तक कि वह दिव्य विकास के यथासमय और यथास्थिति सम्पन्न होने के लिये आवश्यक, सहायक तथा विहित है; किन्तु अज्ञानमय विद्रोह की चेष्टा आत्मा की बाल्यावस्था या उसके अप्रौढ़ यौवन से सम्बन्ध रखती है। परिपक्व आत्मा दोषारोपण नहीं करती, बल्कि समझने तथा अधिकृत करने का यत्न करती है, चीख-पुकार नहीं मचाती, बल्कि स्वीकार कर लेती है या सुधरने तथा पूर्ण बनने का प्रयास करती है, अन्दर से विद्रोह नहीं करती, वरन् आज्ञापालन करने और चरितार्थ तथा रूपान्तरित करने की कोशिश करती है। सुतरां, हम स्वामी के हाथों से सभी वस्तुओं को सम आत्मा के साथ ग्रहण करेंगे। जब तक दिव्य विजय का मुहूर्त्त नहीं आ जाता तब तक हम असफलता को भी एक प्रसंग के रूप में उसी प्रकार शान्तिपूर्वक स्वीकार करेंगे जिस प्रकार सफलता को। दारुणतम पीड़ा और दुःख-कष्ट से भी, यदि विधि के विधान में वे हमें प्राप्त हों, हमारी आत्माएं, मन और तन चलायमान नहीं होंगे, और न ये तीव्र-से-तीव्र हर्ष एवं सुख से ही अभिभूत होंगे। इस प्रकार अत्यन्त सन्तुलित होकर, सभी वस्तुओं के साथ सम शान्ति से सम्पर्क में आते हुए हम स्थिरतापूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ते जायंगे जबतक कि हम एक अधिक ऊंची अवस्था के लिये तैयार नहीं हो जाते और परम एवं विराट् आनन्द में प्रवेश नहीं कर पाते।

*

यह समता सुदीर्घ अग्नि-परीक्षा तथा धीर आत्म-साधना के बिना अधिगत नहीं हो सकती। जबतक कामना प्रबल होती है तबतक निस्तब्धता की तथा कामना की थकावट की घड़ियों को छोड़कर समता किंचित् भी प्राप्त नहीं हो सकती, और तब यह, सम्भवतः, सच्ची शान्ति तथा तात्त्विक आध्यात्मिक एकता होने की अपेक्षा कहीं अधिक निष्क्रिय उदासीनता, या कामना की ठिठक ही होगी। इसके अतिरिक्त, इस साधना के या आत्मिक समता के इस विकास के कुछ-एक आवश्यक काल एवं क्रम होते हैं। साधारणतया हमें सहिष्णुता की अवस्था से प्रारम्भ करना होता है; क्योंकि हमें सब स्पर्शों का सामना करना, उन्हें झेलना तथा आत्मसात् करना सीखना है। अपनी नस-नस को हमें यह सिखाना होगा कि जो चीज दुःख देती तथा घृणा पैदा करती है उससे यह झिझके नहीं और जो वस्तु प्रिय लगती तथा आकृष्ट करती है उसकी ओर उत्सुकतापूर्वक लपके नहीं, वरंच प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करे, उसका सामना करे, उसे सहन करे तथा वश में करे। सभी स्पर्शों को सहने के लिये हमें सशक्त होना चाहिये, केवल उन्हींको नहीं जो हमारे लिये विशिष्ट और वैयक्तिक हों, वरन् उन्हें भी जो हमारे चारों ओर के तथा ऊपर या नीचे के लोकों एवं उनके निवासियों के साथ हमारी सहानुभूति या संघर्ष से हमें प्राप्त हों। अपने ऊपर होनेवाली मनुष्यों, पदार्थों और शक्तियों की क्रिया को तथा अपने साथ उनके संघर्षण को, देवताओं के दबाव और असुरों के आक्रमणों को हम शान्त भाव से सहन करेंगे। अपनी आत्मा की अक्षुब्ध गहराइयों में हम उस सब का सामना करेंगे और उसे अपने अन्दर पूर्ण रूप से निमज्जित कर लेंगे जो कुछ कि आत्मा के अनन्त अनुभव के रास्ते हमारे सामने सम्भवतः आ सकता है। यह समता की तैयारी का तितिक्षामय काल है, यद्यपि यह इसकी एक सर्वथा प्रारम्भिक अवस्था है तथापि यह वीरतापूर्ण काल है। परन्तु शरीर और हृदय एवं मन की इस दृढ़ सहिष्णुता को भागवत इच्छाशक्ति के प्रति आध्यात्मिक अधीनता के सुपुष्ट भाव का सहारा देना होगा; इस जीते-जागते पुतले को, अपनी पूर्णता को गढ़नेवाले भागवत हस्त के स्पर्श के प्रति, दुःख में भी, नत होना होगा—कठोर वा साहसपूर्ण सहमतिपूर्वक ही नहीं, अपितु ज्ञानपूर्वक अथवा उत्सर्ग के भाव में। ईश्वर-प्रेमी की ज्ञानपूर्ण, भक्तिपूर्ण अथवा यहांतक कि करुणापूर्ण तितिक्षा भी सम्भवनीय है और इस प्रकार की तितिक्षा उस निरी बर्बर और स्व-निर्भर सहिष्णुता से अधिक अच्छी होती है जो ईश्वर के इस आधार को अत्यन्त कठोर बना सकती है; क्योंकि इस प्रकार की तितिक्षा एक ऐसी शक्ति तैयार करती है जो ज्ञान और प्रेम को धारण कर सकती है; इसकी स्थिरता एक ऐसी गभीरतः प्रेरित शान्ति होती है जो सहज ही आनन्द में परिणत हो जाती है। उत्सर्ग और तितिक्षा के इस काल का लाभ यह होता है कि हमें समस्त आघातों और सम्पर्कों का सामना करनेवाला आत्मबल प्राप्त हो जाता है।

इसके बाद उस उच्चासीन तटस्थता एवं उदासीनता का काल आता है जिसमें आत्मा हर्ष और विषाद से मुक्त हो जाती है और सुख की लालसा के पाश से तथा दुःख-दर्द के शूलों के अंधेरे बन्धन से छूट जाती है। सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियों पर, अपने और दूसरों के सभी विचारों, भावों, सम्वेदनों और कार्यों पर आत्मा ऊपर से अपनी दृष्टि डालती है, पर वह स्वयं अस्पृष्ट एवं निर्विकार रहती है और इन चीजों से चलायमान नहीं होती। यह समता की तैयारी का चिन्तनात्मक काल है, एक विशाल तथा अतिमहान् गति है। परन्तु इस उदासीनता को कर्म तथा अनुभव से निष्क्रिय पराङ्मुखता के रूप में स्थायी नहीं हो जाना चाहिये; यह व्याकुलता, विरक्ति तथा अरुचि से उत्पन्न घृणा-रूप नहीं होनी चाहिये, न ही यह निराश या असन्तुष्ट कामना की ठिठक या उस पराजित एवं असन्तुष्ट अहं की उद्विग्नता होनी चाहिये जो अपने रागयुक्त लक्ष्यों से बलात् पीछे हटा दिया गया है। पीछे हटने की ये चेष्टाएं अपक्व आत्मा में अवश्यमेव प्रकट होती हैं और आतुर एवं कामना-प्रचालित प्राणिक प्रकृति को निरुत्साहित करके ये एक प्रकार से प्रगति में सहायक भी हो सकती हैं, किन्तु ये वह पूर्णता नहीं हैं जिसके लिये हम पुरुषार्थ कर रहे हैं। जिस उदासीनता या तटस्थता की प्राप्ति के लिये हमें प्रयत्न करना होगा वह है वस्तुओं के स्पर्शों से परे ऊर्ध्व-अवस्थित[1] आत्मा की प्रशान्त उच्चता; यह उन स्पर्शों को देखती तथा स्वीकार या अस्वीकार करती है, पर अस्वीकृति की अवस्था में चलायमान नहीं होती और स्वीकृति से वशीकृत नहीं हो जाती। यह अपने-आपको उस प्रशान्त आत्मा किंवा आत्म-तत्त्व के निकट और उससे सम्बद्ध तथा एकमय अनुभव करने लगती है जो स्वयंभू है और प्रकृति के व्यापारों से पृथक् है, पर जो विश्व की गतिचेष्टा से अतीत, शान्त एवं अचल सद्वस्तु का एक अंश रहकर या उसमें निमज्जित होकर उन व्यापारों को आश्रय देता तथा सम्भव बनाता है। उच्च अतिक्रमण के इस काल के फलस्वरूप एक ऐसी आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है जो जागतिक गति की मृदुल हिलोरों अथवा तूफानी तरंगों और लहरों से आन्दोलित और उद्वेलित नहीं होती।

यदि हम आन्तर परिवर्तन की इन दो अवस्थाओं में से किसीमें भी बद्ध या अवरुद्ध हुए बिना इन्हें पार कर सकें, तो हम उस महत्तर दिव्य समता में प्रवेश पा लेंगे जो आध्यात्मिक उत्साह तथा शान्त हर्षविश को धारण करने में समर्थ है और जो पूर्णताप्राप्त आत्मा की एक आनन्दमयी, सब कुछ समझने तथा सब कुछ अधिकृत करनेवाली समता है,—उसकी सत्ता की एक ऐसी प्रगाढ़ तथा सम विशालता एवं परिपूर्णता है जो सब वस्तुओं का आलिंगन करती है। यह सर्वोच्च अवस्था है और इसे प्राप्त करने का पथ भगवान् तथा विश्वजननी के प्रति पूर्ण आत्मदान के हर्ष में से होकर जाता है। कारण, शक्ति तब एक आनन्दपूर्ण प्रभुत्व

[1] या उदासीन।

से सुशोभित होती है, शान्ति सघन होकर आनन्द में परिणत हो जाती है, तब दिव्य स्थिरता की सम्पद् को उन्नीत करके दिव्य गति की सम्पद् का आधार बना दिया जाता है। परन्तु यदि यह महत्तर पूर्णता प्राप्त होनी है तो आत्मा की उस तटस्थ उदासीनता को, जो पदार्थों, व्यक्तियों, गतियों और शक्तियों के प्रवाह पर ऊपर से दृक्पात करती है, परिवर्त्तित होना होगा और दृढ़ तथा शान्त नमन और सबल एवं गंभीर समर्पण के एक नये भाव में परिणत हो जाना होगा। यह नमन तब 'हरि-इच्छा' का नहीं, बल्कि सहर्ष स्वीकृति का भाव होगा; क्योंकि तब दुःख झेलने अथवा भार या कष्ट सहने का भाव तनिक भी नहीं होगा; प्रेम और आनन्द तथा आत्मदान का हर्ष ही इसका उज्ज्वल ताना-बाना होगा। यह समर्पण केवल उस दिव्य संकल्प के प्रति ही नहीं होगा जिसे हम अनुभव और स्वीकार एवं शिरोधार्य करते हैं, वरन् इस संकल्प में निहित उस दिव्य प्रज्ञा के प्रति भी होगा जिसे हम अंगीकार करते हैं और इसके अन्तर्निहित उस दिव्य प्रेम के प्रति भी जिसे हम अनुभव करते और सोल्लास अनुमति प्रदान करते हैं,—यह उस आत्मा किंवा आत्मसत्ता की प्रज्ञा एवं प्रेम के प्रति होगा जो हमारी और सब की परम आत्मा एवं आत्मसत्ता है और जिसके साथ हम मंगलमय एवं परिपूर्ण एकत्व उपलब्ध कर सकते हैं। एकाकिनी शक्ति, शान्ति एवं स्थिरता ज्ञानी की चिन्तनात्मक समता का अन्तिम मंत्र है; परन्तु आत्मा अपने सर्वांग अनुभव में अपने-आपको इस स्वरचित स्थिति से मुक्त कर लेती है और सनातन के अनादि और अनन्त आनन्द के परम सर्वसमालिंगी उल्लास के सागर में अवगाहन करती है। इस प्रकार, अन्त में हम सब स्पर्शों को आनन्दपूर्ण समता से ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उनमें हम उस अक्षय प्रेम तथा आनन्द का संस्पर्श अनुभव करते हैं जो वस्तुओं के अन्तस्तल में सदा-सर्वदा विद्यमान है। विराट् एवं सम हर्षावेश के इस शिखर पर पहुंचने का परम फल यह होता है कि अध्यात्म-सुख तथा असीम आनन्द के प्रथम द्वार खुल जाते हैं और एक ऐसे दिव्य हर्ष की प्राप्ति होती है जो मन और बुद्धि से परे है।

इससे पूर्व कि कामना के नाश तथा आत्मिक समता की प्राप्ति का यह प्रयत्न अपनी चरम पराकाष्ठा एवं सफलता को प्राप्त हो, आध्यात्मिक क्रिया के उस क्रम को पूर्ण कर लेना आवश्यक है जो अहंभाव को जड़ से नष्ट कर डालता है। किन्तु कर्मी के लिये कर्म के अहंकार का त्याग इस परिवर्तन का एक परमावश्यक अंग है। कारण, यद्यपि हमने फलों तथा फलों की कामना का यज्ञ के अधीश्वर के प्रति उत्सर्ग करके राजसिक इच्छा के अहंभाव से नाता तोड़ लिया है फिर भी कर्तृत्व का अहंकार हमने शायद अभीतक बचा रखा है। अभी भी हम इस भाव के वशीभूत हैं कि स्वयं हम ही कर्म के कर्ता हैं, हम ही इसके उद्गम और हम ही अनुमतिदाता हैं। अभी भी हमारी "मैं" ही चुनती और निर्णय करती है, हमारी

"मैं" ही उत्तरदायित्व लेती और निन्दाप्रशंसा अनुभव करती है। इस विभाजक अहंबुद्धि का नितान्त उच्छेद हमारे योग का प्रधान लक्ष्य है। यदि किसी प्रकार के अहं को कुछ समय के लिये हमारे अन्दर बचा ही रहना है तो वह इसका एक रूपमात्र है जो अपनेको रूप ही समझता है और हमारे अन्दर चेतना के सच्चे केंद्र की अभिव्यक्ति या स्थापना होने के साथ ही नष्ट हो जाने के लिये उद्यत रहता है। वह सच्चा केंद्र एकमेवाद्वितीय चेतना का ज्योतिर्मय रूपायण तथा 'एकं सत्' का शुद्ध वाहन एवं यन्त्र होता है। वैश्व शक्ति की वैयक्तिक अभिव्यक्ति एवं क्रिया का आधार होता हुआ वह क्रमशः अपने पीछे हमारे सच्चे अन्तःपुरुष एवं केंद्रीय नित्य पुरुष को अर्थात् 'परम' की एक शाश्वत सत्ता, और परात्पर शक्ति की एक अंशभूत शक्ति को प्रकाशित करता है[1]

यहां, इस गति में भी, जिसके द्वारा आत्मा अहं के प्रच्छन्न आवरण शनैः-शनैः उतार फेंकती है, सुस्पष्ट क्रमों में से गुजरते हुए उन्नति होती है। कारण, केवल कर्मों के फल पर ही ईश्वर का अधिकार हो ऐसी बात नहीं, अपितु हमारे कर्म भी निश्चित रूप से उसीके होने चाहियें; जैसे वह हमारे फलों का स्वामी है वैसे ही वह हमारे कर्म का भी सच्चा स्वामी है। इस बात को केवल चिन्तनात्मक मन से समझ लेना ही हमारे लिये पर्याप्त नहीं है बल्कि यह हमारी समस्त चेतना तथा इच्छाशक्ति के प्रति पूर्णतः सत्य बन जानी चाहिये। साधक को यह केवल सोचना और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि उसे कार्य करते समय, इसके आरम्भ में और इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया में, प्रत्यक्ष रूप से तथा गहराई के साथ यह देखना और अनुभव भी करना होगा कि उसके कर्म उसके अपने बिल्कुल नहीं हैं, वरन् वे उसके द्वारा परम सत्ता से प्रवाहित हो रहे हैं। उसको उस शक्ति, उपस्थिति एवं संकल्पशक्ति से सदा सचेतन रहना होगा जो उसकी व्यक्तिगत प्रकृति के द्वारा कार्य करती है। परन्तु ऐसी वृत्ति धारण करने में भय यह है कि वह अपनी प्रच्छन्न या उदात्तीकृत "मैं" या किसी निम्नतर शक्ति को भ्रान्तिवश ईश्वर समझकर इसकी मांगों को सर्वोच्च आदेशों का स्थान दे देगा। वह इस निम्नतर प्रकृति के सामान्य दांव में फंस जायगा और उच्चतर शक्ति के प्रति अपने कल्पित समर्पण को अपनी इच्छा की, यहां तक कि अपनी कामनाओं एवं आवेशों की परिवर्द्धित एवं असंयत तृप्ति का बहाना बना लेगा। अतः एक महान् सद्हृदयता की आवश्यकता है और इसे केवल अपने सचेतन मन में ही स्थापित करना काफी नहीं है, बल्कि इससे कहीं अधिक अपने उस प्रच्छन्न भाग में भी स्थापित करना आवश्यक है जो गुप्त चेष्टाओं से भरा पड़ा है। कारण वहां, विशेषकर हमारी प्रच्छन्न प्राणिक प्रकृति में, एक ऐसा मायावी और बहुरूपिया उपस्थित है जिसका सुधार करना अत्यन्त दुष्कर है। सुतरां, कामना के उन्मूलन में तथा सभी क्रियाओं एवं सभी घटनाओं के प्रति दृढ़ आत्मिक

[1] अंशः सनातनः; पराप्रकृतिर्जीवभूता।—गीता १५-७; ७-५।

समता में बहुत अधिक उन्नति कर लेने के बाद ही साधक अपने कर्मों का भार पूर्ण रूप से भगवान् को सौंप सकता है। उसे प्रतिक्षण अहंकार के छलों तथा अन्धकार की उन भ्रामक शक्तियों के दांवों पर सजग दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ना होगा जो सदा ही अपने को प्रकाश तथा सत्य के अनन्य स्रोत के रूप में प्रदर्शित करती हैं और जिज्ञासु की आत्मा को बंदी बनाने के लिये दिव्य रूपों का स्वांग रचती हैं।

इसके पश्चात् उसे तुरन्त ही अपनेको साक्षी की स्थिति के प्रति अर्पित करने का अगला कदम उठाना होगा। प्रकृति से पृथक्, निर्वैयक्तिक तथा वीतराग होकर, उसे अपने भीतर काम करती हुई कर्त्री प्रकृति-शक्ति का निरीक्षण करना तथा उसकी क्रिया को समझना होगा। इस पार्थक्य के द्वारा उसे प्रकृति की वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा को पहचानना सीखना होगा, उषा और निशा एवं दिव्यता और अदिव्यता के प्रकृतिकृत सम्मिश्रण को अलग-अलग करके देखना और प्रकृति की उन भीषण शक्तियों एवं सत्ताओं को जानना होगा जो अज्ञानी मानव प्राणी का अपने कार्य के लिये उपयोग करती हैं। गीता कहती है कि विश्वशक्ति (Nature) हमारे अन्दर प्रकृति के त्रिविध गुण—प्रकाश तथा सत् के गुण, आवेश एवं कामना के गुण और अन्धता तथा जड़ता के गुण—के द्वारा कार्य करती है। जिज्ञासु को अपनी प्रकृति के इस राज्य में होनेवाली सब कार्रवाई के तटस्थ तथा विवेचक साक्षी के रूप में इन गुणों की पृथक् तथा सम्मिलित क्रिया में भेद करना सीखना होगा। वैश्व शक्तियों की सूक्ष्म अगोचर प्रणालियों तथा छद्मवेशों के समस्त गोरखधन्धे में उसे अपने अन्दर इनकी क्रियाओं का अनुसंधान करना होगा और इस गड़बड़झाले की प्रत्येक पेचीदगी को समझना होगा। ज्यों-ज्यों वह इस ज्ञान में अग्रसर होगा त्यों-त्यों वह अनुमन्ता बनने में समर्थ होता जायगा और आगे को प्रकृति का मूढ़ यन्त्र नहीं रहेगा। सर्वप्रथम उसे प्रकृति-शक्ति को इस बात के लिये प्रेरित करना होगा कि वह उसके करणों पर अपनी क्रिया करते हुए अपने दो निम्नतर गुणों के व्यापार को अभिभूत करके उन्हें प्रकाश एवं सत् के गुण के वशीभूत कर दे और, तदनन्तर, उसे इस सत्त्वगुण को भी इसके लिये प्रेरित करना होगा कि यह भी अपने को अर्पित करे, ताकि एक उच्चतर दिव्य शक्ति तीनों को ही इनके दिव्य प्रतिफलों में, परम विश्रान्ति और शम, दिव्य ज्ञानदीप्ति और आनन्द तथा नित्य दिव्य बल-क्रिया वा तपस् में रूपान्तरित कर सके। इस साधना तथा परिवर्तन का प्रथम भाग हमारी मानसिक सत्ता की संकल्प-शक्ति के द्वारा सिद्धान्त-रूप में दृढ़तापूर्वक सम्पन्न हो सकता है; परन्तु इसकी पूर्ण सिद्धि तथा परिणामभूत रूपान्तर तो तभी सम्पन्न हो सकते हैं जब गभीरतर अन्तरात्मा प्रकृति पर अपने प्रभुत्वको अधिक दृढ़ करके प्रकृति के शासक के रूप में मनोमय पुरुष का स्थान ग्रहण कर ले। ऐसा हो जाने पर जिज्ञासु केवल अभीप्सा तथा भावना एवं प्रारम्भिक तथा वृद्धिशील आत्मोत्सर्ग

के साथ ही नहीं, अपितु अत्यन्त सबल रूप में यथार्थ एवं सक्रिय आत्मदान के साथ अपने कर्मों का परम इच्छाशक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण करने के लिये तैयार हो जायगा। उसके अपूर्ण मानव-बुद्धिवाले मन के स्थान पर क्रमशः एक आध्यात्मिक और ज्ञानदीप्त मन प्रतिष्ठित होता जायगा और यह भी अन्त में अतिमानसिक सत्य-ज्योति में प्रवेश कर सकेगा। तब वह अस्तव्यस्त एवं अपूर्ण क्रिया करनेवाले तीन गुणों से सम्पन्न अपनी अज्ञानमय प्रकृति के द्वारा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक शान्ति, ज्योति, शक्ति एवं आनन्द की दिव्यतर प्रकृति के द्वारा कर्म करेगा। वह अपने कर्म और भी अज्ञतर भावुक हृदय की प्रेरणा, प्राण-सत्ता की कामना, शरीर के आवेग एवं अन्धप्रवृत्ति तथा अज्ञ मन एवं संकल्प के पारस्परिक मिश्रण के द्वारा नहीं करेगा, बल्कि पहले आध्यात्मीकृत सत्ता एवं प्रकृति के द्वारा और अन्त में अतिमानसिक सत्य-चेतना तथा उसकी परा प्रकृति की दिव्य शक्ति के द्वारा करेगा।

इस प्रकार वे अन्तिम पग उठाये जा सकते हैं जिनसे प्रकृति का पर्दा हट सकता है और जिज्ञासु समस्त सत्ता के स्वामी का साक्षात्कार कर सकता है और उसके सभी कर्म उस परम शक्ति के कर्म में निमज्जित हो सकते हैं जो सदा शुद्ध, सत्य, पूर्ण और आनन्दमय है। इस प्रकार वह अपने कर्मों और कर्मफलों को अतिमानसिक शक्ति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित करके केवल उस सनातन कर्त्ता के एक सचेतन यन्त्र के रूप में कार्य कर सकता है। तब वह अनुमति नहीं देगा, वरन् भगवान् के आदेश को अपने करणों में ग्रहण करके और अतिमानसिक शक्ति के हाथों का यन्त्र बन कर उस आदेश का अनुसरण करेगा। तब वह कर्म नहीं करेगा, बल्कि अतिमानस की निर्निद्र शक्ति को अपने द्वारा कार्य करने देगा। तब वह यह नहीं चाहेगा कि उसकी मानसिक कल्पनाएं चरितार्थ हों तथा उसकी भाविक कामनाएं पूरी हों, बल्कि वह एक ऐसे सर्वशक्तिमान् संकल्प का अनुसरण करेगा और उसमें सहयोग देगा जो सर्ववित् ज्ञान है तथा गुह्य, चमत्कारक एवं अगाध प्रेम है और है सत्ता के नित्य आनन्द का विशाल अतल सागर।

अध्याय १०

प्रकृति के तीन गुण

यदि आत्मा को अपनी सत्ता और कर्मों में स्वतंत्र होना है तो अपरा प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया का अतिक्रम करना उसके लिये अनिवार्य है। इस तथ्यात्मक वैश्व प्रकृति के प्रति सुसमंजस अधीनता किंवा प्रकृति के करणों की शुभ और अविकल कर्म की अवस्था आत्मा के लिये आदर्श नहीं है, उसके लिये तो अधिक अच्छा यह है कि वह ईश्वर तथा उसकी शक्ति के अधीन रहे, पर अपनी प्रकृति की स्वामिनी बने। परम इच्छाशक्ति के माध्यम या वाहन के रूप में उसे अपनी अन्तर्दृष्टि और स्वीकृति या अस्वीकृति के द्वारा यह निर्णय करना होगा कि प्रकृति ने मन-प्राण-शरीररूपी प्राकृतिक करणों की चेष्टा के लिये जो शक्ति-भंडार, पारिपार्श्विक अवस्थाएं तथा सम्मिलित गति के लयताल प्रदान किये हैं उनका क्या प्रयोग किया जायगा। परन्तु इस निम्नतर प्रकृति पर प्रभुत्व केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है यदि इसे पार करके इसका प्रयोग ऊपर से किया जाय। ऐसा तभी किया जा सकता है यदि हम इसकी कर्मसम्बन्धी शक्तियों और गुणों एवं अवस्थाओं को अतिक्रान्त कर जायें; अन्यथा हम इसकी अवस्थाओं के ही अधीन रहेंगे और विवश होकर इसके द्वारा शासित होते रहेंगे, इस तरह हम आत्मा में स्वतन्त्र नहीं होंगे।

प्रकृति की तीन मूल अवस्थाओं का विचार प्राचीन भारतीय मनीषियों की उपज है और इसकी सत्यता हमारे सामने सहज ही स्पष्ट नहीं होती, क्योंकि यह उनके सुदीर्घ अध्यात्मविषयक परीक्षण तथा गभीर आन्तर अनुभूति का परिणाम था। अतएव, सुदीर्घ आन्तर अनुभव तथा अन्तरंग आत्म-निरीक्षण के बिना और प्रकृति-शक्तियों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त किये बिना इसे ठीक-ठीक समझना या दृढ़ता से उपयोग में लाना कठिन है। तथापि कुछ मोटे निर्देश कर्म-मार्ग पर आरूढ़ जिज्ञासु के लिये अपनी प्रकृति के अनेकविध शक्ति-संयोगों को समझने, विश्लेषण करने तथा उन्हें अपनी स्वीकृति या निषेध से नियन्त्रित करने में सहायक हो सकते हैं। प्रकृति की मूल अवस्थाओं को भारतीय पुस्तकों में गुण कहा गया है और इन्हें सत्त्व, रज और तम के नाम दिये गये हैं। सत्त्व सन्तुलन की शक्ति है और गुण के रूप में यह सत्, सामंजस्य, सुख और प्रकाश कहलाता है; रज गति की शक्ति है और गुण के रूप में यह संघर्ष, प्रयत्न, आवेश तथा कर्म कहलाता है; तम अचेतना एवं जड़ता की शक्ति है और गुण के रूप में यह अन्धता, अक्षमता तथा निष्क्रियता कहलाता है। ये विशेष लक्षण अध्यात्मविषयक आत्मविश्लेषण के लिये प्रायः ही प्रयुक्त होते हैं और भौतिक प्रकृति में भी ये ठीक घटते हैं। अपरा प्रकृति

की एक-एक वस्तु और हरेक सत्ता में ये निहित हैं और प्रकृति की कार्यप्रणाली तथा इसका गतिशील रूप इन गुणात्मक शक्तियों की परस्पर-क्रिया के ही परिणाम हैं।

चेतन या अचेतन सभी वस्तुओं का प्रत्येक रूप क्रियारत प्राकृतिक शक्तियों का एक स्थिरतापूर्वक रक्षित सन्तुलन होता है। यह उन सहायक, बाधक या विनाशक सम्पर्कों के अन्तहीन प्रवाह के अधीन होता है जो इसे अपने चारों ओर की शक्तियों के अन्य संयोगों से प्राप्त होते हैं। हमारी अपनी मन-प्राण-शरीररूपी प्रकृति भी इस प्रकार के रचनाकारी शक्ति-संयोग या त्रिगुण-संयोग तथा सन्तुलन के सिवा और कुछ नहीं है। पारिपार्श्विक स्पर्शों के ग्रहण तथा उनके प्रति प्रतिक्रिया में ये तीन गुण ग्रहीता का स्वभाव तथा प्रत्युत्तर का स्वरूप निर्धारित करते हैं। जड़ तथा अशक्त रहकर वह किसी प्रत्युत्तर-स्वरूप प्रतिक्रिया, आत्म-रक्षा की किसी चेष्टा, अथवा आत्मसात् करने एवं अनुकूल बनाने की किसी भी क्षमता के बिना उन स्पर्शों को झेल सकता है; यह तमोगुण है, जड़ता की रीति है। तम के लक्षण हैं—अन्धता, अचेतनता, अक्षमता और निर्बुद्धिता, प्रमाद, आलस्य, निष्क्रियता और यान्त्रिक पुनरावर्तिता, मन की जड़ता, प्राण की मूर्च्छा और आत्मा की निद्रा। इसका प्रभाव, यदि उसे अन्य तत्त्वों के द्वारा सुधारा न जाय तो, इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता कि प्रकृति का वह रूप या सन्तुलन विघटित हो जायगा और उसके स्थान पर न कोई नया रूप उत्पन्न होगा और न कोई नया सन्तुलन या क्रियाशील विकास की कोई नयी शक्ति ही उत्पन्न होगी। इस जड़ अशक्तता के मूल में निहित है अज्ञान का तत्त्व तथा पारिपार्श्विक शक्तियों के उत्तेजक या आक्रामक स्पर्श एवं उनके सुझाव को तथा नूतन अनुभव के लिये उनकी प्रेरणा को समझने और आयत्त एवं प्रयुक्त करने की अयोग्यता या प्रमादपूर्ण अनिच्छा।

दूसरी ओर, प्रकृति के स्पर्शों का ग्रहीता उसकी शक्तियों से संस्पृष्ट तथा उत्तेजित, पीड़ित वा आक्रान्त होकर दबाव के अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी कर सकता है। प्रकृति उसे प्रयत्न, प्रतिरोध एवं प्रयास करने, अपनी परिस्थिति को अधिकृत या स्वांगीकृत तथा अपनी इच्छाशक्ति को स्थापित करने और युद्ध, निर्माण एवं विजय करने के लिये स्वीकृति, प्रोत्साहन तथा प्रेरणा देती है। यह रजोगुण है, आवेश, कर्म और कामना की तृष्णा की रीति है। संघर्ष, परिवर्तन और नवसर्जन, विजय और पराजय, हर्ष और शोक तथा आशा और निराशा इसकी सन्तानें हैं और ये इसका ऐसा चित्र-विचित्र जीवन-सदन निर्मित करती हैं जिसमें यह मौज मनाता है। परन्तु इसका ज्ञान अपूर्ण या मिथ्या ज्ञान होता है जो अपने साथ अज्ञानयुक्त प्रयत्न, भूल-भ्रान्ति, अनवरत कुसामंजस्य, आसक्ति का कष्ट, हताश कामना, और हानि एवं असफलता का दुःख लाता है। रजोगुण की देन है गतिशील बल, स्फूर्त्ति, कर्मण्यता तथा ऐसी शक्ति जो सर्जन एवं कर्म करती है और विजय कर सकती

है। किन्तु यह रजोगुण अविद्या के मिथ्या प्रकाशों या अर्द्धप्रकाशों में विचरण करता है और असुर, राक्षस तथा पिशाच के स्पर्श से कलुषित होता है। मानव-मन का उद्धत ज्ञान और उसके निज-सन्तुष्ट विकार एवं धृष्ट भ्रान्तियां; मद, अहंकार और महत्त्वाकांक्षा; क्रूरता, अत्याचार, पाशविक क्रोध और उग्रता; स्वार्थ, क्षुद्रता, छल-कपट और निकृष्ट नीचता; ईर्ष्या, असूया एवं अथाह कृतघ्नता और काम, लोभ, लूट-मार एवं बलापहार जो पृथ्वी-प्रकृति को विकृत करते हैं, इस अनिवार्य किन्तु उग्र एवं भयानक प्रकृति-वृत्ति की स्वाभाविक सन्तानें हैं।

परन्तु देहधारी जीव प्रकृति के इन दो गुणों से ही बंधा हुआ नहीं है; एक इनसे अच्छा और अधिक प्रकाशयुक्त ढंग भी है जिससे वह अपने चारों ओर के सम्पर्कों और जगत्-शक्तियों के प्रवाह के साथ व्यवहार कर सकता है। इन सम्पर्कों और शक्तियों को वह स्पष्ट समझ, समस्थिति एवं सन्तुलन के साथ भी ग्रहण कर सकता है और इनकी ओर प्रतिक्रिया कर सकता है। प्राकृतिक जीव की इस व्यवहार-शैली में एक ऐसी शक्ति है जो समझ से युक्त होने के कारण सहानुभूति प्रकाशित करती है; यह प्रकृति की प्रेरणा और उसकी विधियों की थाह लेती है और उन्हें अधिकृत तथा विकसित करती है। इसमें एक ऐसी बुद्धि है जो प्रकृति की कार्य-प्रणालियों तथा उसके आशयों की तह में जाती है और उन्हें आत्मसात् करके उपयोग में ला सकती है। इसमें एक ऐसी प्रसन्न प्रतिक्रिया होती है जो अभिभूत नहीं होती किन्तु मेल साधती है, सुधारती एवं समस्वर करती है तथा सभी वस्तुओं में से सार निकाल लेती है। यह सत्त्वगुण है, अर्थात् प्रकृति की वह वृत्ति है जो प्रकाश और सन्तुलन से पूर्ण है, सत्, ज्ञान, आनन्द, सौन्दर्य तथा सुख और ठीक समझ, ठीक सन्तुलन एवं ठीक व्यवस्था के लक्ष्य की ओर अभिमुख है। इसका स्वभाव है ज्ञान की उज्ज्वल विशदता का ऐश्वर्य और सहानुभूति एवं अन्तरंगता का ज्वलन्त उत्साह। सूक्ष्मता और ज्ञानदीप्ति, संयमित शक्ति, समस्त सत्ता की पूर्ण समस्वरता एवं समतोलता सात्त्विक प्रकृति की सर्वोच्च उपलब्धि है।

कोई भी सत्ता वैश्व शक्ति के इन गुणों में से पूरी तरह किसी एक के ही न्यारे सांचे में ढली हुई नहीं है; हर एक में और हर जगह तीनों के तीनों विद्यमान हैं। इनके परिवर्तनशील सम्बन्धों तथा परस्पर-संचारी प्रभावों का सतत संयोजन और वियोजन होता रहता है, बहुधा शक्तियों का संघट्ट तथा मल्लयुद्ध एवं एक-दूसरी पर प्रभुता करने के लिये संघर्ष भी चलता रहता है। सभी के अन्दर कम या अधिक अंश या मात्रा में सात्त्विक वृत्तियां होती हैं, भले ही किसी-किसी में ये अलक्ष्य-सी न्यूनतम मात्रा में ही क्यों न हों; सभी में प्रकाश, निर्मलता एवं प्रसन्नता की स्पष्ट सरणियां या अविकसित प्रवृत्तियां, परिस्थिति के साथ सूक्ष्म अनुकूलीकरण और सहानुभूति, बुद्धि, समतोलता, यथार्थ विचार, यथार्थ संकल्प और भाव, यथार्थ आवेग, सद्गुण और नियम-क्रम देखने में आते हैं। सभी में राजसिक

वृत्तियां भी होती हैं, सभी में आवेग, कामना, आवेश और संघर्षवाले मलिन अंग, विकार, असत्य एवं भ्रान्ति और असन्तुलित हर्ष एवं शोक दृष्टिगोचर होते हैं और सभी में कर्म एवं उत्सुक सर्जन की उग्र प्रेरणा, और परिस्थिति के दबाव तथा जीवन के आक्रमणों एवं प्रस्तावों के प्रति प्रबल या साहसपूर्ण अथवा प्रचंड या भयानक प्रतिक्रियाएं भी दिखायी देती हैं। सभी में तामसिक वृत्तियां भी होती हैं, सभी में स्थिर अन्धकारमय भाग, अचेतनता के क्षण या स्थल, दुर्बल सहिष्णुता या जड़ स्वीकृति का चिररूढ़ स्वभाव या इसके प्रति अस्थायी रुचि, प्रकृतिगत दुर्बलताएं या क्लान्ति, प्रमाद और आलस्य की गतियां देखने में आती हैं, अज्ञान एवं अशक्तता में पतन, विषाद, भय और भीरुतापूर्ण जुगुप्सा अथवा परिस्थितियों के प्रति और मनुष्यों, घटनाओं एवं शक्तियों के दबाव के प्रति अधीनता भी सभी के अन्दर पायी जाती है। हम सभी अपनी प्राकृतिक शक्ति की कुछ दिशाओं में अथवा अपने मन या स्वभाव के कई भागों में सात्त्विक हैं, कुछ दूसरी दिशाओं में राजसिक और कई अन्य दिशाओं में तामसिक भी हैं। किसी मनुष्य के सामान्य स्वभाव और विशिष्ट मन तथा कर्मधारा में इन गुणों में से जो कोई भी साधारणतया प्रबल होता है उसीके अनुसार उस मनुष्य के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह सात्त्विक, राजसिक या तामसिक है। परन्तु ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो सदा एक ही प्रकार के हों और अपने प्रकार में विशुद्ध तो कोई भी नहीं होता। ज्ञानी सदा या पूर्णतया ज्ञानी नहीं होते, बुद्धिमान् केवल खंडशः ही बुद्धिमान् होते हैं; साधु अपने अन्दर अनेक असाधु चेष्टाएं दबाये रखता है और दुष्ट निरे दुष्ट ही नहीं होते। जड़-से-जड़ मनुष्य में भी अप्रकट अथवा अप्रयुक्त एवं अविकसित क्षमताएं होती हैं। अत्यन्त भीरु व्यक्ति भी किसी-किसी समय अपना जौहर दिखाता है अथवा उसका भी एक साहसी रूप होता है, असहाय और दुर्बल की प्रकृति में भी शक्ति का एक प्रसुप्त स्रोत होता है। सत्त्व आदि प्रधान गुण देहधारी जीव के मूल आत्मिक प्रतिरूप नहीं होते, वरन् उस रचना के चिह्नमात्र होते हैं जो रचना जीव अपने इस जीवन के लिये या अपने वर्तमान सत्ता-काल में अपने विकास के किसी विशिष्ट क्षण में निर्मित करता है।

*

जब एक बार साधक अपने भीतर या अपने पर होनेवाली प्रकृति की क्रिया से तटस्थ हो जाता है और उसमें हस्तक्षेप अथवा उसका सुधार या निषेध एवं चुनाव या निर्णय न करते हुए उसकी क्रीड़ा को होने देता है और जब वह उसकी कार्य-पद्धति का विश्लेषण एवं निरीक्षण कर लेता है, तब वह शीघ्र ही जान जाता है कि प्रकृति के गुण स्वाश्रित हैं और वे वैसे ही कार्य करते हैं जैसे एक बार

चलाकर काम में लगायी हुई मशीन अपनी ही रचना तथा संचालक शक्तियों के द्वारा कार्य करती रहती है। शक्ति और संचालन का स्रोत प्रकृति है, प्राणी नहीं। तब उसे अनुभव हो जाता है कि मेरा यह संस्कार कैसा अशुद्ध था कि मेरा मन मेरे कार्यों का कर्त्ता है; मेरा मन तो मेरा एक छोटा-सा अंश तथा प्रकृति की रचना एवं इंजनमात्र है। वास्तव में प्रकृति ही अपने तीन सार्वभौम गुणों को इस प्रकार घुमाती हुई, जिस प्रकार कोई लड़की अपनी पुतलियों से खेलती हो, अपने गुणों द्वारा बराबर कार्य कर रही है। उसका 'अहं' सदैव एक यन्त्र तथा खिलौनामात्र होता है; उसका चरित्र और बुद्धि, उसके नैतिक गुण और मानसिक शक्तियां, उसकी कृतियां और कर्म एवं पराक्रम, उसका क्रोध और सहिष्णुता, उसकी क्रूरता और करुणा, उसका प्रेम और उसकी घृणा, उसका पाप और पुण्य, उसका प्रकाश और अन्धकार तथा हर्षविश एवं शोकोच्छ्वास प्रकृति की क्रीड़ामात्र हैं जिसे आत्मा आकृष्ट, विजित तथा वशीकृत होकर अपनी निष्क्रिय सहमति दे देती है। तथापि प्रकृति या शक्ति का नियन्तृत्व ही सब कुछ नहीं है, इस विषय में आत्मा की बात भी सुनी जाती है, उसकी भी चलती है,—किन्तु चलती है गुप्त आत्मा की या पुरुष की, न कि मन वा अहंकार की, क्योंकि ये स्वतन्त्र सत्ताएं नहीं, वरन् प्रकृति के ही भाग हैं। आत्मा की अनुमति क्रीड़ा के लिये अपेक्षित है और अनुमति के ईश तथा प्रदाता के रूप में वह आन्तर मौन संकल्प के द्वारा क्रीड़ा का नियम निर्धारित कर सकती है तथा अपने त्रिगुण-संयोगों में हस्तक्षेप कर सकती है, यद्यपि विचार एवं संकल्प और कर्म एवं आवेग में क्रियान्वित करना तब भी प्रकृति का ही कार्य तथा अधिकार रहता है। पुरुष प्रकृति को किसी सामंजस्य के साधित करने के लिये आदेश दे सकता है, पर इसके लिये वह उसके व्यापारों में हस्तक्षेप नहीं करता, बल्कि उसपर एक सचेतन दृष्टि डालता है, जिसे वह तुरन्त या बहुत कठिनाई के बाद एक प्रतिरूपक विचार और क्रियाशील प्रेरणा एवं अर्थपूर्ण प्रतिमा में रूपान्तरित कर देती है।

यह सर्वथा प्रत्यक्ष ही है कि यदि हमें अपनी वर्तमान प्रकृति का दिव्य चेतना के मूर्त्त बल में तथा उसकी शक्तियों के यन्त्र में रूपान्तर करना है तो दो निम्न गुणों की क्रिया से छुटकारा पाना अनिवार्य है। तम दिव्य ज्ञान के प्रकाश को धुंधला कर देता है तथा उसे हमारी प्रकृति के अंधेरे और मलिन कोनों में प्रवेश नहीं करने देता। यह हमें निःशक्त कर देता है और दैवी आवेग का उत्तर देने की हमारी शक्ति, अपनेको परिवर्तित करने का हमारा बल और प्रगति करने एवं अपनेको महत्तर शक्ति के प्रति नम्य बनाने का हमारा संकल्प हर लेता है। रज ज्ञान को विकृत कर डालता है, हमारी बुद्धि को असत्य की सहायिका तथा प्रत्येक अशुभ चेष्टा की उत्तेजिका बना देता है, हमारी प्राण-शक्ति तथा इसके आवेगों को भड़काता और उलझाता है तथा शरीर का सन्तुलन एवं स्वास्थ्य उलट देता है। यह

सब अभिजात विचारों तथा उच्चस्थ गतियों पर अधिकार कर लेता है और उनका मिथ्या तथा अहंकारमय उपयोग करता है। यहांतक कि दिव्य सत्य और दिव्य प्रभाव भी जब वे पार्थिव स्तर पर अवतरित होते हैं, इस दुरुपयोग और आक्रमण से नहीं बच सकते। जबतक तम आलोकित और रज रूपान्तरित नहीं हो जाता, तबतक कोई दिव्य परिवर्तन या दिव्य जीवन सम्भव नहीं हो सकता।

अतएव, ऐसा प्रतीत होगा कि सत्त्व का ऐकान्तिक अवलंबन ही उद्धार का उपाय है; किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि कोई भी गुण अपने दो संगियों एवं प्रतिस्पर्धियों के विरोध में अकेला विजयी नहीं हो सकता। यदि हम कामना एवं आवेश के गुण को कष्ट-क्लेश और पाप-ताप आदि विकारों का कारण समझकर इसे शान्त तथा वशीभूत करने की चेष्टा और प्रयास करें, तो रज दब जाता है, किन्तु तम उभड़ आता है। सक्रियता का तत्त्व शिथिल पड़ जाने से जड़ता उसका स्थान ले लेती है। प्रकाश का तत्त्व हमें सुस्थिर शान्ति, सुख, ज्ञान, प्रेम और शुद्ध भाव प्रदान कर सकता है, परन्तु यदि रज अनुपस्थित हो या नितान्त दमित हो, तो आत्मा की शान्ति अकर्मण्यता की निश्चलता बनती चली जाती है न कि सक्रिय रूपान्तर की दृढ़ भित्ति। निष्प्रभाव रूप में यथार्थ चिन्तन एवं यथार्थ कर्म करती हुई साधु, सौम्य और ऋजु प्रकृति अपने क्रियाशील अंगों में सत्त्व-तामसिक, उदासीन, निस्तेज, असर्जनक्षम या बलशून्य हो सकती है। मानसिक और नैतिक अन्धकार का इसमें अभाव हो सकता है, परन्तु साथ ही कर्म के सबल स्रोत भी सूख जा सकते हैं। इस प्रकार यह भी एक अवरोधक सीमा होती है और साथ ही एक और प्रकार की अक्षमता भी। कारण, तमस् एक दुहरा तत्त्व है; जहां यह रज का निष्क्रियता के द्वारा विरोध करता है वहां यह सत्त्व का भी संकीर्णता, अन्धकार और अज्ञान के द्वारा विरोध करता है और यदि इनमें से कोई अवसन्न हो जाता है तो यह उसका स्थान लेने के लिये घुस आता है।

यदि हम यह भूल सुधारने के लिये रज को पुनः आमंत्रित करते हैं तथा इसे सत्त्व से गठबंधन करने देते हैं और इनके सम्मिलित प्रभाव से अन्धकारमय तत्त्व से छुटकारा पाने का पुरुषार्थ करते हैं, तो हम देखते हैं कि हमारे कर्म का स्तर तो ऊंचा हो जाता है, किन्तु राजसिक उत्सुकता, लालसा, निराशा, तथा दुःख और रोष के प्रति वश्यता फिर भी बनी रहती है। हो सकता है कि ये गतियां अपने क्षेत्र एवं अपनी भावना तथा क्रिया में पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत हो जायें, पर जो शान्ति, स्वतन्त्रता, शक्ति और आत्म-प्रभुता हम प्राप्त करना चाहते हैं वे ये नहीं हैं। जहां-जहां कामना और अहंभाव रहते हैं, वहां-वहां आवेग और विक्षोभ भी उनके साथ रहते ही हैं और उनके जीवन में भाग लेते हैं। यदि हम तीनों गुणों में इस प्रकार का समझौता कराना चाहें कि सत्त्व प्रधान बनकर रहे और अन्य दोनों इसके अधीन रहें तो भी हम प्रकृति के खेल की एक अधिक संयत क्रिया पर ही

पहुंचेंगे। एक नया सन्तुलन तो हमें प्राप्त हो जायगा, किन्तु आध्यात्मिक स्वातंत्र्य और प्रभुत्व कहीं दिखायी नहीं देंगे अथवा ये अभी केवल एक सुदूर सम्भावना ही रहेंगे।

एक अन्य मूलतः भिन्न प्रकार की गति हमें गुणों से पीछे हटाकर तथा पृथक् करके अन्तर की ओर ले जायगी और इनसे ऊपर उठायेगी। जो भ्रान्ति प्रकृति के गुणों के व्यापार को स्वीकृति देती है उसे समाप्त होना होगा; क्योंकि जबतक इसे स्वीकृति दी जाती है, तबतक आत्मा इनकी क्रियाओं में आबद्ध और इनके नियम के अधीन ही होती है। रज और तम के समान ही सत्त्व को भी पार करना होगा, सोने की जंजीर भी वैसे ही तोड़ फेंकनी होगी जैसे भारी-भरकम बेड़ियां तथा मिश्र धातुओं के बन्धनभूत भूषण। गीता इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आत्म-साधना की एक नयी विधि बतलाती है। वह है गुणों की क्रिया से पीछे हटकर अपने अन्दर स्थित होना तथा प्रकृति की शक्तियों की तरंग के ऊपर विराजमान साक्षी की भांति इस अस्थिर प्रवाह का निरीक्षण करना। साक्षी वह है जो देखता है पर तटस्थ एवं उदासीन रहता है, गुणों के निज स्तर पर उनसे पृथक् तथा अपनी स्वाभाविक स्थिति में उनसे ऊपर उच्चासीन होता है। जब वे अपनी तरंगों के रूप में उठते-गिरते हैं, तब साक्षी उनकी गतिविधि देखता है, इसका निरीक्षण करता है, परन्तु न तो वह इसे स्वीकार करता है न इसमें क्षणभर भी हस्तक्षेप करता है। सबसे पहले निर्वैयक्तिक साक्षी की स्वतन्त्रता प्राप्त होना आवश्यक है; तदनन्तर स्वामी या ईश्वर का प्रभुत्व स्थापित हो सकता है।

*

अनासक्ति की इस प्रक्रिया का प्रारम्भिक लाभ यह होता है कि व्यक्ति अपनी निज प्रकृति तथा सर्वजनीन विश्वप्रकृति को समझने लगता है। अनासक्त साक्षी अहंकार से लेशमात्र भी अन्ध हुए बिना प्रकृति की अविद्यामय शैलियों की क्रीड़ा को पूर्ण रूप से देख सकता है तथा उसकी सब शाखा-प्रशाखाएं, आवरण एवं सूक्ष्मताएं छान मारने में समर्थ होता है—क्योंकि यह नकली रूप तथा छद्मवेश और जालबन्दी, धोखेबाजी तथा छल-चातुरी से भरी हुई है। दीर्घ अनुभव से सीखा हुआ, सभी कार्यों एवं अवस्थाओं को गुणों की परस्पर-क्रिया समझता हुआ, इनकी कार्यशैलियों से भिज्ञ होता हुआ वह आगे को इनके आक्रमणों से परास्त नहीं हो सकता, इनके फन्दों में एकाएक फंस नहीं सकता अथवा इनके स्वांगों के धोखे में नहीं आ सकता। साथ ही वह देखता है कि अहं यथार्थ में इससे अधिक कुछ नहीं है कि वह एक युक्ति है तथा इनकी परस्पर-क्रिया की धारक ग्रंथि है और, यह जानकर, वह निम्न अहंकारमय प्रकृति की माया से मुक्त हो जाता है। वह परोपकारी और मुनि एवं मनीषी के सात्त्विक अहंकार से छूट जाता है; वह

स्वार्थसेवी के राजसिक अहंकार को भी उस अधिकार से च्युत कर देता है जो इसने उसके प्राणावेगों पर जमा रखा है। अब वह निज स्वार्थ का परिश्रमी पोषक तथा आवेश एवं कामना का पला हुआ कैदी या अतिश्रम करनेवाला दंडित दास नहीं रहता। अज्ञानमय या निष्क्रिय, जड़ एवं बुद्धिहीन, तथा मानवजीवन के साधारण चक्र में फंसी हुई सत्ता के तामसिक अहंकार को वह अपनी ज्ञान-ज्योति से छिन्न-भिन्न कर देता है। इस प्रकार हमारे समस्त वैयक्तिक कर्म में अहंभाव-रूपी मूल दोष का अस्तित्व निश्चित रूप से स्वीकार कर तथा इससे सचेतन होकर वह आगे से राजसिक या सात्त्विक अहंकार में आत्म-सुधार या आत्म-उद्धार का उपाय ढूंढ़ने की चेष्टा नहीं करता बल्कि इनसे ऊपर एवं प्रकृति के करणों तथा कार्यप्रणाली से परे केवल सर्वकर्म-महेश्वर तथा उसकी परम शक्ति वा परा प्रकृति की ओर ही उन्मुख होता है। केवल वहीं समस्त सत्ता शुद्ध और मुक्त है और वहीं दिव्य सत्य का शासन सम्भव है।

इस प्रगति में पहला कदम है प्रकृति के तीन गुणों से एक विशेष प्रकार की निर्लिप्त उत्कृष्टता। आत्मा निम्न प्रकृति से अन्तरतः पृथक् तथा स्वतन्त्र होती है, इसके घेरों में फंसी हुई नहीं होती, इसके उर्ध्व में उदासीन और प्रसन्न भाव में स्थित रहती है। प्रकृति अपने पुराने अभ्यासों के त्रिविध चक्र में कार्य करती रहती है,—कामना और हर्ष-शोक हृदय को आ घेरते हैं, सब करणोपकरण अकर्मण्यता, जड़ता एवं खिन्नता के गर्त में जा गिरते हैं, प्रकाश और शान्ति हृदय, मन तथा शरीर में फिर लौट आते हैं। किन्तु आत्मा इन परिवर्तनों से परिवर्तित और प्रभावित नहीं होती। निम्न अंगों की वेदना तथा कामना का निरीक्षण करेती हुई पर उनसे अचलायमान, उनके हर्षों और आयासों पर मुस्कराती हुई, विचार की भ्रान्तियों तथा धूमिलताओं को और हृदय तथा स्नायुओं की उच्छृंखलता एवं दुर्बलताओं को समझती हुई पर उनसे पराभूत न होती हुई, प्रकाश एवं प्रसन्नता के लौटने पर मन के अन्दर उत्पन्न ज्ञान-आलोक तथा सुख-आराम से और उसके विश्राम एवं बल-सामर्थ्य के अनुभव से मोहित तथा इसमें आसक्त न होती हुई आत्मा अपनेको इनमेंसे किसी भी चीज में झोंकती नहीं, किन्तु अविचलित रहकर उच्चतर इच्छाशक्ति के निर्देशों तथा महत्तर एवं प्रकाशपूर्ण ज्ञान की स्फुरणाओं की प्रतीक्षा करती है। सदा ऐसा ही करती हुई यह अपने सक्रिय अंगों में भी तीन गुणों के संघर्ष तथा इनकी अपर्याप्त उपयोगिताओं एवं अवरोधक सीमाओं से अन्तिम रूप में मुक्त हो जाती है। कारण, अब यह निम्नतर प्रकृति अपने-आपको उत्तरोत्तर एक उच्चतर शक्ति के द्वारा प्रबल रूप से प्रेरित अनुभव करती है। पुराने अभ्यासों को, जिनसे यह चिपटी हुई थी, अब और स्वीकृति नहीं मिलती और वे अपनी बहुलता को एवं पुनरावर्तन की शक्ति को लगातार खोने लगते हैं। अन्त में यह इस बात को समझ जाती है कि इसे एक उच्चतर कार्य और श्रेष्ठतर अवस्था के लिये

आवाहन प्राप्त हुआ है और चाहे कितनी भी धीमे क्यों न हो, चाहे कितनी भी अनिच्छा के साथ और किसी भी आरम्भिक या लंबी दुर्भावना एवं स्खलनशील अज्ञान के साथ ही क्यों न हो, यह अपनेको परिवर्तन के लिये प्रस्तुत, अभिमुख और तैयार करने लगती है।

साक्षी और ज्ञाता की भी अवस्था से अतीत हमारी आत्मा की स्थितिशील स्वतन्त्रता का परम उत्कर्ष होता है प्रकृति का सक्रिय रूपान्तर। हमारे तीन करणों अर्थात् मन, प्राण, शरीर में एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए तीन गुणों का सतत मिश्रण एवं विषम व्यापार तब और अपनी साधारण, अव्यवस्थित, विक्षुब्ध तथा अशुद्ध क्रिया और गति नहीं करता। तब एक और प्रकार की क्रिया करना सम्भव हो जाता है जो आरम्भ होती, बढ़ती तथा पराकाष्ठा को पहुंचती है,— एक ऐसी क्रिया जो अधिक सच्चे रूप में शुद्ध तथा अधिक प्रकाशयुक्त होती है और पुरुष और प्रकृति की गंभीरतम दिव्य परस्पर-लीला के लिये तो सहज एवं स्वाभाविक, किन्तु हमारी वर्तमान अपूर्ण प्रकृति के लिये असाधारण एवं अलौकिक होती है। स्थूल मन को सीमाओं में बांधनेवाला शरीर तब और उस तामसिक जड़ता पर आग्रह नहीं करता जो सदा एक ही अज्ञानमय चेष्टा को दुहराती रहती है। यह एक महत्तर शक्ति और ज्योति का निष्पतिरोध क्षेत्र और यन्त्र बन जाता है, यह आत्मा की शक्ति की प्रत्येक मांग का उत्तर देता है और प्रत्येक प्रकार के नये दिव्य अनुभव और उसकी तीव्रता को आश्रय देता है। हमारी सत्ता के गतिशील और सक्रिय प्राणिक भाग, हमारे स्नायविक, भाविक, सांवेदनिक और संकल्पात्मक भाग अपनी शक्ति में विस्तृत हो जाते हैं और अनुभव के आनन्दपूर्ण उपभोग तथा अश्रान्त कार्य के लिये अवकाश प्रदान करते हैं। पर साथ ही ये एक ऐसी विशाल, धीर-स्थिर और सन्तुलित शान्ति की आधार-शिला पर स्थित और सन्तुलित होना भी सीख जाते हैं जो शक्ति में अत्युच्च और विश्रान्ति में दिव्य है, जो न हर्षित होती है न उत्तेजित और न दुःख एवं वेदना से पीड़ित, न कामना और हठीले आवेगों से व्याकुल होती है और न ही निर्बलता और अकर्मण्यता से हतोत्साह। बुद्धि किंवा चिन्तनात्मक, बोधग्राही और विचारशील मन अपनी सात्त्विक सीमाएं त्यागकर सारभूत ज्योति और शान्ति की ओर खुल जाता है। एक अनन्त ज्ञान हमारे सामने अपने उज्ज्वल क्षेत्र प्रस्तुत करता है। एक ज्ञान जो मानसिक रचनाओं से गठित तथा सम्मति एवं धारणा से बद्ध नहीं होता, न स्खलनशील संदिग्ध तर्क एवं इन्द्रियों के तुच्छ अवलंब पर ही निर्भर करता है, बल्कि सुनिश्चित, यथार्थ, सर्वस्पर्शी और सर्वग्राही होता है, एक अपार शान्ति और आनन्द जो सर्जनशील शक्ति और वेगमय कर्म के कुंठित आयास से मुक्ति की प्राप्ति पर निर्भर नहीं करते और न कुछ-एक सीमित सुखों से ही निर्मित होते हैं, बल्कि स्वयंसत् और सर्वसंग्राहक होते हैं,—ये सब हमारी सत्ता को अधिकृत करने के लिये उत्तरोत्तर-व्यापक क्षेत्रों में

और नित्य-विस्तारशील एवं सदा अधिकाधिक मार्गों के द्वारा प्रवाहित होते हैं। एक उच्चतर शक्ति, आनन्द और ज्ञान मन, प्राण तथा शरीर से परे के किसी स्रोत से प्रकट होकर नये सिरे से इनका दिव्यतर रूप गढ़ने के लिये इन पर अधिकार कर लेते हैं।

यहां हमारी निम्न सत्ता के त्रिविध गुण के विरोध-वैषम्य पार हो जाते हैं और दिव्य विश्व-प्रकृति का महत्तर त्रिविध गुण प्रारम्भ होता है। यहां तम या जड़ता की अन्धता का नाम-निशान नहीं। तम का स्थान ले लेता है दिव्य शम एवं प्रशान्त शाश्वत विश्राम जिसमें से कर्म तथा ज्ञान की लीला इस प्रकार आविर्भूत होती है मानों निश्चल एकाग्रता के परम गर्भ से आविर्भूत हो रही हो। यहां कोई राजसिक गति एवं कामना नहीं होती, न कर्म, सर्जन तथा धारण का कोई हर्ष-शोकमय प्रयास ही होता है और न विक्षुब्ध आवेग की कोई सार्थक उथल-पुथल। रज का स्थान ग्रहण करती है धीर-स्थिर शक्ति एवं असीम बल-क्रिया जो अपनी अत्यन्त प्रचंड तीव्रताओं में भी आत्मा की अचल समस्थिति को उद्वेलित नहीं करती और न ही इसकी शान्ति के विशाल गहन व्योमों तथा प्रकाशमान अथाह गह्वरों को कलुषित करती है। सत्य को निगृहीत तथा आबद्ध करने के लिये चतुर्दिक् खोजते फिरते हुए मन के निर्माणकारी प्रकाश का यहां अस्तित्व नहीं, चिन्ताकुल या निश्चेष्ट विश्राम का यहां नाम नहीं। सत्त्व के स्थान पर प्रतिष्ठित होता है प्रकाश तथा आध्यात्मिक आनन्द जो आत्मा की गभीरता एवं अनन्त सत्ता से एकीभूत है और सीधे गुह्य सर्वज्ञता के प्रच्छन्न तेजःपुंज से निःसृत होनेवाले प्रत्यक्ष एवं सत्य ज्ञान से अनुप्राणित है। यह वह महत्तर चेतना है जिसमें हमें अपनी निम्न चेतना को रूपान्तरित करना है, त्रिगुण की क्षुब्ध एवं असन्तुलित क्रिया से युक्त इस अज्ञानमय प्रकृति को हमें इस महत्तर ज्योतिर्मय परा प्रकृति में परिवर्तित करना है। सर्वप्रथम हम त्रिगुण से मुक्त, निर्लिप्त और अक्षुब्ध 'निस्त्रैगुण्य'-स्थिति प्राप्त करते हैं। परन्तु यह तो उस अन्तरात्मा, आत्मा एवं आत्मतत्त्व की सहज अवस्था की प्राप्ति है जो स्वतन्त्र है और अज्ञान-शक्ति से युक्त प्रकृति की चेष्टा का अपनी अचल शान्ति में निरीक्षण करती है। यदि इस भित्ति पर प्रकृति और इसकी गति को भी स्वतन्त्र बनाना हो तो इसके लिये कर्म को एक ऐसी ज्योतिर्मयी शान्ति एवं नीरवता के अन्दर शान्त और स्थिर करना होगा जिसमें सभी आवश्यक क्रियाएं इस प्रकार की जाती हैं कि मन या प्राण-सत्ता किसी प्रकार की सचेतन प्रतिक्रिया या भागग्रहण या कार्यारम्भ नहीं करती, न विचार की कोई तरंग या प्राणिक भागों की कोई लहर ही उठती है; साथ ही, इसके लिये एक निर्वैयक्तिक वैश्व या परात्पर शक्ति की प्रेरणा, प्रवर्तना और क्रिया की सहायता भी प्राप्त करनी होगी। वैश्व मन, प्राण और सत्तत्त्व को अथवा हमारी अपनी वैयक्तिक सत्ता या इसकी प्रकृति-निर्मित देहपुरी से भिन्न किसी शुद्ध परात्पर आत्म-शक्ति और आनन्द को सक्रिय होना होगा। यह एक

प्रकार की मुक्त स्थिति है जो कर्मयोग में अहंभाव, कामना और वैयक्तिक उपक्रम के त्याग द्वारा और विश्वात्मा या विश्व-शक्ति के प्रति हमारी सत्ता के समर्पण के द्वारा प्राप्त हो सकती है। ज्ञानयोग में यह विचार के निरोध, मन की नीरवता और विश्व-चेतना, विश्वात्मा, विश्व-शक्ति या परम सद्वस्तु के प्रति सम्पूर्ण सत्ता के उद्घाटन के द्वारा अधिगत हो सकती है। भक्तियोग में यह अपनी सत्ता के आराध्य स्वामी के रूप में उस आनन्दघन के हाथों में अपने हृदय और समस्त प्रकृति के समर्पण के द्वारा उपलब्ध हो सकती है। परन्तु सर्वोच्च परिवर्तन तो एक अधिक निश्चयात्मक एवं क्रियाशील अतिक्रमण के द्वारा ही साधित हो सकता है; एक उच्च आध्यात्मिक स्थिति अर्थात् त्रिगुणातीत स्थिति में हमारा स्थानान्तरण या रूपान्तर हो जाता है जिसमें हम एक महत्तर आध्यात्मिक गतिशीलता में भाग लेने लगते हैं। क्योंकि तीन निम्नतर विषम गुण दैवी प्रकृति की शाश्वत शान्ति, ज्योति और शक्ति किंवा उसकी विश्रान्ति, गति और दीप्ति के सम त्रिविध गुण में परिवर्तित हो जाते हैं।

यह परम समस्वरता तबतक नहीं प्राप्त हो सकती जबतक अहंकारमय संकल्प, चुनाव तथा कर्म बन्द न हो जायें और हमारी सीमित बुद्धि शान्त न हो जाये। वैयक्तिक अहंभाव को बल लगाना छोड़ देना होगा, मन को मौन हो जाना होगा, कामनामय संकल्प को सर्वारम्भ परित्याग करना सीखना होगा। हमारे व्यक्तित्व को अपने उद्गम में मिल जाना होगा और समस्त विचार तथा आरम्भ को ऊर्ध्वलोक से उद्भूत होना होगा। हमारे कर्मों के गुप्त ईश्वर हमारे समक्ष शनैः-शनैः प्रकाशित होंगे और परम संकल्प एवं ज्ञान की अभय छाया में दिव्य शक्ति को अनुमति देंगे और वह शक्ति ही विशुद्ध तथा उच्च प्रकृति को अपना यन्त्र बनाकर हममें सभी कर्म करेगी। व्यक्तित्व का व्यष्टि-रूप केंद्र इहलोक में प्रकृति के कर्मों का भर्तामात्र होगा, यह उनका ग्रहीता तथा वाहन, उनकी शक्ति को प्रतिबिम्बित करनेवाला तथा उसके प्रकाश, हर्ष तथा बल में ज्ञानपूर्वक भाग लेनेवाला होगा। यह कर्म करता हुआ भी अकर्ता रहेगा और निम्न प्रकृति की कोई भी प्रतिक्रिया इसे स्पर्श नहीं करेगी। प्रकृति के तीन गुणों का अतिक्रमण इस परिवर्तन की पहली अवस्था है, इनका रूपान्तर इसकी अन्तिम सीढ़ी है। इससे कर्मों का मार्ग हमारी तमसाच्छन्न मानवीय प्रकृति की संकीर्णता के गर्त में से निकलकर उर्ध्वस्थित सत्य तथा प्रकाश के अबाध विस्तार एवं बृहत् व्योम में आरोहण करता है।

अध्याय ११

कर्म का स्वामी

हमारे कर्मों का स्वामी और प्रेरक है वह 'एक' जो विराट् एवं परम है तथा सनातन एवं अनन्त है। वह परात्पर, अविज्ञात या अज्ञेय परब्रह्म है, वह ऊर्ध्वस्थित, अप्रकट एवं अव्यक्त, अनिर्वचनीय देव है, साथ ही वह सर्वभूत की आत्मा, सब लोकों का स्वामी, सब लोकों से अतीत, प्रकाशस्वरूप तथा पथप्रदर्शक, सर्वसुन्दर एवं आनन्दघन, प्रेमी और प्रेमभाजन भी है। वह विश्वात्मा है तथा हमारे चारों ओर की यह सब स्रष्टी शक्ति भी है; वह हमारे भीतर अन्तर्यामी देव है। जो कुछ भी है वह सब वही है, और जो कुछ है उस सबसे भी वह 'अधिक' है। हम स्वयं, चाहे हम इसे जानते नहीं, उसकी सत्ता की सत्ता एवं उसकी शक्ति की शक्ति हैं और उसकी चेतना से निर्गत चेतना के द्वारा ही चेतन हैं। हमारी मर्त्य सत्ता भी उसके सत्तत्त्व में से बनी है और हमारे अन्दर एक अमर सत्ता भी है जो सनातन प्रकाश और आनन्द का स्फुलिंग है। अपनी सत्ता के इस सत्य को चाहे ज्ञान, कर्म एवं भक्ति से या अन्य किसी भी साधन से जानना तथा उपलब्ध करना और यहां या और कहीं इसे कार्यक्षम बनाना ही योगमात्र का लक्ष्य है।

*

परन्तु सुदीर्घ यात्रा तथा कठिन प्रयास के उपरान्त ही हम सत्य का साक्षात् करनेवाली आंखों से भगवान् को देख पाते हैं, और यदि हम उसके सच्चे स्वरूप के अनुरूप अपनेको फिरसे गढ़ना चाहें तो हमें और भी दीर्घकाल तक तथा अधिक विकट पुरुषार्थ करना होगा। कर्म का स्वामी अपने-आपको जिज्ञासु के समक्ष तुरन्त ही प्रकाशित नहीं कर देता, चाहे बराबर ही उसीकी शक्ति पर्दे के पीछे से कार्य कर रही होती है, किन्तु वह प्रकट तभी होती है जब हम कर्तृत्व का अहंकार त्याग देते हैं, और जितना ही यह त्याग अधिकाधिक मूर्त्त होता जाता है उस शक्ति की प्रत्यक्ष क्रिया उतनी ही बढ़ती चली जाती है। किन्तु उसकी पूर्ण उपस्थिति में निवास करने का अधिकार हमें तभी प्राप्त होगा जब उसकी दिव्य शक्ति के प्रति हमारा समर्पण पूर्ण हो जायेगा। तभी हम यह भी देख सकेंगे कि हमारा कर्म अपने-आपको एक सहज-स्वाभाविक तथा पूर्ण रूप से भागवत संकल्प के सांचे में ढाल रहा है।

अतएव, इस पूर्णता की प्राप्ति में कुछ क्रम और सोपान अवश्य होने चाहियें जैसे कि प्रकृति के किसी भी स्तर पर अन्य समस्त पूर्णता की ओर प्रगति में होते

हैं। इसकी पूर्ण गरिमा का अन्तर्दर्शन हमें पहले भी, एकाएक या शनैः-शनैः, एक बार या अनेक बार, प्राप्त हो सकता है, परन्तु जबतक आधारशिला पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो जाती, तबतक यह एक अल्पकालिक और केंद्रित अनुभूति ही होती है, स्थायी और सर्वतोव्यापी अनुभूति एवं शाश्वत उपस्थिति नहीं। भागवत उन्मेष के विशाल और अनन्त वैभव तो बाद में ही प्राप्त होते हैं और अपना बल-माहात्म्य शनैः-शनैः अनावृत करते हैं। अथवा, एक स्थिर अन्तर्दर्शन भी हमारी प्रकृति के शिखरों पर विद्यमान हो सकता है, किन्तु निम्नतर अंगों का पूर्ण प्रत्युत्तर तो क्रमशः ही प्राप्त होता है। सभी योगों में सर्वप्रथम आवश्यक वस्तुएं हैं—श्रद्धा और धैर्य। यदि हृदय की उत्कण्ठाएं और उत्सुक संकल्प की उग्रताएं,—जो स्वर्ग के राज्य को बलपूर्वक अपने अधिकार में कर लेना चाहती हैं,—इन अधिक विनीत और शान्त सहायकों को अपनी प्रचण्डता का आधार बनाने से घृणा करें, तो वे दुःखदायी प्रतिक्रियाएं पैदा कर सकती हैं। इस दीर्घ और कठिन पूर्णयोग के लिये सर्वांगीण श्रद्धा एवं अविचल धैर्य का होना अत्यन्त आवश्यक है।

परंतु हृदय तथा मन की अधीरता और हमारी राजस प्रकृति की उत्सुक पर स्खलनशील इच्छा-शक्ति के कारण योग के विषम एवं संकीर्ण पथ पर इस श्रद्धा तथा धैर्य का उपार्जन वा अभ्यास करना कठिन होता है। प्राणिक प्रकृति का मनुष्य सदा ही अपने परिश्रम के फल के लिये तरसता है और यदि उसे ऐसा लगता है कि फल देने से इंकार किया जा रहा है या इसमें बहुत देर लगायी जा रही है तो वह आदर्श तथा पथप्रदर्शन में विश्वास करना छोड़ देता है। कारण, उसका मन सदा पदार्थों की बाह्य प्रतीति के द्वारा ही निर्णय करता है, क्योंकि यह उस बौद्धिक तर्क का प्रमुख और दृढ़ स्वभाव है जिसमें वह इतना अपरिमित विश्वास करता है। जब हम चिरकाल तक कष्ट भोगते या अन्धेरे में ठोकरें खाते हैं तब अपने हृदयों में भगवान् को कोसने से अथवा जो आदर्श हमने अपने सामने रखा है उसे त्याग देने से अधिक आसान हमारे लिये और कुछ नहीं होता। कारण, हम कहते हैं, "मैंने सर्वोच्च सत्ता पर विश्वास किया है और मेरे साथ विश्वासघात करके मुझे दुःख, पाप और भ्रान्ति के गर्त में गिरा दिया गया है।" अथवा, "मैंने एक ऐसे विचार पर अपने सारे जीवन की बाजी लगा दी है जिसे अनुभव के दृढ़ तथ्य खंडित तथा निरुत्साहित करते हैं। यह अधिक अच्छा होता कि मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे आदमी हैं जो अपनी सीमाएं स्वीकार करते हैं और सामान्य अनुभव के स्थिर आधार पर विचरण करते हैं।" ऐसी घड़ियों में—और ये कभी-कभी बारम्बार आती हैं और देरतक रहती हैं—समस्त उच्चतर अनुभव विस्मृत हो जाता है और हृदय अपनी कटुता में डूब जाता है। यहांतक कि इन अंधेरे रास्तों में हम सदा के लिये पतित भी हो सकते हैं अथवा दिव्य संघर्ष से पराङ्मुख हो सकते हैं।

परन्तु यदि कोई पथ पर दूर तक तथा दृढ़ता से चल चुका हो तो हृदय की श्रद्धा उग्र-से-उग्र विरोधी दबाव में भी स्थिर रहेगी; यह आच्छादित या प्रत्यक्षतः अभिभूत भले ही हो जाय तो भी, यह पहला अवसर पाते ही फिर उभर आयेगी। कारण, हृदय या बुद्धि से ऊंची कोई वस्तु इसे अति निकृष्ट पतनों के होते हुए भी तथा अत्यन्त दीर्घकालीन विफलता में भी सहारा देगी। परन्तु ऐसी दुर्बलताएं या अन्धकार की अवस्थाएं एक अनुभवी साधक की प्रगति में भी व्याघात पहुंचाती हैं और नौसिखुए के लिये तो ये अत्यन्त ही भयानक होती हैं। अतएव, यह आरम्भ से ही आवश्यक होता है कि हम इस पथ की विकट कठिनाई को समझें और इसे अंगीकार करें तथा उस श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव करें जो बुद्धि को भले ही अन्ध प्रतीत होती हो फिर भी हमारी तर्कशील बुद्धि से अधिक ज्ञानपूर्ण होती है। कारण, श्रद्धा ऊपर से मिलनेवाला अवलंब है; यह उस गुप्त ज्योति की उज्ज्वल छाया है जो बुद्धि और इसके ज्ञात तथ्यों से अतीत है। यह उस निगूढ़ ज्ञान का हृदय है जो प्रत्यक्ष प्रतीतियों का दास नहीं है। हमारी श्रद्धा, अटल रहकर, अपने कर्मों में युक्तियुक्त सिद्ध होगी और अन्त में दिव्य ज्ञान की स्वयंप्रकाशता में उन्नीत तथा रूपान्तरित हो जायगी। हमें सदा ही गीता के इस आदेश का दृढ़ता से अनुसरण करना होगा कि "निराशा एवं अवसाद से रहित हृदय के द्वारा योग का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।"[1] सदा ही हमें सन्देहशील बुद्धि के सम्मुख ईश्वर की यह प्रतिज्ञा दुहरानी होगी, "मैं तुझे समस्त पाप एवं अशुभ से निश्चितरूपेण मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर।" अन्त में, श्रद्धा की चंचलता दूर हो जायगी; क्योंकि हम भगवान् की मुखछवि निहार लेंगे और भागवत उपस्थिति को अनवरत अनुभव करेंगे।

*

हमारे कर्मों का स्वामी जब हमारी प्रकृति का रूपान्तर कर रहा होता है तब भी वह इसका मान करता है; वह सदा हमारी प्रकृति के द्वारा ही अपनी क्रिया करता है, मन की मौज के अनुसार नहीं। हमारी इस अपूर्ण प्रकृति में हमारी पूर्णता की सामग्री भी निहित है, पर वह अविकसित, विकृत तथा स्थानभ्रष्ट है और अव्यवस्था या त्रुटिपूर्ण दुर्व्यवस्था के साथ एक ही जगह पटकी हुई है। इस सब सामग्री को धैर्यपूर्वक पूर्ण बनाना है, शुद्ध, पुनर्व्यवस्थित, नव-घटित तथा रूपान्तरित करना है; इसे न तो छिन्न-भिन्न तथा नष्ट-भ्रष्ट वा क्षत-विक्षत करना है और न कोरे बलात्कार वा इन्कार के द्वारा मिटा ही देना है। यह संसार तथा इसमें रहनेवाले हम सब उसी की रचना एवं अभिव्यक्ति हैं, और वह इसके साथ तथा हमारे साथ ऐसे ढंग से बर्ताव करता है जिसे हमारा क्षुद्र एवं अज्ञ मन तबतक नहीं समझ सकता जबतक

[1] स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा—गीता ६-२३

वह शान्त होकर दिव्य ज्ञान के प्रति उन्मुक्त न हो जाय। हमारी भूलों में भी एक ऐसे सत्य का उपादान रहता है जो हमारी अन्धान्वेषक बुद्धि के प्रति अपना अर्थ प्रकाशित करने का यत्न करता है। मानव-बुद्धि भूल को अपने अन्दर से निकालती है, पर साथ-ही-साथ सत्य को भी निकाल फेंकती है और उसके स्थान पर एक और अर्द्ध-सत्य, अर्द्ध-भ्रान्ति को ला बिठाती है। परन्तु भागवत प्रज्ञा हमारी भूलों को तबतक बनी रहने देती है जबतक हम प्रत्येक मिथ्या आवरण के नीचे गुप्त और सुरक्षित रखे हुए सत्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो जाते। हमारे पाप उस अन्वेषक शक्ति के भ्रान्त पग होते हैं जिसका लक्ष्य पाप नहीं, वरन् पूर्णत्व होता है अथवा एक ऐसा कर्म होता है जिसे हम दिव्य पुण्य कह सकते हैं। बहुधा वे एक ऐसे गुण को ढकनेवाले पर्दे होते हैं जिसे रूपान्तरित करके इस भद्दे आवरण से मुक्त करना होता है; अन्यथा, वस्तुओं के पूर्ण विधान में, उन्हें पैदा होने या रहने ही न दिया जाता। हमारे कर्मों का स्वामी न तो प्रमादी है न उदासीन साक्षी और न ही अनावश्यक बुराइयों की रंगरेलियों से मन बहलानेवाला, वह हमारी बुद्धि से अधिक ज्ञानी है, वह हमारे पुण्य से भी अधिक ज्ञानी है।

यही नहीं कि हमारी प्रकृति इच्छा-शक्ति की दृष्टि से भ्रान्त तथा ज्ञान की दृष्टि से अज्ञ है, बल्कि शक्ति की दृष्टि से दुर्बल भी है। किन्तु भागवती शक्ति संसार में विद्यमान है और यदि हम उसपर विश्वास रखें तो वह हमें मार्ग दिखायेगी और हमारी दुर्बलताओं तथा हमारी क्षमताओं को दिव्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त करेगी। यदि हम अपने तात्कालिक लक्ष्य में असफल होते हैं तो वह इसलिये कि असफलता ईश्वर को अभिमत होती है। प्रायः हमारी विफलता या दुष्परिणाम ही ठीक मार्ग होता है जिसमें हमें तात्कालिक एवं पूर्ण सफलता से प्राप्य फल की अपेक्षा अधिक सच्चा फल प्राप्त होता है। यदि हम दुःख भोगते हैं तो वह इसलिये कि हमारे अन्दर के किसी भाग को आनन्द की एक अधिक दुर्लभ सम्भावना के लिये तैयार करना होता है। यदि हम ठोकर खाते हैं तो इसलिये कि अन्त में अधिक पूर्ण ढंग से चलने का रहस्य जान जायें। शान्ति, पवित्रता और पूर्णता प्राप्त करने के लिये भी हमें अति प्रचण्ड रूप में उतावले नहीं हो जाना चाहिये। शान्ति हमारी सम्पदा अवश्य होनी चाहिये, परन्तु एक रिक्त या लुण्ठित प्रकृति की अथवा उन घातित या अपंग शक्तियों की शान्ति नहीं जो चेष्टा करने में समर्थ ही नहीं रहती, क्योंकि हम उन्हें बल, ओज और तेज के अयोग्य बना डालते हैं। पवित्रता हमारा लक्ष्य अवश्य होनी चाहिये, किन्तु एक शून्य या निरानन्द एवं कठोर उदासीनता की पवित्रता नहीं। पूर्णता की हमसे मांग की जाती है, पर उस पूर्णता की नहीं जो अपने क्षेत्र को संकुचित सीमाओं में घेर कर अथवा अनन्त के नित्य-विस्तारशील कुंडल को मनमाने ढंग से छोटा करके ही अस्तित्व रख सकती है। हमारा लक्ष्य दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित होना है, परन्तु दिव्य प्रकृति कोई

मानसिक या नैतिक नहीं वरन् एक आध्यात्मिक अवस्था है जिसकी उपलब्धि करना यहांतक कि कल्पना करना भी हमारी बुद्धि के लिये कठिन है। हमारे कर्म तथा हमारे योग का स्वामी यह जानता है कि उसे क्या करना है, और हमारा कर्तव्य है कि हम उसे उसीकी साधन-सामग्री तथा उसीकी प्रणाली से अपने भीतर कार्य करने का अवकाश दें।

अज्ञान की गति मूलतः अहंकारमय होती है और जब हम अभी अपनी अनिष्पन्न प्रकृति के अर्द्ध-प्रकाश एवं अर्द्ध-बल में व्यक्तित्व को अंगीकार करते तथा कर्म में आसक्त होते हैं तब अहंकार से छुटकारा पाना हमारे लिये एक अत्यन्त कठिन कार्य होता है। कर्म करने की प्रवृत्ति का त्याग कर अहं को भूखों मारना अथवा व्यक्तित्व की समस्त क्रिया से सम्बन्ध-विच्छेद कर अहं का नाश कर डालना अपेक्षाकृत सुगम है। इसे शान्तिमय समाधि में या दिव्य प्रेम के परमानन्द में निमग्न आत्म-विस्मृति के स्तर पर ऊंचा उठा ले जाना भी अपेक्षाकृत सरल है। परन्तु सच्चे 'पुरुष' को विमुक्त करके एक ऐसी दिव्य मानवता प्राप्त करना जो दिव्य बल का शुद्ध आधार तथा दिव्य कर्म का पूर्ण यन्त्र हो, एक अधिक कठिन समस्या है। एक के बाद एक सभी सोपानों को दृढ़ता से पार करना होगा; एक के बाद एक सभी कठिनाइयों को पूरी तरह से अनुभव करना और उन्हें पूरी तरह से जीतना होगा। दिव्य प्रज्ञा और शक्ति ही हमारे लिये यह कार्य कर सकती है और वह ऐसा करेगी ही यदि हम पूर्ण श्रद्धा से उसके चरणों में नतमस्तक होकर दृढ़ साहस तथा धैर्य के साथ उसकी कार्यप्रणालियों को हृदयंगम करें और उन्हें अपनी सहमति दें।

इस दीर्घ पथ का प्रथम सोपान यह है कि हम अपने सभी कर्म अपने में तथा जगत् में विद्यमान भगवान् को यज्ञ-रूप में अर्पित करें। यह अर्पण मन तथा हृदय का भाव है; इसमें प्रथम प्रवेश तो इतना कठिन नहीं, किन्तु इसे पूर्ण रूप में सच्चा एवं व्यापक बनाना अत्यन्त कठिन है। द्वितीय सोपान है अपने कर्मों के फल में आसक्ति का परित्याग। कारण, यज्ञ का एकमात्र सच्चा, अवश्यम्भावी तथा परम स्पृहणीय फल—एकमात्र आवश्यक वस्तु—यही है कि हमारे भीतर भागवत उपस्थिति एवं भागवत चेतना तथा शक्ति प्रकट हो और यदि यह फल उपलब्ध हो जाय तो और सब कुछ स्वयमेव प्राप्त हो जायगा। तृतीय सोपान है केंद्रीय अहंभाव तथा कर्तृत्व के अहंकार से भी छुटकारा प्राप्त करना। यह सब से कठिन रूपान्तर है और यदि पहले दो सोपान पार न कर लिये गये हों तो इसे पूर्णतया सम्पन्न किया ही नहीं जा सकता। पर वे प्रारम्भिक सोपान भी तबतक पार नहीं हो सकते जबतक रूपान्तर की इस गति को सफल बनाने के लिये तीसरा सोपान प्रारम्भ नहीं हो जाता और यह अहंभाव का विनाश कर कामना के असली मूल का ही उन्मूलन नहीं कर देता। जब कोई जिज्ञासु अपने क्षुद्र अहंभाव को अपनी प्रकृति में से

निकाल फेंकता है तभी वह उस सच्चे पुरुष को जान सकता है जो भगवान् के अंश और शक्ति के रूप में ऊपर अवस्थित है और तभी वह भागवत शक्ति के संकल्प से भिन्न अन्य समस्त प्रेरक-शक्ति का परित्याग भी कर सकता है।

*

सर्वांगीण सिद्धि प्रदान करनेवाली इस अन्तिम गति के कई सोपान हैं; क्योंकि यह एकदम या उन लंबे प्रवेश-पथों के बिना पूरी नहीं की जा सकती जो इसे उत्तरोत्तर निकट ले आते हैं तथा अन्त में इसे सम्भव बना देते हैं। सर्वप्रथम हमें यह भाव धारण करना होगा कि हम अपने-आपको कर्त्ता समझना छोड़ दें और दृढ़तापूर्वक यह अनुभव करें कि हम वैश्व शक्ति के केवल एक यन्त्र हैं। प्रारम्भ में ऐसा दीख पड़ता है कि एक ही शक्ति नहीं, वरन् अनेक वैश्व शक्तियां हमें चला रही हैं। किन्तु इन्हें अहं की पोषक शक्तियों के रूप में भी परिणत किया जा सकता है और यह दृष्टि मन को तो मुक्त कर देती है, पर शेष प्रकृति को मुक्त नहीं करती। जब हमें यह ज्ञान हो जाये कि सब कुछ एक ही वैश्व शक्ति का तथा उसके मूल में विराजमान भगवान् का व्यापार है तब भी यह आवश्यक नहीं कि यह ज्ञान सारी प्रकृति को मुक्त कर ही देगा। यदि कर्तृत्व का अहंकार लुप्त हो जाय तो यन्त्रभाव का अहंकार इसका स्थान ले सकता है या एक छद्मवेश में इसी को जारी रख सकता है। जगत् का जीवन इस प्रकार के अहंभाव के दृष्टान्तों से भरा पड़ा है और यह अन्य किसी भी अहंभाव की अपेक्षा अधिक ग्रस्त करनेवाला तथा अधिक घोर हो सकता है। यही भय योग में भी है। कोई मनुष्य मनुष्यों का नेता बन जाता है अथवा किसी बड़े या छोटे क्षेत्र में सुप्रसिद्ध हो जाता है और अपनेको एक ऐसी शक्ति से पूर्ण अनुभव करता है जो उसकी समझ में उसके अपने अहं-बल से परतर होती है। वह अपने द्वारा काम करनेवाले एक दैव से अथवा एक गुह्य एवं अगम संकल्पशक्ति या एक अतिभास्वर अन्तर्ज्योति से सचेतन हो सकता है। ऐसे मनुष्य के विचारों और कार्यों अथवा उसकी सर्जनशील प्रतिभा के असाधारण परिणाम होते हैं। वह या तो एक बड़ा भारी विनाश करता है जो मानवता के लिये पथ प्रशस्त कर देता है अथवा वह एक महान् निर्माण करता है जो मानवजाति का एक क्षणिक पड़ाव होता है। वह या तो दण्ड देनेवाला होता है या प्रकाश एवं सुख का वाहक, या तो सौन्दर्य का स्रष्टा होता है या ज्ञान का अग्रदूत। अथवा, यदि उसका कार्य तथा उस कार्य के परिणाम अपेक्षाकृत कम महान् हों और यदि उनका क्षेत्र भी सीमित हो तो भी उसके अन्दर यह भाव प्रबल रूप में रहता है कि वह एक यन्त्र है और अपने भगवदीय कार्य या अपने प्रयास के लिये चुना हुआ है। जो लोग ऐसे भाग्य तथा इन शक्तियों से सम्पन्न होते हैं वे

अपनेको सहज में ही ईश्वर या नियति के हाथों के निमित्तमात्र मानने तथा घोषित करने लगते हैं। परन्तु उस घोषणा में भी हम देख सकते हैं कि एक इतना अधिक तीव्र एवं बढ़ा-चढ़ा अहंकार भीतर घुस सकता या आश्रय पा सकता है जिसे घोषित करने का साहस या अपने अन्दर आश्रय देने का सामर्थ्य साधारण मनुष्यों में नहीं होता। बहुधा यदि इस प्रकार के लोग ईश्वर की बात करते हैं तो ऐसा वह उसकी एक ऐसी प्रतिमूर्त्ति खड़ी करने के लिये ही करते हैं जो वास्तव में स्वयं उनके या उनकी अपनी प्रकृति के विशाल प्रतिबिम्ब के सिवाय और उनके अपने विशिष्ट प्रकार के संकल्प, विचार, गुण तथा बल के पोषक दैविक सार के सिवाय और कुछ नहीं होती। उनके अहं का यह परिवर्द्धित आकार ही वह स्वामी होता है जिसकी वे सेवा करते हैं। योग में प्रबल, पर असंस्कृत प्राणिक प्रकृति या मनवाले उन लोगों के साथ जो चटपट ऊंचे उठ जाते हैं ऐसा प्रायः ही होता है जब कि वे महत्त्वाकांक्षा, अभिमान या बड़े बनने की कामना को अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा में घुसने देते हैं तथा उसके द्वारा इसके प्रेरकभाव की शुद्धता को कलुषित होने देते हैं। वास्तव में उनके और उनकी सच्ची सत्ता के बीच में एक परिवर्द्धित अहं स्थित होता है। यह अहं उस, दिव्य या अदिव्य, महत्तर अगोचर शक्ति से, जो उनके द्वारा काम कर रही होती है और जिससे वे अस्पष्ट या तीव्र रूप में सचेतन हो जाते हैं, अपने वैयक्तिक प्रयोजन के लिये बल आयत्त कर लेता है। अतः, इस प्रकार का बौद्धिक ज्ञान या प्राणगत बोध कि एक शक्ति है जो हमसे महत्तर है और हम उसीसे परिचालित होते हैं, हमें अहं से मुक्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है।

यह ज्ञान अथवा यह बोध कि हममें या हमारे ऊपर एक महत्तर शक्ति विद्यमान है और वह हमें चला रही है कोई भ्रम या गर्वोन्माद नहीं होता। जिन्हें ऐसा अनुभव एवं साक्षात्कार होता है उनकी दृष्टि साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विशाल होती है और वे सीमित स्थूल बुद्धि से एक पग आगे बढ़े हुए होते हैं परन्तु उनकी दृष्टि पूर्ण दृष्टि या साक्षात् अनुभूति नहीं होती। क्योंकि उनके मन में स्पष्टता वा ज्ञानज्योति तथा उनकी आत्मा में सचेतनता नहीं होती, और क्योंकि उनकी जागृति आत्मा के आध्यात्मिक तत्त्व की अपेक्षा कहीं अधिक प्राणमय भागों में ही होती है, वे भगवान् के सचेतन यन्त्र नहीं बन सकते अथवा अपने स्वामी का साक्षात्कार नहीं कर सकते, बल्कि भगवान् ही उन्हें उनकी भ्रान्तिशील तथा अपूर्ण प्रकृति के द्वारा अपने उपयोग में लाते हैं। देवत्व को वे अधिक-से-अधिक दैव या एक वैश्व शक्ति के रूप में ही देखते हैं अथवा वे एक सीमित देव को या इससे भी निकृष्ट रूप में, एक दानवीय या राक्षसी शक्ति को, जो उसे छिपाये होती है, देव का नाम दे देते हैं। यहां तक कि कई धर्म-संस्थापकों ने भी एक साम्प्रदायिक ईश्वर या राष्ट्रीय ईश्वर की, अथवा आतंक एवं दण्ड की किसी शक्ति की या सात्त्विक प्रेम, दया और पुण्य के देवता की प्रतिमा खड़ी कर दी है और प्रतीत

होता है कि एकमेव और सनातन का साक्षात्कार उन्होंने नहीं किया है। भगवान् उस प्रतिमा को स्वीकार कर लेते हैं जो वे उनकी बनाते हैं और उस माध्यम के द्वारा उनमें अपना कार्य करते हैं। परन्तु, क्योंकि वह एक शक्ति उन्हें अपने अन्दर दूसरों की अपेक्षा अधिक तीव्र रूप में अनुभूत होती है और उनकी अपूर्ण प्रकृति में वह अधिक प्रबलता से कार्य करती है, अहंभाव का प्रेरक तत्त्व भी उनके अन्दर दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्कट हो सकता है। एक उन्नत या सात्त्विक अहंभाव अभी भी उन्हें अपने अधिकार में किये होता है और उनके तथा सर्वांगीण सत्य के बीच में आड़े आता है। यह भी कुछ चीज अवश्य है, एक आरम्भ अवश्य है, चाहे सत्य और पूर्ण अनुभव से यह अभी दूर ही है। जो लोग मानवीय बंधनों को थोड़ा बहुत तोड़ डालते हैं, किन्तु पवित्रता और ज्ञान से रहित होते हैं, उनकी तो और भी अधिक दुर्दशा हो सकती है, क्योंकि वे यन्त्र तो बन सकते हैं, पर भगवान् के नहीं; बहुधा वे भगवान् के नाम पर 'वृत्रों' की, अर्थात् उसके आवरणों तथा काले विरोधियों एवं अन्धकार की शक्तियों की ही अनजान में सेवा करते हैं।

हमारी प्रकृति को अपनेमें वैश्व शक्ति की प्रतिष्ठा अवश्य करनी चाहिये, किन्तु इसके निम्नतर रूप में अथवा इसकी राजसिक वा सात्त्विक गतिवाले रूप में नहीं; इसे वैश्व संकल्प की सेवा अवश्य करनी चाहिये, पर एक महत्तर मोक्षकारी ज्ञान के प्रकाश में। हमारे यन्त्रत्व के भाव में किसी प्रकार का अहंकार कदापि नहीं होना चाहिये, तब भी नहीं जब हम अपनी अन्तःस्थ शक्ति की महत्ता से पूर्णतः सचेतन हों। प्रत्येक मनुष्य, सचेतन रूप से हो या अचेतन रूप से, एक वैश्व शक्ति का यन्त्र है और किसी एक तथा दूसरे कार्य में एवं किसी एक तथा दूसरे प्रकार के यन्त्र में आभ्यन्तर उपस्थिति के सिवाय और कोई ऐसा सारभूत भेद नहीं होता जो अहंमूलक अभिमान की मूर्खता को उचित ठहरा सके। ज्ञान और अज्ञान में अन्तर केवल आत्मा की कृपा का ही होता है; भागवत शक्ति का श्वास जिसे वरण करता है उसीमें प्रवाहित होता है और आज एक को तथा कल किसी दूसरे को वाणी या बल से पूरित कर देता है। यदि कुम्भकार एक पात्र दूसरे की अपेक्षा अधिक पूर्णता से गढ़ता है तो उसका श्रेय पात्र को नहीं, बल्कि निर्माता को होता है। हमारे मन का भाव यह नहीं होना चाहिये कि "यह मेरा बल है" अथवा देखो "मुझमें ईश्वर की शक्ति है", वरन् यह कि "इस मन तथा शरीर में भागवती शक्ति कार्य कर रही है और यह वही है जो सभी मनुष्यों तथा प्राणियों में, पौधे तथा धातु में, सचेतन तथा सजीव वस्तुओं में और अचेतन तथा निर्जीव प्रतीत होनेवाली वस्तुओं में भी कार्य करती है।" एक ही देव सबमें कार्य कर रहा है और सम्पूर्ण संसार समान रूप से एक दिव्य कर्म तथा क्रमिक आत्म-अभिव्यक्ति का यन्त्र है—यह विशाल दृष्टि यदि हमारी अखण्ड अनुभूति बन जाय तो यह हमें अपने अन्दर से समस्त राजसिक अहंकार को निकाल डालने में सहायक होगी और फिर सात्त्विक

अहं-बुद्धि भी हमारी प्रकृति से क्रमशः दूर होने लगेगी। अहं के इस रूप का परित्याग हमें सीधा उस वास्तविक यन्त्रीय कार्य की ओर ले जाता है जो सर्वांगीण कर्मयोग का मूलतत्त्व है। कारण, जब हम यन्त्रभाव के अहंकार का पोषण कर रहे होते हैं, तब हम अपने निकट तो यह दावा कर सकते हैं कि हम भगवान् के सचेतन यन्त्र हैं, पर वास्तव में हम भागवत शक्ति को अपनी कामनाओं या अपने अहंमूलक प्रयोजन का यन्त्र बनाने का यत्न कर रहे होते हैं। यदि अहं को वश में कर लिया जाये, पर इसका उन्मूलन न किया जाये तो हम दिव्य कर्म के इंजन तो अवश्य बन सकते हैं, पर हम अपूर्ण उपकरण ही रहेंगे और अपने मन की भूलों, प्राण की विकृतियों या भौतिक प्रकृति की हठीली दुर्बलताओं के द्वारा शक्ति की क्रिया को पथच्युत या क्षत-विक्षत ही कर देंगे। यदि यह अहं नष्ट हो जाय तो हम सच्चे अर्थों में ऐसे शुद्ध यन्त्र बन सकते हैं जो हमें चलानेवाले दिव्य हस्त की प्रत्येक गति को सचेतन रूप से अंगीकार करेंगे, इतना ही नहीं, बल्कि हम अपनी सच्ची प्रकृति से सज्ञान भी हो सकते हैं, उस एकमेव सनातन तथा अनन्त के ऐसे सचेतन अंश बन सकते हैं जिन्हें परम शक्ति ने अपने अन्दर अपने कार्यों के लिये प्रसारित किया है।

*

अपना यन्त्र-स्वरूप अहं भागवती शक्ति को समर्पित करने के बाद एक और महत्तर सोपान पार करना होता है। भागवती शक्ति के इस रूप का ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि यही वह एकमात्र वैश्व शक्ति है जो मन, प्राण तथा जड़ के स्तर पर हमें तथा सब प्राणियों को प्रचालित करती है। कारण, यह तो निम्नतर प्रकृति है और, यद्यपि भागवत ज्ञान, प्रकाश एवं बल अज्ञान में भी निगूढ़ तथा क्रियाशील रूप में विद्यमान हैं और इसके आवरण को कुछ भेद करके अपना सत्य-स्वरूप यत्किञ्चित् व्यक्त कर सकते हैं अथवा ऊपर से अवतीर्ण होकर इन हीन क्रियाओं को ऊंचा उठा सकते हैं, तथापि अपने अध्यात्म-भावित मन, अध्यात्म-भावित प्राण-गति और अध्यात्म-भावित देह-चेतना के अन्दर हमें एकमेव का अनुभव हो जाने पर भी, हमारे क्रियाशील अंगों में अपूर्णता बनी ही रहती है। परम शक्ति के प्रति हमारा प्रत्युत्तर तब भी स्खलनशील होता है, भगवान् का मुखमण्डल तब भी आवृत रहता है और अज्ञान का सतत मिश्रण भी बना ही रहता है। भागवत शक्ति के बल एवं ज्ञान के पूर्ण यन्त्र तो हम तभी बन सकते हैं यदि हम उसके प्रति—इस निम्न प्रकृति का अतिक्रम करनेवाले उसके सत्य-स्वरूप के प्रति—उन्मीलित हो जायें।

केवल मुक्ति ही नहीं अपितु परिपूर्णता कर्मयोग का लक्ष्य होनी चाहिये। भगवान् हमारी प्रकृति द्वारा तथा हमारी प्रकृति के अनुसार ही कर्म करता है; यदि हमारी प्रकृति अपूर्ण हो तो भगवान् का कर्म भी अपूर्ण, मिश्रित एवं अयुक्त होगा।

यहां तक कि वह स्थूल भ्रान्तियों, असत्यों, नैतिक दुर्बलताओं और विक्षेपक प्रभावों से व्याहत भी हो सकता है। भगवान् का कर्म हमारे अन्दर तब भी होता रहेगा, पर होगा हमारी दुर्बलताओं के अनुसार, अपने उद्गम की शक्ति और पवित्रता के अनुसार नहीं। यदि हमारा योग सर्वांगीण योग न होता, यदि हमें अपने अन्तःस्थित आत्मा की मुक्ति, या प्रकृति से वियुक्त पुरुष की निश्चल सत्ता ही अभीष्ट होती, तो इस व्यावहारिक अपूर्णता की हमें कुछ भी परवा न होती। शान्त, अक्षुब्ध, हर्ष और विषाद से रहित, पूर्णता और अपूर्णता, गुण और दोष तथा पाप और पुण्य को अपना न मानते हुए, और यह अनुभव करते हुए कि प्रकृति के गुण ही अपने क्षेत्र में कार्य करते हुए यह मिश्रण पैदा करते हैं, हम आत्मा की नीरवता में प्रतिगमन कर सकते थे और शुद्ध एवं निर्लिप्त रहकर केवल साक्षी की भांति प्रकृति के व्यापारों को देख सकते थे। परन्तु सर्वांगीण उपलब्धि में यह निश्चलता हमारे मार्ग का एक सोपानमात्र हो सकती है, अन्तिम पड़ाव नहीं, क्योंकि हमारा लक्ष्य आत्मसत्ता की स्थितिशीलता में ही नहीं, वरन् प्रकृति की गति में भी दिव्य चरितार्थता उपलब्ध करना है। ऐसा पूरी तरह से तबतक नहीं हो सकता, जबतक हम अपने कार्यों के प्रत्येक पग में तथा इनकी प्रत्येक गतिविधि और रूप-रेखा में, अपने संकल्प के प्रत्येक झुकाव तथा प्रत्येक विचार, भाव एवं आवेग में भगवान् की उपस्थिति और शक्ति को अनुभव नहीं कर लेते। इसमें सन्देह नहीं कि एक दृष्टि से हम अज्ञान की प्रकृति में भी भगवान् की उपस्थिति एवं शक्ति का अनुभव कर सकते हैं, परन्तु वह होगी एक प्रच्छन्न दिव्य शक्ति तथा उपस्थिति, एक वामनाकृति एवं क्षुद्र मूर्त्ति। हमारी मांग इससे बहुत बड़ी है, वह यह कि हमारी प्रकृति भगवान् के परम सत्य एवं परा ज्योति में, नित्य आत्म-सचेतन संकल्प की शक्ति और सनातन ज्ञान की बृहत्ता में भगवान् की ही एक विभूति बन जाये।

अहं का पर्दा हटाने के बाद प्रकृति और इसके उन निम्नतर गुणों का पर्दा हटाना होता है जो हमारे तन-मन-जीवन पर शासन करते हैं। अहं की सीमाएं ज्यों ही लुप्त होने लगती हैं त्यों ही हमें पता चल जाता है कि वह पर्दा किस चीज का बना हुआ है और हम अपने में विश्व-प्रकृति की क्रिया होती देखते हैं एवं विश्व-प्रकृति के भीतर या इसके मूल में विश्वात्मा की उपस्थिति तथा जगद्व्यापी ईश्वर की विराट् गति अनुभव करते हैं। यन्त्र का स्वामी इस अखिल क्रिया के पीछे अवस्थित है और इसके भीतर भी उसका स्पर्श किंवा उसके महान् पथप्रदर्शक या प्रवर्तक प्रभाव की प्रेरणा उपस्थित रहती है। तब हम अहं या अहं-शक्ति की सेवा नहीं करते; हम जगत् के स्वामी और उसके विकाससम्बन्धी सम्वेग का अनुसरण करते हैं। पग-पग पर हम संस्कृत के एक पद्य की भाषा में कहते हैं कि "मेरे हृदय में बैठे हुए आप मुझे जैसे प्रेरित करते हैं वैसे ही, हे स्वामिन्, मैं कार्य करता हूं।"[1]

[1] त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

फिर भी, वह कार्य दो अत्यन्त भिन्न कोटियों का हो सकता है, एक तो वह जो केवल प्रकाशयुक्त होता है और दूसरा वह जो महत्तर एवं परा प्रकृति में रूपान्तरित तथा उन्नीत हुआ होता है। कारण, हम अपनी प्रकृति द्वारा धारित तथा अनुसृत होकर कर्ममार्ग पर चलते चले जा सकते हैं और जहां पहले हम प्रकृति और इसके अहंता-रूपी भ्रम के द्वारा "यन्त्रारूढ़ की भांति चलाये जाते थे", वहां अब हम इस बात को पूर्ण रूप से समझते हुए चल सकते हैं कि इस यन्त्र की क्रिया क्या है और सब कर्मों के स्वामी, जिन्हें हम इस क्रिया के पीछे अनुभव करते हैं, अपने जागतिक प्रयोजनों के लिये इसका क्या उपयोग करते हैं। निश्चय ही यह वह अवस्था है जिसे अनेक महान् योगी भी आध्यात्मीकृत मन के स्तरों पर प्राप्त कर चुके हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं कि हम सदा-सर्वदा ऐसी ही स्थिति में रहें, क्योंकि एक इससे भी महान् एवं अतिमानसिक सम्भावना विद्यमान है। अध्यात्म-भावापन्न मन से ऊंचे उठ जाना तथा परमोच्च माता की आद्या भागवती सत्य-शक्ति की जीवन्त उपस्थिति में सहज स्फुरणापूर्वक कर्म करना भी सम्भव है। हमारी गति उसकी गति से एकीभूत तथा उसमें निमज्जित हो जायेगी, हमारा संकल्प उसके संकल्प से एकीभूत, तथा हमारी शक्ति उसकी शक्ति में दायित्वमुक्त हो जायेगी और हम अनुभव करेंगे कि वह हमारे द्वारा इस प्रकार कर्म कर रही है मानों परमा प्रज्ञा-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त साक्षात् भगवान् ही कर्म कर रहे हों। हमें अपने रूपान्तरित मन, प्राण तथा शरीर ऐसे जान पड़ेंगे मानों वे अपने से अत्युच्च उस परा ज्योति एवं शक्ति की प्रणालिकाएं मात्र हों जो, अपने ज्ञान में परात्पर तथा परिपूर्ण होने के कारण, अपनी क्रिया-पद्धति में निर्भ्रान्त हैं। हम इस ज्योति एवं शक्ति के वाहन, साधन तथा यन्त्र ही नहीं, अपितु एक परम उदात्त शाश्वत अनुभूति में इसके अंग बन जायेंगे।

इस चरम पूर्णता तक पहुंचने से पहले ही, हम भगवान् के साथ अपने कर्मों में,—उसके अत्यन्त ज्योतिर्मय शिखरों पर नहीं तो उसकी निरतिशय विशालता में,—मिलन लाभ कर सकते हैं। कारण, अब हम केवल प्रकृति या इसके गुणों को ही अनुभव नहीं करते, अपितु अपनी शारीरिक चेष्टाओं, स्नायविक एवं प्राणिक प्रतिक्रियाओं और मानसिक व्यापारों में एक ऐसी शक्ति को भी अनुभव कर लेते हैं जो शरीर, मन और प्राण से अधिक महान् है और जो हमारे सीमित करणों को अपने अधिकार में कर लेती और इनकी सभी गतियों का परिचालन करती है। अब हमें यह प्रतीति नहीं होती है कि हम ही गति कर रहे हैं और हम ही विचार या अनुभव कर रहे हैं, वरन् यह कि वही हमारे अन्दर गति, विचार और अनुभव कर रही है। यह शक्ति जिसे हम अनुभव करते हैं भगवान् की वैश्व शक्ति है, जो या तो आवृत रहती है या अनावृत, या तो स्वयं साक्षात् रूप में कार्य करती है या संसार के जीवों को अपनी शक्तियों का प्रयोग करने देती है। यही एकमात्र सत्

शक्ति है और यही विश्वगत या व्यक्तिगत कार्य को सम्भव बनाती है। कारण, यह शक्ति तो स्वयं भगवान् ही है—अपनी शक्ति के विग्रह में। सब कुछ यह शक्ति ही है, कार्य की शक्ति, विचार एवं ज्ञान की शक्ति, प्रभुत्व एवं उपभोग की शक्ति, प्रेम की शक्ति। प्रतिक्षण या प्रति वस्तु में, अपने में तथा दूसरों में, सचेतन रूप से यह अनुभव करते हुए कि सर्वकर्ममहेश्वर उनमें विद्यमान है तथा इस विराट् शक्ति से, जो वह स्वयं ही है, वह सब वस्तुओं और सब घटनाओं को धारण करता है, इनमें निवास करता तथा इनका उपभोग करता है और इसी शक्ति द्वारा वह स्वयं इन सब वस्तुओं तथा सब घटनाओं के रूप में सम्भूत वा प्रकट होता है,—हम कर्मों द्वारा भागवत मिलन प्राप्त कर चुके होंगे और कर्मों में उपलब्ध इस कृतार्थता से वह सब भी अधिगत कर चुके होंगे जो कुछ दूसरों ने पराभक्ति या शुद्ध ज्ञान से उपलब्ध किया है। परन्तु अभी भी एक और शिखर है जो हमें आहूत करता है, वह है—इस विश्वमय एकत्व से उठकर दिव्य परात्परता के एकत्व में आरोहण करना। हमारे कर्मों तथा हमारी सत्ता का स्वामी इहलोक में हमारा अन्तर्यामी ईश्वर ही नहीं है, न ही वह विश्वात्मा या किसी प्रकार की सर्वव्यापी शक्तिमात्र है। जगत् और भगवान् बिल्कुल एक ही चीज नहीं हैं, जैसा कि एक विशेष प्रकार के सर्वेश्वरवादी विचारकों का अभिमत है। जगत् अंशविभूति है; यह किसी ऐसी वस्तु पर अवलंबित है जो इसमें प्रकट तो होती है, पर इससे सीमित नहीं हो जाती। भगवान् केवल यहां ही हों ऐसी बात नहीं; एक परतत्त्व का भी अस्तित्व है, अनन्त परात्परता की भी अस्ति है। व्यष्टि-सत्ता भी, अपने आध्यात्मिक अंश में, वैश्व सत्ता के अन्दर बनी हुई कोई रचना नहीं है—हमारा अहं, हमारा मन, प्राण और शरीर अवश्य ही ऐसी रचनाएं हैं; परन्तु हमारे अन्दर की नित्य निर्विकार आत्मा किंवा हमारा अविनाशी जीव परात्परता में से प्रादुर्भूत हुआ है।

*

वह परात्पर, जो सकल जगत् और सम्पूर्ण प्रकृति से परे है और फिर भी जगत् तथा इसकी प्रकृति का स्वामी है, जो अपने एकांश से इसमें अवतरित है और इसे एक अभूतपूर्व वस्तु में रूपान्तरित कर रहा है,—वह हमारी सत्ता का भी मूल है और वही हमारे कर्मों का उद्गम एवं स्वामी भी है। परन्तु परात्पर चेतना का धाम है ऊर्ध्व में, दिव्य सत्ता की केवलता में—और सनातन देव की पराशक्ति, सत्य एवं आनन्द भी वहीं है; हमारा मन उस केवलता की तनिक भी कल्पना नहीं कर सकता और हमारा बड़े-से-बड़ा आध्यात्मिक अनुभव भी हमारे अध्यात्म-भावित मन तथा हृदय में उस केवलता का एक क्षीण प्रतिबिम्बमात्र होता है, उसकी एक मन्द छाया एवं क्षुद्र शाखा ही होता है। तथापि इसीसे उद्भूत, ज्योति, शक्ति, आनन्द

और सत्य का एक प्रकार का सौवर्ण प्रभामण्डल भी विद्यमान है जिसे प्राचीन गुह्यदर्शियों की भाषा में दिव्य ऋत-चेतना, अतिमानस वा विज्ञान कह सकते हैं। इस अविद्याजन्य, हीनतर-चेतनामय जगत् का उस विज्ञान से गूढ़ सम्बन्ध है और वह विज्ञान ही इसे धारण करता तथा विघटित अस्तव्यस्त स्थिति में गिरने से बचाता है। जिन शक्तियों को हम आज प्रज्ञान, अन्तर्ज्ञान या ज्ञानदीप्ति का नाम देकर सन्तोष कर लेते हैं वे तो केवल क्षीणतर प्रकाश हैं जिनका वह पूर्ण एवं जाज्वल्यमान उद्गम है। उच्चतम मानवीय बुद्धि के तथा उसके बीच आरोहणशील चेतना के अनेक स्तर हैं; उच्चतम मानसिक या अधिमानसिक स्तर हैं जिन्हें अधिकृत करने के बाद ही हम वहां पहुंच सकते हैं अथवा उसकी महिमा-गरिमा यहां उतार ला सकते हैं। यह आरोहण अथवा यह विजय कठिन भले ही हो, पर यह मानव-आत्मा की नियति है और दिव्य सत्य का ज्योतिर्मय अवरोहण या अवतरण पृथ्वी-प्रकृति के कृच्छ्र विकास की एक अवश्यम्भावी अवस्था है। वह उद्दिष्ट पूर्णता ही मानव-आत्मा के अस्तित्व का हेतु है, हमारी सर्वोच्च अवस्था तथा हमारे पार्थिव जीवन का मर्म है। कारण, यद्यपि परात्पर भगवान् हमारी रहस्यता के गुह्य हृदय में पुरुषोत्तम के रूप में यहां पहले से ही विराजमान हैं, तथापि वह अपनी सम्मोहिनी विश्वव्यापी योगमाया के नाना आवरणों एवं छद्मवेषों के द्वारा आवृत है। इहलोक में इस देह के भीतर आत्मा के आरोहण एवं विजय से ही वे आवरण-पट खुल सकते हैं, और अर्द्ध-सत्य का यह उलझा हुआ बाना जो सर्जनकारी भ्रम बन जाता है तथा यह उदयनशील ज्ञान जो जड़-तत्त्व की निश्चेतना में डुबकी लगाकर धीमे-धीमे और थोड़ा-थोड़ा अपनी ओर लौटता हुआ एक प्रबल अज्ञान में परिणत हो जाता है—इन दोनों के स्थान पर परम सत्य की क्रियाशीलता प्रतिष्ठित हो सकती है।

कारण, यहां इस जगत् के अन्दर विज्ञान सत्ता के मूल में गुप्त रूप से चाहे विद्यमान है, किन्तु जो शक्ति यहां क्रिया कर रही है वह विज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान-अज्ञान का इन्द्रजाल है, एक अपरिमेय पर प्रत्यक्षतः-यान्त्रिक अधिमानस-माया है। भगवान् हमें यहां अखण्ड दृष्टि में यों दिखायी देता है कि वह एक सम, निष्क्रिय एवं निर्व्यक्तिक साक्षी आत्मा है, गुण या देश-काल के बन्धन से रहित एक अचल, अनुमन्ता पुरुष है। उसका आश्रय या अनुमति समस्त कर्म तथा उन सब शक्तियों की क्रीड़ा को निष्पक्ष रूप से प्राप्त होती है जिन्हें परात्पर संकल्प ने इस जगत् में अपने-आपको चरितार्थ करने के लिये एक बार स्वीकृति और अधिकार दे दिया है। वस्तुओं में निहित यह साक्षी आत्मा या यह अचल आत्मतत्त्व किसी प्रकार का भी संकल्प और निर्धारण नहीं करता प्रतीत होता। परन्तु हमें यह अनुभव हो जाता है कि उसकी यह निष्क्रियता एवं मौन उपस्थिति ही सब वस्तुओं को उनके अज्ञान में भी एक दिव्य लक्ष्य की ओर यात्रा करने के लिये बाध्य करती

है और विभाजन की अवस्था से उन्हें एक अद्यावधि-अचरितार्थ एकत्व की ओर आकृष्ट करती है। तथापि कोई परम निर्भ्रान्त भागवत संकल्प यहां विद्यमान प्रतीत नहीं होता, केवल एक विपुलतया विस्तारित विश्व-शक्ति अथवा एक यान्त्रिक कार्यवाहक 'प्र-क्रिया', 'प्र-कृति' ही, प्रतीत होती है। यह विश्वात्मा का एक पार्श्व है। उसका एक दूसरा पार्श्व भी है जो अपने को विश्वमय भगवान् के रूप में प्रस्तुत करता है, वह सत्ता में एक है, व्यक्तित्व एवं शक्ति में बहुविध। जब हम उसकी विराट् शक्तियों की चेतना में प्रवेश करते हैं तो वह हमें अनन्त गुण, संकल्प, कर्म, विश्वव्यापी विशाल ज्ञान तथा एक किन्तु असंख्यविध आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है। कारण, उसके द्वारा हम सर्वभूतों के साथ सारतः ही नहीं, बल्कि उनकी कार्यलीला में भी एक हो जाते हैं, अपनेको सबमें और सबको अपनेमें देखते हैं, समस्त ज्ञान, विचार एवं भाव को एक ही मन तथा हृदय की चेष्टाएं और समस्त बल एवं कर्म को एक ही सर्वसमर्थ संकल्प की गति अनुभव करते हैं; समस्त जड़तत्त्व और आकार को एक ही देह के अंग-प्रत्यंग, सब व्यक्तियों को एक ही व्यक्ति की शाखा-प्रशाखाएं एवं अहंभावों को एकमेवाद्वितीय वास्तविक सत्स्वरूप "मैं" की विकृतियां अनुभव करते हैं। उसमें तब हमारी कोई पृथक् स्थिति नहीं रह जाती, वरन् हमारा सक्रिय अहंकार वैश्व गति में वैसे ही खो जाता है जैसे निर्गुण, नित्य-निर्लिप्त एवं अनासक्त साक्षी के द्वारा हमारा स्थितिशील अहंभाव सार्वभौम शान्ति में लीन हो जाता है।

परन्तु अभी भी, दूरस्थ दिव्य निश्चल-नीरवता तथा सर्वव्यापी दिव्य कर्म, इन दोनों अवस्थाओं में विरोध बना रहता है। इसका हम अपने अन्दर एक ऐसे प्रकार से एवं ऐसे बड़े परिमाण में समाधान कर सकते हैं जो हमें पूर्ण प्रतीत होता है, पर वास्तव में पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह रूपान्तर एवं विजय को पूर्ण रूप से सम्पन्न नहीं कर सकता। सार्वत्रिक शान्ति, ज्योति, शक्ति एवं आनन्द की सम्पदा हमें प्राप्त हो जाती है, पर इसकी वास्तविक अभिव्यक्ति वही नहीं होती जो ऋत-चेतना या दिव्य विज्ञान की हो सकती है; यद्यपि यह अद्भुत रूप में स्वतन्त्र, उदात्त एवं आलोकित होती है फिर भी विश्वात्मा की वर्तमान अभिव्यक्ति का ही समर्थन करती है। यह अज्ञानमय जगत् के अस्पष्ट प्रतीकों एवं आवृत रहस्यों का वैसा रूपान्तर नहीं करती जैसा कि परात्पर अवतरण करेगा। हम स्वयं स्वतन्त्र हो जाते हैं, पर पृथ्वी-चेतना बंधन में ही ग्रस्त रहती है। एक और भी आगे का परात्पर आरोहण एवं अवरोहण ही इस विरोध का पूर्ण रूप से समाधान कर हमें रूपान्तरित और बंधनमुक्त कर सकता है।

कर्मों के स्वामी का एक तीसरा अत्यन्त घनिष्ठ एवं वैयक्तिक रूप भी है जो उसके अनुत्तम गूढ़ रहस्य एवं आनन्दातिरेक की कुंजी है। कारण, वह गुप्त परात्परता के रहस्य से तथा वैश्व गति के अस्पष्ट प्राकट्य से भगवान् की एक

व्यष्टि-शक्ति को पृथक् करता है जो दोनों के बीच मध्यस्थ का काम कर सकती है तथा एक से दूसरे तक पहुंचने के लिये सेतु बांध सकती है। इस रूप में भगवान् का विश्वातीत और विश्वमय व्यक्तित्व हमारे व्यष्टि-भावापन्न व्यक्तित्व के अनुरूप है और हमारे साथ वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करना स्वीकार करता है। हमारी परम आत्मा के रूप में वह हमसे एकाकार रहता है और फिर भी हमारे स्वामी, सखा, प्रेमी, गुरु, पिता एवं माता तथा महान् विश्वलीला में हमारे क्रीड़ा-सहचर के रूप में हमारे निकट और हमसे भिन्न भी रहता है। इन सब रूपों में उसने हमारे मित्र एवं शत्रु या सहायक एवं बाधक रहकर बराबर ही अपनेको छिपाये रखा है और, हमपर प्रभाव डालनेवाले सभी सम्बन्धों तथा व्यापारों में उसने हमें हमारी पूर्णता तथा मुक्तता का मार्ग दिखाया है। इस अधिक वैयक्तिक अभिव्यक्ति के द्वारा ही परात्पर के पूर्ण अनुभव की प्राप्ति के द्वार हमारे लिये खुल सकते हैं। कारण, वैयक्तिक भगवान् के अन्दर हम एकमेव से जो सम्पर्क प्राप्त करते हैं वह केवल मुक्त निश्चलता और शान्ति में अथवा कर्मगत निष्क्रिय या सक्रिय समर्पण के द्वारा या अपने अन्दर व्याप्त तथा अपने मार्ग-निर्देशक वैश्व ज्ञान एवं बल के साथ एकत्व के रहस्य के द्वारा ही प्राप्त नहीं करते, बल्कि दिव्य प्रेम और दिव्य आनन्द के उल्लास के द्वारा भी हम उससे सम्पर्क प्राप्त करते हैं—ऐसे उल्लास के द्वारा जो प्रशान्त साक्षी और सक्रिय विश्व-शक्ति को तीव्र वेग से अतिक्रान्त करके एक महत्तर आनन्दपूर्ण रहस्य का विशेष निश्चयात्मक पूर्वज्ञान प्राप्त करता है। वास्तव में, हमारे साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध पर अद्यावधि अत्यन्त अस्पष्ट यह वैयक्तिक रूप अपने प्रगाढ़ आवरण में हमारे लिये परात्पर परमेश्वर के गहन और मादक रहस्य को और उसकी पूर्ण सत्ता तथा उसके तन्मयकारी परम सुख एवं रहस्यमय आनन्द की एक चरम निश्चयता को जितना अधिक आवेष्टित रखता है उतना न तो वह ज्ञान ही आवेष्टित रखता है जो किसी अनिर्वचनीय परतत्त्व की ओर ले जाता है और न वह कर्मकलाप जो हमें जगत्-प्रक्रिया से परे अपने आदि-कारण, परम ज्ञाता और परम प्रभु की ओर ले जाता है।

परन्तु भगवान् के साथ का वैयक्तिक सम्बन्ध सर्वदा या प्रारम्भ से ही एक बृहत्तम विस्तार या उच्चतम आत्म-अतिक्रमण को बलपूर्वक स्थापित नहीं कर देता। हमारी सत्ता की निकटवर्ती या हमारा अन्तर्यामी यह देवाधिदेव पहले-पहल हमें अपनी वैयक्तिक प्रकृति तथा अनुभूति के क्षेत्र में ही, नायक एवं स्वामी, मार्गदर्शक एवं गुरु एवं मित्र एवं प्रेमी के रूप में अथवा एक आत्मसत्ता, शक्ति या उपस्थिति के रूप में भी पूर्णरूपेण अनुभूत हो सकता है। सुतरां, हमें यह अनुभव हो सकता है कि यह हमारे हृदय में अवस्थित अपने अन्तरंग सत्य-स्वरूप की शक्ति के द्वारा हमारी ऊर्ध्वमुख और विस्तारशील गति को निर्मित तथा उन्नीत करता है या हमारी उच्चतम बुद्धि के भी ऊपर से हमारी प्रकृति पर शासन करता है। हमारा वैयक्तिक

विकास ही उसका मुख्य कार्य है, उसके साथ हमारा वैयक्तिक सम्बन्ध ही हमारा हर्ष और हमारी परिपूर्णता है, अपनी प्रकृति को उसकी दिव्य प्रतिमा में गढ़ना ही हमारी आत्म-उपलब्धि और सिद्धि है। मालूम होता है यह बाह्य जगत् इसीलिये बनाया गया है कि यह इस विकास के क्षेत्र का काम करे और इसकी क्रमिक अवस्थाओं के लिये साधन-सामग्री या सहायक एवं बाधक शक्तियां जुटाये। इस जगत् में हम जो भी काम करते हैं वे सब उसीके काम हैं, परन्तु जब वे कोई अस्थायी सार्वभौम उद्देश्य पूरा करते हैं तब भी हमारे लिये उनका मुख्य प्रयोजन इस अन्तर्यामी भगवान् से अपने सम्बन्धों को बाह्यतः सक्रिय बनाना या इन्हें आभ्यन्तर शक्ति प्रदान करना ही होता है। अनेक जिज्ञासु इससे अधिक कुछ नहीं मांगते अथवा वे इस आध्यात्मिक प्रस्फुटन की अविच्छिन्नता और परिपूर्णता केवल परतर लोकों में ही अनुभव करते हैं; भगवान् से मिलन पूर्ण रूप से उपलब्ध हो जाता है और उसके पूर्णत्व, हर्ष एवं सौन्दर्य के नित्य धाम में यह शाश्वत हो जाता है। परन्तु सर्वांगीण उपलब्धि के अन्वेषक के लिये यह पर्याप्त नहीं है। दूसरों से अलग-थलग निजी वैयक्तिक उपलब्धि, वह चाहे कैसी भी महान् और भव्य क्यों न हो, उसका सम्पूर्ण लक्ष्य या समग्र अस्तित्व नहीं हो सकती। एक ऐसा समय अवश्य आता है जब व्यक्ति विराट् की ओर खुलता है; यहांतक कि हमारा आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक व्यष्टिभाव ही नहीं, अपितु शारीरिक व्यष्टिभाव तक विश्वमय हो जाता है। यह देवाधिदेव की वैश्व शक्ति तथा विश्वात्मा का शक्त्यंश दिखायी देता है अथवा यह जगत् को उस अनिर्वचनीय विशालता में धारण करता है जो व्यष्टि-चेतना को तब प्राप्त होती है जब यह अपने बंधन तोड़कर ऊपर परात्पर की ओर तथा सब तरफ अनन्त में प्रवाहित होती है।

*

जो योग केवल अध्यात्म-भावित मानसिक स्तर पर ही चरितार्थ किया जाता है उसमें भगवान् की वैयक्तिक या अन्तर्यामी, विश्वमय और विश्वातीत—इन तीन मूल अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् अनुभवों के रूप में प्रत्यक्ष होना सम्भव है और ऐसा प्रायः होता ही है। तब इन अनुभवों में से प्रत्येक अकेला ही जिज्ञासु की उत्कंठा की पूर्ति के लिये पर्याप्त प्रतीत होता है। निभृत ज्योतिर्मय हृदय-गुहा में वैयक्तिक भगवान् के साथ एकाकी विचरता हुआ वह अपनी सत्ता को प्रियतम के अनुरूप गढ़ सकता है और अवपतित प्रकृति से निस्तार पाकर आत्मा के किसी उच्च लोक में उसके साथ निवास करने के लिये आरोहण कर सकता है। सार्वभौम विशालता में स्वतन्त्र, अहं से मुक्त, निज व्यक्तित्व में विश्व-शक्ति की क्रिया का केंद्रमात्र, निज सत्ता में शान्त-मुक्त, विश्वमयता में अमर, असीम देश-काल में अनन्ततः

विस्तृत पर साक्षी आत्मा में निश्चल वह संसार में सनातन के स्वातंत्र्य का उपभोग कर सकता है। किसी अनिर्वचनीय परात्परता में एकाग्र होकर, अपने पृथक् व्यक्तित्व का विसर्जन कर, जागतिक हलचल के आयास-प्रयास को तिलांजलि देकर वह अवर्णनीय निर्वाण की शरण में जा सकता है, अकथनीय की ओर एक असहिष्णु ऊंची उड़ान में वह सभी वस्तुओं को मिथ्या घोषित कर सकता है।

परन्तु जो व्यक्ति सर्वांगीण योग की विशाल पूर्णता चाहता है उसके लिये इनमें से कोई भी उपलब्धि पर्याप्त नहीं है। वैयक्तिक मोक्ष उसके लिये बस नहीं; क्योंकि वह अपनेको उस विश्व-चैतन्य की ओर खुलता अनुभव करता है जो अपनी विशालता एवं बृहत्ता से हमारी सीमित वैयक्तिक पूर्णता की संकीर्णतर तीव्रता को सर्वथा अतिक्रान्त किये हुए है। इस चैतन्य की पुकार अलंघ्य होती है; इसकी अति महत् प्रेरणा से प्रचालित होकर उसे सब विभाजक सीमाएं तोड़ डालनी होंगी, अपने को विश्व-प्रकृति में फैला देना तथा संसार को अपनेमें समा लेना होगा। ऊर्ध्व में भी एक अनिर्वचनीय सक्रिय उपलब्धि उसके लिये प्रस्तुत है जो परम देव के धाम से इस प्राणिजगत् पर दबाव डाल रही है। वह अद्यावधि अनवतरित ऐश्वर्य यहां तभी व्यक्त हो सकता है यदि हम पहले विश्व-चेतना को किसी अंश में परिव्याप्त करें और फिर इसे अतिक्रान्त कर जायें। परन्तु विश्व-चैतन्य भी काफी नहीं है, क्योंकि यह अशेष भागवत सद्वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण सत्ता नहीं है। व्यक्तित्व के मूल में एक दिव्य रहस्य निहित है जिसे ढूंढ़ निकालना पूर्णयोग के साधक के लिये आवश्यक है; परात्परता के देह-धारण का रहस्य वहां उपस्थित है और काल के भीतर व्यक्त होने के लिये प्रतीक्षा कर रहा है। इस विश्व-चेतना के अन्दर भी अन्त में एक छिद्र रह जाता है, वह यह कि एक उच्चतम ज्ञान, जो मुक्त तो कर सकता है, पर कुछ भी क्रियान्वित नहीं कर सकता, विश्व-शक्ति के साथ समान रूप से सन्तुलित नहीं होता, क्योंकि यह शक्ति सीमित ज्ञान का प्रयोग करती प्रतीत होती है अथवा यह अपने-आपको एक ऐसे तलीय अज्ञान से आवृत रखती है जो सर्जन तो कर सकता है, पर केवल अपूर्णता का या एक क्षणिक, सीमित और निगड़ित पूर्णता का। एक ओर तो स्वतन्त्र निष्क्रिय साक्षी होता है और दूसरी ओर होती है एक बद्ध कार्यकर्त्री जिसे कार्य के सब साधन प्राप्त ही नहीं हैं। प्रतीत होता है कि इन दो सहचरों और प्रतिपक्षियों का समन्वय एक 'अव्यक्त' में जो अभी हमसे परे है, रक्षित, स्थगित और निरुद्ध रखा हुआ है। दूसरी ओर, केवल किसी प्रकार की कूटस्थ परात्परता में पलायन कर जाने से ही हमारा व्यक्तित्व कृतार्थ नहीं होता और इससे वैश्व कर्म भी निरर्थक ही हो जाता है। अतएव, पूर्ण सत्य के जिज्ञासु को इससे सन्तुष्टि नहीं हो सकती। वह अनुभव करता है कि नित्य सत्य एक ऐसी शक्ति है जो सर्जन करती है और साथ ही वह एक अविनाशी सत्ता भी है; वह केवल मायिक या अज्ञानमय अभिव्यक्ति की शक्ति नहीं है। सनातन सत्य अपने

सत्यों को काल में व्यक्त कर सकता है। वह निश्चेतना और अज्ञान में ही नहीं, बल्कि ज्ञान में भी सृष्टि कर सकता है। भगवान् की ओर आरोहण करने के समान ही भगवान् का अवतरित होना भी सम्भव है; भावी पूर्णता और वर्तमान मुक्ति को अवतारित करने की सम्भावना भी विद्यमान है। जैसे-जैसे उसका ज्ञान विस्तृत होता है, उसके सामने यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि सर्वकर्ममहेश्वर ने यहां उसके अन्दर अन्तरात्मा को अन्धकार के भीतर अपनी अग्नि के स्फुलिंग के रूप में इसीलिये निक्षिप्त किया था कि यह सनातन ज्योति के एक केंद्र के रूप में विकसित हो सके।

परात्पर, विश्वात्मा तथा व्यष्टि—ये तीन शक्तियां सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के ऊपर वितान की तरह छायी हुई हैं, ये इसके आधार में निहित और इसके अन्दर प्रविष्ट हैं; यह त्रैतों में से प्रथम त्रैत है। चेतना के उन्मेष में भी यही तीन मूल अवस्थाएं प्रकट होती हैं और यदि हम सत्ता के सम्पूर्ण सत्य का अनुभव करना चाहें तो इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। व्यष्टि-चेतना में से हम विशालतर एवं स्वतन्त्रतर विश्व-चेतना में जागरित होते हैं; किन्तु आकृतियों एवं शक्तियों की जटिल ग्रन्थि से युक्त विश्व-चेतना में से हम एक और भी महान् आत्म-अतिक्रमण के द्वारा एक ऐसी निःसीम चेतना में उदित होते हैं जो परब्रह्म पर आधारित है। तथापि इस आरोहण में जिस चीज को हम छोड़ते प्रतीत होते हैं उसे वास्तव में हम नष्ट नहीं कर डालते, वरन् उन्नीत और रूपान्तरित कर देते हैं। कारण, एक ऐसा शिखर भी है जहां ये तीनों शक्तियां नित्य रूप से एक-दूसरी में निवास करती हैं। उस शिखर पर ये अपने समस्वरित एकत्व की नाभि में सानन्द संयुक्त हो जाती हैं। परन्तु वह शिखर ऊंचे-से-ऊंचे तथा विस्तृत-से-विस्तृत अध्यात्ममय मन से भी परे है, चाहे मन में भी उसकी कुछ छाया अवश्य अनुभव की जा सकती है। उसे प्राप्त करने तथा उसमें निवास करने के लिये मन को अपने-आपको पार करके अतिमानसिक विज्ञानमय ज्योति, शक्ति एवं सत्तत्त्व में रूपान्तरित होना होगा। इस निम्नतर क्षीण चेतना में समस्वरता के लिये प्रयत्न अवश्य किया जा सकता है, पर वह समस्वरता सदा अपूर्ण ही रहेगी। एक प्रकार की सुसंगति तो सम्भव है पर समकालिक एकीभूत परिपूर्णता नहीं। किसी भी महत्तर उपलब्धि के लिये मन को पार कर ऊपर आरोहण करना अपरिहार्य है। अथवा, आरोहण के साथ या इसके परिणामस्वरूप उस स्वयंभू सत्य का क्रियाशील अवतरण होना भी आवश्यक है जो प्राण और जड़तत्त्व की अभिव्यक्ति से पूर्वतर एवं सनातन है और नित्य ही मन से ऊपर अपने निज प्रकाश में उन्नीत रहता है।

कारण, मन माया है, अर्थात् यह सत्-असत् है। सत्य और मिथ्या, सत् और असत् के आलिंगन का भी अपना एक क्षेत्र है और उस द्विधा-संकुल क्षेत्र में ही मन शासन करता प्रतीत होता है। पर वास्तव में यह अपने राज्य में भी एक

परिक्षीण चेतना है, यह सनातन की आद्या परमोत्पादिका शक्ति का अंश नहीं है। मूल तात्त्विक सत्य की किसी प्रतिमा को प्रतिक्षिप्त करने में यह समर्थ भले ही हो, किन्तु इसमें सत्य की गतिशील शक्ति और क्रिया सदा छिन्न-भिन्न ही दीख पड़ती है। मन तो केवल टुकड़ों को जोड़ सकता है अथवा एकता का अनुमानमात्र कर सकता है; मन का सत्य या तो केवल एक अर्द्ध-सत्य होता है या पहेली का एक अंश। मानसिक ज्ञान सदा आपेक्षिक, आंशिक और अनिर्णायक होता है। इसकी बहिर्मुखी क्रिया और रचना इसके व्यापारों में और भी अधिक भ्रान्त रूप धारण कर लेती हैं अथवा ये केवल संकीर्ण सीमाओं में ही यथार्थ होती हैं, किंवा खंड सत्यों को अपूर्ण ढंग से मिलाने पर ही कोई यथार्थ वस्तु बनती हैं। इस क्षीण चेतना में भी भगवान् मनोगत आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होता है, ठीक वैसे ही जैसे वह प्राण के अन्दर एक आत्मा के रूप में विचरण करता है अथवा और भी अधिक अस्पष्टतया जड़ के अन्दर एक आत्मा के रूप में वास करता है। परन्तु उसका पूर्ण क्रियाशील प्राकट्य मन में नहीं है, सनातन के पूर्ण तादात्म्य यहां नहीं हैं। हमारे अस्तित्व का स्वामी अपनी सत्ता और अपनी शक्तियों एवं क्रियाओं के अक्षय अखंड सत्य में हमारे समक्ष तभी प्रकाशित होगा जब हम मन की सीमा पार कर उस विशालतर ज्योतिर्मय चेतना तथा आत्म-सचेतन सत्ता में पहुंच जायेंगे, जहां दिव्य सत्य का निजधाम है और जहां वह परदेशी की तरह निवास नहीं करता। वहीं हमारे भीतर हमारी सत्ता के स्वामी के कार्य उसके अमोघ अतिमानसिक प्रयोजन की अविकल गति का रूप धारण कर लेंगे।

*

यह फल सुदीर्घ एवं कठिन यात्रा के अन्त में ही प्राप्त होता है। परन्तु कर्मों का स्वामी योगमार्ग के जिज्ञासु पथिक से मिलने और उसपर तथा उसके अन्तर्जीवन एवं कार्यों पर अपना अदृश्य या अर्द्ध-दृश्य दिव्य हस्त धरने को तबतक प्रतीक्षा नहीं करता रहता। इस संसार में वह विद्यमान तो पहले से ही है,—अचित् के सघन आवरणों के पीछे वह कर्मों के प्रवर्तक और ग्रहीता के रूप में विराजमान है, परा प्राण-शक्ति के भीतर वह प्रच्छन्न रूप में अवस्थित है तथा प्रतीकात्मक देवताओं एवं प्रतिमाओं के द्वारा मन के लिये गोचर भी है। यह भी खूब सम्भव है कि वह पूर्णयोग के मार्ग के लिये नियत भाग्यशाली आत्मा को पहले-पहल इन छद्मवेशों में ही दर्शन दे। अथवा यह भी हो सकता है कि इनसे भी अधिक अस्पष्ट आवरणों से आवृत उस सर्वकर्ममहेश्वर को हम एक आदर्श के रूप में परिकल्पित करें या उसे प्रेम, शुभ, सौन्दर्य या ज्ञान की एक अमूर्त्त शक्ति का मानसिक रूप दे दें। अथवा, जैसे ही हम पथ की ओर पग बढ़ायें वह मानवता की एक ऐसी पुकार या एक ऐसे विश्वगत संकल्प के प्रच्छन्न वेष में हमारे समक्ष

प्रकट हो सकता है जो हमें अज्ञान के प्रधान चतुष्टय—अन्धकार, असत्य, मृत्यु और दुःख—के पंजे से जगत् का परित्राण करने के लिये प्रेरित करता है। पीछे जब हम इस मार्ग में पदार्पण कर चुकते हैं, वह हमें अपनी विशाल एवं महान् स्वातंत्र्यप्रद निर्व्यक्तिकता के द्वारा सब ओर से व्याप्त कर लेता है, या वह व्यक्तित्ववान् ईश्वर की छवि और आकृति के साथ हमारे समीप विचरता है। अपने भीतर तथा चारों ओर हम एक ऐसी शक्ति की उपस्थिति अनुभव करते हैं जो धारण-भरण, रक्षण तथा पालन-पोषण करती है। हम एक मार्गदर्शिका वाणी का श्रवण करते हैं। हम से महत्तर एक सचेतन संकल्प हम पर शासन करता है। एक अलंघ्य शक्ति हमारे विचार एवं कार्य-कलाप और हमारे शरीर तक का संचालन करती है। एक नित्य-विस्तारशील चेतना हमारी चेतना को आत्मसात् कर लेती है, ज्ञान की एक जीवन्त ज्योति अन्तर में सर्वत्र प्रज्वलित हो जाती है, अथवा एक दिव्यानन्द हमें अधिकृत कर लेता है। एक ठोस, बृहत् और अदम्य शक्तिमत्ता ऊपर से दबाव डालती है, हमारी प्रकृति के उपादान तक के भीतर पैठ जाती है और अपनेको इसके अन्दर उंडेल देती है। शान्ति, ज्योति, आनन्द, शक्ति और महिमा-गरिमा वहां अवस्थित हो जाती हैं। अथवा, वहां सम्बन्ध भी होते हैं,—वैयक्तिक, स्वयं जीवन की ही भांति घनिष्ठ, प्रेम के समान मधुर, गगन के समान व्यापक, अगाध सिंधु की भांति गभीर। एक सखा हमारे पास विचरता है; एक प्रेमी हमारे हृदय की गुहा में हमारे संग होता है, कर्म और अग्नि-परीक्षा का स्वामी हमें मार्ग दिखाता है; वस्तुओं का स्रष्टा हमें अपने यन्त्र के रूप में प्रयुक्त करता है; हम अनाद्यनन्त जननी की गोद में होते हैं। ये सब अधिक ग्राह्य रूप, जिनमें वह अनिर्वचनीय हमसे मिलता है, सत्य हैं, ये केवल सहायक, प्रतीक या उपयोगी कल्पनाएं ही नहीं हैं। परन्तु जैसे-जैसे हम विकसित होते हैं, हमारे अनुभव में विद्यमान इनके आदिम अपूर्ण रूप अपने मूलवर्ती एकमेव सत्य की विशालतर दृष्टि के अनुगत होते जाते हैं। पद-पद पर भगवान् के इन नाना रूपों के निरे मानसिक आवरण हटते जाते हैं और ये अधिक विस्तृत, अधिक गंभीर एवं अधिक अन्तरीय अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। अन्त में अतिमानसिक सीमाओं पर ये सब देवता अपने पवित्र रूपों को मिला देते हैं और, अपना अस्तित्व जरा भी खोये बिना, परस्पर घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। इस पथ पर भागवत रूप केवल त्याग दिये जाने के लिये ही प्रकट नहीं होते। ये अस्थायी आध्यात्मिक सुविधाएं या मायामय चेतना के साथ समझौते भी नहीं होते और न ही ये ऐसी स्वप्न-मूर्त्तियां होते हैं जो परब्रह्म की अवर्णनीय अतिचेतना के द्वारा गुह्य ढंग से हमपर प्रतिक्षिप्त कर दी जाती हैं। इसके विपरीत, जैसे-जैसे ये अपने उद्गमभूत सत्य के निकट पहुंचते हैं वैसे-वैसे इनकी शक्ति बढ़ती जाती है और इनकी निरपेक्ष पूर्णता प्रकट होती जाती है।

वह अद्यावधि-अतिचेतन परात्परता एक शक्ति भी है और सत्ता भी। अतिमानसिक परात्परता कोई शून्य महाश्चर्य नहीं है, बल्कि एक अनिर्वचनीय तत्त्व है जो अपने से उत्पन्न सभी मौलिक वस्तुओं को सदा अपने अन्दर समाये रखता है। उन्हें यह उनकी परम नित्य सत्यता में तथा उनके अपने विशिष्ट चरम रूप में धारण करता है। ह्रास, विभाजन तथा अवपतन, जो यहां एक असंतोषजनक पहेली की वा माया के रहस्य की भावना पैदा करते हैं, हमारे आरोहण में स्वयं क्षीण हो जाते हैं, तथा हमसे झड़ जाते हैं, और भागवत शक्तियां अपने वास्तविक रूप धारण कर लेती हैं तथा उत्तरोत्तर ऐसी प्रतीत होती हैं कि ये यहां चरितार्थ होते हुए सत्य की ही अवस्थाएं हैं। भगवान् की आत्मा यहां विद्यमान है और जड़ निश्चेतना में अपने निवर्तन तथा आवेष्टन में शनैः-शनैः जाग रही है। हमारे कर्मों का स्वामी भ्रमों का स्वामी नहीं है, बल्कि एक परम सद्वस्तु है जो अविद्या के उन कोयों से क्रमशः प्रसूत होनेवाली अपनी आत्म-प्रकाशक सद्वस्तुओं का निर्माण कर रहा है जिनमें वे विकासात्मक अभिव्यक्ति के प्रयोजनों के लिये कुछ देर सोयी पड़ी रहने दी गयी हैं। अतिमानसिक परात्परता कोई ऐसी चीज नहीं है जो हमारे वर्तमान अस्तित्व से सर्वथा पृथक् एवं असम्बद्ध हो। यह एक महत्तर ज्योति है जिसमें से यह सब कुछ इसलिये प्रादुर्भूत हुआ है कि आत्मा शनैः-शनैः निश्चेतना में पतित होने और फिर उसमें से आविर्भूत होने का अद्‌भुत कर्म कर सके। इस भगीरथ कर्म के चलते रहते यह हमारे मन के ऊपर अतिचेतन रूप में प्रतीक्षा करती रहती है जिससे यह अन्त में हमारे अन्दर सचेतन रूप धारण कर सके। आगे चलकर यह अपने-आपको अनावृत करेगी और इस अनावरण के द्वारा हमारी सत्ता तथा हमारे कर्मों का सम्पूर्ण मर्म हमारे समक्ष प्रकाशित कर देगी। यह उस भगवान् को आविर्भूत करेगी जिसकी इस जगत् में पूर्णतर अभिव्यक्ति सत्ता के गुप्त मर्म को उद्‌घाटित और चरितार्थ कर देगी।

उस आविर्भाव में परात्पर भगवान् हमारे सम्मुख उत्तरोत्तर इस रूप में प्रकाशित होता जायेगा कि वह परम सत् है तथा हम जो कुछ भी हैं उस सबका पूर्ण उद्‌गम है। पर साथ ही हम इस रूप में भी उसके दर्शन करेंगे कि वह कर्मों तथा सृष्टि का स्वामी है जो अपनी अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अपनेको अधिकाधिक प्रवाहित करने को उद्यत रहता है। विश्वचेतना तथा उसका व्यापार तब पहले की तरह एक विशाल एवं नियमित आकस्मिक संयोग नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति का क्षेत्र प्रतीत होंगे। वहां भगवान् इस रूप में दिखायी देगा कि वह अधिष्ठातृ-स्वरूप सर्वव्यापी विश्वात्मा है जो सब कुछ परात्परता में से ग्रहण करता है तथा जो कुछ इस प्रकार अवतरित होता है उसे वह ऐसे आकारों में विकसित करता है जो अभी अपारदर्शक छद्मरूप या प्रवंचक अर्द्ध-छद्मरूप हैं, पर जो आगे चलकर अवश्य ही एक पारदर्शक अभिव्यक्ति बन जायेंगे। तब वैयक्तिक चेतना अपना सच्चा मर्म और

व्यापार पुनः अधिगत कर लेगी, क्योंकि यह आत्मा का एक ऐसा रूप है जो पुरुषोत्तम से भेजा गया है और, समस्त प्रतीतियों के रहते हुए भी, यह एक ऐसा बीज वा नीहारिका है जिसके भीतर भगवती मातृशक्ति कार्य कर रही है जिससे कि वह काल तथा जड़तत्त्व में कालातीत एवं निराकार भगवान् की एक विजयशाली अभिव्यक्ति साधित कर सके। हमारी दृष्टि और अनुभूति के सामने शनैः-शनैः यह तथ्य प्रकट होता जायगा कि यही कर्मों के स्वामी की इच्छा है तथा यही उसका अपना अन्तिम मर्म है, और इस मर्म से ही जगत् की उत्पत्ति को एवं जगत् में हमारे कर्म को सार्थकता एवं प्रकाश प्राप्त होते हैं। इस तथ्य को हृदयंगम करना तथा इसकी चरितार्थता के लिये यत्न करना पूर्णयोग में दिव्य-कर्ममार्ग का सम्पूर्ण सार-सर्वस्व है।

अध्याय १२

दिव्य कर्म

जब कर्ममार्ग के साधक की खोज अपने स्वाभाविक रूप में पूरी हो जाती है या पूरी होने लगती है तब भी उसके सामने एक प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि मुक्ति के बाद आत्मा के लिये कोई कर्म शेष रहता है या नहीं और यदि रहता है तो कौन-सा तथा किस प्रयोजन के लिये? समता उसकी प्रकृति में प्रतिष्ठित हो चुकी है और उसकी सम्पूर्ण प्रकृति पर शासन करती है; अहं-बुद्धि तथा विस्तृत अहंभाव से और अहंकार की समस्त भावनाओं एवं प्रेरणाओं तथा इसकी स्वेच्छा और कामनाओं से उसे आमूल मुक्ति प्राप्त हो गयी है। उसके मन और हृदय में ही नहीं, बल्कि उसकी सत्ता के सभी जटिल भागों में पूर्ण आत्म-निवेदन सम्पन्न हो चुका है। पूर्ण पवित्रता या त्रिगुणातीत अवस्था समस्वर ढंग से प्रतिष्ठित हो गयी है। अन्तरात्मा ने अपने कर्मों के स्वामी के दर्शन कर लिये हैं और वह उसीके सान्निध्य में निवास करती है या उसीकी सत्ता में सचेतन रूप से निहित रहती है या उससे एकमय होकर रहती है अथवा उसे हृदय में या ऊपर अनुभव करती तथा उसके आदेशों का पालन करती है। उसने अपनी सच्ची सत्ता को जान लिया है और अज्ञान का आवरण उतार फेंका है। तब मनुष्य के अन्दर के कर्मी के लिये क्या कर्म शेष रहता है और किस हेतु से, किस उद्देश्य के लिये तथा किस भावना से वह किया जायेगा?

*

इसका एक उत्तर तो वह है जिससे हम भारत में खूब परिचित हैं; कर्म बिल्कुल रहता ही नहीं, क्योंकि शेष रह जाती है निश्चलता। जब आत्मा 'परम' की शाश्वत उपस्थिति में निवास कर सकती है अथवा जब वह परब्रह्म के साथ एक हो जाती है, तब हमारे जागतिक जीवन का लक्ष्य,—यदि यह कहा जा सकता हो कि इसका कोई लक्ष्य है,—तुरन्त परिसमाप्त हो जाता है। आत्म-विभाजन तथा अज्ञान के अभिशाप से मुक्त मनुष्य इस दूसरे प्रकार के क्लेश अर्थात् कर्मों के अभिशाप से भी मुक्त हो जाता है। तब तो कर्म करनामात्र परम स्थिति की मर्यादा से उतरना और अज्ञान में लौटना होगा। जीवन-विषयक इस मनोवृत्ति के पक्ष में जो विचार प्रस्तुत किया जाता है वह प्राणिक प्रकृति की एक भ्रान्ति पर आधारित है। क्योंकि, प्राणिक प्रकृति को अपने कर्म की प्रेरणा तीन निम्न आशयों—आवश्यकता, राजसिक प्रवृत्ति और आवेग या कामना—में से किसी एक से या तीनों से प्राप्त होती है। प्रवृत्ति या आवेग के शान्त हो जाने पर और कामना के लुप्त हो जाने पर

कर्मों के लिये स्थान ही कहां रह जाता है? कोई यान्त्रिक आवश्यकता तो रह सकती है, पर और किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं रह सकती, और वह भी शरीर छूटने के साथ सदा के लिये समाप्त हो जायगी। परन्तु यह सब होते हुए भी, जबतक जीवन है तबतक कर्म अनिवार्य है। केवल विचार करना भी या, विचार के अभाव में, केवल जीना भी अपने-आपमें एक कर्म है और अनेक कार्यों का कारण है। संसार में विद्यमान सत्तामात्र—मिट्टी के ढेले की जड़ता भी और निर्वाण के किनारे पर पहुंचे हुए निश्चल बुद्ध की शान्ति भी—एक कर्म है, शक्ति है, सामर्थ्य है और वह अपनी उपस्थितिमात्र से समष्टि पर सक्रिय प्रभाव डालती है। वास्तव में प्रश्न तो है केवल कर्म के प्रकार का तथा उन करणों का जो काम में लाये जाते हैं या जो अपने-आप ही कार्य करते हैं, और इसके साथ ही कर्म करनेवाले के भाव एवं ज्ञान का भी प्रश्न है। सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, बल्कि प्रकृति अपनी अन्तःस्थ शक्ति की अभिव्यक्ति के लिये उसके द्वारा कार्य करती है और वह शक्ति उद्भूत होती है अनन्त से। इस बात को जानना और कामना से तथा अहंमूलक प्रेरणा के भ्रम से मुक्त होकर प्रकृति के स्वामी की उपस्थिति में तथा उसकी सत्ता में निवास करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है। यही सच्चा मोक्ष है न कि शरीर के द्वारा कर्म का त्याग; क्योंकि कर्मों का बंधन तो तुरन्त ही समाप्त हो जाता है। कोई मनुष्य सदा के लिये स्थिर और निश्चेष्ट बैठा रह सकता है और फिर भी वह अज्ञान से उतना ही बंधा हो सकता है जितना एक पशु या कृमि। किन्तु, यदि वह इस महत्तर चेतना को अपने अन्दर क्रियाशील बना सके तो सब लोकों का सब कर्म उसके हाथों से सम्पन्न हो सकता है और फिर भी वह निश्चल, पूर्णतया स्थिर एवं शान्त और समस्त बन्धन से मुक्त रह सकता है। जगत् में कर्म हमें प्रथम तो अपने विकास और परिपूर्णता के साधन के रूप में प्रदान किया गया है; पर चाहे हम चरम सम्भवनीय दिव्य आत्म-पूर्णता तक पहुंच जायें, तो भी जगत् में दिव्य प्रयोजन तथा उस बृहत्तर विश्वात्मा की, जिसका प्रत्येक जीव एक अंश है,—ऐसा अंश जो विश्वात्मा के साथ ही परात्परता से अवतीर्ण हुआ है,—चरितार्थता के साधन के रूप में कर्म विद्यमान रहेगा ही।

एक विशेष अर्थ में, जब मनुष्य का योग एक निश्चित शिखर तक पहुंच जाता है, तब उसके लिये कोई कर्म शेष नहीं रह जाता। कारण, तब उसे निज के लिये कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती, न उसके अन्दर यह भाव होता है कि कर्म स्वयं मैं ही करता हूं। परन्तु उसे कर्म से भागने या आनन्दपूर्ण निष्क्रियता की शरण लेने की भी आवश्यकता नहीं होती। अब तो वह उसी प्रकार कर्म करता है जिस प्रकार भगवान् कर्म करते हैं,—बिना किसी अलंघ्य आवश्यकता और बिना किसी दुर्धर्ष अज्ञान के। वह कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता; वह व्यक्तिगत रूप से कोई कार्य आरम्भ नहीं करता। भागवत शक्ति ही उसके अन्दर उसकी प्रकृति द्वारा कर्म

करती है। उसका कर्म परा शक्ति के सहज प्रवाह के द्वारा विकसित होता है। उसके करण अब उसी शक्ति के अधिकार में होते हैं, वह उसीका एक अंग होता है, उसका संकल्प उसीके संकल्प से एकमय होता है, उसकी शक्ति उसीकी शक्ति होती है। उसके अन्दर की आत्मा इस कर्म को धारण करती है, इसे आश्रय देती और इसकी देख-रेख करती है। वह ज्ञान में इसके ऊपर अधिष्ठातृत्व करती है, पर आसक्ति या आवश्यकता के कारण इससे चिपट नहीं जाती, न इसके साथ बंध ही जाती है; न इसके फल की कामना से आबद्ध होती है और न किसी प्रवृत्ति या आवेग की दासी बनती है।

यह समझना कि कामना के बिना कर्म असम्भव है या कम-से-कम निरर्थक है एक आम भूल है। हमें बताया जाता है कि यदि कामना का अन्त हो जाये तो कर्म का भी अन्त हो जायेगा। परन्तु यह सिद्धान्त, अन्य अतिअज्ञानकल्पित सिद्धान्तों की भांति, विभेदक और परिच्छेदक मन के लिये जितना आकर्षक है उतना यह सच्चा नहीं है। संसार में होनेवाले काम का बहुत बड़ा भाग कामना के किसी भी तरह के हस्तक्षेप के बिना सम्पन्न होता है; यह प्रकृति की शान्त आवश्यकता तथा स्वाभाविक नियम के कारण चलता रहता है। मनुष्य भी सहज आवेग, अन्तर्ज्ञान तथा प्रेरणा के वश निरन्तर नाना प्रकार के कार्य करता है अथवा वह मानसिक आयोजना या सचेतन प्राणिक इच्छा या भावमय कामना की प्रेरणा के बिना शक्तियों की स्वाभाविक आवश्यकता और नियम के अनुसार ही काम करता है। कितनी ही बार उसका कार्य उसके संकल्प या उसकी कामना के विपरीत होता है; यह किसी आवश्यकता या दबाव के अधीन, किसी आवेग के वश, उसके अन्दर की जो शक्ति आत्माभिव्यक्ति के लिये प्रेरणा देती है उसकी आज्ञा के अनुकूल अथवा सचेतन रूप से एक उच्चतर नियम के अनुसार उसके अन्दर से निःसृत होता है। कामना एक और प्रलोभन है जिसे प्रकृति ने अपने अवान्तर उद्देश्यों के लिये अपेक्षित एक विशेष प्रकार का राजसिक कर्म सम्पन्न करने के लिये चेतन प्राणियों के जीवन में महान् स्थान दिया है। परन्तु यह उसका एकमात्र इंजन नहीं है, यहां तक कि यह प्रधान इंजन भी नहीं है। जबतक कामना रहती है तब तक इसका एक बड़ा लाभ भी होता है : यह हमें जड़ता से उठने में सहायता पहुंचाती है और अनेक तामसिक शक्तियों का विरोध करती है, अन्यथा वे शक्तियां कर्म को रोक ही देतीं। परन्तु जो जिज्ञासु कर्ममार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया है वह इस मध्यवर्ती अवस्था को पार कर चुका है जिसमें कामना सहायक इंजन होती है। इसका वेग अब उसके काम के लिये अनिवार्य नहीं रहता, बल्कि यह अत्यन्त भयानक रूप में बाधक होता है और स्खलन, अयोग्यता तथा विफलता को जन्म देता है। दूसरे लोग वैयक्तिक रुचि या वैयक्तिक हेतु के अनुसार कार्य करने को बाध्य होते हैं, परन्तु उसे निर्वैयक्तिक या वैश्व मन के द्वारा अथवा अनन्त पुरुष के

अंग या यन्त्र के रूप में कार्य करना सीखना होगा। शान्त उदासीनता, प्रसन्न तटस्थता या दिव्य शक्ति को आनन्दपूर्ण प्रत्युत्तर—भले ही उस शक्ति का आदेश कुछ भी क्यों न हो—यह एक आवश्यक अवस्था है जिसमें वह कोई प्रभावपूर्ण कर्म कर सकता है या किसी सार्थक कार्य का बीड़ा उठा सकता है। उसे कामना एवं आसक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होना चाहिये, बल्कि उस संकल्प के द्वारा परिचालित होना चाहिये जो दिव्य शान्ति में गतिमान् होता है, उस ज्ञान के द्वारा जो परात्पर प्रकाश से आता है, उस प्रसन्न सम्वेग के द्वारा जो परम आनन्द से प्राप्त बल होता है।

*

योग की एक ऊंची अवस्था में जिज्ञासु, किसी वैयक्तिक अभिरुचि के अर्थ में, इस ओर से उदासीन होता है कि वह क्या काम करेगा और क्या नहीं। यहांतक कि यह बात भी कि वह काम करेगा भी या नहीं उसकी निजी पसन्द या प्रसन्नता के द्वारा निश्चित नहीं होती। वह सदैव वही कुछ करने को प्रेरित होता है जो सत्य के साथ समस्वर होता है अथवा जिसकी मांग भगवान् उसकी प्रकृति के द्वारा करता है। इससे कभी-कभी एक मिथ्या परिणाम निकाला जाता है कि आध्यात्मिक पुरुष उस स्थिति को, जिसमें दैव या ईश्वर या अतीत कर्म ने उसे रखा है, शिरोधार्य करके उस कुटुंब, वंश, जाति, राष्ट्र और व्यवसाय के, जो जन्म और परिस्थिति से उसके अपने हैं, क्षेत्र एवं ढांचे के भीतर कर्म करने में सन्तुष्ट रहकर उनका अतिक्रमण करने या किसी महान् लौकिक उद्देश्य का अनुसरण करने की चेष्टा नहीं करेगा और शायद उसे ऐसा करना भी नहीं चाहिये। क्योंकि वास्तव में उसके लिये कर्तव्य कर्म कोई नहीं होता और क्योंकि, जब तक वह इस शरीर में है, उसे कर्मों का, वे चाहे कोई भी क्यों न हों, उपयोग केवल मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही करना पड़ता है अथवा, मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद, परम संकल्प का अनुसरण और उसके आदेशों का पालन करने के लिये ही उसे कर्म करने होते हैं, अतएव जो क्षेत्र उसे वास्तव में दिया गया होता है वह इस प्रयोजन के लिये पर्याप्त होता है। एक बार स्वातंत्र्य लाभ हो जाने पर, उसे केवल अदृष्ट तथा परिस्थितियों के द्वारा नियत क्षेत्र में कर्म करते रहना होता है जबतक कि वह महान् मुहूर्त नहीं आ जाता जिसमें वह अन्ततः अनन्त में लय प्राप्त कर सके। किसी विशेष लक्ष्य पर आग्रह करना अथवा किसी महान् लौकिक उद्देश्य के लिये कर्म करना कर्मों की माया में फंसना है। यह इस भ्रम को प्रश्रय देना है कि पार्थिव जीवन का एक बुद्धिगम्य आशय भी है और इसके अन्दर कुछ प्राप्तव्य वस्तुएं भी हैं। माया का वह महान् सिद्धान्त, जो परमार्थतः भगवान् की उपस्थिति को अंगीकार करने पर भी व्यवहारतः इस जगत् में उसकी सत्ता का निषेध करता है, एक बार फिर हमारे

सामने आता है। परन्तु भगवान् यहां जगत् में उपस्थित हैं,—स्थितिशील रूप में ही नहीं, वरन् गतिशील रूप में भी, आध्यात्मिक सत्ता और उपस्थिति के रूप में ही नहीं, बल्कि शक्ति, बल और ऊर्जा के रूप में भी; अतएव संसार में दिव्य कर्म करना सम्भव है।

ऐसा कोई संकीर्ण सिद्धान्त नहीं, बंधे-बंधाये कर्म का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो कर्मयोगी पर उसके नियम या क्षेत्र के रूप में थोपा जा सके। इतनी बात सत्य है कि प्रत्येक प्रकार का काम, चाहे वह मनुष्य की समझ में छोटा हो या बड़ा, क्षेत्र की दृष्टि से क्षुद्र हो या विशाल, मोक्ष की ओर प्रगति या आत्म-साधना के लिये समान रूप से उपयोग में लाया जा सकता है। यह भी सच है कि मुक्ति के बाद मनुष्य जीवन के चाहे किसी भी क्षेत्र में रहे और चाहे किसी भी प्रकार का काम करे उसीमें वह भगवान् के अन्दर अपने अस्तित्व को चरितार्थ कर सकता है। वह आत्मा से जिस प्रकार भी प्रेरित हो उसके अनुसार वह अपने लिये जन्म और परिस्थिति द्वारा नियत क्षेत्र में रह सकता है अथवा उस चौखट को तोड़ कर एक ऐसे बन्धनमुक्त कर्म की ओर बढ़ सकता है जो उसकी महिमान्वित चेतना तथा उच्चतर ज्ञान का उपयुक्त शरीर हो। मनुष्यों के चर्मचक्षुओं को ऐसा दीख सकता है कि उसकी आभ्यन्तरिक मुक्ति के कारण उसके बाह्य कर्मों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं आया है। अथवा, इसके विपरीत, अन्तःस्थ स्वतन्त्रता एवं अनन्तता अपने-आपको एक ऐसी विशाल और नवीन बाह्य शक्तिशाली क्रिया में परिणत कर सकती है कि सभी की दृष्टि इस असाधारण शक्ति की ओर आप-से-आप आकृष्ट हो। यदि उसके अन्तर्यामी परमदेव का ऐसा ही संकल्प हो तो मुक्त आत्मा उन्हीं पुरानी मानवी परिस्थितियों में सूक्ष्म और सीमित कर्म से सन्तुष्ट रह सकती है; तब वे परिस्थितियां अपना बाह्य रूप किसी प्रकार भी बदलना नहीं चाहेंगी। परन्तु उसे एक ऐसा कर्म करने के लिये भी आह्वान प्राप्त हो सकता है जो उसके अपने बहिर्जीवन के रूपों तथा क्षेत्र को ही नहीं बदल डालेगा, अपितु उसके चारों ओर की किसी भी चीज को परिवर्तित या प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ेगा और नये जगत् एवं नयी व्यवस्था को जन्म देगा।

*

एक प्रचलित विचार हमें यह विश्वास बंधाएगा कि संसार के नश्वर जीवन में व्यष्टि-आत्मा के लिये शारीरिक पुनर्जन्म से छुटकारा प्राप्त करना ही मुक्ति का एकमात्र प्रयोजन है। यदि ऐसा छुटकारा एक बार निश्चित रूप से प्राप्त हो जाय तो आत्मा के लिये इहलोक या परलोक के जीवन में कोई और कर्म शेष नहीं रहता अथवा केवल वही कर्म शेष रहता है जिसकी जरूरत शरीर की सत्ता बनाये रखने

के लिये होती है या जो गत जन्मों के अभुक्त कर्मफलों के कारण आवश्यक होता है। यह थोड़ा-सा कर्म भी, योग की अग्नि से शीघ्र ही निःशेष या दग्ध होकर, मुक्त आत्मा के शरीर से प्रयाण करने पर समाप्त हो जायगा। पुनर्जन्म से छुटकारे का लक्ष्य भारतीय मन के अन्दर चिरकाल से इस रूप में घर किये हुए है कि यही आत्मा का परम पुरुषार्थ है। इसने पारलौकिक स्वर्ग के उस सुख-भोग का स्थान ले लिया है जिसे अनेक धर्मों ने अपने दैवी प्रलोभन के रूप में भक्तों के मन में प्रतिष्ठित किया था। जब वैदिक सूक्तों के स्थूल बाह्य अर्थ का मत अत्यन्त प्रबल था तब भारतीय धर्म ने भी इस अधिक पुरातन और निम्नतर पुकार का ही समर्थन किया। परवर्ती भारत में द्वैतवादियों ने भी इसे अपने परमोच्च आध्यात्मिक लक्ष्य का अंग बनाये रखा। इसमें सन्देह नहीं कि मन और शरीर की सीमाओं से परे आत्मा की शाश्वत शान्ति, स्थिरता और नीरवता में मुक्ति प्राप्त करना मानसिक हर्षों या चिरस्थायी शारीरिक सुखों के स्वर्ग के प्रस्ताव की अपेक्षा अत्यधिक आकर्षक है, पर यह भी अन्ततः एक प्रलोभन ही है। ऐसी मुक्ति का यह आग्रह कि मन को जगत् से विरक्त और प्राण-सत्ता को जन्म लेने के साहसिक कर्म से पराङ्मुख हो जाना चाहिये एक प्रकार की दुर्बलता को ही ध्वनित करता है और इसलिये ऐसी मुक्ति हमारा परम लक्ष्य नहीं हो सकती। वैयक्तिक मोक्ष की कामना अहंकार की ही उपज है, भले ही इस कामना का स्वरूप कैसा भी ऊंचा क्यों न हो। इसका मूल आधार है हमारे निजी व्यक्तित्व का तथा इसकी कामना और भलाई का विचार, दुःख से छूटने की लालसा या जन्मग्रहण के कष्ट के अवसान के लिये इसकी चीख-पुकार। इन चीजों को ही यह हमारे जीवन का परम लक्ष्य निश्चित करती है। अहंकार के इस आधार के पूर्ण निराकरण के लिये वैयक्तिक मोक्ष की कामना से ऊपर उठना आवश्यक है। यदि हम भगवान् को खोजते हैं तो यह खोज भगवान् के लिये ही होनी चाहिये और किसी चीज के लिये नहीं, क्योंकि यही हमारी सत्ता की परम पुकार है और यही हमारी आत्मा का गभीरतम सत्य है। मोक्ष की प्राप्ति एवं आत्मा के स्वातंत्र्य के लिये तथा अपनी सच्ची एवं सर्वोच्च आत्मा की उपलब्धि और भगवान् के साथ मिलन के लिये प्रयत्न करने का समर्थन केवल इस कारण किया जाता है कि यह हमारी प्रकृति का उच्चतम विधान है एवं हमारे अन्दर के निम्नतर तत्त्व का परमोच्च तत्त्व की ओर आकर्षण है और यही हमारे अन्दर भगवान् की इच्छा है। यह कारण इसे पर्याप्त रूप से सार्थक सिद्ध करता है और यह इसका सच्चे-से-सच्चा कारण है। अन्य सब कारण तो प्रपंचमात्र हैं, गौण या आनुषंगिक सत्य अथवा उपयोगी प्रलोभन हैं और ज्यों ही उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय और परमदेव तथा भूतमात्र के साथ एकत्व की स्थिति हमारी सामान्य चेतना और इस स्थिति का आनन्द हमारा आध्यात्मिक वातावरण बन जाये, त्यों ही आत्मा को उन सबका त्याग कर देना होगा।

प्रायः हम देखते हैं कि एक और आकर्षण, जो हमारी प्रकृति की एक उच्चतर प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखता है और मुक्त आत्मा को जो कर्म करना चाहिये उसके मूल स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है, वैयक्तिक मोक्ष की कामना को अभिभूत कर देता है। अमिताभ बुद्ध का महान् आख्यान इसी आकर्षण की ओर इंगित करता है। जब उनकी आत्मा निर्वाण की ड्योढ़ी पर पहुंची तो वे वापिस मुड़े और प्रतिज्ञा की कि जबतक एक भी जीव दुःख और अज्ञान में रहेगा तबतक वे इसे कभी नहीं लांघेंगे। भागवत पुराण के उस उत्कृष्ट पद्य के मूल में भी यही अर्थ अन्तर्निहित है, "मुझे न तो आठों सिद्धियों से युक्त परम पद की कामना है और न पुनर्जन्म से छुटकारे की। मैं चाहता हूं कि सभी सन्तप्त प्राणियों का दुःख अपने ऊपर ले लूं और उनके अन्दर प्रविष्ट हो जाऊं जिससे वे कष्ट से मुक्त हो जायें।" यही स्वामी विवेकानन्द के एक पत्र के एक अद्‌भुत सन्दर्भ का प्रेरक है। उस महान् वेदान्ती ने लिखा था, "मुझे अपनी मुक्ति की कोई इच्छा नहीं रही है। मैं चाहता हूं कि मैं फिर-फिर पैदा होऊं और हजारों कष्ट भोगूं जिससे मैं उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूं जो वस्तुतः सत् है; उस एकमात्र ईश्वर की जिसे मैं मानता हूं, जो सब आत्माओं का कुल योग है,—और इससे भी बढ़कर अपने उस ईश्वर की जो सब जातियों और उपजातियों के दुष्ट जनों में है, अपने उस ईश्वर की जो सब दीन-दुःखियों में है, उस दरिद्रनारायण की जो मेरा विशेष पूजापात्र है। जो उच्च और नीच, सन्त और पापी, देवता और कृमि है, उसकी पूजा करो, दृश्य, ज्ञेय, वास्तविक और सर्वव्यापक की पूजा करो; और सब मूर्त्तियां तोड़ फेंको। जिसमें न अतीत जीवन है न भावी जन्म, न मृत्यु न आवागमन, जिसमें हम सदा एक रहे हैं और सदा ही एक रहेंगे, उसकी पूजा करो; और सब मूर्त्तियां तोड़ फेंको।"

अन्तिम दो वाक्य में सचमुच ही विषय का सम्पूर्ण सार आ जाता है। सच्चा मोक्ष प्राप्त करना या पुनर्जन्म के बन्धन से सच्चा छुटकारा पाना यह नहीं है कि पार्थिव जीवन का त्याग कर दिया जाये या व्यक्ति एक आध्यात्मिक स्व-विलोप के द्वारा जीवन से भाग जाये, जैसे कि सच्चा संन्यास यह नहीं है कि परिवार या समाज का केवल स्थूल रूप से त्याग कर दिया जाये। सच्चा मोक्ष उस भगवान् के साथ आन्तर तादात्म्य है जिसमें अतीत जीवन और भावी जन्म का कोई बंधन नहीं है, बल्कि इनके स्थान पर अज आत्मा की शाश्वत सत्ता है। गीता कहती है कि जो अन्दर से स्वतन्त्र है वह सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता; प्रकृति ही उसके अन्दर अपने स्वामी की अधीनता में कार्य करती है। इसी प्रकार, चाहे वह सैंकड़ों बार शरीर धारण करे तो भी वह जन्म के हर प्रकार के बन्धन से या सत्ता के यन्त्रवत् घूमनेवाले चक्र से मुक्त रहता है, क्योंकि वह अज एवं अविनाशी आत्मा में निवास करता है, शरीर के जीवन में नहीं। अतएव, आवागमन से छुटकारे में आसक्ति एक ऐसी प्रतिमा है जिसे और कोई भले ही सुरक्षित रखे, पर

जिसे पूर्णयोग के साधक को तोड़ कर अपने से दूर फेंक देना होगा। कारण, उसका योग समस्त जगत् से परे विद्यमान परात्पर की व्यष्टि-आत्मा द्वारा उपलब्धि तक ही सीमित नहीं है; यह विराट्, अर्थात् "सकल आत्माओं के कुल योग" की उपलब्धि को भी समाविष्ट करता है, अतएव यह वैयक्तिक मोक्ष तथा पलायन की गति के भीतर ही आबद्ध नहीं किया जा सकता। वैश्व सीमाओं के अतिक्रमण की अवस्था में भी वह भगवान् में सर्व के साथ एक होता है; संसार में दिव्य कर्म उसके लिये तब भी शेष रहता है।

*

वह कर्म किसी मनोनिर्मित नियम या मानवीय प्रतीमान से निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसकी चेतना मानवीय नियमों और मर्यादाओं को पार कर दिव्य स्वातंत्र्य में पहुंच जाती है, बाह्य और क्षण-भंगुर के राज्य से निकलकर आन्तर और नित्य के आत्म-शासन में तथा सांत के बन्धनकारी रूपों से परे हट कर अनन्त के स्वतन्त्र आत्म-निर्धारण में प्रविष्ट हो जाती है। "वह चाहे जैसे भी रहता और काम करता हो", गीता कहती है, "वह मुझ में ही रहता और काम करता है।"[1] मनुष्यों की बुद्धि जिन नियमों को प्रस्थापित करती है वे मुक्त आत्मा पर लागू नहीं हो सकते। उनके मानसिक संस्कार और पूर्वनिर्णय जिन बाह्य कसौटियों और परीक्षाओं को निश्चित करते हैं उनके द्वारा ऐसे व्यक्ति के विषय में निर्णय नहीं किया जा सकता। वह इन भ्रान्तिपूर्ण न्यायालयों के संकीर्ण अधिकार-क्षेत्र से बाहर होता है। इसका कुछ महत्त्व नहीं कि वह संन्यासी का वेष धारण करता है अथवा गृहस्थी का भरापूरा जीवन बिताता है; वह उन कार्यों में, जिन्हें लोग पवित्र कहते हैं, अथवा संसार के बहुमुख कार्य-व्यवहार में अपने दिन बिताता है; वह अपना जीवन बुद्ध, ईसा या शंकर के समान प्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों को प्रकाश की ओर ले जाने में लगाता है अथवा जनक की भांति राज्यों का संचालन करता है अथवा श्रीकृष्ण की भांति एक राजनीतिज्ञ या सेनानायक के रूप में लोगों के सामने उपस्थित होता है; वह क्या खाता-पीता है; उसकी आदतें या प्रवृत्तियां क्या हैं; वह सफल होता है या असफल; उसका कार्य निर्माण का है या विनाश का; क्या वह पुरातन व्यवस्था का समर्थन या उसकी पुनः प्रतिष्ठा करता है अथवा उसके स्थान पर नयी व्यवस्था की स्थापना करने की चेष्टा करता है; क्या उसके संगी-साथी वे लोग हैं जिनका मान करने में मनुष्य हर्ष अनुभव करते हैं अथवा वे लोग जिन्हें उनकी उत्कृष्ट पवित्रता की भावना बहिष्कृत और तिरस्कृत करती है; क्या उसके समकालीन लोग उसके जीवन और कार्य-कलाप का अनुमोदन करते हैं अथवा उसे

[1] सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। गीता ६-३१

मनुष्यों को कुमार्ग पर चलानेवाला और धार्मिक, नैतिक या सामाजिक पाखंडों को उत्तेजित करनेवाला कहकर उसकी निन्दा करते हैं—इस सबका भी कुछ महत्त्व नहीं। वह मनुष्यों के निर्णयों या अज्ञानियों के निश्चित किये हुए नियमों के अनुसार नहीं चलता, वह अन्तर की वाणी का अनुसरण करता है और अदृश्य शक्ति से चालित होता है। उसका वास्तविक जीवन भीतर होता है जिसका वर्णन यूं किया जा सकता है कि वह ईश्वर में और भगवान् तथा अनन्त में रहता-सहता, चलता-फिरता और काम-काज करता है।

पर, यद्यपि उसका कर्म किसी बाह्य नियम से अनुशासित नहीं होता, तो भी वह एक नियम का अनुसरण करता है जो बाह्य नहीं होता; वह किसी वैयक्तिक कामना या लक्ष्य से प्रेरित नहीं होता, बल्कि वह संसार में एक सचेतन तथा आत्मशासित और परिणामतः सुशासित दिव्य क्रिया का भाग होता है। गीता स्पष्ट कहती है कि मुक्त मनुष्य का कर्म कामना से परिचालित नहीं होना चाहिये, बल्कि उसका लक्ष्य होना चाहिये लोकसंग्रह, संसार को एकत्र रखना और इसका शासन, मार्गदर्शन तथा प्रचालन करना तथा इसे इसके नियत पथ पर स्थिर रखना। इस उपदेश का यह अर्थ किया गया है कि क्योंकि संसार एक ऐसा भ्रम है जिसमें अधिकतर मनुष्यों को रखना ही होता है—कारण, वे मोक्ष के अयोग्य होते हैं,—उसे बाहर से इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि वह सामाजिक नियम द्वारा उनके लिये निर्दिष्ट किये हुए आचारिक कर्मों में उनकी आसक्ति को दृढ़ बनाये रखे। यदि ऐसा ही हो तो यह एक हीन और तुच्छ नियम होगा और प्रत्येक भद्रहृदय व्यक्ति इसका त्याग कर अमिताभ बुद्ध के दिव्य व्रत, भागवत की उदात्त प्रार्थना और विवेकानन्द की उत्कट अभीप्सा का ही अनुसरण करना चाहेगा। विशेषकर, यदि हम इस विचार को स्वीकार करें कि संसार प्रकृति की एक ऐसी गति है जो दैवी ढंग से परिचालित हो रही है, जो मनुष्य के अन्दर ईश्वर की ओर उच्छलित हो रही है और इसी कार्य में, गीता के ईश्वर कहते हैं कि वे निरन्तर लगे हुए हैं, चाहे स्वयं उनके लिये ऐसी कोई अप्राप्त वस्तु नहीं है जो उन्हें अभी प्राप्त करनी हो,—तो इस महान् उपदेश का गंभीर और सत्य आशय हमारे सामने प्रकट हो जायेगा। उस दिव्य कर्म में भाग लेना और संसार में ईश्वर के लिये जीना कर्मयोगी के कर्म का नियम होगा—संसार में ईश्वर के लिये जीना और अतएव इस प्रकार कर्म करना कि भगवान् अपने-आपको अधिकाधिक प्रकट कर सकें और संसार अपनी अज्ञात यात्रा के चाहे जिस भी मार्ग से आगे बढ़ता हुआ दिव्य आदर्श के अधिक निकट पहुंच सके।

यह कार्य वह कैसे करेगा, किस विशेष ढंग से करेगा, यह किसी सामान्य नियम के द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। यह तो अन्दर से ही विकसित या निर्धारित होगा। इसका निश्चय ईश्वर और हमारी आत्मा, परम आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा के—जो कर्म का यन्त्र होती है—बीच की बात है। मुक्ति से पहले भी,

अन्तरात्मा, ज्यों ही हम इससे सचेतन होते हैं, हमारी अनुमति या हमारे अध्यात्मतः निर्धारित चुनाव का उद्गम बन जाती है। करणीय कर्म का ज्ञान पूर्णरूपेण अन्दर से ही प्राप्त होना चाहिये। ऐसा कोई विशिष्ट कर्म नहीं है, न ही कर्मों का ऐसा कोई विधि-विधान या बाह्यतः स्थिर या नियत ढंग है जिसे मुक्त जीव का कर्म या उसके कर्म का विधि-विधान या ढंग कहा जा सके। करणीय कर्म को सूचित करने के लिये गीता में जो शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ, निश्चय ही, यह लगाया गया है कि हमें फल का विचार किये बिना अपना कर्तव्य कर्म करना चाहिये। किन्तु यह एक ऐसा विचार है जो यूरोपीय संस्कृति की उपज है और आध्यात्मिक की अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक है और अपने बोधनों (conceptions) में अन्तर्गभीर होने की अपेक्षा कहीं अधिक बाह्य है। कर्तव्य नाम की किसी सामान्य बाह्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। हमारे सामने तो केवल अनेक कर्तव्य होते हैं जो प्रायः परस्पर-विरोधी होते हैं। ये हमारी परिस्थिति, हमारे सामाजिक सम्बन्धों और हमारी बाह्य जीवन-स्थिति से निर्धारित होते हैं। इनका एक बड़ा लाभ यह होता है कि ये अपरिपक्व नैतिक प्रकृति को सधाते हैं तथा स्वार्थपूर्ण कामना के कर्म को निरुत्साहित करनेवाले प्रतिमान की स्थापना करते हैं। यह कहा ही जा चुका है कि जब तक अभीप्सु को आन्तरिक ज्योति प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उसे स्वलब्ध सर्वोत्तम प्रकाश के अनुसार ही चलना होगा; कर्तव्य, सिद्धान्त और ध्येय उन प्रतिमानों में से हैं जिनका वह कुछ काल के लिए निर्माण तथा अनुसरण कर सकता है। परन्तु यह सब होते हुए भी, कर्तव्य कर्म बाह्य चीजें हैं, आत्मा की वस्तु नहीं। ये इस पथ में कर्म के चरम आदर्श नहीं हो सकते। सैनिक का कर्तव्य यह है कि जब उसे आह्वान प्राप्त हो वह युद्ध करे, यहांतक कि अपने बंधु-बांधवों पर भी गोली चलावे। परन्तु ऐसा या इससे मिलता-जुलता और कोई मानदण्ड मुक्त पुरुष पर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, प्रेम या करुणा करना, अपनी सत्ता के उच्चतम सत्य का अनुसरण करना और भगवान् के आदेश का पालन करना कोई कर्तव्य नहीं है। ये तो प्रकृति का धर्म बनते जाते हैं जैसे-जैसे कि यह भगवान् की ओर ऊपर उठती है, ये आत्म-स्थिति से निःसृत कर्म का प्रवाह तथा आत्म-सत्ता का उच्च सत्य हैं। कर्मों के मुक्त कर्ता का कर्म आत्मा से निःसृत इस प्रकार का प्रवाह ही होना चाहिये। यह भगवान् के साथ उसके आध्यात्मिक मिलन के स्वाभाविक परिणाम के रूप में उसे प्राप्त होना चाहिये अथवा उसके अन्दर प्रकट होना चाहिये, न कि मानसिक विचार एवं संकल्प और व्यावहारिक बुद्धि या सामाजिक भावना की किसी उन्नायक रचना से निर्मित होना चाहिये। साधारण जीवन में वैयक्तिक, सामाजिक या परम्परागत निर्मित नियम, प्रतिमान या आदर्श ही मार्गदर्शक होता है। परन्तु जब एक बार आध्यात्मिक यात्रा शुरू हो जाये, तो इसके स्थान पर आन्तरिक जीवन-यापन का एक ऐसा बाह्य एवं

आभ्यन्तर नियम या प्रणाली प्रतिष्ठित करनी चाहिये जो हमारी आत्म-साधना के लिये तथा हमें स्वतन्त्र एवं पूर्ण बनाने के लिये आवश्यक हो, एक ऐसी जीवनप्रणाली जो हमारे अवलंबित पथ के उपयुक्त या आध्यात्मिक मार्गदर्शक और शिक्षक—'गुरु'—से आदिष्ट हो अथवा हमारे अन्तःस्थ पथप्रदर्शक से निर्दिष्ट हो। परन्तु आत्मा की अनन्तता और स्वतन्त्रता की चरम अवस्था में सभी बाह्य प्रतिमान पदच्युत या बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और तब केवल यही प्रतिमान रह जाता है कि जिस भगवान् के साथ हम योगयुक्त हो चुके हैं उसके आदेश का पालन हम सहज और पूर्ण रूप से करें तथा ऐसा कर्म करें जो हमारी सत्ता और प्रकृति के सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक सत्य को सहज-स्वाभाविक रूप से चरितार्थ करता हो।

*

गीता के इस वचन को कि स्वभाव के द्वारा निर्धारित और परिचालित कार्य ही हमारे कर्मों का नियम होना चाहिये, हमें इस गभीरतर अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिये। निश्चय ही, यहां 'स्वभाव' शब्द से स्थूल स्वभाव या चरित्र या अभ्यासगत आवेग अभिप्रेत नहीं है, बल्कि संस्कृत शब्द के मूल अर्थ के अनुसार हमारी "अपनी सत्ता", हमारी मूल प्रकृति, हमारी आत्माओं का दिव्य सत्त्व ही अभिप्रेत है। इस मूल से उद्‌भूत या इन स्रोतों से प्रवाहित होनेवाली प्रत्येक वस्तु गभीर, सारभूत और यथार्थ होती है। शेष सब वस्तुएं—सम्मतियां, कामनाएं, आवेग और अभ्यास—सत्ता की केवल तलीय रचनाएं या आकस्मिक विभ्रम या बाह्य अध्यारोप ही हो सकती हैं। इनमें हेर-फेर और परिवर्तन होता रहता है, पर वह स्थिर रहती है। प्रकृति हमारे अन्दर जो-जो कार्यवाहक रूप ग्रहण करती है वे हमारा अपना आप या हमारा नित्यतः स्थिर और व्यंजक आकार नहीं होते, हमारे अन्दर की आध्यात्मिक सत्ता ही—इसके अन्दर इसकी आत्मिक अभिव्यक्ति भी आ जाती है—विश्व में काल के भीतर अचल और अटल रहती है।

तथापि अपनी सत्ता के इस सत्य आन्तरिक नियम को हम सुगमता से नहीं जान सकते। जबतक हमारी बुद्धि और हृदय अहंभाव के कारण अशुद्ध रहते हैं, यह हमसे छिपा ही रहता है। तबतक हम अपने परिपार्श्व से प्राप्त सब प्रकार के स्थूल और अस्थायी विचारों, आवेगों, कामनाओं, सुझावों और अध्यारोपों का अनुसरण करते रहते हैं अथवा अपने अल्पकालिक मन-प्राण-शरीररूप व्यक्तित्व की रचनाओं को ही कार्यान्वित करते रहते हैं। यह व्यक्तित्व एक नश्वर, परीक्षणात्मक और सांस्थानिक स्व है जो हमारी सत्ता और अपरा प्रकृति के दबाव की परस्पर-क्रिया के द्वारा हमारे लिये बनाया गया है। जितना ही हम शुद्ध होते हैं उतना ही हमारे अन्दर की सच्ची सत्ता अपने को अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट करती है, हमारी इच्छा-शक्ति

बाहर से आनेवाले सुझावों में उतना ही कम फंसती है अथवा हमारी निजी उथली मानसिक रचनाओं में उतना ही कम आबद्ध होती है। अहंकार के छूट जाने पर, प्रकृति के शुद्ध हो जाने पर, कर्म अन्तरात्मा के आदेश से एवं आत्मा की गहराइयों या ऊंचाइयों से प्रेरित होगा, अथवा यह स्पष्टतया उस ईश्वर के द्वारा परिचालित होगा जो हमारे हृदयों के भीतर गुप्त रूप में सदा से ही आसीन है। योगी के लिये गीता का चरम और परम वचन यह है कि उसे धर्म-कर्म के सब रूढ़ सूत्रों, आचार-व्यवहार के सब बंधे-बंधाये बाह्य नियमों, स्थूल गोचर प्रकृति की सभी रचनाओं—सर्व 'धर्मों' को—त्याग करके एकमात्र भगवान् की शरण लेनी चाहिये। जब वह कामना और आसक्ति से मुक्त और प्राणिमात्र के साथ एकीभूत हो जायेगा, अनन्त सत्य और पवित्रता में निवास करेगा, अपनी अन्तश्चेतना की गहनतम गहराइयों से कार्य करेगा और अपनी अमर, दिव्य एवं सर्वोच्च आत्मा से परिचालित होगा, तब अन्तरस्थ शक्ति ही ईश्वर को जगत् में चरितार्थ करने और सनातन को काल में व्यक्त करने के लिये हमारे अन्दर की उस सारभूत आत्मा और प्रकृति के द्वारा, जो ज्ञानोपार्जन, युद्ध-पराक्रम, कार्य-व्यवसाय और सेवा-परिचर्या करती हुई भी सदा दिव्य रहती है, उसके सभी कर्मों का संचालन करेगी।

भगवान् के साथ योगयुक्त हमारी आध्यात्मिक सत्ता की ज्योति एवं शक्ति से सहज, स्वतन्त्र और निर्भ्रान्त रूप में उद्भूत होनेवाला दिव्य कर्म ही इस सर्वांगीण कर्मयोग की चरम अवस्था है। हमें मोक्ष की खोज क्यों करनी चाहिये इसका सब से अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि हम व्यक्तिगत रूप में जगत् के दुःख से मुक्त हो जायें,—यद्यपि दुःख से मुक्ति भी हमें प्राप्त होगी ही,—वरन् यह है कि हम भगवान्, पुरुषोत्तम और सनातन के साथ एक हो जायें। पूर्णता की खोज—परम स्थिति, पवित्रता, ज्ञान, बल, प्रेम और सामर्थ्य की खोज—हमें क्यों करनी चाहिये इसका सबसे अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप में हम दिव्य प्रकृति का उपभोग करें, यह भी नहीं कि हम देवताओं के समान बन जायें,—यद्यपि ऐसा दिव्य उपभोग भी हमें अवश्य प्राप्त होगा,—वरन् यह है कि इस मुक्ति और पूर्णता को प्राप्त करना ही हमारे अन्दर भगवान् की इच्छा है, यही प्रकृति में हमारी आत्मा का सर्वोच्च सत्य है, यही विश्व में वर्द्धनशील अभिव्यक्ति का सदा-अभिमत लक्ष्य है। दिव्य प्रकृति—स्वतन्त्र, परिपूर्ण और आनन्दमय प्रकृति—व्यक्ति में अवश्य प्रकट होनी चाहिये जिससे कि यह संसार में भी अभिव्यक्त हो सके। अविद्या में भी व्यक्ति वस्तुतः विराट् के अन्दर और विराट् के प्रयोजन के लिये ही निवास करता है। अपने अहं के प्रयोजनों और कामनाओं का अनुसरण करता हुआ भी वह विश्वप्रकृति के द्वारा बाध्य होकर अपने अहंमूलक कार्य से इन लोकों के अन्दर उसी (प्रकृति) के कार्य और प्रयोजन में ही सहयोग देता है। परन्तु यह सहयोग वह बिना सचेतन संकल्प के एवं अपूर्ण ढंग से और

उसकी अर्ध-विकसित एवं अर्द्ध-चेतन तथा अपूर्ण एवं स्थूल क्रिया को ही देता है। अहं से मुक्त होकर भगवान् से एकत्व प्राप्त करना उसके व्यक्तिभाव की मुक्ति है और यही उसकी परिपूर्णता भी है। इस प्रकार मुक्त, शुद्ध और पूर्णता-प्राप्त व्यक्ति—दिव्य आत्मा—जैसा प्रारम्भ से ही अभिमत था, सचेतन तथा समग्र रूप में, विराट् और परात्पर भगवान् में और उसके लिये तथा उसके विश्वगत संकल्प के लिये जीवन यापन करने लगता है।

ज्ञानमार्ग में हम एक ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां हम व्यक्तित्व तथा विश्व का अतिक्रमण करके, समस्त विचार, संकल्प एवं कर्मकलाप तथा प्रकृति की समस्त गतिविधि को पार करके और अनन्तता में लीन तथा उन्नीत होकर परात्परता में निमग्न हो सकते हैं। यह अवस्था ईश्वर-ज्ञानी के लिये अपरिहार्य तो नहीं है, पर यह अन्तरात्मा का एक स्व-निर्णीत लक्ष्य हो सकती है। यह हमारे अन्दर की आत्मा द्वारा अनुसृत एक भूमिका-विशेष हो सकती है। भक्तिमार्ग में हम भक्ति और प्रीति की प्रगाढ़ता के द्वारा उस परमोच्च सर्व-प्रियतम से मिलन लाभ कर नित्य निरन्तर उसके सान्निध्य के हर्षविश में रह सकते हैं,—उसीमें निमग्न, एक ही आनन्दमय लोक में उसके घनिष्ठ सहचर बनकर। यही तब हमारी सत्ता का संवेग तथा इसका आध्यात्मिक चुनाव हो सकता है। परन्तु कर्मों के मार्ग में हमारे सामने एक और ही प्रकार का भविष्य खुलता है। इस पथ पर यात्रा करते हुए हम सनातन देव के साथ प्रकृति का साधर्म्य और सादृश्य लाभ कर मुक्ति और सिद्धि में प्रवेश कर सकते हैं। हम अपनी इच्छाशक्ति और सक्रिय व्यक्तित्व में भी उसके साथ उतने ही तदाकार हो जाते हैं जितने कि अपनी आध्यात्मिक स्थिति में। कर्म करने का दिव्य ढंग इस मिलन का स्वाभाविक परिणाम होता है और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य में दिव्य जीवन का यापन इसकी अभिव्यक्ति का मूर्तिमन्त रूप। पूर्णयोग में ये तीनों मार्ग अपने निषेधों का त्याग कर देते हैं और परस्पर घुल-मिलकर एक हो जाते हैं अथवा स्वभावतः ही एक दूसरे में से उद्भूत होते हैं। हमारी आत्मा पर जो मन का पर्दा पड़ा हुआ था उससे मुक्त होकर हम परात्परता में निवास करने लगते हैं, हृदय की उपासना के द्वारा हम परम प्रेम और आनन्द के एकत्व में प्रवेश करते हैं और परा शक्ति में हमारी सत्ता की सब शक्तियों के उन्नीत हो जाने तथा एक ही परम संकल्प और शक्ति में हमारे संकल्पों और कर्मों के समर्पित हो जाने पर हम दिव्य प्रकृति की क्रियाशील पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं।

अध्याय १३[1]

अतिमानस और कर्मयोग

पूर्णयोग सम्पूर्ण सत्ता के एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना एवं विशालतर दिव्य अस्तित्व में रूपान्तर को अपने समग्र और चरम लक्ष्य के अन्दर एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अंग के रूप में समाविष्ट करता है। हमारे संकल्प और कर्म करनेवाले अंगों को, हमारे ज्ञान-प्राप्ति के करणों को, हमारे मनोमय, भावमय और प्राणमय पुरुष को, किंबहुना हमारी समस्त सत्ता और प्रकृति को भगवान् की खोज करनी होगी, अनन्त में प्रवेश करना तथा सनातन के साथ एकमय होना होगा। परन्तु मनुष्य की वर्तमान प्रकृति सीमित, विभक्त तथा विषम है,—उसके लिये सब से सुगम यह है कि वह अपनी सत्ता के सबसे प्रबल भाग में अपने-आपको केन्द्रित करके विकास की एक ऐसी सुनिश्चित धारा का अनुसरण करे जो उसकी प्रकृति के लिये उपयुक्त हो। भगवान् की अनन्तता के सागर में सीधे ही और एकदम एक विशाल डुबकी लगाने की सामर्थ्य तो केवल विरले ही लोगों में होती है। अतएव, कुछ लोगों को अपने अन्दर परम आत्मा के सनातन सत्यस्वरूप को पाने के लिये चिन्तन या मनन की एकाग्रता या मन की एकनिष्ठता को आरम्भबिन्दु के रूप में चुनना पड़ता है; कुछ दूसरे लोग भगवान् किंवा सनातन से मिलने के लिये अन्तर्मुख होकर हृदय के भीतर अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से प्रवेश कर सकते हैं; फिर कुछ अन्य लोग प्रधान रूप से गतिशक्तिमय एवं क्रियाशील होते हैं; इनके लिये अपने-आपको संकल्पशक्ति में केन्द्रित करके कर्मों के द्वारा अपनी सत्ता को विस्तारित करना सर्वोत्तम होता है। सबके परम आत्मा एवं उद्गम की अनन्तता के प्रति अपनी संकल्पशक्ति समर्पित करके और उस समर्पण के द्वारा उसके साथ एकत्व लाभ करके, अपने कर्मों में अपने अन्तःस्थ गुप्त भगवान् के द्वारा परिचालित होते हुए अथवा विश्व-व्यापार के स्वामी को अपने विचार, वेदन और कर्म की समस्त शक्तियों के प्रभु और प्रेरक समझते हुए उनके प्रति समर्पित होकर, अपनी सत्ता के इस विस्तार के द्वारा अहंरहित तथा विश्वमय बन कर, वे कर्मों के मार्ग से आध्यात्मिक अवस्था की किसी प्रकार की प्राथमिक पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु मार्ग का आरम्भबिन्दु कोई भी क्यों न हो, वह आगे अपनी संकीर्ण परिधि से निकलकर बृहत्तर प्रदेश में पहुंच ही जायेगा; अन्त में उसे सुसमन्वित ज्ञान और भावावेग की, शक्तिमय कर्म के संकल्प की तथा हमारी सत्ता और समस्त प्रकृति

[1] लेखक का विचार इस ग्रन्थ को कुछ परिवर्द्धित करने का था। पर यह कार्य पूरा नहीं हो सका। प्रस्तुत अध्याय उस परिवर्द्धन का ही एक अंश है। यह यहां पहली बार ही प्रकाशित हो रहा है।

के पूर्णत्व की समग्रता के द्वारा ही आगे बढ़ना होगा। अतिमानसिक चेतना में, अतिमानसिक सत्ता के स्तर पर यह समन्वय या समग्रीकरण अपनी पूर्णता के शिखर पर पहुंच जाता है; वहां ज्ञान, संकल्प, भावावेग, आत्मा और सक्रिय प्रकृति की पूर्णता—इनमें से प्रत्येक अपने पूर्ण एवं निरपेक्ष स्वरूप तक ऊंचे उठ जाता है और ये सभी एक-दूसरे के साथ पूर्ण सामंजस्य, परस्पर-विलय एवं ऐक्य, दिव्य समग्रता और दैवी पूर्णता तक उन्नीत हो जाते हैं। कारण, अतिमानस एक सत्य-चेतना है जिसमें भागवत सत्ता पूर्णतया अभिव्यक्त होकर, आगे से अज्ञान के करणों के द्वारा कार्य नहीं करती; सत्ता की स्थितिशीलता का सत्य, जो पूर्ण और निरपेक्ष है, उसी सत्ता की शक्ति और क्रिया के सत्य में, जो स्वयंसत् और सर्वांगपूर्ण है, क्रियाशील बन जाता है। वहां प्रत्येक गति भागवत सत्ता के आत्म-सचेतन सत्य की गति है और प्रत्येक खण्ड समग्र के साथ पूर्णतया सुसंगत है। सत्य-चेतना में अत्यन्त सीमित एवं सान्त क्रिया भी सनातन एवं अनन्त की एक गति होती है और सनातन एवं अनन्त की स्वभावसिद्ध निरपेक्षता और पूर्णता में से अपना भाग ग्रहण करती है। अतिमानसिक सत्य की ओर आरोहण न केवल हमारी आध्यात्मिक और मूलभूत चेतना को उस ऊंची चोटी तक उठा ले जाता है, बल्कि हमारी संपूर्ण सत्ता में तथा हमारी प्रकृति के सभी भागों में भी इस ज्योति और सत्य का अवतरण साधित कर देता है। तब सभी कुछ भागवत सत्य का एक अंग तथा परमोच्च मिलन एवं एकत्व का एक तत्त्व एवं साधन बन जाता है; अतएव यह आरोहण एवं अवरोहण ही इस योग का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अपनी सत्ता एवं समस्त सत्ता के भागवत सत्स्वरूप के साथ मिलन ही योग का एकमात्र वास्तविक लक्ष्य है। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है; हमें स्मरण रखना होगा कि हमारे योग का अनुसरण स्वयं अतिमानस की प्राप्ति के लिये नहीं, बल्कि भगवान् के लिये किया जाता है; हम अतिमानस की खोज उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द एवं महानता के लिये नहीं, बल्कि मिलन को पूर्ण, निरपेक्ष और सर्वांगीण बनाने के लिये करते हैं, अपनी सत्ता के प्रत्येक संभवनीय रूप में, उसकी उच्च-से-उच्च गभीरताओं और विस्तृत-से-विस्तृत विशालताओं में तथा अपनी प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में, उसके एक-एक मोड़ और कोने में एवं प्रत्येक गुप्त प्रदेश में मिलन को अनुभव और अधिकृत करके क्रियाशील बनाने के लिये ही हम अतिमानस को प्राप्त करना चाहते हैं। यह सोचना भूल है—और ऐसा सोचने की भूल बहुतेरे कर सकते हैं,—कि अतिमानसिक योग का लक्ष्य अतिमानवता का शक्तिशाली वैभव, दिव्य शक्ति और महानता, तथा एक पृथक् व्यक्ति के विस्तारित व्यक्तित्व की आत्म-परिपूर्णता प्राप्त करना है। यह एक मिथ्या और संकटपूर्ण धारणा है,— संकटपूर्ण इसलिये कि यह हमारे अन्दर के राजसिक प्राणमय मन के अहंकार, आत्म-गौरव एवं महत्त्वाकांक्षा को बढ़ा सकती है और यदि उस अहंकार

को अतिक्रम करके उस पर विजय न प्राप्त की गयी तो वह निश्चय ही आध्यात्मिक पतन की ओर ले जायेगा। इसी प्रकार यह धारणा मिथ्या इसलिये है कि यह अहंकारमय है जब कि अतिमानसिक रूपान्तर की पहली शर्त अहंकार से मुक्त होना है। संकल्पशील और कर्म-प्रधान मनुष्य की सक्रिय और गतिशक्तिमय प्रकृति के लिये तो यह अत्यन्त ही भयावह है, क्योंकि वह शक्ति का पीछा करके सहज ही पथभ्रष्ट हो सकती है। अतिमानसिक रूपान्तर के द्वारा शक्ति अनिवार्यतः ही प्राप्त होती है, सर्वांगपूर्ण कर्म के लिये यह एक आवश्यक शर्त है : पर जो शक्ति इस प्रकार आकर प्रकृति और जीवन को अपने हाथ में ले लेती है वह भागवत शक्ति ही होती है, वह एकमेव की शक्ति होती है जो आध्यात्मिक व्यक्ति के द्वारा कार्य करती है; वह व्यक्तिगत शक्ति का परिवर्द्धित रूप नहीं होती, न भेदजनक मानसिक और प्राणिक अहं की अन्तिम एवं उच्चतम पूर्णता ही होती है। आत्म-परिपूर्णता योग के एक परिणाम के रूप में प्राप्त होती है, पर योग का लक्ष्य व्यक्ति की महानता प्राप्त करना नहीं है। लक्ष्य तो केवल आध्यात्मिक सिद्धि एवं सच्चे आत्मस्वरूप को प्राप्त करना तथा दिव्य चेतना और प्रकृति को धारण करके भगवान् के साथ एकत्व लाभ करना है।[1] शेष सब वस्तुएं इसका गठन करनेवाली व्योरे की चीजें एवं सहचारी अवस्थाएं हैं। अहं-केन्द्रित आवेग, महत्त्वाकांक्षा, शक्ति और महानता की लालसा, आत्मख्यापन-रूपी लक्ष्य इस महत्तर चेतना के लिये विजातीय वस्तुएं हैं और सुदूर भविष्य में भी अतिमानसिक रूपान्तर के निकट पहुंचने की जो कोई भी सम्भावना है उसके विरुद्ध ये वस्तुएं एक अलंघ्य बाधा उपस्थित करेंगी। महत्तर आत्मा को पाने के लिये व्यक्ति को अपने क्षुद्र निम्नतर स्व को खोना ही होगा। भगवान् के साथ एकत्व ही प्रधान प्रेरक-भाव होना चाहिये; यहां तक कि अपनी सत्ता के तथा सत्तामात्र के सत्य की खोज, उस सत्य में एवं उसकी महत्तर चेतना में जीवन-यापन तथा प्रकृति की पूर्णता—ये सब भी एकत्व लाभ के प्रयत्न के स्वाभाविक परिणाममात्र होते हैं। उसकी समग्र पूर्णता की अनिवार्य शर्तें होते हुए ये केन्द्रीय लक्ष्य के अंग इसलिये होते हैं कि ये विकास की एक आवश्यक अवस्था तथा एक मुख्य परिणाम हैं।

यह भी ध्यान में रखना होगा कि अतिमानसिक परिवर्तन एक विषम तथा दूरवर्ती लक्ष्य है, अन्तिम अवस्था है; उसे एक सुदूरव्यापी दृश्य का परला छोर समझना होगा; वह प्रथम लक्ष्य, एक निरन्तर दृष्टिगत आदर्श या एक अव्यवहित उद्देश्य नहीं हो सकता और न उसे कभी ऐसे लक्ष्य, आदर्श या उद्देश्य में परिणत ही करना चाहिये। क्योंकि, वह दुष्कर आत्म-विजय और आत्म-अतिक्रमण के बहुत कुछ सिद्ध होने के बाद, प्रकृति के कठिन आत्म-विकास की बहुत-सी लंबी और कष्टकारी अवस्थाओं के पार होने पर ही सम्भावना के दृश्य क्षेत्र के भीतर आ

[1] साधर्म्य-मुक्ति।

सकता है। सबसे पहले मनुष्य को एक आन्तरिक योग-चेतना प्राप्त करनी होगी और उसे वस्तुओं-सम्बन्धी अपने साधारण दृष्टिकोण, अपनी प्राकृत चेष्टाओं, तथा अपने जीवन के प्रेरकभावों के स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा; हमें अपनी सत्ता की सम्पूर्ण वर्तमान गठन में आमूल परिवर्तन लाना होगा। उसके बाद, हमें और भी गहराई में जाकर अपनी आवृत चैत्य सत्ता को उपलब्ध करना होगा और उसके प्रकाश में तथा उसके शासन के तले अपने आन्तर और बाह्य अंगों को चैत्यमय बनाना होगा, मानस-प्रकृति, प्राण-प्रकृति एवं देह-प्रकृति को और अपनी समस्त मानसिक, प्राणिक, शारीरिक क्रियाओं, अवस्थाओं एवं गतियों को अन्तरात्मा के सचेतन करणों के रूप में परिणत करना होगा। उसके बाद अथवा उसके साथ-साथ हमें दिव्य ज्योति, शक्ति, पवित्रता, ज्ञान, स्वतन्त्रता और विशालता के अवतरण के द्वारा अपनी सम्पूर्ण सत्ता को आध्यात्मिक बनाना होगा। व्यक्तिगत मन, प्राण और देह की सीमाओं को तोड़ डालना, अहं को नष्ट करना, विश्वचेतना में प्रवेश करना, आत्मा का साक्षात्कार करना, और आध्यात्मीकृत एवं विश्वभावापन्न मन, हृदय, प्राणशक्ति एवं भौतिक चेतना प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा हो जाने पर ही अतिमानसिक चेतना की ओर प्रयाण करना सम्भव होने लगता है, पर तब भी एक कठिन आरोहण सम्पन्न करना होता है जिसकी हर एक अवस्था एक पृथक् दुःसाध्य उपलब्धि होती है। योग सत्ता का एक द्रुत एवं घनीभूत सचेतन विकास है, पर वह कितना ही द्रुत क्यों न हो, करणात्मक प्रकृति में जिस विकास को सम्पन्न करने में सैंकड़ों और हजारों वर्ष या सैंकड़ों जीवन लग सकते हैं उसे वह चाहे एक ही जीवन में क्यों न साधित कर दे, फिर भी निःसन्देह विकासमात्र क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा ही अग्रसर होता है; साधन-प्रक्रिया की अधिक-से-अधिक तीव्रता एवं एकाग्रता भी सब क्रमिक अवस्थाओं को अपने अन्दर लील नहीं सकती, न वह प्राकृतिक पद्धति को उलट कर अन्त को आरम्भ के निकट ही ला सकती है। अज्ञ और उतावला मन तथा अति उत्सुक शक्ति दोनों ही इस आवश्यक विधान को सहज में भूल जाते हैं; वे अतिमानस को तात्क्षणिक लक्ष्य बनाने के लिये दौड़ पड़ते हैं और अनन्त भगवान् में उसके जो उच्चतम शिखर हैं उनसे उसे एक लंबे नोकीले डंडे के द्वारा नीचे खींच ले आने की आशा करते हैं। यह आशा केवल मूर्खताभरी ही नहीं, बल्कि संकटपूर्ण भी है। क्योंकि, प्राणिक कामना सहज ही अन्धकारमय या उग्र प्राणिक शक्तियों की क्रिया को इस क्षेत्र में ला सकती है। ये शक्तियां उसके सामने उसकी असाध्य लालसा की तात्क्षणिक पूर्ति की आशा का चित्र प्रस्तुत करती हैं। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अनेक प्रकार के आत्म-प्रवञ्चनों में फंस सकता है, अन्धकार की शक्तियों के असत्यों तथा प्रलोभनों के आगे झुक सकता है, लोकोत्तर शक्तियों की खोज में भटक सकता है, भागवत प्रकृति से विमुख होकर आसुरिक की ओर मुड़ सकता है, परिवर्द्धित अहं

की अस्वाभाविक, अमानवीय और अदिव्य बृहत्ता में घातक रूप से फूलकर कुप्पा हो सकता है। यदि व्यक्ति की सत्ता क्षुद्र हो, प्रकृति दुर्बल और अशक्त हो तो विपत्ति इतने बड़े परिमाण में नहीं आती; परन्तु सन्तुलन का नाश, मन की केन्द्रभ्रष्टता और उसका बुद्धिहीनता में पतन अथवा प्राण की केन्द्रभ्रष्टता और उसके परिणामस्वरूप नैतिक भूल या फिर प्रकृति की किसी प्रकार की अस्वस्थ विकृतावस्था में ले जानेवाली विच्युति—ये प्रतिकूल परिणाम तो उत्पन्न हो ही सकते हैं। यह कोई ऐसा योग नहीं है जिसमें किसी प्रकार की विकृति को, चाहे वह ऊंचे प्रकार की ही क्यों न हो, आत्मपरिपूर्णता या आध्यात्मिक उपलब्धि के साधन के रूप में स्वीकार किया जा सके। जब कोई लोकोत्तर एवं अतिबौद्धिक अनुभव में प्रवेश करे तब भी सन्तुलन-भंग बिल्कुल नहीं होना चाहिये, सन्तुलन को तो चेतना के शिखर से लेकर आधार तक स्थिर रखना होगा; अनुभव करनेवाली चेतना को अपने निरीक्षण में एक शान्त समतोलता, सुनिश्चित स्पष्टता और व्यवस्था सुरक्षित रखनी होगी, इसके साथ ही उसके अपने अन्दर एक प्रकार की उदात्तीकृत साधारण बुद्धि, आत्म-समालोचना की अचूक शक्ति और वस्तुओं के सम्बन्ध में यथार्थ विवेक तथा उनका समन्वय एवं स्थिर अन्तर्दर्शन भी सुरक्षित रखना होगा; उसके अन्दर तथ्यों की बुद्धिमत्तापूर्ण पकड़ और एक उच्च आध्यात्मीकृत प्रत्यक्षवाद सदा ही होना चाहिये। साधारण प्रकृति के परे परा प्रकृति में पहुंचने का कार्य मनुष्य अबौद्धिक या अवबौद्धिक स्तर पर उतरकर नहीं कर सकता; यह तो बुद्धि में से होकर परा बुद्धि के महत्तर प्रकाश में पहुंचने की क्रिया के द्वारा ही करना चाहिये। यह परा बुद्धि, बुद्धि के अन्दर अवतरित होती है और उसकी सीमाओं को तोड़ती हुई भी उसे ऊपर उठाकर उच्चतर स्तरों में ले जाती है; बुद्धि लुप्त नहीं हो जाती, बल्कि परिवर्तित होकर अपने ही सच्चे सीमारहित स्वरूप में, परा प्रकृति की समन्वयकारिणी शक्ति में परिणत हो जाती है।

एक और भूल से भी बचने की जरूरत है। वह भूल भी ऐसी है जिसकी ओर हमारा मन आसानी से झुक जाता है; वह है—किसी उच्चतर मध्यवर्ती चेतना, यहां तक कि किसी भी प्रकार की लोकोत्तर चेतना को अतिमानस समझ बैठना। अतिमानस तक पहुंचने के लिये मानव-मन की साधारण गतियों के ऊपर चले जाना ही पर्याप्त नहीं है; एक महत्तर ज्योति, महत्तर शक्ति एवं महत्तर आनन्द को ग्रहण करना अथवा ज्ञान, दृष्टि एवं प्रभावशाली संकल्प की शक्तियों को, जो मनुष्य के सामान्य क्षेत्र को अतिक्रम करती हों, विकसित करना भी पर्याप्त नहीं। समस्त प्रकाश आत्मा का ही प्रकाश नहीं होता, अतिमानस का प्रकाश होना तो दूर की बात रही; मन, प्राण और यहांतक कि शरीर का भी अपना-अपना प्रकाश होता है जो अभी छुपा हुआ है। पर वह अत्यन्त अनुप्रेरक, उन्नायक, बोधप्रद तथा प्रबलतया कार्यसाधक हो सकता है। सीमाओं को तोड़कर विश्व-चेतना के भीतर

प्रवेश करने से भी चेतना और शक्ति का अपरिमित विस्तार साधित हो सकता है। आंतर मन, आंतर प्राण एवं आंतर देह के प्रति, अन्तःप्रच्छन्न चेतना के किसी भी क्षेत्र के प्रति उद्घाटन और उनमें प्रवेश ज्ञान, कर्म या अनुभव की ऐसी अव-सामान्य या सामान्य-अतीत शक्तियों की क्रिया को उन्मुक्त कर सकता है जिन्हें अशिक्षित मन सहज ही आध्यात्मिक साक्षात्कार, अन्तःस्फुरण एवं अन्तर्ज्ञान समझने की भूल कर सकता है। उच्चतर मनोमय पुरुष के महत्तर स्तरों की ओर ऊर्ध्वमुख उद्घाटन अत्यधिक ज्योति और शक्ति उतार ले आ सकता है और वे ज्योति तथा शक्ति अन्तर्ज्ञान-भावित मन और प्राणशक्ति की तीव्र क्रिया उत्पन्न कर सकती हैं, या फिर इन स्तरों में किया गया आरोहण एक ऐसी वास्तविक किन्तु फिर भी अपूर्ण ज्योति ला सकता है जो मिश्रण की ओर सहज ही खुली होती है; यह ज्योति अपने मूलस्रोत में तो आध्यात्मिक होती है, पर निम्न प्रकृति में उतरने पर अपने क्रियाशील स्वरूप में सदा आध्यात्मिक नहीं रहती। किन्तु इनमें से कोई भी चीज अतिमानसिक ज्योति या अतिमानसिक शक्ति नहीं है; उसका साक्षात्कार एवं ज्ञान तो तभी प्राप्त हो सकता है जब हम मानसिक सत्ता के शिखरों पर पहुंच जाते हैं, अधिमानस में प्रवेश कर लेते हैं और आध्यात्मिक सत्ता के ऊर्ध्वतर एवं महत्तर गोलार्द्ध के किनारों पर स्थित हो जाते हैं। वहां अज्ञान, निश्चेतना, अर्द्ध-ज्ञान के प्रति शनैः-शनैः जागरित होता हुआ आदि घनघोर निर्ज्ञान—ये तीनों ही, जो स्थूल-भौतिक प्रकृति का आधार हैं और हमारे मन और प्राण की समस्त शक्तियों को चारों ओर से घेरे हुए हैं तथा उनमें प्रविष्ट होकर उन्हें प्रबल रूप से सीमित करते हैं, पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं; क्योंकि अमिश्रित और अपरिवर्तित सत्य-चेतना ही वहां समस्त सत्ता का उपादान है, उसका शुद्ध आध्यात्मिक ताना-बाना है। जब हम अभी अज्ञान के, चाहे वह आलोकित या संबुद्ध अज्ञान ही क्यों न हो, गतिचक्र में घूम रहे हों, तब यह मानना कि हम उक्त अवस्था तक पहुंच चुके हैं अपने-आपको संकटपूर्ण कुमार्गदर्शन के प्रति या सत्ता के विकास के अवरोध के प्रति खोलने के समान होता है। कारण, यदि किसी निम्नतर अवस्था को ही हम इस प्रकार अतिमानस समझने की भूल कर बैठें तो वह हमारे लिये उन सब संकटों का द्वार खोल देगी जो, हम देख ही चुके हैं कि, सिद्धि प्राप्त करने की हमारी मांग की धृष्टतापूर्ण एवं अहंकारमय उतावली के परिणाम के रूप में उत्पन्न होते हैं। अथवा, यदि उच्चतर अवस्थाओं में से किसीको हम उच्चतम मान बैठें तो हम, बहुत-कुछ उपलब्ध करने पर भी, अपनी सत्ता के महत्तर एवं पूर्णतर लक्ष्य से नीचे रह सकते हैं; क्योंकि हम अन्तिम लक्ष्य के निकटवर्ती किसी लक्ष्य से ही सन्तुष्ट रहेंगे और परमोच्च रूपान्तर हमसे छूट ही जायगा। पूर्ण आन्तरिक मुक्ति और उच्च आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि भी वह परम रूपान्तर नहीं है; क्योंकि हमें सारतत्त्व में वह उपलब्धि, वह स्वतः-पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सकती है, किन्तु फिर भी हमारे

क्रियाशील अंग अपने यन्त्रात्मक रूप में एक आलोकित अध्यात्मभावापन्न मन से सम्बन्ध रख सकते हैं और, परिणामतः, जैसे मनमात्र अपनी महत्तर शक्ति और ज्ञान में भी दोषपूर्ण होता है, वैसे वे भी अभी विवशतापूर्वक मूल परिसीमक निर्ज्ञान के द्वारा आंशिक या स्थानीय रूप से तमसाच्छन्न या सीमित हो सकते हैं।

दूसरा भाग

पूर्ण ज्ञान का योग

अध्याय १

ज्ञान का लक्ष्य

समस्त अध्यात्म-जिज्ञासा 'ज्ञान' के एक ऐसे लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है जिसकी तरफ साधारणतः मनुष्य अपने मन की आंख नहीं फेरते, यह एक ऐसे सनातन, असीम एवं निरपेक्ष पुरुष या वस्तु की ओर अग्रसर होती है जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य पार्थिव वस्तुओं या शक्तियों से भिन्न है, भले वह इनके अन्दर या इनके पीछे विद्यमान हो अथवा इनका उद्गम या स्रष्टा ही क्यों न हो। इसका लक्ष्य ज्ञान की एक ऐसी भूमिका है जिसके द्वारा हम इन सनातन, असीम एवं निरपेक्ष का स्पर्श कर सकें, इनमें प्रवेश कर सकें या तादात्म्य द्वारा इन्हें जान सकें; इसका लक्ष्य एक ऐसी चेतना है जो विचारों, रूपों और पदार्थों-विषयक हमारी साधारण चेतना से भिन्न है, एक ऐसा ज्ञान जो वह चीज नहीं है जिसे हम ज्ञान कहते हैं, बल्कि एक स्वयंस्थित, नित्य एवं अनन्त वस्तु है। और, यद्यपि मनुष्य के मनोमय प्राणी होने के कारण, यह ज्ञान के हमारे साधारण करणों से अपनी खोज आरम्भ कर सकती है अथवा यहांतक कि इसे आवश्यक रूप से ऐसा करना ही होता है फिर भी, इसे उतने ही आवश्यक रूप में उन करणों के परे जाकर अतीन्द्रिय तथा अतिमानसिक साधनों और शक्तियों का प्रयोग करना होगा, क्योंकि यह किसी ऐसी चीज की खोज कर रही है जो स्वयं अतीन्द्रिय एवं अतिमानसिक है तथा मन और इन्द्रियों की पकड़ से परे है, यद्यपि मन और इन्द्रिय के द्वारा उसकी प्रथम झलक अवश्य प्राप्त हो सकती है या उसकी प्रतिबिम्बित आकृति दिखायी दे सकती है।

ज्ञान-योग की सभी परम्परागत प्रणालियां, उनके अन्य भेद चाहे जो हों, इस विश्वास या बोध के आधार पर आगे बढ़ती हैं कि सनातन एवं निरपेक्ष सत्ता विश्वरहित सत्ता की शुद्ध परात्पर अवस्था ही हो सकती है या कम-से-कम इसी अवस्था में निवास कर सकती है या फिर, वह असत्ता ही हो सकती है। समस्त वैश्व सत्ता या वह सब कुछ जिसे हम सत्ता कहते हैं अज्ञान की ही एक अवस्था है। यहांतक कि उच्चतम वैयक्तिक पूर्णता एवं आनन्दपूर्ण जागतिक स्थिति भी परम अज्ञान की अवस्था से कोई अच्छी चीज नहीं है। पूर्ण सत्य के अन्वेषक को वैयक्तिक और जागतिक—सभी वस्तुओं एवं अवस्थाओं का कठोरतापूर्वक त्याग कर देना होगा। परम निश्चल आत्मा या चरम शून्य ही एकमात्र सत्य है, आध्यात्मिक ज्ञान का एकमात्र विषय है। ज्ञान की जो भूमिका किंवा इस लौकिक चेतना से भिन्न जो चेतना हमें प्राप्त करनी होगी वह निर्वाण है, अर्थात् अहं का लय है, समस्त मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाओं का, बल्कि सभी

क्रियाओं का निरोध है, चाहे वे कोई भी क्यों न हों, वह परम प्रकाशयुक्त निश्चलता है, आत्म-लीन और अनिर्वचनीय निर्व्यक्तिक प्रशान्तता का विशुद्ध आनन्द है। इसकी प्राप्ति के साधन हैं ऐसा ध्यान और एकाग्रता जो अन्य सभी वस्तुओं को बहिष्कृत कर दें और मन की अपने विषय में पूर्ण तल्लीनता। कर्म करने की स्वीकृति खोज की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही दी जा सकती है जिससे वह जिज्ञासु के चित्त को शुद्ध करके उसे सदाचार और स्वभाव की दृष्टि से ज्ञान का उपयुक्त आधार बना दे। इस कर्म को भी या तो हिन्दू-शास्त्र के द्वारा कठोरतापूर्वक विहित पूजासम्बन्धी क्रिया-कलाप तथा जीवन-सम्बन्धी नियत कर्तव्यों के अनुष्ठान तक ही सीमित रखना होगा या फिर इसे बौद्ध साधना के अनुसार, अष्टांग मार्ग के द्वारा भूतदया के उन कार्यों के परमोच्च अनुष्ठान की ओर प्रेरित करना होगा जो परहित के लिये 'स्व' के क्रियात्मक उच्छेद की ओर ले जाते हैं। पर अन्त में, किसी भी तात्त्विक एवं विशुद्ध ज्ञानयोग में पूर्ण निश्चलता की प्राप्ति के लिये समस्त कर्मों को त्याग देना होगा। कर्म मोक्ष के लिये तैयार तो कर सकता है, पर उसकी प्राप्ति नहीं करा सकता। कर्म के प्रति किसी भी प्रकार की अनवरत आसक्ति सर्वोच्च उन्नति के साथ असंगत है और आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में एक अलंघ्य बाधा खड़ी कर सकती है। निश्चलता की परमोच्च अवस्था कर्म से सर्वथा विपरीत है, अतएव, यह उन लोगों को नहीं प्राप्त हो सकती जो आग्रहपूर्वक कर्मों में लगे रहते हैं, यहां तक कि भक्ति, पूजा एवं प्रेम भी ऐसी साधनाएं हैं जो अपरिपक्व आत्मा के ही योग्य हैं। अधिक-से-अधिक ये अज्ञान की ही सर्वोत्तम विधियां हैं। कारण, ये—भक्ति, प्रेम आदि—हमसे भिन्न किसी अन्य, उच्चतर एवं महत्तर वस्तु को अर्पित किये जाते हैं; किन्तु परम ज्ञान में ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि वहां या तो केवल एक ही सत्ता होती है या फिर कोई भी सत्ता नहीं होती और इसलिये या तो वहां पूजा करने और प्रेम एवं भक्ति की भेंट चढ़ानेवाला कोई नहीं होता या फिर इसे ग्रहण करनेवाला ही कोई नहीं होता। निश्चय ही, वहां चिन्तन-क्रिया भी तदात्मता या शून्यता की अनन्य चेतना में विलुप्त हो जाती है और अपनी निश्चलता के द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति को भी निश्चल बना देती है। तब या तो केवल निरपेक्ष एकमेव रह जाता है या फिर सनातन शून्य।

यह शुद्ध ज्ञानयोग बुद्धि के द्वारा साधित होता है, यद्यपि इसकी परिणति बुद्धि और उसकी क्रियाओं के अतिक्रमण में ही होती है। हमारे अन्दर का विचारक हमारी गोचर सत्ता के अन्य सभी भागों से अपने-आपको पृथक् कर लेता है, हृदय का बहिष्कार कर देता है, प्राण और इन्द्रियों से पीछे हट जाता है, शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, ताकि वह उस वस्तु में अपनी ऐकान्तिक परिपूर्णता प्राप्त कर सके जो उससे तथा उसके कार्य-व्यापार से भी परे है। इस मनोवृत्ति के मूल में एक सत्य निहित है, इसी प्रकार एक ऐसा अनुभव भी है जो इसे उचित

सिद्ध करता प्रतीत होता है। सत्ता का एक 'परम सार' है जो अपनी प्रकृति से ही निश्चल है, मूल सत्ता के अन्दर एक परम नीरवता है जो अपने विकास और परिवर्तनों से परे है, जो निर्विकार है और अतएव उन सब क्रिया-प्रवृत्तियों से उच्चतर है जिनका वह, अधिक-से-अधिक, एक 'साक्षी' है। और, हमारे आभ्यन्तरिक व्यापारों की क्रमपरम्परा में विचार एक प्रकार से इस आत्मा के निकटतम है, कम-से-कम इसके उस सर्व-सचेतन ज्ञाता-रूप के निकटतम है जो सब क्रियाओं पर अपनी दृष्टि डालता है, पर उन सबसे पीछे हटकर स्थित हो सकता है। हमारा हृदय और संकल्प तथा हमारी अन्य शक्तियां मूलतः क्रियाशील हैं, वे स्वभाववश ही कार्य करने में प्रवृत्त होती हैं तथा उसके द्वारा अपनी पूर्ण चरितार्थता प्राप्त करती हैं,—यद्यपि वे भी अपने कार्यों में पूर्ण तृप्ति लाभ करके या फिर इससे उल्टी प्रक्रिया के द्वारा निश्चलता को प्राप्त करने में अधिक समर्थ हैं। विचार इस नीरव साक्षी आत्मा को जो हमारी सभी क्रियाओं से उच्चतर है, एक आलोकित बौद्धिक अनुभव के द्वारा जानकर अधिक आसानी से सन्तुष्ट हो जाता है और, एक बार उस अचल आत्मा के दर्शन कर लेने पर, सत्यान्वेषण के अपने ध्येय को पूरा हुआ समझकर, शान्त हो जाने तथा स्वयं भी अचल बन जाने के लिये उद्यत रहता है। कारण, अपनी अत्यन्त विशिष्ट गतिविधि में, यह स्वयं कर्म में उत्सुकतापूर्वक भाग लेनेवाले तथा रागपूर्वक श्रम करनेवाले की अपेक्षा कहीं अधिक वस्तुओं का एक निष्पक्ष साक्षी, निर्णायक एवं निरीक्षक बनने की प्रवृत्ति रखता है, और आध्यात्मिक या दार्शनिक स्थिरता एवं निर्लिप्त पृथक्ता, अत्यन्त सहज रूप से, प्राप्त कर सकता है। और, क्योंकि मनुष्य मनोमय प्राणी है, उसके अज्ञान को आलोकित करने के लिये विचार उसका सच्चे रूप में सर्वोत्तम एवं उच्चतम साधन न सही, पर कम-से-कम एक अत्यन्त स्थिर, सामान्य और प्रभावपूर्ण साधन अवश्य है। ज्ञान-संग्रह और विचार-विमर्श, ध्यान, स्थिर चिन्तन, मन की अपने विषय पर तन्मयतापूर्ण एकाग्रता-रूपी अपने व्यापारों से, अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन से सम्पन्न विचार हमारे अन्वेषणीय तत्त्व की उपलब्धि के एक अनिवार्य साधन के रूप में हमारी सत्ता में उच्च पद पर आसीन है, और यदि यह हमारी यात्रा का अग्रणी तथा मन्दिर का एकमात्र उपलभ्य मार्गदर्शक या कम-से-कम उसका सीधा एवं अन्तरतम द्वार होने का दावा करे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वास्तव में विचार केवल एक गुप्तचर और अग्रणी है; वह मार्ग दिखा सकता है, पर आदेश नहीं दे सकता और न अपने-आपको क्रियान्वित ही कर सकता है। हमारी यात्रा का नायक, हमारे अभियान का अग्रणी, हमारे यज्ञ का प्रथम और प्राचीनतम पुरोहित संकल्प है। यह संकल्प न तो हृदय की वह इच्छा है और न मन की वह मांग या अभिरुचि है जिसे हम बहुधा ही यह नाम दिया करते हैं। यह

तो हमारी सत्ता की और सत्तामात्र की वह अन्तरतम, प्रबल तथा प्रायः ही आवृत चेतन-शक्ति है, तपस्, शक्ति, श्रद्धा है जो प्रभुत्वशाली रूप में हमारी दिशा का निर्धारण करती है और बुद्धि तथा हृदय जिसके न्यूनाधिक अन्ध एवं स्वयंचालित सेवक और यन्त्र हैं। परम आत्मा, जो निश्चल एवं शान्त है तथा वस्तुओं एवं घटनाओं से शून्य है, सत्ता का आश्रय तथा पृष्ठाधार है, एक परम तत्त्व की नीरव प्रणालिका का या उसका मूल द्रव्य है : वह स्वयं एकमात्र पूर्ण-वास्तविक सत्ता नहीं है, स्वयं परम तत्त्व नहीं है। सनातन एवं परम तत्त्व तो परमेश्वर एवं सर्व-मूल पुरुष है। सब कार्य-व्यापारों के ऊपर अवस्थित रहता हुआ तथा उनमें से किसी से भी बद्ध न होता हुआ वह उन सबका उद्गम, अनुमन्ता, उपादान, निमित्त कारण तथा स्वामी है। सभी कार्य-व्यापार इस परम आत्मा से ही उद्भूत होते हैं तथा इसीके द्वारा निर्धारित भी होते हैं; सभी इसकी क्रियाएं हैं, इसकी अपनी ही चिन्मय शक्ति की प्रक्रियाएं हैं, आत्मा से विजातीय किसी वस्तु की या इस आत्मा से भिन्न किसी अन्य शक्ति की नहीं। इन क्रियाओं में आत्मा का, जो अपनी सत्ता को अनन्त प्रकार से व्यक्त करने के लिये प्रेरित होती है, चेतन संकल्प या शक्ति प्रकट होती है; वह संकल्प या शक्ति अज्ञ नहीं है, बल्कि अपने स्वरूप के तथा उस सबके ज्ञान के साथ, जिसे प्रकट करने के लिये वह प्रयोग में लायी जाती है, एकीभूत है। हमारे अन्दर का गुह्य आध्यात्मिक संकल्प एवं आन्तरात्मिक श्रद्धा, हमारी प्रकृति का प्रमुख गुप्त बल, इस शक्ति का ही एक वैयक्तिक यन्त्र है जो 'परम' के साथ अधिक निकट सम्पर्क रखता है; यदि एक बार हम उसे उपलब्ध और अधिकृत कर सकें तो हमें पता चलेगा कि वह हमारा एक अधिक सुनिश्चित मार्गदर्शक और प्रकाशप्रदाता है, क्योंकि वह हमारी विचार-शक्तियों की ऊपरी क्रियाओं की अपेक्षा अधिक गंभीर है तथा 'एक सत्' एवं 'निरपेक्ष' के अधिक घनिष्ठतया निकट है। अपनेमें तथा विश्व में उस संकल्प को जानना और उसके दिव्य चरम परिणामों तक, ये चाहे जो भी हों, उसका अनुसरण करना ही, निःसन्देह, कर्मों की भांति ज्ञान के लिये भी तथा जीवन के साधक और योग के साधक के लिये भी उच्चतम मार्ग तथा सत्यतम शिखर है।

विचार प्रकृति का सबसे उच्च या सबसे सबल भाग नहीं है, न ही यह सत्य का एकमात्र या गभीरतम निर्देशक है। अतएव, इसे अपनी ही ऐकान्तिक तृप्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिये, न उस तृप्ति को परम ज्ञान की उपलब्धि का चिह्न ही समझ लेना चाहिये। यह यहां कुछ हद तक हृदय, प्राण तथा अन्य अंगों के मार्गदर्शक के रूप में ही अस्तित्व रखता है, पर यह उनका स्थान नहीं ले सकता; इसे केवल यह नहीं देखना होगा कि इसकी अपनी चरम तृप्ति क्या है, वरन् यह भी कि क्या कोई ऐसी चरम तृप्ति नहीं है जो इन अन्य अंगों के लिये भी अभिप्रेत हो। अमूर्त विचार का एकांगी मार्ग तभी उचित सिद्ध होगा यदि विश्व में परम

संकल्प का उद्देश्य केवल अज्ञान की क्रिया में एक ऐसा अवरोहण करना ही हो जिसे मन एक अन्धताजनक यन्त्र एवं जेलर के रूप में मिथ्या विचार और सम्वेदन के द्वारा साधित करता है, साथ ही यदि उसका उद्देश्य ज्ञान की निश्चलता में एक ऐसा आरोहण करना भी हो जिसे मन उसी प्रकार यथार्थ विचार के द्वारा, पर उसे एक आलोकप्रद यन्त्र एवं उद्धारक बनाकर, सम्पन्न करता है। परन्तु सम्भावनाएं ये हैं कि जगत् में एक ऐसा उद्देश्य भी है जो इससे कम निरर्थक एवं कम निरुद्देश्य है, निरपेक्ष की प्राप्ति के लिये एक ऐसा आवेग भी है जो इससे कम नीरस एवं कम अमूर्त है, जगत् का एक ऐसा सत्य भी है जो अधिक विशाल एवं जटिल है, अनन्त की एक ऐसी ऊंचाई भी है जो अधिक समृद्ध रूप से अनन्त है। निःसन्देह अमूर्त तर्क, पुराने दर्शनों की भांति, सदैव एक अनन्त शून्य 'नास्ति' या एक उतनी ही रिक्त अनन्त 'अस्ति' पर पहुंचता है; क्योंकि अमूर्त होता हुआ यह एक पूर्ण अमूर्तता की ओर अग्रसर होता है और यही दो ऐसे एकमात्र अमूर्त प्रत्यय हैं जो पूर्णतया निरपेक्ष हैं। परन्तु एक मूर्त, सदा गहरी होती जानेवाली प्रज्ञा जो संकीर्ण और अक्षम मानव-मन के धृष्ट अमूर्त तर्क की नहीं, बल्कि निःसीम अनुभव के अधिकाधिक ऐश्वर्य की सेवा करे, दिव्य अतिमानवीय ज्ञान की कुंजी हो सकती है। हृदय, संकल्प-शक्ति, प्राण, यहां तक कि शरीर भी, विचार के समान ही, दिव्य चिन्मय-सत्ता के रूप हैं तथा अत्यन्त अर्थपूर्ण संकेत हैं। इनमें भी ऐसी शक्तियां हैं जिनके द्वारा अन्तरात्मा अपनी पूर्ण आत्मचेतनता की ओर लौट सकती है अथवा इनके पास भी ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा वह इसका रसास्वादन कर सकती है। सुतरां, परम संकल्प का उद्देश्य एक ऐसी परिणति को साधित करना हो सकता है जिसमें सम्पूर्ण सत्ता का अपनी दिव्य तृप्ति को उपलब्ध करना अभिमत हो तथा जिसमें ऊंचाइयां गहराइयों को आलोकित करें और जड़ निश्चेतन भी परम अतिचेतना के स्पर्श से अपने-आपको भगवान् के रूप में अनुभव करे।

परम्परागत ज्ञानमार्ग विवर्जन की प्रक्रिया के द्वारा आगे बढ़ता है और निश्चल आत्मा या परम शून्य या अव्यक्त निरपेक्ष में निमज्जित होने के लिये शरीर, प्राण, इन्द्रियों, हृदय तथा विचारतक का क्रमशः परित्याग कर देता है। पूर्णज्ञान का मार्ग यह मानता है कि सर्वांगीण आत्म-परिपूर्णता उपलब्ध करना ही हमारे लिये नियत उद्देश्य है और एकमात्र वर्जनीय वस्तु हमारी अपनी अचेतनता, हमारा अज्ञान और उसके परिणाम हैं। जो सत्ता अहं का रूप धारण किये है उसके मिथ्यात्व का त्याग कर दो; तब हमारी सच्ची सत्ता हमारे अन्दर प्रकट हो सकती है। जो प्राण निरी प्राणिक लालसा का तथा हमारे दैहिक जीवन के यान्त्रिक चक्र का रूप धारण किये हुए है उसके मिथ्यात्व को त्याग दो; और तब परमेश्वर की शक्ति में और अनन्त के हर्ष में अवस्थित हमारा सच्चा प्राण प्रकट हो उठेगा। स्थूल दृश्य-प्रपंच और द्वंद्वात्मक सम्वेदनों के वशीभूत इन्द्रियों के मिथ्यात्व का त्याग कर दो; हमारे अन्दर

एक महत्तर इन्द्रिय है जो इनके द्वारा पदार्थों में विद्यमान भगवान् की ओर खुल सकती है तथा दिव्य रूप में उसे प्रत्युत्तर दे सकती है। अपनी कलुषित वासनाओं और कामनाओं तथा द्वंद्वात्मक भावों से युक्त हृदय के मिथ्यात्व को त्याग दो; हमारे अन्दर एक गभीरतर हृदय खुल सकता है जो प्राणिमात्र के लिये दिव्य प्रेम से तथा अनन्त के प्रत्युत्तरों के लिये असीम अभिलाषा और उत्कंठा से युक्त है। उस विचार के मिथ्यात्व का परित्याग कर दो जो अपनी अपूर्ण मानसिक रचना, अपनी अहंकारपूर्ण स्थापनाओं और निषेधों तथा अपनी सीमित और ऐकान्तिक एकाग्रताओं से युक्त है; ज्ञान की एक महत्तर शक्ति इसके पीछे अवस्थित है जो ईश्वर, आत्मा, प्रकृति और जगत् के वास्तविक सत्य की ओर खुल सकती है। लक्ष्य है सर्वांगीण आत्म-चरितार्थता,—अर्थात् हृदय के अनुभवों के लिये, इसकी प्रेम, हर्ष, भक्ति और पूजासम्बन्धी सहज-प्रवृत्ति के लिये एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; इन्द्रियों के लिये, वस्तुओं के रूपों में इनकी दिव्य सौन्दर्य, शिव और आनन्द की खोज के लिये एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; प्राण के लिये, इसकी कर्म करने तथा दिव्य शक्ति, प्रभुत्व और पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति के लिये एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; विचार के लिये, इसकी सत्य, प्रकाश, दिव्य प्रज्ञा और ज्ञान की भूख के लिये इसकी सीमाओं से परे एक चरम लक्ष्य एवं परिणति। हमारी प्रकृति के इन अंगों का लक्ष्य कोई ऐसी चीज नहीं है जो इनसे सर्वथा भिन्न हो तथा जिससे इन सबको बहिष्कृत कर दिया जाता हो, बल्कि एक ऐसी परम सद्वस्तु है जिसमें ये अपने-आपको अतिक्रम कर जाते हैं और साथ ही अपने चरम एवं अनन्त रूपों को तथा मानातीत सामंजस्यों को भी प्राप्त कर लेते हैं।

परम्परागत ज्ञान मार्ग के पीछे एक प्रभुत्वपूर्ण आध्यात्मिक अनुभव अवस्थित है जो इसकी परित्याग और प्रत्याहाररूपी विचार-प्रक्रिया को उचित सिद्ध करता है। यह अनुभव गभीर, तीव्र और निश्चयोत्पादक है और जिन लोगों ने मन के सक्रिय घेरे को कुछ हद तक पार करके क्षितिजरहित आन्तरिक आकाश में प्रवेश कर लिया है उन सबको यह समान रूप से प्राप्त होता है, यह मुक्ति का एक महान् अनुभव है, यह हमारे अन्दर विद्यमान किसी ऐसी वस्तु के बारे में हमारी चेतनता है जो जगत् तथा इसके समस्त रूपों, आकर्षणों, लक्ष्यों, प्रसंगों और घटनाओं के पीछे तथा बाहर अवस्थित है, शान्त, निर्लिप्त, उदासीन, असीम, निश्चल तथा मुक्त है, यह हमारे ऊपर अवस्थित किसी ऐसी, अवर्णनीय एवं अगम वस्तु की ओर हमारी ऊर्ध्वदृष्टि है जिसमें हम अपने व्यक्तित्व के विलोप के द्वारा प्रवेश कर सकते हैं, यह सर्वव्यापक सनातन साक्षी पुरुष की उपस्थिति है, उस अनन्त या कालातीत सत्ता का बोध है जो हमारी सम्पूर्ण सत्ता के महामहिम निषेध के स्तर से हमें उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखती है और जो अकेली ही एकमात्र सद्वस्तु है। यह अनुभव अपनी सत्ता के परे स्थिरतापूर्वक दृष्टिपात करनेवाले आध्यात्मीकृत मन की उच्चतम

ऊर्ध्वगति है। जो इस मुक्ति में से नहीं गुजरा वह मन और इसके पाशों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु कोई भी सदा के लिये इस अनुभव पर रुके रहने के लिये बाध्य नहीं। यद्यपि यह महान् है, फिर भी यह मन का अपनेसे तथा अपनी कल्पना में आ सकनेवाली सभी चीजों से परे की किसी वस्तु का एक अत्यन्त प्रबल अनुभवमात्र है। यह परमोच्च निषेधात्मक अनुभव है, परन्तु इसके परे एक अनन्त चेतना का समस्त विपुल प्रकाश है, एक असीम ज्ञान, एक भावात्मक चरम-परम उपस्थिति है।

आध्यात्मिक ज्ञान का विषय है परब्रह्म, भगवान्, अनन्त एवं निरपेक्ष सत्ता। यह परब्रह्म हमारी वैयक्तिक सत्ता तथा इस विश्व के साथ सम्बन्ध रखता है और यह जीव तथा जगत् दोनों से परे भी है। विश्व और व्यक्ति वही चीज नहीं हैं जो कि वे हमें प्रतीत होते हैं, क्योंकि हमारा मन और इन्द्रियां हमें इनका जो विवरण देती हैं वह एक मिथ्या विवरण होता है, एक अपूर्ण रचना तथा एक क्षीण एवं भ्रान्तिपूर्ण प्रतिमूर्त्ति होता है, जबतक कि वे उच्चतर अतिमानसिक एवं अतीन्द्रिय ज्ञान की शक्ति से प्रकाशित नहीं हो जातीं। किन्तु फिर भी विश्व और व्यक्ति हमें जो कुछ प्रतीत होते हैं वह उनके वास्तविक स्वरूप की ही एक प्रतिमूर्त्ति है,—एक ऐसी प्रतिमूर्त्ति जो अपने से परे, अपने पीछे अवस्थित वास्तविक सत्य की ओर संकेत करती है। हमारा मन और हमारी इन्द्रियां हमारे सम्मुख वस्तुओं के जो मूल्य प्रस्तुत करती हैं उनके संशोधन के द्वारा ही सत्य ज्ञान उदित होता है, और सर्वप्रथम तो यह उस उच्चतर बुद्धि की क्रिया के द्वारा प्राप्त होता है जो अज्ञानयुक्त इन्द्रिय-मानस तथा सीमित स्थूल बुद्धि के निर्णयों को यथासम्भव आलोकित तथा संशोधित करती है; समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञान की पद्धति यही है। परन्तु इसके परे एक ऐसा ज्ञान एवं सत्य-चेतना है जो हमारी बुद्धि को अतिक्रम कर जाती है और हमें उस सत्य प्रकाश के भीतर ले आती है जिसकी यह एक विचलित रश्मि है। वहां शुद्ध तर्कबुद्धि की अमूर्त परिभाषाएं और मन की रचनाएं विलुप्त हो जाती हैं अथवा अन्तरात्मा की प्रत्यक्ष दृष्टि में एवं आध्यात्मिक अनुभव के अति महत् सत्य में परिणत हो जाती हैं। यह ज्ञान निरपेक्ष सनातन की ओर मुड़ कर जीव और जगत् को दृष्टि से ओझल कर सकता है; परन्तु यह उस सनातन से इह-सत्ता पर दृष्टिपात भी कर सकता है। जब हम ऐसा करते हैं तो हमें पता चलता है कि मन और इन्द्रियों का अज्ञान तथा मानवजीवन के सब वृथा प्रतीत होनेवाले व्यापार चेतन सत्ता के निरर्थक विक्षेप नहीं थे, न ही कोई क्षुद्र भ्रान्ति थे। यहां वे इस रूप में आयोजित किये गये थे कि वे अनन्त से उद्भूत होनेवाले आत्मा की स्व-अभिव्यक्ति के लिये एक स्थूल क्षेत्र का काम करें, इस विश्व की परिभाषाओं में उसके आत्म-विकास एवं आत्मोपलब्धि के लिये भौतिक आधार बन सकें। यह सच है कि अपने-आपमें उनका तथा यहां की सभी चीजों का कुछ भी अर्थ नहीं,

और उनके लिये पृथक् अर्थों की परिकल्पना करना माया में निवास करना है; परन्तु परम सत् में उनका एक परम अर्थ है, निरपेक्ष ब्रह्म में उनकी एक निरपेक्ष शक्ति है और वही उनके लिये उनके वर्तमान सापेक्ष मूल्य नियत करती है तथा उस सत्य के साथ उनका सम्बन्ध निर्दिष्ट करती है। यह एक ऐसा अनुभव है जो सब अनुभवों को एक कर देता है और जो गंभीर-से-गंभीर सर्वांगीण तथा अत्यन्त अन्तरंग आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञान का आधार है।

व्यक्ति के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से परम सत् हमारी अपनी ही सच्ची और सर्वोच्च आत्मा है, यह वह सत्ता है जो कि अन्ततः हम अपने सार-रूप में हैं तथा अपनी अभिव्यक्त प्रकृति में जिसके हम अंग हैं। हमारे अन्दर अवस्थित सच्चे परम आत्मा को प्राप्त करने में प्रवृत्त आध्यात्मिक ज्ञान को परम्परागत ज्ञानमार्ग की भांति समस्त भ्रामक प्रतीतियों का परित्याग करना होगा। इसे यह जान लेना होगा कि शरीर हमारी आत्मा नहीं है, हमारी सत्ता का आधार नहीं है; यह अनन्त का एक इन्द्रियग्राह्य रूप है। यह अनुभव कि जड़-प्रकृति जगत् का एकमात्र आधार है और भौतिक मस्तिष्क, स्नायु, कोष्ठक और अणु हमारे अन्दर की सभी चीजों का एकमात्र सत्य हैं, जड़वाद का एक भारी-भरकम एवं अक्षम आधार है, पर वास्तव में यह अनुभव एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है, वस्तुओं की अन्धकारमय भित्ति या छाया है जिसे भ्रान्तिवश प्रकाशमान सारतत्त्व मान लिया गया है, शून्य की प्रभावशाली आकृति है जिसे पूर्ण इकाई समझ लिया गया है। जड़वादीय विचार एक रचना को रचनाकारी शक्ति समझने की भूल करता है तथा अभिव्यक्ति के साधन को वह सत्ता समझ लेता है जो व्यक्त की जाती तथा व्यक्त करती है। जड़तत्त्व और हमारा भौतिक मस्तिष्क, स्नायुजाल तथा शरीर उस प्राणिक शक्ति की एक क्रिया का क्षेत्र और आधार हैं जो आत्मा को उसकी कृतियों के रूप के साथ सम्बद्ध करने में सहायक होती है और उन्हें उसकी सीधी क्रियाशक्ति के द्वारा धारण करती है। जड़तत्त्व की गतियां एक बाह्य संकेत हैं जिसके द्वारा आत्मा अनन्त के कुछ सत्यों के विषय में अपने बोधों को निरूपित करती है और उन्हें उपादान-तत्त्व की अवस्थाओं में प्रभावकारी बनाती है। ये चीजें एक भाषा एवं संकेतमाला हैं, एक चित्रलिपि एवं प्रतीक-पद्धति हैं, अपने-आपमें ये उन चीजों का जिन्हें ये सूचित करती हैं, गभीरतम एवं सत्यतम आशय नहीं हैं।

इसी प्रकार प्राणतत्त्व भी, अर्थात् वह प्राणशक्ति एवं ऊर्जा भी जो मस्तिष्क, स्नायुपुंज और शरीर में क्रीड़ा करती है, हमारी आत्मा नहीं है; वह अनन्त की एक शक्ति तो है, पर समग्र शक्ति नहीं। यह अनुभव कि 'एक प्राणशक्ति है जो जड़तत्त्व को सब वस्तुओं के आधार, उद्गम एवं सच्चे कुलयोग के रूप में अपना करण बनाती है', प्राणात्मवाद का एक दोलायमान अस्थिर आधार है। पर यह अनुभव एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है, पास

के किनारे पर उठनेवाली एक ज्वार है जिसे गलती से सम्पूर्ण समुद्र और उसकी जलराशि समझ लिया गया है। प्राणात्मवादी विचार एक शक्तिशाली पर बाह्य वस्तु को सारतत्त्व समझ लेता है। प्राणशक्ति तो अपनेसे परे की एक चेतना का क्रियाशील रूप है। वह चेतना अनुभूत होती तथा कार्य करती है, पर वह बुद्धि में हमारे लिये प्रामाणिक रूप तबतक नहीं प्राप्त करती जबतक हम 'मन'-रूपी उच्चतर स्तरतक, अपनी वर्तमान सर्वोच्च अवस्थातक नहीं पहुंच जाते। 'मन' यहां प्रत्यक्षतः प्राण की ही एक रचना प्रतीत होता है, पर वास्तव में यह स्वयं प्राण का तथा उसके पीछे अवस्थित वस्तु का एक दूरतर आशय है, अन्तिम नहीं, और साथ ही उसके रहस्य का एक अधिक सचेतन रूपायण है; 'मन' प्राण की नहीं, वरन् उस वस्तु की अभिव्यक्ति है जिसकी स्वयं प्राण भी एक कम प्रकाशमय अभिव्यक्ति है।

परन्तु, 'मन' भी, अर्थात् हमारी मानसिक सत्ता, हमारा चिन्तनशील एवं बोधग्राही भाग भी हमारा आत्मा नहीं है, 'तत्' नहीं है, अन्त या आदि नहीं है; यह अनन्त से फेंका गया एक अर्द्ध प्रकाश है। यह अनुभव कि मन रूपों और पदार्थों का स्रष्टा है और ये रूप तथा पदार्थ केवल मन में ही अस्तित्व रखते हैं, बाह्यशून्यवाद (Idealism) का विरल एवं सूक्ष्म आधार है, पर यह भी एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है, एक मन्द और विचलित प्रकाश है जिसकी सूर्य के जाज्वल्यमान शरीर एवं उसके तेज के रूप में एक आदर्श कल्पना कर ली गयी है। यह आदर्शीकृत दृष्टि भी सत्ता के सारतत्त्व तक नहीं पहुंचती, उसका स्पर्श तक नहीं करती, यह तो केवल प्रकृति की एक निम्न अवस्था को ही छूती है। 'मन' एक चिन्मय सत्ता की अस्पष्ट बाह्य उपच्छाया है; वह चिन्मय सत्ता मन के द्वारा सीमित नहीं, बल्कि इससे अतीत है। परम्परागत ज्ञानमार्ग की पद्धति इन सभी चीजों का परित्याग करके उस शुद्ध चिन्मय सत्ता की परिकल्पना एवं उपलब्धि पर पहुंचती है जो स्वतः-सचेतन, स्वतः-आनन्दपूर्ण है और मन, प्राण तथा शरीर के द्वारा सीमित नहीं है; और इसके चरम भावात्मक अनुभव के लिये वह आत्मा है, अर्थात् हमारी सत्ता का मूल और तात्त्विक स्वरूप है। यहां, अन्त में, कोई ऐसी वस्तु प्राप्त होती है जो केन्द्रीय रूप से सत्य है, परन्तु इसतक पहुंचने की उतावली में यह ज्ञान कल्पना करता है कि चिन्तनात्मक मन तथा 'परम', **'बुद्धेः परतस्तु सः'** के बीच किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और समाधि में अपनी आंखें मूंदकर, आत्मा के इन महान् तेजोमय साम्राज्यों को देखे बिना ही, उन सब स्तरों में से जो सचमुच ही रास्ते में पड़ते हैं, भाग जाने का यत्न करता है। शायद यह अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है, पर पहुंचता है केवल अनन्त में सुषुप्ति लाभ करने के लिये ही। अथवा, यदि यह जागरित रहता भी है, तो उस परम के सर्वोच्च अनुभव में ही जिसमें आत्मोच्छेदक 'मन' प्रवेश कर सकता है न कि परात्पर में। 'मन' मानसभावापन्न आध्यात्मिक सूक्ष्मता में केवल आत्मा का, मन में प्रतिबिम्बित

सच्चिदानन्द का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु सर्वोच्च सत्य एवं पूर्ण आत्म-ज्ञान निरपेक्ष ब्रह्म में इस प्रकार की अंधी छलांग लगाकर नहीं, वरन् मन के परे धैर्यपूर्वक उस सत्य-चेतना में पहुंचकर प्राप्त किया जा सकता है जहां अनन्त को उसके सम्पूर्ण, अन्तहीन ऐश्वर्यों सहित जाना और अनुभव किया जा सकता है, देखा तथा उपलब्ध किया जा सकता है। और, वहां हमें पता चलता है कि यह आत्मा, जो हमारी अपनी सत्ता है केवल स्थितिशील सूक्ष्म एवं शून्य आत्मा नहीं है, बल्कि व्यक्ति और विश्व में तथा विश्व के परे विद्यमान महान् गतिशील आत्मा है। उस आत्मा एवं आत्मतत्त्व को मन की बनायी अमूर्त व्याप्तियों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता; ऋषियों और रहस्यदर्शियों के समस्त अन्तःप्रेरित वर्णन उसके अन्दर निहित अर्थों और ऐश्वर्यों को शेष नहीं कर सकते।

विश्व के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से यह परम सत् ब्रह्म है, वह एकमेव सद्वस्तु है जो विश्व के सभी विचारों, शक्तियों और आकारों का आध्यात्मिक, भौतिक एवं सचेतन उपादान ही नहीं है, बल्कि उनका उद्गम, आश्रय और स्वामी भी है, अर्थात् विश्वगत और विश्वातीत आत्मा है। वे सब अन्तिम परिभाषाएं भी जिनमें हम इस विश्व का विश्लेषण कर सकते हैं, अर्थात् शक्ति और जड़तत्त्व, नाम और रूप, पुरुष और प्रकृति, बिल्कुल वही नहीं हैं जो कुछ कि विश्व अपने-आपमें या अपनी प्रकृति में वस्तुतः है। जिस प्रकार, हम जो कुछ हैं वह सब मन-प्राण-शरीर से अपरिच्छिन्न परम आत्मा की क्रीड़ा है, उसका एक रूप हैं, उसकी मानसिक, आन्तरात्मिक, प्राणिक और भौतिक अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार विश्व भी उस परम सत्ता की लीला एवं रूप है; उसकी विराट् जीवगत और प्रकृतिगत अभिव्यक्ति है जो सत्ता की शक्ति और जड़तत्त्व से परिच्छिन्न नहीं है, विचार, नाम और रूप से सीमित नहीं है तथा पुरुष और प्रकृति के मौलिक भेद से भी आबद्ध नहीं है। हमारी परम आत्मा और वह परम सत्ता जिसने इस विश्व का रूप धारण किया है, एक ही आत्मतत्त्व हैं, एक ही आत्मा और एक ही सत्ता हैं। व्यक्ति तो अपनी प्रकृति में वैश्व पुरुष की एक अभिव्यक्ति है और अपनी आत्मा में परात्पर सत्ता की एक अंश विभूति है। क्योंकि, यदि वह अपनी आत्मा को उपलब्ध कर ले तो वह यह भी जान जाता है कि उसकी अपनी सच्ची आत्मा यह प्राकृत व्यक्तित्व एवं यह निर्मित व्यष्टिभाव नहीं है, बल्कि दूसरों के साथ तथा प्रकृति के साथ अपने सम्बन्धों में यह एक वैश्व सत्ता है तथा अपने ऊर्ध्वमुख स्वरूप में परम विश्वातीत आत्मा का एक अंश या जीवन्त अग्रभाग है।

यह परम सत्ता व्यक्ति या विश्व से परिच्छिन्न नहीं है। अतएव, आध्यात्मिक ज्ञान परम आत्मा की इन दो शक्तियों को अतिक्रम करके, यहांतक कि इन्हें त्यागकर एक ऐसी वस्तु की परिकल्पना पर पहुंच सकता है जो पूर्णतया परात्पर

है, जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, न जिसे मन द्वारा जाना ही जा सकता है, जो शुद्ध निरपेक्ष ब्रह्म है। परम्परागत ज्ञानमार्ग व्यक्ति और विश्व का परित्याग कर देता है। जिस 'निरपेक्ष' की वह खोज करता है वह निराकार, अनिर्देश्य, असंग है, वह न यह है न वह, **नेति-नेति**। और, फिर भी हम उसके बारे में कह सकते हैं कि वह एकमेव है, वह अनन्त है, वह अनिर्वचनीय आनन्द-चित्-सत् है। यद्यपि वह मन के द्वारा ज्ञेय नहीं है तथापि अपनी वैयक्तिक सत्ता के द्वारा तथा विश्व के नाम-रूपों के द्वारा हम परम आत्मा, अर्थात् ब्रह्म की उपलब्धि के निकट पहुंच सकते हैं, और उस परमात्मा की उपलब्धि के द्वारा हम इस पूर्ण-निरपेक्ष की किसी प्रकार की उपलब्धि तक भी पहुंच जाते हैं, इस निरपेक्ष की जिसका कि हमारा सच्चा आत्मा ही हमारी चेतना में विद्यमान वास्तविक स्वरूप है। यदि मानव-मन को अपने सम्मुख परात्पर और अपरिच्छिन्न निरपेक्ष की कोई परिकल्पना निर्मित करनी ही हो तो इसे विवश होकर इन्हीं उपायों का प्रयोग करना पड़ेगा। अपनी निजी परिभाषाओं और अपने सीमित अनुभव से छुटकारा पाने के लिये निषेध की प्रणाली इसके लिये अपरिहार्य ही है; इसे बाध्य होकर अनिश्चित 'अपरिच्छिन्न' में से 'अनन्त' की ओर चले जाना पड़ता है। क्योंकि यह उन धारणाओं और प्रतिरूपों के बंद कारागृह में निवास करता है जो इसकी क्रिया के लिये तो आवश्यक हैं, पर जड़तत्त्व या प्राण का अथवा मन या आत्मा का स्वयंस्थित सत्य नहीं हैं। परन्तु यदि हम एक बार मन के सीमान्त के क्षीण आलोक को पार कर अतिमानसिक ज्ञान के बृहत् स्तर में पहुंच पायें तो ये उपाय अनिवार्य नहीं रह जाते। अतिमानस को परम अनन्त सत्ता का एक बिल्कुल ही और प्रकार का, भावात्मक, प्रत्यक्ष और जीवन्त अनुभव प्राप्त है। निरपेक्ष ब्रह्म व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व से परे है और फिर भी वह निर्व्यक्तिक तथा परम व्यक्ति और सभी व्यक्ति—दोनों है। निरपेक्ष ब्रह्म एकत्व और बहुत्व के भेद से परे है, और फिर भी वह 'एक' है तथा समस्त जगतों में असंख्य 'बहु' भी है। वह सभी गुणकृत सीमाओं से परे है और फिर भी निर्गुण शून्य के द्वारा सीमित नहीं है, बल्कि अशेष, अनन्त गुण-गण से सम्पन्न भी है। वह व्यष्टिगत जीव और सभी जीव है और उनसे अधिक भी है; वह निराकार ब्रह्म भी है और विश्व भी। वह विश्वगत और विश्वातीत आत्मा है, परम प्रभु, परम आत्मा है, परम पुरुष और पराशक्ति है, नित्य अजन्मा है जो अनन्त रूप से जन्म लेता है, अनन्त है जो असंख्य रूप से सांत है, बहुमय 'एक' है, जटिलतामय 'सरल' है, अनेकपक्षीय 'एकमेव सत्ता' है, अनिर्वचनीय नीरवता का शब्द है, निर्व्यक्तिक सर्वव्यापी व्यक्ति है, परम रहस्य है जो उच्चतम चेतना में अपनी आत्मा के प्रति प्रकाशमान है, पर अपने निरतिशय प्रकाश में हीनतर चेतना के प्रति आवृत है तथा उसके द्वारा सदा के लिये अभेद्य है। परिमाणात्मक मन के लिये ये चीजें

ऐसे परस्पर-विरोधी तत्त्व हैं जिनमें समन्वय नहीं किया जा सकता, पर अतिमानसिक सत्य-चेतना की अटल दृष्टि और अनुभूति के लिये ये इतने सरल और अनिवार्य रूप में एक-दूसरे की आभ्यन्तरिक प्रकृति से युक्त हैं कि इन्हें विरोधी वस्तुएं समझना भी एक अकल्पनीय अन्याय है। परिमापक और पृथक्कारक बुद्धि की रची हुई दीवारें उस चेतना के सामने विलुप्त हो जाती हैं और सत्य अपने सरल-सुन्दर रूप में प्रकट होकर सब वस्तुओं को अपने सामंजस्य, एकत्व और प्रकाश की परिभाषाओं में परिणत कर देता है। परिमाण और विभेद रहते तो हैं, पर स्व-विस्मृतिपूर्ण आत्मा के लिये एक पृथक्कारक कारागृह के रूप में नहीं, बल्कि उपयोगयोग्य आकृतियों के रूप में रहते हैं।

परात्पर निरपेक्ष ब्रह्म से सचेतन होना और साथ ही वैयक्तिक तथा वैश्व सत्ता पर पड़नेवाले उसके प्रभाव से सचेतन होना ही चरम एवं सनातन ज्ञान है। हमारे मन नाना पद्धतियों से इस ज्ञान का विवेचन कर सकते हैं, इसके आधार पर विरोधी दर्शनों की रचना कर सकते हैं, इसे सीमित एवं संशोधित कर सकते हैं, इसके किन्हीं पहलुओं पर बहुत ही अधिक बल दे सकते हैं और दूसरों पर बहुत कम, इससे शुद्ध या अशुद्ध निष्कर्ष निकाल सकते हैं; परन्तु हमारे बौद्धिक विभेदों और अपूर्ण निरूपणों से इस अन्तिम तथ्य में कोई फर्क नहीं पड़ता कि यदि हम विचार और अनुभव को इनके अन्तिम छोर तक ले जायें तो जिस ज्ञान में ये परिसमाप्त होंगे वह यही है। अध्यात्म-ज्ञान के योग का लक्ष्य इस सनातन सद्वस्तु, इस आत्मा, इस ब्रह्म किंवा इस परात्पर के सिवा और कोई नहीं हो सकता जो सबके ऊपर और अन्दर अवस्थित है तथा जो व्यक्ति में अभिव्यक्त होता हुआ भी छुपा हुआ है, विश्व में प्रकट होकर भी प्रच्छन्न है।

ज्ञानमार्ग की सर्वोच्च परिणति का आवश्यक रूप में यह अर्थ नहीं कि अस्तित्व समाप्त हो जायगा। कारण, जिस परम सत् के सदृश हम अपने-आपको ढालते हैं, जिस निरपेक्ष और परात्पर ब्रह्म में हम प्रवेश करते हैं वह सदा ही उस पूर्ण और चरम-परम चेतना से युक्त रहता है जिसकी हम खोज कर रहे हैं और फिर भी उसके द्वारा वह जगत् में अपनी लीला को आश्रय देता है। हम यह मानने के लिये भी बाध्य नहीं हैं कि हमारा जागतिक अस्तित्व इसलिये समाप्त हो जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति से इसका उद्देश्य या परिणति पूर्णतया चरितार्थ हो जाती है और इसलिये उसके बाद हमारे लिये यहां और कुछ (पाने को) नहीं रह जाता। क्योंकि, आरम्भ में हमारी प्राप्ति केवल यही होती है कि व्यक्ति अपनी चेतन सत्ता के सारतत्त्व में आत्मा को सनातन रूप से उपलब्ध कर लेता है और इसके संग मुक्ति, अपरिमेय नीरवता और शान्ति भी अधिगत हो जाती हैं; उस आधार पर ब्रह्म की अनन्तमुखी आत्म-चरितार्थता साधित करने, व्यक्ति में तथा उसकी परिस्थिति के द्वारा एवं उसके दृष्टान्त और कार्य-व्यवहार के द्वारा दूसरों में एवं समूचे विश्व में ब्रह्म की क्रियाशील

दिव्य अभिव्यक्ति को साधित करने का कार्य फिर भी शेष रहेगा, नीरवता इस कार्य को निराकृत नहीं कर देती और यह मोक्ष एवं स्वातंत्र्य के साथ भी एकीभूत है,—यह वह कार्य है जिसे करने के लिये महान् व्यक्ति इस जगत् में जीवन धारण किया करते हैं। जबतक हम अहंमय चेतना में, मन के मद्धिम प्रकाश में, बन्धन में निवास करते हैं तबतक हमारी क्रियाशील आत्म-चरितार्थता साधित नहीं हो सकती। हमारी वर्तमान सीमित चेतना तो केवल तैयारी का क्षेत्र हो सकती है, यह पूर्ण रूप में कुछ भी साधित नहीं कर सकती; क्योंकि यह जो कुछ भी प्रकट करती है वह सब अहं-अधिष्ठित अज्ञान और भ्रान्ति से पूर्णतया दूषित होता है। अभिव्यक्त जगत् में ब्रह्म की सच्ची और दिव्य आत्म-चरितार्थता ब्राह्मी चेतना के आधार पर ही साधित हो सकती है और अतएव यह तभी सम्भव हो सकती है यदि मुक्त जीव, अर्थात् जीवनमुक्त पुरुष जीवन को अपनाये।

यह है पूर्ण ज्ञान, क्योंकि हम जानते हैं कि सब जगह और सभी अवस्थाओं में देखनेवाली आंख के लिये सब कुछ वह 'एक' ही है, दिव्य अनुभव के प्रति सब कुछ भगवान् की एक ही समष्टि है। केवल हमारा मन ही अपने विचार और अभीप्सा की क्षणिक सुविधा के लिये एकत्व की एक तथा दूसरे पक्ष के बीच कठोर विभाजन की कृत्रिम रेखा खींचने एवं उनमें सतत असंगति की कल्पना करने का यत्न करता है। मुक्त ज्ञानी इस जगत् में बद्ध जीव और अज्ञानी मन की अपेक्षा अधिक ही निवास करता तथा कर्म करता है, कम नहीं। वह सभी कर्म करता है, **सर्वकृत्**, पर हां, करता है सच्चे ज्ञान और महत्तर चेतन शक्ति के साथ। और, ऐसा करने से वह परम एकत्व को गंवा नहीं देता, न परम चेतना और सर्वोच्च ज्ञान से नीचे ही गिरता है। क्योंकि, परम सत्, चाहे इस समय वह हमसे कितना ही छुपा हुआ क्यों न हो, यहां इस जगत् में भी उससे कम विद्यमान नहीं है जितना कि वह अत्यन्त पूर्ण और अनिर्वचनीय आत्म-लय में एवं अत्यन्त असहिष्णु निर्वाण में हो सकता है।

अध्याय २

ज्ञान की भूमिका

सुतरां आत्मा, भगवान्, परम सद्वस्तु, सर्व, परात्पर,—इन सब पक्षों से युक्त **'एक सत्'** ही यौगिक ज्ञान का लक्ष्य है। साधारण पदार्थ, प्राण और जड़तत्त्व के बाह्य रूप, हमारे विचारों और कर्मों का मनोविज्ञान, दृश्यमान जगत् की शक्तियों का बोध—ये सब ज्ञान के अंग बन सकते हैं, पर केवल वहीं तक जहां तक ये एकमेव की अभिव्यक्ति के अंग हैं। इससे यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिये योग पुरुषार्थ करता है वह उससे भिन्न है जो कुछ कि मनुष्य साधारणतया 'ज्ञान' शब्द से समझते हैं। क्योंकि, सामान्यतया ज्ञान से हमारा मतलब प्राण, मन और जड़तत्त्व के तथ्यों एवं उन्हें नियन्त्रित करनेवाले नियमों के बौद्धिक विवेचन से होता है। यह एक ऐसा ज्ञान है जो हमारे इन्द्रियबोध पर तथा इन्द्रियबोधों के आधार पर किये गये तर्क पर आधारित होता है और इसका अनुसरण कुछ तो निरी बौद्धिक तृप्ति के लिये किया जाता है और कुछ व्यावहारिक कुशलता तथा उस आन्तरिक क्षमता के लिये जिसे ज्ञान हमें अपने तथा दूसरों के जीवनों की व्यवस्था करने तथा प्रकृति की प्रकट या गुप्त शक्तियों को मानवीय उद्देश्यों के हित उपयोग में लाने के लिये किंवा अपने साथी मनुष्यों को सहायता या हानि पहुंचाने अथवा उनकी रक्षा एवं उन्नति करने या उन्हें सताने और नष्ट करने के लिये प्रदान करता है। निःसंदेह योग समस्त जीवन के समान ही व्यापक है और इन सब विषयों तथा पदार्थों को अपने अन्दर समाविष्ट कर सकता है। यहांतक कि एक ऐसा योग[1] भी है जो स्व-तुष्टि के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है और साथ ही आत्म-विजय के लिये भी, दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये भी तथा उनका उद्धार करने के लिए भी। परन्तु 'समस्त जीवन' के अन्तर्गत केवल यह जीवन ही, जैसा कि मानवजाति आज इसे बिताती है, नहीं आता; यह भी नहीं कि इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से यही आता हो। बल्कि "समस्त जीवन" एक उच्चतर, एवं वस्तुतः सचेतन जीवन को अपनी दृष्टि में रखता है और उसे अपना एकमात्र सच्चा उद्देश्य मानता है। हमारी अर्द्ध-चेतन मानवता ने अभीतक उस जीवन को अधिकृत नहीं किया है और वह 'स्व' को अतिक्रम करनेवाले आध्यात्मिक आरोहण के द्वारा ही उसतक पहुंच सकती है। यह महत्तर चेतना एवं उच्चतर जीवन ही योग-साधना का विशिष्ट एवं उपयुक्त लक्ष्य है।

[1] योग शक्ति का विकास करता है, यह तब भी इसका विकास करता है जब कि हम इसे नहीं चाहते या जब हम सचेत रूप से इसे अपना लक्ष्य नहीं बनाते; और शक्ति सदा ही एक दुधारा शस्त्र होती है जो हानि पहुंचाने या विनाश करने के लिये भी काम में लाया जा सकता है और सहायता एवं रक्षा करने के लिये भी। यह भी ध्यान में रहे कि समस्त विनाश अशुभ ही नहीं होता।

यह महत्तर चेतना एवं यह उच्चतर जीवन कोई ऐसा प्रबुद्ध या ज्ञानदीप्त मन नहीं है जिसे महत्तर क्रियाशील शक्ति का पोषण प्राप्त हो या जो शुद्धतर नैतिक जीवन एवं चरित्र को प्रश्रय देता हो। साधारण मानव-चेतना से इनकी उत्कृष्टता मात्रा में नहीं, बल्कि गुण-धर्म और सारतत्त्व में है। इनमें हमारी सत्ता के बाह्य ढंग या यन्त्रात्मक प्रणाली का ही नहीं, बल्कि इसके असली आधार तथा क्रियाशील तत्त्व तक का भी परिवर्तन हो जाता है। यौगिक ज्ञान मन से परे की उस गुप्त चेतना में प्रविष्ट होने का यत्न करता है जो यहां केवल गुह्य रूप में ही विद्यमान है तथा सत्तामात्र के आधार में छुपी हुई है। कारण, एकमात्र वही चेतना यथार्थ ज्ञान से युक्त है और उसे प्राप्त करके ही हम ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं और जगत् का तथा उसकी वास्तविक प्रकृति एवं गुप्त शक्तियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह सब जगत् जो हमारे लिये दृश्य या इन्द्रियगोचर है तथा इसके अन्दर का वह सब भी जो दृश्य नहीं है किसी ऐसी वस्तु की नाम-रूपात्मक अभिव्यक्तिमात्र है जो मन और इन्द्रियों से परे है। इन्द्रियां तथा उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर की जानेवाली बौद्धिक तर्कणा हमें जो ज्ञान प्रदान कर सकती हैं वह यथार्थ ज्ञान नहीं होता; वह तो प्रतीतियों की विद्या होती है। और, प्रतीतियों का भी सम्यक् ज्ञान तबतक प्राप्त नहीं हो सकता जबतक हम पहले उस सद्वस्तु को नहीं जान लेते जिसकी वे प्रतिमाएं हैं। यह सद्वस्तु ही उनकी आत्मा है और सब की आत्मा एक ही है; जब उसे अधिकृत कर लिया जाता है तब अन्य सब वस्तुओं को आज की भांति उनके प्रतीयमान रूप में ही नहीं, बल्कि सत्य रूप में जाना जा सकता है।

यह प्रत्यक्ष है कि भौतिक और इन्द्रियगोचर पदार्थों का हम चाहे कितना ही अधिक विश्लेषण क्यों न कर लें, उसके द्वारा हम आत्म-तत्त्व का या अपने-आपका या जिसे हम ईश्वर कहते हैं उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। दूरवीक्षण, अणुवीक्षण, नश्तर, शुण्डायन्त्र तथा भबका-यन्त्र भौतिक तत्त्व से परे नहीं जा सकते, यद्यपि भौतिक पदार्थ के विषय में ये अधिकाधिक सूक्ष्म सत्यों पर पहुंच सकते हैं। अतएव, यदि हम अपनेको उसीतक सीमित रखें जो कुछ कि इन्द्रियों और उनके भौतिक साधनोपकरण हमारे सामने प्रकाशित करते हैं और यदि हम किसी अन्य सद्वस्तु को या ज्ञान के किसी अन्य साधन को आरम्भ से ही अस्वीकार कर दें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये बाध्य होंगे कि 'भौतिक' के सिवाय और कुछ भी वास्तविक नहीं है और हममें या विश्व में कोई आत्मा नहीं है, अन्दर और बाहर कहीं भी कोई ईश्वर नहीं है, यहांतक कि स्वयं हम भी मस्तिष्क, स्नायुपुंज और देह के इस संघात के सिवाय और कुछ नहीं हैं। परन्तु ऐसा परिणाम निकालने के लिये हम केवल इस कारण बाध्य हुए हैं कि हमने इसे आरम्भ से ही पक्का मान लिया है और इसलिये अपनी मूल धारणा के चारों ओर चक्कर काटे बिना हम नहीं रह सकते।

सुतरां, यदि कोई ऐसा आत्मा किंवा सद्वस्तु है जो इन्द्रियों के लिये प्रत्यक्ष नहीं है तो उसे भौतिक विज्ञान के साधनों से भिन्न किसी अन्य साधन के द्वारा ही खोजना और जानना होगा, और बुद्धि वह साधन नहीं है। निःसन्देह ऐसे अनेक अतीन्द्रिय सत्य हैं जिनपर बुद्धि अपने तरीके से पहुंच सकती है और जिन्हें यह बौद्धिक परिकल्पनाओं के रूप में देख तथा निरूपित कर सकती है। उदाहरणार्थ, स्वयं शक्ति का विचार भी जिसपर विज्ञान इतना आग्रह करता है एक ऐसी परिकल्पना एवं सत्य है जिसपर केवल बुद्धि ही अपनी ज्ञात सामग्री से परे जाकर पहुंच सकती है, क्योंकि हम इस वैश्व शक्ति को नहीं, बल्कि इसके परिणामों को ही अनुभव करते हैं, और स्वयं इस शक्ति को हम इन परिणामों के एक आवश्यक कारण के रूप में ही अनुमित करते हैं। इसी तरह, बुद्धि एक प्रकार की कठोर विश्लेषण-पद्धति का अनुसरण करके आत्मविषयक एक बौद्धिक परिकल्पना एवं बौद्धिक विश्वास पर पहुंच सकती है और यह विश्वास अन्य एवं महत्तर वस्तुओं के आरम्भ के रूप में अत्यन्त वास्तविक, अत्यन्त प्रकाशमय एवं अत्यन्त शक्तिशाली हो सकता है। तथापि बौद्धिक विश्लेषण अपने-आपमें, स्पष्ट परिकल्पनाओं की व्यवस्था और शायद यथार्थ परिकल्पनाओं की ठीक व्यवस्था की ओर ही ले जा सकता है; परन्तु यह वह ज्ञान नहीं है जो योग का लक्ष्य है। कारण, यह अपने-आपमें कोई फलप्रद ज्ञान नहीं है। मनुष्य इसमें पूर्ण हो सकता है और फिर भी वह ठीक वैसा ही रह सकता है जैसा वह पहले था। हां, इतनी बात अवश्य है कि इससे वह एक महत्तर बौद्धिक प्रकाश प्राप्त कर सकता है। परन्तु सम्भव है कि हमारी सत्ता के जिस परिवर्तन को योग अपना लक्ष्य बनाता है वह बिल्कुल ही सम्पन्न न हो।

यह सच है कि बौद्धिक विचार-विमर्श और यथार्थ विवेक ज्ञानयोग का महत्त्वपूर्ण अंग है; पर इनका लक्ष्य इस पथ के अन्तिम एवं निश्चयात्मक परिणाम पर पहुंचने की अपेक्षा कहीं अधिक पथ की कठिनाई को दूर करना ही है। हमारी साधारण बौद्धिक धारणाएं ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं; क्योंकि वे इन्द्रियों की भ्रान्ति के वशीभूत हैं और इस विचार को अपना आधार बनाती हैं कि जड़तत्त्व एवं देह वास्तविक सत्ता हैं और प्राण एवं शक्ति, हृदयावेग एवं भावावेश तथा विचार एवं इन्द्रियानुभव वास्तविक सत्ताएं हैं; इन वस्तुओं के साथ हम अपने-आपको तदाकार कर लेते हैं, हम इनसे पीछे हटकर वास्तविक आत्मा तक नहीं पहुंच सकते। अतएव, ज्ञान के अन्वेषक के लिये यह आवश्यक है कि वह इस बाधा को दूर करे और अपने तथा जगत् के सम्बन्ध में यथार्थ धारणाओं को प्राप्त करे, क्योंकि ज्ञान के द्वारा वास्तविक आत्मा का अनुसरण हम भला करेंगे ही कैसे यदि हमें उसके स्वरूप की कुछ भी धारणा न हो और, इसके विपरीत, यदि हम ऐसे विचारों के बोझ से दबे हुए हों जो सत्य के सर्वथा विरोधी हैं? अतएव, यथार्थ विचार

एक आवश्यक पूर्वसाधन है और एक बार जब यथार्थ विचार का अभ्यास स्थिर रूप से डाल लिया जाता है, ऐसे विचार का जो इन्द्रिय-भ्रम, कामना, पूर्व-संस्कार और बौद्धिक पूर्व-निर्णय से मुक्त हो, तो बुद्धि शुद्ध हो जाती है और ज्ञान की अगली क्रिया में कोई गम्भीर बाधा नहीं उपस्थित करती। तथापि यथार्थ विचार तभी कार्यकर होता है जब शुद्ध बुद्धि में इसके अनंतर अन्य क्रियाएं अर्थात् अन्तर्दृष्टि, अनुभूति तथा उपलब्धि भी सक्रिय हो उठती हैं।

ये क्रियाएं क्या हैं? ये निरा मनोवैज्ञानिक स्व-विश्लेषण और स्व-निरीक्षण नहीं हैं। ऐसा विश्लेषण और ऐसा निरीक्षण भी यथार्थ विचार की प्रक्रिया की भांति अत्यन्त उपयोगी हैं और क्रियात्मक दृष्टि से अनिवार्य भी हैं। यहांतक कि यदि इनका ठीक प्रकार से अनुसरण किया जाये तो ये एक ऐसे यथार्थ विचार की ओर ले जा सकते हैं जो पर्याप्त शक्ति और प्रभाव से युक्त हो। ध्यानात्मक चिन्तन की प्रक्रिया के द्वारा किये जानेवाले बौद्धिक विवेक की भांति ये शुद्धि-रूपी परिणाम भी उत्पन्न करेंगे। ये एक प्रकार के आत्मज्ञान की ओर ले जायेंगे तथा हृदय और अन्तरात्मा की अव्यवस्थाओं, यहांतक कि बुद्धि की अव्यवस्थाओं को भी ठीक कर देंगे। सभी प्रकार का स्व-ज्ञान वास्तविक आत्मा के ज्ञान की ओर ले जाने के लिये एक सीधा मार्ग होता है। उपनिषद् हमें बताती है कि स्वयंभू ने अन्तरात्मा के द्वार इस प्रकार बनाये हैं कि वे बाहर की ओर खुलते हैं और अधिकतर लोग बाहर की ओर, पदार्थों के बाह्य रूपों पर ही दृष्टि डालते हैं; कोई विरली ही आत्मा जो शान्त विचार एवं धीर-स्थिर ज्ञान के लिये परिपक्व होती है, अपनी दृष्टि अन्दर की ओर फेरती है, परम आत्मा के दर्शन करती और अमृत-पद लाभ करती है। दृष्टि को इस प्रकार अन्तर की ओर फेरने के लिये मनोवैज्ञानिक स्व-निरीक्षण एवं विश्लेषण महान् और कार्यकारी उपक्रम हैं। अपने भीतर हम उसकी अपेक्षा अधिक सुगमता से दृष्टि डाल सकते हैं जितनी सुगमता से कि अपनेसे बाहर स्थित वस्तुओं के भीतर डाल सकते हैं, क्योंकि वहां, अपनेसे बाहर की वस्तुओं में हम प्रथम तो बाह्य रूप से संमूढ़ हुए रहते हैं और दूसरे, उनके अन्दर की उस वस्तु का, जो उनके भौतिक उपादान से भिन्न है, हमें कोई स्वाभाविक पूर्व-अनुभव नहीं होता। इसके भी पूर्व कि ईश्वर या आत्मा हमें अपने अन्दर अनुभूत हो, शुद्ध या शान्त मन विश्वगत ईश्वर या प्रकृतिगत आत्मा को प्रतिभासित कर सकता है अथवा शक्तिशाली एकाग्रता से युक्त मन उसे जगत् एवं प्रकृति में उपलब्ध भी कर सकता है, पर ऐसा होना दुर्लभ और कठिन है।[1] परन्तु केवल अपने अन्दर ही हम आत्मा की स्व-अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को देख और जान सकते हैं और साथ

[1] किन्तु एक अंश में यह अधिक सुगम भी है, क्योंकि बाह्य वस्तुओं में हम सीमित अहं की भावना से उतने अधिक प्रतिबद्ध नहीं होते जितने कि अपने-आपमें होते हैं, इसलिये ईश्वरानुभूति की एक बाधा दूर हो जाती है।

ही वहीं हम उस प्रक्रिया का अनुसरण भी कर सकते हैं जिसके द्वारा यह अपनी आत्म-सत्ता में वापिस लौटती है। अतएव, 'अपने-आपको जानो (**आत्मानं विद्धि**)' का प्राचीन उपदेश सदा ही एक ऐसा आदि मन्त्र रहेगा जो हमें 'उस' ज्ञान की ओर प्रेरित करता है। फिर भी, मनोवैज्ञानिक स्व-ज्ञान केवल आत्मा की अवस्थाओं का अनुभव होता है, वह शुद्ध सत्स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता।

सुतरां, ज्ञान की जिस भूमिका पर योग ने अपनी दृष्टि जमायी है वह सत्य की केवल बौद्धिक परिकल्पना या विशद विवेचना ही नहीं है, न वह हमारी सत्ता की अवस्थाओं का आलोकित मनोवैज्ञानिक अनुभव ही है। वह एक 'उपलब्धि' है, इस शब्द के पूरे अर्थ में; वह आत्मा किंवा परात्पर एवं विश्वगत भगवान् का अपने लिये और अपने अन्दर साक्षात्कार कर लेना है, और तदनन्तर यह असम्भव हो जाता है कि हम सत्ता की अवस्थाओं को उस आत्मा के प्रकाश में न देखकर किसी अन्य प्रकाश में देखें तथा उन्हें इस यथार्थ रूप में न देखकर कि वे हमारी जागतिक सत्ता की मानसिक और भौतिक अवस्थाओं के बीच आत्मा की सम्भूति का प्रवाह हैं, किसी अन्य रूप में देखें। इस उपलब्धि में तीन क्रमिक क्रियाएं निहित हैं, आभ्यन्तरिक दृष्टि, पूर्ण आभ्यन्तरिक अनुभव और तादात्म्य।

यह आभ्यन्तरिक दृष्टि, अर्थात्, वह शक्ति जिसे प्राचीन ऋषि इतना अधिक मूल्यवान् मानते थे और जिसके कारण मनुष्य पहले की तरह निरा विचारक न रहकर ऋषि या कवि बन जाता था, अन्तरात्मा के अन्दर एक ऐसा प्रकाश है जिसके द्वारा अदृष्ट वस्तुएं इसके लिये—केवल बुद्धि के लिये ही नहीं, बल्कि आत्मा के लिये भी—ऐसी प्रत्यक्ष और वास्तविक हो जाती हैं जैसी कि दृष्ट वस्तुएं स्थूल आंख के लिये होती हैं। भौतिक जगत् में ज्ञान सदा ही दो प्रकार का होता है, प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रत्यक्ष ज्ञान का मतलब है उस वस्तु का ज्ञान जो आंखों के सामने हो और परोक्ष ज्ञान का अभिप्राय है उस वस्तु का ज्ञान जो हमारी दृष्टि से दूर और परे हो। जब पदार्थ हमारी दृष्टि से परे होता है तो हम आवश्यक रूप से उसके विषय में अनुमान, कल्पना एवं उपमान के द्वारा अथवा दूसरे लोगों के, जो उसे देख चुके हैं, वर्णन सुनकर किंवा उसके चित्रात्मक या अन्यविध निरूपणों का, यदि ये लभ्य हों, अनुशीलन करके ही किसी धारणा पर पहुंचने के लिये बाध्य होते हैं। निःसन्देह इन सब साधनों का एक साथ उपयोग करके हम उस वस्तु के विषय में एक न्यूनाधिक उपयुक्त धारणा पर या उसकी किसी सांकेतिक प्रतिमा पर पहुंच सकते हैं, परन्तु स्वयं उस वस्तु का हमें अनुभव नहीं होता; वह अभीतक हमारे लिये एक गृहीत सद्वस्तु नहीं होती, बल्कि एक सद्वस्तुसम्बन्धी हमारा प्रत्ययात्मक निरूपणमात्र होती है। परन्तु एक बार जब हम उसे अपनी आंखों से देख लेते हैं—क्योंकि और कोई भी इन्द्रिय सक्षम नहीं है,—तो हम उसे अधिकृत और उपलब्ध कर लेते हैं; वह वहां हमारी तृप्त सत्ता में सुरक्षित होती है, हमारा ज्ञानगत

अंग होती है। चैत्य वस्तुओं तथा आत्मा के सम्बन्ध में भी ठीक यही नियम लागू होता है। दार्शनिकों या गुरुओं से अथवा प्राचीन ग्रन्थों से हम आत्मा के विषय में स्पष्ट और प्रकाशपूर्ण उपदेश भले ही श्रवण कर लें, विचार, अनुमान, कल्पना, उपमान या अन्य किसी प्राप्य साधन से हम इसकी मानसिक आकृति बनाने या मानसिक परिकल्पना करने का यत्न भी कर लें, उस परिकल्पना को हम अपने मन में भले ही दृढ़तापूर्वक जमा लें और एक पूर्ण एवं ऐकान्तिक एकाग्रता के द्वारा अपने अन्दर स्थिर भी कर लें[1], किन्तु हम ने अभी आत्मा को उपलब्ध नहीं किया है, ईश्वर के दर्शन नहीं किये हैं। जब सुदीर्घ और सुस्थिर एकाग्रता के बाद या किसी अन्य साधन के द्वारा मन का आवरण विदीर्ण या दूर हो जाता है, जब जागरित मन के ऊपर ज्योति का प्रवाह, ज्योतिर्मय ब्रह्म, फूट पड़ता है और परिकल्पना एक ऐसी ज्ञान-दृष्टि को स्थान दे देती है जिसमें आत्मा वैसा ही प्रत्यक्ष, वास्तव और मूर्त होता है जैसी कि स्थूल वस्तु नेत्र के लिये होती है, केवल तभी हम ज्ञान में उसे उपलब्ध करते हैं; क्योंकि तब हमने दर्शन कर लिये हैं। उस दिव्य दर्शन के अनन्तर प्रकाश के चाहे कितने ही तिरोभाव एवं अन्धकार के चाहे कितने ही अन्तराय आत्मा को पीड़ित क्यों न करें, यह जिस वस्तु को एक बार अधिकृत कर चुकी है उसे इस प्रकार से कभी नहीं खो सकती कि पुनः प्राप्त ही न कर सके। अनुभव अनिवार्य रूप से पुनः-पुनः नवीन होता रहता है और निश्चय ही और भी अधिक बार प्राप्त होने लगता है जबतक कि वह स्थायी ही नहीं हो जाता। ऐसा कब और कितनी शीघ्रता से होता है यह उस भक्ति एवं निष्ठा पर निर्भर करता है जिसके साथ हम मार्ग पर डटे रहते हैं और गुप्त भगवान् को अपने संकल्प या प्रेम के द्वारा परिवेष्टित कर लेते हैं।

यह अन्तर्दृष्टि एक प्रकार का आन्तरिक अनुभव है; किन्तु आन्तरिक अनुभव इस दृष्टि तक ही सीमित नहीं है; दृष्टि हमें आत्मा की ओर खोल देती है, उसका आलिंगन नहीं करती। जिस प्रकार आंख को, यद्यपि अकेली वही उपलब्धि का प्रथम आभास देने में सक्षम है, सर्वग्राही ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व त्वचा तथा अन्य ज्ञानेंद्रियों के अनुभव की सहायता का आह्वान करना पड़ता है, इसी प्रकार आत्मा के अन्तर्दर्शन को भी हमें अपने सभी अंगों में इसके अनुभव के द्वारा पूर्ण बनाना चाहिये। हमारी सम्पूर्ण सत्ता को भगवान् की कामना करनी चाहिये न कि केवल हमारी आलोकित ज्ञान-दृष्टि को ही ऐसा करना चाहिये। कारण हममें प्रत्येक तत्त्व आत्मा की अभिव्यक्तिमात्र है और इसीलिये प्रत्येक पुनः अपनी वास्तविक सत्तातक पहुंच सकता तथा उसका अनुभव कर सकता है। हम आत्मा का मानसिक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं और उन सब आपाततः अमूर्त वस्तुओं को—चेतना, शक्ति,

[1] यह ज्ञानयोग की त्रिविध क्रिया अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विचार है जिनका मतलब है सुनना, विचारना या मनन करना और एकाग्रता के द्वारा स्थिर कर लेना।

आनन्द और इनके नानाविध रूपों एवं व्यापारों को—जो मन के लिये सत्ता का स्वरूप हैं, मूर्त सद्वस्तुओं के रूप में हृदयंगम कर सकते हैं; इस प्रकार मन ईश्वर के विषय में तृप्त हो जाता है। 'प्रेम' और हृद्गत आनन्द के द्वारा,—अपनी अन्तःस्थित आत्मा एवं विश्वगत आत्मा के, और जिनके भी साथ हमारे सम्बन्ध हैं उन सबके आत्मा के प्रेम एवं आनन्द के द्वारा—हम आत्मा की भागवत अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं; इस प्रकार हृदय ईश्वर के विषय में तृप्त हो जाता है। सौन्दर्य में हम आत्मा की रसात्मक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं तथा उस निरपेक्ष सद्वस्तु की, जो हमारे किंवा प्रकृति के द्वारा सृष्ट प्रत्येक वस्तु के भीतर रसग्राही मन तथा इन्द्रियों के प्रति अपने आकर्षण में सर्व-सुन्दर है, आनन्दानुभूति एवं रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं; इस प्रकार इन्द्रिय ईश्वर के विषय में तृप्त हो जाती है। यहांतक कि समस्त जीवन एवं रचना में तथा उन शक्तियों, बलों एवं सामर्थ्यों के, जो हमारे या दूसरों के द्वारा या जगत् में क्रिया करते हैं, सकल व्यापारों में भी हम आत्मा का प्राणिक एवं स्नायविक अनुभव और कार्यतः भौतिक सम्वेदन भी प्राप्त कर सकते हैं : इस प्रकार प्राण और शरीर भी ईश्वर के विषय में तृप्त हो जाते हैं।

यह सब ज्ञान और अनुभव तादात्म्य पर पहुंचने तथा उसे अधिकृत करने के प्रधान साधन हैं। वह हमारी अपनी ही आत्मा है जिसका हम साक्षात्कार और अनुभव करते हैं और इसलिये वह साक्षात्कार और अनुभव तबतक अपूर्ण ही रहते हैं जबतक कि वे तादात्म्य में परिसमाप्त नहीं हो जाते और जबतक हम अपनी समस्त सत्ता में परम वैदान्तिक ज्ञान 'वही मैं हूं (**सोऽहमस्मि**)' को चरितार्थ करने में समर्थ नहीं हो जाते। हमें ईश्वर का केवल साक्षात्कार और आलिंगन ही नहीं करना होगा, बल्कि वही सद्वस्तु बन जाना होगा। अहं और उसकी सभी वस्तुओं को 'उस'में, जिससे ये सब निःसृत हुए हैं, परिणत, उदात्तीकृत तथा स्व-निर्मुक्त करके हमें आत्मा के साथ उसकी रूपातीत और अभिव्यक्ति-अतीत अवस्था में एक होना होगा; इसके साथ ही उसकी समस्त व्यक्त सत्ताओं और सम्भूतियों में भी हमें वहीं आत्मा बनना होगा; उन अनन्त सत्ता, चेतना, शान्ति एवं आनन्द में जिनके द्वारा वह अपने-आपको हममें प्रकाशित करता है, तथा उस कर्म एवं रचना में और आत्म-परिकल्पना की उस लीला में जिनके द्वारा वह इस जगत् में अपने-आपको आच्छादित करता है, उसके साथ एक होना होगा।

आधुनिक मन के लिये यह समझना कठिन है कि कैसे हम आत्मा या ईश्वर पर बौद्धिक रूप से विचार करने से अधिक भी कुछ कर सकते हैं; परन्तु वह इस दृष्टि, अनुभूति और सम्भूति की कुछ झलक प्रकृति के प्रति उस आन्तरिक जागरण से ले सकता है जिसे एक महान् अंग्रेज कवि ने यूरोपीय कल्पना के प्रति वास्तविक सत्य बना दिया है। यदि हम उन कविताओं का, जिनमें वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रकृति-विषयक अनुभूति को व्यक्त किया है, अध्ययन करें तो अनुभूति क्या वस्तु

है इसकी एक दूरवर्ती कल्पना हम उससे ग्रहण कर सकते हैं। कारण, सर्वप्रथम, हम देखते हैं कि उसे जगत् में किसी ऐसी वस्तु का अन्तर्दर्शन हुआ था जो इसमें समाविष्ट सभी वस्तुओं का वास्तविक आत्मा है और साथ ही एक ऐसी चिन्मय शक्ति एवं उपस्थिति है जो इसके रूपों से भिन्न है और फिर भी इसके रूपों का मूल कारण है तथा उनमें प्रकटीभूत है। हम देखते हैं कि उसे इस आत्मा का केवल अन्तर्दर्शन तथा वह शान्ति और आनन्द ही प्राप्त नहीं हुए थे जिन्हें इसकी उपस्थिति लाती है, अपितु इसका मानसिक, सौन्दर्यात्मक, प्राणिक और शारीरिक सम्वेदन तक हुआ था; इसका यह सम्वेदन एवं अन्तर्दर्शन उसे केवल इसकी अपनी सत्ता में ही नहीं, बल्कि अत्यन्त निकटस्थ पुरुष, सरलतम मनुष्य तथा जड़ चट्टान में भी हुआ था; और, अन्त में, वह कभी-कभी ऐसी एकात्मता प्राप्त भी कर लेता था, जो उसके समर्पण का विषय बन जाती थी। अपने इस समर्पण की एक अवस्था का वर्णन उसने 'एक निद्रा ने मेरी आत्मा को मुहरबन्द कर दिया है' अपनी इस कविता में गम्भीर और ओजस्वी शब्दों में किया है। उसमें वह कहता है कि मैं अपनी सत्ता में पृथ्वी के साथ एक हो गया हूं, "इसके दैनिक परिभ्रमण में मैं तनों, पेड़-पौधों और पत्थरों के साथ चक्कर काट रहा हूं।" इस अनुभूति को भौतिक प्रकृति से अधिक गभीर आत्मातक ऊंचा उठा ले जाओ तो तुम यौगिक ज्ञान के मूल तत्त्वों पर जा पहुंचोगे। परन्तु यह सब अनुभव परात्पर की, जो अपने सब रूपों से परे हैं, अतीन्द्रिय एवं अतिमानसिक उपलब्धि का बहिर्द्वारमात्र है, और ज्ञान के अन्तिम शिखर पर तो हम तभी आरूढ़ हो सकते हैं यदि हम अतिचेतन में प्रविष्ट होकर वहां अनिर्वचनीय के साथ स्वर्गीय एकत्व में अन्य समस्त अनुभव को निमज्जित कर दें। यह समस्त दिव्य ज्ञान-प्राप्ति की पराकाष्ठा है; यही समस्त दिव्य आनन्द और दिव्य जीवन का उद्गम है।

इस प्रकार ज्ञान की यह भूमिका इस पथ और वस्तुतः सभी पथों का लक्ष्य होती है जब कि अन्त तक उनका अनुसरण किया जाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बौद्धिक विवेचना एवं विभावना, समस्त एकाग्रता एवं मनोवैज्ञानिक स्व-ज्ञान, प्रेम द्वारा हृदय की समस्त गवेषणा, सौन्दर्य द्वारा इन्द्रियों का, शक्ति एवं कर्मकलाप द्वारा संकल्प का तथा शान्ति एवं हर्ष द्वारा अन्तरात्मा का समस्त अन्वेषण हमारे आरोहण की कुंजियांमात्र हैं, उसके राजपथ, प्राथमिक मार्ग एवं आरम्भमात्र हैं जिनका हमें उपयोग और अनुसरण करना होगा, जबतक कि हम विस्तीर्ण एवं अनन्त स्तर उपलब्ध न कर लें और दैवी द्वार अनन्त ज्योति की ओर उद्घाटित न हो जायें ।

अध्याय ३

विशुद्ध बुद्धि

ज्ञान की जिस भूमिका की हम अभीप्सा करते हैं उसका वर्णन ज्ञान के उन साधनों को निर्धारित कर देता है जिनका कि हम प्रयोग करेंगे। संक्षेप में यूं कहा जा सकता है कि ज्ञान की वह भूमिका एक अतिमानसिक उपलब्धि है जो मानसिक प्रतिरूपों के द्वारा हमारे अन्दर के नाना मानसिक तत्त्वों की सहायता से तैयार की जाती है और जो एक बार प्राप्त हो जाने पर फिर अपने-आपको हमारी सत्ता के सभी अंगों में अधिक पूर्णता के साथ प्रतिफलित करती है। यह उस भगवान्, एकमेव तथा सनातन के प्रकाश में, जो वस्तुओं की प्रतीतियों के एवं हमारी स्थूल सत्ता की बाह्य अवस्थाओं के प्रति अधीनता से मुक्त है, हमारी सम्पूर्ण सत्ता का पुनरवलोकन और अतएव पुनर्निर्माण है।

'मानवीय' से 'दैवी' की ओर 'विभक्त' और 'विसंवादी' से 'एकमेव' तथा 'दृग्विषय' से सनातन सत्य की ओर इस प्रकार के प्रयाण में एवं आत्मा के ऐसे पूर्ण पुनर्जन्म या नव-जन्म में दो अवस्थाएं अवश्यमेव आती हैं : एक अवस्था तैयारी की होती है जिसमें आत्मा तथा इसके करण योग्य बनते हैं, और, दूसरी, तैयार आत्मा में इसके योग्य करणों के द्वारा वास्तविक प्रकाश और उपलब्धि के उदय की। निःसन्देह इन दो अवस्थाओं के बीच काल-क्रम की कोई कठोर सीमारेखा नहीं है; बल्कि ये एक-दूसरी के लिये आवश्यक हैं और एक साथ चलती रहती हैं। कारण, जितनी-जितनी आत्मा योग्य बनती है उतनी-उतनी यह अधिक प्रकाशमय होती जाती है और ऊंची-से-ऊंची एवं पूर्ण-से-पूर्ण उपलब्धियों की ओर ऊपर उठती है, और जितना-जितना ये प्रकाश और ये उपलब्धियां बढ़ती हैं, उतनी-उतनी यह योग्य बनती है और उतना-उतना इसके करण अपने कार्य में अधिक समर्थ होते जाते हैं। आत्मा के प्रकाशरहित तैयारी के काल भी होते हैं और प्रकाशयुक्त प्रगति के काल भी, और अन्त में प्रकाशपूर्ण उपलब्धि की कम या अधिक लंबी आत्मिक घड़ियां भी आती हैं, ऐसी घड़ियां जो बिजली की चमक की न्याईं क्षणिक होती हैं और फिर भी हमारा सम्पूर्ण आध्यात्मिक भविष्य पलट देती हैं; साथ ही, ऐसी घड़ियां भी आती हैं जो सत्य के सूर्य के अविच्छिन्न प्रकाश या रश्मि-जाल में अनेक मानवीय घण्टों, दिनों एवं सप्ताहों तक चलती रहती हैं। इन सबमें से होती हुई आत्मा, जो एक बार ईश्वर की ओर मुड़ चुकी है, अपने नये जन्म तथा वास्तविक अस्तित्व की नित्यता एवं पूर्णता की ओर विकसित होती जाती है।

तैयारी का सबसे पहला आवश्यक तत्त्व अपनी सत्ता के सभी अंगों को शुद्ध करना है; विशेषकर, ज्ञान-मार्ग के लिये, बुद्धि को शुद्ध करना आवश्यक है, यह

शुद्धि एक ऐसी कुंजी है जो निश्चय ही सत्य का द्वार खोल देती है; पर अन्य अंगों को शुद्ध किये बिना बुद्धि को शुद्ध कर लेना शायद ही सम्भव हो। अशुद्ध हृदय, अशुद्ध इन्द्रिय, अशुद्ध प्राण बुद्धि को विभ्रान्त कर देते हैं, इसकी सामग्री को अस्त-व्यस्त, इसके निष्कर्षों को विकृत एवं इसकी दृष्टि को तमसावृत कर देते हैं और इसके ज्ञान का अशुद्ध प्रयोग करते हैं; अशुद्ध देह-संस्थान इसकी क्रिया को अवरुद्ध या प्रतिबद्ध कर देता है। अतएव, सर्वांगीण शुद्धि आवश्यक है। यहां भी अन्योन्य-निर्भरता देखने में आती है, क्योंकि हमारी सत्ता के प्रत्येक अंग का शोधन अन्य प्रत्येक अंग की शुद्धता से लाभान्वित होता है। उदाहरणार्थ, जैसे-जैसे भाविक हृदय अधिकाधिक शान्त होता जाता है वैसे-वैसे वह बुद्धि के शुद्ध करने में सहायक होता है; उधर शुद्ध बुद्धि, उसी प्रकार, अद्यावधि अपवित्र हृद्भावों के मलिन एवं तमसाच्छन्न व्यापारों में शान्ति एवं प्रकाश की स्थापना करती है। यहां तक भी कहा जा सकता है कि यद्यपि हमारी सत्ता के प्रत्येक अंग के शोधन के अपने विशिष्ट नियम हैं तथापि शुद्ध बुद्धि ही मनुष्य में उसकी मलिन एवं अव्यवस्थित सत्ता का अत्यधिक शक्तिशाली शोधक है और जो उसके अन्य अंगों को समुचित क्रिया करने के लिये अत्यन्त प्रभुत्वशाली ढंग से विवश करता है। गीता कहती है कि ज्ञान परम पवित्र वस्तु है; प्रकाश समस्त निर्मलता एवं समस्वरता का स्रोत है जैसे कि अज्ञानान्धकार हमारे समस्त स्खलनों का मूल है। उदाहरणार्थ, प्रेम हृदय का शोधक है और हमारे सब भावों को दिव्य प्रेम के प्रतिरूपों में परिणत करने से हमारा हृदय पूर्णता एवं कृतार्थता लाभ करता है, फिर भी स्वयं प्रेम को दिव्य ज्ञान के द्वारा पवित्र करने की आवश्यकता होती है। हृदय का ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम अन्ध, संकीर्ण एवं अज्ञानयुक्त हो सकता है और वह धर्मान्धता और अन्धकारप्रियता की ओर ले जा सकता है; यहांतक कि, अन्य प्रकार से शुद्ध होने पर भी, वह ईश्वर को सीमित व्यक्तित्व के सिवाय अन्यत्र कहीं देखना अस्वीकार करके तथा सच्चे एवं अनन्त दिव्य दर्शन से पीछे हटकर हमारी पूर्णता को सीमित कर सकता है। इसी प्रकार हृदय का मानव-सम्बन्धी प्रेम भी भाव, कर्म एवं ज्ञान की विकृतियों एवं अतिरंजनाओं की ओर ले जा सकता है। अतएव, इन्हें बुद्धि के परिशोधन के द्वारा सुधारना और रोकना होगा।

तथापि हमें इस विषय पर गहराई के साथ और स्पष्ट रूप से विचार करना होगा कि अंडरस्टैण्डिंग (understanding—बुद्धि) तथा इसके शोधन से हमारा क्या अभिप्राय है। 'अंडरस्टैण्डिंग' शब्द का प्रयोग हम संस्कृत के दार्शनिक शब्द 'बुद्धि' के अंग्रेजी भाषा में प्राप्य निकटतम पर्याय के रूप में करते हैं; अतएव, हम इससे इन्द्रिय-मानस के उस व्यापार को बहिष्कृत कर देते हैं जो सब प्रकार के बोधों को, बिना किसी भेद के, चाहे वे ठीक हों या गलत, सच्चे दृग्विषय हों या निरे मिथ्या, सूक्ष्म हों या स्थूल, केवल अपने अन्दर अंकित कर लेता है। विशृंखल

परिकल्पनाओं के उस समूह को भी हम इससे बहिष्कृत कर देते हैं जो इन बोधों का उल्थामात्र है और जो इन्हीं की भांति निर्णय एवं विवेक के उच्चतर तत्त्व से शून्य है। अभ्यासगत विचारों की उस उछल-कूद मचानेवाली अविच्छिन्न धारा को भी हम इसके अन्तर्गत नहीं कर सकते जो औसत अविचारशील मनुष्य के मन में बुद्धि का काम करती है, पर जो केवल अभ्यस्त संस्कारों, कामनाओं, पक्षपातों, पूर्वनिर्णयों, अन्यलब्ध या परम्पराप्राप्त अभिरुचियों की अनवरत आवृत्तिमात्र होती है, भले वह उन प्रत्ययों की, जो परिपार्श्व से हमारे भीतर प्रवाहित होते हैं और प्रभुत्वपूर्ण विवेककारी बुद्धि की चुनौती के बिना प्रविष्ट होने दिये जाते हैं, अभिनव निधि से अपनेको निरन्तर समृद्ध ही क्यों न करती रहे। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक ऐसी बुद्धि है जो पशु से मनुष्य के विकसित होने में अत्यन्त उपयोगी रही है; परन्तु यह पशु के मन से केवल एक कदम ही ऊपर है; यह अर्द्ध-पाशविक बुद्धि है जो अभ्यास, कामना एवं इन्द्रियों की दासी है और वैज्ञानिक या दार्शनिक या आध्यात्मिक कैसे भी ज्ञान की खोज के लिये किसी काम की नहीं है। हमें इसके परे जाना होगा; इसका शोधन केवल इस प्रकार किया जा सकता है कि इसे पूर्ण रूप से पदच्युत या शान्त कर दिया जाये अथवा इसे वास्तविक बुद्धि में रूपान्तरित कर दिया जाये।

बुद्धि से हमारा अभिप्राय उस बुद्धि से है जो एक ही साथ अवलोकन, निर्णय और विवेक करती है, अर्थात् मानव प्राणी की उस सच्ची बुद्धि से है जो इन्द्रियगण एवं कामना के या अभ्यास की अन्ध शक्ति के वश में नहीं है, बल्कि जो प्रभुत्व और ज्ञान के लिये अपने निज अधिकार से ही कार्य करती है। निःसन्देह, मनुष्य जैसा आज है उसकी बुद्धि अपनी सर्वोत्तम अवस्था में भी पूर्णरूपेण इस स्वतन्त्र और प्रभुत्वशाली ढंग से कार्य नहीं करती; पर जहांतक यह असफल होती है उसका कारण यह होता है कि यह अभीतक भी निम्नतर अर्द्ध-पाशविक क्रिया से मिश्रित है तथा अशुद्ध है और अपनी विशिष्ट क्रिया से निरन्तर रोकी जाती एवं नीचे की ओर खींची जाती है। अपनी शुद्धावस्था में इसे इन निम्नतर गतियों में उलझे नहीं रहना चाहिये, बल्कि अपने विषय से पीछे हटकर स्थित होना चाहिये, और निष्पक्ष भाव से उसका निरीक्षण करके अन्यों के साथ साम्य और भेदमूलक तुलना एवं उपमान के बल पर समष्टि में उसे उसके समुचित स्थान पर रखना चाहिये, अपनी सुनिरीक्षित सामग्री के आधार पर निगमन, व्याप्ति एवं अनुमान के द्वारा तर्क-वितर्क करना चाहिये और अपनी सब प्राप्तियों को स्मृति में धारण करके तथा एक परिशोधन एवं सुनिर्देशित कल्पना के द्वारा उन्हें परिपूर्ण बनाकर सब कुछ को एक प्रशिक्षित एवं अनुशासित निर्णय के प्रकाश में देखना चाहिये। यही है बौद्धिक प्रज्ञा जिसके नियम एवं विशेषतासूचक व्यापार निष्पक्ष निरीक्षण, निर्णय और तर्कणा होते हैं।

परन्तु 'बुद्धि' शब्द एक अन्य अधिक गंभीर अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। बौद्धिक प्रज्ञा केवल निम्नतर बुद्धि है; एक अन्य उच्चतर बुद्धि भी है जो प्रज्ञा नहीं बल्कि दृष्टि है, नीचे स्थित होना नहीं, वरन् ज्ञान में ऊपर स्थित होना' है, और जो ज्ञान की खोज एवं प्राप्ति निरीक्षित सामग्री के अधीन रहकर नहीं करती, बल्कि सत्य को पहले से ही अपने अन्दर रखती है और सत्यदर्शक एवं अन्तर्ज्ञानात्मक विचार के रूपों में उसे प्रकट करती है। साधारणतया मानव मन इस सत्य-सचेतन ज्ञान के अधिक-से-अधिक निकट जिस ज्ञान-क्रियातक पहुंचता है वह प्रकाशयुक्त खोज की वह अपूर्ण क्रिया ही होती है जो तब घटित होती है जब विचार का अत्यधिक दबाव पड़ता है, और जब बुद्धि पर्दे के पीछे से निकलनेवाले अविच्छिन्न विद्युत्-कणों से आविष्ट हो जाती है तथा उच्चतर उत्साह के वशीभूत होकर ज्ञान की बोधिमूलक एवं अन्तःप्रेरित शक्ति से एक प्रचुर अन्तःप्रवाह को प्रवेश करने देती है। कारण, मनुष्य में एक बोधिमय मन है जो अतिमानसिक शक्ति से आनेवाले इन अन्तःप्रवाहों के ग्रहीता एवं इनकी प्रणालिका का काम करता है। परन्तु हमारे अन्दर बोधि और अन्तःप्रेरणा की क्रिया अपूर्ण ढंग की और रुक-रुककर होती है; साधारणतया, यह श्रमरत एवं संघर्षशील हृदय या बुद्धि की मांग के प्रत्युत्तर के रूप में आरम्भ होती है और इसके परिणाम सचेतन मन में प्रवेश करने से भी पहले उस विचार या अभीप्सा के द्वारा, जो उनसे मिलने के लिये ऊपर उठी थी, प्रभावित हो जाते हैं, वे शुद्ध नहीं रहते, बल्कि हृदय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं; और जब वे सचेतन मन में प्रविष्ट होते हैं तो हमारी बौद्धिक प्रज्ञा उन्हें तुरन्त ही अपने अधिकार में कर लेती है और विकीर्ण या छिन्न-भिन्न कर डालती है जिससे कि वे हमारे अपूर्ण बौद्धिक ज्ञान के साथ ठीक बैठ जायें, अथवा हमारा हृदय उन्हें अपने अधिकार में कर लेता है और उन्हें नये सिरे से इस प्रकार ढालता है कि हमारी अन्ध या अर्द्ध-अन्ध हृद्गत लालसाओं एवं अभिरुचियों के अनुकूल बन जायें, अथवा यहांतक कि निम्नतर तृष्णाएं भी उन पर अपना अधिकार जमा लेती हैं और उन्हें हमारी क्षुधाओं एवं आवेगों के उग्र प्रयोजनों के लिये विकृत कर डालती हैं।

यदि यह उच्चतर बुद्धि इन निम्नतर अंगों के हस्तक्षेप से निर्मुक्त रहकर कार्य कर सके तो यह सत्य के शुद्ध रूपों को प्रकट करेगी; तब निरीक्षण एक ऐसी अन्तर्दृष्टि के अधीन हो जायेगा या उसे अपना स्थान दे देगा जो इन्द्रिय-मानस तथा इन्द्रियों की साक्षी पर दासवत् आश्रित रहे बिना देख सकेगी; कल्पना सत्य की स्वयं-निश्चित अनुप्रेरणा को स्थान दे देगी, तर्क सम्बन्धों के स्वयंस्फूर्त्त विवेक को

' भागवत पुरुष को 'अध्यक्ष' कहा गया है, अध्यक्ष अर्थात् वह पुरुष जो सबके ऊपर परम व्योम में विराजमान रहकर वस्तुओं का अधीक्षण करता है, उन्हें ऊपर से देखता और नियन्त्रित करता है।

और तर्क का परिणाम एक ऐसे अन्तर्ज्ञान को स्थान दे देगा जो उन सम्बन्धों को अपने अन्दर निहित रखेगा न कि उनके आधार पर श्रमपूर्वक परिणाम निकालेगा, निर्णय एक ऐसी विचार-दृष्टि को स्थान दे देगा जिसके प्रकाश में सत्य उस पर्दे को जिसे यह आज ओढ़े हुए है और जिसका भेदन हमारे बौद्धिक निर्णय को करना पड़ता है हटाकर प्रकाशित हो जायेगा। उधर 'स्मृति' भी वह अधिक व्यापक अर्थ ग्रहण कर लेगी जो ग्रीक चिन्तन में उसे दिया गया है, वह अब पहले की तरह उस भंडार में से जो व्यक्ति ने अपने वर्तमान जीवन में उपलब्ध किया है, एक तुच्छ चुनाव नहीं रहेगी, प्रत्युत वह एक ऐसा ज्ञान बन जायगी जिसके अन्दर सब कुछ निहित है, जो उन सब चीजों को जिन्हें आज हम कष्टपूर्वक अर्जित करते प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः इस अर्थ में जिन्हें हम स्मरणमात्र करते हैं, अपने अन्दर गुप्त रूप से धारण करता है तथा अपने अन्दर से निरन्तर देता रहता है, वह एक ऐसा ज्ञान बन जायगी जो भूत के समान ही भविष्य[1] को भी अपने अन्दर समाविष्ट रखता है। निःसन्देह यह अभिमत ही है कि हम सत्य-सचेतन ज्ञान की इस उच्चतर शक्ति के प्रति अपनी ग्रहणशीलता में विकसित होंवे, परन्तु इसके पूर्ण एवं अपरोक्ष प्रयोग का सौभाग्य अभीतक देवताओं को ही प्राप्त है और यह हमारी वर्तमान मानवीय अवस्था से परे की वस्तु है।

इस प्रकार हमने देखा कि बुद्धि और उस उच्चतर शक्ति से, हमारा ठीक अभिप्राय क्या है जिसे हम सुविधा के लिये आदर्श शक्ति कह सकते हैं और जिसका विकसित बुद्धि के साथ बहुत कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा इस बुद्धि का अविकसित मनुष्य की अर्द्ध-पाशविक बुद्धि से है; इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि के लिये यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में अपना भाग यथावत् पूर्ण कर सकने के पूर्व उसके जिस शोधन की आवश्यकता है उसका स्वरूप क्या है। अशुद्धतामात्र का अर्थ है क्रिया की गड़बड़ी, वस्तुओं के धर्म से अर्थात् उनके युक्त एवं स्वभावतः उचित व्यापार से विच्युति, ऐसी वस्तुओं के जो अपने उस उचित व्यापार में विशुद्ध तथा हमारी पूर्णता में सहायक होती हैं। इस प्रकार की विच्युति प्रायः धर्मों के उस अज्ञानयुक्त संकर (confusion) का परिणाम होती है जिसमें कोई कार्यकारी शक्ति अपनी विशिष्टतया निजी प्रवृत्तियों से भिन्न अन्य प्रवृत्तियों की मांग का अनुसरण करने लगती है।

बुद्धि की अशुद्धता का प्रथम कारण विचार की क्रियाओं में कामना का मिश्रण है, और स्वयं कामना भी हमारी सत्ता के प्राणिक एवं भाविक अंगों में अन्तर्निहित इच्छा-शक्ति की एक अशुद्धि है। जब प्राण और हृदय की कामनाएं शुद्ध ज्ञानेच्छा में हस्तक्षेप करती हैं, तब विचार-क्रिया उनके अधीन हो जाती है, अपने विशिष्ट लक्ष्यों से भिन्न लक्ष्यों का अनुसरण करती है और इसके बोध प्रतिहत और अस्त-

[1] इस अर्थ में भविष्यवाणी की शक्ति को ठीक ही भविष्य की स्मृति कहा गया है।

व्यस्त हो जाते हैं। बुद्धि को कामना और हृद्भाव के घेरे से ऊपर उठना होगा और इसके आक्रमण से पूर्णतया मुक्त होने के लिये इसे स्वयं प्राणिक भागों एवं भावावेगों को भी शुद्ध कर लेना होगा। उपभोग की इच्छा प्राणिक सत्ता का निज धर्म है, पर उपभोग का चुनाव या पीछा करना इसका काम नहीं है, उसका निर्धारण तथा उपार्जन तो उच्चतर कार्य-शक्तियों को ही करना होगा; अतएव, प्राणसत्ता को यह सिखाना होगा कि भागवत संकल्प की क्रिया के अनुसार प्राण के यथावत् कार्य करने में जो कुछ भी लाभ या उपभोग इसे प्राप्त हो उसीको यह ग्रहण करे और लालसा एवं आसक्ति से अपने-आपको मुक्त कर ले। ऐसे ही, हृदय को प्राण-तत्त्व एवं इन्द्रियों की कामनाओं के प्रति अधीनता से मुक्त करना होगा और इस प्रकार उसे काम, क्रोध, भय, घृणा आदि के मिथ्या भावों से जो हृदय की मुख्य अशुद्धियां हैं, मुक्त होना होगा। प्रेम करने की इच्छा हृदय का निज स्वभाव है, परन्तु यहां भी प्रेम का चुनाव और अनुसरण त्यागना होगा अथवा इन्हें शान्त करना होगा और निश्चय ही हृदय को गहराई एवं तीव्रता के साथ प्रेम करना सिखाना होगा, पर ऐसी गहराई के साथ जो शान्त हो तथा ऐसी तीव्रता के साथ जो क्षुब्ध और विशृंखलित नहीं, बल्कि सुस्थिर एवं समान हो। बुद्धि को भ्रांति, अज्ञान और विपर्यय से मुक्त करने के लिये इन अंगों को शान्त करना तथा इन पर प्रभुत्व स्थापित करना[1] सबसे पहली शर्त है।

इस शोधन में स्नायविक सत्ता और हृदय की पूर्ण समता की प्राप्ति भी समाविष्ट है; अतएव, जिस प्रकार समता कर्ममार्ग का आदिमन्त्र थी उसी प्रकार यह ज्ञानमार्ग का भी आदिमन्त्र है।

बुद्धि की अशुद्धता का दूसरा कारण इन्द्रियजन्य भ्रांति और विचार की क्रियाओं में इन्द्रिय-मानस का मिश्रण है। जो कोई भी ज्ञान अपने-आपको इन्द्रिय के अधीन रखता है अथवा उन्हें ऐसे प्रथम दिग्दर्शकों के रूप में प्रयुक्त न करके जिनकी तथ्य-सामग्री का निरन्तर संशोधन एवं अतिक्रमण करना होता है, किसी अन्य रूप में प्रयुक्त करता है वह सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। विज्ञान (Science) का आरम्भ तभी होता है जब हम विश्वशक्ति के प्रतीयमान व्यापारों के, जैसा कि हमारी इन्द्रियां हमें इनका स्वरूप दिखाती हैं, आधारभूत सत्यों की परीक्षा करने लगते हैं; दर्शन-शास्त्र का आरम्भ तभी होता है जब हम वस्तुओं के मूलतत्त्वों की, जिन्हें हमारी इन्द्रियां अशुद्ध रूप में हमारे सामने उपस्थित करती हैं, परीक्षा करने लगते हैं; आध्यात्मिक ज्ञान का आरम्भ तभी होता है जब हम इन्द्रियाश्रित जीवन की सीमाओं को अंगीकार करने अथवा दृश्य एवं इन्द्रियग्राह्य पदार्थों को सद्वस्तु के नाम-रूप से अधिक कुछ मानने से इंकार करने लगते हैं।

[1] शम और दम।

इसी प्रकार इन्द्रिय-मानस को भी शान्त करना होगा और उसे यह सिखाना होगा कि वह विचार करने का कार्य उस मन पर छोड़ दे जो निर्णय करता और बोध प्राप्त करता है। जब हमारी बुद्धि इन्द्रिय-मानस के कार्य से पीछे हटकर स्थित हो जाती है और इसके मिश्रण का निराकरण करती है, तो इन्द्रिय-मानस अपनेको बुद्धि से पृथक् कर लेता है और इसकी पृथक् क्रिया का निरीक्षण किया जा सकता है। तब इसका यह स्वरूप प्रकट हो जाता है कि यह उन अभ्यस्त प्रत्ययों, संस्कारों, बोधों एवं कामनाओं की निरन्तर चक्राकार घूमनेवाली निम्न धारा है जिनमें कोई वास्तविक क्रम, पौर्वापर्य या प्रकाश का नियम नहीं है। यह निरन्तर पुनः-पुनः ज्ञानहीन और निरर्थक रूप में चक्कर काटता रहता है। साधारणतया मानव-बुद्धि उस निम्नधारा को अपना लेती है और इसे आंशिक क्रम एवं पौर्वापर्य में बांधने का यत्न करती है; किन्तु ऐसा करने से वह स्वयं इसके अधीन हो जाती है और उस अव्यवस्था, चंचलता, अभ्यास के प्रति मूढ़ दासता और अंध निष्प्रयोजन पुनरावृत्ति में भागीदार बनती है जो साधारण मानवीय तर्कबुद्धि को एक मूक, सीमित और यहांतक कि तुच्छ एवं निरर्थक यन्त्र बना डालती है। इस अस्थिर, चंचल, उग्र और विघ्नकारी तत्त्व से हमें किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं रखना है; हां, इसे पृथक् करके और फिर निस्तब्ध करके अथवा विचार में ऐसी एकाग्रता एवं अनन्यता लाकर जिसके द्वारा वह इस विजातीय एवं विमूढ़कारी तत्त्व का स्वयमेव त्याग कर दे, इससे हमें मुक्त भर होना है।

अशुद्धता का तीसरा कारण स्वयं बुद्धि से ही उद्भूत होता है और वह है ज्ञानेच्छा की अनुपयुक्त क्रिया। ज्ञानेच्छा बुद्धि का निज स्वभाव है, परन्तु यहां भी चुनाव और ज्ञान का समतारहित अनुसंधान इसे अवरुद्ध तथा विकृत कर देते हैं। ये पक्षपात एवं आसक्ति पैदा करते हैं जिसके कारण बुद्धि कम या अधिक आग्रहपूर्ण इच्छा के साथ कुछ विचारों और सम्मतियों से चिपट जाती है और अन्य विचारों एवं सम्मतियों के सत्य की उपेक्षा कर देती है। किसी सत्य के कुछ खण्डों के साथ चिपक जाती है और अन्य खण्डों को, जो उसकी पूर्णता के लिये आवश्यक होते हैं, अंगीकार करने से सकुचाती है, वह ज्ञान के कुछ पूर्वाग्रहों से चिपक जाती है और जो भी ज्ञान विचारक के अतीत द्वारा उपार्जित की हुई वैयक्तिक विचार-प्रकृति से मेल नहीं खाता उसे अस्वीकार कर देती है। इस अशुद्धता को दूर करने का उपाय है मन की पूर्ण समता प्राप्त करना, पूर्ण बौद्धिक शुद्धता का विकास करना और मन को पूर्ण रूप से निष्पक्ष बनाना। शुद्ध बुद्धि जैसे किसी कामना या लालसा का साथ नहीं देगी वैसे ही यह किसी विशेष विचार या सत्य के लिये किसी पूर्वराग किंवा विराग को भी प्रश्रय नहीं देगी, और जिन विचारों के सम्बन्ध में यह अत्यन्त निश्चयवान् है उनमें भी आसक्त होने से इंकार कर देगी, न यह उनपर ऐसा अनुचित बल देगी जो सत्य का सन्तुलन बिगाड़ दे

और पूर्ण एवं सर्वांगीण ज्ञान के अन्य तत्त्वों के मूल्य कम कर दे।

इस प्रकार शुद्ध की हुई बुद्धि बौद्धिक विचार का एक पूर्णतः नमनीय, सच्चा और निर्दोष यन्त्र होगी और बाधा तथा विकृति के निम्नतर स्रोतों से मुक्त होने के कारण आत्मा और जगत् के सत्यों का इतना पूर्ण और यथार्थ अनुभव प्राप्त करने में समर्थ होगी जितना कि बुद्धि के द्वारा प्राप्त हो सकता है। परन्तु वास्तविक ज्ञान के लिये किसी और वस्तु की भी आवश्यकता है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान, हमारी की हुई इसकी परिभाषा के ही कारण, अतिबौद्धिक है। बुद्धि को वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में हस्तक्षेप न करने देने के लिये हमें उस "और वस्तु" तक पहुंचना होगा और एक ऐसी शक्ति का विकास करना होगा जो सक्रिय बौद्धिक विचारक के लिये अतीव दुर्लभ है और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के लिये अरुचिकर भी है, अर्थात् बौद्धिक निष्क्रियता की शक्ति। इससे दो प्रकार का उद्देश्य सिद्ध होता है और अतएव, दो विभिन्न प्रकार की निष्क्रियताओं को प्राप्त करना होगा।

सर्वप्रथम, हम देख ही चुके हैं कि बौद्धिक विचार अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है और न ही वह सर्वोच्च चिन्तन है; सर्वोच्च चिन्तन तो वह है जो सम्बोधि-मानस के द्वारा तथा अतिमानसिक शक्ति से प्राप्त होता है। जब तक हम बौद्धिक अभ्यास और निम्नतर व्यापारों के द्वारा शासित होते हैं, सम्बोधि-मानस हमें केवल अचेतन रूप से अपने सन्देश ही भेज सकता है जो सचेतन मन तक पहुंचने से पूर्व कम या अधिक पूर्ण रूप से विकृत हो जाते हैं; अथवा यदि यह सचेतन रूप से कार्य करता भी है तो इसके कार्य में पर्याप्त सूक्ष्मता नहीं होती और त्रुटि भी बहुत अधिक रहती है। अपने अन्दर इस उच्चतर ज्ञान-शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये हमें अपने विचार के बोधिमय और बौद्धिक तत्त्वों को उसी प्रकार पृथक्-पृथक् करना होगा जिस प्रकार हम बुद्धि और इन्द्रियमानस को कर चुके हैं; और यह कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि केवल इतना ही नहीं कि हमारे बोधि-ज्ञान बौद्धिक व्यापार में लिपटकर हमारे पास आते हैं, अपितु बहुत-से ऐसे मानसिक व्यापार भी हैं जो इस उच्चतर शक्ति का स्वांग भरते और इसके रूपों का अनुकरण करते हैं। इसका उपाय यह है कि सबसे पहले बुद्धि को सिखाया जाय कि वह सत्य सम्बोधि को पहचाने, असत्य सम्बोधि से इसका भेद करे और फिर उसके अन्दर यह अभ्यास डाला जाय कि जब वह बोध या बौद्धिक निष्कर्ष पर पहुंचे तो उसे कोई चरम महत्त्व की वस्तु न मान ले, बल्कि ऊर्ध्व की ओर देखे, सब बोधों या निष्कर्षों को निर्णयार्थ दिव्य तत्त्व के सामने उपस्थित करे और ऊर्ध्व के प्रकाश के लिये यथाशक्य पूर्ण नीरवता में प्रतीक्षा करे। इस प्रकार अपने बौद्धिक चिन्तन के एक बड़े भाग को ज्योतिर्मय सत्य-चेतन दृष्टि में रूपान्तरित किया जा सकता है,—आदर्श अवस्था तो पूर्ण संक्रमण की ही होगी—अथवा कम-से-कम, बुद्धि के पीछे कार्य करनेवाले आदर्श ज्ञान की बहुलता, शुद्धता और सचेतन शक्ति को

तो अत्यधिक बढ़ाया ही जा सकता है। बुद्धि को आदर्श शक्ति के अधीन एवं उसके प्रति निष्क्रिय होना सीखना होगा।

परन्तु आत्म-ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि हम पूर्ण बौद्धिक निष्क्रियता की शक्ति अधिगत करें, अर्थात् समस्त विचार को बहिष्कृत करने तथा बिल्कुल ही चिन्तन न करने की वह मानसिक शक्ति प्राप्त करें जिसका गीता ने एक प्रकरण में आदेश दिया है। पाश्चात्य मन के लिये, जिसकी दृष्टि में चिन्तन सर्वोच्च वस्तु है और जो मन की विचार न करने की शक्ति एवं इसकी पूर्ण नीरवता को चिन्तन करने की अक्षमता समझने की भूल कर सकता है, यह एक दुर्बोध उक्ति है। परन्तु नीरवता की यह शक्ति एक क्षमता है, अक्षमता नहीं, एक शक्ति है, निर्बलता नहीं। यह एक गभीर और फलपूर्ण नीरवता है। जब मन इस प्रकार स्वच्छ, शान्त, निस्तरंग सागर के समान पूर्ण रूप से निश्चल हो जाता है, जब वह समस्त सत्ता की पूर्ण शुद्धि और शान्ति में अवस्थित हो जाता है और जब अन्तरात्मा विचार को अतिक्रान्त कर जाती है केवल तभी वह आत्मा जो सभी क्रियाओं और सम्भूतियों से परे है और उन सबका उद्गम भी है, वह नीरवता जिससे सब शब्द उत्पन्न होते हैं, वह निरपेक्ष जिसके कि सब सापेक्ष वस्तुएं आंशिक प्रतिबिम्ब हैं, हमारी सत्ता के शुद्ध सारतत्त्व में अपने को अभिव्यक्त कर सकता है। पूर्ण नीरवता में ही 'नीरव' की वाणी सुनायी देती है, विशुद्ध शान्ति में ही उसकी सत्ता प्रकाशित होती है। अतएव, हमारे लिये 'उस'का नाम है 'नीरवता' और 'शान्ति'।

अध्याय ४

एकाग्रता

शुद्धता के साथ-साथ और इसे लानेवाले एक सहायक साधन के रूप में एकाग्रता का भी होना आवश्यक है। वास्तव में, शुद्धता और एकाग्रता सत्ता की एक ही अवस्था के दो पक्ष हैं, एक स्त्री-प्रकृति और दूसरा पुरुष-प्रकृति, एक निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय; शुद्धता वह अवस्था है जिसमें एकाग्रता पूर्ण रूप से साधित हो जाती है और ठीक प्रकार से फलप्रद एवं सर्वसमर्थ बन जाती है; एकाग्रता के बल पर ही शुद्धता अपने कार्य करती है और उसके बिना यह शान्तिपूर्ण निश्चलता और नित्य विश्रान्ति की अवस्था की ओर ही ले जायगी। इनके विरोधी गुण भी एक-दूसरे से निकटतया सम्बद्ध हैं; क्योंकि हम देख ही चुके हैं कि अशुद्धता का अर्थ है धर्मों का संकर, सत्ता के विभिन्न भागों की शिथिल, मिश्रित और परस्पर-संश्लिष्ट क्रिया; और यह संकर इस कारण उत्पन्न होता है कि देहधारी आत्मा में सत्ता अपनी शक्तियों पर अपने ज्ञान को ठीक प्रकार से केंद्रित नहीं करती। हमारी प्रकृति का दोष यह है कि पहले तो वह वस्तुओं के स्पर्शों[1] के प्रति, जैसे कि वे बिना किसी व्यवस्था या नियन्त्रण के, अस्त-व्यस्त रूप से मन में प्रवेश करते हैं, जड़वत् अधीन हो जाती है और फिर उनपर आकस्मिक तथा अपूर्ण रूप में अपने-आपको एकाग्र करती है, वह एकाग्रता उत्तेजित एवं अनियमित रूप में की जाती है तथा उसमें कभी एक, तो कभी दूसरे विषय पर कम या अधिक बल दे दिया जाता है, उस हद तक जहां तक कि वे विषय उच्चतर आत्मा या निर्णायक एवं विवेचक बुद्धि को नहीं, बल्कि चंचल, उछल-कूद मचानेवाले, अस्थिर, जल्दी से थक जाने एवं सहज ही विक्षिप्त हो जानेवाले निम्नतर मन को, जो हमारी उन्नति का मुख्य शत्रु है, आकर्षित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में शुद्धता, कार्यकारी अंगों की यथायथ क्रिया तथा सत्ता की विशद, अकलुष और प्रकाशपूर्ण व्यवस्था सम्भव नहीं; विविध क्रियाएं, परिस्थिति और बाह्य प्रभावों के संयोगों के ऊपर छोड़ दी जाने पर, निश्चय ही एक-दूसरी के साथ उलझ जायंगी तथा एक-दूसरी को बाधा पहुंचायेंगी, विचलित, पथभ्रष्ट और विकृत करेंगी। इसी प्रकार, शुद्धता के बिना यथार्थ विचार, यथार्थ संकल्प और यथार्थ वेदन में सत्ता की पूर्ण, सम एवं नमनशील एकाग्रता या आध्यात्मिक अनुभूति की सुरक्षित अवस्था प्राप्त करना सम्भव नहीं। अतएव, इन दोनों को एक-दूसरी की विजय में सहायता पहुंचाते हुए एक साथ आगे बढ़ना होगा जब तक कि हम उस सनातन स्थिरता तक न पहुंच जायें जहां से सनातन, सर्वसमर्थ और सर्वज्ञानमयी क्रियाशीलता की कोई आंशिक प्रतिमूर्त्ति मनुष्य में उद्‌भूत हो सके।

[1] बाह्यस्पर्श।

परन्तु भारतवर्ष में ज्ञानमार्ग का जिस रूप में अनुसरण किया जाता है उसमें एकाग्रता का प्रयोग एक विशेष और संकीर्णतर अर्थ में ही किया जाता है। इसका अभिप्राय होता है विचार को मन की सभी विक्षेपकारी क्रियाओं से हटाना तथा एकमेव की परिकल्पना पर एकाग्र करना जिसके द्वारा जीव दृश्यप्रपंच से बाहर निकलकर एकमेव सद्वस्तु की ओर उठता है। विचार के द्वारा ही हम अपने-आपको दृश्य-प्रपंच में विकीर्ण करते हैं; विचार को पुनः उसके अन्दर समेट करके ही हमें वास्तविक सत्ता में वापस लौटना होगा। एकाग्रता में तीन ऐसी शक्तियां हैं जिनके द्वारा यह लक्ष्य सिद्ध किया जा सकता है। किसी भी वस्तु पर अपने-आपको एकाग्र करके हम उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उसे अपने गुप्त रहस्यों का उद्‌घाटन करने के लिये विवश कर सकते हैं; इस शक्ति का प्रयोग हमें वस्तुओं को नहीं, बल्कि एकमात्र निरपेक्ष सद्वस्तु को जानने के लिये करना होगा। और फिर, एकाग्रता के द्वारा सम्पूर्ण संकल्पशक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति के लिये एकत्र जुटाया जा सकता है जो अभी तक हमारे अधिकार में नहीं आयी है, अभी तक हमारी पहुंच से परे है; यदि यह शक्ति पर्याप्त सधी हुई हो, पर्याप्त एकनिष्ठ एवं पर्याप्त सत्यतापूर्ण हो, अपने बारे में निश्चयवान्, केवल अपने ही प्रति दृढ़निष्ठ तथा पूर्ण श्रद्धामय हो तो इसे हम चाहे किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयोग में ला सकते हैं; परन्तु इसका प्रयोग हमें उन अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिये नहीं करना चाहिये जिन्हें संसार हमारे सामने प्रस्तुत करता है, बल्कि आध्यात्मिक रूप में उस एक वस्तु को अधिकृत करने के लिये करना चाहिये जो खोजने योग्य है और साथ ही जो एकमात्र जानने योग्य विषय है। अपनी सम्पूर्ण सत्ता को उसकी किसी एक ही अवस्था पर एकाग्र करके हम जो कुछ बनना चाहें बन सकते हैं; उदाहरणार्थ, भले हम पहले दुर्बलताओं और भयों का पुंज रहे हों, पर अब हम उसके स्थान पर बल और साहस का पुंज बन सकते हैं, अथवा हम पूर्ण रूप से एक महान् शुद्धता, पवित्रता एवं शान्ति की मूर्ति या फिर एक ही विराट् प्रेममय आत्मा बन सकते हैं; परन्तु यह कहा जाता है कि इस शक्ति का प्रयोग हमें ये चीजें बनने के लिये भी नहीं करना चाहिये, भले ये, जो कुछ हम आज हैं उसकी तुलना में ऊंची ही क्यों न हों, बल्कि हमें इसका प्रयोग वह सत्ता, शुद्ध और निरपेक्ष सत्ता, बनने के लिये करना चाहिये जो सब वस्तुओं से ऊपर है तथा समस्त कार्य-व्यापार और गुणों से मुक्त है। अन्य सब कुछ, अन्य सब प्रकार की एकाग्रता उच्छृंखल एवं विक्षेपशील विचार, संकल्प और सत्ता को उनके महान् और अनन्य लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त तैयार करने के लिये, उनके प्रारम्भिक पगों एवं क्रमिक शिक्षण के लिये ही मूल्यवान् हो सकती है।

एकाग्रता के अन्य प्रत्येक प्रयोग की भांति इस प्रयोग का भी अर्थ है पहले सत्ता को शुद्ध करना; इसका अर्थ अन्त में त्याग, निवृत्ति और अन्ततः समाधि की

निरपेक्ष और परात्पर अवस्था में आरोहण भी है। समाधि की यह अवस्था यदि अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुंच जाय, स्थायी हो जाय तो इससे शायद हजारों आत्माओं में से एकाध को छोड़कर और कोई नहीं वापिस आती। क्योंकि इससे हम "सनातन की उस सर्वोच्च अवस्था में" पहुंच जाते हैं "जहां से आत्माएं" प्रकृति के कर्मचक्र में "नहीं लौटती"[1]; और जिस योगी का लक्ष्य इस संसार से छुटकारा पाना होता है वह अपना शरीर छोड़ने के समय इसी समाधि में चले जाना चाहता है। राजयोग की साधना में हम यही क्रम देखते हैं। क्योंकि, सर्वप्रथम राजयोगी के लिये एक प्रकार की नैतिक एवं आध्यात्मिक पवित्रता प्राप्त करना आवश्यक है; उसे अपने मन की निम्नतर या अधोमुखी क्रियाओं से छुटकारा पाना होगा, पर बाद में उसे इसकी समस्त क्रियाओं को बन्द कर अपने-आपको उस एक ही विचार पर एकाग्र करना होगा जो क्रिया से स्थिति की निश्चलता की ओर ले जाता है। राजयोग में एकाग्रता की कई अवस्थाएं होती हैं, एक वह जिसमें विषय को अधिकृत किया जाता है (ध्यान), दूसरी वह जिसमें उसे धारण किया जाता है (धारणा), तीसरी वह जिसमें मन उस अवस्था में लीन हो जाता है जिसे वह विषय सूचित करता है या जिसकी ओर एकाग्रता ले जाती है (समाधि)। इनमें से अन्तिम अवस्था को ही राजयोग में समाधि कहा जाता है यद्यपि 'समाधि' शब्द इससे अत्यधिक व्यापक अर्थ का वाचक हो सकता है जैसा कि गीता में देखने में आता है। परन्तु राजयोग की समाधि में भिन्न-भिन्न भूमिकाएं हैं,— एक वह जिसमें मन बाह्य विषयों से बेसुध होकर भी विचार के जगत् में सोचता-विचारता और अनुभव करता है, दूसरी वह जिसमें मन अभी विचार की प्रारम्भिक रचनाएं करने में समर्थ होता है और अन्तिम वह जिसमें मन की अपने अन्दर भी सब प्रकार की उछल-कूद बन्द हो जाती है और अतएव अन्तरात्मा विचार के परे अकथ्य और अनिर्वचनीय ब्रह्म की नीरवता में उठ जाती है। निःसन्देह, समस्त योगमार्गों में विचार को एकाग्र करने से बहुतसे ऐसे विषय होते हैं जो एकाग्रता की तैयारी में सहायता पहुंचाते हैं, जैसे, (ध्येय वस्तु के) रूप-स्वरूप, चिन्तन-मनन के शाब्दिक सूत्र, (जपने योग्य) अर्थपूर्ण नाम। ये सब इस एकाग्रता की क्रिया में मन के अवलंबन होते हैं, इन सब का प्रयोग करना होता है और फिर इनके परे चले जाना होता है; उपनिषदों के अनुसार सर्वोच्च अवलंबन है गुह्य पद 'ओ३म्', जिसके तीन अक्षर (अ, उ, म्) ब्रह्म या परम आत्मा की तीन क्रमावस्थाओं, जागरित आत्मा, स्वाप्न आत्मा और सुषुप्तिगत आत्मा को सूचित करते हैं। इन अक्षरों का सम्पूर्ण शक्तिशाली नाद उस सत्ता की ओर उठ जाता है जो क्रिया की भांति स्थिति से भी परे है।[2] क्योंकि, सभी ज्ञानयोगों का अन्तिम लक्ष्य परात्पर ब्रह्म ही है।

[1] यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। —गीता

[2] माण्डूक्य उपनिषद्।

परन्तु हम ने पूर्णयोग के लक्ष्य की एक ऐसी वस्तु के रूप में परिकल्पना की है जो अधिक जटिल तथा कम एकांगी है—आत्मा की सर्वोच्च अवस्था के विषय में वह कम एकांगी रूप से भावात्मक है, उसके दिव्य आविर्भावों के विषय में वह कम एकांगी रूप से अभावात्मक है। निश्चय ही हमें अपना लक्ष्य परमोच्च ब्रह्म, सबके आदिमूल एवं परात्पर को बनाना होगा, पर परात्पर जिसे अतिक्रम कर जाता है उसे भी त्यागना नहीं होगा, बल्कि उस परात्पर को यह मानते हुए लक्ष्य बनाना होगा कि वह आत्मा की उस सुस्थिर अनुभूति एवं परमोच्च अवस्था का मूल है जो अन्य सब अवस्थाओं को रूपान्तरित कर देगी तथा हमारी जगत्-विषयक चेतना को फिर से अपने गुप्त सत्य के रूप में ढाल देगी। हम जगत्-विषयक समस्त चेतना को अपनी सत्ता से बाहर नहीं निकाल देना चाहते, बल्कि विश्व में तथा इसके परे परमेश्वर, सत्य और आत्मा को प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव, हम केवल अनिर्वचनीय ब्रह्म की ही नहीं, बल्कि उसके अनन्त सत्-चित्-आनन्दरूपी व्यक्त स्वरूप की भी खोज करेंगे जो विश्व को अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए इसमें अपनी लीला कर रहा है। क्योंकि, यह त्रिविध अनन्तता उसका सर्वोच्च व्यक्त रूप है और इसे जानने, इसमें भाग लेने तथा यही बन जाने की हम अभीप्सा करेंगे, और क्योंकि हम इस त्रैत को केवल इसके स्वरूप में ही नहीं, बल्कि इसकी वैश्व लीला में भी अनुभव करना चाहते हैं, हम उन विश्वव्यापी दिव्य सत्य, ज्ञान, संकल्प और प्रेम को भी जानने तथा उनमें भाग लेने की अभीप्सा करेंगे जो उसकी गौण अभिव्यक्ति एवं दिव्य सम्भूति हैं। इस अभिव्यक्ति के साथ भी हम एकाकार होने की अभीप्सा करेंगे, इसकी ओर भी हम उठने का यत्न करेंगे और जब प्रयत्न का काल गुजर जायगा तो, अपने समस्त अहंभाव के त्याग के द्वारा हम इसे अनुमति देंगे कि यह हमारी सत्ता को अपने अन्दर उठा ले जाय तथा हमारे समस्त व्यक्त रूप में हमारे अन्दर अवतरित हो और हमारा आलिंगन करे। यह सब यत्न हम केवल इसलिये नहीं करेंगे कि यह उसकी सर्वोच्च परात्परता के निकट पहुंचने तथा इसे प्राप्त करने का एक साधन है, वरन् इसलिये भी कि, जब हम परात्पर को प्राप्त कर लें तथा वह हमें अधिकृत कर ले तब भी, जगत् की अभिव्यक्ति में दिव्य जीवन को चरितार्थ करने के लिये यह एक अनिवार्य शर्त है।

इसलिये कि हम इस कार्य को सम्पन्न कर सकें, 'एकाग्रता' और 'समाधि' शब्द हमारे लिये अधिक समृद्ध एवं गभीर अर्थ से पूर्ण होने चाहियें। हमारी समस्त एकाग्रता उस दिव्य 'तप' की प्रतिमामात्र है जिसके द्वारा आत्मा अपने-आपमें ही एकाग्र रहता है, अपने अन्दर अपने-आपको प्रकट करता है और अपनी अभिव्यक्ति को धारण करता तथा अपने अधिकार में रखता है, साथ ही जिसके द्वारा वह समस्त अभिव्यक्ति से पीछे हटकर अपने परम एकत्व में लौट जाता है। सत् जब आनन्द-प्राप्ति के लिये अपनी चेतना में अपने-आपको अपने ऊपर एकाग्र

करता है तो उसीको दिव्य 'तप' कहते हैं; और ज्ञानयुक्त संकल्प जब अपनी चेतना की शक्ति में अपने-आपको अपने ऊपर तथा अपनी अभिव्यक्तियों के ऊपर एकाग्र करता है तो उसीका नाम है दिव्य एकाग्रता का सार, योगेश्वर का योग। भगवान् के जिस रूप में हम निवास करते हैं उसकी प्रभेदात्मकता (अनेकात्मकता) स्वयंसिद्ध ही है, तब एकाग्रता ही वह साधन है, जिसके द्वारा व्यक्ति की अन्तरात्मा परमात्मा के किसी रूप के साथ, उसकी किसी अवस्था या आध्यात्मिक अभिव्यक्ति (भाव) के साथ अपनेको एकाकार करती है तथा उसमें प्रविष्ट होती है। इस साधन को भगवान् के साथ ऐक्य-लाभ के लिये प्रयुक्त करना ही दिव्य ज्ञान की प्राप्ति की शर्त है और यही सभी ज्ञानयोगों का मूलसूत्र है।

यह एकाग्रता 'विचार' (Idea) के द्वारा अग्रसर होती है, किसी विशेष विचार, रूप और नाम को ऐसी चाबियों के रूप में प्रयुक्त करती है जो समस्त विचार, रूप और नाम के पीछे छुपे हुए सत्य को एकाग्रता करनेवाले मन के सम्मुख प्रकट कर देती है; क्योंकि विचार के द्वारा ही मनोमय प्राणी, मानव, समस्त अभिव्यक्ति से परे उस तत्त्व की ओर उठता है जो यहां अभिव्यक्त होता है और स्वयं विचार भी जिसका एक यन्त्रमात्र है। विचार पर एकाग्रता के द्वारा ही मनोमय सत्ता, जो हमारा वर्तमान स्वरूप है, हमारे मन के घेरे को तोड़ डालती है और चेतना तथा सत्ता की उस अवस्था पर, चिन्मय शक्ति और आनन्दमय चेतना की उस अवस्था पर जा पहुंचती है जो उस विचार के अनुरूप होती है और वह विचार जिसका एक प्रतीक, क्रिया-व्यापार एवं लयताल होता है। इस प्रकार, विचार के द्वारा मन को एकाग्र करना हमारे लिये हमारी सत्ता के अतिचेतन स्तरों को खोलने का एक साधन एवं कुंजीमात्र है; आत्म-सचेतन एवं आनन्दमय सत्ता के इस अतिचेतन सत्य, उसकी एकता तथा अनन्तता में उठी हुई हमारी सम्पूर्ण सत्ता की एक विशेष प्रकार की आत्म-समाहित अवस्था ही एकाग्रता का लक्ष्य और परिणति है; और 'समाधि' शब्द को हम जो अर्थ देंगे वह यही है। समाधि का अर्थ केवल वह अवस्था नहीं जो बाह्य जगत् की समस्त चेतना से यहांतक कि अन्तर्जगत् की समस्त चेतना से भी पीछे हटकर उस तत्त्व में लीन हो जो इन दोनों से परे इनके बीज के रूप में या इनकी बीजावस्था से भी अतीत रूप में विद्यमान है; बल्कि समाधि का मतलब है एकमेव एवं अनन्त के साथ संयुक्त एवं एकीभूत होकर उसमें सुस्थिर रूप से प्रतिष्ठित होना, और यह अवस्था नित्य-निरन्तर स्थिर रहनी चाहिये चाहे हम जाग्रत् अवस्था में स्थित हों जिसमें हम पदार्थों के रूपों से अभिज्ञ होते हैं या हम पीछे हटकर उस आन्तरिक क्रिया में चले जायं जो वस्तुओं के मूलतत्त्वों की, उनके नामों और प्रतिरूपात्मक आकारों की लीला में मग्न रहती है, अथवा हम ऊंची उड़ान भरकर उस स्थितिशील आन्तर चैतन्य की अवस्था में पहुंच जायें जहां हम साक्षात् मूलतत्त्वों पर एवं सभी तत्त्वों के तत्त्व पर, नाम और रूप के बीज पर पहुंच जाते

हैं।[1] क्योंकि जो आत्मा वास्तविक समाधि में पहुंच गयी है और इस शब्द के गीतोक्त अर्थ के अनुसार उसमें प्रतिष्ठित (समाधिस्थ) हो चुकी है, उसे वह अवस्था प्राप्त हो गयी है जो अनुभवमात्र का आधार है और वह किसी भी अनुभव के कारण जो अभीतक शिखर पर न पहुंचे हुए व्यक्ति के लिये कितना ही विक्षेपकारी क्यों न हो उस अवस्था से पतित नहीं हो सकती। वह किसी भी अनुभव से आबद्ध अथवा विमूढ़ या मर्यादित हुए बिना सभी अनुभवों को अपनी सत्ता के क्षेत्र में समाविष्ट कर सकती है।

जब हम यह अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तब, हमारी सम्पूर्ण सत्ता और चेतना के एकाग्र हो जाने के कारण, 'विचार' पर एकाग्रता करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वहां उस अतिमानसिक अवस्था में सारी वस्तुस्थिति ही पलट जाती है। मन एक ऐसा तत्त्व है जो विकीर्ण अवस्था और काल-क्रम में निवास करता है; यह एक समय में एक ही वस्तु पर एकाग्र हो सकता है और जब एकाग्र नहीं हुआ होता तो एक चीज से दूसरी चीज पर बहुत कुछ अनियमित ढंग से ही दौड़ता रहता है। अतएव, इसे एक ही विचार पर, ध्यान, चिन्तन किंवा संकल्प के किसी एक ही विषय पर एकाग्रता करनी होती है, ताकि यह उसे प्राप्त या अधिकृत कर सके, और यह इसे कम-से-कम कुछ समय के लिये अन्य सब विचारों एवं विषयों को बाहर निकालकर ही करना पड़ता है। परन्तु जो तत्त्व मन से परे है और जिसमें हम आरोहण करना चाहते हैं वह विचार की अति चंचल क्रिया से तथा भावों के भेद-विभेद से उच्चतर है। भगवान् अपने ही अन्दर केंद्रित रहते हैं और जब वे विचारों और क्रिया-प्रवृत्तियों को अपनेमें से प्रकट करते हैं तो वे उनमें अपने-आपको विभक्त नहीं करते, न बन्दी ही बना डालते हैं, बल्कि उन्हें तथा उनकी गतिविधि को अपनी अनन्तता में धारण किये रहते हैं; उनकी सम्पूर्ण सत्ता अविभक्त रहती हुई प्रत्येक विचार और प्रत्येक क्रिया के पीछे विद्यमान है और साथ ही वह उन सबकी समष्टि के पीछे भी विद्यमान है। उनमें से प्रत्येक उसके द्वारा धारण किया हुआ है तथा सहज रूप से, किसी पृथक् संकल्प-क्रिया के द्वारा नहीं, बल्कि अपने पीछे विद्यमान सर्व-सामान्य चेतना-शक्ति के द्वारा अपने-आपको व्यक्त करता है; यदि हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक में ही भगवान् अपने संकल्प और ज्ञान को एकाग्र कर रहे हैं तो उनकी वह एकाग्रता अनेकविध और एकसमान होती है, एकांगी नहीं, और आत्म-समाहित एकता एवं अनन्तता में स्वतन्त्र और सहज-स्वाभाविक रूप से क्रिया करना ही इस विषय का वास्तविक सत्य है। जो आत्मा दिव्य-समाधि की अवस्था में पहुंच गयी है वह अपनी उपलब्धि के अनुपात में इस उल्टी हुई वस्तुस्थिति में,—इस सच्ची वस्तुस्थिति में,—भाग लेती है, क्योंकि जो स्थिति हमारी मानसिकता से उल्टी है वही सत्य है। इसी कारण, जैसा कि प्राचीन

[1] आत्मा की जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं।

ग्रंथों में कहा गया है, जिस मनुष्य को आत्मा की उपलब्धि हो गयी है वह विचार एवं प्रयत्न की एकाग्रता करने की आवश्यकता के बिना, सहज रूप से ही उस ज्ञान या परिणाम को उपलब्ध कर लेता है जिसे सर्वात्मना ग्रहण करने के लिये उसका अन्तःस्थ विचार या संकल्प प्रयत्न करता है।

अतएव, इस सुस्थिर दिव्य अवस्था को प्राप्त करना ही हमारी एकाग्रता का लक्ष्य होना चाहिये। एकाग्रता का पहला कदम सदा यह होना चाहिये कि चंचल मन में यह अभ्यास डाला जाय कि वह एक ही विषय पर, सम्बद्ध विचार की एक ही शृंखला का स्थिरतापूर्वक, अडोल भाव से अनुसरण करे और यह उसे उसके ध्यान से विचलित करनेवाले सभी प्रलोभनों एवं प्रतिकूल पुकारों से विक्षिप्त हुए बिना करना होगा। ऐसी एकाग्रता हमारे साधारण जीवन में काफी सामान्य रूप से देखने में आती है; परन्तु जब यह हमें मन को लगाये रखनेवाले किसी बाह्य विषय या कार्य के बिना, अपने ही अन्दर करनी होती है तब यह अधिक कठिन हो जाती है; तथापि ज्ञान के अन्वेषक को जो एकाग्रता साधित करनी होगी वह ऐसी आन्तरिक एकाग्रता ही है।[1] यह एक बौद्धिक विचारक की जिसका एकमात्र उद्देश्य विचार करना तथा अपने विचारों को बौद्धिक रूप में सुसम्बद्ध करना होता है, क्रमबद्ध चिन्तन-क्रिया ही नहीं होनी चाहिये। शायद आरम्भिक अवस्थाओं को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में तर्क-वितर्क की प्रक्रिया की उतनी जरूरत नहीं है जितनी विचार के फलपूर्ण सारतत्त्व पर अपने-आपको यथासम्भव एकाग्र करने की है। ऐसा करने से वह विचार अन्तरात्मा के संकल्प की आग्रहपूर्ण मांग के कारण अपने सत्य के सभी पार्श्वों को प्रकाशित कर देगा। इस प्रकार यदि भागवत प्रेम हमारी एकाग्रता का विषय हो तो मन को प्रेमस्वरूप ईश्वर के विचार के सारतत्त्व पर इस प्रकार एकाग्रता करनी चाहिये कि भागवत प्रेम की नानाविध अभिव्यक्ति साधक के मन के सम्मुख ही नहीं, बल्कि उसके हृदय, उसकी सत्ता और अन्तर्दृष्टि में भी ज्योतिर्मय रूप में प्रकाशित हो उठे। यह हो सकता है कि पहले विचार उत्पन्न हो और अनुभव बाद में हो, पर ठीक इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि पहले अनुभव हो और ज्ञान पीछे उस अनुभव में से उदित हो। बाद में उस उपलब्ध अनुभव में मन को तल्लीन करना तथा उसे अधिकाधिक अपने अन्दर धारण करना होता है जिससे वह स्थायी बनकर अन्त में हमारी सत्ता का धर्म या विधान बन जाय।

यह एकाग्रतायुक्त ध्यान की प्रक्रिया है; परन्तु इससे अधिक आयासपूर्ण विधि है—सम्पूर्ण मन को केवल विचार के सारतत्त्व पर ही एकाग्रतापूर्वक स्थिर करना जिससे हम विषय के विचारमय ज्ञान या मनोवैज्ञानिक अनुभव पर नहीं, बल्कि

[1] आन्तरिक वाद-विवाद और निर्णय, अर्थात् 'वितर्क' और 'विचार' की आरम्भिक अवस्थाओं में मिथ्या विचारों को ठीक करने और बौद्धिक सत्य पर पहुंचने के लिये।

विचार के पीछे विद्यमान वस्तु के सत्य स्वरूप पर पहुंच जायें। इस प्रक्रिया में विचार बन्द होकर अपने विषय के तन्मय या आनन्दपूर्ण ध्यान में परिणत हो जाता है या फिर, उस विषय में डूबकर आन्तर समाधि की अवस्था में पहुंच जाता है। यदि इस प्रक्रिया का अनुसरण किया जाये तो इसके फल-स्वरूप हम जिस अवस्था में आरोहण करेंगे उसे फिर नीचे पुकार लाना होगा, ताकि वह निम्नतर सत्ता पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले तथा हमारी साधारण चेतना को अपने प्रकाश, शक्ति और आनन्द से परिप्लुत कर दे। क्योंकि, अन्यथा अनेक साधकों की भांति हम इसे एक उच्च भूमिका या आन्तरिक समाधि में तो प्राप्त कर सकते हैं, पर जब हम जागरित अवस्था में पहुंचेंगे या नीचे उतरकर जगत् के सम्पर्कों में आयेंगे तो हम उस भूमिका पर अपना अधिकार खो बैठेंगे; और यह पंगु उपलब्धि पूर्णयोग का लक्ष्य नहीं है।

तीसरी प्रक्रिया यह है कि आरम्भ में न तो किसी एक ही आन्तरिक विषय पर एकाग्रतापूर्वक आयासपूर्ण ध्यान किया जाये और न विचारमय अन्तर्दृष्टि के किसी एक ही विषय का आयासपूर्ण चिन्तन किया जाये, बल्कि सर्वप्रथम मन को पूर्णरूपेण शान्त किया जाये। यह कई विधियों से किया जा सकता है; एक विधि है—मानसिक क्रिया से बिल्कुल अलग हटकर उसके पीछे की ओर स्थित हो जाना, उसमें भाग न लेते हुए केवल उसका निरीक्षण करते रहना जबतक कि वह अपनी उछल-कूद और भाग-दौड़ को स्वीकृति न मिलने के कारण थककर उत्तरोत्तर अचंचल होती हुई अन्त में पूर्ण रूप से शान्त नही हो जाती। दूसरी विधि है—विचाररूपी सुझावों का परित्याग करना, जब कभी वे मन में आयें उन्हें वहां से दूर निकाल फेंकना और अपनी सत्ता की शान्ति में जो मन के विक्षोभ और उपद्रव के पीछे सचमुच ही सदा विद्यमान रहती है, दृढ़तापूर्वक स्थिर रहना। जब यह गुप्त शान्ति प्रकट होती है तब एक महत् स्थिरता हमारी सत्ता में प्रतिष्ठित हो जाती है और प्रायः ही इसके साथ सर्वव्यापी शान्त ब्रह्म का बोध एवं अनुभव भी प्राप्त होता है और उस समय अन्य प्रत्येक वस्तु शुरू-शुरू में एक बाह्य रूप एवं प्रतिच्छायामात्र प्रतीत होती है। इस स्थिरता के आधार पर वस्तुओं के बाह्य प्रपंच के नहीं, बल्कि भागवत अभिव्यक्ति के गभीरतर सत्य के ज्ञान एवं अनुभव में अन्य प्रत्येक वस्तु का निर्माण किया जा सकता है।

साधारणतः, जब एक बार यह अवस्था प्राप्त हो जायेगी तो फिर आयासपूर्ण एकाग्रता की आवश्यकता अनुभव नहीं होगी। इसका स्थान संकल्प[1] की एक उन्मुक्त एकाग्रता ले लेगी जो विचार का प्रयोग निम्नतर अंगों को सुझाव देने तथा आलोक प्रदान करने के लिये ही करेगी। यह संकल्प तब भौतिक एवं प्राणिक सत्ता तथा हृदय और मन पर दबाव डालेगा कि वे अपने-आपको फिर से भगवान् के

[1] इस विषय पर हम आत्म-सिद्धि-योग के प्रकरण में अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे।

उन रूपों में ढाल लें जो शान्त ब्रह्म में से स्वतः ही प्रकट होते हैं। अपनी पूर्व तैयारी और विशुद्धि के अनुसार अपेक्षाकृत द्रुत या मन्द वेग से वे अंग न्यूनाधिक संघर्ष के बाद संकल्प और उसके सुझाव के नियम का पालन करने को बाध्य होंगे। फलस्वरूप, अन्त में भगवान् का ज्ञान हमारी चेतना के सभी स्तरों को अपने अधिकार में कर लेगा और हमारी मानवीय सत्ता में भगवान् की प्रतिमूर्त्ति निर्मित हो जायेगी जैसे कि प्राचीन वैदिक साधकों ने अपनी सत्ता में निर्मित की थी। पूर्णयोग के लिये यह सबसे सीधी और शक्तिशाली साधना है।

अध्याय ५

त्याग

यदि शुद्धता और एकाग्रता के द्वारा हमारी सत्ता के सभी अंगों के नियमन को योग के शरीर की दायीं भुजा कहा जाये तो त्याग उसकी बायीं भुजा है। नियमन या भावात्मक साधना के द्वारा हम अपने अन्दर वस्तुओं और सत्ता के सत्य को तथा ज्ञान, प्रेम और कर्मों के सत्य को परिपुष्ट करते हैं और इन्हें उन असत्यों के स्थान पर प्रतिष्ठित कर देते हैं जिन्होंने हमारी प्रकृति को आच्छादित और विकृत कर रखा है; त्याग के द्वारा हम उन असत्यों पर टूट पड़ते हैं, उन्हें जड़-मूल से उखाड़ फेंकते हैं और अपने रास्ते से निकाल बाहर करते हैं जिससे कि वे हमारे दिव्य जीवन के सुखद और समस्वर विकास को अपने दुराग्रह, प्रतिरोध या पुनरावर्तन से अब और न रोक सकें। त्याग हमारी पूर्णता का अनिवार्य साधन है।

यह त्याग कहां तक जायेगा? इसका स्वरूप क्या होगा? और इसका प्रयोग किस प्रकार किया जायेगा? एक प्रचलित प्रथा, जिसका समर्थन महान् धार्मिक शिक्षक और गम्भीर आध्यात्मिक अनुभव से सम्पन्न व्यक्ति चिरकाल से करते आये हैं, यह है कि त्याग केवल एक साधना के रूप में ही पूर्ण नहीं होना चाहिये, बल्कि एक साध्य के रूप में भी सुनिश्चित और चरम होना चाहिये और साथ ही इसे स्वयं जीवन और हमारी पार्थिव सत्ता के त्याग से जरा भी नीचा नहीं रहना चाहिये। इस विशुद्ध, उच्च और अति महान् प्रथा के विकास में अनेक कारणों ने अपना योगदान किया है। सबसे पहला और गभीरतर कारण यह है कि हमारे मानव-विकास की वर्तमान अवस्था में जागतिक जीवन जैसा आज है उसके मलिन और अपूर्ण स्वरूप तथा आध्यात्मिक जीवन के स्वरूप में आमूल विरोध है; और इस विरोध का परिणाम यह हुआ है कि जगत्-जीवन को एक मिथ्या वस्तु, आत्मा का उन्माद तथा विक्षोभपूर्ण एवं दुःखदायी स्वप्न मानकर या, इसके सर्वोत्तम रूप में, इसे एक दोषयुक्त, सत्याभासी और निरर्थक-सी वस्तु मानकर पूर्णतया त्याग दिया गया है, अथवा इसे मायामय जगत्, शारीरिक भोग और शैतान का राज्य कहकर वर्णित किया गया है और अतएव, भगवान् के द्वारा परिचालित और आकृष्ट आत्मा के लिये इसे केवल अग्नि-परीक्षा एवं तैयारी का स्थान माना गया है, अथवा, सर्वोत्तम दृष्टि से देखने पर भी, इसे 'सर्व'-सत्तास्वरूप प्रभु की एक ऐसी लीला एवं परस्पर-विरोधी उद्देश्यों की एक ऐसी क्रीड़ा माना गया है जिसे वे उससे ऊबकर छोड़ देते हैं। इस प्रथा का दूसरा कारण है—वैयक्तिक मोक्ष के लिये तथा उस अमिश्रित आनन्द और शान्ति के किसी दूरतर या दूरतम शिखर पर भाग जाने के लिये आत्मा की लालसा जो श्रम और संघर्ष से विक्षुब्ध न हों; या फिर, इसका

कारण है—भगवान् के आलिंगन के परमानन्द से कर्म और सेवा के निम्नतर क्षेत्र में लौटने की उसकी अनिच्छा। परन्तु कुछ अन्य अपेक्षाकृत हलके कारण भी हैं जो आध्यात्मिक अनुभव के साथ प्रासंगिक रूप से सम्बद्ध हैं, जैसे, आध्यात्मिक शान्ति तथा अध्यात्म-साक्षात्कारमय जीवन के साथ कर्ममय जीवन का मेल साधने की भारी कठिनाई का प्रबल भान एवं क्रियात्मक प्रमाण—इस कठिनाई को हम स्वेच्छापूर्वक बढ़ा-चढ़ा कर एक असाध्य कठिनाई का रूप दे देते हैं; या फिर इसका कारण होता है वह आनन्द जिसे मन त्याग की क्रिया एवं अवस्थामात्र में अनुभव करने लगता है,—जैसे कि वह ऐसी किसी भी चीज में जिसे वह प्राप्त कर लेता है या जिसका अभ्यस्त हो जाता है, सचमुच ही आनन्द लेने लगता है,—और इसी प्रकार जगत् के प्रति तथा मनुष्य के काम्य पदार्थों के प्रति उदासीनता से शान्ति और मुक्ति की जो अनुभूति प्राप्त होती है वह भी इसका कारण बनती है। सबसे निम्न कारण हैं—वह दुर्बलता जो संघर्ष से कतराती है, अन्तरात्मा की वह विरक्ति एवं निराशा जो महान् जागतिक श्रम से पराजित होने पर उसके अन्दर उत्पन्न होती है, वह स्वार्थपरता जो इस बात की चिन्ता नहीं करती कि हमारे पीछे बच रहे लोगों का क्या बनेगा जबतक कि हम स्वयं मृत्यु और पुनर्जन्म के सदा घूमते रहनेवाले राक्षसी चक्र से मुक्त हो सकते हैं, और श्रमरत मानवता के अन्दर से उठनेवाले आर्तनाद के प्रति उदासीनता।

पूर्णयोग के साधक के लिये इनमें से कोई भी कारण (त्याग का औचित्य सिद्ध करने के लिये) युक्तियुक्त नहीं है। दुर्बलता और स्वार्थपरता से उसका कोई सबन्ध नहीं हो सकता, भले वे अपने वेष या अपनी प्रवृत्ति में कितनी ही आध्यात्मिक क्यों न हों, वह जो कुछ बनना चाहता है उसका असली उपादान ही हैं—दिव्य बल और साहस, दिव्य करुणा और साहाय्यकारिता, ये गुण भगवान् की वह निज प्रकृति हैं जिसे वह आध्यात्मिक प्रकाश और सौन्दर्य के बाह्य वेष के रूप में धारण करना चाहता है। यह जो विराट् चक्र निरन्तर घूम रहा है इसके चक्करों से उसे भय नहीं लगता और न इनसे उसके सिर में चक्कर ही आते हैं; अपनी आत्मा में वह इस चक्र से ऊपर उठ जाता है और वहां से इसके चक्करों के दैवी विधान और दैवी प्रयोजन को जान लेता है। दिव्य जीवन और मानव-जीवन में मेल साधने, भगवान् में रहने और फिर भी मानव-सत्ता में जीवन-यापन करने की कठिनाई ही वह कठिनाई है जो यहां समाधान करने के लिये उसके सामने उपस्थित की जाती है और उसे इससे भागना नहीं होगा। वह जान गया है कि आनन्द, शान्ति और मोक्ष तबतक एक अपूर्ण विजय एवं एक अवास्तविक प्राप्ति ही रहते हैं जबतक कि वे एक ऐसी अवस्था का निर्माण नहीं करते जो अपने-आपमें सुरक्षित हो तथा उसकी आत्मा का एक अविच्छेद्य अंग हो, जो एकान्तवास और निष्क्रियता पर आश्रित न हो, बल्कि तूफान, प्रतिस्पर्धा और युद्ध में भी सुस्थिर रहे और जो सांसारिक हर्ष या

शोक किसी से भी कलुषित न हो। भगवान् के आलिंगन का दिव्यानन्द उसे छोड़ नहीं देगा, क्योंकि वह मानवजाति में रहनेवाले भगवान् के प्रति दिव्य प्रेम से प्रेरित होकर कार्य करता है; अथवा यदि यह कुछ समय के लिये उससे हटता प्रतीत होता है तो भी अनुभव द्वारा वह जानता ही होता है कि यह अभी उसकी और अधिक परीक्षा लेने एवं उसे और कसौटी पर कसने के लिये है ताकि इससे मिलने के उसके अपने ढंग में जो कोई अपूर्णता रह गयी है वह उससे झड़कर दूर हो जाये। अपनी निजी मुक्ति की उसे कोई कामना नहीं होती और यदि होती भी है तो केवल इसलिये कि मानव की परिपूर्णता के लिये इसकी आवश्यकता है और इसलिये भी कि जो स्वयं बन्धन में है वह दूसरों को सहज में मुक्त नही कर सकता,—यद्यपि भगवान् के लिये कुछ भी असम्भव नहीं; जिस प्रकार वैयक्तिक सुखोंवाले स्वर्ग की उसे कोई लालसा नहीं उसी प्रकार व्यक्तिगत दुःखोंवाले नरक से उसे कोई भय भी नहीं लगता। यदि आध्यात्मिक जीवन और सांसारिक जीवन में विरोध है तो यही वह खाई है जिसपर सेतु बांधने के लिये वह यहां आया है, यही वह विरोध है जिसे सामंजस्य में बदलने के लिये उसका यहां जन्म हुआ है। यदि आज संसार पर देहपरायणता और आसुरिकता का शासन है तो यह इस बात का और भी प्रबल कारण है कि अमरता के पुत्र (**अमृतस्य पुत्राः**) इसे ईश्वर और आत्मा के निमित्त जीतने के लिये यहां उपस्थिति रहें। यदि जीवन एक प्रकार का उन्माद है तब तो करोड़ों आत्माएं ऐसी हैं जिन्हें दैवी बुद्धि का प्रकाश प्रदान करना होगा; यदि यह एक स्वप्न है तो भी यह कितने ही स्वप्न लेनेवालों के लिये अपने-आपमें वास्तविक है जिन्हें प्रेरित करना होगा कि वे या तो अधिक श्रेष्ठ स्वप्न लें या फिर जाग उठें; अथवा यदि यह एक मिथ्या-माया है तो भ्रम में पड़े लोगों को सत्य की प्राप्ति करानी होगी। यदि यह कहा जाये कि जगत् से दूर भागने के उज्ज्वल दृष्टान्त से ही हम जगत् की सहायता कर सकते हैं तो हम इस सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि महान् अवतारों का उल्टा दृष्टान्त इस बात को सिद्ध करने के लिये विद्यमान है कि जगत् की सहायता हम केवल इसके वर्तमान जीवन के त्याग से ही नहीं कर सकते, बल्कि इसे स्वीकार तथा उन्नत करके भी कर सकते हैं तथा अधिक मात्रा में कर सकते हैं। और यदि यह विराट् सत्स्वरूप प्रभु की लीला है तो हम इसमें सुन्दर ढंग से तथा साहस के साथ अपना भाग लेने के लिये सहज ही सहमत हो सकते हैं, इस खेल में अपने दिव्य लीला-सहचर के साथ साम्यक्तया आनन्द ले सकते हैं।

परन्तु, सबसे बढ़कर, संसार के विषय में जो दृष्टिकोण हमने अपनाया है वह हमें विश्व-जीवन का त्याग करने से मना करता है जबतक कि हम इसके उद्देश्यों को कार्यान्वित करने में ईश्वर और मनुष्य की कुछ भी सहायता कर सकते हैं। हम इस जगत् को शैतान का आविष्कार या आत्मा की भ्रान्ति नहीं, बल्कि भगवान् की

अभिव्यक्ति समझते हैं, यद्यपि अभीतक यह अभिव्यक्ति आंशिक ही है, क्योंकि यह एक क्रमिक और विकसनशील वस्तु है। अतएव, हमारे लिये जीवन का त्याग जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता और न ही जगत् का त्याग जगत् की रचना का उद्देश्य हो सकता है। हम भगवान् के साथ अपने एकत्व का साक्षात्कार करना चाहते हैं, परन्तु हमारे लिये उस साक्षात्कार के अन्दर मनुष्य के साथ अपनी एकता का पूर्ण और चरम-परम अनुभव भी आ जाता है और हम इन दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते। ईसाइयों के शब्दों में कहें तो, ईश्वर का पुत्र ईसा 'मानव' का पुत्र भी है और पूर्ण ईसा-पन प्राप्त करने के लिये ईश्वरत्व और मानवत्व ये दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं; अथवा भारतीय विचारशैली के अनुसार कहें तो दिव्य नारायण, यह विश्व जिसकी केवल एक ही किरण है, नर में प्रकट होता है तथा अपनी पूर्ण चरितार्थता लाभ करता है; पूर्ण नर है नर-नारायण और उस पूर्णता में वह सत्ता के परम रहस्य का प्रतीक है।

अतएव, निश्चय ही, त्याग हमारे लिये साध्य नहीं, वरन् एक साधनमात्र है; न ही यह हमारा एकमात्र या मुख्य साधन हो सकता है, क्योंकि हमारा लक्ष्य है मानव-सत्ता में भगवान् को चरितार्थ करना, यह एक भावात्मक लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति निषेधात्मक साधनों से नहीं हो सकती। निषेधात्मक साधन का प्रयोजन तो उस वस्तु को दूर करना मात्र हो सकता है जो भावात्मक चरितार्थता के मार्ग में बाधा डालती है। इस साधन का मतलब होना चाहिये उन सब वस्तुओं का त्याग, पूर्ण त्याग, जो दिव्य आत्म-परिपूर्णता से भिन्न तथा उसके विरुद्ध हैं और साथ ही इसका मतलब होना चाहिये उस सबका उत्तरोत्तर त्याग जो एक हीनतर या फिर केवल आंशिक उपलब्धि है। अपने सांसारिक जीवन के प्रति हममें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होनी चाहिये; यदि आसक्ति हो तो हमें उसका त्याग करना होगा और पूर्ण रूप से करना होगा; पर हमें जगत् से पलायन के प्रति, मोक्ष एवं महान् आत्म-विलोप के प्रति भी किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखनी चाहिये; यदि इनके प्रति आसक्ति हो तो उसका भी हमें त्याग करना होगा और निःशेष रूप से करना होगा।

और फिर हमारा त्याग, स्पष्ट ही, एक आन्तरिक त्याग होना चाहिये; विशेषतया और सबसे बढ़कर, वह इन तीन चीजों का त्याग होना चाहिये—इन्द्रियों और हृदय में से आसक्ति तथा कामना-लालसा का, विचार और कर्म में से अहंतापूर्ण स्वेच्छा का और चेतना के केंद्र में से अहंभाव का। क्योंकि यही चीजें वे तीन गांठें हैं जिनसे हम अपनी निम्नतर प्रकृति के साथ बंधे हुए हैं और यदि हम इनका पूर्ण रूप से त्याग कर सकें तो और कोई ऐसी चीज नहीं जो हमें बांध सके। इसलिये आसक्ति और कामना को पूर्ण रूप से निकाल फेंकना होगा; इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जिसके प्रति हमें आसक्त होना चाहिये, न धन-दौलत, न गरीबी, न हर्ष, न शोक, न जीवन, न मरण, न महानता, न क्षुद्रता, न पाप, न पुण्य, न मित्र,

न स्त्री, न सन्तान, न स्वदेश, न अपना कार्य और ध्येय, न स्वर्ग, न भूतल और न वह सब जो इनके अन्दर या इनसे परे है।

इसका मतलब यह नहीं कि यहां ऐसी कोई भी चीज नहीं है जिससे हमें प्रेम करना चाहिये, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें हमें आनन्द लेना चाहिये; क्योंकि आसक्ति का मतलब है प्रेम में रहनेवाला अहंकार न कि स्वयं प्रेम, कामना का अर्थ है सुख और सन्तोष की भूख में निहित सीमितता और सुरक्षितता, न कि वस्तुओं में विद्यमान दिव्य आनन्द की खोज। पर सार्वभौम प्रेम तो हममें अवश्य होना चाहिये, ऐसा प्रेम जो शान्त एवं स्थिर हो और फिर भी उत्कट-से-उत्कट अनुराग के क्षणिक आवेश के परे नित्य रूप से प्रगाढ़ रहनेवाला हो; इस विश्व की वस्तुओं में आनन्द हमें अवश्य लेना चाहिये, पर ऐसा आनन्द जो भगवान् में मिलनेवाले आनन्द पर आधारित होता है और जो वस्तुओं के बाह्य रूपों के साथ नहीं चिपटता, बल्कि उनके अन्दर छुपे हुए तत्त्व को मजबूती से पकड़े रखता है तथा जगत् के पाशों में फंसे बिना[1] इसका आलिंगन करता है।

हम देख ही चुके हैं कि यदि हम दिव्य कर्मों के मार्ग में पूर्ण बनना चाहें तो हमें अपने विचार और कर्म में रहनेवाली अहंतापूर्ण स्वेच्छा को सर्वथा त्याग देना होगा; उसी प्रकार यदि हमें दिव्य ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करनी हो तब भी हमें इसका पूर्णतया त्याग करना होगा। इस स्वेच्छा का मतलब है मन का अहंभाव जो अपनी पसंदगियों तथा आदतों के प्रति और विचार, दृष्टिकोण एवं संकल्प की अपनी अतीत या वर्तमान रचनाओं के प्रति आसक्त हो जाता है, क्योंकि यह उन्हें 'अपना-आप' या अपनी समझता है, उनके चारों ओर "मैं-पन" और "मेरे-पन" के सूक्ष्म तन्तुओं का जाल बुन डालता है और जाले में मकड़े की तरह उनमें निवास करता है। जैसे मकड़ा अपने जाले पर आक्रमण बिल्कुल पसन्द नहीं करता, वैसे ही यह भी अपने साथ छेड़छाड़ बिल्कुल पसन्द नहीं करता और यदि इसे नये दृष्टि-बिन्दुओं एवं नयी धारणाओं के क्षेत्र में ले जाया जाय तो वहां यह अपने-आपको परदेसी और दुःखी अनुभव करता है जैसे मकड़े को अपने जाले के सिवाय किसी और जाले में सब कुछ विदेशी एवं विजातीय लगता है। इस आसक्ति को अपने मन से पूर्णरूपेण निकाल फेंकना होगा। इतना ही नहीं कि हमें जगत् और जीवन के प्रति उस साधारण मनोवृत्ति का त्याग करना होगा जिसे अजागरित मन अपना एक स्वाभाविक अंग समझता हुआ उसके साथ चिपटा रहता है; बल्कि हमें अपनी गढ़ी हुई किसी मानसिक धारणा में या किसी बौद्धिक विचार-पद्धति में अथवा धार्मिक सिद्धान्तों या तार्किक परिणामों की किसी क्रमशृंखला में भी नहीं बंधे रहना चाहिये; हमें केवल मन और इन्द्रियों के पाश को नहीं काटना होगा, वरन् विचारक,

[1] निर्लिप्त। वस्तुओं में विद्यमान दिव्य आनन्द निष्काम और निर्लिप्त है, कामना से मुक्त और अतएव अनासक्त है।

धर्मगुरु और संप्रदाय-प्रवर्तक के पाश से भी, अर्थात् 'शब्द' के जाल तथा 'विचार' के बंधन से भी मुक्त होकर इनसे बहुत परे चले जाना होगा। ये सब बंधन आत्मा को बाह्य रूपों के घेरे में बन्द करने के लिये हमारे अन्दर तैयार बैठे हैं; परन्तु हमें सदा इन्हें पार करते जाना होगा, सदा ही महत्तर के लिये लघुतर को तथा अनन्त के लिये सान्त को त्यागते जाना होगा; हमें एक प्रकाश से दूसरे प्रकाश की ओर, एक अनुभव से दूसरे अनुभव तथा आत्मा की एक अवस्था से उसकी दूसरी अवस्था की ओर बढ़ने के लिये तैयार रहना होगा जिससे कि हम भगवान् की चरम परात्परता तथा चरम विश्वमयता तक पहुंच सकें। इसी प्रकार, जिन सत्यों को हम अत्यन्त सुरक्षित मानते हुए उनमें विश्वास करते हैं उनमें भी हमें आसक्त नहीं होना होगा, क्योंकि वे उस अनिर्वचनीय ब्रह्म के रूप और अभिव्यक्तियांमात्र हैं जो किसी भी रूप या अभिव्यक्तितक अपने को सीमित रखने से इंकार करता है; हमें, सदा ही, ऊपर से आनेवाले उस उच्चतर शब्द की ओर खुले रहना चाहिये जो अपने-आपको अपने अभिप्राय तक ही सीमित नहीं रखता; साथ ही हमें उस 'विचार' के प्रकाश की ओर भी खुले रहना चाहिये जो अपने अन्दर अपने से उल्टे विचारों को भी धारण किये रहता है।

परन्तु समस्त प्रतिरोध का केन्द्र है अहंभाव और इसलिये इसके प्रत्येक गुप्त स्थान एवं छद्मवेश में हमें इसका पीछा करना होगा और इसे बाहर घसीट कर इसका वध कर डालना होगा; क्योंकि इसके छद्मवेशों का कोई अन्त नहीं और यह अपने छुपा सकनेवाले एक-एक चिथड़े के साथ यथाशक्ति चिपटा रहेगा। परोपकार और उदासीनता प्रायः ही इसके अत्यन्त शक्तिशाली छद्मवेश होते हैं; इन वेशों को पहने हुए तो यह इसका पीछा करेने के लिये नियुक्त दैवी दूतों के सामने आने पर भी उनके विरुद्ध धृष्टतापूर्वक विद्रोह करेगा। यहां परम ज्ञान का सूत्र हमारी सहायता के लिये उपस्थित होता है; अपने मूल दृष्टिबिन्दु में हमें इन विभेदों से कुछ मतलब नहीं, क्योंकि यहां न तो कोई मैं है न तू, वरन् है केवल एक दिव्य आत्मा जो अपने सभी मूर्त्त रूपों में समान रूप से विद्यमान है, व्यक्ति और समूह में एकसमान व्याप्त है, और उसे उपलब्ध करना, उसे व्यक्त करना, उसकी सेवा करना तथा उसे चरितार्थ करना ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु है। स्वतुष्टि किंवा परोपकार, उपभोग किंवा उदासीनता मुख्य वस्तु नहीं हैं। यदि इस एकमेव आत्मा की उपलब्धि, चरितार्थता और सेवा हमसे एक ऐसे कार्य की मांग करती हैं जो दूसरों को, अहंकारपूर्ण अर्थ में, अपनी सेवा या अपना ही ख्यापन प्रतीत होता है या फिर अहंपूर्ण भोग एवं अहं-तुष्टि प्रतीत होता है तो भी वह कार्य हमें करना ही होगा, हमें अपने अन्दर के मार्गदर्शक के निर्देशानुसार चलना होगा न कि लोगों की सम्मतियों के अनुसार। परिस्थिति का प्रभाव प्रायः बहुत सूक्ष्म रूप में कार्य करता है; हम अचेतन-प्राय रूप में उस वेश को अधिक पसन्द करते हैं तथा उसीको

पहन भी लेते हैं जो हमें बाहर से देखनेवाली आंख को सर्वोत्तम दीख पड़ेगा और इस प्रकार हम अपने अन्दर की आंख पर पर्दा पड़ जाने देते हैं; हम दरिद्रता के व्रत का या सेवा का बाना पहनने या फिर उदासीनता, त्याग एवं निष्कलंक साधुता के बाह्य प्रमाणों का जामा पहनने को प्रेरित होते हैं, क्योंकि परम्परा एवं लोकमत हमसे इसी चीज की मांग करता है और साथ ही इसी प्रकार हम अपनी परिस्थिति पर सर्वोत्तम प्रभाव डाल सकते हैं। परन्तु यह सब मिथ्याभिमान और भ्रममात्र है। इन चीजों का वेश भी हमें धारण करना पड़ सकता है, क्योंकि वह हमारी सेवा की वर्दी हो सकता है; पर वह ऐसा नहीं भी हो सकता। बाह्य मानव की दृष्टि का कुछ भी महत्त्व नहीं; अन्दर की आंख ही सब कुछ है।

गीता की शिक्षा में हम देखते हैं कि अहंभाव से मुक्ति की जो मांग की जाती है वह कितनी सूक्ष्म वस्तु है। शक्ति का मद एवं क्षत्रिय का अहंकार अर्जुन को लड़ने के लिये प्रेरित करते हैं; इससे उल्टा दुर्बलता का अहंकार उसे युद्ध से पराङ्मुख करता है; दुर्बलता का मतलब है उसकी जुगुप्सा, वैराग्य की भावना, मन, स्नायविक सत्ता और इन्द्रियों को अभिभूत करनेवाली मिथ्या 'कृपा',—वह दिव्य दया नहीं जो बाहुओं को बल देती है तथा ज्ञान में स्पष्टता लाती है। परन्तु उसकी यह दुर्बलता त्याग एवं पुण्य का बाना पहनकर आती है : "इन रुधिरलिप्त भोगों को भोगने से तो भीख मांगकर जीवन बिताना कहीं अच्छा; मुझे समस्त भूतल का राज्य नहीं चाहिये, देवताओं का राज्य भी नहीं," हम कह सकते हैं कि गुरु ने कितनी बड़ी मूर्खता की कि उसकी इस वृत्ति का समर्थन नहीं किया, संन्यासियों की सेना में एक और महान् आत्मा की वृद्धि करने तथा संसार के सामने पावन त्याग का एक और उज्ज्वल दृष्टान्त उपस्थित करने का यह भव्य अवसर खो दिया। परन्तु गुरु—ऐसे गुरु जो शब्दों के जाल में नहीं आ सकते, इसे किसी और ही रूप में देखते हैं, "ये दुर्बलता, भ्रम और अहंकार हैं जो तेरे अन्दर बोल रहे हैं। आत्मा को देख, ज्ञान की ओर आंखें खोल, अपनी आत्मा को अहंकार से मुक्त कर।" और, उसके बाद ? "युद्ध कर, विजय प्राप्त कर, समृद्ध राज्य का उपभोग कर।" अथवा प्राचीन भारतीय ऐतिह्य से एक और दृष्टान्त लें। हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह एक प्रकार का अहंकार ही था जिसने अवतार राम को लंका के राजा से अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त करने के लिये एक सेना खड़ी करने तथा एक राष्ट्र का विनाश करने को प्रेरित किया। परन्तु क्या यह उससे छोटा अहंकार होता यदि वे उदासीनता का भेस धारण कर ज्ञान के प्रचलित शब्दों का दुरुपयोग करते हुए कहते, "मेरी कोई पत्नी नहीं, कोई शत्रु नहीं, कोई कामना नहीं; ये तो इन्द्रियों के भ्रम हैं, मुझे ब्रह्म-ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिये और जनक की दुहिता के साथ रावण जो चाहे करे।"

जैसा कि गीता ने बल देकर कहा है, इसकी कसौटी हमारे अन्दर है। वह यह

कि अन्तरात्मा को लालसा और आसक्ति से मुक्त रखा जाये, पर साथ ही इसे अकर्म के प्रति आसक्ति से तथा कर्म करने के अहंपूर्ण आवेग से भी मुक्त रखा जाय, पुण्य के बाह्य रूपों के प्रति आसक्ति तथा पाप के प्रति आकर्षण—दोनों से एकसमान मुक्त रखा जाये। इसका मतलब है एकमेव आत्मा में निवास करने तथा उसीमें कर्म करने के लिये "अहंता" और ममता से मुक्त होना; विराट् पुरुष के व्यक्तिगत केन्द्र के द्वारा कर्म करने से इंकार करने के अहंकार का त्याग करना और साथ ही अन्य सबकी सेवा को छोड़कर केवल अपने वैयक्तिक मन, प्राण और शरीर की सेवा करने के अहंकार का भी त्याग करना। आत्मा में निवास करने का अर्थ यह नहीं कि हम केवल अपने लिये अनन्त में इस प्रकार रहने लगें कि निर्व्यक्तिक आत्मानन्द के उस महासागर में निमग्न होकर सब वस्तुओं की सुध ही बिसार दें; बल्कि इसका मतलब है उस परम आत्मा की तरह तथा उसीमें निवास करना जो इस देह में तथा सब देहों में और साथ ही सब देहों से परे भी समान रूप से विद्यमान है। यही है पूर्णज्ञान।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि त्याग के विचार को हम जो स्थान देते हैं वह इसके प्रचलित अर्थ से भिन्न है। प्रचलित रूप में इसका अर्थ है स्वार्थ-त्याग, सुख का वर्जन, सुखभोग के विषयों का त्याग। स्वार्थ-त्याग मनुष्य की अन्तरात्मा के लिये एक आवश्यक साधन है, क्योंकि उसका हृदय अज्ञानमय आसक्ति से भरा हुआ है; सुख का वर्जन आवश्यक है, क्योंकि उसकी इन्द्रियां ऐन्द्रिय तुष्टियों के पंकिल मधु में फंस जाती हैं और उसमें लथपथ होकर उसीसे चिपकी रहती हैं; सुखभोग के विषयों का त्याग उसपर बलात् थोपा जाता है, क्योंकि उसका मन विषय के साथ चिपट जाता है और उससे परे तथा अपने अन्दर जाने के लिये उसे छोड़ना नहीं चाहता। यदि मनुष्य का मन इस प्रकार अज्ञ, आसक्त, अपनी अशान्त अस्थिरता में भी आबद्ध तथा वस्तुओं के बाह्य रूपों के द्वारा विभ्रान्त न होता तो त्याग की आवश्यकता ही न पड़ती; आत्मा आनन्द के पथ पर, अल्प आनन्द से महान् आनन्द की ओर, हर्ष से दिव्यतर हर्ष की ओर अग्रसर हो सकती, पर वर्तमान अवस्था में यह सम्भव नहीं। जिन भी चीजों के प्रति मानव-मन आसक्त है उन सबको इसे अन्दर से त्याग देना होगा, ताकि यह उस तत्त्व को प्राप्त कर सके जो कि वे अपने सत्य स्वरूप में हैं। बाह्य त्याग मुख्य वस्तु नहीं है, पर वह भी कुछ समय के लिये आवश्यक होता है, अनेक विषयों में तो अनिवार्य भी होता है और कभी-कभी तो सभी विषयों में उपयोगी होता है; हम यहांतक कह सकते हैं कि पूर्ण बाह्य त्याग एक ऐसी अवस्था है जिसमें से आत्मा को अपनी उन्नति के किसी काल में अवश्य गुजरना पड़ता है,—यद्यपि यह त्याग सदा ही उन स्वच्छन्द जोर-जबर्दस्तियों तथा भीषण आत्म-यन्त्रणाओं के बिना ही करना चाहिये जो हमारे अन्दर विराजमान भगवान् के प्रति अपराधरूप होती हैं। परन्तु अन्ततः यह त्याग या

स्वार्थत्याग सदा एक साधन ही होता है और इसकी उपयोगिताका काल आकर चला जाता है। किसी पदार्थ का परित्याग करना उस समय आवश्यक ही नहीं रह जाता जब कि वह हमें अपने जाल में अब और नहीं फंसा सकता, क्योंकि आत्मा जिसका आनन्द लेती है वह पदार्थ के रूप में पदार्थ नहीं होता, बल्कि उसके द्वारा व्यक्त होनेवाला भगवान् ही होता है; सुख-भोग के वर्जन की तब और आवश्यकता नहीं रहती जब कि आत्मा पहले की तरह सुख की खोज नहीं करती, बल्कि स्वयं पदार्थ पर व्यक्तिगत या भौतिक स्वत्व प्राप्त करने की आवश्यकता के बिना सभी पदार्थों में भगवान् का आनन्द समान रूप से प्राप्त कर लेती है; आत्म-त्याग का कोई क्षेत्र ही नहीं रह जाता जब कि आत्मा पहले की तरह किसी चीज की मांग नहीं करती, बल्कि भूतमात्र में विद्यमान एक ही आत्मा के संकल्प का सचेतन रूप से अनुसरण करती है। तभी हम नियम के बंधन से मुक्त होकर आत्मा का स्वातंत्र्य प्राप्त करते हैं।

हमें केवल उस चीज को ही मार्ग पर अपने पीछे छोड़ देने के लिये तैयार नहीं रहना होगा जिसे हम अशुभ मानकर उसकी निन्दा करते हैं, बल्कि उस चीज को भी, जो हमें शुभ प्रतीत होती है, किन्तु फिर भी जो एकमात्र शुभ वस्तु नहीं है, छोड़ देने के लिये तैयार रहना होगा। इस मार्ग में ऐसी कई चीजें हैं जो लाभदायक तथा सहायक होती हैं, जो शायद किसी समय एकमात्र काम्य वस्तु प्रतीत होती हैं, और फिर भी एक बार उनका कार्य पूरा हो जाने पर, एक बार उनके प्राप्त हो जाने पर जब हमें उनसे आगे बढ़ने के लिये पुकार आती है तो वे बाधक वस्तुएं और यहांतक कि विरोधी शक्तियां बन जाती हैं। आत्मा की कुछ ऐसी स्पृहणीय भूमिकाएं हैं जिनमें, उनपर प्रभुत्व पा लेने के बाद, टिके रहना खतरनाक होता है, क्योंकि तब हम इनसे परे स्थित परमेश्वर के विशालतर साम्राज्यों की ओर प्रगति नहीं करते। किन्हीं भी दैवी साक्षात्कारों के साथ हमें चिपटे नहीं रहना होगा यदि वे वह भागवत साक्षात्कार न हों जो चरम रूप से तात्त्विक एवं समग्र होता है। 'सर्व'मय भगवान् से कम तथा चरम परात्पर से नीचे की किसी भी वस्तु पर हमें नहीं रुकना होगा और यदि हमारी आत्मा इस प्रकार मुक्त हो सके तो भगवान् की कार्यलीला का समस्त चमत्कार हमें ज्ञात हो जायेगा; हमें पता लग जायेगा कि अन्दर से हर एक चीज का त्याग करने में हमने कुछ भी खोया नहीं। "इस सबका त्याग करके तू 'सर्व' का उपभोग कर"।[1] कारण, वहां प्रत्येक वस्तु हमारे लिये सुरक्षित रखी हुई है और हमें पुनः प्रदान भी की जाती है, पर तब उसमें अद्‌भुत परिवर्तन एवं रूपान्तर आ जाता है,—वह उस सर्वमंगलमय तथा सर्व-सुन्दर में, भगवान् की पूर्ण-ज्योति एवं पूर्ण-आनन्द में रूपान्तरित हो जाती है जो नित्य शुद्ध और अनन्त है, उस रहस्य एवं चमत्कार में परिणत हो जाती है जो युग-युगान्तरों से अविरत चला आ रहा है।

[1] तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः—ईशोपनिषद्, १।

अध्याय ६

ज्ञानयोग की साधन-पद्धतियों का समन्वय

पिछले अध्याय में हम ने त्याग का निरूपण अत्यन्त व्यापक दृष्टि से किया है, जैसे कि उससे पहले हमने एकाग्रता के सभी सम्भव रूपों की चर्चा की थी; अतएव, जो कुछ कहा गया है वह ज्ञानमार्ग की भांति कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग पर भी समान रूप से लागू होता है, क्योंकि तीनों ही मार्गों में एकाग्रता और त्याग की आवश्यकता होती है, हां, जिस रीति और भावना से वहां उनका प्रयोग किया जाता है वे भले ही भिन्न-भिन्न हों। परन्तु अब हमें, अधिक विशिष्ट रूप में, ज्ञानमार्ग के असली सोपानों का वर्णन करना होगा, इस मार्ग पर बढ़ने के लिये हमें एकाग्रता और त्याग की दोहरी शक्ति की सहायता लेनी होगी। क्रियात्मक रूप में, इस मार्ग का मतलब है—सत्ता की उस महान् सीढ़ी पर फिर से ऊपर की ओर चढ़ना जिसपर से अन्तरात्मा स्थूल भौतिक जीवन में उतरी है।

ज्ञान का प्रधान लक्ष्य है आत्मा को, अपनी सच्ची आत्म-सत्ता को फिर से प्राप्त करना, और यह लक्ष्य इस सिद्धान्त को मानकर चलता है कि हमारी सत्ता की वर्तमान अवस्था हमारी सच्ची सत्ता नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि हमने उन तीखे समाधानों को त्याग दिया है जो विश्व की पहेली की गांठ ही काट डालते हैं; हम ऐसा नहीं मानते कि यह विश्व भौतिक प्रतीतियों की एक काल्पनिक सत्ता है जिसे शक्ति (Force) ने उत्पन्न किया है, या कि यह एक ऐसी मिथ्या माया है जिसे 'मन' ने निर्मित किया है, या कि यह संवेदनों एवं विचारों तथा इनके परिणामों का एक ऐसा गड्डर है जिसके पीछे एक महत् रिक्तता या महान् आनन्दपूर्ण शून्य है और उस रिक्तता या शून्य को अपनी सनातन असत्ता का सच्चा सत्य मानते हुए हमें उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये। हम तो यह मानते हैं कि आत्मा एक वास्तविक सत्ता है और विश्व उस आत्मा का एक सत्य, केवल जड़ शक्ति और जड़ रचना का नहीं, बल्कि उस आत्मा की चेतना का सत्य है, किन्तु इसी कारण यह उससे कम नहीं वरञ्च उससे भी अधिक सत्य है। पर यद्यपि विश्व एक वास्तविक तथ्य है, कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, भागवत और वैश्व सत्ता का एक सत्य है, वैयक्तिक सत्ता की कल्पना नहीं, फिर भी हमारे ऐहिक जीवन की अवस्था अज्ञान की अवस्था है, हमारी सत्ता का वास्तविक सत्य नहीं। अपनी सत्ता के विषय में हम एक मिथ्या परिकल्पना करते हैं, हम अपनेको एक ऐसे रूप में देखते हैं जैसे हम असल में नहीं हैं; अपने चारों ओर की वस्तुओं के साथ हमारा जो सम्बन्ध है वह मिथ्या ढंग का है, क्योंकि हम विश्व का और अपना वह स्वरूप नहीं जानते जो कि वास्तव में इनका है, बल्कि हम इन्हें एक अपूर्ण दृष्टिबिंदु के द्वारा ही

देखते हैं। वह दृष्टिबिंदु एक क्षणिक मिथ्या-कल्पना पर आधारित है जिसे आत्मा और प्रकृति ने विकासोन्मुख अहं की सुविधा के लिये अपने बीच में प्रतिष्ठित किया है। और, यह मिथ्यापन ही उस व्यापक विकृति, अव्यवस्था और दुःख-कष्ट का मूल है जो हमारे आभ्यन्तरिक जीवन को और अपनी परिस्थिति के साथ हमारे सम्बन्ध को पग-पग पर घेरे रहते हैं। हमारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन, अपने साथ और अपने साथियों के साथ हमारा व्यवहार मिथ्यात्व पर आधारित है, इसलिये इनके स्वीकृत सिद्धान्त और पद्धतियां भी मिथ्या हैं, यद्यपि इस सब भ्रान्ति में से एक विकसनशील सत्य अपने को प्रकट करने के लिये अनवरत यत्न करता रहता है। अतएव, मनुष्य के लिये 'ज्ञान' परम महत्त्वपूर्ण वस्तु है, वह ज्ञान नहीं जिसे जीवन का व्यावहारिक ज्ञान कहते हैं, बल्कि आत्मा और प्रकृति का गहरे-से-गहरा ज्ञान'। इस ज्ञान के ऊपर ही जीवन के सच्चे व्यवहार की नींव रखी जा सकती है।

उक्त भ्रान्ति का कारण यह है कि हम अपने शरीर आदि के साथ मिथ्या तदात्मता स्थापित कर लेते हैं। प्रकृति ने अपनी स्थूल-भौतिक एकता के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् दीखनेवाले शरीरों को उत्पन्न किया है। जड़ प्रकृति में व्यक्त हुआ आत्मा उन शरीरों को आवेष्टित करता है तथा उनमें निवास करता है, उन्हें धारण तथा प्रयुक्त करता है; वह अपने-आपको भूलकर जड़तत्त्व की इस एक गांठ को ही अनुभव करता है और कहता है, "यह शरीर ही मैं हूं।" वह अपने-आपको शरीर समझता है, शरीर के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है, शरीर के साथ ही जन्म लेता और उसके साथ ही नष्ट हो जाता है; अथवा कम-से-कम वह अपनी सत्ता को इसी रूप में देखता है। और फिर, प्रकृति ने अपनी विराट्-प्राणसम्बन्धी एकता के अन्तर्गत प्राण की पृथक्-पृथक् दीखनेवाली धाराओं का सृजन किया है जो प्रत्येक शरीर के अन्दर तथा उसके चारों ओर जीवन-शक्ति के एक आवर्त के रूप में प्रवाहित होती रहती हैं, और प्राणिक प्रकृति में प्रकट हुआ आत्मा उस धारा को पकड़ लेता है और उसकी पकड़ में आ जाता है, प्राण के उस घूमते हुए छोटे-से भँवर में कुछ समय के लिये कैद हो जाता है। आत्मा, अपने-आपको और भी अधिक भूलकर, कहता है, "मैं यह प्राण हूं"; वह अपने-आपको प्राण समझता है, उसकी लालसाओं या कामनाओं को अपनी लालसाएं या कामनाएं समझता है, उसीके सुखों में लोट लगाता है, उसके घावों से घायल हो जाता है, उसकी गतियों के साथ-साथ बेतहाशा दौड़ता है या फिर ठोकर खाकर गिर पड़ता है। यदि वह अभीतक मुख्य रूप से देह-बुद्धि के द्वारा ही शासित हो तो वह उस आवर्त की सत्ता के साथ अपनी सत्ता को एकाकार कर लेता है और सोचता है कि "जिस शरीर के चारों ओर इस आवर्त ने अपनी रचना कर रखी है

' आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान।

उसके विनाश से जब यह छिन्न-भिन्न हो जायेगा तब 'मैं' भी नहीं रहूंगा।" यदि वह प्राण की उस धारा को अनुभव करने में समर्थ हो जिसने इस आवर्त का निर्माण किया है तो वह अपने-आपको वही धारा समझने लगता है और कहता है, "मैं जीवन का यही प्रवाह हूं; मैंने यह शरीर धारण किया है, मैं इसे छोड़कर दूसरे शरीर धारण करूंगा; मैं अमर प्राण हूं जो सतत पुनर्जन्म के चक्र में घूमता रहता है।"

और फिर, प्रकृति ने अपनी मानसिक एकता के अन्तर्गत, विराट् मन में, मानों मनः-शक्ति के पृथक्-पृथक् दीखनेवाले विद्युज्जनक यंत्र (dynamos) निर्मित किये हैं। ये यंत्र मानसिक शक्ति और मानसिक क्रियाओं के उत्पादन, वितरण और पुनः-संचय के लिये स्थिर-केंद्रों की तरह काम करते हैं, मानो ये मानसिक तार-प्रेषण (telegraphy) की व्यवस्था में स्टेशनों का काम करते हैं जहां संदेश सोचे एवं लिखे जाते हैं तथा भेजे, पाये और बांचे जाते हैं, और ये संदेश तथा ये क्रियाएं अनेक प्रकार की होती हैं,—संवेदनात्मक, भावमय, बोधात्मक, प्रत्ययात्मक तथा बोधिमय। मनोमय प्रकृति में प्रकट हुआ आत्मा इन सबको स्वीकार करता है, जगत् के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को निश्चित करने के लिये इनका प्रयोग करता है और उसे लगता है कि वह इनके आघातों को बाहर भेजता है और स्वयं ग्रहण भी करता है, इनके परिणामों को भोगता है या फिर उनपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। प्रकृति इन मनरूपी विद्युत्-यंत्रों का आधार अपने बनाये जड़ शरीरों में स्थापित करती है, इन शरीरों को अपने स्टेशनों की आधार-भूमि बनाती है और प्राण-धाराओं की गति से परिपूर्ण नाड़ी-संस्थान के द्वारा मन और शरीर के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। इस प्राणमय नाड़ी-संस्थान के द्वारा मन प्रकृति के स्थूल भौतिक जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है और साथ ही, जहांतक वह चाहे वहांतक, प्राणिक जगत् का भी ज्ञान लाभ कर सकता है। अन्यथा मन सर्वप्रथम और प्रधान रूप में मनोमय जगत् से ही सचेतन होगा और भौतिक जगत् की झांकी केवल परोक्ष रूप में ही प्राप्त करेगा। वर्तमान वस्तुस्थिति में इसका ध्यान शरीर और भौतिक जगत् पर ही जमा हुआ है जिनके अन्दर यह प्रतिष्ठित है; शेष सारी सत्ता को यह केवल धुंधले, परोक्ष या अवचेतन रूप में, अपनी चेतना के उस विशाल अवशेष के अन्दर ही जानता है जिसे इसकी ऊपरी चेतना प्रत्युत्तर नहीं देती और जिसे वह भूल चुकी है।

आत्मा इस मनरूपी डायनेमो (dynamo) या स्टेशन के साथ अपने-आपको एकाकार कर लेता है और कहता है, "मैं यह मन ही हूं।" और, क्योंकि मन शारीरिक जीवन में डूबा रहता है, वह (आत्मा) सोचता है, "मैं एक सजीव शरीर में रहनेवाला मन हूं" अथवा, और भी अधिक प्रचलित रूप में वह यों सोचता है कि "मैं एक शरीर हूं जो जीवन धारण करता और सोचता है।" वह देहबद्ध मन के विचारों, भावों और संवेदनों के साथ अपने-आपको तदाकार कर लेता है और

सोचता है कि जब शरीर का नाश होगा तब इस सबका भी नाश हो जायेगा, इसलिये तब स्वयं मेरा अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा। अथवा यदि वह अपने मनोमय व्यक्तित्व के सतत प्रवाह को अनुभव कर लेता है तो वह समझता है कि मैं एक मनोमय पुरुष हूं जो एक बार या बारंबार शरीर धारण करता है और पार्थिव जीवन के समाप्त होने पर इससे परे के मनोमय लोकों में लौट जाता है; इस प्रकार कभी तो शरीर में और कभी प्रकृति के मानसिक या प्राणिक स्तर पर मानसिक रूप से सुख-दुःख का भोग करनेवाले इस मनोमय पुरुष के सतत स्थायित्व को ही वह अपनी अमर सत्ता कहता है या फिर, क्योंकि मन, वह चाहे कितना ही अपूर्ण क्यों न हो, प्रकाश और ज्ञान का ही करण है और अपने से परे की सत्ता की कुछ कल्पना कर सकता है, वह उस परे की सत्ता में, किसी शून्य या किसी सनातन सत्ता में, मनोमय पुरुष के लय की सम्भावना देखता है और कहता है, "वहां मेरा, मनोमय पुरुष का, अस्तित्व समाप्त हो जाता है।" देहबद्ध मन और प्राण की इस वर्तमान क्रीड़ा के प्रति अपनी आसक्ति या घृणा की मात्रा के अनुसार वह ऐसे लय से डरता है या इसकी कामना करता है, इसे अस्वीकार कर देता है या स्वीकार कर लेता है।

सुतरां, यह सब सत्य और असत्य का मिश्रण है। यह सत्य है कि 'मन', 'प्राण' और 'जड़तत्त्व' प्रकृति में अस्तित्व रखते हैं और यह भी सत्य है कि मन, प्राण और शरीर उसमें व्यक्तिभाव धारण करते हैं, परन्तु आत्मा इन चीजों के साथ जो तादात्म्य स्थापित कर लेता है वह मिथ्या है। मन, प्राण और जड़तत्त्व भी हमारी सत्ता का स्वरूप हैं तो सही, पर केवल इस अर्थ में कि वे सत्ता के ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें हमारी सच्ची आत्मा ने अपनी एकमेव सत्ता को सृष्टि के रूप में प्रकट करने के लिये पुरुष और प्रकृति के मिलन तथा इनकी परस्पर-क्रिया के द्वारा विकसित किया है। व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर इन तत्त्वों की एक लीलामात्र हैं। यह लीला यहां आत्मा और प्रकृति के पारस्परिक आदान-प्रदान में 'एकं सत्' के बहुत्व को प्रकट करने के साधन के रूप में प्रस्थापित की गयी है; वह 'एकं सत्' अपने बहुत्व को नित्य ही प्रकट कर सकता है तथा अपनी एकता के अन्दर वह इसे नित्य ही प्रच्छन्न रूप में धारण किये रहता है। व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर उस हदतक हमारी अपनी सत्ता के ही रूप हैं जहांतक हम उस 'एक' के बहुत्व के केंद्र हैं; विराट् मन, प्राण और शरीर भी हमारी अपनी आत्मा के रूप हैं, क्योंकि अपनी मूल सत्ता में हम वही 'एक' हैं। परन्तु आत्मा विराट् या व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर से अधिक कुछ है और जब हम इन चीजों के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपने-आपको सीमा में बांध लेते हैं तो हम अपने ज्ञान को एक असत्य पर आधारित करते हैं, हम अपनी निज सत्ता के ही नहीं, बल्कि वैश्व सत्ता तथा व्यक्तिगत कार्य-प्रवृत्तियों के निर्धारक विचार एवं व्यावहारिक अनुभव को भी एक मिथ्या रूप दे देते हैं।

आत्मा चरम सनातन पुरुष एवं विशुद्ध सत्ता है और ये सब चीजें उसकी अभिव्यक्तियां हैं। हमें इसी ज्ञान को लेकर आगे बढ़ना होगा; इस ज्ञान का साक्षात्कार करके इसे व्यक्ति के आन्तर और बाह्य जीवन का आधार बनाना होगा। ज्ञानयोग ने इस प्राथमिक सत्य से आरम्भ करके साधना की दो प्रकार की—भावात्मक और अभावात्मक—विधियों की परिकल्पना की है। उन विधियों के द्वारा हम इन मिथ्या तादात्म्यों से छुटकारा पा सकते हैं और इनसे पीछे हटकर सच्चा आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अभावात्मक विधि यह है कि "मैं शरीर हूं" इस मिथ्या विचार का विरोध करने तथा इसे जड़मूल से निकाल फेंकने के लिये हम सदैव यह कहें कि "मैं शरीर नहीं हूं", और फिर इस ज्ञान पर अपने-आपको एकाग्र करें तथा भौतिक सत्ता के प्रति आत्मा की आसक्ति को त्याग कर देहबुद्धि से मुक्त हो जायें। इसके आगे हम यह कहते हैं कि "मैं प्राण नहीं हूं" और इस ज्ञान पर अपने-आपको एकाग्र करके तथा प्राण की चेष्टाओं और कामनाओं के प्रति आसक्ति का त्याग करके हम प्राण-बुद्धि से छुटकारा पा लेते हैं। अन्त में हम यह कहते हैं कि "मैं मन नहीं हूं, गति, इन्द्रिय और विचार नहीं हूं" और इस ज्ञान पर अपने-आपको एकाग्र करके तथा मानसिक क्रियाओं का त्याग करके हम मन को आत्मा समझने के भ्रम से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार जिन चीजों के साथ हमने तादात्म्य स्थापित कर रखा था उनके तथा अपने बीच जब हम निरन्तर एक खाई पैदा करते जाते हैं तो उनके आवरण हमारे आगे से उत्तरोत्तर हटते जाते हैं और आत्मा हमारे अनुभव के प्रति प्रत्यक्ष होने लगता है। उस आत्मा के बारे में तब हम कहते हैं, "मैं 'वह' हूं, शुद्ध, सनातन, आनन्दस्वरूप" और अपने विचार तथा अपनी सत्ता को इस ज्ञान पर एकाग्र करके हम 'वही' बन जाते हैं और अन्त में व्यक्तिगत सत्ता तथा विश्व का त्याग करने में समर्थ हो जाते हैं। दूसरी विधि भावात्मक है और वह वस्तुतः राजयोग से सम्बन्ध रखती है। वह यह है कि हम अन्य सब विचारों का निरोध करके केवल ब्रह्म के विचार पर एकाग्रता करें, जिससे कि यह मनरूपी डायनेमो हमारी बाह्य या वैविध्यपूर्ण आन्तर सत्ता पर क्रिया करना बिलकुल बन्द कर दे; मन के निश्चल हो जाने से प्राण और शरीर की लीला भी एक नित्य समाधि में, सत्ता की किसी अवर्णनीय गभीरतम समाधि की अवस्था में, शान्त हो जायेगी और वहां हम निरपेक्ष सत् में प्रविष्ट हो जायेंगे।

स्पष्ट ही यह साधना एक स्व-केंद्रित तथा अन्य-वर्जक आन्तर क्रिया है जो विचार में जगत् से इन्कार करके तथा अन्तर्दर्शन में इसके प्रति आत्मा के नेत्र बन्द करके इससे छुटकारा पा लेती है। परन्तु यह विश्व तो परमेश्वर में एक सत्य के रूप में विद्यमान है ही, भले किसी व्यष्टि आत्मा ने इसके प्रति अपनी आंखें बन्द कर रखी हों, और परम आत्मा इस विश्व में मिथ्या रूप में नहीं, बल्कि वास्तविक रूप में विद्यमान है, वह उन चीजों को धारण कर रहा है जिन्हें हम त्याग चुके हैं, सभी

चीजों में सचमुच ही अन्तर्यामी की तरह व्याप्त है, वैश्व सत्ता में व्यक्ति को वस्तुतः ही समाये हुए है और विश्व को उस सत्ता में समाये हुए है जो इससे अतीत और परात्पर है। अपने आन्तर ध्यान की समाधि से बाहर आने पर हमें हर बार ही जो यह अटल विश्व चारों ओर से घेरे हुए दिखायी देता है, इसमें व्याप्त इस सनातन आत्मा का हमें क्या करना होगा? जो आत्मा बहिर्मुख भाव में विश्व पर दृष्टिपात करती है उसके लिये निवृत्तिप्रधान ज्ञानमार्ग ने एक समाधान एवं साधनमार्ग प्रतिपादित किया है। वह यह है कि उसे अन्तर्यामी, सर्वतोव्यापी और सर्वनिर्मायक आत्मा को एक ऐसे आकाश के रूप में देखना चाहिये जिसमें सब रूप विद्यमान हैं, जो सब रूपों में व्याप्त है और सब पदार्थों का उपादान कारण है। उस आकाश में विराट् प्राण और मन वस्तुओं के 'श्वास' के रूप में, आकाशगत वायवीय समुद्र के रूप में, विचरण करते हैं और उससे इन सब दृश्य पदार्थों का निर्माण करते हैं; परन्तु जिन चीजों का वे निर्माण करते हैं वे नाम और रूपमात्र हैं, वास्तविक वस्तुएं नहीं; उदाहरणार्थ, एक घड़े का जो रूप हम देखते हैं वह केवल मिट्टी (पृथ्वी) का ही एक रूप है और वह पीछे मिट्टी (पृथ्वी) में ही मिल जाता है, इसी प्रकार पृथ्वी भी एक रूप है जो विराट् प्राण में लय को प्राप्त हो सकता है, विराट् प्राण एक ऐसी गति है जो उस शान्त निर्विकार आकाश में लय को प्राप्त होकर शान्त हो जाती है। इस ज्ञान पर एकाग्रता करने से, समस्त दृश्विषयों एवं बाह्य रूपों का त्याग करने से हमें यह दिखायी देने लगता है कि यह सारा जगत् उस आकाश-ब्रह्म में नामरूपात्मक भ्रममात्र है; यह हमारे निकट एक अवास्तविक वस्तु बन जाता है; और जगत् के अवास्तविक बन जाने पर उसके अन्दर आत्मा की अन्तर्यामिता भी अवास्तविक बन जाती है और तब रह जाता है केवल आत्मा जिसपर हमारे मन ने जगत् के नाम-रूप का मिथ्या ही आरोप कर रखा है। इस प्रकार हमारा निरपेक्ष ब्रह्म में व्यक्तिगत सत्ता का लय करना उचित ठहरता है।

फिर भी, आत्मा तो अपनी अन्तर्यामिता के अविनाशी स्वरूप में, अपनी दैवी सर्वतोव्यापकता के अक्षर स्वरूप में, प्रत्येक वस्तु और सभी वस्तुएं बनने की अपनी अपरंपार माया के रूप में अपनी लीला निरन्तर किये ही जा रहा है; ऐसा लगता है कि हमारे उस वंचक का पता लगा लेने से तथा इस जगत् का त्याग कर देने से आत्मा या जगत् पर तिलभर भी असर नहीं पड़ता। तब क्या हमें इस बात का भी ज्ञान नहीं प्राप्त करना होगा कि वह कौन-सी वस्तु है जो इस प्रकार हमारे अंगीकार एवं परित्याग से ऊपर रहती हुई अटल बनी रहती है और जो इतनी महान्, इतनी अनाद्यनन्त है कि उसपर इसका कुछ असर ही नहीं पड़ता? अवश्य ही, यहां भी कोई अजेय सद्वस्तु कार्य कर रही है और समग्र 'ज्ञान' की यह मांग है कि हम उसका साक्षात्कार एवं अनुभव करें; नहीं तो यह सिद्ध हो सकता है कि हमारा अपना ज्ञान ही माया एवं मायावी था न कि विश्वगत परमेश्वर। अतएव, हमें अभी

और एकाग्रता करनी होगी और इस वस्तु को भी देखना तथा अनुभव करना होगा जो इतने प्रभुत्वपूर्ण रूप में अटल बनी रहती है और यह जानना होगा कि आत्मा उस परम पुरुष से भिन्न कुछ नहीं जो प्रकृति का स्वामी है, विश्व का धर्ता है जिसकी अनुमति से यह विश्व आगे बढ़ रहा है, जिसका संकल्प इसके अनन्तविध कार्यों को प्रबल रूप से प्रेरित करता है तथा इसके शाश्वत गति-चक्रों का निर्धारण करता है। और, अभी एक बार फिर हमें एकाग्रता करनी होगी तथा साक्षात्कार और अनुभव प्राप्त करना होगा और यह जानना होगा कि आत्मा 'एकं सत्' है जो सबका आत्मा और सबकी प्रकृति दोनों हैं, एक ही साथ पुरुष और प्रकृति दोनों है और अतएव वस्तुओं के इन सब रूपों में अपने-आपको प्रकट कर सकता है तथा ये सब रूप-रचनाएं बन भी सकता है। नहीं तो यह समझना चाहिये कि जिस वस्तु को आत्मा बहिष्कृत नहीं करता उसे हमने अपने ज्ञान से बहिष्कृत कर दिया है और अपने ज्ञान में एक मनमाना चुनाव किया है।

प्राचीन निवृत्तिप्रधान ज्ञानमार्ग वस्तुओं की एकता को और 'एकं सत्' के इन सब रूपों पर एकाग्रता करने के सिद्धान्त को स्वीकार करता था, परन्तु वह इनमें एक प्रकार का विभेद करता था तथा एक क्रमपरम्परा की स्थापना करता था। जो आत्मा वस्तुओं के ये सभी रूप धारण करता है वह विराट् या वैश्व पुरुष कहलाता है; जो आत्मा इन सब रूपों का निर्माण करता है वह हिरण्यगर्भ अर्थात् ज्योतिर्मय या ज्ञानपूर्वक सर्जन करनेवाला पुरुष कहलाता है; जो आत्मा इन सब पदार्थों को अपने अन्दर आवृत रूप में धारण करता है वह प्राज्ञ अर्थात् सचेतन कारण या मूल निर्धारक पुरुष कहलाता है; इन सबके परे है निरपेक्ष ब्रह्म जो इस सब अवास्तविक प्रपंच को अनुमति देता है, पर इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। हमें इस जगत् से पीछे हटकर उस निरपेक्ष ब्रह्म में अपनी चेतना का लय कर देना होगा और फिर इसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना होगा, क्योंकि 'ज्ञान' का मतलब है अन्तिम 'ज्ञान', और अतएव लघुतर उपलब्धियां हम से दूर हो जानी चाहियें। पर स्पष्ट ही, हमारे दृष्टिकोण से, ये मन के किये हुए व्यावहारिक भेद हैं। ये कुछ उद्देश्यों के लिये तो उपयोगी हैं, पर इनका अन्तिम मूल्य कुछ भी नहीं है। जगद्विषयक हमारा दृष्टिकोण एकता पर आग्रह करता है; विराट् आत्मा ज्ञानपूर्वक सर्जन करनेवाले आत्मा (हिरण्यगर्भ) से भिन्न नहीं है, न ज्ञानपूर्वक सर्जन करनेवाला कारण-रूप आत्मा (प्राज्ञ) से भिन्न है, और न ही कारण-रूप आत्मा (प्राज्ञ) निरपेक्ष ब्रह्म से, बल्कि यह एक ही "सत् आत्मा है जो सर्वभूतों के रूप में विलसित हो रहा है"[1] और यह आत्मा उस परमेश्वर से भिन्न नहीं है जो इन सब व्यष्टि-सत्ताओं के रूप में अपने-आपको प्रकट करता है और न वह परमेश्वर ही उस 'एकं सत्'-रूप ब्रह्म से भिन्न है जो सचमुच ही यह सब कुछ

[1] सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्।

है जिसे हम देख सकते हैं, इन्द्रिय, प्राण या मन के द्वारा अनुभव कर सकते हैं। उस आत्मा, परमेश्वर, ब्रह्म को हमें जानना चाहिये जिससे कि हम उसके साथ तथा उसके द्वारा प्रकट की जानेवाली सभी वस्तुओं के साथ अपनी एकता अनुभव कर सकें और फिर उस एकता में हमें निवास भी करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान से हमारी मांग यह है कि उसे एकता साधित करनी चाहिये; जो ज्ञान विभाजित करता है वह सदा ही अधूरा ज्ञान होता है जो कुछ व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये ही हितकर होता है; पर 'असली' ज्ञान तो वह है जो एकता लाता है।

अतएव, हमारा पूर्णयोग इन विविध साधनाओं और एकाग्रता के प्रकारों को अपनायेगा तो सही, पर वह इन्हें एक-दूसरे के साथ समस्वर करेगा और यदि हो सके तो इन्हें एक ऐसे समन्वय के द्वारा घुला-मिलाकर एक कर देगा जो इनकी एक-दूसरे का वर्जन करने की वृत्ति को दूर कर देगा। पूर्ण ज्ञान का अन्वेषक परमेश्वर और सर्वमय विराट् का साक्षात्कार केवल इसलिये नहीं करेगा कि नीरव आत्मा या अज्ञेय ब्रह्म की प्राप्ति के लिये इनका परित्याग कर दे जैसा कि एकमात्र परात्पर की खोज करनेवाला योग करता है, न ही वह केवल परमेश्वर के लिये या केवल विराट्-रूप सर्व में जीवन धारण करेगा, जैसा कि अनन्य रूप से ईश्वरवादी या अनन्य रूप से सर्वेश्वरवादी योग करता है। पूर्णज्ञान का साधक अपने विचार और व्यवहार में किंवा अपने अनुभव एवं साक्षात्कार में किसी भी धार्मिक मत या दार्शनिक सिद्धान्त से नहीं बंधा रहेगा। वह तो सत्ता के सर्वांगपूर्ण सत्य की खोज करेगा। प्राचीन साधनाओं का वह परित्याग नहीं करेगा, क्योंकि वे सनातन सत्यों पर प्रतिष्ठित हैं, पर अवश्य ही, वह उन्हें अपने लक्ष्य के अनुरूप नयी दिशा में मोड़ देगा।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञानमार्ग में हमारा प्रधान लक्ष्य दूसरों में विद्यमान परम आत्मा का अथवा प्रकृति के स्वामी या सर्वमय विराट् के रूप में विद्यमान उसी आत्मा का साक्षात्कार करने की अपेक्षा कहीं अधिक अपने ही अन्दर अपने उसी परम आत्मा का साक्षात्कार करना होना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति को जिस चीज की सर्वाधिक अनिवार्य आवश्यकता है वह यही है,—अपनी सत्ता के उच्चतम सत्य को प्राप्त करना, इसकी अव्यवस्थाओं एवं अस्तव्यस्तताओं को तथा इसके मिथ्या तादात्म्यों को ठीक करना, इसकी यथायथ एकाग्रता एवं पवित्रता की अवस्थातक पहुंचना और इसके मूल उद्गम को जानना तथा उस ओर आरोहण करना। परन्तु यह कार्य हम इसके उद्गम में लय प्राप्त करने के लिये नहीं करते, वरन् इसलिये करते हैं कि हमारी सम्पूर्ण सत्ता और इस आन्तर राज्य के सभी अंग अपना यथार्थ आधार प्राप्त कर लें, हमारे उच्चतम आत्मा में निवास करें, केवल हमारे उच्चतम आत्मा के लिये ही जीवन धारण करें और उस विधान के सिवाय अन्य किसी विधान का पालन न करें जो हमारे उच्चतम आत्मा से उद्भूत होता है

तथा संचारक मन में किसी प्रकार का मिथ्या रूप धारण किये बिना ही हमारी विशुद्ध सत्ता को प्राप्त होता है। और, यदि हम यह कार्य ठीक प्रकार से करें तो हमें पता चलेगा कि इस परम आत्मा को ढूंढ़कर हमने सबमें विद्यमान एक आत्मा को भी ढूंढ़ लिया है, अपनी प्रकृति के तथा समस्त प्रकृति के एकमेव प्रभु को, अपने सर्वमय आत्मा एवं विश्व के सर्वमय आत्मा को भी प्राप्त कर लिया है। कारण, इस आत्मा को जिसे हम अपने अन्दर देखते हैं, अवश्य ही सभी जगह देखेंगे, क्योंकि यही उसकी एकता का सत्य है। अपनी सत्ता के सत्य को खोजकर उसका ठीक प्रकार प्रयोग करने से अवश्य ही हमारी व्यक्तिगत सत्ता और विश्व के बीच का पर्दा बलात् फट जायेगा और फिर बिल्कुल ही हट जायेगा और जिस सत्य को हम अपनी सत्ता के अन्दर अनुभव करते हैं वह विश्व-सत्ता में भी जो तब हमारी ही सत्ता होगी, हमें अपना अनुभव कराके ही रहेगा। अपने अन्दर वेदान्त के "**सोऽहम्**" (मैं वह हूं) का साक्षात्कार करके हम अपने चारों ओर दृष्टि डालने पर सभीमें इसी ज्ञान के दूसरे पक्ष, "**तत्त्वमसि**" (तू वह है) को अनुभव किये बिना नहीं रह सकते। हमें देखना केवल यह है कि क्रियात्मक रूप में इस साधना का अनुशीलन किस प्रकार करना चाहिये जिससे कि हम यह महान् एकात्मता सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकें।

अध्याय ७

देह की दासता से मुक्ति

अपनी बुद्धि में जब हम एक बार निर्णय कर लेते हैं कि जो कुछ दिखायी देता है वह सत्य नहीं है, आत्मा शरीर या प्राण या मन नहीं है, क्योंकि ये उसके रूपमात्र हैं, तब इस ज्ञानमार्ग में हमारा पहला कदम यह होना चाहिये कि हम प्राण और देह के साथ अपने मन के व्यावहारिक सम्बन्ध को ठीक करें, ताकि मन आत्मा के साथ अपने यथार्थ सम्बन्ध को प्राप्त कर सके। यह कार्य एक उपाय के द्वारा सर्वाधिक सुगमता के साथ किया जा सकता है और उससे हम पहले से ही परिचित हैं, क्योंकि कर्मयोग-विषयक हमारे दृष्टिकोण में उसने बड़ा भाग लिया था, वह है प्रकृति और पुरुष को एक-दूसरे से पृथक् कर लेना। ज्ञाता और ईश्वर-रूप पुरुष अपनी कार्यवाहक सचेतन शक्ति की क्रियाओं में आच्छादित हो गया है। परिणामतः शक्ति की इस स्थूल क्रिया को ही जिसे हम शरीर कहते हैं, वह भूल से अपनी सत्ता समझता है; वह भूल जाता है कि ज्ञाता और ईश्वर-रूप आत्मा ही मेरा निज स्वरूप है। वह समझता है कि मेरा मन और आत्मा शरीर के नियम और क्रिया-कलाप के अधीन हैं। वह भूल जाता है कि इनके अतिरिक्त वह और भी वह बहुत कुछ है जो कि भौतिक रूप की अपेक्षा अधिक महान् है। वह भूल जाता है कि मन, वस्तुतः ही, जड़तत्त्व से अधिक महान् है और इसे उसकी तामस-वृत्तियों एवं प्रतिक्रियाओं का तथा उसके जड़ता एवं अक्षमता के अभ्यास का दास नहीं बनना चाहिये। वह भूल जाता है कि वह मन से भी अधिक कुछ है, वह एक ऐसी शक्ति है जो कि मानसिक सत्ता को उसके अपने स्तर से ऊपर उठा ले जा सकती है। वह भूल जाता है कि वह स्वामी और परात्पर है और यह उचित नहीं कि स्वामी अपनी ही क्रियाओं का दास बन जाय तथा परात्पर एक ऐसे रूप में कैद हो जाये जो उसकी अपनी सत्ता में एक क्षुद्र वस्तु के रूप में ही अस्तित्व रखता है। इस सब विस्मृति का प्रतिकार पुरुष को अपने सच्चे स्वरूप का स्मरण करके ही करना होगा और इसके लिये सबसे पहले तो उसे यही स्मरण करना होगा कि शरीर प्रकृति की एक क्रियामात्र है और सो भी अनेक क्रियाओं में से केवल एक क्रिया है।

तब हम मन से कहते हैं, "यह प्रकृति की एक क्रिया है, यह न तुम्हारी निज सत्ता है न मेरी, इससे पीछे हटकर स्थित होओ।" यदि हम यत्न करें तो हमें पता चलेगा कि मन में अनासक्ति की यह शक्ति विद्यमान है और वह केवल विचार में ही नहीं, बल्कि कार्यरूप में और मानो भौतिक वरंच प्राणिक रूप में भी शरीर से पीछे हटकर स्थित हो सकता है। मन की इस अनासक्ति को शरीर की चीजों के

प्रति उदासीनता की एक विशेष वृत्ति के द्वारा दृढ़ करना होगा; इसकी निद्रा या जागरण, गति या विश्राम, दुःख या सुख, स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य, शक्ति या क्लान्ति, आराम या कष्ट अथवा खान-पान की हमें कोई खास परवाह नहीं करनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि जहांतक सम्भव हो वहांतक भी, हमें शरीर को ठीक हालत में नहीं रखना चाहिये; हमें उग्र तपस्याओं में या स्थूल देह की निश्चयात्मक उपेक्षा में भी ग्रस्त नहीं होना होगा। पर साथ ही हमें भूख-प्यास अथवा कष्ट या रोग का अपने मन पर प्रभाव भी नहीं पड़ने देना होगा, न हमें शरीर की चीजों को वैसा महत्त्व ही देना होगा जैसा कि देहप्रधान एवं प्राणप्रधान मनुष्य उन्हें देता है, या फिर, निश्चय ही, इसे एक निरे करण के रूप में बिल्कुल, गौण प्रकार का महत्त्व ही देना होगा; इससे अधिक नहीं। इस करणात्मक महत्त्व को भी इतना नहीं बढ़ने देना होगा कि वह एक आवश्यकता का रूप धारण कर ले; उदाहरणार्थ, हमें यह नहीं सोचना होगा कि मन की पवित्रता हमारे खाने-पीने की चीजों पर निर्भर करती है, यद्यपि एक विशेष अवस्था में खान-पानसम्बन्धी नियम एवं प्रतिबंध हमारी आन्तरिक उन्नति के लिये उपयोगी होते हैं। दूसरी ओर हमें यह भी नहीं समझते रहना चाहिये कि मन या यहां तक कि प्राण का भी खाने-पीने के ऊपर ही जो आधार है वह एक अभ्यास से किंवा इन तत्त्वों (शरीर, प्राण और मन) के बीच प्रकृति के द्वारा स्थापित एक रूढ़ सम्बन्ध से अधिक कुछ है। सच पूछो तो जो भोजन हम ग्रहण करते हैं उसे एक उल्टे अभ्यास एवं नये सम्बन्ध के द्वारा घटाकर कम-से-कम कर सकते हैं और फिर भी मन या प्राण की शक्ति को, बिना किसी प्रकार की कमी के, सुरक्षित रख सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण विकास के द्वारा उन्हें इस प्रकार सधाया जा सकता है कि जिस मानसिक और प्राणिक शक्ति के साथ उनका सम्बन्ध है उनके गुप्त स्रोतों पर भौतिक खाद्य पदार्थों की गौण सहायता की अपेक्षा अधिक निर्भर रहना सीखकर वे एक महत्तर संभाव्य-शक्ति का विकास कर लें। तथापि साधना का यह पक्ष ज्ञानयोग की अपेक्षा आत्मसिद्धि-योग का एक अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है; हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिये मुख्य बात यह है कि मन को शरीर की चीजों के प्रति आसक्ति या अधीनता का त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार साधना द्वारा अनुशासित होकर मन क्रमशः शरीर के प्रति पुरुष की वास्तविक वृत्ति धारण करना सीख जायेगा। सर्वप्रथम, वह यह जान जायेगा कि मनोमय पुरुष स्वयं शरीर बिल्कुल ही नहीं है, बल्कि शरीर का धारण करनेवाला है; क्योंकि वह उस भौतिक सत्ता से सर्वथा भिन्न है जिसे वह मन के द्वारा प्राण-शक्ति की सहायता से धारण करता है। यह स्थूल शरीर के प्रति हमारी सारी सत्ता की एक सामान्य वृत्ति बन जायेगी, यहांतक कि शरीर हमें इस रूप में अनुभूत होगा कि मानो वह कोई बाहरी चीज है जिसे पहनने की पोशाक की तरह उतारकर

अलग किया जा सकता है अथवा मानो वह एक यन्त्र है जिसे हम अपने हाथ में उठाये हुए हैं। हमें यहां तक अनुभव हो सकता है कि हमारी प्राण-शक्ति एवं हमारे मन की एक प्रकार की आंशिक अभिव्यक्ति होने के सिवाय शरीर, एक विशेष अर्थ में, और कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता। ये अनुभव इस बात के चिह्न होते हैं कि मन शरीर के सम्बन्ध में एक ठीक सन्तुलित अवस्था प्राप्त कर रहा है, भौतिक सम्वेदन के द्वारा अभिभूत और अधिकृत मन के मिथ्या दृष्टिकोण के स्थान पर वस्तुओं के वास्तविक सत्य का दृष्टिकोण अपना रहा है।

दूसरे, शरीर की क्रियाओं और अनुभूतियों के सम्बन्ध में, मन यह जान जायेगा कि उसके अन्दर एक पुरुष विराजमान है जो, प्रथम तो, इन क्रियाओं का साक्षी या द्रष्टा है और दूसरे, इन अनुभूतियों का ज्ञाता या अनुभवकर्ता है। वह अपने चिन्तन में इस प्रकार सोचना या सम्वेदन में इस प्रकार अनुभव करना छोड़ देगा कि ये क्रियाएं और अनुभव मेरे हैं, वरन् यों सोचेगा एवं अनुभव करेगा कि ये मेरे नहीं हैं, ये प्रकृति के कार्य-व्यापार हैं जो प्रकृति के गुणों एवं उनकी पारस्परिक क्रिया के द्वारा नियंत्रित होते हैं। इस अनासक्ति को इतना सामान्य बनाया जा सकता है कि मन और शरीर के बीच एक प्रकार का विभाजन उत्पन्न हो जाय और मन शरीर की भूख, प्यास, दर्द, थकान, उदासी आदि का इस प्रकार अवलोकन एवं अनुभव करे मानो ये किसी और व्यक्ति के अनुभव हों, ऐसे व्यक्ति के जिसके साथ इसका इतना निकट सम्बन्ध (rapport) है कि उसके अन्दर जो कुछ भी हो रहा हो उस सबका उसे पता लग जाता है। यह विभाजन आत्म-प्रभुत्व की प्राप्ति का एक महान् साधन एवं महान् पग है; क्योंकि, मन इन चीजों को पहले तो इनसे अभिभूत हुए बिना और अन्त में जरा भी प्रभावित हुए बिना, निष्पक्ष भाव से, स्पष्ट समझ पर पूर्ण अनासक्ति के साथ देखने लगता है। यह मनोमय पुरुष की देह की दासता से प्रारम्भिक मुक्ति है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान को स्थिरतापूर्वक क्रियान्वित करने से मुक्ति अवश्यमेव प्राप्त होती है।

अन्त में मन यह जान जायेगा कि मनोमय पुरुष प्रकृति का स्वामी है और इसकी क्रियाओं के लिये उसकी अनुमति आवश्यक है। इसे पता लग जायेगा कि अनुमन्ता के रूप में वह प्रकृति के पुराने अभ्यासों से अपने मूल आदेश को वापिस ले सकता है और इस प्रकार अन्त में वह अभ्यास छूट जायेगा अथवा वह पुरुष के संकल्प के द्वारा निर्दिष्ट दिशा में परिवर्तित हो जायेगा; एकदम तो नहीं, क्योंकि जबतक प्रकृति का अतीत कर्म निर्बीज नहीं हो जाता तबतक उसके आग्रहपूर्ण परिणाम के रूप में पुरानी अनुमति अटल रूप से बनी रहती है। और, बहुत कुछ उस अभ्यास की शक्ति पर तथा मन ने पहले उसके साथ मूलभूत आवश्यकता का जो विचार जोड़ रखा था उसपर भी निर्भर करता है। परन्तु, यदि वह उन मूल अभ्यासों में से न हो जिन्हें प्रकृति ने मन, प्राण और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध के

लिये स्थापित कर रखा है और यदि मन पुरानी अनुमति को नये सिरे से संपुष्ट न करे या वह स्वेच्छापूर्वक उस अभ्यास में आसक्त न रहे, तो अन्त में परिवर्तन होने लगेगा। यहांतक कि भूख-प्यास की आदत को भी कम किया जा सकता है, रोका एवं त्यागा जा सकता है; इसी प्रकार बीमार पड़ने की आदत को भी कम किया जा सकता है तथा क्रमशः दूर किया जा सकता है और इस बीच प्राण-शक्ति के सचेतन प्रयोग या केवल मन के आदेश के द्वारा शरीर की गड़बड़ियों को ठीक करने की मन की शक्ति अत्यधिक बढ़ जायेगी। एक ऐसी ही प्रक्रिया के द्वारा उस आदत को भी, जिसके द्वारा शारीरिक प्रकृति में कुछ विशेष प्रकार के तथा बड़े प्रमाणवाले कार्यों के बारे में आयास, थकान, तथा असमर्थता का विचार पैदा होता है, सुधारा जा सकता है और इस शरीररूपी यन्त्र के द्वारा हो सकनेवाले भौतिक या मानसिक कार्य की शक्ति, स्वतन्त्रता, तीव्रता और प्रभावशालिता को अद्‌भुत रूप में बढ़ाया जा सकता है, दुगुना, तिगुना, दसगुना किया जा सकता है।

साधन-प्रणाली का यह पक्ष वास्तव में आत्मसिद्धि-योग का भाग है; परन्तु इन चीजों के बारे में यहां भी संक्षेप से वर्णन करना अच्छा होगा, एक तो इसलिये कि इससे हम पूर्णयोग के एक अंग—आत्मसिद्धि—की आगे आनेवाली व्याख्या का आधार रखते हैं और, दूसरे, इसलिये कि हमें जड़वादी विज्ञान के द्वारा प्रसारित मिथ्या धारणाओं को संशोधित करना है। इस विज्ञान के अनुसार सामान्य मानसिक और भौतिक अवस्थाएं तथा हमारे अतीत के विकास के द्वारा स्थापित किये हुए मन और शरीर के वर्तमान यथार्थ सम्बन्ध ही ठीक, स्वाभाविक और स्वस्थ अवस्थाएं हैं और अन्य कोई भी चीज, इनकी विरोधी कोई भी चीज या तो विकृत एवं असत्य है या फिर भ्रम, आत्म-प्रतारण एवं उन्माद। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वयं विज्ञान भी इस अनुदार सिद्धान्त की पूर्णतया अवहेलना करता है जब कि वह प्रकृति पर मनुष्य के महत्तर प्रभुत्व की प्राप्ति के लिये भौतिक प्रकृति की सामान्य क्रियाओं में इतने परिश्रम के साथ तथा सफलतापूर्वक सुधार करता है। यहां एकबारगी ही यह कह देना काफी होगा कि मानसिक और भौतिक अवस्था के तथा मन और शरीर के पारस्परिक सम्बन्धों के जिस परिवर्तन से हमारी सत्ता की पवित्रता एवं स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है, प्रसार एवं शान्ति प्राप्त होती है और मन की अपनेपर तथा भौतिक व्यापारों पर प्रभुत्व रखने की शक्ति बढ़ती है, संक्षेप में, जिससे मनुष्य को अपनी प्रकृति पर महत्तर प्रभुत्व प्राप्त होता है वह, स्पष्ट ही, कोई विकृत वस्तु नहीं है और न उसे भ्रान्ति या आत्म-वंचना ही समझा जा सकता है, क्योंकि उसके परिणाम प्रत्यक्ष और सुनिश्चित हैं। वास्तव में, वह व्यक्ति को विकसित करने की प्रक्रिया में एक स्वेच्छाकृत प्रगतिमात्र है; वह विकास तो प्रकृति हर हालत में साधित करेगी, पर उसमें वह मनुष्य के संकल्प को अपने मुख्य करण के रूप में प्रयुक्त करना पसन्द करती है, क्योंकि उसका मूल लक्ष्य है—पुरुष को उसके ऊपर सचेतन प्रभुत्व प्राप्त करने की ओर ले जाना।

यह सब कह चुकने के बाद हमें इतना और कहना होगा कि ज्ञानमार्ग की प्रक्रिया में मन और शरीर की पूर्णता का महत्त्व बिल्कुल ही नहीं है या केवल गौण ही है। एकमात्र आवश्यक वस्तु है—जो भी सबसे तीव्र या फिर सबसे समग्र एवं प्रभावशाली विधि सम्भव हो उसके द्वारा प्रकृति से ऊपर उठकर आत्मातक पहुंचना; और जिस विधि का हम वर्णन कर रहे हैं वह चाहे सबसे तीव्र तो नहीं है फिर भी अपनी प्रभावशालिता में सबसे अधिक समग्र अवश्य है। और, यहां भौतिक कर्म करने या न करने का प्रश्न उठ खड़ा होता है। साधारणतया यह माना जाता है कि योगी को यथासम्भव कर्म से पराङ्मुख हो जाना चाहिये और विशेषकर यह कि अत्यधिक कर्म योग में बाधक होता है, क्योंकि यह शक्तियों को बाहर की ओर खींचता है। कुछ अंश में यह बात ठीक भी है; और हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि जब मनोमय पुरुष केवल साक्षी और द्रष्टा की वृत्तिधारण कर लेता है तब नीरवता, एकान्तवास, भौतिक निश्चलता और शारीरिक निष्क्रियता की प्रवृत्ति हमारी सत्ता पर अधिकार कर लेती है। जबतक यह जड़ता से, काम करने की अक्षमता या अनिच्छा से, संक्षेप में, तमोगुण की वृद्धि से सम्बद्ध नहीं है तबतक यह सब लाभकारक ही है। कुछ भी न करने की शक्ति जो आलस्य, अक्षमता या कर्म करने के प्रति घृणा और अकर्म के प्रति आसक्ति से सर्वथा भिन्न वस्तु है, एक महान् शक्ति एवं महान् प्रभुत्व है; कर्म से पूर्णतया विरत होकर रहने की शक्ति ज्ञानयोगी के लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचार का पूर्णतया निरोध करने की शक्ति, अनिश्चित काल के लिये केवल एकान्त और नीरवता में रहने की शक्ति और अचल रूप में शान्त रहने की शक्ति। जो कोई इन अवस्थाओं का आलिंगन करने के लिये इच्छुक नहीं है वह अभी उच्चतम ज्ञान की ओर ले जानेवाले मार्ग के योग्य नहीं है; जो व्यक्ति इनके समीप पहुंचने में असमर्थ है वह अभी उस ज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी नहीं है।

इसके साथ-साथ यह भी कह देना आवश्यक है कि कर्म से विरत होने की शक्ति ही काफी है; समस्त भौतिक कर्म से विरत हो जाना आवश्यक नहीं है, मानसिक किंवा शारीरिक कर्म के प्रति घृणा वांछनीय नहीं है, ज्ञान की समग्रता के अभीप्सु को जहां कर्म के प्रति आसक्ति से मुक्त होना चाहिये वहां अकर्म के प्रति आसक्ति से भी उसी प्रकार मुक्त होना चाहिये। विशेषकर मन या प्राण या शरीर की निरी जड़ता की हर एक प्रवृत्ति पर विजय पानी होगी, और यदि ऐसी आदत प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जमाती प्रतीत हो तो पुरुष के संकल्प का प्रयोग करके उसे त्याग देना होगा। अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब प्राण और शरीर केवल यन्त्र बनकर मनोमय पुरुष के संकल्प को पूरा करते हैं पर वैसा करने में न तो उनपर कोई जोर पड़ता है और न वे उसमें आसक्त होते हैं, न ही वे एक हीनतर, आतुर और प्रायः ही उत्तेजनात्मक शक्ति के साथ अपने-आपको कर्म में

झोंकते हैं जो कि उनका काम करने का साधारण ढंग है। तब वे प्रकृति की शक्तियों की ही तरह कार्य करने लगते हैं—बिना उद्वेग के, बिना किसी श्रम और प्रतिक्रिया के जो सब कि भौतिक सत्ता पर प्रभुत्व न रखनेवाले देहबद्ध प्राण के विशेष लक्षण हैं। जब हम पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं, तब कर्म करने और न करने का कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि उनमें से कोई भी अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करता, न वह परम आत्मा को प्राप्त करने के इसके आवेग से या परम आत्मा में इसकी समस्थिति से इसे विचलित ही कर सकता है। परन्तु पूर्णता की यह अवस्था योग में बहुत आगे जाकर ही प्राप्त होती है और तबतक गीता द्वारा प्रतिपादित युक्ताहार-विहार का सिद्धान्त ही हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ है; अतएव, मानसिक या शारीरिक कर्म की अति अच्छी नहीं है, क्योंकि अति हमारी बहुत अधिक शक्ति को बाहर खींच ले जाती है और हमारी आध्यात्मिक अवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है; उधर, कर्म में बहुत अधिक कमी कर देना भी अच्छा नहीं, क्योंकि कमी करने से अकर्मण्यता की आदत पड़ जाती है और यहांतक कि अक्षमता भी पैदा हो जाती है जिन्हें जीतने में पीछे काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। फिर भी, पूर्ण स्थिरता, एकान्तवास और निष्कर्मता के अवसर परम वांछनीय हैं और उन्हें जितनी भी बार सम्भव हो प्राप्त करना चाहिये, ताकि अन्तरात्मा अपने अन्दर गहराई में जा सके जो कि ज्ञान-प्राप्ति की अनिवार्य शर्त है।

देह (की दासता) की इस प्रकार चर्चा करते हुए प्राण या जीवन-शक्ति की चर्चा करना भी हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। कारण, व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये हमें शरीर में कार्य करनेवाली प्राण-शक्ति, स्थूल प्राण, और मानसिक क्रियाओं की सहायता के लिये कार्य करनेवाली प्राण-शक्ति, चैत्य प्राण, में भेद करना होगा। क्योंकि, हम सदा ही द्विविध जीवन बिताते हैं, मानसिक और शारीरिक, और एक ही प्राण-शक्ति इनमें से जिस एक या दूसरे की सहायता करती है उसके अनुसार भिन्न प्रकार से कार्य करती है तथा भिन्न रूप धारण कर लेती है। शरीर में यह भूख, प्यास, थकान, स्वास्थ्य, रोग और भौतिक बल-उत्साह आदि की वे प्रतिक्रियाएं पैदा करती है जो स्थूल देह की प्राणिक अनुभूतियां हैं। क्योंकि, मनुष्य का स्थूल शरीर पत्थर या मृत्पिंड जैसा नहीं है; यह दो कोषों, "प्राणमय" और "अन्नमय" कोषों, के संयोग से बना है और इसका जीवन दोनों की सतत परस्पर क्रिया है। फिर भी प्राण-शक्ति और स्थूल देह दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं और जैसे-जैसे मन ग्रस्तकारी देहात्मबुद्धि से पीछे हटता जाता है वैसे-वैसे हम प्राण से तथा शरीररूपी यन्त्र में इसकी क्रिया से अधिकाधिक सज्ञान होते जाते हैं और इसकी क्रियाओं का निरीक्षण तथा अधिकाधिक नियन्त्रण कर सकते हैं। व्यवहारतः शरीर से पीछे हटने में हम स्थूल प्राण-शक्ति से भी पीछे हटते हैं, यद्यपि हम इन

दोनों में भेद करते हैं और प्राण को निरे स्थूल यन्त्र की अपेक्षा अपनी सच्ची सत्ता के अधिक निकट अनुभव करते हैं। वास्तव में, शरीर के ऊपर पूर्ण विजय स्थूल प्राण-शक्ति के ऊपर विजय से ही प्राप्त होती है।

शरीर और उसके कार्यों के प्रति आसक्ति के ऊपर विजय प्राप्त करने के साथ ही देहबद्ध प्राण के प्रति आसक्ति पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। क्योंकि, जब हम यह अनुभव करते हैं कि स्थूल देह हमारा अपना स्वरूप नहीं है, बल्कि केवल हमारा वस्त्र या यन्त्र है तब शरीर की मृत्यु से जुगुप्सा की वृत्ति जो प्राणप्रधान मनुष्य में इतनी तीव्र एवं प्रबल होती है अनिवार्यतः ही दुर्बल पड़ जाती है तथा बाहर निकाल फेंकी जा सकती है। इसे निकाल ही फेंकना होगा तथा पूर्ण रूप से निकाल फेंकना होगा। मृत्यु का भय और देह-नाश से तीव्र घृणा एक ऐसा कलंक है जो मनुष्य पर, पशुजाति में से उसका विकास होने के कारण, लगा रह गया है। इस कलंक के टीके को पूर्ण रूप से मिटा देना होगा।

अध्याय ८

हृदय और मन के बन्धन से मुक्ति

परन्तु आरोहण करती हुई अन्तरात्मा को देहबद्ध प्राण से ही नहीं, बल्कि प्राणशक्ति की मनोगत क्रिया से भी अपने-आपको पृथक् करना होगा; उसे मन को पुरुष का प्रतिनिधि बनाकर उससे यह कहलाना होगा कि "मैं प्राण नहीं हूं; प्राण पुरुष का निज स्वरूप नहीं है, यह प्रकृति की महज एक क्रिया और वह भी (कई क्रियाओं में से) केवल एक क्रिया है।" प्राण के विशेष लक्षण हैं—गति और क्रिया, व्यक्ति की सत्ता के बाहर जो भी चीजें हैं उन्हें ग्रहण और आत्मसात् करने के लिये प्रयत्न और यह जिस चीज को अपने अधिकार में ले आता है या जो चीज इसे प्राप्त हो जाती है उसमें सन्तुष्ट या असन्तुष्ट होने का सिद्धान्त जो आकर्षण और विकर्षण के सार्वभौम तथ्य से सम्बद्ध है। प्राण के ये तीन धर्म प्रकृति में सभी जगह देखने में आते हैं, क्योंकि प्राण प्रकृति में सभी जगह है। परन्तु हम मनोमय प्राणियों में इन सबको इन्हें देखने और ग्रहण करनेवाले भिन्न-भिन्न मन के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का मानसिक मूल्य दे दिया जाता है। ये क्रिया का, कामना और राग-द्वेष का, सुख और दुःख का रूप धारण कर लेते हैं। प्राण हमारे अन्दर सर्वत्र ओतप्रोत है और हमारे शरीर की ही नहीं, बल्कि हमारे इन्द्रियाश्रित मन, भावमय मन तथा चिन्तनात्मक मन की भी क्रिया को धारण कर रहा है। और, इन सबके अन्दर अपना नियम या धर्म लाकर, वह इनके यथार्थ कर्म को अव्यवस्थित, सीमित एवं अस्तव्यस्त कर देता है और उस धर्मच्युति-रूप अपवित्रता एवं उस विषम गड़बड़झाले को पैदा कर देता है जो हमारी आन्तरिक सत्ता की सारी बुराई की जड़ है। उस गड़बड़झाले में एक नियम, कामना का नियम, शासन करता प्रतीत होता है। जिस प्रकार सबको अपने अन्दर समानेवाले और सबके स्वामी विराट् परमेश्वर केवल दिव्य आनन्द के रसास्वादनार्थ कर्म, गति और उपभोग करते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति का प्राण प्रधान रूप से कामना की तृप्ति के लिये ही गति और कर्म करता तथा सुख-दुःख भोगता है। अतएव, चैत्य (सूक्ष्म) प्राणशक्ति हमें एक प्रकार के कामनामय मन के रूप में ही अनुभूत होती है। यदि हम अपनी सच्ची आत्मा में पुनः प्रवेश करना चाहते हैं तो इस कामनामय मन पर हमें विजय पानी होगी।

कामना, एक साथ ही, हमारे कार्यों का मूल हेतु, हमारी सब कार्य-सिद्धियों का मुख्य करण और हमारे जीवन के सब दुःखों का मूल है। यदि हमारा इन्द्रियाश्रित मन, भावमय मन तथा चिन्तनात्मक मन प्राण-शक्ति के हस्तक्षेपों तथा उसकी लायी हुई चीजों से स्वतन्त्र रहकर कार्य कर सकें, यदि उस प्राणशक्ति को इस बात के

लिये बाध्य किया जा सके कि वह हमारे जीवन पर अपना जूआ लादने के बदले इन (उच्चतर) करणों के यथार्थ कार्य के अधीन होकर रहे तो सभी मानवीय समस्याएं अपने यथायथ समाधान की ओर सुसमंजस रूप में अग्रसर होंगी। प्राण-शक्ति का अपना यथार्थ धर्म यह है कि वह हमारे अन्दर के दिव्य तत्त्व के आदेश का पालन करे, वे अन्तर्वासी भगवान् उसे जो कुछ दें उसीको ग्रहण करे तथा उसीमें आनन्द ले और किसी भी प्रकार की कामना न करे। इन्द्रियाश्रित मन का अपना यथार्थ धर्म यह है कि वह प्राण के बाह्य स्पर्शों के प्रति निष्क्रिय और आलोकित रूप में खुला रहे तथा उनके सम्वेदनों को और उनके अन्दर विद्यमान **रस** (यथार्थ आस्वाद), एवं आनन्द के तत्त्व को अपने से उच्च करणतक पहुंचा दे। परन्तु देहगत प्राणशक्ति के आकर्षणों और विकर्षणों, स्वीकृतियों और निषेधों, सन्तुष्टियों और असन्तुष्टियों, सामर्थ्यों और असामर्थ्यों के हस्तक्षेप के कारण, प्रथम तो, उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है और, दूसरे, वह इन सीमाओं के भीतर जड़गत प्राण के इन सब असामंजस्यों के साथ सम्बन्ध रखने के लिये बाध्य हो जाता है। वह सत्ता के आनन्द का यन्त्र बनने की जगह सुख-दुःख का यन्त्र बन जाता है।

इसी प्रकार भावमय मन इन सब असामंजस्यों का ध्यान रखने तथा इनके प्रति भावावेशमयी प्रतिक्रियाएं करने के लिये विवश होने के कारण एक संघर्षमय क्षेत्र बन जाता है जिसमें हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा, क्रोध, भय, संघर्ष, अभीप्सा, विरक्ति, राग, द्वेष, उदासीनता, सन्तोष, असन्तोष, आशा, निराशा, प्रत्युपकार तथा प्रत्यपकार का एवं अन्यान्य भावावेशों का कितना विपुल खेल चलता रहता है जो इस जगत् में होनेवाले जीवनरूपी नाटक का स्वरूप है। इस गड़बड़झाले को हम अपनी आत्मा कहते हैं। परन्तु वास्तविक आत्मा, वास्तविक चैत्य सत्ता जिसका बहुधा हम बहुत ही कम भाग देख पाते हैं और जिसका विकास मनुष्यजाति का एक छोटा-सा भाग ही कर पाया है, शुद्ध प्रेम और आनन्द का तथा ईश्वर और अपने साथी-प्राणियों के साथ घुल-मिलकर एक हो जाने के लिये उज्वल प्रयत्न करने का एक यन्त्र है। यह चैत्य सत्ता मानसभावापन्न प्राण या कामनामय मन की, जिसे हम भूल से अपनी आत्मा समझते हैं, क्रीड़ा के कारण ढकी हुई है; भावमय मन हमारे अन्दर की वास्तविक आत्मा को, हमारे हृदयों में विराजमान भगवान् को, प्रतिबिम्बित करने में असमर्थ है और इसके स्थान पर वह कामनामय मन को प्रतिबिम्बित करने को बाध्य होता है।

इसी प्रकार चिन्तनात्मक मन का यथार्थ कार्य यह है कि वह ज्ञान-प्राप्ति में निष्पक्ष भाव से आनन्द लेते हुए निरीक्षण करे, समझे और निर्णय करे और अपने-आपको उन सन्देशों तथा ज्ञानरश्मियों की ओर खोले जो उन सब वस्तुओं में अपनी क्रिया करती हैं जिन्हें वह देखता है तथा उनमें भी जो अभी उससे छुपी हुई हैं, पर जो उत्तरोत्तर प्रकट होंगी। ये सन्देश और ज्ञानरश्मियां हमारे मन से ऊपर की ज्योति

में छुपी हुई दिव्य वाणी से हमारे अन्दर एक चमक के रूप में गुप्ततया उतर आती हैं भले ही ये अन्तर्ज्ञानमय मन के द्वारा उतरती हुई प्रतीत हों या दृष्टिसम्पन्न हृदय में से उद्भूत होती हुई। परन्तु यह कार्य वह ठीक ढंग से नहीं कर सकता, क्योंकि यह इन्द्रियों में अवस्थित प्राणशक्ति के बन्धनों से, सम्वेदन और भावावेश के विरोधों से और बौद्धिक अभिरुचि, जड़ता, आयास, अहम्मय इच्छा के अपने निजी बन्धनों से जकड़ा हुआ है। इन बौद्धिक अभिरुचि आदि रूपों को यह इस कामनामय मन, इस चैत्य प्राण के हस्तक्षेप के कारण ही ग्रहण करता है। जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है, हमारी सम्पूर्ण मनश्चेतना इस प्राण के सूत्रों और धाराओं से ओतप्रोत है,—इस प्राणशक्ति के जो प्रयत्न करती है और सीमा में बांधती है, ग्रहण करती और चूक जाती है, कामना करती और कष्ट भोगती है, और इसे शुद्ध करके ही हम अपनी वास्तविक एवं सनातन आत्मा को जान सकते तथा प्राप्त कर सकते हैं।

यह सत्य है कि इस सब बुराई की जड़ है अहं-बुद्धि और चेतन अहं-बुद्धि का स्थान है स्वयं मन। पर वास्तव में चेतन मन अहं को केवल प्रतिबिम्बित ही करता है, अहं की रचना तो वस्तुओं के अवचेतन मन में, पत्थर और पौधों के अन्दर विद्यमान मूक आत्मा में हो चुकी होती है। यह मूक आत्मा समस्त देह-प्राणधारियों में उपस्थित है, चेतन मन इसे मूलतः जन्म नहीं देता, बल्कि इसे अन्तिम रूप से उन्मुक्त करके केवल जाग्रत् और वाक्शक्तिसम्पन्न बना देता है। और, इस ऊर्ध्वमुख क्रमविकास में यह हमारी प्राणशक्ति ही है जो अहं की आग्रहपूर्ण ग्रंथि बन गयी है, यह हमारा कामनामय मन ही है जो उस गांठ को ढीली करने से इंकार करता है तब भी जब कि बुद्धि और हृदय अपने दुःखों का कारण खोज चुके होते हैं और उसे दूर करने के लिये सहर्ष उद्यत होते हैं; क्योंकि उनके अन्दर विद्यमान प्राण 'पशु' है जो विद्रोह करता है और अपने इंकार से उनके ज्ञान को आच्छन्न तथा प्रतारित करता है तथा उनके संकल्प को जबर्दस्ती दबा देता है।

अतएव, मनोमय पुरुष को इस कामनात्मक मनसे अपने सम्बन्ध तथा तादात्म्य का विच्छेद करना होगा। उसे कहना होगा, "मैं यह सत्ता नहीं हूं जो संघर्ष करती और कष्ट भोगती है, सुख-दुःख, प्रेम और घृणा, आशा और निराशा, क्रोध और भय, हर्ष और विषाद के वशीभूत होती है, जो प्राणिक वृत्तियों और भावावेशों से बनी हुई सत्ता है। ये सब चीजें तो संवेदनात्मक और भावप्रधान मन में प्रकृति के कार्यव्यापार और अभ्यासमात्र हैं।" तब मन अपने भावावेगों से पीछे हट जाता है और शरीर की क्रियाओं एवं अनुभूतियों की भांति इनका भी द्रष्टा या साक्षी बन जाता है। एक बार फिर अन्तःसत्ता में विभाजन पैदा हो जाता है। एक ओर तो होता है यह भावप्रधान मन जिसमें प्रकृति के गुणों के अभ्यास के अनुसार ये भाव और आवेग उठते रहते हैं और दूसरी ओर होता है द्रष्टा मन जो उन्हें देखता है,

उनका अध्ययन करता तथा उन्हें समझता है, पर उनसे विलग रहता है। वह उन्हें इस प्रकार देखता है मानों मन के रंगमञ्च पर उससे भिन्न अन्य व्यक्तियों का एक प्रकार का खेल एवं अभिनय हो रहा हो, पहले तो वह उनमें रस लेता है और अभ्यास के कारण बारम्बार उनके साथ तदात्मता स्थापित करता रहता है, बाद में वह उन्हें पूर्णतया स्थिर और निर्लिप्त भाव से देखता है, और अन्त में, अपनी नीरव सत्ता की शान्ति ही नहीं, बल्कि उसका शुद्ध आनन्द भी प्राप्त करके, उनकी अवास्तविकता पर इस प्रकार मुस्कराता है जिस प्रकार कोई आदमी एक बच्चे के, जो खेल रहा है और उस खेल में अपने-आपको बिलकुल भूल जाता है, काल्पनिक सुख-दुःखों पर मुस्कराया करता है। दूसरे, वह जान जाता है कि 'मैं अनुमति का स्वामी हूं जो अपनी अनुमति को वापिस लेकर यह खेल बन्द कर सकता हूं।' जब वह अनुमति को वापिस ले लेता है तब एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटित होती है; भावमय मन सामान्यतया शान्त और पवित्र हो जाता है तथा इन प्रतिक्रियाओं से मुक्त भी, और जब ये आती भी हैं तब भी ये पहले की तरह भीतर से नहीं उठतीं, बल्कि बाहर से आनेवाले ऐसे संस्कारों की तरह उसपर प्रतिबिम्बित होती दिखायी देती हैं जिन्हें उसकी स्नायुएं अभी भी प्रत्युत्तर दे सकती हैं; परन्तु आगे चलकर प्रत्युत्तर देने की यह आदत भी समाप्त हो जाती है और समय आने पर भावमय मन अपने त्यागे हुए आवेशों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। आशा और भय, हर्ष और शोक, राग और द्वेष, आकर्षण और विकर्षण, सन्तोष और असन्तोष, हर्ष और विषाद, त्रास, क्रोध, भय, जुगुप्सा और लज्जा, तथा प्रेम और घृणा के आवेश हमारी मुक्त अन्तरात्मा से झड़कर अलग हो जाते हैं।

तब इनके स्थान पर क्या चीज आती है? हम चाहें तो इनके स्थान पर पूर्ण स्थिरता, नीरवता और उदासीनता आ सकती हैं। पर, यद्यपि यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें से अन्तरात्मा को साधारणतया गुजरना ही पड़ता है, तथापि हमने अपने सामने जो चरम लक्ष्य रखा है वह यह नहीं है। अतएव, हमारे योग में पुरुष संकल्प का स्वामी भी बन जाता है और उसका संकल्प अयुक्त उपभोग के स्थानपर चैत्य सत्ता के युक्त उपभोग की स्थापना करने का होता है। वह जो संकल्प करता है, प्रकृति उसे पूरा करती है। जो कामना और वासना का उपादान था वह शुद्ध, सम और शान्त-प्रगाढ़ प्रेम, आनन्द और एकत्वरूपी सत्य वस्तु में परिणत हो जाता है। वास्तविक आत्मा प्रकट हो उठती है और कामनामय मन के द्वारा खाली किये हुए स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाती है। शुद्ध और रिक्त पात्र अब आवेश के कटुमिश्रित मधुर विष के बदले दिव्य प्रेम और आनन्द के सोमरस से पूरित हो जाता है। आवेश, यहांतक कि शुभ कार्य के लिये उठनेवाले आवेश भी, दैवी प्रकृति को मिथ्या रूप में प्रकट करते हैं। हमारे अन्दर 'कृपा' का जो आवेश उठता

है उसमें स्थूल घृणा की अशुद्धि मिली होती है और दूसरों का कष्ट सहने में हमारे हृदय की असमर्थता की भी मिलावट रहती है। ऐसी कृपा के आवेश को त्याग देना होगा और इसके स्थान पर उस उच्चतर दिव्य करुणा को प्रतिष्ठित करना होगा जो सब कुछ देखती और समझती है, दूसरों का भार अपने ऊपर लेती है और उनकी सहायता करने तथा उनका दुःख दूर करने की सामर्थ्य भी रखती है, पर उनकी सहायता आदि का कार्य वह अहंपूर्ण इच्छा के साथ नहीं करती, न वह इसमें जगत् के दुःख-कष्ट के विरुद्ध विद्रोह करती है और न वस्तुओं के विधान एवं उद्गम पर अज्ञानपूर्ण दोषारोपण ही करती है, बल्कि प्रकाश और ज्ञान के साथ तथा प्रकट होते हुए भगवान् के यन्त्र के रूप में ही उनका दुःख निवारण करती है। इसी प्रकार जो प्रेम वस्तुओं की कामना करता तथा उनपर झपटता है, हर्ष से विक्षुब्ध और दुःख से चलायमान हो उठता है, उसका त्याग करना होगा और उसका स्थान उस सम, सबका आलिंगन करनेवाले प्रेम को देना होगा जो इन चीजों से मुक्त होता है तथा परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता और प्रत्युत्तर मिलने या न मिलने से जिसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तरात्मा की सभी क्रियाओं के साथ हमें ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये; परन्तु इनके विषय में हम आगे चलकर आत्म-सिद्धि-योग के विवेचन के समय चर्चा करेंगे।

जो बात कर्म और निष्कर्मता के बारे में कही गयी है वह एक और द्वंद्व पर भी लागू होती है। वह द्वंद्व यह है कि हमारे भावप्रधान मन में एक ओर तो उदासीनता एवं स्थिरता का भाव हो सकता है और दूसरी ओर सक्रिय प्रेम और आनन्द का। परन्तु हमारा आधार होनी चाहिये समता न कि उदासीनता। समतापूर्ण तितिक्षा, निष्पक्ष उदासीनता, हर्ष या शोक के कारण उपस्थित होने पर उनके प्रति हर्ष या शोक के रूप में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया किये बिना शान्त समर्पण—ये सब समता का आरम्भिक सोपान एवं अभावात्मक आधार हैं; परन्तु समता तबतक पूर्ण नहीं हो पाती जबतक यह प्रेम और आनन्द का भावात्मक रूप धारण नहीं कर लेती। इन्द्रियाश्रित मन को सबमें सर्व-सुन्दर का सम रस प्राप्त करना होगा, हृदय को सबके लिये सम प्रेम तथा सबमें सम आनन्द अनुभव करना होगा और सूक्ष्म प्राण को सर्वत्र इस रस, प्रेम और आनन्द का आस्वादन करना होगा। परन्तु, यह एक भावात्मक पूर्णता है जो मुक्ति के द्वारा ही प्राप्त होती है; ज्ञानमार्ग में हमारा प्रथम लक्ष्य, वस्तुतः, मुक्ति प्राप्त करना है जो कामनात्मक मनसे अपने-आपको जुदा करने तथा उसकी वासनाओं का त्याग करने से ही प्राप्त होती है।

कामनामय मन को विचार के करण से भी बाहर निकाल देना होगा और इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि पुरुष अपने-आपको स्वयं विचार और सम्मति से भी पृथक् कर ले। इसकी चर्चा हम एक प्रसंग में पहले ही कर चुके हैं जहां हमने इस विषय पर विचार किया था कि सत्ता की सर्वांगीण शुद्धि का क्या अभिप्राय है।

क्योंकि, ज्ञान-प्राप्ति की यह सब क्रिया जिसका हम वर्णन कर रहे हैं, अपने को शुद्ध करके मुक्ति लाभ करने की पद्धति है जिसके द्वारा पूर्ण और अन्तिम आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है; उधर, क्रमशः बढ़ता हुआ आत्मज्ञान स्वयं ही शुद्धि और मुक्ति का साधन होता है। चिन्तनात्मक मनसे पृथक् होने की विधि भी वही होगी जो सत्ता के शेष सब भागों से पृथक् होने के लिये बतायी गयी है। शरीर और प्राण के साथ तथा कामनाओं, संवेदनों और आवेशोंवाले मन के साथ तादात्म्य से मुक्ति पाने के लिये चिन्तनात्मक मन का प्रयोग कर चुकने के बाद पुरुष स्वयं इस मन की ओर अभिमुख होकर कहेगा, "यह भी मैं नहीं हूं; मैं न विचार हूं न विचारक; ये सब विचार, सम्मतियां, कल्पनाएं, बुद्धि के प्रयास, उसके पक्षपात, पूर्वानुराग, मत-सिद्धान्त, संशय और स्व-संशोधन मेरा निज स्वरूप नहीं हैं; यह सब तो प्रकृति का व्यापारमात्र है जो विचारात्मक मन में घटित होता है।" इस प्रकार, विचार और संकल्प करनेवाले मन तथा निरीक्षण करनेवाले मन में विभाजन पैदा हो जाता है और पुरुष केवल द्रष्टा बन जाता है; वह अपने विचार की प्रक्रिया तथा उसके नियमों को देखता है, समझता है, पर अपने-आपको उससे अलग कर लेता है। फिर, अनुमति के स्वामी के रूप में वह मन की अवचेतन धारा तथा तर्कबुद्धि की जटिल क्रिया से अपनी पुरानी अनुमति वापिस ले लेता है और इस प्रकार दोनों की आग्रहपूर्ण क्रियाओं को बन्द कर देता है। वह चिन्तनात्मक मन की दासता से मुक्त होकर पूर्ण नीरवता प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

पूर्णता की प्राप्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि पुरुष अपनी प्रकृति के स्वामी के रूप में अपना कार्य फिर से अपने हाथ में ले ले और निरी मन की अवचेतन धारा तथा बुद्धि के स्थान पर ऊपर से एक चमक के रूप में आनेवाले सत्य-सचेतन विचार को प्रतिष्ठित करने के लिये संकल्प का प्रयोग करे। परन्तु नीरवता को प्राप्त करना भी आवश्यक है, क्योंकि विचार में नहीं, बल्कि नीरवता में ही हम आत्मा को प्राप्त कर पायेंगे, उसकी निरी कल्पना ही नहीं बल्कि उसका साक्षात् अनुभव कर सकेंगे और मनोमय पुरुष से पीछे हटकर हम उस तत्त्व में पहुंच जायेंगे जो मन का भी मूल है। परन्तु इस मूलतक पहुंचने के लिये एक अन्तिम मुक्ति, अर्थात् मन में रहनेवाली अहंभावना से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है।

अध्याय ९

अहं से मुक्ति

देह-भावना के साथ बंधे हुए मानसिक और प्राणिक अहं की रचना विराट् प्राण का, अपने क्रमिक विकास में, सर्वप्रथम और महान् प्रयास था; क्योंकि जड़तत्त्व में से चेतन व्यक्ति को उत्पन्न करने का जो साधन उसने ढूंढ़ निकाला वह यही था। इस सीमाकारी अहं का विलय कर देना ही वह एकमात्र शर्त्त एवं आवश्यक साधन है जिसके द्वारा स्वयं यह विराट् प्राण अपनी दिव्य परिणति प्राप्त कर सकता है; क्योंकि केवल इसी तरीके से चेतन व्यक्ति अपने परात्पर आत्म-स्वरूप या सच्चे पुरुष को उपलब्ध कर सकता है। इस दोहरी क्रिया को साधारणतया पतन और उद्धार या निर्माण और विनाश कहकर वर्णित किया जाता है,—इसे प्रकाश का प्रज्वलित होना और बुझना या पहले तो एक अपेक्षाकृत क्षुद्र, अस्थायी और अवास्तविक आत्म-सत्ता की रचना करना और फिर उससे मुक्त होकर अपनी सच्ची आत्मा की नित्य विशालता में पहुंचना भी कहा जाता है। क्योंकि इस विषय में मानव की विचारधारा विभक्त होकर दो नितान्त विरोधी दिशाओं में प्रवाहित होती है : उनमेंसे एक है लौकिक एवं उपयोगितावादीय जो व्यक्ति या समाज की मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अहं-भावना की परिपूर्त्ति एवं तृप्ति को ही जीवन का लक्ष्य समझती है और इससे परे दृष्टि नहीं डालती, जब कि दूसरी है आध्यात्मिक, दार्शनिक या धार्मिक जो अन्तरात्मा या आत्मा के अथवा अन्तिम सत्ता जो कोई भी हो उसके हित अहं की विजय को ही एकमात्र परम कर्तव्य मानती है। अहं के शिविर में भी दो विभिन्न मनोवृत्तियां देखने में आती हैं जो जगद्विषयक ऐहिक या जड़वादी विचार को दो धाराओं में विभक्त कर देती हैं। उनमें से एक विचारधारा मानसिक अहं को हमारे मन की एक ऐसी रचना मानती है जो देह की मृत्यु होने पर मन के विनाश के साथ ही विनष्ट हो जायगी; एकमात्र स्थायी सत्य है सनातन प्रकृति जो मानवजाति में—इस मानवजाति में या किसी अन्य में—कार्य करती है और हमारा नहीं, उसका उद्देश्य पूरा होना चाहिये, व्यक्ति की नहीं, वरन् जाति अर्थात् सामूहिक अहं की चरितार्थता ही जीवन की नियामक होनी चाहिये। दूसरी विचारधारा, जो अपनी प्रवृत्तियों में अधिक प्राणात्मवादी है, चेतन अहं को प्रकृति की परमोच्च उपलब्धि मानकर—भले यह कितनी ही अस्थायी क्यों न हो—इसी पर अपना ध्यान एकाग्र करती है, इसे अस्तित्वेच्छा (Will-to-be) के मानवीय प्रतिनिधि के रूप में उच्च पद प्रदान करती है और इसकी महत्ता एवं तृप्ति को ही हमारी सत्ता का सर्वोच्च लक्ष्य उद्घोषित करती है। जो अनेकानेक दर्शन किसी प्रकार के धार्मिक विचार या आध्यात्मिक साधना को अपना आधार बनाते हैं उनमें भी इसी

प्रकार का मतभेद पाया जाता है। बौद्धमतवादी वास्तविक आत्मा या अहं की सत्ता से इंकार करता है, किसी विराट् या परात्पर पुरुष को नहीं मानता। अद्वैतवादी घोषणा करता है कि वैयक्तिक सत्ता के रूप में प्रतीत होनेवाला जीवात्मा परम आत्मा एवं ब्रह्म से भिन्न और कुछ नहीं है, इसकी वैयक्तिक सत्ता मायामय है; वैयक्तिक सत्ता का परित्याग कर देना ही एकमात्र सच्ची मुक्ति है। कुछ अन्य दर्शन इस विचार का पूर्ण रूप से विरोध करते हुए जीव की नित्यता की स्थापना करते हैं; एकमेव में अनेकात्मक चेतना का आधार होने के कारण या फिर एकमेव पर आश्रित, किन्तु फिर भी एक पृथक् सत्ता होने के कारण जीव नित्य, वास्तविक और अविनाशी है।

इन नानाविध और परस्पर-विरोधी मतों के बीच सत्य के अन्वेषक को अपने लिये निर्णय करना होगा कि वह 'ज्ञान' के किस रूप को स्वीकार करेगा। परन्तु यदि हमारा लक्ष्य आध्यात्मिक मुक्ति या आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना हो तो अहं के इस क्षुद्र घेरे को पार करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। मानवीय अहंभाव और इसकी तुष्टि में कोई दिव्य परिणति एवं मुक्ति निहित नहीं हो सकती। यहां तक कि नैतिक विकास और उत्कर्ष के लिये तथा समाज की भलाई और पूर्णता के लिये भी अहंभाव से यत्किञ्चित् मुक्त होना नितान्त आवश्यक है; आन्तरिक शान्ति, शुद्धि और आनन्द के लिये तो यह और भी अधिक आवश्यक है। किन्तु हमारा लक्ष्य मानव-प्रकृति को दैवी प्रकृति में उठा ले जाना हो तो केवल अहंता से ही नहीं, बल्कि अहं-भावना और अहंबुद्धि से भी एक कहीं अधिक आमूल मुक्ति की आवश्यकता होगी। अनुभव से पता चलता है कि जैसे-जैसे हम संकीर्णकारी मानसिक और प्राणिक अहं से मुक्त होते जाते हैं वैसे-वैसे हमें एक विशालतर जीवन, बृहत्तर सत्ता, उच्चतर चेतना, मंगलतर आत्म-स्थिति, यहां तक कि महत्तर ज्ञान एवं शक्ति और महत्तर जीवन-क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त होता जाता है। अपिच, एक अत्यन्त ऐहलौकिक दर्शन व्यक्ति की चरितार्थता, पूर्णता और तृप्ति के जिस लक्ष्य का अनुसरण करता है वह इसी अहं को तृप्त करने से नहीं, बल्कि उच्चतर एवं विशालतर आत्मा में स्वातंत्र्य लाभ करने से ही सर्वोत्तम तथा सुनिश्चित रूप में प्राप्त हो सकता है। उपनिषद् कहती है, 'सत्ता की क्षुद्रता में कोई सुख नहीं, सत्ता के विशाल होने पर ही सुख प्राप्त होता है'।[1] अहं अपने स्वभाव से ही सत्ता की एक क्षुद्रावस्था है; यह चेतना में संकीर्णता लाता है और उस संकीर्णता के साथ लाता है ज्ञान की सीमितता, असमर्थकारी अज्ञान,—सीमाबन्धन और शक्ति का ह्रास और उस ह्रास के द्वारा अक्षमता तथा दुर्बलता,—इसी प्रकार यह एकता में विभाजन उत्पन्न कर देता है और उस विभाजन के द्वारा असामंजस्य की सृष्टि करता है तथा सहानुभूति, प्रेम और सद्भावना को नष्ट कर देता है,—सत्ता के आनन्द का

[1] यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।—छान्दोग्य

निरोध कर देता है या उसे खण्ड-खण्ड कर डालता है और खण्ड-खण्ड करने के कारण दुःख-दर्द पैदा करता है। जो कुछ हम इस प्रकार खो बैठे हैं उसे फिर से प्राप्त करने के लिये हमें अहं के लोकों के घेरे को तोड़कर उनसे बाहर निकल आना होगा। अहं को या तो निर्व्यक्तिकता में विलीन हो जाना होगा या फिर इसे एक बृहत्तर 'मैं' में घुलमिल जाना होगा; इसे या तो उस विराट् पुरुष की उस विशालतर 'मैं' में घुलमिल जाना होगा जो इन सब क्षुद्रतर अहं-सत्ताओं को अपने अन्दर समाये हुए है या फिर उस परात्पर 'मैं' में जिसकी यह वैश्व आत्मा भी एक क्षीण प्रतिमा है।

परन्तु यह वैश्व आत्मा अपने सारतत्त्व में और अनुभवगम्य स्वरूप में आध्यात्मिक है; इसे भ्रान्तिवश सामष्टिक सत्ता या कोई सामूहिक आत्मा अथवा किसी मानव-समाज या यहांतक कि सारी मानवजाति का भी प्राण और शरीर नहीं समझ लेना चाहिये। आजकल जगत् की विचारधारा और आचारनीति की नियामक भावना यह है कि अहं को मानवजाति की प्रगति और सुख-संपदा की अपेक्षा गौण स्थान देना चाहिये; किन्तु यह एक मानसिक एवं नैतिक आदर्श है, आध्यात्मिक नहीं। क्योंकि, यह प्रगति लगातार होनेवाले मानसिक, प्राणिक और शारीरिक परिवर्तनों की एक शृंखला है, इसमें स्थिर आध्यात्मिक तत्त्व कोई भी नहीं है और मानव की आत्मा को यह कोई निश्चित आधार नहीं प्रदान करती। समग्र मानवजाति की चेतना वैयक्तिक अहंभावों का एक बहुत बड़ा और व्यापक संस्करण या कुल-योगमात्र है। उसी उपादान से तथा प्रकृति के उसी सांचे में ढले होने के कारण इसमें कोई महत्तर प्रकाश नहीं है, अपनी अधिक नित्य स्थायिता की कोई अनुभूति नहीं है, शान्ति, आनन्द और मुक्ति का कोई अधिक शुद्ध स्रोत नहीं है। बल्कि सच पूछो तो यह व्यक्ति की चेतना की अपेक्षा कहीं अधिक पीड़ित, विक्षुब्ध और तमसाच्छन्न है, निस्संदेह यह उससे अधिक अस्पष्ट, भ्रान्त और अप्रगतिशील तो है ही। व्यक्ति इस अंश में समूह से महान् है और अपनी अधिक प्रकाशमय सम्भावनाओं को इस अधिक अन्धकारपूर्ण सत्ता के अधीन कर देने के लिये उससे अनुरोध नहीं किया जा सकता। यदि प्रकाश, शान्ति, मुक्ति, जीवन की एक अधिक उत्तम अवस्था प्राप्त होनी ही हैं तो ये हमारी आत्मा में किसी ऐसी सत्ता से ही अवतरित होंगी जो व्यक्ति से अधिक विशाल हो, पर साथ ही जो सामूहिक अहं से अधिक उच्च भी हो। परोपकार, लोकहित, मानवजाति की सेवा अपने-आपमें मानसिक या नैतिक आदर्श हैं, आध्यात्मिक जीवन के नियम नहीं। यदि आध्यात्मिक लक्ष्य के अन्तर्गत वैयक्तिक 'स्व' का परित्याग करने अथवा मानवजाति या समूचे विश्व की सेवा करने का आवेग उठता है तो यह अहं से या मानवजाति की समष्टि-भावना से नहीं, बल्कि इन दोनों से परे के किसी अधिक गुह्य एवं गम्भीर तत्त्व से ही उठता है। क्योंकि, यह इस अनुभूति पर आधारित होता

है कि भगवान् सबमें हैं और यह अहं या मानवजाति के लिये नहीं, बल्कि भगवान् के लिये तथा व्यक्ति या समूह या समष्टि-मानव में निहित उनके प्रयोजन के लिये ही कार्य करता है। सबके आदिमूल इन परात्पर भगवान् की ही हमें खोज और सेवा करनी होगी, उस बृहत्तर सत् और चित् की जिसके निकट मानवजाति और व्यक्ति उसकी सत्ता के गौण रूप हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि व्यवहारवादी की प्रेरणा के पीछे भी एक सत्य है जिसकी अन्य-वर्जक एकांगी अध्यात्मवाद उपेक्षा कर सकता है या जिसे वह अस्वीकार कर सकता या तुच्छता की दृष्टि से देख सकता है। वह सत्य यह है—क्योंकि व्यक्ति और विश्व उस उच्चतर और बृहत्तर सत् के रूप हैं, उस परम सत् में इनकी चरितार्थता का कोई वास्तविक स्थान अवश्य होना चाहिये। इनके पीछे परम प्रज्ञा और ज्ञान का कोई महान् प्रयोजन, परम आनन्द का कोई शाश्वत स्वर अवश्य होना चाहिये : इनकी रचना व्यर्थ में की गयी नहीं हो सकती, यह व्यर्थ में की ही नहीं गयी। परन्तु व्यक्ति की पूर्णता और सन्तुष्टि की भांति मानवजाति की पूर्णता और सन्तुष्टि का आधार भी वस्तुओं के एक अधिक शाश्वत पर अभी तक अनधिगत सत्य और यथार्थ रूप पर ही सुरक्षित रूप से रखा जा सकता है और उसी आधार पर इन्हें सुरक्षित रूप से साधित भी किया जा सकता है। किसी महत्तर 'सत्' के गौण रूप होने के कारण ये अपने-आपको तभी चरितार्थ कर सकते हैं जब कि, जिसके ये रूप हैं वह ज्ञात और प्राप्त हो जाये। मानवजाति की सबसे महान् सेवा, इसकी सच्ची उन्नति, सुख-सम्पदा और पूर्णता का सबसे अधिक सुनिश्चित आधार उस मार्ग को तैयार करना या ढूंढ़ना है जिसके द्वारा व्यष्टि और समष्टि-मानव अज्ञान, अक्षमता, असामंजस्य और दुःख के साथ न बंधे रहकर अपने अहं के परे जा सकें तथा अपनी सच्ची आत्मा में निवास कर सकें। हमारे आधुनिक चिन्तन और आदर्शवाद ने हमारे सामने जो विकासमूलक, सामूहिक एवं परार्थवादी लक्ष्य रखा है उसे भी हम सर्वोत्तम एवं सुनिश्चित रूप से तभी प्राप्त कर सकते हैं यदि हम प्रकृति के मन्द सामूहिक विकास में न बंधे रहकर सनातन तत्त्व का अनुसन्धान करें। परन्तु वह भी अपने-आपमें एक गौण लक्ष्य है; भागवत सत्ता, चेतना एवं प्रकृति को ढूंढ़ना, जानना और प्राप्त करना और उसीमें भगवान् के लिये निवास करना ही हमारा सच्चा लक्ष्य एवं एकमात्र पूर्णता है जिसे प्राप्त करने के लिये हमें अभीप्सा करनी होगी।

अतएव, उच्चतम ज्ञान के अन्वेषक को किसी संसारबद्ध जड़वादी सिद्धान्त के नहीं, वरन् आध्यात्मिक दर्शनों और धर्मों के मार्ग पर ही चलना होगा, यद्यपि उसे समृद्ध लक्ष्यों तथा अधिक व्यापक आध्यात्मिक प्रयोजन को लेकर ही अग्रसर होना होगा। परन्तु अहं के उन्मूलन के मार्ग पर उसे कितनी दूरतक आगे जाना होगा? प्राचीन ज्ञानमार्ग में हम उस अहं-बुद्धि के उन्मूलनतक पहुंचते हैं जो शरीर, प्राण या

मन के साथ अपने-आपको आसक्त कर लेती है और उन सबके या उनमें से किसी एकके बारे में कहती है, "यह मैं हूं।" इस मार्ग में हम कर्ममार्ग की भांति कर्ता होने के "अहंभाव" से मुक्त हो जाते हैं और यह देखने लगते हैं कि केवल ईश्वर ही सब कर्मों का तथा उनकी अनुमति का सच्चा स्रोत है और उसकी कार्यवाहिका प्रकृति-शक्ति अथवा उसकी पराशक्ति ही एकमात्र करण और कर्त्री है,—इतना ही नहीं, बल्कि हम उस अहंबुद्धि से भी मुक्त हो जाते हैं जो भूल से हमारी सत्ता के करणों या अभिव्यक्त रूपों को हमारी सच्ची सत्ता एवं आत्मा समझती है। पर यद्यपि यह सब अहं समाप्त हो जाता है, फिर भी अहं का कोई रूप शेष रह जाता है; इन सबका एक आधार, पृथक् अहं का एक सामान्य भाव, बचा रह जाता है। यह आधारभूत अहं एक अनिश्चित, अनिर्देश्य एवं प्रतारक वस्तु है; यह किसी विशेष वस्तु को आत्मा मानकर उसके साथ अपने को आसक्त नहीं करता अथवा इसे ऐसा करने की जरूरत नहीं; यह किसी समष्टिभूत वस्तु के साथ भी तादात्म्य स्थापित नहीं करता; यह मन का एक प्रकार का आधारभूत रूप या शक्ति है जो मनोमय पुरुष को यह अनुभव करने के लिये बाध्य करती है कि मैं शायद एक अनिर्देश्य, पर फिर भी सीमित सत्ता हूं जो मन, प्राण या शरीर नहीं है, पर जिसके अधीन प्रकृति में इनकी क्रियाएं प्रकट होती हैं। अन्य अहंताएं तो परिमित अहं-भावना और अहं-बुद्धि थीं जो प्रकृति की क्रीड़ा पर ही अपना आधार रखती थीं; पर यह अहंता शुद्ध मूलभूत अहं-शक्ति है जो मनोमय पुरुष की चेतना पर अपना आधार रखती है। और, क्योंकि यह खेल के अन्दर नहीं, बल्कि इसके ऊपर या पीछे अवस्थित प्रतीत होती है, क्योंकि यह ऐसा नहीं कहती कि "मैं मन, प्राण या शरीर हूं", बल्कि ऐसा कहती है कि "मैं एक ऐसी सत्ता हूं जिसपर मन, प्राण और शरीर की क्रिया निर्भर करती है", बहुत-से साधक अपने को मुक्त समझ बैठते हैं और इस प्रतारक अहं को अपने अन्दर विद्यमान **'एकं सत्'**, भगवान्, सच्चा पुरुष या कम-से-कम सच्चा 'व्यक्ति' समझने की भूल करते हैं,—भ्रांतिवश 'अनिर्देश्य' को 'अनन्त' समझ लेते हैं। परन्तु जबतक यह मूलभूत अहंभाव शेष रहता है तबतक पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अहंमय जीवन इस अहंभाव का सहारा लेकर भी अपना काम काफी अच्छी तरह से चला सकता है, उसका बल और वेग भले ही कुछ कम हो जायें। पर यदि हम भ्रान्तिवश इस अहं को ही अपनी आत्मा समझ लें तो इसकी आड़ में अहंमय जीवन और भी अधिक बल-वेग प्राप्त कर सकता है। यदि हम ऐसी किसी भ्रान्ति में न पड़ें तो अहंमय जीवन अधिक शुद्ध और विशाल तथा अधिक नमनीय बन सकता है और तब मुक्ति प्राप्त करना कहीं अधिक आसान हो सकता है और उसकी पूर्णता अधिक निकट आ सकती है, किन्तु फिर भी निश्चयात्मक मुक्ति अभी प्राप्त नहीं हुई है। हमें तो, अनिवार्यतः, इस अवस्था से भी आगे बढ़ना होगा, इस अनिर्देश्य पर

आधारभूत अहंभावना से भी मुक्त होकर इसके पीछे अवस्थित उस पुरुष को प्राप्त करना होगा जो इसका आधार है और जिसकी यह एक छाया है; छाया को विलुप्त हो जाना होगा और अपने विलोप के द्वारा आत्मा के अनावृत मूलतत्त्व को प्रकट करना होगा।

वह तत्त्व मनुष्य की आत्मा है जिसे यूरोपीय विचारधारा में शक्त्यणु (Monad) और भारतीय दर्शन में जीव या जीवात्मा, अर्थात् जीवात्मक सत्ता या प्राणी की आत्मा कहते हैं। यह जीव वह मानसिक अहंभाव नहीं है जिसे प्रकृति ने अपनी क्रियाओं के द्वारा अपने अल्पकालीन प्रयोजन के लिये निर्मित किया है। यह कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ता की भांति उसके अभ्यासों और नियमों से या उसकी प्रक्रियाओं से बंधी हुई हो। जीव तो अध्यात्मसत्ता एवं आत्मा है जो प्रकृति से उच्चतर है। यह सच है कि यह उसके कार्यों को अनुमति देता है, उसकी अवस्थाओं को अपनेमें प्रतिबिम्बित करता है तथा मन, प्राण और शरीर के उस त्रिविध माध्यम को धारण करता है जिसके द्वारा वह उन अवस्थाओं को अन्तरात्मा की चेतना पर प्रक्षिप्त करती है। पर जीव अपने-आपमें विराट् और परात्पर आत्मा का सजीव प्रतिबिम्ब अथवा आन्तरात्मिक रूप या आत्म-सृष्टि है। एकमेव आत्मा जिसने अपनी सत्ता के कुछ एक गुणों को विश्व में और आत्मा में प्रतिबिम्बित किया है, जीव में अनेकविध रूप धारण किये हुए है। वह आत्मतत्त्व हमारे आत्मा का भी आत्मा है, एकमेव और उच्चतम सत्ता है, परात्पर है जिसका हमें साक्षात्कार करना होगा, अनन्त सत्ता है जिसमें हमें प्रवेश करना होगा। यहांतक तो सभी तत्त्वोपदेशक संग-संग चलते हैं, सब इस बात से सहमत हैं कि ज्ञान, कर्म और भक्ति का परम लक्ष्य यही है, इस बात पर सब एकमत हैं कि यदि जीव को यह लक्ष्य प्राप्त करना हो तो उसे निम्न प्रकृति या माया से सम्बन्ध रखनेवाली अहंबुद्धि से अपने-आपको मुक्त करना ही होगा। परन्तु यहां पहुंचकर वे एक-दूसरे का साथ छोड़ देते हैं और हर एक अपनी अलग राह पकड़ लेता है। अद्वैतवादी ऐकान्तिक ज्ञान के पथ पर ही दृढ़तापूर्वक अपने पग धरता है और परात्पर में जीव के पूर्ण रूप से लौट जाने, विलुप्त, निमज्जित या लीन हो जाने को ही हमारे लिये एकमात्र आदर्श के रूप में प्रस्तुत करता है। द्वैतवादी या विशिष्टाद्वैतवादी भक्तिमार्ग की ओर मुड़ता है और निःसन्देह हमें निम्नतर अहं तथा भौतिक जीवन का त्याग करने के लिये तो कहता ही है, पर साथ ही यह अनुभव करने के लिये भी प्रेरित करता है कि मानव-आत्मा की सर्वोच्च नियति न तो बौद्ध का आत्म-निर्वाण या अद्वैतवादी का आत्म-निमज्जन है और न ही एकमेव का अनेक को कवलित कर लेना, बल्कि यह परात्पर, एकमेव तथा सर्वप्रेमी के विचार, प्रेम और रसास्वादन में निमग्न शाश्वत जीवन को प्राप्त करना है।

इस विषय में पूर्णयोग के साधक के लिये सन्देह-द्विविधा का कोई स्थान नहीं हो सकता; ज्ञान के अन्वेषक के रूप में उसे किसी अधबीच की और आकर्षक या अत्युच्च एवं अनन्य वस्तु की नहीं, बल्कि सर्वांगीण ज्ञान की ही खोज करनी होगी। उसे उच्चतम शिखरतक उड़ान भरनी होगी, पर साथ ही अपने-आपको अधिकतम विशाल और व्यापक भी बनाना होगा, दार्शनिक विचारों की किसी कट्टरतापूर्ण रचना के साथ अपने-आपको नहीं बांधना होगा, बल्कि अन्तरात्मा के समस्त उच्चतम, महत्तम और पूर्णतम अगणित अनुभवों को स्वीकार तथा धारण करने के लिये स्वतन्त्र रहना होगा। यदि आध्यात्मिक अनुभव की सबसे ऊंची चोटी, समस्त उपलब्धि का अनन्य शिखर व्यक्ति और विश्व के परे अवस्थित परात्पर के साथ अन्तरात्मा का पूर्ण एकत्व है तो उस एकत्व का विस्तृततम क्षेत्र यह उपलब्धि है कि स्वयं वह परात्पर ही भागवत मूलतत्त्व और भागवत प्रकृति की इन दोनों प्राकट्यकारी शक्तियों का उद्गम, आश्रय एवं आधार है तथा अन्दर से गठन करनेवाला और उपादानभूत आत्मा एवं सारतत्त्व भी है। पूर्णयोग के साधक का मार्ग कोई भी क्यों न हो, उसका ध्येय यही होना चाहिये। कर्मयोग भी तबतक सार्थक, परिपूर्ण तथा सफलतापूर्वक सिद्ध नहीं होता जबतक साधक परात्पर के साथ अपनी तात्त्विक और समग्र एकता अनुभव नहीं कर लेता तथा उस एकता में निवास नही करने लगता। उसे भागवत संकल्प के साथ एक होना ही होगा—अपनी उच्चतम, अन्तरतम तथा विशालतम सत्ता और चेतना में, अपने कर्म और संकल्प में, अपनी कार्यशक्ति में, अपने मन, प्राण और शरीर में। नहीं तो वह केवल व्यक्तिगत कर्मों के भ्रम से ही मुक्त होगा, पर पृथक् सत्ता और पृथक् करणों के भ्रम से मुक्त नहीं होगा। भगवान् के सेवक और यन्त्र के रूप में वह कर्म करता है, पर उसके श्रम का मुकुट तथा इसका पूर्ण आधार या हेतु तो, जिनकी वह सेवा करता तथा जिन्हें चरितार्थ करता है उनके साथ एकत्व प्राप्त करना ही है। भक्तियोग भी तभी पूर्ण होता है जब प्रेमी और प्रियतम एक हो जाते हैं और दिव्य एकत्व के परमोल्लास में समस्त भेद मिट जाता है, परन्तु इस एकीभाव का रहस्य यह है कि इसमें एकमात्र सत्ता तो प्रियतम की ही रह जाती है, पर प्रेमी का भी निर्वाण या लय नहीं होता। उधर, ज्ञानमार्ग का स्पष्ट लक्ष्य है केवल उच्चतम एकत्व, उसका आवेग है पूर्ण एकत्व की पुकार, उसका आकर्षण है इस एकत्व का अनुभव: परन्तु यह उच्चतम एकता ही उसके अन्दर अपनी अभिव्यक्ति के क्षेत्र के रूप में यथासम्भव-विस्तृततम वैश्व विशालता का रूप ग्रहण कर लेती है। अपनी त्रिविध प्रकृति की व्यावहारिक अहंता से तथा उसकी आधारभूत अहं-बुद्धि से क्रमशः पीछे हटने की आवश्यक शर्त का पालन करते हुए हम अध्यात्मसत्ता एवं आत्मा का, इस अभिव्यक्त मानव-व्यक्तित्व के प्रभु का, साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु हमारा ज्ञान तबतक समग्र नहीं हो सकता

जबतक हम व्यक्ति में अवस्थित इस जीव को विश्व के आत्मा के साथ एक नहीं कर देते और इन दोनों के ऊर्ध्वस्थित महत्तर सत्स्वरूप को अवर्णनीय—पर अज्ञेय नहीं—परात्परता में प्राप्त नहीं कर लेते। उस जीव को अपने-आपको उपलब्ध करके भगवान् की सत्ता में उत्सर्ग कर देना होगा। मनुष्य की अन्तरात्मा को सर्व के आत्मा के साथ एक करना होगा; सांत व्यक्ति की आत्मा को असीम सांत में अपने-आपको उंडेल देना होगा और फिर परात्पर अनन्त में उस विश्वात्मा को भी अतिक्रम कर जाना होगा।

यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक अहंबुद्धि को दृढ़तापूर्वक जड़मूल से न उखाड़ फेंका जाय। ज्ञानमार्ग में मनुष्य अहं के विनाश के लिये दो प्रकार से प्रयत्न करता है, एक तो निषेधात्मक रूप में अर्थात् अहं की सत्यता से ही इंकार करके, दूसरे, भावात्मक रूप में, स्वयं एकमेव और अनन्त के या सर्वत्र व्याप्त एकमेव और अनन्त के विचार पर मन को सतत एकाग्र रखकर। यह साधना यदि दृढ़तापूर्वक की जाय तो अन्त में यह हमारे अपने ऊपर तथा सम्पूर्ण जगत् के ऊपर हमारी मानसिक दृष्टि को परिवर्तित कर देती है और हमें एक प्रकार का मानसिक साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है; पर बाद में क्रमशः या शायद तीव्र वेग से और अनिवार्य रूप से तथा लगभग आरम्भ में ही वह मानसिक साक्षात्कार गहरा होकर आध्यात्मिक अनुभव में—हमारी सत्ता के असली सारतत्त्व में उत्पन्न होनेवाले साक्षात्कार में परिणत हो जाता है। किसी अनिर्देश्य और असीम वस्तु की, एक अवर्णनीय शान्ति, नीरवता, हर्ष एवं आनन्द की, पूर्ण निर्व्यक्तिक शक्ति के भान की, शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना एवं सर्व-व्यापक उपस्थिति की अवस्थाएं अधिकाधिक बहुल रूप में आती हैं। अहं अपने-आपमें या अपनी अभ्यासगत चेष्टाओं में अड़ा रहता है, परन्तु उसकी शान्ति एक अधिकाधिक अभ्यस्त अवस्था बनती जाती है, उधर उसकी चेष्टाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, कुचली जाती या उत्तरोत्तर त्याग दी जाती हैं, उनकी तीव्रता मन्द पड़ जाती है तथा उनकी क्रिया पंगु या यान्त्रिक बन जाती है। अन्त में हम अपनी सम्पूर्ण चेतना परम पुरुष की सत्ता में सतत अर्पित करने लगते हैं। आरम्भ में जब हमारी बाह्य प्रकृति की अशान्त अस्तव्यस्तता एवं अन्धकारजनक अपवित्रता अपनी हलचल मचाये होती है, जब मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अहंभाव अभी शक्तिशाली होते हैं, यह नया मानसिक दृष्टिकोण, ये अनुभव अतीव कठिन प्रतीत हो सकते हैं : पर एक बार जब वह त्रिविध अहंभाव निरुत्साहित या मृतप्राय हो जाता है और आत्मा के करण संशोधित एवं पवित्र हो जाते हैं, तब एक सर्वथा शुद्ध, प्रशान्त, निर्मल, विस्तृत चेतना में एकमेव की पवित्रता, अनन्तता और शान्ति स्वच्छ सरोवर में आकाश की भांति विशदतया प्रतिबिम्बित होती हैं। प्रतिबिम्बित करनेवाली चेतना का प्रतिबिम्बित चेतना के साथ मिलना या इसे अपने अन्दर ग्रहण करना उत्तरोत्तर अनिवार्य एवं सम्भव होता जाता

है, वह निर्विकार निर्व्यक्तिक विशाल चिदाकाश तथा वैयक्तिक सत्ता का यह किसी-समय-चंचल आवर्त या संकुचित प्रवाह—इन दोनों के बीच जो अन्तर था उसे लांघना या मिटाना अब कोई दुःसाध्य एवं असम्भवनीय कार्य नहीं रह जाता और यहांतक कि इस अवस्था का अनुभव बारंबार भी हो सकता है, भले यह अभी पूर्ण रूप से स्थायी न भी हो। क्योंकि यदि अहंपूर्ण हृदय और मन के बन्धन पहले ही काफी क्षीण एवं शिथिल पड़ चुके हों तो शुद्धि के पूर्ण होने से पहले भी जीव मुख्य रज्जुओं को एकाएक तोड़कर गगन में मुक्त किये गये पक्षी की तरह ऊपर की ओर उड़ता हुआ या एक मुक्त प्रवाह की तरह विशाल रूप से फैलता हुआ एकमेव और अनन्त की ओर प्रयास कर सकता है। सबसे पहले सहसा ही विराट् चेतना की अनुभूति होती है, मनुष्य अपनी सत्ता को विश्वमय सत्ता में होम देता है; उस विश्वमयता से वह अधिक सुगमता के साथ परात्पर की प्राप्ति के लिये अभीप्सा कर सकता है। जिन दीवारों ने हमारी चेतन सत्ता को कैद कर रखा था वे परे हट जाती हैं और फट जाती हैं या ध्वस्त होकर ढह जाती हैं; पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्व का, देश या काल में अथवा प्रकृति की क्रिया एवं उसके नियम के अन्तर्गत स्थित होने का समस्त भान लुप्त हो जाता है। अब किसी अहं या किसी निश्चित एवं निर्देश्य व्यक्ति का अस्तित्व नहीं रह जाता, रह जाती है केवल चेतना, केवल सत्ता, केवल शान्ति और आनन्द; व्यक्ति एक अमर, सनातन एवं अनन्त सत्ता बन जाता है। तब उसके जीवात्मा का अस्तित्व सनातन में किसी एक स्थलपर शान्ति, स्वातंत्र्य और आनन्द के संगीत के स्वर के रूप में ही शेष रह जाता है।

जब मानसिक सत्ता अभी पर्याप्त रूप से शुद्ध नहीं हुई होती तो मुक्ति प्रारम्भ में आंशिक एवं अस्थायी प्रतीत होती है; ऐसा लगता है कि जीव पुनः अहंमय जीवन में उतर आता है और उच्चतर चेतना उससे पीछे हट जाती है। वास्तव में होता यह है कि निम्नतर प्रकृति और उच्चतर चेतना के बीच बादल छा जाता या पर्दा पड़ जाता है और प्रकृति कुछ समय के लिये फिर कार्य करने की अपनी पुरानी आदत का अनुसरण करने लगती है; तब इसपर उस उच्च अनुभव का दबाव तो अवश्य पड़ता रहता है, पर न तो इसे सदा उसका ज्ञान रहता है और न उसकी स्मृति ही उपस्थित रहती है। तब इसके अन्दर जो कार्य करता है वह पुराने अहं का एक प्रेत होता है जो हमारी सत्ता में अभीतक बची हुई अव्यवस्था और अपवित्रता के अवशेषों के आधार पर पुरानी आदतों की यांत्रिक पुनरावृत्ति को आश्रय देता रहता है। बादल आ-आकर चला जाता है, आरोहण और अवरोहण का लयताल फिर-फिर चालू होता रहता है जबतक कि अपवित्रता को निकालकर बाहर नहीं कर दिया जाता। बदल-बदलकर आनेवाली ये अवस्थाएं पूर्णयोग में, सहज ही, दीर्घ कालतक चल सकती है; क्योंकि, यहां आधार की समग्र पूर्णता की अपेक्षा की जाती है; उसे सब समयों में, सभी अवस्थाओं और परिस्थितियों में, वे चाहे कर्म

की हों या निष्कर्मता की, परम सत्य की चेतना को अंगीकार करने में और फिर उसके अन्दर निवास करने में भी समर्थ बनना होगा। केवल समाधि की मग्नता में या निश्चल शान्ति में चरम साक्षात्कार प्राप्त करना भी साधक के लिये काफी नहीं है, बल्कि उसे क्या समाधि में और क्या जागरित में, क्या निष्क्रिय चिन्तन में और क्या क्रियाशील शक्ति की अवस्था में, सुप्रतिष्ठित ब्राह्मी चेतना की[1] सतत समाधि में रह सकना चाहिये। पर यद्यपि हमारी चेतन सत्ता पर्याप्त शुद्ध और निर्मल हो जाय या जब भी यह ऐसी हो जाय तो हमें उच्चतर चेतना में दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जायगी। निर्व्यक्तिक बना हुआ जीव, विश्वात्मा के साथ एकमय या परात्पर से अधिकृत होकर, ऊपर उच्च स्तर पर आसीन[2] रहता है और प्रकृति की पुरानी क्रिया के जो भी अवशेष आधार में पुनः प्रकट हों उनपर अविचलित भाव से दृष्टिपात करता है। वह अपनी निम्नतर सत्ता में विद्यमान प्रकृति के तीन गुणों के कार्य-व्यापार के कारण विचलित नहीं हो सकता, यहांतक कि दुःख-शोक के आक्रमणों के कारण भी वह अपनी स्थिति से चलायमान नहीं हो सकता। और अन्त में, बीच का पर्दा हट जाने के कारण, उच्चतर शान्ति निम्नतर विक्षोभ और विकार को अभिभूत कर देती है। एक सुस्थिर नीरवता प्रतिष्ठित हो जाती है जिसमें जीव ऊपर, नीचे तथा सब ओर पूर्ण रूप से अपनी सत्ता पर सर्वोच्च प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है।

निश्चय ही, परम्परागत ज्ञानयोग का लक्ष्य ऐसा प्रभुत्व प्राप्त करना नहीं है। उसका लक्ष्य तो वस्तुतः ऊर्ध्व और निम्न सत्ता से तथा सर्व से परे हटकर अवर्णनीय परब्रह्म को प्राप्त करना है। परन्तु ज्ञानमार्ग का लक्ष्य चाहे जो हो, उसके एक प्रथम परिणाम के रूप में पूर्ण शान्ति अवश्य प्राप्त होनी चाहिये; क्योंकि जबतक हमारे अन्दर होनेवाली प्रकृति की पुरानी क्रिया पूर्ण रूप से शान्त नहीं हो जाती तबतक किसी सच्ची आत्मिक अवस्था या किसी दिव्य कर्म की नींव रखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हमारी प्रकृति सत्तागत अव्यवस्था के आधार पर तथा कर्म के प्रति अशान्तिपूर्ण प्रेरणा के कारण कार्य करती है, भगवान् अथाह शान्ति में से मुक्त रूप से कार्य करते हैं। यदि हमें अपनी आत्मा पर से इस निम्नतर प्रकृति का प्रभुत्व मिटाना हो तो हमें शान्ति के उस अतल सागर में डुबकी लगानी होगी और वही बन जाना होगा। अतएव, विश्वात्मभाव को प्राप्त हुआ जीव सर्वप्रथम नीरवता में आरोहण करता है; वह विशाल, शान्त, निष्क्रिय बन जाता है। तब जो भी क्रिया घटित होती है, वह शरीर की या इन अंगों की हो या और कोई, उसे जीव देखता है, पर उसमें भाग नहीं लेता, न उसे अनुमति देता और न उससे

[1] एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।—गीता

[2] उदासीन (उत्=ऊंचाई पर, आसीन=विराजमान), इस शब्द का अर्थ है आध्यात्मिक "उदासीनता", अर्थात् परम ज्ञान का स्पर्श पायी हुई आत्मा की अनासक्त स्वतन्त्रता।

किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ता है। तब कर्म तो होता है, पर कोई व्यक्ति-रूप कर्ता नहीं होता, न कोई बन्धन या दायित्व ही होता है। यदि वैयक्तिक कर्म करने की जरूरत हो तो जीव को एक प्रकार के अहं को सुरक्षित रखना या पुनः प्राप्त करना होता है जिसे अहं का एक विशेष रूप किंवा ज्ञाता, भक्त, सेवक या यन्त्ररूप "मैं" की एक प्रकार की मानसिक प्रतिमा कहा गया है, पर वह केवल प्रतिमा ही होती है, वास्तविक वस्तु नहीं। यदि अहं की यह प्रतिमा भी न हो तो भी कर्म प्रकृति के अभीतक चले आ रहे पुराने वेगमात्र से जारी रह सकता है, पर उसका व्यक्ति-रूप कर्ता कोई भी नहीं होता, वस्तुतः तब कर्ता का किसी प्रकार का भान भी बिल्कुल नहीं होता; क्योंकि जिस परम आत्मा में जीव ने अपनी सत्ता का लय किया है वह निष्क्रिय एवं अगाध शक्तिमय है। उधर कर्म-मार्ग हमें ईश्वर का साक्षात्कार तो प्राप्त कराता है, पर यहां उस ईश्वर का भी ज्ञान प्राप्त होना शेष रह जाता है; यहां तो होता है केवल निश्चल-नीरव आत्मा और क्रियाशील प्रकृति जो अपने कार्य कर रही है; प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी अपने कार्य सचमुच की सजीव सत्ताओं के द्वारा नहीं, बल्कि ऐसे नाम-रूपों के द्वारा कर रही है जो आत्मा में अस्तित्व तो रखते हैं, पर जिन्हें आत्मा वास्तविक नहीं मानता। जीव इस साक्षात्कार से भी परे जा सकता है; आत्मा के विचारमात्र से विपरीत दिशा में यह शून्य ब्रह्म की ओर उठ सकता है, जिसमें यहां की सभी वस्तुओं का अभाव है एवं एक अनिर्वचनीय शान्ति है और जिसमें सब वस्तुओं का, सत् का भी, यहांतक कि उस सत् का भी लय हो जाता है जो व्यक्ति या विराट् के व्यक्तित्व का निर्व्यक्तिक आधार है। या फिर यह उसके साथ एक ऐसे अनिर्वचनीय "तत्" के रूप में ऐक्य लाभ कर सकता है जिसके सम्बन्ध में कुछ भी वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह विश्व और इसमें जो कुछ भी है वह सब 'तत् ' में भी अस्तित्व नहीं रखता, बल्कि वह मन को एक स्वप्न जान पड़ता है, स्वप्न भी ऐसा कि हमने आजतक जो भी स्वप्न देखे हैं या जो भी हमारी कल्पना में आये हैं उन सबसे अधिक अवास्तविक, यहांतक कि 'स्वप्न' शब्द भी इतना अधिक भावात्मक प्रतीत होता है कि यह उसकी पूर्ण अवास्तविकता को प्रकट नहीं कर सकता। ये अनुभव ही उदात्त मायावाद की आधारशिला हैं; जब मानव-मन अपने-आपको अतिक्रम कर ऊंचे-से-ऊंचा जाने के लिये उड़ान भरता है तो इन अनुभवों के द्वारा मायावाद उस पर अत्यन्त दृढ़ता के साथ अधिकार जमा लेता है।

स्वप्न और माया के ये विचार तो ऐसे परिणाममात्र हैं जो हमारी अबतक विद्यमान मानसिकता में जीव की नयी स्थिति के कारण उत्पन्न होते हैं। इनके उत्पन्न होने का एक और कारण यह है कि जीव के पुराने मानसिक संस्कार, और जीवन एवं सत्ता-सम्बन्धी इसका दृष्टिकोण इससे जो मांग करते हैं उससे यह इन्कार कर देता है। वास्तव में, प्रकृति अपने लिये या अपनी ही गति के द्वारा कार्य नहीं

करती, बल्कि आत्मा को प्रभु मानकर उसके लिये तथा उसके द्वारा कार्य करती है; क्योंकि उस नीरवता में से ही इस सब विराट् कर्म का प्रवाह फूटता है, वह प्रतीयमान शून्य अनुभवों के इन सब असीम ऐश्वर्यों को मानो गतिशील रूप में निर्मुक्त कर देता है। यह अनुभव पूर्णयोग के साधक को अवश्य प्राप्त करना होगा, किस विधि से प्राप्त करना होगा यह हम आगे चलकर बतायेंगे। जब वह इस प्रकार विश्व पर अपना प्रभुत्व पुनः प्राप्त कर लेगा और पहले की तरह अपने-आपको जगत् में नहीं देखेगा, बल्कि जगत् को अपने-आपमें देखने लगेगा, तब जीव की स्थिति क्या होगी अथवा उसकी नयी चेतना में अहं-भावना का स्थान कौन चीज ले लेगी ? अहं-भावना रहेगी ही नहीं, यद्यपि व्यक्तिगत मन और देह में वैश्व चेतना की लीला के प्रयोजनों के लिये एक प्रकार का व्यष्टिकरण अवश्य रहेगा; कारण यह कि उसके लिये सब वस्तुएं अविस्मरणीय रूप में एकमेव ही होंगी और प्रत्येक व्यक्ति या पुरुष भी उसके लिये एकमेव होगा, अपने अनेक रूपों में या यों कहें कि अपने अनेक पक्षों एवं स्थितियों में ब्रह्म ही ब्रह्म पर क्रिया कर रहा होगा, सर्वत्र एक ही नर-नारायण' व्याप रहा होगा। भगवान् की इस बृहत्तर लीला में दिव्य प्रेम के सम्बन्धों का आनन्द भी, अहंभावना में पतित हुए बिना, प्राप्त किया जा सकता है,—ठीक वैसे ही जैसे मानव-प्रेम की परमोच्च अवस्था को भी 'दो शरीरों में एक ही आत्मा' की एकता कहा जाता है। यह अहं-भावना जो विश्वलीला में इतनी सक्रिय है और वस्तुओं के सत्य को इतना मिथ्या रूप दे डालती है, लीला के लिये अनिवार्य ही हो ऐसी बात नहीं। कारण, सत्य तो सदा यह है कि एक **'एकं सत्'** है जो आप ही अपनेपर क्रिया कर रहा है, आप ही अपने साथ लीला कर रहा है, अपने एकत्व में असीम है और अपने बहुत्व में भी असीम है। जब व्यष्टिभूत चेतना विश्वलीला के इस सत्यतक उठ जाती है और इसमें निवास करने लग जाती है, तब कर्म के पूर्ण प्रवाह में रहते हुए भी, निम्नतर सत्ता को धारण करते हुए भी जीव ईश्वर के साथ एकमय रहता है, और तब न कोई बन्धन रहता है, न कोई भ्रम। वह आत्मा को प्राप्त करके अहं से मुक्त हो जाता है।

' भगवान् किंवा नारायण मानवता के साथ, उसके मानव-रूप में भी, अपनेको एक कर देते हैं। तब नर भगवान् के साथ एक हो जाता है।

अध्याय १०

विश्वात्मा का साक्षात्कार

जब हम मन, प्राण और शरीर से तथा उन और सब वस्तुओं से जो हमारी नित्य सत्ता नहीं हैं, पीछे हटते हैं तो हमारा पहला अनिवार्य लक्ष्य यह होता है कि हम आत्म-विषयक मिथ्या विचार से मुक्त हो जायें। कारण, ऐसे विचार के द्वारा हम निम्नतर सत्ता के साथ अपने-आपको एक कर देते हैं और नश्वर या सदा-परिवर्तनशील जगत् में नश्वर या क्षर प्राणियों के रूप में अपनी प्रतीयमान सत्ता को ही हृदयंगम कर सकते हैं। हमें अपने-आपको पुरुष, आत्मा एवं सनातन सत्ता के रूप में जानना होगा; हमें सचेतन रूप से अपनी सच्ची सत्ता में निवास करना होगा। अतएव, ज्ञानमार्ग में यह हमारा सर्वप्रथम, एकमात्र और अनन्य न सही, पर मुख्य विचार एवं प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। किन्तु जब हम सनातन आत्मा को जो हमारा निज स्वरूप है अनुभव कर लेते हैं, जब हम अवियोज्य रूप से वही बन जाते हैं, तब भी एक अवान्तर लक्ष्य प्राप्त करना हमारे लिये शेष रह जाता है। वह लक्ष्य है—यह सनातन आत्मा जो हमारा निज स्वरूप है तथा यह क्षर सत्ता एवं क्षर जगत् जिसे हमने आजतक मिथ्या रूप से अपनी वास्तविक सत्ता और अपनी एकमात्र सम्भवनीय स्थिति समझ रखा था—इन दोनों के बीच सच्चा सम्बन्ध स्थापित करना।

किसी भी सम्बन्ध के वास्तविक होने के लिये यह आवश्यक है कि वह दो वास्तविक सत्ताओं के बीच में हो। पहले हमने यह समझ रखा था कि सनातन आत्मा यदि मिथ्या-माया नहीं तो एक ऐसा परोक्ष प्रत्यय अवश्य है जो हमारी पार्थिव सत्ता से बहुत दूर है। क्योंकि, तब वस्तुओं की प्रकृति को देखते हुए हम यह सोच ही नहीं सकते थे कि हम काल के प्रवाह में बदलने और गति करनेवाले इस मन, प्राण और शरीर के सिवाय कोई और चीज हैं। जब एक बार हम इस निम्नतर स्थिति के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं तो हम स्वभाववश आत्मा और जगत् के बीच के उसी गलत सम्बन्ध के दूसरे पक्ष को पकड़कर बैठ सकते हैं, हम इस सनातन सत्ता को जो हम उत्तरोत्तर बनते जाते हैं या जिसमें हम निवास करते हैं, एकमात्र वास्तविक सत्ता समझने लगते हैं और इसपर से संसार तथा मनुष्य को अपने-आपसे सुदूर एक माया एवं मिथ्या वस्तु के रूप में तुच्छता की दृष्टि से देखने लगते हैं, क्योंकि यह एक ऐसी स्थिति है जो हमारे नये आधार के सर्वथा विपरीत है, जिसमें हम अब और अधिक अपनी चेतना की जड़ें नहीं जमाते, जिससे हम ऊपर उठकर रूपान्तरित हो चुके हैं, और जिसके साथ हम अब आगे के लिये कोई अनिवार्य सम्बन्ध रखते नहीं प्रतीत होते। यदि निम्नतर त्रिविध सत्ता

से पराङ्मुख होते समय हमने सनातन आत्मा की प्राप्ति को अपना मुख्य ही नहीं, बल्कि एकमात्र एवं अनन्य लक्ष्य बनाया हो तो उपर्युक्त ढंग से संसार और मनुष्य को मिथ्या-माया समझना और भी अधिक सम्भव है। क्योंकि, तब हम इस मध्यवर्ती स्तर और उस शिखर के बीच के सोपानों को पार किये बिना एकदम, वेगपूर्वक शुद्ध मन से शुद्ध आत्मा की ओर चले जा सकते हैं और अपनी चेतना पर यह गहरी अनुभूति अंकित करते जा सकते हैं कि इन दोनों के बीच एक खाई है जिसपर हम, दुःखदायी पतन के बिना, पुल नहीं बांध सकते और जिसे हम अब पुनः पार भी नहीं कर सकते।

परन्तु, आत्मा और जगत् में एक नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा इन दोनों को जोड़नेवाला एक सूत्र भी है, इनके बीच कोई ऐसी खाई नहीं है जिसे छलांग लगाकर पार करने की जरूरत हो। आत्मा और जड़ जगत् एक क्रमबद्ध और विकसनशील सत्ता की सीढ़ी का सबसे उपरला और सबसे निचला डंडा हैं। अतएव, इन दो के बीच कोई वास्तविक सम्बन्ध एवं संयोजक सूत्र अवश्य होना चाहिये जिसके द्वारा सनातन ब्रह्म शुद्ध आत्मा और पुरुष रहने के साथ-साथ अपने रचे विश्व को अपने अन्दर धारण करने में भी समर्थ है; और जो जीव सनातन के साथ एकीभूत या योगयुक्त है उसके लिये भी आज की भांति जगत् में अज्ञानपूर्वक डूबे रहने के बजाय दिव्य सम्बन्ध की इसी स्थिति को अपनाना अवश्य सम्भव होना चाहिये। सम्बन्ध जोड़नेवाला यह सूत्र है आत्मा और भूतमात्र की सनातन एकता; मुक्त जीव को यह सनातन एकता धारण करने में समर्थ होना चाहिये; ठीक वैसे ही जैसे नित्यमुक्त और बंधनातीत भगवान् इसे धारण करने में समर्थ हैं, और शुद्ध आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के साथ, जिसे कि हमें अपना प्रथम लक्ष्य बनाना होगा, समान रूप से हमें इस एकता का भी साक्षात्कार करना होगा। पूर्ण आत्म-उपलब्धि के लिये हमें आत्मा एवं ईश्वर के साथ ही नहीं, बल्कि सब भूतों के साथ भी एकता प्राप्त करनी होगी। अपनी व्यक्त सत्ता के इस जगत् को हमें यथार्थ सम्बन्ध के साथ तथा सनातन सत्य की स्थिति में फिर से अपनाना होगा यह जानते हुए कि यह हमारे मनुष्य-भाइयों से भरा हुआ है जिनसे हम इसलिये विमुख हो गये थे कि उनके साथ हम अशुद्ध सम्बन्ध के द्वारा और मिथ्यात्व की एक ऐसी स्थिति में बंधे हुए थे जिसे अपने समस्त विरोधों, विसंवादों और द्वंद्वों से युक्त विभक्त चेतना के सिद्धान्त ने काल में उत्पन्न किया था। हमें सभी पदार्थों और प्राणियों को अपनी नयी चेतना में फिर से अपनाना होगा, पर सबके साथ एक होकर, न कि अहंमय व्यष्टिभाव के द्वारा उनसे विभक्त रहकर।

दूसरे शब्दों में, शुद्ध स्वयंभू और देशकालातीत परात्पर आत्मा की चेतना के अतिरिक्त हमें वैश्व चेतना को भी स्वीकार करना तथा उसके साथ एक होना होगा, हमें उस अनन्त के साथ अपनी सत्ता की एकता का साक्षात्कार करना होगा जो

अपने-आपको सब लोकों का आदिमूल और आधार बनाता है और सर्वभूतों में निवास करता है। यह वह साक्षात्कार है जिसे प्राचीन वेदान्तियों ने 'आत्मा में सब भूतों का दर्शन और सब भूतों में आत्मा का दर्शन' कहा है; और इसके साथ ही वे एक ऐसे मनुष्य के सर्वोच्च साक्षात्कार का भी वर्णन करते हैं जिसमें सत्ता का आदि चमत्कार फिर से घटित हुआ है, अर्थात् जिसे इस साक्षात्कार की प्राप्ति हुई है कि 'उसकी अपनी सत्ता, आत्मा, ने ही व्यक्त सत्ता के लोकों के इन सब भूतों का रूप धारण कर रखा है।'[1] इन तीन सूत्रों में मूल रूप से, आत्मा और जगत् के उस समस्त वास्तविक सम्बन्ध का वर्णन आ गया है जो हमें संकीर्णकारी अहं के पैदा किये हुए मिथ्या सम्बन्ध के स्थान पर स्थापित करना होगा। अनन्त सत्ता के सम्बन्ध में यही वह नयी दृष्टि और अनुभूति है जो हमें प्राप्त करनी होगी, सबके साथ उक्त प्रकार की एकता का यही वह आधार है जिसकी हमें स्थापना करनी होगी।

कारण, हमारी वास्तविक आत्मा व्यक्तिगत मानसिक सत्ता नहीं है, यह केवल एक रूप है, एक प्रतीति है; हमारी वास्तविक आत्मा तो विश्वव्यापी और अनन्त है, वह समस्त सत्ता के साथ एकीभूत तथा सर्वभूतों के अन्दर विराजमान है। हमारे मन, प्राण और शरीर के पीछे जो आत्मा विद्यमान है वह वही है जो हमारे सब मानव-बन्धुओं के मन, प्राण और शरीर के पीछे है, और यदि हम उसे प्राप्त कर लें, तो जब हम पुनः उनपर दृष्टिपात करने के लिये मुड़ेंगे, हम अपनी चेतना के सामान्य आधार में उनके साथ स्वभावतः ही एक होते चले जायेंगे। यह सच है कि मन ऐसे किसी भी तादात्म्य का विरोध करता है और यदि हम उसे उसकी पुरानी आदतों और चेष्टाओं पर अड़े रहने दें तो वह वस्तुओं-सम्बन्धी इस वास्तविक और सनातन अन्तर्दृष्टि के अनुरूप अपने-आपको ढालने तथा इसके अनुसार बरतने की अपेक्षा कहीं अधिक हमारे नये आत्म-साक्षात्कार एवं आत्मोपलब्धि पर फिर से अपनी विरोध-विषमताओं का पर्दा डालने का ही यत्न करेगा। परन्तु, सर्वप्रथम, यदि हम अपने योग के मार्ग पर ठीक विधि से आगे बढ़े हों तो मन और हृदय के शुद्ध हो जाने से हम आत्मा को प्राप्त कर चुके होंगे, और शुद्ध मन का मतलब है एक ऐसा मन जो ज्ञान के प्रति अनिवार्य रूप से निष्क्रिय और उन्मुक्त रहता है। दूसरे, मन को उसकी सीमित और विभाजित करने की प्रवृत्ति के होते हुए भी यह सिखाया जा सकता है कि वह संकीर्णताजनक प्रतीति के खण्डित रूपों के अनुसार विचार करने के स्थानपर एकीकारक सत्य के सामंजस्यपूर्ण स्वर के अनुसार विचार करे। अतएव, ध्यान और एकाग्रता के द्वारा हमें उसमें यह अभ्यास डालना चाहिये

[1] यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥—ईश उपनिषद्

कि वह पदार्थों और प्राणियों के विषय में इस रूप में सोचना छोड़ दे कि ये अपने-आपमें पृथक् रूप से अस्तित्व रखते हैं, और इसके स्थान पर सदैव यों सोचे कि 'एकं सत्' ही सब जगह ओतप्रोत है और सब वस्तुओं के विषय में इस रूप में विचार करे कि ये 'एकं सत्' ही हैं। यद्यपि इससे पहले हम कह आये हैं कि जीव की मन, प्राण और शरीर से अलग होने की क्रिया ज्ञान-प्राप्ति की सबसे पहली आवश्यक विधि है और मानो अपने-आपमें केवल इसी का अनुसरण करना चाहिये, पर वास्तव में पूर्णयोग के साधक के लिये इन दोनों क्रियाओं का एक साथ अभ्यास करना अधिक अच्छा है। इनमें से एक के द्वारा वह अपने अन्दर आत्मा को प्राप्त करेगा, दूसरी के द्वारा वह उन सब चीजों में भी जो इस समय हमें अपने से बाहर प्रतीत होती हैं, इसी आत्मा को प्राप्त करेगा। निःसन्देह, कोई साधक इस दूसरी क्रिया से साधना आरम्भ कर सकता है, अर्थात् पहले वह इस दृश्य एवं इन्द्रियगोचर जगत् में सभी वस्तुओं को ईश्वर, ब्रह्म या विराट् पुरुष के रूप में अनुभव कर सकता है और फिर इसके परे, जो कुछ भी विराट् के पीछे अवस्थित है उस सब की ओर अग्रसर हो सकता है। परन्तु इस विधि में कुछ कठिनाइयां हैं और अतएव, यदि यह सम्भव जान पड़े तो, इन दोनों क्रियाओं को एक साथ चलाना अधिक अच्छा होगा।

हम देख ही चुके हैं कि सब वस्तुओं में इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्म का साक्षात्कार करने के तीन रूप हैं। इन्हें हम सुविधा के लिये अनुभव की तीन क्रमिक भूमिकाओं का रूप दे सकते हैं। सर्वप्रथम हमें उस विराट् आत्मा का अनुभव होता है जिसमें सब प्राणी जीवन धारण करते हैं। आत्मा एवं भगवान् ने एक ऐसी स्वयंभू, शुद्ध, अनन्त और व्यापक सत्ता के रूप में अपने-आपको व्यक्त किया है जो देश और काल के अधीन नहीं है, बल्कि इन्हें अपनी चेतना के आकारों के रूप में धारण करती है। वह विश्व की सब वस्तुओं से अधिक कुछ है और इन सबको अपनी स्वतःव्याप्त सत्ता और चेतना में समाये हुए है। जिन भी चीजों को वह उत्पन्न और धारण करती है या जिन भी चीजों का रूप ग्रहण करती है उनमें से किसी से भी वह बंधी हुई नहीं है, बल्कि मुक्त, अनन्त और आनन्दमय है। एक प्राचीन रूपक के शब्दों में, वह उन्हें उसी प्रकार धारण करती है जिस प्रकार अनन्त आकाश अपने अन्दर सब पदार्थों को धारण करता है। किसी-किसी साधक को एक ऐसी वस्तु पर जो उसे आरम्भ में एक अमूर्त एवं अग्राह्य विचार-सी प्रतीत होती है ध्यान एकाग्र करने में कठिनाई प्रतीत होती है। उसके लिये आकाश-ब्रह्म का यह रूपक क्रियात्मक दृष्टि से, निश्चय ही, अत्यधिक सहायक हो सकता है। भौतिक आकाश के नहीं, बल्कि विशाल सत्, चित्, आनन्द के सर्वतोव्यापी आकाश के इस रूपक में वह इस परमोच्च सत्ता का मन के द्वारा दर्शन करने तथा अपनी मनोमय सत्ता में इसका अनुभव करने और इसके साथ अपनी अन्तःस्थ

आत्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त करने का यत्न कर सकता है। ऐसे ध्यान के द्वारा मन को उन्मुखता की एक ऐसी अनुकूल अवस्था में लाया जा सकता है जिसमें पर्दे के फट जाने या हट जाने से अतिमानसिक अन्तर्दृष्टि का प्रवाह हमारे मन को परिप्लुत कर सकता है और हमारी समस्त दृष्टि को पूर्ण रूप से पलट सकता है। और, जैसे-जैसे दृष्टि का यह परिवर्तन अधिकाधिक सबल एवं सुदृढ़ होता जायगा तथा हमारी सारी चेतना को अपने अधिकार में करता जायगा, वैसे-वैसे अन्ततः हमारे बाह्य जीवन में भी परिवर्तन आता जायगा और, फलतः, जो कुछ हम देखते हैं, वही हम स्वयं बन भी जायेंगे। हमारी चेतना उतनी विराट् नहीं जितनी कि वह विराट् से भी परतर एवं अनन्त बन जायेगी। तब मन, प्राण और शरीर उस अनन्त चेतना में जो कि हम बन गये हैं, केवल विशेष प्रकार की गतियों के रूपमें प्रतीत होंगे, और हम देखेंगे कि जिस वस्तु का वास्तव में अस्तित्व है वह जगत् बिल्कुल नहीं है, बल्कि आत्मा की यह अनन्त सत्ता ही है जिसमें उसकी अपनी आत्म-सचेतन अभिव्यक्ति के रूपों के शक्तिशाली वैश्व सामंजस्य विचरण करते हैं।

तो फिर इस सामंजस्य का गठन करनेवाले इन सब रूपों और सत्ताओं का क्या होगा? क्या ये सब हमारे लिये केवल प्रतिमाएं होंगे, अन्दर से गठन करनेवाली किसी भी सद्वस्तु से रहित कोरे नाम-रूप तथा अपने-आपमें क्षुद्र एवं निरर्थक वस्तुएं होंगे और चाहे किसी समय ये हमारी मानसिक दृष्टि को कैसे ही भव्य, शक्तिशाली या सुन्दर क्यों न लगते रहे हों, पर अब क्या इन्हें त्याग देना होगा तथा कौड़ी कीमत का भी नहीं समझना होगा? नहीं, ऐसा नहीं; यद्यपि, सर्वाधारस्वरूप आत्मा में समाविष्ट अनन्त सत्ताओं का त्याग कर केवल उस आत्मा की अनन्तता में ही अत्यन्त प्रगाढ़ रूप से लीन रहने का पहला स्वाभाविक परिणाम ऐसा ही होगा। परन्तु ये चीजें वास्तविकता से शून्य नहीं हैं, विराट् मन के द्वारा कल्पित मिथ्या नाम-रूपमात्र नहीं हैं; जैसा कि हम कह चुके हैं, ये अपने वास्तविक रूप में आत्मा की सचेतन अभिव्यक्तियां हैं, अर्थात् आत्मा हमारी ही तरह इन सबके अन्दर भी उपस्थित है, इनसे सचेतन है तथा इनकी गति को नियन्त्रित करता है, जिन चीजों का रूप वह ग्रहण करता है, उनके अन्दर आनन्दपूर्वक निवास करता है तथा आनन्दपूर्वक ही उन्हें अपने अन्दर समाये रहता है। जैसे आकाश घट को अपने अन्दर धारण करता है और साथ ही मानों उसमें समाया भी रहता है वैसे ही यह आत्मा सब भूतों को धारण करता है और साथ ही उनमें व्याप्त भी रहता है,—भौतिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक अर्थ में; और यही उनकी वास्तविक सत्ता है। आत्मा के इस अन्तर्व्यापी स्वरूप का हमें साक्षात्कार करना होगा; सब भूतों में अवस्थित इस आत्मा के हमें दर्शन करने होंगे और अपनी चेतना में हमें यही बन जाना होगा। अपनी बुद्धि और मानसिक संस्कारों के समस्त निरर्थक प्रतिरोध को एक ओर रखकर हमें यह जानना होगा कि भगवान् इन सब व्यक्त पदार्थों में

निवास कर रहे हैं और इनका सच्चा आत्म-स्वरूप तथा चेतन आत्म-तत्त्व हैं और यह ज्ञान हमें केवल बुद्धि से नहीं, बल्कि एक ऐसे आत्मानुभव से भी प्राप्त करना होगा जो हमारी मानसिक चेतना के सभी अभ्यासों को बलपूर्वक अपने दिव्यतर सांचे में ढाल देगा।

इस आत्मा को जो हमारा निज स्वरूप है, अन्ततः, हमारी आत्म-चेतना के प्रति इस रूप में प्रकट करना होगा कि यह इन सब भूतों को अतिक्रम करता हुआ भी इन सबके साथ पूर्णतया एक है। हमें इसे केवल एक ऐसे आत्मा के रूप में नहीं देखना होगा जो सबको धारण करता है तथा सबमें व्याप्त है, वरन् ऐसे आत्मा के रूप में भी जो सब कुछ है, जो घट-घटवासी आत्मा ही नहीं है, बल्कि नाम और रूप भी है, गति और गति का स्वामी है तथा मन, प्राण और शरीर भी है। इस अन्तिम साक्षात्कार के द्वारा ही हम उन सब चीजों को जिनसे हम निवृत्ति और पराङ्मुखता की पहली क्रिया में पीछे हट गये थे, यथार्थ संतुलन की तथा सत्य के अन्तर्दर्शन की अवस्था में फिर से पूर्णतया ग्रहण कर लेंगे। अपने व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर को जिनसे हम, उन्हें अपनी सच्ची सत्ता न समझते हुए, विमुख हो गये थे, आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति के रूप में फिर से अंगीकार कर लेंगे, पर हां, अब हम उन्हें निरी वैयक्तिक संकीर्णता के साथ ग्रहण नहीं करेंगे। मन को हम एक क्षुद्र गति में आबद्ध पृथक् मन के रूप में नहीं, बल्कि वैश्व मन की विशाल गति के रूप में ग्रहण करेंगे, प्राण को जीवन-शक्ति, संवेदन और कामना की अहंभावमय चेष्टा के रूप में नहीं, बल्कि वैश्व प्राण की मुक्त क्रिया के रूप में, शरीर को आत्मा के भौतिक कारागार के रूप में नहीं, बल्कि एक गौण यंत्र तथा उतारकर अलग कर सकने योग्य वस्त्र के रूप में ग्रहण करेंगे,—इसे भी हम वैश्व जड़तत्त्व की एक गति तथा विश्व-शरीर का एक कोषाणु अनुभव करेंगे। भौतिक जगत् की समस्त चेतना को हम अपनी भौतिक चेतना के साथ एकमय अनुभव करने लगेंगे, अपने चारों ओर व्याप्त विश्व-प्राण की समस्त शक्तियों को अपनी ही शक्तियां अनुभव करेंगे, दिव्य आनन्द के साथ तालमेल साधे हुए अपने हृदय के स्पन्दनों में हम महान् वैश्व आवेग और कामना के सभी हृत्-स्पन्दनों को अनुभव करेंगे, वैश्व मन की समस्त क्रिया को अपने मन के अन्दर प्रवाहित होते हुए अनुभव करेंगे और अपनी विचारक्रिया को बाहर उस वैश्व मन की ओर, विशाल सागर में लहर की भांति, प्रवाहित होते अनुभव करेंगे। अतिमानसिक सत्य की ज्योति में और आध्यात्मिक आनन्द के स्पन्दन में समस्त मन, प्राण और जड़तत्त्व का आलिंगन करनेवाली यह एकता ही हमारे लिये पूर्ण वैश्व चेतना में भगवान् की हमारे अपने अन्दर चरितार्थता होगी।

पर, क्योंकि हमें इस सबका आलिंगन सत्ता और अभिव्यक्ति के दोहरे रूप में करना होगा, जो ज्ञान हम प्राप्त करें वह पूर्ण और समग्र होना चाहिये। उसे शुद्ध

पुरुष और आत्मा के साक्षात्कार पर ही नहीं रुक जाना होगा, बल्कि आत्मा के उन सब रूपों को भी अपने अन्दर समाविष्ट करना होगा जिनके द्वारा वह अपनी विराट् अभिव्यक्ति का धारण, भरण और विकास करता है तथा इसमें अपने-आपको व्यक्त करता है। मतलब यह कि ब्रह्म-ज्ञान के सर्वग्राही एवं व्यापक क्षेत्र में आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञान को एक कर देना होगा।

अध्याय ११

आत्मा की अभिव्यक्ति के प्रकार

ज्ञानमार्ग के द्वारा हम जिस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं वह केवल हमारी मानसिक एवं आभ्यन्तरिक सत्ता की अवस्थाओं और क्रियाओं के पीछे रहकर उन्हें धारण करनेवाली सद्वस्तु नहीं है, बल्कि एक ऐसी परात्पर एवं विराट् सत्ता भी है जिसने विश्व की समस्त गतियों में अपने को व्यक्त कर रखा है। अतएव, आत्मा के ज्ञान में सत्ता के मूलतत्त्वों एवं उसके आधारभूत प्रकारों का तथा गोचर जगत् के मूलतत्त्वों के साथ उसके सम्बन्धों का ज्ञान भी समाविष्ट हो जाता है। उपनिषद् ने एक स्थल पर ब्रह्म का वर्णन इस रूप में किया है कि वह एक ऐसा तत्त्व है जिसका ज्ञान होने पर सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। वहां उसका मतलब ब्रह्म के उक्त प्रकार के ज्ञान से ही है।[1] सबसे पहले उसे सत्ता के शुद्ध तत्त्व के रूप में अनुभव करना होगा; तदनन्तर, उपनिषद् कहती है, उसे अनुभव करनेवाले आत्मा के प्रति उसकी अभिव्यक्ति के मूल प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं। निःसन्देह, इस अनुभव से पहले भी हम दार्शनिक तर्क के द्वारा इस विषय का विश्लेषण करने और यहांतक कि बुद्धि के द्वारा इसे समझने का भी यत्न कर सकते हैं कि सत्ता और जगत् का स्वरूप क्या है, किन्तु ऐसे दार्शनिक बोध को ज्ञान नहीं कह सकते। अपि च, चाहे ज्ञान और अन्तर्दर्शन के रूप में हमें उसका साक्षात्कार प्राप्त हो भी जाये तो भी यह तबतक अपूर्ण ही रहेगा जबतक हम एक समग्र आत्मानुभव के रूप में उसका साक्षात्कार न कर लें और जिस वस्तु का साक्षात्कार हमने किया है उसके साथ अपनी सम्पूर्ण सत्ता को एक न कर दें।[2] योग की विद्या यह है कि हम उस परमोच्च सत्ता का ज्ञान प्राप्त करें और योग की कला यह है कि हम इसके साथ एकमय हो जायें, ताकि हम आत्मा में निवास करते हुए अपनी इस सर्वोच्च स्थिति से कर्म कर सकें। इसके लिये हमें उस परात्पर भगवान् के साथ जिसे सब पदार्थ और प्राणी अज्ञानपूर्वक या अधूरे ज्ञान एवं अनुभव से, अपने अंगों के निम्नतर नियम के द्वारा प्रकट करने का यत्न करते हैं, अपनी सत्ता के चेतन सारतत्त्व में ही नहीं, बल्कि सचेतन विधान में भी एकत्व प्राप्त करना होगा। सर्वोच्च सत्य को जानना तथा उसके साथ समस्वर होना सच्चा अस्तित्व धारण करने की शर्त है, जो कुछ भी हम हैं, जो भी अनुभव और कर्म हम करते हैं उस सबमें इस सत्य को प्रकट करना सच्चा जीवन यापित करने की शर्त है।

[1] यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्। —शाण्डिल्य उपनिषद्

[2] गीता ने सांख्य और योग में जो भेद किया है वह यही है; पूर्ण ज्ञान के लिये दोनों ही आवश्यक हैं।

परन्तु सर्वोच्च सत्ता को ठीक प्रकार से जानना और व्यक्त करना मनोमय प्राणी, मनुष्य के लिये आसान नहीं है, क्योंकि सत्ता का सर्वोच्च सत्य और फलतः उसकी अभिव्यक्ति के सर्वोच्च प्रकार मन से परे की वस्तुएं हैं। ये उन तत्त्वों की मूल एकता पर आधारित हैं जो मन एवं बुद्धि को सत्ता और विचार के विरोधी ध्रुव और अतएव समन्वय-अयोग्य परस्पर-विपरीत एवं विरोधी तत्त्व प्रतीत होते हैं और जो जगद्विषयक हमारे मानसिक अनुभव के लिये तो निश्चितरूपेण ऐसे ही हैं, पर अतिमानसिक अनुभव के लिये एक ही सत्य के पूरक पक्ष हैं। यह बात हम पहले भी देख चुके हैं जब हमने कहा था कि आत्मा को एक ही साथ एक और बहु के रूप में अनुभव करना आवश्यक है; क्योंकि हमें प्रत्येक पदार्थ और प्राणी को 'वही' अनुभव करना होगा; सब 'वही' हैं। इस रूप में सबकी एकता अनुभव करनी होगी—वस्तुओं के कुलयोग की एकता तथा उनके सारतत्त्व की एकता इन दोनों रूपों में सबको 'उस' में एकमय अनुभव करना होगा; और 'उसे' एक ऐसे परात्पर के रूप में अनुभव करना होगा जो इस सब एकता और अनेकता के जिसे हम सत्तामात्र के दो विरोधी, पर सहचारी ध्रुवों के रूप में सर्वत्र देखते हैं, परे विद्यमान है। कारण, प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में आत्मा एवं भगवान् ही है, भले ही वह अपने मानसिक और शारीरिक रूप के उन बाह्य बन्धनों से जकड़ा हुआ हो जिनके द्वारा वह काल-विशेष एवं देश-विशेष में, व्यक्ति को जानने के लिये उपयोगी आन्तरिक अवस्था एवं बाह्य क्रिया और घटना के जाल का निर्माण करनेवाली परिस्थितियों की किसी विशेष शृंखला में अपने-आपको प्रकट करता है। बिलकुल इसी प्रकार प्रत्येक समष्टि भी, वह छोटी हो या बड़ी, आत्मा एवं भगवान् ही है जो इस अभिव्यक्ति की अवस्थाओं में अपने-आपको उक्त ढंग से प्रकट कर रहे हैं। यदि हम किसी व्यक्ति या समष्टि का ज्ञान केवल उसी रूप में प्राप्त करें जिसमें कि वह भीतर से अपने-आपको या बाहर से हमें दिखायी देती है तो हम उसे वास्तविक रूप में बिलकुल नहीं जान सकते, उसका ज्ञान तो हम असल में तभी प्राप्त कर सकते हैं यदि हम उसे भगवान् तथा एकमेव के रूप में, अपने उस परम आत्मा के रूप में जान लें जो आत्म-अभिव्यक्ति के नानाविध मूल प्रकारों तथा नैमित्तिक परिस्थितियों का प्रयोग करता है। जबतक हम अपने मन के अभ्यासों को इस प्रकार रूपान्तरित नहीं कर डालते कि वह एकमेव में सब भेदों का सामंजस्य कर देनेवाले इस ज्ञान में पूर्ण रूप से निवास करने लगे तबतक हम वास्तविक सत्य में जीवन यापन नहीं करते, क्योंकि हमारा निवास वास्तविक एकता में नहीं होता। एकता की पूर्ण भावना वह नहीं है जिसमें सबको एक ही अखण्ड समष्टि के अंग, एक ही समुद्र की लहरें समझा जाता है, बल्कि वह है जिसमें प्रत्येक तथा 'सब' को परम तादात्म्य में पूर्ण रूप से भगवान्, पूर्ण रूप से हमारा अपना आत्मा माना जाता है।

तथापि, अनन्त की माया के अति जटिल होने के कारण, एक ऐसी भावना भी है जिसमें सबको अखण्ड समष्टि के अंगों एवं समुद्र की लहरों के रूप में अथवा यहांतक कि, एक अर्थ में, पृथक् सत्ताओं के रूप में देखना भी पूर्ण सत्य और पूर्ण ज्ञान का आवश्यक अंग बन जाता है। क्योंकि, यद्यपि आत्मा सदा सबमें एक ही है, तथापि हम देखते हैं कि कम-से-कम सृष्टि-चक्र के प्रयोजनों के लिये वह अपने-आपको ऐसे नित्य जीवों के रूप में प्रकट करता है जो लोक-लोकान्तरों और युग-युगान्तरों में हमारे व्यक्तित्व की गतियों पर शासन करते हैं। यह नित्य जीव-सत्ता ही हमारी वास्तविक व्यष्टि-सत्ता है जो उस वस्तु के जिसे हम अपना व्यक्तित्व कहते हैं सतत परिवर्तनों के पीछे अवस्थित है। यह कोई सीमित अहंभाव नहीं है, बल्कि एक ऐसी वस्तु है जो अपने-आपमें अनन्त है; वास्तव में यह जीव स्वयं 'अनन्त' ब्रह्म ही है जो अपनी सत्ता के एक स्तर से जीवात्मा के नित्य अनुभव के रूप में अपने-आपको स्वेच्छापूर्वक प्रतिबिम्बित कर रहे हैं। सांख्यों के अनेक 'पुरुषों' के सिद्धान्त के मूल में भी यही सत्य काम कर रहा है; इस सिद्धान्त के अनुसार अनेक, बीजरूप, अनन्त, मुक्त और निर्व्यक्तिक जीव एक ही विश्व-शक्ति की गतियों को प्रतिबिम्बित कर रहे हैं। विशिष्टाद्वैतवाद के दर्शन ने भी जो सांख्य मत से अत्यन्त भिन्न है तथा जो बौद्धों के शून्यवाद एवं वेदान्तियों के मायावादी अद्वैत की दार्शनिक अतियों के विरुद्ध एक विद्रोह के रूप में उदित हुआ था, इसी सत्य को एक भिन्न ढंग से अपना आधार बनाया है। बौद्ध और सांख्य सिद्धान्तों का मिश्रण-रूप एक प्राचीन सिद्धान्त यह मानता था कि विश्व में केवल एक शान्त निष्क्रिय पुरुष सर्वत्र व्याप्त है और उसके अतिरिक्त यहां पञ्चभूतों तथा निश्चेतन शक्ति के तीन गुणों के सतत संयोग को छोड़कर और कुछ भी नहीं है, पञ्चभूतों और तीन गुणों की मिथ्या क्रिया को यह निश्चेतन शक्ति निष्क्रिय पुरुष की उस चेतना के द्वारा जिसमें कि इस क्रिया का प्रतिबिम्ब पड़ता है, चेतन और सजीव कर देती है। पर यह सिद्धान्त ब्रह्म का पूर्ण सत्य नहीं है। हम केवल उन परिवर्तनशील मानसिक, प्राणिक और शारीरिक उपादानों का पुंजमात्र नहीं हैं जो एक जन्म से दूसरे जन्म में मन, प्राण तथा शरीर के विभिन्न रूप धारण करते रहते हैं और परिणामतः इस सब प्रवाह के पीछे कोई वास्तविक आत्मा या अस्तित्व का कोई चेतन हेतु कभी भी नहीं होता अथवा कम-से-कम उस निष्क्रिय पुरुष के सिवाय और कोई नहीं होता जो इनमें से किसी भी चीज की परवा नहीं करता। हमारे मानसिक, प्राणिक और शारीरिक व्यक्तित्व के सतत परिवर्तन के पीछे हमारी सत्ता की एक वास्तविक और स्थिर शक्ति विद्यमान है और हमें इसे जानना तथा सुरक्षित रखना होगा, ताकि अनन्त ब्रह्म अपने सनातन वैश्व व्यापार के किसी भी क्षेत्र में तथा उसके किसी भी प्रयोजन के लिये अपने संकल्प के अनुसार अपने-आपको इस जीवात्म-शक्ति के द्वारा प्रकट कर सकें।

अपिच, यह एकमेव जिससे सब वस्तुएं उद्‌भूत होती हैं, ये बहु जिनका कि यह एकमेव सारतत्त्व और आदिमूल है, और यह ऊर्जा, शक्ति या प्रकृति जिसके द्वारा एक और बहु के सम्बन्धों को स्थिर रखा जाता है— इन सबके सम्भवनीय, शाश्वत और अनन्त सम्बन्धों के दृष्टिकोण से यदि हम सत्ता का अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि द्वैतवादी दर्शन और धर्म भी जो सब सत्ताओं की एकता का अत्यन्त जोरदार शब्दों में खण्डन करते और परमेश्वर तथा उसके जीवों के बीच एक दुर्लंघ्य भेद पैदा करते प्रतीत होते हैं, कुछ हदतक युक्तियुक्त हैं। यद्यपि अपने स्थूलतम रूपों में इन धर्मों का लक्ष्य निम्नतर स्वर्गों के अज्ञानपूर्ण सुख प्राप्त करना ही हो तथापि इनका एक अत्यधिक ऊंचा और गहरा अर्थ भी है। उस अर्थ में हम एक भक्त कवि के उस उद्‌गार का सही मूल्य आंक सकते हैं जिसके द्वारा उसने एक सुपरिचित, पर बलपूर्ण रूपक की भाषा में यह दावा किया था कि परमात्मा के आलिंगन के दिव्यानन्द का सदा-सर्वदा उपभोग करना आत्मा का निज अधिकार है। उसने लिखा था कि "मैं शक्कर बनना नहीं चाहता, मैं शक्कर खाना चाहता हूं।" सबमें व्याप्त एकमेव आत्मा की तात्त्विक एकता पर हम अपना आधार कितनी ही दृढ़ता से क्यों न रखें, फिर भी भक्त कवि के उक्त उद्‌गार को एक प्रकार की आध्यात्मिक विलासिता की अभिलाषामात्र या परम सत्य की शुद्ध एवं उच्च कठोरता का एक आसक्त एवं अज्ञ आत्मा के द्वारा परित्यागमात्र समझना हमारे लिये उचित नहीं। इसके विपरीत, अपने भावात्मक भाग में इस उद्‌गार का लक्ष्य परम पुरुष के एक ऐसे गहरे और रहस्यमय सत्य को प्राप्त करना है जिसे कोई भी मानवी भाषा व्यक्त नहीं कर सकती, मानवी तर्कबुद्धि जिसका उपयुक्त विवरण नहीं दे सकती, पर जिसकी कुंजी हृदय के पास है और जिसे अपनी शुद्ध तपस्या पर आग्रह करनेवाले आत्मज्ञानी का अहंकार मिटा नहीं सकता। परन्तु यह सत्य विशेष रूप से भक्तिमार्ग के शिखर से सम्बन्ध रखता है और वहां हमें इसकी पुनः चर्चा करनी होगी।

पूर्णयोग का साधक अपने लक्ष्य के सर्वांगीण रूप को ही अपनी दृष्टि में लायेगा और उसकी सर्वांगीण चरितार्थता के लिये यत्न करेगा। भगवान् अपनी अभिव्यक्ति के अनेक मूल प्रकारों के द्वारा अपने-आपको नित्य ही प्रकट करते रहते हैं, अपनी सत्ता के अनेक स्तरों पर तथा उसके अनेक ध्रुवों के द्वारा वह अपना अस्तित्व धारण करते हैं तथा अपने-आपको प्राप्त भी करते हैं। अभिव्यक्ति के इन प्रकारों में से प्रत्येक का अपना उद्देश्य है, प्रत्येक स्तर या ध्रुव की अपनी चरितार्थता है—सनातन एकता के सर्वोच्च शिखर तथा महान् क्षेत्र दोनों में। एकमेव की प्राप्ति हमें, अनिवार्य रूप से, व्यष्टिगत आत्मा के द्वारा ही करनी होगी, क्योंकि यही हमारे समस्त अनुभव का आधार है। ज्ञान के द्वारा हम एकमेव के साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं; क्योंकि, द्वैतवादी की मान्यता के रहते भी, एक

तात्त्विक अद्वैतभाव है जिसके द्वारा हम अपने आदि स्रोत में निमज्जित होकर व्यक्तिभाव के समस्त बन्धन से और यहांतक कि विश्वात्मभाव के समस्त बन्धन से भी मुक्त हो सकते हैं। यह बात नहीं कि इस अद्वैतभाव का अनुभव केवल ज्ञान के लिये या अमूर्त्त सत्ता की शुद्ध अवस्था के लिये ही लाभदायक होता है। अपितु हम देख ही चुके हैं कि हमारे समस्त कर्म का शिखर भी कर्ममार्ग के द्वारा भागवत इच्छाशक्ति या चिच्छक्ति के साथ एकत्व प्राप्त करके अपने-आपको सर्वकर्ममहेश्वर में निमज्जित कर देना है; प्रेम की पराकाष्ठा अपने प्रेम और आराधना के पात्र के साथ आनन्दोद्रेकमय एकत्व में अपने-आपको परमोल्लास के साथ निमग्न कर देना है। परन्तु फिर जगत् में दिव्य कर्म करने के लिये व्यष्टिगत आत्मा अपने-आपको चेतना के एक केन्द्र के रूप में परिणत कर देता है। उस केन्द्र के द्वारा भागवत इच्छाशक्ति जो भागवत प्रेम और प्रकाश के साथ एकीभूत होती है, विश्व के बहुत्व में अपने-आपको उंडेल देती है। इसी प्रकार हम परमात्मा के साथ तथा अन्य सबकी आत्मा के साथ अपनी इस आत्मा की एकता के द्वारा अपने सब मनुष्य-भाइयों के साथ अपनी एकता उपलब्ध कर लेते हैं। साथ ही, प्रकृति के कर्म में हम इसके द्वारा एकमेव के अंशभूत जीव के रूप में एक भेदस्थिति को भी सुरक्षित रखते हैं जो हमें अन्य प्राणियों के साथ तथा स्वयं परमात्मा के साथ 'अभेद में भी भेद' के सम्बन्धों को सुरक्षित रखने की सामर्थ्य प्रदान करती है। अवश्य ही ये सम्बन्ध अपने सारतत्त्व और अपनी भावना में उनसे अत्यन्त भिन्न होंगे जो हम ईश्वर और जीवों के साथ उस समय रखते थे जब हम पूर्ण रूप से अज्ञान में ही निवास करते थे तथा जब एकत्व हमारे लिये एक निरा नाम था या फिर अपूर्ण प्रेम, सहानुभूति या उत्कण्ठा की संघर्षमयी अभीप्सा के रूप में ही अस्तित्व रखता था। तब एकत्व ही हमारे जीवन का नियम होगा, भेद का अस्तित्व तो केवल इस एकत्व के नानाविध उपभोग के लिये रह जायगा। विभाजन का जो स्तर अहंभाव की पृथक्ता से चिमटा रहता है उसमें फिर से न उतरते हुए और शुद्ध अद्वैत की जिस अनन्य स्पृहा को भेद की किसी भी क्रीड़ा से कुछ भी मतलब नहीं हो सकता, उसमें आसक्त न होते हुए हम सत्ता के दो ध्रुवों का उस बिन्दु पर जहां वे परमोच्च पुरुष की अनन्तता में एक-दूसरे से मिल जाते हैं, आलिंगन तथा समन्वय करेंगे।

परम आत्मा, यहांतक कि व्यक्ति की आत्मा भी, जैसे हमारे मानसिक अहंभाव से भिन्न है वैसे ही हमारे व्यक्तित्व से भी भिन्न है। हमारा व्यक्तित्व सदा एक-सा नहीं रहता; यह तो एक प्रकार के अनवरत परिवर्तन तथा नानाविध संयोग का नाम है। यह मूलभूत चेतना नहीं है, बल्कि चेतना के रूपों का एक प्रकार का विकास है,—सत्ता की कोई शक्ति नहीं है, बल्कि उसकी अपूर्ण शक्तियों की नानाविध लीला है,—हमारी सत्ता के आनन्द का भोक्ता नहीं है, वरन् अनुभव के उन विविध स्वरों और तानों की खोज है जो इस आनन्द को, कम या अधिक, क्षर

सम्बन्धों के रूप में परिणत कर दें। यह व्यक्तित्व भी 'पुरुष' और ब्रह्म है, पर है क्षर पुरुष, सनातन का दृश्य रूप न कि उसका स्थिर सत्स्वरूप। गीता पुरुष के तीन भेद प्रतिपादित करती है, ये तीन पुरुष भागवत सत्ता की सब भूमिकाओं और उसके सम्पूर्ण कार्य-व्यापार का गठन करते हैं; ये हैं क्षर, अक्षर और परात्पर जो अन्य दो से परे है तथा उन्हें अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए है। यह परात्पर पुरुष ही परमेश्वर है जिसमें हमें निवास करना होगा, यही हमारे और सबके अन्दर अवस्थित परम आत्मा है। अक्षर पुरुष शान्त, निष्क्रिय, सम, और निर्विकार आत्मा है। इसे हम तब प्राप्त करते हैं जब हम कर्म से पीछे हटकर निष्क्रियता की ओर, चेतना और शक्ति की लीला तथा आनन्द की खोज से भी पीछे हटकर चेतना, शक्ति और आनन्द के उस शुद्ध और नित्य आधार की ओर मुड़ते हैं जिसके द्वारा परात्पर पुरुष मुक्त, सुरक्षित और अनासक्त रहते हुए लीला का धारण तथा उपभोग करता है। क्षर पुरुष व्यक्तित्व के उस परिवर्तनशील प्रवाह का, जिसके द्वारा हमारे विश्वगत जीवन के सम्बन्ध सम्भव बनते हैं, उपादान और प्रत्यक्ष प्रेरक है। क्षर पुरुष में प्रतिष्ठित मनोमय प्राणी उसके प्रवाह में ही गति करता रहता है और इसे शाश्वत शान्ति, शक्ति एवं आत्मानन्द प्राप्त नहीं हैं; अक्षर पुरुष में प्रतिष्ठित आत्मा के अन्दर ये सब विद्यमान होते हैं पर वह जगत् में कर्म नहीं कर सकती; किन्तु जो आत्मा परात्पर पुरुष में निवास कर सकती है वह सत्ता की शाश्वत शान्ति, शक्ति, आनन्द और विशालता का उपभोग करती है, अपने आत्मज्ञान और आत्मशक्ति में चरित्र एवं व्यक्तित्व से या अपनी शक्ति के रूपों तथा अपनी चेतना के अभ्यासों से नहीं बंधी होती और फिर भी जगत् में भगवान् को प्रकट करने के लिये इन सबको विशाल स्वतन्त्रता और शक्ति के साथ प्रयुक्त करती है। यहां भी इस परिवर्तन का अभिप्राय आत्मा के मूल प्रकारों में किसी प्रकार का हेरफेर नहीं वरन् यह है कि हम परात्पर पुरुष के स्वातंत्र्य में उदित होकर अपनी सत्ता के दिव्य विधान का यथावत् प्रयोग करते हैं।

पुरुष का यह त्रिविध रूप उस भेद से सम्बन्ध रखता है जो भारतीय दर्शन ने सगुण और निर्गुण ब्रह्म में और यूरोपीय विचार ने सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक ईश्वर में किया है। उपनिषद् जब परात्पर ब्रह्म का वर्णन "निर्गुण गुणी"[1] इन शब्दों में करती है तो वह उक्त विरोध के सापेक्ष स्वरूप की ओर काफी स्पष्ट रूप में संकेत कर देती है। यहां फिर सनातन सत्ता के दो तात्त्विक प्रकार, दो मूल रूप, दो ध्रुव हमारे सामने हैं, ये दोनों परात्पर भागवत सद्वस्तु में अतिक्रान्त हो जाते हैं। वास्तव में ये दोनों (वेदान्त के) शान्त-निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्म से मिलते-जुलते हैं। क्योंकि, एक विशेष दृष्टिकोण से विश्व के सम्पूर्ण कार्य-व्यापार को ब्रह्म के अगणित और अनन्त गुणों का नानाविध प्रकाश और रूपायण समझा जा सकता है। उनकी

[1] निर्गुणो गुणी।

सत्ता सचेतन संकल्प के द्वारा सब प्रकार के गुणों तथा चेतन सत्ता के उपादान के रूपायणों का, मानों क्रियाशील आत्म-चेतना के वैश्व स्वभाव और सामर्थ्य के अभ्यासों का, गुणों का, रूप ग्रहण करती हैं जिनमें कि जगत् के समस्त कार्य-व्यापार को विश्लेषण के द्वारा परिणत किया जा सकता है। परन्तु वे इन गुणों में से किसी एक से या इन सबसे अथवा इनकी चरम एवं अनन्त सम्भाव्य शक्ति से बंधे हुए नहीं हैं; अपने सब गुणों से ऊपर हैं और सत्ता के एक विशेष स्तर पर उनसे मुक्त रूप में अवस्थित हैं। निर्गुण ब्रह्म गुणों को धारण करने में असमर्थ नहीं हैं, वरन् ठीक ये निर्गुण या गुणाभाव-रूप ब्रह्म ही अपने-आपको सगुण एवं अनन्तगुण ब्रह्म के रूप में तथा अनन्त गुणों के रूप में प्रकट करते हैं, क्योंकि वे अपनी असीमतया विविध आत्म-अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता में सब वस्तुओं को धारण किये हुए हैं। वे इनसे मुक्त हैं इसका यही अर्थ है कि वे इनसे परे हैं, और वास्तव में यदि वे इनसे मुक्त न होते तो ये अनन्त नहीं हो सकते थे; तब ईश्वर अपने गुणों के अधीन होते, अपनी प्रकृति से बंधे होते, प्रकृति सर्वोपरि सत्ता होती और पुरुष होता उसकी रचना और उसका खिलौना। सनातन न तो गुण से बंधे हैं और न गुण के अभाव से, न व्यक्तित्व से न निर्व्यक्तित्व से। वे तो स्वयं वे ही हैं, हमारी सब भावात्मक और अभावात्मक परिभाषाओं से परे।

पर यद्यपि हम सनातन की परिभाषा नहीं कर सकते तथापि उसके साथ अपने-आपको एक कर सकते हैं। यह कहा गया है कि हम निर्व्यक्तिक ईश्वर तो बन सकते हैं पर सव्यक्तिक ईश्वर नहीं, किन्तु यह केवल इस अर्थ में सत्य है कि कोई भी व्यक्तिगत रूप में सब लोकों का प्रभु नहीं बन सकता; हम सक्रिय ब्रह्म की तथा निश्चल-नीरवता की सत्ता में मुक्त होकर प्रवेश कर सकते हैं; हम दोनों में निवास कर सकते हैं, दोनों में अपने सत्-स्वरूप की ओर लौट सकते हैं, पर इनमें से प्रत्येक में उसके अपने विशिष्ट ढंग से, अर्थात् निर्गुण ब्रह्म के साथ तो अपने सारतत्त्व में एक होकर तथा सगुण के साथ अपनी सक्रिय सत्ता की स्वाधीनता में, अपनी प्रकृति में, एक होकर।[1] परम पुरुष सनातन शान्ति, समता और नीरवता में से अपने-आपको एक ऐसी सनातन क्रिया के रूप में बाहर उंडेल देते हैं जो मुक्त और अनन्त होती है, अपने लिये अपने आत्म-निर्धारणों को स्वतन्त्रतापूर्वक नियत करती है, गुणों के नानाविध संयोग का गठन करने के लिये अनन्त गुणों का प्रयोग करती है। हमें इस शान्ति, समता एवं नीरवता को प्राप्त करना होगा और इनमें से कर्म करना होगा—गुणों के बन्धन से भगवान् की तरह मुक्त रहकर पर फिर भी जगत् में भगवत्कर्म के लिये गुणों का, यहांतक कि अत्यन्त विरोधी गुणों का भी विशाल और नमनीय रूप में प्रयोग करते हुए कर्म करना होगा। अन्तर इतना ही होगा कि जहां परमेश्वर सब वस्तुओं के केंद्र में काम करते हैं वहां हमें व्यक्तिरूपी

[1] साधर्म्य-मुक्ति।

केन्द्र में से, उनके अंशभूत जीव के रूप में हमारी जो सत्ता है उसमें से होनेवाले उनके संकल्प, बल और ज्ञान के संचार के द्वारा कर्म में प्रवृत्त होना होगा। परमेश्वर किसी भी वस्तु के अधीन नहीं हैं; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति का जीवात्मा अपने परमोच्च आत्मा के अधीन है और उसकी यह अधीनता जितनी ही अधिक और पूर्ण होती है, उसके अन्दर निरपेक्ष शक्ति और स्वतन्त्रता की अनुभूति उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।

Personal (सव्यक्तिक) और Impersonal (निर्व्यक्तिक) में भेद सारतः सगुण और निर्गुण में किये गये भारतीय भेद के ही समान है, किन्तु अंग्रेजी के इन शब्दों के साथ जो संस्कार जुड़े हुए हैं उनके अन्दर एक प्रकार की संकीर्णता है जो भारतीय विचार के प्रतिकूल है। यूरोप के धर्मों का सव्यक्तिक ईश्वर 'सव्यक्तिक' शब्द के मानवीय अर्थ में एक 'व्यक्ति' है जो अपने गुणों से सीमित है यद्यपि वैसे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है; यह विचार शिव, विष्णु या ब्रह्मा अथवा सबकी भगवती माता, दुर्गा या काली, की विशिष्ट भारतीय कल्पनाओं से मिलता-जुलता है। वस्तुतः प्रत्येक धर्म ईश्वर की आराधना और सेवा के लिये अपने अन्तःसार और विचार के अनुसार भिन्न-भिन्न सव्यक्तिक इष्टदेव की स्थापना करता है। कल्विन (Calvin)[1] का उग्र और निष्ठुर ईश्वर सेंट फ्रांसिस[2] के मधुर और प्रेममय ईश्वर से भिन्न प्रकार की सत्ता है, जैसे कि दयामय विष्णु रौद्र पर सदा ही प्रेममयी और कल्याणकारिणी काली से भिन्न हैं जो अपने संहार-कार्य में भी करुणा से युक्त होती हैं और अपने विनाश-कार्यों के द्वारा भी रक्षा करती हैं। तपोमय त्याग के देवता तथा सब वस्तुओं का संहार करनेवाले शिव, विष्णु और ब्रह्मा से भिन्न प्रकार की सत्ता प्रतीत होते हैं। क्योंकि, विष्णु और ब्रह्मा प्रेम तथा प्राणिमात्र के प्रतिपालन की भावना से अथवा जीवन तथा सृजन के लिये कार्य करते हैं। यह स्पष्ट ही है कि ऐसी परिकल्पनाएं एक अत्यन्त अपूर्ण एवं सापेक्ष अर्थ में ही विश्व के अनन्त एवं सर्वव्यापक स्रष्टा तथा शासक की सच्ची व्याख्याएं हो सकती हैं। न ही भारतीय धार्मिक विचार इन्हें उपयुक्त व्याख्याओं के रूप में प्रतिपादित करता है। सगुण ईश्वर अपने गुणों से मर्यादित नहीं हैं, वे अनन्तगुण हैं, अनन्त गुणों को धारण कर सकते हैं और उनसे परे तथा उनके स्वामी भी हैं और अपनी इच्छानुसार उनका उपयोग करते हैं। व्यक्ति की आत्मा की कामना और आवश्यकता को उसके स्वभाव और व्यक्तित्व के अनुसार पूरा करने के लिये वे अपने अनन्त देवत्व के नानाविध नामों और रूपों में अपने-आपको प्रकट करते हैं। यही कारण है कि यूरोपीय मन को वेदान्त या सांख्य दर्शन से भिन्न प्रकार के ऐसे हिन्दुधर्म को समझने में इतनी अधिक कठिनाई मालूम होती है, क्योंकि वह अनन्त गुणों से युक्त

[1] जेनेवा के एक महान् धार्मिक सुधारक।

[2] रोमन कैथोलिक चर्च के संस्थापक असीसी के एक संत।

सव्यक्तिक ईश्वर को सहज ही कल्पना में नहीं ला सकता, ऐसे सव्यक्तिक ईश्वर को जो 'कोई एक' व्यक्ति नहीं, बल्कि एकमात्र वास्तविक व्यक्ति है तथा व्यक्तित्वमात्र का मूल स्रोत है। तथापि दिव्य व्यक्तित्व का एकमात्र यथार्थ और पूर्ण सत्य यही है।

हमारे समन्वय में दिव्य व्यक्तित्व का क्या स्थान है इसपर सम्यक् रूप से विचार तो तभी हो सकेगा जब हम भक्तियोग का वर्णन आरम्भ करेंगे, यहां इतना संकेत करना ही यथेष्ट होगा कि पूर्णयोग में इसका स्थान है और वह तब भी सुरक्षित रहता है जब कि मोक्ष प्राप्त हो जाता है। क्रियात्मक दृष्टि से, वैयक्तिक इष्ट देवता के पास पहुंचने के लिये तीन सोपान हैं; प्रथम वह जिसमें हम उनकी कल्पना एक विशेष आकार या विशेष गुणों के रूप में करते हैं; वह आकार या वे गुण भगवान् का एक ऐसा नाम-रूप होते हैं जिन्हें हमारी प्रकृति एवं हमारा व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अधिक पसन्द करते हैं।[1] दूसरा वह जिसमें वे एकमात्र वास्तविक व्यक्ति होते हैं, सर्वव्यक्ति-स्वरूप और अनन्त-गुणमय होते हैं; तीसरा वह जिसमें हम व्यक्तित्व के समस्त विचार और तथ्य के चरम मूल में जा पहुंचते हैं, यह मूल उस तत्त्व में निहित है जिसका निर्देश उपनिषद् में बिना कोई विशेषण लगाये केवल एक शब्द 'सः' के द्वारा किया गया है। इस तत्त्व में ही सगुण और निर्गुण भगवान्सम्बन्धी हमारे अनुभव एक बिन्दु पर मिल जाते हैं और विशुद्ध देवत्व में एक हो जाते हैं। क्योंकि, निर्गुण भगवान्, अपने चरम रूप में, सत्ता का कोई अमूर्त भाव या निरा मूलतत्त्व अथवा उसकी केवल एक अवस्था या शक्ति एवं भूमिका नहीं हैं वैसे ही जैसे कि हम स्वयं वास्तव में ऐसी अमूर्त वस्तुएं नहीं हैं। बुद्धि आरम्भ में ऐसी परिकल्पनाओं के द्वारा ही उनके निकट पहुंचती है, परन्तु साक्षात्कार की परिणति इनके परे जाने से ही होती है। सत्ता के अधिकाधिक ऊंचे मूलतत्त्वों और सचेतन सत्ता की अवस्थाओं के साक्षात्कार के द्वारा हम किसी ऐसी अवस्था में नहीं पहुंचते जिसमें एक प्रकार के भावात्मक शून्य में अथवा यहांतक कि सत्ता की किसी अवर्णनीय स्थिति में सब वस्तुओं का लय हो जाता हो, बल्कि उस साक्षात् परात्पर सत्ता को जा पहुंचते हैं जो सत् भी है, वह सत् सभी व्यक्तित्वमूलक परिभाषाओं से परे है और फिर भी सदा एक ऐसी सत्ता है जो व्यक्तित्व का मूल तत्त्व है।

जब हम 'उस'में निवास करते तथा अपना अस्तित्व धारण करते हैं, तो हम उसे उसके दोनों रूपों में प्राप्त कर सकते हैं; सत्ता और चेतना की परमोच्च अवस्था में, आत्मनिष्ठ शक्ति और आनन्द की अनन्त निर्गुणता में तो हम निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं, व्यक्ति की जीवात्मा के माध्यम से कार्य करनेवाली दिव्य प्रकृति के द्वारा और इस जीवात्मा तथा इसके परात्पर एवं विश्वमय आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा हम सगुण ब्रह्म को भी प्राप्त कर सकते हैं। हम व्यक्ति-स्वरूप

[1] इष्ट देवता।

इष्टदेवता के साथ भी, उसके नामों और रूपों के द्वारा, सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं; उदाहरणार्थ, यदि हमारा कर्म प्रधानतया प्रेम का कर्म हो तो हम प्रेममय परमेश्वर के रूप में उनकी सेवा और अभिव्यक्ति करने का यत्न कर सकते हैं, पर साथ ही हमें उनके सब नामों, रूपों और गुणों में भी उनका पूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करना चाहिये और जगत् के प्रति हमारी मनोवृत्ति में उनका जो सम्मुखवर्ती रूप प्रमुख रूप से विद्यमान है उसीको अनन्त देवाधिदेव का सम्पूर्ण स्वरूप मान लेने की भूल नहीं करनी चाहिये।

अध्याय १२

सच्चिदानन्द का साक्षात्कार

पिछले अध्याय में हमने आत्मा के जिन प्रकारों का वर्णन किया है वे प्रथम दृष्टि में अत्यन्त तत्त्वज्ञानात्मक ढंग के प्रतीत हो सकते हैं, ऐसे बौद्धिक विचार प्रतीत हो सकते हैं जो क्रियात्मक उपलब्धि की अपेक्षा कहीं अधिक दार्शनिक विश्लेषण के लिये ही उपयुक्त हैं। पर यह एक मिथ्या विभेद है जो हमारी बौद्धिक शक्तियों के विभाजन से उत्पन्न हुआ है। जिस प्राचीन ज्ञान को, प्राची के ज्ञान को, आधार बनाकर हम चल रहे हैं उसका यह, कम-से-कम, एक मूल सिद्धान्त है कि दर्शन को केवल एक उच्च कोटि का बौद्धिक आमोद-प्रमोद या तर्कशास्त्रीय सूक्ष्मता की क्रीड़ा अथवा यहांतक कि दार्शनिक सत्य की उसके अपने निज के लिये खोज नहीं होना चाहिये, बल्कि उसे सम्पूर्ण सत्ता के मूल सत्यों की सभी समुचित साधनों से खोज करनी चाहिये और फिर उन सत्यों को हमारी अपनी सत्ता के मार्ग-निर्देशक सूत्र बन जाना चाहिये। सांख्य, अर्थात् सत्य का एक अमूर्त एवं विश्लेषणात्मक साक्षात्कार, ज्ञान का एक पक्ष है; योग, अर्थात् अपनी अनुभूति एवं आन्तरिक अवस्था में तथा अपने बाह्य जीवन में उसका मूर्त और समन्वयात्मक साक्षात्कार, एक और पक्ष है। ये दोनों ही ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य असत्य और अज्ञान में से निकलकर सत्य में और उसके द्वारा जीवन-यापन कर सकता है। और, क्योंकि विचारशील मानव-प्राणी का लक्ष्य सदैव वह ऊंची-से-ऊंची सत्ता ही होनी चाहिये जिसे वह जान सकता या धारण कर सकता है, हमारी आत्मा को चिन्तन के द्वारा उच्चतम सत्य की ही खोज करनी चाहिये और फिर जीवन के द्वारा उसे पूर्णरूपेण चरितार्थ भी करना चाहिये।

ज्ञानयोग के जिस अंग पर—निरपेक्ष भगवान् की आत्म-अभिव्यक्ति के आधार में काम करनेवाले सत्ता के मूलतत्त्वों एवं स्वयंभू-सत्ता के मूल प्रकारों के जिस ज्ञान[1] पर,—हम इस समय विचार कर रहे हैं उसका सारा महत्त्व इस उपर्युक्त उच्चतम सत्य की प्राप्ति में ही निहित है। यदि हमारी सत्ता का सत्य एक ऐसा अनन्त एकत्व है जिसमें ही पूर्ण विशालता, प्रकाश, ज्ञान, शक्ति और आनन्द विद्यमान हैं, और यदि अन्धकार, अज्ञान, दुर्बलता, दुःख और न्यूनता के प्रति हमारी समस्त अधीनता का कारण यह है कि हम जगत् को अनन्ततया बहुल, पृथक्-पृथक् जीवों के संघर्ष के रूप में देखते हैं, तो स्पष्ट ही यह अत्यन्त व्यावहारिक, ठोस एवं उपयोगितावादी और अत्यन्त उच्च एवं दार्शनिक ज्ञान की बात है कि हम एक ऐसा साधन ढूंढ़ निकालें जिसके द्वारा हम भ्रान्ति से निकलकर सत्य में जीवन-

[1] तत्त्वज्ञान।

यापन करना सीख सकें। इसी प्रकार, यदि वह एकमेव, स्वभाव से ही, हमारे मनस्तत्त्व का गठन करनेवाले गुणों की इस क्रीड़ा के बन्धन से मुक्त है और यदि इस क्रीड़ा के वश में रहने से ही वह संघर्ष और विरोध-वैषम्य उत्पन्न होते हैं जिनमें हम निवास करते हैं और परिणामतः शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, सफलता-विफलता, हर्ष-शोक और सुख-दुःख के दो ध्रुवों के बीच सदा के लिये तड़फड़ाते रहते हैं, तो इन गुणों को पार करना और इनसे सदैव परे रहनेवाले परात्पर तत्त्व की स्थिर शान्ति के आधार पर प्रतिष्ठित होना ही एकमात्र व्यावहारिक ज्ञान है। यदि अपने विकारी व्यक्तित्व के प्रति आसक्ति ही हमारे आत्म-विषयक अज्ञान का तथा अपने साथ और जीवन की परिस्थिति के साथ एवं दूसरों के साथ हमारे असामंजस्य और कलह का मूल है और यदि कोई ऐसा निर्व्यक्तिक एकमेव है जिसमें इस प्रकार के प्रत्येक असामंजस्य, अज्ञान और निरर्थक तथा कोलाहलपूर्ण प्रयत्न का अभाव है, क्योंकि वह अपने स्वरूप के साथ सनातन तादात्म्य और सामंजस्य में रहता है, तब अपनी अन्तरात्मा में सत्ता की उस निर्व्यक्तिकता तथा अक्षुब्ध एकता को प्राप्त करना ही मानव-प्रयत्न की एकमात्र दिशा एवं उसका लक्ष्य है जिसे हमारी बुद्धि व्यावहारिकता का नाम देने को सहमत हो सकती है।

एकता और निर्व्यक्तिकता से युक्त तथा गुणों की क्रीड़ा से मुक्त एक सत्ता यहां अवश्य ही विद्यमान है। मन और शरीर के द्वारा अपने सब सम्बन्धों की सच्ची कुंजी एवं इनका सच्चा रहस्य ढूंढ़ने के लिये सनातन काल से यत्न करती हुई प्रकृति के संघर्ष और विक्षोभ से यह निर्व्यक्तिक सत्ता हमें ऊपर उठा ले जाती है। और, मनुष्यजाति का यह ऊंचे-से-ऊंचा प्राचीन अनुभव है कि इस सत्तातक पहुंचकर ही, जो परतत्त्व हमारी मानसिक और प्राणिक सत्ता से नित्य ही उच्चतर है उसमें अपने-आपको निर्व्यक्तिक, एकत्वमय, शान्त, आत्म-समाहित तथा मन और प्राण से उच्च बनाकर ही स्वयं-स्थित और अतएव, सुस्थिर शान्ति तथा आन्तरिक स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। इसलिये यह ज्ञानयोग का प्रथम लक्ष्य है और एक अर्थ में तो यह उसका विशिष्ट तथा प्रधान लक्ष्य भी है। पर, जैसा कि हम बलपूर्वक कहते आये हैं, प्रथम लक्ष्य होने पर भी यही सब कुछ नहीं है; प्रधान होने पर भी यह सर्वांगीण लक्ष्य नहीं है। ज्ञान यदि हमें केवल यही बताये कि सम्बन्धों से विमुख होकर सम्बन्धातीत में कैसे पहुंचना चाहिये, व्यक्तित्व और बहुत्व को त्यागकर निर्व्यक्तिकता और निर्विशेष एकता में कैसे प्रवेश करना चाहिये तो उसे हम पूर्ण ज्ञान नहीं कह सकते। उसे सम्बन्धों की समस्त क्रीड़ा की, बहुत्व के सम्पूर्ण वैविध्य की, व्यक्तित्वों के सम्पूर्ण संघर्ष एवं पारस्परिक कार्य-प्रतिकार्य की वह कुंजी, इनका वह रहस्य भी हमें प्रदान करना होगा जिसे खोजने के लिये विश्व-सत्ता यत्न कर रही है। और, यदि ज्ञान हमें केवल एक विचार प्रदान करे तथा उसे अनुभव के द्वारा प्रमाणित न कर सके तब भी वह अपूर्ण ही कहलायेगा। हम तो

कुंजी तथा रहस्य को पाना चाहते हैं, ताकि इस प्रपंच को उस सत्य के द्वारा नियन्त्रित कर सकें जिसे वह प्रकट करता है, उसके असामंजस्यों को उनके पीछे अवस्थित सामंजस्य और एकीकरण के गुप्त तत्त्व के द्वारा दूर कर सकें तथा जगत् के केंद्राभिमुख और केंद्रविमुख प्रयत्न से उसके उद्देश्य की सामंजस्यपूर्ण चरितार्थता तक पहुंच सकें। जगत् का अन्तस्तल केवल शान्ति की ही नहीं, बल्कि चरितार्थता की भी खोज कर रहा है और पूर्ण तथा कार्यक्षम आत्मज्ञान को उसे यह चीज प्रदान करनी ही होगी। शान्ति तो आत्म-चरितार्थता का एक सनातन आधार, असीम नियम-विधान तथा स्वाभाविक वातावरणमात्र हो सकती है।

और फिर बहुत्व, व्यक्तित्व, गुण, सम्बन्धों की क्रीडा—इन सबका सच्चा रहस्य ढूंढ़ निकालनेवाले ज्ञान को हमारे सम्मुख यह प्रकट करना ही होगा कि निर्व्यक्तिक तथा व्यक्तित्व के स्रोत के बीच, निर्गुण तथा गुणों के रूप में अपने-आपको प्रकट करनेवाले सगुण के बीच, सत्ता की एकता तथा उसकी नानाकार अनेकता के बीच सत्ता के मूलतत्त्व की एक प्रकार की वास्तविक एकता तथा सत्ता की शक्ति की घनिष्ठ एकता है। जो ज्ञान इन द्वंद्वों के बीच खूब चौड़ा अन्तराल रहने देता है वह अन्तिम ज्ञान नहीं हो सकता, भले वह विश्लेषणात्मक बुद्धि को कितना ही युक्तियुक्त या आत्म-विभाजक अनुभव को कितना ही सन्तोषजनक क्यों न प्रतीत हो। सच्चे ज्ञान को ऐसा एकत्व प्राप्त करना होगा जो सबकी सब वस्तुओं से परे होता हुआ भी उन्हें अपने अन्दर समाये रखता है, उसे कोई ऐसा एकत्व नहीं प्राप्त करना होगा जो सब वस्तुओं को अपने अन्दर समा नहीं सकता और उनका परित्याग कर देता है। क्योंकि, सर्वस्वरूप विराट् सत्ता के अपने अन्दर या किसी परात्पर एकत्व तथा सर्वस्वरूप विराट् सत्ता के बीच द्वैत की ऐसी कोई मूलवर्ती दुस्तर खाई हो ही नहीं सकती। जो बात यहां ज्ञान के बारे में कही गयी है वही अनुभव और आत्म-चरितार्थता के बारे में भी समझनी चाहिये। जो अनुभव वस्तुओं के सर्वोच्च उद्गम में दो विरोधी तत्त्वों के बीच ऐसी मूलवर्ती दुस्तर खाई देखता है और इन दोनों में से किसी एक या दूसरे में रहने के लिये बाध्य होकर, अधिक-से-अधिक, इस खाई को कूदकर पार करने में ही सफल हो सकता है, पर इन्हें एक-दूसरे में अन्तर्भूत एवं एकीभूत नहीं कर सकता, वह चरम अनुभव नहीं है। चाहे हम विचार के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहें या विचार को पार कर जानेवाली ज्ञान-दृष्टि के द्वारा या फिर अपनी सत्ता के अन्दर होनेवाले उस पूर्ण आत्मानुभव के द्वारा जो ज्ञानलब्ध साक्षात्कार की पराकाष्ठा एवं परिपूर्णता है, हमें पूर्णरूपेण तृप्त करनेवाली एकता का विचार, साक्षात्कार तथा अनुभव करने में और उसे जीवन के अन्दर चरितार्थ करने में समर्थ होना चाहिये। एकमेव-विषयक परिकल्पना, दृष्टि तथा अनुभूति में हम इस प्रकार की एकता को ही प्राप्त करते हैं, उस एकमेव की एकता बहु के रूप में प्रकट होने से नष्ट नहीं होती न दृष्टि से ओझल ही हो जाती

है, वह गुणों के बन्धन से मुक्त है और फिर भी अनन्त-गुण है, वह सब सम्बन्धों को अपने अन्दर धारण तथा संयुक्त किये हुए है और फिर भी सदा से 'केवल' है, वह अमुक एक व्यक्ति नहीं है और फिर भी सब-के-सब व्यक्ति वह ही है, क्योंकि वह समस्त 'पुरुष' है और वही एकमात्र सचेतन 'पुरुष' भी है। जिस व्यक्ति-रूपी केंद्र को हम अपनी सत्ता कहते हैं उसके लिये तो अपनी चेतना के द्वारा इन भगवान् में प्रवेश करना तथा अपने अन्दर इनकी प्रकृति को प्रतिमूर्त्त करना ही एक ऐसा आदर्श है जो हमारे सामने रखा गया है। यह आदर्श उच्च और अद्‌भुत तो है ही, पर साथ ही पूर्णतया युक्तियुक्त तथा सबसे अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी भी है। यह हमारी अपनी सत्ता की और साथ-ही-साथ हमारी विराट् सत्ता की, अपने-आपमें व्यक्ति की तथा विश्व की अनेक सत्ताओं के साथ सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति की पूर्ण सार्थकता है। सत्ता की इन दो अवस्थाओं, व्यक्ति और विराट्, में कोई ऐसा विरोध नहीं है जिसका परिहार ही न हो सकता हो; वरंच, हमारा अपना आत्मा और विश्व का आत्मा एक ही हैं यह उपलब्धि हो जाने के बाद व्यक्ति और विराट् में भी घनिष्ठ एकता प्रकट हो जाती है।

वास्तव में ये सब विरोधी द्वंद्व परात्पर पुरुष में चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति के लिये सर्वसामान्य, अनिवार्य अवस्थाएंमात्र हैं, वे परात्पर तो कैसी ही विरोधी दिखायी देनेवाली इन सब अवस्थाओं के केवल पीछे ही नहीं, बल्कि इनके भीतर भी सदा एक ही रहते हैं। और, इन सब द्वंद्वों का मूल एकीकारक आत्म-तत्त्व एवं एकमात्र तात्त्विक रूप वह है जिसे हमारे विचार की सुविधा के लिये सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) का त्रैत कहा गया है, ये तीन अविच्छेद्य दिव्य तत्त्व सर्वत्र व्याप्त हैं। इनमें से कोई भी वास्तव में पृथक् नहीं है, यद्यपि हमारा मन और मानसिक अनुभव इनमें केवल भेद ही नहीं, पार्थक्य भी पैदा कर सकते हैं। मन यह कह और सोच सकता है कि "मैं था तो सही, पर अचेतन था"—क्योंकि यह तो कोई व्यक्ति नहीं कह सकता "मैं हूं तो सही, पर अचेतन हूं",—और मन यह भी सोच सकता तथा अनुभव कर सकता है "मैं हूं, पर दुःखी हूं तथा मेरे जीवन में किसी प्रकार का भी आनन्द नहीं है।" किन्तु असल में यह बात असम्भव है। जो सत्ता हमारा वास्तविक स्वरूप है, जो सनातन "अहमस्मि (मैं हूं)" रूप में अनुभूत सत्ता है, जिसके विषय में यह कहना कभी सच नहीं हो सकता कि "यह थी", वह कहीं भी और कभी भी अचेतन नहीं होती। जिसे हम अचेतनता कहते हैं वह केवल अन्यविध चेतनता है; वह बाह्य-वस्तु-विषयक हमारी मानसिक चेतनता की इस ऊपरी लहर का हमारी प्रच्छन्न आत्म-चेतनता के भीतर एवं सत्ता के अन्य स्तरों-सम्बन्धी हमारी चेतनता के भीतर भी प्रविष्ट होना है। जब हम सुप्त, अचेत, मूर्च्छित, "मृत" या अन्य किसी अवस्था में होते हैं तब हम असल में उससे अधिक अचेतन नहीं होते जितने कि हम अपनी भौतिक सत्ता और

परिस्थिति से बेसुध होकर आन्तरिक विचार में डूबे होने पर होते हैं। जो कोई योग में थोड़ी दूर भी आगे बढ़ चुका है उसके लिये यह एक अत्यन्त आरम्भिक स्थापना है, एक ऐसी स्थापना है जो विचार के सम्मुख कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं करती, क्योंकि यह पग-पग पर अनुभव के द्वारा प्रमाणित होती है। पर यह अनुभव करना अधिक कठिन है कि सत्ता और सत्ता का निरानन्द साथ-साथ नहीं रह सकते। जिसे हम दुःख, शोक, पीड़ा एवं आनन्द का अभाव कहते हैं वह भी सत्ता के आनन्द की एक उपरितलीय लहरमात्र है जो हमारे मानसिक अनुभव के निकट ये आपात-विरोधी रंग-रूप धारण कर लेती है और इसका कारण यह है कि एक प्रकार की माया के वश हमारी विभाजित सत्ता इस लहर को अपने अन्दर एक मिथ्या रूप में ही ग्रहण करती है। यह विभाजित सत्ता हमारी सत्ता बिल्कुल ही नहीं है, बल्कि चिच्छक्ति की एक खण्डात्मक रूप-रचना या विकृत फुहारमात्र है जिसे हमारी आत्म-सत्ता के अनन्त सागर ने ऊपर की ओर उछाल फेंका है। इस सत्य को अनुभव करने के लिये हमें अपनी मनोमय सत्ता की इन उथली आदतों एवं क्षुद्र चालों में ग्रस्त रहने की अवस्था से परे हट जाना होगा,—और जब हम निश्चितरूपेण इनके पीछे और परे हट जाते हैं तो हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि ये कितनी छिछली हैं; तब ये इतनी हलकी और ऊपरी-सी मामूली चुभन साबित होती हैं कि इनपर हंसी ही आती है। इसके साथ ही हमें सच्ची सत्ता और सच्ची चेतना को तथा सत्ता और चेतना की सच्ची अनुभूति को, **सत्, चित्** और **आनन्द** को भी उपलब्ध करना होगा।

चित् अर्थात् भागवत चेतना हमारी मानसिक आत्म-चेतनता नहीं है; अनुभव से हमें पता चल जायगा कि यह तो केवल एक रूप, एक निम्नतर एवं सीमित प्रकार या गति है। जैसे-जैसे हम विकसित होंगे और अपने तथा वस्तुओं के अन्दर विद्यमान आत्मा के प्रति जागरित होंगे वैसे-वैसे हमें अनुभव होगा कि पौधे में, धातु में, अणु में, विद्युत् में, भौतिक प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में भी चेतना है; हमें यह भी पता चलेगा कि यह वस्तुतः सब बातों में मानसिक चेतना से अधिक निम्न या सीमित प्रकार की भी नहीं है, बल्कि अनेक "जड़" पदार्थों में तो यह अधिक प्रगाढ़, वेगमय और तीव्र है, यद्यपि उनमें उपरितल पर प्रकट होने के लिये यह अभी अपेक्षाकृत कम ही विकसित हो पायी है। किन्तु यह भी अर्थात् प्राणिक और भौतिक प्रकृति की यह चेतना भी, **चित्** की तुलना में, निम्नतर और अतएव सीमित रूप, प्रकार एवं गति है। चेतना के ये निम्नतर प्रकार एक ही अविभाज्य सत्ता के अन्तर्गत निम्न स्तरों का चित्तत्त्व हैं। हमारे अपने अन्दर भी हमारी अवचेतन सत्ता में एक ऐसी क्रिया है जो ठीक उस "जड़" भौतिक प्रकृति की ही क्रिया है जिससे कि हमारी भौतिक सत्ता का आधार गठित हुआ है, हमारे अन्दर एक और क्रिया भी है जो वनस्पति-जीवन की है और फिर एक और भी है जो हमारे चारों ओर की

निम्नतर जीव-सृष्टि की है। चेतना की ये सब क्रियाएं हमारे अन्दर की विचारशील एवं तर्कप्रधान चित्-सत्ता के द्वारा इतनी अधिक अभिभूत और मर्यादित हैं कि हमें इन निम्नतर स्तरों का कुछ भी वास्तविक भान नहीं है; हम इनकी अपनी परिभाषाओं में यह जानने में असमर्थ हैं कि हमारे ये भाग क्या कर रहे हैं, और इनकी क्रिया का ज्ञान हम विचारशील और तर्कप्रधान मन के लक्षणों और मूल्यों में अत्यन्त अपूर्ण रूप से ही प्राप्त करते हैं। फिर भी हम काफी अच्छी तरह से जानते हैं कि हमारे अन्दर एक पाशविक भाग है तथा एक ऐसा भाग भी है जो विशिष्ट रूप से मानवीय है,—एक तो ऐसी सत्ता है जो सचेतन सहज-प्रेरणा और आवेग से युक्त तथा विचार या विवेक-बुद्धि से रहित प्राणी की है, एक और सत्ता भी है जो उसके अनुभव की ओर अभिमुख होकर उसपर फिर से विचार और संकल्प की क्रिया करती है, ऊपर की उच्चतर स्तर की ज्योति और शक्ति के साथ इसे मुक्त करती है और कुछ अंश में इसका नियंत्रण, प्रयोग तथा संशोधन भी करती है। परन्तु मनुष्य में अवस्थित पाशविक भाग हमारी अवमानवीय सत्ता के ऊपर का सिरामात्र है; इसके नीचे ऐसा बहुत कुछ है जो पाशविक से भी निम्न है किंवा केवल प्राणिक है, ऐसा बहुत कुछ है जो अन्ध-प्रेरणा और आवेग के वश कार्य करता है, उस प्रेरणा और आवेग का गठन करनेवाली चेतना उपरितल के पीछे अन्तर्हित है। इस अवपाशविक सत्ता के नीचे और भी अधिक उतरकर एक अवप्राणिक सत्ता है। जब हम योग से प्राप्त होनेवाले इस अतिसामान्य आत्मज्ञान और अनुभव में आगे बढ़ते हैं तो हमें पता चलता है कि शरीर की भी अपनी एक चेतना है; इसके भी अपने अभ्यास एवं आवेग हैं, अपनी सहज-प्रवृत्तियां हैं, इसमें एक निष्क्रिय और प्रभावशाली संकल्प भी है जो हमारी शेष सत्ता के संकल्प से भिन्न प्रकार का है और इसका प्रतिरोध कर सकता है तथा इसके प्रभाव को सीमित कर सकता है। हमारी सत्ता में जो संघर्ष पाया जाता है उसके अधिकांश का कारण यह है कि इन विभिन्न और विषमजातीय स्तरों की सत्ता उक्त प्रकार से परस्पर-मिश्रित है तथा ये एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया भी करते रहते हैं। क्योंकि मनुष्य यहां एक विकास का परिणाम है और निरी भौतिक तथा अवप्राणिक चेतन सत्ता से लेकर अपनी सत्ता के वर्तमान शिखरतक अर्थात् मानसिक प्राणी की सत्ता तक के इस सम्पूर्ण विकास को वह अपने अन्दर धारण किये हुए है।

परन्तु यह विकास वस्तुतः एक अभिव्यक्ति है और जिस प्रकार हममें ये अवसामान्य सत्ताएं एवं अवमानवीय स्तर हैं ठीक उसी प्रकार हममें हमारी मानसिक सत्ता के ऊपर अतिसामान्य एवं अतिमानवीय स्तर भी हैं। यहां चित् सत्ता के विश्वव्यापी चित्तत्त्व के रूप में अन्य स्थितियों को भी ग्रहण करती है, किन्हीं अन्य रूपों में विचरण करती है, कर्म करने के किन्हीं अन्य नियमों के अनुसार तथा अन्य शक्तियों के द्वारा कार्य करती है। जैसा कि प्राचीन वैदिक ऋषियों ने खोज निकाला

था, मन के ऊपर एक सत्य-भूमिका है, अर्थात् स्वतः-प्रकाशमान एवं स्वयं-शक्तिशाली विचार का एक स्तर है, जिसकी ज्योति और शक्ति को हमारे मन पर, हमारी तर्कबुद्धि और भावनाओं पर, हमारे आवेगों और संवेदनों पर प्रयुक्त किया जा सकता है और जो वस्तुओं के वास्तविक सत्य के अर्थ के अनुसार इन सबका उपयोग एवं नियंत्रण भी कर सकता है ठीक वैसे ही जैसे कि हम अपने तर्कमूलक और नैतिक बोधों के अर्थ में अपनी इन्द्रियानुभूति और पाशविक प्रकृति का उपयोग और नियंत्रण करने के लिये इनपर अपने मानसिक तर्क और संकल्प का प्रयोग करते हैं। सत्य के इस स्तर में ज्ञान की खोज का काम नहीं है, यहां तो है उसपर सहज-स्वाभाविक प्रभुत्व; यहां संकल्प और तर्कबुद्धि, सहजप्रेरणा और आवेग, कामना और उपलब्धि, विचार और सद्वस्तु—इनमें कोई विरोध या भेद नहीं होता, बल्कि ये सब एकस्वर, सहचारी तथा परस्पर-फलोत्पादक होने के साथ-साथ अपने उद्गम एवं विकास और अपनी चरितार्थता में भी एकीभूत होते हैं। परन्तु इस स्तर के परे और इसके द्वारा प्राप्त हो सकने वाले अन्य स्तर भी हैं जिनमें साक्षात् चित् ही हमारे सामने प्रकाशित हो उठती है, वह चित् जो यहां नानाविध रूप-रचना और अनुभूति के लिये प्रयुक्त की जानेवाली इस समस्त विविध चेतना का मूल उद्गम एवं आद्य पूर्णत्व है। उन स्तरों में संकल्प, ज्ञान, सम्वेदन तथा हमारी अन्य सब वृत्तियां, शक्तियां, सब प्रकार के अनुभव केवल समस्वर, सहचारी और एकीभूत ही नहीं होते, बल्कि चेतना की एक ही सत्ता और शक्ति के रूप में उपस्थित होते हैं। यह चित् ही अपने-आपको इस प्रकार परिवर्तित करती है कि सत्य के स्तर पर अतिमानस का रूप धारण कर लेती है और मन के स्तर पर मानसिक बुद्धि, संकल्प, भावावेग और सम्वेदन का तथा इससे नीचे के स्तरों पर एक ऐसी अन्धकारमयी शक्ति की प्राणिक या भौतिक अन्धप्रेरणाओं, आवेगों और अभ्यासों का रूप धारण कर लेती है जो उपरितल पर अपने ऊपर कोई सचेतन अधिकार नहीं रखती। सब कुछ चित् है, क्योंकि सब कुछ सत् है; सब कुछ मूल चेतना की नानाविध गति है, क्योंकि सब कुछ मूल सत्ता की नानाविध गति है।

जब हम चित् को प्राप्त कर लेते, देख या जान लेते हैं, तो हमें यह भी पता लग जाता है कि इसका सारतत्त्व है अपनी सत्ता का आनन्द। आत्मा को प्राप्त करने का अर्थ है आत्मानन्द प्राप्त करना; आत्मा को प्राप्त न किये होने का अर्थ है सत्ता के आनन्द की कम या अधिक अस्पष्ट खोज में लगे होना। चित् सनातन काल से अपने आनन्द से युक्त है; और क्योंकि चित् सत्ता का विश्वव्यापी चित्तत्त्व है, चिन्मय विराट् पुरुष भी सचेतन आत्मानन्द से युक्त है, सत्ता के विश्वव्यापी आनन्द का स्वामी है। भगवान् चाहे अपने-आपको सर्वगुणमय के रूप में प्रकट करें या निर्गुण के रूप में, व्यक्तित्व के रूप में या निर्व्यक्तित्व के रूप में, बहु को अपने अन्दर विलीन किये हुए एकमेव के रूप में अथवा अपने तात्त्विक बहुत्व को

प्रकट करते हुए एकमेव के रूप में, पर वे सदा ही आत्मानन्द और विराट् आनन्द को अधिकृत किये रहते हैं, क्योंकि वे नित्य ही सच्चिदानन्द हैं। हमारे लिये भी अपने सच्चे आत्मा को उसके मूल और विराट् स्वरूप में जानने और प्राप्त करने का अर्थ है सत्ता का मूल और विश्वव्यापी आनन्द, आत्मानन्द और विराट् आनन्द उपलब्ध करना। क्योंकि, विराट् आत्मा मूल सत्ता, चेतना और आनन्द का बाहर की ओर प्रवाहमात्र है; और जहां कहीं तथा जिस भी रूप में यह अपने को किसी सत्ता के आकार में प्रकट करता है वहां मूल चेतना का अस्तित्व अवश्य है और अतएव वहां मूल आनन्द भी अवश्य विद्यमान है।

व्यक्ति की आत्मा अपनी सत्ता का यह सत्य स्वरूप प्राप्त नहीं कर पाती अथवा अपने अनुभव के इस सत्य स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर पाती, क्योंकि यह अपने-आपको मूल सत्ता और विराट् आत्मा दोनों से पृथक् कर लेती है और अपनी सत्ता के पृथक् आकस्मिक संयोगों के साथ, अतात्त्विक स्वरूप और प्रकृति तथा पृथक् अंग एवं करण-विशेष के साथ अपने-आपको एकाकार कर लेती है। इस प्रकार यह अपने मन, शरीर तथा प्राणधारा को अपनी वास्तविक सत्ता मान बैठती है। यह इन्हें इनकी अपनी खातिर विराट् सत्ता तथा उस परात्पर के विरुद्ध, जिससे विराट् सत्ता प्रकट हुई है, प्रबल रूप में प्रतिष्ठित करने का यत्न करती है। किसी अधिक महान् और परे की वस्तु के लिये विराट् के अन्दर अपने-आपको प्रस्थापित तथा चरितार्थ करने का यत्न करना इसके लिये उचित है, किन्तु विराट् के विरोध में तथा उसके एक खण्डात्मक रूप के अधीन होकर ऐसा करने का यत्न करना उचित नहीं। इस खण्डात्मक रूप को या यूं कहें कि खण्डात्मक अनुभवों के इस समुदाय को यह मानसिक अनुभव के एक कृत्रिम केन्द्र, मानसिक अहंभाव, के चारों ओर इकट्ठा कर लेती है और इसे अपनी सत्ता कहकर पुकारती है तथा इस अहं की सेवा करती है। अपि च, ये सभी रूप, यहांतक कि विशालतम एवं व्यापकतम रूप भी, जिस महत्तर और परतर वस्तु की आंशिक अभिव्यक्तियां हैं उसके लिये जीने के बजाय यह इस अहं के लिये ही जीती है। किन्तु यह मिथ्या आत्मा में जीवन धारण करना है, सच्ची आत्मा में नहीं; यह अहं के लिये तथा उसके आदेशानुसार जीवन बिताना है, भगवान् के लिये तथा उनके आदेशानुसार नहीं। किन्तु यह पतन हुआ कैसे और किस प्रयोजन के लिये हुआ? यह प्रश्न योग की अपेक्षा कहीं अधिक सांख्य के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है। हमें तो बस इस क्रियात्मक तथ्य को हृदयंगम कर लेना होगा कि ऐसा आत्मविभाजन ही हमारी चेतना की सीमितता का कारण है और इस सीमितता के कारण हम अपने अस्तित्व और अनुभव का सच्चा स्वरूप उपलब्ध करने में असमर्थ बन बैठे हैं और अतएव अपने मन, प्राण और शरीर में अज्ञान, असमर्थता और दुःख-कष्ट के अधीन हो गये हैं। एकत्व की अप्राप्ति ही मूल कारण है; एकत्व को फिर से प्राप्त करना ही

सर्वोपरि साधन है—यह एकत्व हमें विराट् के साथ ही नहीं, उस सत्ता के साथ भी प्राप्त करना होगा जिसे प्रकट करने के लिये यहां विराट् आत्मा उपस्थित है। हमें अपने तथा सबके सच्चे आत्मा का साक्षात्कार करना होगा; और सच्चे आत्मा के साक्षात्कार का मतलब है सच्चिदानन्द का साक्षात्कार।

अध्याय १३

मनोमय सत्ता की कठिनाइयां

ज्ञानमार्ग का निरूपण करते-करते हम यहांतक आ पहुंचे हैं। इस निरूपण का आरम्भ हमने इस स्थापना से किया था कि मन, प्राण और शरीर के स्तरों से ऊपर अपनी शुद्ध आत्मा एवं शुद्ध सत्ता का साक्षात्कार इस योग का प्रथम लक्ष्य है, परन्तु अब हम यह स्थापना करते हैं कि केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है बल्कि हमें आत्मा या ब्रह्म की मूल अवस्थाओं और मुख्यतः उसके सच्चिदानन्द-रूपी त्रिविध सत्स्वरूप का भी साक्षात्कार करना होगा। केवल शुद्ध सत्ता ही नहीं, बल्कि शुद्ध चेतना भी और उस सत्ता एवं चेतना का शुद्ध आनन्द भी आत्मा का सत्स्वरूप एवं ब्रह्म का सारतत्त्व हैं।

अथ च, आत्मा या सच्चिदानन्द का साक्षात्कार दो प्रकार का होता है। एक तो होता है शान्त-नीरव, निष्क्रिय, निश्चल, आत्मलीन, स्वयंपूर्ण सत्-चित्-आनन्द का जो एक एवं निर्व्यक्तिक हैं, और गुणों की क्रीड़ा से रहित एवं विश्व के अनन्त दृश्य-प्रपंच से पराङ्मुख हैं या इसके उदासीन और निष्क्रिय द्रष्टा हैं। दूसरा साक्षात्कार भी इन्हीं सत्-चित्-आनन्द का होता है, पर उसमें हमें अनुभव होता है कि ये परमोच्च और मुक्त हैं, जगत् के प्रभु हैं, अविचल शान्ति में से कार्य करते हैं, सनातन आत्म-लीनता में से अपने-आपको अनन्त कर्मों और गुणों के रूप में बाहर उंडेलते हैं, एकमेव परमोच्च व्यक्ति हैं जो एक विशाल सम निर्व्यक्तित्व में व्यक्तित्व की इस समस्त क्रीड़ा को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं, जगत् के अनन्त प्रपंच को बिना आसक्ति के, पर किसी प्रकार के अभेद्य पार्थक्य के भी बिना, दिव्य प्रभुत्व के साथ तथा अपने सनातन ज्योतिर्मय आत्मानन्द की अगणित रश्मियों के द्वारा धारण कर रहे हैं—एक ऐसी अभिव्यक्ति के रूप में धारण कर रहे हैं जिसे वे अपने अन्दर समाये हुए हैं, पर जो उन्हें अपने अन्दर समा नहीं सकती, जिसपर वे मुक्त रूप में शासन करते हैं और इसलिये जिससे वे बद्ध नहीं होते। पर यह धार्मिक लोगों का व्यक्तिस्वरूप ईश्वर नहीं है न यह दार्शनिकों का सगुण ब्रह्म ही है, बल्कि यह वह सत्ता है जिसमें सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक तथा सगुण और निर्गुण परस्पर सुसमन्वित हो जाते हैं। यह परात्पर है जो इन दोनों को अपनी सत्ता में धारण करता है और अपनी अभिव्यक्ति के लिये मूल अवस्थाओं के रूप में इन दोनों का प्रयोग भी करता है। अतएव, पूर्णयोग के साधक के लिये यह परात्पर ही साक्षात्कार का ध्येय है।

इससे हमें यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जाती है कि मन, प्राण और शरीर से पीछे हटने की विधि से हमें शुद्ध और निश्चल आत्मा का जो साक्षात्कार प्राप्त होता है

वह इस उपर्युक्त दृष्टिकोण से हमारे लिये इस महत्तर साक्षात्कार के आवश्यक आधार को प्राप्त करनामात्र है। इसलिये वह विधि हमारे योग के लिये पर्याप्त नहीं; किसी और साधन की भी आवश्यकता है जो अधिक सर्वग्राही रूप में भावात्मक हो। जिस प्रकार हम अपनी प्रतीयमान सत्ता का गठन करनेवाले सभी तत्त्वों से तथा जिस विश्व में यह निवास करती है उसके दृग्विषयों से पीछे हटकर स्वयंभू और चिन्मय ब्रह्म में प्रविष्ट हुए थे, उसी प्रकार अब हमें ब्रह्म की सर्वव्यापक स्वयंभू सत्ता, चेतना एवं आनन्द के द्वारा अपने मन, प्राण और शरीर को फिर से अपने अधिकार में लाना होगा। हमें केवल विश्वलीला से स्वतन्त्र, विशुद्ध स्वयंभू सत्ता को ही अधिकृत नहीं करना होगा, बल्कि सम्पूर्ण सत्ता को अपनी सत्ता समझते हुए अधिकृत करना होगा। हमें अपने-आपको देश-कालगत समस्त परिवर्तन से परे एक अनन्त अहंशून्य चेतना के रूप में ही नहीं जानना होगा, बल्कि चेतना और उसकी सर्जनक्षम शक्ति की देश-कालगत अभिव्यक्ति के समस्त प्रवाह के साथ भी अपने-आपको एक करना होगा; केवल अथाह शान्ति और निश्चलता को ही नहीं, बल्कि जगत् की वस्तुओं में मुक्त और असीम आनन्द को भी प्राप्त करने में समर्थ बनना होगा। क्योंकि, यही सच्चिदानन्द है, यही ब्रह्म है, केवल शुद्ध शान्ति नहीं।

यदि अतिमानसिक स्तरतक ऊंचे उठना और वहां सुरक्षित रूप में स्थित होकर, दिव्य अतिमानसिक करणों की शक्ति और पद्धति से जगत् और सत्ता का, चेतना और कर्म का, सचेतन अनुभव की बहिर्मुख और अन्तर्मुख गतिविधि का सत्य स्वरूप जानना सहजसाध्य होता तो सच्चिदानन्द या ब्रह्म के उक्त साक्षात्कार में कोई वास्तविक कठिनाइयां उपस्थित न होतीं। परन्तु मनुष्य एक मानसिक प्राणी है और अभीतक वह अतिमानसिक नहीं बना है। अतएव, मन के द्वारा ही उसे ज्ञान-रूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना तथा अपनी सत्ता का साक्षात्कार करना होगा; हां, इसके लिये उसे अतिमानसिक स्तरों से जो भी सहायता प्राप्त हो सके उसे भी अवश्य ग्रहण करना होगा। अपनी सत्ता का जो स्तर हमने आज वस्तुतः चरितार्थ कर लिया है उसका यह मनोमय स्वरूप और परिणामतः हमारे योग का यह स्वरूप हमपर कुछ विशेष सीमाओं एवं प्रधान कठिनाइयों को लाद देते हैं जिन्हें केवल भागवत सहायता या कृच्छ्र साधना के द्वारा और वस्तुतः इन दोनों साधनों के संयोग से ही दूर किया जा सकता है। अब आगे बढ़ने से पहले पूर्ण ज्ञान, पूर्ण साक्षात्कार एवं पूर्ण अभिव्यक्ति के मार्ग की इन कठिनाइयों का संक्षेप में वर्णन कर देना आवश्यक है।

वस्तुतः चरितार्थ मानसिक सत्ता और चरितार्थ आध्यात्मिक सत्ता हमारे अस्तित्व की व्यवस्था में दो विभिन्न स्तर हैं, इनमें से एक तो उत्कृष्ट एवं दिव्य है और दूसरा उत्कृष्ट एवं मानवीय। पहले की सम्पदा हैं अनन्त सत्ता, अनन्त चित्तपस्, अनन्त

आनन्द, और अतिमानस का अनन्त, सर्वग्राही और अमोघ ज्ञान,—ये चार दिव्य तत्त्व; दूसरे की सम्पदा हैं मानसिक सत्ता, प्राणिक सत्ता, भौतिक सत्ता—ये तीन मानवीय तत्त्व। अपनी दृश्यमान प्रकृति में ये दोनों स्तर एक-दूसरे के विपरीत हैं; प्रत्येक दूसरे का उल्टा है। दिव्य स्तर पर है अनन्त और अमर सत्ता; मानवीय स्तर पर है एक ऐसा जीवन जो काल, क्षेत्र और स्वरूप की दृष्टि से सीमित है, यह एक ऐसा जीवन है जो मृत्यु ही है, ऐसी मृत्यु जो जीवन अर्थात् अमर अस्तित्व बनने का यत्न कर रही है। दिव्य स्तर पर है एक अनन्त चेतना जो अपने अन्दर जो कुछ भी व्यक्त करती है उससे परे है तथा उसे अपने अन्दर समाये भी रहती है; उधर मानवीय स्तर पर है एक ऐसी चेतना जो निश्चेतना की निद्रा से मुक्त हुई है, और जिन साधनों का वह प्रयोग करती है उनके अधीन है, शरीर और अहंभाव की सीमाओं में आबद्ध है तथा अन्य चेतनाओं, शरीरों और अहंभावों के साथ अपना सम्बन्ध ढूंढ़ने की चेष्टा कर रही है—इसके लिये वह भावात्मक रूप में तो एकताजनक सम्पर्क और सहानुभूति के विविध साधनों का प्रयोग करती है और निषेधात्मक रूप में द्वेषपूर्ण सम्बन्ध और विरोध के नाना साधनों को उपयोग में लाती है। दिव्य स्तर पर है अविच्छेद्य आत्मानन्द और अखण्ड विराट्-आनन्द; उधर मानवीय स्तर पर है ऐसे मन और शरीर का सम्वेदन जो आनन्द की खोज कर रहे हैं, पर पा रहे हैं केवल सुख, उदासीनता और दुःख। दिव्य स्तर पर हैं सर्वग्राही अतिमानसिक ज्ञान और सर्वसाधक अतिमानसिक संकल्प; मानवीय स्तर पर है अज्ञान जो वस्तुओं को अंशों और खण्डों में जान करके ज्ञान पाने का यत्न कर रहा है, ज्ञान-प्राप्ति के लिये इसे उन खण्डों को एक-दूसरे के साथ भद्दे रूपमें जोड़ना पड़ता है; मानवीय स्तर पर है अक्षमता जो मानवीय ज्ञान के क्रमिक विस्तार के अनुपात में बढ़ते हुए शक्ति के क्रमिक विस्तार के द्वारा, सामर्थ्य और संकल्प-बल के उपार्जन के लिये यत्न कर रही है; और इस विस्तार को मानवता अपने ज्ञान की अपूर्ण एवं खण्डित प्रणाली के अनुरूप अपने संकल्प का अपूर्ण एवं खण्डित प्रयोग करके ही सम्पन्न कर सकती है। दिव्य स्तर एकता के ऊपर आधारित है और परात्पर तत्त्वों तथा समग्र विश्व का स्वामी है; मानवीय स्तर विभक्त बहुत्व के ऊपर आधारित है और 'बहु' पदार्थों के भाग-विभाग और खण्डों तथा उनके कठिन संयोजनों एवं एकीकरणों का स्वामी होते हुए भी उनके अधीन है। इन दोनों स्तरों के बीच मनुष्य के लिये एक परदा और आवरण पड़े हुए हैं जो मानव-सत्ता को दिव्य सत्ता के प्राप्त करने में ही नहीं, बल्कि उसके जानने में भी बाधा पहुंचाते हैं।

अतएव जब मनोमय प्राणी, मनुष्य, दिव्य सत्ता को जानना तथा उपलब्ध करना चाहता है, जब वह वही बन जाना चाहता है तो पहले उसे इस आवरण को उठाना होता है, इस पर्दे को एक तरफ करना पड़ता है। पर जब वह इस कठिन प्रयास में सफल हो जाता है, तो वह देखता है कि दिव्य सत्ता एक ऐसी सत्ता है जो उससे

उत्कृष्ट है, दूरस्थ तथा उच्च है, मानसिक, प्राणिक, यहांतक कि भौतिक रूप में भी उससे ऊपर है, जिसकी ओर वह अपने तुच्छ स्तर से दृष्टि उठाकर देखता है और जिसकी ओर उसे, यदि सम्भव हो तो, उठना होता है, अथवा यदि यह सम्भव न हो तो इसे नीचे अपनी ओर पुकार लाना होता है, इसके अधीन होकर इसकी आराधना करनी होती है। वह इसे सत्ता के एक उच्चतर स्तर के रूप में देखता है, और तब अपनी परिकल्पना या अनुभूति के स्वरूप के अनुसार वह इसे सत्ता की एक परमोच्च अवस्था, एक स्वर्ग या सत् या निर्वाण समझता है। अथवा वह इसे अपने से या कम-से-कम अपनी वर्तमान सत्ता से भिन्न एक परमोच्च पुरुष के रूप में देखता है और तब वह इसे ईश्वर मानकर इसके किसी एक या दूसरे नाम से पुकारता है; इस अवस्था में भी, इस परम सत्ता के किसी एक पक्ष या रूप के सम्बन्ध में उसकी जो परिकल्पना या उपलब्धि होती है, उसका जो अन्तर्दर्शन या बोध होता है उसीके अनुसार वह इसे सव्यक्तिक या निर्व्यक्तिक तथा सगुण या निर्गुण सत्ता के रूप में, निश्चल-नीरव और उदासीन शक्ति या कर्मशील स्वामी एवं सहायक के रूप में देखता है। या फिर वह इसे एक ऐसी सर्वोच्च सद्वस्तु के रूप में देखता है, उसकी अपनी अपूर्ण सत्ता जिसकी एक प्रतिच्छाया है अथवा जिससे उसका सम्बन्धविच्छेद हो गया है, और तब वह इसे आत्मा या ब्रह्म कहकर पुकारता है और सत्, असत्, ताओ, शून्य, शक्ति, अज्ञेय—इन नानाविध विशिष्ट नामों से वर्णित करता है, पर करता है सदा अपने विचार या साक्षात्कार के अनुसार।

अतएव यदि हम मानसिक रूप में सच्चिदानन्द का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो उसमें यह पहली कठिनाई आ सकती है कि हम उसे एक ऐसी वस्तु के रूप में देखेंगे जो हमसे ऊपर और परे है, यहांतक कि एक अर्थ में हमारे चारों ओर भी विद्यमान है, किन्तु फिर भी हमें ऐसा अनुभव होगा कि उस सत्ता और हमारी सत्ता के बीच एक खाई है, खाई भी ऐसी जिसपर सेतु नहीं है अथवा यहांतक कि जिसपर सेतु बांधा ही नहीं जा सकता। यह अनन्त सत्ता विद्यमान है; पर जो मानसिक सत्ता इसका ज्ञान प्राप्त करती है उससे यह बिल्कुल भिन्न है, और न तो हम अपने-आपको उसतक ऊंचे उठाकर वही बन सकते हैं और न ही उसे नीचे अपनेतक उतार ला सकते हैं जिससे कि अपने सत्ता और विश्व-सत्ता के सम्बन्ध में हमारा अपना अनुभव उसकी आनन्दमय असीमता का अनुभव बन जाय। यह महान्, असीम, अपरिच्छिन्न चेतना एवं शक्ति विद्यमान है; पर हमारी चेतना एवं शक्ति इसके अन्तर्गत होती हुई भी इससे पृथक् अवस्थित है, सीमित, क्षुद्र, निरुत्साहित, अपने-आपसे तथा जगत् से विरक्त है, पर जिस उच्चतर चित्-शक्ति का उसने साक्षात्कार किया है उसमें भाग लेने में असमर्थ है। यह अपरिमेय एवं निष्कलुष आनन्द विद्यमान है; पर हमारी सत्ता इसका दिव्य हर्ष धारण करने में

असमर्थ सुख, दुःख और जड़ निष्क्रिय सम्वेदन से युक्त निम्नतर प्रकृति का क्रीड़ा-स्थल बनी रहती है। यह पूर्ण ज्ञान एवं संकल्प विद्यमान है; पर हमारा अपना ज्ञान एवं संकल्प सदैव एक विकृत प्रकार का मानसिक ज्ञान एवं पंगु संकल्प ही बना रहता है जो भगवान् की उक्त प्रकार की दिव्य प्रकृति में भाग नहीं ले सकता, यहां तक कि इसके साथ एकस्वर भी नहीं हो सकता। या फिर, जबतक हम केवल भगवत्साक्षात्कार के भाव-विभोर चिन्तन में ही निवास करते हैं, हम अपने 'स्व' से मुक्त रहते हैं; पर ज्यों ही हम अपनी चेतना को पुनः अपनी सत्ता की ओर मोड़ते हैं, हम उस भागवत साक्षात्कार से दूर जा पड़ते हैं और वह तिरोहित हो जाता है या हमसे बहुत परे चला जाता है और हमारे लिये गोचर नहीं रहता। भगवान् हमें छोड़कर चले जाते हैं; साक्षात्कार विलुप्त हो जाता है; हम फिर से अपनी मर्त्य सत्ता की क्षुद्रता में आ गिरते हैं।

जैसे भी हो, इस खाई को पाटना होगा। यहां मनोमय मानव के लिये दो सम्भावनाएं हैं। उसके लिये एक सम्भावना तो यह है कि वह एक महान्, सुदीर्घ, एकाग्र, अनन्य प्रयत्न के द्वारा अपनी सत्ता में से उठकर परम सत्ता में पहुंच जाय। परन्तु इस प्रयत्न में मन को अपनी चेतना का त्याग कर एक अन्य चेतना में विलीन हो जाना पड़ता है और यदि अपना पूर्ण विनाश नहीं तो अस्थायी विलय अवश्य कर देना होता है। उसे समाधि की लयावस्था में चले जाना होता है। इसी कारण राजयोग तथा कुछ अन्य योगप्रणालियां योग-समाधि की अवस्था को परम महत्त्व प्रदान करती हैं जिसमें मन अपने साधारण प्रिय विषयों और कार्यों से ही पीछे नहीं हट जाता, बल्कि पहले तो बाह्य कर्म और बोध एवं अस्तित्व का भान करनेवाली समस्त चेतना से और फिर आभ्यन्तर मानसिक क्रियाओंविषयक समस्त चेतना से भी पीछे हट जाता है। अपनी इस अन्तःसमाहित अवस्था में मनोमय सत्ता को स्वयं परमोच्च तत्त्व के अथवा उसके विविध पक्षों या नाना स्तरों के विभिन्न प्रकार के साक्षात्कार प्राप्त हो जाते हैं, पर आदर्श यह है कि मन से सर्वथा मुक्त होकर और मानसिक साक्षात्कार से परे जाकर उस पूर्ण समाधि में प्रवेश किया जाय जिसमें मन या निम्नतर सत्ता का कोई भी चिह्न बाकी नहीं रहता। परन्तु यह चेतना की एक ऐसी अवस्था है जिसे विरले व्यक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं और जिससे वापिस आना सबके लिये सम्भव नहीं।

मनोमय सत्ता को जो जाग्रत् अवस्था उपलब्ध है वह, एकमात्र, मानसिक चेतना की अवस्था ही है; अतएव यह स्पष्ट है कि वह हमारी सम्पूर्ण जाग्रत् सत्ता और हमारी समस्त आन्तरिक मनश्चेतना—दोनों को पूरी तरह से पीछे छोड़े बिना साधारणतया किसी अन्य चेतना में पूर्ण रूप से प्रवेश नहीं कर सकती। यह तो योग-समाधि की आवश्यक शर्त है। परन्तु मनुष्य इस समाधि में निरन्तर नहीं रह सकता; अथवा, यदि कोई इसमें अनिश्चित रूप से दीर्घ कालतक स्थिर रह भी सके

तो भी शारीरिक जीवन के प्रति की गयी कोई प्रबल या अटल पुकार इसे सदा ही भंग कर सकती है। और जब वह मानसिक चेतना में लौटता है, वह फिर निम्नतर सत्ता में पहुंच जाता है। अतएव यह कहा गया है कि मानव-जन्म से पूर्ण मुक्ति, मनोमय प्राणी के जीवन से ऊर्ध्व की ओर पूर्ण आरोहण तबतक साधित नहीं हो सकता जबतक शरीर और शारीरिक जीवन का भी अन्तिम रूप से त्याग न कर दिया जाय। जो योगी इस विधि का अनुसरण करता है उसके सामने यह आदर्श रखा जाता है कि वह समस्त कामना को तथा मानवजीवन किंवा मानसिक सत्ता की प्रत्येक छोटी-से-छोटी इच्छा को भी त्याग दे, अपने-आपको जगत् से पूर्णतया पृथक् कर ले और समाधि की एकाग्रतम अवस्था में अधिकाधिक बार तथा उत्तरोत्तर गहरे रूप में प्रवेश करके अन्त में सत्ता की उस पूर्ण अन्तः-समाहित अवस्था में ही शरीर का त्याग कर दे जिससे कि यह परमोच्च सत्ता में प्रयाण कर सके। अपि च, मन और आत्मा की इस प्रत्यक्ष असंगति के कारण ही बहुत से धर्म और दर्शन जगत् की निन्दा करने में प्रवृत्त होते हैं और केवल संसार से परे स्थित किसी स्वर्ग या फिर निर्वाण की शून्यावस्था या परमोच्च पुरुष में परम, निराकार, स्वयं-स्थित अस्तित्व को प्राप्त करने की आशा रखते हैं।

परन्तु ऐसी परिस्थिति में, भगवत्प्राप्ति के अभिलाषी मानव-मन को अपनी जागरित अवस्था के क्षणों का क्या करना होगा? क्योंकि ये मर्त्य मन की समस्त दुर्बलताओं के अधीन हैं, यदि ये शोक, भय, क्रोध, आवेश, तृष्णा, लोभ, वासना के आक्रमणों के प्रति खुले हुए हैं तो यह मानना अयुक्तिसंगत है कि शरीर त्यागने के समय मानसिक सत्ता को योग-समाधि में एकाग्र करने-भर से मानव-आत्मा परम सत्ता में प्रयाण कर सकती है और वहां से उसे फिर वापिस नहीं आना पड़ता। कारण, मनुष्य की सामान्य चेतना अभीतक भी बौद्धों द्वारा प्रतिपादित कर्मशृंखला या कर्म-प्रवाह के अधीन है, यह अभी भी कुछ ऐसी शक्तियां उत्पन्न कर रही है जो, निश्चय ही, अपने को पैदा करनेवाले मनोमय मानव के सतत-प्रवहमान जीवन में निरन्तर कार्य करती रहेंगी तथा अपना फल उत्पन्न करेंगी। अथवा, एक और दृष्टिकोण से देखें तो, क्योंकि चेतना ही निर्धारक तत्त्व है, शारीरिक जीवन नहीं—यह तो एक परिणाममात्र है, मनुष्य अभी भी साधारणतया मानवीय या कम-से-कम मानसिक क्रिया के स्तर से ही सम्बन्ध रखता है और यह मानसिक क्रिया स्थूल शरीर में से प्रयाण कर जाने की घटनामात्र के कारण नष्ट नहीं हो सकती; क्योंकि, मर्त्य शरीर से छूटने का अर्थ यह नहीं कि मर्त्य मन से भी छुटकारा हो गया। इसी प्रकार, जगत् से प्रबल विरक्ति अथवा प्राणमय जीवन के प्रति उदासीनता या स्थूल जीवन के प्रति घृणा भी काफी नहीं है; क्योंकि यह भी निम्नतर मानसिक स्थिति और क्रिया का धर्म है। सबसे ऊंची शिक्षा यह है कि आत्मा के पूर्णतया मुक्त हो सकने के पूर्व हमें मुक्ति की कामना को भी इसके सब मानसिक

सहचारी भावों समेत पार कर जाना होगा : अतएव, न केवल मन को असामान्य अवस्थाओं में अपने घेरे से बाहर निकलकर उच्चतर चेतना में उठ जाने में समर्थ बनना होगा, अपितु इसकी जाग्रत् अवस्था को भी पूर्ण रूप से अध्यात्ममय बन जाना होगा।

यह तथ्य एक दूसरी सम्भावना को जिसका द्वार मनोमय मानव के लिये खुला हुआ है, साधना के क्षेत्र में उतार लाता है, क्योंकि यदि उसके लिये पहली सम्भावना यह है कि वह अपनी सत्ता में से उठकर सत्ता के दिव्य अतिमानसिक स्तर में पहुंच सकता है तो, दूसरी यह है कि वह दिव्य सत्ता को पुकारकर अपने अन्दर उतार ला सकता है ताकि उसका मन दिव्य सत्ता की प्रतिमूर्त्ति में बदल जाय, दिव्य या आध्यात्मिक बन जाय। यह कार्य मन की प्रतिबिम्बित करने की शक्ति के द्वारा किया जा सकता है और मुख्यतः इसीके द्वारा किया जाना चाहिये, मन के अन्दर यह शक्ति है कि वह जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है, जिसका अपनी चेतना से सम्बन्ध जोड़ता है तथा जिसका चिन्तन करता है उसे प्रतिबिम्बित कर सकता है। क्योंकि, वह वास्तव में एक दर्पण एवं माध्यम है और उसकी कोई भी क्रिया अपने अन्दर से उद्भूत नहीं होती, कोई भी अपने सहारे अस्तित्व नहीं रखती। साधारणतया, मन मर्त्य प्रकृति की अवस्था को और जड़ जगत् के नियमों के अधीन कार्य करनेवाली शक्ति की क्रियाओं को ही प्रतिबिम्बित करता है। परन्तु यदि वह इन क्रियाओं को तथा मानसिक प्रकृति के अपने विशिष्ट विचारों को एवं इसके दृष्टिकोण को त्याग करके निर्मल, निष्क्रिय और शुद्ध हो जाय तो एक स्वच्छ दर्पण की भांति उसमें दिव्य सत्ता का प्रतिबिम्ब पड़ता है अथवा तरंगों से रहित तथा वायु से अनुद्वेलित स्वच्छ जल में आकाश की भांति उसके अन्दर भगवान् प्रतिभासित होते हैं। तब भी मन भगवान् को पूर्ण रूप से अधिकृत नहीं कर लेता न वह भगवान् बन ही जाता है, बल्कि जबतक वह इस शुद्ध निष्क्रियता की अवस्था में रहता है तबतक भगवान् के या फिर उसके किसी ज्योतिर्मय प्रतिबिम्ब के अधिकार में रहता है। यदि वह क्रिया करने लग पड़े तो वह फिर से मर्त्य प्रकृति की उथल-पुथल में जा गिरता है और उसीको प्रतिबिम्बित करता है, भगवान् को नहीं। इसी कारण साधारणतया जो आदर्श हमारे सामने रखा जाता है वह यह है कि हमें पूर्ण निवृत्ति का अवलम्बन करना चाहिये तथा पहले तो समस्त बाह्य कर्म और फिर समस्त आन्तरिक क्रिया का त्याग कर देना चाहिये; यहां भी, ज्ञानमार्ग के अनुयायी के लिये एक प्रकार की जाग्रत् समाधि प्राप्त करना आवश्यक है। जो कोई कर्म अपरिहार्य है उसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की निरी स्थूल क्रिया के रूप में ही चलते रहना होगा जिसमें अन्ततोगत्वा निश्चल मन कोई भाग नहीं लेता और जिससे वह किसी फल या लाभ की भी कामना नहीं करता।

परन्तु पूर्णयोग के लिये यह पर्याप्त नहीं है। जाग्रत् मन की अभावात्मक

निश्चलता ही नहीं, बल्कि उसका भावात्मक रूपान्तर भी साधित करना होगा। उसका रूपान्तर किया भी जा सकता है; कारण, यद्यपि दिव्य स्तर मानसिक चेतना से ऊपर हैं और उनमें वस्तुतः प्रवेश करने के लिये हमें साधारणतया मन को समाधि में लय करना पड़ता है, तथापि मनोमय सत्ता में हमारे सामान्य मन से ऊंचे दिव्य स्तर भी विद्यमान हैं जो वास्तविक दिव्य स्तर की अवस्थाओं को ही प्रदर्शित करते हैं, यद्यपि वे मन की अवस्थाओं से, जो यहां प्रभुत्वपूर्ण हैं, कुछ परिवर्तित हो जाती हैं। जो भी चीजें दिव्य स्तर के अनुभव से सम्बन्ध रखती हैं वे सब-की-सब इन स्तरों में अधिगत की जा सकती हैं, मानसिक ढंग से, और मानसिक रूप में। विकसित मनुष्य जाग्रत् अवस्था में भी दिव्य मन के इन स्तरोंतक ऊंचे उठ सकता है; अथवा वह इनसे ऐसे प्रभावों और अनुभवों की धारा भी प्राप्त कर सकता है जो अन्त में उसकी सम्पूर्ण जाग्रत् सत्ता को इनकी ओर खोल देंगे तथा इनकी प्रकृति के स्वरूप में रूपान्तरित कर देंगे। ये उच्चतर मनोमय भूमिकाएं उसकी पूर्णता के प्रत्यक्ष उद्गम, महान् वास्तविक यन्त्र एवं आन्तरिक धाम[1] हैं।

परन्तु इन स्तरोंतक पहुंचने या इनसे कोई प्रभाव ग्रहण करने में हमारे मन की संकीर्णताएं हमारा पीछा करती हैं। सर्वप्रथम, मन अविभाज्य वस्तु का एक प्रबल विभाजक है और इसका तो बस स्वभाव ही यही है कि यह अन्य सब वस्तुओं को छोड़कर एक समय में एक ही वस्तु पर अपने-आपको एकाग्र करता है अथवा दूसरी चीजों को गौण स्थान देकर केवल उसीपर बल देता है। इस प्रकार, सच्चिदानन्द की प्राप्ति में यह उसकी शुद्ध सत्ता अर्थात् सत् के पक्ष पर ही ध्यान एकाग्र करेगा और तब चेतना तथा आनन्द शुद्ध एवं अनन्त सत्ता के अनुभव में खो जाने या निश्चल रहने के लिये बाध्य होंगे; यह अनुभव उसे निवृत्तिपरायण अद्वैतवादी के साक्षात्कार की ओर ले जायेगा। अथवा, वह चेतना अर्थात् चित् के पक्ष पर अपने-आपको एकाग्र करेगा और तब सत्ता और आनन्द अनन्त परात्पर शक्ति एवं चित्तपस् के अनुभव पर आधारित हो जायेंगे; यह अनुभव उसे शक्ति के पुजारी तांत्रिक के साक्षात्कार की ओर ले जायेगा अथवा यह आनन्द के पक्ष पर ध्यान एकाग्र करेगा और तब सत् और चित् दोनों स्वराट् चेतनता या उपादानभूत सत्ता के आधार से रहित आनन्द में विलीन होते प्रतीत होंगे; यह अनुभव उसे निर्वाण के अभिलाषी बौद्ध साधक के साक्षात्कार की ओर ले जायेगा। अथवा, वह सच्चिदानन्द के किसी ऐसे रूप पर अपने-आपको एकाग्र करेगा जो अतिमानसिक ज्ञान, संकल्प या प्रेम के स्वरूप से उसके अन्दर स्फुरित होगा और तब सच्चिदानन्द का अनन्त, निर्गुण स्वरूप इष्टदेवता के इस रूप के अनुभव में प्रायः या पूर्णतया खो जायेगा; यह अनुभव उसे नाना धर्मों के आधारभूत साक्षात्कारों की ओर ले

[1] वेद में इन्हें सदस्, गृह या क्षय, धाम, पद, भूमि, क्षिति इन नानाविध नामों से पुकारा गया है।

जायेगा और मानव-आत्मा के किसी ऊर्ध्वलोक या दिव्य धाम को प्राप्त करायेगा जिसमें आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध जुड़ा रहता है। जिनका लक्ष्य जगत् के जीवन से हटकर कहीं और प्रयाण कर जाना है उनके लिये इस प्रकार का अनुभव पर्याप्त है, क्योंकि उनका मन इन तत्त्वों, पक्षों या रूपों में से किसी एक में निमज्जित हो जाता है या उसपर अधिकार जमा लेता है और इस प्रकार वे इन दिव्य लोकों में अपने मन की अवस्थिति या अपनी जागरित अवस्था पर इन लोकों के अधिकार के द्वारा इस अभीष्ट प्रयाण को साधित कर सकते हैं।

परन्तु पूर्णयोग के साधक को इन सबमें सुसंगति स्थापित करनी होगी जिससे ये सच्चिदानन्द के पूर्ण साक्षात्कार की समग्र एवं सम एकता बन जायें। यहां मन की अन्तिम कठिनाई उसके सामने आती है, वह है एकता और अनेकता को एक साथ धारण कर सकने में उसकी असमर्थता। शुद्ध अनन्त सत्ता को प्राप्त करना तथा उसमें निवास करना अथवा इसके साथ ही चैतन्य-स्वरूप सत् का, जो आनन्द-स्वरूप भी है, पूर्ण मण्डलाकार अनुभव प्राप्त करना तथा इसमें निवास करना भी नितान्त कठिन नहीं है। यहांतक कि मन इस एकता के अनुभव को वस्तुओं की अनेकतातक भी इस प्रकार विस्तारित कर सकता है कि वह इसे विश्व में तथा इसकी प्रत्येक वस्तु, शक्ति एवं गतिविधि में व्याप्त देखे अथवा इसके साथ ही यह भी अनुभव करे कि यह सत्-चित्-आनन्द इस विश्व को अपने अन्दर समाये हुए है तथा इसके सब पदार्थों के चारों ओर व्याप रहा है और इसकी सब गतिविधियों का मूल है। पर, निश्चय ही, इन सब अनुभवों को यथावत् एकीभूत तथा समस्वर करना उसके लिये एक कठिन कार्य है; तथापि वह सच्चिदानन्द को अपने अन्दर प्राप्त करने के साथ-साथ सबके अन्दर विराजमान और सर्वाधार प्रभु के रूप में भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसके साथ इस अन्तिम अनुभव को भी एकीभूत करना कि यह सब कुछ ही सच्चिदानन्द है, तथा सब पदार्थों, गतियों, शक्तियों और रूपों को इस रूप में अधिकृत करना कि ये उससे भिन्न और कुछ नहीं हैं—यह मन के लिये एक महाकठिन कार्य है। अलग-अलग इनमेंसे कोई भी चीज प्राप्त की जा सकती है; मन एक से दूसरीतक पहुंच सकता है, दूसरीतक पहुंचते ही पहली को त्याग दे सकता है तथा एक को निम्नतर या दूसरी को उच्चतर सत्ता के नाम से पुकार सकता है। परन्तु कुछ भी खोये बिना सबको एक करना, कुछ भी त्यागे बिना सबको समग्र बनाना उसके लिये सबसे कठिन कार्य है।

अध्याय १४

निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म

अपनी सच्ची सत्ता और विश्व-सत्ता का पूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करने में मनोमय मानव को जो कठिनाई अनुभव होती है उसका सामना वह अपने आत्म-विकास की दो विभिन्न दिशाओं में से किसी एक का अनुसरण करके कर सकता है। वह अपनी सत्ता के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर अपने-आपको विकसित कर सकता है और क्रमशः प्रत्येक स्तर पर जगत् के साथ तथा सच्चिदानन्द के साथ अपने एकत्व का आस्वादन कर सकता है। सच्चिदानन्द उसे उस स्तर के पुरुष और प्रकृति अर्थात् चिन्मय आत्मा और प्रकृति-स्वरूप आत्मा के रूप में अनुभूत होते हैं। जैसे-जैसे वह आरोहण करता है वैसे-वैसे वह सत्ता के निम्नतर स्तरों की क्रिया को भी अपने अन्दर समाविष्ट किये चलता है। अर्थात् वह आत्म-विस्तार और रूपान्तर की एक प्रकार की समावेशकारी प्रक्रिया के द्वारा भौतिक मनुष्य का दिव्य या आध्यात्मिक मनुष्य में विकास साधित कर सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम ऋषियों की साधन-पद्धति यही थी जिसकी कुछ झांकी हमें ऋग्वेद में तथा कुछ एक उपनिषदों[1] में मिलती है। इसके विपरीत वह सीधे मानसिक सत्ता के उच्चतम स्तर पर शुद्ध स्वयं-भू सत्ता के साक्षात्कार को अपना लक्ष्य बना सकता है और उस सुरक्षित आधार पर स्थित होकर, अपने मन की परिस्थिति में, उस प्रणाली को आध्यात्मिक रूप में अनुभव कर सकता है जिसके द्वारा स्वयंभू भगवान् सब भूतों का रूप धारण करते हैं; पर ऐसा अनुभव प्राप्त करते हुए वह विभक्त अहंमयी चेतना में अवतरित नहीं होता जो कि अज्ञान में होनेवाले क्रम-विकास की परिस्थिति है। इस प्रकार अध्यात्मभावित मनोमय मानव के रूप में स्वयंभू विराट् सत्ता में सच्चिदानन्द के साथ एक होकर वह फिर इसके परे शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता के अतिमानसिक स्तर की ओर आरोहण कर सकता है। अब हम इस पिछली विधि के क्रमों को ज्ञानमार्ग के साधक के लिये निर्धारित करने का यत्न करेंगे।

जब साधक अहंभाव, मन, प्राण और शरीर के साथ अपनी आत्मा के अनेकविध तादात्म्यों से पीछे हटने की साधना का अनुष्ठान कर चुकता है तो वह ज्ञान के द्वारा उस शुद्ध, निश्चल, आत्म-सचेतन, सत्स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है जो एक, अविभक्त, शान्तिमय एवं निष्क्रिय है तथा जगत् के कार्य-व्यापार से चलायमान नहीं होता। इस आत्मा का जगत् के साथ केवल इतना ही सम्बन्ध प्रतीत होता है कि यह इसका एक निष्काम साक्षी है जो इसके किसी भी व्यापार में तनिक भी लिप्त नहीं होता, उससे प्रभावित या स्पृष्ट तक नहीं होता।

[1] विशेष रूप से, तैत्तिरीय उपनिषद् में।

यदि चेतना की इस अवस्था को और आगे बढ़ाया जाय तो साधक को एक ऐसे आत्मा का ज्ञान प्राप्त होता है जो जगत्-सत्ता से और भी अधिक दूर है; इस जगत् में जो कुछ भी है वह एक अर्थ में उस आत्मा में विद्यमान है और फिर भी उसकी चेतना के बाहर स्थित है, उसकी सत्ता में अस्तित्व नहीं रखता, एक प्रकार के अवास्तविक मन में ही अस्तित्व रखता है,—अतएव एक स्वप्न है, भ्रम है। इस दूरस्थ एवं परात्पर वास्तविक सत्ता को वह अपनी सत्ता के विशुद्ध आत्मा के रूप में अनुभव कर सकता है; अथवा आत्मा का एवं उसकी अपनी सत्ता का विचार तक इस परात्पर में सर्वथा विलीन हो जा सकता है; परिणामतः मन को यह केवल ऐसा अज्ञेय 'तत्' ही लगता है जो मानसिक चेतना के लिये अग्राह्य होता है और जिसका जगत्-सत्ता के साथ किसी प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध या व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता। मनोमय पुरुष इसे नास्ति, असत् या शून्य के रूप में भी अनुभव कर सकता है, पर ऐसे शून्य के रूप में जो, जगत् में जो कुछ भी है उस सबसे शून्य है, एक ऐसे असत् के रूप में जिसमें जगत् की सभी वस्तुओं का अभाव है और फिर भी जो एकमात्र सद्वस्तु है। इस परात्पर सत्ता पर अपनी सत्ता को एकाग्र करके इसकी ओर और आगे बढ़ने का अर्थ है मानसिक सत्ता तथा जगत्-सत्ता का पूर्ण विलय करके अपने-आपको अज्ञेय में निमज्जित कर देना।

परन्तु सर्वांगीण ज्ञानयोग इसके स्थान पर यह मांग करता है कि हम दिव्यता प्राप्त करके जगत् को फिर से अपना लें और इसके लिये पहला पग यह है कि हम सर्व-रूप आत्मा का 'सर्व' के रूप में साक्षात्कार करें, **सर्वं ब्रह्म**। सर्वप्रथम, स्वयंभू आत्मा पर अपने-आपको एकाग्र करके हमें अनुभव करना होगा कि मन और इन्द्रियों के द्वारा गोचर सभी वस्तुएं इस शुद्ध आत्मा में विद्यमान वस्तुओं के आकार हैं, इस आत्मा में जो कि अब हमारी चेतना के निकट हमारा अपना ही स्वरूप है। शुद्ध आत्मा का यह साक्षात्कार मन की सूक्ष्मेन्द्रिय और अनुभवशक्ति के प्रति एक ऐसी अनन्त सद्वस्तु के रूप में परिणत हो जाता है जिसमें सभी वस्तुएं केवल नाम-रूपात्मक अस्तित्व रखती हैं, वे ठीक अर्थ में अवास्तविक, भ्रमात्मक या स्वप्नरूप तो नहीं हैं, पर फिर भी चेतना की एक ऐसी कृतिमात्र हैं जो ठोस-पदार्थ-रूप होने की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म अनुभवशक्ति तथा सूक्ष्मेन्द्रियों से ही ग्राह्य है। चेतना की इस भूमिका में यह सब विश्व यदि स्वप्न नहीं तो बहुत कुछ एक ऐसे प्रदर्शन या कठपुतलियों के खेल जैसा दिखायी देता है जो स्थिर, निश्चल, शान्तिमय एवं उदासीन आत्मा में हो रहा है। हमारी अपनी दृश्य सत्ता इस सूक्ष्म कल्पनात्मक क्रिया का एक अंग है, अन्य रूपों के बीच यह भी मन और शरीर से युक्त एक यान्त्रिक रूप है, स्वयं हम सत्ता के अन्य नामों के बीच उसका एक नाम हैं, सर्वतोव्यापी एवं प्रशान्त आत्म-चैतन्य से युक्त इस आत्मा में यन्त्रवत् गतिशील हैं। इस भूमिका में जगत् की सक्रिय चेतना हमारी अनुभूति में उपस्थित नहीं होती,

क्योंकि विचार हमारे अन्दर शान्त हो चुका है और अतएव हमारी अपनी चेतना पूर्णतया शान्त और निष्क्रिय बन गयी है,—जो भी कार्य हम करते हैं, वह हमें निरा यान्त्रिक प्रतीत होता है। हमारा सक्रिय संकल्प और ज्ञान उसे किसी प्रकार भी सचेतन रूप से आरम्भ नहीं करते। अथवा, यदि विचार की क्रिया उत्पन्न होती भी है तो वह भी अन्य क्रियाओं की तरह, हमारे शरीर की क्रिया की तरह, यान्त्रिक ढंग से ही पैदा होती है, पौधे और धातु में होनेवाली क्रिया की भांति प्रकृति के अदृष्ट करणों के द्वारा चालित होती है, हमारी सत्ता के किसी सक्रिय संकल्प के द्वारा नही। क्योंकि, यह आत्मा निश्चल है और जिस कार्य के लिये यह अनुमति देता है उसे न तो आरम्भ करता है न उसमें भाग ही लेता है। यह आत्मा 'सर्व' है, पर केवल इस अर्थ में कि यह अनन्त एकमेव है जो सब नामों और रूपों के मूल में निर्विकार रूप से विद्यमान है तथा उन्हें अपने अन्दर धारण किये हुए है।

चेतना की इस भूमिका का मूल मन के एक एकांगी साक्षात्कार में निहित है जिसके द्वारा यह उस शुद्ध स्वयंभू सत्ता को उपलब्ध करता है जिसमें चेतना शान्त और निष्क्रिय रहती है, सत्ता के शुद्ध आत्म-चैतन्य में व्यापक रूप से एकाग्र होती है, न कोई क्रिया करती है और न किसी प्रकार की व्यक्त सत्ता उत्पन्न करती है। उस चेतना का ज्ञान-सम्बन्धी रूप भेद-प्रभेद-रहित तादात्म्य के भान में शान्त हुआ रहता है; उसका शक्ति और संकल्प-सम्बन्धी रूप अविकार्य अक्षर-भाव के बोध में शान्त हो रहता है। फिर भी उसे नामों और रूपों का भान होता है, क्रिया का बोध रहता है; पर यह क्रिया आत्मा से उत्पन्न होती नहीं प्रतीत होती, बल्कि ऐसा लगता है कि यह अपनी ही किसी अन्तर्निहित शक्ति से चल रही है और आत्मा में तो इसका केवल प्रतिबिम्ब पड़ता है। दूसरे शब्दों में, मनोमय सत्ता ने एकपक्षीय एकाग्रता के द्वारा चेतना के सक्रिय रूप को अपने से दूर हटा दिया है, उसके निष्क्रिय रूप की शरण ले ली है और इन दोनों रूपों के बीच एक दीवार खड़ी करके दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया है; निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म के बीच उसने एक खाई खोद डाली है और वे इसके किनारों पर एक-दूसरे के आमने-सामने स्थित हैं, दोनों एक-दूसरे के लिये गोचर हैं, पर उनमें किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, न तो सहानुभूति का लेशमात्र सम्वेदन है और न एकत्व का कोई भान। अतएव निष्क्रिय आत्मा को समस्त चेतन सत्ता अपने स्वरूप में निष्क्रिय प्रतीत होती है, समस्त क्रिया अपने स्वरूप में अचेतन और अपनी गति में जड़ प्रतीत होती है। इस भूमिका का साक्षात्कार प्राचीन सांख्य दर्शन का आधार है। इस दर्शन की शिक्षा यह थी कि पुरुष या चिन्मय आत्मा एक शान्त, निष्क्रिय एवं अक्षर सत्ता है, प्रकृति या प्रकृति-स्वरूप आत्मा जिसमें मन और बुद्धि भी सम्मिलित हैं, सक्रिय, क्षर और जड़ है, पर पुरुष में इस प्रकृति का प्रतिबिंब पड़ता है। जो भी चीज पुरुष के अन्दर प्रतिबिंबित होती है उसके साथ वह अपने-आपको

तदाकार कर लेता है और उसे अपनी चैतन्य-ज्योति प्रदान कर देता है। जब पुरुष उसके साथ अपने-आपको तदाकार न करने का अभ्यास डाल लेता है तो प्रकृति अपने क्रियावेग को त्यागने लगती है और साम्यावस्था तथा निष्क्रियता की ओर लौट जाती है। इसी भूमिका के वैदान्तिक विचार ने इस दर्शन को जन्म दिया कि निष्क्रिय आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र है और शेष सब चीजें तो केवल नाम और रूप हैं जिन्हें मानसिक भ्रम की एक मिथ्या क्रिया ने ब्रह्म पर आरोपित कर दिया है; इस भ्रम को निर्विकार आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके तथा 'अध्यारोप' का निषेध करके दूर करना होगा। वास्तव में सांख्य और वेदान्त के विचार केवल अपनी भाषा और अपने दृष्टिकोण में ही भिन्न हैं; सारतः ये एक ही आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर बनाया गया एक ही बौद्धिक सिद्धान्त हैं।

यदि हम यहीं रुक जायें तो जगत् के प्रति हम केवल दो प्रकार की ही मनोवृत्ति धारण कर सकते हैं। या तो हमें जगत् की लीला के निष्क्रिय साक्षिमात्र रहना होगा या फिर इसमें अपनी चेतन सत्ता का किसी प्रकार सहयोग दिये बिना केवल यांत्रिक ढंग से और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों[1] की क्रिया-प्रवृत्ति के द्वारा ही कार्य करना होगा। इनमें से पहली वृत्ति का चुनाव करने पर हम निष्क्रिय एवं शान्त ब्रह्म की निष्क्रियता को यथा-सम्भव अधिक-से-अधिक पूर्ण रूप में प्राप्त करने का यत्न करते हैं। हम अपने मन को निःस्पन्द करके और विचार की क्रिया तथा हृदय के विक्षोभों को शान्त करके पूर्ण आन्तरिक शान्ति तथा उदासीनता प्राप्त कर चुके हैं। अब हम प्राण और शरीर की यांत्रिक क्रिया को शान्त करने और यथासम्भव अतीव अल्प एवं कम-से-कम कर देने का यत्न करते हैं, ताकि यह अन्त में पूर्ण रूप से तथा सदा के लिये समाप्त हो जाय। यह जीवन का परित्याग करनेवाले संन्यासप्रधान योग का अन्तिम लक्ष्य है, पर स्पष्टतः ही, यह हमारा लक्ष्य नहीं है। इसके विकल्पस्वरूप यदि हम दूसरी वृत्ति का चुनाव करें तो हम पूर्ण आन्तरिक निष्क्रियता, शान्ति, मानसिक नीरवता, उदासीनता, आवेशों का विलोप, संकल्प-शक्ति में वैयक्तिक पसंदगी का अभाव—इन सब गुणों से युक्त रहते हुए एक ऐसा कर्म भी करते रह सकते हैं जो अपने बाह्य रूप में काफी पूर्ण हो।

साधारण मन को ऐसा कर्म सम्भव नहीं प्रतीत होता। जैसे भाविक दृष्टि से यह किसी ऐसे कर्म की कल्पना नहीं कर सकता जो कामना और आवेशमूलक अभिरुचि से रहित हो, वैसे ही बौद्धिक दृष्टि से यह किसी ऐसे कर्म की कल्पना भी नहीं कर सकता जो विचारात्मक परिकल्पना, सचेतन हेतु तथा संकल्प की प्रेरणा से रहित हो। परन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि हमारा अपना अधिकांश कर्म तथा जड़ और निरी सप्राण सत्ता की सम्पूर्ण क्रिया एक यांत्रिक आवेग एवं गति के द्वारा संपन्न होती है जिसमें ये कामना आदि तत्त्व, कम-से-कम प्रकट रूप में, कार्य नहीं

[1] केवलैरिन्द्रियैः—गीता।

कर रहे होते। यह कहा जा सकता है कि यह बात निरी भौतिक एवं प्राणिक क्रिया के बारे में ही सम्भव है, उन क्रियाओं के बारे में नहीं जो साधारणतः विचारात्मक और संकल्पमय मन के व्यापार पर निर्भर करती है, जैसे बोलना, लिखना तथा मानवजीवन का समस्त बुद्धिप्रधान कार्य। परन्तु यह कथन भी सत्य नहीं है, जब हम अपनी मानसिक प्रकृति की अभ्यासगत एवं सामान्य क्रिया-प्रक्रिया के पीछे जाने में समर्थ हो जाते हैं तो हमें इसकी असत्यता का पता चल जाता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह ज्ञात हो गया है कि ये सब क्रियाएं प्रत्यक्ष कर्ता के विचार और संकल्प में किसी प्रकार भी सचेतन रूप से उत्पन्न हुए बिना संपन्न की जा सकती हैं; उसकी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां, वागिन्द्रिय समेत, उसके अपने विचार और संकल्प से भिन्न किसी अन्य विचार और संकल्प के निष्क्रिय यंत्र बन जाती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि समस्त बुद्धिप्रधान कार्य के पीछे किसी बुद्धि का संकल्प होना चाहिये, पर वह बुद्धि या संकल्प कर्ता के सचेतन मन का ही हो यह आवश्यक नहीं। जिन मनोवैज्ञानिक परीक्षणों का मैंने उल्लेख किया है उनमेंसे कुछ एक में, स्पष्ट रूप से, अन्य मनुष्यों की संकल्पशक्ति एवं बुद्धि ही कर्ता की इन्द्रियों एवं करणों का प्रयोग करती है, कुछ दूसरे परीक्षणों में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनमें इन्द्रियों का संचालन अन्य सत्ताओं के प्रभाव या प्रेरणा द्वारा होता है अथवा वहां अवचेतन या प्रच्छन्न मन उपरितल पर आकर कार्य करता है या फिर ये दोनों साधन मिल-जुलकर कार्य करते हैं। परन्तु उपरिवर्णित यौगिक भूमिका में जिसमें कर्म केवल इन्द्रियों द्वारा ही चलता रहता है, **केवलैरिन्द्रियैः**, स्वयं प्रकृति की विराट् प्रज्ञा एवं संकल्पशक्ति ही अतिचेतन और अवचेतन केन्द्रों से कार्य करती है जैसे वह वनस्पति-जीवन या निष्प्राण जड़पदार्थ की यांत्रिक पर उद्देश्यपूर्ण शक्तियों में कार्य करती है; अन्तर इतना ही है कि यौगिक भूमिका में वह एक ऐसे सजीव यंत्र के द्वारा कार्य करती है जो कार्य और करण का सचेतन साक्षी होता है। यह एक विलक्षण तथ्य है कि इस प्रकार की भूमिका से उद्भूत वाणी, लेख तथा बुद्धिप्रधान कार्य एक ऐसे पूर्णतः शक्तिशाली विचार को व्यक्त कर सकते हैं जो ज्योतिर्मय, स्खलनरहित, शृंखलाबद्ध एवं अन्तःप्रेरित होता है तथा अपने साधनों को साध्यों के पूर्णतः अनुकूल बना लेता है, इस प्रकार जो चीज व्यक्त होती है वह उससे बहुत परे की होती है जिसे मनुष्य अपने मन, संकल्प और सामर्थ्य की पुरानी सामान्य अवस्था में स्वयं व्यक्त कर सकता, तथापि इस भूमिका में जो विचार उसके पास आता है उसे वह स्वयं बराबर देखता रहता है, उसकी कल्पना नहीं करता, जो संकल्प उसके द्वारा कार्य करता है उसके कार्यों का निरीक्षण करता है, पर उसपर अपना अधिकार नहीं जमा लेता, न उसका प्रयोग ही करता है, एक निष्क्रिय यंत्र-जैसे उसके आधार के द्वारा जो शक्तियां जगत् पर

अपनी क्रिया करती हैं उन्हें साक्षिवत् देखता है, किन्तु उनपर अपना स्वत्व होने का दावा नहीं करता। परन्तु यह दृग्विषय वस्तुतः कोई असामान्य वस्तु नहीं है, न यह विश्व के सामान्य नियम के विरुद्ध ही है। कारण, क्या हम भौतिक प्रकृति के जड़ दिखायी देनेवाले कार्य में गुप्त विराट् संकल्प-शक्ति और प्रज्ञा की पूर्ण क्रिया नहीं देखते? ठीक यही विराट् संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञा शान्त, उदासीन तथा अन्तर्नीरव योगी के द्वारा, जो इसकी क्रियाओं में सीमित एवं अज्ञ वैयक्तिक संकल्प और बुद्धि की कोई बाधा उपस्थित नहीं करता, उक्त प्रकार से अपना कार्य करती है। वह नीरव आत्मा में निवास करता है; वह सक्रिय ब्रह्म को अपने प्राकृतिक करणों के द्वारा कार्य करने देता है और उसकी विराट् शक्ति और ज्ञान की रूप-रचनाओं को निष्पक्ष भाव से तथा उनमें किसी प्रकार का भाग लिये बिना स्वीकार करता है।

आन्तरिक निष्क्रियता और बाह्य कर्म की यह स्थिति, जिसमें दोनों एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं, पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्य की अवस्था है। जैसा कि गीता में कहा गया है, योगी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता, क्योंकि वह नहीं, बल्कि विराट् प्रकृति ही अपने प्रभु से परिचालित होकर उसके अन्दर कार्य करती है। वह अपने कर्मों से बंधता नहीं, न तो वे अपने पीछे उसके मन में कोई प्रभाव या परिणाम छोड़ जाते हैं और न उसकी आत्मा पर उनका कोई लेप या दाग ही लगता है[1]; वे करने के साथ ही विलुप्त एवं विलीन हो जाते हैं[2] और अक्षर सत्ता पर कोई भी प्रभाव छोड़े बिना तथा अन्तरात्मा को विकृत किये बिना चले जाते हैं। अतएव, ऐसा लगता है कि यदि ऊपर उठी हुई आत्मा को इस भूमिका में पहुंचने पर भी जगत् में मानवीय कर्म से किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखना हो तो उसे इस स्थिति को अपनाना होगा—अन्तर में तो अटल निश्चल-नीरवता, शान्ति एवं निष्क्रियता और बाहर ऐसी विराट् संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञा के द्वारा नियंत्रित कर्म जो, गीता के अनुसार, अपने कर्मों में लिप्त हुए बिना, उनसे बद्ध या उनमें अज्ञानपूर्वक आसक्त हुए बिना कार्य करती है। और निःसंदेह, जैसा कि हम कर्मयोग में देख चुके हैं, पूर्ण आन्तरिक निष्क्रियता पर प्रतिष्ठित पूर्ण कर्म की यह अवस्था ही योगी को प्राप्त करनी होगी। परन्तु यहां, आत्मज्ञान की जिस भूमिका में हम पहुंचे हैं उसमें, स्पष्ट ही समग्रता का अभाव है; निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म के बीच अभीतक एक खाई है, उनमें एकत्व साधित नहीं हुआ है अथवा उनकी चेतना में हमें भेद दिखायी देता है। नीरव आत्मा की उपलब्धि को खोये बिना सचेतन रूप से सक्रिय ब्रह्म को प्राप्त करना हमारे लिये अभी भी बाकी है। आन्तरिक नीरवता, प्रशान्ति तथा निष्क्रियता को हमें आधार के रूप में सुरक्षित रखना होगा; पर सक्रिय ब्रह्म के कार्यों के प्रति उपेक्षापूर्ण उदासीनता के स्थान पर हमें उनमें सम और

[1] न कर्म लिप्यते नरे।—ईशोपनिषद्

[2] प्रविलीयन्ते कर्माणि।—गीता

पक्षपातशून्य आनन्द प्राप्त करना होगा; इस भय से कि कहीं हमारी शान्ति और स्वतंत्रता खो न जाय, जगत् के कर्म में भाग लेने से इन्कार करने के स्थान पर हमें उस सक्रिय ब्रह्म को सचेतन रूप से प्राप्त करना होगा जिसका जागतिक सत्ता का आनन्द उसकी शान्ति को भंग नहीं करता, न समस्त जगद्व्यापार का स्वामी होने से अपने कर्मों के बीच में जिसकी शान्त स्वतंत्रता को कोई क्षति ही पहुंचती है।

किन्तु कठिनाई इसलिये पैदा होती है कि मनोमय मानव एकांगी रूप से अपने उस शुद्ध सत्ता के स्तर पर ही एकाग्रता करता है जिसमें चेतना निष्क्रियता में शान्त हुई रहती है और सत्ता का आनन्द सत्ता की शान्ति में स्थिर हुआ रहता है। उसे अपनी सत्ता के उस चिच्छक्तिमय स्तर का भी आलिंगन करना होगा जिसमें चेतना बल और संकल्प के रूप में क्रियाशील है और आनन्द सत्ता के हर्ष के रूप में क्रियाशील है। यहां कठिनाई यह है कि मन शक्तिमय चेतना को अधिकृत करने के स्थान पर अपने-आपको उसमें अविवेकपूर्वक झोंक सकता है। यह अवस्था जिसमें मन अपने-आपको प्रकृति में झोंक देता है, साधारण मनुष्य में पराकाष्ठा को पहुंच जाती है। वह अपने शरीर तथा प्राण की क्रियाओं को तथा उनपर आश्रित मानसिक क्रियाओं को ही अपनी सम्पूर्ण वास्तविक सत्ता मानता है और आत्मा की समस्त निष्क्रियता को जीवन से विमुक्त होना तथा शून्यता की ओर जाना समझता है। वह सक्रिय ब्रह्म के ऊपरी भाग में निवास करता है और जहां निष्क्रिय आत्मा पर अनन्य भाव से एकाग्र हुए नीरव 'पुरुष' के लिये सभी कर्म नाम और रूपमात्र हैं, वहां उक्त साधारण मनुष्य के लिये वे एकमात्र वास्तविक सत्ता हैं तथा आत्मा ही महज एक नाम है। इनमें से एक अवस्था में निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय से अलग-थलग रहता है तथा उसकी चेतना में भाग नहीं लेता; दूसरी में सक्रिय ब्रह्म निष्क्रिय से अलग रहता है तथा उसकी चेतना में भाग नहीं लेता और न अपनी चेतना पर ही पूर्ण अधिकार रखता है। इन परस्पर-वर्जक पक्षों में उक्त प्रत्येक अवस्था दूसरी को यदि पूर्णतः मिथ्या न भी प्रतीत हो तो भी वह कम-से-कम स्थिति-रूपी जड़ता या आत्मप्राप्ति की अभावरूपी एक ऐसी जड़ता अवश्य प्रतीत होती है जिसमें सब क्रियाएं यंत्रवत् होती रहती हैं। परन्तु जिस साधक ने वस्तुओं के सारतत्त्व का एक बार दृढ़तापूर्वक साक्षात्कार कर लिया है और नीरव आत्मा की शान्ति का पूर्णतया रसास्वादन कर लिया है वह ऐसी किसी भी अवस्था से सन्तुष्ट नहीं हो सकता जिसमें आत्मज्ञान को गंवाना या आन्तरात्मिक शान्ति का बलिदान करना पड़े। वह मन, प्राण और शरीर की समस्त अज्ञान, आयास और विक्षोभवाली निरी वैयक्तिक क्रिया में अपने-आपको पुनः नहीं झोंकेगा। वह चाहे कोई भी नयी अवस्था क्यों न प्राप्त कर ले उससे उसे सन्तुष्टि तभी होगी यदि वह उस अवस्था पर आधारित हो तथा उसे अपने अन्तर्गत रखती हो जिसे वह पहले

से ही वास्तविक आत्मज्ञान, आत्मानन्द और आत्मप्रभुत्व के लिये अनिवार्य अनुभव कर चुका है।

फिर भी, जब वह जगत् के कर्म के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिये फिर से यत्न करेगा तो वह पुरानी मानसिक क्रिया में आंशिक, बाह्य और अस्थायी रूप से पुनः पतित हो सकता है। इस पतन को रोकने के लिये या जब यह हो जाय तो इसका प्रतिकार करने के लिये उसे सच्चिदानन्द के सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ रखना होगा। और, अनन्त एकमेव के अपने साक्षात्कार को अनन्त बहुत्व की क्रिया के क्षेत्र में विस्तारित करना होगा। उसे सभी वस्तुओं में विद्यमान एकमेव ब्रह्म पर एकाग्रता करके यह साक्षात्कार करना होगा कि ब्रह्म सत्ता की चेतन शक्ति है तथा चेतन सत्ता का शुद्ध चैतन्य है। सत्ता की सच्ची उपलब्धि की ओर एक कदम और आगे बढ़कर उसे यह साक्षात्कार भी प्राप्त करना होगा कि आत्मा 'सर्व' है जो यहां वस्तुओं के अद्वितीय सारतत्त्व के रूप में ही नहीं, बल्कि उनके अनेकविध आकारों के रूप में भी उपस्थित है, जो सबको अपनी परात्पर चेतना में समाये ही नहीं रहता, बल्कि उपादानभूत चेतना के द्वारा सब वस्तुओं के रूप में प्रकट भी होता है। जैसे-जैसे यह साक्षात्कार पूर्ण होता जायेगा वैसे-वैसे चेतना की अवस्था एवं उसके उपयुक्त मानसिक दृष्टि बदलती चली जायेगी। एक ऐसे अक्षर आत्मा के स्थान पर जो नामों और रूपों को अपने अन्दर समाये हुए है तथा जो प्रकृति के क्षर भावों को अपने अन्दर धारण करता है, पर उनमें भाग नहीं लेता, वह एक ऐसे आत्मा से सचेतन हो जायगा जो अपने सारतत्त्व में अक्षर है तथा अपनी मूल स्थिति में निर्विकार है, पर जो इन सब सत्ताओं को जिन्हें मन नाम और रूप कहकर वर्णित करता है, अपने अनुभव में गठित करता है और स्वयं ही इन सब सत्ताओं के रूप में प्रकट होता है। मन और शरीर के समस्त रूप उसके लिये केवल ऐसे आकार नहीं होंगे जिनका पुरुष में प्रतिबिंब पड़ता है, वरन् ऐसे वास्तविक रूप होंगे जिनका सारतत्त्व और मानों जिनकी रचना का उपादान ब्रह्म ही है, आत्मा एवं चिन्मय पुरुष ही है। रूप के साथ सम्बद्ध नाम मन का एक ऐसा कोरा विचार नहीं होगा जो उस नामवाली किसी भी वास्तविक सत्ता से सम्बन्ध न रखता हो, बल्कि उसके पीछे चेतन सत्ता की एक सच्ची शक्ति होगी, ब्रह्म का एक वास्तविक आत्मानुभव होगा जो किसी ऐसी वस्तु के अनुरूप होगा जिसे वह अपनी नीरवता में सम्भाव्य पर अव्यक्त रूप में धारण किये हुए था। फिर भी अपने सब क्षर भावों में वह एक, मुक्त तथा उनसे ऊपर अनुभूत होगा। यह साक्षात्कार कि एक एकमेवाद्वितीय, वास्तविक सत्ता है जो नामों और रूपों के अध्यारोप के वश सुख-दुःख का अनुभव कर रही है, एक ऐसी सनातन सत्ता के साक्षात्कार को स्थान दे देगा जो अपने-आपको अनन्त भूतभावों के रूप में प्रकट कर रही है। योगी की चेतना के लिये सभी भूत आत्मा के, उसकी अपनी सत्ता के, विचारात्मक रूप ही

नहीं, बल्कि आत्मिक रूप होंगे, जो उसके साथ एकीभूत तथा उसकी विराट् सत्ता में समाये हुए होंगे। भूतमात्र का समस्त आन्तरात्मिक तथा मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक जीवन उसे नित्य एकरस रहनेवाले 'पुरुष' की एक और अविभाज्य गति एवं क्रिया के रूप में प्रतीत होगा। उसे अक्षर स्थिति और क्षर क्रिया के दोहरे स्वरूप से युक्त विराट् के रूप में आत्मा का साक्षात्कार होगा और यही हमारी सत्ता का व्यापक सत्य प्रतीत होगा।

अध्याय १५

विराट् चेतना

सक्रिय ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके साथ एकत्व प्राप्त करने का अर्थ है वैयक्तिक चेतना को, इस एकत्व की आंशिक या समग्र पूर्णता के अनुसार पूर्ण या अपूर्ण रूप से, विराट् चेतना में परिवर्तित करना। मनुष्य की साधारण सत्ता एवं चेतना वैयक्तिक ही नहीं अहंमय भी है; अर्थात् इस चेतना में जीवात्मा या व्यक्तिगत आत्मा वैश्वप्रकृति की गति के अन्दर अपने मानसिक, प्राणिक, शारीरिक अनुभवों की केंद्रीय ग्रंथि के साथ, अपने मनोनिर्मित अहंभाव के साथ और, अपेक्षाकृत कम घनिष्ठ रूप में, अनुभवों को ग्रहण करनेवाले मन, प्राण और शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कारण, इनके बारे में तो वह "यह मेरा मन, मेरा प्राण या मेरा शरीर है" ऐसा कह सकता है, इन्हें अपना-आप समझ सकता है, पर कुछ अंश में इन्हें अपना स्वरूप न समझकर एक ऐसी चीज भी समझ सकता है जिसका वह स्वामी है तथा जिसे वह प्रयोग में लाता है, किन्तु अहं के बारे में तो वह कहता है, "यह स्वयं मैं हूं।" मन, प्राण और शरीर के साथ समस्त तादात्म्य से अपनेको अलग करके वह अपने अहं से पीछे हट उस सच्चे व्यष्टि अर्थात् जीवात्मा की चेतना को प्राप्त कर सकता है जो मन, प्राण और शरीर का वास्तविक स्वामी है। इस 'व्यष्टि' के पीछे अवस्थित उस सत्ता की ओर जिसका यह प्रतिनिधि एवं चेतन रूप है दृष्टि डालने पर वह शुद्ध आत्मा, निरपेक्ष सत् या निरपेक्ष असत् की परात्पर चेतना को प्राप्त कर सकता है; ये आत्मा, सत् और असत् एक ही सनातन परमार्थ-सत्ता की तीन स्थितियां हैं। परन्तु विश्व-प्रकृति की क्रिया और इस परात्पर सत्ता के बीच वैश्व चैतन्य किंवा विराट् पुरुष अवस्थित है जो प्रकृति की क्रिया का स्वामी तथा परात्पर का वैश्व आत्मा है; समस्त विश्व-शक्ति (Nature) इस विराट् पुरुष की प्रकृति या सक्रिय सचेतन शक्ति है। इस विराट् पुरुष को हम प्राप्त कर सकते हैं तथा यही बन भी सकते हैं, पर इसके लिये हमें या तो अहं की दीवारों को अपने चारों ओर से तोड़कर मानों एकमेव में सर्वभूतों के साथ तदात्मता स्थापित करनी होगी अथवा इन्हें ऊपर की ओर से तोड़कर शुद्ध आत्मा या निरपेक्ष सत्ता का उसके आविर्भावशील, अन्तर्यामी, सर्वग्राही तथा सर्वनिर्मायक ज्ञान से एवं आत्म-सर्जन की शक्ति से सम्पन्न रूप में साक्षात्कार करना होगा।

सबमें विद्यमान अन्तर्यामी एवं नीरव आत्मा का साक्षात्कार करके ही मनोमय मानव इस विराट् चेतना का आधार सर्वाधिक सहज रूप से स्थापित कर सकता है। उसे यह अनुभव करना होगा कि यह आत्मा शुद्ध और सर्वव्यापक साक्षी है

जो सृष्टि के चिन्मय आत्मा के रूप में समस्त जगद्व्यापार का अवलोकन करता है, साथ ही यह आत्मा सच्चिदानन्द भी है जिसके आनन्द के लिये विश्व-प्रकृति अपनी सनातन क्रिया-परम्परा को चला रही है। हमें अखण्डित आनन्द तथा शुद्ध और परिपूर्ण उपस्थिति का साक्षात्कार प्राप्त होता है, उस अनन्त और स्वयंपूर्ण शक्ति का अनुभव होता है, जो हममें तथा सब वस्तुओं में विद्यमान है, जो उनके भेदों से विभक्त नहीं होती, वैश्व अभिव्यक्ति के दबाव और संघर्ष से प्रभावित नहीं होती, इन सबके अन्दर है और फिर भी इन सबके ऊपर है। उसीके कारण इस सबका अस्तित्व है, परन्तु उसका अस्तित्व इस सबके कारण नहीं है; वह इतनी महान् है कि जिस देश-काल-गत क्रिया के अन्दर वह अवस्थित है तथा जिसे धारण करती है उससे सीमित नहीं होती। विराट् चेतना का यह आधार हमें दिव्य अस्तित्व की सुरक्षित स्थिति में सम्पूर्ण विश्व को अपनी सत्ता के अन्दर धारण करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। जिसके अन्दर हम निवास करते हैं उससे हम तब और सीमित नहीं होते, न उसमें बन्द ही हो जाते हैं, बल्कि प्रकृति की जिस क्रिया में निवास करना हम स्वयमेव स्वीकार करते हैं उसके निमित्त हम इस सब को भगवान् की भांति अपने अन्दर धारण करते हैं। हम मन या प्राण या शरीर नहीं हैं, बल्कि इन्हें अन्दर से गढ़नेवाला तथा धारण करनेवाला, निश्चल-नीरव, शान्तिमय, सनातन पुरुष हैं जो इनका स्वामी है। और, हम देखते हैं कि यह आत्मा सर्वत्र विद्यमान है तथा सबके प्राण, मन और शरीर को धारण कर रहा एवं अन्दर से गढ़ रहा है और उनका स्वामी है। और, तब हम इसे अपने मन, प्राण और शरीर में उपस्थित एक पृथक् एवं व्यक्तिगत सत्ता के रूप में देखना छोड़ देते हैं। इसीमें यह सब गति और क्रिया कर रहा है; इस सबके अन्दर वह स्वयं स्थिर और अक्षर है। इसे प्राप्त कर लेने पर हम अपनी सनातन स्वयंभू सत्ता को उसके नित्य चैतन्य और आनन्द के अन्दर स्थिर रूप में प्रतिष्ठित अनुभव कर लेते हैं।

इसके बाद हमें अनुभव करना होगा कि यह नीरव आत्मा विश्व-प्रकृति के समस्त व्यापार का स्वामी है, एक ही स्वयंभू ईश्वर है जो अपनी सनातन चेतना की सर्जनशील शक्ति के रूप में विलसित हो रहा है। जगत् का यह समस्त व्यापार केवल उसका बल, ज्ञान और आनन्द ही है जो उसकी सनातन प्रज्ञा और संकल्प-शक्ति के कार्यों को करने के लिये उसकी अनन्त सत्ता में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रकट हो रहे हैं। भगवान् का, सबके सनातन आत्मा का साक्षात्कार हमें सर्वप्रथम इस रूप में होता है कि वह समस्त कर्म और अकर्म, ज्ञान और अज्ञान, हर्ष और शोक, शुभ और अशुभ, पूर्णता और अपूर्णता, शक्ति और आकार, शाश्वत दिव्य तत्त्व से बाहर की ओर प्रकृति का समस्त विच्छुरण तथा भगवान् की ओर उसका समस्त प्रतिनिवर्तन—इन सबका मूल स्रोत है। इसके बाद हमें उसका साक्षात्कार इस रूप में होता है कि वह अपनी शक्ति और ज्ञान के रूप में स्वयं ही चारों ओर आविर्भूत

हो रहा है—क्योंकि शक्ति और ज्ञान स्वयं उसीका स्वरूप हैं,—वह इनके कार्यों का उद्गम ही नहीं, बल्कि स्रष्टा और कर्ता है, सब भूतों में एक ही है, क्योंकि विश्व-अभिव्यक्ति में जो अनेक आत्माएं हैं वे एक ही भगवान् की आकृतियांमात्र हैं, अनेक मन, प्राण और शरीर उसके अवगुंठन और छद्मरूप ही हैं। प्रत्येक सत्ता को हम विराट् नारायण के रूप में देखते हैं जो हमारे सामने अपने अनेक चेहरों को प्रकट कर रहा है; हम अपने को उसमें खो देते हैं और अपने मन, प्राण तथा शरीर को आत्मा का केवल एक रूप अनुभव करते हैं, और पहले हम जिन्हें पराया समझते थे वे सभी अब हमारी चेतना को अन्य मनों, प्राणों और शरीरों में अवस्थित अपनी ही आत्मा प्रतीत होते हैं। इस विश्व में विद्यमान समस्त शक्तियां, विचार तथा घटनाएं और पदार्थों के सभी आकार इस आत्मा के व्यक्त क्रमिक रूपमात्र हैं, भगवान् की विभिन्न मूल्योंवाली अभिव्यक्तियां हैं जो उसके सनातन आत्म-रूपायनों में प्रकट होती हैं। पदार्थों और प्राणियों पर इस प्रकार दृष्टिपात करने से हम पहले उन्हें इस रूप में देख सकते हैं मानो वे उसकी विभक्त सत्ता के अंग एवं खण्ड हों, परन्तु हमारा साक्षात्कार और ज्ञान तबतक पूर्ण नहीं हो सकते जबतक हम गुण, देश-काल और भेद-विभाग के इस विचार से परे जाकर सर्वत्र अनन्त भगवान् को नहीं देखने लगते, विश्व को और विश्व की प्रत्येक वस्तु को उसकी सत्ता और गुप्त चेतना में तथा शक्ति एवं आनन्द में पूरे-का-पूरा अखण्ड भगवान् नहीं अनुभव करते, भले ही, इस विश्व का या इसकी प्रत्येक वस्तु का हमारे मनों के सम्मुख प्रस्तुत रूप कितना ही अधिक एक आंशिक अभिव्यक्तिमात्र क्यों न प्रतीत हो। जब हम इस प्रकार भगवान् को शान्त एवं सर्वातीत साक्षी और क्रियाशील ईश्वर एवं उपादानभूत सत्तत्व के रूप में प्राप्त कर लेते हैं तथा इन दोनों रूपों में किसी प्रकार का भेद नहीं करते तब हम सम्पूर्ण विराट् परमेश्वर को उपलब्ध कर लेते हैं, समग्र वैश्व आत्मा एवं सद्वस्तु को सर्वात्मना ग्रहण कर लेते हैं, विराट् चैतन्य के प्रति जागरित हो जाते हैं।

यह जो विराट् चेतना हमने उपलब्ध की है उसके साथ हमारी व्यक्तिगत सत्ता का क्या सम्बन्ध होगा? क्योंकि हमारा मन, शरीर एवं मानवीय जीवन अभीतक विद्यमान है, हमारी व्यक्तिगत सत्ता बनी रहती है यद्यपि हम अपनी पृथक् व्यक्तिगत चेतना को पार कर चुके हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि हम विराट्-चैतन्य-स्वरूप बने बिना विराट् चेतना को उपलब्ध कर लें, अर्थात् आत्मा के द्वारा इसका साक्षात्कार प्राप्त कर लें, इसे अनुभव करके इसमें निवास करने लगें, इसके साथ पूर्णतया एक हुए बिना योगयुक्त हो जायें, संक्षेप में, विश्वात्मा की विराट् चेतना में जीवात्मा की व्यक्तिगत चेतना को सुरक्षित रखें। दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि हम इन दोनों के बीच एक विशेष प्रकार का भेद बनाये रखकर इनके पारस्परिक सम्बन्धों का रसास्वादन करें, विराट् आत्मा के आनन्द और आनंत्य में

भाग लेते हुए हम व्यक्तिगत आत्मा भी बने रहें; या फिर हम महत्तर और लघुतर आत्मा के रूप में इन दोनों को ही अधिकृत कर सकते हैं, इनमें से एक तो दिव्य चेतना और शक्ति की विराट् लीला में अपने-आपको बाहर उंडेल रहा है, दूसरा जो उसी विराट् पुरुष की एक क्रिया है मन, प्राण और शरीर की व्यक्तिगत क्रीड़ा के निमित्त हमारे व्यक्तिगत आत्मा-रूपी केन्द्र या आत्मिक स्वरूप के द्वारा अपने-आपको बाहर उंडेल रहा है। परन्तु ज्ञानयोग के साक्षात्कार की सर्वोच्च भूमिका में हमें सदा ही एक ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिससे हम व्यक्तित्व का विराट् सत्ता में तथा व्यक्तिगत चेतना का विराट् चेतना में लय कर सकते हैं, यहांतक कि अपने आत्मस्वरूप को भी परमात्मा की एकता और विश्वमयता में विलीन कर मुक्त कर सकते हैं। यह लय या मोक्ष ही ज्ञानयोग का लक्ष्य है। परम्परागत योग की भांति यहां भी यह अपने-आपको इतना विस्तारित कर सकता है कि स्वयं मन, प्राण और शरीर का भी नीरव आत्मा या निरपेक्ष सत्ता में लय हो जाय; पर मुक्ति का सार तो व्यक्तिगत सत्ता का अनन्त में लय ही है। जब योगी अपने-आपको पहले की तरह शरीर में अवस्थित या मन के द्वारा सीमित चेतना के रूप में अनुभव नहीं करता, बल्कि अनन्त चेतना की निःसीमता में द्वैतभाव को खो देता है, तो वह जो कुछ करने चला था वह सिद्ध हो जाता है। उसके बाद मानवजीवन को धारण करना या न करना कोई वास्तविक महत्त्व की बात नहीं रहती, क्योंकि सदैव निराकार 'एकं सत्' ही मन, प्राण और शरीर के अपने अनेक रूपों के द्वारा कार्य करते हैं और प्रत्येक जीव तो उनका एक अन्यतम धाममात्र है जिसमें अवस्थित होकर वे निरीक्षण तथा ग्रहण करना और अपनी लीला को परिचालित करना पसन्द करते हैं।

विराट् चेतना में हम जिसके अन्दर अपने-आपको निमज्जित करते हैं वह सच्चिदानन्द ही है, वह एकमेव सनातन सत्ता है जो तब हमारी निजी सत्ता होती है, एकमेव सनातन चेतना है जो हममें तथा दूसरों में अपने कार्यों का अवलोकन करती है, इस चेतना का एकमेव सनातन संकल्प या बल है जो अनन्त क्रियाओं में अपने-आपको प्रकट करता है, एकमेव सनातन-आनन्द-स्वरूप है जिसे अपनी सत्ता तथा अपने समस्त कार्यों का आनन्द सहज प्राप्त है,—अपने-आप स्थिर, अक्षर, देशकालातीत एवं परमोच्च है और अपने कार्य-व्यापारों की अनन्तता में भी अपने-आप निश्चल है, उनके विभेदों से परिवर्तित नहीं होता, उनके बहुत्व से खण्ड-खण्ड नहीं हो जाता, देश और काल के समुद्रों में उनके ज्वार-भाटों से बढ़ता-घटता नहीं, उनके दीखनेवाले विरोधों से विभ्रान्त नहीं होता, न उनकी ईश्वराभिमत सीमाओं से सीमित ही होता है। सच्चिदानन्द व्यक्त वस्तुओं की बहुविधता में रहनेवाली एकता है, उनके सब विभेदों और विरोधों की सनातन समस्वरता है, एक ऐसी अनन्त पूर्णता है जो उनकी सीमाओं का औचित्य सिद्ध करती है तथा उनकी अपूर्णताओं का लक्ष्य है।

यह प्रत्यक्ष ही है कि इस विराट् चेतना में निवास करने से हमारे समस्त अनुभव में तथा जगत् की प्रत्येक वस्तु का हम जो मूल्यांकन करते हैं उसमें एक आमूल परिवर्तन आ जायगा। अहंमय व्यक्तियों के रूप में हम अज्ञान में निवास करते हैं और प्रत्येक वस्तु की परख ज्ञान के एक खण्डित, आंशिक तथा व्यक्तिगत मापदण्ड से ही करते हैं; हम प्रत्येक वस्तु का अनुभव सीमित चेतना और शक्ति की क्षमता के अनुसार ही करते हैं और अतएव विश्व के अनुभव के किसी भी भाग के प्रति हम दैवी प्रतिक्रिया नहीं कर पाते और न उसका सच्चा मूल्य ही आंक सकते हैं। हम तो सीमा, दुर्बलता, अक्षमता, दुःख, वेदना, संघर्ष और इसके विरोधी भावों को ही अनुभव करते हैं अथवा यदि इनकी विरोधी चीजों का अनुभव हमें होता भी है तो सापेक्ष सुख-दुःख आदि के सनातन द्वंद्वों के रूप में ही होता है, निरपेक्ष शिव और सुख के सनातन रूप में नहीं। हम अनुभव के खण्डों के सहारे ही जीवन धारण करते हैं और अपने खण्डात्मक मूल्यों के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु और समग्र विश्व के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं। जब हम पूर्ण मूल्यों का ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करते हैं तो हम वस्तुओं-विषयक किसी आंशिक दृष्टिकोण को ही दिव्य कार्य-व्यापारों में निहित समग्र दृष्टि के स्थान पर कार्य करने के लिये ऊंचा दर्जा भर प्रदान कर देते हैं। हम दम भरते हैं कि हमारे भिन्न भी पूर्णांक हैं और भगवान् की विराट् दृष्टि की व्यापकता में एकांगी दृष्टिकोणों को घुसेड़ देते हैं।

वैश्व चेतना में प्रवेश करने पर हम इस विराट् दृष्टि में भाग लेने लगते हैं और प्रत्येक वस्तु को अनन्त तथा एकमेव के मूल्यों के दृष्टिकोण से देखते हैं। हमारे लिये स्वयं सीमा और अज्ञान का अर्थ भी बदल जाता है। अज्ञान दिव्य ज्ञान की एक विशिष्ट क्रिया में परिवर्तित हो जाता है, शक्ति, दुर्बलता और अक्षमता हमें इस रूप में जान पड़ती हैं कि दिव्य शक्ति अपनी विविध मात्राओं को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट कर रही, किंवा पीछे की ओर अपने अन्दर धारण कर रही है, हर्ष-शोक और सुख-दुःख दिव्य आनन्द के स्वामी किंवा उसके अधीन होने के सूचक बन जाते हैं, संघर्ष दिव्य सामंजस्य में शक्तियों और मूल्यों के सन्तुलन का रूप ग्रहण कर लेता है। तब हम अपने मन, प्राण और शरीर की सीमाओं के कारण दुःख नहीं भोगते; क्योंकि हम पहले की तरह इनमें नहीं, बल्कि आत्मा की अनन्तता में निवास करते हैं, और अभिव्यक्ति में इनके यथार्थ मूल्य, स्थान और प्रयोजन को समझते हुए हम इन्हें सृष्टि में अपने-आपको आवृत और व्यक्त करनेवाले सच्चिदानन्द की परम सत्ता, चिच्छक्ति और आनन्द के स्तरों के रूप में देखते हैं। मनुष्यों और पदार्थों के विषय में हम उनकी बाह्य आकृतियों के आधार पर निर्णय करना छोड़ देते हैं और द्वेषपूर्ण तथा परस्पर-विरोधी विचारों एवं भावावेशों से मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि तब हम प्रत्येक पदार्थ और प्राणी में अन्तरात्मा को ही देखते हैं, भगवान् को ही ढूंढ़ते और पाते हैं, और शेष सब कुछ तो हमारे लिये (जागतिक) सम्बन्धों की योजना

में केवल गौण महत्त्व ही रखता है; ये सम्बन्ध अब हमारे लिये भगवान् की आत्म-अभिव्यक्तियों के रूप में ही अस्तित्व रखते हैं, पर वैसे अपने-आपमें इनका कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं होता। इसी प्रकार, कोई भी घटना हमें क्षुब्ध नहीं कर सकती, क्योंकि सुखद और दुःखद, कल्याणकारी और अकल्याणकारी घटनाओं के भेद में कोई बल नहीं रह जाता, सभी घटनाओं को हम उनके दिव्य मूल्य और दिव्य प्रयोजन की दृष्टि से ही देखते हैं। इस प्रकार हम पूर्ण मुक्ति और अनन्त क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। उपनिषद् में जहां यह कहा गया है कि "जिस मनुष्य का आत्मा सर्वभूतरूप हो गया है उसे भला मोह क्योंकर होगा, जिसे पूर्ण ज्ञान[1] प्राप्त हो गया है और जो सब वस्तुओं में एकत्व का ही दर्शन करता है उसे भला शोक कहां से होगा ?" वहां उक्त प्रकार की पूर्णता का ही उल्लेख किया गया है।

परन्तु यह स्थिति तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य विराट् चेतना को पूर्णतया उपलब्ध कर लेता है, पर इसे उपलब्ध करना मनोमय प्राणी के लिये कठिन है। मन जब आत्मा एवं भगवान् के विचार या साक्षात्कारतक पहुंच जाता है तो वह सत्ता को दो विरोधी भागों, निम्नतर और उच्चतर सत्ता में विभक्त करने की ओर प्रवृत्त होता है। एक ओर तो उसे दीखता है अनन्त, निराकार एवं एकमेव, शान्ति एवं आनन्द, स्थिरता एवं नीरवता, निरपेक्ष, बृहत् एवं विशुद्ध सत्ता; दूसरी ओर उसे दीखता है सांत, रूपों का जगत्, असामंजस्यपूर्ण बहुत्व, कलह, क्लेश और अपूर्ण तथा अवास्तविक हित, आतुर प्रवृत्ति और निरर्थक सफलता, सापेक्ष, सीमित, मिथ्या और जघन्य वस्तुएं। जो लोग इस प्रकार के भेद और विरोध की सृष्टि करते हैं उन्हें पूर्ण मुक्ति एकमेव की शान्ति में, अनन्त की निराकारता तथा निरपेक्ष की अव्यक्त अवस्था में ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उनके लिये निरपेक्ष सत्ता ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है; उनके मत में, मुक्त होने के लिये सभी मूल्य-मर्यादाओं का विनाश करना होगा, सभी सीमाओं को केवल पार ही नहीं करना होगा, अपितु मिटा देना होगा। उन्हें दिव्य विश्राम की मुक्ति तो प्राप्त होती है, पर दिव्य कर्म की स्वतन्त्रता नहीं; वे परात्पर की शान्ति का रसास्वादन तो करते हैं, पर उसके विराट् आनन्द का नहीं। उनकी स्वतन्त्रता जगद्व्यापार से विरत रहने पर ही निर्भर करती है, वह स्वयं जागतिक सत्ता को अपने अधिकार में लाकर उसपर अपना शासन नहीं स्थापित कर सकती। परन्तु वे विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनों प्रकार की शान्ति को उपलब्ध करके उनमें भाग भी ले सकते हैं। फिर भी इससे उक्त प्रकार की भेदवृत्ति दूर नहीं हो जाती। जिस स्वतन्त्रता का वे उपभोग करते हैं वह नीरव निष्क्रिय साक्षी की स्वतन्त्रता होती है, उस दिव्य प्रभु-चेतना की नहीं जो सब

[1] विजानतः। विज्ञान का अर्थ है 'एक' और 'बहु' का ज्ञान जिसके द्वारा 'बहु' को 'एक' की अवस्थाओं के रूप में तथा दिव्य सत्ता के अनन्त, एकीकारक 'सत्य-ऋत-बृहत्' स्वरूप के अन्तर्गत देखा जाता है।

वस्तुओं की स्वामिनी है, सबमें आनन्द लेती है तथा पतित या विलुप्त या बद्ध या कलुषित होने के भय के बिना सत्ता के सभी रूपों में अपने-आपको ढालती है। पर अभी उन्हें आत्मा के सारे अधिकार प्राप्त नहीं हुए हैं; अभी भी उनमें एक प्रकार के निषेध का भाव है, एक प्रकार की सीमितता है, समस्त सत्ता के पूर्ण एकत्व से जुगुप्सा है। तब मन, प्राण और शरीर के व्यापारों को मानसिक सत्ता के आध्यात्मिक स्तरों की स्थिरता एवं शान्ति में से देखा जाता है और वे इस स्थिरता एवं शान्ति से परिपूरित भी हो जाते हैं; परन्तु अभी वे सर्व-सम्राट् आत्मा के नियम के द्वारा अधिकृत एवं नियन्त्रित नहीं होते।

यह स्थिति तब प्राप्त होती है जब मनोमय मानव अपने आध्यात्मिक स्तरों में अर्थात् सत्, चित्, आनन्द के मानसिक स्तरों में स्थित होकर उनके प्रकाश तथा आनन्द को निम्नतर सत्ता पर उंडेलता है। परन्तु स्वयं निम्नतर स्तरों पर निवास करते हुए भी एक प्रकार की विराट् चेतना को प्राप्त करने का यत्न किया जा सकता है। इसके लिये, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उनकी सीमाओं को चारों ओर से तोड़कर उनमें उच्चतर सत्ता की ज्योति और विशालता को पुकार लाना होगा। कारण, केवल आत्मा ही एक नहीं है, बल्कि मन, प्राण और जड़तत्त्व भी एक ही हैं। इस विश्व में एक ही विराट् मन, एक ही विराट् प्राण एवं एक ही विराट् शरीर है। सार्वभौम सहानुभूति एवं सार्वभौम प्रेम की भावनातक पहुंचने तथा अन्य सब प्राणियों की अन्तरात्मा का बोध एवं ज्ञान प्राप्त करने के समस्त मानवीय प्रयास का अर्थ है विस्तृत होते हुए मन और हृदय की शक्ति के द्वारा अहं की दीवारों पर प्रहार करके उन्हें पतला कर देने तथा उनमें दरार करके अन्त में उन्हें तोड़ गिराने और सार्वभौम एकत्व के अधिक निकट पहुंचने का प्रयत्न करना। यदि हम मन और हृदय के द्वारा परमात्मा का स्पर्श प्राप्त कर सकें, इस निम्नतर मानव-सत्ता में भगवान् का शक्तिशाली अन्तःप्रवाह ग्रहण कर सकें और प्रेम एवं सार्वभौम हर्ष के द्वारा तथा समस्त प्रकृति एवं समस्त भूतों के साथ मानसिक एकत्व के द्वारा अपनी प्रकृति को दिव्य प्रकृति की प्रतिच्छाया में परिणत कर सकें तो हम इन दीवारों को ढाह सकते हैं। यहांतक कि हमारे शरीर भी वस्तुतः पृथक् सत्ताएं नहीं हैं और अतएव हमारी ठेठ भौतिक चेतना भी दूसरों की तथा विश्व की भौतिक चेतना से एकत्व प्राप्त कर सकती है। योगी अपने शरीर को सभी शरीरों के साथ एकमय अनुभव कर सकता है, उनके विकारों से सचेतन हो सकता है, यहांतक कि इनमें भाग भी ले सकता है; वह समस्त जड़तत्त्व की एकता को निरन्तर अनुभव कर सकता है और अपनी भौतिक सत्ता को उसकी गति के अन्तर्गत केवल एक गति[1] अनुभव कर सकता है। यह अनुभूति तो वह और भी सहज रूप से तथा सतत एवं सामान्य रूप से प्राप्त कर सकता है कि अनन्त प्राण का अगाध समुद्र

[1] जगत्यां जगत्।—ईश उपनिषद्

ही उसकी सच्ची प्राणिक सत्ता है और उसका अपना प्राण इस असीम प्राण-समुद्र की एक तरंगमात्र है। और, इससे भी अधिक सहज रूप से वह अपने मन और हृदय में अपने-आपको सब भूतों के साथ एक कर सकता है, उनकी कामनाओं तथा उनके संघर्षों, हर्षों, शोकों, विचारों और आवेगों को इस रूप में जान सकता है मानो वे एक अर्थ में उसके अपने ही हों या कम-से-कम, उसकी बृहत्तर आत्मा के अन्दर उसके अपने हृदय और मन की क्रियाओं की अपेक्षा कदाचित् कुछ कम अन्तरंग रूप में या बिल्कुल उन्हींके समान अन्तरंग रूप में घटित हो रहे हों। यह भी एक प्रकार का विराट् चेतना का साक्षात्कार है।

हमें ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि मानों यह विराट् एकत्व ही महान्-से-महान् एकत्व है, क्योंकि मनोनिर्मित जगत् में जो भी चीजें हमें इन्द्रियगोचर हो सकती हैं उन सबको यह हमारी अपनी स्वीकार करता है। कई बार तो हम इसे सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में वर्णित भी पाते हैं। निःसन्देह, यह एक महान् साक्षात्कार है तथा एक महत्तर साक्षात्कार की प्राप्ति का मार्ग है। इसीको गीता हर्ष किंवा शोक में सब भूतों को आत्मवत् देखना कहती है; यह सहानुभूतिमय एकत्व तथा अनन्त करुणा का मार्ग है जिसके द्वारा बौद्धमतावलम्बी अपने निर्वाण के लक्ष्य पर पहुंचता है। फिर भी विराट् चेतना की प्राप्ति में कुछ क्रमिक सोपान एवं अवस्थाएं आती हैं। पहली अवस्था में हमारी अन्तरात्मा अभी द्वंद्वों की प्रतिक्रियाओं के और अतएव निम्नतर प्रकृति के वश में होती है; वह विश्व की वेदना से विषण्ण या व्यथित होती है तथा उसके हर्ष से प्रफुल्लित। हम दूसरों के हर्ष को अनुभव करते हैं, उनके दुःख में दुःखी होते हैं, और इस एकता को देहतक भी विस्तारित किया जा सकता है जैसा कि एक भारतीय सन्त की कहानी से हमें विदित होता है। कहते हैं कि उन्होंने एक बार किसी खेत में एक बैल को उसके निर्दय स्वामी के द्वारा बुरी तरह पीटे जाते देखा। उस दृश्य को देखते ही वे उस प्राणी की पीड़ा के मारे चिल्ला पड़े और पीछे देखने पर कोड़े की मार का निशान उनकी देह के ऊपर भी पड़ा पाया गया। परन्तु हमें ऐसा एकत्व प्राप्त करना होगा जिसमें हम सच्चिदानन्द की मुक्त स्थिति में रह सकें और हमारी निम्नतर सत्ता भी प्रकृति की प्रतिक्रियाओं के अधीन न रहे। यह एकत्व तब प्राप्त होता है जब हमारी आत्मा मुक्त होकर जागतिक प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठ जाती है, ये प्रतिक्रियाएं तब प्राण, मन और शरीर में एक हीनतर गति के रूप में अनुभूत होती हैं, इन सब प्रतिक्रियाओं को हमारी आत्मा समझती तथा स्वीकार करती है और इनके प्रति सहानुभूति भी दर्शाती है, पर इनसे अभिभूत या प्रभावित नहीं होती, परिणामतः मन और शरीर भी अपने ऊपरी तल को छोड़कर अन्य, सूक्ष्म एवं गहरे तलों में इनसे अभिभूत या प्रभावित तक हुए बिना इन्हें स्वीकार करना सीख जाते हैं। और, साधना की इस क्रिया की चरम परिणति तब होती है जब सत्ता के दोनों गोलार्द्ध पहले की तरह विभक्त नहीं

रहते और मन, प्राण तथा शरीर जागतिक स्पर्शों के प्रति निम्नतर या अज्ञानपूर्ण प्रतिक्रिया से मुक्त रहनेवाले आत्मा की स्थिति में विकसित हो जाते हैं और आगे को द्वंद्वों के दास नहीं रहते। इस उच्च स्थिति का अर्थ दूसरे के संघर्षों और कष्टों के प्रति अचेतन होना नहीं, वरन् निश्चय ही एक ऐसी आध्यात्मिक प्रभुता एवं मुक्ति है जो हमें वस्तुओं को पूरी तरह से समझने, उनका यथार्थ मूल्य आंकने तथा नीचे से संघर्ष करने के स्थान पर ऊपर से दुःख-ताप का निवारण करने की सामर्थ्य प्रदान करती है। यह स्थिति दैवी करुणा और सहायता का निषेध नहीं करती, पर यह मानवीय तथा पाशव दुःख-कष्ट का निवारण अवश्य करती है।

मनोमय सत्ता के आध्यात्मिक और निम्नतर स्तरों के बीच में जो शृंखला है उसे प्राचीन वैदान्तिक परिभाषा में विज्ञान कहा जाता है और हम उसे सत्य भूमिका या विज्ञानमय मन या अतिमानस का नाम दे सकते हैं। इस भूमिका में 'एक' और 'बहु' परस्पर मिलकर एकीभूत हो जाते हैं और हमारी सत्ता भागवत सत्य के ज्ञानोद्भासक प्रकाश तथा भागवत संकल्प और ज्ञान की अन्तःप्रेरणा की ओर मुक्त रूप से खुल जाती है। हमारी साधारण सत्ता ने हमारे और भगवान् के बीच बौद्धिक, भावप्रधान एवं सम्वेदनात्मक मन का जो आवरण रच रखा है उसे यदि हम छिन्न-भिन्न कर सकें तो हम सत्य-मानस के द्वारा अपने समस्त मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक अनुभव को अपने हाथ में लेकर उसे सच्चिदानन्द के अनन्त सत्य के रूपों में परिणत करने के लिये आध्यात्मिक अनुभव के प्रति समर्पित कर सकते हैं—प्राचीन वैदिक "यज्ञ" का गुप्त या रहस्यमय आशय यही था—और हम अनन्त सत्ता की शक्तियों एवं ज्योतियों को दिव्य ज्ञान, संकल्प एवं आनन्द के रूपों में ग्रहण कर सकते हैं; इस ज्ञान, संकल्प एवं आनन्द को हमें अपने मन, प्राण और शरीर में प्रबल रूप से स्थापित करना होगा जिससे कि अन्त में निम्नतर सत्ता उच्चतर सत्ता के सर्वांगपूर्ण आधार में रूपान्तरित हो जाय। यह वेद में वर्णित दोहरी क्रिया थी जिसके द्वारा मानव-प्राणी में देवताओं का अवतरण एवं जन्म होता था और दिव्य ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द की प्राप्ति के लिये संघर्ष करने तथा देवताओं की ओर ऊपर उठनेवाली मानवीय शक्तियों का आरोहण सम्पन्न होता था। इस क्रिया के परिणामस्वरूप एकमेव तथा अनन्त ब्रह्म की, आनन्दमय जीवन, भगवन्मिलन तथा अमरत्व की प्राप्ति होती थी। इस विज्ञानमय भूमिका को प्राप्त करके हम निम्नतर तथा उच्चतर सत्ता के विरोध का पूर्ण रूप से उन्मूलन कर डालते हैं, सांत और अनन्त, ईश्वर और प्रकृति, एक और बहु के बीच अज्ञान के द्वारा रचित मिथ्या खाई को दूर कर देते हैं, भगवान् के द्वार खोल डालते हैं, विराट् चेतना की पूर्ण समस्वरता में अपनी व्यक्तिगत सत्ता को कृतकृत्य कर लेते हैं तथा विराट् सत्ता में परात्पर सच्चिदानन्द के दिव्य आविर्भाव को अनुभव कर लेते हैं।

अध्याय १६

एकत्व

अतएव, जब साधक अपनी चेतना के केन्द्र को मन, प्राण और शरीर के साथ उसके (चेतना के) तादात्म्य से पीछे खींचकर अपनी सच्ची आत्मा को खोज लेता है, इस आत्मा की शुद्ध, शान्त एवं अक्षर ब्रह्म के साथ एकता उपलब्ध कर लेता है, अक्षर ब्रह्म में उस तत्त्व को खोज लेता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व से मुक्त होकर निर्व्यक्तिक सत्ता को प्राप्त कर लेता है, तो ज्ञानमार्ग की प्रथम प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। यही वह एकमात्र प्रक्रिया है जो ज्ञानयोग के परम्परागत लक्ष्य के लिये, लय के लिये, जागतिक सत्ता से पलायन के लिये, समस्त जगत्सत्ता के परे अवस्थित पूर्ण और अनिर्वचनीय परब्रह्म में मुक्त होने के लिये नितान्त अनिवार्य है। इस चरम मुक्ति का अभिलाषी साधक अपने मार्ग में अन्य साक्षात्कारों को भी प्राप्त कर सकता है, जगत् के प्रभु का, सब प्राणियों में अपने-आपको प्रकट करनेवाले 'पुरुष' का साक्षात्कार कर सकता है, विराट् चेतना प्राप्त कर सकता है, सब भूतों के साथ अपनी एकता का ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर सकता है; परन्तु ये उसकी यात्रा की क्रमिक अवस्थाएं या परिस्थितियांमात्र हैं, जैसे-जैसे उसकी आत्मा अपने अवर्णनीय लक्ष्य के अधिकाधिक निकट पहुंचती है वैसे-वैसे ये साक्षात्कार इसके विकास के परिणामों के रूप में प्रकट होते हैं। इन सबको अतिक्रम कर जाना ही उसका सर्वोच्च लक्ष्य है। दूसरी ओर, जब हम मुक्ति, नीरवता और शान्ति को प्राप्त करके विराट् चेतना के द्वारा सक्रिय तथा निश्चल-नीरव ब्रह्म को पुनः उपलब्ध कर लें और दिव्य मुक्ति में सुरक्षित रूप से निवास तथा विश्राम कर सकें तो समझना चाहिये कि हम इस मार्ग की दूसरी प्रक्रिया पूरी कर चुके हैं जिसके द्वारा मुक्त आत्मा आत्मज्ञान की पूर्णता में स्थिर रूप से प्रतिष्ठित हो जाती है।

इस प्रकार हमारी आत्मा अपनी सत्ता के सभी व्यक्त-स्तरों पर सच्चिदानन्द के एकत्व में अपने-आपको प्राप्त कर लेती है। पूर्ण ज्ञान का विशेष लक्षण यह है कि वह सब वस्तुओं को सच्चिदानन्द में एकीभूत कर देता है, क्योंकि 'सत्' केवल अपने-आपमें ही एक नहीं है, बल्कि वह सभी जगह अपनी सब स्थितियों में तथा अपने प्रत्येक रूप में भी एक है, जैसे अपने एकत्व के अधिकतम आविर्भाव में वैसे ही बहुत्व के अधिकतम प्राकट्य में भी वह एक ही रहता है। परम्परागत ज्ञान जहां इस सत्य को सिद्धान्त-रूप में स्वीकार करता है वहां क्रियात्मक रूप में वह फिर भी यों तर्क करता है मानों एकत्व सब जगह एकसमान न हो या सबमें समान रूप से अनुभव न किया जा सकता हो। वह उसे अव्यक्त ब्रह्म में तो पाता है, पर

अभिव्यक्ति में उतना नहीं, सव्यक्तिक की अपेक्षा निर्व्यक्तिक ब्रह्म में इसे अधिक शुद्ध रूप में पाता है, निर्गुण में इसे पूर्ण रूप में पाता है, सगुण में उतने पूर्ण रूप में नहीं, शान्त एवं निष्क्रिय ब्रह्म में तो उसे सन्तोषजनक रूप में उपस्थित पाता है, पर सक्रिय ब्रह्म में उतने सन्तोषजनक रूप में नहीं। अतएव, वह निरपेक्ष ब्रह्म के इन सब अन्य रूपों को आरोहण की क्रमशृंखला में इनके विरोधी रूपों के नीचे स्थान देता है और उन्हें अन्तिम रूप से त्याग देने के लिये ऐसा आग्रह करता है मानों यह पूर्ण साक्षात्कार के लिये अनिवार्य ही हो। पूर्ण ज्ञान ऐसा कोई भेद नहीं करता; यह एकत्व के साक्षात्कार में एक भिन्न प्रकार की निरपेक्ष 'केवल' सत्ता को प्राप्त करता है। यह अव्यक्त और व्यक्त में, निर्व्यक्तिक और सव्यक्तिक में, निर्गुण और सगुण में, विराट् नीरवता की अनन्त गहराई और विराट् कर्म की अनन्त विशालता में एक-सी एकता को देखता है। यह पुरुष और प्रकृति में, दिव्य उपस्थिति में तथा दिव्य शक्ति और ज्ञान के कार्यों में, एकमेव पुरुष की सनातन व्यक्तता में तथा अनेक पुरुषों की सतत अभिव्यक्ति में इसी निरपेक्ष एकता को देखता है। जो अपनी बहुविध एकता को अपने प्रति निरन्तर जीवन्त रखते हैं ऐसे सच्चिदानन्द की अविच्छेद्य एकता में तथा जिनमें एकता गुप्त रूप में ही सही, पर सतत जीवन्त है तथा सतत ही प्राप्त करने योग्य है, ऐसे मन, प्राण और शरीर के दृश्यमान भेदों में यह इसी एकता का साक्षात्कार करता है। इसके लिये समस्त एकता एक ही दिव्य और सनातन सत्ता का गहन, शुद्ध एवं अनन्त साक्षात्कार है और समस्त भेद उसी सत्ता का प्रचुर, समृद्ध एवं असीम साक्षात्कार।

अतएव, एकता का पूर्ण साक्षात्कार समग्र ज्ञान और पूर्णयोग का सार है। सच्चिदानन्द को अपने-आपमें तथा अपनी समस्त अभिव्यक्ति में एकरूप जानना ही ज्ञान का आधार है; एकता के इस साक्षात्कार को चेतना की स्थितिशील और क्रियाशील दोनों अवस्थाओं के लिये वास्तविक बनाना और पृथक् व्यक्तित्व की भावना को मूल सत्ता तथा सब सत्ताओं के साथ एकता की भावना में डुबाकर एकत्वमय बन जाना ही ज्ञानयोग में इस साक्षात्कार का क्रियान्वित रूप है; एकता की इस भावना में जीना, इसका चिन्तन और अनुभव करना, इसके अनुसार संकल्प और कार्य करना ही व्यक्तिगत सत्ता और व्यक्तिगत जीवन में इसकी क्रियात्मक सिद्धि है। एकता का यह साक्षात्कार तथा भिन्नता में एकता का यह अभ्यास ही योग का सर्वस्व है।

सत्ता की किसी भी स्थिति या भूमिका में क्यों न हो सच्चिदानन्द अपने-आपमें एक हैं। अतएव, इसीको हमें चेतना या शक्ति या सत्ता की किंवा ज्ञान या संकल्प या आनन्द की समस्त क्रियान्विति का आधार बनाना होगा। हम देख ही चुके हैं कि हमें उन निरपेक्ष ब्रह्म की चेतना में निवास करना होगा जो विश्वातीत हैं और साथ ही विश्व के सब सम्बन्धों में अभिव्यक्त भी हैं, निर्व्यक्तिक हैं और सब

व्यक्तित्वों के रूप में प्रकट भी हैं, सब गुणों से परे हैं तथा अनन्त गुणों से समृद्ध भी हैं, वे एक ऐसी नीरवता हैं जिसमें से सनातन शब्द सृजन करता है, एक ऐसी दिव्य स्थिरता एवं शान्ति हैं जो असीम हर्ष और असीम क्रिया में अपने-आपको धारण किये रहती है। हमें उनकी उपलब्धि इस रूप में करनी होगी कि वे पुरुष के रूप में सबके ज्ञाता और अनुमन्ता हैं, शासक और धारक हैं, भर्त्ता और अन्तर्विधाता हैं और साथ ही प्रकृति के रूप में समस्त ज्ञान, संकल्प और रूप-रचना को कार्यान्वित भी करते हैं। हमें उनका साक्षात्कार इस रूप में करना होगा कि वे एकमेव सत्ता हैं, ऐसे सत् हैं जो अपनी सत्ता में समाहित हैं और साथ ही सब सत्ताओं में प्रकट भी हो रहे हैं; वे एक ऐसी एकमेव चेतना हैं जो अपनी सत्ता की एकता में एकाग्र है, विश्व-प्रकृति में फैली हुई है तथा अगणित जीवों में अनेक केन्द्रों के रूप में विद्यमान है; वे एक ऐसी एकमेव शक्ति हैं जो अपनी आत्म-समाहित चेतना की विश्रान्ति में स्थितिशील है और अपनी विस्तृत चेतना की सक्रियता में गतिशील; वे एक ऐसा एकमेव आनन्द हैं जो अपनी अलक्षण अनन्तता से आनन्दमय रूप में सचेतन है तथा समस्त लक्षणों, शक्तियों और रूपों को अपनी सत्ता जानता हुआ उनसे भी आनन्दमय रूप में सचेतन है; वे एक ही सर्जनशील ज्ञान एवं शासक संकल्प हैं जो अतिमानसिक है, तथा सब मनों, प्राणों और शरीरों को उत्पन्न एवं निर्धारित करता है; वे एक ही विराट् मन हैं जो सब मनोमय सत्ताओं को अपने अन्दर समाये है और उनकी सब मानसिक क्रियाओं का गठन करता है; वे एक ही विराट् प्राण हैं जो सभी सजीव सत्ताओं में क्रियाशील है तथा उनकी प्राणिक क्रियाओं का जनक है; वे एक ही उपादान-तत्त्व हैं जो सब रूपों तथा पदार्थों को एक ऐसे प्रत्यक्ष एवं इन्द्रियगोचर सांचे के रूप में निर्मित करता है जिसमें मन और प्राण व्यक्त होते तथा कार्य करते हैं, जिस प्रकार कि एकमेव शुद्ध सत्ता वह आकाशतत्त्व है जिसमें समस्त चिन्मय-शक्ति और आनन्द एक होकर रहते हैं तथा अपने-आपको नाना रूपों में प्राप्त करते हैं। क्योंकि ये सच्चिदानन्द की व्यक्त सत्ता के सात मूलतत्त्व हैं।

सर्वांगीण ज्ञानयोग को इस अभिव्यक्ति के दोहरे स्वरूप को हृदयंगम करना होगा,—क्योंकि एक तो है सच्चिदानन्द की उच्चतर प्रकृति जिसमें वे हमें उपलब्ध होते हैं और दूसरी है मन, प्राण तथा शरीर की निम्नतर प्रकृति जिसमें वे हमसे छुपे रहते हैं,—सर्वांगीण ज्ञानयोग को इन दोनों को प्रदीप्त साक्षात्कार की एकता में समन्वित तथा एकीभूत करना होगा। हमें इनको इस प्रकार पृथक् नहीं रहने देना होगा कि हम एक तरह का दोहरा जीवन बिताते रहें जो अन्तर में या ऊर्ध्व में तो आध्यात्मिक हो तथा हमारे सक्रिय और पार्थिव अस्तित्व में मानसिक तथा भौतिक; हमें तो निम्नतर जीवन को उच्चतर सद्वस्तु की ज्योति, शक्ति और आनन्द के उस दृष्टिकोण से पुनः देखना तथा उसे उसीके अनुसार ढालना होगा। हमें अनुभव

करना होगा कि जड़तत्त्व आत्मा का इन्द्रिय-रचित सांचा है, अर्थात् पार्थिव सत्ता और क्रिया की उच्चतम अवस्थाओं में सच्चिदानन्द की ज्योति, शक्ति और आनन्द की किसी प्रकार की भी अभिव्यक्ति करने के लिये एक साधन है। हमें यह देखना होगा कि प्राण अनन्त दिव्य शक्ति के प्रवाह के लिये एक प्रणालिका है, और हमारे प्राण तथा दिव्य शक्ति के बीच हमारी इन्द्रियों और मन ने दूरी और भेद की जो दीवार खड़ी कर रखी है उसे तोड़ गिराना होगा, ताकि वह दिव्य शक्ति हमारी सभी प्राणिक क्रियाओं को अपने अधिकार में लाकर उन्हें संचालित तथा परिवर्तित कर सके जिससे कि अन्त में हमारा प्राण रूपान्तरित होकर आज की तरह मन और शरीर को धारण करनेवाली सीमित प्राण-शक्ति रहना छोड़ दे और सच्चिदानन्द की आनन्दपूर्ण चिच्छक्ति की प्रतिमा बन जाय। इसी प्रकार हमें अपने सम्वेदनात्मक और भावप्रधान मन को दिव्य प्रेम और विराट् आनन्द की लीला का रूप दे देना होगा; और हमें अपने अन्दर ज्ञान की प्राप्ति तथा संकल्प के प्रयोग के लिये प्रयत्न करनेवाली बुद्धि को दिव्य ज्ञान-संकल्प की ज्योति से परिपूरित करना होगा जिससे कि अन्त में वह इस उच्चतर और महान् क्रिया की प्रतिमूर्ति में रूपान्तरित हो जाय।

यह रूपान्तर तबतक पूर्ण या वस्तुतः साधित नहीं हो सकता जबतक हमारे अन्दर सत्य-चेतन मन जागरित नहीं हो जाता, क्योंकि मनोमय प्राणी में यह सत्य-चेतन मन ही अतिमानस से सम्पर्क रखता है तथा इसकी ज्ञानरश्मियों को मानसिक रूप में ग्रहण कर सकता है। जबतक आत्मा और मन को जोड़नेवाली यह मध्यवर्ती शक्ति मुक्त रूप से नहीं खुल जाती तबतक इनके परस्पर-विरोध के कारण उच्चतर और निम्नतर ये दोनों प्रकृतियां एक-दूसरी से पृथक् रहती हैं, और यद्यपि उच्चतर भूमिका से निम्नतर को सन्देश प्राप्त हो सकता है तथा इसपर उसका प्रभाव भी पड़ सकता है अथवा एक प्रकार की ज्योतिर्मय या आनन्दमग्न समाधि में निम्नतर प्रकृति ऊपर उठकर उच्चतर के अधिकार में आ सकती है तथापि इससे निम्नतर प्रकृति का पूर्ण और सर्वांगीण रूपान्तर नहीं हो सकता। जड़तत्त्व और इसके समस्त रूपों में विद्यमान आत्मा को, समस्त भावावेग और सम्वेदन में निहित दिव्य आनन्द को, समस्त प्राणिक क्रियाओं के पीछे विद्यमान दिव्य शक्ति को हम भावप्रधान मन के द्वारा अपूर्ण रूप में अनुभव कर सकते हैं, इन्द्रियाश्रित मन के द्वारा इसका बोध प्राप्त कर सकते हैं अथवा बुद्धिप्रधान मन के द्वारा इनकी परिकल्पना एवं प्रत्यक्ष अवधारणा कर सकते हैं; परन्तु निम्नतर सत्ता अपनी प्रकृति को फिर भी बनाये रखेगी तथा ऊपर से आनेवाले प्रभाव की क्रिया को सीमित तथा विभाजित और उसके स्वरूप को परिवर्तित कर देगी। जब यह प्रभाव उच्चतम, विस्तृततम तथा तीव्रतम रूप में शक्तिशाली हो जायेगा तब भी सक्रिय अवस्था में यह अनियमित एवं अव्यवस्थित ही रहेगा और इसका पूर्ण अनुभव तो केवल स्थिरता और शान्ति की अवस्था में ही होगा; जब यह हमसे दूर

हट जायगा तब हम प्रतिक्रियाओं और तमोग्रस्त अवस्थाओं के वश में हो जायेंगे; साधारण जीवन तथा उसके बाह्य स्पर्शों का दबाव पड़ने पर एवं इसके द्वंद्वों से आक्रान्त होने पर हम स्वभावतः ही इसे भूल जायेंगे और केवल एकान्त में आत्मा एवं परमात्मा के सान्निध्य में, या फिर अत्युच्च ऊर्ध्वगमन एवं हर्षोल्लास के क्षणों या समयों में ही हम इसे पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकेंगे। कारण, हमारा मन जो एक परिसीमित क्षेत्र में क्रिया करनेवाला तथा अंशों एवं खण्डों के द्वारा वस्तुओं को जाननेवाला सीमित यन्त्र है, स्वाभाविक रूप से अस्थिर, चंचल और विकारी है; अपने कार्यक्षेत्र को सीमित करके ही यह स्थिरता लाभ कर सकता है और निवृत्ति तथा विश्रान्ति के द्वारा ही निश्चलता प्राप्त कर सकता है।

दूसरी ओर हमें सत्य के जो प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं वे अतिमानस से ही प्राप्त होते हैं। अतिमानस का अर्थ है ज्ञानपूर्ण संकल्प एवं फलोत्पादक ज्ञान। यह अनन्तता में से वैश्व व्यवस्था का सृजन करता है। वेद में कहा गया है कि जब यह जागरित होकर सक्रिय हो उठता है तो द्युलोक की अबाध धारा को, ज्योति, शक्ति और आनन्द के ऊर्ध्ववर्ती सागर से सात सरिताओं के परिपूर्ण प्रवाह को, उतार लाता है। यह हमें सच्चिदानन्द का साक्षात्कार करा देता है। यह हमारे मन के विकीर्ण तथा असम्बद्ध सुझावों के पीछे विद्यमान सत्य को प्रकाशित कर देता है और उनमें से प्रत्येक को इस सत्य की एकता में अपने-अपने स्थान पर विन्यस्त कर देता है; इस प्रकार यह हमारे मनों की अपूर्ण ज्योति को एक प्रकार की पूर्ण ज्योति में रूपान्तरित कर सकता है। यह हमारे मानसिक संकल्प, आवेशपूर्ण इच्छाओं और प्राणिक प्रयत्नों के समस्त भ्रान्त एवं अपूर्णतः व्यवस्थित संघर्ष के पीछे विद्यमान संकल्प-शक्ति को प्रकाशित कर देता है और उनमें से प्रत्येक को इस ज्योतिर्मय संकल्प-शक्ति की एकता में अपने-अपने स्थान पर विन्यस्त कर देता है; इस प्रकार यह हमारे प्राण और मन के अर्द्ध-अन्धकारमय संघर्ष को व्यवस्थित शक्ति की एक प्रकार की समग्रता में रूपान्तरित कर सकता है। यह उस आनन्द को हमारे सम्मुख प्रकाशित कर देता है जिसे हमारा प्रत्येक सम्वेदन एवं भावावेग अन्धवत् खोज रहा है और जिसे पाने की चेष्टा करते हुए हमारे सभी संवेदन एवं भावावेग अंशतः गृहीत सन्तोष की या फिर असन्तोष, दुःख, वेदना या उदासीनता की गतियों का अनुभव करके उससे पीछे आ पड़ते हैं, और यह उनमें से प्रत्येक को पीछे अवस्थित विराट् आनन्द की एकता में उसका अपना स्थान प्राप्त करा देता है; इस प्रकार यह हमारे द्वंद्वपूर्ण आवेशों और संवेदनों के विरोध को शान्त, पर गहन और शक्तिशाली प्रेम और आनन्द की एक प्रकार की समग्रता में रूपान्तरित कर सकता है। और, फिर, विराट् कर्म का साक्षात्कार कराकर यह हमें सत्ता का वह सत्य दिखा देता है जिसमें से इसकी प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती है और जिसे लक्ष्य करके प्रत्येक क्रिया प्रगति करती है, यह उस कार्य-साधक शक्ति को हमारे

सामने प्रकट कर देता है जिसे प्रत्येक क्रिया अपने संग वहन करती है, साथ ही यह सत्ता के उस आनन्द के भी दर्शन करा देता है जिसके लिये तथा जिससे प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती है, यह सबका सम्बन्ध सच्चिदानन्द की विराट् सत्ता, चेतना, शक्ति और आनन्द के साथ जोड़ देता है। इस प्रकार यह हमारे लिये सत्ता के सभी विरोधों, द्वैतभावों और विपर्ययों को सुसंगत करके उनके अन्दर हमें एकमेव तथा अनन्त के दर्शन करा देता है। इस अतिमानसिक ज्योति में उन्नीत होकर सुख, दुःख और उदासीनता—ये सभी एक ही स्वयम्भू आनन्द के उल्लास में परिवर्तित होने लगते हैं, क्षमता और दुर्बलता तथा सफलता और विफलता एक ही स्वयं-समर्थ शक्ति और संकल्प के रूपों में, सत्य और अनृत तथा ज्ञान और अज्ञान एक ही अनन्त आत्म-संवित् तथा विश्व-ज्ञान की ज्योति में, सत्ता का विकास और ह्रास, बन्धन और उससे मुक्ति—ये सब अपने-आपको चरितार्थ करनेवाली एक ही चिन्मय सत्ता की तरंगों के रूप में परिवर्तित होने लगते हैं। हमारा समस्त जीवन तथा हमारी समस्त मूल सत्ता सच्चिदानन्द की प्राप्ति-रूप हो जाती है।

इस सर्वांगीण ज्ञान की पद्धति से हम ज्ञान, कर्म और भक्ति के तीन मार्गों के अपने नियत लक्ष्यों की एकता पर पहुंच जाते हैं। ज्ञान का लक्ष्य है वास्तविक स्वयम्भू सत्ता का साक्षात्कार, कर्मों का लक्ष्य है उस दिव्य चित्तपस् का साक्षात्कार जो सब कर्मों पर गुप्त रूप से शासन करता है, भक्ति का लक्ष्य है उस आनन्द का साक्षात्कार जो प्रेमी के रूप में सब प्राणियों, और सर्वभूतों की सत्ता का रसास्वादन करता है,—इन लक्ष्यों को हम सत्, चित्तपस् और आनन्द का नाम दे सकते हैं। अतएव, त्रिमार्ग में से प्रत्येक का लक्ष्य सच्चिदानन्द को उसकी त्रिविध दिव्य प्रकृति के किसी एक या दूसरे पक्ष के द्वारा प्राप्त करना है। ज्ञान के द्वारा हम सदा ही अपनी सच्ची, सनातन, अक्षर सत्ता को प्राप्त करते हैं, उस स्वयम्भू सत् को प्राप्त करते हैं जिसे विश्व का प्रत्येक 'अहम्' अस्पष्ट रूप से प्रकट करता है, और तब हम 'सोऽहम्' अर्थात् 'मैं वह हूं' के महत् साक्षात्कार में द्वैतभाव का उच्छेद कर देते हैं जब कि हम अन्य सब भूतों के साथ अपना एकत्व भी प्राप्त कर लेते हैं।

पर इसके साथ ही पूर्ण ज्ञान हमें यह चेतना प्रदान करता है कि यह अनन्त सत्ता एक चिन्मय शक्ति है जो लोकों का सृजन तथा परिचालन करती है तथा इनके कार्यों में अपने-आपको व्यक्त करती है; यह अपनी विराट् चिच्छक्ति से युक्त स्वयम्भू ब्रह्म को हमारे सम्मुख प्रभु किंवा ईश्वर के रूप में प्रकाशित करता है। यह हमें अपने संकल्प को उनके संकल्प के साथ एक करने, सब भूतों की शक्तियों में कार्य करते हुए उनके संकल्प का साक्षात्कार करने तथा दूसरों की इन शक्तियों की चरितार्थता को अपनी विराट् आत्म-चरितार्थता का अंग अनुभव करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इस प्रकार इससे कलह, द्वैतभाव और विरोध की

वास्तविकता दूर हो जाती है और केवल इनकी प्रतीतिभर शेष रह जाती है। अतएव, इस ज्ञान से हम दिव्य कर्म करने में समर्थ बन जाते हैं, एक ऐसा कर्म जो हमारी प्रकृति के लिये वैयक्तिक होता है, पर हमारी सत्ता के लिये निर्व्यक्तिक, क्योंकि यह उस तत् से उद्भूत होता है जो हमारे अहं से परे है और उसकी वैश्व अनुभूति के द्वारा ही क्रिया करता है। हम अपने कर्मों में समता के साथ प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् कर्मों और उनके परिणामों से बद्ध हुए बिना, परात्पर और विराट् प्रभु के साथ एकस्वर होकर, अपने कर्मों के पृथक् दायित्व से मुक्त होकर और अतएव उनकी प्रतिक्रियाओं से प्रभावित हुए बिना उनमें अग्रसर होते हैं। हम देख ही आये हैं कि यह कर्ममार्ग की परिपूर्णता है, यही उक्त प्रकार से ज्ञानमार्ग का आनुषंगिक फल एवं परिणाम बन जाती है। और फिर, पूर्ण ज्ञान स्वयम्भू ब्रह्म को हमारे सामने आनन्दस्वरूप ईश्वर के रूप में प्रकाशित करता है। जिस प्रकार वह आनन्दस्वरूप ईश्वर सच्चिदानन्द के रूप में जगत् को तथा सब प्राणियों को व्यक्त करता हुआ उनके अभीप्सात्मक कार्यों और उनकी ज्ञान की खोजों को स्वीकार करता है उसी प्रकार वह उनकी भक्ति को भी स्वीकार करता है, उनकी ओर करुणापूर्वक झुकता है और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करके सबको अपनी दिव्य सत्ता के आनन्द के भीतर खींच ले जाता है। उसे अपना दिव्य आत्मा जानकर हम आलिंगन के दिव्यानन्द में उसके साथ एक हो जाते हैं जिस प्रकार प्रेमी और प्रियतम आलिंगन के आनन्द में एक-दूसरे के साथ एक हो जाते हैं। साथ ही उसे सर्वभूतों में जानकर, सर्वत्र प्रियतम की महिमा को, उसके सौन्दर्य और आनन्द को निहारकर हम अपनी आत्माओं को विराट् आनन्द के आवेश तथा विराट् प्रेम के विशाल भाव और हर्ष में रूपान्तरित कर देते हैं। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह सब भक्तिमार्ग की पराकाष्ठा है, ज्ञानमार्ग में भी यह एक आनुषंगिक फल एवं परिणाम के रूप में स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार पूर्ण ज्ञान के द्वारा हम सभी वस्तुओं को एकमेव ब्रह्म में एकीभूत कर देते हैं। हम विश्व-संगीत के सभी स्वरों को स्वीकार करते हैं, चाहे वे सुरीले हों या बेसुरे, अपनी अर्थ-ध्वनि में स्पष्ट हों या अस्पष्ट, तीव्र हों या मन्द, श्रुत हों या अश्रुत; स्वीकार करते ही हम उन सबको सच्चिदानन्द की अखण्ड समस्वरता में रूपान्तरित और सुसमन्वित पाते हैं। यह ज्ञानशक्ति और आनन्द को भी प्राप्त कराता है। "जो सब जगह एकत्व ही देखता है उसे भला मोह क्योंकर होगा, शोक कहां से होगा ?"

अध्याय १७

पुरुष और प्रकृति

समग्र रूप में पूर्ण ज्ञान का फल यही है; इसका कार्य हमारी सत्ता के विभिन्न सूत्रों को एकत्र करके विराट् एकता में पिरो देना है। यदि स्वयं भगवान् की भांति हमें भी अपनी नयी दिव्यीकृत चेतना में इस जगत् को पूर्ण रूप से अधिकृत करना हो तो हमें प्रत्येक वस्तु के निरपेक्ष स्वरूप को भी जानना होगा, पहले तो अपने-आपमें उसके रूप को और फिर उसकी पूरक सभी वस्तुओं के साथ उसके एकत्व की दृष्टि से उसके रूप को जानना होगा; क्योंकि भगवान् ने इस जगत् में अपनी सत्ता की परिकल्पना इसी रूप में की है और इसी रूप में वे इसका साक्षात्कार भी करते हैं। वस्तुओं को खण्डों किंवा अपूर्ण तत्वों के रूप में देखना निम्नतर विश्लेषणात्मक ज्ञान है। निरपेक्ष ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान हैं; उन्हें सर्वत्र ही देखना तथा उपलब्ध करना होगा। प्रत्येक सांत व्यक्ति वा पदार्थ अनन्त है और उसे उसकी आभ्यन्तरिक अनन्तता तथा बाह्य सांत आकृति इन दोनों रूपों में जानना एवं अनुभव करना होगा। परन्तु जगत् को ऐसे रूप में जानने के लिये, ऐसे रूप में देखने और अनुभव करने के लिये यह बौद्धिक विचार या कल्पना करना ही काफी नहीं है कि यह ऐसा ही है; बल्कि इसके लिये आवश्यकता है एक प्रकार की दिव्य अन्तर्दृष्टि, दिव्य इन्द्रिय तथा दिव्य उन्मादना की, अपनी चेतना के विषयों के साथ अपने एकत्व के अनुभव की। इस अनुभव में परात्पर ही नहीं, बल्कि यहां का सब कुछ भी, यह सब जगत् किंवा समष्टि रूप में 'सर्व' ही नहीं, बल्कि 'सर्व' में की प्रत्येक वस्तु हमारे लिये हमारा आत्मा, ईश्वर, निरपेक्ष एवं अनन्त ब्रह्म, सच्चिदानन्द बन जाती है। भगवान् की सृष्टि में पूर्ण आनन्द का, मन, हृदय और इच्छाशक्ति के पूर्ण सन्तोष का, चेतना की पूर्ण मुक्ति का रहस्य यही है। यही परमोच्च अनुभव है जिसे प्राप्त करने के लिये कला और काव्य, आन्तरिक और बाह्य ज्ञान के समस्त नानाविध प्रयत्न तथा पदार्थों को प्राप्त करने और भोगने की समस्त कामनाएं और चेष्टाएं प्रकट या अप्रकट रूप में प्रवृत्त हो रही हैं; वस्तुओं के रूपों, गुणों और धर्मों को समझने का उन कला आदि का प्रयत्न तो एक प्रारम्भिक चेष्टामात्र है। यह चेष्टा उन्हें गभीरतम तृप्ति नहीं प्रदान कर सकती जबतक कि इन रूपों और गुणों आदि को पूर्ण और निरपेक्ष रूप में समझकर वे उस अनन्त सद्वस्तु की अनुभूति नहीं प्राप्त कर लेतीं जिसके ये रूप और गुण बाह्य प्रतीक हैं। तर्कशील मन और साधारण इन्द्रियानुभव को यह सब सहज ही एक काव्यमय कल्पना या रहस्यमय भ्रममात्र प्रतीत हो सकता है; परन्तु इससे जो पूर्ण तृप्ति तथा प्रकाश की अनुभूति प्राप्त होती है तथा जो केवल इसीसे प्राप्त हो सकती है वह वस्तुतः इस बात का

प्रमाण है कि यह एक अधिक महान् सत्य है; इसके द्वारा हम एक उच्चतर चेतना तथा दिव्यतर बोधशक्ति से एक किरण प्राप्त करते हैं, यदि हम अपनी आध्यन्तरिक सत्ता के रूपान्तर के लिये अनुमति भर दे दें तो निश्चय ही अन्त में उसका रूपान्तर इस उच्चतर चेतना एवं दिव्यतर बोधशक्ति में ही होगा।

हम देख ही चुके हैं कि यह बात भागवत सत्ता के उच्चतम तत्त्वों पर लागू होती है। साधारणतया, विवेचनाशील मन हमें बताता है कि जो कुछ अभिव्यक्तिमात्र से परे है वही निरपेक्ष है, केवल निराकार आत्मा ही अनन्त सत्ता है, केवल देशकालातीत, अक्षर, अचल आत्मा ही, अपनी निष्क्रिय अवस्था में पूर्ण रूप से वास्तविक है; और यदि हम अपने प्रयास में इस विचार का अनुसरण करें तथा इसीके द्वारा नियन्त्रित हों तो हम इस आध्यन्तरिक अनुभव पर ही पहुंचेंगे तथा शेष सब कुछ हमें मिथ्या या केवल सापेक्ष सत्य प्रतीत होगा। परन्तु यदि हम इससे अधिक विशाल विचार को लेकर चलें तो एक अधिक पूर्ण सत्य एवं अधिक व्यापक अनुभव हमारे सामने खुल जायेंगे। हम देखेंगे कि कालातीत और देशातीत सत्ता की अक्षर स्थिति में एक निरपेक्ष एवं अनन्त सत्ता ही विद्यमान है, पर साथ ही अपनी शक्तियों, गुणों और आत्म-रचनाओं के प्रवाह को आनन्दपूर्वक धारण करनेवाली भागवत सत्ता की चिन्मय शक्ति एवं उसके सक्रिय आनन्द में भी एक निरपेक्ष एवं अनन्त सत्ता ही विलसित हो रही है,—और निःसन्देह अपने इस रूप में भी यह वही निरपेक्ष एवं अनन्त सत्ता है, इतनी अधिक वही है कि हम दिव्य कालातीत स्थिरता और शान्ति का रसास्वादन करने के साथ-साथ कर्म के दिव्य, काल-सम्राट् आनन्द का भी समान रूप से, स्वतन्त्र तथा अनन्त भाव में बिना किसी बन्धन के या अशान्ति और कष्ट-क्लेश में पतित हुए बिना उपभोग कर सकते हैं। इसी प्रकार हम इस कर्म के सभी मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में भी यही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, वे मूलतत्त्व अक्षर सत्ता में तो उसके अपने ही अन्दर स्थित हैं और एक अर्थ में बीजवत् अन्तर्निहित तथा गुप्त हैं, विराट् सत्ता में वे व्यक्त रूप में विद्यमान हैं तथा अपने अनन्त गुणों और क्षमताओं को चरितार्थ करते हैं।

इन तत्त्वों में सबसे महत्त्वपूर्ण है पुरुष और प्रकृति का द्वैत जो अन्त में अपने-आपको अद्वैत में परिणत कर देता है। इसके विषय में हम कर्मयोग के प्रसंग में उल्लेख कर चुके हैं, पर यह ज्ञानयोग के लिये भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय दर्शनों ने यह भेद अत्यन्त स्पष्ट रूप में किया था; परन्तु यह अद्वैत में प्रकट होनेवाले व्यावहारिक द्वैत के सनातन तथ्य पर आधारित है; यह द्वैत ही जगत् की अभिव्यक्ति का आधार है। जगत् के विषय में हमारा जो दृष्टिकोण होता है उसके अनुसार हम इसे भिन्न-भिन्न नाम देते हैं। वेदान्तियों ने इसे ब्रह्म और माया का नाम दिया, अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार ब्रह्म से उन्हें अभिप्रेत थी अक्षर

सत्ता और माया से ब्रह्म की वह शक्ति जिसके द्वारा वह अपने ऊपर विश्वरूपी भ्रम का अध्यारोप करता है, अथवा ब्रह्म से उन्हें अभिप्रेत थी भागवत सत्ता और माया से चिन्मय पुरुष की वह प्रकृति एवं चिच्छक्ति जिसके द्वारा भगवान् अपने-आपको आत्मिक रूपों तथा पदार्थों के रूपों में प्रकट करते हैं। कुछ अन्य दार्शनिकों ने इस द्वैत को ईश्वर और उसकी शक्ति—विश्वशक्ति—के नाम से अभिहित किया। सांख्य मतवालों के विश्लेषणात्मक दर्शन ने पुरुष और प्रकृति के ऐसे नित्य द्वैत की स्थापना की जिसमें एकत्व स्थापित होने की कोई भी सम्भावना नहीं, उसने तो इनके एकत्व और पृथक्त्व के सम्बन्धों को ही स्वीकार किया जिनके द्वारा 'पुरुष' के लिये प्रकृति का विराट् व्यापार आरम्भ होता है, चलता रहता या बन्द हो जाता है, क्योंकि पुरुष निष्क्रिय चेतन सत्ता है,—यह आत्मा है जो अपने-आपमें एकरस तथा सदा ही निर्विकार रहता है,— प्रकृति विश्व-शक्ति का क्रियाशील रूप है जो अपनी गति से विश्व-प्रपंच का सृजन और धारण करता है और विश्रान्ति में लीन होने पर इस प्रपंच का लय कर देता है। इन दार्शनिक भेदों को एक ओर रखकर, हम उस मूल मनोवैज्ञानिक अनुभव पर जा पहुंचते हैं जिसे आधार बनाकर ही वास्तव में सभी दर्शन अग्रसर होते हैं; वह अनुभव यह है कि सजीव प्राणियों की, यदि समस्त विश्व की ही नहीं तो कम-से-कम मानव-प्राणियों की, सत्ता में दो तत्त्व विद्यमान हैं—प्रकृति और पुरुष, सत्ता के दो रूप।

यह द्वैत स्वयं-सिद्ध है। किसी भी दर्शनशास्त्र के बिना, केवल अनुभव के बल पर हम सभी जो कुछ देख सकते हैं वह यही है, भले हम इसकी परिभाषा करने का कष्ट न भी उठायें। यद्यपि अत्यन्त ऐकान्तिक जड़वाद आत्मा से इंकार करता है अथवा अपने जिस भौतिक मस्तिष्क को हम चेतना या मन कहते हैं, पर वास्तव में जो ज्ञानतन्तुओं तथा नाड़ियों में होनेवाले आघात-प्रतिघातों की एक प्रकार की जटिल क्रिया से अधिक कुछ नहीं है, उसके किसी अच्छी तरह समझ में न आये हुए दृग्विषय पर कार्य करनेवाली प्राकृतिक क्रियाओं के न्यूनाधिक मिथ्या परिणाम को ही वह आत्मा का स्वरूप मानता है, परन्तु वह भी इस द्वैत के क्रियात्मक तथ्य से छुटकारा नहीं पा सकता। इस बात का कुछ महत्त्व नहीं कि यह द्वैत कैसे उत्पन्न हुआ; पर इस द्वैत का केवल अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि यह हमारे सम्पूर्ण जीवन का निर्धारण भी करता है, हम मानव-प्राणियों में संकल्पशक्ति और बुद्धि होने के साथ-साथ समस्त सुख-दुःख की कारणभूत एक अन्तःसत्ता भी विद्यमान है। ऐसे प्राणियों के रूप में हमारे लिये एकमात्र यह द्वैत का तथ्य ही वास्तविक महत्त्व रखता है। जीवन की सम्पूर्ण समस्या इस एक प्रश्न का रूप ले लेती है,—"ये जो पुरुष और प्रकृति यहां एक-दूसरे के आमने-सामने उपस्थित हैं इनका हमें क्या करना होगा, एक ओर तो है यह प्रकृति, यह व्यक्तिगत और विराट् क्रिया, जो पुरुष (आत्मा) पर अपनी छाप लगाने, इसे अपने अधिकार तथा नियन्त्रण में लाने

और इसका रूप निर्धारण करने का यत्न करती है, और दूसरी ओर है यह पुरुष जो अनुभव करता है कि किसी रहस्यमय रूप में वह स्वतन्त्र है, अपना नियंता है, अपने स्वरूप और कर्म के लिये उत्तरदायी है और अतएव जो अपनी तथा विश्व की प्रकृति का सामना करने तथा उसपर अपना नियन्त्रण एवं अधिकार स्थापित करने एवं उसका उपभोग करने का यत्न करता है, अथवा जो उसका त्याग करने एवं उससे दूर भागने का यत्न भी कर सकता है?" इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें ज्ञान प्राप्त करना होगा,—यह ज्ञान प्राप्त करना होगा कि पुरुष (आत्मा) क्या कर सकता है, वह अपने साथ क्या कर सकता है और साथ ही यह भी कि वह प्रकृति और जगत् के साथ क्या कर सकता है। मानव का सम्पूर्ण दर्शन, धर्म और विज्ञान वास्तव में उस यथार्थ तथ्य-सामग्री को प्राप्त करने के यत्न के सिवा और कुछ नहीं जिसके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देना तथा अपने जीवन की समस्या को अपने ज्ञान के अनुसार यथासम्भव सन्तोषजनक रूप में हल करना सम्भव होगा।

धर्म और दर्शन इस सत्य की स्थापना करते हैं कि हमारी आत्मिक सत्ता की दो भूमिकाएं हैं, एक तो निम्न, विक्षुब्ध और अधीनस्थ और दूसरी उच्च, महान्, अक्षुब्ध और प्रभुत्वपूर्ण, एक तो मन में स्पन्दन करनेवाली और दूसरी आत्मा में प्रशान्त। जब हम इस सत्य का,—आधुनिक विचार ने तो इसका प्रतिवाद करने की चेष्टा की है—साक्षात् अनुभव करते हैं तो अपनी निम्न एवं क्षुब्ध प्रकृति और सत्ता के साथ अपने वर्तमान संघर्ष से तथा इनकी दासता से पूर्णतः मुक्त होने की आशा हमारे अन्दर उत्पन्न हो जाती है। परन्तु केवल मुक्ति की ही नहीं, बल्कि एक पूर्णतः सन्तोषजनक तथा सफलतापूर्ण समाधान की भी आशा तब उत्पन्न होती है जब हमें उस सत्य का अनुभव होता है जिसे कुछ धर्म और दर्शन दृढ़तापूर्वक स्थापित करते हैं, पर कुछ अन्य अस्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि पुरुष और प्रकृति के द्वैतात्मक अद्वैत में भी एक तो निम्नतर एवं साधारण मानवीय भूमिका है और दूसरी उच्चतर एवं दिव्य जिसमें द्वैत की अवस्थाएं पलट जाती हैं और पुरुष जो कुछ बनने के लिये आज केवल संघर्ष तथा अभीप्सा कर रहा है वही बन जाता है, अर्थात् वह अपनी प्रकृति का स्वामी तथा स्वराट् हो जाता है और भगवान् के साथ एकत्व लाभ करके विश्व-प्रकृति का भी स्वामी बन जाता है। इन सम्भावनाओं के सम्बन्ध में हमारा जैसा विचार होगा उसके अनुसार ही हम इनमें से किसी समाधान को अपने लिये निश्चित करके कार्य-रूप में परिणत करने का यत्न करेंगे।

मन के बन्धन में ग्रस्त होने के कारण, मानसिक विचार, सम्वेदन, भावावेश, जगत् के प्राणिक और भौतिक सम्पर्कों को ग्रहण करना तथा इनके प्रति यान्त्रिक प्रतिक्रिया करना—इन सब साधारण दृग्विषयों से अभिभूत होने के कारण पुरुष (आत्मा) प्रकृति के वश में है। इसकी संकल्पशक्ति और बुद्धि भी इसकी

मानसिक प्रकृति से निर्धारित होती हैं, यहांतक कि अधिक बड़े अंश में तो ये इसके चारों ओर की मानसिक प्रकृति से निर्धारित होती हैं जो व्यक्तिगत मन पर सूक्ष्म तथा प्रकट रूप में क्रिया करती है और उसे अपने वश में कर लेती है; इस प्रकार अपने अनुभव तथा कर्म को नियमित, संयमित तथा निर्धारित करने के इसके प्रयत्न में भ्रम का अंश सदा ही रहता है, क्योंकि जब यह सोचता है कि मैं काम कर रहा हूं तब वास्तव में प्रकृति ही कार्य कर रही होती है तथा इसके समस्त विचार, संकल्प और कर्म का निर्धारण कर रही होती है। 'मैं हूं, मैं स्वयं सत् हूं, मैं शरीर या प्राण नहीं, बल्कि कोई और सत्ता हूं जो विराट् पुरुष के अनुभव को यदि निर्धारित नहीं करती तो कम-से-कम ग्रहण और स्वीकार अवश्य करती है' इस प्रकार का सतत ज्ञान यदि इसे न होता तो अन्त में यह ऐसी कल्पना करने को बाध्य होता कि प्रकृति ही सब कुछ है और आत्मा निरा भ्रम। आधुनिक जड़वाद इसी सिद्धान्त की स्थापना करता है तथा शून्यवादी बौद्धमत भी इसीपर पहुंचा था; सांख्यों ने इस जटिल समस्या को अनुभव करके इसका हल यह कहकर किया कि पुरुष असल में प्रकृति के निर्धारणों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित भर करता है और वह स्वयं किसी भी चीज का निर्धारण नहीं करता, वह ईश नहीं है, पर इन निर्धारणों को प्रतिबिम्बित करने से इंकार करके शाश्वत अचलता और शान्ति में पुनः लय प्राप्त कर सकता है। कुछ अन्य समाधान भी हैं जो इसी व्यावहारिक सिद्धान्त पर पहुंचते हैं, पर पहुंचते हैं दूसरे अर्थात् आध्यात्मिक छोर से, वे प्रकृति को माया के रूप में प्रस्थापित करते हैं अथवा पुरुष और प्रकृति दोनों को अनित्य मानते हैं और इनसे परे की उस भूमिका की ओर हमें अंगुलि-निर्देश करते हैं जिसमें इनके द्वैत का अस्तित्व ही नहीं है; इस भूमिका की प्राप्ति के लिये वे हमें या तो किसी नित्य एवं अनिर्वचनीय वस्तु में इन दोनों का लय करने को कहते हैं या कम-से-कम क्रियाशील तत्त्व का पूर्णतया वर्जन करने को। यद्यपि ये समाधान मानवजाति की बृहत्तर आशा तथा बद्धमूल प्रेरणा एवं अभीप्सा को तृप्त नहीं करते, तथापि जहांतक इनकी गति है वहांतक ये सही हैं, क्योंकि ये स्वयं निरपेक्ष सत्ता पर या आत्मा के पृथक् निरपेक्ष स्वरूप पर पहुंचते हैं, यद्यपि ये निरपेक्ष सत्ता की उन अनेक आनन्दपूर्ण अनन्तताओं को त्याग देते हैं जो मनुष्यस्थित सनातन जिज्ञासु के सामने तब खुलती हैं जब पुरुष अपने दिव्य जीवन में प्रकृति का सच्चा स्वामी बन जाता है।

परम आत्मा में उठकर पुरुष प्रकृति के अधीन नहीं रहता; वह इस मानसिक क्रिया-प्रवृत्ति से ऊपर उठ जाता है। वह अनासक्ति तथा पृथक्ता के भाव में इससे ऊपर हो सकता है, उदासीन अर्थात् ऊपर अवस्थित एवं तटस्थ हो सकता है, या फिर अपनी सत्ता के प्रभेदरहित, घनीभूत आध्यात्मिक अनुभव की तन्मयताजनक शान्ति या आनन्द के द्वारा आकृष्ट एवं उसमें लीन हो सकता है; तब हमें दिव्य

और सर्वोच्च प्रभुत्व के द्वारा विजय नहीं प्राप्त करनी होती, बल्कि प्रकृति और जगज्जीवन को पूर्ण रूप से त्यागकर परे चले जाना होता है। परन्तु परमात्मा किंवा भगवान् प्रकृति से ऊपर ही नहीं हैं; वे प्रकृति और जगत् के स्वामी भी हैं; अपनी आध्यात्मिक स्थिति में उठती हुई आत्मा को, भगवान् के साथ एकत्व के द्वारा कम-से-कम ऐसे ही स्वामित्व के योग्य बनना होगा। उसे अपनी प्रकृति को नियन्त्रित करने में समर्थ बनना होगा पर केवल शान्ति की अवस्था में नहीं अथवा इसे निष्क्रिय होने के लिये बाध्य करके ही नहीं, बल्कि इसकी लीला और क्रिया पर प्रभुत्वपूर्ण नियन्त्रण रखते हुए ऐसा बनना होगा। निम्न भूमिका में ऐसा करना सम्भव नहीं, क्योंकि हमारी आत्मा मन के द्वारा कार्य करती है और मन विश्व-प्रकृति का सन्तोषपूर्वक अनुसरण करते हुए या इसके अधीन रहकर संघर्ष करते हुए व्यक्तिगत और आंशिक रूप में ही कार्य कर सकता है। इस विश्व-प्रकृति के द्वारा ही भागवत ज्ञान और संकल्प जगत् में चरितार्थ होते हैं। परन्तु परम आत्मा ज्ञान और संकल्प का उद्गम एवं कारण होने से इनपर प्रभुत्व रखता है, वह इनके वश में नहीं है; अतएव, जितना-जितना हमारी आत्मा अपनी दिव्य या आध्यात्मिक सत्ता को प्राप्त करती जाती है, उतना-उतना यह अपनी प्रकृति की क्रियाओं के ऊपर नियन्त्रण भी प्राप्त करती जाती है। प्राचीन भाषा में कहें तो यह स्वराट् अर्थात् स्वतन्त्र तथा अपने जीवन और अस्तित्व के साम्राज्य की शासिका बन जाती है, पर साथ ही अपने परिपार्श्व तथा अपने जगत् पर भी इसका नियंत्रण बढ़ता जाता है। ऐसा नियंत्रण यह अपने-आपको विराट् बनाकर ही प्राप्त कर सकती है; क्योंकि जगत् पर अपनी क्रिया में इसे दिव्य एवं विराट् संकल्प को ही प्रकट करना होगा। पहले इसे अपनी चेतना को विस्तृत करना होगा तथा मन की भांति क्षुद्र विभक्त व्यक्तित्व के भौतिक, प्राणिक, सम्वेदनमूलक, भाविक, बौद्धिक दृष्टिकोण से सीमित होने के स्थान पर सारे विश्व को अपने अन्दर देखना होगा; इसे अपने बौद्धिक विचारों, कामनाओं तथा प्रयासों, अभिरुचियों, लक्ष्यों, संकल्पों और आवेगों से चिपटे रहने के स्थान पर विश्व-सत्यों, विश्व-शक्तियों, विश्व-प्रवृत्तियों तथा विश्व-प्रयोजनों को अपना मानना होगा; जहांतक ये विचार, कामनाएं तथा प्रयास आदि बने रहें वहां तक इन्हें विराट् विचारों आदि के साथ समस्वर करना होगा। तब इसे अपने ज्ञान और संकल्प को इनके ठेठ उद्गम में ही दिव्य ज्ञान और दिव्य संकल्प के प्रति अर्पण कर देना होगा और इस प्रकार अर्पण के द्वारा लय को प्राप्त करना होगा, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत ज्योति को दिव्य ज्योति में तथा अपनी व्यक्तिगत प्रेरणा को दिव्य प्रेरणा में लीन कर देना होगा। पहले तो अनन्त के साथ एकराग एवं भगवान् के साथ समस्वर होना और उसके बाद अनन्त के साथ युक्त होना एवं भगवान् में उपनीत हो जाना ही इसके लिये पूर्ण सामर्थ्य और प्रभुत्व प्राप्त करने की शर्त है, और ठीक यही आध्यात्मिक जीवन एवं आध्यात्मिक अस्तित्व का वास्तविक स्वरूप है।

गीता में पुरुष और प्रकृति के बीच जो भेद किया गया है वह हमें पुरुष की प्रकृति के प्रति अनेकविध सम्भवनीय वृत्तियों का सूत्र पकड़ा देता है। जब पुरुष पूर्ण स्वातंत्र्य और प्रभुत्व की प्राप्ति के लिये यत्न करता है तो वह प्रकृति के प्रति इन वृत्तियों को अपना सकता है। गीता में कहा गया है कि पुरुष साक्षी, भर्त्ता, अनुमन्ता, ज्ञाता, ईश्वर और भोक्ता है; प्रकृति (पुरुष के आदेश को) कार्यान्वित करती है, यह क्रियाशील तत्त्व है और पुरुष की वृत्ति के अनुरूप ही इसकी क्रिया होती है। पुरुष चाहे तो शुद्ध साक्षी की स्थिति धारण कर सकता है; यह प्रकृति के कार्य को एक ऐसी वस्तु के रूप में देख सकता है जिससे यह जुदा होकर स्थित है; यह उसके कार्य का अवलोकन करता है, पर उसमें स्वयं भाग नहीं लेता। सब प्रवृत्तियों को शान्त करने की इस क्षमता का महत्त्व हम देख ही चुके हैं; यह पीछे हटने की उस क्रिया का आधार है जिसके द्वारा हम प्रत्येक वस्तु के,—शरीर, प्राण, मानसिक क्रिया, विचार, संवेदन, भावावेश के,—सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि "यह प्रकृति है जो प्राण, मन और शरीर में कार्य कर रही है, यह स्वयं मैं नहीं हूं, न ही यह मेरी चीज है," और इस प्रकार हम इन चीजों से अपनी आत्मा को अलग करके इनकी स्तब्धता प्राप्त कर सकते हैं। अतएव, यह त्याग या कम-से-कम अ-योगदान की वृत्ति हो सकती है जो तामसिक, राजसिक या सात्त्विक रूप धारण कर सकती है, अर्थात्, इसमें या तो यह भाव पैदा हो सकता है कि प्रकृति का कार्य जबतक चलता रहे तबतक इसके अधीन रहकर निष्क्रिय रूप में इसे सहा जाय अथवा इसमें उसके कार्य से विरक्ति, घृणा या पराङ्मुखता का भाव उत्पन्न हो सकता है या फिर, पुरुष की पृथक्ता का प्रकाशपूर्ण बोध और एकाकीपन तथा विश्राम की शान्ति एवं आनन्द उद्भूत हो सकता है। पर साथ ही यह वृत्ति नाटक के प्रेक्षक के-से सम और निर्व्यक्तिक आनन्द से युक्त भी हो सकती है, प्रेक्षक की भांति पुरुष नाटक देखने में आनन्द का उपभोग करते हुए भी अनासक्त रहता है और किसी भी क्षण अपने ही आनन्द के साथ वहां से उठकर चल देने को तैयार रहता है। साक्षी की वृत्ति अपने उच्चतम रूप में अनासक्ति का तथा जगज्जीवन की घटनाओं के प्रभाव से मुक्ति का चरम रूप होती है।

शुद्ध साक्षी के रूप में पुरुष प्रकृति के भर्त्ता या धारक का कार्य करने से इन्कार कर देता है। भर्त्ता कोई और ही है, ईश्वर या शक्ति या माया, पर पुरुष नहीं। पुरुष तो अपनी साक्षि-चेतना पर प्रकृति के कार्य का प्रतिबिम्ब भर पड़ने देता है, पर उसे धारण करने या जारी रखने की किसी प्रकार की जिम्मेदारी स्वीकार नहीं करता। वह यह नहीं कहता, "यह सब मेरे अन्दर हो रहा है और मैं ही इसे धारण कर रहा हूं, यह मेरी सत्ता का कार्य है," वरन् अधिक-से-अधिक यही कहता है कि "यह मेरे ऊपर आरोपित किया गया है, पर असल में मुझसे बाहर की चीज है।" जबतक सत्ता में एक स्पष्ट एवं वास्तविक द्वैत न हो, यह इस विषय का

सम्पूर्ण सत्य नहीं हो सकता; पुरुष भर्त्ता भी है, वह अपनी सत्ता में उस शक्ति को धारण करता है जो विश्वरूपी दृश्य को प्रदर्शित करती है और जो इसकी शक्तियों का संचालन करती है। जब पुरुष भर्त्ता के इस कार्य को स्वीकार करता है, तब भी वह इसे निष्क्रिय रूप में तथा आसक्ति के बिना कर सकता है, यह अनुभव करते हुए कि वह शक्ति प्रदान करता है, पर इसका नियंत्रण एवं निर्धारण नहीं करता। नियंत्रण करनेवाला कोई और ही है, ईश्वर या शक्ति या माया का निज स्वरूप; पुरुष उदासीन भाव में केवल भरण करता है और यह कार्य वह तबतक करता है जबतक कि उसे करना पड़ता है, शायद तबतक जबतक उसकी अतीत अनुमति का बल और शक्ति के कार्य में उसकी रुचि बनी रहती है किंवा समाप्त नहीं हो जाती। परन्तु यदि पुरुष भर्त्ता की वृत्ति को पूर्णरूपेण स्वीकार कर ले तो समझना चाहिये कि सक्रिय ब्रह्म के साथ तथा उसकी विराट् सत्ता के आनन्द के साथ तादात्म्य की ओर उसने एक महत्त्वपूर्ण पग आगे बढ़ा लिया है, क्योंकि वह सक्रिय अनुमन्ता बन गया है।

साक्षी की वृत्ति में भी एक प्रकार की अनुमति होती है, पर वह निष्क्रिय तथा जड़ होती है और उसमें किसी प्रकार की निरपेक्षता नहीं होती। परन्तु यदि वह भरण करने के लिये पूर्ण रूप से सहमत हो जाय तो समझो कि अनुमति ने सक्रिय रूप धारण कर लिया है, चाहे पुरुष प्रकृति की सब शक्तियों को प्रतिबिम्बित तथा धारण करने के लिये और इस प्रकार उनकी क्रिया को बनाये रखने के लिये सहमत होने से अधिक कुछ भी न करे, अर्थात् शक्तियों के कार्य का निर्धारण और चुनाव न करे एवं यह माने कि स्वयं ईश्वर या शक्ति या कोई ज्ञानमय संकल्पशक्ति ही चुनाव और निर्धारण करती है, और पुरुष तो केवल साक्षी, भर्त्ता तथा इस प्रकार अनुमति का दाता, अनुमन्ता है न कि ज्ञान और संकल्प का धारण तथा नियमन करनेवाला, ज्ञाता, ईश्वर। परन्तु इसके सामने जो कार्य प्रस्तुत किये जायें उनमें से यदि यह सामान्यतः ही कुछ को पसंद करे तथा दूसरों का त्याग करे तो समझो कि यह उनका निर्धारण करने लगा है; जो आपेक्षिक दृष्टि से एक निष्क्रिय अनुमन्ता था वह अब पूर्ण रूप से सक्रिय अनुमन्ता बन गया है और एक सक्रिय अनुमन्ता बनने की राह पर है।

पुरुष नियन्ता तब बनता है जब वह प्रकृति के ज्ञाता, ईश्वर और भोक्ता के रूप में अपना पूरा कार्य करना स्वीकार कर लेता है। ज्ञाता के रूप में पुरुष कर्म और उसका निर्धारण करनेवाली शक्ति को जानता है, यह सत्ता के उन मूल्यों को देखता है जो विश्व में अपने-आपको चरितार्थ कर रहे हैं, यह नियति के रहस्य में प्रवेश पा लेता है। परन्तु स्वयं शक्ति ज्ञान के द्वारा निर्धारित होती है जो उसका उद्गम है तथा उसके मूल्यों का और उनकी क्रियान्वितियों का मूलस्रोत तथा निर्धारक है। अतएव, जैसे-जैसे पुरुष फिर से ज्ञाता बनता जाता है, वैसे-वैसे वह कर्म का

नियन्ता भी बनता जाता है। पर वह सक्रिय भोक्ता (उपभोग करनेवाला) बने बिना नियन्ता भी नहीं बन सकता। निम्नतर सत्ता में उपभोग दो प्रकार का होता है, धनात्मक और ऋणात्मक, जो ज्ञानतन्तुओं में बहनेवाली प्राणरूपी विद्युत् के प्रवाह में हर्ष और शोक का रूप धारण कर लेता है; परन्तु उच्चतर सत्ता में यह आत्म-अभिव्यक्ति के दिव्य आनन्द का सक्रिय रूप से समान उपभोग होता है। इसमें मुक्तावस्था का लोप नहीं होता, न अज्ञानपूर्ण आसक्ति में पतन ही होता है। आत्मा में मुक्त हुए मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि भगवान् प्रकृति के कर्म के प्रभु हैं, माया उनकी ज्ञानमय संकल्पशक्ति है जो सब चीजों को निर्धारित तथा साधित करती है, शक्ति इस दोहरी दिव्य माया का संकल्पात्मक रूप है, इस दिव्य माया-शक्ति में ज्ञान सदा उपस्थित रहता है तथा अमोघ होता है; मुक्त पुरुष यह भी जानता है कि वह, व्यक्तिगत रूप में भी, दिव्य सत्ता का एक केन्द्र है,—गीता के शब्दों में, ईश्वर का अंश है,—उतने अंश में वह प्रकृति के उस कर्म को नियंत्रित करता है जिसका वह अवलोकन तथा भरण करता है, अनुमोदन एवं उपभोग करता है, तथा जिसे वह जानता है एवं ज्ञान की निर्धारक शक्ति के द्वारा नियंत्रित करता है; और जब वह अपने-आपको विश्वमय बना लेता है, तो उसका ज्ञान केवल दिव्य ज्ञान को प्रतिबिम्बित करता है, उसका संकल्प केवल दिव्य संकल्प को कार्यान्वित करता है, वह अज्ञानपूर्ण व्यक्तिगत सुख का नहीं, बल्कि केवल दिव्य आनन्द का उपभोग करता है। इस प्रकार पुरुष अपनी मुक्तावस्था को अपने अधिकार में सुरक्षित रखता है, विराट् पुरुष के एक प्रतिनिधि के रूप में विराट् अस्तित्व का उपभोग एवं आनन्द प्राप्त करता हुआ भी सीमित व्यक्तित्व के त्याग की अवस्था को सुरक्षित रखता है। इस उच्चतर भूमिका में वह पुरुष और प्रकृति के सच्चे सम्बन्धों को पूर्ण रूप से प्राप्त किये होता है।

पुरुष और प्रकृति अपने अद्वैतात्मक और द्वैतात्मक स्वरूप में सच्चिदानन्द की सत्ता से ही उद्भूत होते हैं। आत्म-सचेतन सत्ता सत् का मूल स्वरूप है, वह सत् या पुरुष है : आत्म-सचेतन सत्ता की शक्ति ही प्रकृति है, भले वह अपने अन्दर एकाग्र हो या अपनी चेतना और बल के, अपने ज्ञान और संकल्प, चित् और तपस्, चित् और उसकी शक्ति के कार्यों में क्रिया कर रही हो। सत्ता का आनन्द इस चिन्मय सत्ता और इसकी चिन्मय शक्ति के एकत्व का सनातन सत्य है, भले वह चिन्मय शक्ति अपने ही अन्दर लीन हो या फिर अपने दो रूपों के अविच्छेद्य द्वैत में प्रकटीभूत हो; वे दो रूप हैं—लोकों को प्रकट करना और उनका अवलोकन करना, उनके अन्दर कार्य करना तथा उस कार्य को धारण करना, कार्यों को सम्पन्न करना और उनके लिये अनुमति देना जिसके बिना प्रकृति की शक्ति कार्य कर ही नहीं सकती, ज्ञान और संकल्प को क्रियान्वित तथा नियन्त्रित करना और ज्ञान-शक्ति तथा संकल्प-शक्ति के निर्धारण को जानना तथा नियन्त्रित करना,

उपभोग की सामग्री जुटाना और उपभोग करना,—पुरुष प्रकृति का धर्ता, द्रष्टा, ज्ञाता और ईश्वर है और प्रकृति सत्ता को प्रकट करती है, संकल्प को क्रियान्वित करती, आत्म-ज्ञान को तृप्त करती और पुरुष को सत्ता का आनन्द प्राप्त करने में सहायता देती है। यहां हम पुरुष और प्रकृति का सर्वोच्च और विराट् सम्बन्ध देखते हैं जो सत्ता के वास्तविक स्वरूप पर आधारित है। पुरुष का अपनी सत्ता में निरपेक्ष आनन्द लेना और इस आनन्द के आधार पर उसका प्रकृति में आनन्द लेना—यही उक्त सम्बन्ध की दिव्य परिपूर्णता है।

अध्याय १८

पुरुष और उसकी मुक्ति

अब हमें जरा रुककर इस विषय पर विचार करना होगा कि पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों को इस प्रकार स्वीकार करने से हम किन सिद्धान्तों के साथ स्वभावतः ही बंध जाते हैं; क्योंकि इसका अर्थ यह है कि जिस योग का हम अनुसरण कर रहे हैं उसका लक्ष्य मानवजाति के साधारण लक्ष्य में से कोई भी नहीं है। यह न तो हमारे पार्थिव जीवन को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करता है, न ही किसी प्रकार की नैतिक पूर्णता या धार्मिक भावोन्मादना से परे अवस्थित किसी स्वर्ग से या हमारी सत्ता के किसी ऐसे विलय से सन्तुष्ट हो सकता है जिसके द्वारा हम जीवन के दुःख-कष्ट का सन्तोषजनक रीति से खातमा कर डालें। हमारा लक्ष्य बिल्कुल और ही हो जाता है; वह है किसी निरी अहंता एवं पार्थिव सत्ता में नहीं, बल्कि भगवान् एवं अनन्त ब्रह्म में, ईश्वर में निवास करना, पर साथ ही प्रकृति से, अपने मनुष्य-भाइयों से, संसार तथा लौकिक जीवन से अलग भी नहीं रहना, जिस प्रकार भगवान् भी हम से तथा जगत् से अलग नहीं रहते। वे जगत् और प्रकृति तथा इन सब भूतों के साथ सम्बन्ध भी रखते हैं, पर रखते हैं परिपूर्ण तथा अविच्छेद्य शक्ति, स्वातंत्र्य तथा आत्म-ज्ञान के साथ। हमारी मुक्ति तथा पूर्णता का अर्थ है अज्ञान, बन्धन और दुर्बलता को पार करना और जगत् तथा प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखते हुए दिव्य शक्ति, स्वातंत्र्य और आत्मज्ञान के साथ भगवान् में निवास करना। क्योंकि, आत्मा का जगत्-सत्ता के साथ उच्च-से-उच्च सम्बन्ध पुरुष का प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करना ही है। प्रभुत्व प्राप्त कर लेने पर वह पहले की तरह अज्ञ तथा अपनी प्रकृति के अधीन नहीं रहता, बल्कि अपनी व्यक्त सत्ता को जानता तथा पार कर जाता है, उसका उपभोग तथा नियमन करता है और मुझे अपने-आपको किस रूप में अभिव्यक्त करना है इसका निर्धारण वह विशाल दृष्टि से तथा स्वतन्त्रतापूर्वक करता है।

आत्मा की अपने विश्वगत जन्म और विकास में प्रकृति के साथ सम्पूर्ण लीला बस यही है कि एकमेव सत्ता अपने ही द्वैत के विविध रूपों में अपने-आपको खोज रही है। सर्वत्र एक ही स्वयंभू तथा असीम सच्चिदानन्द विद्यमान है, एक ऐसी एकता विद्यमान है जो अपने ही विविध रूपों की चरम अनन्तता से भंग नहीं हो सकती,—यही सत्ता का मूल सत्य है जिसे हमारा ज्ञान खोज रहा है और जिसे अन्त में हमारी आध्यन्तरिक सत्ता प्राप्त करती है। इसीसे अन्य सब सत्य उद्भूत होते हैं, इसीपर वे आधारित हैं, यही प्रतिक्षण उनके अस्तित्व को सम्भव बनाता है और इसीमें वे अन्त में अपने-आपको तथा एक-दूसरे को जान सकते हैं, इसीमें

इनके विरोध दूर होते हैं तथा ये अपनी समस्वरता और सार्थकता प्राप्त करते हैं। जगत् के सभी सम्बन्ध, यहांतक कि इसके बड़े-से-बड़े तथा अत्यन्त आघातजनक प्रत्यक्ष विरोध भी, किसी सनातन वस्तु के अपनी ही विराट् सत्ता में अपने ही साथ सम्बन्ध हैं; किसी भी जगह या किसी भी क्षण वे ऐसे असम्बद्ध जीवों के संघर्ष नहीं हैं जो अकस्मात् या विश्व-सत्ता की किसी यान्त्रिक आवश्यकता के कारण परस्पर आ मिलते हैं। अतएव एकत्व के इस सनातन तथ्य को फिर से प्राप्त करना ही हमारे आत्मज्ञान का मूल कार्य है; इसमें निवास करना ही अपनी सत्ता की आन्तरिक प्राप्ति का तथा जगत् के साथ हमारे यथोचित और आदर्श सम्बन्धों का प्रभावशाली सिद्धान्त होना चाहिये। इसी कारण हमें इस बात पर सर्वप्रथम और प्रधान रूप में बल देना पड़ा है कि एकत्व हमारे ज्ञानयोग का लक्ष्य है तथा एक प्रकार से सम्पूर्ण लक्ष्य है।

परन्तु यह एकत्व सर्वत्र तथा प्रत्येक स्तर पर द्वैत के कार्यकारी या व्यावहारिक सत्य के द्वारा ही अपने-आपको चरितार्थ करता है। सनातन ब्रह्म, एकमेव, अनन्त, चिन्मय सत्ता अर्थात् पुरुष है, कोई निश्चेतन एवं यान्त्रिक वस्तु नहीं; जब उसकी चिन्मय सत्ता की शक्ति एकत्व की साम्यावस्था में स्थित होती है तब भी वह नित्य ही इस (शक्ति) के आनन्द में अवस्थित रहता है; पर जब उसकी चिन्मय सत्ता की शक्ति विश्व में नानाविध सर्जनक्षम स्वानुभव के साथ लीला में रत होती है तब भी वह इसके उतने ही नित्य आनन्द में अवस्थित रहता है। जैसे हम स्वयं इस तथ्य से सचेतन हैं या हो सकते हैं कि हम सदा ही कोई कालातीत, नामातीत तथा नित्य वस्तु हैं जिसे हम अपनी आत्मा कहते हैं और जो हमारी सत्ता के सभी अंगों की एकता को गठित करती है, और फिर भी इसके साथ-साथ हम जो कुछ करते और सोचते हैं, जो संकल्प और सृजन करते हैं तथा जो कुछ बनते हैं उस सबका नानाविध अनुभव भी हम प्राप्त करते हैं, जगत् में इस पुरुष की आत्म-सचेतनता भी ठीक ऐसी ही है। अन्तर इतना ही है कि हम, इस समय सीमित और अहंबद्ध मनोमय व्यक्ति होने के कारण, यह अनुभव साधारणतया अज्ञानावस्था में प्राप्त करते हैं और हम आत्मा में निवास नहीं करते, बल्कि पीछे की ओर मुड़कर समय-समय पर इसके ऊपर केवल दृष्टिपात करते हैं या कभी-कभी बाह्य सत्ता से पीछे हटकर इसमें प्रवेश करते हैं, जब कि सनातन को अपने अनन्त आत्मज्ञान में यह नित्य ही प्राप्त है, वह नित्य ही यही आत्मा है और आत्म-सत्ता की पूर्णता से ही इस समस्त आत्मानुभव पर दृष्टिपात करता है। मन के कारावास में बन्द हम लोगों की तरह वह अपनी सत्ता के सम्बन्ध में यों नहीं सोचता कि यह या तो आत्मानुभवों का एक प्रकार का अनिश्चित परिणाम एवं कुल योग है या फिर उनका एक महान् विरोध। सत्ता और अभिव्यक्ति का प्राचीन दार्शनिक विरोध सनातन आत्मज्ञान में सम्भव नहीं है।

चिन्मय सत्ता की सक्रिय शक्ति को जो अपने आत्मानुभव को शक्तियों में, अपने ज्ञान, संकल्प, आत्मानन्द, आत्म-रूपायण की शक्तियों में, इनके सब शक्तिसम्बन्धी अद्‌भुत विभेदों, विपर्ययों, स्थिति-रक्षणों और परिवर्तनों, यहांतक कि विकारों में भी अपने-आपको चरितार्थ करती है, हम विश्व की तथा अपनी प्रकृति कहते हैं। परन्तु भेद-वैविध्य की इस शक्ति के पीछे इसी शक्ति का एक सनातन साम्य है जो सम एकत्व पर प्रतिष्ठित है। उस एकत्व ने जैसे इन भेद-वैविध्यों को जन्म दिया है वैसे ही यह निष्पक्ष भाव से इन्हें धारण तथा नियन्त्रित भी करता है और सत्स्वरूप 'पुरुष' ने अपनी चेतना में अपने आत्मानन्द का जो भी लक्ष्य परिकल्पित किया है तथा जिसे अपनी चेतना के संकल्प या बल के द्वारा निर्धारित किया है उसीकी ओर यह एकत्व इन्हें परिचालित भी करता है। यही है दिव्य प्रकृति जिसके साथ हमें अपने आत्मज्ञान के योग के द्वारा पुनः एकता प्राप्त करनी होगी। हमें पुरुष किंवा सच्चिदानन्द बनना होगा जो अपनी प्रकृति के ऊपर दिव्य व्यक्तिगत प्रभुत्व में आनन्द लेते हैं, हमें अब पहले की तरह अपनी अहंपूर्ण प्रकृति के अधीन मनोमय प्राणी नहीं रहना होगा। क्योंकि, पुरुष वा सच्चिदानन्द ही वास्तविक मनुष्य है, व्यक्ति की परमोच्च और समग्र सत्ता है, और अहं तो हमारी सत्ता की एक निम्नतर एवं आंशिक अभिव्यक्तिमात्र है जिसके द्वारा एक विशेष प्रकार का सीमित प्रारम्भिक अनुभव प्राप्त किया जा सकता है और कुछ समय के लिये उस अनुभव का रस भी लिया जाता है। परन्तु निम्नतर सत्ता में इस प्रकार रस लेना ही हमारी सम्पूर्ण शक्यता नहीं है; यह ऐसा एकमात्र या सर्वोपरि अनुभव नहीं है जिसके लिये इस जड़-जगत् में हम मानव-प्राणियों के रूप में जीवन धारण करते हैं।

हमारी यह व्यक्तिगत सत्ता ऐसी सत्ता है जिसके द्वारा स्व-चेतन मन अज्ञान में ग्रस्त हो सकता है, पर साथ ही यह ऐसी सत्ता भी है जिसके द्वारा हम आध्यात्मिक सत्ता में मुक्त हो सकते हैं तथा दिव्य अमरता का उपभोग कर सकते हैं। इस अमरत्व की प्राप्ति अपनी परात्पर या विराट् सत्ता में विद्यमान सनातन पुरुष को नहीं, वरन् व्यक्ति को होती है; व्यक्ति ही आत्मज्ञान की ओर ऊपर उठता है, उसमें ही यह धारित होता है और उसीके द्वारा इसे प्रभावशाली रूप प्रदान किया जाता है। समस्त जीवन, वह आध्यात्मिक हो या मानसिक या भौतिक, आत्मा की अपनी प्रकृति की सम्भावनाओं के साथ एक प्रकार की क्रीड़ा या लीला है; क्योंकि इस लीला के बिना किसी प्रकार की भी आत्माभिव्यक्ति नहीं हो सकती, न कोई आपेक्षिक आत्मानुभव ही प्राप्त हो सकता है। तब, सबको अपने विशालतर आत्मा के रूप में अनुभव कर लेने पर भी और ईश्वर तथा अन्य भूतों के साथ अपनी एकता प्राप्त कर लेने पर भी यह लीला चालू रह सकती है और चालू रहनी ही चाहिये; हां, यदि हम समस्त आत्माभिव्यक्ति का तथा समाधिगत और तन्मयतापूर्ण

आत्मानुभव के सिवा समस्त अनुभव का त्याग करना चाहें तो बात दूसरी है। उस दशा में भी इस समाधि या इस मुक्त लीला का साक्षात्कार व्यक्ति को ही होता है; समाधि का मतलब है इस मनोमय व्यक्ति का एकता के अनन्य अनुभव में मग्न होना, मुक्त लीला का मतलब है एकत्व के मुक्त साक्षात्कार और आनन्द के लिये उसका अपने मन को आध्यात्मिक सत्ता में उठा ले जाना। क्योंकि, दिव्य सत्ता का स्वभाव है सदा ही अपने एकत्व को धारण करना, पर साथ ही अनन्त अनुभवों में, अनेक दृष्टिकोणों से, अनेक स्तरों पर, अपनी सत्ता की अनेक चेतन शक्तियों या उसके स्वरूपों के द्वारा, अपनी सीमित बौद्धिक भाषा में कहें तो, एक ही चिन्मय पुरुष के व्यक्तित्वों के द्वारा भी इसे धारण करना। हममें से प्रत्येक मनुष्य इन व्यक्तित्वों में से एक है। भगवान् से दूर हटकर सीमित अहं या सीमित मन में स्थित होना अपने-आपसे दूर स्थित होना है, अपने सच्चे व्यक्तित्व को प्राप्त न करना है, वास्तविक नहीं, बल्कि दृश्यमान असत्य व्यक्ति बनना है; यह हमारी अज्ञान की शक्ति है। अपनी परमोच्च और समग्र सत्ता को, अपने सच्चे व्यक्तित्व को प्राप्त करने का अर्थ है भागवत सत्ता में उन्नीत हो जाना और अपनी आध्यात्मिक, अनन्त एवं विराट् चेतना को उस चेतना के रूप में जान लेना जिसमें हम अब निवास करते हैं; यह हमारी आत्मज्ञान की शक्ति है।

सनातन अभिव्यक्ति की इन तीनों शक्तियों—ईश्वर, प्रकृति और जीव—के सनातन अद्वैत को और एक-दूसरे के लिये इनकी अन्तरीय आवश्यकता को जानकर हम स्वयं सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तथा जगत् के बाह्य रूपों में से जो रूप हमारी अज्ञानावस्था में हमें चक्कर में डालते हैं उन सबका ज्ञान भी हमें प्राप्त हो जाता है। हमारा आत्मज्ञान इनमें से किसी भी चीज को नष्ट नहीं करता, वह तो केवल हमारे अज्ञान को तथा इसकी उन विशिष्ट अवस्थाओं को नष्ट करता है जिन्होंने हमें बन्धन में डालकर हमारी प्रकृति के अहंमय निर्धारणों का दास बना दिया था। जब हम अपना सच्चा स्वरूप पुनः प्राप्त कर लेते हैं तो अहं हमसे झड़कर अलग हो जाता है; उसका स्थान हमारी परमोच्च और समग्र सत्ता, हमारा सच्चा व्यक्तित्व ले लेता है। इस परमोच्च सत्ता के रूप में यह व्यक्तित्व अपने-आपको सब भूतों के साथ एकाकार करता है और समस्त जगत् तथा प्रकृति को अपनी अनन्त सत्ता के अन्दर देखता है। इसमें हमारा अभिप्राय इतना ही है कि अपने पृथक् अस्तित्व की हमारी भावना, असीम, अविभक्त, अनन्त सत्ता की चेतना में लुप्त हो जाती है जिसमें हम अपने-आपको पूर्ववत् नाम और रूप के साथ तथा अपने वर्तमान जन्म और विकास के विशेष मानसिक एवं भौतिक निर्धारणों के साथ आबद्ध अनुभव नहीं करते और विश्व के किसी भी पदार्थ या किसी भी व्यक्ति से पहले की तरह पृथक् नहीं रहते। इसी अनुभव को प्राचीन मनीषी जन्म का अभाव (अपुनर्भव) अथवा जन्म का मूलोच्छेद या निर्वाण कहते

थे। इस अनुभव के होने पर भी हम अपने व्यक्तिगत जन्म और व्यक्त अस्तित्व के द्वारा जीवन यापन तथा कर्म करना जारी रखते हैं, पर एक भिन्न प्रकार के ज्ञान तथा बिल्कुल और ही तरह के अनुभव के साथ; यह जगत् भी तब बराबर चलता ही रहता है, पर हम इसे अपनी सत्ता के अन्दर देखते हैं, किसी ऐसी वस्तु के रूप में नहीं देखते जो हमारी सत्ता से बाहर एवं हमसे भिन्न हो। अपनी वास्तविक एवं समग्र सत्ता की इस नयी चेतना में स्थायी रूप से निवास कर सकने का अर्थ है मुक्ति प्राप्त कर लेना तथा अमरत्व का उपभोग करना।

यहां यह जटिल विचार सामने आता है कि अमरता मृत्यु के बाद अन्य लोकों में किंवा सत्ता की उच्चतर भूमिकाओं में ही प्राप्त हो सकती है अथवा मोक्ष को मानसिक या शारीरिक जीवन की समस्त सम्भावना का उच्छेद कर डालना चाहिये और व्यक्तिगत सत्ता का सदा के लिये निर्व्यक्तिक अनन्त सत्ता में विलय कर देना चाहिये। इन विचारों के बल का स्रोत यह है कि आध्यात्मिक अनुभव के द्वारा इन्हें एक प्रकार का समर्थन प्राप्त होता है तथा जब अन्तरात्मा मन और जड़ देह के प्रबल बन्धनों को तोड़ती है तो वह इनकी एक प्रकार की आवश्यकता या एक ऊर्ध्वमुख आकर्षण अनुभव करती है। यह अनुभव होता है कि ये बन्धन समस्त पार्थिव जीवन या समस्त मानसिक अस्तित्व के साथ अविच्छेद्य रूप से जुड़े हुए हैं। मृत्यु जड़ जगत् का राजा है, क्योंकि जीवन यहां मृत्यु के अधीन रहकर ही, पुनः-पुनः मरण के द्वारा ही, अस्तित्व रखता प्रतीत होता है; अमरता को यहां कठिनाई से ही अधिगत करना होता है और वह अपने स्वरूप से ही समस्त मृत्यु का और अतएव जड़ जगत् में होनेवाले समस्त जन्म का त्याग प्रतीत होती है। अमरता का क्षेत्र किसी अभौतिक स्तर में, किन्हीं ऊर्ध्व लोकों में होना चाहिये जहां शरीर या तो अस्तित्व ही नहीं रखता या वह भिन्न प्रकार का होता है और आत्मा का एक रूप या फिर एक गौण संयोगमात्र होता है। दूसरी ओर, जो लोग अमरता से भी परे जाना चाहते हैं वे यह अनुभव करते हैं कि सभी स्तर एवं स्वर्गलोक सांत सत्ता की अवस्थाएं हैं और अनन्त आत्मा इन सब चीजों से शून्य है। वे निर्व्यक्तिक और अनन्त सत्ता में लय प्राप्त करने की आवश्यकता से अभिभूत होते हैं और निर्व्यक्तिक सत्ता के आनन्द को आत्मा की अभिव्यक्ति में मिलनेवाले आनन्द के साथ किसी प्रकार समरस करने में असमर्थता के वशीभूत होते हैं। ऐसे दर्शनों का सृजन किया गया है जो निमज्जन और विलय की इस आवश्यकता को बुद्धि के निकट प्रमाणित करते हैं; पर वस्तुतः महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक वस्तु है परात्पर की वह पुकार एवं अन्तरात्मा की मांग, इस प्रसंग में वह एक प्रकार की निर्व्यक्तिक सत्ता या असत्ता में अन्तरात्मा का आनन्द है। क्योंकि, निर्णय करनेवाली वस्तु है,—पुरुष का निर्धारक आनन्द, वह सम्बन्ध जिसे वह अपनी प्रकृति के साथ स्थापित करना चाहता है, वह अनुभव जिसे वह अपने व्यक्तिगत आत्मानुभव के

विकास में अपनी प्रकृति की समस्त विविध सम्भावनाओं के बीच एक विशेष दिशा का अनुसरण करने के परिणामस्वरूप प्राप्त करता है। हमारी बुद्धि के किये हुए सप्रमाण विवेचन तो इस अनुभव का एक विवरणमात्र हैं जो हम तर्कबुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करते हैं; ये ऐसी युक्तियां हैं जिनके द्वारा हम मन की सहायता करते हैं ताकि वह जिस दिशा की ओर आत्मा अग्रसर हो रही है उसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर सके।

हमारी जागतिक सत्ता का कारण अहं नहीं है, जैसा कि हमारा वर्तमान अनुभव हमें मानने के लिये प्रेरित करता है; क्योंकि अहं तो जगज्जीवन की हमारी प्रणाली का एक परिणाम एवं संयोगमात्र है। यह एक सम्बन्ध है जिसे अनेक जीवों का रूप धारण करनेवाले पुरुष ने व्यष्टिभावापन्न मनों और शरीरों के बीच स्थापित किया है, यह आत्म-रक्षण और पारस्परिक वर्जन तथा आक्रमण का सम्बन्ध है जिसका उद्देश्य यह है कि इस जगत् में वस्तुओं की सब प्रकार की पारस्परिक निर्भरता के बीच एक स्वतन्त्र मानसिक और भौतिक अनुभव प्राप्त किया जा सके। परन्तु इन स्तरों पर निरपेक्ष स्वतन्त्रता प्राप्त हो ही नहीं सकती; अतएव, समस्त मानसिक और भौतिक अभिव्यक्ति का परित्याग करनेवाली निर्व्यक्तिक चेतना ही इस अन्य-वर्जक गति का एकमात्र चरम परिणाम हो सकती है; केवल इस तरीके से ही पूर्ण स्वतन्त्र आत्मानुभव प्राप्त किया जा सकता है। तब हमारी आत्मा अपने ही अन्दर निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व रखती प्रतीत होती है; भारतीय शब्द 'स्वाधीन' का जो अर्थ है, अर्थात् केवल अपने ऊपर निर्भर होना, ईश्वर एवं अन्य प्राणियों पर नहीं—इसी अर्थ में वह स्वाधीन होती है। अतएव इस अनुभव में ईश्वर, व्यक्तिगत आत्मा तथा अन्य प्राणी—इन सबको अज्ञानकृत भेद समझते हुए इनसे इंकार किया जाता है, इन्हें त्याग दिया जाता है, यह कार्य अहं ही करता है जो अपनी न्यूनता को स्वीकार करके अपने-आप तथा अपने विरोधी तत्त्व—दोनों का उन्मूलन कर देता है, ताकि स्वतन्त्र आत्मानुभव प्राप्त करने की उसकी अपनी मूल सहजवृत्ति पूरी हो सके; कारण, वह देखता है कि ईश्वर तथा अन्य प्राणियों के साथ सम्बन्धों के द्वारा इसे पूरा करने का उसका प्रयत्न आद्योपांत भ्रम, मिथ्यात्व और निष्फलता के अभिशाप से ग्रस्त रहता है, वह उन्हें स्वीकार करना छोड़ देता है, क्योंकि उन्हें स्वीकार करने से वह उनके अधीन हो जाता है; वह अपने-आपको स्थायी मानना भी छोड़ देता है, क्योंकि अहं की स्थायिता का अर्थ है उन वस्तुओं को अर्थात् विश्व तथा अन्य प्राणियों को स्वीकार करना जिन्हें वह अपने से भिन्न मानकर बहिष्कृत करने का यत्न करता है। बौद्धों के आत्म-निर्वाण का स्वरूप है—उन सब वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार जिन्हें मनोमय पुरुष अनुभव करता है; अद्वैतवादी का अपनी निरपेक्ष सत्ता में आत्म-लय भी ठीक यही लक्ष्य है जिसकी कल्पना एक भिन्न प्रकार से की गयी है; इन दोनों लक्ष्यों के द्वारा आत्मा इस तथ्य को चरम रूप

में प्रस्थापित करती है कि वह प्रकृति से निरपेक्ष एवं ऐकान्तिक रूप में स्वतन्त्र है।

मोक्ष-प्राप्ति के जिस छोटे-से रास्ते को हम प्रकृति से पीछे हटने की क्रिया कहकर वर्णित कर आये हैं उसके द्वारा हमें सर्वप्रथम जो अनुभव प्राप्त होता है वह उपर्युक्त एकपक्षीय प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है। क्योंकि उसका अर्थ है अहं को छिन्न-भिन्न करना और हमारा मन जैसा आज है उसके अभ्यासों का परित्याग करना; कारण, हमारा मन जड़तत्त्व और स्थूल इन्द्रियों के अधीन है और वस्तुओं की कल्पना केवल रूपों, पदार्थों, बाह्य दृग्विषयों के रूप में तथा उन रूपों के साथ जोड़े जानेवाले नामों के रूप में ही करता है। दूसरे प्राणियों के आन्तरिक जीवन को हम प्रत्यक्ष रूप में नहीं जानते; हम अपने जीवन के साथ उसके सादृश्य के द्वारा तथा उनके वचन, कर्म आदि बाह्य चिह्नों पर आधारित अनुमान या परोक्ष ज्ञान के द्वारा ही उसे जानते हैं, उनके वचन, कर्म आदि को हमारे मन हमारी अपनी आन्तरिक सत्ता की स्थितियों के रूप में परिणत करके उनके आन्तरिक जीवन का अनुमान लगा लेते हैं; जब हम अहं और स्थूल मन के घेरे को तोड़कर आत्मा की अनन्तता में प्रविष्ट हो जाते हैं तब भी हम जगत् को तथा अन्य प्राणियों को उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में देखने का अभ्यास मन ने हमारे अन्दर डाल रखा है, अर्थात् हम उन्हें नाम-रूपात्मक ही देखते हैं; हां, हमें आत्मा की प्रत्यक्ष और उच्चतर वास्तविकता का जो नया अनुभव प्राप्त होता है उसमें वे, मन के निकट उनकी जो प्रत्यक्ष बाह्य वास्तविकता एवं अप्रत्यक्ष आन्तरिक वास्तविकता थी उसे खो देते हैं। अब हमें जिस अधिक वास्तविक सद्वस्तु का अनुभव होता है, वे उसके सर्वथा विपरीत प्रतीत होते हैं; हमारा मन शान्त और उदासीन हो जाने के कारण उन मध्यवर्ती स्तरों को जानने और उनका साक्षात्कार करने का अब और यत्न नहीं करता जो हमारी तरह उनमें भी विद्यमान हैं और जिनके ज्ञान का प्रयोजन आध्यात्मिक सत्ता और बाह्य जगत्प्रपञ्च के बीच की खाई को पाटना है। हम तो तब शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता की आनन्दमय अनन्त निर्व्यक्तिकता से तृप्त होते हैं; तब से हमें और किसी भी चीज की किंवा किसी भी व्यक्ति की परवा नहीं रहती। स्थूल इन्द्रियां हमें जो कुछ दिखाती हैं और मन उन इन्द्रियानुभवों के बारे में जो कुछ जानता एवं सोचता है और जिसमें वह इतने अपूर्ण तथा क्षणिक रूप में आनन्द लेता है, वह सब अब हमें अवास्तविक तथा निरर्थक प्रतीत होता है; सत्ता के मध्यवर्ती सत्यों पर हमारा अधिकार नहीं होता और न हम उनपर अधिकार पाने की कुछ परवा ही करते हैं। इन मध्यवर्ती सत्यों की भूमिकाओं के द्वारा ही एकमेव इन वस्तुओं का उपभोग करते हैं और ये उनके लिये उनके अस्तित्व और आनन्द का एक विशेष मूल्य धारण करती हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि वह मूल्य ही विश्व-सत्ता को उनके लिये सुन्दर और व्यक्त करने योग्य वस्तु बना देता है। ईश्वर को जगत् में जो आनन्द प्राप्त होता है उसमें हम तब और भाग नहीं ले सकते;

बल्कि हमें तो ऐसा प्रतीत होता है मानों सनातन प्रभु ने अपनी सत्ता के विशुद्ध स्वरूप में जड़तत्त्व की स्थूल प्रकृति को स्थान देकर अपने-आपको अवनत कर दिया हो या फिर निरर्थक नामों और अवास्तविक रूपों की कल्पना करके अपनी सत्ता के सत्य को मिथ्या रूप दे दिया हो। अथवा यदि हम उस आनन्द को अनुभव करते भी हैं तो एक ऐसी सुदूरस्थ अनासक्ति के साथ अनुभव करते हैं जो हमें घनिष्ठ प्राप्ति की किसी भी भावना के साथ इसमें भाग लेने से रोकती है, या फिर हम यदि इस विराट् आनन्द को अनुभव करते भी हैं तो इसके साथ ही एक तन्मयतापूर्ण और ऐकान्तिक आत्मानुभव के उत्कृष्टतर आनन्द के प्रति आकर्षण भी हमारे अन्दर बना रहता है। वह उत्कृष्टतर आनन्द स्थूल प्राण और शरीर के टिके रहने पर इन निम्नतर भूमिकाओं में हम जितने समय रहने के लिये बाध्य हैं उससे अधिक हमें इनमें रहने ही नहीं देता।

परन्तु अपने योगाभ्यास में जब हम आगे बढ़ते हैं तब, अथवा आत्म-साक्षात्कार के बाद हमारा आत्मा जब मुक्त भाव से पुनः जगत् की ओर मुड़ता है और हमारा अन्तःस्थ पुरुष अपनी प्रकृति को मुक्त रूप से पुनः अपने अधिकार में कर लेता है तब उसके परिणामस्वरूप, यदि हम दूसरों के शरीरों और उनकी बाह्य अभिव्यक्ति को ही नहीं जान जाते, बल्कि उनकी आन्तरिक सत्ता, उनके मनों और उनकी आत्माओं को तथा उनके अन्दर की उस वस्तु को भी घनिष्ठ रूप से जान जाते हैं जिससे उनके अपने स्थूल मन अभिज्ञ नहीं हैं, तो हम उनके अन्दर स्थित वास्तविक 'सत्' का भी साक्षात्कार कर लेते हैं और उन्हें हम कोरे नाम और रूप नहीं, बल्कि अपने ही परम आत्मा की अंशभूत आत्माएं अनुभव करते हैं। वे हमारे लिये सनातन के वास्तविक रूप बन जाते हैं। हमारे मन तब क्षुद्र निरर्थकता की भ्रान्ति या मिथ्यात्व की माया के अधीन नहीं रहते। निःसंदेह हमारे लिये जड़प्राकृतिक जीवन का पुराना ग्रस्तकारी मूल्य नहीं रहता, पर यह उस महत्तर मूल्य को प्राप्त कर लेता है जो दिव्य पुरुष के निकट इसका है; अब इसे हमारी अभिव्यक्ति की एकमात्र अवस्था नहीं समझा जाता, बल्कि मन और आत्मारूपी उच्चतर तत्त्वों की अपेक्षा गौण महत्त्व रखनेवाली वस्तु के रूप में ही देखा जाता है; महत्त्व में इस प्रकार की गौणता आने से इसका मूल्य घटने के बजाय बढ़ता ही है। हम देखते हैं कि हमारा भौतिक अस्तित्व, जीवन और स्वभाव पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की केवल एक अन्यतम अवस्था को द्योतित करते हैं और इनका सच्चा उद्देश्य एवं महत्त्व तभी आंका जा सकता है जब इन्हें अपने-आपमें एक स्वतंत्र वस्तु के रूप में नहीं, बल्कि उन उच्चतर भूमिकाओं पर आश्रित वस्तुओं के रूप में देखा जाय जो इन्हें धारण करती हैं; उन उच्चतर भूमिकाओं के साथ अपने सम्बन्धों के द्वारा ही ये अपना अर्थ प्राप्त करते हैं और अतएव, उनके साथ सचेतन एकत्व के द्वारा ही ये अपनी समस्त यथार्थ प्रवृत्तियों और लक्ष्यों को पूर्ण कर सकते हैं। तब मुक्त

आत्मज्ञान की प्राप्ति से जीवन हमारे लिये सार्थक हो जाता है और पहले की तरह निरर्थक नहीं रहता।

यह विशालतर समग्र ज्ञान एवं स्वातंत्र्य अन्त में हमारी सत्ता को मुक्त और चरितार्थ कर देता है। जब हम इसे प्राप्त करते हैं, तो हम जान जाते हैं कि क्यों हमारी सत्ता ईश्वर, हमारी आत्मा और जगत्—इन तीन तत्त्वों के बीच गति करती है; इन्हें या इनमें से किन्हीं को हम अब पूर्ववत् एक-दूसरे के विरुद्ध, असंगत एवं विसंवादी नहीं अनुभव करते; दूसरी ओर, हम इन्हें अपने अज्ञान की ऐसी अवस्थाएं भी नहीं समझते जो सबकी सब अन्त में शुद्ध निर्व्यक्तिक एकता में लय को प्राप्त हो जाती हैं। बल्कि अपनी आत्मचरितार्थता की अवस्थाओं के रूप में हम इनकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। इन अवस्थाओं का मूल्य मुक्ति के बाद भी सुरक्षित रहता है, वरंच तब ही इन्हें अपना वास्तविक मूल्य प्राप्त होता है। तब हमें अपनी सत्ता पहले की तरह उन दूसरी सत्ताओं से पृथक् नहीं अनुभव होती जिनके साथ हमारे सम्बन्धों के द्वारा हमारा जगद्विषयक अनुभव गठित होता है। इस नयी चेतना में वे सब हमारे अन्दर निहित होती हैं और हम उनमें। वे और हम आगे को एक-दूसरी का बहिष्कार करनेवाली ऐसी अनेकानेक अहमात्मक सत्ताओं के रूप में अस्तित्व नहीं रखते जिनमें से प्रत्येक अपनी निजी स्वतन्त्र चरितार्थता या आत्म-अतिक्रमण की कामना करती है और उसका अन्तिम लक्ष्य इसके सिवा और कुछ भी नहीं होता; वे सभी 'सनातन सत्ता' ही होती हैं और उनमें से प्रत्येक में रहनेवाली आत्मा सबको गुप्त रूप में अपने अन्दर समाविष्ट रखती है और अपनी एकता के इस उच्चतर सत्य को अपने पार्थिव अस्तित्व में प्रत्यक्ष तथा प्रभावशाली बनाने के लिये नाना प्रकार से यत्न करती है। एक-दूसरे को बहिष्कृत करना नहीं, बल्कि अपने अन्दर समाविष्ट करना ही हमारी व्यक्तिगत सत्ता का दिव्य सत्य है, अपनी स्वतन्त्र चरितार्थता नहीं, बल्कि प्रेम ही उच्चतर नियम है।

पुरुष जो हमारी वास्तविक सत्ता है सदा ही प्रकृति से स्वतन्त्र और उसका स्वामी है और इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये हम जो यत्न कर रहे हैं वह समुचित ही है; अहं-प्रधान क्रिया-प्रवृत्ति और इसके स्व-अतिक्रमण का प्रयोजन भी यही है, परन्तु इसकी यथार्थ परिपूर्णता स्वतन्त्र अस्तित्व के अहंमय सिद्धान्त को चरम एवं निरपेक्ष रूप देने में नहीं है, बल्कि पुरुष और प्रकृति के परस्पर-सम्बन्ध की इस अन्य उच्चतम भूमिका को प्राप्त करने में है। वहां प्रकृति का अतिक्रमण हो जाता है, पर उसके ऊपर प्रभुत्व भी प्राप्त हो जाता है, हमारी व्यक्तिगत सत्ता पूर्ण रूप से सार्थक हो जाती है, पर साथ ही जगत् के तथा दूसरों के साथ हमारे सम्बन्ध भी पूर्ण सार्थकता प्राप्त कर लेते हैं। अतएव, भूलोक की कुछ भी परवा न करते हुए परे अवस्थित स्वर्गलोकों में व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना हमारा सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है; दूसरों का मोक्ष तथा उनकी परिपूर्णता साधित करना भी उतना ही हमारा निज

कार्य है,—हम प्रायः यहांतक कह सकते हैं कि हमारा दिव्य आत्महित है,—जितना कि हमारा अपना मोक्ष। अन्यथा दूसरों के साथ हमारी एकता का कोई वास्तविक अर्थ नहीं होगा। इस जगत् में अहं-भावमय सत्ता के प्रलोभनों को जीतना अपने ऊपर हमारी पहली विजय है; संसार से परे के स्वर्गलोकों में मिलनेवाले व्यक्तिगत सुख के प्रलोभन को जीतना हमारी दूसरी विजय है; जीवन का त्याग करके निर्व्यक्तिक अनन्त सत्ता में आत्मलीनता का आनन्द प्राप्त करने के सबसे महान् प्रलोभन को जीतना अन्तिम और सबसे बड़ी विजय है। इस अन्तिम विजय के बाद ही हम अपनी व्यक्तिगत सत्ता की समस्त एकदेशीयता से मुक्त होते हैं और पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त करते हैं।

मोक्ष-प्राप्त आत्मा की स्थिति नित्यमुक्त पुरुष की स्थिति होती है। उसकी चेतना परात्परता और सर्वग्राही एकत्व की चेतना होती है। उसका आत्मज्ञान ज्ञान के समस्त रूपों का बहिष्कार नहीं करता, बल्कि सब वस्तुओं को परमेश्वर और उसकी दिव्य प्रकृति में एकीभूत तथा सुसंगत कर देता है। भगवन्मिलन का तीव्र धार्मिक हर्षोन्माद, जो केवल भगवान् और हमारी आत्मा को ही अनुभव करता है तथा और सब चीजों को बहिष्कृत कर देता है, मुक्त आत्मा के लिये एक ऐसा घनिष्ठ अनुभवमात्र है जो सब प्राणियों को चारों ओर से अपने भुजपाश में कसे हुए दिव्य प्रेम और आनन्द के आलिंगन में भाग लेने के लिये इसे तैयार करता है। सिद्ध आत्मा उस स्वर्गिक आनन्द में निवास नहीं कर सकती जो भगवान् को और हमें तथा भाग्यशाली भक्तों को आनन्द में एकीभूत कर देता है, पर जिसे प्राप्त करके हम दीन-दुःखियों तथा उनके दुःखों को केवल उदासीनता के भाव में देखते रह सकते हैं। क्योंकि ये दीन-दुःखी भी उसकी अपनी आत्माएं हैं; व्यक्तिगत रूप में दुःख और अज्ञान से मुक्त होकर वह स्वभावतः ही उन्हें भी अपनी मुक्त अवस्था की ओर आकृष्ट करने में प्रवृत्त होती है। दूसरी ओर, भगवान् और परात्पर को त्याग करके अपने-आप दूसरे लोगों तथा जगत् के बीच के सम्बन्धों में किसी प्रकार से डूबे रहना तो उसके लिये और भी अधिक असम्भव है, और अतएव वह भूलोक से या मनुष्य-मनुष्य के ऊंचे-से-ऊंचे एवं अत्यन्त परार्थपूर्ण सम्बन्धों से भी बंधी नहीं रह सकती। उसकी क्रियाप्रवृत्ति या चरम सिद्धि दूसरों के लिये अपने-आपको मिटा देने एवं पूर्णतया उत्सर्ग कर देने में नहीं है, बल्कि ईश्वर-प्राप्ति, मुक्ति और दिव्य आनन्द के द्वारा अपने-आपको कृतार्थ करने में है जिससे कि उसकी कृतार्थता में तथा इसके द्वारा दूसरे लोग भी कृतार्थ हो जायें। कारण, भगवान् में ही, भगवत्प्राप्ति के द्वारा ही जीवन के सब विरोध-वैषम्य दूर हो सकते हैं, और अतएव मनुष्यों को भगवान् की ओर उठा ले जाना ही, अन्त में, मनुष्यजाति की सहायता करने का एकमात्र अमोघ उपाय है। हमारे आत्मानुभव की अन्य सब क्रियाओं एवं उपलब्धियों का भी अपना उपयोग एवं बल है, पर अन्त में इन

अनेकानेक पगडंडियों या इन एकाकी मार्गों को चक्कर काटकर उस सर्वांगीण पथ की विशालता में मिल जाना होगा जिसके द्वारा मुक्त आत्मा सबको अतिक्रम कर जाती है तथा उन्हें अपने अन्दर समाविष्ट भी कर लेती है और भगवान् की व्यक्त सत्ता के रूप में उन सबको पूर्णतया कृतार्थ करने के लिये उनका आशा-केन्द्र एवं शक्तिशाली सहायक भी बन जाती है।

अध्याय १९

हमारी सत्ता के स्तर

यदि हमारे अन्तरस्थ पुरुष को इस प्रकार अपने सर्वोच्च आत्मा, भागवत पुरुष, के साथ एकत्व के द्वारा अपनी प्रकृति का ज्ञाता, ईश और स्वतन्त्र भोक्ता बनना हो, तो स्पष्ट ही, हमारी सत्ता के वर्तमान स्तर पर निवास करके वह ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि, यह स्तर भौतिक है जिसमें पूर्ण रूप से प्रकृति का ही शासन है। यहां दिव्य 'पुरुष' प्रकृति की क्रियाओं की विमूढ़ बनानेवाली तरंग में, उसके कार्य-कलाप के स्थूल आडम्बर में पूर्ण रूप से छिपा हुआ है, और उसने जड़तत्त्व में आत्मा का जो आवेष्टन कर रखा है उसमें से प्रकट होती हुई व्यक्तिगत अन्तरात्मा अपनी सब क्रियाओं में शरीर और प्राणरूपी यन्त्रों के अन्दर फंसे रहने एवं इनके अधीन रहने के कारण दिव्य स्वातंत्र्य का अनुभव करने में असमर्थ है। जिसे यह अपना स्वातंत्र्य एवं स्वामित्व कहती है वह प्रकृति के प्रति मन की सूक्ष्म दासतामात्र है; निश्चय ही वह पशु, वनस्पति और धातु जैसी प्राणिक और भौतिक वस्तुओं की स्थूल दासता की अपेक्षा कम बोझिल है तथा उससे मुक्त होकर प्रभुत्व प्राप्त करना अधिक शक्य है, किन्तु फिर भी वह वास्तविक स्वातंत्र्य और स्वामित्व नहीं है। अतएव, हमें चेतना के विभिन्न स्तरों तथा मनोमय सत्ता के आध्यात्मिक स्तरों का उल्लेख करना पड़ा है; क्योंकि यदि इनका अस्तित्व न होता तो देहधारी जीव के लिये यहां इस भूतल पर मुक्ति लाभ करना सम्भव न होता। उसे अन्य लोकों में तथा एक भिन्न प्रकार की भौतिक या आध्यात्मिक देह में, जो स्थूल पार्थिव अनुभव के अपने कठोर आवरण में कम आग्रह के साथ आवेष्टित हो, मुक्ति प्राप्त करने के लिये प्रतीक्षा करनी होती तथा, अधिक-से-अधिक, इसके लिये अपने को तैयार करना पड़ता।

सामान्य प्रचलित ज्ञानयोग में हमारी चेतना के दो स्तरों को, आध्यात्मिक और जड़भावापन्न मानसिक स्तरों को, स्वीकार करना ही आवश्यक माना जाता है। इन दो के बीच में स्थित है शुद्ध तर्कबुद्धि। वह इन दोनों का अवलोकन करती है, दृश्य जगत् के भ्रमों को भेदकर जड़तापन्न मानसिक स्तर के परे चली जाती है और आध्यात्मिक स्तर की वास्तविकता अनुभव करती है और तब व्यक्ति में रहनेवाले 'पुरुष' का संकल्प ज्ञान की इस भूमिका के साथ अपनेको एक करके निम्न स्तर को त्याग देता है तथा पीछे हटकर उच्च स्तर में प्रवेश करता है, वहां निवास करता है, मन और शरीर का लय कर देता है, प्राण को भी अपनेसे दूर त्याग देता है और अपने-आपको परम पुरुष में निमज्जित करके व्यक्तिगत सत्ता से मुक्त हो जाता है। वह जानता है कि यह हमारी सत्ता का सम्पूर्ण सत्य नहीं है, सम्पूर्ण सत्य तो

इससे कहीं अधिक जटिल वस्तु है; वह जानता है कि स्तर बहुत-से हैं, पर वह उनकी उपेक्षा करता है या उनकी ओर ध्यान नहीं देता; क्योंकि वे इस मोक्ष के लिये अनिवार्य नहीं हैं। बल्कि सच पूछो तो वे इसमें बाधा ही डालते हैं, क्योंकि उनमें निवास करने से नये आकर्षक चैत्य अनुभव, चैत्य उपभोग, चैत्य शक्तियां प्राप्त होती हैं तथा नामरूपात्मक ज्ञान का एक नया ही जगत् दिखायी देता है जिन सबका अनुसरण उसके अनन्य लक्ष्य, अर्थात् ब्रह्म में लय के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न करता है, और भगवान् की ओर ले जानेवाले राजपथ के दोनों ओर एक के बाद एक असंख्य जाल बिछा देता है। परन्तु, क्योंकि हम जगत्-सत्ता को स्वीकार करते हैं और क्योंकि हमारे लिये समस्त जगत्-सत्ता ब्रह्म ही है तथा ईश्वर की उपस्थिति से परिपूर्ण है, ये चीजें हमें भयभीत नहीं कर सकतीं; पथ-भ्रष्ट करनेवाले कोई भी संकट क्यों न आयें, हमें उनका सामना करके उनपर विजय पानी होगी। यदि जगत् और हमारा अपना जीवन इतने जटिल हैं तो हमें उनकी जटिलताओं को जानना तथा अंगीकार करना होगा जिससे हमारा आत्मज्ञान एवं पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों का ज्ञान पूर्ण हो सके। यदि अनेक स्तरों का अस्तित्व है तो हमें उन सबको उसी प्रकार भगवान् के लिये अधिकृत करना होगा, जिस प्रकार हम अपनी मन, प्राण और शरीररूपी साधारण भूमिका को आध्यात्मिक रूप से अधिकृत तथा रूपान्तरित करने का यत्न करते हैं।

सभी देशों में प्राचीन ज्ञान हमारी सत्ता के गुप्त सत्यों की खोज से भरा हुआ था और इसने साधना और जिज्ञासा के उस विशाल क्षेत्र का निर्माण किया जिसे यूरोप में गुह्यविद्या के नाम से पुकारा जाता है,—पूर्व में हम इसके लिये इस प्रकार का कोई शब्द प्रयुक्त नहीं करते, क्योंकि ये चीजें हमें उतनी दूर, रहस्यमय एवं असामान्य नहीं प्रतीत होतीं जितनी कि पश्चिमी मन को; हमारे लिये ये अपेक्षाकृत निकट हैं और हमारे साधारण भौतिक जीवन तथा इस विशालतर जीवन के बीच का पर्दा कहीं अधिक पतला है। भारत,[1] मिश्र, काल्डिया, चीन, यूनान तथा कैल्टिक देशों में ये चीजें उन विविध यौगिक प्रणालियों और साधनाओं के अंग रही हैं जिनका कभी सर्वत्र अत्यधिक बोलबाला था, परन्तु आधुनिक मन को ये चीजें कोरा अन्धविश्वास एवं रहस्यवाद प्रतीत हुई हैं, यद्यपि जिन तथ्यों और अनुभवों पर ये आधारित हैं वे अपने क्षेत्र में जड़ जगत् के तथ्यों और अनुभवों के बिल्कुल समान ही वास्तविक हैं और उनके समान ही अपने बुद्धिगम्य नियमों के द्वारा नियन्त्रित हैं। यहां चैत्य ज्ञान के इस विशाल और दुर्गम क्षेत्र का अवगाहन करने का हमारा विचार नहीं है।[2] परन्तु इसकी रूपरेखा का निर्माण करनेवाले कुछ-

[1] उदाहरणार्थ, भारत में तांत्रिक प्रणाली।

[2] आशा है कि इस विषय पर हम आगे चलकर विचार करेंगे; परन्तु 'आर्य' में हमारा पहला उद्देश्य आध्यात्मिक और दार्शनिक सत्यों का निरूपण ही होना चाहिये : जब ये सत्य हृदयंगम हो जायें तभी चैत्य सत्यों में सुरक्षित और स्पष्ट रूप से प्रवेश किया जा सकता है।

एक मोटे तथ्यों और सिद्धान्तों का वर्णन करना अब आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उनके बिना हमारा ज्ञानयोग पूर्ण नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि विविध प्रणालियों में वर्णित तथ्य सदा एक ही होते हैं, किन्तु उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अवस्था में बहुत-से भेद पाये जाते हैं, जैसा कि ऐसे विशाल और गहन विषय के विवेचन में स्वाभाविक और अनिवार्य ही है। एक प्रणाली में कुछ चीजों को छोड़ दिया जाता है तो दूसरी में उन्हें सबसे प्रधान स्थान दे दिया जाता है, एक में उन पर जरूरत से कम बल दिया जाता है तो दूसरी में अत्यधिक बल दे दिया जाता है; अनुभव के कुछ क्षेत्रों को एक प्रणाली में तो केवल गौण प्रदेश माना जाता है, पर दूसरी प्रणालियों में उन्हें पृथक् राज्यों के रूप में वर्णित किया जाता है। परन्तु मैं यहां वैदिक और वैदान्तिक व्यवस्था का, जिसकी महान् पद्धतियों को हम उपनिषदों में पाते हैं, संगत रूप में अनुसरण करूंगा। ऐसा करने का प्रथम कारण तो यह है कि वह मुझे सरल-से-सरल और साथ ही सर्वाधिक दार्शनिक प्रतीत होती है और इससे भी बढ़कर, विशेष रूप में इसका कारण यह है कि उसकी कल्पना आरम्भ से ही हमारे मोक्षरूपी परम लक्ष्य के लिये इन विविध स्तरों की उपयोगिता के दृष्टिकोण से की गयी थी। वह हमारी साधारण सत्ता के तीन तत्त्वों, मन, प्राण और जड़ देह को, सच्चिदानन्द के त्रयात्मक आध्यात्मिक तत्त्व को तथा इन्हें जोड़नेवाले विज्ञान-तत्त्व, अतिमानस, अर्थात् मुक्त या आध्यात्मिक प्रज्ञा को अपना आधार बनाती है, और इस प्रकार हमारी सत्ता की सभी विस्तृत सम्भव भूमिकाओं को सात स्तरों की परम्परा में व्यवस्थित कर देती है,—इन्हें कभी-कभी केवल पांच ही माना जाता है, क्योंकि, केवल निचले पांच ही हमारे लिये पूर्ण रूप से प्राप्य हैं। विकसित होता हुआ व्यक्ति इन स्तरों के द्वारा ही अपनी पूर्णता की ओर आरोहण कर सकता है।

परन्तु सबसे पहले हमें यह समझना होगा कि चेतना के स्तरों एवं सत्ता के स्तरों से हमारा क्या अभिप्राय है। हमारा अभिप्राय है पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों की एक सामान्य सुस्थिर भूमिका या उनके सम्बन्धों का एक ऐसा ही लोक। क्योंकि, जिस भी वस्तु को हम लोक कह सकते हैं वह एक ऐसे व्यापक सम्बन्ध की चरितार्थता से भिन्न कुछ नहीं होती तथा नहीं हो सकती जिसे विराट् सत् ने अपनी सत्ता, अथवा यूं कहें कि अपने सनातन तथ्य या सम्भाव्य शक्ति, और अपनी सम्भूति की शक्तियों के बीच उत्पन्न या स्थापित किया है। अपनी सम्भूति के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध रखने तथा उसका अनुभव करनेवाली इस सत्ता को ही हम आत्मा या पुरुष कहते हैं, व्यक्ति में हम इसे व्यक्तिगत आत्मा तथा विश्व में

नोट—ज्ञानयोग की यह लेखमाला सर्वप्रथम श्रीअरविन्द की दार्शनिक पत्रिका 'Arya' में प्रकाशित हुई थी। इस टिप्पणी में उसी पत्रिका की ओर निर्देश किया गया है।

—अनुवादक

विराट् पुरुष कहते हैं; सम्भूति के मूलतत्त्व तथा उसकी शक्तियों को हम प्रकृति कहते हैं। परन्तु, सत्ता, चिच्छक्ति और आनन्द सदा ही सत् के तीन उपादानभूत तत्त्व होते हैं, अतएव, इन तीन मूलतत्त्वों के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध रखने के लिये प्रकृति को प्रेरित किया जाता है तथा इन्हें जो रूप प्रदान करने के लिये उसे अनुमति दी जाती है उनके द्वारा ही वस्तुतः किसी लोक का स्वरूप निर्धारित होता है। क्योंकि, सत् स्वयं ही अपनी सम्भूति का उपादान होता है और सदा ही होगा; इसे उस पदार्थ के रूप में ढालना ही होगा जिसके साथ शक्ति का वास्ता पड़ता है। और फिर, निश्चय ही, शक्ति का मतलब है वह बल जो पदार्थ का निर्माण करता है और उसे लेकर चाहे किन्हीं भी लक्ष्यों के लिये कार्य करता है; शक्ति वह वस्तु है जिसे हम साधारणतया प्रकृति कहते हैं। अपिच, जिस लक्ष्य एवं उद्देश्य से लोकों की रचना की गयी है वह समस्त सत्ता तथा समस्त शक्ति और उनके समस्त कार्य-व्यापार में अन्तर्निहित चेतना के ही द्वारा साधित होना चाहिये, और वह लक्ष्य होना चाहिये अपने-आपको तथा जगत् में अपने अस्तित्व के आनन्द को प्राप्त करना। किसी भी जगत्-सत्ता के सभी संयोगों और लक्ष्यों को इसी उद्देश्य के रूप में अपने-आपको परिणत करना होगा; जगत्-सत्ता एक ऐसी सत्ता है जो अपने अस्तित्व की अवस्थाओं को, उसकी शक्ति तथा उसके सचेतन आनन्द को विकसित कर रही है; यदि ये चीजें यहां निवर्तित अवस्था में हैं तो इनका विकास करना होगा; यदि ये आवृत हैं तो इन्हें प्रकट करना होगा।

यहां हमारी आत्मा जड़ जगत् में निवास करती है; इसीको वह प्रत्यक्ष रूप में जानती है; इसमें अपनी शक्यताओं को उपलब्ध करना ही वह समस्या है जिससे उसे मतलब है। परन्तु जड़तत्त्व का अभिप्राय है आत्मविस्मृतिपूर्ण शक्ति में और उपादान-तत्त्व के स्व-विभाजक, सूक्ष्मातिसूक्ष्मतया विघटित रूप में सत्ता के सचेतन आनन्द का निवर्तन। अतएव, जड़ जगत् का सम्पूर्ण सिद्धान्त एवं प्रयत्न निर्वर्तित वस्तु का विवर्तन तथा अविकसित वस्तु का विकास ही होना चाहिये। यहां प्रत्येक वस्तु आरम्भ से ही जड़-शक्ति की प्रचण्ड रूप से कार्य करनेवाली निश्चेतन निद्रा में आच्छादित है; अतएव, किसी भी जड़प्राकृतिक अभिव्यक्ति का संपूर्ण लक्ष्य निश्चेतन में से चेतना का जागरण ही होना चाहिये; उस अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण चरम परिणति यह होनी चाहिये कि जड़ प्रकृति का पर्दा दूर हो जाय तथा पूर्णतः आत्म-सचेतन पुरुष अभिव्यक्ति में अपनी ही बन्दीकृत आत्मा के प्रति ज्योतिर्मय रूप में प्रकट हो उठे। क्योंकि, 'मानव' एक ऐसी बन्दीकृत आत्मा है, इसलिये यह ज्योतिर्मय मुक्ति एवं आत्मज्ञान की प्राप्ति उसका उच्चतम लक्ष्य तथा उसकी पूर्णता की शर्त होनी चाहिये।

परन्तु जड़ जगत् के बन्धन इस लक्ष्य की यथोचित पूर्ति के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं; फिर भी यह लक्ष्य, अत्यन्त अनिवार्य रूप से, भौतिक शरीर में उत्पन्न मनोमय

प्राणी का उच्चतम लक्ष्य है। पहली बात तो यह है कि सत्ता ने यहां अपने-आपको, मूलतः जड़तत्त्व के रूप में निर्मित किया है; वह एक बाह्य विषय बन गयी है, अपने-आपको अनुभव करनेवाली अपनी चिच्छक्ति के लिये स्व-विभाजक जड़ पदार्थ के रूप में इन्द्रियगोचर एवं मूर्त बन गयी है, और इस जड़तत्त्व के संघात से मनुष्य के लिये स्थूल शरीर बनाया गया है जो दूसरे शरीरों से पृथक् एवं विभक्त है और एक प्रक्रिया के स्थिर अभ्यासों के या, जैसा कि हम इन्हें कहते हैं, निश्चेतन जड़ प्रकृति के नियमों के अधीन है। मनुष्य की सत्ता की शक्ति भी जड़तत्त्व में कार्य करती हुई प्रकृति या शक्ति ही है जो निश्चेतना में से क्रमशः जागरित होकर प्राण के रूप में प्रकट हो गयी है और सदा ही रूप के द्वारा सीमित तथा शरीर के अधीन होती है, शरीर के कारण सदा ही शेष सारी प्राणशक्ति से तथा अन्य प्राणधारी जीवों से पृथक् रहती है; निश्चेतना के नियमों तथा शारीरिक जीवन की सीमाओं के द्वारा सदा ही उसके विकास और स्थायित्व में तथा उसकी पूर्णता के सम्पादन में बाधा डाली जाती है। इसी प्रकार, उसकी चेतना एक मनःशक्ति है जो शरीर में तथा तीव्र रूप से व्यक्तिभावापन्न प्राण में प्रकट हो रही है; अतएव, यह अपनी क्रियाओं और सामर्थ्यों में सीमित है तथा कोई विशेष क्षमता न रखनेवाले शारीरिक अंगों एवं अत्यन्त सीमाबद्ध प्राणिक शक्ति पर निर्भर करती है; यह शेष सारी विराट् मनःशक्ति से पृथक् है तथा अन्य मनोमय प्राणियों के विचारों में भी इसे प्रवेश प्राप्त नहीं है, क्योंकि उनकी आन्तरिक क्रियाएं मनुष्य के स्थूल मन के लिये एक बन्द पुस्तक के समान हैं; हां, यह बात अलग है कि अपने मन के साथ सादृश्य के द्वारा तथा उनके अपर्याप्त शारीरिक संकेतों एवं भावाभिव्यक्तियों के द्वारा वह इन क्रियाओं को कुछ हदतक पढ़ अवश्य सकता है। उसकी चेतना सदा ही फिर से निश्चेतना में निमज्जित हो रही है जिसमें इसका एक बहुत बड़ा भाग सदैव निवर्तित रहता है; इसी प्रकार उसका जीवन सदा मृत्यु की ओर तथा उसका स्थूल अस्तित्व सदा विघटन की ओर फिर-फिर ढुलक रहा है। उसका अपनी सत्ता का आनन्द चारों ओर के पदार्थों के साथ इस अपूर्ण चेतना के उन सम्बन्धों पर निर्भर करता है जो स्थूल सम्वेदनों तथा ऐन्द्रिय मन पर आधारित हैं; दूसरे शब्दों में, उसका आनन्द एक सीमित मन पर निर्भर करता है जो सीमित शरीर, सीमित प्राण-शक्ति और सीमित करणों के द्वारा अपने से बाहर के एवं विजातीय जगत् पर अधिकार स्थापित करने का यत्न कर रहा है। इसलिये इसकी प्रभुत्व प्राप्त करने की शक्ति एवं आनन्द-प्राप्ति की सामर्थ्य परिमित है, और जगत् का जो भी सम्पर्क इसकी शक्ति को अतिक्रम कर जाता है, अर्थात् जिसे इसकी शक्ति सहन नहीं कर सकती, ग्रहण, आत्मसात् और अधिकृत नहीं कर सकती वह निश्चय ही आनन्द से भिन्न किसी और वस्तु, दुःख-कष्ट या शोक में बदल जायगा। या फिर उसे इसकी शक्ति ग्रहण नहीं कर सकेगी, उसका सम्वेदन ही नहीं कर सकेगी, या, यदि उसे

ग्रहण कर सकी तो, उदासीन भाव से त्याग देगी। इसके अतिरिक्त, अस्तित्व का जिस प्रकार का आनन्द यह प्राप्त करती है वह इसे सच्चिदानन्द के आत्मानन्द की भांति स्वाभाविक और सनातन रूप में प्राप्त नहीं है, बल्कि काल के प्रवाह में अनुभव और उपार्जन के द्वारा प्राप्त होता है, और इसलिये उसे, अनुभव को पुनः-पुनः प्राप्त करके ही, स्थिर और सतत रूप में बनाये रखा जा सकता है तथा उसका स्वरूप अनिश्चित एवं क्षणिक होता है।

इस सबका अर्थ यह हुआ कि इस जड़ जगत् में पुरुष और प्रकृति के स्वाभाविक सम्बन्ध इस बात के सूचक हैं कि चेतन सत्ता अपनी क्रियाओं की शक्ति में पूर्ण रूप से डूबी हुई है और अतएव पुरुष अपने-आपको पूर्ण रूप से भूल चुका है तथा अपने स्वरूप को बिलकुल नहीं जानता, प्रकृति का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया है और हमारी आत्मा प्रकृति-शक्ति के अधीन हो गयी है। आत्मा अपने-आपको नहीं जानती, यह यदि किसी चीज को जानती है तो केवल प्रकृति की क्रियाओं को ही। 'मानव' में व्यक्तिगत स्व-सचेतन आत्मा के प्रादुर्भावमात्र से अज्ञान और दासता के ये प्राथमिक सम्बन्ध मिट नहीं जाते क्योंकि, यह आत्मा सत्ता के एक ऐसे स्थूल भौतिक स्तर पर प्रकृति की एक ऐसी भूमिका में निवास कर रही है जिसमें जड़तत्त्व अभी भी प्रकृति के साथ इसके सम्बन्धों का मुख्य निर्धारक है और इसकी चेतना जड़तत्त्व के द्वारा ही सीमित होने के कारण पूर्णतः स्वराट् चेतना नहीं हो सकती। विराट् आत्मा भी यदि जड़ प्रकृति के नियमसूत्र के द्वारा सीमित हो जाय तो वह भी पूर्णरूपेण आत्म-प्रभुत्व से सम्पन्न नहीं हो सकता; फिर व्यक्तिगत आत्मा तो आत्मप्रभुत्व से और भी कम सम्पन्न हो सकती है, क्योंकि उसके लिये शेष सत्ता शारीरिक, प्राणिक और मानसिक बन्धन एवं पृथक्त्व के कारण उससे बाहरी वस्तु बन जाती है जिस पर वह फिर भी अपने जीवन, आनन्द और ज्ञान के लिये निर्भर करती है। अपने बल, ज्ञान, जीवन और अस्तित्वसम्बन्धी आनन्द की ये सीमाएं ही मनुष्य के अपने-आपसे तथा जगत् से असन्तुष्ट होने का सारा कारण हैं। और, यदि जड़ जगत् ही सब कुछ होता और जड़-प्राकृतिक स्तर ही मनुष्य की सत्ता का एकमात्र स्तर होता तो वह व्यष्टिभूत 'पुरुष', पूर्णता और आत्मचरितार्थता को या, निःसन्देह, पशुओं के जीवन से भिन्न किसी अन्य प्रकार के जीवन को कभी न प्राप्त कर सकता। अवश्य ही या तो ऐसे लोक होने चाहियें जिनमें वह पुरुष और प्रकृति के इन अपूर्ण एवं असन्तोषजनक सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है या फिर उसकी अपनी सत्ता के ऐसे स्तर होने चाहियें जिनकी ओर आरोहण करके वह इनके परे जा सकता है, अथवा कम-से-कम ऐसे स्तर, लोक एवं उच्चतर जीव होने चाहियें जिनसे वह ज्ञान, नानाविध शक्तियां और आनन्द, तथा अपनी सत्ता का विकास प्राप्त कर सकता है या इन चीजोंको प्राप्त करने में सहायता लाभ कर सकता है जो अन्यथा उसे प्राप्त हो ही न सकतीं।

प्राचीन शास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है कि ये सब चीजें अस्तित्व रखती हैं,—अन्य लोक, उच्चतर स्तर, उनके साथ आदान-प्रदान करना तथा उनमें आरोहण करना भी सम्भव है, उसकी उपलब्ध सत्ता की वर्तमान क्रमशृंखला में जो स्तर उसके ऊपर है उसके साथ सम्बन्ध तथा उसके प्रभाव के द्वारा विकास साधित किया जा सकता है।

जैसे पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों की एक ऐसी भूमिका है जिसमें जड़तत्त्व प्रधान निर्धारक है, अर्थात् जैसे स्थूलभौतिक सत्ता का एक लोक है, वैसे ही उसके ठीक ऊपर एक और लोक है जिसमें जड़तत्त्व सर्वोपरि नहीं है, वरञ्च प्राणशक्ति प्रधान निर्धारिका के रूप में उसका स्थान ले लेती है। इस लोक में पदार्थों के रूप जीवन की अवस्थाओं का निर्धारण नहीं करते, बल्कि जीवन ही उनके रूप का निर्धारण करता है, और अतएव यहां रूप जड़-जगत् के रूपों की अपेक्षा अत्यधिक स्वतंत्र और तरल हैं, व्यापक रूप में और, हमारी धारणाओं की दृष्टि से, अद्‌भुत रूप में परिवर्तनशील हैं। यह प्राणशक्ति निश्चेतन जड़-शक्ति नहीं है, अपनी निम्नतम क्रियाओं को छोड़कर अन्य क्रियाओं में यह मूल पदार्थगत अवचेतन शक्ति भी नहीं है, बल्कि यह सत्ता की एक सचेतन शक्ति है जो रूप-निर्माण में सहायक होती है, पर इससे कहीं अधिक मूल रूप में, उपभोग, प्रभुत्व की प्राप्ति और अपने क्रियाशील आवेग की पूर्ति के लिये ही सहायता प्रदान करती है। अतएव, कामना और आवेग की तुष्टि ही निरी प्राणिक सत्ता के इस लोक का, आत्मा और उसकी प्रकृति के सम्बन्धों की इस भूमिका का प्रथम नियम हैं; इस लोक में, प्राणशक्ति हमारे स्थूल जीवन की अपेक्षा कितनी ही अधिक स्वतंत्रता और क्षमता के साथ अपनी क्रीड़ा करती है। इसे कामना का लोक कहा जा सकता है, क्योंकि कामना ही इसका प्रधान लक्षण है। अपिच, यह एक ही अपरिवर्तनीय-से नियम में बंधा हुआ नहीं है जैसा कि स्थूल जीवन बंधा हुआ दिखायी देता है, बल्कि यह अपनी स्थिति में अनेक प्रकार के परिवर्तन ला सकता है, अनेक उपस्तरों को स्थान देता है; वे स्तर एक ओर तो उन स्तरों से आरम्भ होते हैं जो जड़ सत्ता को स्पर्श करते हैं और मानों उसमें घुल-मिल जाते हैं और दूसरी ओर वे उन स्तरों तक पहुंचते हैं जो प्राणशक्ति के शिखर पर शुद्ध मानसिक और चैत्य सत्ता के स्तरों को जा छूते हैं तथा उनमें घुल-मिल जाते हैं। क्योंकि, प्रकृति में सत्ता की अनन्त क्रमशृंखला के अन्दर बीच-बीच में कोई चौड़ी खाइयां या ऊबड़-खाबड़ अन्तराल नहीं हैं जिन्हें कूदकर पार करना पड़े, बल्कि एक भूमिका दूसरी में घुल-मिल जाती है, सारी शृंखला में एक सूक्ष्म सातत्य है; प्रकृति की विभिन्न अनुभव प्राप्त करने की शक्ति इस सातत्य में से क्रमों, निश्चित भूमिकाओं एवं सुस्पष्ट स्तरों की रचना करती है जिनके द्वारा आत्मा जगज्जीवनसम्बन्धी अपनी शक्यताओं को नाना रूप से जानती तथा प्राप्त करती है। और, क्योंकि किसी-न-किसी प्रकार का

उपभोग ही कामना का संपूर्ण लक्ष्य होता है, कामनामय लोक की भी ऐसी ही प्रवृत्ति होनी चाहिये; परन्तु जहां कहीं आत्मा स्वतंत्र नहीं होती,—और कामना के वश में होने पर यह स्वतंत्र हो ही नहीं सकती,—वहां इसके समस्त अनुभव के अभावात्मक तथा भावात्मक रूप होने चाहियें, इसी कारण यह जगत् सीमित स्थूल मन को अचिन्त्य से लगनेवाले विशाल या तीव्र या सतत उपभोगों की सम्भावना को ही अपने अन्दर धारण नहीं करता है, बल्कि उतने ही बड़े कष्टों की सम्भावना को भी अपने अन्दर धारण किये हुए है। इसलिये निम्नतम स्वर्ग तथा सब-के-सब नरक इस प्राणलोक में ही स्थित हैं। इन स्वर्गों और नरकों की दन्तकथा और कल्पना के द्वारा मानव-मन ने प्राचीनतम युगों से अपने-आपको प्रलोभित और संत्रस्त कर रखा है। निःसन्देह, समस्त मानवीय कल्पनाएं किसी सत्य वस्तु या वास्तविक सम्भावना से सम्बन्ध रखती हैं, भले वे अपने-आपमें एक सर्वथा अशुद्ध निरूपण ही हों अथवा अतीव भौतिक रूपकों में प्रकट की गयी हों और अतएव अतिभौतिक सद्वस्तुओं के सत्य को व्यक्त करने के लिये अनुपयुक्त हों।

प्रकृति कोई असंबद्ध दृग्विषयों का समूह नहीं है, बल्कि एक जटिल ढंग की एकता से युक्त है। अतएव स्थूल भौतिक जगत् तथा इस प्राणिक या कामनामय जगत् के बीच कोई ऐसी खाई नहीं हो सकती जिसे पाटा न जा सकता हो। इसके विपरीत, यह कहा जा सकता है कि एक अर्थ में ये दोनों एक-दूसरे में विद्यमान हैं और कम-से-कम, कुछ हद तक एक-दूसरे पर आश्रित हैं। सच पूछो तो जड़ जगत् वस्तुतः प्राणलोक का एक प्रकार का प्रक्षेप है, यह एक ऐसी वस्तु है जिसे उसने अपनी अवस्थाओं से भिन्न अवस्थाओं में अपनी कुछ-एक कामनाओं को मूर्त रूप देने तथा पूरा करने के लिये बाहर की ओर प्रक्षिप्त किया है तथा अपने-आपसे पृथक् किया है; वे अवस्थाएं भिन्न होती हुई भी उसकी अपनी ही अत्यन्त स्थूल लालसाओं का युक्तिसंगत परिणाम हैं। हम कह सकते हैं कि इस भूतल पर का जीवन स्थूल विश्व की जड़, निश्चेतन सत्ता पर इस प्राणलोक के दबाव का ही परिणाम है। हमारी अपनी व्यक्त प्राणिक सत्ता भी एक विशालतर और गभीरतर प्राणिक सत्ता का उपरितलीय परिणाममात्र है; इस विशालतर प्राणिक सत्ता का अपना विशेष स्थान प्राणिक स्तर में है और इसीके द्वारा प्राणलोक के साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। अपिच, प्राण-लोक हमपर निरन्तर क्रिया कर रहा है और जड़-जगत् की प्रत्येक वस्तु के पीछे प्राणलोक की विशिष्ट शक्तियां स्थित हैं; यहांतक कि अत्यन्त स्थूल और मूलपदार्थरूप वस्तुओं के पीछे भी मूलपदार्थगत प्राणशक्तियां एवं उन्हें धारण करनेवाले प्राथमिक जीव हैं जिन शक्तियों या जीवों के द्वारा वे धारण की जाती हैं। प्राणलोक के प्रभाव जड़ जगत् पर सदा ही पड़ रहे हैं और यहां अपनी शक्तियां तथा अपने परिणाम उत्पन्न कर रहे हैं जो फिर प्राणलोक में लौटकर उसमें परिवर्तन लाते हैं। हमारा प्राण-भाग, कामनामय भाग,

सदा ही इस प्राणलोक के सम्पर्क में आ रहा तथा इससे प्रभावित हो रहा है; इसमें भी शुभ इच्छा और अशुभ इच्छा की कल्याणकारी और अकल्याणकारी शक्तियां हैं; जब हमें इनका ज्ञान नहीं होता, न इनसे कुछ मतलब ही होता है तब भी ये हमपर अपना कार्य करती हैं; ये शक्तियां केवल प्रवृत्तियां या निश्चेतन शक्तियां नहीं हैं। जड़तत्त्व की सीमाओं को छोड़कर अन्यत्र ये अवचेतन भी नहीं हैं, बल्कि चेतन शक्तियां एवं सत्ताएं हैं, सजीव प्रभाव हैं। जैसे ही हम अपनी सत्ता के उच्चतर स्तरों के प्रति जागरित होते हैं, हम जान जाते हैं कि ये या तो मित्र हैं या शत्रु, या तो ऐसी शक्तियां हैं जो हमपर अधिकार करना चाहती हैं या फिर ऐसी जिन्हें हम अपने अधिकार में ला सकते हैं, जीत सकते हैं, पार करके पीछे छोड़ जा सकते हैं। यूरोपीय गुह्यविद्या, विशेषकर मध्य युगों में, एक बड़ी हदतक प्राणलोक की शक्तियों के साथ मनुष्य के इस सम्भावित सम्बन्ध की खोज में ही ग्रस्त थी; पूर्वीय जादू और अध्यात्मविद्या के कुछ रूप भी बहुत बड़े अंश में इसीमें व्यस्त थे। भूतकाल में अन्धविश्वास बहुत अधिक था, अर्थात् अज्ञानपूर्ण तथा विकृत मान्यताएं बहुत अधिक फैली हुई थीं, उनकी मिथ्या व्याख्याएं तथा परे स्थित लोक के नियमों की अस्पष्ट और भद्दी विवेचनाएं प्रचलित थीं। तथापि भूतकाल के इन "अन्धविश्वासों" के पीछे कुछ सत्य विद्यमान थे। भावी विज्ञान, एकमात्र जड़-जगत् में व्यस्त रहने की अपनी प्रवृत्ति से मुक्त होकर, इन सत्यों को फिर से खोज सकता है। क्योंकि, अतिभौतिक लोक भी उतना ही वास्तविक है जितना कि स्थूलभौतिक जगत् में मनोमय प्राणियों का अस्तित्व।

तो फिर, हमारे पीछे जो इतना कुछ विद्यमान है और हमपर सदा दबाव डाल रहा है उससे हम साधारणतया सचेतन क्यों नहीं हैं? उसी कारण से जिस कारण कि हम अपने पड़ोसी के अन्तर्जीवन के प्रति सचेतन नहीं हैं, यद्यपि वह हमारे अन्तर्जीवन के समान ही अस्तित्व रखता है और हमपर निरन्तर एक गुह्य प्रभाव डाल रहा है,—क्योंकि हमारे विचार और भाव, अधिकांश में, हमारे अन्दर बाहर से ही आते हैं, अर्थात् वे हमारे मनुष्य-भाइयों से, व्यक्तियों तथा मानवजाति के सामूहिक मन—दोनों से आते हैं; और फिर, अपने पीछे अवस्थित प्राणलोक को हम उसी कारण से नहीं जानते जिस कारण कि हम अपनी सत्ता के उस महत्तर भाग को नहीं जानते जो हमारे जाग्रत् मन के लिये अवचेतन या प्रच्छन्न है और हमारी तलीय सत्ता पर सदैव प्रभाव डाल रहा है तथा गुह्य ढंग से उसका निर्धारण भी कर रहा है। प्राणलोक को न जानने का कारण यह है कि साधारणतः हम अपनी भौतिक इन्द्रियों का ही प्रयोग करते हैं और प्रायः पूर्ण रूप से शरीर, स्थूल प्राण और स्थूल मन में निवास करते हैं, पर प्राणलोक सीधे इन करणों के द्वारा ही हमारे सम्पर्क में नहीं आता। यह सम्पर्क वा सम्बन्ध हमारी सत्ता के अन्य कोषों के द्वारा स्थापित होता है,—उपनिषदों में इन्हें कोष ही कहा गया है,—बाद की

परिभाषावलि में इन्हें जो नाम दिया गया है उसके अनुसार कहें तो यह अन्य शरीरों के द्वारा स्थापित होता है। वे कोष या शरीर हैं—मनोमय कोष या सूक्ष्म शरीर जिसमें हमारा सच्चा मनोमय पुरुष वास करता है और प्राणमय कोष या प्राणिक शरीर जो स्थूल या अन्नमय कोष के साथ अधिक निकट रूप में सम्बद्ध है और इसके साथ मिलकर हमारी जटिल सत्ता के स्थूल शरीर का निर्माण करता है। इन कोषों में ऐसी शक्तियां, इन्द्रियां और क्षमताएं हैं जो गुप्त रूप से हममें सदा ही कार्य कर रही हैं और हमारे स्थूल करणों के साथ तथा स्थूल प्राण और मन के चक्रों के साथ सम्बद्ध हैं और इनपर आघात करती हैं। आत्म-विकास के द्वारा हम इन्हें जान सकते हैं, इनके अन्दर अपना जीवन धारण कर सकते हैं, इनके द्वारा प्राणलोक तथा अन्य लोकों के साथ सचेतन सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और स्वयं जड़-जगत् के भी सत्यों, तथ्यों तथा घटनाओं का अधिक सूक्ष्म अनुभव एवं अधिक अन्तरंग ज्ञान प्राप्त करने के लिये इनका प्रयोग भी कर सकते हैं। अपनी सत्ता का स्थूल भौतिक स्तर ही आज हमारे लिये सर्वेसर्वा है, किन्तु उक्त आत्मविकास के द्वारा हम इससे भिन्न अन्य स्तरों पर भी कम या अधिक पूर्ण रूप से निवास कर सकते हैं।

प्राणलोक के विषय में जो कुछ कहा गया है वह, आवश्यक फेरफार के साथ, विश्व-सत्ता के और अधिक ऊंचे स्तरों पर भी लागू होता है। क्योंकि, इसके परे मनोमय भूमिका है, मानसिक सत्ता का लोक है जिसमें प्राण और जड़तत्त्व नहीं, बल्कि मन ही प्रधान निर्धारक है। मन वहां स्थूल भौतिक अवस्थाओं या प्राणशक्ति के द्वारा निर्धारित नहीं होता, बल्कि वह स्वयं ही अपनी संतुष्टि के लिये उनका निर्धारण और प्रयोग करता है। वहां मन अर्थात् मानसिक एवं बौद्धिक सत्ता एक अर्थ में स्वतंत्र है, और नहीं तो वह अपने-आपको एक ऐसे ढंग से सन्तुष्ट और चरितार्थ करने के लिये स्वतंत्र अवश्य है जिसे हमारा देहबद्ध और प्राणबद्ध मन कदाचित् कल्पना में भी नहीं ला सकता; क्योंकि वहां पुरुष शुद्ध मनोमय सत्ता है और यह शुद्धतर मानसिक सत्ता ही प्रकृति के साथ उसके सम्बन्धों का निर्माण करती है, प्रकृति वहां वस्तुतः प्राणिक और भौतिक न होकर मानसिक है। प्राणलोक और परोक्ष रूप से अन्नमय लोक—दोनों ही मनोमय लोक का प्रक्षेप हैं, मनोमय पुरुष की कुछ विशेष प्रवृत्तियों ने जो अपने लिये उपयुक्त क्षेत्र, अवस्थाएं तथा सामंजस्यों की एक व्यवस्था प्राप्त करने का यत्न किया है उसके परिणाम के रूप में ये दोनों लोक प्रकट हुए हैं; और यह कहा जा सकता है कि इस जगत् में मन के जो व्यापार दिखायी देते हैं वे इस मनोमय स्तर का पहले तो प्राणलोक पर और फिर स्थूल जगत् के जीवन पर दबाव पड़ने के परिणामस्वरूप प्रकट हुए हैं। प्राणलोक में इसके अन्दर जो परिवर्तन होता है उसके द्वारा यह हमारे अन्दर कामनामय मन की सृष्टि करता है; अपने स्वभावगत अधिकार के बल पर यह

हमारे अन्दर हमारे चैत्य-मानसिक और बौद्धिक जीवन की शुद्धतर शक्तियों को जागृत करता है । परन्तु हमारा स्थूल मन एक विशालतर प्रच्छन्न मन का, जिसका अपना विशिष्ट स्थान मनोमय स्तर है, एक गौण परिणाममात्र है। मनोमय सत्ता का यह लोक भी हमपर तथा हमारे जगत् पर अनवरत क्रिया कर रहा है, इसकी भी अपनी शक्तियां तथा अपने जीव हैं, यह भी हमारे मनोमय शरीर (कोष) के द्वारा हमारे साथ सम्बद्ध है। हम देखते हैं कि वहां चैत्य और मानसिक स्वर्ग हैं जिनकी ओर 'पुरुष' इस स्थूल शरीर का त्याग करने पर आरोहण कर सकता है और जबतक पार्थिव जीवन यापन करने का आवेग उसे फिर से नीचे की ओर नहीं खींचता तबतक वह वहां निवास कर सकता है। इस लोक में भी अनेक स्तर हैं, उनमें से सबसे निचला स्तर नीचे के लोकों से एक ही केन्द्र पर आ मिलता है तथा उनके साथ घुल-मिलकर एक हो जाता है। उनमें से सबसे ऊंचा स्तर मनः-शक्ति के शिखरों पर अधिक आध्यात्मिक सत्ता के लोकों के साथ घुल-मिलकर एक हो जाता है।

अतएव, ये उच्चतम लोक अतिमानसिक हैं; ये अतिमानस अर्थात् मुक्त, आध्यात्मिक या दिव्य बुद्धि (intelligence)[1] या विज्ञान के तत्त्व से तथा सच्चिदानन्द के त्रिविध आध्यात्मिक तत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं। जब 'पुरुष' प्रकृति के साथ आत्मा की क्रीड़ा की कुछ विशिष्ट या संकीर्ण अवस्थाओं को प्राप्त कर एक प्रकार का पतन अनुभव करता है तो उस प्रकार के पतन के कारण इन उच्चतम लोकों से निम्न लोक उत्पन्न होते हैं। परन्तु ये उच्च लोक भी किसी अलंघ्य खाई के द्वारा हमसे पृथक् नहीं हैं; ये 'आनन्दमय' और 'विज्ञानमय' नामक कोषों के द्वारा, कारण शरीर या आध्यात्मिक शरीर के द्वारा तथा, कम प्रत्यक्ष रूप में, मनोमय शरीर (कोष) के द्वारा हमपर प्रभाव डालते हैं, यह बात भी नहीं है कि उनकी गुप्त शक्तियां हमारी प्राणिक और भौतिक सत्ता के व्यापारों में कार्य न कर रही हों। प्राण और शरीर में विद्यमान मनोमय सत्ता पर इन उच्चतम लोकों का दबाव पड़ने के परिणामस्वरूप ही हमारे अन्दर हमारी सचेतन आध्यात्मिक सत्ता और हमारा अन्तर्ज्ञानात्मक मन जागरित होते हैं। परन्तु जैसा कि हम कहते हैं, यह कारण शरीर (या आध्यात्मिक शरीर) मानवजाति के अधिक बड़े भाग में नहीं के बराबर विकसित है और इस कारण शरीर में निवास करना अथवा, मनोमय सत्ता के विज्ञान-भूमिका-सम्बद्ध उपस्तरों से भिन्न, अतिमानसिक स्तरों की ओर आरोहण करना, या इससे भी बढ़कर इनमें सचेतन रूप से स्थित रहना मनुष्य के लिये सबसे अधिक कठिन कार्य है। यह समाधि की लयावस्था में ही साधित किया जा

[1] इन्टेलिजेन्स (intelligence) को विज्ञान या बुद्धि कहते हैं; बुद्धि एक ऐसा शब्द है जो कुछ भ्रान्ति पैदा कर सकता है क्योंकि यह उस मानसिक बुद्धि के लिये भी प्रयुक्त होता है जो दिव्य विज्ञान से निकली हुई एक निम्नतर शक्ति मात्र है।

सकता है, पर किसी अन्य प्रकार से तो यह व्यष्टिभूत 'पुरुष' की सामर्थ्यों में एक नये विकास के द्वारा ही साधित हो सकता है जिसकी कल्पना करने के लिये भी बहुत ही कम लोग तैयार हैं। तथापि यही उस पूर्ण आत्म-चेतना की शर्त है जिसके द्वारा ही पुरुष प्रकृति के ऊपर पूर्ण सचेतन नियंत्रण प्राप्त कर सकता है; क्योंकि उस चेतना में हमारी प्रकृति के निम्नतर प्रभेदकारी करणों का नियमन मन भी नहीं करता, बल्कि परम आत्मा ही अपनी सत्ता की गौण भूमिकाओं के रूप में स्वतंत्रतापूर्वक उनका प्रयोग करता है। ये गौण भूमिकाएं उच्चतर भूमिकाओं के द्वारा शासित होती हैं तथा उन्हींकी सहायता से अपनी पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करती हैं। यही (परम आत्मा के द्वारा निम्नतर भूमिकाओं का प्रयोग एवं उनपर शासन ही) निवर्तित वस्तुओं के पूर्ण विवर्तन तथा अविकसित वस्तुओं के विकास की अवस्था होगी। इस विवर्तन एवं विकास के लिये ही 'पुरुष' ने, मानों अपने ही साथ बाजी लगाकर, जड़-जगत् में बड़ी-से-बड़ी कठिनाई की अवस्थाओं को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया है।

अध्याय २०

निम्न त्रिविध पुरुष

विराट् सत्ता के विविध लोकों तथा हमारी सत्ता के विविध स्तरों की रचना का मूलतत्त्व ऐसा ही है; मानों वे एक सीढ़ी की न्याईं हैं जिसका सबसे निचला सोपान जड़तत्त्व के भीतर तथा शायद इससे भी नीचे गया हुआ है और, शायद उस बिन्दुतक ऊपर उठा हुआ है जिसपर सत्ता विराट् सत् को पारकर विश्वातीत निरपेक्ष सत्ता के क्षेत्र में जा पहुंचती है,—कम-से-कम बौद्धों की लोक-शृंखला में इसीको सत्य के रूप में घोषित किया जाता है। परन्तु हमारी साधारण जड़तापन्न चेतना के लिये इस सबका अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि यह हमसे छुपा हुआ है और इसके छुपे होने का कारण यह है कि हम इस स्थूल विश्व के एक छोटे-से कोने में अपनी ही सत्ता में व्यस्त हैं और इस भूतल पर एक ही शरीर में कुछ थोड़े-से काल के लिये जो हमारा जीवन चलता है उस अल्प-जीवनकाल के क्षुद्र अनुभवों में ही ग्रस्त हैं। हमारी इस चेतना के लिये यह जगत् कुछ ऐसी जड़ वस्तुओं और शक्तियों का समूहमात्र है जिन्हें कई एक स्थिर स्वयंस्थित नियमों के द्वारा एक प्रकार का आकार देकर नियमित क्रियाओं की एक प्रणाली के रूप में परस्पर सुसंगत कर दिया गया है। इन नियमों का हमें पालन करना होता है, क्योंकि ये हमपर शासन करते हैं तथा हमें चारों ओर से घेरे हुए हैं, साथ ही हमें इनका यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा ज्ञान भी प्राप्त करना होता है ताकि हम इस एकमात्र लघु जीवन का, जो जन्म से आरंम्भ होता है, मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है तथा दुबारा प्राप्त नहीं होता, अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकें। हमारी अपनी सत्ता जड़प्रकृति के विराट् जीवन में या जड़शक्ति की क्रियाओं के अविच्छिन्न सनातन प्रवाह में एक प्रकार की आकस्मिक घटना है या कम-से-कम एक बहुत छोटा या गौण संयोग है। किसी-न-किसी प्रकार एक आत्मा या मन शरीर में प्रकट हो गया है और यह वस्तुओं तथा शक्तियों के बीच इधर-उधर ठोकरें खाता रहता है क्योंकि यह उन्हें पूरी तरह से समझता नहीं, पहले तो यह एक संकटमय और अधिकतर विरोधी जगत् में जीने का ढंग निकालने की कठिनाई में ग्रस्त रहता है और फिर इसके नियमों को समझने तथा उनका प्रयोग करने के प्रयत्न में संलग्न रहता है ताकि जीवन जबतक कायम रहे तबतक के लिये उसे यथासम्भव अधिक-से-अधिक सह्य या सुखी बनाया जा सके। यदि हम वस्तुतः जड़तत्त्व में विद्यमान व्यक्तित्वप्राप्त मन की एक ऐसी गौण क्रिया से अधिक कुछ न हों, तो हमें देने के लिये जीवन के पास और कुछ भी नहीं होगा; तब तो अधिक-से-अधिक, सनातन जड़प्रकृति के साथ तथा 'जीवन' की कठिनाइयों के साथ क्षणिक बुद्धि और संकल्प का यह

संघर्ष ही जीवन का अच्छे-से-अच्छा भाग होगा। कल्पना की क्रीड़ा, धर्म और कला के द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत किये गये सांत्वनाप्रद मनोराज्य, तथा मनुष्य के विचारमग्न मन और उसकी चंचल कल्पना के द्वारा देखे गये समस्त आश्चर्यमय स्वप्न इस संघर्ष में योग देकर इसे हल्का अवश्य कर सकते हैं।

परन्तु, क्योंकि मनुष्य केवल एक प्राणयुक्त शरीर नहीं बल्कि एक आत्मा है, वह इस बात से कभी देरतक संतुष्ट नहीं रह सकता कि उसकी सत्ता के विषय में यह प्रथम दृष्टिकोण,—जीवन के बाह्य और वस्तुनिष्ठ तथ्यों के द्वारा समर्थित यह एकमात्र दृष्टिकोण—कोई वास्तविक सत्य या सम्पूर्ण ज्ञान है : उसकी आभ्यन्तरिक सत्ता परे की सद्वस्तुओं के संकेतों तथा इंगितों से परिपूर्ण है, यह अनन्तता और अमरता की अनुभूति की ओर खुली हुई है, अन्य लोकों, सत्ता की उच्चतर सम्भावनाओं, तथा आत्मा के लिये अनुभव के विस्तृत क्षेत्रों के विषय में इसे सहज ही विश्वास हो जाता है। विज्ञान हमें सत्ता का बाह्य सत्य एवं हमारी भौतिक और प्राणिक सत्ता का स्थूल ज्ञान प्रदान करता है; परन्तु हम अनुभव करते हैं कि इससे परे भी कुछ सत्य विद्यमान हैं जो सम्भवतः हमारी आन्तरिक सत्ता के विकास तथा उसकी शक्तियों के विस्तार के द्वारा हमारे प्रति अधिकाधिक खुल सकते हैं। जब इस लोक का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तो इससे परे स्थित सत्ता की अन्य भूमिकाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारे अन्दर अदम्य प्रेरणा उत्पन्न होती है, और यही कारण है कि प्रबल जड़वाद तथा सन्देहवाद के युग के बाद सदा ही गुह्य विद्या का, रहस्यवादी सम्प्रदायों एवं नये धर्मों का तथा अनन्त और भगवान् की अधिक गहरी खोजों का युग आता है। हमारे स्थूल मन का तथा हमारे शारीरिक जीवन के नियमों का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है; सदा ही यह हमें नीचे और पीछे अवस्थित आन्तरिक सत्ता की समस्त रहस्यमय एवं गुप्त गहराईतक ले आता है। हमारी स्थूल चेतना तो उस गहराई का एक किनारा या बाह्य प्रांगणमात्र है। उस गहराई का पता लगने पर हम देखने लगते हैं कि जो कुछ हमारी स्थूल इन्द्रियों के लिये गोचर है वह विराट् सत्ता का स्थूल भौतिक आवरणमात्र है और जो कुछ हमें अपने स्थूल मन में प्रत्यक्ष अनुभूत होता है वह पीछे की ओर स्थित, न खोजे गये अनन्त प्रदेशों का केवल एक प्रान्तभाग ही है। उनकी खोज करना भौतिक विज्ञान या स्थूल मानसशास्त्र के ज्ञान से भिन्न किसी अन्य ज्ञान का ही कार्य होना चाहिये।

अपने-आपसे तथा अपनी सत्ता के प्रत्यक्ष और स्थूल तथ्यों से परे जाने के लिये मनुष्य के प्रथम प्रयत्न को हम 'धर्म' कहते हैं। भगवान् पर मनुष्य की भौतिक और मानसिक सत्ता निर्भर करती है। उनके विषय में उसकी आन्तरिक भावना को और उनका साक्षात् करने एवं उनके सम्पर्क में रहने की उसकी आत्मा की अभीप्सा को पुष्ट करना तथा जीवन्त बनाना—यह धर्म का पहला मुख्य कार्य

है। इसका एक कार्य यह भी है कि यह उसे उस सम्भावना के विषय में विश्वास दिलाये जिसका स्वप्न वह सदा से देखता आया है, पर जिसके विषय में उसका साधारण जीवन उसे कोई आश्वासन नहीं देता। वह सम्भावना यह है कि वह अपने-आपको अतिक्रम कर सकता है तथा शारीरिक जीवन और मरणशीलता में से अमर जीवन और आध्यात्मिक अस्तित्व के आनन्द में विकसित हो सकता है। यह उसमें इस भावना को भी दृढ़ करता है कि सत्ता का जो लोक या भूमिका आज उसके भाग्य में बदी है उससे भिन्न अन्य लोक या भूमिकाएं भी हैं, ऐसे लोक हैं जिनमें यह मरणशीलता और बुराई तथा दुःख के प्रति यह अधीनता स्वाभाविक अवस्था नहीं हैं, बल्कि अमरता का आनन्द ही शाश्वत स्थिति है। आनुषंगिक रूप में, यह उसे मर्त्य जीवन का एक ऐसा नियम भी प्रदान करता है जिसके द्वारा वह अपने-आपको अमरता के लिये तैयार कर सके। वह एक आत्मा है, शरीर नहीं, और उसका पार्थिव जीवन एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक अस्तित्व की भावी अवस्थाओं का निर्धारण करता है। ये सब विचार सभी धर्मों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं; इसके आगे हमें उनसे कुछ भी निश्चित आश्वासन नहीं मिलता। बल्कि उनकी आवाजें अलग-अलग हो जाती हैं; उनमें से कुछ तो हमें बताते हैं कि इस भूतल पर बस हमें एक ही जीवन मिलता है जिसमें हम अपने भावी अस्तित्व का निर्धारण कर सकते हैं, आत्मा की अतीत काल की अमरता से इन्कार करते हैं और इसकी केवल भावी अमरता का ही दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करते हैं, इसे इस अविश्वसनीय सिद्धान्त का भय तक दिखाते हैं कि जो लोग सही रास्ते से चूक जाते हैं उन्हें भविष्य में चिरन्तन दुःख ही प्राप्त होता है। उधर, कुछ अन्य धर्म जो अधिक व्यापक तथा तर्कसंगत हैं, दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि आत्मा अनेक क्रमिक जन्मों को धारण करती है जिनके द्वारा वह अनन्त के ज्ञान में विकसित होती है। वे इस बात का पूर्ण आश्वासन देते हैं कि अन्त में सभी इस ज्ञान और पूर्णता को प्राप्त करेंगे। कुछ धर्म अनन्त भगवान् को हमसे भिन्न एक ऐसे 'पुरुष' के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं जिनके साथ हम व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, कुछ दूसरे धर्म उन्हें एक निर्व्यक्तिक सत्ता के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसमें हमारी पृथक् सत्ता को निमज्जित हो जाना होगा; अतएव कुछ धर्म तो उन परे के लोकों को हमारा गन्तव्य धर्म बताते हैं जिनमें हम भगवान् के सान्निध्य में निवास करते हैं, जब कि अन्य धर्म अनन्त में लय के द्वारा विश्वसत्ता के त्याग को हमारा लक्ष्य बताते हैं। बहुत-से धर्म हमसे अनुरोध करते हैं कि पार्थिव जीवन को एक कसौटी या अल्पकालीन यंत्रणा या फिर एक निःसार वस्तु मानते हुए हमें इसे सहन करना या त्याग देना चाहिये और परे के लोकों पर ही अपनी आशाभरी दृष्टि गड़ानी चाहिये; कुछ धर्मों में हम आत्मा की, इस भूतल पर देह में मूर्तिमन्त भगवान् की, मानव के सामूहिक जीवन में होनेवाली भावी विजय

का अस्पष्ट संकेत पाते हैं और अतएव व्यक्ति की पृथक् आशा और अभीप्सा का ही नहीं बल्कि जाति की संयुक्त एवं समवेदनापूर्ण आशा और अभीप्सा का भी समर्थन करते हैं। धर्म वास्तव में कोई ज्ञान नहीं बल्कि एक श्रद्धा एवं अभीप्सा है; निःसंदेह, यह विशाल आध्यात्मिक सत्यों के अनिश्चित सहजज्ञान के द्वारा तथा साधारण जीवन से ऊपर उठी आत्माओं के आन्तरिक अनुभवों के द्वारा सत्य प्रमाणित होता है, पर अपने-आपमें यह हमें केवल एक ऐसी आशा एवं श्रद्धा ही प्रदान करता है जिसके द्वारा हम आत्मा के गुप्त प्रदेशों तथा विशालतर सत्यों की गहरी प्राप्ति के लिये अभीप्सा करने को प्रेरित हो सकें। पर किसी धर्म के कुछ-एक विशिष्ट सत्यों को, उसके प्रतीकों या उसकी किसी विशेष साधना को हम सदा ही कट्टर सिद्धान्तों का रूप दे देते हैं। यह इस बात का चिह्न है कि आध्यात्मिक ज्ञान में हम अभीतक बच्चे ही हैं और अनन्त के विज्ञान से अभी कोसों दूर हैं।

तथापि प्रत्येक महान् धर्म के पीछे, अर्थात् उसके श्रद्धा, आशा, प्रतीकों, विकीर्ण सत्यों तथा संकीर्णता-जनक सिद्धान्तोंवाले बाह्य पहलू के पीछे, अन्तरीय आध्यात्मिक साधनाभ्यास तथा ज्ञानलोक का आभ्यन्तरिक पक्ष भी होता है जिसके द्वारा गुप्त सत्य जाने जा सकते हैं, चरितार्थ तथा प्राप्त किये जा सकते हैं। प्रत्येक बाह्य धर्म के पीछे एक आन्तरिक योग एवं अन्तर्ज्ञान होता है जिसके लिये उसकी श्रद्धा पहली सीढ़ी होती है, उसके पीछे ऐसी अवर्णनीय सद्वस्तुएं होती हैं जिन्हें उसके प्रतीक मूर्तिमन्त रूप में प्रकट करते हैं, उसके पीछे उसके विकीर्ण सत्यों के लिये एक गभीरतर अनुभूति होती है, उसके पीछे सत्ता के उच्चतर स्तरों के रहस्य होते हैं। उसके मन्तव्य और अन्धविश्वास भी उन रहस्यों के असंस्कृत संकेत एवं निर्देश होते हैं। पदार्थों के प्रथम दृश्य रूपों तथा उपयोगों के स्थान पर स्थूल जगत् की महान् प्राकृतिक शक्तियों के गुप्त सत्यों एवं अद्यावधि गुह्य बलों का आविष्कार करके और हमारे मनों में मान्यताओं तथा धारणाओं के स्थान पर परीक्षित अनुभव और अधिक गहरे बोध को उत्पन्न करके जो कार्य भौतिक जगत् के हमारे ज्ञान के लिये साधन करती है, वही कार्य योग हमारी सत्ता के उन उच्चतर स्तरों और लोकों तथा उसकी उन उच्चतर शक्यताओं के लिये करता है जो सब धर्मों का लक्ष्य है। अतएव, बन्द द्वारों के पीछे विद्यमान क्रमबद्ध अनुभव का यह सब भण्डार जिसकी कुंजी को मनुष्य की चेतना, चाहे तो, प्राप्त कर सकती है, एक व्यापक ज्ञानयोग के क्षेत्र में आ जाता है। क्योंकि ऐसे ज्ञानयोग के लिये केवल निरपेक्ष ब्रह्म की खोज या भगवान् के निज स्वरूप के ज्ञान तक अथवा व्यक्तिगत मानव-आत्मा के साथ केवल एकाकी सम्बन्ध रखनेवाले भगवान् के ज्ञान तक ही सीमित रहना अभीष्ट नहीं है। यह सच है कि निरपेक्ष ब्रह्म की चेतना प्राप्त करना ज्ञानयोग की पराकाष्ठा है और भगवान् की प्राप्ति उसका पहला, सबसे महान् तथा उत्कट ध्येय है और किसी निम्न ज्ञान के लिये इस लक्ष्य की उपेक्षा करने का अर्थ है हमारे (पूर्ण)

योग को हीनता या यहांतक कि क्षुद्रता से ग्रस्त करना और उसके विशिष्ट लक्ष्य से भ्रष्ट होना या दूर रहना, परन्तु भगवान् का निज स्वरूप ज्ञात हो जाने पर ज्ञानयोग हमारी सत्ता के विभिन्न स्तरों पर हमारे साथ तथा जगत् के साथ नानाविध सम्बन्ध रखनेवाले भगवान् का ज्ञान भी भली-भांति प्राप्त कर सकता है। शुद्ध आत्मा की ओर आरोहण को अपने आन्तरिक आत्मोत्थान के शिखर के रूप में सतत सामने रखकर हम उस शिखर से अपनी सत्ता के निम्न भागों को, स्थूल भाग तक को, तथा उनकी प्राकृतिक क्रियाओं को अपने अधिकार में ला सकते हैं।

इस ज्ञान को हम दो पहलुओं से, पुरुष के पहलू तथा प्रकृति के पहलू से, पृथक्-पृथक् प्राप्त कर सकते हैं; और भगवान् के स्वरूप के प्रकाश में पुरुष और प्रकृति के नाना सम्बन्धों को पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिये हम इन दोनों पहलुओं को मिला भी सकते हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य और जगत् में अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड में पांच प्रकार का 'पुरुष' विद्यमान है। इनमें पहला है अन्नमय पुरुष, आत्मा या सत्ता; यह वह सत्ता है जिसका ज्ञान हम सबको सर्वप्रथम प्राप्त होता है, एक ऐसी आत्मा है जो न तो शरीर के सिवा कोई सत्ता रखती प्रतीत होती है और न ही उससे स्वतंत्र कोई प्राणिक या यहांतक कि मानसिक क्रिया। यह अन्नमय पुरुष जड़ प्रकृति में सर्वत्र विद्यमान है; यह शरीर में व्याप्त है, अज्ञात रूप में इसकी क्रियाओं को परिचालित करता है और इसके अनुभवों का सम्पूर्ण आधार है; जो पदार्थ मानसिक रूप से सचेतन नहीं हैं उन सबको भी यह अनुप्राणित करता है। परन्तु मनुष्य में यह अन्नमय पुरुष प्राणमय तथा मनोमय भी बन गया है; इसने प्राणिक और मानसिक सत्ता तथा प्रकृति के नियम और शक्ति-सामर्थ्य का कुछ अंश प्राप्त कर लिया है। परन्तु इसे उनकी जो प्राप्ति हुई है वह गौण है, मानों इसकी मूल प्रकृति पर ऊपर से थोपी गयी है और वह भौतिक सत्ता तथा उसके करणों के नियम और कार्य के अधीन ही प्रयोग में लायी जाती है। शरीर और भौतिक प्रकृति का हमारे मानसिक और प्राणिक भागों पर यह आधिपत्य ही, प्रथम दृष्टि में, जड़वादियों के इस सिद्धान्त को प्रमाणित करता प्रतीत होता है कि मन और प्राण भौतिक शक्ति की अवस्थाएं एवं उसके परिणाममात्र हैं और उनके सब व्यापारों की व्याख्या प्राणि-शरीर में भौतिक शक्ति की क्रियाओं के द्वारा की जा सकती है। वास्तव में मन और प्राण का पूर्ण रूप से शरीर के अधीन होना अविकसित मानवता की विशेषता है, जैसे कि मानव से भिन्न निम्न कोटि के प्राणी में तो यह और भी बड़ी मात्रा में पायी जाती है। जो लोग पार्थिव जीवन में इस अवस्था को पार नहीं कर लेते वे, पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार, मृत्यु के बाद मन या उच्चतर प्राण के लोकों में आरोहण नहीं कर सकते, बल्कि अपने पार्थिव जीवन में और अधिक विकास करने के लिये उन्हें भौतिक स्तर-परम्परा की सीमाओं से वापिस आना पड़ता है। क्योंकि अविकसित अन्नमय पुरुष, पूर्ण रूप से

ऊपर उठ सकने से पहले उसे अधिक बड़े लाभ के लिये उन्हें क्रियान्वित करके समाप्त कर देना होता है।

अधिक विकसित मानवता हमें ऐसा अवसर देती है कि हम सत्ता के प्राणिक और मानसिक स्तरों से प्राप्त होनेवाली समस्त शक्तियों और अनुभूतियों का अधिक उत्तम और स्वतंत्र प्रयोग कर सकते हैं, सहायता पाने के लिये इन गुप्त स्तरों की ओर पहले से अधिक झुक सकते हैं और कामनामय लोक से प्राप्त महत्तर प्राणिक बलों एवं शक्तियों के द्वारा तथा मानसिक और बौद्धिक स्तरों से प्राप्त महत्तर एवं सूक्ष्मतर मानसिक बलों एवं शक्तियों के द्वारा अन्नमय पुरुष की मूल प्रकृति को अपने अधिकार में करके उसमें परिवर्तन ला सकते हैं। इस विकास की सहायता से हम मृत्यु और पुनर्जन्म की बीच की सत्ता के उच्चतर शिखरों पर आरोहण करने में समर्थ हो जाते हैं तथा और भी अधिक उच्चतर मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये स्वयं पुनर्जन्म को भी अधिक अच्छी तरह तथा अधिक तीव्र गति से उपयोग में ला सकते हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी, अपनी भौतिक सत्ता में जो अबतक भी हमारी जाग्रत् सत्ता के अधिक बड़े भाग का निर्धारण करती है, हम अपने कर्म के प्रेरित करनेवाले लोकों या स्तरों का निश्चित ज्ञान पाये बिना ही कार्य करते हैं। निःसंदेह, भौतिक सत्ता के प्राण-स्तर और मानस-स्तर को तो हम जानते हैं, पर वास्तविक प्राण-स्तर और मानस-स्तर को या उस उच्चतर एवं विशालतर प्राणमय और मनोमय पुरुष को नहीं जानते जो हमारी साधारण चेतना के पर्दे के पीछे हमारी निज सत्ता है। विकास की ऊंची अवस्था में ही हम उन्हें जान पाते हैं और तब भी, साधारणतः, अपनी मानसीकृत भौतिक प्रकृति के कार्य के पीछे अवस्थित पुरुष के रूप में ही। पर हम उन स्तरों पर सचमुच में निवास नहीं करते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्राण-शक्ति का शरीर पर तथा मन-रूपी सम्राट् का इन दोनों पर सचेतन नियंत्रण हम बहुत शीघ्र प्राप्त कर लेते, तब हम अपने संकल्प और ज्ञान को अपनी सत्ता के स्वामी बनाकर तथा प्राण और शरीर पर मन की सीधी क्रिया करके अपने भौतिक और मानसिक जीवन का बहुत बड़ी हदतक निर्धारण कर सकते। योग के द्वारा, आत्म-चेतना और आत्म-प्रभुत्व को उच्च तथा विशाल बनाते हुए, अन्नमय पुरुष के परे जाने तथा ऊर्ध्व स्तरों में उच्चतर पुरुष को प्राप्त करने की यह शक्ति कम या अधिक मात्रा में अधिगत की जा सकती है।

पुरुष के पहलू से यह शक्ति इस प्रकार प्राप्त की जा सकती है कि व्यक्ति अन्नमय पुरुष से तथा स्थूल प्रकृति में ग्रस्त रहने की उसकी प्रवृत्ति से पीछे हटे तथा विचार और संकल्प को उच्चतर पुरुष पर एकाग्र करने की साधना करे जो उसे पहले तो प्राणमय और फिर मनोमय पुरुष में ऊपर उठा ले जायेगी। ऐसा करने से हम प्राणमय पुरुष बन सकते हैं और अन्नमय पुरुष को इस नयी चेतना में उठा ले

जा सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप हम शरीर, उसकी प्रकृति और उसके कार्यों को, प्राणमय पुरुष की, जो तब हमारा निज स्वरूप होता है, गौण अवस्थाओं के रूप में ही जानते हैं, हम यह भी जान जाते हैं कि इन सबका उपयोग प्राणमय पुरुष जड़ जगत् के साथ अपना नानाविध सम्बन्ध स्थापित करने के लिये करता है। अन्नमय पुरुष से एक विशेष प्रकार की पृथक्ता और फिर उससे उच्चता; यह स्पष्ट अनुभव कि शरीर एक यंत्र या आवरणमात्र है और उसे सहज ही अपनेसे अलग किया जा सकता है; हमारी स्थूल सत्ता और जीवन-परिस्थिति पर हमारी इच्छाओं का असाधारण प्रभाव, प्राणशक्ति का स्पष्ट ज्ञान और उसका कुशलतापूर्वक प्रयोग तथा संचालन करने में सामर्थ्य और सुविधा का अत्यधिक अनुभव, क्योंकि इसकी क्रिया हमें शरीर के सम्बन्ध से मूर्त पर सूक्ष्म रूप में भौतिक अनुभूत होती है और मन के द्वारा प्रयुक्त शक्ति के रूप में यह एक प्रकार की सूक्ष्म घनता से युक्त प्रतीत होती है; अपने अन्दर अन्नमय भूमिका के ऊपर प्राणभूमिका का अनुभव और कामनालोक का ज्ञान तथा उसके जीवों के साथ सम्पर्क; ऐसी नयी शक्तियों का सक्रिय हो उठना जिन्हें साधारणतया गुह्यशक्ति या सिद्धियां कहा जाता है; विश्व में विद्यमान प्राणमय पुरुष का घनिष्ठ बोध और उसके साथ अनुभव-साम्य तथा दूसरों की कामनाओं का, उनके भावावेशों तथा प्राणिक आवेगों का ज्ञान या संवेदन;—योग के द्वारा जो यह नयी चेतना प्राप्त होती है उसके ये कुछ-एक चिह्न हैं।

परन्तु ये सब आध्यात्मिक अनुभव निम्न स्तरों की चीजें हैं और वास्तव में भौतिक सत्ता की अपेक्षा कोई अधिक आध्यात्मिक नहीं हैं। हमें इसी प्रकार और भी अधिक ऊंचे जाकर अपने-आपको मनोमय पुरुष में उठा ले जाना होगा। ऐसा करने से हम मनोमय पुरुष बन सकते हैं और अन्नमय तथा प्राणिक सत्ता को उसमें उठा ले जा सकते हैं। फलस्वरूप, प्राण, शरीर और इनकी क्रियाएं हमारे लिये हमारी सत्ता की गौण अवस्थाएं बन जाती हैं। मनोमय पुरुष जो अब हमारा निज स्वरूप बन गया है भौतिक सत्ता से सम्बन्ध रखनेवाले अपने निम्न प्रयोजनों को पूरा करने के लिये प्राण, शरीर और इनकी क्रियाओं का उपयोग करता है। यहां भी हम पहले-पहल प्राण और शरीर से एक प्रकार की पृथक्ता प्राप्त कर लेते हैं और हमारा वास्तविक जीवन देहप्रधान मनुष्य के स्तर से सर्वथा भिन्न स्तर पर प्रतिष्ठित प्रतीत होता है, उसका सम्बन्ध पार्थिव सत्ता से अधिक सूक्ष्म सत्ता के साथ, पार्थिव ज्ञान से अधिक महान् ज्ञानज्योति तथा एक कहीं अधिक विरल किन्तु फिर भी अधिक प्रभुत्वपूर्ण शक्ति के साथ प्रतीत होता है। वास्तव में हमारा सम्पर्क मानसिक स्तर के साथ होता है, हम मनोमय लोक से सचेतन होते हैं, उसके जीवों और उसकी शक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। उस स्तर से हम कामनामय लोक और भौतिक जीवन को इस रूप में देखते हैं मानों ये हमसे नीचे

स्थित हों, ऐसी चीजें हों जिन्हें हम शरीर छोड़ने पर, मानसिक या चैत्य स्वर्गों में निवास करने के लिये, सचमुच ही सहज में त्याग सकते हैं। परन्तु हम प्राण और शरीर तथा प्राणिक और भौतिक स्तरों से इस प्रकार पृथक् और अनासक्त होने के स्थान पर, इनसे ऊंची भूमिका में स्थित भी हो सकते हैं और अपनी सत्ता के इस नये शिखर से इनपर प्रभुत्वपूर्ण ढंग से क्रिया भी कर सकते हैं। भौतिक या प्राणिक ऊर्जा से भिन्न प्रकार की क्रियाशक्ति, एक ऐसी वस्तु जिसे हम शुद्ध मनोबल एवं आत्मशक्ति कह सकते हैं, जिसका प्रयोग विकसित मनुष्य करता तो अवश्य है पर गौण तथा अपूर्ण रूप में ही, पर जिसे अब हम स्वतंत्रता के साथ तथा ज्ञानपूर्वक प्रयोग में ला सकते हैं, हमारे कार्य की साधारण प्रणाली बन जाती है; उधर, कामना-शक्ति और स्थूल क्रिया गौण हो जाती है और उनका प्रयोग उनके पीछे अवस्थित इस नयी शक्ति के साथ तथा उसके कभी-कभी काम आनेवाले साधनों के रूप में ही किया जाता है। तब हम विश्व में विद्यमान विराट् मन का भी सम्पर्क प्राप्त कर लेते हैं, उसकी अनुभूतियों के भी सहभागी बन जाते हैं, उससे सचेतन हो जाते हैं, समस्त घटनाओं के पीछे विद्यमान सूक्ष्म शक्तियों के उद्देश्यों, उनकी दिशाओं और शक्तिशाली विचार-तरंगों तथा उनके संघर्ष को जान जाते हैं। साधारण मनुष्य इन शक्तियों से अनभिज्ञ है या फिर वह स्थूल घटना से इनका अस्पष्ट अनुमान भर लगा सकता है, पर हम अब इनकी क्रियाओं का कोई स्थूल चिह्न या यहांतक कि प्राणिक संकेत पाने से पहले ही इन्हें प्रत्यक्ष देख सकते एवं अनुभव कर सकते हैं। हम अन्य जीवों के, वे चाहे अन्नमय भूमिका के हों या इससे ऊपर की भूमिकाओं के, मनोव्यापार का ज्ञान और अनुभव भी प्राप्त कर लेते हैं। मनोमय पुरुष की उच्चतर क्षमताएं,—प्राणमय भूमिका की अपनी विशिष्ट शक्तियों एवं सिद्धियों से कहीं अधिक विरल या सूक्ष्म प्रकार की गुह्य शक्तियां या सिद्धियां,—हमारी चेतना में स्वभावतः ही जाग उठती हैं।

तथापि ये सब हमारी सत्ता के निम्न त्रिविध जगत् की अवस्थाएं हैं जिसे प्राचीन ऋषि "त्रैलोक्य" कहते थे। इन तीनों लोकों में हमारी शक्तियां और हमारी चेतना कितनी ही विस्तृत क्यों न हों, फिर भी इनमें रहते हुए हम वैश्व देवों की सीमाओं के भीतर ही निवास कर रहे होते हैं और पुरुष पर प्रकृति के शासन के अधीन होते हैं, वह अधीनता अपेक्षाकृत अत्यधिक सूक्ष्म, सह्य तथा हल्की भले ही हो। वास्तविक स्वातंत्र्य और प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये हमें अपनी सत्ता के अनेक अधित्यकाओंवाले पर्वत के और भी ऊंचे स्तर पर आरोहण करना होगा।

अध्याय २१

आत्म-अतिक्रमण की सीढ़ी

साधारणतया हमारी चेतना और इसकी शक्तियां एवं परिणाम इस निम्न त्रिविध सत्ता एवं इस निम्न त्रिविध जगत् तक ही सीमित हैं। इस सत्ता एवं जगत् का अतिक्रमण, जिसका वर्णन वैदिक ऋषियों ने इन शब्दों में किया था कि यह द्यौ और पृथ्वी के दो लोकों को अतिक्रम कर या भेद कर उनके परे जाना है, अनन्तता के स्तरों की क्रमपरम्परा को खोल देता है। मनुष्य की सामान्य सत्ता अपनी ऊंची-से-ऊंची तथा विस्तृत-से-विस्तृत उड़ानों में भी इस स्तर-परम्परा से अभीतक अपरिचित है। इस अत्युच्च भूमिका पर, यहांतक कि इसकी सोपान-परम्परा के सबसे निचले सोपान पर भी, आरोहण करना उसके लिये कठिन है। एक विभाजन, जो सार रूप में तो अवास्तविक है पर व्यवहार में अत्यन्त तीव्र है, मनुष्य अर्थात् पिंड की सम्पूर्ण सत्ता को विभक्त करता है, अपितु पिण्ड की भांति वह विश्व-सत्ता अर्थात् ब्रह्माण्ड को भी विभक्त करता है। दोनों में उच्च और निम्न गोलार्द्ध हैं जिन्हें प्राचीन ज्ञानियों ने परार्द्ध और अपरार्द्ध कहा था। उच्च गोलार्द्ध में परम आत्मा का पूर्ण और सनातन राज्य है क्योंकि वहां यह बिना विराम या न्यूनता के अपनी अनन्तताओं को व्यक्त करता है; अपनी असीम सत्ता, असीम चेतना और ज्ञान, असीम बल और शक्ति तथा असीम आनन्द की अनावृत गरिमाओं को विस्तारित करता है। इसी प्रकार निम्न गोलार्द्ध भी आत्मा का है; पर यहां वह सीमाकारी मन, सीमित प्राण तथा पृथक्कारी शरीररूपी अपनी निम्न अभिव्यक्ति के द्वारा सूक्ष्म तथा घने रूप से ढका हुआ है। निम्न गोलार्द्ध में 'पुरुष' नाम और रूप के अन्दर आच्छादित है; उसकी चेतना आन्तरिक और बाह्य व्यक्ति और विराट् के बीच विभाजन के द्वारा खण्डित है; उसकी दृष्टि और इन्द्रियशक्ति बाहर की ओर मुड़ी हुई है; उसकी शक्ति, उसकी चेतना के विभाजन के द्वारा सीमित होने के कारण, बन्धन में जकड़ी हुई की तरह कार्य करती है; उसका ज्ञान, संकल्प, बल और आनन्द इस विभाजन से विभक्त तथा इस सीमाबन्धन से आबद्ध होने के कारण अपने विरोधी या विपरीत रूपों के अनुभव की ओर अर्थात् अज्ञान, दुःख और दुर्बलता की ओर खुले हुए हैं। निश्चय ही हम अपनी इन्द्रियों और अपनी दृष्टि को अन्दर की ओर फेरकर अपने अन्तःस्थित सच्चे पुरुष या आत्मा को जान सकते हैं; बाह्य जगत् और उसके दृश्य प्रपञ्च में भी हम, अपनी दृष्टि और इन्द्रियशक्ति को उनके अन्दर गहराई में ले जाकर, नामों और रूपों के पर्दे को भेदते हुए उनमें या उनके पीछे अवस्थित वस्तुतक ले जाकर इस वास्तविक पुरुष या आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। हमारी सामान्य चेतना इस अन्तर्मुख दृष्टि के द्वारा पुरुष को

अनन्त सत्ता, चेतना और आनन्द को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करके जान सकती है और उसकी सत्-चित्-आनन्दसम्बन्धी निष्क्रिय या स्थितिशील अनन्तता में भाग ले सकती है। परन्तु उसके ज्ञान, बल और आनन्द की सक्रिय या गतिशील अभिव्यक्ति में हम बहुत कम अंश में ही भाग ले सकते हैं। अपने अन्दर सच्चिदानन्द के प्रतिबिम्ब के द्वारा प्राप्त होनेवाली यह स्थितिशील एकता भी, साधारणतया, सुदीर्घ और कठिन प्रयास से तथा अनेक जन्मों में होनेवाले प्रगतिशील आत्मविकास के फलस्वरूप ही साधित की जा सकती है; क्योंकि हमारी सामान्य चेतना अपनी सत्ता के अपरार्द्ध के नियम के साथ अत्यन्त दृढ़तापूर्वक बंधी हुई है। इसको अतिक्रम करने की संभावना तक को समझने के लिये हमें इन दो गोलार्द्धों के लोकों के पारस्परिक सम्बन्धों का एक व्यावहारिक सूत्र के रूप में पुनः प्रतिपादन करना होगा।

सब वस्तुओं का निर्धारण परम आत्मा ही करता है, क्योंकि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सत्ता से लेकर स्थूल-से-स्थूल जड़तत्त्वतक सभी कुछ आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। परन्तु आत्मा, पुरुष या परम 'सत्' उस लोक को जिसमें वह निवास करता है, तथा उसमें अपनी चेतना, शक्ति और आनन्द के अनुभवों को पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों की (अनेक संभव, संतुलित स्थितियों में से) किसी एक स्थिति के द्वारा निर्धारित करता है, यह स्थिति उसके अपने वैश्व तत्त्वों में से किसी एक या दूसरे में (उस तत्त्व में बने जगत् के साथ उसके सम्बन्धों की) कोई आधारभूत स्थिति होती है। 'जड़पदार्थ' रूपी तत्त्व में स्थित होने पर आत्मा भौतिक प्रकृति के शासन में स्थूल जगत् का स्थूल 'पुरुष' बन जाता है; वह तब जड़तत्त्व के अनुभव में ग्रस्त होता है; वह भौतिक सत्ता की अपनी विशिष्ट तामसिक शक्ति की अज्ञानमयता और जड़ता से अभिभूत होता है। व्यक्ति में वह अन्नमय पुरुष बन जाता है जिसका प्राण और मन स्थूल भौतिक तत्त्व के अज्ञान और जड़तत्त्व में से विकसित हुए हैं और उनकी मूल सीमाओं के अधीन हैं। क्योंकि, जड़तत्त्व में प्राण शरीर के अधीन रहकर ही कार्य करता है; जड़तत्त्व में मन शरीर और प्राणिक या स्नायविक सत्ता के अधीन रहकर ही कार्य करता है; जड़तत्त्व के अन्दर स्वयं आत्मा भी अपने आभ्यन्तरिक सम्बन्ध और अपनी शक्तियों में इस जड़-शासित तथा प्राण-चालित मन के सीमाबन्धनों और विभाजनों से सीमित और विभक्त है। यह अन्नमय पुरुष स्थूल शरीर तथा इसकी संकीर्ण उपरितलीय बाह्य चेतना के साथ बंधा रहता है, और सामान्यतया यह अपने भौतिक करणों अर्थात् अपनी इन्द्रियों तथा अपने देहबद्ध प्राण एवं मन के अनुभवों को और अधिक-से-अधिक कुछ सीमित आध्यात्मिक झांकियों को ही सत्ता का सम्पूर्ण सत्य समझता है।

मनुष्य एक आत्मा है, पर एक ऐसी आत्मा जो भौतिक प्रकृति में मनोमय पुरुष के रूप में निवास करती है; अपनी आत्मविषयक चेतना के प्रति वह स्थूल देह में

रहनेवाला एक मन ही है। परन्तु पहले-पहल यह मनोमय सत्ता अन्नमय पुरुष का रूप धारण करती है और तब मनुष्य अन्नमय पुरुष को ही अपनी वास्तविक आत्मा समझता है। जैसा कि एक उपनिषद् में कहा गया है, वह जड़तत्त्व (अन्न) को ही ब्रह्म मानने के लिये बाध्य होता है क्योंकि यहां उसकी दृष्टि जड़तत्त्व को एक ऐसी वस्तु के रूप में देखती है जिससे सब उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा सब जीवित रहते हैं और जिसमें सब प्रयाण के समय लौट जाते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में उसका स्वाभाविक सर्वोच्च प्रत्यय यह होता है कि वह एक अनन्त सत्ता है, वरञ्च एक निश्चेतन अनन्त सत्ता है; यह सत्ता जड़जगत् में वास कर रही है या व्याप्त है (वास्तव में यह केवल इस जड़जगत् को ही जानती है); साथ ही यह अपनी उपस्थिति की शक्ति से उसके चारों ओर के इन सब रूपों को प्रकट कर रही है। अपने विषय में उसका स्वाभाविक सर्वोच्च विचार यह है कि वह एक आत्मा या अन्तरात्मा है, पर इस आत्मा के विषय में उसकी कल्पना अस्पष्ट ही है। उसके विचार में यह एक ऐसी अन्तरात्मा है जो केवल स्थूल जीवन के अनुभवों के द्वारा ही व्यक्त होती है, भौतिक दृश्य प्रपञ्च में जकड़ी हुई है और विघटित होने पर एक सहज-स्वाभाविक आवश्यकता के द्वारा अनन्त के विशाल अनिर्धारित स्वरूप में पुनः लय प्राप्त करने के लिये बाध्य होती है। परन्तु, क्योंकि उसमें अपना विकास करने की शक्ति है, वह अन्नमय-पुरुषविषयक इन स्वाभाविक कल्पनाओं के ऊपर उठ सकता है; इनकी त्रुटियों को वह अतिभौतिक भूमिकाओं और लोकों से प्राप्त एक प्रकार के गौण अनुभव से पूरा कर सकता है। वह अपनी शक्ति को मन पर एकाग्र करके अपनी सत्ता के मानसिक भाग को विकसित कर सकता है, पर इसके लिये उसे प्रायः अपने प्राणिक और शारीरिक जीवन की पूर्णता की बलि देनी पड़ती है। इस प्रकार, अन्त में मन प्राण और शरीर से अधिक प्रबल हो जाता है और परब्रह्म की ओर खुल सकता है। इसके बाद, अपने-आपको मुक्त करनेवाले इस मन को वह परम आत्मा पर एकाग्र कर सकता है। यहां भी वह प्रायः इस एकाग्रता की प्रक्रिया में अपने पूर्ण मानसिक और भौतिक जीवन से अधिकाधिक दूर हटता जाता है; प्रकृति में उसका भौतिक आधार जहांतक उसे अनुमति देता है वहांतक वह अपने मानसिक और शारीरिक जीवन की सम्भावनाओं को परिमित या निरुत्साहित कर देता है। अन्त में उसका आध्यात्मिक जीवन प्रधानता प्राप्त कर लेता है, वह उसकी संसारोन्मुख प्रवृत्ति का उन्मूलन करके इसके बन्धनों और सीमाओं को तोड़ डालता है। अध्यात्ममय बनकर वह अपनी वास्तविक सत्ता का आधार इस लोक से परे अन्य लोकों में, प्राणिक या मानसिक भूमिका के स्वर्गों में स्थापित करता है। वह ऐहलौकिक जीवन को एक ऐसी दुःखमय या क्लेशप्रद घटना या यात्रा मानने लगता है जिसमें वह अपनी आन्तरिक आदर्श सत्ता किंवा अपने आध्यात्मिक सारतत्त्व का कोई पूर्ण रसास्वादन कभी नहीं प्राप्त कर सकता।

अपि च, पुरुष या आत्मा के विषय में उसका उच्चतम विचार कम या अधिक निवृत्तिमार्ग की ओर ही झुक सकता है; कारण, हम देख ही चुके हैं कि वह केवल उसकी स्थितिशील अनन्तता को, प्रकृति की सीमाओं से न बंधे हुए पुरुष की निश्चल स्वतंत्रता को तथा प्रकृति के पीछे अवस्थित आत्मा को ही पूर्ण रूप से अनुभव कर सकता है। निःसन्देह, उसके अन्दर कोई दिव्य क्रियाशील अभिव्यक्ति भी साधित हो सकती है, पर वह स्थूल प्रकृति से सर्वथा ऊपर नहीं उठ सकती। शान्त और निष्क्रिय आत्मा की शान्ति अधिक सुगमता से प्राप्त हो सकती है और इसका धारण भी वह अधिक सुगमता से तथा पूर्णता के साथ कर सकता है; पर अनन्त क्रिया का आनन्द एवं अपरिमेय शक्ति की सक्रिय स्थिति प्राप्त करना उसके लिये नितान्त कठिन है।

परन्तु परम आत्मा जड़तत्त्व में स्थित न होकर प्राणतत्त्व में भी स्थित हो सकता है। इस प्रकार स्थित होकर वह सचेतन रूप से क्रिया करनेवाली प्रकृति के शासन में प्राणलोक की प्राणमय सत्ता, प्राणशक्ति का प्राणमय पुरुष बन जाता है। सचेतन प्राण की शक्ति और लीला के अनुभवों में मग्न होकर वह प्राणिक सत्ता के अपने विशिष्ट राजसिक तत्त्व की कामना, और क्रिया-प्रवृत्ति तथा उसके राग-विकार के वशीभूत रहता है। व्यक्ति में यह आत्मा प्राणमय पुरुष बन जाता है जिसकी प्रकृति के शासन में प्राणशक्तियां मानसिक और भौतिक तत्त्वों को उत्पीड़ित करती हैं। प्राणलोक में भौतिक तत्त्व अपनी क्रियाओं और रचनाओं को कामना और उसकी कल्पनाओं के अनुरूप अनायास ही ढाल लेता है, वह प्राण के आवेश और बल की तथा इनकी रचनाओं की सेवा करता है तथा उनके वश में रहता है, वहां वह उन्हें उस प्रकार बाधा नहीं पहुंचाता और न सीमित ही करता है जिस प्रकार कि वह यहां इस भूलोक में करता है जहां जीवन जड़प्रकृति में होनेवाली एक अनिश्चित-सी घटना है। इस भूमिका में मानसिक तत्त्व भी प्राणशक्ति के द्वारा गठित और सीमित होता है, इसके वश में रहता है और इसकी कामनाओं की प्रेरणा तथा इसके आवेगों की शक्ति को समृद्ध और चरितार्थ करने में ही सहायता पहुंचाता है। यह प्राणमय पुरुष प्राणिक शरीर में निवास करता है जो भौतिक जड़तत्त्व से कहीं अधिक सूक्ष्म उपादान से बना हुआ है। वह उपादान सचेतन शक्ति से परिपूरित है, पार्थिव तत्त्व के स्थूल अणु-परमाणु जिन अनुभवों, क्षमताओं तथा इन्द्रिय-क्रियाओं को प्रस्तुत कर सकते हैं उनकी अपेक्षा वह कहीं अधिक शक्तिशाली अनुभवों, क्षमताओं तथा इन्द्रिय-क्रियाओं को प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्य के अन्दर भी उसकी भौतिक सत्ता के पीछे यह प्राणमय पुरुष, यह प्राणिक प्रकृति और प्राणिक शरीर विद्यमान हैं जो स्थूल सत्ता के तल के नीचे छुपे हैं, इसके लिये अगोचर और अज्ञात हैं किन्तु फिर भी इसके अत्यन्त निकट हैं और इसके साथ मिलकर उसकी सत्ता के अत्यन्त स्वाभाविक रूप में क्रियाशील भाग का निर्माण करते हैं। प्राणलोक

या कामना-लोक के साथ सम्बद्ध एक प्राणमय भूमिका, पूरी-की-पूरी, हमारे अन्दर छुपी हुई है, वह एक गुप्त चेतना है जिसमें प्राण और कामना दोनों निर्बाध रूप से अपनी लीला करते हैं तथा सहज रूप से अपने-आपको प्रकट करते हैं और वहां से वे हमारे बाह्य जीवन पर अपना प्रभाव डालते हैं तथा अपनी रचनाओं को प्रक्षिप्त करते हैं।

जैसे-जैसे इस प्राणिक स्तर की शक्ति उसके अन्दर प्रकट होती है तथा उसकी स्थूल सत्ता को अपने अधिकार में करती जाती है, वैसे-वैसे यह 'पृथिवीपुत्र' प्राणशक्ति का वाहन बनता जाता है, इसकी कामनाएं शक्तिशाली हो जाती हैं, इसके राग-विकार और भावावेश उग्र हो जाते हैं और इसके कर्म प्रचण्ड-शक्तिशाली अर्थात् यह अधिकाधिक राजसिक मनुष्य बनता जाता है। अब यह अपनी चेतना में प्राण-भूमिका की ओर जागरित होकर प्राणमय पुरुष बन सकता है, प्राणिक प्रकृति को धारण कर के गुप्त एवं सूक्ष्म प्राण-शरीर तथा प्रत्यक्ष स्थूल शरीर दोनों में निवास कर सकता है। यदि वह राजसिक मनुष्य इस परिवर्तन को किसी प्रकार की पूर्णता या एकनिष्ठता के साथ साधित कर लेता है—साधारणतः तो यह परिवर्तन महान् और हितकर सीमाओं के अधीन ही साधित होता है, या फिर उद्धारकारी जटिलताओं से युक्त रहता है—और यदि वह इन कामना, आवेश और विकार आदि चीजों से ऊपर नहीं उठता, प्राण से परे के उस शिखर पर आरोहण नहीं करता जहां से इन चीजों का प्रयोग किया जा सकता है, इन्हें शुद्ध और उदात्त किया जा सकता है, तो वह निम्न प्रकार का असुर या दानव या स्वभाव से राक्षस बन जाता है, निरे बल और निरी प्राणशक्तिवाली आत्मा बन जाता है जो असीम कामना तथा आवेश की शक्ति से परिवर्द्धित या परिपूरित होती है, सक्रिय शक्ति और महाकाय राजसिक अहंकार से अनुधावित और परिचालित होती है, पर साधारण जड़तर पार्थिव प्रकृति में देहप्रधान मनुष्य के पास जो शक्तियां होती हैं उनसे कहीं अधिक बड़ी तथा अधिक विविध प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होती है। चाहे वह प्राणमय भूमिका पर मन का अत्यधिक विकास कर ले तथा इसकी सक्रिय शक्ति का प्रयोग भी आत्मसंयम और स्व-तुष्टि के लिये करे तो भी ऐसा वह आसुरिक तपस्या के द्वारा ही करेगा यद्यपि यह तपस्या अपेक्षाकृत ऊंचे ढंग की होगी तथा इसका उद्देश्य भी राजसिक अहं की अधिक नियंत्रित तुष्टि करना होगा।

परन्तु अन्नमय भूमिका की भांति प्राणमय भूमिका में भी उसके अपने प्रकार में एक विशेष आध्यात्मिक महानता की ओर उठना संभव है। प्राणप्रधान मनुष्य के लिये यह मार्ग खुला है कि वह अपने-आपको कामनामय पुरुष और प्राणमय भूमिका की अपनी स्वाभाविक धारणाओं और शक्तियों के परे उठा ले जाये। वह उच्चतर मन का विकास कर सकता है और प्राणमय पुरुष की अवस्थाओं में अपने रूपों और शक्तियों के पीछे या परे विद्यमान आत्मा या पुरुष का कोई साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये

अपने-आपको एकाग्र कर सकता है। इस आध्यात्मिक साक्षात्कार में निष्क्रिय शांति की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम प्रबल होगी; क्योंकि वहां सनातन के आनन्द और बल तथा अधिक प्रबल एवं स्वतृप्त शक्तियों की सक्रिय चरितार्थता की ओर क्रियाशील अनन्त सत्ता के अधिक समृद्ध विकास की सम्भावना बहुत ही बढ़ जायेगी। तथापि यह चरितार्थता सच्ची और समग्र पूर्णता के आसपास कदापि नहीं पहुंच सकती; क्योंकि अन्नमय लोक की भांति कामनालोक की अवस्थाएं भी पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिये उपयुक्त नहीं हैं। प्राणमय पुरुष को भी हमारी सत्ता के निम्न गोलार्द्ध में अपने जीवन की पूर्णता, सक्रियता और शक्ति को हानि पहुंचाकर ही आत्मा का विकास करना होगा और अन्त में प्राणिक सूत्र से तथा जीवन से विमुख होकर या तो नीरवता की ओर या अपनेसे परे अवस्थित अनिर्वचनीय शक्ति की ओर मुड़ना होगा। यदि वह प्राणिक जीवन से विमुख नहीं होता तो वह उसकी जंजीरों से बंधा रहेगा, उसकी आत्म-पूर्णता केवल अपने ही अधिकार-बल से युक्त कामनामय लोक के तथा उसके प्रबल राजसिक तत्त्व के अधोमुख आकर्षण के द्वारा सीमित रहेगी। अतएव, प्राणिक स्तर पर भी समग्र पूर्णता प्राप्त करना सम्भव नहीं; जो आत्मा केवल यहींतक पहुंचती है उसे अधिक महान् अनुभव एवं अधिक उच्च आत्मविकास के लिये तथा आत्मा की ओर अधिक सीधे आरोहण के लिये पुनः स्थूल जीवन में आना होगा।

जड़तत्त्व और प्राण के ऊपर स्थित है मन का तत्त्व जो वस्तुओं के गुप्त 'मूल' के अधिक निकट है। मन में प्रतिष्ठित परम आत्मा मनोलोक का मनोमय पुरुष बन जाता है और वहां अपनी शुद्ध, प्रकाशमय मानसिक प्रकृति के राज्य में निवास करता है। वह विराट् बुद्धि की अतिशय स्वतंत्रता में कार्य करता है। साथ ही वहां इस बुद्धि को चैत्य मन और उच्चतर भावप्रधान मन की शक्ति की सम्मिलित क्रियाओं से सहायता प्राप्त होती है और मानसिक सत्ता के अपने विशिष्ट सत्त्वगुण के विशद ज्ञान और सुखरूपी धर्म से भी इसे सूक्ष्मता और आलोक प्राप्त होते हैं। इस भूमिका में स्थित आत्मा व्यक्ति में मनोमय पुरुष बन जाता है जिसकी प्रकृति के शासन में मन की विशदता एवं प्रकाशमय शक्ति अपने निज अधिकार से कार्य करती है; वह प्राणिक या शारीरिक साधनों के किसी प्रकार के बन्धन या उत्पीड़न के अधीन नहीं होती। बल्कि वहां मनोमय पुरुष अपने शरीर के रूपों और अपने प्राण की शक्तियों पर पूर्ण रूप से शासन करता है तथा उनका निर्धारण भी करता है। क्योंकि, मन अपने स्तर में प्राण के द्वारा सीमित और जड़तत्त्व के द्वारा प्रतिहत नहीं है जैसा कि वह यहां पार्थिव प्रक्रिया में देखने में आता है। यह मनोमय पुरुष मनोमय या सूक्ष्म शरीर में निवास करता है जो ज्ञान एवं अनुभव की तथा अन्य मनुष्यों के साथ सहानुभूति और उनके मन में प्रवेश करने की ऐसी शक्तियों का उपभोग करता है जिनकी हम कदाचित् कल्पना भी नहीं कर सकते। साथ ही, वह सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों की एक ऐसी स्वतंत्र,

सूक्ष्म और व्यापक मानसीकृत शक्ति का भी उपभोग करता है जो प्राणिक या भौतिक प्रकृति की स्थूलतर अवस्थाओं से सीमित नहीं होती।

मनुष्य के अन्दर भी यह मनोमय पुरुष, मानसिक प्रकृति, मनोमय शरीर और मानसिक स्तर हैं जो स्थूल सत्ता के तल के नीचे प्रच्छन्न हैं, अज्ञात और अगोचर हैं, उसकी जाग्रत् चेतना और दृश्य शरीर के पीछे छुपे हुए हैं। वह मानसिक स्तर अन्नमय रूप को प्राप्त नहीं हुआ है। उसमें 'मन'-रूपी तत्त्व निज लोक की भांति सहज-स्वाभाविक रूप में विद्यमान है और अन्नमय भूमिका की तरह वहां उसका किसी ऐसे लोक के साथ संघर्ष नहीं है जो उसके प्रतिकूल हो, उसकी स्वतंत्रता में बाधा पहुंचाता तथा उसकी शुद्धता और विशदता को कलुषित करता हो। जैसे-जैसे मनुष्य के अन्दर का यह मानसिक स्तर उसपर दबाव डालता है वैसे-वैसे उसकी सब उच्चतर क्षमताएं, उसकी बौद्धिक एवं चैत्य-मानसिक सत्ता और शक्तियां, उसकी उच्चतर आवेशात्मक प्राणशक्ति उसके अन्दर जागरित होकर बढ़ती जाती हैं। क्योंकि, जितना अधिक यह व्यक्त होता है, जितना अधिक यह भौतिक भागों पर अपना प्रभाव डालता है, उतना ही अधिक यह अन्नमय प्रकृति के अपने मिलते-जुलते मानसिक स्तर को समृद्ध और समुन्नत करता है। अपने बढ़ते प्रभुत्व के एक विशेष शिखर पर यह मनुष्य को केवल तर्कशील प्राणी न रहने देकर सच्चे अर्थों में मनुष्य बना सकता है; क्योंकि, तब यह हमारे अन्दर के मनोमय पुरुष को अपनी विलक्षण शक्ति प्रदान करता है। यह मनोमय पुरुष ही हमारी मानवता की मनोवैज्ञानिक रचना का सारतत्त्व है जो अन्दर से शासन करता है, पर फिर भी जिसकी शक्ति अभीतक अत्यन्त कुंठित है।

मनुष्य के लिये यह सम्भव है कि वह इस उच्चतर मानसिक चेतना के प्रति जागरित होकर मनोमय[1] पुरुष बन जाये, इस मानसिक प्रकृति को धारण कर ले और केवल प्राणमय तथा अन्नमय कोषों में ही नहीं, बल्कि इस मनोमय कोष में भी निवास करे। यदि यह रूपान्तर पर्याप्त पूर्ण रूप से साधित हो जाये तो वह एक ऐसे जीवन और अस्तित्व को धारण करने के योग्य हो जायेगा जो कम-से-कम आधे दिव्य होंगे। क्योंकि, वह इस साधारण जीवन और शरीर के क्षेत्र से परे की शक्तियों, अनुभूतियों और अन्तर्दृष्टि का उपभोग करेगा; वह शुद्ध ज्ञान की विशदताओं के द्वारा सबका नियमन करेगा; वह प्रेममयी और प्रसन्नतापूर्ण सहानुभूति के द्वारा दूसरे प्राणियों के

[1] यहां मैं 'मन' शब्द के अन्दर मन की उस उच्चतम भूमिका को ही समाविष्ट नहीं करता जिससे मनुष्य साधारणतया परिचित है बल्कि इससे और अधिक ऊंची भूमिकाओं को भी समाविष्ट करता हूं। उनमें प्रवेश पाने के लिये या तो इस समय उसके पास कोई शक्ति नहीं है या फिर वह उनकी शक्तियों के किसी क्षीण भाग को ही आंशिक एवं मिश्रित रूप में ग्रहण कर सकता है। वे भूमिकाएं हैं—प्रकाशयुक्त मन, बोधिमय मन, और अन्त में सृष्टिक्षम अधिमानस या माया जो बहुत ही ऊपर स्थित है और हमारे वर्तमान अस्तित्व का मूल है। यदि मन को बुद्धिशक्ति या मानवबुद्धि के अर्थ में ही लिया जाना हो तो स्वतंत्र मनोमय पुरुष एवं उसकी भूमिका यहां दिये गये वर्णन की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित और अत्यन्त निम्न कोटि की वस्तु होगी।

साथ एकता में बंधा होगा; उसके भावावेश चैत्य मन के स्तर की पूर्णतातक उठ जायेंगे, उसके संवेदन स्थूलता से मुक्त हो जायेंगे, उसकी बुद्धि सूक्ष्म, शुद्ध और नमनीय बनकर अशुद्ध प्राणशक्ति की पथभ्रष्टताओं से तथा जड़तत्त्व की बाधाओं से मुक्त हो जायेगी। साथ ही, वह किसी भी मानसिक हर्ष और ज्ञान की अपेक्षा अधिक ऊंचे ज्ञान और आनन्द को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने की शक्ति का विकास कर लेगा; क्योंकि, वह विज्ञान-भूमिका से आनेवाली अन्तः-प्रेरणाओं और सम्बोधियों को अधिक पूर्ण रूप में तथा हमारे अक्षम मन के विकृतिजनक और मिथ्याकारक मिश्रण के बिना ग्रहण कर सकेगा। वे अन्तः-प्रेरणाएं और सम्बोधियां विज्ञान-ज्योति के तीर के समान होती हैं और उसकी पूर्णताप्राप्त मानसिक सत्ता को इस बृहत्तर ज्योति के शक्तिपुंज और सांचे में ढाल देती हैं। तब वह अपनी सत्ता के तृप्त सामंजस्य में आज की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल, अधिक ज्योतिर्मय और प्रगाढ़ तीव्रता के साथ तथा आत्मा की सक्रिय शक्ति और आनन्द की महत्तर लीला के साथ पुरुष या आत्मा का साक्षात्कार भी प्राप्त कर सकेगा।

हमारे साधारण विचारों को यह प्राप्ति, सहज ही, सर्वोच्च पूर्णता प्रतीत हो सकती है, एक ऐसी चीज प्रतीत हो सकती है जिसे पाने के लिये मनुष्य आदर्शवाद की अपनी सर्वोच्च उड़ानों में अभीप्सा कर सकता है। निःसंदेह, शुद्ध मनोमय पुरुष के लिये उसके अपने गुण-धर्म में यह पूर्णता पर्याप्त होगी, किन्तु फिर भी आध्यात्मिक प्रकृति की महत्तर सम्भावनाओं से यह बहुत अधिक नीचे रहेगी। क्योंकि, यहां भी हमारी आध्यात्मिक उपलब्धि मन की सीमाओं के अधीन रहेगी; और मन की प्रकृति तो एक ऐसे प्रतिबिम्बित प्रकाश से युक्त है जो हलका और छितरा हुआ है या फिर संकुचित रूप में तीव्र है, वह आत्मा के विशाल और सर्वग्राही स्वयंस्थित प्रकाश और आनन्द से युक्त नहीं है। वह बृहत्तर प्रकाश, वह गभीरतर आनन्द मानसिक प्रदेशों से परे स्थित हैं। सच पूछो तो मन आत्मा का पूर्ण यंत्र कदापि नहीं हो सकता; परम आत्माभिव्यक्ति इसकी क्रियाओं में हो ही नहीं सकती, क्योंकि, पृथक् करना, विभक्त और सीमित करना इसका निज स्वभाव ही है। यदि मन समस्त भावात्मक अनृत और प्रमाद से मुक्त हो भी सके, यदि वह पूर्ण तथा अचूक रूप से अन्तर्ज्ञानमय बन भी सके, तथापि वह केवल अर्द्ध-सत्यों या पृथक् सत्यों को ही प्रस्तुत और व्यवस्थित कर सकेगा और इन्हें भी इनके अपने स्वरूप में नहीं बल्कि ऐसे उज्ज्वल प्रतिनिधिभूत आकारों के रूप में प्रस्तुत कर सकेगा जिन्हें इस प्रकार इकट्ठा कर दिया जाता है कि वे मिलकर एक पुंजीभूत समग्र या स्तूपमय रचना बना दें। इसलिये यहां अपनी पूर्णता को साधित करनेवाले मनोमय प्राणी को या तो अपनी निम्न सत्ता का त्याग कर शुद्ध आत्मा में चले जाना होगा अथवा पूर्णता प्राप्त करके स्थूल जीवन को फिर से अपनाना होगा, ताकि इसमें उस शक्ति का विकास किया जा सके जो हमारी मानसिक और चैत्य प्रकृति में अभीतक नहीं पायी जाती। यही सत्य उपनिषद् में भी प्रकट किया

गया है। वहां कहा गया है कि मनोमय पुरुष को प्राप्त होनेवाले स्वर्ग वे हैं जिनकी ओर मनुष्य सूर्य की किरणों अर्थात् अतिमानसिक सत्य चेतना की प्रखर पर विकीर्ण और पृथक्-पृथक् रश्मियों के द्वारा ऊपर उठता है और इन स्वर्गों से उसे पार्थिव जीवन में लौटना पड़ता है। परन्तु जो ज्ञानदीप्त व्यक्ति पार्थिव जीवन का त्याग कर सूर्य के द्वारों में से होते हुए इस लोक के परे चले जाते हैं वे फिर यहां नहीं लौटते। मनोमय प्राणी अपने गोलार्द्ध को अतिक्रम करके फिर नहीं लौटता क्योंकि इस अतिक्रमण के द्वारा वह सत्ता के उस उच्च स्तर में प्रवेश पा लेता है जो उच्चतर गोलार्द्ध का अपना विशिष्ट स्तर है। वह उसकी महत्तर आध्यात्मिक प्रकृति को नीचे उतारकर इस निम्नतर त्रिविध सत्ता में नहीं ला सकता; क्योंकि यहां तो मनोमय पुरुष ही आत्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। यहां त्रिविध—मानसिक, प्राणिक और भौतिक—शरीर ही हमारी धारणशक्ति का प्रायः संपूर्ण क्षेत्र है और यह उस महत्तर चेतना को धारण करने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकता; इस त्रिविध सत्ता में वह आधार अभी बना ही नहीं है जो महत्तर दिव्यता को अपने अन्दर समा सके अथवा इस अतिमानसिक शक्ति और ज्ञान के ऐश्वर्यों को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर सके।

परन्तु धारण-शक्ति की यह सीमा तभीतक वास्तविक होती है जबतक मनुष्य मानसिक माया की चहारदीवारी के भीतर बन्द रहता है। यदि वह उच्चतम मनोमय अवस्था से परे ज्ञानमय आत्मा में उठ जाये, यदि वह विज्ञानमय पुरुष अर्थात् विज्ञान-तत्त्व में प्रतिष्ठित आत्मा बन जाये और उसके अनन्त सत्य एवं शक्ति की प्रकृति को धारण कर ले, यदि वह विज्ञानमय कोष अर्थात् कारण शरीर में तथा प्राणमय एवं स्थूलतर अन्नमय कोषों या शरीरों को परस्पर जोड़नेवाले इस सूक्ष्म मानसिक कोष या शरीर में निवास करे तब, पर केवल तब ही वह अनन्त आध्यात्मिक चेतना के पूर्ण वैभव को अपने पार्थिव जीवन के अन्दर पूर्ण रूप से उतार लाने में समर्थ होगा; तभी वह अपनी समस्त सत्ता को और यहांतक कि अपनी संपूर्ण व्यक्त एवं मूर्त प्रकटनकारी प्रकृति को भी आध्यात्मिक राज्य में उठा ले जाने के उपयुक्त होगा। परन्तु यह कार्य अत्यन्त ही कठिन है; क्योंकि केवल कारण शरीर ही आध्यात्मिक स्तरों की चेतना और शक्तियों के प्रति सहज में खुल सकता है। और वह अपने स्वभाव से ही सत्ता के उच्चतर गोलार्द्ध का तत्त्व है, मनुष्य में तो वह या तो बिलकुल ही विकसित नहीं हुआ है या अबतक केवल अपक्व रूप में ही विकसित एवं संगठित है और हमारे अन्दर प्रच्छन्न सत्ता के अनेक मध्यवर्ती द्वारों के पीछे छुपा हुआ है। वह अपना उपादान-तत्त्व सत्य-ज्ञान तथा असीम आनन्द के स्तरों से आहरण करता है और ये स्तर पूर्णरूपेण एक उच्चतर गोलार्द्ध से सम्बन्ध रखते हैं जो अभीतक भी हमारी पहुंच से परे है। इस निम्नतर सत्ता पर अपने सत्य-प्रकाश और आनन्द की वृष्टि करते हुए ये उन सब चीजों के मूल उद्गम हैं जिन्हें हम आध्यात्मिकता तथा पूर्णता कहते हैं। परन्तु ये सत्य आदि हमारे अन्दर उन मोटे आवरणों के पीछे से छनते हुए आते हैं

जिनमें से ये इतने हलके और दुर्बल होकर पहुंचते हैं कि ये हमारे स्थूल-भौतिक बोधों की जड़ता में पूर्णतया आच्छादित हो जाते हैं, हमारे प्राणिक आवेगों में स्थूल ढंग से विरूप और विकृत बन जाते हैं, हमारी विचारात्मक खोजों में भी, कुछ कम स्थूल रूप से ही सही, विकृत हो जाते हैं, हमारी मानसिक प्रकृति के उच्चतम अन्तर्ज्ञानात्मक क्षेत्रों की अपेक्षाकृत अधिक शुद्धता और तीव्रता में भी ये अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं। विज्ञान-तत्त्व सत्तामात्र में गुप्त रूप से अवस्थित है। स्थूल-से-स्थूल जड़ सत्ता में भी वह विद्यमान है, वह अपनी निगूढ़ शक्ति और नियमों के द्वारा निम्नतर लोकों की रक्षा करता तथा उनपर शासन करता है; पर वह शक्ति पर्दे के पीछे छुपी हुई है और वह नियम हमारी भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृति के हीनतर नियम की जकड़ी हुई-सी सीमाओं और पंगु बनानेवाली विकृतियों के द्वारा अलक्षित रूप में कार्य करता है। तथापि निम्नतम रूपों के अन्दर विज्ञान-तत्त्व की प्रभुत्वपूर्ण उपस्थिति, समस्त सत्ता के एक होने के कारण, हमें इस बात का आश्वासन देती है कि सभी पर्दों के होते हुए भी, हमारी दृश्यमान दुर्बलताओं के समस्त स्तूप तथा हमारे मन-प्राण-शरीर की अक्षमता या अनिच्छा के रहते भी वह शक्ति और नियम यहां जागरित हो सकते हैं, यहांतक कि वे पूर्ण रूप से प्रकट भी हो सकते हैं। और जो कुछ हो सकता है वह एक दिन होकर रहेगा, क्योंकि यह सर्वशक्तिमान् आत्मा का एक नियम है।

'पुरुष' की इन उच्चतर भूमिकाओं तथा इनके आध्यात्मिक प्रकृतिवाले महत्तर लोकों के स्वरूप को समझना स्वभावतः ही कठिन है। यहांतक कि वेद और उपनिषदें भी रूपकों, संकेतों और प्रतीकों के द्वारा ही इनका आभास देती हैं, तथापि दो गोलार्द्धों की सीमा पर अवस्थित मन इन्हें जहांतक समझ सकता है वहांतक इनके सिद्धान्तों और इनके क्रियात्मक प्रभाव का कुछ वर्णन करने की चेष्टा करना आवश्यक है। मन की सीमा के परे जाना आत्म-ज्ञान के द्वारा आत्म-अतिक्रमण करनेवाले योग का शिखर एवं पूर्णत्व होगा। उपनिषद् में कहा गया है कि पूर्णता की अभीप्सा करनेवाली आत्मा अन्दर तथा ऊपर की ओर मुड़कर अन्नमय पुरुष से प्राणमय में तथा प्राणमय से मनोमय में प्रवेश करती है,—मनोमय पुरुष से विज्ञानमय में तथा उस विज्ञानमय से आनन्दमय पुरुष में प्रवेश करती है। यह आनन्दमय पुरुष पूर्ण सच्चिदानन्द का चिन्मय आधार है और इसमें पहुंच जाने से आत्मा का आरोहण पूरा हो जाता है। अतएव मन को मूर्त चेतना के इस सुनिश्चित रूपान्तर का, सदा अभीप्सा करनेवाली हमारी प्रकृति के इस प्रोज्ज्वल रूपान्तर एवं आत्म-अतिक्रमण का कुछ विवरण अपने सामने प्रस्तुत करने का यत्न अवश्य करना चाहिये। मन जो वर्णन करने में समर्थ हो सकता है वह स्वयं वर्णनीय वस्तु के अनुरूप कदापि नहीं हो सकता, पर वह, कम-से-कम, उसकी किसी संकेतप्रद छाया या शायद किसी अर्द्ध-प्रकाशमान प्रतिमा की ओर अंगुलि-निर्देश अवश्य कर सकता है।

अध्याय २२

विज्ञान

अपने पूर्ण आत्म-अतिक्रमण में हम मनोमय पुरुष के अज्ञान या अर्द्धप्रकाश के बाहर निकलकर तथा ऊपर उठकर इससे परे की महत्तर ज्ञानमय आत्मा एवं सत्य-शक्ति में पहुंच जाते हैं ताकि हम दिव्य ज्ञान की निर्बाध ज्योति में निवास कर सकें। वहां मनोमय मानव, जो कि हम हैं, विज्ञानमय पुरुष अर्थात् सत्य-सचेतन दिव्य सत्ता में परिणत हो जाता है। अपने आरोहण के "अद्रि" के उस धरातल पर अवस्थित होने पर हम विश्वात्मा की इस अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय स्थिति से सर्वथा भिन्न भूमिका में पहुंच जाते हैं, और इस परिवर्तन के साथ अपनी आत्मसत्ता के जीवन तथा अपने चारों ओर के जगत् के विषय में हमारा समस्त दृष्टिकोण एवं अनुभव भी परिवर्तित हो जाता है। आत्मा की एक नयी भूमिका में जन्म लेकर हम नयी प्रकृति धारण कर लेते हैं; क्योंकि आत्मा की भूमिका के अनुसार ही प्रकृति की भूमिका होती है। जड़तत्त्व से प्राण, प्राण से मन और बद्ध मन से मुक्त बुद्धि की ओर होनेवाले विश्व-आरोहण के प्रत्येक अवस्था-संक्रमण के समय ज्यों-ज्यों प्रसुप्त, अर्द्ध-व्यक्त या पहले से ही व्यक्त आत्मा सत्ता के अधिकाधिक उच्च स्तर की ओर उठती है त्यों-त्यों प्रकृति भी सत्ता की उत्कृष्टतर क्रिया, विशालतर चेतना तथा बृहत्तर शक्ति में, उसके गहनतर या विस्तृततर क्षेत्र और आनन्द में उन्नीत हो जाती है। परन्तु मनोमय पुरुष से विज्ञानमय पुरुष में संक्रमण योग में महान् और निर्णायक संक्रमण है। इसका मतलब यह है कि हमारे ऊपर विराट् अज्ञान का जो प्रभुत्व है उसके अंतिम जूए को उतार फेंकना और जगद्विषयक सत्य में तथा अन्धकार, असत्य, दुःख या भ्रम से अभेद्य एक असीम एवं सनातन चेतना में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित होना।

यह प्रथम शिखर है जो दिव्य पूर्णता अर्थात् दिव्य साधर्म्य एवं सादृश्यके लोक को स्पर्श करता है; क्योंकि शेष सब केवल ऊपर इसकी ओर दृष्टिपात करते हैं या इसके गूढ़ मर्म की कुछ किरणों को ही पकड़ पाते हैं। मन या अधिमानस के उच्चतम शिखर भी ह्रासप्राप्त अज्ञान के घेरे के अन्दर ही स्थित हैं; वे दिव्य ज्योति की किरणों को तिरछी करके अपने अन्दर प्रवेश करने दे सकते हैं पर उन्हें अक्षीण शक्ति के रूप में हमारे निम्न अंगोंतक जाने नहीं दे सकते। क्योंकि, जबतक हम मन, प्राण और शरीर के त्रिविध स्तर के भीतर रहते हैं, तबतक मन के अन्दर स्थित आत्मा को कुछ ज्ञान प्राप्त रहने पर भी हमारी सक्रिय प्रकृति अज्ञान की शक्ति के द्वारा कार्य करना जारी रखती है। और चाहे आत्मा ज्ञान की संपूर्ण विशालता को अपनी मानसिक चेतना में प्रतिबिम्बित या प्रदर्शित करे, फिर भी वह

व्यावहारिक रूप में उसे यथावत् क्रियाशील बनाने में असमर्थ रहेगी। निःसन्देह, सत्य की क्रिया में बहुत अधिक वृद्धि हो सकती है, किन्तु फिर भी संकीर्णता सत्य के पीछे लगी ही रहेगी, साथ ही वह एक ऐसे द्वैतभाव से भी अभिशप्त रहेगा जो उसे अनन्त की शक्ति में समग्रता के साथ कार्य नहीं करने देगा। दिव्य प्रकाशयुक्त मन की शक्ति साधारण शक्तियों की तुलना में गुरुतर हो सकती है, तथापि वह अक्षमता से ग्रस्त ही होगी और अतएव कार्यसाधक संकल्प की शक्ति तथा उसे प्रेरित करनेवाली ज्ञान-ज्योति में पूर्ण सामंजस्य सम्भव नहीं होगा। अनन्त उपस्थिति वहां स्थितिशील अवस्था में विद्यमान हो सकती है, परन्तु प्रकृति की क्रियाओं की गतिशक्ति अभी निम्नतर प्रकृति से ही सम्बद्ध होती है, वह अनिवार्यतः उसके कार्य-व्यापार के त्रिगुण का अनुसरण करती है और उसके अंदर की महानता को कोई उपयुक्त रूप देने में सफल नहीं हो सकती। असफलता की, आदर्श और उसे सिद्ध करनेवाले संकल्प के बीच की खाई की, अपनी आंतरिक चेतना में अनुभूत होनेवाले सत्य को जीवन्त रूप और कर्म में चरितार्थ करने में हमारी सतत असमर्थता की यह विपदा ही मन और प्राण की अपने पीछे स्थित दिव्यता के प्रति समस्त अभीप्सा का पीछा करती है। परन्तु विज्ञान केवल सत्य-चेतना ही नहीं, सत्य-शक्ति भी है, वह अनन्त और दिव्य प्रकृति की अपनी वास्तविक क्रिया है; वह एक दिव्य ज्ञान है जो स्वाभाविक, ज्योतिर्मय और अटल आत्म-चरितार्थता के बल और आनन्द में दिव्य संकल्प के साथ एक है। अतएव, विज्ञान के द्वारा हम अपनी मानव-प्रकृति को दैवी प्रकृति में परिणत कर सकते हैं।

तो यह विज्ञान क्या वस्तु है और इसका वर्णन हम किस प्रकार कर सकते हैं? यहां पहले दो परस्पर-विपरीत भ्रान्तियों से बचना आवश्यक है, वे भ्रान्तियां दो मिथ्या धारणाएं हैं जो विज्ञान के सत्य के दो विरोधी पक्षों को विकृत कर देती हैं। उनमें से एक भ्रान्ति है बुद्धि के घेरे में बन्द विचारकों की। वे 'विज्ञान' को एक अन्य भारतीय शब्द 'बुद्धि' का पर्याय समझते हैं और 'बुद्धि' को तर्कशक्ति, विवेकबुद्धि किंवा तर्कबुद्धि का। जो दर्शन 'विज्ञान' का ऐसा अर्थ मानते हैं वे शुद्ध बुद्धि के स्तर से एकदम शुद्ध आत्मा के स्तर में चले जाते हैं। इन दोनों के बीच में वे किसी भी शक्ति को स्वीकार नहीं करते, ज्ञान की शुद्ध तर्क से अधिक दिव्य किसी भी क्रिया को वे नहीं मानते; सत्य का साक्षात्कार करने के सीमित मानवीय साधन को चेतना का ऊंचे-से-ऊंचा क्रियाशील साधन, उसकी सर्वोच्च शक्ति एवं मूल क्रिया माना जाता है। इससे उलटी भ्रान्ति किंवा मिथ्या धारणा है रहस्यवादियों की। वे 'विज्ञान' को अनन्त ब्रह्म की उस चेतना से अभिन्न मानते हैं जो समस्त अवधारणा से रहित है या फिर जिसमें विचारणामात्र विचार के एक ही सारतत्त्व में पुंजीभूत है, एकमेव के अखण्ड और अपरिवर्तनीय विचार में लीन होने के कारण अन्य शक्तिमय कार्य से विरत है। यह चेतना तो उपनिषद् में वर्णित **चैतन्यघन** है

और विज्ञान की एक क्रिया है अथवा यूं कहना चाहिये कि उसकी नाम-रूपात्मक क्रिया का एक सूत्र है। परन्तु विज्ञान अनन्त सत्तत्त्व का यह घनीभूत चैतन्य ही नहीं है; इसके साथ-साथ यह अनन्त की असंख्यविध लीला का अनन्त ज्ञान भी है। समस्त विचारणा (मानसिक नहीं, अतिमानसिक) इसमें निहित है, पर यह विचारणा के द्वारा सीमित नहीं होता, क्योंकि यह समस्त विचारणात्मक क्रिया के बहुत ही परे है। विज्ञानमय विचारणा अपने स्वरूप में बौद्धिक चिन्तन भी नहीं है; जिसे हम विवेकबुद्धि कहते हैं वह यह नहीं है, न यह एकाग्र बुद्धि ही है। क्योंकि विवेकशक्ति की पद्धतियां मानसिक हैं, उसकी प्राप्तियां मानसिक होती हैं, उसका आधार भी मन के ऊपर है, किन्तु विज्ञान की विचारपद्धति स्वयं-प्रकाश है, मन से अतीत है, इससे उत्पन्न होनेवाली विचार-ज्योति स्वयं-स्फूर्त होती है, वह यत्न के द्वारा प्राप्त नहीं होती, इसके विचार का आधार सचेतन तादात्म्यों की अभिव्यक्तिरूप होता है न कि परोक्ष संपर्कों से उत्पन्न संस्कारों का किसी अन्य रूप में प्रकाशन। विचार के इन दो (मानसिक और अतिमानसिक) रूपों में परस्पर सम्बन्ध है, यहांतक कि एक प्रकार की टूटी-फूटी एकता भी है; क्योंकि इनमें से पहला प्रच्छन्न रूप में दूसरे से उद्भूत होता है। मन उससे उत्पन्न होता है जो मन से परे है। परन्तु ये भिन्न स्तरों पर कार्य करते हैं और एक-दूसरे की प्रक्रिया को उलट देते हैं।

शुद्ध से शुद्ध बुद्धि, अत्यन्त आलोकित विवेकपूर्ण बुद्धि को भी विज्ञान नहीं कह सकते। विवेकशक्ति या बुद्धि तो केवल निम्न बुद्धि है; यह अपनी क्रिया के लिये इन्द्रिय-मानस के बोधों और मनोमय बुद्धि के प्रत्ययों पर निर्भर करती है। यह विज्ञान के समान स्वयंप्रकाश, प्रामाणिक, ज्ञाता को ज्ञेय के साथ एक कर देनेवाली नहीं है। निःसन्देह, बुद्धि का एक उच्चतर रूप भी है जिसे अन्तर्ज्ञानात्मक मन या बुद्धि कह सकते हैं, और यह अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि अपनी बोधियों और अन्तःप्रेरणाओं, अपने तीव्र सत्यप्रकाशक अन्तर्दर्शन तथा अपनी आलोकित अन्तर्दृष्टि और विवेकशक्ति के द्वारा बुद्धि के कार्य को अधिक उच्च सामर्थ्य, अधिक द्रुत क्रिया तथा महत्तर और सहजस्फूर्त्त निश्चयता के साथ कर सकती है। यह सत्य की एक स्वयं-ज्योति में कार्य करती है जो ऐन्द्रिय मन की चंचल उल्का-द्युतियों तथा इसके सीमित संदिग्ध बोधों पर निर्भर नहीं करती, यह बुद्धि के नहीं अन्तर्दर्शन के प्रत्ययों द्वारा अपना कार्य आरम्भ करती है : यह एक प्रकार की सत्य-दृष्टि, सत्य-श्रुति, सत्य-स्मृति एवं साक्षात् सत्य-दर्शन है। इस सच्चे और प्रामाणिक अन्तर्ज्ञान और साधारण मनोमय बुद्धि की शक्ति में जो भेद है उसे हमें समझना होगा। साधारण बुद्धि की उस शक्ति को अत्यन्त सहज रूप में ही इस अन्तर्ज्ञान के साथ मिला दिया जाता है। पर वह अन्तर्हित तर्कणा की एक शक्ति है जो एक छलांग में ही अपने निष्कर्ष पर पहुंच जाती है और तार्किक मन के साधारण क्रमों की अपेक्षा नहीं करती। तर्कप्रधान बुद्धि एक-एक पग करके आगे बढ़ती है और

एक ऐसे आदमी की तरह, जो असुरक्षित प्रदेश में चल रहा है और जिसे अपनी दृष्टि में आनेवाली चप्पा-चप्पा जमीन को अपने पैर के शंकित स्पर्श से परखना होता है, वह अपने हर एक पग की सुनिश्चितता की परीक्षा करती है। परन्तु बुद्धि की यह अन्य तर्कातीत पद्धति तीव्र अन्तर्दृष्टि या द्रुत विवेक की क्रिया है; यह एक लंबे डग या छलांग के द्वारा आगे बढ़ती है जैसे कोई आदमी एक निश्चित स्थान से दूसरे निश्चित आधारवाले—या कम-से-कम उसके द्वारा निश्चित समझे जानेवाले—स्थान पर कूद लगाता है। ऐसा आदमी कूदकर पार करने की जगह को क्षणभर में, एक ही संहत दृष्टि की चमक में देख लेता है, पर वह इसके क्रमों तथा इसकी विशेषताओं एवं परिस्थितियों को दृष्टि या स्पर्श के द्वारा पृथक्-पृथक् जानता या नापता नहीं है। बुद्धि की उक्त क्रिया में हमें अन्तर्ज्ञान की शक्ति की कुछ-कुछ अनुभूति होती है, इसमें उसकी-सी कुछ वेगमयता रहती है और उसकी ज्योति एवं निश्चयात्मकता की कुछ प्रतीति होती है, और अतएव इसे अन्तर्ज्ञान समझ लेने के लिये हम सदा ही तत्पर रहते हैं। पर हमारी धारणा भ्रमात्मक होती है और यदि हम उसपर विश्वास कर लें तो वह हमें दुःखदायी महाभ्रान्तियों की ओर ले जा सकती है।

बुद्धिवादी तो यहांतक समझते हैं कि स्वयं अन्तर्ज्ञान भी इस द्रुत प्रक्रिया से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रक्रिया में तर्कप्रधान मन की सम्पूर्ण क्रिया वेगपूर्वक सम्पन्न हो जाती है अथवा शायद अर्द्धचेतन या अवचेतन रूप से सम्पन्न होती है; वह मन की तर्कयुक्त पद्धति के द्वारा विचारपूर्वक सम्पादित नहीं की जाती। परन्तु यह प्रक्रिया, अपने स्वरूप में, अन्तर्ज्ञान से सर्वथा भिन्न है और यह, आवश्यक रूप से, सत्य-क्रिया ही नहीं होती। इसकी कूदने की शक्ति के परिणामस्वरूप हम ठोकर भी खा सकते हैं, इसका वेग हमें धोखा दे सकता है, इसकी निश्चयात्मकता बहुधा एक अति विश्वासपूर्ण भ्रांति ही होती है। इसके निष्कर्ष की सत्यता सिद्ध करने के लिये हमें सदा ही बाद में इन्द्रिय-बोधों की साक्षी के द्वारा इसे प्रमाणित या पुष्ट करना होता है या फिर इसके अपने निश्चय-विश्वासों की इसके प्रति व्याख्या करने के लिये बुद्धिमूलक धारणाओं को युक्तिशृंखला के द्वारा जोड़ना पड़ता है। निःसंदेह, यह निम्न ज्योति वास्तविक अन्तर्ज्ञान के मिश्रण को अपने अन्दर अनायास ही ग्रहण कर सकती है और तब मिथ्या अन्तर्ज्ञानात्मक या अर्ध-अन्तर्ज्ञानात्मक मन उत्पन्न हो जाता है जो अपनी बहुधा होनेवाली प्रोज्ज्वल सफलताओं के कारण अत्यन्त भ्रामक होता है। वे सफलताएं अत्यधिक स्वयं-निश्चित मिथ्या निश्चयों के भँवर को कुछ शान्त कर देती हैं। इसके विपरीत, सच्चा अन्तर्ज्ञान अपनी सत्यता का प्रमाण अपने अन्दर वहन किये रहता है; वह अपनी सीमा के भीतर सुनिश्चित और निर्भ्रांत होता है और जबतक वह शुद्ध रहता है तथा इन्द्रिय-भ्रम या बौद्धिक विचारणा के किसी भी मिश्रण को अपने अन्दर प्रवेश नहीं करने देता, तबतक वह

अनुभव के द्वारा कभी खंडित नहीं होता। यह ठीक है कि अन्तर्ज्ञान को पीछे तर्कबुद्धि या इन्द्रियबोध के द्वारा परखकर सत्य सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु उसकी सत्यता इस प्रकार की सिद्धि पर निर्भर नहीं करती, वह एक स्वतःस्फूर्त स्वयं-सिद्धि के द्वारा सुनिश्चित होती है। यदि बुद्धि अपने अनुमानों के आधार पर इस महत्तर ज्योति का विरोध करे, तो अन्त में विशालतर ज्ञान प्राप्त होने पर यह पता लगेगा कि अन्तर्ज्ञान का निष्कर्ष ठीक था तथा अधिक युक्तियुक्त दीखनेवाला तर्कलब्ध एवं अनुमानमूलक निष्कर्ष भ्रांतिपूर्ण था। क्योंकि सच्चा अन्तर्ज्ञान वस्तुविषयक स्वयं-स्थित सत्य को लेकर चलता है, और उस स्वयं-स्थित सत्य के द्वारा ही प्राप्त होता है, ज्ञान-प्राप्ति की किसी परोक्ष, गौण या अन्याश्रित विधि के द्वारा नहीं।

परन्तु अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि का नाम भी विज्ञान नहीं है, यह तो अतिमानस की ज्योति की एक धारामात्र है जो मन के भीतर पहुंचने के लिये अंधेरे एवं मेघाच्छन्न प्रदेशों में बिजली के समान अपने प्रकाश की क्षणिक प्रभाओं के द्वारा अपना मार्ग खोज रही है। इसकी अन्तःप्रेरणाएं, इसके सत्य-दर्शन और अन्तर्ज्ञान, इसके स्वयंप्रकाश विवेक-ज्ञान उच्चतर विज्ञान-भूमिका से आनेवाले सन्देश होते हैं जो अवसर पाते ही हमारी चेतना के निम्न स्तर में प्रविष्ट हो जाते हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन का असली स्वरूप ही इसकी क्रिया तथा स्वयंपूर्ण विज्ञान की क्रिया में एक गुरुतर भेद की खाई पैदा कर देता है। सर्वप्रथम, यह पृथक् तथा सीमित आलोकों के द्वारा कार्य करता है और इसका सत्य ज्ञान के उस प्रायः ही संकुचित क्षेत्र या उस एक ही छोटे-से स्थानतक सीमित रहता है जो इसकी बिजली की-सी एक ही चमक के द्वारा प्रकाशित होता है। इसका हस्तक्षेप उस एक ही चमक से आरम्भ होता है और उसीके साथ समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, हम पशुओं में सहज-प्रेरणा की क्रिया देखते हैं—वह उस प्राणिक या ऐन्द्रिय मन में उत्पन्न यान्त्रिक-सा अन्तर्ज्ञान होती है जो पशु का सबसे ऊंचा और अचूक साधन है। उसे इसी साधन पर निर्भर करना पड़ता है, क्योंकि उसके पास बुद्धि का मानवीय प्रकाश नहीं है, है केवल अपेक्षाकृत अपक्व और अभीतक अनघड़ बुद्धि। और हम तुरन्त ही देख सकते हैं कि इस सहजप्रेरणा का अद्‌भुत सत्य, जो बुद्धि की अपेक्षा इतना अधिक सुनिश्चित प्रतीत होता है, पशु-पक्षी या कीटकृमि में एक विशेष और परिमित प्रयोजनतक ही सीमित रहता है जिसे पूरा करने के लिये उसे अधिकार प्राप्त है। जब पशु का प्राणिक मन उस परिमित सीमा के परे कार्य करने का यत्न करता है तो वह मनुष्य की बुद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक अन्धे तरीके से भूलें करता और भटकता है और उसे एक के बाद एक इन्द्रियानुभवों के द्वारा कठिनाई के साथ ही शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। परन्तु मनुष्य का उच्चतर मानसिक अन्तर्ज्ञान अन्तर्दर्शन के द्वारा लब्ध ज्ञान होता है न कि इन्द्रियलब्ध सहजज्ञान; क्योंकि वह

बुद्धि को आलोकित करता है, ऐन्द्रिय मन को नहीं, वह आत्म-सचेतन और प्रकाशपूर्ण होता है, कोई अर्द्ध-अवचेतन अंध-ज्योति नहीं होता : वह स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयमेव क्रिया करता है, यान्त्रिक रूप में जड़वत् गति नहीं करता। तथापि, जब वह अनुकरणात्मक मिथ्या अन्तर्ज्ञान के द्वारा दूषित नहीं होता तब भी वह मनुष्य में पशु की अन्धप्रेरणा की भांति मर्यादित रहता है, संकल्प या ज्ञान के एक विशेष उद्देश्य की पूर्त्तितक ही सीमित रहता है—जैसे अन्धप्रेरणा जीवन के एक विशेष प्रयोजन या प्रकृति के विशेष उद्देश्यतक ही मर्यादित होती है। और जब बुद्धि अपने अटलप्राय स्वभाव के अनुसार उसका उपयोग करने, उसे व्यवहार में लाने, उसमें वृद्धि करने का यत्न करती है तो वह अन्तर्ज्ञानात्मक केन्द्र के चारों ओर अपने विशिष्ट ढंग से मिश्रित सत्य और भ्रम का स्तूप खड़ा कर देती है। कितनी ही बार, अन्तर्ज्ञान के ठेठ सारतत्त्व में चुपके से ऐन्द्रिय और विचारसम्बन्धी भ्रम का तत्त्व डालकर अथवा इसपर मानसिक कल्पनाओं और भ्रान्तियों की तह चढ़ाकर वह इसके सत्य को पथच्युत ही नहीं विकृत भी कर देती है और इसे असत्य में परिणत कर डालती है। अतएव अपने सर्वोत्तम रूप में अन्तर्ज्ञान हमें एक सीमित प्रकाश ही प्रदान करता है, यद्यपि वह होता है प्रखर; अपने निकृष्टतम रूप में, हमारे द्वारा इसका दुरुपयोग या मिथ्या अनुकरण किये जाने पर, यह हमें कठिनाइयों, परेशानियों और भ्रान्तियों में ले जा सकता है। इससे कम महत्त्वाकांक्षी बौद्धिक तर्क अपनी सुरक्षित, श्रमपूर्ण पर धीमी पद्धति से सन्तुष्ट रहकर उन कठिनाइयों और भ्रमों से बच जाता है,—वह पद्धति बुद्धि के निम्न प्रयोजनों के लिये ही सुरक्षित होती है, पर वस्तुओं के आंतरिक सत्य के लिये वह कभी भी सन्तोषप्रद मार्गदर्शक नहीं हो सकती।

तर्कशील बुद्धि पर हम जितना ही गौण रूप में निर्भर रहते हैं उतना ही हम अन्तर्ज्ञानात्मक मन के प्रयोग को विकसित और विस्तृत कर सकते हैं। हम अपने मन को शिक्षित कर सकते हैं कि वह आज की भांति अन्तर्ज्ञानात्मक ज्योति की प्रत्येक पृथक् प्रभा पर अपने निम्नतर प्रयोजनों के लिये अधिकार नहीं जमाये, तुरन्त ही इसके चारों ओर हमारे विचार का घेरा न डाल दे और उसकी बौद्धिक क्रिया के द्वारा इसे बंधे-बंधाये रूप में न कस दे; हम उसे सिखा सकते हैं कि वह क्रमिक एवं सम्बद्ध अन्तर्ज्ञानों के प्रवाह के रूप में चिन्तन करे, एक प्रोज्ज्वल और जयशालिनी शृंखला के रूप में ज्योति पर ज्योति को ढारे। इस कठिन परिवर्तन में हम उतने ही सफल होंगे जितना कि हम हस्तक्षेप करनेवाली बुद्धि को शुद्ध करेंगे अर्थात् यदि हम उसमें से वस्तुओं के बाह्य रूपों के दास भौतिक विचार के तत्त्व को, निम्न प्रकृति की इच्छाओं, कामनाओं और आवेगों के दास प्राणिक विचार के तत्त्व को, हमारी बुद्धि की अभिरुचित, पूर्वनिश्चित या अनुकूल धारणाओं, कल्पनाओं, सम्मतियों तथा नियत क्रियाओं के दास मानसिक विचार के तत्त्व को

कम कर सकेंगे, यदि उन तत्त्वों की मात्रा को कम-से-कम करके हम उसके स्थान पर वस्तुविषयक अन्तर्ज्ञानमय दृष्टि और अनुभूति को, बाह्य रूपों में पैठनेवाली बोधिमय अन्तर्दृष्टि को, अन्तर्ज्ञानात्मक संकल्प तथा विचारणा को प्रतिष्ठित कर सकेंगे। हमारी चेतना के लिये, जो स्वभावतः ही मन, प्राण और शरीर की त्रिविध रज्जु के द्वारा अपनी अपूर्णता और अपने अज्ञान के साथ बंधी हुई है, यह कार्य काफी कठिन है। इस त्रिविध रज्जु को आत्मा के बन्धन की वैदिक उपमा में उत्तम, मध्यम और अधम पाश कहा गया है। ये बाह्य रूपों के मिश्रित सत्य और अनृत के पाश हैं जिनके द्वारा शुनःशेप को यज्ञ के स्तंभ के साथ बांधा गया था।

पर यदि यह कठिन कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न हो भी जाय तो भी अन्तर्ज्ञान विज्ञान नहीं कहलायेगा; वह मन के अन्दर इसका एक सूक्ष्म प्रक्षेपमात्र होगा या फिर इसका प्रथम प्रविष्ट होनेवाला तीक्ष्ण अग्रभाग। अन्तर्ज्ञान और विज्ञान में जो भेद है उसे प्रतीकों के बिना निरूपित करना सुगम नहीं। उसका वर्णन उस वैदिक रूपक का आश्रय लेकर ही किया जा सकता है जिसमें सूर्य विज्ञान[1] का प्रतिनिधि है और द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी मानव एवं विश्व के मन, प्राण और शरीर के प्रतिनिधि हैं। पृथ्वी पर रहते हुए, अन्तरिक्ष में आरोहण करते हुए अथवा यहांतक कि द्युलोक में उड़ान लेते हुए भी मनोमय पुरुष सूर्य की किरणों में ही विचरण करेगा, उसकी ज्योतिर्मय देह में नहीं। और इन किरणों में वह वस्तुओं को उस रूप में नहीं देखेगा जैसी कि वे हैं वरन् जैसी वे उसके दृष्टि के करण में प्रतिबिम्बित होने पर अर्थात् उस करण के दोषों से विकृत अथवा उसकी मर्यादाओं के द्वारा अपने सत्य में सीमित होने पर दीखती हैं। परन्तु विज्ञानमय पुरुष साक्षात् सूर्य में, **'ऋतं ज्योतिः'** की वास्तविक देह और दीप्ति में निवास करता है; वह इस ज्योति को अपनी स्वयंप्रकाश सत्ता समझता है और निम्न त्रिविध सत्ता के तथा इसके अन्दर की प्रत्येक वस्तु के सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। उस सत्य को वह दृष्टि के मानसिक करण में पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्ब के द्वारा नहीं बल्कि साक्षात् विज्ञान-सूर्यरूपी चक्षु के द्वारा देखता है,—क्योंकि वेद में कहा गया है कि सूर्य देवताओं का चक्षु है। मनोमय पुरुष, अन्तर्ज्ञानात्मक मन में भी, सत्य को उज्ज्वल प्रतिबिम्ब या सीमित सन्देश के द्वारा तथा मानसिक दृष्टि की सीमा-मर्यादा एवं निम्न सामर्थ्य के अधीन रहते हुए ही अनुभव कर सकता है। परन्तु विज्ञानमय पुरुष उसे स्वयं विज्ञान के द्वारा सत्य के ठेठ केन्द्र एवं उमड़ते स्रोत से, उसके असली रूप में और उसकी अपनी सहज-स्फूर्त एवं स्वयं-प्रकाशक प्रक्रिया के द्वारा देखता है। क्योंकि परोक्ष और मानवीय ज्ञान के विपरीत, विज्ञान प्रत्यक्ष और दिव्य ज्ञान है।

बुद्धि के प्रति विज्ञान के स्वरूप का वर्णन बुद्धि के स्वरूप से उसकी विषमता दिखाकर ही किया जा सकता है और तब भी जिन शब्दों का प्रयोग हमें करना

[1] सूर्य को वेद में ऐसा ही अर्थात् **'ऋतं ज्योतिः'** कहा गया है।

पड़ेगा वे वास्तविक अनुभव की कुछ राशि की सहायता के बिना प्रकाश नहीं डाल सकते। क्योंकि बुद्धि के द्वारा गढ़ी हुई कौन-सी भाषा भला अतिबौद्धिक वस्तु को व्यक्त कर सकती है? इन दो शक्तियों के मूल में भेद यह है कि मानसिक बुद्धि श्रम-पूर्वक अज्ञान से सत्य की ओर बढ़ती है, पर विज्ञान में सत्य के साथ सीधा सम्पर्क रहता है, इसका प्रत्यक्ष दर्शन, इसकी सहज और सतत प्राप्ति होती है और उसे इसकी खोज करने की या किसी प्रकार की प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। बुद्धि बाह्य रूपों से अपना कार्य आरम्भ करके उसके पीछे रहनेवाले सत्य को प्राप्त करने का यत्न करती है, उसे बाह्य रूपों का थोड़ा-बहुत आधार शायद सदा ही लेना पड़ता है; वह सत्य को बाह्य रूपों के प्रकाश में दिखलाती है। विज्ञान अपना कार्य सत्य से आरम्भ करता है और सत्य के प्रकाश में बाह्य रूपों को दिखलाता है; वह स्वयं सत्य की देह है और इसकी आत्मा भी। बुद्धि अनुमान के द्वारा अग्रसर होती है और अन्त में कोई परिणाम निकालती है, परन्तु विज्ञान तादात्म्य या अन्तर्दृष्टि के द्वारा अग्रसर होता है,—वह है, वह देखता है और जानता है। जितने प्रत्यक्ष रूप में स्थूल नेत्र पदार्थों के बाह्य रूप को देखता और ग्रहण करता है, उतने और उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष रूप में विज्ञान वस्तुओं के अन्तर्निहित सत्य को देखता और ग्रहण करता है। किन्तु जहां स्थूल इन्द्रिय एक परोक्ष सम्बन्ध के द्वारा अपने विषयों के साथ सम्पर्क स्थापित करती है, वहां विज्ञान प्रत्यक्ष एकता के द्वारा वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस प्रकार यह सब वस्तुओं को वैसे ही सहज, निश्चयोत्पादक और प्रत्यक्ष रूप में जान सकता है जैसे कोई मनुष्य अपनी निज की सत्ता को जानता है। बुद्धि के लिये केवल इन्द्रियलब्ध ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' ज्ञान होता है, बाकी सब सत्य परोक्ष रूप में ही प्राप्त होता है; विज्ञान के लिये उसका सम्पूर्ण सत्य 'प्रत्यक्ष' ज्ञान ही है। अतएव बुद्धिलभ्य सत्य एक ऐसी प्राप्ति के समान होता है जिसके ऊपर सन्देह की एक विशेष प्रकार की छाया, एक अपूर्णता, तमस् और अज्ञान या अर्द्धज्ञान की पारिपार्श्विक उपच्छाया सदा ही मंडराती रहती है। साथ ही, और आगे के ज्ञान के द्वारा उस सत्य के परिवर्तित या विलीन हो जाने की सम्भावना भी सदा बनी रहती है। किन्तु विज्ञान का सत्य संशय से मुक्त, स्वतः-सिद्ध, स्वयं-स्थित, अकाट्य और निरपेक्ष होता है।

बुद्धि का पहला करण है निरीक्षण—सामान्य, विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक निरीक्षण। वह तुलना, वैषम्य और सादृश्य की प्रक्रियाओं की भी सहायता लेती है,—निगमन, व्याप्तिग्रह, तथा सब प्रकार के अनुमानों की तार्किक विधियों के द्वारा अनुभव से परोक्ष ज्ञान की ओर बढ़ती है,—स्मरणशक्ति का आश्रय लेती है, कल्पना के द्वारा अपनी सीमा के परे चली जाती है, निर्णय के द्वारा अपनी स्थिति को सुरक्षित करती है; यह सब अंधेरे में खोजने की ही प्रक्रिया है। पर विज्ञान

खोज नहीं करता, उसे तो सब कुछ प्राप्त है। अथवा, यदि उसे आलोक प्रदान करना होता है, तब भी उसे इसके लिये यत्न नहीं करना पड़ता; वह प्रकट और प्रकाशित कर देता है; जो चेतना बुद्धि से विज्ञान में रूपान्तरित हो जायेगी उसमें कल्पना का स्थान सत्य-प्रेरणा ले लेगी, मानसिक निर्णय अपना स्थान स्वतःप्रकाशमान विवेक को दे देगा। तर्क से निष्कर्ष पर पहुंचने की मन्द और स्खलनशील न्यायशास्त्रीय प्रक्रिया को बहिष्कृत करके उसके स्थान पर द्रुत अन्तर्ज्ञानात्मक क्रिया प्रतिष्ठित हो जायगी; निष्कर्ष या तथ्य तुरन्त ही अपने निज अधिकार के साथ, अपने स्वयं-पर्याप्त प्रमाण के द्वारा दिखायी दे जायेगा और जिन प्रमाणों के द्वारा हम उस निष्कर्ष या तथ्य पर पहुंचते हैं वे सब भी तुरन्त, उसके साथ, उसी व्यापक चित्र में, दृष्टिगत हो जायेंगे, उसके प्रमाण के रूप में नहीं, बल्कि उसकी अन्तरंग अवस्थाओं तथा उसके अन्तरीय संयोजक सूत्रों एवं सम्बन्धों के रूप में, उसके निर्मायक अंगों या परिस्थिति-रूपी पार्श्वों के रूप में। मानसिक और ऐन्द्रियक निरीक्षण एक अन्तर्दृष्टि में परिवर्तित हो जायेगा जो बाह्य करणों को प्रणालिकाओं के रूप में प्रयुक्त करेगी, किन्तु उनपर इस प्रकार निर्भर नहीं रहेगी जिस प्रकार हमारा मन रहता है जो स्थूल इन्द्रियों के बिना अन्धा और बहरा ही हो जाता है। और, यह अन्तर्दृष्टि केवल वस्तु को नहीं, वरन् उसके समस्त सत्य, उसके बलों और शक्तियों तथा उसके अन्दर के नित्य तत्त्वों को भी देखेगी। हमारी अनिश्चित स्मरणशक्ति विनष्ट हो जायेगी और उसके स्थान पर हमें ज्ञान की ज्योतिर्मय प्राप्ति होगी, एक ऐसी दिव्य स्मृति प्राप्त होगी जो प्राप्त ज्ञान का भण्डार नहीं है, बल्कि सभी वस्तुओं को चेतना में सदा निहित रखती है; वह एक ही साथ भूत, वर्तमान और भविष्य की स्मृति है।

कारण, जहां बुद्धि काल के एक क्षण से दूसरे क्षण की ओर अग्रसर होती है और खोती तथा प्राप्त करती है और फिर खोती तथा फिर प्राप्त करती है, वहां विज्ञान काल को एक ही अखण्ड दृष्टि एवं शाश्वत शक्ति में अधिकृत कर लेता है और भूत, वर्तमान तथा भविष्य को उनके अविच्छेद्य सम्बन्धों के द्वारा, ज्ञान के एक ही अविच्छिन्न मानचित्र में, एक-दूसरे के पास-पास शृंखलाबद्ध कर देता है। विज्ञान समग्र सत्ता से आरम्भ करता है जिसे वह तत्काल ही आयत्त कर लेता है; वह खण्डों, समूहों और व्योरों को समग्र के साथ सम्बद्ध रूप में ही तथा एक ही साक्षात्कार में युगपत् देखता है; मानसिक बुद्धि समग्र को वस्तुतः बिल्कुल ही नहीं देख सकती और किसी भी 'समग्र' को पहले उसके खण्डों, समूहों और व्योरों का विश्लेषण तथा संश्लेषण किये बिना पूर्ण रूप से नहीं जान पाती। अन्यथा उसका, समग्र का अवलोकन सदैव इसके अस्पष्ट लक्षणों का एक अनिश्चित भान या अपूर्ण बोध या अव्यवस्थित सार ही होता है। बुद्धि उपादानों, प्रक्रियाओं और गुणों का विवेचन करती है; इनके द्वारा वह स्वयं उस वस्तु तथा उसके सत्य स्वरूप और

सारतत्त्व के विषय में धारणा बनाने की व्यर्थ ही चेष्टा करती है। परन्तु विज्ञान सबसे पहले वस्तु को उसके शुद्ध रूप में देखता है, उसके मूल और नित्य स्वरूप की तह में जाता है, उसकी प्रक्रियाओं और गुणों को उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति के रूप में ही उसके साथ संयुक्त करता है। बुद्धि भेद-प्रभेद में निवास करती है, और उसके अन्दर कैद है; वह वस्तुओं को पृथक्-पृथक् हाथ में लेती है और प्रत्येक के साथ पृथक् सत्ता के रूप में ही व्यवहार करती है, जैसे कि वह काल के खण्डों और देश के विभागों के साथ करती है। एकता को तो वह केवल कुलयोग के रूप में या भेद-प्रभेद को बहिष्कृत करके या फिर एक सामान्य कल्पना एवं रिक्त आकृति के रूप में ही देखती है। परन्तु विज्ञान एकता में निवास करता है और इसीके द्वारा भेद-प्रभेदों के समस्त स्वरूपों को जानता है; वह एकता से अपना कार्य आरम्भ करता है और एकता के ही भेद-प्रभेद को देखता है, 'एक' का निर्माण करनेवाले भेद-प्रभेदों को नहीं, बल्कि अपने अनेकानेक रूपों का निर्माण करनेवाली एकता को देखता है। विज्ञानमय ज्ञान, विज्ञानमय अनुभव किसी वास्तविक भेद को स्वीकार नहीं करता; वह वस्तुओं के साथ इस प्रकार पृथक् रूप में व्यवहार नहीं करता मानो वे अपने सच्चे और मूल एकत्व से स्वतन्त्र हों। बुद्धि सांत के साथ व्यवहार करती है और अनन्त के सामने अपनेको असहाय पाती है; वह उसकी कल्पना इसी रूप में कर सकती है कि यह एक सीमातीत विस्तार है जिसमें सांत अपना कार्य करता है, परन्तु अनन्त के निज स्वरूप की कल्पना वह कठिनाई से ही कर सकती है और इसे हृदयंगम तो बिल्कुल नहीं कर सकती, न इसमें पैठ ही सकती है। परन्तु विज्ञान अनन्त में ही अपना अस्तित्व धारण करता है, उसीमें देखता और निवास करता है; वह सदा अनन्त से ही आरम्भ करता है और सांत वस्तुओं को अनन्त के साथ सम्बद्ध रूप में तथा अनन्त के अर्थ में ही जानता है।

इस प्रकार, हमारी तर्कणा और बुद्धि की तुलना में हमारे लिये विज्ञान का जो रूप है उस अपूर्ण रूप में नहीं, बल्कि अपनी आत्मचेतना में वह जैसा है उस रूप में हम उसका वर्णन करना चाहें तो रूपकों और प्रतीकों के बिना हम कदाचित् उसका वर्णन कर ही नहीं सकते। और, पहले हमें यह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान-भूमिका, अर्थात् महत् या विज्ञान हमारी चेतना का सर्वोच्च स्तर नहीं, बल्कि बीच का या जोड़नेवाला स्तर है। चरम-परम आत्मा की त्रयात्मक गरिमा अर्थात् सनातन की अनन्त सत्ता, चेतना एवं आनन्द और हमारी निम्न त्रिविध सत्ता एवं प्रकृति के बीच में रहने के कारण, वह मानो सनातन के मध्यस्थभूत, सुनिर्धारित, व्यवस्थाकारी और सर्जनशील ज्ञान, बल और आनन्द के रूप में स्थित है। विज्ञान में सच्चिदानन्द अपनी अगम सत्ता की ज्योति को एकत्र करके सत्ता के दिव्य ज्ञान, दिव्य संकल्प और दिव्य आनन्द की एक रचना और शक्ति के रूप में आत्मा पर

उंडेलता है। यह ऐसा है मानों अनंत ज्योति सूर्य के सघन मण्डल में पुंजीभूत हो और उस सूर्य के आधार पर रहनेवाली सभी वस्तुओं पर नित्य-स्थायी रश्मियों के रूप में लुटा दी गयी हो। परन्तु विज्ञान केवल ज्योति ही नहीं है, वह शक्ति भी है; वह सर्जनशील ज्ञान है, वह प्रधान दिव्य 'भाव' का स्वयं शक्तिशाली सत्य है। यह भाव कोई सर्जनशील कल्पना नहीं है, कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो शून्य में रचना करती है, बल्कि यह सनातन उपादान की ज्योति और शक्ति है, सत्य-शक्ति से परिपूर्ण सत्य-ज्योति है; और यह उसी वस्तु को प्रकाश में लाता है जो सत्ता के अन्दर गुप्त रूप में विद्यमान है, किसी ऐसी काल्पनिक वस्तु की रचना नहीं करता जिसका अस्तित्व कभी था ही नहीं। विज्ञान का भाव सनातन सत् की चेतना का विकिरणशील ज्योतिर्मय तत्त्व है; प्रत्येक किरण एक सत्य है। विज्ञान का संकल्प सनातन ज्ञान की चिन्मय शक्ति है; वह सत्ता के चैतन्य और उपादान-तत्त्व को सत्य-शक्ति के ऐसे निर्भ्रान्त रूपों में प्रकट करता है जो 'भाव' को मूर्तिमन्त करते हैं और निर्दोष रूप में प्रभावशाली भी बना देते हैं। साथ ही, वह प्रत्येक सत्य-शक्ति और सत्य-आकार को उसकी प्रकृति के अनुसार सहज-स्वाभाविक और समुचित रूप में चरितार्थ करता है। दिव्य 'भाव' की इस सर्जनक्षम शक्ति को वहन करने के कारण ही **सूर्य** को अर्थात् विज्ञान के अधिष्ठातृदेवता एवं प्रतीक को वेद में सब वस्तुओं की उत्पादक ज्योति, **'सविता सूर्य'** कहा गया है, ऐसा ज्योतिर्मय ज्ञान कहा गया है जो सबको व्यक्त सत्ता के रूप में प्रकाशित करता है। विज्ञान का यह सृजन-कार्य दिव्य आनन्द, सनातन आनन्द, के द्वारा प्रेरित होता है; विज्ञान अपने सत्य और अपनी शक्ति के आनन्द से परिपूर्ण है, वह आनन्द के अन्दर और आनन्द में से सृजन करता है, ऐसी वस्तु का सृजन करता है जो आनन्दमय है। अतएव, विज्ञान का लोक, अतिमानसिक लोक सत्यमय और कल्याणमय सृष्टि है, **'ऋतम् भद्रम्'**, क्योंकि, इसके अन्दर की सभी वस्तुएं इसकी रचना करनेवाले पूर्ण आनन्द में भाग लेती हैं। अविचल ज्ञान की दिव्य प्रभा, अडिग संकल्प की दिव्य शक्ति और अस्खलनशील आनन्द की दिव्य विश्रांति विज्ञानमय पुरुष का स्वभाव या प्रकृति है। विज्ञानमय या अतिमानसिक भूमिका का उपादानतत्त्व उन सब वस्तुओं के पूर्ण निरपेक्ष रूपों से बना है जो यहां अपूर्ण और सापेक्ष हैं और इसकी क्रिया उन सब क्रियाओं के समन्वित परस्पर-गुंफनों तथा सुखद सम्मिश्रणों से बनी है जो यहां एक-दूसरी के विपरीत हैं। क्योंकि, इन परस्पर-विपरीत वस्तुओं के बाह्य रूप के पीछे इनके सत्य विद्यमान हैं और सनातन के सत्य एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं; हमारे मन और प्राण के स्तर की परस्पर-विरोधी वस्तुएं विज्ञान के अन्दर अपने सच्चे मूलभाव में रूपान्तरित होकर परस्पर संयुक्त हो जाती हैं और सनातन सद्वस्तु तथा शाश्वत आनन्द के सुरों और रंगों के रूप में दिखायी देती हैं। अतिमानस या विज्ञान परम सत्य, परम विचार, परम

शब्द, परम ज्योति एवं परम संकल्प भाव है, यह देशातीत अनन्त सत्ता का आन्तर और बाह्य विस्तार है, कालातीत सनातन का निर्मुक्त काल है, निरपेक्ष सत्ता के सब निरपेक्ष सत्यों का दिव्य सामञ्जस्य है।

प्रत्यक्षदर्शी मन के लिये विज्ञान की तीन शक्तियां हैं। इसकी सर्वोच्च शक्ति ईश्वर की सम्पूर्ण अनन्त सत्ता, चेतना और आनन्द को जानती है तथा उन्हें ऊपर से अपने अन्दर ग्रहण करती है; अपने उच्चतम शिखर पर यह सनातन सच्चिदानन्द का पूर्ण ज्ञान और बल है। इसकी दूसरी शक्ति अनन्त को सघन ज्योतिर्मय चेतना अर्थात् चैतन्यघन या चिद्घन के रूप में घनीभूत कर देती है, यह चिद्घन दिव्य चेतना की बीजावस्था है जिसमें दिव्य सत्ता के सभी अपरिवर्तनीय तत्त्व और दिव्य चिन्मय भाव और प्रकृति के सभी अलंघ्य सत्य जीवन्त और मूर्त रूप में निहित हैं। इसकी तीसरी शक्ति इन वस्तुओं को अमोघ विचार और अन्तर्दर्शन के द्वारा तथा दिव्य ज्ञान के यथार्थ तादात्म्यों, दिव्य संकल्पशक्ति की गति एवं दिव्य आनन्दोद्रेकों के स्पन्दन के द्वारा विराट् विश्व-सामञ्जस्य और असीम विविधता के रूप में, इनकी शक्तियों और आकृतियों के तथा सजीव परिणामों की परस्पर-लीला के बहुविध लयताल के रूप में प्रकाशित या निर्मुक्त कर देती है। विज्ञानमय पुरुष की ओर आरोहण करते हुए मनोमय पुरुष को इन तीन शक्तियों में आरोहण करना होगा। उसे अपनी गतियों को विज्ञान की गतियों में, अपने मानसिक बोध, विचार, संकल्प और सुख को दिव्य ज्ञान की दीप्तियों, दिव्य संकल्पशक्ति के स्पन्दनों और दिव्य आनन्द-सिंधुओं की तरंगों एवं प्रवाहों में परिणत करके रूपान्तर प्राप्त करना होगा। उसे अपनी मानसिक प्रकृति के चेतन उपादान को 'चिद्घन' या सघन स्वयंप्रकाश चेतना में परिणत करना होगा। उसे अपने चिन्मय सारतत्त्व को अनन्त सच्चिदानन्द के विज्ञानमय या सत्यमय आत्म-स्वरूप में रूपान्तरित करना होगा। इन तीन गतियों का वर्णन ईश उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है,—पहली गति है 'व्यूह' अर्थात् विज्ञान-सूर्य की किरणों को सत्य-चेतना के विधान-क्रम में व्यवस्थित करना; दूसरी 'समूह' अर्थात् उन किरणों को विज्ञान-सूर्य के तेजोमय शरीर में एकत्र करना; तीसरी, सूर्य के उस कल्याणतम रूप का साक्षात्कार जिसमें आत्मा अनन्त पुरुष के साथ अपने एकत्व को अत्यन्त अन्तरंग रूप में प्राप्त कर लेती है।[1] जो मनोमय प्राणी विज्ञान के पूर्ण रूप में रूपान्तरित, परितृप्त और उन्नीत हो जाता है

[1] **'सूर्य, व्यूह रश्मीन् समूह, तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।** वेद में विज्ञान-भूमिका को 'ऋतम्, सत्यम्, बृहत्' कहा गया है, अर्थात् यही त्रिविध विचार वहां भिन्न प्रकार से वर्णित है। 'ऋतम्' का अर्थ है सत्य-चेतना की लीला के अनुसार दिव्य-ज्ञान, संकल्प और आनन्द की क्रिया। 'सत्यम्' का अर्थ है सत्ता का वह सत्य जो इस प्रकार क्रिया करता है, अर्थात् सत्य-चेतना का क्रियाशील सारतत्त्व। बृहत् का अर्थ है सच्चिदानन्द की अनन्तता जिसमें से अन्य दोनों उत्पन्न होते हैं और जिसपर वे आधारित हैं।

उसका मूल अनुभव यह है—उसके ऊपर, अन्दर, चारों ओर, सर्वत्र परम पुरुष विद्यमान होते हैं और उसकी आत्मा परम पुरुष में निवास करती तथा उसके साथ एकीभूत होती है,—भगवान् की अनन्त शक्ति, सामर्थ्य और सत्य उसकी एकाग्र ज्योतिर्मय आत्मिक प्रकृति में केंद्रित होते हैं,—दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्द की तेजोमय क्रिया प्रकृति के स्वाभाविक कर्म में पूर्णता के साथ प्रतिष्ठित होती है।

अध्याय २३

विज्ञान की प्राप्ति की शर्तें

विज्ञान का प्रधान तत्त्व है ज्ञान, पर ज्ञान ही इसकी एकमात्र शक्ति नहीं है। सत्य-चेतना अन्य प्रत्येक भूमिका की तरह अपना आधार उस विशेष तत्त्व पर रखती है जो स्वभावतः ही इसकी सब क्रियाओं की कुंजी है; पर यह उसके द्वारा सीमित नहीं है, यह सत्ता की अन्य सब शक्तियों को भी अपने अन्दर धारण करती है। हां, इन अन्य शक्तियों का स्वरूप और कार्य इसके अपने मूल और सर्वोपरि नियम के अनुसार परिवर्तित हो जाता है, उसीके अनुरूप ढल जाता है। मन-बुद्धि, शरीर, इच्छा-शक्ति, चेतना और आनन्द सभी दिव्य ज्ञान से प्रकाशमान, जागरित और अनुप्राणित हो जाते हैं। वस्तुतः, पुरुष-प्रकृति की प्रक्रिया सर्वत्र यही है; यह व्यक्त सत्ता की समस्त स्तर-परम्परा और क्रमबद्ध सामञ्जस्यों की प्रधान गति है।

मनोमय प्राणी में अन्तःकरण या बुद्धि ही मूल और प्रधान तत्त्व है। मनोमय पुरुष मनोलोक में, जहां का वह निवासी है, अपने केंद्रीय और निर्धारक स्वरूप की दृष्टि से, बुद्धिप्रधान चैतन्य है। वह बुद्धि का केंद्र है, बुद्धि की एक पुंजित गति है, बुद्धि की ग्रहण और विकिरण करनेवाली क्रिया है। वह बुद्धि के द्वारा अपनी सत्ता को तथा अपनेसे भिन्न दूसरों की सत्ता को जानता है, बुद्धि के द्वारा अपने स्वभाव और कार्यों को तथा दूसरों के कार्यों को जानता है और बुद्धि के द्वारा ही वस्तुओं और व्यक्तियों के स्वभाव को तथा अपने साथ एवं एक-दूसरे के साथ उनके सम्बन्धों को जानता है। सत्ता के विषय में उसका बस यही अनुभव होता है। उसे सत्ता का अन्य किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता, जीवन और जड़तत्त्व जिस रूप में उसे गोचर होते हैं एवं जिस रूप में वे उसकी मानसिक बुद्धि के द्वारा ग्राह्य होते हैं उसे छोड़कर उनके किसी अन्य रूप का उसे ज्ञान नहीं होता। जो वस्तु उसे इन्द्रियगोचर नहीं होती और जिसे वह अपने विचार में नहीं ला सकता वह उसके लिये कार्यतः असत् होती है, या कम-से-कम उसके लोक और उसकी प्रकृति के लिये विजातीय होती है।

मनुष्य अपने मूलतत्त्व में मनोमय प्राणी है, पर ऐसा मनोमय प्राणी नहीं जो मन के लोक में रहता हो, बल्कि वह एक ऐसे जगत् में रहता है जो प्रधान रूप से भौतिक है। उसका मन जड़-तत्त्व के अन्दर आच्छादित और उसके द्वारा सीमित है। इसलिये उसे अपना कार्य स्थूल इन्द्रियों की क्रिया से आरम्भ करना होता है; ये स्थूल इन्द्रियां, सब-की-सब, भौतिक जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये उसके साधन हैं। वह अपना कार्य मनरूपी इन्द्रिय से आरम्भ नहीं करता। किन्तु फिर भी इन स्थूल इन्द्रियों से ज्ञात किसी भी वस्तु का वह तबतक स्वतन्त्र रूप में

प्रयोग नहीं करता और न कर ही सकता है जबतक मानसेन्द्रिय उसे अपने अधिकार में लाकर उसकी बुद्धिप्रधान सत्ता के उपादान और मूल्य-मान में नहीं बदल देती। निम्नतर अवमानवीय और अवमानसिक लोक में प्राण और स्नायुओं की जो शक्तिशाली क्रिया-प्रतिक्रिया चल रही है, जिसे मानसिक रूपों में परिवर्तित या मन के द्वारा नियन्त्रित करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि जो वैसे ही खूब अच्छी तरह चलती रहती है, उसे भी मनुष्य के अन्दर किसी प्रकार की बुद्धितक उठा ले जाकर उसके प्रति अर्पित करना होता है। विशिष्ट रूप से मानवीय बनने के लिये उसे पहले शक्ति के बोध, कामना के बोध, संकल्प के बोध, बुद्धिप्रधान संकल्प-क्रिया के बोध का रूप ग्रहण करना होता है या फिर उसे बल-क्रिया के एक ऐसे बोध का रूप धारण करना पड़ता है जो मानसिक दृष्टि से सचेतन हो। उसका निम्न अस्तित्व-आनन्द मानसिक या मानसीकृत प्राणिक या भौतिक सुख एवं इसके विपर्यय-भूत दुःख के बोध में परिणत हो जाता है अथवा वह रुचि और अरुचि के मानसिक या मानसीकृत वेदन-सम्वेदन का या फिर आनन्द किंवा उसके अभाव के बोध का रूप ग्रहण कर लेता है,—ये सभी बुद्धिप्रधान मानसेन्द्रिय के ही अनुभव हैं। इसी प्रकार, जो वस्तु उसके ऊपर है, जो उसके चारों ओर है तथा जिसमें वह निवास करता है, अर्थात् ईश्वर, विराट् पुरुष, विश्व-शक्तियां—ये सभी उसके लिये तबतक असत् और अवास्तविक ही होते हैं जबतक उसका मन इनकी ओर जागरित नहीं हो जाता और अभी इनका वास्तविक सत्य न सही, पर अतीन्द्रिय वस्तुओं का कुछ बोध नहीं प्राप्त कर लेता, उनका कुछ निरीक्षण, अनुभव एवं कल्पना नहीं कर लेता तथा जबतक यह (मन) अनन्त का कुछ मानसिक बोध, उसके ऊपर तथा चारों ओर विद्यमान परम आत्मा की शक्तियों का कुछ बुद्धिगत एवं व्याख्यात्मक सचेतन ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता।

पर जब हम मन से विज्ञान में चले जाते हैं तब सब कुछ बदल जाता है; क्योंकि वहां प्रत्यक्ष और सहजात ज्ञान ही प्रधान तत्त्व है। विज्ञानमय पुरुष अपने स्वभाव से ही सत्य-चेतना से युक्त है, वस्तुविषयक सत्य-दृष्टि का केन्द्र और परिधि है, विज्ञान की पुंजित क्रिया या सूक्ष्म देह है। उसकी क्रिया वस्तुओं के अन्दर निहित सत्य-शक्ति की क्रिया है जो उनकी गहनतम और सत्यतम सत्ता और प्रकृति के आन्तरिक नियम के अनुसार उस सत्य-शक्ति को चरितार्थ करती तथा प्रसारित करती है। वस्तुओं के अन्दर निहित सत्य जो हमें विज्ञान में प्रवेश कर सकने से पहले प्राप्त करना होगा,—क्योंकि, विज्ञानमय स्तर पर तो सब कुछ इसीमें विद्यमान है और इसीसे उत्पन्न होता है,—सर्वप्रथम, एकता एवं अद्वैत का सत्य है, पर ऐसी एकता का जो विभिन्नता को उत्पन्न करती है, जो अनेकता में भी व्याप्त है और फिर भी सदा एकता एवं अजेय अद्वैत ही रहती है। विज्ञान की भूमिका अर्थात् विज्ञानमय पुरुष की अवस्था तबतक नहीं प्राप्त हो सकती जबतक हम समस्त सत्ता

तथा सर्वभूतों के साथ विशाल और घनिष्ठ तादात्म्य नहीं प्राप्त कर लेते, विश्वव्यापी नहीं बन जाते, विश्व को अपने अन्दर समाविष्ट या धारण नहीं कर लेते, एक प्रकार से सर्वेसर्वा ही नहीं बन जाते। विज्ञानमय पुरुष में अपने विषय में स्वभाव से ही यह चेतना होती है कि मैं अनन्त हूं, उसमें सामान्य रूप से ही यह चेतना भी होती है कि मैं विश्व को अपने अन्दर धारण कर रहा हूं और इससे परे भी हूं; वह विभक्त मनोमय पुरुष की भांति सामान्यतः ही ऐसी चेतना से नहीं बंधा होता जो अपने-आपको विश्व में समाविष्ट तथा इसका एक अंग अनुभव करती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संकीर्ण और आबद्ध करनेवाले अहं से मुक्ति ही विज्ञानमय सत्ता को प्राप्त करने का पहला एवं प्रारम्भिक पग है; क्योंकि जबतक हम अहं में रहते हैं तबतक इस उच्चतर सद्वस्तु, इस बृहत् आत्म-चैतन्य, इस वास्तविक आत्मज्ञान को पाने की आशा करना बेकार है। अहम्मय विचार, अहम्मय कर्म और अहम्मय संकल्प की ओर जरा-सा भी लौटने से हमारी चेतना ठोकर खाकर अपने उपलब्ध विज्ञानमय सत्य से विभक्त मानसिक प्रकृति के मिथ्या विचार और कर्म आदि में आ गिरती है। अपनी सत्ता को स्थिर रूप से विश्वमय बना लेना ही इस ज्योतिर्मय उच्चतर चेतना का असली आधार है। समस्त कठोर पृथक्ता का त्याग करके (पर उसके स्थान पर एक प्रकार की परात्पर ऊर्ध्व दृष्टि या स्वतन्त्रता प्राप्त करके) हमें सब पदार्थों और प्राणियों के साथ अपने-आपको एकमय अनुभव करना होगा, उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा, उन्हें इस रूप में जानना होगा कि वे हम ही हैं, उनकी सत्ता को अपनी सत्ता अनुभव करना तथा उनकी चेतना को अपनी चेतना का अंग स्वीकार करना होगा, उनकी शक्ति के साथ इस रूप में सम्पर्क स्थापित करना होगा कि वह हमारी शक्ति के साथ घनिष्ठतया सम्बद्ध है, सबके साथ एकात्मता लाभ करना सीखना होगा। निःसन्देह यह एकात्मता ही एकमात्र आवश्यक वस्तु नहीं है, पर यह सबसे पहली शर्त है और इसके बिना विज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

यह विश्वात्मभाव तबतक पूर्ण रूप से साधित नहीं हो सकता जबतक हम अपने-आपको आज की भांति वैयक्तिक मन, प्राण और शरीर में रहनेवाली चेतना अनुभव करते रहेंगे। 'पुरुष' को अन्नमय और यहांतक कि मनोमय कोष से भी कुछ अंश में ऊपर उठकर विज्ञानमय कोष में पहुंचना होगा। ऐसा होने पर हमारे चिन्तन का केन्द्र न तो मस्तिष्क रह सकता है और न ही उससे सम्बद्ध मनोमय "पद्म", इसी प्रकार हमारी भावप्रधान और सम्वेदनात्मक सत्ता का उत्पादक केन्द्र न हृदय रह सकता है और न उससे सम्बद्ध "हृत्पद्म"। हमारी सत्ता तथा हमारे विचार, संकल्प और कर्म का सचेतन केन्द्र, यहांतक कि हमारे सम्वेदनों और भावावेशों की मूल शक्ति—दोनों शरीर और मन से उठकर उनके ऊपर अपना स्वतन्त्र केन्द्र बना लेते हैं। तब हमें पहले की तरह यह बोध नहीं होता कि हम

शरीर में रहते हैं, बल्कि हम इसके ऊपर इसके प्रभु, स्वामी या ईश्वर के रूप में अधिष्ठित हो जाते हैं और साथ ही कारावद्ध स्थूल इन्द्रियों की चेतना से अधिक विस्तृत चेतना के द्वारा इसे परिवेष्टित कर देते हैं। तब हम सत्य की एक सतत और स्वाभाविक तथा अत्यन्त सजीव शक्ति के साथ ऋषियों के इस कथन का आशय अनुभव कर लेते हैं कि आत्मा शरीर को धारण कर रही है या आत्मा शरीर में नहीं है, बल्कि शरीर आत्मा में है। ऐसा अनुभव हो जाने पर हम विचार और संकल्प की क्रिया मस्तिष्क से नहीं, बल्कि शरीर के ऊपर के केन्द्र से करेंगे; मस्तिष्क की क्रिया केवल एक ऐसी क्रिया रह जायगी जिसे हमारा देह-यन्त्र ऊर्ध्व भूमिका की विचार-शक्ति और संकल्प-शक्ति के आघात के प्रत्युत्तर के रूप में करेगा। सब वस्तुओं और क्रियाओं का उद्भव ऊपर से ही होगा; विज्ञान में जो कुछ भी हमारे वर्तमान मानसिक व्यापार का सजातीय है वह सब ऊपर से ही घटित होता है। विज्ञानमय रूपान्तर की ये सब अवस्थाएं और यदि सब नहीं तो इनमें से बहुत-सी विज्ञानतक पहुंचने से बहुत पहले, स्वयं उच्चतर मन में तथा इसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप से मन और विज्ञान के बीच की "अधिमानस"-नामक चेतना में प्राप्त की जा सकती हैं और वस्तुतः प्राप्त करनी ही होंगी,—पर आरम्भ में इन्हें मानों मन के अन्दर इनकी प्रतिच्छाया ग्रहण करके अपूर्ण रूप से ही प्राप्त करना होगा।

परन्तु, यह विज्ञान-केन्द्र और यह विज्ञानमय क्रिया स्वतन्त्र हैं, बद्ध नहीं हैं, शरीर की मशीन पर निर्भर नहीं हैं, संकुचित अहं-भावना के साथ जकड़े हुए नहीं हैं। विज्ञान-केन्द्र शरीर में आवेष्टित नहीं है; यह एक ऐसे पृथक् व्यक्तित्व के अन्दर बन्द नहीं है जो जगत् के साथ बेढंगे सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बाहर रास्ता टटोल रहा है या अपनी अधिक गहरी आत्मा को पाने के लिये भीतर अन्धवत् खोज रहा है, क्योंकि, इस महत् रूपान्तर में हम एक ऐसी चेतना को प्राप्त करने लगते हैं जो किसी उत्पादक घट (generating box) में बन्द नहीं होती, बल्कि स्वतन्त्र रूप से व्याप्त तथा सर्वत्र स्वयंभू रूप से विस्तृत होती है। अवश्य ही वहां एक केन्द्र भी होता है या हो सकता है, पर वह वैयक्तिक क्रिया के लिये एक सुविधाजनक साधन भर होता है न कि कठोर किंवा व्यवस्थापक या पृथक्कारी केन्द्र। उस केन्द्र में स्थित होने के बाद से हमारे सचेतन कार्यों का स्वरूप ही विराट् हो जाता है; विराट् पुरुष के कार्यों के साथ एकमय होने के कारण, वे विराट् सत्ता से उत्पन्न होकर हमारे अन्दर एक नमनीय और परिवर्तनशील वैयक्तिक स्वरूप धारण करने में प्रवृत्त होते हैं। हमारी चेतना अब उस अनन्त पुरुष की चेतना बन जाती है जो सदा ही सारे विश्व के लिये कार्य करता है यद्यपि वह अपनी शक्तियों की वैयक्तिक रूप-रचना पर बल भी देता है। परन्तु यह बल वैशिष्ट्य को सूचित करता है पार्थक्य को नहीं, और यह व्यक्तिगत रूप-रचना वह चीज नहीं रह जाती जिसे हम आज 'व्यक्तित्व' के नाम से समझते हैं; उस क्षुद्र, सीमित और निर्मित

'व्यक्ति' का अस्तित्व ही नहीं रह जाता जो अपनी यान्त्रिक रचना के सूत्र में बन्द रहता है। चेतना की यह भूमिका हमारी सत्ता की वर्तमान दशा के लिये इतनी असाधारण है कि जिस बुद्धि-प्रधान व्यक्ति को यह प्राप्त नहीं है उसे यह असम्भव लग सकती है अथवा यहांतक कि मतिभ्रम की अवस्था भी प्रतीत हो सकती है। परन्तु जब एक बार यह प्राप्त हो जाती है तो यह अपनी महत्तर शान्ति, स्वतन्त्रता, ज्योति एवं शक्ति के द्वारा तथा संकल्प की अमोघता और विचार एवं भाव-भावना की प्रमाण्य सत्यता के द्वारा मानसिक बुद्धि के प्रति भी अपने-आपको सत्य सिद्ध कर देती है। क्योंकि, यह अवस्था मुक्त मन के उच्चतर स्तरों पर ही शुरू हो जाती है और अतएव, मानसिक स्तरों को पीछे छोड़ देने पर ही हमारी मनोबुद्धि इसे कुछ अंश में अनुभव कर सकती और समझ सकती है। पर इसकी पूर्ण प्राप्ति अतिमानसिक विज्ञान में आरोहण करने पर ही हो सकती है।

चेतना की इस भूमिका में अनन्त हमारे लिये मूल और वास्तविक सद्वस्तु बन जाता है, एक ऐसी अनन्य वस्तु बन जाता है जो प्रत्यक्ष और गोचर रूप में सत्य है। 'अनन्त'-विषयक अपनी मूल अनुभूति से पृथक् रूप में 'सांत' का चिन्तन या अनुभव करना भी हमारे लिये असम्भव हो जाता है, क्योंकि हमारे लिये तो उस अनन्त में ही सांत अपना जीवन धारण कर सकता है, अपना निर्माण कर सकता है, कोई वास्तविक अस्तित्व या स्थायित्व रख सकता है। जबतक यह सान्त मन और शरीर हमारी चेतना के निकट हमारी सत्ता का प्रथम तथ्य हैं तथा हमारे समस्त चिन्तन, वेदन और संकल्प का आधार हैं और जबतक सान्त वस्तुएं हमारे लिये एक ऐसी स्वाभाविक सद्वस्तु हैं जिससे हम कभी-कभी या यहां तक कि बहुधा अनन्त के विचार एवं बोध तक उठ सकते हैं, तबतक हम विज्ञान से अभी कोसों दूर हैं। विज्ञान की भूमिका में अनन्त एक साथ ही हमारी सत्ता का स्वाभाविक चैतन्य एवं प्रथम तथ्य होता है, हमारा गोचर द्रव्य होता है। वहां अत्यन्त मूर्त रूप में वह हमारे लिये एक ऐसा आधार होता है जहांसे प्रत्येक सान्त वस्तु अपना रूप गठित करती है और उसकी असीम एवं अपरिमेय शक्तियां हमारे समस्त विचार, संकल्प और आनन्द का उद्गम हैं। परन्तु यह 'अनन्त' देश की कोई ऐसी व्यापक या विशाल अनन्तता ही नहीं है जिसमें प्रत्येक वस्तु अपना रूप पकड़ती है एवं प्रत्येक घटना घटित होती है। देश के इस अपरिमेय विस्तार के पीछे विज्ञानमय चेतना एक देशातीत आभ्यन्तरिक अनन्तता से सदा ही सचेतन रहती है। इस द्विविध अनन्तता में से ही हम सच्चिदानन्द की तात्त्विक सत्ता, अपनी सत्ता के सर्वोच्च आत्मा तथा अपने विश्वगत अस्तित्व के सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर सकेंगे। तब हमारे सामने एक असीम सत्ता खुल जाती है। उसे हम यों अनुभव करते हैं मानो वह हमारे ऊपर स्थित एक अनन्त सत्ता हो जिसकी ओर उठने के लिये हम प्रयास करते हैं, अथवा मानों वह हमारे चारों ओर स्थित एक अनन्त

सत्ता हो जिसमें हम अपनी पृथक् सत्ता को विलीन कर देने का प्रयत्न करते हैं। तदनन्तर हम विशाल होकर उसमें मिल जाते हैं और आरोहण करके उसमें उन्नीत हो जाते हैं; हम अहं के बन्धनों को तोड़ उसकी विशालता में लीन हो जाते हैं और सदा के लिये वही बन जाते हैं। जब इस प्रकार की मुक्ति प्राप्त हो जाये तब यदि हम चाहें तो इसकी शक्ति हमारी निम्न सत्ता को भी अधिकाधिक अपने अधिकार में ला सकती है जिससे अन्त में हमारी निम्न-से-निम्न और विकृत-से-विकृत क्रियाएं भी फिर से विज्ञान के सत्य में ढल जायें।

अनन्त का यह बोध और उसका हमपर यह अधिकार ही विज्ञान की प्राप्ति का आधार है और जब यह आधार प्राप्त हो जाये तभी हम अतिमानसिक विचार, बोध, सम्वेदन, तादात्म्य और ज्ञान की किसी स्वाभाविक अवस्था की ओर प्रगति कर सकते हैं। क्योंकि, अनन्त का यह बोध भी केवल एक प्रथम आधार है और, इसके पूर्व कि चेतना सक्रिय रूप से विज्ञानमय बन सके, इस बोध की प्राप्ति के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ करना होता है। कारण, अतिमानसिक ज्ञान परम ज्योति की लीला है; और भी बहुत-सी ज्योतियां हैं, ज्ञान के और भी बहुत-से स्तर हैं जो मानव मन से ऊंचे हैं। वे स्तर हमारे अन्दर खुल सकते हैं और विज्ञान में हमारे आरोहण करने के पहले भी उस महाज्योति के कुछ अंश को ग्रहण या प्रतिबिम्बित कर सकते हैं। परन्तु विज्ञान पर अधिकार पाने या उसे पूर्णतया प्राप्त करने के लिये हमें पहले परम ज्योतिःस्वरूप विज्ञानमय पुरुष में प्रवेश करना तथा वही बनना होगा, हमारी चेतना को उस चेतना में रूपान्तरित हो जाना होगा, तादात्म्य के द्वारा अपने-आपको तथा सबको जानने के उसके सिद्धान्त और सामर्थ्य को हमारी सत्ता का वास्तविक तत्त्व बनना होगा। क्योंकि, ज्ञान और कर्म के हमारे साधन और मार्ग आवश्यक रूप से हमारी चेतना के स्वभाव के अनुसार ही होंगे और यदि हमें ज्ञान की इस उच्चतर शक्ति की केवल यदा-कदा झांकी ही नहीं प्राप्त करनी है, बल्कि इसपर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त करना है तो हमें स्वयं चेतना का ही आमूल रूपान्तर करना होगा। पर यह शक्ति उच्चतर चिन्तनतक या एक प्रकार की दिव्य बुद्धि की क्रियातक ही सीमित नहीं है। ज्ञान के हमारे वर्तमान साधन जहां आज कुंठित, अन्ध और फलहीन हैं वहां यह उन सबको अत्यन्त विस्तृत, सक्रिय और प्रभावशाली बनाकर अपने हाथ में लेती है और विज्ञान की उच्च एवं तीव्र बोध-क्रिया में परिणत कर देती है। उदाहरणार्थ, हमारी इन्द्रियों की क्रिया को अपने हाथ में लेकर यह उसके साधारण कार्यक्षेत्र में भी उसे आलोकित कर देती है जिससे कि हमें पदार्थों का सच्चा इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त होता है। पर साथ ही यह मनरूपी इन्द्रिय को ऐसा सामर्थ्य प्रदान करती है कि वह आन्तरिक तथा बाह्य विषय का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर सके, उदाहरणार्थ, जिस विषय पर उसे एकाग्र किया जाय उसके विचारों, वेदनों, सम्वेदनों तथा स्नायविक प्रतिक्रियाओं को

अनुभव और ग्रहण कर सके अथवा जान सके।[1] यह सूक्ष्म तथा स्थूल इन्द्रियों का प्रयोग करती है और उन्हें उनकी भूलों से बचाती है। हमारा साधारण मन सत्ता के जिस भौतिक स्तर में अज्ञानपूर्वक आसक्त है उससे भिन्न स्तरों का ज्ञान और अनुभव यह हमें प्रदान करती है और इस ज्ञान के द्वारा यह हमारे लिये जगत् का विस्तार कर देती है। इसी प्रकार यह सम्वेदनों का रूपान्तर करके उन्हें उनकी पूर्ण तीव्रता तथा पूर्ण धारण-शक्ति प्रदान करती है; वस्तुतः, हमारे सामान्य मन में सम्वेदनों की पूर्ण तीव्रता प्राप्त करना सम्भव ही नहीं, क्योंकि एक विशेष सीमा के परे स्पन्दनों को धारण करने और स्थिर रखने की शक्ति से वह वंचित है, ऐसे कम्पनों के आघात या सतत दबाव से तो मन और शरीर दोनों ही चूर-चूर हो जायेंगे। यह हमारे वेदनों और भावावेशों में निहित ज्ञानरूपी तत्त्व को भी अपनाती है,— क्योंकि हमारे वेदनों में भी ज्ञान और कार्य-सिद्धि की एक शक्ति है जिसे हम जानते नहीं और समुचित रूप से विकसित भी नहीं करते,—साथ ही यह उन वेदनों और भावावेगों को उनकी सीमाओं, भ्रान्तियों और विकृतियों से मुक्त भी कर देती है। क्योंकि, सभी वस्तुओं में विज्ञान सत्य, ऋत और सर्वोच्च विधान के रूप में उपस्थित है, **देवानामदब्धानि व्रतानि**।

ज्ञान और शक्ति या संकल्प—क्योंकि समस्त चेतन शक्ति संकल्प ही है—चेतना की क्रिया के युगल पक्ष हैं। हमारे मन में ये एक-दूसरे से पृथक् हैं। विचार पहले आता है, संकल्प उसके पीछे लड़खड़ाता हुआ आता है या उसके विरुद्ध विद्रोह करता है, या फिर, उसके अपूर्ण यन्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जाता है और अतएव, इसके परिणाम भी अपूर्ण ही होते हैं; अथवा संकल्प अपने अन्दर अन्ध या अर्द्धदर्शी विचार को लिये हुए पहले आरम्भ होता है और अव्यवस्थित रूप में कुछ कर डालता है जिसका यथार्थ बोध हमें बाद में ही प्राप्त होता है। हमारे अन्दर इन शक्तियों में कोई एकत्व किंवा पूर्ण सामंजस्य नहीं है; अथवा हमारे अन्दर आरम्भ का सिद्धि के साथ पूरा मेल कभी नहीं होता। न ही वैयक्तिक संकल्प विराट् संकल्प के साथ समस्वर होता है; वह इसके परे जाने का यत्न करता है अथवा इसतक नहीं पहुंच पाता या इससे विचलित होकर इसके विरुद्ध संघर्ष करता है। वह न तो सत्य के समयों और उसकी ऋतुओं को जानता है और न ही उसकी मात्राओं और परिमाणों को। विज्ञान संकल्प को हाथ में लेकर पहले उसे अतिमानसिक ज्ञान के सत्य के साथ समस्वर और फिर एकीभूत कर देता है। इस ज्ञान में व्यक्ति का विचार विराट् के विचार के साथ एक होता है, क्योंकि यह उन दोनों को परम ज्ञान और परात्पर संकल्प के सत्य की ओर वापिस ले आता है।

[1] पतंजलि कहते हैं कि यह शक्ति पदार्थ पर 'संयम' (एकाग्रता) के द्वारा प्राप्त होती है। पर यह बात मन के लिये ही सत्य है, विज्ञान में संयम की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि, इस प्रकार का बोध विज्ञान का स्वाभाविक कार्य है।

विज्ञान हमारे बुद्धिप्रधान संकल्प को ही नहीं, बल्कि हमारी इच्छाओं तथा कामनाओं को, यहांतक कि निम्नतर कहलानेवाली कामनाओं को भी, और सहजप्रेरणाओं एवं आवेगों को तथा इन्द्रिय और सम्वेदन की बाह्य प्राप्तियों को भी अपनाकर रूपान्तरित कर देता है। वे अब इच्छाएं और कामनाएं नहीं रहतीं, क्योंकि प्रथम तो वे हमारी व्यक्तिगत कामनाएं नहीं रह जातीं और फिर वे अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये संघर्ष करने के अपने उस रूप को त्याग देती हैं जिसे हम कामना और लालसा शब्द का अभिप्राय समझते हैं। सहज-प्रेरणात्मक या बुद्धिप्रधान मन की अन्धी या आधी अन्धी चेष्टाएं न रहकर वे सत्य-संकल्प की नानाविध क्रिया में रूपान्तरित हो जाती हैं; और वह संकल्प अपने निर्धारित कर्म के यथोचित उपायों के स्वाभाविक ज्ञान के साथ और अतएव, एक ऐसी प्रभावपूर्ण सफलता के साथ कार्य करता है जिसे हमारी मानसिक संकल्प-क्रिया जानती तक नहीं। यह भी एक कारण है कि विज्ञानमय संकल्प के कार्य में पाप का कोई स्थान नहीं; क्योंकि पापमात्र संकल्प की एक भूल है, अज्ञान की एक कामना एवं क्रिया है।

जब कामना पूर्ण रूप से मिट जाती है, दुःख और समस्त आन्तरिक शोक भी मिट जाते हैं। विज्ञान हमारे ज्ञान और संकल्प के केन्द्रों को ही नहीं, बल्कि भाव-भावना, प्रेम और आनन्द के केन्द्रों को भी हाथ में लेकर दिव्य आनन्द की क्रिया में रूपान्तरित कर देता है। क्योंकि, यदि ज्ञान और बल चेतना के कार्य के यमज पक्ष या उसकी यमज शक्तियां हैं तो आनन्द—जो सुख नामक वस्तु से अधिक ऊंचा तत्त्व है—चेतना का ठेठ उपादान है और ज्ञान तथा संकल्प किंवा शक्ति और आत्म-चैतन्य की परस्पर-क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। सुख और दुःख, हर्ष और शोक दोनों उसके विकार हैं। इनके उत्पन्न होने का कारण यह है कि जब ज्ञान और संकल्प नीचे के स्तर पर उतरते हैं तो हमारी चेतना और उसके द्वारा प्रयुक्त शक्ति के बीच, हमारे ज्ञान और संकल्प के बीच सामंजस्य भंग हो जाता है, उनकी एकता छिन्न-भिन्न हो जाती है, क्योंकि इस निम्न स्तर पर वे सीमित हैं, अपने-आपमें विभक्त हैं, अपना पूर्ण और वास्तविक कार्य करने में बाधा पाते हैं और अन्य शक्ति, अन्य चेतना, अन्य ज्ञान एवं अन्य संकल्प के साथ संघर्ष में रत रहते हैं। विज्ञान अपने सत्य की शक्ति से और हमारी सारी सत्ता को एकत्व और सामंजस्य तथा ऋत एवं सर्वोच्च नियम में पुनः प्रतिष्ठित करके इस विकृत अवस्था को सुधार देता है। वह हमारे सब भावावेगों को, यहांतक कि हमारे घृणा और द्वेष के भावों तथा दुःख के कारणों को भी अपने हाथ में लेकर प्रेम और आनन्द के विविध रूपों में परिणत कर देता है। अपने जिस अर्थ को वे भूले हुए थे तथा भूलकर अपने वर्तमान विकृत रूपों में बदल गये थे उसे वह ढूंढ़ निकालता या प्रकट कर देता है; वह हमारी सम्पूर्ण प्रकृति को सनातन शुभ में पुनः प्रतिष्ठित कर देता है। हमारे बोधों और सम्वेदनों के साथ भी वह इसी प्रकार व्यवहार करता है

और वे जिस आनन्द की खोज कर रहे हैं उसे समग्र रूप में प्रकट कर देता है, पर प्रकट करता है उसके सत्य स्वरूप में, न कि किसी विकृत अवस्था में और न किसी ऐसे रूप में जो गलत ढंग से खोजने और ग्रहण करने पर प्रकट होता है। वह हमारे निम्नतर आवेगों को भी सिखा देता है कि जिन बाह्य रूपों के पीछे वे दौड़ते हैं उनमें उन्हें भगवान् एवं अनन्त ब्रह्म को कैसे अधिगत करना चाहिये। यह सब निम्नतर सत्ता की अवस्थाओं में नहीं वरन् मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता को दिव्य आनन्द की अनपहार्य पवित्रता, स्वाभाविक तीव्रता तथा, एक पर बहुविध, अविच्छिन्न उन्मादना में उठा ले जाकर किया जाता है।

इस प्रकार विज्ञान की भूमिका अपने सब कार्यों में पूर्णता-प्राप्त ज्ञानशक्ति, संकल्पशक्ति और आनन्द-शक्ति की लीला की भूमिका है; ज्ञान, संकल्प और आनन्द की ये शक्तियां मन, प्राण और शरीर के स्तर से ऊंचे स्तर पर उठी होती हैं। यह भूमिका सर्वव्यापी है, विश्वात्मभाव से युक्त और अहंपूर्ण व्यक्तित्व एवं व्यष्टिभाव से मुक्त है; अतएव, यह उच्चतर आत्मा एवं उच्चतर चेतना की और फलतः सत्ता के उच्चतर बल एवं उच्चतर आनन्द की लीला का स्तर है। विज्ञान में ये सब ऊर्ध्वतर या दिव्य प्रकृति की पवित्रता में, उसके ऋत और सत्य में कार्य करते हैं। इसकी शक्तियां हमें प्रायः ही वे शक्तियां प्रतीत हो सकती हैं जिन्हें योग की साधारण भाषा में सिद्धियां कहा जाता है; यूरोप के लोग उन्हें गुह्य शक्तियां कहते हैं, भक्तगण और बहुतेरे योगी उन्हें जाल, अन्तराय, तथा भगवान् की सच्ची खोज से विचलित करनेवाली मानकर उनसे दूर रहते तथा डरते हैं। हां, यहां उनका स्वरूप ऐसा ही है और वे संकटपूर्ण भी होती हैं, पर उसका कारण यह है कि उनकी खोज यहां अहं के द्वारा निम्नतर सत्ता में, अस्वाभाविक रूप से तथा अहं की तुष्टि के लिये की जाती है। विज्ञान में वे न तो गुह्य शक्तियां हैं न सिद्धियां, बल्कि उसकी प्रकृति की खुली, स्वेच्छाकृत और स्वाभाविक क्रीड़ा हैं। विज्ञान दिव्य तादात्म्यों से युक्त भागवत सत्ता की सत्य-शक्ति और सत्य-क्रिया है और जब यह विज्ञानमय भूमिकातक उठे हुए व्यक्ति के द्वारा कार्य करता है तो यह किसी विकार, त्रुटि या अहंमय प्रक्रिया के बिना तथा भगवत्प्राप्ति से च्युत हुए बिना अपने-आपको चरितार्थ करता है। वहां व्यक्ति पहले की तरह अहं नहीं, बल्कि एक स्वतन्त्र जीव होता है, यह जीव उस उच्चतर दिव्य प्रकृति में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है जिसका वह एक अंश है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता**, वह प्रकृति उस परात्पर और विराट् आत्मा की प्रकृति है जिसे हम निःसन्देह अनेकविध व्यक्तित्व की लीला में, पर अज्ञान के आवरण के बिना एवं आत्मज्ञान के साथ देखते हैं, उसके बहुगुणित एकत्व में तथा उसकी दिव्य शक्ति के रूप में देखते हैं।

पुरुष और प्रकृति का सच्चा सम्बन्ध और सच्चा कार्य हमें विज्ञान में ही विदित होते हैं, क्योंकि वहां वे एक हो जाते हैं और भगवान् माया में समावृत नहीं रहते।

वहां सब उन्हींका कर्म होता है। जीव तब पहले की तरह यह नहीं कहता "मैं विचार और कार्य करता हूं, मैं कामना और अनुभव करता हूं"; एक ऐसे साधक की भांति जो एकता की प्राप्ति के लिये यत्न कर रहा है, पर अभी उसे पा नहीं सका है, वह यह भी नहीं कहता कि "अपने हृदय में विराजमान तुझ देव के द्वारा मैं जैसे प्रेरित होता हूं वैसा ही करता हूं।"[1] क्योंकि, तब हृदय किंवा मानसिक चेतना का केन्द्र विचार और कर्म आदि की उत्पत्ति का केन्द्र नहीं रहता, बल्कि केवल एक आनन्दपूर्ण माध्यम बन जाता है। वस्तुतः उसे यह ज्ञान हो जाता है कि भगवान् सबके प्रभु के रूप में उसके ऊपर 'अधिष्ठित' हैं तथा उसके अन्दर भी कार्य कर रहे हैं। और, स्वयं भी उस उच्चतर भूमिका में, **परार्द्धे, परमस्यां परावति**, स्थित होने के कारण वह सच्चे अर्थों में और साहस के साथ कह सकता है, "स्वयं ईश्वर ही अपनी प्रकृति की सहायता से मेरे व्यक्तित्व तथा इसके रूपों के द्वारा वस्तुओं को जानता और कर्म करता है, प्रेम करता और आनन्द लेता है और वहां अपने उच्चतर तथा दिव्य लयताल के साथ उस बहुविध लीला को चरितार्थ करता है जिसे अनन्त ब्रह्म विश्व में—अपने ही सनातन व्यक्त रूप में—नित्य-निरन्तर करता रहता है।"

[1] "त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"—अनु०

अध्याय २४

विज्ञान और आनन्द

विज्ञान में आरोहण, विज्ञानमय चेतना के यत्किञ्चित् अंश की प्राप्ति अवश्य ही मनुष्य की आत्मा को ऊपर उठा ले जाती है और उसके जगज्जीवन को ज्योति और शक्ति तथा आनन्द और आनंत्य की ऐसी महिमा में उन्नीत कर देती है जो हमारे वर्तमान मानसिक और भौतिक जीवन के पंगु कर्म तथा सीमित उपलब्धियों की तुलना में एक चरम-परम पूर्णता का असली स्थितिशील और क्रियाशील रूप प्रतीत हो सकती है। और वह एक वास्तविक पूर्णता होती है, ऐसी पूर्णता जो आत्मा के आरोहण में इससे पहले कभी प्राप्त नहीं हुई है। क्योंकि मन के स्तर पर प्राप्त ऊंचे-से-ऊंचे आध्यात्मिक साक्षात्कार में भी कोई ऐसी वस्तु अवश्य रहती है जिसका ऊपरी भाग भारी-भरकम होता है और अतएव जो एकांगी एवं एकपक्षीय होती है; यहांतक कि विशाल-से-विशाल मानसिक आध्यात्मिकता भी पर्याप्त विशाल नहीं होती और अपने-आपको जीवन में व्यक्त करने की शक्ति पूर्ण न होने के कारण वह विकृत भी हो जाती है। तथापि अपने से परे की भूमिका की तुलना में यह विज्ञानमय पूर्णता भी, यह प्रथम विज्ञान-ज्योति भी, एक अधिक सर्वांगीण पूर्णता की प्राप्ति के लिये एक ज्योतित पथमात्र है। यह एक सुरक्षित तथा समुज्ज्वल सोपान है जिसपर से हम और भी ऊपर उन चरम-परम अनन्तताओं में सुखपूर्वक आरोहण कर सकते हैं जो जन्म ग्रहण करनेवाली आत्मा का मूल धाम एवं लक्ष्य हैं। इस और भी परे के आरोहण में विज्ञान विलुप्त नहीं हो जाता, बल्कि वस्तुतः अपनी ही उस परम ज्योति में पहुंच जाता है जिसमें से वह मन और परात्पर अनन्त ब्रह्म के बीच मध्यस्थता करने के लिये अवतरित हुआ है।

उपनिषद् हमें बताती है कि जब मनोमय पुरुष से ऊपर विज्ञानमय पुरुष उपलब्ध हो जाता है और इससे नीचे के अन्नमय आदि सभी 'पुरुष' इसमें उन्नीत हो जाते हैं तो उसके बाद भी, हमारे लिये एक और, सबसे अन्तिम पग शेष रह जाता है—यद्यपि कोई पूछ सकता है : "क्या वह सदा के लिये अन्तिम है अथवा केवल एक ऐसा अन्तिम पग है जो व्यवहारतः हमारी कल्पना में आ सकता है या जो इस समय हमारे लिये एकमात्र आवश्यक है?" वह पग है—अपनी विज्ञानमय सत्ता को आनन्दमय पुरुष में उठा ले जाना और वहां अनन्त भगवान् के आध्यात्मिक अन्वेषण को पूरा कर देना। आनन्द, अर्थात् सनातन परमोच्च दिव्यानन्द अपने स्वरूप में उच्चतम मानवीय हर्ष या सुख से अत्यन्त भिन्न एवं उच्चतर है। यह आनन्द ही आत्मा का सारभूत और मूल स्वभाव है। आनन्द में ही हमारी आत्मा अपनी सच्ची सत्ता को प्राप्त करेगी; आनन्द में ही वह अपनी तात्त्विक चेतना,

अपनी सत्ता की पूर्ण शक्ति प्राप्त करेगी। देहधारी जीव का आत्मा के इस उच्चात्युच्च, निरपेक्ष, असीम एवं स्वभावसिद्ध आनन्द में प्रवेश ही अनन्त मुक्ति एवं अनन्त पूर्णता है। यह ठीक है कि निम्नतर स्तरों पर भी, जहां पुरुष अपनी खर्व और संकीर्ण प्रकृति के साथ अपना खेल करता है, इस आनन्द को प्रतिबिम्बित करके या परिमित रूप में अवतरित करके इसका यत्किञ्चित् उपभोग किया जा सकता है। आध्यात्मिक एवं असीम आनन्द का अनुभव जिस प्रकार ज्ञान की विज्ञानमय सत्य भूमिका में तथा इससे भी ऊपर किया जा सकता है उसी प्रकार देह, प्राण और मन के स्तरों पर भी किया जा सकता है। और जो योगी इन लघुतर अनुभूतियों में प्रवेश पा लेता है वह इन्हें इतनी पूर्ण और प्रबल अनुभव कर सकता है कि वह यह कल्पना करने लगे कि इनसे महान् और परतर कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि, दिव्य तत्त्वों में से प्रत्येक हमारी सत्ता के अन्य छहों स्वरों की सम्पूर्ण सम्भाव्य शक्ति को बीजरूप में अपने अन्दर धारण किये हुए है; प्रकृति का प्रत्येक स्तर अपने नियमों के अधीन इन स्वरों की स्वानुरूप पूर्णता प्राप्त कर सकता है। परन्तु सर्वांगीण पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि निम्नतम स्तर उच्चतम की ओर ऊपर ही ऊपर आरोहण करता जाये और इसके साथ ही उच्चतम निरन्तर ही निम्नतम के अन्दर अवतरित होता रहे जिससे अन्त में हमारी सारी सत्ता अनन्त और सनातन सत्य का एक ही ठोस पिण्ड और साथ ही एक नमनीय सुधासिन्धु बन जाये।

मनुष्य की ठेठ भौतिक चेतना अर्थात् अन्नमय पुरुष इस परमोच्च आरोहण और पूर्ण अवरोहण के बिना भी सच्चिदानन्द की सत्ता को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर सकता है तथा स्वयं इसमें प्रवेश भी पा सकता है। यह कार्य वह विराट् पुरुष को, उसके आनन्द, बल और आनंत्य को, जो गुप्त होते हुए भी यहां विद्यमान अवश्य हैं, भौतिक प्रकृति में प्रतिबिम्बित करके अथवा एक पृथक् वस्तु एवं सत्ता होने की अपनी भावना का अपने अन्दर या बाहर अवस्थित आत्मा में लय करके सम्पन्न कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप स्थूल मन एक महिमान्वित निद्रा में लीन हो जाता है जिसमें अन्नमय पुरुष एक प्रकार के सचेतन निर्वाण में अपने-आपको भूल जाता है या फिर प्रकृति के हाथों में एक निर्जीव वस्तु की भांति, **जड़वत्**, हवा में लुढ़कते पत्ते की तरह इधर-उधर गति करता रहता है। अथवा सच्चिदानन्द की सत्ता को अनुभव करने के परिणामस्वरूप कर्म के उत्तरदायित्व से मुक्त होने की शुद्ध, सुखमय और निर्बाध अवस्था, दिव्य शैशव की अवस्था भी प्राप्त हो सकती है, **बालवत्**। परन्तु यह ज्ञान और आनन्द के उन उच्चतर ऐश्वर्यों के बिना ही प्राप्त होती है जो एक अधिक ऊंचे स्तर की ऐसी दिव्य शैशवावस्था के वैभव हैं। पर यह सच्चिदानन्द का एक जड़ साक्षात्कार है जिसमें न तो पुरुष को प्रकृति पर किसी प्रकार का प्रभुत्व प्राप्त होता है और न प्रकृति अपनी परमोच्च शक्ति में, परा शक्ति

के अनन्त वैभवों में, किसी प्रकार से उन्नीत ही होती है। तथापि ये दोनों अर्थात् यह प्रभुत्व और यह उन्नयन पूर्णता के दो पथ हैं, परमोच्च सनातन ब्रह्म में प्रवेश करने के लिये दो भव्य द्वार हैं।

मनुष्य में अवस्थित प्राणिक आत्मा एवं प्राणिक चेतना, प्राणमय पुरुष भी सच्चिदानन्द की सत्ता को अपने अन्दर इसी प्रकार सीधे रूप में प्रतिबिम्बित कर सकता तथा इसमें प्रवेश पा सकता है। अर्थात् इसके लिये उसे या तो विश्व-प्राण में पड़नेवाले विराट् पुरुष के व्यापक, प्रोज्वल और आनन्दपूर्ण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना होता है अथवा अपने पृथक् जीवन एवं अस्तित्व की भावना का अपने अन्दर या बाहर विद्यमान बृहत् आत्मा में लय करना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप वह या तो नितान्त आत्म-विस्मृति की गहरी अवस्था में पहुंच जाता है या फिर प्राणिक प्रकृति के द्वारा प्रेरित होकर अनुत्तरदायी रूप में कार्य करने लगता है अर्थात् प्राणमय नृत्य में निरत महान् विश्व-शक्ति के प्रति आत्मोत्सर्ग करने के उदात्त उत्साह से पूरित हो उठता है। उसकी बाह्य सत्ता ईश्वर-अधिकृत उन्माद के भाव में निवास करती है, **उन्मत्तवत्**, और तब वह अपनी तथा जगत् की परवा नहीं करती अथवा उपयुक्त मानव-कर्म के रूढ़ाचारों एवं औचित्यों की या महत्तर सत्य के सामंजस्य एवं लयताल की पूर्ण रूप से उपेक्षा करती है। वह बन्धनरहित प्राणमय पुरुष की तरह, दिव्य 'पागल' या दिव्य पिशाच की तरह कार्य करती है, **पिशाचवत्**। इस अवस्था में भी प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त नहीं होता, न उसका परम ऊर्ध्वगमन ही होता है। हां, इतना अवश्य होता है कि हमारा अन्तःस्थ आत्मा एक आनन्दपूर्ण निष्क्रिय अवस्था में सच्चिदानन्द को उपलब्ध कर लेता है और बाहर अवस्थित भौतिक एवं प्राणिक प्रकृति हमपर एक अनियंत्रित ढंग का सक्रिय प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है।

मनुष्य में रहनेवाली मनोगत आत्मा एवं मानसिक चेतना, मनोमय पुरुष भी इसी प्रकार के सीधे तरीके से सच्चिदानन्द को प्रतिबिम्बित कर सकता तथा इसमें प्रवेश पा सकता है अर्थात् इसके लिये उसे ज्योतिर्मय, निर्बाध, सुखमय, नमनीय और असीम शुद्ध वैश्व मन की प्रकृति में पड़नेवाले विराट् पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना होता है या फिर अपने अन्दर और बाहर अवस्थित बृहत्, मुक्त, अपरिच्छिन्न केंद्रातीत आत्मा में लीन होना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप या तो उसका मन और कर्ममात्र एक निश्चल अवस्था में लय को प्राप्त हो जाते हैं या फिर वह कामना और बन्धन से मुक्त होकर कर्म करता है और उस कर्म को उसका आन्तरिक साक्षी-पुरुष देखता रहता है पर उसमें भाग नहीं लेता। मनोमय मानव एक ऐसी एकान्तवासिनी आत्मा बन जाता है जो मानों जगत् में अकेली ही हो तथा जो किसी भी मानवीय सम्बन्ध की परवा न करती हो या फिर वह एक ऐसी निगूढ़ आत्मा बन जाता है जो उल्लासमय ईश्वर-सान्निध्य या आनन्दपूर्ण तादात्म्य में निवास करती है

तथा सब जीवों के साथ शुद्ध प्रेम एवं परम आनन्द के सम्बन्ध रखती है। मनोमय पुरुष को आत्मा का साक्षात्कार इन तीनों स्तरों में एक साथ भी हो सकता है। तब वह ये सब चीजें (दिव्य बालक, दिव्य 'पागल' या 'पिशाच' और एकान्तवासी तपस्वी) बारी-बारी से, एक के बाद एक या फिर एक ही साथ बन सकता है। अथवा वह निम्नतर रूपों को उच्चतर भूमिका के व्यक्त रूपों में परिणत कर सकता है; वह स्वतंत्र भौतिक मन की 'बालवत्'-स्थिति या जड़ दायित्वहीनता को अथवा स्वतंत्र प्राणिक मन के दिव्य उन्माद को तथा सब नियमों, औचित्यों एवं सामंजस्यों के प्रति उसकी उपेक्षावृत्ति को ऊपर उठा ले जा सकता है और उनके द्वारा सन्त के हर्षोद्रिक किंवा परिव्राजक की एकान्तप्रिय स्वाधीनता को अनुरंजित या आच्छादित कर सकता है। यहां भी न तो आत्मा जगत् में प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करती है और न प्रकृति को ऊपर ही उठाती है, बल्कि आत्मा पर दोहरा प्रभुत्व स्थापित हो जाता है,—अन्दर तो मनोगत अनन्त अध्यात्म-सत्ता का स्वातंत्र्य एवं आनन्द उसपर अधिकार कर लेते हैं और बाहर मानसिक प्रकृति की सुखमय, स्वाभाविक और अव्यवस्थित लीला। पर, क्योंकि मनोमय पुरुष विज्ञान को एक ऐसे ढंग से ग्रहण कर सकता है जिससे कि प्राणमय और अन्नमय पुरुष ग्रहण नहीं कर सकते और क्योंकि वह इसे ज्ञान के साथ—मानसिक प्रतिक्रिया करनेवाले सीमित ज्ञान के साथ ही सही—स्वीकार कर सकता है, वह अपने बाह्य कर्म को कुछ अंश में इसकी ज्योति के द्वारा परिचालित कर सकता है अथवा यदि इतना नहीं तो कम-से-कम अपने संकल्प और विचारों को इससे आप्लावित करके शुद्ध अवश्य कर सकता है। परन्तु मन अन्तःस्थ अनन्त सत्ता और बाह्य सान्त प्रकृति के बीच केवल एक समझौता ही कर सकता है; वह अपने बाह्य कर्म में अन्तःसत्ता के ज्ञान, बल और आनन्द की अनन्तता को पूर्णता के साथ तनिक भी नहीं उंडेल सकता; अतः उसका बाह्य कर्म तो सदा ही अपूर्ण रहता है। फिर भी वह सन्तोष और स्वतंत्रता अनुभव करता है क्योंकि अन्तरस्थ प्रभु ही उसके कर्म का, वह चाहे पूर्ण हो या अपूर्ण, भार अपने ऊपर ले लेते हैं, उसकी बागडोर संभाल लेते हैं तथा उसका फल निश्चित करते हैं।

परन्तु विज्ञानमय पुरुष वह पहली सत्ता है जो सनातन के स्वातंत्र्य में ही नहीं बल्कि उसकी शक्ति और प्रभुता में भी भाग लेती है। क्योंकि वह अपने कार्य में देवत्व के पूर्णैश्वर्य को ग्रहण करता है, देवत्व की परिपूर्णता को अनुभव करता है। वह अनन्त की मुक्त, अत्युच्च और परमोज्ज्वल गति में भाग लेता है; वह मूल ज्ञान, विशुद्ध शक्ति और अखण्ड आनन्द का आधार है, समस्त जीवन को सनातन ज्योति, सनातन अग्नि और सनातन सोम-सुधा में रूपान्तरित कर देता है, वह आत्मा की अनन्तता और प्रकृति की अनन्तता दोनों को धारण करता है। अनन्त की सत्ता में वह अपनी प्रकृतिगत सत्ता को उतना खोता नहीं जितना कि पा लेता है। अन्य

स्तरों पर जिनतक मनोमय पुरुष अधिक आसानी से पहुंच सकता है, मनुष्य अपने अन्दर ईश्वर को और ईश्वर में अपने-आपको अनुभव करता है; वह अपने बाह्य व्यक्तित्व या प्रकृति की अपेक्षा कहीं अधिक अपने आन्तरिक सारतत्त्व में ही दिव्य बनता है। विज्ञान में, यहांतक कि मानसभावापन्न विज्ञान में भी, सनातन भगवान् मानवरूपी प्रतीक को अधिकृत तथा रूपान्तरित करते हैं तथा उसपर अपनी छाप लगाते हैं, मानव-व्यक्तित्व एवं प्रकृति को सब ओर से व्याप लेते हैं तथा कुछ अंश में उसके अन्दर अपने-आपको प्राप्त कर लेते हैं। मनोमय पुरुष अधिक-से-अधिक उसी वस्तु को ग्रहण या प्रतिबिम्बित करता है जो सत्य, दिव्य और शाश्वत होती है; पर विज्ञानमय पुरुष सच्चे तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है, सत्य-प्रकृति की मूल सत्ता और शक्ति को आयत्त कर लेता है। पुरुष और प्रकृति का, एक-दूसरी की पूरक दो पृथक् शक्तियों का द्वैत सांख्यमतवालों का एक महान् सत्य है जो हमारी वर्तमान प्राकृत सत्ता के व्यावहारिक सत्य पर आधारित है। पर विज्ञान में यह द्वैत पुरुष और प्रकृति की द्वयात्मक सत्ता में, गुह्य परात्पर के क्रियाशील रहस्य में विलीन हो जाता है। सत्य-सत्ता मूर्तिविद्यासम्बन्धी भारतीय प्रतीक के द्वारा प्रतिरूपित हरगौरी[1] है; वह एक नर-नारीरूप द्विविध शक्ति है जो परात्पर की पराशक्ति से उत्पन्न हुई है तथा उसीके द्वारा धारण की जाती है।

अतएव ऋतचित् पुरुष अनन्त के अन्दर आत्म-विस्मृति की अवस्था में नहीं पहुंच जाता; वह अनन्त में सनातन आत्म-प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। उसका कार्य अनियमित नहीं होता; अनन्त स्वतंत्रता में भी वह ('पुरुष') पूर्ण संयम से संपन्न होता है। निम्नतर स्तरों में 'पुरुष' स्वभावतः ही प्रकृति के अधीन होता है और नियामक तत्त्व की प्राप्ति भी उसे निम्नतर प्रकृति में ही होती है; वहां किसी प्रकार का भी नियमन करने के लिये सांत के नियम के प्रति कठोर अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। यदि इन स्तरों पर 'पुरुष' उस नियम से हटकर अनन्त की स्वतंत्रता में प्रवेश करता है तो वह अपने स्वाभाविक केन्द्र को खो देता है और विराट् अनन्तता में एक केन्द्ररहित सत्ता बन जाता है, वह उस जीवन्त सामंजस्यपूर्ण तत्त्व से वंचित हो जाता है जिसके द्वारा वह तबतक अपनी बाह्य सत्ता का नियमन करता था और उसे अन्य कोई नियम नहीं मिलता। वैयक्तिक प्रकृति या उसका बचा-खुचा अंश केवल अपनी पुरानी चेष्टाओं को कुछ समय के लिये यंत्रवत् जारी रखता है अथवा वह व्यक्ति के देहसंस्थान के अन्दर नहीं बल्कि उसके ऊपर कार्य करनेवाली विश्व-शक्ति की तरंगों के उतार-चढ़ाव के साथ नाचता रहता है, या वह एक सर्वथा स्वच्छन्द आनन्द के उन्मत्त पदक्षेप के अनुसार इधर-उधर भटकता रहता है, या फिर वह जड़ बना रहता है और आत्मा का जो श्वास उसके भीतर था वह

[1] महादेव और उनकी अर्द्धांगिनी अर्थात् ईश्वर और शक्ति का द्वयात्मक शरीर जिसका दायां अर्द्ध भाग नर-रूप है और बायां अर्द्ध भाग नारी-रूप।

उसे त्यागकर चला जाता है। इसके विपरीत, यदि आत्मा स्वातंत्र्य-प्राप्ति के अपने आवेग में नियंत्रण के एक ऐसे अन्य एवं दिव्य केन्द्र की खोज के लिये यत्न करती है जिसके द्वारा अनन्त भगवान् व्यक्ति में अपने कर्म को सचेतन रूप से नियंत्रित कर सकें तो वह विज्ञान की ओर बढ़ रही है जहां वह केन्द्र अर्थात् सनातन समस्वरता और व्यवस्था का केन्द्र पहले से ही विद्यमान है। जब पुरुष मन और प्राण के ऊपर विज्ञान में आरोहण करता है तभी वह अपनी प्रकृति का स्वामी बनता है क्योंकि तब वह केवल पराप्रकृति के ही अधीन रहता है। कारण वहां शक्ति या संकल्प दिव्य ज्ञान के एक यथार्थ पूरक पक्ष एवं उसकी पूर्ण क्रियाशक्ति का काम करता है। और वह ज्ञान केवल 'साक्षी' की दृष्टि नहीं बल्कि ईश्वर की अन्तर्यामी दृष्टि है जो प्रबल रूप से प्रेरित करती है। उसकी ज्योतिर्मय नियामक शक्ति, जिसकी पकड़ से बचना या जिससे इन्कार करना संभव नहीं, अपनी आत्म-व्यञ्जक सामर्थ्य के द्वारा हमारे समस्त कर्म का नियमन करती है और प्रत्येक क्रिया तथा आवेग को एक सत्य, उज्ज्वल, यथार्थ और अटल रूप प्रदान करती है।

विज्ञान अपने से नीचे के स्तरों की उपलब्धि का परित्याग नहीं करता; उसका अर्थ हमारी व्यक्त प्रकृति का विलोप या लय अर्थात् निर्वाण नहीं बल्कि इसकी उदात्त चरितार्थता है। वह प्रारम्भिक उपलब्धियों को रूपान्तरित तथा दिव्य क्रम-विधान के तत्त्वों में परिणत करके अपनी निजी अवस्थाओं के अन्तर्गत धारण करता है। यह ठीक है कि विज्ञानमय पुरुष एक शिशु है, पर है एक राजशिशु[1]; विज्ञानमय भूमिका एक राजोपम और सनातन शिशु की अवस्था है जिसके लिये ये सब लोक खिलौने हैं और सम्पूर्ण विश्व-प्रकृति जिसके कभी न समाप्त होनेवाले खेल की अद्‌भुत वाटिका है। विज्ञान दिव्य जड़ता की अवस्था को अपनाता है; पर यह अब उस वशवर्ती आत्मा की जड़ता नहीं होती जिसे प्रकृति जमीन पर पड़े पत्ते की तरह ईश्वर के निःश्वास में चाहे जिधर ठेल ले जाती है। यह तो एक सुखद निष्क्रियता होती है जो प्रकृतिरूपी आत्म-सत्ता के कर्म और आनन्द की अकल्पनीय तीव्रता को धारण करती है। वह प्रकृति अपने स्वामी 'पुरुष' के आनन्द से प्रेरित होती है और साथ ही अपने-आपको एक ऐसी पराशक्ति के रूप में जानती है जो उसके ऊपर एवं चारों ओर विद्यमान है और उसे अपने अधिकार में रखती है तथा सदा ही अपनी गोद में परमानन्दपूर्वक धारण किये रहती है। पुरुष-प्रकृति की यह द्विदल-सत्ता मानों जाज्वल्यमान सूर्य एवं दिव्य ज्योति का पुंज है जिसे उसकी अपनी ही आभ्यन्तरिक चेतना एवं शक्ति विराट् तथा सर्वोच्च परात्पर सत्ता के साथ एक होकर उसकी अपनी कक्षा पर घुमाये लिये चलती है। विज्ञान का उन्माद आनन्द का ज्ञानपूर्ण उन्माद होता है, एक परम चेतना एवं शक्ति का अपरिमेय परमोल्लास

[1] ऐसा ही हिराक्लिटस (Heraclitus) ने भी कहा है, "स्वर्ग का राज्य शिशु का ही है।"

होता है जो अपनी दिव्य जीवन-गतियों में स्वतंत्रता और प्रखरता की अनन्त भावना से स्पन्दित रहती है। उसका कार्य अतिबौद्धिक होता है और अतएव बुद्धिप्रधान मन को वह एक बड़ा भारी उन्माद प्रतीत होता है क्योंकि इसके पास उसे समझने की कुंजी ही नहीं है। तथापि यह चीज जो उन्मादना प्रतीत होती है वास्तव में एक क्रियारत प्रज्ञा है जो अपने अन्तर्निहित तत्त्वों के स्वातंत्र्य और ऐश्वर्य के द्वारा तथा अपनी गतियों की मूलभूत सरलता में रहनेवाली अनन्त जटिलता के द्वारा मन को चकरा भर देती है, यह आनन्दोन्मादना सब लोकों के प्रभु की अपना कार्य करने की असली पद्धति ही है, एक ऐसी वस्तु है जिसकी थाह पाना किसी भी प्रकार की बौद्धिक व्यवस्था के लिये सम्भव नहीं; यह एक नृत्य भी है, अति प्रबल शक्तियों का एक भंवर है, पर नृत्य का स्वामी अपनी शक्तियों के हाथों को अपने हाथ में लिये रहता है और उन्हें अपनी रास-लीला के तालमय गतिच्छन्द के अनुसार स्वयं-निर्धारित सामंजस्यपूर्ण चक्रों में घुमाता रहता है। दिव्य 'पिशाच' की ही भांति विज्ञानमय पुरुष भी साधारण मानवजीवन के तुच्छ सदाचारों एवं औचित्यों से बंधा नहीं होता जिनके द्वारा वह निम्न प्रकृति के परेशान करनेवाले द्वंद्वों के साथ सामंजस्य साधने के लिये कोई सामयिक उपाय करता है तथा जिनकी सहायता से वह जगत् के प्रतीयमान विरोधों के बीच अपने पगों को ठीक राह पर चलाने, इसकी अनगिनत विघ्न-बाधाओं से बचने और इसके भयावह स्थलों एवं गर्त-गह्वरों के आसपास फूंक-फूंककर कदम रखने का यत्न करता है। विज्ञानमय अतिमानसिक जीवन हमारे लिये एक असाधारण जीवन है क्योंकि वह इतना स्वतन्त्र है कि उसमें आत्मा प्रकृति के साथ निर्भयता और यहांतक कि उग्रता से व्यवहार करती हुई समस्त दुःसाहसिक कार्यों को पूरा करती है तथा निर्भयतापूर्वक नानाविध आनन्द लाभ करती है, किन्तु फिर भी वह जीवन अनन्त भगवान् के वास्तविक सहज स्वभाव का द्योतक है तथा अपनी यथार्थ निर्भ्रान्त कार्यप्रणाली में पूर्ण रूप से सत्य के नियम के अधीन होता है। वह एक आत्म-अधिकृत ज्ञान और प्रेम के तथा संख्यातीत एकत्व में मिलनेवाले आनन्द के नियम का अनुसरण करता है। वह असाधारण केवल इसलिये प्रतीत होता है कि उसके गतिच्छन्द को मन के मन्द एवं दुर्बल कंपनों के द्वारा नापा नहीं जा सकता, फिर भी वह आश्चर्यजनक तथा परात्पर लयताल के अनुसार अपने पग रखता है।

यदि ऐसा ही है तो फिर इससे भी ऊंचे सोपान की भला क्या आवश्यकता है और विज्ञानमय पुरुष तथा आनन्दमय पुरुष में भेद ही क्या है? तात्त्विक भेद कोई नहीं है, फिर भी भेद अवश्य है, क्योंकि पुरुष चेतना के एक अन्य ही स्तर में पहुंच जाता है और सारी स्थिति एक प्रकार से आमूल रूप में पलट जाती है,—जड़तत्त्व से लेकर उच्चतम सत्तातक आरोहण की जितनी भी भूमिकाएं हैं उनमें से हर एक की प्राप्ति के लिये चेतना का एक प्रकार का पलटाव होना आवश्यक है। प्रत्येक

भूमिका में 'पुरुष' उससे ऊपर परे की किसी वस्तु की ओर नहीं देखता, बल्कि उसीमें स्थित होकर उससे नीचे की ओर उस सबपर दृष्टिपात करता है जो कि वह पहले था। निःसन्देह आनन्द की प्राप्ति सभी स्तरों पर हो सकती है, क्योंकि यह सर्वत्र विद्यमान है और सर्वत्र एक ही वस्तु है। यहांतक कि चेतना के प्रत्येक निम्न लोक में भी आनन्द भूमिका की एक प्रकार की पुनरावृत्ति होती है। परन्तु निम्नतर स्तरों में जब आनन्द प्राप्त होता है तो इसके अन्दर शुद्ध मन या प्राणिक बोध या भौतिक चेतना का एक प्रकार का लय करके ही इसे अनुभव किया जा सकता है; इतना ही नहीं, बल्कि मानों यह मन, प्राण या जड़तत्त्व के उस लय-प्राप्त रूप के कारण जो आनन्द के घोल में स्थित होता है स्वयं भी हल्का हो जाता है तथा एक तुच्छ विरल रूप में परिणत हो जाता है। वह रूप निम्न चेतना के लिये तो आश्चर्यजनक होता है पर आनन्द के वास्तविक प्रगाढ़ रूपों की बराबरी नहीं कर सकता। इसके विपरीत विज्ञान में वास्तविक चेतना की सघन ज्योति[1] विद्यमान होती है जिसमें आनन्द की प्रगाढ़ पूर्णता उपस्थित रह सकती है। और जब विज्ञान का रूप आनन्द में लय प्राप्त करता है, तो वह सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता बल्कि एक स्वाभाविक परिवर्तन में से गुजरता है जिसके द्वारा हमारी आत्मा अपनी चरम-परम स्वतन्त्रता में उन्नीत हो जाती है; क्योंकि वह अपने-आपको आत्मतत्त्व की निरपेक्ष सत्ता के सांचे में ढाल लेती है और अपनी पूर्णतः स्वयंस्थित आनन्दमय अनन्तताओं के रूप में विस्तृत हो जाती है। अनन्त एवं निरपेक्ष भगवान् ही विज्ञान के सब कार्यों का चिन्मय उद्गम, सहचारी तत्त्व, अनिवार्य गुण-धर्म, आदर्शमान, क्षेत्र और वातावरण है; वही इसका आधार, उत्स एवं उपादान-द्रव्य है तथा इसके अन्दर निवास करने और इसे अनुप्रेरित करनेवाली उपस्थिति है; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपने कर्म में यह उसकी एक क्रिया के रूप में, उसके कार्यों की एक तालबद्ध पद्धति, सनातन की दिव्य माया[2] या प्रज्ञात्मक रचना के रूप में उससे पृथक् स्थित रहता है। विज्ञान चिच्छक्ति का दिव्य ज्ञान-संकल्प है; यह प्रकृति-पुरुष की सामंजस्यपूर्ण चेतनता और क्रिया है—दिव्य अस्तित्व के आनन्द से परिपूर्ण है। आनन्द-भूमिका में ज्ञान इन संकल्पमूलक सामंजस्यों से पीछे हटकर शुद्ध आत्म-चैतन्य में चला जाता है, संकल्प शुद्ध परात्पर शक्ति में लीन हो जाता है और फिर दोनों ही अनन्त के शुद्ध आनन्द में ऊपर उठ जाते हैं। आनन्द का निज उपादान एवं निज स्वरूप ही विज्ञानमय भूमिका का आधार है।

आनन्द-भूमिका की ओर आरोहण में ऐसा इसलिये घटित होता है कि यहां पूर्ण एकता की ओर होनेवाला संक्रमण पूरा हो जाता है। विज्ञान उस संक्रमण का

[1] चिद्घन।

[2] भ्रम के अर्थ में नहीं, बल्कि 'माया' शब्द के मूल वैदिक अर्थ में। विज्ञानमय भूमिका में सभी कुछ वास्तविक है, आध्यात्मिक रूप में मूर्त तथा सदा ही प्रमाणित कर सकने योग्य होता है।

निर्णायक पग है, अन्तिम विश्रामस्थल नहीं। विज्ञान में आत्मा अपनी अनन्तता को जान लेती है तथा उसमें निवास करती है, पर इसके साथ ही वह व्यक्ति के अन्दर अनन्त की क्रीड़ा के लिये एक कार्योपयोगी केन्द्र में भी निवास करती है। वह सब भूतों के साथ एकात्मता अनुभव कर लेती है, पर वह भेदवृत्ति से रहित अपने वैशिष्ट्य को भी सुरक्षित रखती है जिसके द्वारा वह एक प्रकार की विभिन्नता में भी उनके साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। सम्बन्ध में मिलनेवाले आनन्द के लिये आत्मा ने अपने अन्दर यह जो विशिष्टता रख छोड़ी है वही मन में जाकर भेद का ही नहीं बल्कि पार्थक्य आदि का रूप भी धारण कर लेती है। परिणामतः मन को यह अनुभव होता है कि हमारी आत्मा हमारी अन्य आत्माओं से पृथक् एवं विभक्त है, अपनी आध्यात्मिक सत्ता में उसे यह भान होता है कि वह दूसरों के अन्दर विद्यमान उस आत्मा को खो बैठा है जो हमारे साथ एकीभूत है और अतएव वह उस आनन्द को पाने के लिये यत्न करता है जिससे वह वंचित हो गया है; प्राण में आकर वह विशिष्टता अहं का अपने अन्दर डूबे रहना तथा आत्मा का अपने सुप्त एकत्व की अन्धवत् खोज करना—इन दोनों के बीच एक समझौते का रूप धारण कर लेती है। विज्ञानमय पुरुष अपनी अनन्त चेतना में भी अपने ज्ञानात्मक उद्देश्यों के लिये स्वेच्छापूर्वक एक प्रकार का सीमित व्यक्तित्व उत्पन्न करता है; यहांतक कि इसकी सत्ता का एक विशेष प्रोज्ज्वल प्रभामण्डल भी होता है जिसमें यह विचरण करता है, यद्यपि उससे परे यह सब वस्तुओं में प्रवेश करके समस्त सत्ता तथा सर्वभूतों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। आनन्द में सब कुछ ही पलट जाता है, केन्द्र का लोप हो जाता है। आनन्दमय कोष की प्रकृति में कोई भी केन्द्र नहीं होता, न कोई स्वेच्छारचित या आरोपित परिधि ही होती है, बल्कि सब कुछ एक ही सम सत्ता या एक ही अभिन्न आत्मा होता है, व्यष्टिरूप में भी सभी वस्तुएं वही एक सत्ता या आत्मा अनुभव होती हैं। आनन्दमय पुरुष सर्वत्र ही अपनी सत्ता को देखता एवं अनुभव करता है; उसका अपना निवासस्थान कोई नहीं, वह 'अनिकेत' है (अर्थात् निकेत या निवासस्थान से रहित है), अथवा सब कुछ (सर्व) ही उसका निवासस्थान है, या फिर, यदि वह चाहे तो सभी पदार्थ उसके अनेकानेक निवासस्थान होते हैं जो एक-दूसरे के लिये सदैव खुले रहते हैं। अन्य सभी सत्ताएं अपने सार-तत्त्व में तथा अपने सक्रिय रूप में पूर्ण रूप से उसकी अपनी ही आत्माएं होती हैं। विविधतापूर्ण एकता में सम्बन्ध स्थापित करने से जो आनन्द मिलता है वह पूर्णतया उसी आनन्द का रूप धारण कर लेता है जो संख्यातीत एकत्व में पूर्ण तादात्म्य के द्वारा प्राप्त होता है। सत्ता को अब पहले की तरह ज्ञान के रूपों में संघटित नहीं किया जाता, क्योंकि यहां ज्ञात, ज्ञान और ज्ञाता पूर्ण रूप से एक ही 'सत् आत्मा' होते हैं। यहां सबको सब कुछ निकटतम निकटता से भी 'परतर' एक अन्तरंग तादात्म्य के द्वारा ज्ञात एवं प्राप्त रहता है। अतएव, जिसे हम

ज्ञान कहते हैं उसकी यहां जरूरत ही नहीं होती। समस्त चैतन्य अनन्त के आनन्द का ही चैतन्य होता है, समस्त शक्ति अनन्त के आनन्द की ही शक्ति होती है, सब रूप और कार्य भी अनन्त के आनन्द के रूप और कार्य होते हैं। सनातन आनन्दमय पुरुष अपनी सत्ता के इसी निरपेक्ष सत्य में निवास करता है, यहां हमारे लोक में वह विपरीत दृश्विषयों के कारण विकृत है, यहां अपनी भूमिका में वह पुनः इनके सत्य स्वरूप को प्राप्त कर उसीमें रूपान्तरित हो जाता है।

आनन्दभूमिका में भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है; उसका नाश नहीं होता, न किसी निराकार अनिर्देश्य सत्ता में उसका लय ही होता है। क्योंकि, हमारी सत्ता के प्रत्येक स्तर पर यही नियम लागू होता है; आनन्दमय भूमिका में आत्मा आत्म-मग्नता की गहरी योगनिद्रा में लीन हो सकती है, प्रभुप्राप्ति की अनिर्वचनीय गरिमा में प्रतिष्ठित हो सकती है, भारतीय शास्त्रों में आनन्दलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ या गोलोक के नाम से वर्णित की गयी अपनी निज भूमिका के उच्चतम वैभव में निवास कर सकती है, यहांतक कि निम्नतर लोकों को अपनी ज्योति, शक्ति और आनन्द से परिपूरित करने के लिये उनकी ओर लौट भी सकती है। सनातन लोकों में ये भूमिकाएं एक-दूसरी में निहित रहती हैं, यहांतक कि मन से ऊपर के सभी लोकों में उत्तरोत्तर ऐसा ही देखने में आता है। क्योंकि, ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं; बल्कि ये निरपेक्ष ब्रह्म की चेतना की सहवर्ती, यहांतक कि सुसंवादी शक्तियां हैं। आनन्द-भूमिका में अवस्थित भगवान् विश्व-लीला करने में असमर्थ हों ऐसी बात नहीं, न उन्होंने अपने ऐश्वर्य-वैभव को किसी प्रकार प्रकट करने के सम्बन्ध में अपने ऊपर रोक ही लगा रखी है। वरन् जैसा कि उपनिषद् में बलपूर्वक कहा गया है, आनन्द ही वास्तविक सृष्टिकारी तत्त्व है। क्योंकि सब कुछ इस दिव्य आनन्द[1] से ही उत्पन्न होता है; सब कुछ इसके अन्दर सत्ता के एक निरपेक्ष सत्य के रूप में पहले से ही विद्यमान है। विज्ञान उस सत्य को प्रकाश में लाता है और विचार तथा इसके नियम के द्वारा उसे स्वेच्छापूर्वक सीमित कर देता है। आनन्द-तत्त्व में सब नियमों का अन्त हो जाता है, इसमें किसी बांधनेवाली शर्त्त या सीमा से रहित एक पूर्ण स्वतन्त्रता का राज्य है। यह अन्य सभी तत्त्वों या कोषों से उच्चतर है और एक ही क्रिया के द्वारा उन सब तत्त्वों का उपभोग भी करता है; यह सब गुणों से मुक्त है और अपने अनन्त गुणों का भोक्ता भी है; यह सब रूपों से ऊपर है और अपने सभी रूपों तथा आकारों का निर्माता और भोक्ता भी है। यह कल्पनातीत पूर्णता ही आत्मा का, परात्पर और विराट् आत्मा का स्वरूप है, और आनन्द-भूमिका में परात्पर तथा विराट् आत्मा के साथ एक होने का अर्थ यही है कि हमारी आत्मा भी तद्रूप हो जाये, इससे कम नहीं। इस भूमिका में निरपेक्ष आत्मा का ही

[1] इसीलिये आनन्द के लोक को 'जनलोक' कहा जाता है जिसमें 'जन' शब्द जन्म और आनन्द के दोहरे अर्थ का वाचक है।

अस्तित्व है और उसके निरपेक्ष तत्त्वों की ही लीला होती रहती है। अतएव, स्वभावतः ही, हमारे मन का कोई भी विचार इसका वर्णन नहीं कर सकता। न उन प्रातिभासिक या पारमार्थिक सत्ताओं के संकेतों के द्वारा ही इसका वर्णन किया जा सकता है जिन्हें प्रकट करने के लिये हमारे मानसिक विचार बुद्धिगत प्रतीकों का काम करते हैं। ये सत्ताएं स्वयं वास्तव में उन अवर्णनीय निरपेक्ष तत्त्वों के सापेक्ष प्रतीकमात्र हैं। प्रतीक अर्थात् निरपेक्ष तत्त्व को प्रकट करनेवाली कोई सद्वस्तु हमें स्वयं उस तत्त्व का विचार, बोध, इन्द्रियानुभव, अन्तर्दर्शन, यहांतक कि संस्पर्श भी प्रदान कर सकती है, पर अन्त में हम इस प्रतीक से परे उस मूल तत्त्व पर पहुंच जाते हैं जिसका यह प्रतीक है, विचार अन्तर्दर्शन और संस्पर्श को पार कर जाते हैं, विचारात्मक सद्वस्तुओं को भेदकर वास्तविक सद्वस्तुओं पर पहुंच जाते हैं, एकमेव, परमोच्च, कालातीत और सनातन एवं अनन्ततः अनन्त सत्ता को प्राप्त कर लेते हैं।

आज हम जो कुछ हैं तथा जो कुछ जानते हैं उससे बिल्कुल परे की किसी वस्तु को जब हम आन्तरिक रूप से जान लेते हैं और उसकी ओर प्रबल रूप से आकृष्ट हो जाते हैं तो हमारी प्रथम सर्वग्रासी प्रवृत्ति यह होती है कि हम अपने वर्तमान यथार्थ जीवन को त्यागकर पूर्ण रूप से उस उच्चतर सद्वस्तु में ही निवास करें। इस आकर्षण का चरम रूप तब देखने में आता है जब हम परमोच्च सत् और अनन्त आनन्द की ओर आकृष्ट होते हैं। उस चरम आकर्षण का अभिप्राय है निम्नतर तथा सांत सत्ता को भ्रम मानकर हेयता की दृष्टि से देखना तथा परतत्त्व में निर्वाण पाने के लिये अभीप्सा करना, आत्मा में लय, निमज्जन एवं निर्वाण लाभ करने के लिये उत्कट अभिलाषा करना। परन्तु वास्तविक लय अर्थात् सच्चे निर्वाण का अर्थ यह है कि हम उन सब विशिष्ट तत्त्वों को जो अनिवार्य रूप से निम्नतर सत्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, उच्चतर सद्वस्तु की विशालतर सत्ता में ले जाकर मुक्त कर दें तथा जीवन्त-जाग्रत् परमार्थ-सत्ता अपने सजीव प्रतीक को सचेतन रूप से अपने अधिकार में कर ले। अन्त में हमें पता चलता है कि यही नहीं कि वह उच्चतर सद्वस्तु शेष सब वस्तुओं का मूल कारण है तथा उन सबको अपने अन्दर धारण किये है और उनमें विद्यमान भी है, अपितु जितना ही अधिक हम उसे उपलब्ध करते हैं उतना ही अधिक अन्य सब वस्तुएं हमारे आत्मानुभव में उच्चतर मूल्य-मानवाली वस्तुओं में रूपान्तरित हो जाती हैं और परमार्थ-सत्ता की समृद्धतर अभिव्यक्ति के, अनन्त के साथ अधिक बहुमुखी अन्तर्मिलन के तथा परात्पर की ओर विशालतर आरोहण के साधन बन जाती हैं। अन्त में, हम निरपेक्ष सत्ता तथा उसके उन परमोच्च मूल्यों के निकट पहुंच जाते हैं जो सब वस्तुओं के निरपेक्ष रूप हैं। उसके बाद हमारा मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष की कामना ही समाप्त हो जाती है जो तबतक हमें प्रेरित करती आ रही थी, क्योंकि अब हम उस सत्ता के घनिष्ठ सामीप्य में पहुंच गये हैं जो नित्य-मुक्त है; वह सत्ता न तो उस वस्तु से जो हमें आज

बन्धन में डाले हुए है आकर्षित होकर उसमें आसक्त हो जाती है और न उस वस्तु से जो हमें आज बन्धन प्रतीत होती है भय ही मानती है। हमारी प्रकृति पूर्णतया मुक्त भी तभी हो सकती है जब बद्ध आत्मा अपने मोक्ष की ऐकान्तिक लालसा को छोड़ दे। भगवान् मनुष्यों की आत्माओं को नानाविध प्रलोभनों से अपनी ओर आकृष्ट करते हैं; आनन्द के सम्बन्ध में आत्मा की अपनी जो सापेक्ष और अपूर्ण धारणाएं होती हैं उन्हींसे इन सब प्रलोभनों की उत्पत्ति होती है; ये सभी आनन्द को खोजने के उसके तरीके हैं, परन्तु, यदि अन्ततक इनसे चिमटे रहा जाय तो ये उन परतर आनन्दों के अवर्णनीय सत्य से चूक जाते हैं। इनमें से पहला प्रलोभन है ऐहिक पुरस्कार अर्थात् पार्थिव मन और देह में स्थूल भौतिक, बौद्धिक, नैतिक या अन्य किसी प्रकार के सुख का पारितोषिक। दूसरा इसी फलप्रद भ्रान्ति का एक दूरतर एवं महत्तर रूप है, अर्थात् इन ऐहिक पुरस्कारों से अत्यन्त परे के स्वर्गिक आनन्द की आशा करना; स्वर्ग की यह परिकल्पना अपनी उच्चता और पवित्रता में उन्नत होते-होते ईश्वर की शाश्वत उपस्थिति के या सनातन के साथ नित्य मिलन के शुद्ध विचारतक पहुंच जाती है। और अन्त में एक ऐसा प्रलोभन देखने में आता है जो इन सबसे सूक्ष्म है, इन सांसारिक या स्वर्गिक सुखों तथा समस्त दुःख-शोक, कष्ट-क्लेश और आयास-प्रयास से एवं सभी दृश्य पदार्थों से मुक्ति, निर्वाण, निरपेक्ष ब्रह्म में आत्म-लय, निवृत्ति एवं अनिर्वचनीय शान्ति का आनन्द। अन्ततोगत्वा मन के इन सब खिलौनों को त्यागकर इनसे परे चले जाना होगा। जन्म का भय तथा जन्म से छुटकारे की कामना—दोनों को हमें पूर्ण रूप से त्याग देना होगा। क्योंकि, प्राचीन शब्दावलि को दुहरायें तो हम कह सकते हैं कि जो आत्मा अद्वैत का साक्षात्कार कर चुकी है उसे न शोक होता है न भय; जो आत्मा ब्रह्मानन्द में प्रवेश पा चुकी है उसे किसी भी व्यक्ति या किसी भी वस्तु से भयभीत होने का कोई काम नहीं। भय, कामना और शोक मन की व्याधियां हैं; द्वैत और परिमितता की इसकी (मिथ्या) भावना से उत्पन्न होने के कारण, ये अपनेको जन्म देनेवाली मिथ्या भावना के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। आनन्द इन व्याधियों से मुक्त है; उसपर संन्यासी का ही एकाधिकार नहीं है, न वह जगत् के प्रति वैराग्य से ही उत्पन्न होता है।

आनन्दमय पुरुष जन्म या अजन्म से बंधा हुआ नहीं है; वह ज्ञान की कामना से परिचालित नहीं होता न अज्ञान के भय से व्यथित ही होता है। परमोच्च आनन्दमय पुरुष को पहले से ही ज्ञान प्राप्त है और अतएव वह ज्ञान की आवश्यकतामात्र से परे है। अपनी चेतना में रूप और कर्म के द्वारा सीमित न होने के कारण, वह अज्ञान में लिप्त हुए बिना व्यक्त सृष्टि के साथ लीला कर सकता है। ऊर्ध्व भूमिका में स्थित होकर वह शाश्वत अभिव्यक्ति के रहस्य में पहले से ही अपना भाग ले रहा है और, समय आने पर, अज्ञान का दास बने बिना, प्रकृति के पहिये के

चक्करों में फंसे बिना, यहां अवतरित होकर जन्म ग्रहण करेगा। क्योंकि, वह जानता है कि देहबद्ध आत्मा के लिये जन्म-मरण के चक्रों का प्रयोजन और नियम यह है कि वह एक स्तर से दूसरे स्तर पर आरोहण करे और सदा ही निम्नतर लीला के नियम के स्थान पर उच्चतर लीला के नियम को, स्थूल-भौतिक स्तर-पर्यन्त, प्रतिष्ठित करता जाये। आनन्दमय पुरुष न तो इस आरोहण के लिये ऊपर से हमारी आत्मा की सहायता करने से घृणा करता है और न ही भागवत सत्ता की सोपान-परम्परा से अवतरित होकर स्थूल जन्म ग्रहण करने से तथा उसे अपनी आनन्दमय प्रकृति की शक्ति प्रदान करके दिव्य शक्तियों के ऊर्ध्वमुख आकर्षण में सहायता पहुंचाने से भय मानता है। विकसित होते हुए काल-पुरुष के उस अति अद्‌भुत आविर्भाव की वेला अभी आयी नहीं है। सामान्यतया मानव अभी आनन्दमय प्रकृति में आरोहण नहीं कर सकता; पहले उसे मन की अधिक ऊंची चोटियों पर स्थिर रूप में प्रतिष्ठित होना होगा तथा उनसे विज्ञान की ओर आरोहण करना होगा; सम्पूर्ण आनन्द-शक्ति को इस पार्थिव प्रकृति में उतार लाना तो उसके लिये और भी कम सम्भव है; इसके लिये तो उसे पहले मनोमय मनुष्य रहना छोड़कर अतिमानव बनना होगा। इस समय तो वह बस उसकी शक्ति का कुछ अंश अपनी आत्मा के अन्दर कम या अधिक मात्रा में ग्रहण भर कर सकता है, वह अंश भी उसकी निम्नतर चेतना में से गुजरता हुआ उसतक पहुंचने के कारण कुछ क्षीण हो जाता है; पर उतने से भी उसे परमोल्लास और अपार दिव्यानन्द की अनुभूति होती है।

किन्तु, जब आनन्दमय प्रकृति नयी अतिमानवीय जाति में प्रकट होगी तो उसका स्वरूप क्या होगा ? पूर्ण-विकसित आत्मा गभीर और असीम आनन्द की चेतना की अनुभूति के स्थितिशील स्वरूप और क्रियाशील प्रभाव में सब प्राणियों के साथ एकमय होगी। और, क्योंकि प्रेम ही आनन्दात्मक एकत्व का अमोघ बल और आत्मिक प्रतीक है, वह विश्वप्रेम के द्वार से ही इस एकत्व के निकट पहुंचेगा तथा इसमें प्रवेश करेगा, वह विश्वप्रेम पहले-पहल तो मानवीय प्रेम का एक उदात्त रूपमात्र होता है, पीछे वह दिव्य प्रेम बन जाता है, अपनी पराकाष्ठा को पहुंचने पर वह सौन्दर्य, माधुर्य और वैभव से सम्पन्न एक ऐसी वस्तु बन जाता है जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आनन्द-चेतना में वह समस्त विश्व-लीला तथा इसकी शक्तियों और घटनाओं के साथ एकमय होगा और हमारी शक्ति तथा तमसाच्छन्न मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता का शोक और भय, तृष्णा और दुःख सदा के लिये निर्वासित हो जायेंगे। वह आनन्द-मुक्ति की उस शक्ति को प्राप्त कर लेगा जिसमें हमारी सत्ता के सब परस्पर-विरोधी तत्त्व अपने निरपेक्ष मूल्यों को प्राप्त कर उनमें एकीभूत हो जायेंगे। तब समस्त अशुभ बाध्य होकर शुभ में परिवर्तित हो जायेगा; सर्व-सुन्दर का विराट् सौन्दर्य अपने विनष्ट राज्यों को अपने

अधिकार में कर लेगा; अन्धकार का प्रत्येक क्षेत्र प्रकाश के परिपूर्ण वैभव में परिणत हो जायेगा तथा सत्य, शिव और सुन्दर एवं शक्ति प्रेम और ज्ञान के बीच हमारा मन जिन विरोधों की सृष्टि करता है वे सब एकत्व के इस सनातन शिखर पर, इन असीम विस्तारों में जहां ये सब चीजें सदा ही एक हैं विलीन हो जायेंगे।

मन, प्राण और शरीर में रहनेवाला 'पुरुष' प्रकृति से पृथक् है तथा इसके साथ संघर्ष में रत रहता है। इसके जिस भी अंश को वह मूर्त रूप दे सकता है उसका वह अपनी 'पुरुष'-शक्ति से नियन्त्रण और दमन करने का प्रयास करता है और फिर भी इसके कष्टप्रद द्वंद्वों के अधीन है और सच पूछो तो सिर से पैर तक, आदि से अन्त तक इसका खिलौना है। विज्ञान में वह इसके साथ 'एक में दो' के रूप में संयुक्त है, अपनी प्रकृति के स्वामी के रूप में वह दोनों के (पुरुष-प्रकृति के) समन्वय और सामंजस्य को उनकी मूल एकता के आधार पर प्राप्त कर लेता है, पर इसके साथ ही वह परमोच्च दिव्य प्रकृति से युक्त परात्पर आत्मा के प्रति असीम आनन्दपूर्ण अधीनता भी स्वीकार करता है जो उसके अपने स्वामित्व तथा सर्वविध स्वातंत्र्य की शर्त है। विज्ञान के शिखर पर तथा आनन्द की भूमिका में वह प्रकृति के साथ एक हो जाता है और पहले की तरह इसके साथ केवल 'एक में दो' के रूप में ही संयुक्त नहीं रहता। अज्ञान में प्रकृति आत्मा के साथ उसे विमूढ़ कर देनेवाली जो लीला करती है वह तब समाप्त हो जाती है; तब तो बस आत्मा अपनी निज की तथा अनन्त की आनन्दमय प्रकृति में अपने साथ और अपनी सब आत्माओं के साथ एवं परात्पर पुरुष और दिव्य शक्ति के साथ सचेतन रूप से लीला करता है। यही है परम 'गुह्य', सर्वोच्च रहस्य। हमारे मानसिक विचारों के लिये तथा अपनेसे परे की वस्तु को समझने के लिये यत्न करती हुई हमारी सीमित बुद्धि के लिये यह कितना ही दुर्बोध और जटिल क्यों न हो, पर हमारे अनुभव के निकट यह बिल्कुल सरल ही है। सच्चिदानन्द के आत्मानन्द की मुक्त अनन्तता में जो लीला होती है वह भागवत 'शिशु' की लीला या अनन्त प्रेमी की रासलीला है। इस लीला के गुह्य आत्मिक प्रतीक एक कालातीत 'सनातन' सत्ता में सौन्दर्य के संकेतों तथा आनन्द के लयतालों एवं सामंजस्योंके रूप में पुनः-पुनः प्रकट होते रहते हैं।

अध्याय २५

उच्चतर और निम्नतर ज्ञान

ज्ञानमार्ग का विवेचन अब हम पूरा कर चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि यह हमें कहांतक ले जाता है। ज्ञानयोग का प्रथम लक्ष्य है ईश्वर की प्राप्ति, अर्थात् दिव्य सद्वस्तु से सचेतन होकर, उसके साथ तादात्म्य लाभ करके तथा उसे अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करके प्राप्त करना और साथ ही उसके द्वारा अधिकृत होना। परन्तु हमें अपने वर्तमान जीवन से दूर हटकर किसी अमूर्त भूमिका में ही नहीं, बल्कि यहां भी उसे प्राप्त करना होगा; अतएव, अपने निज स्वरूप में स्थित भगवान् को पाने के साथ-साथ हमें इस जगत् में तथा अपने अन्दर, सब पदार्थों और सब प्राणियों के अन्दर स्थित भगवान् को भी प्राप्त करना होगा। भगवान् के साथ एकता प्राप्त करके हमें उस एकता के द्वारा विराट् सत्ता के साथ अर्थात् विश्व तथा इसके सब प्राणियों के साथ भी एकता प्राप्त करनी होगी; अतएव, एकता में अनन्त विभिन्नता को भी आयत्त करना होगा, पर इसके लिये हमें द्वैत को नहीं, वरन् एकत्व को ही अपना आधार बनाना होगा। हमें भगवान् को उनकी सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक सत्ता में, उनके शुद्ध निर्गुण स्वरूप में, तथा उनके अनन्त गुणों में, उनके कालगत तथा कालातीत रूप में, उनकी सक्रियता तथा निश्चल-नीरवता में, उनके सांत तथा अनन्त रूप में प्राप्त करना होगा। उनकी प्राप्ति हमें शुद्ध आत्मस्वरूप में ही नहीं, बल्कि आत्मामात्र में भी करनी होगी; 'पुरुष' में ही नहीं, बल्कि प्रकृति में भी, आत्मा में ही नहीं, अपितु विज्ञान, मन, प्राण और शरीर में भी करनी होगी; आत्मा के द्वारा तथा मन, प्राण और भौतिक चेतना के द्वारा भी करनी होगी; और फिर ज्ञानमार्ग के इस प्रथम लक्ष्य के अनुसार हमारी सत्ता के इन सब अंगों को भगवान् के द्वारा अधिकृत भी होना होगा जिससे कि हमारी सम्पूर्ण सत्ता उनसे एकीभूत तथा ओतप्रोत हो जाये, उनके द्वारा शासित तथा परिचालित होने लगे। अपि च, क्योंकि भगवान् एकत्व-स्वरूप हैं, हमारी स्थूल चेतना को भी जड़ जगत् की आत्मा और प्रकृति के साथ एक हो जाना होगा; हमारे प्राण को विराट् प्राण के साथ, हमारे मन को विराट् मन के साथ तथा हमारी आत्मा को विराट् आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करना होगा। अर्थात् उसके निरपेक्ष एवं निःसम्बन्धस्वरूप में उसके अन्दर लय प्राप्त करने के साथ-साथ समस्त सम्बन्धों में भी उसे प्राप्त करना होगा।

ज्ञानमार्ग का दूसरा लक्ष्य दिव्य अस्तित्व एवं दिव्य प्रकृति को धारण करना है। और, ईश्वर स्वयं सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, अतएव उनके अस्तित्व एवं उनकी प्रकृति को धारण करने का अर्थ है अपनी सत्ता को दिव्य सत्ता में, अपनी चेतना को दिव्य

चेतना में, अपनी शक्ति को दिव्य शक्ति में तथा अपने अस्तित्व के आनन्द को सत्ता के दिव्य आनन्द में उठा ले जाना। और, इसका मतलब अपने-आपको इस उच्चतर चेतना में उठा ले जाना ही नहीं, बल्कि अपनी समस्त सत्ता को विशाल बनाकर इसमें मिला देना है, क्योंकि यह चेतना हमें अपनी सत्ता के सभी स्तरों पर तथा अपने सभी अंगों में प्राप्त करनी होगी, जिससे कि हमारी मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता दिव्य प्रकृति से ओतप्रोत हो जाये। हमारे बुद्धिप्रधान मन को दिव्य ज्ञान-संकल्प की लीला का क्षेत्र बनना होगा; उसी प्रकार हमारे कामनामय पुरुष के मानसिक जीवन को दिव्य प्रेम और आनन्द की तथा हमारे प्राण को दिव्य प्राण की लीला का क्षेत्र बनना होगा, हमारी शारीरिक सत्ता को दिव्य उपादान का सांचा बनना होगा। अपने अन्दर ईश्वर के इस दिव्य लीला-व्यापार को अनुभव करने के लिये हमें अपने-आपको दिव्य विज्ञान और दिव्य आनन्द की ओर खोलना होगा और इसे पूर्ण रूप से अनुभव करने के लिये विज्ञान और आनन्द में आरोहण करके वहां स्थिर रूप से निवास करना होगा। कारण, यद्यपि भौतिक रूप से हम जड़ प्रकृति के स्तर पर ही निवास करते हैं और सामान्य बहिर्मुख जीवन में मन और आत्मा प्रमुख रूप से स्थूल-भौतिक अस्तित्व में ही व्यस्त रहते हैं, तथापि हमारे जीवन की यह बहिर्मुखता हमारे लिये कोई अनिवार्य बन्धन नहीं है। हम अपनी आभ्यन्तरिक चेतना को पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों के एक स्तर से दूसरे स्तर पर उठा ले जा सकते हैं, यहांतक कि स्थूल चेतना और प्रकृति से अभिभूत मनोमय पुरुष के स्थान पर विज्ञानमय या आनन्दमय पुरुष बन सकते हैं तथा विज्ञानमय या आनन्दमय प्रकृति को धारण कर सकते हैं। और, आन्तरिक जीवन को इस प्रकार ऊंचा उठाकर हम अपने संपूर्ण बहिर्मुख जीवन का रूपान्तर कर सकते हैं; तब हमारा जीवन जड़तत्त्व के द्वारा शासित होने के स्थान पर आत्मा के द्वारा शासित होगा तथा उसकी सब स्थिति-परिस्थिति भी आत्मा की विशुद्ध सत्ता, सान्त में भी अनन्त रहनेवाली चेतना, दिव्य शक्ति और दिव्य हर्ष एवं आनन्द के द्वारा गठित और निर्धारित होगी।

यह हुआ ज्ञानयोग का लक्ष्य; हम यह भी देख चुके हैं कि उसकी पद्धति के प्रधान अंग क्या हैं। परन्तु यहां पहले पद्धतिसम्बन्धी प्रश्न के एक पक्ष पर जिसे हमने अबतक नहीं छुआ है, संक्षेप से विचार कर लेना आवश्यक है। पूर्णयोग की पद्धति में सिद्धान्त यह होना चाहिये कि सारा जीवन ही योग का अंग है; किन्तु जिस ज्ञान का वर्णन हम करते आ रहे हैं वह किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान नहीं प्रतीत होता जिसे हम साधारणतया 'जीवन' शब्द से समझते हैं, वह तो किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान मालूम होता है जो जीवन के पीछे अवस्थित है। ज्ञान दो प्रकार का है, एक तो वह जो जगत् के दृश्य पदार्थों को बाहर से, अर्थात् बाहरी उपायों या प्रक्रियाओं का आश्रय लेकर एवं बुद्धि के द्वारा समझने का यत्न करता है,—यह है

निम्नतर ज्ञान अर्थात् दृश्य जगत् का ज्ञान; दूसरे प्रकार का ज्ञान वह है जो जगत् के सत्य को अन्दर से, उसके मूल उद्गम और वास्तविक स्वरूप में तथा आध्यात्मिक साक्षात्कार के द्वारा जानने का यत्न करता है। साधारणतः इन दोनों में तीव्र रूप से भेद किया जाता है और यह माना जाता है कि जब हम उच्चतर ज्ञान अर्थात् ईश्वर-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तब अन्य ज्ञान अर्थात् विश्व-ज्ञान हमारे लिये किसी मतलब का नहीं रहता; पर वास्तव में ये दोनों एक ही जिज्ञासा के दो पक्ष हैं। अन्ततोगत्वा समस्त ज्ञान ईश्वर का ही ज्ञान है जिसे हम उनके निज स्वरूप के द्वारा और प्रकृति एवं इसके कर्मों के द्वारा प्राप्त करते हैं। मनुष्यजाति को पहले-पहल इस ज्ञान की खोज बाह्य जीवन के द्वारा ही करनी होती है; क्योंकि जबतक उसका मन पर्याप्त विकसित नहीं हो जाता, तबतक वस्तुतः आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता, और जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वैसे-वैसे आध्यात्मिक ज्ञान की सम्भावनाएं भी अधिक समृद्ध और परिपक्व बनती जाती हैं।

विज्ञान, कला, दर्शन, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, मनुष्य और उसके अतीत का ज्ञान तथा स्वयं कर्म—ये सभी ऐसे साधन हैं जिनकी सहायता से हम प्रकृति और जीवन के द्वारा कार्य करते हुए ईश्वर की क्रियावलि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रारम्भ में हम जीवन के कार्य-व्यापारों और प्रकृति के रूपों के ज्ञान में ही व्यस्त रहते हैं, पर जैसे-जैसे हम अधिकाधिक गहरे उतरकर एक पूर्णतर दृष्टि और अनुभव प्राप्त करते हैं वैसे-वैसे ज्ञान की इन शाखाओं में से प्रत्येक हमें ईश्वर का साक्षात्कार करा देती है। विज्ञान, यहांतक कि भौतिक विज्ञान भी, अपनी सीमाओं पर पहुंचकर अन्ततः इस जड़ जगत् में अनन्त एवं विराट् सत्ता को तथा आत्मा, दिव्य बुद्धि और इच्छाशक्ति को अनुभव करने के लिये बाध्य होता है। मानसिक एवं चैत्य विज्ञान तो अन्ततोगत्वा और भी अधिक सुगमता से इसी अनुभव पर पहुंचते हैं क्योंकि वे हमारी सत्ता की उच्चतर और सूक्ष्मतर भूमिकाओं एवं शक्तियों का वर्णन करते हैं और इस जगत् के पीछे रहनेवाले अदृष्ट लोकों के जीवों और दृग्विषयों के सम्पर्क में आते हैं। उन लोकों को हम अपनी स्थूल इन्द्रियों से नहीं जान सकते, पर अपने सूक्ष्म मन तथा इन्द्रियों से उनका सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कला भी हमें इसी परिणाम पर पहुंचाती है; सौन्दर्यरसिक मनुष्य सौन्दर्यात्मक भावावेग के द्वारा प्रबल रूप से प्रकृति में ग्रस्त रहता है, पर अन्त में वह निश्चय ही अपने अन्दर आध्यात्मिक भावावेग को अनुभव करता है और प्रकृति में अनन्त जीवन को ही नहीं, बल्कि अनन्त उपस्थिति को भी प्रत्यक्ष देखता है। मनुष्य के जीवन में सौन्दर्य का दर्शन करने में सतत संलग्न रहते हुए वह अन्त में मानवजाति के अन्दर विद्यमान दिव्य, विराट् एवं आध्यात्मिक सत्ता को प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। वस्तुओं के मूल तत्त्वों का विवेचन करता हुआ दर्शनशास्त्र इन सब तत्त्वों के आदितत्त्व को अनुभव करने लगता है और उसके स्वरूप तथा गुणों एवं मूल कार्यों

उसका कुछ संस्कार ग्रहण करके अर्जित किया जा सकता है, परन्तु आन्तरिक, गुप्त एवं उच्चतर सत्य को तो तभी ग्रहण किया जा सकता है यदि हम मन को उसके विषय पर पूर्ण रूप से एकाग्र करें और साथ ही सत्य को प्राप्त करने के लिये तथा एक बार प्राप्त हो जाने पर उसे स्वाभाविक रूप से धारण करने एवं उसके साथ सुनिश्चित तादात्म्य स्थापित करने के लिये अपने संकल्प को भी उसपर पूर्ण रूप से एकाग्र करें। क्योंकि तादात्म्य पूर्ण ज्ञान और उपलब्धि की शर्त है; यह सद्वस्तु को स्वाभाविक और विशुद्ध रूप से प्रतिबिम्बित करने तथा उसपर पूर्ण एकाग्रता करने का गभीर फल है; इसकी आवश्यकता इसलिये है कि हमारे अज्ञ असंस्कृत मन की सामान्य अवस्था में भागवत सत्ता और सनातन सद्वस्तु से हमारी सत्ता का जो भेद और पार्थक्य देखने में आता है उसे पूर्णरूपेण नष्ट किया जा सके।

उच्चतर ज्ञान के इन उपर्युक्त प्रयोजनों में से कोई भी निम्नतर ज्ञान की विधियों के द्वारा पूरा नहीं हो सकता। यह ठीक है कि इनके लिये भी निम्न ज्ञान की विधियां हमें तैयार करती हैं, पर केवल एक विशेष सीमातक तथा तीव्रता की एक विशेष मात्रा में ही, और जहां उनकी क्रिया समाप्त होती है वहीं योग की क्रिया हमारे भगवन्मुख विकास को अपने हाथ में ले लेती है और उसे पूरा करने के साधन ढूंढ़ निकालती है। हम चाहे किसी भी प्रकार के ज्ञान का अनुशीलन क्यों न करें, पर यदि वह अनुशीलन अत्यन्त संसारमुखी प्रवृत्ति से कलुषित न हो तो उससे हमारी सत्ता परिष्कृत, सूक्ष्म और शुद्ध होती जाती है। जैसे-जैसे हम अधिकाधिक मनोमय बनते जाते हैं, हमारी सम्पूर्ण प्रकृति अधिकाधिक सूक्ष्म क्रिया करने लगती है तथा वह उच्चतर विचारों, शुद्धतर संकल्प, कम भौतिक सत्य और अधिक आन्तरिक प्रभावों को प्रतिबिम्बित एवं ग्रहण करने के लिये उत्तरोत्तर उपयुक्त बनती जाती है। नैतिक ज्ञान में तथा सोचने और संकल्प करने के नैतिक अभ्यास में शुद्ध करने की जो शक्ति है वह प्रत्यक्ष ही है। दर्शनशास्त्र न केवल बुद्धि को शुद्ध करता है तथा विराट् और अनन्त सत्ता के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये उसमें पहले से ही रुचि उत्पन्न कर देता है, बल्कि वह अपने स्वभाव से ही हमारी प्रकृति को स्थिरता प्रदान करता है तथा ज्ञानी की-सी शान्ति को भी जन्म देता है; और शान्ति बढ़ती हुई अत्म-प्रभुता और पवित्रता का लक्षण है। विश्व-व्याप्त सौन्दर्य को, यहांतक कि इसके रसात्मक रूपों को भी प्राप्त करने के हमारे तन्मय प्रयत्न में हमारी प्रकृति को परिष्कृत और सूक्ष्म करने की तीव्र शक्ति निहित रहती है, और अपने उच्चतम रूप में यह प्रयत्न उसे शुद्ध करने के लिये एक महत् शक्ति का काम करता है। मन का वैज्ञानिक स्वभाव तथा विश्वव्यापी नियम और सत्य को जानने के लिये उसका निष्पक्ष और अनन्य प्रयत्न भी तर्कशक्ति एवं निरीक्षण-शक्ति को शुद्ध करते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि जब अन्य प्रवृत्तियां इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं करतीं तब मन और नैतिक प्रकृति पर इनका ऐसा प्रभाव

पड़ता है कि वे स्थिर, उदात्त और शुद्ध हो जाते हैं, पर इस प्रभाव की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

विज्ञान, कला, दर्शन आदि विषयों के अनुशीलन के रूप में किये गये इन प्रयत्नों का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह भी होता है कि सत्य को ग्रहण करने तथा उसीमें जीवन धारण करने के लिये मन की एकाग्रता साधित हो जाती है और संकल्प-शक्ति भी इसके लिये प्रशिक्षित हो जाती है, ऐसी एकाग्रता एवं प्रशिक्षा इन विषयों के लिये सतत रूप से आवश्यक भी होती है। ये सब प्रयत्न अन्त में या अपने उच्चतम तीव्र रूपों में पहले तो भागवत सद्वस्तु के बौद्धिक ज्ञान की ओर ले जा सकते हैं तथा अवश्य ले ही जाते हैं और फिर उसके प्रतिबिम्ब का दर्शन करा सकते तथा कराते ही हैं। यह दर्शन अपनी पराकाष्ठा को पहुंचकर सद्वस्तु के साथ एक प्रकार के प्रारम्भिक तादात्म्य का रूप धारण कर सकता है। परन्तु यह सब एक विशेष सीमा के परे नहीं जा सकता। भागवत सद्वस्तु को अपने अन्दर समग्र रूप में प्रतिबिम्बित तथा ग्रहण करने के लिये सम्पूर्ण सत्ता की क्रमबद्ध शुद्धि योग की विशेष विधियों के द्वारा ही सम्पन्न की जा सकती है। इसकी चरम-परम एकाग्रता को निम्नतर ज्ञान की विकीर्ण एकाग्रताओं का स्थान लेना होगा; निम्नतर ज्ञान तो केवल एक अस्पष्ट तथा प्रभावहीन तादात्म्य ही साधित कर सकता है, उसके स्थान पर योग के द्वारा प्राप्त होनेवाले पूर्ण, घनिष्ठ, अटल और जीवन्त एकत्व की प्रतिष्ठा करनी होगी।

तथापि योग अपने मार्ग में या अपनी उपलब्धि में निम्नतर ज्ञान के रूपों का बहिष्कार तथा त्याग नहीं करता, हां, यह बात अलग है कि जब वह एक ऐसे चरम वैराग्यवाद या फिर रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है जो भगवान् के इस अन्य रहस्य अर्थात् उनकी विश्व-सत्ता को बिल्कुल सहन ही नहीं करता, तब वह ज्ञान के इन रूपों का त्याग अवश्य कर सकता है। वह इन रूपों से इस बात में भिन्न है कि उसका लक्ष्य गभीर, विशाल और उच्च है तथा अपने उद्देश्य के अनुकूल उसकी अपनी विधियां भी विशिष्ट प्रकार की हैं; किन्तु वह अपने कार्य का आरम्भ इन्हींसे करता है, इतना ही नहीं बल्कि कुछ दूरतक वह इन्हें अपने साथ ले चलता है तथा अपने सहायकों के रूप में इनका प्रयोग भी करता है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष ही है कि नैतिक विचार और आचरण,—बाह्य आचार-व्यवहार उतना नहीं जितना कि आन्तरिक,—योग की तैयारीरूप प्रणाली में अर्थात् उसके शुद्धि के लक्ष्य में कितने व्यापक रूप से भाग लेते हैं। और, फिर योग की सम्पूर्ण विधि मनोवैज्ञानिक है; यहांतक कि उसे पूर्ण मनोवैज्ञानिक ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट क्रियात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। दर्शनशास्त्र के स्वीकार किये हुए सत्य उसके अवलम्बन हैं जिनके सहारे वह भगवान् को उनकी सत्ता के मूलतत्त्वों के द्वारा प्राप्त करने का कार्य आरम्भ करता है; हां, इतनी बात अवश्य है कि दर्शन तो उन तत्त्वों का एक

विवेकपूर्ण बोधमात्र प्रदान करता है, पर योग इस बोध को एक ऐसी तीव्रतातक ले जाता है जो इसे विचार से परे अन्तर्दर्शन के तथा बुद्धि से परे साक्षात्कार एवं उपलब्धि के क्षेत्र में प्रवेश करा देती है; जिस वस्तु को दर्शन अमूर्त और दूरस्थ छोड़ देता है, उसे यह (योग) सजीव रूप से निकट तथा आध्यात्मिक रूप से मूर्त बना देता है। सौन्दर्यग्राही एवं भावप्रधान मन को तथा सौन्दर्यात्मक रूपों को यह ज्ञानयोग में भी एकाग्रता के अवलम्बन के रूप में प्रयुक्त करता है और यह मन और ये रूप उदात्त होकर प्रेम और आनन्द के योग की सम्पूर्ण साधन-प्रणाली का काम करते हैं जैसे जीवन और कर्म, उदात्त होकर, कर्मयोग की सम्पूर्ण साधन-प्रणाली का रूप धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार, प्रकृति में ईश्वर का ध्यान-चिन्तन करना, मनुष्य में और उसके जीवन में तथा जगत् के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के जीवन में ईश्वर का ध्यान-चिन्तन एवं उनकी सेवा करना भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें ज्ञानयोग सभी वस्तुओं में ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये प्रयोग में ला सकता है। अन्तर इतना ही होता है कि सब कुछ एक ही लक्ष्य की ओर मोड़ दिया जाता है, अर्थात् भगवान् की ओर मोड़ दिया जाता है, दिव्य, असीम और विराट् सत्ता के विचार से परिपूर्ण कर दिया जाता है; फलस्वरूप, दृग्विषयों और रूपों को जानने के लिये निम्नतर ज्ञान के बहिर्मुख, इन्द्रियाश्रित एवं व्यावहारिक प्रयत्न का स्थान भगवत्प्राप्ति का अनन्य प्रयत्न ले लेता है। प्राप्ति के बाद भी निम्नतर ज्ञान के प्रयत्न का यह परिवर्तित स्वरूप ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अर्थात् योगी सान्त में भगवान् को जानना और देखना जारी रखता है तथा जगत् में भवगच्चेतना और भगवत्कर्म का आधार बना रहता है; अतएव, जगत् का ज्ञान तथा जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली सभी वस्तुओं को विस्तृत और उन्नत करने का कार्य उसके क्षेत्र में आ जाता है। हां, सबमें वह ईश्वर को ही देखता है, परमोच्च सद्वस्तु के ही दर्शन करता है, और उसके कर्म का हेतु भगवान् को जानने तथा परमोच्च सद्वस्तु को प्राप्त करने में मनुष्यजाति की सहायता करना ही होता है। वह विज्ञान के स्वीकृत तत्त्वों और दर्शन के निष्कर्षों के द्वारा ईश्वर को देखता है, 'सौन्दर्य' के रूपों तथा 'शुभ' के रूपों के द्वारा ईश्वर के दर्शन करता है, जीवन के समस्त कार्य-कलाप में, जगत् के अतीत तथा उसके परिणामों में, वर्तमान और उसकी प्रवृत्तियों में, भविष्य और उसकी महान् प्रगति में भी भगवान् को देखता है। इन क्षेत्रों में से किसी एक में या सभी में वह अपनी आत्मा की आलोकित दृष्टि एवं मुक्त शक्ति का उपयोग कर सकता है। उसके लिये निम्नतर ज्ञान एक ऐसा सोपान रहा है जिससे वह उच्चतर ज्ञानतक ऊपर उठा है; उच्चतर ज्ञान उसके लिये निम्नतर को आलोकित करके उसे अपना अंग बना लेता है, यद्यपि वह अंग उसका निचला सिरा एवं अत्यन्त बाह्य प्रकाश ही होता है।

अध्याय २६

समाधि

ज्ञानयोग का लक्ष्य सदा ही एक उच्चतर या दिव्य चेतना में, जो आज हमारे लिये स्वाभाविक नहीं है, विकास, आरोहण या विलय साधित करना होता है। योगलीनता की घटना अर्थात् समाधि को जो महत्त्व दिया जाता है उसका इस लक्ष्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह माना जाता है कि सत्ता की कुछ भूमिकाएं ऐसी हैं जो केवल समाधि में ही प्राप्त की जा सकती हैं; उनमें से वह भूमिका विशेष रूप से कामनीय है जिसमें आत्मज्ञान की समस्त क्रिया समाप्त हो जाती है और निश्चल, कालातीत एवं अनन्त सत्ता में शुद्ध अतिमानसिक लय को छोड़कर और किसी प्रकार का चैतन्य होता ही नहीं। इस समाधि में प्रवेश करके आत्मा सर्वोच्च निर्वाण की नीरवता में चली जाती है जहां से वह सत्ता की किसी भ्रमात्मक या निम्नतर अवस्था में नहीं लौट सकती। भक्तियोग में समाधि का इतना सर्वातिशायी महत्त्व नहीं है, तथापि वहां दिव्य प्रेम का आनन्द आत्मा को सत्ता की जिस निश्चेष्ट अवस्था में डुबा देता है उसके रूप में वहां भी इसका (समाधि का) स्थान है। इसमें प्रवेश पाना राजयोग और हठयोग में योगसाधना की सीढ़ी का सर्वोच्च सोपान माना जाता है। तो फिर पूर्णयोग में समाधि का क्या स्वरूप है या इसमें होनेवाले चेतना के लय का प्रयोजन क्या है? यह स्पष्ट ही है कि जब कि जीवन में भगवान् को प्राप्त करना हमारे लक्ष्य के अन्तर्गत है, जीवन के विलोप की अवस्था चरम और परम सोपान या सर्वोच्च कामनीय स्थिति नहीं हो सकती: योगसमाधि जो कितनी ही योगप्रणालियों का लक्ष्य है, हमारा लक्ष्य नहीं हो सकती, वह तो केवल एक साधन ही हो सकती है; और साधन भी जागरित अवस्था से पलायन करने के लिये नहीं बल्कि देखने, चैतन्य रहने और कार्य करनेवाली सम्पूर्ण चेतना को विस्तृत और उन्नत करने के लिये।

समाधि का महत्त्व उस सत्य पर आधारित है जिसे आधुनिक ज्ञान नये सिरे से खोज रहा है पर जिसे भारतीय मनोविज्ञान ने कभी भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। वह सत्य यह है कि जगत् का या हमारी अपनी सत्ता का एक छोटा-सा भाग ही हमारे ज्ञान या कार्य-व्यवहार में आता है। शेष सारा भाग पीछे की ओर सत्ता के प्रच्छन्न विस्तारों में छुपा हुआ है। ये प्रच्छन्न विस्तार नीचे अवचेतन की गहनतम गहराइयों में पहुंचे हुए हैं और ऊपर अतिचेतना की उच्चतम चोटियोंतक उठे हुए हैं, अथवा ये हमारी जाग्रत् आत्मा के छोटे-से क्षेत्र को एक विशाल परिचेतन सत्ता के द्वारा चारों ओर से घेरे हैं। हमारे मन और हमारी इन्द्रियों को इस विशाल परिचेतन सत्ता के केवल कुछ संकेत ही प्राप्त होते हैं। प्राचीन भारतीय

मनोविज्ञान ने इस तथ्य को प्रकट करने के लिये चेतना को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन क्षेत्रों में विभक्त किया था; उसने मनुष्य में जागरित, स्वाप्न और सुषुप्त पुरुष की कल्पना की थी, इनके साथ ही वह सत्ता के एक परमोच्च या निरपेक्ष 'पुरुष' को भी मानता था जो तुरीय एवं इन तीनों से परे है; उक्त तीनों पुरुष इस जगत् में सापेक्ष अनुभव का आनन्द लेने के लिये इस तुरीय पुरुष में से ही आविर्भूत होते हैं।

यदि हम प्राचीन ग्रन्थों की शब्दावलि का विवेचन करें तो हमें पता चलेगा कि जाग्रत् अवस्था का अभिप्राय है जड़ जगत् के विषय में हमारी वह चेतना जिसे हम स्थूल मन के द्वारा शासित इस देहबद्ध जीवन में सामान्यतया धारण करते हैं। स्वप्नावस्था एक ऐसी चेतना है जो पीछे रहनेवाले सूक्ष्मतर प्राण-स्तर और मानस-स्तर से सम्बन्ध रखती है; इन स्तरों के विषय में इंगित प्राप्त होने पर भी ये हमें वैसे ठोस रूप में वास्तविक नहीं प्रतीत होते जैसे स्थूल जगत् के पदार्थ; सुषुप्ति-अवस्था एक ऐसी चेतना है जो विज्ञान के अपने विशिष्ट स्तर अर्थात् अतिमानसिक स्तर से सम्बन्ध रखती है, यह स्तर हमारे अनुभव से परे है क्योंकि हमारा कारण शरीर या विज्ञानकोष हमारे अन्दर विकसित नहीं हुआ है तथा उसकी क्षमताएं हमारे अन्दर सक्रिय नहीं हैं, और इसीलिये इस स्तर के साथ हमारा सम्बन्ध निःस्वप्न निद्रा या सुषुप्ति की अवस्था में ही स्थापित होता है। इससे भी परे की तुरीय (चौथी) अवस्था हमारी शुद्ध स्वयंभू या निरपेक्ष सत्ता की चेतना है जिसके साथ हमारा किसी प्रकार का भी सीधा सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है, चाहे अपनी स्वाप्न या जाग्रत् अथवा यहांतक कि सुषुप्त चेतना में भी हम उसके कोई भी मानसिक प्रतिबिम्ब क्यों न ग्रहण कर लें; हां, इनमें से सुषुप्ति में ग्रहण किये हुए प्रतिबिम्ब तो हमारी स्मृति में भी नहीं आ सकते। चार अवस्थाओं की यह शृंखला सत्ता की सीढ़ी के उन क्रमिक सोपानों से साम्य रखती है जिनके द्वारा हम निरपेक्ष भगवान् की ओर फिर से आरोहण करते हैं। अतएव साधारणतः जाग्रत् अवस्था से पीछे हटकर इससे दूर एवं अन्दर की ओर गये बिना तथा जड़ जगत् से सम्पर्क खोये बिना हम स्थूल मन से चेतना के उच्चतर स्तरों या भूमिकाओं में नहीं पहुंच सकते। सुतरां, जो लोग इन उच्चतर भूमिकाओं का अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये समाधि एक कामनीय वस्तु बन जाती है तथा स्थूल मन और प्रकृति की सीमाओं से मुक्त होने के लिये एक साधन का काम करती है।

समाधि या योगलीनता की स्थिति जैसे-जैसे सामान्य जाग्रत् अवस्थाओं से अधिकाधिक दूर हटती जाती है तथा चेतना की ऐसी भूमिकाओं में प्रवेश करती है जिनका जाग्रत् मन के प्रति वर्णन करना अधिकाधिक अशक्य होता है और जो जाग्रत् अवस्थावाले जगत् के आह्वान को स्वीकार करने के लिये उत्तरोत्तर कम उद्यत होती हैं, वैसे-वैसे वह (समाधि) अधिकाधिक गहराइयों में डूबती जाती है। एक विशेष स्थिति के परे वह पराकाष्ठा को पहुंच जाती है और तब, जो आत्मा उनमें

जाकर निमग्न हो गयी है, उसे जगाना या वापिस बुलाना प्रायः या सर्वथा असंभव ही हो जाता है; वह अपने ही संकल्प के बल पर या, अधिक-से-अधिक, शारीरिक मांग के प्रचण्ड आघात के कारण ही वापिस आ सकती है, पर इस प्रकार वापिस आने में एकाएक ही जो उथलपुथल होती है उसके कारण यह आघात शरीर के लिये संकटपूर्ण होता है। कहा जाता है कि समाधि की कुछ ऐसी परमोच्च अवस्थाएं भी हैं जिनमें आत्मा अत्यन्त दीर्घकालतक स्थित रहने पर फिर वापस नहीं आ सकती; क्योंकि वह उस सूत्र पर जो उसे जीवन की चेतना के साथ बांधे रखता है अपना अधिकार खो बैठती है, और शरीर छूट जाता है, निःसन्देह, वह अपनी उसी स्थिति में सुरक्षित रहता है जिसमें उसे (समाधि लगाते समय) स्थिर किया गया था, विघटन के द्वारा मृत्यु को नहीं प्राप्त होता, पर जो आत्मायुक्त प्राण उसके अन्दर अधिष्ठित था उसे वह पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। अन्त में, योगी विकास की एक विशेष अवस्था में ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि वह अपने शरीर को मृत्यु की साधारण क्रिया-शृंखला के बिना ही अपने इच्छाबल का प्रयोग करके, निश्चित रूप से त्याग सकता है,[1] या फिर वह एक और प्रक्रिया के द्वारा अर्थात् ऊर्ध्वमुखी प्राणधारा (उदान) के द्वार से प्राणात्मक जीवन-शक्ति को खींचकर तथा उसके लिये सिर में गुह्य ब्रह्मरन्ध्र में से निकलने का मार्ग खोलकर भी शरीर को त्याग सकता है। समाधि की अवस्था में जीवन का त्याग करने से वह सीधे ही सत्ता की उस उच्चतर भूमिका को प्राप्त कर लेता है जिसकी वह अभीप्सा करता है।

स्वयं स्वप्न-अवस्था में भी अनन्त प्रकार की गहराइयां हैं, कम गहरी स्वप्न-अवस्था से आत्मा को वापिस बुलाना आसान होता है और स्थूल इन्द्रियों का जगत् अत्यन्त निकट होता है, यद्यपि कुछ समय के लिये यह बहिष्कृत रहता है; अधिक गहरी स्वप्नावस्था में यह बहुत दूर चला जाता है और अन्तर्मग्नता की अवस्था को भेदने में अपेक्षाकृत असमर्थ होता है, क्योंकि मन समाधि की सुरक्षित गहराइयों में प्रवेश पा चुकता है। समाधि और सामान्य निद्रा में अर्थात् योग की स्वप्नावस्था और स्वप्न की भौतिक अवस्था में जरा भी समानता नहीं है। इनमें से पिछली तो स्थूल मन की एक अवस्था है; पहली में वास्तविक एवं सूक्ष्म मन स्थूल मन के मिश्रण से मुक्त होकर कार्य करता है। स्थूल मन के स्वप्न कई वस्तुओं का एक असंबद्ध मिश्रण होते हैं। वे वस्तुएं ये हैं—एक तो स्थूल जगत् के अस्पष्ट संपर्कों के प्रति की गयी प्रतिक्रियाएं, संकल्प-शक्ति और बुद्धि से विच्छिन्न हुई मन की निम्नतर शक्तियां इन सम्पर्कों के चारों ओर एक विशृंखल कल्पना का जाल बुन डालती हैं; दूसरे, मस्तिष्कगत स्मृति में से उठनेवाले अव्यवस्थित संस्कार; तीसरे, मानसिक स्तर पर विचरती हुई आत्मा से मन पर पड़नेवाले प्रतिबिम्ब, ये प्रतिबिम्ब

[1] इच्छामृत्यु।

साधारणतः बिना समझे या सुसंगत किये ग्रहण कर लिये जाते हैं, ग्रहण करते समय प्रबल रूप से विकृत हो जाते हैं तथा स्वप्न के अन्य तत्त्वों अर्थात् मस्तिष्कवर्ती स्मृतियों के साथ एवं स्थूल जगत् से आनेवाले किसी भी इन्द्रिय-स्पर्श के प्रति मनमौजी प्रतिक्रियाओं के साथ अव्यवस्थित रूप में मिश्रित हो जाते हैं। इसके विपरीत, योग की स्वप्नावस्था में मन स्थूल जगत् से न सही पर अपने-आपसे स्पष्ट रूप में सचेतन होता है, सुसंगत रूप में कार्य करता है और या तो अपने साधारण संकल्प एवं बुद्धि का एकाग्र शक्ति के साथ प्रयोग कर सकता है या फिर मन के अधिक उन्नत स्तरों के उच्चतर संकल्प और बुद्धि को उपयोग में ला सकता है। वह बाह्य जगत् के अनुभव से दूर हट जाता है तथा स्थूल इन्द्रियों को एवं जड़ पदार्थों के साथ सम्पर्क स्थापित करनेवाले इन्द्रिय-द्वारों को मजबूती से बन्द कर देता है; परन्तु अपनी प्रत्येक विशिष्ट क्रिया को अर्थात् चिन्तन, तर्कणा, प्रतिबिम्ब-ग्रहण और अन्तर्दर्शन को वह श्रेष्ठ एकाग्रता की बढ़ी हुई शुद्धता और शक्ति के साथ सम्पन्न करता रह सकता है। वह एकाग्रता जाग्रत् मन के विक्षेपों एवं उसकी अस्थिरता से मुक्त होती है। साथ ही, वह अपने संकल्प का प्रयोग करके अपने ऊपर या अपने चारों ओर के प्राणियों एवं पदार्थों के ऊपर मानसिक, नैतिक एवं भौतिक प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है। वे प्रभाव स्थिर रह सकते हैं तथा समाधि की समाप्ति के बाद आनेवाली जाग्रत् अवस्था में अपने फल प्रकट कर सकते हैं।

स्वप्नावस्था की शक्तियों पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करने के लिये स्थूल इन्द्रियों पर बाह्य जगत् के रूपों, शब्दों आदि के आक्रमण को दूर करना सर्वप्रथम आवश्यक है। निःसन्देह स्वप्न-समाधि में सूक्ष्म शरीर से संबद्ध सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा बाह्य स्थूल जगत् का ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा सम्भव है; मनुष्य जहांतक चाहे वहींतक और जाग्रत् अवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत परिमाण में बाह्य जगत् के रूपों, शब्दों आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकता है : क्योंकि स्थूल भौतिक इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म इन्द्रियों का क्षेत्र कहीं अधिक महान् है, वह एक ऐसा क्षेत्र है जिसे कार्यतः असीम बनाया जा सकता है। परन्तु सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा स्थूल जगत् का यह जो ज्ञान प्राप्त होता है वह स्थूल इन्द्रियों से प्राप्त हमारे सामान्य जगत्-ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है; इनमें से पिछला समाधि की सुस्थिर अवस्था से मेल नहीं खाता, स्थूल इन्द्रियों का दबाव समाधि को भंग कर देता है और मन को उसके सामान्य क्षेत्र में जीवन यापन करने के लिये वापिस बुला लाता है क्योंकि वे अपनी शक्ति का प्रयोग केवल इसी क्षेत्र में कर सकती हैं। परन्तु सूक्ष्म इन्द्रियां अपने स्तरों तथा इस स्थूल जगत् दोनों में अपनी शक्ति को प्रकट कर सकती हैं, यद्यपि यह उनकी अपनी सत्ता के लोक की अपेक्षा उनके लिये अधिक दूर है। स्थूल इन्द्रियों के द्वारों को बन्द करने के लिये योग में अनेक प्रकार के उपाय काम में

लाये जाते हैं जिनमें से कुछ तो भौतिक उपाय ही हैं; परन्तु एकमात्र सर्वसमर्थ साधन है एकाग्रता की शक्ति जिसके द्वारा मन को भीतर की ओर गहराइयों में ले जाया जाता है जहां स्थूल पदार्थों की पुकार उसतक पहले की तरह आसानी से नहीं पहुंच सकती। स्वप्नावस्था की शक्तियों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये दूसरा आवश्यक कार्य स्थूल निद्रा के हस्तक्षेप से छुटकारा पाना है। मन जब स्थूल पदार्थों के सम्पर्क से विमुख होकर भीतर जाता है तो वह अपने साधारण स्वभाव के अनुसार निद्रा की जड़ता में या उसके स्वप्नों में जा पड़ता है, और अतएव जब उसे समाधि के प्रयोजनों के लिये भीतर की ओर पुकारा जाता है तो वह अभीष्ट प्रत्युत्तर नहीं देता या देने में प्रवृत्त नहीं होता बल्कि पहले अवसर पर तो निरी स्वभाव की शक्ति के वश ही स्थूल तन्द्रारूपी साधारण प्रत्युत्तर देता है या देने में प्रवृत्त होता है। मन के इस स्वभाव से छुटकारा पाना होगा; मन को स्वप्नावस्था में जागरित रहना तथा अपने ऊपर स्वामित्व रखना सीखना होगा, पर वह जागरित अवस्था बहिर्मुख नहीं अन्तर्मुख होनी चाहिये जिसमें वह अपने अन्दर डूबा रहकर भी अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग कर सके।

स्वप्नावस्था के अनुभव अनन्त प्रकार के होते हैं। क्योंकि यह सामान्य मानसिक शक्तियों अर्थात् तर्क, विवेक, संकल्प और कल्पना के ऊपर परम प्रभुत्व रखती है तथा इन्हें चाहे किसी भी ढंग से, किसी भी विषय पर और किसी भी उद्देश्य के लिये प्रयोग में ला सकती है, इतना ही नहीं, बल्कि यह उन सब लोकों के साथ, भौतिक से लेकर उच्चतर मानसिक लोकोंतक के साथ, सम्बन्ध भी स्थापित कर सकती है जिनतक इसकी स्वाभाविक पहुंच है या जिनतक पहुंच पाना यह पसन्द करती है। ऐसा यह उन अनेक साधनों के द्वारा करती है जो स्थूल बहिर्मुखी इन्द्रियों की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त इस अन्तर्मुख मन की सूक्ष्मता, नमनीयता और सर्वग्राही गति के लिये सुलभ होते हैं। सर्वप्रथम, यह सभी वस्तुओं को वे चाहे भौतिक जगत् की हों या अन्य स्तरों की, अनुभवगम्य प्रतिमूर्तियों की सहायता से जान सकती है; ये प्रतिमूर्तियां दृश्य वस्तुओं की ही नहीं बल्कि शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, गति, क्रिया तथा उन सब वस्तुओं की भी होती हैं जो मन और उसके कारणों के लिये गोचर हो सकती हैं। क्योंकि समाधि की अवस्था में मन आन्तरिक आकाशतक, जिसे कभी-कभी चिदाकाश भी कहते हैं, पहुंच जाता है, अर्थात् वह अधिकाधिक सूक्ष्म होते जानेवाले आकाश की उन गहराइयोंतक पहुंच जाता है जिनके और भौतिक इन्द्रियों के बीच में जड़ जगत् के स्थूलतर आकाश का घना पर्दा पड़ा हुआ है, और सभी इन्द्रिय-गोचर वस्तुएं, वे चाहे स्थूल लोक की हों या किसी अन्य लोक की, इस सूक्ष्म आकाश में अपना पुनर्निर्माण करनेवाले स्पन्दनों, अपनी इन्द्रियगम्य प्रतिध्वनियों, प्रतिकृतियों तथा पुनरावर्ती प्रतिमाओं का सृजन करती हैं। यह सूक्ष्मतर आकाश इन स्पन्दनों आदि को ग्रहण करके अपने अन्दर धारण करता है।

समाधि की यह अवस्था दूरदर्शन तथा दूरश्रवण आदि की अद्‌भुत घटनाओं में से बहुत-सी की व्याख्या कर देती है; क्योंकि इन घटनाओं का अर्थ यही है कि जाग्रत् मन एक ऐसी अवस्था में असाधारण रूप से प्रवेश पा लेता है जो एक विशेष प्रकार की स्मृति के प्रति सीमित रूप में सचेतन होती है, इस स्मृति को सूक्ष्म आकाश में विद्यमान प्रतिमाओं की स्मृति कहा जा सकता है। इसके द्वारा भूत और वर्तमान की ही नहीं बल्कि भविष्य की भी सब वस्तुओं के संकेतों को ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि भविष्य की वस्तुएं मनके उच्चतर स्तरों पर ज्ञान और अन्तर्दृष्टि के प्रति पहले से ही संसिद्ध हो चुकी होती हैं और उनकी प्रतिमाओं का प्रतिबिम्ब वर्तमान काल में मन पर पड़ सकता है। ये चीजें जाग्रत् मन के लिये अपवाद-रूप एवं दुष्प्राय हैं तथा इन्हें एक विशिष्ट शक्ति को अधिगत करके या फिर श्रमसाध्य अभ्यास के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है, पर समाधि-चेतना की स्वप्नावस्था के लिये ये सहज-स्वाभाविक हैं क्योंकि उसमें प्रच्छन्न मन स्वतंत्र होता है। और यह मन नाना स्तरों पर वस्तुओं का बोध भी प्राप्त कर सकता है। यह बोध वह इन इन्द्रियगोचर प्रतिमाओं के द्वारा ही नहीं प्राप्त करता बल्कि एक विशेष प्रकार से विचार को जानकर या अपने अन्दर ग्रहण एवं अंकित करके भी प्राप्त करता है, विचार को जानने आदि की यह क्रिया चेतना के उस अद्‌भुत व्यापार से मिलती-जुलती होती है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान में विचार-संक्रमण का नाम दिया गया है। परन्तु स्वप्नावस्था की शक्तियां यहीं समाप्त नहीं हो जातीं। इसमें मन हमारी सत्ता को मनोमय या प्राणमय शरीर के एक सूक्ष्म रूप में एक प्रकार से बाहर प्रक्षिप्त करके अन्य भूमिकाओं और लोकों में या इस लोक के सुदूर स्थानों एवं दृश्यों में सचमुच प्रवेश कर सकता है, एक प्रकार की प्रत्यक्ष शारीरिक सत्ता के साथ उनमें विचरण कर सकता है और उनके दृश्यों, सत्यों तथा घटना-चक्रों के प्रत्यक्ष अनुभव को जागरित अवस्था में ले आ सकता है। इसी प्रयोजन के लिये वह साक्षात् मनोमय या प्राणमय शरीर का भी बाहर प्रक्षेप कर सकता है तथा उसके द्वारा सर्वत्र पर्यटन कर सकता है, ऐसा करते समय वह स्थूल शरीर को ऐसी प्रगाढ़तम समाधि में छोड़ जाता है कि जबतक वह इसमें वापिस नहीं आ जाता तबतक इसमें जीवन का कोई चिह्न नहीं प्रतीत होता।

परन्तु समाधि की स्वप्नावस्था का सबसे बड़ा महत्त्व इन अधिक बाहरी चीजों में नहीं है। उसका सबसे बड़ा महत्त्व तो यह है कि वह विचार, भावावेग और संकल्प की ऐसी उच्चतर भूमिकाओं और शक्तियों को सहज में उन्मुक्त करती है जिनके द्वारा आत्मा उच्चता, विशालता और आत्म-प्रभुता में वर्धित होती है। विशेषकर, इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न विक्षेप से पीछे हटकर आत्मा एकाग्रतापूर्ण एकान्त की पूर्ण शक्ति में, स्वतंत्र तर्क, विचार और विवेक के द्वारा अथवा इससे अधिक अन्तरंग एवं चरम रूप में उत्तरोत्तर गभीर अन्तर्दर्शन एवं

तादात्म्य के द्वारा अपने-आपको इस प्रकार तैयार कर सकती है कि भगवान्, परम आत्मा एवं परात्पर सत्य को, उसके मूल तत्त्वों तथा उसकी शक्तियों एवं अभिव्यक्तियों को और साथ ही उसके उच्चतम मूल सत्स्वरूप को भी प्राप्त कर सके। अथवा, मानो आत्मा के एक आवृत और निभृत कक्ष में अनन्य आन्तरिक हर्ष और भावावेश के द्वारा वह अपने-आपको दिव्य प्रियतम के साथ एवं समस्त आनन्द और परमोल्लास के स्वामी के साथ मिलन का आह्लाद प्राप्त करने के लिये तैयार कर सकती है।

पूर्णयोग की दृष्टि से समाधि की इस प्रणाली में एक हानि दिखायी दे सकती है। वह यह कि जब समाधि समाप्त होती है तो सूत्र भंग हो जाता है और आत्मा बाह्य जीवन की विक्षिप्त और अपूर्ण अवस्था में वापिस आ जाती है, हां, इस बाह्य जीवन पर उसका उतना उन्नायक प्रभाव अवश्य पड़ता है जितना कि इन गभीरतर अनुभवों की सामान्य स्मृति उत्पन्न कर सकती है। परन्तु यह खाई या दरार अनिवार्य हो ऐसी बात नहीं है। पहली बात तो यह है कि समाधि के अनुभव जाग्रत् मन के लिये शून्यवत् तभीतक रहते हैं जबतक अन्तरात्मा समाधि की अभ्यस्त नहीं हो जाती; जैसे-जैसे यह अपनी समाधिपर अधिकार प्राप्त करती है, वैसे-वैसे यह विस्मृति के किसी प्रकार के भी अन्तराल के बिना आन्तरिक मन से बाह्य जागरित मनतक आने में समर्थ बनती जाती है। दूसरे, जब एक बार ऐसा हो जाता है, तो जो कुछ आन्तरिक अवस्था में प्राप्त हुआ है, उसे जागरित चेतना के द्वारा प्राप्त करना अधिक सुगम हो जाता है और साथ ही उसे आसानी से एक ऐसा रूप भी दिया जा सकता है कि वह जाग्रत् अवस्था के जीवन की स्वाभाविक अनुभूति, शक्ति, सामर्थ्य और मानसिक अवस्था बन जाये। ऐसा होने पर सूक्ष्म मन, जो साधारणतः स्थूल सत्ता की आग्रहपूर्ण मांग के कारण आच्छादित रहता है, जागरित अवस्था में भी शक्तिशाली बनता जाता है, जिससे कि अन्त में विशाल बनता हुआ मानव जागरित अवस्था में भी अपने स्थूल शरीर की तरह अपने अनेक सूक्ष्म शरीरों में भी निवास कर सकता है, उनसे तथा उनके अन्दर सचेतन हो सकता है, उनकी इन्द्रियों, क्षमताओं और शक्तियों का प्रयोग करके अतिभौतिक सत्य, चेतना और अनुभव का स्वामी बनकर रह सकता है।

सुषुप्ति अवस्था में आत्मा सत्ता की उच्चतर शक्ति की ओर आरोहण करती है। अर्थात् वह विचार से परे शुद्ध चेतना, भावावेग से परे शुद्ध आनन्द तथा संकल्प से परे शुद्ध प्रभुत्व के स्तर की ओर ऊपर उठती है; सच्चिदानन्द की जिस परमोच्च स्थिति में से इस जगत् के सब कार्य-व्यापार उत्पन्न होते हैं उसके साथ एकत्व लाभ करने के लिये सुषुप्ति अवस्था एक द्वार का काम करती है। परन्तु यहां हमें प्रतीकात्मक भाषा के गर्तजालों से बचने का ध्यान रखना होगा। इन उच्चतर भूमिकाओं के लिये 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' शब्दों का प्रयोग एक रूपक से अधिक

कुछ नहीं। यह रूपक सामान्य स्थूल मन के उस अनुभव से लिया गया है जो उसे अपरिचित भूमिकाओं के विषय में होता है। यह सत्य नहीं है कि 'सुषुप्ति' (अर्थात् पूर्ण निद्रा) नामक तीसरी भूमिका में 'पुरुष' निद्रा की अवस्था में होता है। बल्कि सुषुप्तिगत 'पुरुष' को प्राज्ञ अर्थात् प्रज्ञा और ज्ञान का स्वामी या विज्ञानमय 'पुरुष' और ईश्वर अर्थात् सत्ता का प्रभु कहा गया है। स्थूल मन के लिये यह सुषुप्ति (प्रगाढ़तम निद्रा) है, पर हमारी विशालतर एवं सूक्ष्मतर चेतना के लिये यह एक अधिक महान् जागृति है। जो चीजें सामान्य मन के सामान्य अनुभव से परे की हैं पर फिर भी उसके क्षेत्र के अन्दर आती हैं वे सभी उसे स्वप्नवत् प्रतीत होती हैं; परन्तु जब वह उस सीमा-रेखा पर पहुंचता है जिसके आगे की चीजें उसके क्षेत्र से सर्वथा परे की होती हैं, तो वह सत्य को स्वप्नावस्था की भांति भी नहीं देख सकता, बल्कि निद्रा की शून्य बोधहीनता और अग्रहणशीलता में पहुंच जाता है। यह सीमारेखा व्यक्ति की चेतना की शक्ति के अनुसार तथा उसके ज्ञानालोक और जागरण की मात्रा और उच्चता के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। यह रेखा अधिकाधिक ऊंचाई की ओर हटती जा सकती है, यहांतक कि अन्त में यह मन के घेरे को भी पार कर सकती है। निःसन्देह, साधारणतया मानव-मन अतिमानसिक स्तरों पर समाधि की आन्तरिक जाग्रत् अवस्था के रूप में भी जागरित नहीं रह सकता; पर इस असमर्थता पर विजय पायी जा सकती है। इन स्तरों पर जागरित रहकर आत्मा विज्ञानमय विचार अथवा विज्ञानमय संकल्प और आनन्द की भूमिकाओं की स्वामिनी बन जाती है और यदि वह समाधि-अवस्था में ऐसा कर सके तो वह अपने अनुभव की स्मृति और शक्ति को जागरित अवस्था में भी ले जा सकती है। हमारे सामने जो इससे ऊंचा अर्थात् आनन्द का स्तर खुला पड़ा है उसपर जागरित आत्मा, उक्त रीति से ही, आनन्दमय पुरुष को उसके आत्म-समाहित और विश्व-व्याप्त दोनों रूपों में प्राप्त कर सकती है। तथापि इससे ऊपर की भूमिकाएं भी हो सकती हैं जहां से वापिस आती हुई यह इसके सिवा और कोई स्मृति नहीं ला सकती कि "जैसे भी हो, मैं ऐसे आनन्द में थी जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकती"; वास्तव में वह अपरिच्छिन्न सत्ता का एक ऐसा आनन्द है जिसे विचार के द्वारा प्रकट करना अथवा रूपक या आकार के द्वारा वर्णित करना जरा भी सम्भव नहीं है। हो सकता है कि इस भूमिका में अस्तित्व का भान भी एक ऐसे अनुभव में विलुप्त हो जाये जिसमें जगत् की सत्ता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता और बौद्धों का निर्वाण-रूपी प्रतीक ही एकमात्र सर्वोच्च सत्य प्रतीत होता है। आत्मा के जागरण की शक्ति कितने ही ऊंचे स्तरतक क्यों न पहुंच जाये, तथापि प्रतीत होता है कि उससे परे एक ऐसी भूमिका अवश्य है जिसमें सुषुप्ति के रूपक का प्रयोग फिर भी उपयुक्त होगा।

समाधि या योगलीनता की स्थिति का मूलतत्त्व यही है,—इसके जटिल

दृग्विषयों की तह में जाने की अभी हमें जरूरत नहीं। इतना देख लेना ही काफी है कि पूर्णयोग में इसकी उपयोगिता दो प्रकार की है। यह सच है कि एक सीमा तक जिसका ठीक-ठीक वर्णन या निर्धारण करना कठिन है, समाधि से प्राप्त हो सकनेवाली प्रायः सभी अनुभूतियां समाधि का आश्रय लिये बिना भी प्राप्त की जा सकती हैं। तथापि आध्यात्मिक एवं आन्तरात्मिक अनुभव के कुछ ऐसे शिखर भी हैं जिनका बिम्बग्राही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव गहराई के साथ तथा पूर्ण रूप में योगसमाधि के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। पर जो अनुभव किसी और तरीके से भी प्राप्त हो सकता है उसके लिये भी समाधि एक प्रस्तुत साधन या एक सुविधापूर्ण विधि का काम करती है; जिन भूमिकाओं में उच्च आध्यात्मिक अनुभव की खोज की जाती है वे जैसे-जैसे अधिक ऊंची एवं दुष्प्राप्य होती जाती हैं वैसे-वैसे यह समाधि की विधि भी अनिवार्य नहीं तो अधिकाधिक सहायक अवश्य होती है। एक बार वहां प्राप्त हो जानेपर इस अनुभव को जाग्रत् चेतना में भी यथासम्भव अधिक-से-अधिक लाना होगा। क्योंकि, जो योग समस्त जीवन को पूर्ण रूप से तथा बिना किसी संकोच के अपने अन्दर समाविष्ट करता है उसमें समाधि का पूरा लाभ तभी प्राप्त होता है जब इसकी प्राप्तियों को मनुष्य में देहधारी आत्मा के पूर्ण जागरण के लिये स्वाभाविक सम्पदा और अनुभूति बनाया जा सके।

अध्याय २७

हठयोग

योग के जितने विभिन्न मार्ग हैं लगभग उतने ही समाधितक पहुंचने के साधन भी हैं। जबतक हम शरीर में हैं तबतक समाधि की पूर्ण प्राप्ति एवं उपभोग केवल उच्चतम चेतना में ही किया जा सकता है। निःसन्देह, इस उच्चतम चेतना को प्राप्त करने के परम साधन के रूप में ही नहीं बल्कि स्वयं इस उच्चतम चेतना की असली शर्त्त और अवस्था के रूप में भी समाधि को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि योग की कई एक साधनाएं तो ऐसी दिखायी देतीं है मानों वे केवल समाधितक पहुंचने के साधनमात्र हों। परम देव के साथ एकत्व की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना तथा इसे प्राप्त करना—यही सब योगों का स्वरूप है। परम देव के साथ एकत्व का अर्थ है उनकी सत्ता के साथ तथा उनके चैतन्य और आनन्द के साथ एकत्व, अथवा यदि हम पूर्ण एकत्व के विचार को मानने से इंकार करें तो इस एकत्व का अर्थ होगा कम-से-कम किसी-न-किसी प्रकार का एकत्व, चाहे उसका स्वरूप यह हो कि केवल आत्मा भगवान् के साथ सत्ता की एक ही भूमिका एवं लोक में निवास करे, **सालोक्य**, या उनके साथ एक प्रकार की अविच्छेद्य समीपता में निवास करे, **सामीप्य**, यह एकत्व तभी प्राप्त हो सकता है यदि हम अपने साधारण, मन की चेतना से अधिक ऊंचे स्तर की एवं अधिक प्रगाढ़ चेतना में उठ जायें। हम देख ही चुके हैं कि समाधि एक इसी प्रकार के उच्चतर स्तर और महत्तर प्रगाढ़ता की स्वाभाविक भूमिका के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होती है। ज्ञानयोग में स्वभावतः ही इसका अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि उसकी विधि और उसके उद्देश्य का वास्तविक मूलसूत्र ही यही है कि मानसिक चेतना को एक ऐसी निर्मल अवस्था में तथा एकाग्र शक्ति में उठा ले जाये जिसके द्वारा यह वास्तविक सत्ता को पूर्ण रूप से जान सके, उसमें लीन होकर तद्रूप बन सके। परन्तु दो महान् साधन-पद्धतियां ऐसी भी हैं जिनमें यह और भी अधिक महत्त्व ग्रहण कर लेती है। वे हैं राजयोग और हठयोग। अब हम इन दोनों पद्धतियों पर भी विचार कर लें; क्योंकि ज्ञानमार्ग की विधि से इनकी विधियों का बड़ा भारी भेद होने पर भी, इनका भी मूलसूत्र वही है जो ज्ञानयोग का है और वही इन्हें अन्तिम रूप से सार्थक भी सिद्ध करता है। तथापि इन दो क्रमिक सोपानों के पीछे जो मूल भाव निहित है उसपर यहां प्रसंगवश दृष्टि डालने से अधिक कुछ करने की हमें आवश्यकता नहीं; क्योंकि समन्वयात्मक एवं सर्वांगीण योग में इनका महत्त्व दूसरे दर्जे का ही है; निःसन्देह, इनके लक्ष्यों को तो हमें अपने लक्ष्य में समाविष्ट करना होगा, पर इनकी विधियों का या तो सर्वथा त्याग कर देना होगा अथवा इनका प्रयोग प्रारम्भिक या प्रासंगिक सहायता प्राप्त करने के लिये ही करना होगा।

हठयोग एक शक्तिशाली, पर कठिन और कष्टप्रद प्रणाली है। इसकी क्रिया का सारा सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि शरीर और आत्मा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बंध और मोक्ष, पशूचित दुर्बलता और दिव्य शक्ति, मन और अन्तरात्मा की तमसाच्छन्नता तथा प्रकाशमयता, पीड़ा और अपूर्णता के प्रति अधीनता और आत्म-प्रभुता, मृत्यु और अमरता—इन सब द्वंद्वों की कुंजी एवं इनका रहस्य शरीर ही है। हठयोगी के लिये शरीर एक सजीव स्थूल द्रव्य का पिण्डमात्र नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक और भौतिक सत्ता के बीच एक गुह्य सेतु है; हमने हठयौगिक साधना के एक प्रतिभाशाली व्याख्याकार को वेदान्त के प्रतीक 'ओ३म्' की ऐसी व्याख्या करते भी देखा है कि यह इस गुह्य मानव-देह का प्रतिरूप है। पर यद्यपि वह सदा स्थूल शरीर की ही बात करता है और इसीको अपनी योग-क्रियाओं का आधार बनाता है, तथापि वह इसे शरीर-रचना-शास्त्री या शरीरक्रिया-विज्ञान की आंख से नहीं देखता, बल्कि इसका वर्णन एवं व्याख्या एक ऐसी भाषा में करता है जो सदा ही स्थूल देह-संस्थान के पीछे रहनेवाले सूक्ष्म शरीर की ओर दृष्टिपात करती है। वास्तव में, हठयोगी के सम्पूर्ण लक्ष्य का सार हम अपने दृष्टिकोण से इस रूप में प्रतिपादित कर सकते हैं,—यद्यपि वह स्वयं इसे इन शब्दों में प्रस्तुत करना नहीं चाहेगा,—कि वह इस स्थूल शरीर में आत्मा को कुछ निश्चित वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के द्वारा एक ऐसी शक्ति, ज्योति, पवित्रता एवं स्वतन्त्रता तथा उत्तरोत्तर उर्ध्व स्तरों की ऐसी आध्यात्मिक अनुभूतियां प्रदान करने का यत्न करता है जो आत्मा के लिये, यहां सूक्ष्म शरीर में तथा विकसित कारण शरीर में निवास करने पर, स्वभावतः ही सुलभ होंगी।

जो लोग विज्ञान के विचार का सम्बन्ध केवल स्थूल जगत् के बाह्य दृश्विषयों से ही जोड़ते हैं तथा इनके पीछे जो कुछ है उस सबसे इसे पृथक् रखते हैं उनको हठयोग की प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक होने की बात विचित्र प्रतीत हो सकती है; पर ये प्रक्रियाएं भी समान रूप से, नियमों तथा उनकी क्रियाओं के सुनिश्चित अनुभव पर आधारित हैं और ठीक ढंग से अनुसरण करने पर सुपरीक्षित परिणामों को उत्पन्न करती हैं। वास्तव में, हठयोग, अपने ही ढंग से, ज्ञान प्राप्त करने की एक प्रणाली है; पर जहां वास्तविक ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधना के रूप में क्रियान्वित किया गया सत्ता का तत्त्वज्ञान है, अर्थात् एक मनोवैज्ञानिक प्रणाली है, वहां हठयोग सत्ता का विज्ञान है, अर्थात् एक मनोभौतिक प्रणाली है। दोनों ही भौतिक, आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक परिणामों को उत्पन्न करते हैं; पर ये एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न ध्रुवों पर स्थित हैं, अतएव, इनमें से एक के लिये तो मनोभौतिक परिणाम बहुत ही कम महत्त्व रखते हैं, एकमात्र शुद्ध आन्तरात्मिक एवं आध्यात्मिक परिणाम ही महत्त्वपूर्ण हैं, यहांतक कि शुद्ध आन्तरात्मिक भी हमारे सम्पूर्ण ध्यान को आकृष्ट करनेवाले आध्यात्मिक परिणामों के सहायकमात्र होते हैं; दूसरे में (हठयोग

में) भौतिक परिणाम का महत्त्व अत्यन्त गुरुतर है, आन्तरात्मिक परिणाम एक काफी बड़ा फल है, आध्यात्मिक एक चरम-परम परिणति है, पर शरीर हमसे अपने लिये जिस ध्यान की मांग करता है वह इतना अधिक और सर्वग्रासी होता है कि आध्यात्मिक परिणति दीर्घकालतक एक स्थगित एवं दूरस्थ वस्तु प्रतीत होती है। तथापि यह नहीं भूलना चाहिये कि दोनों अवश्यमेव एक ही लक्ष्य पर पहुंचते हैं। हठयोग भी परम देव की प्राप्ति का एक मार्ग है, यद्यपि यह एक लंबी, कठिन और अतिसावधानतापूर्ण प्रक्रिया के द्वारा आगे बढ़ता है, **दुःखम् आप्तुम्**।

योगमात्र अपनी प्रणाली में साधना के तीन मूल तत्त्वों के द्वारा अग्रसर होता है; उनमें से पहला है शुद्धि अर्थात् हमारे भौतिक, नैतिक और मानसिक संस्थान में सत्ता की शक्ति की मिश्रित और अनियमित क्रिया से जो भी भूलें, गड़बड़ियां और बाधाएं उत्पन्न होती हैं उन सबको दूर करना। दूसरा है एकाग्रता, अर्थात् एक निश्चित लक्ष्य के लिये सत्ता की उस शक्ति को अपने अन्दर पूर्ण उत्कर्षतक ले जाना तथा प्रभुत्व और आत्मनिर्देशन के साथ उसका उपयोग करना। तीसरा है मुक्तता, अर्थात् मिथ्या और सीमित लीला में व्यष्टिभावापन्न शक्ति की जो संकीर्ण और दुःखमय ग्रंथियां आज हमारी प्रकृति के नियम के रूप में कार्य करती हैं उनसे अपनी सत्ता को मुक्त करना। हमारी यह मुक्त सत्ता हमें परम देव के साथ एकत्व या मिलन प्राप्त कराती है, इस मुक्त सत्ता का उपभोग ही हठयोग की चरम परिणति है; इसीके लिये योग किया जाता है। ये तीन अनिवार्य सोपान हैं और इसी प्रकार तीन उच्च, उन्मुक्त और असीम स्तर भी हैं जिनकी ओर ये सोपान आरोहण करते हैं; और हठयोग अपनी समस्त साधना में इन्हें दृष्टि में रखता है।

इसकी भौतिक साधना के मुख्य अंग दो हैं, **आसन** और **प्राणायाम**, अन्य सब अंग तो इनके सहायकमात्र हैं। आसन का अभिप्राय है शरीर को निश्चलता की कुछ स्थितियों का अभ्यासी बनाना और प्राणायाम का अभिप्राय है श्वास-प्रश्वास के व्यायामों के द्वारा शरीर में प्राणशक्ति की धाराओं का नियमित संचालन तथा नियन्त्रण। स्थूल आधार हमारा यन्त्र है; पर स्थूल आधार दो तत्त्वों से अर्थात् भौतिक और प्राणिक तत्त्वों किंवा शरीर और जीवन-शक्ति से बना हुआ है; इनमें से शरीर प्रत्यक्ष यन्त्र और आधार है और जीवन-शक्ति अर्थात् **प्राण**—बल और वास्तविक यन्त्र है। ये दोनों ही यन्त्र आज हमारे स्वामी हैं। हम शरीर के दास हैं, हम प्राणशक्ति के अधीन हैं; यद्यपि हम आत्मा हैं, मनोमय प्राणी हैं तथापि अत्यन्त परिमित अंश में ही हम इनके स्वामी होने की वृत्ति को धारण कर सकते हैं। हम एक तुच्छ एवं सीमित भौतिक प्रकृति से बंधे हैं, और परिणामस्वरूप एक तुच्छ एवं सीमित प्राणशक्ति से भी बंधे हैं; हमारा शरीर बस इसी प्राणशक्ति को धारण करने में समर्थ है अथवा इसीको कार्यक्षेत्र प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त, हमारे अन्दर इनमें से प्रत्येक की तथा दोनों की क्रिया क्षुद्रतम सीमाओं के ही नहीं, बल्कि

सतत अशुद्धता के भी अधीन है; हर बार जब कि इस अशुद्धता को सुधारा जाता है यह फिर पैदा हो जाती है। साथ ही, इनकी क्रिया सब प्रकार की गड़बड़ियों की शिकार भी होती रहती है जिनमें से कुछ तो इनका सामान्य अंग-सी हैं, एक प्रकार की उग्र अवस्था हैं, हमारे साधारण एवं स्थूल जीवन का भाग हैं; उनके अतिरिक्त कुछ अन्य गड़बड़ियां भी हैं जो असामान्य ढंग की हैं, अर्थात् इनकी व्याधियां और अस्तव्यस्त स्थितियां हैं। हठयोग को इन सबसे निपटना होता है; उसे इन सबपर विजय पानी होती है; और यह कार्य वह मुख्यतः इन्हीं दो पद्धतियों के द्वारा करता है; इनकी क्रिया तो जटिल और कष्टप्रद है, पर इनका मूल सिद्धान्त सीधा-सादा है और साथ ही ये प्रभावशाली भी हैं।

हठयोग की आसन-प्रणाली के मूल में दो गभीर विचार निहित हैं जिनसे अनेक प्रभावपूर्ण फलितार्थ निकलते हैं। पहला है शरीर की निश्चलता के द्वारा आत्मनियन्त्रण का विचार, दूसरा है निश्चलता के द्वारा शक्ति की प्राप्ति का विचार। शारीरिक निश्चलता की शक्ति हठयोग में उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी ज्ञानयोग में मानसिक निश्चलता की शक्ति, और इन दोनों के महत्त्व के कारण भी एक-से ही हैं। हमारी सत्ता और प्रकृति के गभीरतर सत्यों के प्रति अनभ्यस्त मन को ये दोनों ऐसी प्रतीत होंगी मानो ये जड़ता की उदासीन निष्क्रियता की खोज कर रही हों। पर सत्य इससे ठीक उल्टा है; क्योंकि यौगिक निष्क्रियता, वह चाहे मन की हो या शरीर की, शक्ति को अधिक-से-अधिक बढ़ाने, अधिकृत और संयमित करने की शर्त है। हमारे मनों की सामान्य क्रिया अधिकांश में एक प्रकार की अव्यवस्थित चंचलता है, इस क्रिया में शक्ति का क्षय होता है किंवा उसे परीक्षणों के रूप में वेगपूर्वक लुटाया जाता है; शक्ति के इस व्यय-अपव्यय में से केवल थोड़ा-सा अंश ही एक आत्मप्रभुत्वपूर्ण संकल्प के क्रिया-व्यापार के लिये चुना जाता है,—यहां यह समझ लेना होगा कि शक्ति का यह व्यय इस दृष्टिबिन्दु से ही अपव्यय कहलाता है न कि विश्व-प्रकृति के दृष्टिबिन्दु से। जो व्यय हमें सर्वथा निरर्थक प्रतीत होता है वह भी विश्व-प्रकृति के दृष्टिकोण के अनुसार उसकी अपनी मितव्ययपूर्ण व्यवस्था के उद्देश्यों में सहायक होता है। हमारे शरीरों की चेष्टा भी एक उक्त प्रकार की चंचलता है।

यह इस बात का चिह्न है कि शरीर में जो परिमित-सी प्राण-शक्ति प्रविष्ट या उत्पन्न होती है उसे भी वह धारण करने में सदा असमर्थ रहता है; परिणामतः, यह इस बात का भी चिह्न है कि यह प्राण-शक्ति सामान्य रूप से ही विकीर्ण होती रहती है और व्यवस्थित एवं परिमितव्यय-युक्त क्रिया का तत्त्व तो सर्वथा गौण ही होता है। अपि च, फलस्वरूप, जो प्राणिक शक्तियां शरीर में साधारणतः कार्य करती हैं उनकी गति और परस्परक्रिया के बीच जो आदान-प्रदान एवं सन्तुलन स्थापित होता है उसमें तथा जो शक्तियां शरीर पर बाहर से क्रिया करती हैं, वे

चाहे दूसरों की हों या चारों ओर के वातावरण में विविध रूप से कार्य करनेवाली सार्वभौम प्राणशक्ति की, उनके साथ इन पूर्वोक्त शक्तियों का जो आदान-प्रदान चलता है उसमें निरन्तर ही एक अनिश्चित सन्तुलन एवं सामंजस्य स्थापित होता रहता है जो किसी भी क्षण बिगड़ सकता है। प्रत्येक बाधा, प्रत्येक त्रुटि, प्रत्येक अति एवं प्रत्येक आघात नाना प्रकार की अशुद्धता और अव्यवस्था उत्पन्न करता है। प्रकृति को जब अपने ऊपर छोड़ दिया जाता है तो वह अपने उद्देश्यों के लिये इन सबसे अपना कार्य खूब अच्छी तरह चला लेती है। परन्तु ज्यों ही मनुष्य का भ्रान्तिशील मन और संकल्प उसकी आदतों और प्राणिक अन्यप्रवृत्तियों एवं सहज स्फुरणाओं में हस्तक्षेप करते हैं, विशेषकर जब वे झूठी या बनावटी आदतें पैदा कर देते हैं, तब एक और भी अधिक अनिश्चित व्यवस्था एवं बारंबार पैदा होनेवाली अव्यवस्था हमारी सत्ता का नियम बन जाती हैं। तथापि यह हस्तक्षेप होना अनिवार्य है, क्योंकि, मनुष्य अपने अन्दर की प्राणिक प्रकृति के प्रयोजनों के लिये ही नहीं बल्कि उन उच्चतर प्रयोजनों के लिये भी जीवन धारण करता है जिन्हें प्रकृति अपने प्रथम सन्तुलन के समय विचार में ही नहीं लायी थी और जिनके साथ उसे कठिनतापूर्वक अपनी क्रियाओं का मेल बिठाना होता है। अतएव, एक महत्तर स्थिति या क्रियाशीलता को प्राप्त करने के लिये सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि इस अव्यवस्थित चंचलता से छुटकारा पाया जाये, क्रिया को शान्त करके नियन्त्रित किया जाये। हठयोगी को शरीर और प्राणशक्ति की स्थितिशीलता और क्रियाशीलता के एक असामान्य सन्तुलन को साधित करना होता है, वह सन्तुलन असामान्य होते हुए भी महत्तर अवस्था की ओर नहीं बल्कि उच्चता और आत्म-प्रभुत्व की ओर उन्मुख होता है।

आसन की निश्चल स्थिति का पहला उद्देश्य यह है कि शरीर पर जो चंचल क्रिया बलात् थोपी जाती है उससे मुक्त हुआ जाये तथा इसे (शरीर को) बाध्य किया जाये कि यह प्राणशक्ति को बिखेरने और लुटाने के स्थान पर उसे अपने अन्दर धारण करे। आसन के अभ्यास में जो अनुभव होता है वह यह नहीं है कि निष्क्रियता के द्वारा शक्ति निरुद्ध एवं क्षीण होती है, वरन् यह कि इससे शक्ति की मात्रा, उसका अन्तःप्रवाह एवं संचार अत्यधिक बढ़ जाता है। पर, क्योंकि हमारा शरीर अतिरिक्त शक्ति को हिलने-डुलने के द्वारा बाहर निकालने का आदी है, अतएव शुरू में वह इस वृद्धि तथा इस धारित अन्तःक्रिया को अच्छी तरह सहन नहीं कर सकता और प्रबल कंपनों के द्वारा इसे बाहर बिखेर देता है; आगे चलकर वह इसे धारण करने में अभ्यस्त हो जाता है और जब आसन सिद्ध हो जाता है तब वह बैठने के उस विशिष्ट ढंग में भी, जो चाहे आरम्भ में उसके लिये कठिन या अस्वाभाविक ही क्यों न रहा हो, उतना ही आराम अनुभव करता है जितना बैठने या सहारा लेने के सरल-से-सरल ढंगों में। उसपर प्रभाव डालने के लिये

बढ़ी हुई प्राण-शक्ति की जितनी भी मात्रा प्रयोग में लायी जाती है उसे वह धारण करने में उत्तरोत्तर समर्थ होता जाता है और उसे इस वृद्धिगत मात्रा को चेष्टाओं के रूप में बहा देने की जरूरत नहीं होती, और शक्ति की यह वृद्धि इतनी विपुल होती है कि इसकी कोई सीमा नहीं दिखायी देती; फलतः, सिद्ध हठयोगी का शरीर सहिष्णुता और बल तथा अथक शक्ति-प्रयोग के ऐसे करतबों को कर सकता है कि जिन्हें मनुष्य की सामान्य भौतिक शक्तियां अपनी पराकाष्ठा को पहुंचकर भी नहीं कर सकतीं। क्योंकि, वह इस शक्ति को केवल धारण करके सुरक्षित ही नहीं रख सकता, बल्कि देह-संस्थान पर इसके प्रभुत्व तथा उसके अन्दर इसकी अधिक पूर्ण गति को सहन भी कर सकता है। इस प्रकार जब प्राणशक्ति शान्त और निष्क्रिय शरीर को अपने अधिकार में लाकर एक शक्तिशाली एवं समरस क्रिया के रूप में उसपर कार्य करती है तथा धारक शक्ति और धारित शक्ति के अस्थिर सन्तुलन से मुक्त हो जाती है तो यह एक कहीं अधिक महान् तथा प्रभावशाली शक्ति बन जाती है। वास्तव में, तब ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर ने इसे अपने अन्दर धारण नहीं किया है और न वह इसे अधिकृत एवं प्रयुक्त ही करता है वरन् सच पूछो तो उसीने शरीर को अपने अन्दर धारण किया है तथा वही उसे अधिकृत और प्रयुक्त करती है,—जैसे कि चंचल सक्रिय मन में जब कोई आध्यात्मिक शक्ति प्रविष्ट होती है तो वह इसपर अधिकार जमाकर अनियमित तथा अपूर्ण रूप में इसका प्रयोग करता प्रतीत होता है, पर यही आध्यात्मिक शक्ति जब प्रशान्त मन में आती है तो उसे धारण करती है तथा अधिकृत करके प्रयोग में लाती है।

इस प्रकार शरीर अपने-आपसे मुक्त हो जाता है, अपनी बहुत-सी अव्यवस्थाओं एवं अनियमितताओं से रहित होकर शुद्ध हो जाता है और आसन के द्वारा आंशिक रूप से तथा आसन और प्राणायाम की सम्मिलित प्रक्रिया के द्वारा तो पूर्ण रूप से ही एक सिद्ध यन्त्र बन जाता है। इसके अन्दर जो शीघ्र ही थक जाने की प्रवृत्ति है उससे यह मुक्त हो जाता है; यह स्वास्थ्य की अमित शक्ति प्राप्त कर लेता है; क्षय, जरा और मरण की इसकी प्रवृत्तियां अवरुद्ध हो जाती हैं। साधारण आयुर्मान के बहुत आगे पहुंची हुई अवस्था में भी हठयोगी शारीरिक जीवन के बलवीर्य, स्वास्थ्य और यौवन को अक्षुण्ण बनाये रखता है; यहांतक कि दैहिक यौवन का बाह्य स्वरूप भी दीर्घकालतक सुरक्षित रहता है। उसमें दीर्घजीवन की शक्ति औरों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है, और उसके दृष्टिकोण से, शरीर के यन्त्र होने के कारण, दीर्घकालतक इसे सुरक्षित रखना तथा उस सारे काल में इसे क्षयकारी दोषों से मुक्त रखना कोई कम महत्त्व की बात नहीं है। यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि हठयोग में कितने ही प्रकार के आसन हैं जिनकी कुल संख्या अस्सी से ऊपर पहुंचती है। उनमें से कुछ तो अत्यन्त ही जटिल और दुष्कर हैं। आसनों की इतनी अधिक विविधता कुछ तो ऊपर दिखाये गये परिणामों में वृद्धि करने तथा शरीर के

प्रयोग में अत्यधिक स्वाधीनता और नमनीयता प्रदान करने में सहायक होती है, पर साथ ही यह शरीर की भौतिक शक्ति और पृथ्वी की शक्ति जिसके साथ कि वह सम्बद्ध है— इन दोनों के सम्बन्ध को बदलने में भी सहायता करती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि पृथ्वी-शक्ति का भारी पंजा ढीला पड़ जाता है जिसका पहला लक्ष्य यह है कि शरीर थकावट की प्रवृत्ति पर विजय पा लेता है और अन्तिम लक्षण यह है कि उत्थापन या आंशिक लघिमा के अद्‌भुत दृग्विषय का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर की प्रकृति को कुछ-कुछ प्राप्त करके प्राणशक्ति के साथ इसके सम्बन्धों को कुछ अंश में आयत्त करने लगता है; वह एक अधिक महान् शक्ति का रूप धारण कर लेता है जो अधिक सबल रूप में अनुभूत होती है और फिर भी एक अपेक्षाकृत हल्की, मुक्त और अधिक सूक्ष्मतायोग्य भौतिक क्रिया को सम्पन्न कर सकती है तथा ऐसी शक्तियां भी प्राप्त कर सकती है जो अपनी पराकाष्ठा को पहुंचकर हठयोग की सिद्धियों या गरिमा, महिमा, अणिमा और लघिमा की असाधारण शक्तियों में परिणत हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्राण स्थूल इन्द्रियों और करणों की क्रिया पर, उदाहरणार्थ, हृदय की धड़कनों और श्वास-प्रश्वास पर पूर्ण रूप से निर्भर रहना छोड़ देता है। ये क्रियाएं अन्त में जीवन की समाप्ति या क्षति हुए बिना स्थगित की जा सकती हैं।

यह सब आसन और प्राणायाम की चरम-परम परिणति है, तथापि यह एक आधारभूत भौतिक शक्ति और स्वतन्त्रतामात्र है। हठयोग का उच्चतर उपयोग तो अधिक घनिष्ठ रूप से प्राणायाम पर निर्भर करता है। आसन अत्यधिक प्रत्यक्ष रूप में सम्पूर्ण भौतिक सत्ता के अधिक स्थूल भाग पर कार्य करता है; यद्यपि यहां भी इसे प्राणायाम की सहायता की जरूरत पड़ती है। प्राणायाम आसन से प्राप्त होनेवाली भौतिक निश्चलता और आत्म-नियन्त्रण को लेकर चलता है और अधिक प्रत्यक्ष रूप में सूक्ष्मतर प्राणिक भागों पर अर्थात् स्नायुमण्डल पर कार्य करता है। यह कार्य श्वास-क्रिया के विविध प्रकार के नियन्त्रणों से सम्पन्न किया जाता है जिनमें से सर्वप्रथम है रेचक और पूरक की समानता। यह नियन्त्रण आगे बढ़ता हुआ इन दोनों के अत्यन्त तालबद्ध नियन्त्रणों का रूप धारण कर लेता है, जिनमें रेचक और पूरक के बीच कुछ काल के लिये प्राण का कुंभक भी किया जाता है। शुरू-शुरू में प्राण का कुंभक करने (इसे अपने अन्दर रोके रखने) के लिये कुछ प्रयत्न करना पड़ता है, पर अन्त में यह और इसकी समाप्ति दोनों उतने ही सुगम हो जाते हैं और उतने ही स्वाभाविक प्रतीत होते हैं जितने कि श्वास का बारम्बार अन्दर लेना एवं बाहर फेंकना जो कि प्राण का साधारण व्यापार है। परन्तु प्राणायाम के प्रमुख लक्ष्य ये हैं—स्नायुसंस्थान को शुद्ध करना, सभी स्नायुओं में बिना किसी रुकावट, गड़बड़ी या अनियमितता के प्राणशक्ति को संचारित करना और इसकी क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करना ताकि देहस्थित आत्मा का मन और संकल्प

न तो देह या प्राण के अधीन रहे और न इन दोनों की सम्मिलित संकीर्णताओं के। प्राण के इन व्यायामों में स्नायुमण्डल की शुद्ध और अव्याहत स्थिति को लाने की जो शक्ति है वह हमारे शरीर-क्रिया-विज्ञान का प्रसिद्ध और सुप्रतिष्ठित तथ्य है। प्राणायाम की शक्ति देह-संस्थान को स्वच्छ करने में भी सहायता पहुंचाती है, परन्तु आरम्भ में यह उसके सब मार्गों और प्रणालिकाओं को शुद्ध करने में पूर्ण रूप से प्रभावशाली नहीं सिद्ध होती; अतएव हठयोगी उनमें जमा हुई सब प्रकार की मलिनताओं को नियमपूर्वक साफ करने के लिये परिपूरक के रूप में स्थूल विधियों का भी प्रयोग करता है। आसन और प्राणायाम के साथ मिलकर ये विधियां,—विशेष प्रकार के आसनों के परिणामस्वरूप विशेष प्रकार की व्याधियां भी मिट जाती हैं,—शरीर के स्वास्थ्य को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखती हैं। परन्तु मुख्य लाभ यह होता है कि इस शुद्धता के कारण प्राण-शक्ति को कहीं भी, शरीर के किसी भी भाग में और किसी भी प्रकार से या उसकी अपनी गति के किसी भी प्रकार के लयताल के साथ परिचालित किया जा सकता है।

फेफड़ों में केवल सांस भरने और उनसे बाहर निकालने की क्रिया तो हमारे देह-संस्थान में प्राण या जीवन-श्वास की एक ऐसी अत्यन्त गोचर एवं बाह्य गतिमात्र है जो हमारी पकड़ में आ सकती है। योग-विद्या के अनुसार प्राण की गति पांच प्रकार की है जो सम्पूर्ण स्नायुमण्डल तथा सारे भौतिक शरीर में व्याप्त है तथा इसकी सब क्रियाओं का निर्धारण करती है। हठयोगी श्वास-प्रश्वास की बाह्य क्रिया को एक प्रकार की कुंजी मानकर अपने अधिकार में ले आता है; यह कुंजी उसके लिये प्राण की इन पांचों शक्तियों के नियन्त्रण का द्वार खोल देती है। वह इनकी आन्तरिक क्रियाओं को प्रत्यक्ष रूप में जान लेता है, अपने सारे शारीरिक जीवन और कार्य से मानसिक रूप में सचेतन हो जाता है। वह अपने देह संस्थान की सभी नाड़ियों या स्नायु-प्रणालिकाओं में से प्राण का संचालन करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। वह छः चक्रों में अर्थात् स्नायुमण्डल के छः स्नायुग्रन्थिमय केन्द्रों में होनेवाली प्राण की क्रिया को जान जाता है, और इनमें से प्रत्येक में वह इसे इसकी वर्तमान सीमित, अभ्यस्त और यान्त्रिक क्रियाओं से परे उन्मुक्त कर देने में समर्थ होता है। संक्षेप में, वह शरीरगत प्राण के अत्यन्त सूक्ष्म स्नायविक तथा स्थूलतम भौतिक रूपों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है, यहांतक कि इसके अन्दर के उस तत्त्व को भी अपने नियन्त्रण में ले आता है जो इस समय हमारी इच्छा के अधीन नहीं है तथा हमारे द्रष्टस्वरूप चैतन्य और संकल्प की पहुंच के बाहर है। इस प्रकार शरीर और प्राण दोनों की क्रियाओं की शुद्धि के आधार पर हमें इन दोनों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है तथा हम इनका स्वतन्त्र और प्रभावपूर्ण उपयोग करने लगते हैं, यह प्रभुत्व एवं उपयोग ही हठयोग के उच्चतर लक्ष्यों के लिये नींव का काम करते हैं।

परन्तु ये सब प्राप्तियां अभी केवल आधार ही हैं, अर्थात् ये हठयोग के द्वारा प्रयुक्त दो यन्त्रों की बाह्य और आन्तर भौतिक अवस्थाएं मात्र हैं। पर अधिक महत्त्वपूर्ण विषय तो अभी रहता ही है, वह है उन आन्तरात्मिक एवं आध्यात्मिक परिणामों का विषय जिनके लिये इन अवस्थाओं का उपयोग किया जा सकता है। यह उपयोग शरीर और मन-आत्मा के तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीर के उस सम्बन्ध पर निर्भर करता है जिसपर हठयोग की प्रणाली आधारित है। यहां यह राजयोग की सीध में पहुंच जाती है, और एक ऐसा बिन्दु आ जाता है जिसपर पहुंचकर एक से दूसरी प्रणाली में पग रखा जा सकता है।

अध्याय २८

राजयोग

जैसे हठयोगी के लिये योग के सब बन्द द्वारों की कुंजी शरीर और प्राण है, वैसे ही राजयोग में उन द्वारों की कुंजी मन है। पर क्योंकि दोनों में—हठयोग में पूर्ण रूप से और राजयोग की प्रचलित प्रणाली में आंशिक रूप से—यह माना जाता है कि मन शरीर और प्राण पर अवलम्बित है, अतएव, दोनों ही प्रणालियों में आसन और प्राणायाम का अनुष्ठान समाविष्ट है; पर एक में ये सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार किये रहते हैं, पर दूसरी में इनमें से प्रत्येक केवल एक ही सरल प्रक्रियातक सीमित रहता है और दोनों का सम्मिलित प्रयोजन एक सीमित और मध्यवर्ती कार्य को ही पूरा करना होता है। हम सहज ही देख सकते हैं कि मनुष्य यद्यपि अपनी सत्ता में एक देहधारी आत्मा है, फिर भी, अपनी पार्थिव प्रकृति में वह कितने बड़े परिमाण में एक देहप्रधान एवं प्राणमय सत्ता है और हम यह भी देख सकते हैं कि कैसे उसकी मानसिक क्रियाएं, कम-से-कम प्रथम दृष्टि में, लगभग पूर्ण रूप से उसके शरीर और स्नायु-मण्डल के अधीन प्रतीत होती हैं। आधुनिक पदार्थविज्ञान और मनोविज्ञान भी कुछ समयतक ऐसा मानते रहे हैं कि यह अधीनता वास्तव में एक प्रकार की अभिन्नता है; उन्होंने यह सिद्धान्त स्थापित करने का यत्न किया है कि मन या आत्मा जैसी किसी पृथक् (शरीर से भिन्न) सत्ता का यहां अस्तित्व ही नहीं है और मन की सभी क्रियाएं वस्तुतः शरीर के ही व्यापार हैं। इस अयुक्तियुक्त सिद्धान्त को यदि एक ओर छोड़ दिया जाये तो भी वैसे मन की इस अधीनता का वर्णन इतना बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है कि इसे एक सर्वथा अपरिहार्य अवस्था ही मान लिया गया है और मन के द्वारा प्राण तथा शरीर के व्यापारों के नियंत्रण को या इनसे अपने को अलग कर लेने की उसकी शक्ति को या ऐसी किसी भी चीज को चिरकालतक एक भूल, मन की एक विकृत अवस्था या इन्द्रजाल कहकर वर्णित किया गया है। अतएव, मन की अधीनता एक चरम-परम सत्य बनकर रही है, और पदार्थविज्ञान को इस अधीनता की असली कुंजी नहीं मिलती, न वह इसकी खोज ही करता है और अतएव, वह हमारे लिये मुक्ति और प्रभुत्व का रहस्य भी नहीं उपलब्ध कर सकता।

योग का मनोभौतिक विज्ञान यह भूल नहीं करता। वह कुंजी की खोज करता है, उसे पा लेता है और हमारे लिये मुक्ति साधित कर सकता है; क्योंकि वह इस बात को ध्यान में रखता है कि हमारी स्थूल सत्ता के पीछे एक चैत्य या मानसिक शरीर है और हमारा यह भौतिक शरीर स्थूल आकार में उसकी एक प्रकार की प्रतिकृति है, और उस मानसिक शरीर के द्वारा वह भौतिक शरीर के उन रहस्यों को

खोज सकता है जो निरे भौतिक अनुसन्धान के द्वारा प्रकट नहीं होते। इस मानसिक या चैत्य शरीर को आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी धारण किये रहती है, इसमें एक प्रकार की सूक्ष्म प्राणशक्ति भी है जो इसके अपने सूक्ष्म स्वभाव और उपादान के अनुरूप है,—क्योंकि जहां कहीं भी किसी प्रकार का जीवन है, वहां प्राणशक्ति का तथा उसके कार्य के आधारभूत उपादान का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है,—और यह शक्ति नाड़ी-नामक अनेक प्रणालिकाओं के एक संस्थान में से संचालित की जाती है जो चैत्य शरीर का सूक्ष्म स्नायु-संघटन है,—ये स्नायु-प्रणालिकाएं छः (या वस्तुतः सात) केंद्रों के रूप में पुंजीभूत हैं जिन्हें पारिभाषिक रूप में पद्म या चक्र कहा जाता है और ये एक चढ़ती हुई शृंखला में उस शिखर तक ऊंची उठी हुई हैं जहां सहस्रदल पद्म है; इस पद्म से ही समस्त मानसिक एवं प्राणिक शक्ति प्रवाहित होती है। इन पद्मों में से प्रत्येक मनोवैज्ञानिक शक्तियों, सामर्थ्यों और क्रियाओं-सम्बन्धी अपनी विशिष्ट प्रणाली का केंद्र एवं उन शक्तियों आदि का कोषागार है,—प्रत्येक प्रणाली हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ता के किसी स्तर से सम्बन्ध रखती है,—और ये शक्तियां एवं क्रियाएं आदि नाड़ियों में से संचरित होती हुई प्राणशक्तियों की धारा से निःसृत होती हैं और उसीमें लौट जाती हैं।

चैत्य शरीर की यह व्यवस्था भौतिक शरीर के अन्दर इस रूप में प्रकट होती है कि उसमें एक दण्डाकार मेरुस्तम्भ है तथा स्नायुग्रन्थियों के कुछ चक्राकार केंद्र हैं; ये केंद्र या चक्र मेरुस्तम्भ के मूल से, जिसके साथ सबसे निचला चक्र जुड़ा हुआ है, उठते हुए मस्तिष्क तक पहुंचते हैं और कपाल के शीर्षबिन्दु पर स्थित ब्रह्मरन्ध्र में अपने शिखर पर पहुंच जाते हैं। परन्तु देहप्रधान मनुष्य में ये चक्र या पद्म बन्द हैं या फिर केवल कुछ-कुछ ही खुले हैं। परिणामस्वरूप, उसमें केवल ऐसी ही शक्तियां और वे भी उतनी ही मात्रा में क्रियाशील हैं जैसी और जितनी उसके साधारण भौतिक जीवन के लिये पर्याप्त हैं, और मन तथा अन्तरात्मा का भी उतना ही अंश उसके अन्दर अपनी क्रीड़ा कर रहा है जितना इस जीवन की आवश्यकताओं के साथ मेल खा सकता है। यंत्रीय दृष्टिकोण से देखा जाये तो यही असली कारण है कि देहधारी आत्मा शारीरिक और प्राणिक जीवन पर इतनी निर्भर दिखायी देती है,—यद्यपि यह निर्भरता उतनी पूर्ण किंवा उतनी वास्तविक नहीं है जितनी कि दिखायी देती है। स्थूल शरीर और जीवन में आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति कार्यरत नहीं है, मन की गुप्त शक्तियां उसमें जागरित नहीं हैं, शरीर और प्राण की शक्तियों का ही प्रभुत्व है। परन्तु इस बीच परमोच्च शक्ति वहां प्रसुप्त रूप में बराबर ही विद्यमान रहती है; ऐसा कहा जाता है कि यह सबसे नीचे के चक्र अर्थात् मूलाधार में एक सर्प की भांति कुंडल मारे सोयी पड़ी है,—अतएव, इसे कुण्डलिनी शक्ति के नाम से पुकारा जाता है। जब प्राणायाम के द्वारा शरीर के अन्दर प्राण की ऊपर और नीचे की धाराओं का भेद मिट जाता है तो यह

कुण्डलिनी चौंककर जाग उठती है, यह अपने कुण्डलों को खोलती है और एक अग्निमय सर्प की भांति ऊपर उठना आरम्भ करती है, जैसे-जैसे यह आरोहण करती है, प्रत्येक पद्म या चक्र को खोलती जाती है, यहांतक कि अन्त में शक्ति ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचकर एकत्व की गहरी समाधि में पुरुष से मिलन लाभ करती है।

यदि एक कम प्रतीकात्मक, अधिक दार्शनिक पर शायद कम गहन भाषा में कहें तो इसका अर्थ यह है कि हमारी सत्ता की असली शक्ति हमारे प्राण-संस्थान की गहराइयों में प्रसुप्त और निश्चेतन पड़ी हुई है और प्राणायाम के अभ्यास से वह जाग उठती है। विकसित होती हुई वह हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ता के सभी केंद्रों को खोल डालती है, उन केंद्रों में एक ऐसी सत्ता की शक्तियां एवं चेतना निवास करती हैं जो आज शायद हमारी प्रच्छन्न सत्ता कहलायेगी; अतएव, जैसे-जैसे शक्ति और चेतना का प्रत्येक केंद्र खुलता है, हम क्रमिक मनोवैज्ञानिक स्तरों में प्रवेश लाभ करते जाते हैं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सत्ता के लोकों या उसकी विराट् भूमिकाओं के साथ आदान-प्रदान स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं। चैत्य सत्ता की वे सब शक्तियां जो देहप्रधान मनुष्य के लिये तो असामान्य हैं पर अन्तरात्मा के लिये स्वाभाविक हैं हमारे अन्दर विकसित हो जाती हैं। अन्त में, आरोहण के शिखर पर, यह ऊपर उठती और विकसित होती हुई शक्ति एक अतिचेतन सत्ता के साथ मिलन लाभ करती है जो हमारी भौतिक और मानसिक सत्ता के पीछे एवं ऊपर गुप्त रूप में अवस्थित है; यह मिलन हमें एकत्व की गहरी समाधि में पहुंचा देता है जिसमें हमारी जाग्रत् चेतना अतिचेतन में लीन हो जाती है। इस प्रकार प्राणायाम के पूर्ण और अनवरत अभ्यास के द्वारा हठयोगी अपने ही ढंग से आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक परिणामों को प्राप्त करता है, अन्य योगों में इन परिणामों की प्राप्ति के लिये अधिक प्रत्यक्षतः आन्तरात्मिक एवं आध्यात्मिक विधियों के द्वारा यत्न किया जाता है। इसके साथ वह केवल एक ही मानसिक साधन को अपने योगाभ्यास में सम्मिलित करता है; वह है किसी विशेष मंत्र, पवित्र शब्द, नाम या गुह्य सूत्र का उपयोग। योग की भारतीय प्रणालियों में उसका अत्यधिक महत्त्व है और वह उन सबमें समान रूप से पाया जाता है। मंत्र-शक्ति, षट्चक्र और कुण्डलिनी शक्ति का यह रहस्य समस्त जटिल मनोभौतिक विद्या एवं साधना का एक प्रधान सत्य है; तान्त्रिक दर्शन हमें विद्या एवं साधना का एक युक्तिपूर्ण विवरण और इसकी विधियों का एक पूर्णतम सारसंग्रह देने का दावा करता है। भारत के वे सभी धर्म और साधनाभ्यास जो मनोभौतिक पद्धति का व्यापक रूप से प्रयोग करते हैं, अपनी साधनाओं के लिये न्यूनाधिक इसीपर निर्भर करते हैं।

राजयोग भी प्राणायाम का उपयोग करता है और उन्हीं प्रधान मानसिक उद्देश्यों के लिये करता है जिनके लिये कि हठयोग; परन्तु अपने सम्पूर्ण सिद्धान्त में एक

मानसिक पद्धति होने के कारण, यह उसे अपने क्रियात्मक अभ्यासों की शृंखला में केवल एक अवस्था के रूप में तथा एक अत्यन्त परिमित सीमा तक तीन या चार व्यापक प्रयोजनों के लिये ही प्रयुक्त करता है। यह आसन और प्राणायाम से आरम्भ नहीं करता, बल्कि पहले मन की नैतिक शुद्धि के लिये आग्रह करता है। यह प्रारम्भिक साधन परम महत्त्वशाली है, इसके बिना शेष राजयोग का मार्ग कष्टों और बाधाओं से संकुल और अप्रत्याशित मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक संकटों से पूर्ण हो सकता है।[1] उसकी प्रचलित प्रणाली में यह नैतिक शुद्धि पांच **'यम'** और पांच **'नियम'** इन दो वर्गों में विभक्त है। इनमें से यम व्यवहारसम्बन्धी नैतिक आत्म-संयम के नियम हैं, जैसे, सत्य-भाषण करना, पीड़ा पहुंचाने या हिंसा या चोरी करने से विरत होना (सत्य, अहिंसा, अस्तेय) आदि; पर वास्तव में इन्हें नैतिक आत्म-संयम एवं पवित्रता की सामान्य आवश्यकता के कुछ मुख्य लक्षणमात्र समझना होगा। अधिक व्यापक रूप में, यम का अभिप्राय है ऐसा कोई भी आत्म-अनुशासन जिसके द्वारा मनुष्य के राजसिक अहंभाव और इसकी उत्तेजनाओं एवं कामनाओं को विजित तथा शान्त करके पूर्ण रूप से मिटा दिया जाये। इसका उद्देश्य नैतिक शान्ति अर्थात् आवेशशून्य स्थिति को उत्पन्न करना है और इस प्रकार राजसिक मनुष्य में अहंभाव की मृत्यु के लिये तैयारी करना है। इसी प्रकार 'नियम' का अभिप्राय कुछ-एक नियमित अनुष्ठानों के द्वारा मन को अनुशासन में लाना है जिनमें से सर्वोच्च है भागवत सत्ता का ध्यान करना (ईश्वरप्रणिधान)। उनका उद्देश्य सात्त्विक शान्ति और पवित्रता को जन्म देना तथा एकाग्रता के लिये तैयारी करना है जिसकी नींव पर शेष सारे योग का सुरक्षित रूप से अनुष्ठान किया जा सकता है।

इसी अवस्था में, जब कि यह नींव सुस्थिर हो जाती है, आसन और प्राणायाम के अभ्यास का समय आता है और ये अपने पूर्ण फलों को भी तभी उत्पन्न कर सकते हैं। मन और नैतिक सत्ता का नियन्त्रण अपने-आपमें हमारी साधारण चेतना को केवल यथोचित प्रारम्भिक अवस्था में ले आता है; यह उच्चतर चैत्य पुरुष के उस विकास या आविर्भाव को सम्पन्न नहीं कर सकता जो कि योग के महत्तर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। इस आविर्भाव को सम्पन्न करने के लिये प्राण और स्थूल शरीर के मानसिक सत्ता के साथ वर्तमान गठबन्धन को ढीला करना होगा और महत्तर चैत्य पुरुष के द्वारा अतिचेतन पुरुष के साथ मिलन की ओर आरोहण करने के लिये मार्ग प्रशस्त करना होगा। यह कार्य प्राणायाम के द्वारा

[1] आधुनिक भारत में, जो लोग योग के प्रति आकृष्ट होते हैं पर इसकी क्रिया-प्रक्रियाओं का ज्ञान पुस्तकों से या इस विषय की केवल थोड़ी-सी जानकारी रखनेवाले व्यक्तियों से अर्जित करते हैं, वे प्रायः सीधे ही राजयोग के प्राणायाम की प्रक्रियाओं में कूद पड़ते हैं, किन्तु इसके परिणाम बहुधा अनिष्टकारी ही होते हैं। अत्यन्त शक्तिशाली आत्मावाले व्यक्ति ही इस मार्ग में भूलें करने के दुष्परिणाम को सह सकते हैं।

किया जा सकता है। राजयोग आसन की एक सहज-से-सहज एवं अत्यन्त स्वाभाविक स्थिति का अर्थात् एक ऐसी स्थिति का ही उपयोग करता है जिसे शरीर बैठने पर एवं अपने-आपको समेटने पर स्वभावतः ही ग्रहण करता है, पर पीठ और सिर बिल्कुल तने हुए एवं सीधी रेखा में रहते हैं, जिससे कि सुषुम्णा नाड़ी जरा भी न झुकी रहे। इस पिछले नियम का उद्देश्य स्पष्टतः ही इस सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध है कि हमारे स्नायुमण्डल में छः चक्र हैं तथा मूलाधार और ब्रह्मरन्ध्र के बीच प्राणशक्ति का संचार होता रहता है। राजयोग का प्राणायाम स्नायुमण्डल को शुद्ध और निर्मल करता है; यह हमें ऐसी सामर्थ्य प्रदान करता है कि हम प्राणशक्ति को सारे शरीर में समान रूप से संचारित कर सकते हैं, साथ ही, आवश्यकतानुसार हम इसे जिधर भी संचालित करना चाहें कर सकते हैं और इस प्रकार शरीर और प्राण-सत्ता की पूर्णतः स्वस्थ एवं निर्दोष स्थिति को सुरक्षित रख सकते हैं; यह हमें शरीर में प्राणशक्ति की पांचों अभ्यस्त क्रियाओं के ऊपर नियन्त्रण प्रदान करता है और साथ ही उन अभ्यासगत विभागों को भी तोड़ गिराता है जिनके कारण सामान्य जीवन में हमारे लिये प्राणशक्ति की केवल साधारण यान्त्रिक प्रक्रियाएं करना ही सम्भव होता है। यह मनोभौतिक संस्थान के छः केन्द्रों को पूर्ण रूप से खोल देता है और प्रत्येक ऊर्ध्वोन्मूल स्तर पर जाग्रत् चेतना में जागरित शक्ति के प्रभाव तथा अनावृत पुरुष की ज्योति को ले आता है। मन्त्र के प्रयोग के साथ मिलकर तो यह शरीर के अन्दर दिव्य शक्ति को लाता है और समाधि की उस एकाग्रता के लिये जो राजयोग-प्रणाली का मुकुट है, हमें तैयार करता तथा सुविधा प्रदान करता है।

राजयोग की एकाग्रता चार क्रमिक अवस्थाओं में विभक्त है, इनमें से आरम्भिक अवस्था है मन और इन्द्रियों दोनों को बाह्य वस्तुओं से पीछे खींच लेना (प्रत्याहार); इससे अगली है—अन्य सब विचारों और मानसिक क्रियाओं को त्यागकर चित्त को एकाग्रता के एक ही विषय पर स्थिर करना (धारणा); इसके बाद है—मन का इस विषय में सतत निमग्न रहना (ध्यान); अन्तिम है—चेतना का पूर्ण रूप से अन्दर चले जाना जिसके द्वारा यह समाधि के एकत्व में पहुंचकर समस्त बाह्य मानसिक क्रिया से बेसुध हो जाती है। इस मानसिक साधन का वास्तविक लक्ष्य मन को बाह्य तथा मानसिक जगत् से हटाकर भगवान् के साथ मिलन की अवस्था में ले जाना है। अतएव, पहली तीन अवस्थाओं में किसी मानसिक साधन या अवलम्बन का प्रयोग करना होता है जिसके द्वारा, एक विषय से दूसरे की ओर इधर-उधर दौड़ते रहने का अभ्यासी मन, एक ही विषय पर स्थिर हो जाये, और वह कोई ऐसा विषय होना चाहिये जो भगवान् के विचार को निरूपित करे। साधारणतया वह एक नाम या रूप या मन्त्र होता है जिसके द्वारा मन को ईश्वर के अनन्य ज्ञान या आराधन में स्थिर किया जा सकता है। इस प्रकार अपने-आपको विचार पर एकाग्र करके मन विचार से उसके सत्तत्त्व में प्रवेश करता

है, जिसमें डूबकर वह निश्चल-नीरव, निमग्न और तद्रूप हो जाता है। यह परम्परागत विधि है। किन्तु कुछ अन्य विधियां भी हैं जो समान रूप से राजयोग के ढंग की हैं, क्योंकि वे मानसिक एवं चैत्य सत्ता को कुंजी के रूप में प्रयोग में लाती हैं। उनमें से कुछ का उद्देश्य मन को तुरन्त निमग्न करना न होकर उसे स्तब्ध करना होता है, इस प्रकार की एक साधन-पद्धति वह है जिसके द्वारा मन का केवल निरीक्षण किया जाता है और निरुद्देश्य दौड़धूप करते हुए बेसिर-पैर के विचारों में भटकते रहने की इसकी आदत को समाप्त होने दिया जाता है, इस विधि में मन यह अनुभव करता है कि इस दौड़धूप के लिये उसे जो अनुमति मिली हुई थी वह सब वापिस ले ली गयी है तथा इसका अब न कोई उद्देश्य रहा है न रस; इस प्रकार की एक और पद्धति भी है जो अधिक आयासपूर्ण एवं शीघ्र फल देनेवाली है। उसके द्वारा समस्त बहिर्मुख विचार को बहिष्कृत करके मन को अपने ही अन्दर डूबने के लिये बाध्य किया जाता है। उस स्थिति में अपनी पूर्ण निस्तब्धता में वह शुद्ध सत्स्वरूप 'पुरुष' पर ही विचार कर सकता है, या फिर, उसकी अतिचेतन सत्ता में प्रविष्ट हो जा सकता है। विधि में भेद है, लक्ष्य और परिणाम एक ही हैं।

कोई यह कल्पना कर सकता है कि यहां राजयोग का सम्पूर्ण कार्य एवं लक्ष्य पूरा हो जाता है। क्योंकि, इसका कार्य चेतना की तरंगों अर्थात् उसकी बहुविध क्रियाओं, चित्तवृत्ति को शान्त करना है, इसके लिये पहले तो यह निरन्तर ही मलिन राजसिक क्रियाओं के स्थान पर शान्त एवं आलोकमय सात्त्विक क्रियाओं को प्रतिष्ठित करता है और उसके बाद सबकी सब क्रियाओं को शान्त कर देता है। इसका लक्ष्य भगवान् के साथ नीरव आत्ममिलन एवं एकत्व लाभ करना है। पर वास्तव में हम देखते हैं कि राजयोग की प्रणाली में अन्य लक्ष्य भी सम्मिलित हैं,—जैसे गुह्य शक्तियों या सिद्धियों का अभ्यास और प्रयोग; उनमें से कुछ एक तो इसके मुख्य उद्देश्य से असम्बद्ध और यहांतक कि असंगत प्रतीत होते हैं। निःसन्देह, उन शक्तियों या सिद्धियों की बहुधा ही यह कहकर निन्दा की जाती है कि ये ऐसे संकट और व्याक्षेप हैं जो योगी को उसके भगवन्मलिन-रूपी एकमात्र उचित लक्ष्य से दूर ले जाते हैं। अतएव, स्वभावतः ही ऐसा प्रतीत होगा कि मानो जबतक हम मार्ग में हैं तबतक तो इन्हें त्याग ही देना होगा; और जब एक बार लक्ष्य की प्राप्ति हो जायेगी तो ऐसा लगेगा कि अब ये तुच्छ और निरर्थक हैं। पर राजयोग एक चैत्य विज्ञान है और चेतना की सभी उच्चतर भूमिकाओं तथा उनकी शक्तियों की प्राप्ति इसके अन्दर समाविष्ट हो जाती है, क्योंकि उन भूमिकाओं एवं शक्तियों के द्वारा ही मनोमय पुरुष अतिचेतन सत्ता की ओर ऊपर उठता है तथा परमोच्च पुरुष के साथ मिलन लाभ करने की अपनी चरम-परम शक्यता को चरितार्थ करता है। अपि च, जबतक योगी शरीर में रहता है तबतक वह सदा मानसिक रूप से निष्क्रिय एवं समाधि-मग्न ही नहीं रहता, और उसकी सत्ता के उच्चतर स्तरों पर उसे जो शक्तियां और अवस्थाएं प्राप्त हो

सकती हैं उनका वर्णन करना चैत्य-विज्ञान की पूर्णता के लिये आवश्यक है।

ये शक्तियां और अनुभव सर्वप्रथम तो इस भौतिक स्तर से, जिसमें हम रहते हैं, ऊपर अवस्थित प्राणिक और मानसिक स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं और सूक्ष्म शरीर में ये अन्तरात्मा के लिये स्वाभाविक ही हैं; जैसे-जैसे आत्मा की स्थूल शरीर पर निर्भरता कम होती जाती है, वैसे-वैसे ये असामान्य क्रियाएं सम्भव होती जाती हैं और यहांतक कि हमारे बिना चाहे भी स्वयमेव व्यक्त होती रहती हैं। ये क्रियाएं किंवा शक्तियां और अनुभव चैत्य विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित प्रक्रियाओं से प्राप्त और स्थिर किये जा सकते हैं और तब इनका प्रयोग करना न करना हमारे संकल्प पर निर्भर करता है; अथवा यह भी हो सकता है कि इन्हें स्वयमेव विकसित होने दिया जाये और इनका प्रयोग तभी किया जाये जब कि ये स्वयमेव प्राप्त हों, या जब अन्तरस्थ भगवान् इनके प्रयोग के लिये हमें प्रेरित करें; या फिर, इस प्रकार स्वाभाविक रूप से विकसित और सक्रिय होने पर भी, इन्हें योग के एकमात्र परम ध्येय के प्रति एकचित्त निष्ठा रखते हुए त्याग दिया जा सकता है। दूसरे, कुछ ऐसी पूर्णतर एवं महत्तर शक्तियां भी हैं जो अतिमानसिक स्तरों से सम्बन्ध रखती हैं और भगवान् की अतिमानसिक-प्रज्ञानमय आध्यात्मिक सत्ता की वास्तविक शक्तियां हैं। इन्हें व्यक्तिगत प्रयत्न के द्वारा, सुरक्षित या सम्पूर्ण रूप से, कदापि नहीं प्राप्त किया जा सकता, बल्कि ये हमें केवल ऊपर से ही प्राप्त हो सकती हैं, अथवा यदि व्यक्ति मन से ऊपर आरोहण करके आध्यात्मिक सत्ता, शक्ति, चेतना और विचारणा में निवास करने लगता है तथा जब वह ऐसा करने लगता है तभी उसके लिये ये शक्तियां स्वाभाविक हो सकती हैं। यदि वह तब भी जगत्-सत्ता के अन्दर कर्म करना जारी रखता है तो ये शक्तियां तब असामान्य और श्रम-प्राप्त सिद्धियां न रहकर उसके कर्म की वास्तविक प्रकृति एवं प्रणालीमात्र बन जाती हैं।

कुल मिलाकर, पूर्णयोग के लिये राजयोग और हठयोग की विशिष्ट विधियां प्रगति की किन्हीं विशेष अवस्थाओं में समय-समय पर उपयोगी हो सकती हैं, पर वे अनिवार्य नहीं हैं। यह ठीक है कि उनके प्रधान लक्ष्यों को योग के सर्वांगीण स्वरूप में सम्मिलित करना होगा; पर इन्हें अन्य साधनों से भी प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि, पूर्णयोग की विधियां मुख्यतः आध्यात्मिक होनी चाहियें, और भौतिक विधियों अथवा नियत चैत्य या चैत्य-भौतिक प्रक्रियाओं पर बड़े परिमाण में निर्भर रहने का अर्थ उच्चतर क्रिया का स्थान निम्नतर क्रिया को देना होगा। इस प्रश्न पर हम एक प्रसंग में आगे चलकर विचार करेंगे, जब हम विधियों के समन्वय के अन्तिम सूत्र पर आयेंगे। यहां हम विभिन्न योगों का जो विवेचन कर रहे हैं उसका उद्देश्य हमें इस समन्वय की ओर ले जाना ही है।

भाग ३

भगवत्प्रेम का योग

अध्याय १

प्रेम और त्रिमार्ग

मानव-प्रकृति और मानव-जीवन में इच्छा, ज्ञान और प्रेम तीन दिव्य शक्तियां हैं। ये उन तीन मार्गों की सूचक हैं जिनसे मानव-आत्मा भगवान् की ओर आरोहण करती है। अतएव, जैसा कि हम देख चुके हैं, इन तीनों की सम्मिलित परिपूर्णता, इन तीनों में मनुष्य का भगवान् से मिलन ही पूर्णयोग की नींव है।

कर्म जीवन की प्रमुख शक्ति है। प्रकृति पहले शक्ति और उसके कर्मों को हाथ में लेती है जो मनुष्य में सचेतन होकर इच्छाशक्ति और उसकी सफलताओं का रूप धारण कर लेते हैं; इसीलिये हम देखते हैं कि अपने कर्म को भगवान् की ओर मोड़ देने पर मनुष्य का जीवन सुचारु और सुनिश्चित रूप से दिव्य बनने लगता है। यह प्रथम प्रवेश का द्वार है, दीक्षा का श्रीगणेश है। जब उसकी इच्छा भगवान् की इच्छा के साथ एक हो जाती है और सत्ता का सम्पूर्ण कर्म भगवान् से प्रवाहित होता और भगवान् को लक्ष्य में रखकर किया जाता है, तब 'कर्मों में मिलन' पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जाता है। परन्तु कर्म ज्ञान में ही चरितार्थ होते हैं; गीता कहती है कि सारे-के-सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं, **सर्वं कर्माखिलं ज्ञाने परिसमाप्यते**। इच्छाशक्ति और कर्मों में मिलन होने पर हम उन सर्वव्यापक चिन्मय पुरुष के साथ एकमय हो जाते हैं जिनसे हमारी सम्पूर्ण इच्छाशक्ति और कर्म उद्‌भूत होते हैं और अपना बल आहरण करते हैं और जिनमें वे अपनी शक्तियों का चक्र पूरा करते हैं। इस मिलन का मुकुट है प्रेम; कारण, जिन परम पुरुष में हम रहते-सहते, चलते-फिरते और काम-काज करते हैं, जिनके आश्रय पर हमारी सत्ता स्थित है, जिनके लिये ही हम अन्त में काम करना और अस्तित्व में रहना सीखते हैं, उनके साथ सचेतन मिलन से उत्पन्न आनन्द को ही प्रेम कहते हैं। यही है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का भगवान् में संगम। जब हम कर्मों को अपने प्रवेशपथ और अपने मिलन-मार्ग के रूप में अपनाकर अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं।

भगवान् में नित्य निवास की नींव है ज्ञान। कारण, समस्त जीवन और अस्तित्व की नींव है चेतना, और ज्ञान चेतना की एक क्रिया का ही नाम है। ज्ञान वह प्रकाश है जिससे चेतना अपने-आपको तथा अपने तथ्यों को जानती है, वह शक्ति है जिससे हम, कर्म से प्रारम्भ करके, विचार और क्रिया के आन्तरिक परिणामों को अपनी चेतन सत्ता के दृढ़ विकास के भीतर धारण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार अन्त में हमारी सत्ता, मिलन के द्वारा, दिव्य सत्ता की अनन्तता में अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। भगवान् हमें अनेक रूपों में दर्शन देते हैं और उनमें से

प्रत्येक की कुंजी है ज्ञान; फलतः, ज्ञान से हम अनन्त एवं भगवान् में सर्वभाव से (**सर्वभावेन**)[1] प्रवेश करते तथा उन्हें अधिकृत करते हैं, उन्हें सर्वभाव से अपने अन्दर ग्रहण करते तथा उनसे अधिकृत होते हैं।

ज्ञान के बिना हम, प्रकृति की शक्ति की अन्धता में ग्रस्त होकर, अन्धभाव से भगवान् में निवास करते हैं। प्रकृति की शक्ति अपने कामों में व्यस्त है, पर अपने मूलस्रोत और स्वामी को भूली हुई है। इस प्रकार हम भगवान् के अन्दर अदिव्य ढंग से वास करने के कारण अपनी सत्ता के सच्चे एवं पूर्ण आनन्द से वंचित रहते हैं। ज्ञान से ज्ञेय के साथ सचेतन एकत्व प्राप्त होता है,—क्योंकि पूर्ण और सच्चा ज्ञान तादात्म्य के आश्रय पर ही स्थित रह सकता है; ऐसे ज्ञान से भेदभाव दूर होता है और हमारी सारी संकीर्णता, विषमता, दुर्बलता तथा तृष्णा समूल नष्ट हो जाती है। परन्तु ज्ञान कर्मों के बिना पूर्ण नहीं होता; क्योंकि केवल पुरुष या उसकी आत्म-सचेतन प्रशान्त सत्ता ईश्वर नहीं है, बल्कि पुरुष में निहित परम इच्छाशक्ति भी ईश्वर ही है; अतः यदि कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं तो ज्ञान भी कर्मों में चरितार्थ होता है। यहां भी, प्रेम ज्ञान का मुकुट है; क्योंकि प्रेम है मिलन का आनन्द; एकत्व को अपने आनन्द का अशेष ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये मिलन के हर्ष से सचेतन होना होगा। अवश्य ही पूर्ण ज्ञान का फल होता है पूर्ण प्रेम, सर्वांग ज्ञान का फल होता है प्रेम का परिपूर्ण एवं बहुल ऐश्वर्य। गीता कहती है, "जो मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है—केवल इस रूप में नहीं कि मैं अक्षर एकत्व हूं, वरन् भगवान् की अनेकात्मक गति के रूप में (क्षर रूप में) भी और उस रूप में भी जो क्षर-अक्षर दोनों से उत्तम है, जिसमें दोनों दिव्य ढंग से धारित है,—वह पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण प्रेम के द्वारा सर्वात्मना मुझे ही खोजता है, वह सर्ववित् सर्वभाव से मुझे ही भजता है।"[2] यह है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का भगवान् में संगम, जब हम ज्ञानमार्ग से अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं।

प्रेम समस्त सत्ता का किरीट और उसकी परिपूर्णता का पथ है; इसीसे सत्ता चरम आत्म-अन्वेषण की समस्त तीव्रता और सम्पूर्ण सम्पदा तथा आनन्दोल्लास की ओर आरोहण करती है। यद्यपि परम सत् का साक्षात् स्वरूप है चित्, और चेतना से ही, अर्थात् एकात्मता में कृतार्थ होनेवाले पूर्ण ज्ञान से ही, हम उसके साथ एकाकार होते हैं, तथापि चेतना का स्वरूप ही है आनन्द, और आनन्द के शिखर

[1] गीता १५-१९

[2] **यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।**
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥ गीता १५. १८-१९

की कुंजी एवं रहस्य है प्रेम। इच्छा चेतन सत्ता की एक ऐसी शक्ति है जिससे यह अपनेको चरितार्थ करती है और इच्छाशक्ति में एकत्व स्थापित करके ही हम परम सत्ता के साथ उसकी स्वाभाविक अनन्त शक्ति में एकाकार होते हैं। ऐसा होते हुए भी, उस शक्ति के सभी कर्म आनन्द से उत्पन्न होते एवं आनन्द में निवास करते हैं और आनन्द ही है उनका लक्ष्य एवं परिणति; शुद्ध परम सत् से और उसकी चेतन-शक्ति द्वारा अभिव्यक्त सब रूपों से प्रेम करना ही आनन्द की पूर्ण विशालता का पथ है। प्रेम है दिव्य आत्म-आनन्द का वेग और मद और प्रेम के बिना हम सत् की अनन्तता की मुग्ध शान्ति, आनन्द की लवलीन नीरवता भले ही प्राप्त कर लें पर उसकी ऐश्वर्य-सम्पदा की अथाह गहराईतक नहीं पहुंच सकते। प्रेम हमें विरह के दुःख से ले चलकर पूर्ण मिलन के आनन्दतक पहुंचाता है, पर साथ ही हम मिलन की क्रिया के उस हर्ष को भी नहीं खोते जो आत्मा की सबसे बड़ी खोज है और जिसके लिये संसार का जीवन एक लंबी तैयारी है। इसलिये प्रेममार्ग से भगवान्तक पहुंचना अपने-आपको यावत्सम्भव सबसे महान् आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिये तैयार करना है।

प्रेम कृतार्थ होकर ज्ञान का बहिष्कार नहीं कर डालता, बल्कि स्वयं ज्ञान को उत्पन्न करता है; ज्ञान जितना ही अधिक पूर्ण होता है, प्रेम की सम्भावना उतनी ही अधिक समृद्ध होती है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "भक्ति से मनुष्य मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है—मैं तत्त्वतः जितना और जो कुछ भी हूं—अपने सम्पूर्ण विस्तार और महानता में तथा अपनी सत्ता के तत्त्वों में मैं जो कुछ भी हूं उस सबको—मनुष्य भक्ति से अवश्यमेव जान लेता है, और मुझे तत्त्वतः जानकर वह मुझमें प्रवेश करता है।" ज्ञान के बिना प्रेम प्रगाढ़ और उत्कट, पर अन्ध, असंस्कृत और प्रायः भयानक, महाशक्तिसम्पन्न, पर साथ ही बाधक होता है; सीमित ज्ञान से युक्त प्रेम अपने उत्साह में और प्रायः अपने उत्साह के कारण ही संकीर्णता का दोषी बनता है; किन्तु जो प्रेम पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाता है उससे अनन्त एवं परम मिलन (**सायुज्य**) की प्राप्ति होती है। ऐसा प्रेम दिव्य कर्मों से असंगत नहीं, वरन् अपनेको हर्षपूर्वक उनमें नियोजित करता है; क्योंकि यह ईश्वर से प्रेम करता और उनकी सम्पूर्ण सत्ता में, सर्वभूत में, प्राणिमात्र में, उनसे एकमय होता है, तब संसार के लिये कर्म करना (**लोकसंग्रह**) अपने ईश्वर-प्रेम को अनेकानेक रूपों में अनुभव और चरितार्थ करना होता है। यह है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का ईश्वर में संगम; जब हम प्रेम को अपने पथ का दिव्य दूत बनाकर भक्तिमार्ग से अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं; इसका लक्ष्य यह है कि हम उस सर्व-प्रेमी की सत्ता का दिव्य परमानन्द प्राप्त कर उसमें अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से कृतार्थ करें और अनुभव करें कि यही हमारी परिपूर्णता का सुरक्षित लोक एवं आनन्दमय धाम है और यही है उसकी किरणों को विश्व में फैलाने का केन्द्र।

सो इन तीन शक्तियों का मिलन ही हमारी पूर्णता की नींव है, अतएव भगवान् के अन्दर अपनी सर्वांग आत्म-परिपूर्णता के अभिलाषी के लिये यह आवश्यक है कि इन तीनों मार्गों के अनुयायियों में जो परस्पर निन्दा की वृत्ति तथा भ्रान्त धारणा प्रायः ही पायी जाती है उनसे वह अलग रहे और यदि उसमें लेशभर भी ये चीजें हों तो इन्हें निकाल फेंके। बहुधा ही देखने में आता है कि ज्ञान-संप्रदाय के लोग भक्त के मार्ग के प्रति घृणा न करने पर भी इसे अपनी बहुत ऊंची चोटी पर से नीची दृष्टि से देखते हैं जैसे यह कोई निकृष्ट, अज्ञानपूर्ण वस्तु हो और केवल उन्हीं आत्माओं के योग्य हो जो सत्य की ऊंचाइयों के लिये अभी तैयार नहीं हैं। यह ठीक है कि ज्ञान के बिना भक्ति प्रायः ही अपक्व, असंस्कृत, अन्ध एवं भयावह वस्तु होती है जैसा कि धर्मों की त्रुटियों, अपराधों और मूर्खताओं से कितनी ही बार सिद्ध हो चुका है। परन्तु इसका कारण यह है कि उन धर्मों में भक्ति को अभी अपना मार्ग, अपना सच्चा तत्त्व उपलब्ध नहीं हुआ है, वास्तव में उसने अभी मार्ग पर पग भी नहीं धरा है, बल्कि वह इसे टोह-टटोल रही है, इसकी ओर ले जानेवाली किसी एक पगडंडी पर ही चल रही है; इस अवस्था में ज्ञान भी भक्ति की तरह अपूर्ण होता है,—वह कट्टरपन्थी, धार्मिक फूट डालनेवाला, असहिष्णु और किसी एक ही अनुदार तत्त्व की संकीर्णता में आबद्ध होता है, यहांतक कि उस तत्त्व को भी वह प्रायः अत्यन्त अपूर्ण रूप में ही ग्रहण करता है। जब भक्त उस शक्ति को भली-भांति जान जाये जो उसे ऊंचा उठावेगी तब समझो कि प्रेम सचमुच उसकी पकड़ में आ गया है, वह उसे अन्त में वैसे ही अमोघ रूप में शुद्ध तथा विशाल बनाता है जैसे ज्ञान बना सकता है; ये समकक्ष शक्तियां हैं, इनके एक ही लक्ष्य पर पहुंचने के उपाय भले ही भिन्न-भिन्न हों। भक्त के भावावेश को नीची दृष्टि से देखनेवाले दार्शनिक का अभिमान भी, अन्य सब प्रकार के अभिमान की तरह, उसकी अपनी प्रकृति की किसी विशेष त्रुटि से पैदा होता है; क्योंकि यदि बुद्धि को अति एकांगी रूप में विकसित किया जाये तो वह हृदय से मिलनेवाली देन को खो बैठती है। बुद्धि हृदय की अपेक्षा हर तरह से उत्कृष्ट ही हो ऐसी बात नहीं है; यदि यह उन द्वारों को अधिक शीघ्रता से खोल डालती है जिन्हें हृदय प्रायः व्यर्थ में ही टटोलता रहता है तो, यह भी प्रायः उन सत्यों से चूक जाती है जो हृदय के लिये अति निकट तथा सुग्राह्य हैं। विचार-पद्धति जब गंभीर होते-होते आध्यात्मिक अनुभूति में परिणत होती है तब यदि वह शीघ्र ही गगनचुम्बी चोटियों, शिखरों, व्योमव्यापी विशालताओंतक जा पहुंचती है तो भी, यह हृदय की सहायता के बिना दिव्य सत्ता तथा दिव्य आनन्द के अतिशय गंभीर एवं समृद्ध गुहा-गह्वरों तथा समुद्रीय गहराइयों की थाह नहीं ले सकती।

भक्तिमार्ग प्रायः ही अनिवार्य रूप से निम्न कोटि का माना जाता है। इसके कई कारण हैं। प्रथम, यह पूजा को लेकर चलता है और पूजा आध्यात्मिक अनुभव की

उस अवस्था से सम्बन्ध रखती है जहां मानव-आत्मा और भगवान् में पार्थक्य हो या उनकी एकता अभी अधूरी हो, दूसरे, इसका असली मूलतत्त्व ही है प्रेम और प्रेम सदैव दो का बोधक होता है, प्रेमी और प्रियतम का, अतएव द्वित्व का, परन्तु सबसे ऊंचा आध्यात्मिक अनुभव है एकत्व, और तीसरे, यह वैयक्तिक ईश्वर की खोज करता है जब कि सर्वोच्च तथा शाश्वत सत्य है निर्व्यक्तिक ईश्वर, भले इसे एकमात्र सद्वस्तु न भी माना जाये। परन्तु पूजा भक्तिमार्ग का प्रथम पगमात्र है। जहां बाह्य पूजा आन्तरिक आराधना में परिवर्तित हो जाती है वहीं से शुरू होती है सच्ची भक्ति; वह गभीर होकर प्रगाढ़ दिव्य प्रेम का रूप धारण करती है; उस प्रेम का फल होता है भगवान् के साथ हमारे सम्बन्धों की घनिष्ठता का हर्ष; घनिष्ठता का हर्ष मिलन के आनन्द में परिणत हो जाता है। ज्ञान की तरह प्रेम भी हमें सर्वोच्च एकत्वतक पहुंचाता है और यह उस एकत्व को उसकी यावत्सम्भव अधिक-से-अधिक गभीरता तथा तीव्रता प्रदान करता है। यह सच है कि प्रेम एकता में भिन्नता की ओर सहर्ष मुड़ता है, जिससे स्वयं एकत्व भी समृद्धतर और मधुरतर हो जाता है। परन्तु यहां हम कह सकते हैं कि हृदय विचार से अधिक ज्ञानी है, कम-से-कम उस विचार से अधिक ज्ञानी है जो भगवान्सम्बन्धी विरोधी विचारों पर दृष्टि गड़ाता है और उनमेंसे किसी एक पर ही अपना सारा ध्यान लगाता है और दूसरे को, जो इसके विपरीत प्रतीत होता है, पर असल में इसका पूरक तथा इसकी महत्तम परिपूर्णता का साधन होता है, बहिष्कृत कर देता है। यही मन की दुर्बलता है—यह अपने विचारों, अपनी भावात्मक और अभावात्मक धारणाओं से तथा भागवत सद्वस्तु के उन रूपों से जिन्हें यह देखता है, अपने-आपको सीमित कर लेता है, और उन्हें एक-दूसरे से भिड़ा देने की प्रवृत्ति इसमें अत्यधिक होती है।

मनन, विचार या वह दार्शनिक प्रवृत्ति जिससे मानसिक ज्ञान भगवान् के समीप पहुंचता है प्रायः ही अमूर्त्त को मूर्त से, उच्च और दूरस्थ तत्त्व को गभीर एवं समीपस्थ से बहुत अधिक महत्त्व देती है। एकमेव अपने ही भीतर जो आनन्द लेता है उसमें इसे अधिक महान् सत्य प्रतीत होता है, परन्तु एकमेव बहु में जो आनन्द लेता है या बहु एकमेव में जो आनन्द लेता है उसमें इसे हीनतर सत्य या यहांतक कि मिथ्यात्व का बोध होता है, निर्व्यक्तिक और निर्गुण में इसे अधिक महान् सत्य अनुभूत होता है और सव्यक्तिक तथा सगुण में हीनतर सत्य या मिथ्यात्व। परन्तु भगवान् हमारे विचार-द्वंद्वों से परे हैं, उनके रूपों में जो तात्त्विक विरोध हम खड़ा कर देते हैं उनसे भी वे अतीत हैं। हम देख चुके हैं कि वे अनन्य एकत्व से बद्ध एवं सीमित नहीं हैं; उनकी एकता अपनेको अनन्त विविधता में चरितार्थ करती है और उस विविधता के हर्ष की पूर्णतम कुंजी है प्रेम के पास, इसलिये वह एकता के हर्ष को भी नही गंवाता। सर्वोच्च ज्ञान और ज्ञानलब्ध सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभव को, बहु के साथ उनके नाना सम्बन्धों के बीच भी उनकी एकता वैसी ही

पूर्ण प्रतीत होती है जैसी उनके आत्म-मग्न आनन्द में। यदि विचार को निर्व्यक्तिक या निर्गुण विशालतर और उच्चतर सत्य मालूम होता है और सव्यक्तिक वा सगुण क्षुद्रतर अनुभव तो आत्मा उन दोनों को ही उसी एक सद्वस्तु के पक्ष समझती है जो अपनेको दोनों में रूपायित करती है, और यदि उस सद्वस्तु का एक इस प्रकार का ज्ञान है जिसे विचार अनन्त निर्व्यक्तिकता पर आग्रह करके प्राप्त करता है तो उसका एक ऐसा ज्ञान भी है जिसे प्रेम अनन्त सव्यक्तिकता पर आग्रह करके अधिगत करता है। इनमेंसे प्रत्येक के आध्यात्मिक अनुभव का यदि अन्ततक अनुसरण किया जाये तो वह एक ही चरम सत्य पर पहुंचता है। जैसा कि गीता हमें बताती है, ज्ञान की ही भांति भक्ति से भी हम पुरुषोत्तम के साथ सायुज्य लाभ करते हैं—पुरुषोत्तम अर्थात् वह परम पुरुष जो निर्व्यक्तिक को तथा असंख्य व्यक्तित्वों को, निर्गुण को तथा अनन्त गुणों को, शुद्ध सत्, चित् और आनन्द को तथा इनके सम्बन्धों की अपार क्रीड़ा को अपने अन्दर धारण किये है।

दूसरी ओर भक्त की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान की काष्ठसम शुष्कता से घृणा करने की होती है। यह सच भी है कि आध्यात्मिक अनुभूति के आह्लाद के बिना दर्शन अपने-आपमें एक ऐसी चीज है जो जितनी स्पष्ट है उतनी ही रूक्ष भी, और जो परितृप्ति हम चाहते हैं वह सारी-की-सारी यह हमें नहीं दे सकता; अपि च, इसका आध्यात्मिक अनुभव भी जबतक विचार का सहारा छोड़कर मन को अतिक्रांत नहीं कर जाता तबतक अमूर्त्त आनन्द में ही अत्यधिक निवास करता है; इसी प्रकार, जहां यह पहुंचता है वह वास्तव में शून्य नहीं है जैसा कि वह हृदय के भावावेश को प्रतीत होता है, फिर भी शिखरों की सीमाएं तो उसमें हैं ही। इसके विपरीत, स्वयं प्रेम भी ज्ञान के बिना अधूरा है। गीता भक्ति के भेदों का वर्णन करती हुई कहती है कि प्रारम्भ में भक्ति तीन प्रकार की होती है, एक तो वह जो संसार के दुःखों से घबराकर भगवान् की शरण लेती है, **आर्त्त**; दूसरी वह जो किसी चीज की कामना करती हुई, इष्टफलदाता के रूप में भगवान् के पास जाती है, **अर्थार्थी**; और तीसरी वह है जो किसी दिव्य अज्ञात तत्त्व से प्रेम तो पहले से ही करती है, पर अभीतक उसे जानती नहीं और उससे आकृष्ट होकर उसे जानने को आतुर होती है, **जिज्ञासु**; परन्तु यह सबसे बढ़कर श्रेय उस भक्ति को देती है जो ज्ञानयुक्त हो। स्पष्ट ही है कि भाव की जो तीव्रता यों कहती है कि, "मैं समझती तो नहीं, मैं प्रेम करती हूं", और, प्रेम करती हुई, समझने की परवाह भी नहीं करती, वह प्रेम की अन्तिम नहीं, बल्कि प्रथम आत्म-अभिव्यक्ति है, और वह उसकी सर्वोच्च तीव्रता भी नहीं है। वास्तव में, जैसे-जैसे भगवान् का ज्ञान विकसित हो, वैसे-वैसे भगवान् में आनन्द और उससे प्रेम भी बढ़ना चाहिये। और फिर, ज्ञानरूपी आधार के बिना निरा आनन्दातिशय सुरक्षित भी नहीं रह सकता; जिससे हम प्रेम करते हैं उसीमें निवास करने से ही वह सुरक्षा एवं स्थिरता प्राप्त होती है, उसमें निवास करने का

मतलब है—चेतना में उसके साथ एकमय होना, चेतना का एकत्व ही ज्ञानप्राप्ति के लिये सर्वोत्तम अवस्था है। भगवान् का ज्ञान भगवत्प्रेम को इसकी अति सुदृढ़ सुरक्षा प्रदान करता है, इसके अनुभवजन्य विपुलतम हर्ष को इसकी ओर खोल देता है, इसे दृष्टिविस्तार (outlook) के उच्चात्युच्च शिखरोंतक ऊंचा उठा ले जाता है।

इन दो शक्तियों की एक-दूसरे के विषय में भ्रान्तियां एक प्रकार का अज्ञान ही हैं। इसी प्रकार ये दोनों ही जब कर्ममार्ग को अपनी-अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि के उच्चतर शिखर से हीन समझकर घृणा की दृष्टि से देखती हैं तो इनकी यह प्रवृत्ति भी कुछ कम अज्ञानपूर्ण नहीं। जिस प्रकार ज्ञान की अपनी तीव्रता होती है उसी प्रकार प्रेम की भी अपनी तीव्रता होती है जिसे कर्म बाहरी तथा विक्षिप्त करनेवाली चीज प्रतीत होते हैं। परन्तु कर्म इस प्रकार बाहरी तथा विक्षिप्त करनेवाले तभी होते हैं जब हमने पुरुषोत्तम के साथ संकल्प तथा चेतना की एकता प्राप्त नहीं की होती। वह एकता एक बार प्राप्त हुई कि कर्म ज्ञान की साक्षात् शक्ति तथा प्रेम का मूर्त्तिमन्त प्रस्रवण बन जाते हैं। यदि ज्ञान है एकत्व की असली भूमिका और प्रेम है उसका आनन्द तो दिव्य कर्म हैं उसकी ज्योति और मधुरता की जीवन्त शक्ति। प्रेम की एक गति ऐसी भी होती है जैसी मानव-प्रेम की अभीप्सा में देखने में आती है। यह प्रेमी और प्रियतम को हृदय के परिणय-प्रासाद में बन्द रखकर उन्हें उनके अनन्य एकत्व के उपभोग में संसार से और अन्य सबसे अलग-थलग कर देनेवाली गति है। यह शायद इस मार्ग की अनिवार्य गति है। फिर भी, ज्ञान में परितृप्त विशालतम प्रेम संसार को कोई इस हर्ष से भिन्न और प्रतिकूल वस्तु नहीं, वरन् प्रियतम की सत्ता समझता है और प्राणिमात्र को भी उसीकी सत्ता के रूप में देखता है; इस अन्तर्दर्शन में दिव्य कर्म अपना आह्लाद और अपनी सार्थकता अनुभव करते हैं।

यही है वह ज्ञान जिसमें पूर्णयोग को निवास करना होगा। हमें मन, बुद्धि, इच्छाशक्ति, हृदय की शक्तियों को लेकर भगवान् की ओर प्रस्थान करना है; परन्तु मन में सब कुछ सीमित है। अतः इस मार्ग में शुरू-शुरू में तथा चिरकालतक सीमा-संकीर्णता और एकांगिता तो रहेगी ही। किन्तु पूर्णयोग इन्हें अन्य अधिक ऐकान्तिक साधनापथों की अपेक्षा ढीले-ढाले रूप में ही धारण करेगा। यह मानसिक आवश्यकता से अपेक्षाकृत शीघ्र ही ऊपर उठ जायेगा। ज्ञान के या कर्म के मार्ग की तरह ही यह प्रेम के मार्ग से भी यात्रा शुरू कर सकता है; पर इसकी परितृप्ति के हर्ष का प्रारम्भ तो वहीं होता है जहां ये तीनों आकर मिल जाते हैं। प्रेम को यह छोड़ नहीं सकता। हां, यह अपना प्रारम्भ इससे नहीं करता; कारण प्रेम कर्मों का मुकुट और ज्ञान का प्रस्फुटन है।

अध्याय २

भक्ति के हेतु

धर्ममात्र का प्रारम्भिक रूप यह होता है कि हम अपनी सीमित एवं मर्त्य आत्माओं से अधिक महान् एवं उच्च किसी शक्ति या सत्ता की परिकल्पना करते हैं, उस शक्ति के प्रति पूजा-भाव रखते तथा उसे पूजते हैं और उसके संकल्प, उसके नियमों या उसकी मांगों के प्रति अपनी सेवा अर्पित करते हैं। परन्तु धर्म, अपने प्रारम्भिक रूपों में, इस प्रकार परिकल्पित, पूजित एवं सेवित शक्ति और उसके भक्त के बीच बड़ी भारी खाई खोद डालता है। योग अपनी पराकाष्ठा को पहुंचकर इस खाई को पाट देता है; क्योंकि योग का अभिप्राय ही है मिलन। हम ज्ञान से उसके साथ ऐक्य लाभ करते हैं; ज्यों ही उसके विषय में हमारे आरम्भिक धुंधले विचार स्पष्ट, विस्तृत और गहरे होते हैं त्यों ही हम समझने लगते हैं कि यह हमारी निज की उच्चतम आत्मा है, हमारी सत्ता की उत्पत्ति एवं स्थिति का मूल हेतु है तथा इसका गन्तव्य धाम है। हम कर्म से उसके साथ मिलन लाभ करते हैं; उसकी आज्ञा का पालन करने से ही हमारा संकल्प उसके संकल्प से एकाकार होने लगता है, जितना हमारा संकल्प अपने उद्गम और ध्येयभूत इस शक्ति के साथ तद्रूप होता है उतना ही यह पूर्ण एवं दिव्य बन सकता है। हम भक्ति से भी इसके साथ मिलन लाभ करते हैं; क्योंकि दूरस्थ की पूजा करने का भाव एवं अनुष्ठान विकसित होते-होते पहले समीपस्थ की उपासना की आवश्यकता का जन्म होता है तथा इससे फिर प्रेम की घनिष्ठता का, और प्रेम की पराकाष्ठा है प्रियतम से मिलन। पूजा के इस विकसित रूप से ही भक्तियोग का श्रीगणेश होता है और प्रियतम के साथ इस प्रकार का मिलन होने पर ही यह अपने सर्वोच्च शिखर एवं परिणति को पहुंचता है।

हमारी सब वृत्तियों और हमारी सत्ता की सभी गतियों का मूल आधार हैं हमारी निम्नतर मानव प्रकृति के साधारण प्रेरक भाव। ये प्रेरक भाव पहले मिश्रित और अहंकारमय होते हैं, परन्तु बाद में ये शुद्ध और उन्नत हो जाते हैं, इनके कारण हमारे कर्मों के चाहे कैसे भी परिणाम क्यों न पैदा हों फिर भी ये हमारी उच्चतर प्रकृति के लिये अत्यन्त एवं विशेष आवश्यक वस्तु बन जाते हैं; अन्त में ये उदात्त होकर हमारी सत्ता के एक प्रकार के सुव्यक्त आदेश का रूप ले लेते हैं जिसका पालन करके ही हम अपने अन्दर किसी स्वयम्भू परम तत्त्व को प्राप्त करते हैं। वह तत्त्व हमें निरन्तर ही अपनी ओर खींच रहा होता है, पहले तो हमारी अहंकारमय प्रकृति के प्रलोभनों द्वारा, फिर किसी अधिक उच्चतर, बृहत्तर एवं विशालतर वस्तु के द्वारा। अन्ततोगत्वा हम उसका प्रत्यक्ष आकर्षण अनुभव करने योग्य हो जाते हैं

जो सबसे अधिक प्रबल और अत्यन्त स्पष्ट होता है। साधारण धार्मिक पूजा का शुद्ध भक्तियोग में रूपान्तर होने में हम देखते हैं कि प्रचलित धर्म की सहेतुक और स्वार्थयुक्त पूजा इस प्रकार विकसित होकर अहैतुक एवं स्वयंसत् प्रेम के तत्त्व में परिणत हो जाती है। वास्तव में ऐसा प्रेम ही सच्ची भक्ति की कसौटी है और इससे पता चलता है कि क्या हम सचमुच भक्ति के राजपथ पर हैं या अभी उस ओर ले जानेवाली किसी एक पगडंडी पर ही चल रहे हैं। हमें पहले अपनी दुर्बलता के सहारों, अहंकार के प्रेरकों और अपनी निम्नतर प्रकृति के प्रलोभनों का त्याग करना होगा; तब कहीं हम दिव्य मिलन के अधिकारी बन सकेंगे।

मनुष्य को एक ऐसी शक्ति या शायद ऐसी अनेक शक्तियां अनुभवगोचर होती हैं जो उससे अधिक महान् एवं उच्च होती हैं और उसके प्रकृतिगत जीवन को अभिभूत, प्रभावित एवं नियंत्रित करती हैं। स्वभावतः ही वह उसके या उनके प्रति वही आदिम असंस्कृत भाव प्रदर्शित करता है जो इस जीवन की कठिनाइयों, कामनाओं और कष्टों में प्राकृतिक प्राणी के सहज भाव होते हैं, अर्थात् भय और स्वार्थ। धार्मिक वृत्ति के विकास में इन प्रेरक भावों का महत्त्व निर्विवाद है, वास्तव में मनुष्य का आज जैसा भी स्वरूप है उसे दृष्टि में रखते हुए यह शायद इससे कम हो भी नहीं सकता था; यहांतक कि आज जब धर्म अपने मार्ग पर काफी आगे बढ़ चुका है तब भी हम देखते हैं कि ये भाव अभीतक जीवित एवं क्रियाशील हैं तथा काफी बड़ा भाग ले रहे हैं, स्वयं धर्म भी मनुष्य पर अपने अधिकारों की पुष्टि के लिये इन्हें न्याय्य एवं उचित प्रमाणित कर रहा है। कहा जाता है कि ईश्वर का भय,—या ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि देवताओं का भय,—धर्म का प्रारम्भिक रूप है, यह एक अर्द्धसत्य है जिसपर वैज्ञानिक गवेषणा ने अनुचित बल दे दिया है, इसने धर्म के विकास का मूल खोजने की चेष्टा सहानुभूतिपूर्ण भाव से नहीं, वरन् साधारणतः आलोचनात्मक और प्रायः द्वेषपूर्ण वृत्ति से की है; परन्तु केवल ईश्वर का भय ही धर्म का मूल नहीं है, मनुष्य अत्यन्त असभ्य अवस्था में भी केवल भयवश ही कार्य नहीं करता है, बल्कि युगल प्रेरक भावों से, भय और कामना से, अप्रिय एवं अहितकर वस्तुओं के भय और प्रिय एवं हितकर वस्तुओं की कामना से। इस प्रकार वह भय एवं स्वार्थ दोनों से कार्य करता है। जबतक मनुष्य यह नहीं सीख लेता कि उसे मुख्यतया अपनी आत्मा में ही जीवन यापन करना है और बाह्य वस्तुओं की क्रिया-प्रतिक्रिया में केवल गौण रूप से, तबतक उसके लिये जीवन प्रथमतः एवं अनन्यतया कर्मों और परिणामों की शृंखलामात्र होता है, वह कर्म द्वारा काम्य, अर्ज्य एवं प्राप्य (उपादेय) वस्तुओं का तथा भयप्रद एवं त्याज्य (हेय) वस्तुओं का समूह भर होता है। वे हेय वस्तुएं उसके कर्म के परिणामस्वरूप, अनचाहे भी, उसपर आ पड़ सकती हैं। उसके निजी कर्म से ही नहीं, बल्कि उसके चारों ओर रहनेवाले

दूसरों के तथा प्रकृति के कर्म से भी ये हेय-उपादेय वस्तुएं उसके पास आ सकती हैं। अतएव, ज्यों ही उसे इस सबके मूल में एक ऐसी शक्ति अनुभूत होने लगती है जो कर्म एवं परिणाम को प्रभावित या निर्धारित कर सकती है त्यों ही वह इसके विषय में ऐसी कल्पना करता है कि यह सुख-दुःख को देनेवाली है, उसका उपकार या अपकार करने में, निग्रह-अनुग्रह करने में समर्थ है और कुछ अवस्थाओं में ऐसा करने को इच्छुक होती है।

अपनी सत्ता के अत्यन्त असंस्कृत अङ्गों में वह इसे, अपनी ही तरह, प्राकृतिक अहंकारमय आवेगों से युक्त वस्तु समझता है जो सन्तुष्ट होने पर हितकारी होती है और रुष्ट होने पर अहितकारी; तब पूजा होती है भेंटों से रिझाने और प्रार्थना द्वारा अनुनय-विनय करने का साधन। वह ईश्वर की प्रार्थना और प्रशंसा के द्वारा उसे अपने पक्ष में कर लेता है। अपने मन का अधिक विकास होने पर वह जीवन के कर्म को दिव्य न्याय के तत्त्व-विशेष पर अवलंबित मानता है। इस न्याय की व्याख्या वह सदा अपने विचारों एवं चरित्र के अनुसार ही करता है और अतएव इसे अपने मानवीय न्याय की एक प्रकार की परिवर्द्धित प्रतिलिपि समझता है; वह अपने मन में नैतिक शुभ-अशुभ की धारणा बना लेता है और दुःख एवं विपत्ति तथा सभी अप्रिय वस्तुओं को अपने पापों का दंड समझता है और सुख, संपत्ति तथा सभी प्रिय वस्तुओं को अपने पुण्य का फल। ईश्वर उसे राजा, विचाराधीश, व्यवस्थापक तथा न्यायकर्त्ता प्रतीत होता है। परंतु अभीतक उसे एक प्रकार का महामानव समझने के कारण वह अनुमान करता है कि जैसे उसका अपना न्याय प्रार्थना-आराधना के द्वारा पथभ्रष्ट किया जा सकता है वैसे ही दिव्य न्याय भी उन्हीं साधनों से पथभ्रष्ट किया जा सकता है। न्याय उसके लिये पुरस्कार और दंड का ही नाम है, दंड का निर्णय प्रार्थी पर दया करके बदला जा सकता है, जब कि विशेष प्रसादों और वरदानों के द्वारा पुरस्कारों में वृद्धि की जा सकती है। प्रसन्न होने पर शक्ति अपने अनुयायियों एवं भक्तों को ऐसे वर-प्रसाद सदा ही प्रदान कर सकती है। अपि च, ईश्वर भी हमारी तरह क्रोध कर सकता एवं बदला ले सकता है, क्रोध और बदले के भाव भेंटों, अनुनय-विनय एवं पश्चात्ताप के द्वारा पलटे जा सकते हैं; वह पक्षपात भी कर सकता है और चढ़ावों से, प्रार्थना तथा प्रशंसा से उसे अपने पक्ष में किया जा सकता है। इसलिये केवल नैतिक नियम के पालन पर निर्भर रहने के बजाय, प्रार्थना एवं अनुरंजन-आराधनरूप पूजा भी अभीतक चलती रहती है।

इन प्रेरकों के साथ-साथ एक और वैयक्तिक भाव भी विकसित होता है, हमारी प्रकृति के परे एक ऐसी सत्ता भी है जो विशाल, शक्तिशाली एवं अपरिमेय है, क्योंकि उसके कर्म के उद्गम एवं क्षेत्र एक प्रकार से अचिन्त्य हैं। उसके प्रति मनुष्य पहले-पहल स्वभावतः ही संभ्रम (आदरप्रेरित भय) का अनुभव करता है। और फिर, जो सत्ता अपनी प्रकृति में या अपनी पूर्णता में हमसे उच्च है उसके प्रति

मनुष्य आदर और सम्मान का भाव अनुभव करता है। मानवी प्रकृति के गुणों से युक्त ईश्वर की परिकल्पना को अधिकांशतः सुरक्षित रखते हुए भी, इसके साथ-ही-साथ, इससे मिला-जुला या इसमें ऊपर से जोड़ा हुआ एक और विचार भी विकसित हो जाता है। वह यह कि एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परिपूर्ण एवं अगम सत्ता भी है जो हमारी प्रकृति से नितांत भिन्न है। प्रचलित धर्म का नव-दशमांश इन सब प्रेरकों का अस्त-व्यस्त मिश्रणमात्र होता है जो नाना रूपों में विकसित, प्रायः संशोधित, परिष्कृत या अलंकृत किये हुए होते हैं; महान् आध्यात्मिक पुरुष मानवजाति की अधिक असंस्कृत धार्मिक धारणाओं में भगवान्-विषयक जो उत्कृष्टतर, सुन्दरतर एवं गभीरतर विचार उंडेल सके हैं वे इस नव-दशमांश में रिस-रिसकर व्याप्त हो गये हैं,—वही हैं धर्म का शेष दशमांश। इसके परिणामस्वरूप प्रायः एक काफी भद्दी-सी चीज तैयार होती है जो संदेह और अविश्वास के बाणों का सहज लक्ष्य बनती है,—संदेह और अविश्वास मानव मन की ऐसी शक्तियां हैं जो श्रद्धा और धर्म के लिये भी उपयोगी हैं, क्योंकि वे धर्म को अपने विचारों के अपक्व एवं मिथ्या अंशों की उत्तरोत्तर शुद्धि करने के लिये बाध्य करती हैं। परन्तु हमें देखना यह है कि पूजा की धार्मिक वृत्ति को शुद्ध एवं उन्नत करने के लिये इनमें से किसी भी प्राचीन भाव के जीवित रहने की कहांतक आवश्यकता है और पूजा से ही प्रारम्भ होनेवाले भक्तियोग में इनका प्रवेश कहांतक वांछनीय है। यह इस बात पर निर्भर है कि कहांतक ये दिव्य पुरुष के किसी सत्य से संगत हैं या मानव आत्मा के साथ इसके सम्बन्धों के अनुरूप हैं; क्योंकि भक्ति से हम भगवान् के साथ मिलन तथा उसके साथ सच्चा सम्बन्ध प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात् उसके सत्य के साथ सम्बन्ध प्राप्त करना चाहते हैं न कि अपनी निम्न प्रकृति की और इसके अहंभावमय आवेगों एवं अज्ञानमूलक विचारों की किसी मृगतृष्णा के साथ।

संशयात्मा नास्तिक जिस आधार को लेकर धर्म पर आक्रमण करता है वह यह है कि विश्व में वस्तुतः ऐसी कोई चेतन शक्ति या सत्ता है ही नहीं जो हमसे बड़ी और ऊंची हो अथवा हमारी सत्ता को किसी प्रकार प्रभावित या नियन्त्रित करती हो। इस आधार को योग स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इससे तो समस्त आध्यात्मिक अनुभव खण्डित हो जायेगा और स्वयं योग असंभव हो जायेगा। दर्शन या सार्वजनिक धर्म की भांति योग कोई सिद्धांत या मतवाद की वस्तु नहीं है, बल्कि अनुभव का विषय है। इसका अनुभव यह है कि एक विश्वगत एवं विश्वातीत चिन्मय पुरुष का भी अस्तित्व है, उसके साथ यह हमारा मिलन कराता है। अदृश्य सत्ता से मिलन का यह सचेतन अनुभव सदैव पुनः-पुनः ताजा किया जा सकता है तथा परखा जा सकता है। यह उतना ही यथार्थ होता है जितना कि हमारा स्थूल संसार का तथा दृश्य प्राणियों का सचेतन अनुभव जिनके अदृश्य मनों

के साथ हम नित्य-प्रति व्यवहार करते हैं। योग सचेतन मिलन के द्वारा ही आगे बढ़ता है, सचेतन पुरुष ही इसका कारण है। अचेतन के साथ सचेतन मिलन होना संभव नहीं। यह ठीक है कि यह मानव चेतना के परे जाता है और समाधि में अतिचेतन हो जाता है, परन्तु यह हमारी चेतन सत्ता का विलोप नहीं है, यह केवल उसका आत्म-अतिक्रमण है, उसका अपने वर्तमान स्तर और सामान्य सीमाओं के परे चले जाना है।

हां, तो यहांतक समस्त यौगिक अनुभव एकमत हैं। पर धर्म और भक्तियोग इससे भी आगे जाते हैं, इनके मत से व्यक्तित्व तथा मनुष्य के साथ मानवीय सम्बन्ध इस चिन्मय पुरुष की विशेषताएं हैं। धर्म और भक्तियोग दोनों में मनुष्य भगवान् के पास वैसे ही जाता है, जैसे वह अपने किसी मित्र के पास जाता है,—अपनी मानवता के द्वारा तथा मानवीय भावों के साथ, परन्तु अधिक तीव्र एवं उदात्त भावों के साथ; इतना ही नहीं, बल्कि भगवान् भी इन भावों के अनुरूप ढंग से इनका उत्तर देते हैं। उत्तर की इस संभाव्यता पर ही सब कुछ अवलंबित है; कारण, यदि भगवान् निर्वैयक्तिक, निराकार एवं निःसम्बन्ध हैं तो ऐसा कोई भी उत्तर सम्भव नहीं हो सकता और उसकी ओर समस्त मानवीय पहुंच निरर्थक हो जाती है। तब तो जहांतक हम मानव-प्राणी हैं या किसी भी प्रकार के प्राणी हैं वहांतक हमें अपने-आपको मानवीयतारहित, व्यक्तित्वविहीन एवं विलुप्त कर देना होगा; दूसरी किसी भी शर्त्त पर तथा अन्य किसी भी साधन से हम उसके पास नहीं पहुंच सकते। जिस निर्वैयक्तिक सत्ता का हमसे या संसार की किसी भी वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं और जिसका कोई मनोगोचर रूप नहीं उससे प्रेम या भय तथा उसकी प्रार्थना, प्रशंसा एवं पूजा स्पष्ट ही युक्तिविरुद्ध कार्य हैं। ऐसी दशा में धर्म और भक्ति असंगत ठहरती हैं। अद्वैतवादी को अपने नग्न एवं वन्ध्य दर्शन का धार्मिक आधार प्राप्त करने के लिये ईश्वर तथा देवताओं की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके माया की भाषा से अपने मन को विमोहित करना पड़ता है। बौद्धमत लोकप्रिय धर्म तभी बना जब कि बुद्ध पूजास्पद परम देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

यदि परम पुरुष हमारे साथ सम्बन्ध रख तो सकता हो, पर केवल निर्वैयक्तिक सम्बन्ध ही, तो धर्म मनुष्य के लिये महत्त्वशून्य हो जाता है और भक्तिमार्ग भी फलदायक या यहांतक कि सम्भव ही नहीं रहता। हम उसके प्रति अपने मानवीय भावों का प्रयोग अवश्य कर सकते हैं, पर अनिश्चित एवं अयथार्थ ढंग से तथा मानवोचित उत्तर की आशा के बिना; केवल एक ही तरीके से वह हमें उत्तर दे सकता है, वह हमारे भाव निःस्तब्ध कर सकता है, हमें अपनी निर्वैयक्तिक शान्ति एवं निर्विकार समता से आच्छादित कर सकता है। जब हम ईश्वर की शुद्ध निर्वैयक्तिकता की शरण लेते हैं तब वास्तव में ऐसा ही होता है। हम एक दैवी विधान के रूप में उसकी आज्ञा का पालन कर सकते हैं, उसकी शान्त सत्ता के

प्रति अभीप्सा में अपनी आत्माओं को उसकी ओर ऊंचा उठा सकते हैं, अपनी भावुक प्रकृति को अपनेसे झाड़-फेंककर उस निर्वैयक्तिकता में विकसित हो सकते हैं; हमारा अन्तरस्थ मानवजीव तृप्त तो नहीं होता पर वह शान्त, संतुलित और स्तिमित हो जाता है। परन्तु भक्तियोग इस विषय में धर्म से एकमत है और वह इस निर्वैयक्तिक अभीप्सा की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ एवं स्नेहसिक्त पूजा का आग्रह करता है। इसका लक्ष्य है हमारी मानवता की तथा हमारी सत्ता के निर्वैयक्तिक भाग की एक साथ दिव्य परिपूर्त्ति, इसका लक्ष्य है मनुष्य की भावमय प्रकृति की दिव्य परितृप्ति। परम देव से इसकी मांग यह है कि वह हमारे प्रेम को स्वीकार कर उसका अनुरूप उत्तर दे; जैसे हम उसमें आनन्द लेते तथा उसे खोजते हैं वैसे ही, इसका विश्वास है कि, वह भी हममें आनन्द लेता और हमें खोजता है! इस मांग को बुद्धिविरुद्ध कहकर इसकी निन्दा नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि परात्पर और विश्वमय पुरुष हममें किसी प्रकार का रस न लेता तो यह समझना कठिन है कि हमारा अस्तित्व सम्भव ही कैसे होता या टिक भी कैसे सकता; यदि वह हमें अपनी ओर बिल्कुल खींचता ही नहीं,—यदि भगवान् हमें खोजता ही नहीं,—तो प्रकृति में कोई भी ऐसा कारण नहीं दीख पड़ता कि क्यों हम उसे खोजने के लिये अपनी सामान्य सत्ता के चक्र से मुंह फेरकर उसकी ओर मुड़ें।

अतएव, भक्तियोग की कुछ भी सम्भावना हो सके इसके लिये हमें पहले यह मानना होगा कि परात्पर सत् निर्विशेष भाव नहीं है, या सत्ता की अवस्थामात्र नहीं है, बल्कि चिन्मय पुरुष है; दूसरे, कि इस संसार में हमारी उससे भेंट होती है और इसके अन्दर वह किसी-न-किसी प्रकार अन्तर्यामी भी है तथा इसका उद्गम भी,—नहीं तो हमें उससे मिलने के लिये सांसारिक जीवन से बाहर जाना होगा; तीसरे, कि वह हमसे वैयक्तिक सम्बन्ध रख सकता है और इसलिये व्यक्तिभाव धारण करने में कतई असमर्थ नहीं; अन्त में, कि हम अपने मानवीय भावों को लेकर उसके पास पहुंचते हैं और हमें तदनुरूप उत्तर प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् की प्रकृति है तो ठीक-ठीक हमारी मानवीय प्रकृति जैसी ही परन्तु अधिक बड़े पैमाने पर, या कि यह कुछ-एक विकारों से रहित मानवी प्रकृति ही है और ईश्वर है एक महान् या आदर्श मानव। ऐसी बात नहीं है और न ही हो सकती है कि ईश्वर अपने गुणों से सीमित एक अहं हो जैसे कि हम अपनी सामान्य चेतना में हैं। परन्तु, इसके विपरीत, अवश्य ही हमारी मानवीय चेतना का मूल है भगवान् और यह उसीसे निकली हुई होनी चाहिये; हमारे अन्दर यह जो-जो रूप धारण करती है वे भगवान् से भिन्न भले ही हों और होंगे ही, क्योंकि हम अहंभाव से सीमित हैं, विश्वमय नहीं हैं, अपनी प्रकृति से ऊपर उठे हुए नहीं हैं, अपने गुणों और उनके व्यापारों से महान् नहीं हैं जैसा कि वह है, तो भी हमारे मानवीय भावों और आवेगों का मूल होना चाहिये उसीके अन्दर का एक सत्य

जिसके ये सीमित, अतएव प्रायः विकृत या यहांतक कि भ्रष्ट रूप हैं। अपनी भावमय सत्ता द्वारा उसके पास जाने से हम इस सत्य के पास पहुंचते हैं, यह सत्य हमारे भावों से मिलने तथा इन्हें अपनी ओर उठाने के लिये हमारे पास नीचे आता है; इसके द्वारा हमारी भावमय सत्ता उससे एकमय हो जाती है।

दूसरे, यह परात्पर पुरुष विश्वमय पुरुष भी है और संसार के साथ हमारे सभी सम्बन्ध ऐसे साधन हैं जिनसे हम उसके साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये तैयार होते हैं। वैश्व सत्ता की हम पर होनेवाली क्रिया के सम्मुख हम जिन भावों को लेकर उपस्थित होते हैं वे सब वास्तव में भगवान् को ही लक्ष्य करते हैं चाहे प्रारम्भ में वे अज्ञानपूर्वक ही ऐसा करते हैं, परन्तु उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान के साथ भगवान् की ओर प्रेरित करने से ही हम उसके साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध प्राप्त कर सकते हैं, और जैसे-जैसे हम एकता के अधिक समीप पहुंचेंगे उन भावों के मिथ्या एवं अज्ञानयुक्त अंश सब-के-सब झड़ जायेंगे। उन्नति की जिस अवस्था में हम हैं उसे दृष्टि में रखकर वह हमारे सभी भावों का उत्तर देता है; यदि हमारी अपूर्ण शरणागति को किसी प्रकार का उत्तर वा प्रोत्साहन न मिलता तो अधिक पूर्ण सम्बन्ध कभी भी स्थापित न हो सकते। जिस भी भाव में मनुष्य उसकी शरण लेते हैं उसी भाव में वह उन्हें स्वीकार करता है और दिव्य प्रेम द्वारा उनकी भक्ति का उत्तर भी देता है, **तथैव भजते**। सत्ता के जिस भी रूप की, जिन भी गुणों की वे उसमें प्रतिष्ठा करते हैं, उसी रूप तथा उन्हीं गुणों द्वारा वह उनके विकास में सहायता पहुंचाता है, उनकी प्रगति को प्रोत्साहित या परिचालित करता है और उनके सरल या कुटिल पथ से उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। उसका जो रूप वे देखते हैं वह सत्य होता है, पर वह ऐसा सत्य होता है जो उनकी सत्ता एवं चेतना की भूमिका के अनुसार, खण्ड एवं विकृत रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत होता है, न कि उसकी अपनी उच्चतर वास्तविकता के स्तर के अनुसार, न ही अपने उस स्वरूप में जो वह तब धारण करता है जब हम पूर्ण देवत्व से सचेतन हो जाते हैं। यह बात धर्म के अत्यन्त स्थूल एवं आदिम तत्त्वों का औचित्य सिद्ध करती है और साथ ही उनकी अस्थायिता एवं नश्वरता की घोषणा करती है। वे उचित इसलिये हैं कि उनके मूल में भगवान् का एक रहस्य निहित है और विकासोन्मुख मानव-चेतना की उस अवस्था में भगवान् के उस सत्य की ओर केवल इसी ढंग से पहुंचा जा सकता था और उसे आगे बढ़ाया जा सकता था; वे निन्दित इसलिये हैं कि सदा इन्हीं अपरिपक्व विचारों में तथा भगवान् के साथ ऐसे अपरिष्कृत सम्बन्धों में अड़े रहने के कारण हम उस निकटतर मिलन को खो बैठते हैं जिसकी ओर ये असंस्कृत आरम्भ प्राथमिक पग हैं, भले ही ये कैसे भी स्खलनशील क्यों न हों।

हम कह चुके हैं कि सारा ही जीवन प्रकृति का योग है; यहां इस स्थूल जगत् में जीवन उसका एक ऐसा प्रयास है जिससे वह अपनी प्रथम निश्चेतना से

निकलकर अपने मूल स्रोत चेतन भगवान् से पुनर्मिलन प्राप्त करना चाहती है। मनुष्य का मन प्रकृति का संसिद्ध यन्त्र है; धर्म के अन्तर्गत वह इस बात से अभिज्ञ हो जाता है कि मनुष्य के अन्दर प्रकृति का लक्ष्य क्या है और वह प्रकृति की अभीप्सा का उत्तर देता है। यहांतक कि प्रचलित धर्म भी एक प्रकार का अज्ञानयुक्त भक्तियोग है। परन्तु जिसे हम विशेष रूप से योग का नाम देते हैं वह चीज यह तबतक नहीं बनता जबतक कि इसका प्रेरक भाव कुछ-न-कुछ पारदर्शी नहीं हो जाता, जबतक यह यह नहीं देखता कि इसका लक्ष्य है मिलन और मिलन का मूलतत्त्व है प्रेम, अतः जबतक यह प्रेम को उपलब्ध करने और अपने पृथक्कारी स्वरूप को प्रेम में खो देने का यत्न नहीं करता। जब यह कार्य सिद्ध हो जाये तब समझना चाहिये कि हमने योग के मार्ग पर निर्णायक कदम रख दिया है और हमारी सफलता निश्चित है। इस प्रकार यह आवश्यक है कि पहले हम भक्ति के मूल भावों को अनन्यतः तथा प्रबलतया भगवान् की ओर मोड़ दें, फिर उन्हें रूपान्तरित करें, ताकि वे अपने अधिक पार्थिव तत्त्वों से मुक्त हो जायें और अन्त में हम उन्हें शुद्ध एवं पूर्ण प्रेम के आधार पर प्रतिष्ठित करें। जो भाव प्रेम के पूर्ण मिलन के संग नहीं रह सकते उन सबको अन्ततः झड़ जाना होगा, टिकने योग्य भाव वही हो सकते हैं जो दिव्य प्रेम की अभिव्यक्तियों का रूप धारण कर सकते और दिव्य प्रेम का आस्वादन करने के साधन बन सकते हैं। प्रेम ही हमारे अन्दर एक ऐसा भाव है जो सर्वथा निःस्वार्थ, अहैतुक एवं स्वयंसत् हो सकता है; प्रेम का प्रेम के अतिरिक्त और कोई हेतु होना आवश्यक नहीं। क्योंकि हमारे सभी भावों का मूल होता है या तो आनन्द की खोज और प्राप्ति, या खोज की विफलता, या जो आनन्द हमने प्राप्त किया है या जिसे हमने अधिगत समझ लिया था उसका वियोग; परन्तु प्रेम वह है जिससे हम भागवत पुरुष का स्वयंभू आनन्द सीधा ही उपलब्ध कर सकें। भागवत प्रेम वास्तव में आनन्द की उस उपलब्धि का ही नाम है और मानों वह मूर्त्तिमान् आनन्द ही है।

इस योग में हमारे प्रवेश और इस पथ पर हमारी यात्रा के नियामक सत्य यही हैं। कुछ अवान्तर प्रश्न भी पैदा होते हैं और मनुष्य की बुद्धि को व्याकुल करते हैं, यद्यपि उनसे निपटना अभी बाकी है पर वे अनिवार्य नहीं। भक्तियोग हृदय का विषय है, बुद्धि का नहीं। इस मार्ग में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके लिये भी हम अपनी यात्रा हृदय से प्रारम्भ करते हैं, न कि बुद्धि से। अतएव, हृदय की भक्ति के प्रेरक भावों का सत्य और उनकी चरम उपलब्धि और एक ढंग से प्रेम के परम एवं अद्वितीय स्वयंसिद्ध भाव में उनका अन्तर्धान—बस इसीसे हमें प्रारम्भ में तथा अनिवार्यतः मतलब है। ऐसे विकट प्रश्न भी हैं कि क्या भगवान् का कोई मूल अतिभौतिक रूप या रूप-शक्ति है जिससे सभी रूप (रूपवान् पदार्थ) उत्पन्न होते हैं या कि वह सदा रूपरहित ही है; अभी बस इतना ही कहना आवश्यक है कि

भगवान् कम-से-कम वे नाना रूप अवश्य स्वीकार करता है जो कि भक्त उसे प्रदान करता है और उन्हींके द्वारा वह उससे प्रेमपूर्वक मिलता है, जब कि हमारी आत्माओं का उसकी आत्मा से समागम भक्ति की सफलता के लिये अपरिहार्य है। इसी प्रकार, कुछ एक धर्म और धार्मिक दर्शन भक्ति को मानव-आत्मा तथा भगवान् के बीच नित्य भेद के विचार से जकड़ देना चाहते हैं जिसके बिना, उनका कहना है कि, प्रेम और भक्ति का अस्तित्व सम्भव ही नहीं; परन्तु जिस दर्शन की मान्यता है कि केवल एकमेव भगवान् ही सत् है वह प्रेम और भक्ति का विनियोग अज्ञानगत व्यवहार में ही करता है। ये (प्रेम और भक्ति) अज्ञान के टिकनेतक शायद आवश्यक हैं या कम-से-कम प्रारम्भिक चेष्टा के रूप में उपयोगी हैं; पर जब भेदमात्र मिट जाता है, अतएव जब इसे पार करना या त्यागना होता है तब ये सम्भव ही नहीं रहते। तथापि, हम एकमेव सत्ता का सत्य इस अर्थ में स्वीकार कर सकते हैं कि प्रकृतिगत 'सर्व' भगवान् ही है चाहे ईश्वर प्रकृतिगत सर्व से अधिक कुछ हो। तब प्रेम बन जाता है एक ऐसी गति जिससे प्रकृतिगत और मनुष्यगत भगवान् विराट् तथा परात्पर भगवान् के आनन्द को अधिकृत करता तथा इसका उपभोग करता है। जो हो, अवश्यमेव प्रेम की परितृप्ति स्वभावतः ही दो प्रकार की होती है, एक तो वह जिससे प्रेमी तथा प्रियतम भेद में अपने मिलन का आनन्द लेते हैं तथा उस सबका भी उपभोग करते हैं जो बहुविध मिलन के हर्ष में वृद्धि करता है, और दूसरी वह जिसमें वे अपनेको एक-दूसरे में उंडेलकर एक आत्मा बन जाते हैं। प्रारम्भ करने के लिये यही सत्य सर्वथा पर्याप्त है, क्योंकि यही है प्रेम का सच्चा स्वरूप। प्रेम ही इस योग का मूल प्रेरक है, अतः जैसा प्रेम का समग्र स्वरूप होगा वैसी ही होगी योग की गति, इसकी परिणति और परिपूर्ति।

अध्याय ३

भगवन्मुख भाव

योग का मूलसूत्र यह है कि मानव-चेतना की सभी या कुछ एक शक्तियां भगवान् की ओर फेर दी जायें ताकि सत्ता की इस चेष्टा के द्वारा संस्पर्श, सम्बन्ध एवं मिलन स्थापित हो जाये। भक्तियोग में जिस शक्ति को साधन बनाया जाता है वह है भावमय प्रकृति। इसका मुख्य सिद्धांत यह है कि मनुष्य और भगवान् में कोई एक मानवीय सम्बन्ध अपनाकर हृद्गत भावों को उन्हींकी ओर अधिकाधिक तीव्र वेग से प्रवाहित किया जाये जिससे कि अन्त में मानव आत्मा दिव्य प्रेम के मद में उन्हींमें आसक्त होकर उन्हींके साथ एक हो जाये। भक्त अपने योगद्वारा जो चीज खोजता है वह अन्ततः एकत्व की विशुद्ध शान्ति या एकत्व की शक्ति एवं निष्काम संकल्प-बल नहीं है, वह तो है मिलन की मस्ती। जो कोई भी भाव हृदय को इस उल्लास के लिये तैयार कर सकता है योग उसे अपनाता है; और जैसे-जैसे प्रेम का दृढ़ मिलन अधिक प्रगाढ़ एवं पूर्ण होता जायेगा वैसे-वैसे, जो भी चीज इस हर्षातिरेक को कम करती है वह उत्तरोत्तर झड़ती जायेगी।

जिन भावों को लेकर धर्म ईश्वर की पूजा, सेवा और प्रीति-भक्ति की ओर बढ़ता है उन सबको योग स्वीकार करता है, अपने अंतिम परिणामों के रूप में नहीं, किन्तु भावुक प्रकृति की प्रारम्भिक चेष्टाओं के रूप में। परन्तु एक भाव ऐसा भी है जिसका योग से बहुत ही कम सम्बन्ध है, कम-से-कम उस योग का जिसका अभ्यास भारत में किया जाता है। कुछ धर्मों में, शायद अधिकतर धर्मों में, ईश्वर-भय का विचार बहुत ही बड़ा स्थान रखता है, कभी-कभी तो सबसे बड़ा; ईश्वर-भीरु मनुष्य इन धर्मों का आदर्श धार्मिक व्यक्ति होता है। निःसंदेह भय का विचार, किसी सीमातक, एक विशेष प्रकार की भक्ति के साथ पूर्णतः संगत है; अपने उच्चतम रूप में यह दिव्य शक्ति, दिव्य न्याय, दिव्य विधान, दिव्य ऋत की पूजा में तथा सर्वशक्तिमान् स्रष्टा और न्यायकारी के प्रति नैतिक आज्ञापालन एवं सम्भ्रांत आदर के भाव में उन्नीत हो जाता है। अतः इसका हेतु नैतिक-धार्मिक होता है और इसका ठीक-ठीक सम्बन्ध भक्त से नहीं, बल्कि कर्मी मनुष्य से है जो अपने कर्मों के दिव्य विधाता और न्यायकर्ता के प्रति भक्ति से परिचालित होता है। भय का भाव ईश्वर को राजा मानता है और उसके सिंहासन की महिमा के अतिनिकट पहुंच ही नहीं पाता जबतक कि यह सदाचार के द्वारा उसके योग्य न हो या कोई मध्यस्थ (mediator) पाप के प्रति दैवी कोप को दूर करके इसे वहांतक न ले जाये। जब यह अधिक-से-अधिक समीप पहुंच जाता है तब भी यह अपने-आप तथा अपने उच्च पूजार्ह के बीच भयग्रस्त दूरी कायम रखता है। पुत्र को अपनी माता में

या प्रेमी को अपने प्रियतम में जैसा पूर्ण निर्भय विश्वास होता है वैसे विश्वास के साथ या पूर्ण प्रेम से उत्पन्न होनेवाले एकत्व की घनिष्ठ भावना के साथ यह भगवान् का आलिंगन नहीं कर सकता।

कुछ एक प्रारम्भिक प्रचलित धर्मों में इस ईश्वर-भय का उद्गम काफी अधकचरा था। मनुष्य ने देखा कि संसार में कुछ ऐसी शक्तियां हैं जो उससे बड़ी हैं, जिनका स्वभाव एवं व्यापार दुर्बोध हैं, और जो उसकी समृद्धि में उसे ठोकर मारकर गिरा देने और किन्हीं भी नाराज करनेवाले कामों के बदले उसे दंड देने के लिये हरदम तैयार दीखती हैं। ईश्वर को तथा संसार के संचालक नियमों को न जानने के कारण ही मनुष्य के अन्दर देवताओं से भय का जन्म हुआ। इसने उच्चतर शक्तियों पर स्वेच्छाचार और मानवीय विकार का आरोप किया; इसने उन्हें ऐसे महाकार पार्थिव मनुष्यों के रूप में कल्पित किया जो मनमानी, अत्याचार, वैयक्तिक द्वेष करने में समर्थ हैं और मनुष्य की ऐसी किसी भी महत्ता से ईर्ष्या करनेवाले हैं, क्योंकि वह उसे पार्थिव प्रकृति की क्षुद्रता से ऊपर उठाकर दिव्य प्रकृति के अति निकट पहुंचा देती है। ऐसे विचारों को लेकर किसी सच्ची भक्ति का उदय नहीं हो सकता। यह और बात है कि इनसे एक ऐसी संशयास्पद भक्ति का जन्म हो जाये जिसे दुर्बल बलवान् के प्रति अनुभव कर सकता है, क्योंकि बलवान् मनुष्य अपने अधीनस्थों पर कुछ नियम थोप रखता है जिन्हें वह दंड एवं पुरस्कार के द्वारा लागू कर सकता है। अतः दुर्बल मनुष्य उन नियमों का पालन कर पूजा-प्रशंसा और भेंट-स्तुति के द्वारा उसकी रक्षा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार यह भी दूसरी बात है कि जो महिमा-गरिमामयी सत्ता, जो प्रज्ञा एवं परमोच्च शक्ति इस संसार के ऊपर है तथा इसके सभी नियमों एवं घटनाओं का उद्गम है या कम-से-कम इनकी नियामिका है उसके प्रति ऐसे भयमूलक विचारों से मनुष्य के अन्दर सविनय एवं साष्टांग प्रणाम-पूजा का भाव पैदा हो।

भक्तिमार्ग के प्रारम्भों की ओर अधिक निकट पहुंच तभी संभव होती है जब दैवी शक्ति का यह तत्त्व इन असंस्कृत धारणाओं से मुक्त हो जाता है और अपने-आपको इस विचार पर एकाग्र करता है कि संसार का एक दिव्य शासक एवं स्रष्टा है और दैवी विधान का एक स्वामी है जो पृथ्वी एवं द्युलोक का शासन करता है और अपने रचे हुए प्राणियों का मार्गदर्शक, सहायक और उद्धारक है। दिव्य-सत्तासम्बन्धी इस विशालतर एवं उच्चतर विचार में पुरानी अपरिपक्वता के अनेक तत्त्व चिरकालतक बने रहे और कुछ तत्त्व तो अभी भी विद्यमान हैं। यह विचार यहूदियों ने अति प्रबलतापूर्वक प्रस्थापित किया। उन्हींके द्वारा यह संसार के एक बड़े भाग में फैल गया। वे एक ऐसे सदाचारमय ईश्वर में विश्वास कर सकते थे जो पक्षपाती, स्वेच्छाचारी, क्रोधी, ईर्ष्यालु, प्रायः निर्दयी और यहांतक कि स्वच्छन्दतः रक्तपिपासु हो। आज भी कई लोगों को सृष्टिकर्ता का यह स्वरूप मान्य है कि

उसने अपनी सृष्टि के दो ध्रुवों, स्वर्ग और नरक—नित्य नरक,—का निर्माण किया है और यहांतक कि कुछ धर्मों के अनुसार तो उसने पहले से ही कुछ ऐसी आत्माएं निश्चित कर रखी हैं जिन्हें उसने पाप एवं दंड के लिये नहीं, अपितु नित्य नरकयातना के लिये उत्पन्न किया है। परन्तु बालोचित धार्मिक विश्वास की इन अतियों को छोड़कर यदि सर्वशक्तिमान् न्यायाधीश, व्यवस्थापक एवं सम्राट् के विचार को स्वतः पृथक् रूप में लिया जाये तो भी यह भगवान् के विषय में एक असंस्कृत एवं अपरिपक्व विचार है, क्योंकि, यह हीन एवं बाह्य सत्य को मुख्य सत्य मान बैठता है और अधिक अन्तरीय सद्वस्तु की प्राप्ति के उच्चतर पथ में बाधा डालने में प्रवृत्त होता है। यह पाप-भावना के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है और इस प्रकार यह आत्मा के भय, आत्म-अविश्वास और दुर्बलता की अवधि एवं मात्रा को बढ़ा देता है। पुण्य के आचरण और पाप के परित्याग का सम्बन्ध यह दण्ड और पुरस्कार के विचार के साथ जोड़ देता है जो चाहे प्राप्त आगामी जीवन में ही होते हैं। हमारी नैतिक सत्ता का नियमन करना तो चाहिये उच्चतर भावना को, पर उसके स्थान पर यह पाप-पुण्य को भय तथा स्वार्थ के निम्न प्रेरकों पर अवलंबित कर देता है। स्वयं भगवान् को नहीं, बल्कि स्वर्ग-नरक को यह मानव आत्मा के धार्मिक जीवन का लक्ष्य बना डालता है। ये असंस्कृत धारणाएं मानव मन के मन्द शिक्षण में अपना प्रयोजन पूरा कर चुकी हैं, पर योगी के लिये ये किञ्चित् भी उपयोगी नहीं। योगी जानता है कि चाहे जो भी सत्य ये प्रकट करती हों वह वास्तव में संसार के बाह्य विधान के साथ विकासी मानव आत्मा के बाह्य सम्बन्धों का सत्य है न कि भगवान् के साथ मानव आत्मा के अन्तरीय सम्बन्धों का कोई अन्तरङ्ग सत्य; परन्तु योग का वास्तविक क्षेत्र तो ये अन्तरीय सम्बन्ध ही हैं।

तथापि इस विचार में से कुछ फलितार्थ निकलते हैं जो हमें भक्तियोग की देहरी के अधिक समीप ले जाते हैं। प्रथम भगवान् के विषय में यह विचार उद्भूत हो सकता है कि वह हमारी नैतिक सत्ता का मूलस्रोत, विधान और लक्ष्य है। इससे फिर उसके विषय में हमें यह ज्ञान हो सकता है कि वह परम आत्मा है जिसके लिये हमारी सक्रिय प्रकृति ललकती है, वह संकल्पशक्ति है जिसके साथ हमें अपने संकल्प को तद्रूप करना है, वह सनातन ऋत, पवित्रता, सत्य एवं प्रज्ञा है जिसके साथ हमारी प्रकृति को समरस होना है और जिसकी सत्ता की ओर हमारी सत्ता आकृष्ट होती है। इस प्रकार हम कर्मयोग पर जा पहुंचते हैं; इस योग में भगवान् की सगुण (वैयक्तिक) भक्ति को स्थान है, कारण, दिव्य संकल्प हमारे कर्मों का स्वामी प्रतीत होता है जिसकी वाणी हमें सुननी होगी और जिसकी दिव्य प्रेरणा का हमें अनुसरण करना होगा और जिसका काम करना ही हमारे सक्रिय जीवन और संकल्प का एकमात्र धन्धा है। दूसरे, यह विचार प्रादुर्भूत होता है कि यह दिव्य आत्म-सत्ता है, सबका जनक पिता है जो अपने सभी प्राणियों पर दयामय

रक्षा एवं प्रेम की छत्रच्छाया प्रसारित करता है, और उससे फिर जीव तथा भगवान् में पिता-पुत्र का सम्बन्ध, प्रेम का सम्बन्ध, और फलतः अपने सजातीयों के साथ भ्रातृभाव का सम्बन्ध पैदा हो जाता है। भगवान्, स्वामी और पिता के ये सम्बन्ध भक्तियोग के माने हुए अंग हैं, भगवान्—जिसकी प्रकृति की शान्त शुद्ध ज्योति में हमें विकसित होना है, स्वामी—जिसके पास हम अपने कर्मों और सेवा से पहुंचते हैं, पिता—जो पुत्रवत् अपनी शरण में आनेवाली आत्मा के प्रेम का प्रत्युत्तर देता है।

ज्यों ही हम इन फलितार्थों तथा इनके गूढ़तर आध्यात्मिक मर्म में भली-भांति प्रवेश करते हैं त्यों ही ईश्वर-भय-रूपी हेतु तुच्छ और थोथा ही नहीं, असंभव भी हो जाता है। यह मुख्यतः नैतिक क्षेत्र में महत्त्व रखता है जब कि आत्मा अभी सदाचार के लिये सदाचार का पालन करने को पर्याप्त विकसित नहीं होती और उसे अपने ऊपर किसी अधिकारी की आवश्यकता होती है जिसके कोप या जिसके कठोर निष्पक्ष निर्णय का उसे भय हो और फिर उस भय को वह अपनी सत्कर्मनिष्ठा का आधार बना सके। जब हम आध्यात्मिकता में विकसित होने लगते हैं तब यह प्रेरक फिर और नहीं टिक सकता, इसके सिवाय कि मन में कुछ भ्रांति ढिलमिलाती रहे, पुरानी मनोवृत्ति कुछ समय अड़ी रहे। अपिच, योग में नैतिक लक्ष्य पुण्यविषयक स्थूल भावना के लक्ष्य से भिन्न है। साधारणतः, नीतिशास्त्र सत्कर्म की एक प्रकार की मशीनरी समझा जाता है, कर्म ही सब कुछ है और सारा प्रश्न एवं सारा झगड़ा यही है कि सत्कर्म करना कैसे चाहिये। परन्तु योगी के लिये कर्म का महत्त्व मुख्यतः कर्म के लिये नहीं, बल्कि आत्मा के ईश्वर की ओर विकास के साधन के रूप में है। अतएव, भारतीय अध्यात्मशास्त्र करणीय कर्म के गुण पर उतना बल नहीं देता जितना कि कर्म के मूल स्रोत-रूप आत्मा के गुण पर, उसकी सत्यता, निर्भयता, पवित्रता, प्रीति, करुणा एवं हितेच्छा पर, अनिष्ट कामना के अभाव पर और इन गुणों के प्रवाहरूप कर्मों पर। यह पुराना पश्चिमी विचार कि 'मानव प्रकृति स्वभाव से ही बुरी है और पुण्य कर्म हमारी पतित प्रकृति के प्रतिकूल होते हुए भी अनुसरणीय है', प्राचीन काल से ही योगियों की विचारधारा में अभ्यस्त भारतीय मनोवृत्ति के विपरीत है। हमारी प्रकृति में, प्रचण्ड राजसिक और निम्नमुख तामसिक गुण के साथ-साथ, शुद्धतर सात्त्विक अंश भी है और इसे,—प्रकृति के इस उच्चतम अंग को,—प्रोत्साहित करना ही नीति-शास्त्र का कर्तव्य है। इसके द्वारा हम अपने अन्दर की दैवी प्रकृति को बढ़ाकर आसुरिक एवं पैशाचिक तत्त्वों से छुटकारा प्राप्त करते हैं। इसलिये ईश्वर-भीरु मनुष्य का यहूदियों का-सा सदाचार नहीं, बल्कि सन्त तथा ईश्वरप्रेमी की पवित्रता, प्रेम, परोपकार, सत्य, निर्भयता, अहिंसा ही इस मत के अनुसार नैतिक विकास का आदर्श है। अधिक व्यापक रूप में कहें तो, दैवी प्रकृति में विकसित होना ही हमारी नैतिक सत्ता की परिपूर्णता है। यह सर्वोत्तम रूप में इस प्रकार किया जा सकता है कि हम

ईश्वर को अपनी उच्चतर आत्मा, मार्गदर्शक और उन्नायक चिति-शक्ति या अपने प्रेम और सेवा का पात्र परम स्वामी अनुभव करें। उससे भय नहीं, बल्कि उससे प्रेम और उसकी सत्ता की स्वतन्त्रता तथा नित्य पवित्रता के प्रति अभीप्सा ही हमारा प्रेरकभाव होना चाहिये।

अवश्य ही, स्वामी और सेवक के तथा पिता और पुत्र के सम्बन्धों में भी भय आ घुसता है, परन्तु केवल तभी जब वे मानवी स्तर पर होते हैं, जब उनमें शासन, नियन्त्रण और दण्ड की प्रधानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है और प्रेम अपने-आपको थोड़ा-बहुत प्रभुत्व के पर्दे के पीछे आच्छादित कर लेने को बाध्य होता है। स्वामी के रूप में भी भगवान् किसी मनुष्य को दण्ड नहीं देते, धमकाते नहीं, आज्ञा-पालन के लिये दबाव नहीं डालते। यह तो मानव आत्मा का ही कर्तव्य है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक भगवान् की शरण में आये और अपने-आपको इसकी अभिभावक शक्ति के प्रति अर्पित करे, ताकि यह उसे अपने अधिकार में लाकर अपने ही दिव्य स्तरों की ओर उठा ले जाये और अनन्त द्वारा सान्त प्रकृति पर प्रभुत्व का तथा सर्वोच्च देव की सेवा का हर्ष प्रदान करे। इसी हर्ष के द्वारा अहंकार तथा निम्नतर प्रकृति से छुटकारा प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध की कुंजी है प्रेम, और भारतीय योग में यह सेवा या दास्य, दिव्य सखा की सुमधुर सेवा या दिव्य प्रियतम की सरस सेवा ही है। सर्वलोकमहेश्वर गीता में अपने सेवक, अपने भक्त से केवल यही चाहता है कि तुम जीवन में मेरे निमित्तमात्र बनो, बस और कुछ नहीं; यह मांग वह सखा, मार्गदर्शक, उच्चतर आत्मा के रूप में करता है और कहता है कि मैं सभी लोकों का स्वामी हूं तथा सब प्राणियों का सखा, **'सर्वलोकमहेश्वरं सुहृदं सर्वभूतानाम्'**; असल में दोनों सम्बन्ध साथ-साथ चलते हैं और इनमेंसे कोई भी दूसरे के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार हमारे प्रेममय पिता के रूप में ही ईश्वर हमें योगलभ्य प्रगाढ़तर आत्म-मिलन की ओर ले चलता है, हमारे उत्पादक पिता के रूप में नहीं, जो हमसे सेवा की मांग इसलिये करता है कि वह हमारी सत्ता का रचयिता है। दोनों में प्रेम ही वास्तविक कुंजी है, पूर्ण प्रेम में भयरूपी प्रेरक भाव का प्रवेश असंगत है। मानव आत्मा की भगवान् के साथ समीपता ही लक्ष्य है, भय सदा आवरण और दूरी पैदा करता है, यहांतक कि भागवत शक्ति के लिये सम्भ्रम और सम्मान का भाव भी दूरी और भेद का चिह्न है और प्रेम के मिलन की घनिष्ठता में ये सब लुप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, भय निम्नतर प्रकृति की, निम्नतर स्व की चीज है। उच्चतर आत्मा के पास जाते हुए इसे अलग कर देना होगा, तभी हम उसका सामीप्य लाभ कर सकेंगे।

दिव्य पिता का यह सम्बन्ध और जगन्माता आत्मशक्ति के रूप में भगवान् के साथ निकटतर सम्बन्ध एक अन्य प्रारम्भिक धार्मिक प्रेरक भाव से निकले हैं। गीता कहती है, एक प्रकार का भक्त वह होता है जो भगवान् की शरण में इस भाव से

जाता है कि वह मेरा इष्टफलदाता, मंगलकारी तथा मेरी बाह्यान्तर सत्ता की आवश्यकताएं पूरी करनेवाला है। भगवान् कहते हैं, "अपने भक्त के योगक्षेम का भार मैं वहन करता हूं, **योगक्षेमं वहाम्यहम्**।" मनुष्य का जीवन उसकी शारीरिक एवं प्राणिक सत्ता में नहीं, अपितु उसकी मानसिक एवं आध्यात्मिक सत्ता में भी आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं का और अतएव, कामनाओं का जीवन है। जब उसे यह ज्ञान होता है कि एक महत्तर शक्ति संसार का संचालन कर रही है तब वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, अपनी विषम यात्रा में सहायता के लिये, अपने संघर्ष में रक्षा तथा आश्रय प्राप्त करने के लिये प्रार्थना द्वारा उसकी शरण लेता है। प्रार्थना द्वारा भगवान् की ओर साधारण धार्मिक पहुंच, अपनेको भगवान् की ओर मोड़ देने के लिये यह प्रार्थनारूपी विधि हमारी धार्मिक सत्ता का मौलिक प्रयत्न है और एक सार्वभौम सत्य पर स्थित है भले ही इसमें कितनी भी अपूर्णताएं क्यों न हों, और सचमुच अनेक अपूर्णताएं हैं ही, विशेषकर वह वृत्ति जो मानती है कि भगवान् को प्रशंसा, अनुनय-विनय और उपहारों से रिझाकर, रिश्वत देकर, उसकी चापलूसी करके उसकी अनुमति या अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है और प्रायः उस भावना का कुछ आदर नहीं करती जिसे लेकर मनुष्य भगवान् के पास जाता है।

प्रार्थना के प्रभाव को प्रायः सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और स्वयं प्रार्थना अयुक्तियुक्त एवं निश्चितरूपेण निरर्थक तथा निष्फल चीज समझी जाती है। यह ठीक है कि वैश्व संकल्प सदैव अपने लक्ष्य को ही कार्यान्वित करता है और व्यक्ति के अहं की स्वार्थपूर्ण स्तुति एवं प्रार्थना से पथभ्रष्ट नहीं हो सकता, यह सच है कि जो परात्पर पुरुष विश्व-विधान में अपने-आपको व्यक्त करता है वह सर्वज्ञ होने के कारण अपने बृहत्तर ज्ञान से अपना कर्तव्य-कर्म अवश्यमेव पहले से ही जान लेता है और उसे मानव विचार के द्वारा मार्गनिर्देश या प्रेरणा प्राप्त करने की जरूरत नहीं, और किसी भी जगद्व्यवस्था में व्यक्ति की कामनाएं सच्चा निर्धारक तत्त्व नहीं हैं और न हो सकती हैं। परन्तु यह व्यवस्था या वैश्व संकल्प की सिद्धि निरे यांत्रिक नियम से नहीं, बल्कि कुछ एक शक्तियों एवं बलों के द्वारा कार्यान्वित होती है। उन शक्तियों एवं बलों में से, कम-से-कम मानव-जीवन के लिये, मानव संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धा कुछ कम महत्त्व की नहीं। प्रार्थना उस संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धा का एक विशेष रूपमात्र है। प्रार्थना के ढंग अनेक बार अधकचरे होते हैं और केवल बालसदृश ही नहीं,—जो अपने-आपमें कोई दोष नहीं है,—बल्कि बालिश भी होते हैं; परन्तु फिर भी इसमें एक वास्तविक शक्ति और अर्थ है। इसका बल और मर्म है—मनुष्य के संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धा का दैवी संकल्प के साथ सम्बन्ध जोड़ना, इस भाव से कि वह दिव्य संकल्प चिन्मय पुरुष का संकल्प है जिसके साथ हम अनेकविध सचेतन और सजीव सम्बन्ध स्थापित कर

सकते हैं। हमारा संकल्प और अभीप्सा हमारे अपने बल-पुरुषार्थ से भी कार्य कर सकते हैं और वह बल-पुरुषार्थ, निश्चय ही, चाहे निम्नतर और चाहे उच्चतर उद्देश्यों के लिये महान् एवं प्रभावपूर्ण वस्तु हो सकता है,—ऐसे अभ्यासक्रम कितने ही हैं जो कहते हैं कि एकमात्र इसी शक्ति का प्रयोग करना चाहिये। अथवा हमारा संकल्प एवं अभीप्सा भागवत या वैश्व संकल्प के आश्रय पर या उसकी अधीनता में भी कार्य कर सकते हैं। इस पिछली विधि में हम यह समझ सकते हैं कि भागवत संकल्प हमारी अभीप्सा को प्रत्युत्तर तो देता है, पर प्रायः यंत्रवत्, शक्ति के एक प्रकार के नियम के अनुसार, या कम-से-कम सर्वथा निर्वैयक्तिक रूप में, अथवा हम यह मान सकते हैं कि वह मानव आत्मा की दिव्य अभीप्सा एवं श्रद्धा को सचेतन रूप में प्रत्युत्तर देता है और सचेतन रूप में ही इसे अभीष्ट सहायता, मार्गनिर्देश, रक्षा तथा सफलता प्रदान करता है, '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**।'

प्रारम्भ में प्रार्थना निम्न स्तर पर भी हमारे लिये इस सम्बन्ध को तैयार करने में सहायता पहुंचाती है। पर इस अवस्था में, हमारे अन्दर जो बहुत-सी चीजें निरे अहंकार और आत्म-प्रवञ्चना से भरी होती हैं उनके साथ भी यह ताल मिलाये रहती है; तो भी आगे चलकर हम इसके मूल में निहित आध्यात्मिक सत्य की ओर बढ़ सकते हैं। इसलिये मुख्य वस्तु है इस प्रकार का साक्षात् सम्बन्ध, मनुष्य-जीवन का ईश्वर से सम्पर्क, सचेतन आदान-प्रदान, न कि प्रार्थित वस्तु की प्राप्ति। आध्यात्मिक विषयों में और आध्यात्मिक सम्पत्ति की खोज में यह सचेतन सम्बन्ध महान् शक्ति है; यह हमारे पूर्णतः आत्म-निर्भर संघर्ष एवं प्रयास से अधिक महत्तर शक्ति है और इसके द्वारा पूर्णतर आध्यात्मिक उन्नति एवं अनुभूति प्राप्त होती है। अवश्य ही अन्त में प्रार्थना या तो उस महत्तर वस्तु में जाकर समाप्त हो जाती है जिसके लिये इसने हमें तैयार किया था (असल में जबतक हमारे अन्दर श्रद्धा, संकल्प, अभीप्सा हैं तबतक इनका प्रार्थना-नामक रूप अपने-आपमें कुछ आवश्यक नहीं) अथवा यह केवल सम्बन्ध के हर्ष के लिये ही बनी रहती है। इसके उद्देश्य, इसके काम्य पदार्थ (अर्थ) भी उत्तरोत्तर ऊंचे-से-ऊंचे होते जाते हैं; फलतः अन्त में हम सर्वोच्च अहेतुकी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो अन्य किसी मांग या लालसा से रहित शुद्ध एवं सरल दिव्यप्रेम-रूपा भक्ति होती है।

भगवान् के प्रति ऐसा भाव रखने से दो प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं, दिव्य पिता और माता का पुत्र से सम्बन्ध और दिव्य सखा का सम्बन्ध। मानव आत्मा भगवान् को माता-पिता या सखा मानकर उसके पास सहायता के लिये, रक्षा के लिये, मार्गदर्शन के लिये, इष्टफल के लिये पहुंचती है,—अथवा यदि इसका लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना हो तो यह उसे गुरु, शिक्षक, प्रकाशदाता मानकर शरण में जाती है, क्योंकि भगवान् ज्ञान-सूर्य हैं,—अथवा वह दुःख-दर्द के समय सुख-शान्ति और मुक्ति के लिये भगवान् के पास पहुंचती है, भले ही यह स्वतः दुःख से मुक्ति

चाहती हो या इस दुःख-धाम जगत्-जीवन से अथवा इसके सभी भीतरी और असली कारणों से[1]। इन चीजों में हम एक विशेष प्रकार का क्रम पाते हैं। पिता का सम्बन्ध सदा ही कम निकट, तीव्र, स्निग्ध और अन्तरङ्ग होता है, अतएव योग में इसका आश्रय कम ही लिया जाता है, क्योंकि योग चाहता है घनिष्ठ मिलन। दिव्य सखा का सम्बन्ध अधिक मधुर और अधिक अन्तरङ्ग वस्तु है। इसमें असमानता के अन्दर भी समानता और घनिष्ठता के लिये अवकाश है, पारस्परिक आत्मदान प्रारम्भ करने की गुंजायश है, अपने अत्यन्त घनिष्ठ रूप में, जब अन्य प्रकार के लेन-देन का विचारमात्र लुप्त हो जाता है, जब यह सम्बन्ध प्रेमरूपी एकमात्र अनन्य सुपर्याप्त हेतु के सिवा अन्य हेतुओं से रहित हो जाता है तो यह जीवन-लीला के साथी के स्वतन्त्र और सुखद सम्बन्ध का रूप धारण कर लेता है। परन्तु माता-पुत्र का सम्बन्ध और भी अधिक निकट तथा अन्तरङ्ग है अतएव जहां धार्मिक उमंग अत्यन्त समृद्ध उल्लास से युक्त होती है वहां यह बहुत बड़ा भाग लेता है और मनुष्य के हृदय से अत्यन्त उत्साहपूर्वक उमड़ पड़ता है। आत्मा अपनी सभी कामनाओं और कष्टों में मातृस्वरूप आत्मा के पास जाती है और भगवती माता चाहती है कि ऐसा ही हो ताकि वह अपना प्रेममय हृदय उंडेल सके। आत्मा उसकी ओर इसलिये भी मुड़ती है कि इस प्रेम का स्वयंसिद्ध स्वभाव ही ऐसा है और इसलिये भी कि यह प्रेम हमें एक ऐसे घर का संकेत करता है जिसकी ओर हम जगत् में भटक चुकने के बाद मुड़ते हैं और एक ऐसे हृदय की ओर इंगित करता है जिसमें हम विश्राम पाते हैं।

परन्तु सबसे ऊंचा और सबसे महान् सम्बन्ध तो वह है जो साधारण धार्मिक प्रेरक भावों में से किसी से भी प्रारम्भ नहीं होता, वरन् जो योग के असली सारतत्त्व से युक्त होता है तथा स्वयं प्रेम के निज स्वभाव से ही उद्भूत होता है; वह है प्रेमी तथा प्रियतम का अनुराग; जहां कहीं आत्मा को ईश्वर से पूर्ण मिलन की अभिलाषा होती है वहां दिव्य उत्कण्ठा का यह रूप उन धर्मों में भी अपना मार्ग बना लेता है जो वैसे इसके बिना काम चलाते दीखते हैं और अपनी साधारण प्रणाली में इसे कोई स्थान नहीं देते। यहां एकमात्र प्रार्थित वस्तु है प्रेम, एकमात्र भयजनक वस्तु है प्रेम का विलोप। एकमात्र दुःख है प्रेम के वियोग का दुःख, क्योंकि और सब चीजें या तो प्रेमी के लिये अस्तित्व नहीं रखतीं अथवा वे उसके सामने प्रेम के प्रसंगों या फलों के रूप में ही उपस्थित हो सकती हैं न कि प्रेम के विषयों या अवस्थाओं के तौर पर। वास्तव में, प्रेममात्र अपने स्वरूप से ही स्वयंसत् है, क्योंकि इसका मूलस्रोत किन्हीं दो आत्माओं में सत्ता की गुप्त एकता और उनके हृदय में उस एकता की अनुभूति या एकता की आकांक्षा ही होती है; हां, वे आत्माएं फिर भी

[1] गीता में जो चार प्रकार के भक्त माने गये हैं, ये उन्हींमें से तीन हैं, आर्त (दुःखित), अर्थार्थी (अपने लिये भोग्य पदार्थों की कामना करनेवाला), जिज्ञासु (ईश्वर-ज्ञान का अभिलाषी)।

अपनेको एक-दूसरे से पृथक् और विभक्त समझने में समर्थ होती हैं। अतएव, ये सब सम्बन्ध भी केवल प्रेम के ही लिये सत्ता के स्वयंसिद्ध अहैतुक आनन्दतक पहुंच सकते हैं। फिर भी वे अन्य प्रेरक भावों से ही शुरू होते हैं और कुछ अंशों में वे अन्ततक उन्हींमें अपनी क्रीड़ा का थोड़ा-बहुत सुख प्राप्त करते हैं। किन्तु यहां प्रेम ही प्रारम्भ है और प्रेम ही अन्त, और सम्पूर्ण लक्ष्य भी प्रेम ही है। यह ठीक है कि स्वत्व-स्थापन की कामना भी वहां होती है, पर स्वयं-सत् प्रेम की परिपूर्णता में यह भी पराजित हो जाती है और भक्त की अन्तिम अभिलाषा यही होती है कि उसकी भक्ति न तो समाप्त हो और न ही न्यून। यह स्वर्ग की या जन्म-मरण से छुटकारे की या किसी और पदार्थ की कामना नहीं करता, वह बस यही चाहता है कि उसका प्रेम नित्य और अविच्छिन्न हो।

प्रेम एक भाव है और इसे दो चीजों की चाह होती है—नित्यता और तीव्रता की। प्रेमी और प्रियतम के सम्बन्ध में ही नित्यता और तीव्रता की यह चाह सहज और स्वाभाविक होती है। प्रेम है परस्पर स्वत्व-स्थापन की चाह, प्रेम-सम्बन्ध में ही यह स्वत्व-स्थापन की अभिलाषा चरम सीमा को पहुंचती है। स्वत्व-स्थापन की कामना का मतलब है दुईका भाव, पर इस कामना को पार करके प्रेम रह जाता है एकत्व की चाह, इस प्रेम-सम्बन्ध में ही एकत्व का विचार, यह विचार कि दो आत्माएं एक-दूसरे में निमज्जित होकर एक हो जाती हैं, अपनी उत्कण्ठा की पराकाष्ठा और अपनी तृप्ति की पूर्णता प्राप्त करता है। साथ ही प्रेम है सौन्दर्य की लालसा, यह लालसा इस प्रेम-सम्बन्ध में ही सर्व-सुन्दर का साक्षात्कार, स्पर्श और हर्ष प्राप्त कर नित्य-तृप्ति लाभ करती है। प्रेम है आनन्द का शिशु और अन्वेषक, इस प्रेम-संम्बन्ध में ही यह हृदय की चेतना के और साथ ही सत्ता के रोम-रोम के उच्चतम सम्भव आनन्द में विभोर हो उठता है। इसके अतिरिक्त, यह ऐसा सम्बन्ध है जो जैसे मनुष्य और मनुष्य के बीच में वैसे ही यहां भी अधिक-से-अधिक की याचना करता है और महत्तर तीव्रताओंतक पहुंचकर भी कम-से-कम सन्तुष्ट होता है, क्योंकि यह अपनी सच्ची और पूरी तृप्ति तो केवल भगवान् में ही प्राप्त कर सकता है। अतएव, सबसे अधिक इस सम्बन्ध में ही मनुष्य अपने भावों को ईश्वर की ओर मोड़कर उनकी पूर्ण सार्थकता अनुभव करता है और उस समस्त सत्य को उपलब्ध कर लेता है जिसका कि मानवी प्रतीक है प्रेम; उसकी सभी तात्त्विक सहज-प्रेरणाएं दिव्य, उदात्त होकर आनन्द में तृप्त हो जाती हैं। उस आनन्द से ही हमारा जीवन उत्पन्न हुआ था और उसीमें यह एकत्व के द्वारा लौट जाता है—दिव्य सत्ता के उस आनन्द में जहां प्रेम निरतिशय, नित्य और विशुद्ध है।

अध्याय ४

भक्ति का मार्ग

भक्ति अपने-आपमें इतनी विशाल है जितनी भगवान् के लिये आत्मा की हार्दिक उत्कण्ठा और इतनी सीधी तथा सरल जितने सीधे अपने लक्ष्य की ओर जानेवाले प्रेम और कामना। इसलिये यह किसी शास्त्रीय पद्धति में नहीं बांधी जा सकती, न ही राजयोग की भांति मनोवैज्ञानिक शास्त्र पर या हठयोग की तरह मनोभौतिक विज्ञान पर आधारित की जा सकती है और न ज्ञानयोग की सामान्य विधि के समान किसी नियत बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा चलायी जा सकती है। यह विविध साधनों या आलम्बनों का उपयोग कर सकती है। व्यवस्था, प्रक्रिया तथा प्रणाली में रुचि रखनेवाला मनुष्य इन सहायक साधनों का आश्रय लेकर इन्हें पद्धति का रूप देने का यत्न कर सकता है : किन्तु इसके भेदों का उल्लेख करने के लिये हमें मनुष्य के प्रायः सभी अनगिनत धर्मों के अन्तरीय ईश्वर-प्राप्ति के पहलू का विवेचन करना होगा। पर वास्तव में, अधिक प्रगाढ़ भक्तियोग अपने को केवल इन चार गतियों में परिणत करता है, ईश्वर की ओर उन्मुख आत्मा की चाह और इसके भावावेश का उसकी ओर अति प्रबल प्रवाह, प्रेम की पीर और प्रेम का दिव्य प्रतिफल, प्रेम के आनन्द की उपलब्धि तथा उस आनन्द की लीला, और दिव्य प्रेम का शाश्वत उपभोग जो स्वर्गीय आनन्द का मर्म है। ये ऐसी चीजें हैं जो एक साथ ही इतनी सरल और इतनी गहरी हैं कि इन्हें पद्धति का रूप देना या इनका विश्लेषण करना सम्भव नहीं। अधिक-से-अधिक कोई यही कह सकता है कि लीजिये ये हैं सिद्धि के चार क्रमिक तत्त्व, या सोपान,—यदि हम इन्हें ऐसा कह सकते हों,—और व्यापक रूप में, ये हैं कुछ साधन जिन्हें भक्तियोग प्रयोग में लाता है और फिर ये हैं भक्ति की साधना के कुछ पक्ष और अनुभव। पहले हमारे लिये केवल मोटे तौरपर उस सामान्य रूप-रेखा को जानना आवश्यक है जिसका ये अनुकरण करते हैं। उसके बाद ही हम इस विषय पर विचार कर सकते हैं कि कैसे भक्ति का मार्ग समन्वयात्मक और सर्वांगीण योग में प्रवेश करता है, वहां इसका क्या स्थान है और इसके सिद्धान्त का दिव्य जीवन-प्रणाली के अन्य सिद्धान्तों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

योगमात्र का अभिप्राय यह है कि मानव मन और मानव आत्मा जिन्होंने अभीतक दिव्यता को चरितार्थ नहीं किया है, पर जो अपने अन्दर दैवी संवेग तथा अकर्षण अनुभव करते हैं, उस सत्ता की ओर झुकते हैं जिसके द्वारा ये अपना महत्तर अस्तित्व उपलब्ध करते हैं। हृद्भावों की दृष्टि से, यह झुकाव सबसे पहले जो रूप ग्रहण करता है वह है आराधना। साधारण धर्म में यह आराधना बाह्य

पूजा का रूप धारण कर लेती है और वह पूजा, फिर कर्मकांडीय पूजा के अत्यन्त बाहरी रूप को जन्म देती है। यह तत्त्व साधारणतया आवश्यक भी है, क्योंकि अधिकतर मनुष्य अपने स्थूल मनों में रहते हैं, स्थूल प्रतीक के सहारे के बिना कोई भी चीज अनुभव नहीं कर पाते और स्थूल कर्म के सहारे के बिना यह भी अनुभव नहीं कर सकते कि वे कुछ जी भी रहे हैं। यहां हम तान्त्रिक साधनाक्रम से इसका सम्बन्ध देख सकते हैं। तान्त्रिक साधना भी पशु, पाशविक या स्थूल सत्ता के मार्ग को अपने अभ्यासक्रम का सबसे निचला सोपान बनाती है और कहती है कि निरी या प्रबल कर्मकाण्डी आराधना पाशविक मार्ग के इस सबसे निचले भाग की पहली सीढ़ी है। यह स्पष्ट है कि वास्तविक धर्म भी (योग तो धर्म से अधिक कुछ है) तभी शुरू होता है जब कि यह बिल्कुल बाहरी पूजा किसी सच्ची मनोनुभूत वस्तु से, किसी सच्चे नमन, संभ्रम या आध्यात्मिक अभीप्सा से सम्बन्ध रखती हो। कारण, तब यह उस वस्तु की सहायक या बाह्य अभिव्यक्ति बन जाती है; साथ ही, यह एक प्रकार से समय-समय पर या नित्य-निरन्तर उसका स्मरण कराके मन को साधारण जीवन के धंधों से उसकी ओर मोड़ने में सहायक होती है। परन्तु जबतक हम देवाधिदेवविषयक किसी धारणा की ही पूजा करते हैं तबतक हम अभी योग के आरम्भबिन्दु पर भी नहीं पहुंचे होते। योग का लक्ष्य है मिलन, अतएव सदा ही इसका आरम्भ होगा भगवान् की खोज से, किसी प्रकार के स्पर्श, समीपता या स्वत्व की स्पृहा से। जब यह स्पर्श हमें एकाएक प्राप्त होता है तब तो आराधना सदैव, प्रधान रूप से, आंतरिक पूजा बन जाती है; हम अपने-आपको भगवान् का मन्दिर बनाने लगते हैं, अपने विचारों और भावों को अभीप्सा तथा जिज्ञासा की अनवरत प्रार्थना और अपने सारे जीवन को बाह्य सेवा तथा पूजा बनाते हैं। जैसे ही यह परिवर्तन, यह नयी आत्मिक प्रवृत्ति बढ़ती है, वैसे ही योग, वर्धमान सम्पर्क और मिलन ही भक्त का धर्म बन जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि बाह्य पूजा निश्चितरूपेण त्याग दी जायेगी, वरन् यह उत्तरोत्तर आन्तरिक भक्ति और आराधना का केवल स्थूल प्रकाश या प्रवाह बन जायेगी, आत्मा की ऐसी तरंग बन जायेगी जो वाणी और प्रतीकात्मक कार्य में अपनेको प्रकट करती है।

यदि आराधना खूब गहरी है तो इसके पूर्व कि यह गभीरतर भक्तियोग का अंग बने, प्रेम-पुष्प की पंखुरी, अपने सूर्य के प्रति इसका अर्घ्यदान और ऊर्ध्वगमन बने, यह उपास्य देव के प्रति सत्ता के अधिकाधिक आत्म-निवेदन को अपने साथ अवश्य लायेगी। निश्चय ही, इस आत्म-निवेदन का एक तत्त्व होगा अपनेको शुद्ध करना जिससे हम भगवान् के साथ सम्पर्क के लिये, अपनी अन्तःसत्ता के मंदिर में भगवान् के प्रवेश के लिये, या हृदय की वेदी में उसके आत्म-प्रकाश के लिये योग्य बन जायें। शुद्धि की इस क्रिया का स्वरूप नैतिक हो सकता है, किन्तु यह ठीक और निर्दोष कार्य के लिये नैतिकतावादी की खोजमात्र नहीं होनी चाहिये,

यहांतक कि जब एक बार हम योग की स्थिति में पहुंच जायेंगे तो यह आत्म-शुद्धि रूढ़ धर्म में प्रतिपादित ईश्वरीय विधान का पालनमात्र नहीं रहेगी, वरन् तब इसका मतलब यह होगा कि जो भी चीजें भगवान् के शुद्ध स्वरूप-विषयक या हमारे अन्तःस्थ भगवान्‌विषयक विचार की विरोधी हैं उन सबका परित्याग (Katharsis)। पहली अवस्था में यह जो रूप धारण करती है वह यह है कि हम अनुभव करने के ढंग में और बाह्य कर्म में भगवान् का अनुकरण करते हैं, दूसरी अवस्था में यह कि हम अपनी प्रकृति में उसके सदृश होते जाते हैं। भगवान् की सदृशता प्राप्त करने का बाह्य नैतिक जीवन से वही सम्बन्ध है जो आन्तरिक आराधना का कर्मकाण्डी पूजा से। इसकी पराकाष्ठा है—भगवत-सादृश्य-लाभ के द्वारा एक प्रकार की मुक्ति,[1] निम्नतर प्रकृति से मुक्ति और दिव्य प्रकृति में रूपांतर।

आत्मनिवेदन पूर्ण होकर भगवान् के प्रति हमारी सारी सत्ता के—हमारे सभी विचारों और कर्मों के भी—अर्पण का रूप धारण कर लेता है; यहां यह योग कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के सारभूत तत्त्वों को अपने अन्तर्गत कर लेता है, पर अपनी ही रीति से, अपनी ही अनूठी भावना के साथ। यह है जीवन और कर्मों का भगवान् के प्रति यज्ञ, परन्तु अपने संकल्प को भागवत संकल्प के साथ एकस्वर करने की अपेक्षा कहीं अधिक यह प्रेम का यज्ञ है। भक्त अपना जीवन तथा जो कुछ वह है, जो कुछ उसके पास है और जो कुछ वह करता है वह सब भगवान् को अर्पित कर देता है। यह समर्पण तपस्या का रूप धारण कर सकता है, जैसा कि तब होता है जब वह साधारण लोकजीवन का त्याग कर केवल स्तुति, प्रार्थना और उपासना में या तन्मय ध्यान में अपने दिन व्यतीत करता है, अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति छोड़कर साधु या भिक्षु बन जाता है जिसका एकमात्र धन होता है भगवान्, जीवन के सभी काम छोड़ देता है, सिवाय उनके जो भगवान् के साथ समागम और अन्य भक्तों के साथ समागम में सहायक या उससे सम्बद्ध होते हैं, अथवा अधिक-से-अधिक वह अपने तापस जीवन के सुरक्षित दुर्ग से लोक-सेवा के वे कार्य करना जारी रखता है जो विशेष रूप से प्रेम, करुणा और मंगल साधन की दैवी प्रकृति का प्रवाह प्रतीत होते हैं। परन्तु एक इससे भी विशालतर आत्म-निवेदन है जो किसी भी सर्वांगीण योग की विशेषता होती है। कारण, सर्वांगीण योग जीवन तथा जगत् के सम्पूर्ण वैभव-विलास को भगवान् की लीला मानता है, और समग्र सत्ता को उसके अधिकार में सौंप देता है; इस आत्म-निवेदन का स्वरूप यह है कि हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारे पास है उस सबको ऐसा समझें कि यह भगवान् का ही है, हमारा नहीं और हम सभी काम उसके प्रति अर्घ्य के रूप में करें। इससे आन्तर तथा बाह्य दोनों जीवनों का पूर्ण सक्रिय उत्सर्ग, अविकल आत्म-दान सम्पन्न हो जाता है।

[1] सादृश्यमुक्ति

इसी प्रकार विचारों का भी भगवान् के प्रति निवेदन होता है। अपने आरम्भ में यह मन को आराधना के विषय पर स्थिर करने का प्रयत्न होता है,—क्योंकि चंचल मानव-मन स्वभावतः ही अन्य विषयों में लगा रहता है तथा जब इसे ऊपर की ओर फेरा जाता है तब भी संसार इसे लगातार अपनी ओर खींचता रहता है। परन्तु एकाग्रता के अभ्यास से अन्त में उसीका चिन्तन करने का उसका स्वभाव बन जाता है और अन्य सब केवल गौण हो जाता है तथा इसका चिन्तन वह केवल उसीके सम्बन्ध से करता है। चिन्तन के लिये प्रायः स्थूल प्रतिमा की या, अधिक अन्तरंग तथा विशिष्ट रूप में, किसी मन्त्र या भगवन्नाम की सहायता ली जाती है जिसके द्वारा भागवत सत्ता का साक्षात्कार प्राप्त होता है। पद्धति के निर्माता शास्त्रकार मन की भक्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति के तीन सोपान मानते हैं; प्रथम, भगवान् के नाम, गुणावली तथा इनसे सम्बन्धित सभी बातों का निरन्तर श्रवण, दूसरे, इनका या भागवत सत्ता किंवा व्यक्तित्व का अनवरत मनन, तीसरे, ध्येय पर मन को स्थिर एवं एकाग्र करना या निदिध्यासन; इससे पूर्ण साक्षात्कार उपलब्ध होता है। जब इनका सहचारी अनुभव या एकाग्रता अत्यन्त सघन हो तो इन्हींसे (श्रवण, मनन, निदिध्यासन से) समाधि भी प्राप्त होती है, ऐसी समाहित अवस्था जिसमें चेतना बाह्य पदार्थों से दूर चली जाती है। परन्तु वास्तव में यह सब गौण ही है; एकमात्र मुख्य बात है मन के विचार की आराध्य में प्रगाढ़ रति। चाहे यह ज्ञानमार्ग के ध्यान के सदृश प्रतीत होती है, पर अपनी भावना में यह उससे भिन्न है। अपने असली स्वरूप में यह निस्तब्ध नहीं, वरन् तन्मय ध्यान है; यह भगवान् की सत्ता में लीन नहीं हो जाना चाहती, बल्कि भगवान् को हमारे अन्दर लाना और उसकी उपस्थिति के या उसकी प्राप्ति के गभीर हर्षावेश में हमें मग्न कर देना चाहती है; इसका आनन्द एकत्व की शान्ति नहीं, वरन् मिलन का हर्षावेश है। यहां भी सम्भव है कि यह आत्म-उत्सर्ग पृथक्कारक हो जिसका परिणाम होगा जीवन के अन्य समस्त विचार का परित्याग करके इस हर्षावेश को प्राप्त करना जो आगे चलकर उस पार के स्तरों में शाश्वत बन जाता है। अथवा यह उत्सर्ग व्यापक भी हो सकता है जिसमें सभी विचार भगवान् से परिपूर्ण होते हैं, यहांतक कि जीवन के धन्धों में भी प्रत्येक विचार उसीको स्मरण करता है। जैसे अन्य योगों में वैसे इसमें भी मनुष्य को सभी जगह और सबमें भगवान् दिखायी देने लगते हैं और वह अपनी सभी आन्तरिक क्रियाओं तथा बाह्य कार्यों में भगवान् के साक्षात्कार को प्रवाहित करने लगता है। परन्तु यहां सब कुछ भाविक मिलन की प्रधान शक्ति पर ही टिका होता है : क्योंकि प्रेम के द्वारा ही पूर्ण आत्म-निवेदन तथा पूर्ण प्राप्ति संपन्न होती है, और विचार तथा कर्म भागवत प्रेम के रूप एवं आकार बन जाते हैं और यह प्रेम आत्मा तथा इसके करणों को अधिकृत कर लेता है।

यह सामान्य गति है। प्रारम्भ में जो शायद भगवान्-विषयक किसी विचार की

अस्पष्ट आराधना होती है वही इस गति के द्वारा भागवत प्रेम का रंग-रूप ले लेती है तथा पीछे, एक बार योगमार्ग में प्रवेश पाते ही, भागवत प्रेम का आन्तरिक सत्य एवं सघन अनुभव बन जाती है। परन्तु एक इससे भी अधिक अन्तरङ्ग योग है जो शुरू से ही प्रेमस्वरूप होता है और बिना अन्य प्रक्रिया या पद्धति के इसकी उत्कण्ठा की तीव्रता से ही सिद्धि लाभ करता है। शेष सब कुछ भी प्राप्त अवश्य होता है, पर यह इसीमेंसे निकलता है जैसे बीज में से पत्ता और फूल; और चीजें प्रेम को बढ़ाने तथा पूर्ण करने के साधन नहीं, बल्कि आत्मा में पहले से ही बढ़ रहे प्रेम की रश्मिच्छटा हैं। यही है वह मार्ग जिसपर आत्मा चलती है जब कि वह, शायद साधारण मानवजीवन में व्यस्त रहती हुई भी गुप्त वृन्दावन के अदूर पर्दे के पीछे देवाधिदेव की वंशी की तान सुनकर अपनी सुधबुध खो बैठती है और उसे तबतक तृप्ति नहीं होती, तबतक कल नहीं पड़ती जबतक वह दिव्य वंशीवादक को ढूंढ़कर अपनी पकड़ और अधिकार में नहीं ले आती। पार्थिव विषयों से समस्त सौंदर्य और आनन्द के आध्यात्मिक स्रोत की ओर मुड़ते हुए हृदय और आत्मा में जो शुद्ध प्रेम की शक्ति होती है वह साररूप में यही है। आनन्द के स्रोत की इस खोज में प्रेम के सब भाव और राग, सभी वृत्तियां और अनुभूतियां निवास करती हैं। यह प्रेम अपने परम इष्ट पदार्थ पर केन्द्रित होता है तथा मानवी प्रेम को तीव्रता की जो पराकाष्ठा प्राप्त हो सकती है उससे सैंकड़ों गुना तीव्रतर होता है। इसका परिणाम होता है सारे जीवन में उथल-पुथल, अतीन्द्रिय दिव्य दर्शन के द्वारा प्रकाश की प्राप्ति, हृदय की अभिलाषा के अनन्य ध्येय के लिये अतृप्त स्पृहा, इस एकमात्र कार्य से विक्षिप्त करनेवाली सभी चीजों के प्रति तीव्र असहिष्णुता, उपलब्धि के मार्ग में आनेवाले विघ्नों की उग्र वेदना, एक ही मूर्त्ति में समस्त सौन्दर्य और आनन्द के पूर्ण दर्शन। इसमें होती है प्रेम की सारी अनेकविध वृत्तियां, ध्यान और तन्मयता का हर्ष, समागम, कृतार्थता तथा आलिंगन का आनन्द, विरह की व्यथा, प्रेम का कोप, उत्कण्ठा के आंसू, पुनर्मिलन का प्रवृद्ध आनन्द। हृदय अन्तश्चेतना के इस परम काव्य का दृश्यपट होता है, परन्तु ऐसा हृदय जो उत्तरोत्तर प्रबल आध्यात्मिक परिवर्तन में से गुजरकर आत्मा का उज्ज्वल रूप में खिलता हुआ कमल बन जाता है। जैसे इसकी खोज की तीव्रता सामान्य मानवीय भावों के सर्वोच्च सामर्थ्य से परे की चीज है, वैसे ही इसका आनन्द और चरम हर्षातिरेक कल्पना की पहुंच से परे तथा वाणी से अवर्णनीय हैं। यह तो देवाधिदेव का आनन्द है जो मनुष्य की समझ से बाहर है।

भारतीय भक्ति ने इस दिव्य प्रेम को शक्तिशाली रूप तथा काव्यात्मक प्रतीक प्रदान किये हैं जो वास्तव में उतने प्रतीक नहीं हैं जितने कि सत्य की अन्तरीय अभिव्यक्तियां। कारण, उस सत्य को और किसी तरह व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। भारतीय भक्ति दिव्य व्यक्ति के दर्शन करती है और मानवीय सम्बन्धों को

प्रयोग में लाती है, केवल संकेतों के रूप में नहीं, वरन् इस कारण कि मानव आत्मा के साथ परम आनन्द और सौन्दर्य के ऐसे दिव्य सम्बन्ध सचमुच में हैं जिनके अपूर्ण पर फिर भी वास्तविक प्रतिरूप हैं मानवीय सम्बन्ध, और इस कारण भी कि वह आनन्द और सौन्दर्य नितान्त अगोचर दार्शनिक सत्ता के अमूर्त रूप या गुण नहीं हैं, बल्कि परम पुरुष का साक्षात् शरीर और स्वरूप हैं। वह एक सजीव आत्मा ही है जिसके लिये कि भक्त की आत्मा लालायित होती है; क्योंकि जीवन्मात्र का उद्गम सत्ता की कोई भावना या धारणा या अवस्था नहीं, बल्कि एक वास्तविक पुरुष है। इसलिये, दिव्य प्रियतम की प्राप्ति में आत्मा का समस्त जीवन तृप्त हो जाता है और जिन सम्बन्धों द्वारा वह अपनेको उपलब्ध करती तथा जिनमें अपनेको प्रकट करती है वे भी पूरी तरह चरितार्थ हो जाते हैं; इसीलिये उनमेंसे किसीके तथा सभीके द्वारा प्रियतम खोजा जा सकता है, किन्तु जिन सम्बन्धों में प्रगाढ़ता की गुंजाइश सबसे अधिक है उन्हींके द्वारा उसकी खोज सदैव अत्यन्त तीव्र और उसकी प्राप्ति गभीरतम हर्षावेश से युक्त हो सकती है। आत्मा उसे भीतर हृदय में खोजती है और इसीलिये सबसे पृथक् स्वयं आत्मा में ही सत्ता की अन्तःसमाहित एकाग्रता के द्वारा खोजती है; पर साथ ही सब जगह जहां कहीं भी वह अपनी सत्ता को प्रकाशित करता है उसे देखती तथा प्रेम करती है। सत्ता के समस्त सौन्दर्य और हर्ष को वह उसके हर्ष तथा सौन्दर्य के रूप में देखती है; सर्वभूत में वह आत्मा के द्वारा उसका आलिंगन करती है; उपभोग किया हुआ प्रेम का हर्षावेश अपने-आपको सार्वभौम प्रेम में उंडेल देता है; सत्तामात्र इसके आनन्द का विच्छुरण बन जाती है, यहांतक कि अपनी ठेठ प्रतीतियों में भी अपने बाह्य आकार से भिन्न किसी वस्तु में रूपान्तरित हो जाती है। स्वयं यह जगत् दिव्य आनन्द की लीला अनुभूत होता है और जिसमें संसार अपनेको खो देता है वह है शाश्वत मिलन के दिव्यानन्द का स्वर्गधाम।

अध्याय ५

भागवत व्यक्तित्व

समन्वयात्मक योग ज्ञान और भक्ति को केवल अपने अन्दर सम्मिलित ही नहीं करता, बल्कि इन्हें एक कर देता है, अतएव इसमें तुरन्त एक प्रश्न पैदा होता है, भागवत व्यक्तित्व का कठिन और कष्टप्रद प्रश्न। आधुनिक विचार की सारी प्रवृत्ति व्यक्तित्व का महत्त्व कम करने की रही है; इसने सत्ता के गहन तथ्यों के मूल में केवल एक महान् निर्वैयक्तिक शक्ति, धूमिल सम्भूति के ही दर्शन किये हैं। वह महान् शक्ति भी निर्वैयक्तिक शक्तियों तथा निर्वैयक्तिक नियमों के द्वारा अपने को कार्यान्वित करती है, जब कि व्यक्तित्व अपनेको इस निर्वैयक्तिक गति के तथ्य की सतह पर परवर्ती, गौण, आंशिक तथा क्षणिक दृग्विषय के रूप में ही प्रस्तुत करता है। मान लिया कि इस शक्ति में चेतना है, फिर भी प्रतीत यह होता है कि वह चेतना निर्वैयक्तिक तथा निर्गुण है, अपने सार में अमूर्त्त गुणों या सामर्थ्यों के सिवा और सब चीजों से शून्य है; क्योंकि अन्य प्रत्येक वस्तु केवल परिणाम एवं तुच्छ दृग्विषय है। प्राचीन भारतीय विचार सीढ़ी के बिलकुल दूसरे सिरे से चलकर अपनी अधिकतर दिशाओं में इसी व्याप्ति पर पहुंचा। इसने निर्वैयक्तिक सत्ता को मूल तथा सनातन सत्य कल्पित किया; इसके अनुसार व्यक्तित्व तो केवल भ्रम है या, अधिक-से-अधिक, मन का एक दृग्विषय।

इसके विपरीत, यदि भगवान् के व्यक्तित्व को वास्तविक सत्ता न माना जा सके—भ्रम का मूलाधार नहीं, बल्कि वास्तविक सद्वस्तु—तो भक्तिमार्ग सम्भव नहीं। प्रेमी और प्रियतम के बिना प्रेम सम्भव ही नहीं। यदि हमारा व्यक्तित्व एक भ्रम है और जिस परम व्यक्तित्व की ओर हमारी पूजा ऊपर उठती है वह भी यदि इस भ्रम का एक प्रधान पक्षमात्र है, और यदि हम ऐसा मानते हों तो, प्रेम तथा पूजा का तुरन्त अन्त हो जायेगा, अथवा ये हृदय के अयुक्तियुक्त राग में ही जीवित रह सकेंगे, क्योंकि हृदय जीवन के प्रबल स्पन्दनों के द्वारा तर्कबुद्धि के स्पष्ट तथा शुष्क सत्यों का निषेध करता है। हमारे मनों की छाया या चमकीले विश्व-प्रपञ्च की, जो सत्यदृष्टि के सामने लुप्त हो जाता है, प्रेमपूर्वक पूजा करना सम्भव तो है, किन्तु ऐसी स्वगठित आत्म-प्रवञ्चना पर मुक्तिमार्ग की नींव नहीं रखी जा सकती। अवश्य ही भक्त बुद्धि के इन संशयों को अपने मार्ग में नहीं आने देता; उसके अपने हृदय में स्फुरणाएं उठती हैं और वही उसके लिये पर्याप्त होती हैं। परन्तु पूर्णयोग के साधक को अन्ततक छाया के आनन्द पर नहीं अड़े रहना है, बल्कि सनातन तथा चरम सत्य का ज्ञान प्राप्त करना है। यदि निर्वैयक्तिक ही एकमात्र स्थायी सत्य हो तो दृढ़ समन्वय सम्भव नहीं। अधिक-से-अधिक वह

भागवत व्यक्तित्व को एक प्रतीक, शक्तिशाली तथा फलजनक कल्पना मान सकता है। किन्तु अन्त में उसे इसका अतिक्रमण करके केवल चरम ज्ञान का अनुसरण करने के लिये भक्ति को तिलांजलि देनी होगी। उसे निराकार सद्वस्तु पर पहुंचने के लिये सत्ता को इसके सब प्रतीकों, मूल्यों और निहित तत्त्वों से रिक्त करना होगा।

परन्तु हम कह चुके हैं कि वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता, हमारे मनों की समझ के अनुसार, भगवान् के दो पक्षमात्र हैं और दोनों उसकी सत्ता में निहित हैं; वे एक ही वस्तु हैं जिसे हम दो विरोधी दिशाओं से देखते हैं तथा जिसमें हम दो द्वारों से प्रवेश करते हैं। यह हमें सुस्पष्ट रूप में देख लेना चाहिये, ताकि जब हम भक्ति की उमंग और प्रेम की स्फुरणा का अनुसरण करें तब यदि बुद्धि नाना सन्देह उठाकर हमें सताना चाहे या दिव्य मिलन के हर्ष के भीतर हमारा पीछा करे तो हम अपनेको उन सन्देहों से मुक्त कर सकें। निश्चय ही वे सन्देह उस हर्ष से परे झड़ जाते हैं, किन्तु यदि हम दार्शनिक मन के बोझ के नीचे अत्यधिक दबे हुए हैं तो वे लगभग उस हर्ष की देहरीतक हमारे साथ चले आ सकते हैं। इसलिये यह अच्छा होगा कि हम अपनेको इनसे यथाशीघ्र खाली कर लें यह जानकर कि बुद्धि या तर्कवादी दार्शनिक मन सत्य के पास पहुंचने की अपनी विशेष विधि में सीमित है और बौद्धिक मार्ग से आरम्भ करनेवाला आध्यात्मिक अनुभव भी सीमाबद्ध है; इस प्रकार हम देखेंगे कि निश्चय ही यह उच्चतम तथा विशालतम आध्यात्मिक अनुभव की पूर्ण समग्रता नहीं है। आध्यात्मिक सहजज्ञान सदैव विवेकबुद्धि से अधिक प्रकाशपूर्ण मार्गदर्शक है, आध्यात्मिक सहजज्ञान हमें बुद्धि द्वारा ही नहीं, अपितु हमारी शेष सारी सत्ता के द्वारा भी, हृदय और प्राण के द्वारा भी, मार्ग दिखाता है। अतः सर्वांगीण ज्ञान वह होगा जो इन सबको दृष्टि में रखकर इनके विभिन्न सत्यों को एकीभूत करे। स्वयं बुद्धि को भी अधिक गहरी तृप्ति होगी यदि वह अपने स्वीकृत तथ्योंतक ही सीमित न रहकर हृदय तथा प्राण के सत्य को भी स्वीकार करे और उन्हें उनका चरम आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करे।

दार्शनिक बुद्धि का स्वभाव है भावों में विचरण करना, उन्हें एक प्रकार की निजी अमूर्त्त वास्तविकता प्रदान करना। वह वास्तविकता उनके उन सब गोचर रूपों से पृथक् होती है जो हमारे जीवन तथा व्यक्तिगत चेतना पर प्रभाव डालते हैं। इसकी प्रवृत्ति इन रूपों को इनके रिक्ततम तथा अत्यन्त सर्वसामान्य लक्षणों में परिणत करने की होती है और सम्भव हो तो इन्हें भी सूक्ष्म कर किसी अन्तिम अमूर्त्त भाव का रूप देने की। शुद्ध बौद्धिक मार्ग जीवन से उलटी तरफ जाता है। वस्तुओं पर विचार करते हुए बुद्धि हमारे व्यक्तित्व पर उनके प्रभावों से पीछे हटकर उनके मूल में स्थित किसी एक सर्वसामान्य तथा निर्वैयक्तिक सत्य पर पहुंचने का यत्न करती है; उस प्रकार के सत्य को यह सत्ता का अनन्य वास्तविक सत्य या कम-से-कम सद्वस्तु की एकमात्र उत्कृष्ट तथा स्थायी शक्ति समझने की ओर प्रवृत्त होती है।

अपनी पराकाष्ठा में यह, स्वभाववश तथा अनिवार्य रूप से, चरम निर्वैयक्तिकता और चरम अमूर्त्त भाव पर ही पहुंचेगी। प्राचीन दर्शनों का परिपाक इसीमें हुआ। उन्होंने प्रत्येक पदार्थ को तीन अमूर्त्त भावों में परिणत कर दिया, सत्, चित्, आनन्द; इन तीनों में से दो से, जो पहले तथा अत्यन्त अमूर्त्त भाव पर अवलम्बित प्रतीत होते थे, पिण्ड छुड़ाकर वे सभीको उस शुद्ध निराकार सत् में अन्तर्भूत करने में प्रवृत्त हुए जिससे अन्य प्रत्येक वस्तु, सब रूप, सब मूल्य बाहर निकले हैं, सिवा सत्ता के एकमेव अनन्त कालातीत तत्त्व के। परन्तु बुद्धि को अभी एक और सम्भव कदम उठाना था और वह उसने बौद्ध-दर्शन में उठाया। इसने देखा कि सत्ता का यह अन्तिम तथ्य भी एक रूपमात्र है; इसने उसका भी विश्लेषण किया और अनन्त शून्य पर जा पहुंची जो या तो कोई शुद्ध रिक्तता हो सकता था या फिर कोई नित्य शब्दातीत वस्तु।

जैसा कि हम जानते हैं, हृदय और प्राण का नियम इससे ठीक उलटा है। वे अमूर्त्त भावों से नहीं जी सकते; उन्हें केवल ऐसी चीजों से तृप्ति मिल सकती है जो ठोस हैं या इन्द्रियग्राह्य हो सकती हैं; चाहे भौतिक तौर पर और चाहे मानसिक या आध्यात्मिक तौर पर उनका लक्ष्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसकी वे बौद्धिक पृथक्करण के द्वारा विवेचना तथा प्राप्ति करना चाहते हैं; वे तो चाहते हैं अपने लक्ष्य की जीवन्त अभिव्यक्ति, उसपर सचेतन स्वत्व और उसका सचेतन आनन्द। जिसे वे प्रत्युत्तर देते हैं वह अगोचर मन या निर्वैयक्तिक सत्ता की तृप्ति नहीं, बल्कि हमारे अन्दर के पुरुष, चेतन व्यक्ति का हर्ष और कर्म ही है; सान्त या अनन्त, वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसके लिये अपनी सत्ता के आनन्द और बल सत्य हैं। अतएव, जब हृदय और प्राण सर्वोच्च तथा अनन्त की ओर मुड़ते हैं तो किसी वस्तुशून्य सत् या असत्, सत् अथवा निर्वाण, पर नहीं पहुंचते, बल्कि सत् पुरुष पर, केवल एक चेतना पर नहीं, बल्कि चैतन्य पुरुष पर, केवल "है" के शुद्ध निर्वैयक्तिक आनन्द पर नहीं, वरन् आनन्द के अनन्त "मैं हूं" पर, आनन्दमय पुरुष पर; न ही वे उसकी चेतना और आनन्द को निराकार सत् में निमज्जित तथा विलीन कर सकते हैं, बल्कि वे तो तीनों की एक में उपलब्धि पर आग्रह करते हैं, क्योंकि सत्ता का आनन्द उनकी सर्वोच्च शक्ति है और चेतना के बिना आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। भारत के अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेम-धर्म के परम प्रतीक श्रीकृष्ण, अर्थात् आनन्दस्वरूप तथा सर्वसुन्दर पुरुष का यही तात्पर्य है।

बुद्धि भी इस प्रवृत्ति का अनुसरण कर सकती है, पर तब यह शुद्ध नहीं रह जाती, यह अपनी कल्पना-शक्ति को अपनी सहायता के लिये आमंत्रित करती है, यह मूर्त्तिकार बन जाती है, प्रतीकों तथा मूल्यों की स्रष्ट्री, आध्यात्मिक कलाकर्त्री तथा कवयित्री। अतएव, कठोरतम बौद्धिक दर्शन सगुण को, भागवत व्यक्ति को, परम वैश्व प्रतीकमात्र मानता है; यह कहता है, इससे परे सद्वस्तु की ओर जाओ

और तुम अन्त में निर्गुण, शुद्ध निर्वैयक्तिक पर पहुंचोगे। इसका प्रतिपक्षी दर्शन सगुण की उच्चता स्थापित करता है; सम्भवतः यह कहेगा कि जो निर्गुण है वह सगुण की आध्यात्मिक प्रकृति का द्रव्य या उपादानमात्र है जिसमें से वह अपनी सत्ता, चेतना और आनन्द की शक्तियों को, अपना स्वरूप प्रकाश करनेवाली सभी चीजों को व्यक्त करता है। निर्गुण तो प्रत्यक्ष अभाव-पक्ष है जिसमें से वह अपने व्यक्तित्वरूपी नित्य भाव-पक्ष के कालगत नाना रूपों को बाहर निकालता है। स्पष्ट ही यहां दो सहज प्रेरणाएं काम कर रही हैं, अथवा, यदि हम बुद्धि के लिये इस शब्द का प्रयोग करने से हिचकिचाएं, तो यूं कहना चाहिये कि हमारी सत्ता की दो स्वाभाविक शक्तियां हैं जो एक ही सद्वस्तु के साथ अपने-अपने ढंग से बरताव कर रही हैं।

बुद्धि के विचार, इसके विवेक, तथा हृदय और प्राण की अभीप्साएं, इनकी निकट उपलब्धियां—दोनों के मूल में सत्य निहित हैं जिन पर पहुंचने के ये साधन हैं। आध्यात्मिक अनुभव दोनों को सत्य सिद्ध करता है; दोनों उसकी दिव्य चरम सत्ता पर पहुंचते हैं जिसे कि वे खोज रहे हैं। परन्तु फिर भी इनमेंसे प्रत्येक, यदि उसमें हमारी ऐकान्तिक आसक्ति हो तो, अपने सहज गुण तथा अपने विशेष साधन की सीमाओं के द्वारा कुण्ठित होता चला जाता है। अपने सांसारिक जीवन में हम यही बात देखते हैं, यहां यदि हम एकमात्र हृदय और प्राण के पीछे चलते हैं तो ये हमें किसी उज्वल परिणाम पर नहीं पहुंचाते, जब कि ऐकान्तिक बौद्धिकता या तो दूरस्थ, अगोचर तथा अशक्त रहती है या वन्ध्य आलोचक या शुष्क यन्त्रवित्। इनका पर्याप्त सामञ्जस्य तथा ठीक समन्वय हमारे मनोविज्ञान और हमारे व्यवहार की एक महान् समस्या है।

समन्वय करनेवाली शक्ति परे, अन्तर्ज्ञान में निहित है। परन्तु एक अन्तर्ज्ञान तो वह है जो बुद्धि की सेवा करता है और एक वह जो हृदय तथा प्राण की सेवा करता है। यदि हम इनमें से किसी एक का ही अनन्य भाव से अनुसरण करें तो हम पहले की अपेक्षा अधिक दूर नहीं पहुंचेंगे; केवल इतना ही होगा कि जो चीजें अन्य अल्पदृष्टि शक्तियों का लक्ष्य हैं वे हमारे लिये पृथक्-पृथक्, किन्तु अधिक अन्तरङ्ग रूप में, वास्तविक हो जायेंगी। किन्तु यह तथ्य कि यह हमारी सत्ता के सभी भागों की समान रूप से सहायता कर सकता है,—क्योंकि शरीर के भी अपने अन्तर्ज्ञान होते हैं,—बतलाता है कि अन्तर्ज्ञान एकांगी नहीं, बल्कि सर्वांगीण सत्यान्वेषी है। हमें अपनी सम्पूर्ण सत्ता के अन्तर्ज्ञान के सामने अपनी जिज्ञासा रखनी है, न कि केवल सत्ता के प्रत्येक भाग के सामने पृथक्-पृथक्, न ही इनकी उपलब्धियों के कुल जोड़ के सामने, बल्कि इन सब निम्नतर यंत्रों से परे, यहांतक कि इनके प्रथम आध्यात्मिक प्रतिरूपों से भी परे। इसके लिये हमें अन्तर्ज्ञान के निज गृह में आरोहण करना होगा जो अनन्त तथा असीम सत्य का निज गृह है,

'**ऋतस्य स्वे दमे**', जहां सत्तामात्र अपनी एकता उपलब्ध कर लेती है। यही आशय था प्राचीन वेद का जब कि उसने घोषणा की थी, "सत्य से ढका हुआ एक ध्रुव सत्य है (सनातन सत्य जो इस दूसरे सत्य से छुपा हुआ है जिसकी हमें यहां ये निम्नतर स्फुरणाएं होती हैं); वहां प्रकाश की दशशत किरणें एक साथ स्थित हैं; वह है एक।" '**ऋतेन ऋतम् अपिहितं . . . दश शता सह तस्थुः, तद् एकम्**।'

आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान सदा सत्य को ही पकड़ता है; यह आध्यात्मिक उपलब्धि का ज्योति-दूत है या इसे उद्भासित करनेवाला प्रकाश; यह उसे प्रत्यक्ष देखता है जिसे हमारी सत्ता की अन्य शक्तियां खोजने का प्रयास कर रही हैं; यह बुद्धि के अमूर्त्त प्रतिरूपों तथा हृदय और प्राण के दृश्य प्रतिरूपों के ध्रुव सत्य पर पहुंचता है, ऐसे सत्य पर जो स्वयं न तो दूरतः अमूर्त्त है न ही बाह्यतः मूर्त्त, बल्कि इनसे भिन्न कोई ऐसी चीज है जिसके लिये ये केवल हमारे प्रति इसकी मानसिक अभिव्यक्ति के दो पक्षमात्र हैं। जब हमारी अखण्ड सत्ता के अंग आपस में पहले की तरह विवाद नहीं करते, बल्कि ऊपर से प्रकाश पाते हैं तब इसका अन्तर्ज्ञान जो कुछ देखता है वह यही है कि हमारी सम्पूर्ण सत्ता का लक्ष्य एक ही सद्वस्तु है। निर्गुण एक सत्य है, सगुण भी एक सत्य है। वे एक ही सत्य हैं जो हमारी मानसिक क्रिया की दो दिशाओं से देखा गया है। उनमेंसे कोई भी अकेला सद्वस्तु का पूर्ण विवरण नहीं देता। तो भी प्रत्येक से हम उसके पास पहुंच सकते हैं।

एक दिशा से देखने पर ऐसा लगेगा कि कोई निर्वैयक्तिक विचार कार्य में तत्पर है और उसने अपने काम की सुविधा के लिये विचारक की कल्पना को जन्म दिया है, कोई निर्वैयक्तिक शक्ति कार्यरत है और वह कर्ता की कल्पना को जन्म देती है, कोई निर्वैयक्तिक सत्ता क्रिया में प्रवृत्त है, और वह एक ऐसी वैयक्तिक सत्ता की कल्पना को प्रयोग में लाती है जो चेतन व्यक्तित्व तथा वैयक्तिक आनन्द को धारण करती है। दूसरी दिशा से देखने पर, यह विचारक ही है जो अपने-आपको विचार में प्रकट करता है, जिसके बिना विचार का अस्तित्व सम्भव ही न होता और विचारसम्बन्धी हमारी सामान्य कल्पना केवल विचारक के स्वभाव की शक्ति को संकेतित करती है; ईश्वर अपनेको संकल्प, बल तथा सामर्थ्य के द्वारा व्यक्त करता है, सत् अपनी सत्ता, चेतना तथा आनन्द के सर्वांगीण तथा आंशिक, प्रत्यक्ष, विलोम तथा प्रतिलोम—सभी रूपों के द्वारा अपनेको विस्तारित करता है, इन चीजों के विषय में हमारा सामान्य अमूर्त्त विचार उसकी सत्ता की प्रकृति की त्रिविध शक्ति का बौद्धिक प्रतिरूपमात्र है। समस्त निर्वैयक्तिकता क्रमशः कल्पना का रूप धरती दिखायी देती है और सत्ता अपने क्षण-क्षण में तथा कण-कण में एक और फिर भी असंख्यरूप व्यक्तित्व, अनन्त देवाधिदेव, आत्म-चेतन तथा आत्म-प्रकाशक पुरुष के जीवन, चैतन्य, बल, आनन्द के सिवा कुछ नहीं प्रतीत होती। दोनों दृष्टियां ठीक हैं, इसके सिवा कि कल्पना के विचार को, जो हमारी अपनी बौद्धिक प्रक्रियाओं से

उधार लिया गया है, बाहर निकालना और प्रत्येक को उसका उपयुक्त बल देना आवश्यक है। पूर्णयोग के जिज्ञासु को इस प्रकाश में देखना होगा कि वह दोनों दिशाओं में उसी एक और अभिन्न सद्वस्तु पर पहुंच सकता है, बारी-बारी से या एक साथ, मानों वह दो सम्बद्ध पहियों पर सवारी कर रहा हो जो पहिये समानान्तर पटरियोंपर घूम रहे हैं, पर वे समानान्तर पटरियां बौद्धिक तर्क को नीचा दिखाकर तथा एकता के अपने भीतरी सत्य के अनुसार अनन्तता में पहुंचकर अवश्य मिल जाती हैं।

भागवत व्यक्तित्व को हमें इसी दृष्टिकोण से देखना है। जब हम व्यक्तित्व की चर्चा करते हैं तो पहले-पहल इससे हमारा मतलब किसी सीमित, बाह्य, भेदकारक वस्तु से होता है, और वैयक्तिक ईश्वर के विषय में हमारा विचार भी उसी अपूर्ण स्वरूप को धारण करता है। प्रारम्भ में हमारा व्यक्तित्व हमारे लिये एक पृथक् प्राणी, सीमित मन, शरीर तथा स्वभाव होता है जिसे हम यूं समझते हैं कि यह हमारा निज स्वरूप है, यह एक निश्चित परिमाणवाला होता है; चाहे असल में यह सदा बदल रहा है, तो भी इसमें स्थिरता का पर्याप्त अंश होता है जिससे हम निश्चित-परिमाणता के इस विचार का एक प्रकार का क्रियात्मक समर्थन कर सकते हैं। ईश्वर के विषय में हम कल्पना करते हैं कि वह एक ऐसा ही व्यक्ति है, हां उसके शरीर नहीं है, वह अन्य सबसे भिन्न एक पृथक् व्यक्ति है जिसका मन और स्वभाव कुछ विशेष गुणों से मर्यादित है। पहले-पहल हमारे असंस्कृत विचारों में यह देवता अत्यन्त अस्थिर, चञ्चल और तरंगी होता है, हमारे मानवीय स्वभाव का एक बड़ा संस्करण। परन्तु बाद में हम व्यक्तित्व के दिव्य स्वरूप को सर्वथा निश्चित मर्यादा की वस्तु समझते हैं और इसमें हम केवल उन्हीं गुणों को आरोपित करते हैं जिन्हें हम दिव्य एवं आदर्श मानते हैं, जब कि और सभीको हम बहिष्कृत कर देते हैं। यह मर्यादा हमें बाध्य करती है कि हम शेष सब गुणों की व्याख्या करने के लिये उन्हें शैतान पर आरोपित कर दें, या जिसे हम बुरा मानते हैं उस सबको पैदा करने की मौलिक सामर्थ्य मनुष्य में स्वीकार करें, या फिर, जब हम देखें कि इससे पूरी तरह काम नहीं चलेगा तो एक ऐसी शक्ति खड़ी कर दें जिसे हम प्रकृति कहते हैं और उसपर उस समस्त निम्न गुण तथा कार्य-कलाप को आरोपित कर दें जिसके लिये हम भगवान् को उत्तरदायी नहीं बनाना चाहते। इससे ऊंचे शिखर पर ईश्वर में मन और स्वभाव का आरोप कम मानवीय हो जाता है और हम उसे अनन्त आत्मा, किन्तु अभी भी एक पृथक् व्यक्ति मानते हैं, एक ऐसी आत्मा जिसमें उसके विशेष धर्म-रूप कुछ निश्चित दिव्य गुण हैं। भागवत व्यक्तित्व या सगुण-ईश्वरसम्बन्धी विचार इसी प्रकार कल्पित किये जाते हैं और ये नाना धर्मों में इतने विभिन्न प्रकार के होते हैं।

यह सब प्रथम दृष्टि में आदिम मानवगुणारोपवाद प्रतीत हो सकता है जिसके

अन्त में ईश्वर-विषयक एक बौद्धिक विचार जन्म लेता है। जगत् जैसा हमें दीखता है, उसकी यथार्थताओं से वह विचार अतीव भिन्न है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि दार्शनिक तथा सन्देहशील मन को इस सबका बौद्धिक तौर पर उन्मूलन करने में कुछ भी कठिनाई न हुई हो, चाहे वह उन्मूलन सगुण ईश्वर के निषेध और निर्गुण शक्ति या सम्भूति की स्थापना की दिशा में हो या निर्गुण सत् की या सत्ता के अनिर्वचनीय निषेध की दिशा में, जब कि शेष सबको माया के प्रतीक या कालचेतना के नामरूपात्मक सत्यमात्र समझा जाता है। परन्तु ये एकेश्वरवाद के व्यक्तित्वारोपणमात्र हैं। अनेकेश्वरवादी धर्म विश्व-जीवन के प्रति अपने प्रत्युत्तर में शायद इससे कम ऊंचे, पर अधिक विशाल तथा अधिक संवेदनशील रहे हैं। उन्होंने अनुभव किया है कि संसार की सभी वस्तुओं का मूल उद्गम दिव्य है; अतएव उन्होंने अनेक दिव्य व्यक्तित्वों (देवताओं) की सत्ता की कल्पना की जिनके पीछे उन्होंने अनिर्देश्य भगवान् का धुंधला आभास पाया। सगुण देवों के साथ इस भगवान् के सम्बन्धों की उन्हें कोई सुस्पष्ट धारणा नहीं थी। अपने अधिक प्रकट आकारों में ये देवता असंस्कृत तौर पर मानवीय थे; पर जहां आध्यात्मिक वस्तुओं का आन्तरिक अर्थ अधिक स्पष्ट हुआ, नाना देवों ने एकमेव भगवान् के व्यक्तित्वों का रूप धारण कर लिया,—प्राचीन वेद का घोषित दृष्टिकोण यही है। यह भगवान् एक परम पुरुष हो सकता है जो अपनेको अनेक दिव्य व्यक्तित्वों में प्रकट करता है या यह एक निर्गुण सत्ता हो सकता है जो मानव मन को इन रूपों में दृष्टिगोचर होती है; अथवा इन दोनों विचारों में समन्वय का कोई बौद्धिक प्रयत्न किये बिना इन्हें एक साथ माना जा सकता है, क्योंकि आध्यात्मिक अनुभव को दोनों ही सत्य जान पड़ते थे। यदि हम बुद्धि के विवेक द्वारा दिव्य-व्यक्तित्वसम्बन्धी इन विचारों की परीक्षा करें तो अपनी रुचि के अनुसार हम इन्हें यह रूप देने में प्रवृत्त होंगे कि ये कल्पना के आविष्कार या मनोवैज्ञानिक प्रतीक हैं, कम-से-कम ये किसी ऐसी चीज के प्रति हमारे संवेदनशील व्यक्तित्व का प्रत्युत्तर हैं जो व्यक्ति-रूप बिलकुल नहीं हैं, बल्कि शुद्ध निर्गुण है। हम कह सकते हैं कि वह (तत्) वास्तव में हमारी मानवता तथा हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत है और इसलिये उसके साथ सब प्रकार के सम्बन्ध जोड़ने के लिये हमें इन मानवी कल्पनाओं तथा इन वैयक्तिक प्रतीकों की स्थापना के लिये बाध्य होना पड़ता है जिससे कि वह हमारे अधिक समीपवर्ती हो जाये। परन्तु हमें आध्यात्मिक अनुभव के द्वारा निर्णय करना होगा, और समग्र आध्यात्मिक अनुभव में हम पायेंगे कि ये चीजें कल्पनाएं और प्रतीक नहीं, बल्कि अपने सार में दिव्य सत्ता के सत्य हैं, चाहे हमारे द्वारा रचित उनके प्रतिरूप कैसे भी अपूर्ण क्यों न हों। यहांतक कि अपने व्यक्तित्व के विषय में हमारा प्रथम विचार भी नितान्त अशुद्ध नहीं, बल्कि अनेक मानसिक भूलों से घिरा हुआ अधकचरा तथा उथला विचार है। महत्तर आत्मज्ञान से हमें पता चलता है

कि, प्रारम्भ में हम जैसे प्रतीत होते हैं उसके विपरीत, हम मूलतः रूप, बलों, गुणों, धर्मों की एक ऐसी विशेष रचना नहीं हैं जिसमें एक चेतन अहं है जो अपनेको इनसे एकाकार कर लेता है। यह तो हमारी सक्रिय चेतना के तलपर हमारी आंशिक सत्ता का अस्थायी तथ्यमात्र है, पर है यह एक तथ्य ही। अन्दर हम देखते हैं कि एक अनन्त सत्ता है जिसमें सब गुण, अनन्त गुण, बीजरूप से निहित हैं। वे गुण असंख्य सम्भव रूपों में मिलाये जा सकते हैं, प्रत्येक मिश्रण हमारी सत्ता का एक प्राकट्य होता है। यह सर्वविध व्यक्तित्व परम पुरुष की, अर्थात् अपनी अभिव्यक्ति से सचेतन पुरुष की आत्म-अभिव्यक्ति है।

परन्तु हम यह भी देखते हैं कि यह पुरुष अनन्त गुणों से गठित भी नहीं प्रतीत होता, वरन् उसकी इस अवस्था का सत्य स्वरूप गहन है। इस अवस्था में वह अनन्त गुण से पीछे हटकर अनिर्देश्य चेतन सत्ता का रूप धारण करता प्रतीत होता है। यहांतक लगता है कि वह चेतना को भी पीछे हटा लेता है और तब केवल कालातीत शुद्ध सत्ता ही शेष रह जाती है। फिर, एक विशेष शिखर पर ऐसा दीखता है कि हमारी सत्ता की यह शुद्ध आत्मा भी अपनी वास्तविकता का निषेध कर रही है, या यह एक ऐसे अनात्म अनाधार[1] अज्ञेय का प्रस्तारमात्र है जिसे हम अनाम 'कुछ' या शून्य कल्पित कर सकते हैं। जब हम एकमात्र इसीपर दृष्टि गड़ाकर वह सब कुछ भूल जाते हैं जो इसने अपने अन्दर पीछे की ओर हटा लिया है तभी हम शुद्ध निर्गुणता या रिक्त शून्य को सर्वोच्च सत्य कहते हैं। परन्तु अधिक सर्वांगीण दृष्टि हमें बताती है कि जिसने अपने को इस प्रकार ऊपर अव्यक्त कूटस्थ में हटा लिया है वह है परम पुरुष तथा व्यक्तित्व और वह सब जो इसने व्यक्त किया था। यदि हम अपने हृदय तथा तार्किक मन को सर्वोच्च की ओर उठा ले जायें तो हमें पता लगेगा कि इसे हम चरम पुरुष तथा चरम निर्गुण सत्ता दोनों के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यह सब आत्मज्ञान विश्वमय भगवान् के सजातीय सत्य का हमारे भीतर प्रतिरूपमात्र है। वहां भी हम दिव्य व्यक्तित्व के अनेक रूपों में उसका साक्षात् करते हैं; गुण की रचनाओं में जो उसे उसकी प्रकृति में हमारे सामने नाना प्रकार से प्रकट करती हैं; अनन्त गुण में; दिव्य व्यक्ति में जो अपने को अनन्त गुण द्वारा प्रकट करता है; चरम निर्वैयक्तिकता, चरम सत्ता या चरम अ-सत्ता में जो सदैव इस दिव्य व्यक्ति, इस चिन्मय पुरुष की अव्यक्त केवलता है। यह पुरुष हमारे द्वारा तथा विश्व के द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है।

इस वैश्व स्तर पर भी हम निरन्तर इन दोनों पक्षों में भगवान् के पास पहुंच रहे हैं। हम यों विचार एवं अनुभव कर सकते तथा कह सकते हैं कि ईश्वर सत्य, न्याय, पवित्रता, बल, प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य हैं; हम उसे विश्व-शक्ति या विश्व-चेतना के रूप में भी देख सकते हैं। परन्तु यह तो केवल अनुभव का अमूर्त्त ढंग है।

[1] अनात्यम् अनिलयनम्—तैत्तिरीय उपनिषद्

जैसे हम स्वयं कुछ एक गुण या शक्तियां या मनोवैज्ञानिक राशिमात्र नहीं हैं, बल्कि एक पुरुष या व्यक्ति हैं जो अपनी प्रकृति को इस प्रकार प्रकट करता है, वैसे भगवान् भी एक व्यक्ति, चिन्मय पुरुष है जो अपनी प्रकृति को हमारे सामने इस प्रकार प्रकट करता है। इस प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों द्वारा, सत्यस्वरूप ईश्वर, प्रेम एवं दयामय ईश्वर, शान्ति एवं पवित्रता का आगार ईश्वर—इन सब रूपों द्वारा हम उसकी उपासना कर सकते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष है कि दिव्य प्रकृति में और भी चीजें हैं जो हमने व्यक्तित्व के उस रूप के बाहर रख छोड़ी हैं जिसमें हम इस प्रकार उसकी पूजा कर रहे हैं। अविचल आध्यात्मिक दृष्टि और अनुभूति के साहस से सम्पन्न मनुष्य अधिक कठोर या भीषण रूपों में भी उसका साक्षात्कार कर सकता है। इनमेंसे कोई भी सम्पूर्ण देवत्व नहीं है; तो भी उसके व्यक्तित्व के ये रूप उसके वास्तविक सत्य हैं जिनमें वह हमसे मिलता तथा व्यवहार करता प्रतीत होता है, मानों शेष सब उसने अपने पीछे कहीं रख छोड़े हों। वह पृथक्-पृथक् हर एक रूप है और एक साथ सब कुछ है। वह विष्णु, कृष्ण, काली है; वह अपने-आपको ईसा के व्यक्तित्व या बुद्ध के व्यक्तित्व के मानवी रूप में हमारे सामने प्रकाशित करता है। जब हम अपनी प्राथमिक, एकांगी रूप से केन्द्रित दृष्टि के परे देखते हैं तो हम विष्णु के पीछे शिव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा शिव के पीछे विष्णु का सम्पूर्ण व्यक्तित्व देखते हैं। वह अनन्तगुण है तथा अनन्त दिव्य व्यक्तित्व है जो अपनेको इसके द्वारा प्रकट करता है। और फिर, ऐसा प्रतीत होता है कि वह शुद्ध आध्यात्मिक निर्गुणता में या निर्गुण आत्मा के विचारमात्र से भी परे लौट जाता है और आध्यात्मीकृत निरीश्वरवाद या अज्ञेयवाद का समर्थन करता है; वह मनुष्य के मन के लिये अनिर्देश्य बन जाता है। परन्तु इस अज्ञेय में से चिन्मय पुरुष, दिव्य व्यक्ति, जिसने अपनेको यहां प्रकट किया हुआ है, फिर भी पुकारकर कहता है, "यह भी मैं हूं; मन के विचार से परे यहां भी मैं वही हूं, पुरुषोत्तम रूप में वही हूं।"

बुद्धि के विभागों और विरोधों से परे एक और प्रकाश है और वहां सत्य की दृष्टि अपनेको प्रकट करती है जिसे हम बौद्धिक तौर पर इस प्रकार अपने प्रति व्यक्त करने का यत्न कर सकते हैं। वहां इन सब सत्यों का बस एक ही सत्य है, क्योंकि वहां प्रत्येक सत्य विद्यमान है और शेष सबमें न्यायसंगत ठहरता है। इस प्रकाश में हमारा आध्यात्मिक अनुभव एकीभूत तथा सर्वांगसमन्वित हो जाता है; बालभर भी वास्तविक अन्तर बाकी नहीं रहता, निर्गुण की खोज तथा दिव्य व्यक्तित्व की उपासना में, ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग में ऊंच-नीच का लवलेश भी शेष नहीं रहता।

अध्याय ६

भगवान् का आनन्द

हम देख चुके हैं कि भक्तिमार्ग का स्वरूप क्या है और उच्चतम, विशालतम तथा पूर्णतम ज्ञान के लिये इसका क्या औचित्य है। अब हम यह समझ सकते हैं कि पूर्णयोग में इसका रूप और स्थान क्या होगा। योग, सारतः, आत्मा का भगवान् की अमर सत्ता, चेतना और आनन्द के साथ मिलन है। यह मिलन मानव प्रकृति के द्वारा साधित होता है और इसके फलस्वरूप हमारी प्रकृति सत्ता की दिव्य प्रकृति में विकसित हो जाती है; वह दिव्य प्रकृति चाहे जो भी हो, पर जहांतक हम उसे विचार में ला सकते हैं तथा आध्यात्मिक कर्म में चरितार्थ कर सकते हैं वहांतक हम वही बन जाते हैं। भगवान् का जो भी स्वरूप हम देखते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये एकचित्त होकर प्रयत्न करते हैं, वही हम बन सकते हैं या उसके साथ एक प्रकार के एकत्व में अभिवर्द्धित या कम-से-कम उसके साथ एकतान, एकस्वर हो सकते हैं। यही बात एक प्राचीन उपनिषद् ने अपनी अत्युच्च भाषा में मार्मिक ढंग से यूं कही है, "जो कोई उसे सत् के रूप में देखता है वह वही सत् बन जाता है और जो कोई उसे असत् के रूप में देखता है वह वही असत् बन जाता है"; भगवान् के और भी जो-जो स्वरूप हम देखते हैं उन सबके सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है,—हम कह सकते हैं कि यह देवाधिदेव-विषयक एक ऐसा सत्य है जो एक साथ पारमार्थिक भी है और व्यावहारिक भी। वह देवाधिदेव एक ऐसा तत्त्व है जो हमसे परे होता हुआ भी वास्तव में पहले से ही हमारे अन्दर है, पर जो हम अपनी मानवीय सत्ता में अभीतक नहीं हैं या केवल आरम्भिक रूप में ही हैं; तथापि उसका जो कुछ भी अंश हम देखते हैं, उसे हम अपनी सचेतन प्रकृति तथा सत्ता में निर्मित या प्रकाशित कर सकते हैं और इसके साथ ही हम उसमें विकसित भी हो सकते हैं। इस प्रकार देवाधिदेव को अपने अन्दर व्यक्तिशः निर्मित या प्रकाशित करना तथा उसकी विश्वमयता और परात्परता में विकसित होना ही हमारा आध्यात्मिक भविष्य है। अथवा यदि यह हमारी प्रकृति की दुर्बलता के लिये अतीव ऊंचा प्रतीत हो, तो कम-से-कम, इसके पास पहुंचना, इसका चिन्तन करना, इसके साथ स्थिर अन्तर्मिलन लाभ करना हमारी निकट तथा सम्भावित पूर्णता है।

जिस समन्वयात्मक या सर्वांगीण योग पर हम विचार कर रहे हैं उसका लक्ष्य है—अपनी मानव प्रकृति के अंग-प्रत्यंग द्वारा भगवान् की सत्ता, चेतना और आनन्द से मिलन, भले ही यह मिलन हम एक-एक अंग द्वारा पृथक्-पृथक् प्राप्त करें या सबके द्वारा एक साथ, परन्तु अन्ततोगत्वा हमें सबको समन्वित और एकीभूत करना होगा जिससे सम्पूर्ण प्रकृति सत्ता की दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित हो

जाये। सर्वांगीण द्रष्टा इससे कम किसी चीज से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि जो वह देखता है वह अवश्य ही वही चीज है जिसे वह आत्मिक रूप में अधिगत करने और यथासम्भव वही बन जाने का प्रयत्न करता है। अपने अन्दर के ज्ञाता से ही नहीं, अपनी संकल्प-शक्ति से ही नहीं, अपने हृदय से ही नहीं, बल्कि इन सभीके द्वारा समान रूप में और साथ ही अपने अन्दर की सम्पूर्ण मानसिक तथा प्राणिक सत्ता से वह देवाधिदेव की अभीप्सा करता है और इनकी प्रकृति को इसके दिव्य प्रतिरूपों में परिवर्तित करने का उद्योग करता है। ईश्वर अपनी सत्ता के अनेक भावों में हमसे मिलते हैं और उन सबमें वे हमें तब भी अपनी ओर आकृष्ट करते हैं जब वे हमसे आंख बचाकर भागते प्रतीत होते हैं,—दिव्य सम्भावना को देखना और इसकी विघ्न-बाधाओं के क्षेत्र पर विजय पाना ही मानव-जीवन का सम्पूर्ण मर्म तथा माहात्म्य है,—अतएव इनमेंसे प्रत्येक भाव की पराकाष्ठा में या इन सबके मिलन में, यदि हम इनके एकत्व की कुंजी ढूंढ़ सकें तो, हम उन्हें खोजने, पाने और अधिकृत करने की अभीप्सा करेंगे। क्योंकि वे निर्वैयक्तिकता में लौट जाते हैं, हम उनकी निर्वैयक्तिक सत्ता और आनन्द का अनुसरण करते हैं, पर, क्योंकि वे हमारी वैयक्तिकता में तथा मानव के साथ भगवान् के वैयक्तिक सम्बन्धों द्वारा भी हमसे मिलते हैं उससे भी हम अपनेको वञ्चित नहीं करेंगे; प्रेम तथा आनन्द की क्रीड़ा और इसका अनिर्वचनीय मिलन—दोनों को हम ग्रहण करेंगे।

ज्ञान द्वारा हम भगवान् से उनकी सचेतन सत्ता में एकता प्राप्त करना चाहते हैं; कर्मों के द्वारा भी हम भगवान् से उनकी सचेतन सत्ता में एकता प्राप्त करना चाहते हैं; स्थितिशील रूप में नहीं, बल्कि गतिशील रूप में, भागवत संकल्पशक्ति के साथ सचेतन एकत्व के द्वारा; परन्तु प्रेम के द्वारा तो हम उनकी सत्ता के सम्पूर्ण आनन्द में उनके साथ एकत्व लाभ करना चाहते हैं। इसी कारण प्रेम-मार्ग अपनी कुछ प्रारम्भिक गतियों में, वह चाहे कैसा भी संकुचित क्यों न प्रतीत हो, अन्त में योग के अन्य किसी भी हेतु की अपेक्षा अधिक आवश्यक रूप में सर्व-आलिंगी है। ज्ञान का मार्ग अनायास निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष की ओर झुक जाता है, यह सहज ही एकांगी बन सकता है। यह ठीक है कि इसके लिये ऐसा करना आवश्यक नहीं; क्योंकि भगवान् की सचेतन सत्ता जैसे परात्पर और निरपेक्ष है वैसे ही विश्वगत तथा व्यक्तिगत भी, अतएव यहां भी हमारी प्रवृत्ति एकता की सर्वांगपूर्ण उपलब्धि की ओर हो सकती है और होनी भी चाहिये, इससे हम मनुष्यगत ईश्वर तथा विश्वगत ईश्वर से ऐसी आध्यात्मिक एकता प्राप्त कर सकते हैं जो किसी भी परात्पर मिलन से कम पूर्ण नहीं होगी। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं। हम तर्क कर सकते हैं कि ज्ञान उच्चतर भी होता है और निम्नतर भी, उच्चतर आत्मबोध भी होता है तथा निम्नतर आत्मबोध भी, और यहां हमें ज्ञान-राशि का वर्जन कर ज्ञान-शिखर का ही अनुसरण करना है, सर्वांगीण मार्ग की अपेक्षा एकांगी मार्ग का वरण

करना है। अथवा हम अपने साथियों से तथा जगद्व्यापार से समस्त सम्बन्ध के परित्याग का समर्थन करने के लिये माया के सिद्धान्त का आविष्कार कर सकते हैं। कर्ममार्ग हमें परात्पर की ओर ले जाता है जिसकी सत्ता की शक्ति विश्वगत संकल्प के रूप में प्रकट होती है। यह संकल्प हममें तथा सबमें एक ही है, इसके साथ तादात्म्य द्वारा हम, उस तादात्म्य की आवश्यक अवस्थाओं के कारण, परात्पर को सबकी एक आत्मा, विश्वात्मा तथा जगदीश्वर अनुभव करते हुए उनसे मिलन लाभ करते हैं। ऐसा प्रतीत होगा कि यह हमारी एकत्व-उपलब्धि में कुछ व्यापकता ले आता है, परन्तु ऐसा होना सर्वथा अनिवार्य नहीं। कारण, यह हेतु भी, पूर्ण निर्वैयक्तिकता की ओर झुक सकता है और चाहे इसके फलस्वरूप हम विश्वगत ईश्वर के कार्यों में निरन्तर भाग लेने लगते हैं तो भी यह सिद्धांत रूप में सर्वथा निःसंग और निष्क्रिय हो सकता है। पूर्ण मिलनरूपी हेतु सर्वथा अपरिहार्य तभी बनता है जब योगमार्ग में आनन्द का प्रवेश होता है।

इस आनन्द का, जो इतने पूर्ण रूप में अपरिहार्य है, अभिप्राय है—भगवान् में आनन्द, उन्हींके लिये, और किसी चीज के लिये नहीं—इससे परे के किसी भी निमित्त या लाभ के लिये नहीं। यह ईश्वर को न तो किसी ऐसी चीज के लिये खोजता है जो वे हमें दे सकते हैं और न उनके किसी विशेष गुण के लिये, वरन् केवल और एकमात्र इसलिये कि वे हमारी आत्मा, हमारी सम्पूर्ण सत्ता तथा हमारे सर्वस्व हैं। यह परात्परता के आनन्द का आलिंगन करता है, परात्परता के लिये नहीं, वरन् इसलिये कि वे परात्पर हैं; विश्वमयता के आनन्द का, विश्वमयता के लिये नहीं, वरन् इसलिये कि वे विश्वमय हैं; व्यक्ति के आनन्द का, व्यक्तिगत सन्तुष्टि के लिये नहीं, वरन् इसलिये कि वे व्यक्ति हैं। यह सब भेदों और रूपों के पीछे जाता है और उनकी सत्ता की कम या अधिक मात्रा का हिसाब नहीं लगाता, बल्कि जहां कहीं भी वे हैं वहां, और इसलिये सब कहीं, उनका आलिंगन करता है। जैसे प्रतीयमान कम में वैसे ही प्रतीयमान अधिक में, जैसे प्रतीयमान सीमा में वैसे ही असीम के प्राकाश्य में यह उनका पूर्ण रूप से आलिंगन करता है, इसे इस बात का सहज ज्ञान और अनुभव होता है कि वे सभी जगह एक और पूर्ण हैं। उनकी निरपेक्ष सत्तामात्र के लिये उन्हें खोजना वास्तव में अपने ही वैयक्तिक लाभ, पूर्ण शान्ति की प्राप्ति को लक्ष्य बनाना है। निःसन्देह, उन्हें पूर्ण रूप से अधिकृत करना ही उनकी सत्ता से प्राप्त होनेवाले इस आनन्द का लक्ष्य है, किन्तु यह प्राप्त तभी होता है जब हम उन्हें पूर्ण रूप से अधिकृत कर लेते हैं और उनके द्वारा पूर्णतः अधिकृत हो जाते हैं, जब हमें किसी विशेष स्थिति या अवस्था में बंधने की आवश्यकता नहीं रहती। किसी आनन्दमय स्वर्गलोक में उनकी खोज करना उन्हींके लिये नहीं, बल्कि उस स्वर्गलोक के आनन्द के लिये उनकी खोज करना है। जब हम उनकी सत्ता का सारा सच्चा आनन्द प्राप्त कर लेते हैं तब स्वर्गलोक हमारे

भीतर आ जाता है, और जहां कहीं वे हैं और हम हैं वहीं उनके राज्य का हर्ष हमें प्राप्त रहता है। इसी प्रकार केवल अपने अन्दर और अपने लिये उन्हें खोजना अपने-आपको और उनके अन्दर अपने हर्ष को भी सीमित करना है। सर्वांगीण आनन्द केवल हमारी वैयक्तिक सत्ता में ही नहीं, बल्कि सब मनुष्यों में तथा सर्वभूत में समान रूप से उनका आलिंगन करता है। क्योंकि उनके अन्दर हम सबके साथ एकमय हैं, यह उन्हें केवल हमारे लिये नहीं, अपितु हमारे सभी साथियों के लिये खोजता है। भगवान् में पूर्ण और अशेष आनन्द,—पूर्ण तो विशुद्ध और स्वयंसत् होने के कारण और अशेष सर्वस्पर्शी तथा तन्मयकारी होने के कारण,—पूर्णयोग के जिज्ञासु के लिये भक्तिमार्ग का मर्म है।

एक बार जब यह हमारे अन्दर क्रियाशील हो जाता है तो मानों योग के अन्य सभी मार्ग इसके नियम में परिवर्तित हो जाते हैं और इसके द्वारा अपना पूर्णतम महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। ईश्वर के प्रति हमारी सत्ता की यह सर्वांगीण भक्ति ज्ञान से पराङ्मुख नहीं होती; इस मार्ग का भक्त ईश्वरप्रेमी होने के साथ-साथ ईश्वरज्ञानी भी होता है, क्योंकि उनकी सत्ता के ज्ञान से ही उनकी सत्ता का सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञान आनन्द में ही परिसमाप्त होता है, परात्पर का ज्ञान परात्पर के आनन्द में, विश्वमय का ज्ञान विश्वमय ईश्वर के आनन्द में, वैयक्तिक अभिव्यक्ति का ज्ञान व्यक्ति के भीतर ईश्वर के आनन्द में, निर्वैयक्तिक का ज्ञान उनकी निर्वैयक्तिक सत्ता के शुद्ध आनन्द में, वैयक्तिक का ज्ञान उनके व्यक्तित्व के पूर्ण आनन्द में, उनके गुणों तथा इनकी क्रीड़ा का ज्ञान अभिव्यक्ति के आनन्द में, निर्गुण का ज्ञान उनकी निराकार सत्ता और अनभिव्यक्ति के आनन्द में परिसमाप्त होता है।

इसी प्रकार यह ईश्वरप्रेमी **दिव्य कर्मी** भी होगा, कर्मों के लिये या कर्मगत स्वार्थलक्षी सुख के लिये नहीं, वरन् इस कारण कि इस प्रकार ईश्वर अपनी सत्ता की शक्ति का प्रयोग करते हैं और उनकी शक्तियों तथा उनके प्रतीकों में हम उन्हें अधिगत करते हैं, इस कारण कि कर्मों में दिव्य संकल्प ईश्वर का अपनी शक्ति के आनन्द में प्रस्रवण है, दिव्य सत्ता का दिव्य बल के आनन्द में प्रवहण है। वह प्रियतम के कार्यों और व्यापारों में पूर्ण हर्ष अनुभव करेगा, क्योंकि उनमें भी वह प्रियतम को पाता है; वह स्वयं सभी कार्य करेगा, क्योंकि उन कार्यों के द्वारा भी उसकी सत्ता का स्वामी उसके अन्दर अपना दिव्य हर्ष प्रकट करता है : जब वह काम करता है तो उसे अनुभव होता है कि वह कार्य और शक्ति में उनके साथ अपनी एकता प्रकट कर रहा है जिन्हें वह प्रेम करता और पूजता है। वह उस संकल्प की मस्ती अनुभव करता है जिसका वह अनुसरण करता है तथा जिसके साथ उसकी सत्ता का समस्त बल आनन्दपूर्वक एकीभूत है। फिर इसी प्रकार, यह ईश्वरप्रेमी पूर्णता की खोज करेगा, क्योंकि पूर्णता भगवान् की प्रकृति है और जितना

ही अधिक वह पूर्णता में बढ़ता है, उतना ही अधिक वह अनुभव करता है कि प्रियतम उसकी प्राकृतिक सत्ता में प्रकट हो रहे हैं। अथवा वह फूल के खिलने के समान अनायास ही पूर्णता में विकसित होगा, क्योंकि भगवान् उसके अन्दर हैं और है भगवान् का हर्ष। जैसे ही वह हर्ष उसके अन्दर फैलता है, आत्मा, मन और प्राण भी स्वभावतः अपने देवत्व में अभिवर्द्धित हो जाते हैं। साथ ही, क्योंकि वह अनुभव करता है कि भगवान् सबमें हैं और प्रत्येक परिसीमक प्रतीति के अन्दर भी वे सर्वथा पूर्ण हैं, उसे अपनी अपूर्णता का शोक नहीं होगा।

जीवन के द्वारा भगवान् की खोज और अपनी सत्ता तथा वैश्व सत्ता के समस्त व्यापारों में उनसे समागम भी उसकी पूजा के क्षेत्र से बाहर नहीं होंगे। सम्पूर्ण प्रकृति और सम्पूर्ण जीवन उसके लिये उनका आत्म-प्रकाश होंगे और होंगे समागम के लिये सुन्दर संकेत-स्थान। बौद्धिक, सौन्दर्य-मूलक और शक्त्यात्मक चेष्टाएं, विज्ञान, दर्शन और जीवन, चिन्तन, कला और कर्म उसके निकट अधिक दिव्य अनुमोदन तथा अधिक महान् अर्थ प्राप्त कर लेंगे। इनका अनुसरण वह इसलिये करेगा कि इनके द्वारा उसे भगवान् के स्पष्ट दर्शन होते हैं और इनके अन्दर भगवान् का आनन्द विद्यमान है। निःसन्देह, वह इनके बाह्य रूपों में आसक्त नहीं होगा, क्योंकि आसक्ति आनन्द में बाधक है। और, क्योंकि उस शुद्ध, शक्तिशाली एवं पूर्ण आनन्द पर उसका स्वत्व हो गया है जो हर चीज प्राप्त कर लेता है, पर स्वयं किसी चीज पर निर्भर नहीं, क्योंकि इनमें वह प्रियतम के ढंग, कार्य और लक्षण, उसकी सम्भूतियां, प्रतीक और प्रतिमाएं देखता है, उसे इनसे ऐसा हर्षातिशय लाभ होता है जो इन्हींके लिये इनकी खोज करनेवाले साधारण मन को प्राप्त नहीं हो सकता, यहांतक कि जो इसकी कल्पना में भी नहीं आ सकता। यह सब और इससे भी अधिक कुछ सर्वांगीण मार्ग तथा इसकी सिद्धि का अंग बन जाता है।

आनन्द की सामान्य शक्ति है प्रेम, और प्रेम का आनन्द जिस विशेष रूप को ग्रहण करता है वह है सौन्दर्य का साक्षात्कार। ईश्वरप्रेमी विश्वप्रेमी होता है और वह आनन्दमय तथा सर्व-सुन्दर का आलिंगन करता है। जब विश्वप्रेम उसके हृदय को अपने वश में कर लेता है तो यह इस बात का अचूक चिह्न होता है कि भगवान् ने उसपर अपना अधिकार कर लिया है; और जब उसे सर्वत्र सर्व-सुन्दर के दर्शन होते हैं और वह सदा-सर्वदा उनके आलिंगन का आनन्द अनुभव कर सकता है तो यह इस बात का अचूक चिह्न होता है कि उसने भगवान् को अपने अधिकार में कर लिया है। मिलन प्रेम की पराकाष्ठा है, किन्तु यह पारस्परिक अधिकार ही इसे एक साथ इसकी तीव्रता के उच्चतम शिखर पर तथा बृहत्तम विशालता में पहुंचा देता है। यह दिव्यानन्द में एकत्व की आधारशिला है।

अध्याय ७

आनन्द-ब्रह्म

सर्वांगीण समन्वयात्मक योग में भक्तिमार्ग प्रेम और आनन्द द्वारा भगवान् की खोज का और उनकी सत्ता के सभी पक्षों पर सानन्द अधिकार का रूप ग्रहण कर लेगा। इसकी पराकाष्ठा होगी—प्रेम का पूर्ण मिलन, ईश्वर के साथ आत्मा की घनिष्ठता के सभी रूपों का पूर्ण उपभोग। यह ज्ञान से आरम्भ हो सकता है या कर्मों से भी आरम्भ हो सकता है, पर बाद में यह ज्ञान को प्रियतम की सत्ता के साथ ज्योतिर्मय मिलन के हर्ष में परिणत कर देगा और कर्मों को प्रियतम की सत्ता के संकल्प एवं बल के साथ हमारी सत्ता के सक्रिय मिलन के हर्ष में परिवर्तित कर देगा। या फिर यह सीधे प्रेम एवं आनन्द से भी आरम्भ हो सकता है; तब यह अन्य दोनों को अपने अन्तर्गत कर लेगा और एकत्व के पूर्ण हर्ष के अंग के रूप में उन्हें विकसित करेगा।

भगवान् के प्रति हृदय के आकर्षण का आरम्भ निर्वैयक्तिक भी हो सकता है। यह किसी विश्वगत या विश्वातीत सत्ता में मिलनेवाले निर्वैयक्तिक हर्ष का स्पर्श हो सकता है,—ऐसी सत्ता में जिसने हमारी भावमय या सौन्दर्यग्राही सत्ता के प्रति या अध्यात्म-सुख की हमारी क्षमता के प्रति अपने-आपको प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में प्रकाशित किया है। इस प्रकार हमें जिस सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है वह आनन्द-ब्रह्म या आनन्दमय सत्ता है। एक ऐसे निर्वैयक्तिक आनन्द एवं सौन्दर्य की, एक ऐसी शुद्ध और अनन्त पूर्णता की आराधना भी होती है जिसे हम कोई नाम-रूप नहीं दे सकते। जगत् में या इससे परे विद्यमान किसी ऐसी आदर्श और अनन्त उपस्थिति, शक्ति एवं सत्ता के प्रति आत्मा का एक द्रवित आकर्षण भी होता है जो किसी-न-किसी प्रकार हमारे लिये चित्ततः या अध्यात्मतः बोधगम्य हो जाती है और फिर अधिकाधिक अन्तरीय एवं वास्तविक होती जाती है। यही है पुकार, उस आनन्दमय सत्ता का हमारे शिर पर कर-स्पर्श। इसके बाद नित्य-निरन्तर उसकी उपस्थिति का आनन्द और सान्निध्य प्राप्त करना, यह जानना कि वह क्या है, जिससे बुद्धि और सम्बोधि-मन उसकी सतत वास्तविकता से सन्तुष्ट हो जायें, अपनी निष्क्रिय और, यथासाध्य, सक्रिय सत्ता का, अपनी आन्तर अमर और यहांतक कि बाह्य मर्त्य सत्ता का भी उसके साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना हमारे जीवन-यापन के लिये आवश्यक बन जाते हैं। हमें अनुभव होता है कि अपने-आपको उसकी ओर खोलना ही एकमात्र सच्चा सुख है और उसके अन्दर निवास करना एकमात्र सच्ची पूर्णता।

मन और वाणी द्वारा अकल्पनीय एवं अवर्णनीय परात्पर आनन्द ही उस

अनिर्वचनीय ब्रह्म का स्वरूप है। वह सम्पूर्ण विश्व में और विश्व की एक-एक वस्तु में अन्तर्यामी और निगूढ़ रूप से विराजमान है। उसकी उपस्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह सत्ता के आनन्द का गुह्य आकाश है। इस आकाश के सम्बन्ध में उपनिषद् कहती है—यदि यह न होता तो कोई एक क्षण भी श्वास न ले सकता और न जीवित ही रह सकता। यह आध्यात्मिक आनन्द यहां हमारे हृदय में भी निहित है। यह उस तलवर्ती मन के श्रम के कारण अन्दर छुपा हुआ है जो जीवन-हर्ष के नानाविध मानसिक, प्राणिक और भौतिक रूपों में इसके दुर्बल एवं त्रुटिपूर्ण प्रतिबिम्ब ही ग्रहण करता है। पर जब एक बार मन अपनी ग्रहण-क्रियाओं में पर्याप्त सूक्ष्म और शुद्ध हो जाता है और जीवन के प्रति हमारी बाह्य प्रतिक्रियाओं के स्थूलतर स्वभाव से आबद्ध नहीं रहता, तब हम उसके अन्दर इस आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकते हैं। वह प्रतिबिम्ब शायद पूर्णतः या मुख्यतः हमारी प्रकृति के सबसे प्रबल तत्त्व का रंग-रूप धारण कर लेगा। पहले-पहल यह एक ऐसे विश्वव्याप्त सौन्दर्य की स्पृहा के रूप में प्रकट हो सकता है जिसे हम प्रकृति और मनुष्य में एवं अपने चारों ओर की सभी वस्तुओं में अनुभव करते हैं। अथवा हमें एक ऐसे विश्वातीत सौन्दर्य का अन्तर्ज्ञान हो सकता है जिसका कि समस्त दृश्यमान ऐहिक सौन्दर्य प्रतीकमात्र है। जिन लोगों की सौन्दर्यग्राही सत्ता विकसित एवं दृढ़ है और जिनमें ऐसी वृत्तियां प्रबल हैं जो व्यक्त रूप में आने पर कवि और कलाकार का निर्माण करती हैं, उन लोगों में यह इसी ढंग से उद्भूत हो सकता है। अथवा यह प्रेम की, दिव्य आत्मा की अनुभूति हो सकती है या यह जगत् में या इसके पीछे या इसके परे विद्यमान आश्रयदायिनी और करुणामयी अनन्त उपस्थिति हो सकती है जो हमें उस समय उत्तर देती है जब हम अपनी आत्मा की मांग को लेकर इसकी ओर मुड़ते हैं। जब भावमय सत्ता तीव्रतः विकसित होती है तब यह पहले-पहल इसी प्रकार अपना रूप दिखा सकता है। और-और प्रकार से भी यह हमारे निकट आ सकता है, पर सदा आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम या शान्ति की एक ऐसी शक्ति या उपस्थिति के रूप में जो मन को छूती है। किन्तु साधारणतः ये चीजें मन में जो नाना रूप ग्रहण करती हैं उनसे यह परे है।

वास्तव में समस्त हर्ष, सौन्दर्य, प्रेम, शान्ति एवं आनन्द,—आत्मा, बुद्धि, कल्पना, सौन्दर्य-भावना, नैतिक अभीप्सा और सन्तुष्टि, कर्म, जीवन एवं शरीर का समस्त आनन्द,—आनन्दब्रह्म से ही स्रवित होते हैं। हमारी सत्ता के सभी रूपों द्वारा भगवान् हमें स्पर्श कर सकते हैं और उन्हें आत्मा को जाग्रत् एवं मुक्त करने के लिये उपयोग में ला सकते हैं। परन्तु साक्षात् आनन्द-ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उसके मानसिक ग्रहण को सूक्ष्म, आध्यात्मिक और विश्वमय बनाना होगा। इसे ऐसी प्रत्येक वस्तु से निर्मुक्त करना होगा जो कलुषित और सीमा में बांधनेवाली हो। कारण, जब हम इसके सर्वथा निकट पहुंचते हैं या इसमें प्रवेश करते हैं तो यह

उस परात्पर एवं विश्वव्याप्त आनन्द की प्रबुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा ही होता है जो विश्व के अन्दर और इसके विरोधों के पीछे और परे भी विद्यमान है और जिसके साथ हम एक बढ़ते हुए विराट् और आध्यात्मिक या परात्पर हर्षावेश के द्वारा अपने-आपको एकीभूत कर सकते हैं।

साधारणतः, मन इस अनन्त को, जिसे हम देखते हैं, प्रतिबिम्बित करके या हमारे भीतर और बाहर इसकी प्रतीति को एक अनुभव के रूप में उपलब्ध करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। यह अनुभव बारम्बार होने पर भी रहता है अपवाद-रूप ही। जब यह प्राप्त होता है तो यह अपने-आपमें ही इतना सन्तोषप्रद और आश्चर्यजनक प्रतीत होता है और हमारा साधारण मन और सक्रिय जीवन, जो हमें बिताना होता है, हमें इससे इतने असंगत प्रतीत हो सकते हैं कि इससे अधिक किसी वस्तु की आशा हमें शायद अति जान पड़ेगी। परन्तु योग की वास्तविक भावना ही यह है कि अपवाद को सामान्य बनाया जाये और जो हमारे ऊपर है, हमारे साधारण 'स्व' से महत्तर है उसे अपनी शाश्वत चेतना बना लिया जाये। अतएव अनन्त का जो भी अनुभव हमें प्राप्त हो उसकी ओर अपनेको अधिक तत्परता के साथ खोलने, उसे शुद्ध और तीव्र करने, उसे अपने अनवरत मनन-चिन्तन का विषय बनाने में संकोच नहीं करना चाहिये। ऐसा तबतक करते जाना चाहिये जबतक यह एक ऐसी चालक-शक्ति न बन जाये जो हमारे अन्दर क्रिया करती है, ऐसा देवाधिदेव न बन जाये जिसका हम आराधन और आलिंगन करते हैं और जबतक हमारी सत्ता इसके साथ एकस्वर न हो जाये और यह हमारी सत्ता की वास्तविक आत्मा न बन जाये।

एतद्विषयक अपने अनुभव को हमें प्रत्येक मानसिक मिश्रण से शुद्ध करना होगा अन्यथा यह लुप्त हो जायेगा और हम इसे धारण नहीं कर पायेंगे। इस शोधन का एक भाग यह है कि यह किसी भी कारण पर या मन की किसी उत्तेजक अवस्था पर निर्भर रहना छोड़ दे। यह आवश्यक है कि यह अपना कारण आप ही हो; स्वयं-सत् बने, अन्य समस्त आनन्द का उद्गम हो, जो केवल इसीपर आश्रित रहे। ऐसी किसी जागतिक या अन्य प्रतिमा या प्रतीक में इसे आसक्त नहीं रहना होगा जिसके द्वारा हम इसके साथ पहले-पहल सम्पर्क में आये थे। एतद्विषयक अपने अनुभव को हमें अनवरत तीव्र एवं अधिक प्रगाढ़ बनाना होगा, अन्यथा यह उसे केवल अपूर्ण मन के दर्पण में ही प्रतिफलित करेगा और उन्नयन एवं रूपान्तर के उस शिखर तक नहीं पहुंचेगा जिसके द्वारा हम मन से परे अनिर्वचनीय आनन्द में ले जाये जाते हैं। हमारे अखण्ड मनन-चिन्तन का विषय बनकर यह सत्-मात्र को अपनेमें परिणत कर डालेगा, विश्वव्यापी आनन्द-ब्रह्म के रूप में अपनेको प्रकाशित करेगा और समस्त सत्ता को आनन्द की वृष्टि का रूप दे देगा। यदि हम अपने सभी आन्तर एवं बाह्य कार्यों की प्रेरणा प्राप्त करने के लिये इसके द्वार पर प्रतीक्षा

करें तो यह भगवान् का हर्ष बनकर हमारे द्वारा जीवन पर तथा सभी जीवित सत्ताओं पर प्रकाश, प्रेम और बल के रूप में बरस पड़ेगा। जब हम आत्मा के प्रेम और पूजन द्वारा इसे खोजते हैं तो यह देवाधिदेव के रूप में आत्म-प्रकाश करता है, हम इसमें ईश्वर की मुखछवि निहारते हैं और अपने प्रेमी का आनन्द उपलब्ध करते हैं। अपनी सम्पूर्ण सत्ता को इसके साथ एकस्वर कर हम इसके साधर्म्य की कल्याणकारी पूर्णता में एवं दिव्य प्रकृति के मानवीय प्रतिरूप में संवर्धित होते हैं। जब यह सर्वभावेन हमारी आत्मा की आत्मा बन जाता है, तब हमारी सत्ता कृतार्थ हो जाती है और हम पूर्णता को वहन करते हैं।

ब्रह्म अपनेको हमारे सम्मुख सदा तीन प्रकार से प्रकट करता है—हमारे भीतर, हमारे स्तर से ऊपर और हमारे चारों ओर इस जगत् में। हमारे भीतर पुरुष के दो केन्द्र हैं। एक तो अन्तःस्थ आत्मा है जिसके द्वारा वह हमें स्पर्श करके जागृत करता है; हृदयकमल में एक पुरुष है जो हमारी सभी शक्तियों को ऊपर की ओर खोल देता है। एक और पुरुष सहस्रदल कमल में है जहां से अन्तर्दृष्टि की विद्युत्प्रभाएं और दिव्य शक्ति की अग्नि हमारा तृतीय नयन खोलती हुई विचार और संकल्प के द्वारा हमारे अन्दर अवतरित होती हैं। आनन्दमय सत्ता हमें इन केन्द्रों में से किसीके भी द्वारा प्राप्त हो सकती है। जब हृदय-कमल खुलता है; हम दिव्य हर्ष, प्रेम और शान्ति को अपने अन्दर प्रकाश के एक पुष्प की भांति खिलते हुए अनुभव करते हैं जो सम्पूर्ण सत्ता को देदीप्यमान कर देता है। तब वे अपने-आपको अपने निगूढ़ उद्गम के साथ, हमारे हृदय में विराजमान भगवान् के साथ एक कर सकते हैं और उसकी वैसे ही उपासना कर सकते हैं जैसे कि एक मन्दिर में। वे विचार और संकल्प को अधिकृत करने के लिये ऊपर की ओर प्रवाहित हो सकते हैं और ऊपर परात्पर की ओर खुल सकते हैं। हमारे चारों ओर जो कुछ भी है उस सबकी ओर वे विचार, भाव और कर्म के रूप में क्षरित होते हैं। परन्तु जबतक हमारी सामान्य सत्ता कोई-न-कोई बाधा डालती रहेगी या इस दैवी प्रभाव के प्रति प्रत्युत्तर में या इस दिव्य स्वामित्व के यन्त्र में पूर्णतः परिवर्तित नहीं हो जायेगी, तबतक अनुभव रुक-रुककर होगा और सम्भवतः हम बारम्बार अपने पुराने मर्त्य हृदय में पतित होते रहेंगे। परन्तु अभ्यास से या भगवान् की कामना, आराधना के बल से यह क्रमशः परिवर्तित होती जायेगी जबतक कि यह असामान्य अनुभव हमारी सहज चेतना का ही रूप धारण नहीं कर लेता।

जब दूसरा ऊर्ध्व-कमल खुलता है, सारा-का-सारा मन दिव्य प्रकाश, हर्ष और शक्ति से भर उठता है जिनके पीछे होते हैं भगवान्, हमारी सत्ता के स्वामी, अपने सिंहासन पर आसीन, और हमारी आत्मा होती है उन्हींके निकट या उन्हींकी रश्मियों में अन्तःप्रविष्ट। तब विचार और संकल्पमात्र ज्योति, शक्ति और हर्षातिरेक बन जाते हैं जो परात्पर के साथ सम्पर्क रखते हुए हमारे मरणधर्मा अंगों पर बरस

सकते हैं और उनसे फिर बाहर की ओर जगत् में उमड़ पड़ सकते हैं। जैसा कि वैदिक गुह्यज्ञानियों को विदित था, इस उषा में भी हमारे लिये इसके दिन और रात, बारी-बारी से आते हैं, प्रकाश से हमें निर्वासन भी प्राप्त होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों इस नयी सत्ता को धारण करने की हमारी सामर्थ्य बढ़ती जाती है हम उस सूर्य को चिरकालतक एकटक देखने में समर्थ होते जाते हैं जिससे ये रश्मियां विकीर्ण होती हैं और अपनी आन्तर सत्ता में हम उससे एक-तन हो सकते हैं। इस परिवर्तन का वेग कभी तो इस प्रकार से प्रकट हुए भगवान् के लिये हमारी उत्कण्ठा के बल पर, एवं हमारी जिज्ञासा की शक्ति की तीव्रता पर निर्भर करता है और कभी, इसके विपरीत, यह उसकी सर्वज्ञानमयी कार्यावलि के लयताल के प्रति निष्क्रिय समर्पण के द्वारा अग्रसर होता है। वह कार्यावलि सदा ही अपनी निराली प्रणाली से कार्य करती है जो शुरू-शुरू में समझ में नहीं आती। परन्तु जब हमारे प्रेम और विश्वास पराकाष्ठा को पहुंचते हैं, जब वह परम प्रेम-स्वरूप एवं सर्वज्ञ शक्ति हमारी सम्पूर्ण सत्ता का अपने भुजयुग में आलिंगन कर लेती है तब तो निष्क्रिय समर्पण ही आधारशिला बन जाता है।

भगवान् अपने-आपको हमारे चारों ओर के इस जगत् में प्रकाशित करते हैं जब हम इसपर उस आध्यात्मिक कामना या आनन्द के भाव से दृष्टिपात करते हैं जो सभी चीजों में भगवान् को ढूंढ़ता है। बहुधा एक आकस्मिक उन्मीलन होता है जिससे स्वयं आकारों का आवरण ही प्रत्यक्ष दर्शन में परिणत हो जाता है। एक सार्वभौम आध्यात्मिक उपस्थिति, एक सार्वभौम शान्ति, एक सार्वभौम अनन्त आनन्द यहां व्यक्त हुआ है—अन्तर्यामी सर्वालिंगी, सर्वव्यापी रूप में। यदि हम इस उपस्थिति से प्रेम करते हैं, इसमें आनन्द लेते हैं और नित्य-निरन्तर इसका चिन्तन करते हैं, तो यह हमारे भीतर पुनः-पुनः प्रकट होती है और हमारे ऊपर इसका प्रभाव बढ़ता चला जाता है। यह वह वस्तु बन जाती है जिसे हम सबमें देखते हैं, इसके अतिरिक्त सभी वस्तुएं इसका आवास, रूप और प्रतीकमात्र प्रतीत होती हैं जो अत्यन्त बाह्य वस्तुएं हैं,—शरीर, रूप, शब्द या जो कुछ भी हमारी इन्द्रियों के गोचर होता है,—वे सब भी यही उपस्थित दिखायी देती हैं; वे अब भौतिक न रहकर आत्मा के उपादान वा देह-तत्त्व में परिवर्तित हो जाती हैं। इस रूपान्तर का अभिप्राय यह है कि हमारी अपनी आन्तरिक चेतना रूपान्तरित हो जाती है; हमारे चारों ओर विद्यमान उपस्थिति हमें अपने अन्दर ले लेती है और हम उसके अंग बन जाते हैं। हमारे लिये हमारा अपना मन, प्राण, शरीर इसका एक आवास और मन्दिर बन जाते हैं, इसके कार्य-व्यापार का एक रूप और इसकी आत्म-अभिव्यक्ति का एक यन्त्रमात्र हो जाते हैं। तब सभी कुछ इस आनन्द की आत्मा और देहमात्र होता है।

ये वे भगवान् हैं जो हमारे चारों ओर और हमारे अपने भौतिक स्तर पर दिखायी

देते हैं। परन्तु वे अपने-आपको ऊपर भी प्रकाशित कर सकते हैं। हम उन्हें अपने-ऊपर उच्चाधिष्ठित उपस्थिति एवं आनन्द की महान् अनन्त सत्ता के रूप में देखते या अनुभव करते हैं,—अथवा इसके अन्दर, हम अपने द्युलोकस्थित पिता के दर्शन करते हैं,—पर अपने भीतर या चारों ओर हमें उनका अनुभव या साक्षात्कार नहीं होता। जबतक हमें यह दिव्य दृष्टि प्राप्त रहती है, हमारे अन्दर की मर्त्यता उस अमरता से शान्त हुई रहती है। यह ज्योति, शक्ति और हर्ष अनुभव करती है और उसे अपनी सामर्थ्यानुसार उत्तर देती है। अथवा यह आत्मा का अवतरण अनुभव करती है और तब यह कुछ समय के लिये रूपान्तरित हो जाती है या उस ज्योति एवं शक्ति की प्रतिच्छाया की किसी प्रभा में उन्नीत हो जाती है। यह आनन्द का कलश बन जाती है। परन्तु किन्हीं और समयों में यह फिर उसी पुरानी मर्त्यता में जा गिरती है और अपने पार्थिव अभ्यासों के ढेर में पड़ी रहती है अथवा जड़ता या तुच्छता के साथ काम करती है। पूर्ण उद्धार तो तभी होता है जब मानव मन और तन में दैवी शक्ति का अवतरण होता है और इनका अन्तर्जीवन दिव्य प्रतिमा के सांचे में ढल जाता है—जिसे वैदिक ऋषि 'यज्ञ द्वारा पुत्र का जन्म' कहते थे। निःसन्देह, अविच्छिन्न यज्ञ या अर्पण के द्वारा ही,—अर्चना और अभीप्सा के, समस्त कर्म-कलाप के, विचार एवं ज्ञान के और ईश्वरोन्मुख संकल्प की आरोहिणी ज्वाला के यज्ञ द्वारा ही हम अपने-आपको इस अनन्त की सत्ता में निर्मित करते हैं।

जब हम आनन्द-ब्रह्म की इस चेतना को इन तीनों—ऊपर, भीतर और चारों ओर की—अभिव्यक्तियों में दृढ़तापूर्वक अधिकृत कर लेते हैं, तब हमें उसका पूर्ण एकत्व प्राप्त हो जाता है और हम सर्वभूत को उसके आनन्द, शान्ति, हर्ष एवं प्रेम में आलिंगित करते हैं। तब सभी लोक-लोकान्तर इस आत्मा का शरीर बन जाते हैं। पर जिसे हम अनुभव करते हैं वह यदि केवल निर्वैयक्तिक उपस्थिति, विशालता या अन्तर्यामिता मात्र है, यदि हमारी आराधना इतनी अन्तरङ्ग नहीं बनी है कि यह आनन्दमय सत् अपने अत्यन्त विस्तृत हर्ष में से हमें हमारे सखा और प्रेमी का मुखमण्डल और शरीर दिखला सके और उसके हाथों का स्पर्श अनुभव करा सके तो हमें इस आनन्द का सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। इसकी निर्वैयक्तिकता ब्रह्म की आनन्दमय महत्ता है, परन्तु वहां से दिव्य व्यक्तित्व का माधुर्य और घनिष्ठ नियमन हमपर कटाक्षपात कर सकता है। कारण, आनन्द आत्मा का साक्षात् स्वरूप और हमारी सत्ता का स्वामी है और इसका अविरल धाराप्रवाह उसकी लीला का शुद्ध हर्ष हो सकता है।

अध्याय ८

प्रेम का रहस्य

निर्व्यक्तिक भगवान् की उपासना, प्रचलित व्याख्या के अनुसार, वास्तविक भक्तियोग नहीं होगी; क्योंकि योग के प्रचलित रूपों में यह माना जाता है कि निर्वैयक्तिक तो केवल एक ऐसे पूर्ण एकत्व के लिये ही खोजा जा सकता है जिसमें ईश्वर और हमारा अपना व्यक्तित्व खो जाते हैं और वहां न उपासक रहता है न उपास्य; केवल एकता एवं अनन्तता के अनुभव का आनन्द ही शेष रह जाता है। परन्तु वास्तव में आध्यात्मिक चेतना के चमत्कारों को ऐसे कठोर तर्क में नहीं बांध देना चाहिये। जब हम पहले-पहल अनन्त की उपस्थिति अनुभव करने लगते हैं तो, क्योंकि हमारे अन्दर के सांत व्यक्तित्व को ही इसका स्पर्श लाभ होता है, वह उस स्पर्श और पुकार का सहज ही एक प्रकार के आराधना के भाव के साथ प्रत्युत्तर दे सकता है। दूसरे, हम अनन्त को एकत्व और आनन्द की आध्यात्मिक स्थिति नहीं, बल्कि अपनी चेतना के निकट अनिर्वचनीय देवाधिदेव की उपस्थिति समझ सकते हैं और तब भी प्रेम एवं उपासना को अवकाश प्राप्त हो जाता है। जब हमारा व्यक्तित्व इसके साथ एकत्व में विलीन होता दीखता है तब भी यह ऐसा व्यष्टिरूप भगवान् हो सकता है और वस्तुतः होता ही है जो विराट् या परात्पर में एक प्रकार के मिलन के द्वारा घुलमिल रहा होता है। उस मिलन में प्रेम तथा प्रेमी और प्रियतम आनन्दोद्रेक की एकीकारक अनुभूति में विस्मृत हो जाते हैं, पर उस एकत्व के अन्दर प्रसुप्त अवस्था में वे अभी भी विद्यमान होते हैं और उसमें अवचेतन रूप से बने ही रहते हैं। प्रेम के द्वारा आत्मा का समस्त मिलन निश्चय ही इसी प्रकार का होगा। यहांतक कि एक अर्थ में हम कह सकते हैं कि व्यष्टि आत्मा और ईश्वर के आध्यात्मिक सम्बन्ध की समस्त विविध अनुभूतियों के अन्तिम शिखर के रूप में मिलन का यह हर्ष प्राप्त करने के लिये ही एकमेव ने इस विश्व में 'बहु' का रूप धारण किया है।

तथापि दिव्य प्रेम का अधिक विविध और अत्यन्त घनिष्ठ अनुभव केवल निर्वैयक्तिक अनन्त की खोज से ही प्राप्त नहीं हो सकता; उसके लिये तो हमारे उपास्य देवाधिदेव का हमारे प्रति निकट और वैयक्तिक होना आवश्यक है। निर्वैयक्तिक के लिये यह सम्भव है कि जब हम उसके अन्तस्तल में प्रवेश करें तो वह अपने अन्तर्निहित व्यक्तित्व के सकल ऐश्वर्य प्रकाशित करे, और जो व्यक्ति केवल अनन्त उपस्थिति में ही प्रवेश करना या उसका आलिंगन करना चाहता है वह भी उससे ऐसी चीजें पा सकता है जिनका उसे स्वप्न में भी विचार नहीं आया होता। भगवान् की सत्ता में हमारे लिये ऐसे आश्चर्य भरे पड़े हैं जो परिसीमक बुद्धि

के विचारों को विस्मय-विमुग्ध कर देते हैं। परन्तु साधारणतया भक्तिमार्ग दूसरे सिरे से शुरू करता है; यह भागवत व्यक्तित्व की उपासना से आरम्भ करता है, इसीके द्वारा अपने ध्येय की ओर आरोहण करता तथा विस्तृत होता है। भगवान् एक पुरुष हैं, कोई अमूर्त सत्ता या शुद्ध कालातीत अनन्तता की स्थिति नहीं। वे आद्य और वैश्व सत्ता हैं, परन्तु वह सत्ता अस्तित्व की चेतना एवं आनन्द से अविच्छेद्य है और एक ऐसी सत्ता को, जो अपने अस्तित्व एवं आनन्द से सचेतन है, हम उचिततः दिव्य अनन्त पुरुष कह सकते हैं। अपिच, चेतनामात्र में शक्ति निहित रहती है; जहां सत्ता की अनन्त चेतना है, वहां सत्ता की अनन्त शक्ति भी है और उसी शक्ति के द्वारा इस विश्व में सबका अस्तित्व है। उसी सत्ता के द्वारा सब सत्ताओं का अस्तित्व है; सभी वस्तुएं ईश्वर की आकृतियां हैं; समस्त विचार, कर्म, भाव और प्रेम उन्हींसे उद्‌भूत होते हैं और उन्हींमें लौट जाते हैं, वही हैं उनके सभी परिणामों का उद्‌गम, आश्रय और गुप्त लक्ष्य। इसी देवाधिदेव एवं इसी पुरुष के प्रति पूर्णयोग की भक्ति प्रवाहित और उन्नीत होगी। अपने परात्पर रूप में यह उन्हें पूर्ण मिलन के हर्षावेश में ढूंढ़ेगी; अपने विश्वमय रूप में यह उन्हें गुणों और सभी रूपों और सर्वभूतों में विश्वव्यापी आनन्द और प्रेम के साथ ढूंढ़ेगी, अपने वैयक्तिक रूप में यह उनके साथ वे सभी मानवीय सम्बन्ध स्थापित करेगी जिन्हें प्रेम मनुष्य-मनुष्य के बीच उत्पन्न करता है।

हृदय जिसकी खोज कर रहा है उसकी अशेष सर्वांगपूर्णता को प्रारम्भ से ही अधिकृत करना सम्भव नहीं हो सकता; ऐसा तो वास्तव में तभी हो सकता है यदि हमारी बुद्धि, स्वभाव और भाविक मन हमारे विगत जीवन की प्रवृत्ति द्वारा विशालता एवं सूक्ष्मता में विकसित हो चुके हों। बुद्धि, सौन्दर्यग्राही एवं भाविक मन में और संकल्प तथा सक्रिय अनुभव के अंगों में भी विशालता लानेवाले अपने शिक्षण के द्वारा हमें इस दिशा में ले जाना ही साधारण जीवन के अनुभव का उद्देश्य है। यह साधारण सत्ता को विस्तृत तथा परिष्कृत करता है जिससे यह उस 'तत्' के सम्पूर्ण सत्य की ओर सुगमतया खुल सके जो इसे अपनी आत्माभिव्यक्ति का मन्दिर बनाने के लिये तैयार कर रहा है। साधारणतः, अपनी सत्ता के इन सभी अंगों में मनुष्य सीमाबद्ध है। प्रारम्भ में वह केवल उतना भर दिव्य सत्य ग्रहण कर सकता है जितना उसकी अपनी प्रकृति तथा इसके विगत विकास एवं संस्कारों के साथ कुछ व्यापक साम्य रखता है। अतएव, ईश्वर पहले अपने दिव्य गुणों और प्रकृति के विभिन्न सीमित स्वरूपों में ही हमसे मिलता है; जिज्ञासु के समक्ष वह वस्तुओं के एक ऐसे चरम आदर्श के रूप में प्रकट होता है जिसे वह समझ सके, और जिसका उसका संकल्प एवं हृदय प्रत्युत्तर दे सकें; वह अपने देवत्व का कोई नाम-रूप प्रकाशित करता है। इसीको योग में इष्ट देवता अर्थात् हमारी प्रकृति द्वारा इसकी पूजा के लिये चुना हुआ नाम-रूप कहा जाता है।

इसलिये कि मनुष्य इस देवाधिदेव का अपने प्रत्येक अंग से आलिंगन कर सके यह ऐसे रूप में प्रकाशित किया जाता है जो इसके गुणों और पक्षों के अनुरूप होता है और जो उपासक के लिये ईश्वर का जीवन्त विग्रह बन जाता है। विष्णु, शिव, कृष्ण, काली, दुर्गा, ईसा और बुद्ध के रूप कुछ-एक ऐसे ही रूप हैं जिन्हें मनुष्य का मन उपासना के लिये अंगीकार कर लेता है। यहांतक कि एकेश्वरवादी भी, जो निराकार ईश्वर की पूजा करता है, उन्हें किसी गुण का रूप, कोई मानसिक रूप या प्राकृतिक रूप प्रदान कर देता है जिसके द्वारा वह उनकी परिकल्पना करता और उनके पास पहुंचता है। परन्तु यदि कोई भगवान् का मानों एक सजीव रूप एवं मानसिक शरीर देख सके तो उससे भगवत्प्राप्ति में बहुत अधिक सामीप्य और माधुर्य आ जाता है।

सर्वांगीण भक्तियोग का मार्ग यह होगा कि ईश्वर-विषयक इस विचार को हम विश्वमय बनावें, एक बहुविध और सर्व-आश्लेषी सम्बन्ध के द्वारा उन्हें घनिष्ठ वैयक्तिक रूप दे दें, नित्य-निरन्तर उन्हें अपनी सम्पूर्ण सत्ता के समक्ष उपस्थित रखें और अपनी सारी-की-सारी सत्ता उनपर उत्सर्ग कर दें, उन्हींको दे दें, समर्पित कर दें, जिससे वे हमारे निकट और हमारे भीतर और हम उनके संग और उनके भीतर निवास करें। मनन और दर्शन करना, सभी वस्तुओं में अनवरत उन्हींका चिन्तन और सदा-सर्वदा-सर्वत्र उन्हींके दर्शन करना इस भक्तिमार्ग का अनिवार्य अंग है। जब हम भौतिक प्रकृति के पदार्थों पर दृष्टिपात करें तो उनके अन्दर हमें अपने दिव्य प्रियतम को देखना होगा; जब हम मनुष्यों और जीवों पर दृक्पात करें तो उनके अन्दर हमें उन्हींको देखना होगा और उनके साथ अपने सम्बन्ध में हमें यह देखना होगा कि हम उन्हींके आकारों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं। जब जड़ जगत् की सीमा लांघकर हम अन्य स्तरों की सत्ताओं का ज्ञान लाभ करें या उनसे सम्बन्ध स्थापित करें तब भी हमें वही विचार वा दृष्टि अपने मनों के प्रति सत्य बनानी होगी। हमारे इस मन के सामान्य स्वभाव को, जो केवल जड़प्राकृतिक एवं प्रत्यक्ष रूप तथा साधारण खण्डित सम्बन्ध के प्रति ही खुला है और अन्तःस्थ गुप्त देवाधिदेव की उपेक्षा करता है, सर्व-आलिंगी प्रेम और आनन्द के अविरत अभ्यास के द्वारा इस गभीरतर एवं विपुलतर बोध और इस महत्तर सम्बन्ध के प्रति नत होना होगा। सभी देवताओं में हमें इन्हीं एक ईश्वर को देखना होगा जिन्हें हम अपने हृदय और अपनी सम्पूर्ण सत्ता से पूजते हैं; वे उन्हींके देवत्व के आकार हैं। अपने आध्यात्मिक आलिंगन को इस प्रकार विस्तारित करते हुए हम एक ऐसे बिन्दु पर जा पहुंचते हैं जहां सब कुछ वही होते हैं और इस चेतना का आनन्द हमारे लिये संसार को देखने का हमारा सामान्य अव्याहत ढंग बन जाता है। इससे उनके साथ हमारे मिलन में बाह्य या वस्तुगत सार्वभौमता आ जाती है।

आभ्यन्तरिक रूप में, प्रियतम की मूर्ति को हमारे अन्तर्नयन के लिये गोचर

बनना होगा। वे हमारे अन्दर ऐसे बस जायें जैसे अपने घर में, अपनी उपस्थिति की मधुरिमा से हमारे हृदयों को अनुप्राणित करें, सखा, स्वामी और प्रेमी के रूप में वे हमारी सत्ता के शिखर से हमारे मन-प्राण की समस्त चेष्टाओं को अधिशासित करें, ऊपर से वे हमें विश्व के अन्दर अपने साथ एकीभूत करें। सतत अन्तर्मिलन एक ऐसा हर्ष है जिसे घनिष्ठ, स्थायी और अचूक बनाना है। इस अन्तर्मिलन को असाधारण समीपता और उपासना के उस समयतक ही सीमित नहीं रखना है जब कि हम अपनी सामान्य व्यस्तताओं से विमुख होकर सर्वथा अपने भीतर चले जाते हैं, न हमें अपने मानवीय कार्यों का त्याग करके ही इसका अनुसरण करना है। हमें अपने सब विचारों, आवेगों, भावों और कार्यों को उनकी स्वीकृति या अस्वीकृति के लिये उनके समक्ष प्रस्तुत करना होगा, अथवा यदि हम अभी इस बिन्दुतक नहीं पहुंच सकते तो हमें इन्हें अपनी अभीप्सा के यज्ञ में उनके प्रति अर्पित करना होगा, जिससे वह हमारे अन्दर अधिकाधिक अवतीर्ण होकर इन सबमें उपस्थित रह सकें और इन्हें अपने समस्त संकल्प और बल, प्रकाश और ज्ञान, प्रेम और आनन्द से परिव्याप्त कर सकें। अन्त में हमारे सभी विचार, भाव, आवेग और कर्म उन्हींसे निःसृत और अपने किसी दिव्य बीज और रूप में परिवर्तित होने लगेंगे। अपने सम्पूर्ण अन्तर्जीवन में हम अपनेको उन्हींकी सत्ता के अङ्ग के रूप में जान लेंगे और अन्ततोगत्वा हमारे उपास्य भगवान् की सत्ता और हमारे अपने जीवनों में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार सकल घटनाओं में भी हमें अपने साथ दिव्य प्रेमी के व्यवहारों को देखना और उनमें ऐसा आनन्द लेना होगा कि दुःख-ताप और शारीरिक पीड़ातक उनकी देनें बन जायें, आनन्द में परिणत हो जायें और दिव्य सम्पर्क की अनुभूति से विनष्ट होकर अन्तिम रूप से आनन्द में विलीन हो जायें, क्योंकि उनके हाथों का स्पर्श चमत्कारी रूपान्तर का रसायनज्ञ है। कुछ लोग जीवन का इस कारण त्याग कर देते हैं कि यह दुःख और पीड़ा से कलुषित है, परन्तु प्रभु-प्रेमी के लिये दुःख-दर्द उनसे मिलन के साधन, एवं उनके दबाव के चिह्न बन जाते हैं और अन्त में, जैसे ही उनकी प्रकृति के साथ हमारा मिलन इतना पूर्ण हो जाता है कि वैश्व आनन्द के ये आवरण उसे छिपा ही नहीं सकते, वैसे ही ये समाप्त हो जाते हैं। ये आनन्द में रूपान्तरित हो जाते हैं।

जिन सम्बन्धों से यह मिलन साधित होता है वे सभी इस पथ पर प्रगाढ़ और आनन्दमय रूप में वैयक्तिक बन जाते हैं। जो सम्बन्ध अन्त में उन सबको अपनेमें समा लेता, ऊंचा ले जाता या एक कर देता है वह प्रेमी और प्रियतम का सम्बन्ध है, क्योंकि वह सभी सम्बन्धों में प्रगाढ़ और आनन्दपूर्ण है और शेष सबको अपनी ऊंचाइयों पर ले जाता है और फिर भी उन्हें अतिक्रान्त किये रहता है। वे गुरु और मार्गदर्शक हैं और हमें ज्ञान की ओर ले जाते हैं; विकसनशील आन्तर ज्योति और दृष्टि के प्रत्येक पग पर हम एक कलाकार के स्पर्श जैसा उनका स्पर्श अनुभव

करते हैं जो हमारे मन की मिट्टी को रूप देता है, सत्य और उसके शब्द को प्रकाशित करनेवाली उनकी वाणी को, उनसे प्राप्त उस विचार को जिसका हम प्रत्युत्तर देते हैं तथा उनके उन विद्युद्वज्रों की दीप्ति को भी हम अनुभव करते हैं जो हमारे अज्ञानान्धकार का नाश कर देते हैं। विशेषतः, जितना ही हमारे मन के आंशिक प्रकाश विज्ञान की ज्योतियों में रूपान्तरित होते जाते हैं,—यह चाहे कितनी भी कम या अधिक मात्रा में हो,—उतना ही हम इसे अपने मन का उनके मन में रूपान्तर अनुभव करते हैं और उत्तरोत्तर वही हमारे अन्दर विचारक और द्रष्टा बनते जाते हैं। हम अपने लिये सोचना और देखना छोड़ देते हैं, और केवल वही सोचते हैं जो वे हमारे लिये सोचना चाहते हैं तथा केवल वही देखते हैं जो वे हमारे लिये देखते हैं। तब गुरु प्रेमी में पूर्णरूपेण चरितार्थ हो जाते हैं; वे हमारी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता को आलिंगित और अधिकृत करने के लिये, उसका उपभोग एवं उपयोग करने के लिये उसे अपने हाथ में ले लेते हैं।

वे स्वामी हैं; किन्तु भगवत्प्राप्ति के इस मार्ग में समस्त दूरी और पृथक्ता, समस्त भय, सम्भ्रम और निरे आज्ञापालन का भाव तिरोहित हो जाते हैं, क्योंकि हम उनके इतने निकट तथा उनसे इतने एकीभूत हो जाते हैं कि ये चीजें टिक ही नहीं पातीं और हमारी सत्ता का प्रेमी भी इसे अपनाकर अपने अधिकार में कर लेता है, इसका प्रयोग करता है और इसके साथ वह जो चाहता है करता है। आज्ञापालन सेवक का चिह्न है, किन्तु वह इस सम्बन्ध की—दास्य की—सबसे निचली सीढ़ी है। आगे चलकर हम आज्ञापालन नहीं करते, बल्कि उनकी इच्छा के अनुसार उसी प्रकार चलते हैं जिस प्रकार वाद्य-तार गायक की अङ्गुलि के संकेत पर सुर निकालता है। यन्त्र बनना आत्म-समर्पण और नमन की उच्चतर अवस्था ही है। परन्तु यह एक सजीव और प्रेमपूर्ण यन्त्र होता है और इसका पर्यवसान यह होता है कि हमारी सत्ता की सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वर की दासी बन जाती है, उनके स्वामित्व और दैवी अधिकार एवं प्रभुत्व के प्रति अपने आनन्दपूर्ण दासत्व में हर्षित होती है। प्रगाढ़ आनन्द के साथ, बिना ननुनच के यह वह सब करती है जो वे इससे कराना चाहते हैं और वह सब वहन करती है जो वे इससे वहन कराना चाहते हैं, क्योंकि जो यह वहन करती है वह प्रियतम सत्ता का ही भार है।

वह सखा है, कष्ट और संकट में परामर्शदाता, सहायक एवं रक्षक है, शत्रुओं से बचानेवाला है, शूरवीर है जो हमारे लिये युद्ध लड़ता है या जिसकी ढाल की आड़ में हम युद्ध करते हैं, वह रथी है, हमारे पथों का कर्णधार है। यहां हम एकाएक निकटतर घनिष्ठता प्राप्त कर लेते हैं; वह हमारा संगी और नित्य सहचर होता है, जीवन के खेल का साथी। परन्तु इतना होने पर भी अभी एक प्रकार का भेद रहता है, वह रुचिकर भले ही हो, और सख्य का भाव उपकार की भाव-भंगी द्वारा अत्यधिक सीमित रहता है। प्रेमी हमें चोट पहुंचा सकता, त्याग सकता और

हमपर कुपित हो सकता है, यहांतक प्रतीत हो सकता है कि वह विश्वासघात कर रहा है और फिर भी हमारा प्रेम स्थायी रहता है, इतना ही नहीं, बल्कि इन विरोधों से वह बढ़ता है; इनसे पुनर्मिलन का हर्ष और अधिकृत करने का हर्ष बढ़ता है; इनके द्वारा भी वह प्रेमी हमारा सखा ही बना रहता है और जो कुछ भी वह करता है वह सब, हमें अन्त में पता चलता है, हमारी सत्ता के प्रेमी और सहायक ने ही हमारी आत्मा की पूर्णता के लिये और हमारे अन्दर अपने आनन्द के लिये किया है। ये विरोध और अधिक समीपता की ओर ही ले जाते हैं। वह हमारी सत्ता के माता-पिता भी हैं, इसके उत्पादक, रक्षक एवं कृपालु पालक-पोषक हैं और हमारी कामनाओं को पूरा करनेवाले हैं। वह एक शिशु हैं जो हमारी इच्छा के अनुसार उत्पन्न होता है और जिसे हम पालते-पोसते तथा बढ़ाते हैं। इन सब चीजों को हमारा प्रेमी अपनाता है; उसका प्रेम अपनी घनिष्ठता एवं एकता में अपने अन्दर माता-पिता की-सी हितचिन्ता को धारण किये रहता है और उससे हम जो मांगें करते हैं उनकी पूर्ति की ओर ध्यान देता है। उस गभीरतम बहुमुख सम्बन्ध में सब कुछ एकीभूत हो जाता है।

प्रेमी और प्रियतम का यह निकटतम सम्बन्ध प्रारम्भ से प्राप्त कर लेना भी सम्भव है, पर यह पूर्णयोग के लिये उतना एकांगी नहीं होगा जितना किन्हीं केवल आनन्दरत भक्तिमार्गों के लिये। यह सम्बन्ध अन्य सम्बन्धों के रंग-रूपों का कुछ अंश प्रारम्भ से ही अपने अन्दर ले लेगा, क्योंकि वह ज्ञान और कर्म का भी अनुसरण करता है और उसे गुरु, सखा और स्वामी के रूप में भी भगवान् की आवश्यकता होती है। ईश्वर-प्रेम की वृद्धि के साथ ही उसके अन्दर ईश्वर-ज्ञान का तथा उसकी प्रकृति और जीवन में ईश्वरेच्छा की क्रिया का विस्तार भी अवश्य होगा। दिव्य प्रेमी अपने-आपको प्रकाशित करता है; वह जीवन को अपने अधिकार में कर लेता है। परन्तु तात्त्विक सम्बन्ध अभी भी उस प्रेम का ही रहेगा जिससे सभी चीजें प्रस्रवित होती हैं और जो अत्युत्कट एवं पूर्ण होता है और अपनी परिपूर्ति के सैंकड़ों मार्गों, पारस्परिक स्वत्व के सभी साधनों तथा मिलन के हर्ष के सहस्रों रूपों की खोज करता है। मन के सब भेद-प्रभेदों, इसकी सभी बाधाओं और "नहीं हो सकता" की उक्तियों, बुद्धि के सभी निष्प्राण विश्लेषणों का यह मजाक उड़ाता है अथवा यह इन्हें मिलन की कसौटियों, क्षेत्रों और द्वारों के रूप में ही प्रयुक्त करता है। प्रेम हमारे अन्दर अनेक प्रकार से उदित होता है। यह प्रेमी के सौन्दर्य के प्रति जागृति के रूप में, उनकी आदर्श मुखछवि और मूर्ति के दर्शन के द्वारा, जगत् में पदार्थों के सहस्रों रूपों के पीछे से हमारे प्रति उनके स्व-विषयक गुह्य संकेतों के द्वारा, हृदय की मन्द या आकस्मिक आवश्यकता के कारण, आत्मा की एक अव्यक्त प्यास के कारण, इस अनुभूति के द्वारा कि हमारे समीप-स्थित कोई हमें प्रेमपूर्वक खींच रहा है या हमारा पीछा कर रहा है अथवा इस

अनुभव के द्वारा उदित हो सकता है कि कोई आनन्दमय और सर्वसुन्दर सत्ता है जिसकी हमें अवश्य खोज करनी चाहिये।

हम रागपूर्वक उनकी खोज कर सकते और अदृष्ट प्रियतम का अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु वह प्रेमी भी, जिसका हमें विचारतक नहीं आता, हमारा पीछा कर सकता है, इस संसार के बीच एकाएक हमारे सामने आ सकता है और प्रारम्भ में हम चाहें या न चाहें, वह अपने ही लिये हम पर अपना अधिकार जमा सकता है। यहांतक कि, शुरू में वह प्रणयरोष के साथ शत्रु के रूप में भी हमारे पास आ सकता है और उसके साथ हमारे आरम्भिक सम्बन्ध संघर्ष एवं संग्राम के हो सकते हैं। जहां पहले-पहल प्रेम एवं आकर्षण उत्पन्न होता है, वहां भी भगवान् और आत्मा के सम्बन्ध चिरकालतक भ्रांति और रोष, ईर्ष्या और क्रोध, प्रेम के विवाद और कलह, आशा और निराशा और विरह एवं वियोग की वेदना से शबलित हो सकते हैं। अपने हृदय के समस्त आवेशों को हम तबतक उनके प्रति विसर्जित करते हैं जबतक वे आनन्द और एकत्व के अनन्य मद में शुद्ध नहीं हो जाते। परन्तु यह भी कोई नीरसता नहीं है; दिव्य प्रेम के आनन्द की सम्पूर्ण चरम एकता और सम्पूर्ण शाश्वत विविधता का वर्णन करना मानवोच्चारित भाषा के लिये सम्भव ही नहीं है। हमारे उच्चतर और निम्नतर अंग दोनों इससे परिप्लुत हो जाते हैं, मन और प्राण भी उतने ही जितनी कि आत्मा। यहांतक कि स्थूल शरीर भी इस हर्ष में अपना भाग ग्रहण करता है, स्पर्श अनुभव करता है, अपने सब अवयवों में, रग-रग में सोम-सुरा के—अमृत के प्रवाह से परिपूर्ण हो जाता है। प्रेम और आनन्द सत्ता के अन्तिम शब्द हैं, रहस्यों के रहस्य और गुह्यतम गुह्य हैं।

इस प्रकार विश्वमय और व्यक्तिभावापन्न होकर, अपनी तीव्रताओंतक उन्नीत, सर्वग्रासी, सर्व-आलिंगी और सर्व-परिपूरक होकर प्रेम एवं आनन्द का मार्ग परमोच्च मुक्ति प्रदान करता है। इसका सर्वोच्च शिखर अतिलौकिक मिलन है। किन्तु प्रेम के लिये पूर्ण मिलन ही मुक्ति है; इसके लिये मुक्ति का और कोई अर्थ ही नहीं है; यह सब प्रकार की मुक्तियों को अपने अन्दर समाविष्ट रखता है। अन्त में ये, जैसा कि कुछ लोग चाहेंगे, केवल एक के बाद दूसरी के क्रम से प्राप्त होनेवाली और अतएव परस्पर-वर्जक भी नहीं हैं। हम मानव आत्मा के साथ भगवान् का पूर्ण मिलन, 'सायुज्य' लाभ करते हैं; उसमें वे सब तत्त्व अपनेको प्रकट करते हैं जो यहां भेद पर अवलम्बित हैं, पर वहां भेद एकत्व का रूपमात्र है,—इसी प्रकार समीपता, संस्पर्श और परस्पर-सान्निध्य, 'सामीप्य', सालोक्य का आनन्द, परस्पर-प्रतिबिम्बन का,—जिसे हम 'सादृश्य' कहते हैं—आनन्द और अन्य अद्भुत वस्तुएं भी वहां प्रकट होती हैं जिनके लिये भाषा के पास अभी कोई नाम नहीं हैं। ऐसी कोई चीज नहीं है जो ईश्वर-प्रेमी की पहुंच से परे हो अथवा जो उसे प्रदान न की जाये; क्योंकि वह दिव्य प्रेमी का प्रेमपात्र और प्रियतम की आत्मा है।

भाग ४

आत्मसिद्धियोग

अध्याय १

पूर्णयोग का मूल सिद्धान्त

हमारी मानव-सत्ता की किसी एक या सभी शक्तियों (करणों) को लेकर उन्हें भागवत सत्तातक पहुंचने के साधन बना देना—यही योग का मूल सिद्धान्त है। एक साधारण योग में सत्ता की किसी एक मुख्य शक्ति (करण) या उसकी शक्तियों (करणों) के किसी एक समूह को साधन, वाहन या पथ बनाया जाता है। पर समन्वयात्मक योग में सभी शक्तियों (करणों) को एकत्र कर रूपान्तरकारी साधन-सामग्री में सम्मिलित कर लिया जायेगा।

हठयोग में साधन है शरीर एवं प्राण। शरीर की समस्त शक्ति को आसन तथा अन्य भौतिक प्रक्रियाओं के द्वारा उसकी चरम सीमाओंतक या सीमातीत रूप में स्थिर, संगृहीत, शुद्ध, उन्नत और एकाग्र किया जाता है; प्राण की शक्ति को भी इसी प्रकार आसन और प्राणायाम के द्वारा शुद्ध, उन्नत और एकाग्र किया जाता है। फिर इन एकाग्र शक्तियों को उस भौतिक केन्द्र की ओर प्रचालित किया जाता है जिसमें दिव्य चेतना, मानव-देह के भीतर, गुह्य रूप में स्थित है। ऐसा करने से प्राण-तत्त्व की शक्ति या प्रकृति-शक्ति, जो पृथ्वी-सत्ता के सबसे निचले स्नायु-चक्र (मूलाधार) में सोयी हुई अपनी सब गुप्त सामर्थ्यों के साथ हमारी देह में कुण्डल मारे पड़ी है, जाग उठती है। उसकी सामर्थ्यों को हमने सोयी हुई इस कारण कहा है कि हमारी साधारण क्रियाओं में इनका उतना ही भाग सजग कार्य के रूप में प्रकट होता है जितना मानवजीवन के परिमित प्रयोजनों के लिये पर्याप्त है। हां, तो यह कुण्डलित प्राण-शक्ति जागकर एक के बाद एक केन्द्र में से होती हुई ऊपर की ओर आरोहण करती जाती है। इस प्रकार आरोहण करती हुई यह अपने मार्ग में हमारी सत्ता की प्रत्येक क्रमिक ग्रन्थि अर्थात् स्नायविक प्राण, भावमय हृदय और साधारण मन, वाणी, दृष्टि, संकल्प और उच्चतर ज्ञान की सामर्थ्यों को भी जगाती चलती है, जिससे कि अन्त में यह मस्तिष्क के द्वारा तथा इसके ऊपर दिव्य चेतना से जा मिलती है तथा उसके साथ एक हो जाती है।

राजयोग में चुना हुआ साधन है मन। इसमें सबसे पहले हमारे साधारण मन को संयमित और शुद्ध करके भागवत सत्ता की ओर प्रेरित किया जाता है, फिर आसन और प्राणायाम की एक संक्षिप्त प्रक्रिया के द्वारा हमारी सत्ता की भौतिक शक्ति को स्थिर, शान्त और एकाग्र किया जाता है, प्राणशक्ति को एक ऐसी तालबद्ध गति का उन्मुक्त रूप दे दिया जाता है जिसे इच्छानुसार रोका जा सकता है और साथ ही उसे अपनी ऊर्ध्वमुख क्रिया की उच्चतर शक्ति के रूप में एकाग्र कर दिया जाता है, मन अपने आधारभूत शरीर और प्राण की इस महत्तर क्रिया

और एकाग्रता से सम्पुष्ट और सबल होकर स्वयं भी अपने सब क्षोभ और आवेग तथा अपनी अभ्यासगत विचार-तरंगों से रहित एवं शुद्ध हो जाता है, भ्रम और विक्षेप से मुक्त हो जाता है, अपनी एकाग्रता की उच्चतम शक्ति प्राप्त कर लेता है, समाधि की मग्नावस्था में लीन हो जाता है। इस साधना के द्वारा दो लक्ष्यों की प्राप्ति होती है जिनमें से एक तो कालगत है और दूसरा नित्य। मन की शक्ति एक अन्य एकाग्र क्रिया में ज्ञान की असामान्य क्षमताओं, अमोघ संकल्प, ग्रहण-क्रिया की गभीर ज्योति तथा विचार-विकिरण की शक्तिशाली ज्योति का विकास करती है जो कि हमारे सामान्य मन के संकुचित क्षेत्र से सर्वथा परे की वस्तुएं हैं; यह यौगिक या गुह्य शक्तियां किंवा सिद्धियां प्राप्त कर लेती है जिनके चारों ओर कितने ही अधिक रहस्य का जाल बुन दिया गया है जो आवश्यक तो बिल्कुल नहीं है, किन्तु फिर भी शायद हितकर ही है। परन्तु एकमात्र अन्तिम लक्ष्य एवं एकमात्र सर्वप्रधान लाभ यह है कि मन शान्त होकर और प्रगाढ़ समाधि में डूबकर दिव्य चेतना में लीन हो सकता है और आत्मा को भगवान् के साथ एक होने के लिये बन्धन से मुक्त किया जा सकता है।

त्रिमार्ग मनुष्य के मनोमय अन्तरात्म-जीवन की तीन मुख्य शक्तियों को अपने चुने हुए करणों के रूप में ग्रहण करता है। ज्ञानमार्ग बुद्धि और मानसिक अन्तर्दृष्टि को चुनता है और शुद्धि एवं एकाग्रता तथा ईश्वरोन्मुख जिज्ञासा की एक विशेष साधना के द्वारा वह इन्हें सबसे महान् ज्ञान एवं अन्तर्दर्शन अर्थात् ईश्वर-ज्ञान और ईश्वर-दर्शन की प्राप्ति के लिये अपने साधन बना लेता है। उसका लक्ष्य भगवान् का साक्षात्कार और ज्ञान प्राप्त करना तथा वही बन जाना है। कर्मों का मार्ग किंवा क्रियामय मार्ग कर्मों के कर्ता के संकल्प को अपने करण के रूप में चुनता है; वह जीवन को भगवान् के प्रति यज्ञ की हवि का रूप दे देता है और शुद्धि किंवा एकाग्रता के द्वारा तथा भगवद्इच्छा के प्रति अधीनता की एक विशेष साधना से इसे विश्व के दिव्य प्रभु के साथ मानव-आत्मा के सम्पर्क और वृद्धिशील एकत्व का साधन बना देता है। भक्तिमार्ग आत्मा की भावमय एवं सौन्दर्यलक्षी शक्तियों को चुनता है और उन सबको पूर्ण पवित्रता एवं तीव्रता के भाव में तथा खोज के असीम आवेग के साथ भगवान् की ओर मोड़कर भागवत सत्ता के साथ एकत्व के एक या अनेक सम्बन्धों के द्वारा भगवान् को प्राप्त करने के साधन बना देता है। इस सब मार्गों का लक्ष्य अपने-अपने ढंग से परमात्मा के साथ मानव आत्मा का मिलन या एकत्व साधित करना है।

किसी भी योग की प्रक्रिया का स्वरूप, जिस करण का वह प्रयोग करता है उसीके अनुसार होता है; इस प्रकार हठयोग की प्रक्रिया मनो-भौतिक है, राजयोग की मानसिक और आन्तरात्मिक, ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक और प्रज्ञात्मक है, भक्तिमार्ग आध्यात्मिक, भाविक और सौन्दर्यबोधात्मक है, कर्ममार्ग कार्यतः आध्यात्मिक और

क्रिया-शक्तिमय है। इनमें से प्रत्येक अपनी विशिष्ट शक्ति के तरीकों के अनुसार परिचालित होता है। परन्तु समस्त शक्ति अन्त में एक ही शक्ति है, समस्त शक्ति वस्तुतः आत्म-शक्ति ही है। प्राण, शरीर और मन की साधारण प्रक्रिया में यह सत्य प्रकृति की एक ऐसी विकीर्ण विभेदक और विभाजक क्रिया के द्वारा, जो हमारे समस्त व्यापारों की एक सामान्य शर्त है, सर्वथा आच्छादित रहता है, यद्यपि वहां भी यह अन्त में प्रत्यक्ष हो जाता है; क्योंकि समस्त भौतिक शक्ति प्राणिक, मानसिक, आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक शक्ति को अपने अन्दर गुह्य रूप में धारण किये है और अन्त में यह एकमेव शक्ति के इन रूपों को अवश्य उन्मुक्त करेगी, प्राणिक शक्ति अन्य सब रूपों को अपने अन्दर छुपाये है तथा उन्हें सक्रिय रूप में प्रकट करती है, मानसिक शक्ति प्राण और शरीर तथा उनकी शक्तियों एवं क्रियाओं के आधार पर स्थित रहती हुई, हमारी सत्ता की अविकसित या केवल अंशतः विकसित आन्तरात्मिक तथा आध्यात्मिक शक्ति को अपने अन्दर धारण किये है। पर जब योग के द्वारा इनमें से किसी शक्ति को विकीर्ण और विभाजक क्रिया से ऊपर उठाकर उसकी परमोच्च सीमातक पहुंचा दिया जाता है, उसे एकाग्र कर दिया जाता है तो वह एक व्यक्त आत्म-शक्ति बन जाती है तथा सब शक्तियों की मूल एकता को प्रकाशित कर देती है। अतएव, हठयोग की प्रक्रिया का भी अपना शुद्ध आन्तरात्मिक एवं आध्यात्मिक परिणाम होता है, राजयोग की प्रक्रिया मानसिक साधनों से एक अत्युच्च आध्यात्मिक परिणति लाभ करती है। त्रिमार्ग अपने खोज के साधन तथा अपने लक्ष्यों में पूर्णतः मानसिक और आध्यात्मिक प्रतीत हो सकता है, पर उससे भी ऐसे फल प्राप्त हो सकते हैं जो अधिक स्वाभाविक रूप में अन्य मार्गों के ही फल होते हैं। ये फल एक सहज-स्वाभाविक एवं अनैच्छिक विकास के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होते हैं, और इसका कारण भी यही है कि आत्म-शक्ति ही सर्व-शक्ति है और जहां यह एक दिशा में अपनी पराकाष्ठा को पहुंचती है वहां इसकी अन्य सम्भावनाएं भी एक वास्तविक तथ्य या एक आरम्भिक सम्भाव्य शक्ति के रूप में प्रकट होने लगती है। शक्तियों की यह एकता तुरन्त ही संकेत देती है कि एक समन्वयात्मक योग सम्भव है।

तान्त्रिक साधना अपने स्वरूप से ही एक समन्वयात्मक प्रणाली है। इसने इस विशाल वैश्व सत्य को अधिकृत कर लिया है कि सत्ता के दो ध्रुव हैं, **ब्रह्म** और **शक्ति, आत्मा** और **प्रकृति**, जिनकी तात्त्विक एकता सत्ता का रहस्य है; इसने यह भी जान लिया है कि प्रकृति आत्मा की शक्ति है या वह वास्तव में शक्तिरूप आत्मा ही है। मनुष्य की प्रकृति को ऊंचा उठाकर उसे आत्मा की व्यक्त शक्ति बना देना ही इसकी प्रणाली है और आध्यात्मिक रूपान्तर के लिये यह मनुष्य की सारी-की-सारी प्रकृति को एकत्र करती है। यह अपनी साधन-प्रणाली में इन विधियों को समाविष्ट करती है—शक्तिशाली हठयौगिक प्रक्रिया और विशेषकर

स्नायु-केन्द्रों (चक्रों) का उद्घाटन तथा ब्रह्म से मिलने के लिये ऊपर की ओर जाती हुई जागरित शक्ति का अपने मार्ग में उन केन्द्रों में से गुजरना, राजयौगिक शुद्धि, ध्यान और एकाग्रता का सूक्ष्मतर दबाव, संकल्प-शक्ति का समर्थतम आलम्बन, भक्ति की प्रेरक-शक्ति और ज्ञान की पद्धति। परन्तु वह इन विशिष्ट योगों की विभिन्न शक्तियों को प्रभावशाली रूप में एकत्र करके ही नहीं रुक जाती। दो दिशाओं में यह अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति के द्वारा योग-पद्धति के क्षेत्र को विस्तृत करती है। सर्व-प्रथम, यह मानवीय गुण-सामर्थ्य, कामना और कार्य-व्यापार के मुख्य स्रोतों (करणों) में से कई एक को दृढ़तापूर्वक अपने हाथ में लेती है और उन्हें एक बलवर्द्धक साधना में से गुजारती है और ऐसा करने में इसका पहला लक्ष्य यह होता है कि आत्मा अपनी प्रेरक शक्तियों का प्रभुत्व प्राप्त कर ले और अन्तिम प्रयोजन यह होता है कि वह इन्हें एक दिव्यतर आध्यात्मिक स्तरतक ऊंचा उठा ले जाये। और, फिर यह योग के लक्ष्यों में केवल उस मुक्ति को ही समाविष्ट नहीं करती जो विशेष-विशेष पद्धतियों का एकमात्र सर्व-प्रधान लक्ष्य है, बल्कि आत्मा की शक्ति के विश्वगत उपभोग (भुक्ति) को भी समाविष्ट करती है जिसे अन्य पद्धतियां मार्ग में प्रासंगिक, आंशिक और नैमित्तिक रूप से तो स्वीकार कर सकती हैं, पर जिसे वे अपना हेतु या लक्ष्य बनाने से कतराती हैं। इस प्रकार, तान्त्रिक साधना एक अधिक साहसपूर्ण एवं विशालतर प्रणाली है।

समन्वय की जिस पद्धति का हम अनुसरण करते आ रहे हैं उसमें मूल तत्त्व के एक अन्य ही सूत्र का अनुसरण किया गया है जिसका मूल योग की शक्यताओं के एक और ही दृष्टिकोण में निहित है। यह तन्त्र के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वेदान्त की पद्धति को लेकर चलता है। तान्त्रिक प्रणाली में शक्ति ही सर्व-प्रधान है, वही आत्मा की खोज की कुंजी बनती है; हमारे समन्वय में आत्मा, पुरुष सर्व-प्रधान है, वही शक्ति को ऊपर ले जाने की रहस्यमय कुंजी बनता है। तन्त्र-प्रणाली निचले तल से आरम्भ करती है और आरोहण की सीढ़ी पर ऊपर की ओर पग रखती हुई शिखरतक पहुंचती है; अतएव, सबसे पहले यह शरीर और उसके केन्द्रों (चक्रों) के स्नायु-मण्डल में जागरित शक्ति की क्रिया पर बल देती है; षट् पद्मों (चक्रों) का उद्घाटन आत्मा की शक्ति के स्तरों का ही उद्घाटन है। हमारा समन्वय मनुष्य को देहगत आत्मा की अपेक्षा कहीं अधिक मनोगत आत्मा मानता है और उसके अन्दर यह शक्ति भी स्वीकार करता है कि वह इसी स्तर से योग-साधना आरम्भ कर सकता है, उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति एवं सत्ता की ओर अपने-आपको सीधे खोल देनेवाले मनोमय पुरुष की शक्ति से अपनी सत्ता को आध्यात्मिक बना सकता है और इस प्रकार वह जिस उच्चतर शक्ति को प्राप्त करता तथा कार्यरत कर देता है उसके द्वारा वह अपनी समूची प्रकृति को पूर्ण बना सकता है। इसी कारण हमने आरम्भ में इस बात पर बल दिया है कि मनोमय

पुरुष की शक्तियों का उपयोग करके आत्मा के तालों में ज्ञान, कर्म और प्रेम की त्रिविध कुंजी लगायी जाय। हठयोग की विधियों को छोड़ा जा सकता है—यद्यपि उनके आंशिक प्रयोग में हमें कोई आपत्ति नहीं,—राजयोग की विधियां एक अनियमित अंग के रूप में ही प्रवेश पा सकती हैं। छोटे-से-छोटे मार्ग के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति और सत्ता के विस्तृत-से-विस्तृत विकासतक पहुंचना और उसके द्वारा मानव-जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र में मुक्त प्रकृति को दिव्य बनाना ही हमारा उत्प्रेरक हेतु है।

जो मूल सूत्र हमारी दृष्टि के सम्मुख है वह है आत्म-समर्पण, मानव-सत्ता को भगवान् की सत्ता, चेतना, शक्ति और आनन्द में उत्सर्ग कर देना, मनुष्य अर्थात् मनोमय प्राणी की आत्मा में भगवान् से मिलने के जितने भी केन्द्र-बिन्दु हैं उन सबपर मिलन या अन्तःसम्पर्क प्राप्त करना, जिसके द्वारा स्वयं भगवान् अपने को पर्दे के पीछे छुपाये बिना, प्रत्यक्ष रूप में मानव-यन्त्र के शासक और स्वामी बनकर, अपने सान्निध्य और मार्गदर्शन की ज्योति से मनुष्य को दिव्य जीवन यापन करने के लिये प्रकृति की सभी शक्तियों में पूर्ण बना दें। यहां हम योग के लक्ष्यों के और भी अधिक विस्तार पर पहुंच जाते हैं। योगमात्र का सर्वसामान्य प्रारम्भिक उद्देश्य है मानव-आत्मा की अपने वर्तमान प्राकृत अज्ञान एवं सीमाबन्धन से मुक्ति, उसका आध्यात्मिक सत्ता में पहुंचकर मुक्त हो जाना, परमोच्च आत्मा और भागवत सत्ता के साथ उसका मिलन। परन्तु साधारणतया इसे आरम्भिक ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण एवं अन्तिम लक्ष्य बना दिया जाता है; आध्यात्मिक सत्ता का उपभोग तो इसमें अवश्य प्राप्त होता है, पर वह या तो आत्म-स्वरूप की नीरवता के अन्दर मानवीय एवं वैयक्तिक सत्ता के लय के रूप में प्राप्त होता है या फिर किसी उच्चतर स्तर पर एक अन्य प्रकार के जीवन में। तान्त्रिक पद्धति मुक्ति को अपना अन्तिम लक्ष्य तो नियत करती है, पर एकमात्र लक्ष्य नहीं, वह अपने मार्ग में मानव-जीवन के अन्दर आध्यात्मिक शक्ति, ज्योति और आनन्द की समग्र पूर्णता एवं मुक्ति को ग्रहण करती है; इतना ही नहीं, बल्कि उसे उस परमोच्च अनुभव की झांकी भी प्राप्त होती है जिसमें मोक्ष और वैश्व व्यापार एवं उपभोग समस्त वैषम्य-विरोधों पर अन्तिम विजय की अवस्था में एकीकृत हो जाते हैं। हमारी आध्यात्मिक शक्यताओं के सम्बन्ध में यह जो विशालतर दृष्टि है इसीको लेकर हम आगे बढ़ते हैं, किन्तु हम एक और बात पर भी बल देते हैं जो हमारे योग में एक अधिक पूर्ण सार्थकता ले आती है। हम मनुष्य में स्थित आत्मा को केवल एक ऐसी व्यक्तिगत सत्ता नहीं मानते जो भगवान् के साथ परात्पर एकत्व पाने के लिये आगे बढ़ रही है, बल्कि उसे एक ऐसी विराट् सत्ता भी मानते हैं जो सब जीवों तथा समस्त प्रकृति में भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त कर सकती है और इस विस्तृत दृष्टि को हम इसका पूरे-का-पूरा क्रियात्मक महत्त्व प्रदान करते हैं। मानव-आत्मा का व्यक्तिगत मोक्ष

और आध्यात्मिक सत्ता, चेतना और आनन्द में भगवान् के साथ मिलन का व्यक्तिगत उपभोग सदा ही योग का प्रथम लक्ष्य होना चाहिये; अतएव, विश्व में भगवान् के साथ एकत्व का मुक्त उपभोग, उसका दूसरे नम्बर का लक्ष्य हो जाता है; पर इसमें से एक तीसरा लक्ष्य भी प्रकट होता है, अर्थात् मानवजाति में भगवान् का जो आध्यात्मिक उद्देश्य है उससे सहानुभूति रखते हुए तथा उसमें भाग लेकर सर्वभूतों के साथ दिव्य एकता के अर्थ को कार्यरूप में परिणत करना। ऐसी अवस्था में व्यक्तिगत योग अपने पृथक् रूप को त्यागकर मानवजाति में दिव्य प्रकृति के सामूहिक योग का अंग बन जाता है। मुक्ति प्राप्त व्यक्ति अपनी अध्यात्म-सत्ता एवं आत्म-स्वरूप में भगवान् के साथ एक होकर अपनी प्राकृत सत्ता में एक ऐसा यन्त्र बन जाता है जो आत्म-सिद्धि प्राप्त करने में तत्पर रहता है, ताकि मानवजाति में भगवान् पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो सकें।

इस प्रस्फुटन की दो अवस्थाएं होती हैं; उनमें से पहली है—पृथक्कारी मानव-अहंभाव में से निकलकर आत्मा की एकता में विकास, इसके बाद दिव्य प्रकृति की उसके अपने वास्तविक एवं उच्चतर रूपों में प्राप्ति, पर उसकी प्राप्ति हमें मानसिक सत्ता के उन निम्नतर रूपों में नहीं करनी होगी जो वैश्व व्यक्ति में दिव्य प्रकृति के यथार्थ मूल लेख नहीं हैं, बल्कि उसका विकृत रूपान्तर हैं, दूसरे शब्दों में, हमें एक ऐसी पूर्णता को अपना लक्ष्य बनाना होगा जिसके फलस्वरूप हमारी मानसिक प्रकृति पूर्ण आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक प्रकृतितक ऊंची उठ जाये। अतएव, ज्ञान, प्रेम और कर्म के इस सर्वांगीण योग को आध्यात्मिक तथा विज्ञानमय आत्म-सिद्धि के योग के रूप में विस्तृत करना होगा। अतिमानसिक ज्ञान, संकल्प और आनन्द आत्मा के प्रत्यक्ष करण हैं और इनकी प्राप्ति आत्मा में, दिव्य सत्ता में विकास के द्वारा ही हो सकती है, अतएव इस प्रकार का विकास हमारे योग का प्रथम लक्ष्य होना चाहिये। मनोमय प्राणी को पहले विस्तृत होकर भगवान् के एकत्व की अवस्था में पहुंचना होगा, उसके बाद ही भगवान् व्यक्ति की आत्मा में उसके अतिमानसिक विकास को पूर्णत्व प्रदान करेंगे। यही कारण है कि साधक के लिये ज्ञान, कर्म और प्रेम का त्रिविध मार्ग सम्पूर्ण योग का प्रधान स्वर बन जाता है, क्योंकि यही एक ऐसा सीधा मार्ग है जिसके द्वारा मनोमय पुरुष अपने उच्चतम भावावेगों तक उठ जाता और वहां वह ऊपर की ओर दिव्य एकत्व में चला जाता है। और यही कारण है कि योग को सर्वांगपूर्ण होना चाहिये। क्योंकि, यदि अनन्त में निमज्जन या भगवान् के साथ किसी प्रकार का घनिष्ठ एकत्व ही हमारा सम्पूर्ण लक्ष्य हो तो, सर्वांगीण योग का कुछ प्रयोजन ही नहीं रहेगा; हां, सम्पूर्ण मानव-सत्ता को उसके मूल स्रोत की ओर उठा ले जाने से हमें जो महत्तर तृप्ति प्राप्त हो सकती है उसके लिये सर्वांगपूर्ण योग की आवश्यकता होने की बात दूसरी है। परन्तु वास्तविक लक्ष्य के लिये इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं होगी; क्योंकि

भगवान् के साथ मिलन तो हम अन्तरात्म-प्रकृति की किसी एक शक्ति के द्वारा भी प्राप्त कर सकते हैं; प्रत्येक शक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुंचकर ऊपर की ओर अनन्त और निरपेक्ष सत्ता में उठ जाती है, अतएव, प्रत्येक शक्ति अनन्त सत्तातक पहुंचने के लिये एक समर्थ मार्ग प्रदान करती है, क्योंकि सैकड़ों अलग-अलग मार्ग सनातन में पहुंचकर एक हो जाते हैं। परन्तु विज्ञानमय अस्तित्व का अभिप्राय है सम्पूर्ण दिव्य और आध्यात्मिक प्रकृति का पूर्ण उपभोग एवं उसपर पूर्ण अधिकार; और साथ ही इसका अर्थ है मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति को उसकी दिव्य और आध्यात्मिक जीवन बिताने की शक्ति में पूर्ण रूप से उठा ले जाना, अतएव, इस योग के लिये यह शर्त आवश्यक हो जाती है कि इसे सर्वांगपूर्ण होना चाहिये।

साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि त्रिमार्ग में से किसी एक का भी अनुसरण यदि एक प्रकार के व्यापक भाव से किया जाय तो, अपने शिखर पर पहुंचकर, वह दूसरे मार्गों की शक्तियों को भी अपने अन्दर समाविष्ट कर सकता है और उनका पूर्ण फल हमें प्राप्त करा सकता है। अतएव, इतना ही यथेष्ट है कि हम इनमें से किसी एक के द्वारा अपनी साधना आरम्भ करें और उस बिन्दु को ढूंढ़ निकालें जिस पर यह अपने ही विस्तारों के द्वारा, प्रगति की अन्य रेखाओं से जो पहले इसके समानान्तर थीं, मिल जाता है और फिर उनसे घुलमिलकर एक हो जाता है। तथापि एक अधिक कठिन, जटिल और पूर्ण प्रभावशाली प्रक्रिया यह होगी कि हम मानो, एक ही साथ, तीनों मार्गों पर अर्थात् आत्म-शक्ति के त्रिविध चक्र पर आरूढ़ होकर अपनी साधना आरम्भ करें। परन्तु इस प्रकार की साधना करना सम्भव है या नहीं इस विषय का विवेचन हमें तबतक स्थगित रखना होगा जबतक हम यह न देख लें कि आत्मसिद्धियोग की शर्तें और साधन-पद्धति क्या हैं। क्योंकि हम देखेंगे कि इस योग के निरूपण को भी पूर्ण रूप से स्थगित रखना उचित नहीं होगा, बल्कि इसकी एक प्रकार की तैयारी दिव्य कर्म, भक्ति और ज्ञान के विकास का अंग है तथा इसकी एक प्रकार की दीक्षा उक्त विकास के द्वारा अग्रसर होती है।

अध्याय २

सर्वांगीण पूर्णता

मानव-सत्ता की दिव्य पूर्णता ही हमारा लक्ष्य है। अतएव, पहले हमें यह जानना होगा कि वे मूल तत्त्व कौनसे हैं जो मनुष्य की समग्र पूर्णता का गठन करते हैं; दूसरे जब हम अपनी सत्ता की मानवीय पूर्णता से भिन्न दैवी पूर्णता की चर्चा करते हैं तो हमारा क्या मतलब होता है। समस्त विचारशील मानवजाति इस आधारभूत सत्य को सर्वसामान्य रूप से स्वीकार करती है कि मानव-प्राणी अपना विकास कर सकता है, उसका मन पूर्णता के एक आदर्श प्रतिमान की कल्पना करके एवं उसे स्थिर रूप से अपने सामने रखकर उसका अनुसरण कर सकता है तथा उस आदर्श कोटि की पूर्णता की ओर वह कम-से-कम कुछ अंश में अग्रसर हो सकता है, भले ही ऐसे लोगों की संख्या कितनी भी कम क्यों न हो जो इस सम्भावना को जीवन का एकमात्र सर्व-प्रधान लक्ष्य प्रस्तुत करनेवाली समझकर इसकी ओर ध्यान देते हों। पर कुछ लोग इस आदर्श की कल्पना एक ऐहलौकिक परिवर्तन के रूप में करते हैं तथा दूसरे एक धार्मिक कायापलट के रूप में।

ऐहलौकिक पूर्णता की कल्पना कभी-कभी इस रूप में की जाती है कि यह एक बाह्य, सामाजिक एवं व्यावहारिक वस्तु है जिसका अभिप्राय है—अपने मानव-बन्धुओं एवं अपनी परिस्थिति के साथ अधिक बुद्धिसंगत व्यवहार, अधिक श्रेष्ठ एवं दक्षतापूर्ण नागरिक जीवन तथा अधिक उत्तमता एवं कुशलता के साथ कर्तव्यपालन, जीवन यापन करने की एक अधिक उत्कृष्ट, समृद्ध, सदय और सुखद प्रणाली जिसमें मनुष्य जीवन के अवसरों का उपभोग दूसरों के साथ मिल-जुलकर अधिक न्याय्य एवं समस्वर रूप में कर सके। और, फिर कुछ अन्य लोग एक अधिक आन्तरिक एवं आत्मनिष्ठ आदर्श का पोषण करते हैं, वह आदर्श है—बुद्धि, संकल्प और विवेक-शक्ति को शुद्ध और उन्नत करना, प्रकृति की शक्ति और क्षमता को उच्च एवं व्यवस्थित करना, भद्रतर नैतिक, समृद्धतर सौन्दर्यात्मक, सूक्ष्मतर भाविक, कहीं अधिक स्वस्थ एवं सुशासित भौतिक और प्राणिक जीवन। कभी-कभी इनमेंसे किसी एक ही तत्त्व पर बल दिया जाता है तथा अन्य सबको प्रायः पूर्ण रूप से त्याग दिया जाता है; कभी-कभी, अधिक विशाल और सुसंतुलित मन के व्यक्ति इन तत्त्वों के सम्पूर्ण सामञ्जस्य को ही एक समग्र पूर्णता की कल्पना के रूप में अपने सामने लाते हैं। इसके लिये जो बाह्य साधन अपनाया जाता है वह है शिक्षा और सामाजिक संस्थाओं का परिवर्तन, या फिर आन्तरिक आत्म-अनुशासन तथा विकास को एक सच्चे साधन के रूप में अधिक अच्छा समझा जाता है। अथवा उक्त दोनों लक्ष्यों को अर्थात् आन्तरिक 'व्यक्ति' की पूर्णता तथा बाह्य जीवन की

पूर्णता को स्पष्ट रूप से संयुक्त एवं एकीभूत भी किया जा सकता है।

परन्तु लौकिक लक्ष्य वर्तमान जीवन तथा इसके अवसरों को अपना क्षेत्र मानता है; उधर धार्मिक लक्ष्य मृत्यु के बाद के किसी अन्य लोक (परलोक) के लिये तैयारी करने के आदर्श को अपने सामने रखता है, इसका साधारण-से-साधारण आदर्श है किसी प्रकार का शुद्ध साधु-स्वभाव, इसका साधन है—अपूर्ण या पापमय मानव-सत्ता को भगवत्कृपा के द्वारा रूपान्तरित करना अथवा शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित या धर्मसंस्थापक के द्वारा निर्धारित नियम के अधीन रहकर उसका रूपान्तर करना। धर्म का लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन को भी अपने अन्दर समाविष्ट कर सकता है, पर वह परिवर्तन तब एक ऐसा परिवर्तन होता है जो पवित्र जीवन के सर्वसम्मत धार्मिक आदर्श और ढंग को स्वीकार करके सम्पन्न किया जाता है, वह सन्तों का भ्रातृभाव तथा एक ऐसा देवशासन या ईश्वर-राज्य होता है जो पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य को प्रतिबिम्बित करता है।

अपने अन्य अङ्गों की भांति इस अङ्ग में भी हमारे समन्वयात्मक योग का उद्देश्य अधिक समग्र एवं सर्वग्राही होना चाहिये, उसे आत्मसिद्धि के विशालतर आवेग के इन सब तत्त्वों या प्रवृत्तियों को अपने अन्तर्गत करके इनमें सामञ्जस्य या सच पूछो तो एकत्व स्थापित करना चाहिये। इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिये उसे उस सत्य को अधिकृत करना होगा जो साधारण धार्मिक सिद्धान्त से अधिक विशाल तथा लौकिक सिद्धान्त से अधिक उच्च है। समस्त जीवन एक प्रच्छन्न योग है अर्थात् यह प्रकृति का अपने अन्दर छिपे दिव्य तत्त्व की खोज और चरितार्थता की ओर एक अस्पष्ट विकास है; जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान, संकल्प, कार्य और जीवन के सभी करण उसके तथा जगत् के अन्दर स्थित परम आत्मा की ओर खुलते जाते हैं वैसे-वैसे यह दिव्य तत्त्व उसके अन्दर उत्तरोत्तर कम प्रच्छन्न, अधिक स्व-चेतन और प्रकाशमय तथा अधिक स्वराट् बनता जाता है। मन, प्राण, शरीर तथा हमारी प्रकृति के सभी रूप इस विकास के साधन हैं, पर ये अपनी अन्तिम पूर्णता अपनेसे परे की किसी वस्तु की ओर खुल करके ही प्राप्त करते हैं, इसका पहला कारण तो यह है कि ये मनुष्य की सत्ता का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं हैं, दूसरा कारण यह है कि इनके अतिरिक्त जो अन्य वस्तु उसकी सत्ता का स्वरूप है वही उसकी पूर्णता की कुंजी है और वही एक ऐसा प्रकाश लाती है जो उसके लिये उसकी सत्ता के सम्पूर्ण उच्च एवं विशाल सत्स्वरूप को प्रकाशित कर देता है।

अपनेसे परे की वस्तु की ओर खुलने पर मन एक महत्तर ज्ञान के द्वारा, जिसका केवल अधूरा प्रकाश ही इसके अन्दर है, अपनी परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है, प्राण एक शक्ति एवं संकल्प में, जिसका यह एक बाह्य तथा अभीतक अस्पष्ट व्यापार है, अपनी सार्थकता को ढूंढ़ लेता है, शरीर जान जाता है कि वह सत्ता की जिस

शक्ति के स्थूल आधार एवं भौतिक आरम्भबिन्दु के रूप में कार्य करता है उसीका एक यन्त्र बनकर रहना उसका चरम-परम उपयोग है। सबसे पहले तो स्वयं इन सबको विकसित होकर अपनी साधारण शक्यताओं को प्राप्त करना होगा; हमारा सारा ही सामान्य जीवन इन शक्यताओं की प्राप्ति का प्रयोगात्मक प्रयास है और इस प्रारम्भिक एवं प्रयोगात्मक आत्म-अनुशासन के लिये अवसर प्रदान करता है। परन्तु जीवन अपनी समग्र पूर्णता तबतक नहीं प्राप्त कर सकता जबतक वह सत्ता के महत्तर सत्स्वरूप की ओर नहीं खुल जाता; एक समृद्धतर शक्ति तथा अधिक सम्वेदनपूर्ण प्रयोग एवं सामर्थ्य के इस प्रकार के विकास के द्वारा वह इस महत्तर सत्य सत्ता का एक सुसिद्ध कार्यक्षेत्र बन जाता है।

बुद्धि, संकल्पशक्ति, नैतिक बोध, भावमय चित्त, सौन्दर्यवृत्ति और भौतिक सत्ता की साधना और उन्नति अत्यन्त हितकर हैं, पर अन्त में हमें पता चलता है कि यह सब साधना और उन्नति निरन्तर एक ही चक्कर में घूमते रहनामात्र है जिसका कोई अन्तिम उद्धारकारी एवं आलोकप्रद लक्ष्य नहीं है; हमारी बुद्धि, संकल्पशक्ति आदि इस प्रकार का चक्कर तबतक काटती रहती हैं जबतक कि वे एक ऐसे स्थलपर नहीं पहुंच जातीं जहां वे आत्मा की शक्ति एवं उपस्थिति की ओर अपने-आपको खोलकर उसकी प्रत्यक्ष क्रियाओं को अवकाश दे सकें। इस प्रकार की प्रत्यक्ष क्रिया सम्पूर्ण सत्ता का रूपान्तर साधित कर देती है जो कि हमारी वास्तविक पूर्णता की अनिवार्य शर्त है। अतएव, आत्मा के सत्य एवं उसकी शक्ति में विकसित होना तथा उस शक्ति की प्रत्यक्ष क्रिया से उसकी आत्म-अभिव्यक्ति का उपयुक्त साधन बनना, अर्थात् मनुष्य का भगवान् में जीवन धारण करना तथा परमात्मा का मानवता में दिव्य जीवन-यापन करना ही सर्वांगपूर्ण आत्मसिद्धि योग का सिद्धान्त एवं सम्पूर्ण लक्ष्य होगा।

इस रूपान्तर के प्रयत्न की अपनी मांग के ही कारण इसकी प्रक्रिया के अन्दर दो अवस्थाएं आवश्यक रूप से आयेंगी। प्रथम, ज्यों ही मनुष्य अपनी अन्तरात्मा तथा अपने मन और हृदय के द्वारा इस दिव्य सम्भावना को अनुभव करेगा तथा इसे जीवन का सच्चा लक्ष्य समझकर इसकी ओर मुड़ेगा त्यों ही वह इसके लिये अपने-आपको तैयार करने तथा उसके अन्दर की जो चीजें निम्न क्रिया से सम्बन्ध रखती हैं और आध्यात्मिक सत्य एवं उसकी शक्ति की ओर उसके खुलने में बाधा डालती हैं, उन सबसे मुक्त होने के लिये व्यक्तिगत रूप से प्रयत्न करने लगेगा, ताकि इस मुक्ति के द्वारा वह अपनी आध्यात्मिक सत्ता को प्राप्त करके अपनी प्रकृति की सब गतियों को उसकी आत्म-अभिव्यक्ति के निर्बाध साधनों में परिवर्तित कर सके। इस परिवर्तन के द्वारा ही, अपने लक्ष्य से सज्ञान रहनेवाले स्व-चेतन योग का आरम्भ होता है: तब एक नया जागरण होकर जीवन के उद्देश्य में ऊर्ध्वमुख परिवर्तन आ जाता है। जबतक जीवन के इस समय के सामान्य प्रयोजनों

के लिये हम केवल एक ऐसी बौद्धिक, नैतिक एवं अन्य प्रकार की आत्म-साधना ही करते रहते हैं जो मन, प्राण और शरीर के व्यापार के साधारण घेरे के परे नहीं जाती तबतक हम विश्व-प्रकृति के अज्ञानावृत तथा अबतक-प्रकाशरहित प्रारम्भिक योग में से ही गुजर रहे हैं; हम अभी साधारण मानवीय पूर्णता की खोज कर रहे हैं। भगवान् की और दिव्य पूर्णता की, अपनी सारी सत्ता में उनके साथ एकत्व की तथा अपनी सारी प्रकृति में आध्यात्मिक पूर्णता की आध्यात्मिक कामना इस परिवर्तन का प्रभावशाली चिह्न है, हमारी सत्ता और हमारे जीवन के महान् सर्वांगीण रूपान्तर की प्रारम्भिक शक्ति है।

व्यक्तिगत प्रयत्न के द्वारा एक प्रारम्भिक परिवर्तन एवं प्राथमिक रूपान्तर ही साधित किया जा सकता है; इसके परिणामस्वरूप हमारे मानसिक उद्देश्य, हमारा चरित्र और स्वभाव कम या अधिक मात्रा में आध्यात्मिक बन जाते हैं, तथा प्राणिक एवं शारीरिक जीवन पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, वह शान्त एवं निष्क्रिय हो जाता है या उसकी क्रिया बदल जाती है। इस रूपान्तरित आन्तरिक जीवन को भगवान् के साथ मनोमय पुरुष के किसी अन्तर्मिलन या एकत्व का तथा मनुष्य के मन में दिव्य प्रकृति के किसी आंशिक प्रतिबिम्ब का आधार बनाया जा सकता है। अन्य किसी सहायता के बिना या किसी अप्रत्यक्ष सहायता के द्वारा मनुष्य अपने प्रयत्न के बलपर बस इतनी ही दूर जा सकता है, क्योंकि वह प्रयत्न मन का होता है और मन अपने से परे स्थायी रूप में आरोहण नहीं कर सकता : अधिक-से-अधिक वह एक अध्यात्मभावित तथा आदर्श मनोमय स्थिति तक ही उठ सकता है। यदि वह इस सीमा के परे तीर की तरह छूटकर चला जाय तो वह अपने ऊपर अधिकार खो बैठता है, प्राण को भी अपने वश में नहीं रख पाता और फलतः लय-रूप समाधि या निष्क्रियता में पहुंच जाता है। अतः इससे अधिक महान् पूर्णता की प्राप्ति तभी हो सकती है यदि एक उच्चतर शक्ति कार्य-क्षेत्र में उतर आये तथा सत्ता की सम्पूर्ण क्रिया को अपने हाथ में ले ले। सुतरां, इस योग की दूसरी अवस्था होगी—प्रकृति की समस्त क्रिया को निरन्तर इस महत्तर शक्ति के हाथों में सौंपना, व्यक्तिगत प्रयत्न का स्थान इस शक्ति के प्रभाव, अधिकार तथा कार्य-व्यवहार को देते जाना, और ऐसा तबतक करते रहना होगा जबतक कि जिन भगवान् की प्राप्ति के लिये हम अभीप्सा करते हैं वे योग के प्रत्यक्ष स्वामी बनकर सत्ता का समग्र आध्यात्मिक एवं आदर्श रूपान्तर साधित न कर दें।

हमारे योग का यह दोहरा स्वरूप इसे पूर्णता के लौकिक आदर्श के परे उठा ले जाता है, जब कि इसके साथ ही यह उच्चतर, गभीरतर, पर अत्यधिक संकीर्ण धार्मिक सूत्र के भी परे चला जाता है। लौकिक आदर्श मनुष्य को सदा ही एक मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक सत्ता मानता है और उसका लक्ष्य बस इस सीमाओं के भीतर मानवीय पूर्णता प्राप्त करना ही होता है; इस पूर्णता का अभिप्राय है मन,

प्राण और शरीर की पूर्णता, बुद्धि एवं ज्ञान तथा संकल्प एवं शक्ति का विस्तार और परिष्कार, नैतिक चरित्र, लक्ष्य और आचार-व्यवहार का, सौन्दर्य-विषयक सम्वेदनशीलता और सर्जन-शक्ति का, भावों की सन्तुलित स्थिति एवं उनके उपभोग का, प्राण और शरीर की निर्दोष अवस्था का, नियमबद्ध क्रिया और यथायथ कुशलता का विकास और परिष्कार। यह लक्ष्य विशाल और पूर्ण अवश्य है, किन्तु फिर भी जितना चाहिये उतना विशाल और पूर्ण नहीं है, क्योंकि यह हमारी सत्ता के उस अन्य महत्तर तत्त्व की उपेक्षा कर देता है जिसे मन अस्पष्ट तथा एक आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में परिकल्पित करता है। साथ ही, यह इस आध्यात्मिक तत्त्व को या तो अविकसित ही छोड़ देता है या फिर इसे केवल कभी-कभी होनेवाला एक उच्च अनुभव या एक अतिरिक्त गौण अनुभव अथवा मन के ही अपने असाधारण पक्षों की क्रिया का एक परिणाममात्र मानकर या अपनी उपस्थिति एवं स्थिरता के लिये मन पर निर्भर रहनेवाला तत्त्व समझकर पूर्ण-सन्तोषजनक रूप से विकसित नहीं करता। यह लक्ष्य उच्च तभी बन सकता है जब यह हमारे मन की उच्चतर एवं विस्ततर भूमिकाओं को विकसित करने का यत्न करे, किन्तु फिर भी यह एक पर्याप्त उच्च लक्ष्य नहीं बन सकता, क्योंकि हमारी शुद्ध-से-शुद्ध बुद्धि, हमारा उज्ज्वल-से-उज्ज्वल मानसिक अन्तर्ज्ञान, हमारा गभीरतम मानसिक बोध एवं वेदन, प्रबलतम मानसिक संकल्प एवं बल या सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य एवं प्रयोजन जिस मनोतीत सत्ता की मात्र फीकी किरणें हैं उसतक पहुंचने के लिये यह अभीप्सा ही नहीं करता। और फिर एक बात यह भी है कि इस लौकिक आदर्श का लक्ष्य साधारण मानव-जीवन की पार्थिव पूर्णतातक ही सीमित है।

पूर्णयोग किंवा समग्र पूर्णता का योग मनुष्य को एक ऐसी दिव्य आध्यात्मिक सत्ता मानता है जो मन, प्राण और शरीर के अन्दर तिरोभूत है; अतएव, इसका लक्ष्य है उसकी दिव्य प्रकृति को मुक्त करके पूर्ण बनाना। यह पूर्णविकसित आध्यात्मिक सत्ता के अन्दर निवास करने को उसका शाश्वत एवं यथार्थ जीवन बना देना चाहता है और मन, प्राण तथा शरीर की अध्यात्मभावित कार्य-प्रवृत्ति को इस यथार्थ अन्तर्जीवन का बाह्य मानव-प्राकट्यमात्र। पर यह आध्यात्मिक जीवन कोई अस्पष्ट एवं अनिर्देश्य वस्तु न रह जाये अथवा इसका अनुभव अपूर्ण ही न रह जाये तथा यह मनोमय आधार एवं मानसिक सीमाओं पर ही निर्भर न रहे—इसके लिये यह पूर्णयोग मन से परे अतिमानसिक ज्ञान, संकल्प, बोध, वेदन, अन्तर्ज्ञान, प्राणिक और शारीरिक क्रिया के गतिशक्तिमय आरम्भ तथा आध्यात्मिक जीवन की अपनी समस्त स्वाभाविक क्रिया के केन्द्र की ओर जाने का यत्न करता है। यह मानव-जीवन को स्वीकार करता है, पर साथ ही जड़-पार्थिव जीवन के पीछे हो रहे विशाल अति-पार्थिव व्यापार को भी विचार में लाता है, और जो भागवत सत्ता इन सब खण्डात्मक एवं निम्नतर अवस्थाओं का परम उद्गम है, उसके साथ यह

अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, ताकि सारे-का-सारा जीवन अपने दिव्य स्रोत को जान जाये और ज्ञान, संकल्प तथा वेदन की एवं इन्द्रिय और शरीर की प्रत्येक क्रिया में दिव्य प्रवर्तक मूल प्रेरणा को अनुभव करे। लौकिक लक्ष्य के जो-जो सारभूत तत्त्व हैं उनमें से किसी को भी यह त्यागता नहीं, बल्कि उसे विशाल बनाता है, उसका जो महत्तर एवं सत्यतर अर्थ उससे आज छुपा हुआ है उसे ढूंढ़कर जीवन में उतारता है, उसे एक सीमित, पार्थिव एवं मर्त्य वस्तु से असीम, दिव्य और अमर मूल्योंवाली आदर्श वस्तु में रूपान्तरित कर देता है।

पूर्णयोग धार्मिक आदर्श के साथ कई बातों में साम्य रखता है, पर इस अर्थ में उससे आगे निकल जाता है कि यह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है। धार्मिक आदर्श केवल इस भूलोक से परे ही दृष्टिपात नहीं करता, बल्कि इससे मुंह मोड़कर किसी स्वर्गपर अथवा यहांतक कि सब स्वर्गों से परे किसी प्रकार के निर्वाणपर भी अपनी दृष्टि गड़ाता है। इसका पूर्णता का आदर्श एक ऐसे आन्तर या बाह्य परिवर्तन तक ही सीमित है जो चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो, पर अन्त में आत्मा को मानव-जीवन से परे के लोक की ओर मुड़ने में सहायता पहुंचाये। पूर्णता के विषय में इसका साधारण विचार यह है कि वह धर्म्य-नैतिक परिवर्तन है, क्रियाशील और भाव-प्रधान सत्ता का एक अति प्रभावशाली शोधन है, इसके साथ-साथ प्रायः ही प्राणिक आवेगों के वैराग्यपूर्ण त्याग और निराकरण को उसके उत्कर्ष की पराकाष्ठा समझा जाता है; कम-से-कम, धर्मपरायण और सदाचारमय जीवन के अतिपार्थिव उद्देश्य और पुरस्कार या प्रतिफल को ही वह पूर्णता का स्वरूप मानता है। जहांतक यह ज्ञान, संकल्प और सौन्दर्यवृत्ति के परिवर्तन को स्वीकार भी करता है वहांतक इसका अभिप्राय उन्हें मानव-जीवन के लक्ष्यों से भिन्न किसी अन्य लक्ष्य की ओर मोड़ देना ही होता है और अन्त में इसके परिणामस्वरूप सौन्दर्यवृत्ति, संकल्प-शक्ति और ज्ञान के समस्त पार्थिव लक्ष्यों का परित्याग ही हो जाता है। इसकी पद्धति, चाहे वह वैयक्तिक प्रयत्न पर बल दे या दैवी प्रभाव पर, चाहे कर्म और ज्ञान पर बल दे या भगवत्कृपा पर, लौकिक आदर्श की तरह विकास करने की नहीं, वरंच परिवर्तन करने की पद्धति होती है; पर अन्त में इसका लक्ष्य हमारी मानसिक और भौतिक प्रकृति का परिवर्तन करना नहीं, बल्कि शुद्ध आध्यात्मिक प्रकृति और सत्ता को धारण करना ही होता है, और क्योंकि यह लक्ष्य यहां इस भूतल पर साधित नहीं हो सकता, किसी अन्य लोक में संक्रमण या समस्त जगज्जीवन के त्याग के द्वारा इसकी सिद्धि की आशा करता है।

परन्तु पूर्णयोग अपना आधार इस धारणा पर रखता है कि आध्यात्मिक सत्ता एक सर्वव्यापक सत्ता है और उसकी पूर्णता, वास्तव में, अन्य लोकों में जाने से या अपनी जागतिक सत्ता का लय कर देने से नहीं प्राप्त होती, बल्कि हम आज अपने दृश्यमान रूप में जो कुछ हैं उसमें से निकलकर उस सर्व-व्यापक सद्वस्तु की चेतना

में विकसित होने से प्राप्त होती है जो हमारी सत्ता के सारतत्त्व में सदा ही हमारा निज स्वरूप है। धार्मिक भक्ति के बाह्य रूप के स्थान पर वह दिव्य मिलन की पूर्णतर आध्यात्मिक स्पृहा को प्रतिष्ठित करता है। इसमें हम व्यक्तिगत प्रयत्न से साधना का आरम्भ करके भागवत प्रभाव और अधिकार के द्वारा होनेवाले रूपान्तर की ओर अग्रसर होते हैं; परन्तु यह भागवत कृपा—यदि इसे यह नाम दिया जा सकता हो तो—ऊपर से आनेवाला कोई गुह्य प्रवाह या संस्पर्शमात्र नहीं, बल्कि एक दिव्य उपस्थिति की सर्वव्यापिनी क्रिया है। उस दिव्य उपस्थिति के बारे में हमें अपने भीतर यह ज्ञान प्राप्त होता है कि वह हमारी सत्ता की सर्वोच्च आत्मा और स्वामी की शक्ति है जो हमारी अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर इसे इस प्रकार अपने अधिकार में कर लेती है कि हम उस उपस्थिति को अपने निकट तथा अपनी मर्त्य प्रकृति पर दबाव डालती हुई अनुभव करते हैं, इतना ही नहीं, वरन् हम उसके नियम के अनुसार जीवन यापन करते हैं, उस नियम को जानते होते हैं और उसे अपनी अध्यात्मभावित प्रकृति की सम्पूर्ण शक्ति के रूप में अधिकृत कर लेते हैं। इस शक्ति की क्रिया जिस रूपान्तर को साधित करेगी वह एक सर्वांगीण रूपान्तर होगा जिसके द्वारा हमारी नैतिक सत्ता दिव्य प्रकृति के 'सत्य' और 'ऋत' में, हमारी बौद्धिक सत्ता दिव्य ज्ञान के प्रकाश में, हमारी भाविक सत्ता दिव्य प्रेम और एकत्व में, हमारी क्रियाशील एवं संकल्पात्मक सत्ता दिव्य शक्ति की क्रिया में, हमारी सौन्दर्यरसिक सत्ता दिव्य सौन्दर्य के पूर्ण ग्रहण और सर्जनशील उपभोग में रूपान्तरित हो जायेगी, यह रूपान्तर अन्ततोगत्वा प्राणिक और शारीरिक सत्ता के दिव्य रूपान्तर को भी अपने अन्दर समाविष्ट कर लेगा। यह (पूर्णयोग) समस्त पूर्वजीवन को इस परिवर्तन की दिशा में एक प्रकार का अनैच्छिक एवं अचेतन या अर्द्धचेतन प्राथमिक विकास मानता है और योग को इस परिवर्तन के लिये स्वेच्छापूर्ण एवं चेतन रूप से प्रयत्न करने तथा इसे चरितार्थ करने का एक साधन मानता है जिसके द्वारा अपने समस्त अङ्गोपाङ्गों-सहित मानव जीवन का सम्पूर्ण लक्ष्य, उसका रूपान्तर हो जाने पर भी, चरितार्थ हो जाता है। परे के लोकों में विद्यमान विश्वातीत सत्य और जीवन को अंगीकार करते हुए यह पार्थिव सत्य एवं जीवन को भी उसी एक सत्ता का अविच्छिन्न रूप स्वीकार करता है और इस संसार के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के परिवर्तन को उसके दिव्य प्रयोजन का एक स्वर मानता है।

विश्वातीत भगवान् की ओर अपने-आपको खोलना इस सर्वांगीण पूर्णता की एक आवश्यक शर्त है; विश्वगत भगवान् के साथ अपने-आपको एक करना एक अन्य आवश्यक शर्त है। यहां आत्म-पूर्णता का योग ज्ञान, कर्म और भक्ति के योगों के साथ मिल जाता है; क्योंकि जबतक परम सत्-चित्-आनन्द के साथ मिलन प्राप्त न हो जाय तथा सब पदार्थों और प्राणियों में विद्यमान उसकी विराट् आत्मा के साथ

एकत्व उपलब्ध न हो जाये तबतक मानवी प्रकृति को दैवी प्रकृति में रूपान्तरित करना अथवा उसे सत्ता के दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्द का यन्त्र बनाना सम्भव नहीं। मानव व्यक्ति दैवी प्रकृति को एक ऐसी निजी शक्ति के रूप में नहीं प्राप्त कर सकता जो उसे दूसरों से पूर्णतया पृथक् कर दे; हां, यह अलग बात है कि वह इसमें आत्म-समाहित लय अवश्य प्राप्त कर सकता है। परन्तु विराट् आत्मा के साथ उक्त एकत्व कोई ऐसा अन्तरतम आध्यात्मिक एकत्व ही नहीं होना चाहिये, जो व्यक्ति के इस मानवीय जीवन के टिके रहने तक, एक पृथक्कारी मानसिक, प्राणिक, शारीरिक सत्ता के द्वारा सीमित हो; क्योंकि समग्र पूर्णता का अभिप्राय है इस आध्यात्मिक एकत्व के द्वारा उस विराट् मन, विराट् प्राण और विराट् शरीर के साथ भी एकत्व प्राप्त करना जो विराट् पुरुष के अन्य स्थायी रूप हैं। और फिर, क्योंकि मानव-जीवन को तब भी मनुष्य के अन्दर चरितार्थ भगवान् के आत्म-प्राकट्य के रूप में स्वीकार किया जायेगा, हमारे जीवन में सम्पूर्ण दैवी प्रकृति की क्रिया अवश्य घटित होनी चाहिये; और यह बात अतिमानसिक रूपान्तर की आवश्यकता को उत्पन्न कर देती है। यह रूपान्तर स्थूल प्रकृति की अपूर्ण क्रिया का स्थान आध्यात्मिक सत्ता की अपनी स्वाभाविक क्रिया को दे देता है और इसके मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक अंगों को आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा अध्यात्ममय बनाकर रूपान्तरित कर देता है। ये तीन तत्त्व अर्थात् परमोच्च भगवान् के साथ मिलन, विश्वात्मा के साथ एकत्व और इस परात्पर उद्गम से तथा इस विश्वात्मभाव के द्वारा, पर व्यक्ति को आत्मिक प्रणालिका तथा प्राकृतिक यन्त्र बनाकर, अतिमानस का हमारे जीवन-व्यापार को संचालित करना मनुष्य की सर्वांगीण दिव्य पूर्णता का सार है।

तीसरा अध्याय

आत्म-पूर्णता का मनोविज्ञान

इस प्रकार सारतः, इस दिव्य आत्म-पूर्णता का अर्थ है मानव-प्रकृति को एक ऐसे आकार में रूपान्तरित कर देना जो दिव्य प्रकृति के स्वरूप से सादृश्य रखता हो तथा उसके साथ मूलतः एक हो, साथ ही, इसका अर्थ है मनुष्य में ईश्वर की प्रतिमूर्ति को वेगपूर्वक निर्मित करना और उसकी आदर्श रूपरेखाओं को भरना। इसे साधारणतया सादृश्य-मुक्ति कहा जाता है जिसका अर्थ है दृश्यमान मानवीय सत्ता के बन्धन में से निकलकर भगवत्सदृश स्थिति में मुक्त हो जाना, अथवा गीता की भाषा का प्रयोग करें तो इसे साधर्म्य-गति कह सकते हैं जिसका मतलब है परात्पर, विराट् और अन्तर्वासी भगवान् के साथ अपनी सत्ता का साधर्म्य प्राप्त कर लेना। ऐसे रूपान्तर के लिये हमारा जो मार्ग होना चाहिये उसे जानने तथा उसका ठीक विचार अपने मन में लाने के लिये हमें इस मानव-प्रकृति के बारे में, जो अपने विविध तत्त्वों के अस्तव्यस्त मिश्रणों में आज एक उलझी हुई वस्तु है, एक पर्याप्त कामचलाऊ धारणा बना लेनी होगी जिससे हम यह देख सकें कि इसके प्रत्येक अङ्ग को जिस रूपान्तर में से गुजरना होगा उसका ठीक स्वरूप क्या है तथा उसका अधिक-से-अधिक प्रभावशाली साधन कौन-सा है। मानवीय अस्तित्व और जीवन की वास्तविक समस्या यह है कि मनोमय मर्त्य जड़ देह की गांठ में से इसकी अन्तर्निहित अमर्त्य सत्ता को कैसे उन्मुक्त किया जाये, इस मानसभावापन्न प्राणप्रधान पशुत्वमय मानव में से इसके देवत्व के प्रच्छन्न संकेतों के सुखद पूर्णैश्वर्य को कैसे प्रकट किया जाये। जीवन देवत्व के कितने ही प्राथमिक संकेतों को विकसित करता है, पर उन्हें पूर्ण रूप से प्रकट नहीं करता; किन्तु योग का अर्थ है 'जीवन' की कठिनाई की गांठ को खोलना।

सबसे पहले हमें मनोवैज्ञानिक जटिलता के उस केन्द्रीय रहस्य को जानना होगा जो इस समस्या तथा इसकी सभी कठिनाइयों को जन्म देता है। परन्तु साधारण मनोविज्ञान जो केवल मन और उसके बाह्य व्यापारों को उनके स्थूल रूपों में ही स्वीकार करता है, हमारे लिये तनिक भी सहायक नहीं होगा; अपने-आपको खोजने और अपना रूपान्तर करने की इस दिशा में यह हमारा किञ्चित् भी मार्गदर्शन नहीं कर सकता। जड़वाद पर आधारित वैज्ञानिक मनोविद्या में अपनी समस्या के निराकरण का सूत्र पा सकना हमारे लिये और भी दुष्कर है क्योंकि वह यह मानती है कि शरीर और इसके साथ ही हमारी प्रकृति के जीवविज्ञानीय एवं शरीरक्रियाशास्त्रीय तत्त्व (हमारे समग्र जीवन का) केवल आरम्भ-बिन्दु ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण वास्तविक आधार हैं और मानव-मन, प्राण और शरीर से विकसित,

एक सूक्ष्म तत्त्वमात्र है। यह सत्य मानव-प्रकृति के पशुत्वमय पक्ष के बारे में यथार्थ हो सकता है तथा मानव-मन के बारे में भी यह वहांतक यथार्थ हो सकता है जहांतक कि वह हमारी सत्ता के भौतिक भाग के द्वारा सीमित और परिच्छिन्न है। परन्तु मनुष्य और पशु में सारा भेद ही यह है कि पशु का मन, जैसा कि हम इसे जानते हैं, अपने मूल स्रोतों से क्षणभर के लिये भी दूर नहीं जा सकता। शारीरिक जीवन ने अन्तरात्मा के चारों ओर जो आवरण या घना खोल बुन रखा है उसे भेदकर तथा उससे बाहर निकलकर यह अपनी वर्तमान सत्ता से अधिक महान् सत्ता नहीं बन सकता, एक अधिक स्वतन्त्र, विशाल और उत्कृष्ट जीवन नहीं बन सकता; परन्तु मनुष्य में मन अपने-आपको एक ऐसी महत्तर शक्ति के रूप में प्रकट करता है जो सत्ता के प्राणिक और भौतिक नियम के बन्धनों से मुक्त होती है। तथापि मनुष्य जो कुछ है या बन सकता है वह इतना ही नहीं है : उसके अन्दर एक और भी महान् आदर्श शक्ति को विकसित और उन्मुक्त करने की सामर्थ्य है; यह शक्ति, यथाक्रम, उसकी प्रकृति के मानसिक सूत्र की सीमाओं को भी पार कर जाती है और आध्यात्मिक सत्ता के अतिमानसिक रूप एवं उसकी आदर्शशक्ति को प्रकट कर देती है। योग में हमें भौतिक प्रकृति और स्थूल मानव व्यक्तित्व से परे जाकर वास्तविक मानव की समग्र प्रकृति की क्रियाओं को खोजना होगा। दूसरे शब्दों में हमें आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित मनोभौतिक ज्ञान को प्राप्त करके उसका प्रयोग करना होगा।

मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से एक आत्मा है जो इस विश्व में व्यक्तिगत और समष्टिगत अनुभव तथा आत्म-आविर्भाव के लिये मन, प्राण और शरीर का उपयोग करती है,—यह सत्य आज हमारी वर्तमान बुद्धि और स्व-चेतना के लिये कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो, पर योग के प्रयोजनों के लिये हमें इसमें श्रद्धा रखनी होगी और ऐसा करने पर हमें पता चलेगा कि हमारी श्रद्धा बढ़ते हुए अनुभव और महत्तर आत्म-ज्ञान के द्वारा सच्ची प्रमाणित होती है। मनुष्य की यह वास्तविक आत्मा एक अनन्त सत्ता है जो व्यक्तिगत अनुभव लेने के लिये अपने-आपको एक प्रत्यक्ष एवं सान्त सत्ता में सीमित करती है। यह एक अनन्त चेतना है जो सत्ता के विविध ज्ञान और विविध बल के आनन्द के लिये अपने-आपको चेतना के सान्त रूपों में सीमित करती है। यह सत्ता का एक अनन्त आनन्द है जो अपने-आपको तथा अपनी शक्तियों को विस्तृत और संकुचित करता है, अपनी सत्ता के आनन्द के अनेकानेक रूपों को छुपाता और ढूंढ़ता है तथा उन्हें व्यक्त भी करता है, यहांतक कि इस प्रक्रिया में यह अपनी प्रकृति को प्रत्यक्षतः आच्छन्न कर देता तथा उसका निषेध भी कर डालता है। अपने-आपमें यह सनातन सच्चिदानन्द है, पर यह जटिलता अर्थात् अनन्त को सान्त में उलझा देना और फिर उस उलझी हुई ग्रन्थि को सुलझाना भी उसका एक रूप है; हम देखते हैं कि यह वैश्व और

व्यक्तिगत प्रकृति में अपने इस रूप को धारण करता है। दस सनातन सच्चिदानन्द को, अपने अन्दर विद्यमान अपनी सत्ता की इस वास्तविक आत्मा को खोजकर इसमें निवास करना आध्यात्मिक सिद्धि का स्थिर आधार है, इसकी वास्तविक प्रकृति को प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करके उसे अपने करणों में अर्थात् अतिमानस, मन, प्राण और शरीर में दिव्य जीवन-प्रणाली की उत्पादिका बना देना आध्यात्मिक सिद्धि का सक्रिय सिद्धान्त है।

अतिमानस, मन, प्राण और शरीर आत्मा के चार करण हैं। इन्हें वह प्रकृति के व्यापारों में अपने-आपको प्रकट करने के लिये प्रयोग में लाती है। इनमेंसे अतिमानस आध्यात्मिक चेतना है जो स्वयंप्रकाश ज्ञान, संकल्प, इन्द्रिय-शक्ति, सौन्दर्यवृत्ति और ऊर्जा के रूप में तथा अपने आनन्द और अपनी सत्ता की आत्मसर्जनशील एवं आविर्भाविकारी शक्ति के रूप में कार्य करती है। मन भी इन्हीं शक्तियों का एक व्यापार है, पर वह सीमित है तथा इनका प्रकाश उसे अत्यन्त परोक्ष और आंशिक रूप में ही प्राप्त होता है। अतिमानस एकता में निवास करता है यद्यपि वह विभिन्नता का खेल भी खेलता है; मन विभिन्नता की विभाजक क्रिया में निवास करता है, यद्यपि वह एकता की ओर भी खुल सकता है। मन अज्ञान को धारण कर सकता है, इतना ही नहीं, बल्कि सदा आंशिक और सीमित रूप से कार्य करने के कारण वह स्वभाव से ही अज्ञान की शक्ति के रूप में कार्य करता है : यहांतक कि वह पूर्ण निश्चेतना या निर्ज्ञान में अपनेको भूल जा सकता है और भूल ही जाता है, इस अवस्था से जागकर वह आंशिक ज्ञानरूपी अज्ञान की ओर विकसित हो सकता है और फिर अज्ञान से पूर्ण ज्ञान की ओर अग्रसर हो सकता है,—मनुष्य में उसकी स्वाभाविक क्रिया यही है,—पर वह अपने बल पर पूर्ण ज्ञान कभी नहीं प्राप्त कर सकता। अतिमानस वास्तविक अज्ञान को धारण नहीं कर सकता; चाहे वह किसी विशेष क्रिया की सीमा में रहने पर पूर्ण ज्ञान को अपने पीछे रख छोड़े, तथापि इसकी समस्त क्रिया उस पीछे रखे हुए ज्ञान से सम्बन्ध बनाये रखती है और स्वयं-प्रकाश ज्ञान से अनुप्राणित रहती है; चाहे यह जड़-प्राकृतिक निर्ज्ञान में अपने-आपको ग्रस्त कर दे, फिर भी यह वहां पूर्ण संकल्प और ज्ञान के कार्यों को ठीक-ठीक सम्पन्न करता है। अतिमानस निम्नतर करणों की क्रिया में सहायता करता है; वस्तुतः यह उनकी क्रियाओं के गुप्त आश्रय के रूप में उनके भीतर सदा ही विद्यमान रहता है। जड़तत्त्व में यह वस्तुओं के अन्तर्निहित गुप्त 'विचार' की स्वयंचालित क्रिया एवं कार्यान्विति के रूप में उपस्थित रहता है; प्राण में इसका अत्यन्त ग्राह्य रूप है अन्ध प्रेरणा, स्वयंप्रेरित, अवचेतन या अंशतः अवचेतन ज्ञान और क्रिया; मन में यह सहज ज्ञान के रूप में अर्थात् बुद्धि, संकल्प, सम्वेदन और सौन्दर्यवृत्ति के द्रुत, प्रत्यक्ष और अमोघ प्रकाश के रूप में प्रकट होता है। परन्तु ये सब अतिमानस की दीप्तियांमात्र हैं जो अपेक्षाकृत

तमसाच्छन्न करणों की सीमित क्रिया के साथ किसी प्रकार का मेल साध लेती हैं : उसकी अपनी विशिष्ट प्रकृति तो एक ऐसे विज्ञान से युक्त प्रकृति है जो मन, प्राण और शरीर के लिये अतिचेतन है। अतिमानस या विज्ञान आत्मा की, अपने स्वाभाविक सत्स्वरूप में स्थित आत्मा की, एक विशिष्ट, आलोकित और अर्थपूर्ण क्रिया है।

प्राण आत्मा की एक शक्ति है जो मन और शरीर की क्रिया के अधीन है; यह मन और शरीर के द्वारा अपने-आपको चरितार्थ करती है और इन दोनों के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करती है। इसकी अपनी एक विशिष्ट क्रिया भी होती है, पर यह कहीं भी मन और शरीर से स्वतन्त्र रूप में कार्य नहीं करती। कार्यरत आत्मा की समस्त शक्ति सत्ता और चेतना इन दो रूपों में कार्य करती है, अर्थात् वह सत्ता के रूपों का निर्माण करने, चेतना की लीला और आत्मोपलब्धि को सम्पन्न करने और सत्ता एवं चेतना का आनन्द लेने के लिये कार्य करती है। सत्ता की जिस निम्नतर रचना में हम इस समय निवास करते हैं उसमें आत्मा की प्राण-शक्ति मन और जड़तत्त्व इन दो रूपों के बीच कार्य करती है, जड़ उपादान की रूप-रचनाओं को धारण करती है तथा उन्हें निर्मित भी करती है और भौतिक शक्ति के रूप में कार्य करती है, मन की चेतना के रूपों को तथा मानसिक शक्ति की क्रियाओं को धारण करती है, मन और शरीर की परस्पर-क्रिया को धारण करती है तथा सम्वेदक एवं स्नायविक शक्ति के रूप में कार्य करती है। जिसे हम प्राण कहते हैं वह चेतन सत्ता की एक ऐसी शक्ति है जो हमारे साधारण मानव-जीवन के कार्यों के लिये जड़तत्त्व में से प्रकट होती है, इसमें से और इसके अन्दर मन तथा उच्च शक्तियों को उन्मुक्त करती है और स्थूल जीवन में उनकी सीमित क्रिया को धारण करती है,—इस प्रकार जिसे हम मन कहते हैं वह चेतन सत्ता की एक ऐसी शक्ति है जो शरीर में अपनी चेतना के प्रकाश के प्रति जाग जाती है तथा अपने बिल्कुल आसपास की शेष सारी सत्ता के प्रति भी चेतन हो जाती है और शुरू-शुरू में शरीर और प्राण के द्वारा निश्चित किये हुए एक सीमित कार्य के घेरे में अपनी क्रिया करती है, पर कुछ स्थलों में तथा एक विशेष ऊंचाईतक पहुंचने पर इस कार्य को अतिक्रम कर इसके क्षेत्र से परे की क्रिया को कुछ अंश में करने लगती है। परन्तु प्राण या मन की सारी शक्ति इतनी ही नहीं है; उनकी अपनी विशिष्ट प्रकार की चेतन सत्ता के स्तर भी हैं जो इस जड़पार्थिव स्तर से भिन्न हैं; वहां वे अधिक स्वतन्त्रता के साथ अपनी विशिष्ट क्रिया कर सकते हैं। स्वयं जड़तत्त्व या शरीर भी आत्मा-रूपी तत्त्व का एक परिसीमक रूप है जिसमें प्राण, मन और आत्मा निवर्तित एवं गुप्त रूप में विद्यमान हैं तथा अपने बहिर्मुख करनेवाले कार्य में डूबे रहने के कारण अपने-आपको भूले हुए हैं, पर एक अनिवार्य विकास के द्वारा उसमें से अवश्य प्रकट होंगे। परन्तु जड़तत्त्व भी परिष्कृत

होकर उपादान के अधिक सूक्ष्म रूप ग्रहण कर सकता है जिनमें वह अधिक प्रत्यक्ष रूप में प्राण, मन और आत्मा का घनतायुक्त आकार बन जाता है। स्वयं मनुष्य में भी इस स्थूल-भौतिक शरीर के अतिरिक्त इसे आवृत करनेवाला एक प्राणमय कोष है तथा एक मनोमय कोष और आनन्द एवं विज्ञान का कोष भी है। परन्तु समस्त जड़तत्त्व में एवं देहमात्र में इन उच्चतर तत्त्वों की गुप्त शक्तियां निहित हैं; जड़तत्त्व प्राण की ही एक रचना है जिसका सर्वप्रेरक विराट् आत्मा के बिना कोई वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि यह आत्मा ही उसे शक्ति और स्थूल सत्ता प्रदान करती है।

यही है आत्मा और उसके करणों का स्वरूप। परन्तु उसकी क्रियाओं को समझने के लिये तथा हमारा जीवन जिस स्थिर गरारी में घूमता रहता है उसमें से अपने करणों को ऊपर उठाने के लिये जो ज्ञान हमें उन्नायक शक्ति दे सकता है उसे पाने के लिये हमें यह देखना होगा कि परम आत्मा ने अपनी सब क्रियाओं का आधार अपनी सत्ता के दो जुड़वें पक्षों अर्थात् पुरुष और प्रकृति पर रखा है। इन दोनों के साथ हमें शक्ति की दृष्टि से इन्हें भिन्न और पृथक् सत्ताएं समझते हुए, व्यवहार करना होगा,—क्योंकि चेतना के व्यवहार में यह भेद सबल रूप में विद्यमान है,—यद्यपि असल में यह एक ही सद्वस्तु के दो पक्षमात्र हैं, एक ही चेतन सत्ता के दो ध्रुव हैं। 'पुरुष' आत्मा है जो अपनी प्रकृति की क्रियाओं को जानता है, उन्हें अपनी सत्ता के द्वारा धारण करता है, अपनी सत्ता के आनन्द में उनका उपभोग करता है या उनके उपभोग को त्याग देता है। प्रकृति आत्मा की शक्ति है, और यह उसकी शक्ति की एक ऐसी क्रिया एवं पद्धति भी है जो सत्ता के नाम और रूप को निर्मित करती है, चेतना और ज्ञान की क्रिया का विकास करती है, संकल्प और प्रेरणा तथा बल और ऊर्जा के रूप में अपने-आपको प्रकट करती है, आनन्द के उपभोग के रूप में अपने-आपको चरितार्थ करती है। यह प्रकृति, माया एवं शक्ति है। यदि हम इसके अत्यन्त बाह्य रूप पर, जिसमें कि यह पुरुष से ठीक उल्टी प्रतीत होती है, दृष्टिपात करें तो अपने उस रूप में यह प्रकृति है, अर्थात् एक जड़ और यान्त्रिक स्वयंचालित क्रिया है, यह निश्चेतन है या फिर पुरुष के प्रकाश के द्वारा ही चेतन होती है, इसकी क्रियाओं को वह जो आत्मिक प्रकाश देता है उसकी विविध कोटियों—प्राणिक, मानसिक और अतिमानसिक कोटियों—के द्वारा यह उन्नत होती है। यदि हम इसके उस दूसरे अर्थात् आन्तरिक रूप पर दृष्टि डालें जिसमें कि यह पुरुष के साथ एकत्व के अधिक निकट विचरण करती है, तो अपने उस रूप में यह माया है, अर्थात् अस्तित्व और प्राकट्य का अथवा अस्तित्व और प्राकट्य के लय का एक संकल्प है; अस्तित्व और प्राकट्य के या इन के लय के सभी परिणाम, जो चेतना के लिये प्रत्यक्ष होते हैं, इस संकल्प के साथ जुड़े रहते हैं। इसके साथ ही यह (मायारूप शक्ति) निवर्तन और

विवर्तन का, अस्तित्व और उसके अभाव का, आत्मा के स्व-गोपन और स्व-अन्वेषण का संकल्प भी है। दोनों एक ही वस्तु अर्थात् शक्ति के दो पक्ष हैं; यह शक्ति आत्मा की सत्ता की शक्ति है जो एक प्रतीयमान निश्चेतना के भीतर आत्मा की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में अतिचेतन या चेतन या अवचेतन क्रिया करती है,—वास्तव में ये सब क्रियाएं एक ही आत्मा में एक ही साथ होती रहती हैं। इस शक्ति के द्वारा आत्मा अपने अन्दर सब वस्तुओं का सृजन करता है, अपनी अभिव्यक्ति के आकार में तथा उसके पर्दे के पीछे वह अपनी सारी सत्ता को छुपाता और ढूंढ़ता है।

पुरुष अपनी प्रकृति की इस शक्ति से अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थिति को ग्रहण कर सकता है तथा सत्ता के उस विधान और रूप का अनुसरण कर सकता है जो किसी आत्म-रूपायण का अपना विशिष्ट विधान और रूप हो। यह अपनी स्वयंभू सत्ता की शक्ति से युक्त एक सनातन पुरुष और आत्मा है जो अपनी अभिव्यक्तियों से परे है तथा इनपर शासन करता है; यह विराट् पुरुष और आत्मा है जो अपनी सत्ता के प्राकट्य की शक्ति के रूप में विकसित है, सान्त में अनन्त है; यह व्यष्टिगत पुरुष और आत्मा है जो अपने प्राकट्य की किसी विशिष्ट धारा के विकास में निमग्न है, अनन्त में सान्त एवं परिवर्तनशील दिखायी देता है। इन तीनों अवस्थाओं में यह एक साथ भी रह सकता है, अर्थात् यह एक ऐसी सनातन आत्मा हो सकता है जो विश्व में विराट् स्वरूप तथा उसके सर्वभूतों में व्यक्तिगत रूप धारण किये हो; इसी प्रकार यह इन तीनों रूपों में से किसी एक में अपनी चेतना को स्थापित करके प्रकृति की क्रिया को अस्वीकार कर सकता है अथवा इसे अपने नियन्त्रण में रख सकता है या इसके प्रति प्रतिक्रिया कर सकता है, उस एक के सिवाय अन्य दोनों रूपों को अपने पीछे या अपने से दूर रख सकता है, अपने-आपको शुद्ध सनातन सत्ता, आत्मधारक विराट् सत्ता या अन्यवर्जक व्यक्तिगत सत्ता के रूप में जान सकता है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इसकी प्रकृति का जो भी बाह्य स्वरूप हो, अपनी चेतना के सम्मुखीन सक्रिय भाग में यह वही बन जाता है तथा उसी रूप में अपने को देखता है; पर ऐसा कभी नहीं होता कि यह जितना कुछ दिखायी देता है उतना कुछ ही हो; यह वह और भी बहुत कुछ होता है जो कुछ कि यह बन सकता है; गुप्त रूप में, इसका जो भी अंश अभीतक छुपा हुआ है, यह वह सब ही है। काल में होनेवाली अपनी किसी भी विशेष रूप-रचना से यह अटल रूप में बंध नहीं जाता, बल्कि उसे भेदकर उससे परे जा सकता है, उसे छिन्न-भिन्न या विकसित कर सकता है, अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप-रचना का चुनाव या परित्याग कर सकता है, अपने अन्दर से किसी महत्तर रूप-रचना का नव-निर्माण कर उसे प्रकट भी कर सकता है। अपने करणों में अपनी चेतना के सम्पूर्ण सक्रिय संकल्प के द्वारा यह अपने जिस स्वरूप में विश्वास रखता है वही

यह होता है या वही यह बनता चला जाता है,—**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**, अर्थात् जो कुछ बन सकने में वह विश्वास रखता है तथा जैसा बन सकने में इसकी पूर्ण श्रद्धा होती है, इसकी प्रकृति उसीमें बदलती जाती है, यह उसीको विकसित या उपलब्ध करता है।

पुरुष का अपनी प्रकृति के ऊपर यह अधिकार आत्मसिद्धियोग में अत्यधिक महत्त्व रखता है; यदि यह न हो तो हम चेतन प्रयत्न और अभीप्सा के द्वारा अपने वर्तमान अपूर्ण मानव-जीवन के स्थिर चक्र में से कभी नहीं निकल सकते; यदि कोई महत्तर पूर्णता हमारे लिये अभिप्रेत है तो हमें प्रतीक्षा करनी होगी कि प्रकृति विकास की अपनी मन्द या तीव्र प्रक्रिया के द्वारा उसे साधित करे। सत्ता के निम्नतर रूपों में 'पुरुष' प्रकृति के प्रति इस पूर्ण अधीनता को स्वीकार करता है, पर जैसे-जैसे वह क्रमविकास की शृंखला में ऊंचा उठता है, वह अपने अन्दर के एक ऐसे तत्त्व के प्रति सचेतन होता जाता है जो प्रकृति पर अपना अधिकार चला सकता है; परन्तु उसका यह स्वतन्त्र संकल्प एवं अधिकार पूर्ण रूप से वास्तविक तभी बनता है जब वह आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह परिवर्तन प्रकृति की एक प्रक्रिया के द्वारा ही सम्पन्न होता है; सुतरां, यह किसी मनमौजी जादू के द्वारा नहीं, बल्कि एक व्यवस्थित विकास तथा बुद्धिगम्य पद्धति के द्वारा ही साधित होता है। जब पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, तब इस परिवर्तन की प्रक्रिया अपने प्रभावशाली वेग के कारण बुद्धि को एक चमत्कार प्रतीत हो सकती है, तथापि वास्तव में यह आत्मा के सत्य के नियम के अनुसार ही अपना कार्य करती है,—तब हमारे अन्तःस्थ भगवान् अपने साथ हमारे संकल्प और हमारी सत्ता के घनिष्ठ एकत्व के द्वारा योग को अपने हाथ में ले लेते हैं और हमारी प्रकृति के सर्वशक्तिमान् स्वामी के रूप में कार्य करते हैं। क्योंकि, भगवान् हमारी परमोच्च आत्मा तथा सम्पूर्ण प्रकृति की आत्मा हैं, सनातन और विराट् 'पुरुष' हैं।

पुरुष सत्ता के किसी भी स्तर में अपने-आपको प्रतिष्ठित कर सकता है, सत्ता के किसी भी तत्त्व को अपनी शक्ति के तात्कालिक नायक के रूपमें अपनाकर उसके चेतन कार्य की अपनी विशिष्ट प्रणाली की क्रिया में जीवन यापन कर सकता है। पुरुष स्वयंस्थित सत्ता की अनन्त एकता के तत्त्व में निवास कर सकता है और समस्त चेतना, शक्ति, आनन्द, ज्ञान, संकल्प तथा क्रिया को इस रूप में जान सकता है कि ये इस मूल सत् या सत्य के चेतन रूप हैं। वह अनन्त चेतन शक्ति अर्थात् तपस् के तत्त्व में निवास कर सकता है और इसे इस रूप में जान सकता है कि यह सत्ता के असीम आनन्द के उपभोग के लिये अपनी स्वयंभू सत्ता में से ज्ञान, संकल्प और शक्तिशाली आत्मिक क्रिया के परिणामों को प्रकट कर रहा है। वह असीम स्वयंस्थित आनन्द के तत्त्व में निवास कर सकता है और इस तथ्य से सचेतन हो सकता है कि भागवत आनन्द अपनी शक्ति के द्वारा अपनी स्वयंभू सत्ता

में से अपनी इच्छानुसार सत्ता के सामंजस्य का सृजन कर रहा है। इन तीनों अवस्थाओं में एकता की चेतना प्रबल होती है; 'पुरुष' अपनी सनातनता, विश्वव्यापकता और एकता की चेतना में निवास करता है, और वहां जो कोई विभिन्नता होती भी है वह पृथक् करनेवाली नहीं होती, बल्कि एकत्व का बहुलतामय रूपमात्र होती है। इसी प्रकार वह अतिमानस के तत्त्व में अर्थात् उस प्रकाशमान आत्म-निर्धारक ज्ञान, संकल्प एवं कर्म में भी निवास कर सकता है जो चिन्मय सत्ता के पूर्ण आनन्द की किसी सुसमन्वित अवस्था का विकास करता है। उच्चतर विज्ञान में एकता ही आधार है, पर वह विविधता में आनन्द लेती है; विज्ञान या अतिमानस के निम्न स्तर में विविधता ही आधार है, पर वह सदा ही एक चेतन एकता के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखती है और एकता में ही आनन्द लेती है। चेतना की ये भूमिकाएं हमारे वर्तमान स्तर से परे हैं; ये हमारे साधारण मन के लिये अतिचेतन हैं, हमारा मन तो सत्ता के निम्न गोलार्ध के अन्तर्गत है।

यह निम्न सत्ता वहां आरम्भ होती है जहां पुरुष और प्रकृति अर्थात् विज्ञानमय पुरुष और मन, प्राण तथा शरीर में स्थित पुरुष के बीच पर्दा पड़ जाता है। जहां यह पर्दा नहीं पड़ा होता वहां ये करणात्मक शक्तियां वैसी नहीं होतीं जैसी कि ये हमारे अन्दर हैं, बल्कि ये विज्ञान और आत्मा की एकीकृत क्रिया का प्रकाशयुक्त अंग होती हैं। मन जब अपने निर्णयों के लिये अपने उद्गमभूत प्रकाश का आश्रय लेना भूल जाता है और अपने पृथक्कारक कार्य तथा उपभोग की सम्भावनाओं में निमग्न हो जाता है तो उसके अन्दर अपनी क्रिया के स्वतन्त्र होने का विचार उत्पन्न होता है। जब 'पुरुष' इस मन-रूपी तत्त्व में निवास करता है तथा अभी प्राण और शरीर के अधीन नहीं बल्कि इनका उपयोक्ता होता है तो वह अपने-आपको एक मनोमय पुरुष के रूप में जानता है जो अपने व्यक्तिगत ज्ञान, संकल्प और क्रियाबल के अनुसार अपने मानसिक जीवन, मानसिक शक्तियों और मूर्तियों को तथा सूक्ष्म-मानसिक तत्त्व के आकारों को निर्मित करता है। विराट् मन में विद्यमान उस जैसी अन्य सत्ताओं और शक्तियों के साथ उसके सम्बन्ध के कारण इस ज्ञान, संकल्प और क्रियाबल में कुछ परिवर्तन हो जाता है। जब वह प्राण के तत्त्व में निवास करता है तो वह अपने-आपको विराट् प्राण के एक ऐसे केन्द्र के रूप में जानता है जो विराट् प्राण-पुरुष की उक्त प्रकार की अपनी विशिष्ट परिवर्तनकारी अवस्थाओं में अपनी इच्छाओं के अनुसार किसी क्रिया और चेतना को अभिव्यक्त करता है; यह विराट् प्राण-पुरुष प्राण के अनेक व्यक्तिगत केन्द्रों के द्वारा अपना कार्य कर रहा है। जब वह अन्न के तत्त्व में निवास करता है, तो वह अपने को एक ऐसी अन्नमय चेतना के रूप में जानता है जो अन्नमय सत्ता की शक्ति के उक्त प्रकार के नियम के अनुसार कार्य करती है। जैसे-जैसे वह ज्ञान के पक्ष की ओर झुकता है, वैसे-वैसे वह कम या अधिक स्पष्ट रूप में यह जानता जाता है कि वह

मनोमय, प्राणमय या अन्नमय पुरुष है जो अपनी प्रकृति का अवलोकन करता तथा उसके अन्दर अपनी क्रिया करता है या फिर जिसपर प्रकृति अपनी क्रिया करती है। परन्तु जहां वह अज्ञान के पक्ष की ओर झुकता है, वहां वह अपने को एक ऐसे अहं के रूप में जानता है जो मन, प्राण या शरीर की प्रकृति के साथ तदाकारता स्थापित किये हुए है, अर्थात् वहां वह अपने को प्रकृति की ही एक रचना समझता है। परन्तु अन्नमय पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि पुरुष की शक्ति रूप-निर्माण की क्रिया में तथा स्थूलभौतिक गति में मग्न हो जाती है और फलतः चिन्मय पुरुष अपने स्वरूप को भूल जाता है। यह जड़ जगत् प्रतीयमान निश्चेतना से ही आरम्भ होता है।

विराट् पुरुष इन सब भूमिकाओं में एक प्रकार से एक ही साथ निवास करता है और इनमें से प्रत्येक तत्त्व के आधार पर एक लोक या लोक-शृंखला तथा उसके प्राणियों की रचना करता है जो उस-उस तत्त्व की प्रकृति के अनुसार जीवन धारण करते हैं। मनुष्य ब्रह्माण्ड का ही एक पिण्ड है; अतः उसकी अपनी सत्ता में भी ये सब भूमिकाएं उसके अवचेतन-स्तर से अतिचेतन-स्तरतक शृंखलाबद्ध रूप में विद्यमान हैं। योग की बढ़ती हुई शक्ति के द्वारा वह इन गुप्त लोकों को जान सकता है जो उसके स्थूल एवं जड़तापन्न मन और इन्द्रियों से छुपे हुए हैं क्योंकि इन्हें केवल जड़ जगत् का ही ज्ञान प्राप्त होता है। इन लोकों को जान लेनेपर उसे पता चलता है कि जिस प्रकार यह जड़ जगत् जिसमें वह रहता है कोई पृथक् और स्वयंस्थित सत्ता नहीं है उसी प्रकार उसकी स्थूल-भौतिक सत्ता भी कोई पृथक् तथा स्वयंस्थित वस्तु नहीं है, बल्कि उसकी सत्ता और जड़ जगत् दोनों ही उच्चतर भूमिकाओं से सतत सम्बद्ध हैं तथा उनकी शक्तियों से और सत्ताओं से प्रभावित होते रहते हैं। वह अपने अन्दर इन उच्चतर भूमिकाओं की क्रिया शुरू करा सकता है और उसे बढ़ा सकता है तथा अन्य लोकों के जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का भाग लेने का आनन्द उठा सकता है,—ये लोक मृत्यु के बाद या मृत्यु तथा स्थूल देह में पुनर्जन्म के बीच विश्राम लेने के लिये उसके निवासस्थान अर्थात् उसकी चेतना के धाम होते हैं या बन सकते हैं। परन्तु उसकी सबसे प्रधान सामर्थ्य यह है कि वह अपने अन्दर उच्चतर तत्त्वों की शक्तियों का, अर्थात् प्राण की महत्तर शक्ति, मन की शुद्धतर ज्योति, अतिमानस के प्रकाश और आत्मा की अनन्त सत्ता, चेतना एवं आनन्द को विकसित कर सकता है। आरोहणात्मक गति के द्वारा वह मानवीय अपूर्णता में से इस महत्तर पूर्णता की ओर अपना विकास साधित कर सकता है।

परन्तु उसका लक्ष्य चाहे जो हो, उसकी अभीप्सा चाहे कितनी भी ऊंची क्यों न हो, फिर भी उसे अपनी साधना का आरम्भ अपनी वर्तमान अपूर्णता के नियम से ही करना पड़ेगा, इसके स्वरूप को पूरी तरह से अपने विचार में लाकर यह देखना

होगा कि किस प्रकार इसे सम्भवनीय पूर्णता के नियम में रूपान्तरित किया जा सकता है। उसकी सत्ता का यह वर्तमान नियम जड़ जगत् की निश्चेतना से, बाह्य आकार के अन्दर आत्मा के तिरोभाव तथा जड़ प्रकृति के प्रति अधीनता से आरम्भ होता है; और, यद्यपि इस जड़-तत्त्व में प्राण और मन ने अपनी शक्तियां विकसित कर ली हैं तथापि वे निम्नतर स्थूल-भौतिक तत्त्व के द्वारा सीमित हैं तथा इसके कार्य में ही जकड़े हुए हैं, क्योंकि उसकी व्यावहारिक स्थूल चेतना के अज्ञान के लिये यह निम्न-भौतिक तत्त्व ही उसका मूल तत्त्व है। यद्यपि वह देहधारी मनोमय प्राणी है तथापि उसके मन को शरीर तथा स्थूल प्राण के नियन्त्रण में रहना पड़ता है; तपःशक्ति और एकाग्रता के किसी कम या अधिक गुरुतर प्रयत्न के द्वारा ही उसका मन, प्राण और शरीर को सचेतन रूप से नियन्त्रण में रख सकता है। इस क्रिया में अधिकाधिक वृद्धि करके ही वह पूर्णता की ओर बढ़ सकता है,—और आत्म-शक्ति को विकसित करके ही वह इसे प्राप्त कर सकता है। उसके अन्दर की प्रकृति-शक्ति को अधिकाधिक पूर्ण रूप में अन्तरात्मा की एक सचेतन क्रिया किंवा आत्मा के समस्त संकल्प और ज्ञान की एक सचेतन अभिव्यक्ति बनना होगा। प्रकृति को पुरुष की शक्ति के रूप में प्रकट होना होगा।

अध्याय ४

मानसिक सत्ता की पूर्णता

इन अवस्थाओं में आत्मसिद्धियोग का मूलभूत विचार यह होना चाहिये कि मनुष्य की मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति के साथ उसकी अन्तरात्मा के वर्तमान सम्बन्धों को पलट दिया जाये। मनुष्य इस समय एक अंशतः स्व-चेतन आत्मा है जो मन, प्राण और शरीर के अधीन तथा इनके द्वारा सीमित है; उसे एक ऐसी पूर्ण स्व-चेतन आत्मा बनना है जो अपने मन, प्राण और शरीर की स्वामिनी हो। एक पूर्ण स्व-चेतन आत्मा इनके दावों और इनकी मांगों से सीमित न होती हुई अपने करणों से उच्चतर तथा इनकी मुक्त स्वामिनी होगी। मनुष्य के अतीत आध्यात्मिक, बौद्धिक और नैतिक प्रयासों के अधिकांश का मतलब यही है कि वह इस प्रकार अपनी सत्ता का स्वामी बनने का प्रयास करता आ रहा है।

मनुष्य को किसी पूर्ण रूप से सच्ची स्वतन्त्रता और प्रभुता के साथ अपनी सत्ता का स्वामी बनने के लिये अपनी उच्चतम आत्मा को, अपने अन्दर के उस वास्तविक मनुष्य या उच्चतम पुरुष को, ढूंढ़ना होगा जो स्वतन्त्र है तथा अपनी अविच्छेद्य शक्ति का स्वामी है। उसे मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक अहं रहना छोड़ देना होगा; क्योंकि यह अहं सदा मानसिक, प्राणिक, भौतिक प्रकृति की ही एक रचना, उसका यन्त्र एवं दास होता है। यह अहं उसकी वास्तविक आत्मा नहीं है बल्कि प्रकृति का एक करण है जिसके द्वारा प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर मन, प्राण और शरीर में रहनेवाली एक सीमित एवं पृथक् व्यक्तिगत सत्ता की भावना विकसित की है। इस करण के द्वारा वह इस प्रकार कार्य करती है मानों वह इस जड़ जगत् में एक पृथक् सत्ता हो। प्रकृति ने कुछ ऐसी यान्त्रिक एवं संकीर्णकारी अवस्थाओं का विकास किया है जिनके अधीन यह कार्य घटित होता है; अन्तरात्मा का अपने-आपको अहं के साथ तदाकार कर देना एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रकृति अन्तरात्मा को इस कार्य के लिये सहमत होने तथा इन यान्त्रिक संकीर्णकारी अवस्थाओं को स्वीकार करने के लिये प्रेरित करती है। जबतक तदाकारता बनी रहती है तबतक आत्मा इस यान्त्रिक चक्र और संकीर्ण कार्य में आप-से-आप कैद हुई रहती है और जबतक वह इनसे परे नहीं चली जाती तबतक वह अपने वैयक्तिक जीवन का स्वतन्त्रापूर्वक उपयोग नहीं कर सकती, सच्चे अर्थों में अपने-आपसे परे चले जाना तो दूर की बात रही। इसी कारण योग की एक अनिवार्य क्रिया यह है कि जिस बाह्य अहं-बुद्धि के द्वारा हम मन, प्राण और शरीर की क्रिया के साथ अपने-आपको एकाकार किये हुए हैं उससे हम पीछे हट जायें तथा भीतर अपनी अन्तरात्मा में रहने लगें। बहिर्मुख अहंबुद्धि से मुक्ति आत्मा के स्वातंत्र्य और प्रभुत्व का पहला पग है।

जब हम इस प्रकार पीछे हटकर अन्तरात्मा में प्रवेश करते हैं तो हम पाते हैं कि हम मन नहीं हैं बल्कि एक मनोमय पुरुष हैं जो देहाधिष्ठित मन की क्रिया के पीछे स्थित है। तब हम यह भी पाते हैं कि हम मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व भी नहीं हैं,—व्यक्तित्व तो प्रकृति की एक रचना है,—बल्कि हम मनोमय पुरुष हैं। हम अपने अन्दर के एक ऐसे पुरुष को जान जाते हैं जो आत्मज्ञान तथा विश्वज्ञान प्राप्त करने के लिये मन की भूमिकापर स्थित है और जो आत्मानुभव एवं विश्वानुभव प्राप्त करने के लिये तथा अन्तर्मुख और बहिर्मुख कार्य-व्यापार करने के लिये अपने-आपको एक व्यक्ति समझता है, किन्तु फिर भी मन, प्राण और शरीर से भिन्न है। प्राण की क्रियाओं से तथा भौतिक सत्ता के भिन्न होने की यह भावना अत्यन्त ही स्पष्ट होती हैं; कारण, यद्यपि पुरुष अपने मन को प्राण और शरीर में ग्रस्त अनुभव करता है, तथापि वह जानता है कि चाहे स्थूल प्राण और शरीर समाप्त या विनष्ट हो जायें, फिर भी वह अपनी मनोमय सत्ता में जीवन धारण करता रहेगा, परन्तु मन से भिन्न होने का अनुभव होना अधिक कठिन है और यह अनुभव उतने स्थिर रूप से स्पष्ट भी नहीं होता। किन्तु फिर भी यह प्राप्त अवश्य होता है; इसके लक्षण के रूप में मनोमय पुरुषों को अपने तीन प्रकार के अन्तर्ज्ञानों में से, जिनमें यह निवास करता है, कोई एक या तीनों ही प्राप्त होते हैं; इनके द्वारा यह अपनी महत्तर सत्ता को जान जाता है।

सर्वप्रथम, उसे यह अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है कि मैं एक ऐसा पुरुष हूं जो मन की क्रिया का अवलोकन करता है; यह क्रिया उसे एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जो उसके अन्दर और फिर भी उसके सामने की उसकी ज्ञानदृष्टि के एक विषय के रूप में हो रही है। यह आत्म-चेतनता साक्षी पुरुष की अन्तर्ज्ञानात्मक चेतना है। साक्षी पुरुष एक शुद्ध-चैतन्यस्वरूप पुरुष है जो प्रकृति का निरीक्षण करता है और इसे एक ऐसे व्यापार के रूप में देखता है जिसका चेतना पर प्रतिबिम्ब पड़ता है और जो उस चेतना के द्वारा ही आलोकित होता है, पर जो अपने-आपमें उससे भिन्न है। मनोमय पुरुष के लिये प्रकृति एक व्यापारमात्र है, पृथक्करण और संयोजन करनेवाले विचार का, संकल्प, सम्वेदन और भावावेग का, स्वभाव, चरित्र और अहंभावना का एक जटिल व्यापार है; यह स्थूल शरीर के द्वारा लादी हुई अवस्थाओं में प्राणिक आवेगों, आवश्यकताओं और कामनाओं के आधार पर अपना कार्य करती है। पर यह उनके द्वारा सीमित नहीं होती, क्योंकि यह उन्हें नयी दिशाओं में मोड़ सकती है, अत्यधिक परिवर्तित, परिष्कृत और विस्तृत कर सकती है, इतना ही नहीं बल्कि यह विचार और कल्पना के रूप में तथा एक अत्यधिक सूक्ष्म और नमनीय रचनाओंवाले मानसिक लोक में कार्य भी कर सकती है। पर इसके साथ ही मनोमय पुरुष को यह अन्तर्ज्ञान भी प्राप्त होता है कि एक ऐसी सत्ता भी है जो इस वर्तमान कार्य-व्यापार से, जिसमें वह निवास करता है, अधिक

विशाल और महान् है, अनुभव की एक ऐसी भूमिका भी है जिसकी एक उपरितलीय योजना या एक चुनी हुई संकुचित और उथली क्रियामात्र है प्रकृति का वर्तमान कार्य-व्यापार। इस अन्तर्ज्ञान के द्वारा वह प्रच्छन्न अन्तःसत्ता की ड्यौढ़ी पर स्थित हो जाता है; इस अन्तः-सत्ता की सम्भाव्य शक्ति उससे अधिक विस्तृत है जिसे कि यह स्थूल मन उसके आत्मज्ञान के समक्ष प्रकट करता है। उसे अपना अन्तिम और सबसे महान् अन्तर्ज्ञान इस आन्तरिक अनुभव के रूप में प्राप्त होता है कि एक ऐसा तत्त्व है जो उसका अधिक वास्तविक एवं मूलभूत स्वरूप है, जो मन से उतना ही ऊंचा है जितना मन स्थूल प्राण और शरीर से ऊंचा है। इस आन्तरिक अनुभव के रूप में उसे अपनी अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक सत्ता का अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है।

जिस स्थूल कार्य-व्यापार से मनोमय पुरुष पीछे की ओर हट गया है उसमें वह किसी भी समय फिर से ग्रस्त हो सकता है, मन, प्राण और शरीर की यान्त्रिक क्रिया के साथ कुछ समय के लिये पूर्णतया एक होकर रह सकता है और अपने पुनरावर्ती सामान्य व्यापार को तन्मय होकर पुनः-पुनः दुहरा सकता है। परन्तु एक बार जब वह इससे पृथक् होने की क्रिया को सम्पन्न कर लेता है तथा कुछ समय के लिये इसमें निवास कर चुकता है, तो वह स्वयं अपने निकट बिल्कुल वही कभी नहीं हो सकता जो कुछ कि वह पहले था। बाह्य कार्य में ग्रस्तता अब केवल पुनः-पुनः होनेवाली एक ऐसी आत्म-विस्मृति का रूप धारण कर लेती है जिससे पीछे हटकर पुनः अपनेमें तथा शुद्ध आत्मानुभव में प्रवेश करने की प्रवृत्ति उसके अन्दर बनी रहती है। यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि इस बाह्य चेतना के जिस सामान्य व्यापार ने पुरुष के लिये उसके आत्मानुभव का वर्तमान प्राकृतिक रूप सृष्ट किया है उससे पीछे हटकर वह (पुरुष) अन्य दो स्थितियां भी धारण कर सकता है। उसे यह अन्तर्ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि मैं एक देहस्थित पुरुष हूं जो प्राण को अपनी एक क्रिया तथा मन को इस क्रिया के प्रकाश के रूप में प्रकट करता है। यह देहस्थित पुरुष अन्नमय चेतन-सत्ता अर्थात् **अन्नमय पुरुष** है। यह प्राण और मन को विशिष्ट रूप से भौतिक अनुभव के लिये ही प्रयुक्त करता है,—और सब चीजों को भौतिक अनुभव के ही परिणाम समझा जाता है। यह शरीर के जीवन से परे की किसी भी वस्तु पर दृष्टिपात नहीं करता; जहांतक यह अपनी स्थूल व्यष्टि-सत्ता से परे किसी चीज को अनुभव करता भी है वहांतक यह केवल इस स्थूल विश्व का तथा अधिक-से-अधिक स्थूल प्रकृति की आत्मा के साथ अपने एकत्व का ही अनुभव प्राप्त करता है। परन्तु उसे यह अन्तर्ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है कि मैं एक प्राणमय पुरुष हूं जिसने कालगत अभिव्यक्ति की महान् गति के साथ अपने-आपको एक कर रखा है तथा जो शरीर को एक आकार या एक आधारभूत इन्द्रियमय मूर्ति के रूप में एवं मन को प्राणानुभूति की एक सचेतन क्रिया के रूप

में प्रकट करता है। यह प्राणस्थित आत्मा प्राणमय चेतन सत्ता है अर्थात् प्राणमय पुरुष है। यह स्थूल शरीर की अवधि और सीमाओं से परे भी देख सकती है, अपने पीछे और आगे अर्थात् भूत और भविष्य में जीवन की सनातनता को तथा विराट् प्राण-सत्ता के साथ अपने एकत्व को अनुभव कर सकती है, पर काल में प्राणिक अभिव्यक्ति का जो सतत प्रवाह चल रहा है उससे परे नहीं देखती। ये तीन पुरुष परम आत्मा के आन्तरात्मिक रूप हैं जिनके द्वारा वह अपनी विश्वमय सत्ता के इन तीन स्तरों या तत्त्वों में से किसी एक के साथ अपनी चेतन सत्ता को एकीभूत करती है या उसपर अपने कार्य का आधार स्थापित करती है।

परन्तु मनुष्य अपने स्वभाव से ही एक मनोमय प्राणी है। इतना ही नहीं, बल्कि मन उसकी ऊंची-से-ऊंची वर्तमान भूमिका है जिसमें वह अपने वास्तविक स्वरूप के अधिक-से-अधिक निकट है तथा आत्मा को नितान्त सुगम एवं विशाल रूप से जान पाता है। उसकी पूर्णता या सिद्धि का मार्ग न तो यह है कि वह बाह्य या स्थूल जीवन में ग्रस्त रहे और न यह कि वह प्राणमय या अन्नमय पुरुष में ही स्थित रहे, बल्कि उसे उन तीन मानसिक अन्तर्ज्ञानों की प्राप्ति के लिये आग्रह करना होगा जिनके द्वारा वह अन्तिम रूप से भौतिक, प्राणिक और मानसिक स्तरों के ऊपर उठ सके। यह आग्रह दो सर्वथा भिन्न रूप धारण कर सकता है जिनमेंसे प्रत्येक का अपना लक्ष्य एवं कार्य-प्रणाली होती है। उसके लिये यह सर्वथा सम्भव है कि वह इसे एक ऐसी दिशा में खींच ले जाये जो प्रकृतिगत जीवन से दूर हो अर्थात् जो मन, प्राण और शरीर से अनासक्त एवं विरत होने की दिशा हो। वह अधिकाधिक एक ऐसे साक्षी पुरुष के रूप में जीवन यापन करने का यत्न कर सकता है जो प्रकृति के कार्य का अवलोकन करता है, पर उसमें रस नहीं लेता, न उसे अनुमति ही देता है, बल्कि अनासक्त रहकर प्रकृति के सम्पूर्ण कार्य का परित्याग कर डालता है तथा पीछे हटकर शुद्ध चेतन सत्ता में लौट जाता है। यह सांख्यों की मुक्ति है। वह अपने भीतर उस विशालतर सत्ता में भी प्रवेश कर सकता है जिसका उसे अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है; इसी प्रकार वह स्थूल मन से दूर हटकर उस स्वप्नावस्था या सुषुप्ति-अवस्था में भी जा सकता है जो उसे चेतना की विशालतर या उच्चतर भूमिकाओं में प्रवेश प्रदान करती है। इन भूमिकाओं में जाकर वह पार्थिव सत्ता को अपनेसे उतार फेंक सकता है। प्राचीन काल में यह माना जाता था कि मनुष्य उन अतिमानसिक लोकों में भी पहुंच सकता है जहां से वह पार्थिव चेतना में या तो लौट ही नहीं सकता अथवा जहां से लौटना उसके लिये अनिवार्य नहीं है। परन्तु इस प्रकार की मुक्ति अपनी स्पष्ट तथा सुनिश्चित पराकाष्ठा को तभी पहुंचती है यदि मनोमय प्राणी आध्यात्मिक सत्ता में ऊंचा उठ जाये। इस आध्यात्मिक सत्ता का अनुभव उसे तब प्राप्त होता है जब वह मन की समस्त भूमिका से दूर तथा ऊपर दृष्टिपात करता है। मनमात्र के परे दृष्टि डालना ही

एक चाबी है जिसके द्वारा वह शुद्ध सत् में निमज्जित होकर या विश्वातीत सत्ता में भाग लेता हुआ पार्थिव सत्ता का पूर्णरूपेण परित्याग कर सकता है।

परन्तु यदि हमारा लक्ष्य प्रकृति से अपने-आपको अलग करके उससे मुक्त होना ही नहीं, बल्कि पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करना हो तो फिर इस प्रकार का आग्रह पर्याप्त नहीं हो सकता। हमें अपने अन्दर होनेवाले प्रकृति के मानसिक, प्राणिक और भौतिक कार्य का अवलोकन करना होगा, उसके बन्धन की ग्रन्थियों को तथा उनसे मुक्त होने के लिये उन्हें खोलने के सूत्रों को ढूंढ़ निकालना होगा, उसकी अपूर्णता की कुंजियों को खोजकर पूर्णता की कुंजी को हस्तगत करना होगा। जब द्रष्टा आत्मा किंवा साक्षी पुरुष अपनी प्रकृति के कार्य के पीछे हटकर इसका निरीक्षण करता है, तो वह देखता है कि यह अपनी ही प्रेरणा से आरम्भ होता है तथा अपनी यान्त्रिक क्रिया की शक्ति के द्वारा, गति के सातत्य की अर्थात् मानसिक गति, प्राणावेग तथा अनैच्छिक स्थूल यान्त्रिक क्रिया के सातत्य की शक्ति के द्वारा ही चलता रहता है। पहले-पहल तो सारी चीज एक स्वयंचालित यन्त्र की पुनरावर्तिनी क्रिया प्रतीत होती है, यद्यपि वह सारी क्रिया मिलकर निरन्तर एक सृजन, अभिवृद्धि एवं विकास की ओर आरोहण करती है। उसे ऐसा लगता है मानों वह इस चक्र के अन्दर पकड़ाया हुआ हो, इसके प्रति अहं-बुद्धि होने के कारण इसके साथ चिपका हुआ हो और जैसे-जैसे यन्त्र चक्कर काटता है वैसे-वैसे उसके साथ वह भी चारों ओर तथा आगे की ओर घुमाया जा रहा हो। उसके मानसिक, प्राणिक और भौतिक व्यक्तित्व को जब एक बार, प्रकृति की क्रिया में फंसी हुई तथा अपनेको उस क्रिया का अङ्ग समझनेवाली आत्मा के द्वारा न देखकर, इस स्थिर अनासक्त दृष्टिकोण से देखा जाता है तो इसका स्वाभाविक रूप यों दिखायी देता है कि यह पूरे-का-पूरा प्रकृति का एक यान्त्रिक नियतिरूप निर्धारण है या उसके निर्धारणों का एक प्रवाह है जिसे पुरुष ने अपनी चेतना की ज्योति अर्पित कर रखी है।

परन्तु कुछ अधिक दीर्घ दृष्टि डालने पर हमें पता चलता है कि यह नियतिकृत निर्धारण उतना पूर्ण नहीं है जितना कि यह प्रतीत होता था; प्रकृति का व्यापार इसलिये चलता रहता है और इसका जो भी स्वरूप है वह इसलिये है कि पुरुष इसे अनुमति देता है। द्रष्टा पुरुष देखता है कि वह इस व्यापार को अपनी चेतन सत्ता के द्वारा धारण करता है तथा एक प्रकार से अपनी चेतना के द्वारा इसमें व्याप्त एवं ओतप्रोत भी है। वह जान जाता है कि उसके बिना वह जारी नहीं रह सकता और जहां वह इस अनुमति को दृढ़तापूर्वक हटा लेता है, वहां अभ्यासगत व्यापार क्रमशः मन्द पड़ता जाता है और फिर क्षीण होकर बन्द हो जाता है। इस प्रकार उसके समग्र सक्रिय मन को पूर्ण रूप से शान्त किया जा सकता है। तथापि उसके अन्दर एक निष्क्रिय मन भी है जो यन्त्रवत् क्रिया करता रहता है, पर यदि वह इसकी क्रिया से पृथक् होकर अपने अन्दर चला जाये तो इसे भी शान्त किया जा

सकता है। तब भी जीवन का कार्य-व्यापार अपने अत्यन्त यान्त्रिक भागों में बराबर चालू रहता है; पर उसे भी शान्त करके बन्द किया जा सकता है। तब ऐसा दिखायी देगा कि वह केवल **भर्ता** पुरुष ही नहीं है, बल्कि एक प्रकार से अपनी प्रकृति का स्वामी, **ईश्वर**, भी है। उसके अन्दर जो यह चेतना है कि मैं अनुमति देनेवाला नियन्ता हूं तथा मेरी सहमति आवश्यक है उसीने उसे अहम्भाव की अवस्था में यह सोचने के लिये प्रेरित किया था कि मैं स्वतन्त्र इच्छा से युक्त एक आत्मा या मनोमय पुरुष हूं जो अपनी सब अभिव्यक्तियों को आप ही निर्धारित करता है। तथापि यह स्वतन्त्र इच्छा अपूर्ण एवं भ्रमात्मक-सी प्रतीत होती है, क्योंकि असल में जिसे इच्छा कहते हैं वह स्वयं प्रकृति की एक मशीनरी है और प्रत्येक पृथक् एवं व्यक्तिगत इच्छा अतीत कर्म के प्रवाह के द्वारा तथा तज्जनित अवस्थाओं की समष्टि के द्वारा निर्धारित होती है,—यद्यपि यह प्रतिक्षण विशुद्ध एवं मौलिक रूप से सृजन करनेवाली एक स्वयंजात इच्छा प्रतीत हो सकती है, क्योंकि उस कर्म-प्रवाह का परिणाम एवं वह अवस्था-समष्टि प्रतिक्षण एक नये विकास एवं नये निर्धारण के रूप में ही हमारे सामने आती है। द्रष्टा पुरुष जान जाता है कि इस सब समय में उसकी देन इतनी ही थी कि प्रकृति जो कुछ कर रही है उसे वह पीछे रहकर सहमति एवं अनुमति देता था। वह इस (प्रकृति) पर पूर्ण रूप से शासन करने के योग्य नहीं प्रतीत होता, बल्कि कुछ-एक सुनिश्चित सम्भावनाओं में चुनाव करने में ही समर्थ दिखायी देता है : इसमें प्रतिरोध करने की एक शक्ति है जो इसके भूतकालिक वेग से उत्पन्न हुई है; साथ ही, इसमें प्रतिरोध की एक और भी बड़ी शक्ति है जो इसीकी पैदा की हुई कुछ-एक निश्चित अवस्थाओं की समष्टि से उत्पन्न हुई है। इन अवस्थाओं को यह पुरुष के सामने एक ऐसी अटल नियम-शृंखला के रूप में उपस्थित करती है जिसका पालन करना उसके लिये आवश्यक है। वह इसकी कार्य करने की पद्धति को आमूल रूप में नहीं बदल सकता, इसके वर्तमान क्रिया-व्यापार के भीतर से अपने संकल्प को स्वतन्त्रतापूर्वक क्रियान्वित नहीं कर सकता, न ही, जबतक वह मन में स्थित है तबतक, एक ऐसे ढंग से इसके बाहर निकल सकता या ऊपर जा सकता है कि इसपर सचमुच में स्वतन्त्रतापूर्वक नियन्त्रण कर सके। पुरुष और प्रकृति दोनों एक-दूसरेपर निर्भर जान पड़ते हैं, प्रकृति पुरुष की अनुमति पर अपना आधार रखती है, पुरुष प्रकृति के कार्य के नियम पर, उसकी पद्धति एवं सीमाओं पर अपना आधार रखता है; स्वतन्त्र इच्छा की भावना प्रकृति के निर्धारण से इन्कार करती है, प्रकृति के द्वारा किये हुए निर्धारण की वास्तविकता स्वतन्त्र इच्छा को पंगु कर देती है। पुरुष निश्चित रूप से जानता है कि प्रकृति उसकी शक्ति है, किन्तु फिर भी वह इसके अधीन दिखायी देता है। वह अनुमन्ता पुरुष है, पर वह पूर्ण-निरपेक्ष स्वामी, **ईश्वर**, नहीं प्रतीत होता।

तथापि, किसी स्तरपर पूर्ण प्रभुत्व एवं वास्तविक 'ईश्वर'-त्व भी विद्यमान है। वह

इसे अनुभव करता है और जानता है कि यदि वह इसे प्राप्त कर ले तो वह प्रकृति का नियामक बन जायेगा, इसकी इच्छा का निष्क्रिय एवं अनुमन्ता साक्षी तथा भर्ता पुरुष ही नहीं, बल्कि इसकी क्रियाओं का स्वतन्त्र और शक्तिशाली प्रयोक्ता तथा निर्धारक भी बन जायेगा। परन्तु उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियमन या प्रभुत्व मन से परे अवस्थित किसी अन्य भूमिका की वस्तु है। कभी-कभी वह अनुभव करता है कि मैं इसका प्रयोग भी कर रहा हूं, पर एक प्रणालिका या यन्त्र के रूप में ही; तब यह उसे ऊपर से प्राप्त होता है। अतः यह स्पष्ट है कि यह अतिमानसिक प्रभुत्व है। परम आत्मा की एक ऐसी शक्ति है जो मनोमय पुरुष से बड़ी है; वह पहले से ही जानता है कि अपनी चेतन सत्ता के शिखर पर तथा उसके गुप्त अन्तस्तल में मैं यही शक्ति हूं। अतएव, निःसन्देह, नियन्त्रण और प्रभुत्व की प्राप्ति का मार्ग यह है कि वह इस परम आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करे। यह तादात्म्य वह निष्क्रिय रूप से, अर्थात् अपनी मानसिक चेतना में आत्मा की शक्ति को प्रतिबिम्बित एवं ग्रहण करके, साधित कर सकता है, पर तब वह शक्ति का एक सांचा, वाहक या यन्त्र ही होगा, उसका स्वामी नहीं होगा, न उसमें भाग ही ले सकेगा। इसी प्रकार, वह अपने मन को आंतरिक अध्यात्मसत्ता में लीन करके भी परम आत्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त कर सकता है, पर उस दशा में तादात्म्य की समाधि में उसका सचेतन कार्य समाप्त हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रकृति का सक्रिय स्वामी बनने के लिये उसे किसी उच्चतर अतिमानसिक भूमिकातक उठना होगा जहां नियामक आत्मा के साथ निष्क्रिय ही नहीं, वरन् सक्रिय एकत्व भी प्राप्त हो सकता है। इस महत्तर भूमिकातक आरोहण करने का मार्ग ढूंढ़कर **स्वराट्** अर्थात् आत्म-शासक बनना ही उसकी पूर्णता या सिद्धि की शर्त है।

इस आरोहण में जो कठिनाई आती है उसका कारण है प्रकृति में रहनेवाला अज्ञान। वह पुरुष है, मानसिक और भौतिक प्रकृति का **साक्षी** है, पर आत्मा और प्रकृति का पूर्ण **ज्ञाता** नहीं है। मन की भूमिका में जो ज्ञान प्राप्त होता है वह उसकी चेतना के द्वारा ही आलोकित होता है; वह मनोमय ज्ञाता है; पर उसे अनुभव होता है कि यह ज्ञान वास्तविक नहीं है, वरन् एक आंशिक खोज एवं आंशिक उपलब्धिमात्र है, यह तो मन से अधिक महान् प्रकाश का एक गौण और अनिश्चित प्रतिबिम्ब है तथा कार्य करने के लिये एक संकुचित एवं उपयोगी साधन है जो इस महत्तर प्रकाश से ही प्राप्त हुआ है। मन के ज्ञान के परे है वास्तविक ज्ञान। यह वास्तविक ज्ञान किंवा प्रकाश परम आत्मा का आत्म-चैतन्य एवं सर्व-चैतन्य है। मूल आत्म-चैतन्य की प्राप्ति उसे सत्ता के मानसिक स्तर पर भी हो सकती है यदि वह मनोमय पुरुष में इसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करे अथवा मनोमय पुरुष आत्मा में लीन हो जाये, इसी प्रकार वह प्राणमय पुरुष एवं अन्नमय पुरुष में

भी इसे अवश्य प्राप्त कर सकता है, पर तब प्रतिबिम्ब ग्रहण करने या लय होने का तरीका मानसिक स्तर की अपेक्षा भिन्न होता है। परन्तु इस मूल आत्म-चैतन्य को अपने कार्य की आत्मा के रूप में प्रयुक्त करनेवाले एक क्रियाशक्तिमय सर्व-चैतन्य में भाग लेने के लिये उसे अतिमानसतक ऊपर उठना ही होगा, अपनी सत्ता का स्वामी बनने के लिये उसे आत्मा और प्रकृति का ज्ञाता बनना होगा, **ज्ञाता ईश्वर**। यह कार्य कुछ अंश में तो मन के उच्चतर स्तर पर किया जा सकता है जहां यह (मन) अतिमानस की क्रिया के प्रत्युत्तर से सीधे रूप से अपनी क्रिया कर सकता है, पर अपने वास्तविक तथा पूर्ण स्वरूप में यह सिद्धि मनोमय पुरुष की नहीं, बल्कि विज्ञानमय पुरुष की सम्पदा है। मनोमय पुरुष को उससे महान् विज्ञानमय पुरुष में और फिर इसे भी आनन्दमय पुरुष में उठा ले जाना इस सिद्धि का सर्वोच्च पथ है।

परन्तु अपनी वर्तमान प्रकृति को बिलकुल जड़मूल से बदले बिना तथा जो बहुत-से नियम इसकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता की जटिल ग्रन्थि के रूढ़ नियम प्रतीत होते हैं उन्हें त्यागे बिना कोई भी सिद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती, इस योग की सिद्धि प्राप्त करना तो दूर की बात रही। इस ग्रन्थि का नियम एक निश्चित और सीमित उद्देश्य के लिये रचा गया है; वह उद्देश्य है—इस प्राणयुक्त देह में कुछ काल के लिये मानसिक अहं का भरण-पोषण तथा रक्षण, उसपर स्वत्व-स्थापन तथा उसकी वृद्धि, उसका उपभोग और अनुभव, उसकी आवश्यकता और क्रिया। इनके परिणामस्वरूप कुछ अन्य प्रयोजन भी सिद्ध हो जाते हैं, पर यह तात्कालिक तथा मूल-निर्धारक लक्ष्य और प्रयोजन है। इससे ऊंचे प्रयोजन की सिद्धि तथा अधिक स्वतन्त्र करणों की प्राप्ति के लिये इस ग्रन्थि को कुछ अंश में छिन्न-भिन्न तथा अतिक्रम करके एक विशालतर सक्रिय समन्वय में रूपान्तरित करना होगा। पुरुष देखता है कि जिस नियम की रचना की गयी है वह आत्मा और अनात्मा अर्थात् आभ्यन्तरिक सत्ता और बाह्य जगत्-विषयक प्रथम अव्यवस्थित चेतना में से कुछ एक यान्त्रिक पर विकासोन्मुख अनुभवों को चुनकर एक अंशतः स्थिर और अंशतः अस्थिर रूप से निर्धारित किया हुआ नियम है। इस निर्धारित नियम का मन, प्राण और शरीर पालन करते हैं, इसके लिये वे कभी एक-दूसरे पर सामञ्जस्य और मेलजोल के साथ क्रिया करते हैं तो कभी विरोध-वैषम्य के साथ तथा एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप करके उसे मर्यादित करते हुए। स्वयं मन की विविध क्रियाओं में भी एक ऐसा ही मिश्रित सामञ्जस्य और असामञ्जस्य देखने में आता है, इसी प्रकार स्वयं प्राण और शरीर की क्रियाओं में हम यही बात पाते हैं। यह सब ही एक प्रकार की अव्यवस्थित व्यवस्था है, एक ऐसी व्यवस्था है जो सतत रूप से घेरने और आक्रान्त करनेवाली अव्यवस्था में से विकसित और परिकल्पित की गयी है।

यह पहली कठिनाई है जिसका पुरुष को सामना करना होगा। यह है—विश्व-

प्रकृति की मिश्रित एवं अव्यवस्थित क्रिया अर्थात् एक ऐसी क्रिया जो स्पष्ट आत्मज्ञान, विशिष्ट उद्देश्य तथा सुदृढ़ साधन से रहित है, जो इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये एक प्रयत्नमात्र है तथा जिससे क्रियात्मक रूप में एक सामान्य और सापेक्ष सफलता ही मिलती है, कुछ दिशाओं में तो पुरुष को प्रकृति की अनुकूलता का एक आश्चर्यजनक परिणाम देखने में आता है, पर बहुत-सी दिशाओं में इसकी अपूर्णता का दुःखकारी परिणाम भी अनुभव होता है। इस मिश्रित एवं अव्यवस्थित क्रिया में संशोधन करना होगा; शुद्धि आत्म-सिद्धि का एक अनिवार्य साधन है। इन सब अशुद्धियों और अपूर्णताओं के परिणामस्वरूप नाना प्रकार की सीमाओं एवं बन्धनों का जन्म होता है : पर बन्धन की मुख्य ग्रन्थियां दो या तीन हैं जिनसे अन्य ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं, उनमेंसे प्रधान ग्रन्थि है अहम्। इन सब ग्रन्थियों से छुटकारा पाना होगा; शुद्धि तबतक पूर्ण नहीं कही जा सकती जबतक कि वह मुक्ति को साधित न कर दे। अपिच, जब कुछ अंश में शुद्धि और मुक्ति साधित हो जाये उसके बाद भी शुद्ध हुए करणों को उच्चतर लक्ष्य एवं प्रयोजन के नियम के अनुरूप, कार्य की एक विशाल, वास्तविक और पूर्ण व्यवस्था के अनुसार रूपान्तरित करने का काम शेष रह जाता है। रूपान्तर के द्वारा मनुष्य अस्तित्व, शान्ति, शक्ति और ज्ञान के वैभव की एक प्रकार की पूर्णता प्राप्त कर सकता है, यहांतक कि एक अधिक महान् प्राणिक क्रियाशीलता तथा एक अधिक पूर्ण भौतिक जीवन भी प्राप्त कर सकता है। इस पूर्णता का एक परिणाम यह होता है कि उसे सत्ता का विशाल और पूर्ण आनन्द प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार **शुद्धि, मुक्ति, सिद्धि** और **भुक्ति** (सत्ता का आनन्द)—ये इस योग के चार घटक अङ्ग हैं।

परन्तु यदि पुरुष अपनी व्यक्तिगत सत्ता पर बल दे तो यह सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती, अथवा, कम-से-कम, यह सुरक्षित एवं पूर्णतया विशाल नहीं हो सकती। सुतरां, शारीरिक, प्राणिक और मानसिक अहं के साथ पुरुष ने जो तदात्मता स्थापित कर रखी है उसका त्याग करना ही काफी नहीं है; उसे अपनी अन्तरात्मा में भी भेदप्रधान नहीं, वरन् वास्तविक एवं विश्वभावापन्न व्यक्तित्व को प्राप्त करना होगा। अपनी निम्न प्रकृति में मनुष्य एक 'अहं' है जो अपने-आप तथा अन्य समस्त जगत् के बीच विचारतः एक स्पष्ट भेद-रेखा खींच देता है; उसके लिये अहं ही आत्मा ('स्व') है, पर शेष सब जगत् अनात्मा ('पर') है, अपनी सत्ता से बाह्य है। उसका सम्पूर्ण कार्य-व्यापार आत्मा और जगत्-विषयक इसी विचार को लेकर आरम्भ होता है तथा इसीपर आधारित है। पर वास्तव में यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। मानसिक विचार और मानसिक या अन्य प्रकार की क्रिया में वह अपने-आपको कितने ही तीव्र रूप में पृथक् व्यक्ति क्यों न स्वीकार करे, फिर भी वह विराट् सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता, उसका शरीर विराट् शक्ति एवं उपादान तत्त्व से, उसका प्राण विराट् प्राण से, उसका मन विराट् मन से पृथक् नहीं

हो सकता, उसकी अन्तरात्मा एवं आत्मा विराट् पुरुष की अन्तरात्मा एवं आत्मा से पृथक् नहीं हो सकती। विराट् सत्ता प्रतिक्षण उसपर क्रिया करती है, उसपर आक्रमण करके अपना अधिकार स्थापित कर लेती है, उसके अन्दर अपना रूप गढ़ती है; इसके प्रतिक्रियास्वरूप वह भी विराट् सत्ता पर क्रिया करता है, उसपर आक्रमण करके अपना अधिकार जमाने का यत्न करता है, उसका रूप गढ़ने, उसके आक्रमण को विफल करने तथा उसके करणों को अपने अधिकार में लाकर उनका प्रयोग करने की चेष्टा करता है।

यह संघर्ष एक आधारभूत एकता का परिणाम है। यह एकता आरम्भ में हुई पृथक्ता के कारण बाध्य होकर संघर्ष का रूप धारण कर लेती है; मानव मन ने एकता को जिन दो खण्डों में विभक्त कर रखा है वे एकता को पुनः प्राप्त करने के लिये एक-दूसरे पर वेगपूर्वक टूट पड़ते हैं और उनमेंसे प्रत्येक पृथक् हुए खण्ड को अधिकार में लाकर अपने अन्दर मिलाने की चेष्टा करता है। विश्व सदा व्यक्ति को निगल जाने की चेष्टा करता है, अनन्त इस सान्त को जो अपनी आत्म-प्रतिरक्षा के लिये कटिबद्ध रहता है और यहांतक कि आक्रमण के द्वारा भी उत्तर देता है, पुनः अपने अन्दर मिला लेने का यत्न करता जान पड़ता है। पर सच पूछो तो विराट् पुरुष इस दृश्यमान संघर्ष के द्वारा मनुष्य के अन्दर अपने ही उद्देश्य को सिद्ध कर रहा है, यद्यपि उद्देश्य और उसकी क्रियान्विति का रहस्य एवं सत्य मनुष्य के ऊपरी चेतन मन को ज्ञात नहीं है; यह रहस्य एवं सत्य तो केवल आधारगत अवचेतन एकता में अस्पष्ट रूप से निहित है तथा केवल अधिशासक अतिचेतन एकता में ही प्रकाशमान रूप से ज्ञात है। मनुष्य भी अपने अहं को विस्तृत करने के अनवरत आवेग के द्वारा एकता की ओर प्रेरित होता है, उसका अहं अन्य अहम्मय सत्ताओं के साथ तथा विश्व के ऐसे भागों के साथ, जिन्हें वह भौतिक, प्राणिक और मानसिक रूप से अपने प्रयोग और अधिकार में ला सकता है, यथासम्भव उत्तम रीति से एकता स्थापित करता है। जैसे अपनी सत्ता का ज्ञान एवं उसपर प्रभुत्व प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य होता है, वैसे ही चारों ओर के प्राकृतिक जगत्, उसके पदार्थों, करणों तथा जीवों का ज्ञान एवं प्रभुत्व प्राप्त करना भी उसका लक्ष्य होता है। आरम्भ में वह अहंपूर्ण आधिपत्य के द्वारा इस लक्ष्य को सिद्ध करने का यत्न करता है, पर जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वैसे-वैसे गुप्त एकता के द्वारा उत्पन्न सहानुभूति का तत्त्व उसके अन्दर बढ़ता जाता है तथा अन्य भूतों के साथ एक विशाल होते जानेवाले सहयोग एवं एकत्व का और विश्व-प्रकृति एवं विराट् पुरुष के साथ सामंजस्य का भाव उत्पन्न होता है।

मन में अब स्थित साक्षी पुरुष देखता है कि उसके प्रयत्न की अक्षमता का और सच पूछो तो मनुष्य के जीवन एवं उसकी प्रकृति की समस्त अपूर्णता का कारण है व्यक्ति का मूल स्रोत से विच्छेद और उसके परिणामस्वरूप होनेवाला

संघर्ष, ज्ञान का अभाव, सामंजस्य का अभाव, एकत्व का अभाव। अतएव, उसके लिये यह परमावश्यक है कि वह पृथक् करनेवाले व्यक्तित्व को अतिक्रम करके अपने-आपको विश्वमय बना ले, विश्व के साथ एक हो जाये। यह एकीकरण तभी सम्पन्न हो सकता है यदि हमारी आत्मा हमारे मनोमय पुरुष को विराट् मन के साथ, हमारे प्राणमय पुरुष को विराट् प्राण-पुरुष के साथ, हमारे अन्नमय पुरुष को भौतिक प्रकृति की विराट् अन्नमय चेतना के साथ एक कर दे। जब हम ऐसा एकत्व साधित कर सकते हैं तब जितनी शक्ति, तीव्रता, गहराई, पूर्णता तथा स्थायिता के साथ हम ऐसा कर सकते हैं, हमारी प्रकृति के कार्य-व्यापार पर इसके प्रभाव भी उतने ही महान् होते हैं। विशेषकर, मन की मन के साथ, प्राण की प्राण के साथ, प्रत्यक्ष और गहरी सहानुभूति एवं इनका एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष और गहरा मेल बढ़ने लगता है, पृथक्ता पर शरीर का आग्रह उत्तरोत्तर कम होता जाता है, प्रत्यक्ष मानसिक तथा अन्य प्रकार के पारस्परिक आदान-प्रदान एवं प्रभावपूर्ण परस्पर-क्रिया की शक्ति बढ़ती जाती है; यह आदान-प्रदान एवं क्रिया वर्तमान अपूर्ण और अप्रत्यक्ष आदान-प्रदान एवं क्रिया को, जो आजतक देहाधिष्ठित मन के द्वारा प्रयुक्त सचेतन साधना का अधिक बड़ा भाग थी, सहायता पहुंचाती है। किन्तु फिर भी पुरुष देखता है कि यदि मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक प्रकृति को अकेले अपने-आपमें देखा जाये तो इसमें विश्व-प्रकृति के तीन गुणों की यन्त्रवत् असमान परस्पर-क्रिया के कारण कोई त्रुटि, अपूर्णता एवं अव्यवस्थित क्रिया सदा ही रहती है। इसे अतिक्रम करने के लिये उसे मन, प्राण और शरीर की विराट् भूमिका में पहुंचकर भी वहां से विज्ञानमय एवं आध्यात्मिक विराट् पुरुष की भूमिकातक उठना होगा, विश्व के विज्ञानमय पुरुष अर्थात् विश्वात्मा से एक होना होगा। वह अपने तथा विश्व के भीतर अवस्थित एक उच्चतर तत्त्व की विशालतर ज्योति और व्यवस्था को, जो सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् की एक विशिष्ट क्रिया है, प्राप्त कर लेता है। यहांतक कि वह अपनी प्राकृत सत्ता पर भी इस ज्योति और व्यवस्था का प्रभाव डाल सकता है; इतना ही नहीं, वरन् उसके अन्दर परम आत्मा की जो क्रिया होती है उसके क्षेत्र के अन्तर्गत और उसके प्रमाण के अनुसार वह इस जगत् पर जिसमें वह रहता है तथा अपने चारों ओर की सभी वस्तुओं पर भी इस ज्योति और व्यवस्था का प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। वह **स्वराट्** अर्थात् आत्मज्ञाता और आत्मशासक होता है, पर इस आध्यात्मिक एकता और परात्परता के द्वारा वह **सम्राट्** अर्थात् अपनी सत्ता के चारों ओर के जगत् का ज्ञाता और स्वामी भी बनने लगता है।

इस आत्मविकास में अन्तरात्मा को अनुभव होता है कि इस सरणि पर चलकर उसने समग्र पूर्णयोग का लक्ष्य अर्थात् अपनी आत्मा और अपने विश्वभावापन्न व्यक्तित्व में परमात्मा के साथ मिलन साधित कर लिया है। जबतक वह इस

जगत्-सत्ता में रहे, इस पूर्णता की किरणें उसके अन्दर से फूटती रहनी चाहियें,—क्योंकि यह तो जगत् और इसके प्राणियों के साथ उसके एकत्व का एक आवश्यक परिणाम है। यह पूर्णता उसके चारों ओर के लोगों में एक ऐसे प्रभाव और कार्य के रूप में विकीर्ण होनी चाहिये जो इसे पाने के योग्य सभी लोगों को इसीकी ओर उठने या बढ़ने में सहायक हों। और, शेष लोगों के लिये यह एक ऐसे प्रभाव और कार्य के रूप में प्रसृत होनी चाहिये जो मानवजाति को इस सर्वोच्च सिद्धि की ओर तथा मनुष्यों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में एक महत्तर दिव्य सत्य की किसी प्रतिमूर्ति की ओर आध्यात्मिक रूप से आगे ले जाने में सहायता पहुंचावें, जैसा कि कोई विरला 'स्वराट्' और 'सम्राट्' व्यक्ति ही कर सकता है। ऐसा मनुष्य जिस सत्यतक स्वयं आरोहण कर चुका है उसकी एक ज्योति एवं शक्ति का रूप धारण कर लेता है तथा दूसरे लोगों के आरोहण के लिये एक साधन बन जाता है।

अध्याय पांच

आत्मा के करण

यदि हमें अपनी सत्ता की सक्रिय पूर्णता प्राप्त करनी हो तो पहली आवश्यक बात यह है कि जिन करणों का प्रयोग हमारी सत्ता आज बेसुरे राग के लिये करती है उनकी क्रिया को शुद्ध किया जाये। स्वयं सत्ता किंवा आत्मा को, मनुष्य में अवस्थित दिव्य सद्वस्तु को शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं; वह तो सदा से शुद्ध है; उपनिषद् कहती है कि जैसे सूर्य देखनेवाली आंख के दोषों से प्रभावित या लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा अपने करणों की त्रुटियों से या मन, हृदय और शरीर के अपने कार्यगत स्खलनों से प्रभावित नहीं होती। मन, हृदय, प्राणिक-कामनामय पुरुष और देहस्थित प्राण अशुद्धि के घर हैं; अतएव, यदि हम चाहते हैं कि आत्मा अपना कार्य-व्यापार पूर्णतः निर्दोष रीति से करे तथा इस समय यह निम्न प्रकृति के भ्रान्तिपूर्ण सुख को जो न्यूनाधिक स्वीकृति प्रदान करती है उसकी छाप इसके कार्य पर न रहने पाये तो हमें इसके मन, हृदय आदि करणों को ही शुद्ध करना होगा। साधारणतः जिसे सत्ता की शुद्धि कहा जाता है वह एक अभावात्मक शुभ्रता एवं पापमुक्तता होती है; उसकी प्राप्ति हमें इस प्रकार होती है कि जिस भी कार्य, भाव, विचार या संकल्प को हम अशुद्ध समझते हैं उसका हम बारम्बार नियन्त्रण करते हैं। या फिर सम्पूर्ण जगत् को प्रभुमय देखना, कर्म का अभाव, क्रियाशील मन और कामनामय पुरुष को पूर्णरूपेण शान्त कर देना जो निवृत्तिमार्गी साधनाओं में परम शान्ति प्राप्त करने का साधन है—इन सब को ही साधारणतः हमारी सत्ता की शुद्धि, सर्वोच्च अभावात्मक या निष्क्रिय शुद्धि, कहा जाता है; क्योंकि तब आत्मा अपने निर्मल सार-तत्त्व के सम्पूर्ण सनातन शुद्ध स्वरूप में प्रकट हो उठता है। इस शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर उपभोग करने या सम्पन्न करने के लिये और कुछ भी शेष नहीं रह जायेगा। परन्तु इस योग में हमारे सामने एक अधिक कठिन समस्या उपस्थित है, वह यह है कि हमें अपने कर्म में किसी प्रकार की कमी किये बिना उसे समग्र रूप में, यहांतक कि पहले से अधिक विशाल और शक्तिशाली रूप में, करना है, एक ऐसा कर्म करना है जो सत्ता के पूर्ण आनन्द पर, अन्तरात्मा के करणों की प्रकृति तथा आत्मा की मूल प्रकृति की विशुद्धता पर प्रतिष्ठित हो। मन, हृदय, प्राण और शरीर को भगवान् के कार्यों को करना है, जिन कार्यों को वे इस समय करते हैं उन सभी को और उनसे भी अधिक कार्यों को, पर करना है दिव्य ढंग से जैसा कि इस समय वे नहीं करते। पूर्णता के अन्वेषक को यह भली-भांति हृदयंगम कर लेना होगा कि उसके सामने जो समस्या है उसका प्रमुख रूप यही है कि उसका लक्ष्य अभावात्मक, निषेधक,

निष्क्रिय या शान्तिमय पवित्रता नहीं, बल्कि भावात्मक, विधेयात्मक तथा सक्रिय पवित्रता प्राप्त करना है। दिव्य शान्ति से उसे परमात्मा के परम पवित्र सनातन स्वरूप की उपलब्धि होती है, दिव्य क्रियाशीलता इस उपलब्धि में अन्तरात्मा, मन और शरीर की सत्य, विशुद्ध एवं अस्खलनशील क्रिया को भी जोड़ देती है।

अपिच, सर्वांगीण सिद्धि हमसे जिस शुद्धि की मांग करती है वह समस्त जटिल करणों की, प्रत्येक करण के सभी भागों की पूर्ण शुद्धि ही है। अन्तिम रूप से देखा जाये तो यह नैतिक प्रकृति की अधिक संकीर्ण नैतिक शुद्धि नहीं है। नैतिकता का सम्बन्ध केवल हमारे कामनामय पुरुष से तथा हमारी सत्ता के सक्रिय बाह्य शक्तिप्रधान भाग से ही है; इसका क्षेत्र चरित्र और कर्मतक ही सीमित है। यह कुछ-एक विशेष कार्यों, विशेष कामनाओं, आवेगों तथा प्रवृत्तियों का निषेध एवं दमन करती है,—यह कार्य में कुछ-एक विशेष गुणों को, जैसे सत्य, प्रेम, उदारता, करुणा तथा ब्रह्मचर्य को अपनाने की शिक्षा देती है। जब यह हमारी सत्ता में इतना कार्य सिद्ध करा लेती है और पुण्य कर्म का एक सुनिश्चित आधार करा लेती है, अर्थात् जब हम शुद्ध संकल्प तथा कार्य करने के निर्दोष स्वभाव से सम्पन्न हो जाते हैं तो इस (नैतिकता) का कार्य समाप्त हो जाता है। परन्तु सर्वांगीण सिद्धि से सम्पन्न सिद्ध को शुभ और अशुभ से परे परमात्मा की सनातन पवित्रता के विशालतर स्तर में निवास करना होगा। उतावली से परिणाम निकालनेवाली अविवेकपूर्ण बुद्धि "शुभ और अशुभ से परे" इस उक्ति का अर्थ अपनी ही कल्पना से ऐसा करने में प्रवृत्त होगी कि सिद्ध पुरुष शुभ और अशुभ कार्यों को उदासीन भाव से करेगा तथा यह घोषणा करेगा कि आत्मा के निकट इन दोनों में कोई भेद नहीं है; वैयक्तिक कर्म के क्षेत्र में यह अर्थ स्पष्टतः ही असत्य होगा और सम्भवतः अपूर्ण मानव-प्रकृति की स्वच्छन्द भोगवृत्ति पर पर्दा डालने का काम करेगा, पर असल में इस उक्ति का अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि चूंकि शुभ और अशुभ इस जगत् में एक-दूसरे के साथ सुख और दुःख के समान अविच्छेद्य रूप में उलझे हुए हैं,—यह एक ऐसी स्थापना है जो इस समय कैसी भी सच्ची क्यों न हो तथा एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में कितनी भी युक्तियुक्त क्यों न दीखती हो, तो भी महत्तर आध्यात्मिक विकास को प्राप्त हुए मनुष्य के बारे में इसका सच्चा होना आवश्यक नहीं,—अतएव, मुक्त व्यक्ति आत्मा में निवास करेगा और अनिवार्यतः—अपूर्ण प्रकृति की सतत यान्त्रिक क्रियाओं से पीछे हटकर अपने अन्दर ही स्थित रहेगा। यह समस्त कार्य-व्यापार के अन्तिम निरोध की दिशा में एक अवस्था के रूप में भले ही सम्भव हो, पर स्पष्टतः ही, यह सक्रिय सिद्धि का आदर्श तो नहीं है। परन्तु शुभ और अशुभ से परे होने का अर्थ यह है कि सर्वांगीण सक्रिय सिद्धि से सम्पन्न सिद्ध व्यक्ति भागवत आत्मा की परात्पर शक्ति की क्रिया में सक्रिय रूप से जीवन धारण करेगा। यह शक्ति

ऐसे सिद्ध पुरुष के अन्दर अपने कार्य के लिये अतिमानस को व्यक्तिभावापन्न रूप देकर इसके द्वारा विराट् संकल्पशक्ति के रूप में कार्य करती है। अतएव, ऐसे सिद्ध पुरुष के कर्म सनातन ज्ञान, सनातन सत्य, सनातन शक्ति, सनातन प्रेम और सनातन आनन्द के कर्म होंगे; किन्तु वह जो भी कार्य करेगा, सत्य, ज्ञान, शक्ति, प्रेम और आनन्द उस कार्य का सम्पूर्ण मूल भाव होंगे और ये सब तत्त्व उस कार्य के बाह्य रूप पर निर्भर नहीं करेंगे; ये ही अन्तःस्थ भावात्मा से उसके कार्य का निर्धारण करेंगे, पर कार्य भावात्मा का निर्धारण नहीं करेगा, न ही यह इसे काम करने के किसी नियत आदर्श या कठोर सांचे के अनुसार ढालेगा। उसके अन्दर किसी निरे चारित्रिक अभ्यास का प्रभुत्व नहीं होगा, बल्कि होगा केवल आध्यात्मिक अस्तित्व एवं संकल्प जिसके साथ बहुत हुआ तो कार्य के लिये एक स्वतन्त्र एवं नमनीय स्वभावात्मक सांचा भी रहेगा। उसका जीवन सीधे ही सनातन स्रोत से निकलते हुए एक प्रवाह के समान होगा, यह कोई ऐसा रूप नहीं होगा जो किसी अस्थायी मानवीय सांचे के अनुसार गढ़ा गया हो। उसकी पूर्णता किसी प्रकार की सात्त्विक शुद्धि नहीं होगी, बल्कि एक ऐसी चीज होगी जो प्रकृति के गुणों से ऊपर उठी होगी, आध्यात्मिक ज्ञान, आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक आनन्द, एकत्व तथा तज्जनित सामञ्जस्य की पूर्णता होगी; उसके कर्मों की बाह्य पूर्णता इस आन्तर आध्यात्मिक परात्परता और विश्वमयता की अभिव्यक्ति के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक गठित होगी। इस परिवर्तन के लिये उसे अपने भीतर आत्मा और अतिमानस की उस शक्ति को सचेतन करना होगा जो इस समय हमारे मन के लिये अतिचेतन है। परन्तु यह शक्ति उसके अन्दर अपना कार्य तबतक नहीं कर सकती जबतक उसकी वर्तमान मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक सत्ता अपनी प्रकृत निम्न क्रिया से मुक्त न हो जाये। अतएव, निम्न सत्ता की इस प्रकार की शुद्धि करना सबसे पहले आवश्यक है।

दूसरे शब्दों में, हमें शुद्धि का कोई ऐसा सीमित अर्थ नहीं लेना चाहिये कि किन्हीं बाह्य रजोगुणी चेष्टाओं को चुनकर उन्हें नियमित करना, अन्य सब कार्यों का निषेध करना अथवा चरित्र के कुछ-एक रूपों या किन्हीं विशेष मानसिक एवं नैतिक क्षमताओं को उन्मुक्त करना—इसीका नाम शुद्धि है। ये चीजें तो हमारी निर्मित सत्ता के गौण लक्षण हैं, मूलभूत शक्तियां एवं प्रमुख बल नहीं। हमें अपनी प्रकृति की मौलिक शक्तियों के विषय में एक अधिक विशाल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना होगा। हमें अपनी सत्ता के गठित भागों को मूल सत्ता से पृथक् रूप में स्पष्टतया जानना होगा, उनकी अशुद्धता या अशुद्ध क्रिया-रूपी मूल त्रुटि को ढूंढ़कर सुधारना होगा। यह निश्चय रखते हुए कि शेष सब फिर स्वभावतः ही ठीक हो जायेगा। हमारा कर्तव्य अशुद्धता के बाह्य लक्षणों का निदान करना नहीं है, अथवा यदि यह कार्य करना भी हो तो केवल गौणतया, एक सामान्य सहायक साधन के

रूप में ही करना होगा,—पर हमारा मुख्य कार्य है इसका बहुत गहरा निदान करके इसकी जड़ों पर कुठाराघात करना। गहरा निदान करने पर हमें पता चलता है कि अशुद्धता के दो रूप हैं जो सम्पूर्ण अव्यवस्था की जड़ हैं। उनमें से एक तो वह है जिसे हमारे अतीत विकास के स्वरूप से अर्थात् भेदमूलक अज्ञान के स्वरूप से उत्पन्न हुई त्रुटि कह सकते हैं; अपनी करणात्मक सत्ता के प्रत्येक भाग की विशिष्ट क्रिया को हम जो मूलतः अयथार्थ एवं अज्ञानमय रूप दे देते हैं वही इस त्रुटि या अशुद्धता का स्वरूप है। दूसरी अशुद्धता विकास की क्रमिक प्रक्रिया से उत्पन्न होती है, क्योंकि इस प्रक्रिया में प्राण शरीर में प्रकट होता है तथा उसीपर निर्भर करता है, मन शरीरस्थ प्राण में प्रकट होता है और उसपर निर्भर करता है, अतिमानस मन में उद्‌भूत होता है तथा उसपर शासन करने के स्थान पर उसीका सहायक बन जाता है, स्वयं अन्तरात्मा भी मनोमय प्राणी के शारीरिक जीवन की एक घटना के रूप में ही प्रतीत होता है और आत्मा को निम्नतर अपूर्णताओं में ढक देता है। हमारी प्रकृति की यह दूसरी त्रुटि निम्नतर भागों के प्रति उच्चतर भागों की इस अधीनता से उत्पन्न होती है; यह (त्रुटि) कार्यों का एक प्रकार का मिश्रण (धर्मसंकर) ही है जिसके द्वारा निम्न करण की अशुद्ध क्रिया उच्चतर करण की विशिष्ट क्रिया में घुस जाती है और इसके अन्दर जटिलता, अशुद्ध दिशा एवं अव्यवस्था-रूपी एक और अपूर्णता की वृद्धि कर देती है।

इस प्रकार जीवन-तत्त्व किंवा प्राणशक्ति की अपनी विशिष्ट क्रिया उपभोग और प्राप्ति है, ये दोनों ही चीजें पूर्णतया उचित हैं, क्योंकि परमात्मा ने जगत् की रचना आनन्द के लिये ही की थी। आनन्द का मतलब है एक के द्वारा बहु का, बहु के द्वारा एक का तथा बहु के द्वारा बहु का उपभोग एवं उसकी प्राप्ति; पर भेदजनक अज्ञान इस आनन्द को कामना एवं वासना का असत्य रूप दे देता है, यह कामना एवं वासना समस्त उपभोग एवं प्राप्ति को कलुषित करके इसपर इसके विरोधी रूपों अर्थात् अभाव और दुःख को थोप देती है—यह पहले प्रकार की त्रुटि (अशुद्धि) का उदाहरण है। फिर, क्योंकि मन जिस प्राण में से विकसित होता है उसीमें उलझ जाता है, यह कामना और वासना मानसिक संकल्प और ज्ञान की क्रिया में मिश्रित हो जाती हैं; यह मिश्रण संकल्प को बुद्धि-नियत संकल्प के और बुद्धिमत्तापूर्ण परिणाम उत्पन्न करने में सक्षम विवेकपूर्ण शक्ति के स्थान पर वासनामय संकल्प एवं कामनामय शक्ति बना देता है, और यह निर्णय-शक्ति तथा तर्कबुद्धि को विकृत कर देता है। परिणामतः हम अपनी कामनाओं और पूर्व धारणाओं के अनुसार ही निर्णय और तर्क-वितर्क करते हैं न कि शुद्ध निर्णय-शक्ति की निःस्वार्थ निष्पक्षता तथा एक ऐसी बुद्धि की यथार्थता के साथ जो केवल सत्य को स्पष्ट रूप में जानना तथा इसकी क्रियाओं के लक्ष्यों को ठीक-ठीक समझना चाहती है। यह मिश्रण का एक उदाहरण है। ये दो प्रकार की त्रुटियां, अर्थात् क्रिया का अशुद्ध रूप और क्रिया का अनुचित मिश्रण, इन विशेष दृष्टान्तोंतक ही सीमित नहीं हैं;

बल्कि सभी करणों से तथा उनकी क्रियाओं के प्रत्येक मिश्रण से सम्बन्ध रखती हैं। ये हमारी प्रकृति की सम्पूर्ण मितव्ययतापूर्ण व्यवस्था में ओतप्रोत हैं। ये हमारी निम्नतर करणात्मक प्रकृति की मूलभूत त्रुटियां हैं, और यदि हम इन्हें सुधार सकें, तो हमारी करणात्मक सत्ता अपनी शुद्ध स्थिति में पहुंच जायेगी और हम शुद्ध संकल्प की निर्मलता तथा शुद्ध भावमय हृदय का, अपने प्राण के शुद्ध भोग एवं शुद्ध काया का आनन्दोपभोग करेंगे। यह प्रारम्भिक अर्थात् मानवीय पूर्णता होगी, पर इसे दिव्य पूर्णता का आधार बनाया जा सकता है तथा आत्मोपलब्धि के प्रयत्न में यह एक महत्तर एवं दिव्य पूर्णता की ओर खुल सकती है।

मन, प्राण और शरीर हमारी निम्न प्रकृति की तीन शक्तियां हैं। परन्तु इन्हें बिलकुल पृथक्-पृथक् रूप में नहीं लिया जा सकता, क्योंकि प्राण एक जोड़नेवाली कड़ी के रूप में कार्य करता है और शरीर को तथा एक बड़ी हदतक हमारे मन को भी अपना स्वभाव दे देता है। हमारा शरीर एक प्राणयुक्त शरीर है; प्राण-शक्ति इसकी सभी क्रियाओं में मिल जाती है तथा उन्हें निर्धारित करती है। हमारा मन भी अधिकांश में प्राणप्रधान मन है जो भौतिक संवेदन को ही ग्रहण करता है; अपने उच्चतर व्यापारों में ही यह स्वाभाविक रूप से, प्राणग्रस्त स्थूल मन की क्रियाओं से अधिक बड़ी कोई क्रिया कर सकता है। इन करणों को हम इस चढ़ती हुई क्रम-शृंखला में रख सकते हैं। सबसे पहले है हमारा शरीर जिसे भौतिक प्राणशक्ति अर्थात् स्थूल प्राण धारण किये है; यह प्राण सम्पूर्ण स्नायुमण्डल में गति करता है और हमारे शरीर के कार्य पर अपनी छाप लगा देता है। परिणामस्वरूप, इसके सभी कार्य किसी जड़-यान्त्रिक शरीर की नहीं, बल्कि एक सजीव शरीर की क्रिया का स्वभाव धारण किये रहते हैं। प्राण और भौतिक सत्ता इन दोनों के मेल से स्थूल शरीर बनता है। यह केवल बाह्य करण है, इसमें प्राण की स्नायविक शक्ति स्थूल-भौतिक इन्द्रियों से युक्त शरीर के रूप में कार्य करती है। इसके बाद आता है आभ्यन्तरिक करण, **अन्तःकरण**, चेतन मन। प्राचीन दर्शन में इस अन्तःकरण को चार शक्तियों में विभक्त किया गया है; **चित्त** या आधारभूत मानसिक चेतना; **मन** अर्थात् इन्द्रियाश्रित मन; **बुद्धि, अहंकार** अर्थात् अहं-भावना। यह वर्गीकरण आरम्भबिन्दु का काम कर सकता है, यद्यपि एक अधिक महान् क्रियात्मक प्रयोजन के लिये हमें कुछ और भेद करने होंगे। यह मन प्राणशक्ति से व्याप्त है जो कि सूक्ष्म प्राणमय चेतना के लिये तथा प्राण पर सूक्ष्म क्रिया के लिये यहां एक यन्त्र बनकर रहती है। इन्द्रियाश्रित मन और आधारभूत चेतना (चित्त) का एक-एक रेशा इस सूक्ष्म प्राण की क्रिया से ओतप्रोत है, यह स्नायविक या प्राणिक एवं भौतिक मन है। यहांतक कि बुद्धि और अहंकार भी इस प्राण से अभिभूत हैं, यद्यपि इनके अन्दर मन को इस प्राणिक, स्नायविक एवं स्थूल-मानसिक भूमिका के बन्धन से ऊपर उठाने की शक्ति विद्यमान है। यह स्थूल तथा सूक्ष्म प्राण, चित्त और

इन्द्रियाश्रित मन मिलकर हमारे अन्दर सम्वेदनप्रधान कामनामय पुरुष को जन्म देते हैं; यह कामनामय पुरुष उच्चतर मानवीय पूर्णता तथा इससे भी महान् दैवी पूर्णता की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है। अन्त में, हमारे वर्तमान चेतन मन के ऊपर एक गुह्य अतिमानस है जो इस दिव्य पूर्णता का वास्तविक साधन एवं निज धाम है।

चित्त अर्थात् आधारभूत चेतना अधिकांश में अवचेतन है; इसकी, प्रकट और गुप्त, दो प्रकार की क्रियाएं होती हैं, उनमेंसे एक में यह निष्क्रिय या ग्रहणशील होता है और दूसरी में सक्रिय या प्रतिक्रियाशील एवं रचनाकारी। एक निष्क्रिय शक्ति के रूप में यह सभी बाह्य स्पर्शों को ग्रहण करता है, उनको भी जिनका अनुभव मन को नहीं होता या जिनकी ओर वह ध्यान नहीं देता। उन सब स्पर्शों को यह निष्क्रिय अवचेतन स्मृति के बृहत् भण्डार में सञ्चित कर रखता है। मन एक सक्रिय स्मृति-शक्ति के रूप में इस भण्डार में से उन्हें प्राप्त कर सकता है। पर साधारणतः मन इनमें से उसी चीज को ग्रहण करता है जिसे इसने उसके प्रथम स्पर्श के समय ध्यानपूर्वक देखा और समझा था,—जिसे इसने अच्छी तरह देखा तथा ध्यानपूर्वक समझा था उसे तो अधिक आसानी से ग्रहण करता है और जिसे इसने ध्यानपूर्वक नहीं देखा था या अच्छी तरह नहीं समझा था उसे कम आसानी से; साथ ही, चेतना के अन्दर यह शक्ति भी है कि सक्रिय मन ने जिस चीज को बिल्कुल ही नहीं देखा था या जिसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया था अथवा जिसे सचेत रूप में अनुभवतक नहीं किया था उसे भी यह प्रयोग के लिये उपरितल पर मन के पास भेज सकती है। यह शक्ति उन असामान्य अवस्थाओं में ही प्रत्यक्ष रूप से कार्य करती है जब अवचेतन चित्त का कोई भाग मानो ऊपरी तल पर आ जाता है अथवा जब हमारे अन्दर की प्रच्छन्न सत्ता प्रकट होकर मन की ड्योढ़ी पर आ खड़ी होती है और कुछ समय के लिये मन के बाह्य प्रकोष्ठ की हलचल में कुछ भाग लेती है जहां कि बाह्य जगत् के साथ हमारा सीधा व्यवहार एवं आदान-प्रदान चलता है और अपने साथ हमारे आभ्यन्तरिक व्यवहार उपरितल पर प्रस्फुटित होते हैं। स्मृति-शक्ति की यह क्रिया सम्पूर्ण मानसिक व्यापार के लिये इतनी मौलिक रूप से आवश्यक है कि कभी-कभी यह कहा जाता है—स्मरणशक्ति ही मनुष्य है। यहांतक कि शरीर और प्राण की अवमानसिक क्रिया में भी, जो चेतन मन के नियन्त्रण में न रहती हुई भी इस अवचेतन चित्त की क्रिया से परिपूर्ण है, एक प्रकार की प्राणिक एवं शारीरिक स्मृति कार्य करती है। प्राण और शरीर के अभ्यास अधिकांश में इस अवमानसिक स्मरणशक्ति के द्वारा ही निर्मित होते हैं। इस कारण इन्हें चेतन मन और संकल्प की अधिक शक्तिशाली क्रिया के द्वारा अनिश्चित सीमातक बदला जा सकता है, पर ऐसा तभी हो सकता है जब चेतन मन एवं संकल्प विकसित होकर प्राणिक और शारीरिक कार्य के नये नियम के लिये आत्मा के संकल्प को अवचेतन चिततक पहुंचाने का साधन प्राप्त करने में सफल

हो जाये। अपिच, हमारे प्राण और शरीर की सम्पूर्ण रचना का वर्णन इस रूप में किया जा सकता है कि यह आदतों का गट्ठर है। ये आदतें अतीत प्राकृतिक विकास से निर्मित हुई हैं और इस गुप्त चेतना की सुस्थिर स्मृति के द्वारा एक साथ सुरक्षित रखी गयी हैं। क्योंकि, प्राण और शरीर के समान चित्त अर्थात् चेतना का मौलिक उपादान भी विश्व-प्रकृति में सर्वत्र व्याप्त है, पर जड़ात्मक प्रकृति में यह अवचेतन और यान्त्रिक है।

किन्तु वास्तव में मन या अन्तःकरण की समस्त क्रिया इस चित्त या आधारभूत चेतना में से उद्भूत होती है, यह चेतना हमारे सक्रिय मन के लिये कुछ अंश में तो चेतन है और कुछ अंश में अवचेतन या प्रच्छन्न। जब इसपर बाहर से जगत् के सम्पर्कों का आघात पड़ता है अथवा जब यह स्वानुभवात्मक अन्तःसत्ता की चिन्तनात्मक शक्तियों से प्रेरित होती है तो यह कुछ विशेष प्रकार की अभ्यस्त क्रियाओं को उपरितल पर फेंकती है। इन क्रियाओं का सांचा हमारे विकास के द्वारा निर्धारित हुआ होता है। क्रिया के इन रूपों में से एक है भावप्रधान मन,—सुविधाजनक संक्षेप के लिये हम इसे हृदय कह सकते हैं। हमारे भावावेग प्रतिक्रिया और प्रत्युत्तर की तरंगें, **चित्तवृत्तियां**, हैं जो आधारभूत चेतना से उठती हैं। उनकी क्रिया भी अधिकांश में अभ्यास और भावमय स्मृति के द्वारा नियन्त्रित होती है। वे कोई अलंघ्य सत्य नहीं हैं, अटल नियम नहीं हैं; हमारी भावमय सत्ता का ऐसा एक भी नियम नहीं है जो हमारे लिये वस्तुतः अनिवार्य हो तथा जिसके अधीन होने के सिवा हमारे लिये और कोई चारा न हो; हम इस बात के लिये बाध्य नहीं हैं कि मन पर पड़नेवाले अमुक आघातों के प्रति शोक के रूप में प्रतिक्रिया करें तथा अमुक आघातों के प्रति क्रोध के रूप में, किन्हीं अन्य आघातों के प्रति घृणा या विद्वेष के रूप में प्रतिक्रिया करें एवं किन्हीं और के प्रति पसन्दगी या प्रेम के रूप में। ये सब चीजें तो हमारे भावना-प्रधान मन के अभ्यासमात्र हैं; इन्हें आत्मा के सचेतन संकल्प के द्वारा बदला जा सकता है; इनका दमन किया जा सकता है; यहांतक कि हम शोक, क्रोध एवं घृणा के प्रति तथा रुचि और अरुचि के द्वंद्व के प्रति समस्त अधीनता से सर्वथा ऊपर भी उठ सकते हैं। इन चीजों के दास हम तभीतक रहते हैं जबतक हम भावप्रवण मन में होनेवाली चित्त की यान्त्रिक क्रिया के अधीन बने रहते हैं, पर यह एक ऐसी क्रिया है जिससे मुक्त होना अतीत अभ्यास की शक्ति के कारण और विशेषकर मन के प्राणिक भाग अर्थात् स्नायविक प्राणप्रधान मन या सूक्ष्म प्राण के अति दृढ़ आग्रह के कारण कठिन है। भावप्रधान मन की यह प्रकृति चित्त की एक प्रकार की प्रतिक्रिया ही है, इसमें वह स्नायविक प्राण-सम्वेदनों पर और सूक्ष्म प्राण की प्रतिक्रियाओं पर एक प्रकार से घनिष्ठ रूप में निर्भर करता है, उसकी यह प्रकृति एक इतनी विशिष्ट प्रकृति है कि कुछ भाषाओं में उसे चित्त और प्राण, हृदय एवं प्राणमय पुरुष कहा

जाता है। निःसन्देह, वह कामनामय पुरुष की एक अत्यन्त प्रत्यक्षतः उत्तेजक तथा प्रबलतया आग्रहपूर्ण क्रिया है जिसे प्राणिक कामना और प्रतिक्रियाशील चेतना के मिश्रण ने हमारे अन्दर जन्म दिया है। किन्तु फिर भी सच्चा भावप्रधान पुरुष, हमारे अन्दर का सच्चा चैत्य, कोई कामनामय पुरुष नहीं, बल्कि शुद्ध प्रेम और आनन्द से युक्त पुरुष है; पर हमारी शेष सच्ची सत्ता के समान वह भी तभी प्रकट हो सकता है जब कामनामय जीवन के द्वारा उत्पन्न विकृति ऊपरी सतहपर से मिट जाये और पहले की तरह हमारी सत्ता की एक विशिष्ट क्रिया न रहे। इस कार्य को सम्पन्न कराना हमारी शुद्धि, मुक्ति और सिद्धि का एक आवश्यक अंग है।

सूक्ष्म प्राण की स्नायविक क्रिया हमारे शुद्ध सम्वेदनात्मक मन में अत्यन्त प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत होती है। यह स्नायविक मन वस्तुतः अन्तःकरण की समस्त क्रिया का पीछा करता है और बहुधा सम्वेदन से भिन्न अन्य मानसिक क्रियाओं के अधिक बड़े अंश का निर्माण करता प्रतीत होता है। भावावेगों पर यह विशेष रूप से आक्रमण करता है और उनपर प्राण की छाप लगा देता है; यहांतक कि भय भावावेग की अपेक्षा कहीं अधिक एक स्नायविक सम्वेदन है, क्रोध अधिकांश में या बहुधा ही एक सम्वेदनात्मक प्रत्युत्तर होता है जो भावावेश के रूप में परिणत हो जाता है। अन्य भाव अधिकांश में हृदय के अर्थात् अधिक अन्तरीय होते हैं, पर वे सूक्ष्म प्राण की स्नायविक और भौतिक लालसाओं या आवेगपूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। प्रेम हृदय का एक आवेग है और एक शुद्ध भाव हो सकता है,—क्योंकि हम देहाधिष्ठित मन हैं, समस्त मानसिक क्रिया को जीवन पर किसी प्रकार का प्रभाव तथा शरीर के उपादान-तत्त्व में कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न करनी ही चाहिये, यहांतक कि विचार भी कोई ऐसा प्रभाव एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, पर यह आवश्यक नहीं कि वे प्रभाव और प्रतिक्रिया इसी कारणवश भौतिक ढंग के ही हों,—किन्तु हृदय का प्रेम शरीर में रहनेवाली प्राणिक कामना के साथ सहज में ही सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस भौतिक तत्त्व को शारीरिक कामना के प्रति उस दासता से जिसे कामवासना कहते हैं, मुक्त एवं शुद्ध किया जा सकता है, यह एक ऐसा प्रेम बन सकता है जो शरीर का प्रयोग भौतिक तथा मानसिक एवं आध्यात्मिक समीपता के लिये करे; पर यह भी सम्भव है कि प्रेम अपने-आपको सब चीजों से, यहांतक कि अत्यन्त निर्दोष भौतिक तत्त्व से भी या इसकी छाया के सिवा सभी चीजों से पृथक् करके आत्मा के साथ आत्मा एवं चैत्य के साथ चैत्य के मिलन के लिये एक शुद्ध क्रिया बन जाये। तथापि सम्वेदनप्रधान मन का अपना विशेष धर्म भावावेश नहीं है, बल्कि सचेतन स्नायविक प्रत्युत्तर एवं स्नायविक भाव-भावना है, स्थूल इन्द्रिय और शरीर को किसी कार्य के लिये प्रयुक्त करने का आवेग है, सचेतन प्राणिक लालसा और कामना है। एक पहलू तो है ग्रहणशील प्रत्युत्तर का और दूसरा है शक्तिशाली

प्रतिक्रिया का। इन चीजों का अपना विशेष स्वाभाविक उपयोग तभी होता है जब उच्चतर मन यान्त्रिक रूप से इनके अधीन न होकर इनकी क्रिया को नियन्त्रित एवं व्यवस्थित करता है। किन्तु इससे भी ऊंची अवस्था वह होती है जब ये आत्मा के सचेतन संकल्प के द्वारा एक प्रकार का रूपान्तर प्राप्त कर लेती हैं; यह संकल्प सूक्ष्म प्राण को उसकी विशिष्ट क्रिया का अशुद्ध या कामनामय रूप नहीं, बल्कि यथार्थ रूप प्रदान करता है।

हमारी साधारण चेतना में मन अर्थात् इन्द्रियाश्रित मन ज्ञानप्राप्ति के लिये तो बाह्य स्पर्शों को ग्रहण करनेवाली स्थूल ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर करता है और इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिये किये जानेवाले कार्य के लिये शरीर की कर्मेन्द्रियों पर। इन्द्रियों के स्थूल एवं बाह्य कार्य का स्वरूप भौतिक एवं स्नायविक होता है, और इन्हें सहज में ही स्नायुओं की क्रिया के परिणाममात्र समझा जा सकता है; प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें कहीं-कहीं **प्राणाः** अर्थात् स्नायविक या प्राणिक क्रियाएं भी कहा गया है। किन्तु फिर भी उनके अन्दर जो सारभूत वस्तु है वह कोई स्नायविक उत्तेजना नहीं, वरन् एक चेतना है अर्थात् चित्त की एक क्रिया है जो हमारी इन्द्रिय का तथा इस इन्द्रिय-रुपी माध्यम से प्राप्त होनेवाले स्नायविक स्पर्श का उपयोग करती है। मन अर्थात् इन्द्रियाश्रित मन एक ऐसी क्रिया है जो आधारभूत चेतना से उद्‌भूत होती है; जिसे हम इन्द्रिय कहते हैं उसका सम्पूर्ण सारतत्त्व इस क्रिया में ही निहित है। देखना, सुनना, चखना, सूंघना और छूना वास्तव में शरीर के नहीं मन के गुण हैं; परन्तु स्थूल मन, जिसका हम साधारणतया प्रयोग करते हैं, स्नायुमण्डल तथा स्थूल इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए बाह्य स्पर्शोंतक ही अपने को सीमित रखकर उन्हींको इन्द्रियानुभव का रूप देता है। परन्तु आभ्यन्तरिक मन में भी देखने, सुनने और विषय के साथ सम्पर्क स्थापित करने की अपने ढंग की एक सूक्ष्म शक्ति है जो स्थूल इन्द्रियों पर अवलम्बित नहीं है। अपिच, इसमें स्थूल पदार्थ के साथ मन का सीधा सम्बन्ध एवं आदान-प्रदान स्थापित करने की शक्ति भी है—जो अपनी क्रिया की पराकाष्ठा होने पर भौतिक स्तर के भीतर या परे की वस्तु के अन्तर्निहित तत्त्वों का बोधतक प्राप्त करा देती है,—इतना ही नहीं, वरन् इसमें मन का मन के साथ सीधा सम्बन्ध एवं आदान-प्रदान स्थापित कर देने की शक्ति भी है। इन्द्रियों पर (बाह्य जगत् के) जो आघात होते हैं उनके क्षेत्र को, उनके मूल्यों और वेगों को मन परिवर्तित, संशोधित तथा नियन्त्रित भी कर सकता है। साधारणतया हम मन की इन शक्तियों का प्रयोग या विकास नहीं करते; ये अन्तःसत्ता में प्रच्छन्न रहती हैं और एक अनियमित तथा उत्तेजनात्मक क्रिया के रूप में कभी-कभी ही उद्‌भूत होती हैं, कुछ लोगों के मन में ये अन्यों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से प्रकट होती हैं, या फिर ये सत्ता की असामान्य अवस्थाओं में ही ऊपरी सतह पर आती हैं। दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवणशक्ति, विचार और आवेग का

स्थानान्तरण, दूरविचार-प्राप्ति, अधिक साधारण प्रकार की अनेकों गुह्य शक्तियां,—इन सबके मूल में (सूक्ष्म, आभ्यन्तर) एक मन की उक्त शक्तियां ही कार्य करती हैं। जिन शक्तियों को गुह्य कहते हैं उन्हें अधिक अच्छे ढंग से, एक अपेक्षाकृत कम रहस्यमय रूप में यों वर्णित किया जाता है कि ये मन की अद्यावधि प्रच्छन्न क्रिया की शक्तियां हैं। सम्मोहन-वशीकरण के तथा और भी बहुत से दृग्विषय इन्द्रियाश्रित मन की इस प्रच्छन्न क्रिया पर आधार रखते हैं, यह मतलब नहीं कि इन दृग्विषयों के सभी तत्त्वों का गठन एकमात्र यही क्रिया करती है, पर पारस्परिक सम्बन्ध, आदान-प्रदान तथा प्रत्युत्तर का प्रथम आश्रयभूत साधन यही होती है, यद्यपि वास्तविक क्रिया का अधिकांश आन्तरिक बुद्धि से ही सम्बन्ध रखता है। भौतिक मन, अतिभौतिक मन—यह दोनों प्रकार का इन्द्रियाधिष्ठित मन हमारे अन्दर है और हम इसका उपयोग कर सकते हैं।

बुद्धि चेतन सत्ता की एक रचना है जो आधारभूत चित्त में से उत्पन्न हुए अपने आरम्भिक रूपों से सर्वथा परे है; यह ज्ञान और संकल्प की शक्ति से युक्त बुद्धि है। यह मन, प्राण और शरीर की शेष सब क्रियाओं को अपने हाथ में लेकर उन्हें निष्पन्न करने का यत्न करती है। यह स्वरूपतः आत्मा की विचार-शक्ति एवं संकल्प-शक्ति है जो मानसिक क्रिया के निम्न रूप में परिणत हो गयी है। इस बुद्धि की क्रिया को हम तीन क्रमिक भूमिकाओं में विभक्त कर सकते हैं। उनमेंसे पहली भूमिका है निम्न बोधात्मक समझ जो इन्द्रियाश्रित मन, स्मरण-शक्ति, हृदय और सम्वेदनात्मक मन के सन्देशों को केवल ग्रहण और अंकित करती है, समझती और प्रत्युत्तर देती है। इनकी सहायता से वह एक प्राथमिक चिन्तनात्मक मन को जन्म देती है जो इनके द्वारा प्राप्त तथ्यों के परे नहीं जाता, बल्कि अपने-आपको इनके सांचे के अनुसार ढाल लेता है और इनकी पुनरावृत्तियों को ही गुंजारित करता है, इनके सुझाये हुए विचार और संकल्प के अभ्यस्त घेरे में ही चक्कर काटता रहता है अथवा, प्राण के सुझावों के प्रति बुद्धि की आज्ञानुवर्तिता के साथ, ऐसे किन्हीं भी नये निर्धारणों का अनुसरण करता है जो उसके बोध और विचार के समक्ष प्रस्तुत हों। इस प्राथमिक बुद्धि का उपयोग तो हम सभी प्रचुर मात्रा में करते हैं; इसके परे बुद्धि के व्यवस्थाकारी या चयनशील विवेक एवं संकल्प की शक्ति है जिसका कार्य एवं लक्ष्य जीवन-विषयक बौद्धिक विचार के निमित्त ज्ञान और संकल्प की एक आपात-सत्य, उपयुक्त और सुस्थिर व्यवस्था को प्राप्त करने के लिये यत्न करना है।

इस गौण या मध्यवर्ती बुद्धि का स्वरूप अधिक विशुद्ध रूप में बौद्धिक होनेपर भी, इसका उद्देश्य वस्तुतः व्यावहारिक है। यह एक विशेष प्रकार की बौद्धिक रचना, ढांचे एवं नियम का निर्माण करती है जिसके अनुसार यह आभ्यन्तरिक एवं बाह्य जीवन को ढालने का यत्न करती है ताकि यह किसी प्रकार के बुद्धिमूलक

संकल्प के प्रयोजनों के लिये एक प्रकार के प्रभुत्व और अधिकार के साथ उसका (जीवनका) प्रयोग कर सके। यही बुद्धि हमारी सामान्य बौद्धिक सत्ता को हमारे नियत सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक मानदण्ड, हमारी गढ़ी-गढ़ायी सम्मतियां तथा विचार एवं उद्देश्यसम्बन्धी हमारे प्रचलित आदर्शमान प्रदान करती है। यह अत्यधिक विकसित है और सभी मनुष्यों में एकमात्र विकसित बुद्धि का प्रधान पद ग्रहण करती है। परन्तु इसके परे एक विवेक-बुद्धि है, बुद्धि की एक उच्चतम क्रिया है, जो निष्काम भाव से शुद्ध सत्य और यथार्थ ज्ञान की खोज में लगी रहती है; वह जीवन और जगत् तथा हमारी दृश्यमान सत्ताओं के पीछे वास्तविक सत्य को खोजने और अपनी इच्छाशक्ति को सत्य के नियम के अधीन करने का यत्न करती है। यदि हममें से कोई इस उच्चतम बुद्धि का प्रयोग किसी शुद्ध रूप में कर भी पाते हैं तो वे विरले ही होते हैं, किन्तु इसके लिये प्रयत्न करना अन्तःकरण की सबसे ऊंची क्षमता है।

बुद्धि वस्तुतः एक मध्यवर्ती भूमिका है; इसके ऊपर एक कहीं अधिक उच्च सत्यमानस है जो हमें इस समय सक्रिय रूप में उपलब्ध नहीं है, पर जो आत्मा का प्रत्यक्ष करण है; इसके नीचे शरीर में विकसित हुए मानव मन का स्थूल जीवन है। इसमें ज्ञान और संकल्प-सम्बन्धी जो शक्तियां हैं वे इसे महत्तर प्रत्यक्ष सत्य-मानस या अतिमानस से ही प्राप्त होती हैं। बुद्धि अहं-भावना को ही अपनी मानसिक क्रिया का केन्द्र बनाती है, वह भावना यह है कि मैं यह मन, प्राण और शरीर ही हूं अथवा इनकी क्रिया के द्वारा निर्धारित एक मनोमय सत्ता हूं। बुद्धि इस अहंभावना की सेवा करती है चाहे यह भावना हमारी अपनी अहंता किंवा अहमात्मक सत्ता के द्वारा सीमित हो अथवा अपने चारों ओर के जीवों के प्रति हमारी सहानुभूति के द्वारा विस्तृत हो। एक अहंबुद्धि पैदा हो जाती है जो शरीर, व्यक्तिभावापन्न प्राण तथा मानसिक प्रत्युत्तरों की भेदजनक क्रिया पर अपना आधार रखती है, और बुद्धि में रहनेवाली अहंभावना इस अहं के विचार, स्वभाव और व्यक्तित्व की सम्पूर्ण क्रिया का केन्द्र होती है। निम्न स्तर की समझ और मध्यवर्ती बुद्धि अनुभव और आत्म-विस्तार प्राप्त करने की इसकी कामना के यन्त्र हैं। परन्तु जब उच्चतम बुद्धि और इच्छाशक्ति का विकास हो जाता है तब हम उस तत्त्व की ओर मुड़ सकते हैं जिसे ये बाह्य वस्तुएं उच्चतर आध्यात्मिक चेतना के प्रति द्योतित करती हैं। तब अपने 'अहं' को आत्मा, परमात्मा, भगवान् किंवा एकमेव सत्ता के मानसिक प्रतिबिम्ब के रूप में देखा जा सकता है; यह एकमेव सत्ता परात्पर और विश्वमय होने के साथ-साथ अपने बहुत्व में व्यक्ति-रूप भी है; जिस चेतना में ये सब चीजें संयुक्त हो जाती हैं, एक ही सत्ता के पक्ष बनकर अपने यथार्थ सम्बन्धों को प्राप्त कर लेती हैं, उसे तब इन सब भौतिक तथा मानसिक आवरणों से मुक्त करके प्रकट किया जा सकता है। जब हम अतिमानस की भूमिका में पहुंचते हैं

तब बुद्धि की शक्तियां नष्ट नहीं हो जातीं, बल्कि उन सबको उनके अतिमानसिक मूल्यों में परिणत कर देना होता है। परन्तु अतिमानस का विवेचन एवं बुद्धि का रूपान्तर उच्चतर सिद्धि या दिव्य पूर्णता के प्रश्न से सम्बन्ध रखता है। इस समय हमें मनुष्य की सामान्य सत्ता की शुद्धि पर विचार करना है, यह शुद्धि उक्त प्रकार के किसी भी रूपान्तर की तैयारी के रूप में आवश्यक है तथा हमें अपनी निम्न प्रकृति के बन्धनों से मुक्त कराती है।

अध्याय ६

शुद्धि

निम्नतर मन की शुद्धि

हमें इन सब करणों की जटिल क्रिया पर विचार करके इनकी शुद्धि आरम्भ करनी होगी। और इसका सबसे सरल उपाय यह होगा कि हम प्रत्येक करण में विद्यमान दो प्रकार के मौलिक दोषों पर अपनी दृष्टि एकाग्र कर और उनका मूल स्वरूप स्पष्ट रूप में समझकर उन्हें सुधारें। परन्तु एक प्रश्न यह भी है कि हम आरम्भ कहां से करें। क्योंकि, हमारे करण एक-दूसरे के साथ अत्यधिक उलझे हुए हैं तथा किसी एक करण की पूर्ण शुद्धि अन्य सब करणों की पूर्ण शुद्धि पर भी निर्भर करती है, और यह कठिनाई, निराशा तथा परेशानी का एक बड़ा कारण है,—उदाहरणार्थ, जब हम समझते हैं कि हमने बुद्धि को शुद्ध कर लिया है, तब हम यही पाते हैं कि यह अभी भी अशुद्धताओं से आक्रान्त तथा आच्छन्न हो जाती है, क्योंकि हृदय के भावावेश और संकल्पशक्ति तथा सम्वेदनात्मक मन अभी भी निम्न प्रकृति की अनेक अशुद्धताओं से प्रभावित हो जाते हैं तथा वे अशुद्धियां आलोकित बुद्धि में पुनः घुस जाती हैं और हम जिस शुद्ध सत्य की खोज कर रहे हैं उसका प्रतिबिम्ब इसे ग्रहण नहीं करने देतीं। पर, दूसरी ओर, इस अवस्था का लाभ यह होता है कि जब एक महत्त्वपूर्ण करण पर्याप्त शुद्ध हो जाता है तो उसका उपयोग दूसरे करणों की शुद्धि के साधन के रूप में किया जा सकता है, यदि एक पग दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ा लिया जाये तो उससे अन्य सब पगों का उठाना अधिक आसान हो जाता है तथा अनेकों कठिनाइयों से भी छुटकारा प्राप्त हो जाता है। तो फिर वह कौन-सा करण है जो अपनी शुद्धि और पूर्णता के द्वारा शेष करणों की पूर्णता को अत्यन्त सुगम एवं प्रभावशाली रूप में साधित कर सकता है अथवा अत्यन्त प्रबल वेग के साथ इसमें सहायता पहुंचा सकता है ?

क्योंकि हम मन के कोष में आवृत आत्मा हैं, एक ऐसी अन्तरात्मा हैं जो यहां प्राणयुक्त स्थूल शरीर में मनोमय पुरुष के रूप में विकसित हुई है, अतएव हमें इस परम वांछनीय करण की खोज स्वभावतया अपने अन्तःकरण में ही करनी होगी। और अन्तःकरण में भी, स्पष्टतः ही, मनुष्य के लिये यह अभिमत है कि उसे वह सब कार्य बुद्धि एवं उसके संकल्प के द्वारा ही करना चाहिये जिसे भौतिक या स्नायविक प्रकृति उसके लिये नहीं करती, जैसा कि वह वनस्पति और पशु में करती है। जबतक किसी उच्चतर अतिमानसिक शक्ति का विकास नहीं हो जाता तबतक बुद्धिमूलक संकल्प ही हमारी कार्यसिद्धि के लिये मुख्य साधनबल है और

अतएव, इसे शुद्ध करना हमारा अत्यन्त प्रमुख रूप से आवश्यक कार्य हो जाता है। एक बार जब हमारी बुद्धि और संकल्पशक्ति उन सब चीजों से मुक्त होकर भली-भांति शुद्ध हो जाती हैं जो उन्हें सीमित करके उनसे अशुद्ध क्रिया कराती हैं या उन्हें अशुद्ध दिशा प्रदान करती हैं तब उन्हें सुगमता से पूर्ण बनाया जा सकता है, साथ ही उन्हें इस योग्य भी बनाया जा सकता है कि वे सत्य के सुझावों का प्रत्युत्तर दे सकें, अपने-आपको तथा शेष सारी सत्ता को समझ सकें, जो कार्य वे कर रहे हों उसे स्पष्ट रूप से तथा सूक्ष्म एवं विवेकपूर्ण यथार्थता के साथ देख सकें और द्विविधा या आतुरता से युक्त किसी भ्रान्ति या किसी स्खलनशील विच्युति के बिना उस कार्य को करने के ठीक मार्ग का अनुसरण कर सकें। अन्त में उनकी प्रतिक्रिया को अतिमानस की पूर्ण विवेक-दृष्टियों तथा उसके अन्तर्ज्ञानों, अन्तः-प्रेरणाओं और सत्यदर्शनों की ओर खोला जा सकता है, तथा उसका विकास एक अधिकाधिक प्रकाशमय और यहांतक कि निर्भ्रान्त क्रिया के द्वारा साधित हो सकता है। परन्तु अन्तःकरण के अन्य निम्नतर भागों में शुद्धिसम्बन्धी जो प्राकृतिक बाधाएं हैं उन्हें आरम्भिक रूप से दूर किये बिना बुद्धिप्रधान संकल्प की शुद्धि साधित नहीं की जा सकती, और अन्तःकरण की सम्पूर्ण क्रिया में अर्थात् इन्द्रिय-बोध, मानसिक सम्वेदन, भावावेश, क्रियाशील आवेग, बुद्धि और संकल्प में रहनेवाली मुख्य प्राकृतिक बाधा सूक्ष्म प्राण का मिश्रण तथा उसकी प्रबल मांग है। अतएव इस प्राण से निपटना होगा, इसके प्रबल मिश्रण को बहिष्कृत करके इसकी मांग का निषेध करना होगा तथा इसे शान्त करके शुद्धि के लिये तैयार करना होगा।

यह कहा ही जा चुका है कि प्रत्येक करण की अपनी एक विशेष और उचित क्रिया होती है और साथ ही उसकी विशेष क्रिया का एक विकृत रूप एवं अशुद्ध सिद्धान्त भी होता है। सूक्ष्म प्राण की अपनी विशेष क्रिया है शुद्ध प्राप्ति और भोग। यह प्राण जिस क्रिया के लिये हमें सूक्ष्म भौतिक आधार प्रदान करता है वह है—विचार, संकल्प, कर्म और क्रियाशील आवेग का एवं कर्म के परिणाम, भावावेश, इन्द्रियबोध और सम्वेदन का उपभोग करना तथा इनकी सहायता से पदार्थों और व्यक्तियों एवं जीवन और जगत् का भी उपभोग करना। जगत् का वस्तुतः पूर्ण उपभोग हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब हम स्वयं जगत् का या जगत् के लिये जगत् का उपभोग करने के स्थान पर उसमें विद्यमान ईश्वर का उपभोग करें, जब स्थूल पदार्थ नहीं, बल्कि उनमें विद्यमान आत्मा का आनन्द ही हमारे उपभोग का वास्तविक एवं मूल विषय होता है और जब पदार्थ तो केवल आत्मा का ही एक रूप एवं प्रतीक किंवा आनन्द के सागर की लहरें मात्र होते हैं। परन्तु इस आनन्द की प्राप्ति भी तभी हो सकती है जब हम गुप्त आध्यात्मिक सत्ता को उपलब्ध करके अपने अङ्गों में प्रतिबिम्बित कर सकें, और इसे पूर्ण रूप में तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम अतिमानसिक क्षेत्रों में आरोहण सम्पन्न कर लें।

इस बीच में इन वस्तुओं का यथोचित, स्वीकार्य एवं सर्वथा वैध मानवीय उपभोग किया जा सकता है; भारतीय मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह उपभोग प्रधानतया सात्त्विक ढंग का होता है। यह एक प्रकार का आलोकित उपभोग होता है जो मुख्य रूप से तो बोधग्राही, सौन्दर्यरसिक एवं भावप्रधान मन के द्वारा और केवल गौण रूप से ही सम्वेदनात्मक, स्नायविक एवं भौतिक सत्ता के द्वारा प्राप्त किया जाता है। पर यह सब भोग बुद्धि के स्पष्ट शासन के वश में होता है, अर्थात् यह यथार्थ बुद्धि, यथार्थ संकल्प, जीवन के आघातों के यथार्थ ग्रहण, यथार्थ व्यवस्था, सत्य के यथार्थ वेदन तथा वस्तुओं के नियम, आदर्श अर्थ, सौन्दर्य और उपयोग के अधीन होता है। मन उनके उपभोग का शुद्ध रस ले लेता है और जो कुछ भी अव्यवस्थित, विक्षुब्ध एवं विकृत है उसका त्याग कर देता है। स्वच्छ और निर्मल रस को मन जो इस प्रकार ग्रहण करता है उसमें सूक्ष्म प्राण को 'जीवन का पूर्ण सम्वेदन' तथा 'समग्र सत्ता द्वारा तन्मयकारी भोग', इन तत्त्वों का सञ्चार करना होगा; इन तत्त्वों के बिना मन का रस-ग्रहण एवं उसकी प्राप्ति पर्याप्त मूर्त नहीं होगी, वह इतनी सूक्ष्म होगी कि देहधारी आत्मा को पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी। भोग में इस प्रकार का योगदान करना ही इसका अपना विशेष कार्य है।

जो विकृति भोग की क्रिया में घुसकर उसकी शुद्धता में बाधा डालती है वह एक प्रकार की प्राणिक वासना है; सूक्ष्म प्राण हमारी सत्ता में जो सबसे बड़ी विकृति लाता है वह कामना है। कामना का मूल, जिस वस्तु का हम अभाव अनुभव करते हैं उसे अधिकृत करने की प्राणिक वासना है, कामना का मतलब है प्राप्ति और तुष्टि के लिये हमारे सीमित प्राण की सहज प्रवृत्ति। यह अभाव की भावना को जन्म देती है,—पहले तो भूख, प्यास, कामवासना-रूपी अधिक सीधी-सादी प्राणिक लालसा को और फिर मन की इन सूक्ष्म-प्राणिक क्षुधाओं, तृषाओं और कामवृत्तियों को जन्म देती है; ये सूक्ष्म क्षुधाएं आदि हमारी सत्ता को कहीं अधिक वेदना पहुंचाती हैं जो तुरन्त प्रतिकार की मांग करती हैं तथा सारी सत्ता में फैल जाती हैं; कामना से उत्पन्न यह क्षुधा अनन्त होती है, क्योंकि यह एक अनन्त सत्ता की क्षुधा होती है, यह तृषा भी तृप्ति के द्वारा केवल कुछ समय के लिये ही शान्त हो सकती है, पर अपने स्वभाव में दुष्पूर ही होती है। सूक्ष्म प्राण सम्वेदनात्मक मन पर आक्रमण करके उसमें सम्वेदनों की अशान्त तृषा जगा देता है, क्रियाशील मन को यह प्रभुत्व, स्वत्व, आधिपत्य एवं सफलता के लोभ से तथा प्रत्येक आवेग की परिपूर्ति की कामना से आक्रान्त करता है, भावप्रधान मन को रुचि और अरुचि तथा राग और द्वेष के भावों को तृप्त करने की कामना से परिपूरित कर देता है, भयजनित जुगुप्साओं और आतंकों तथा आशाजनित आयासों और निराशाओं को जन्म देता है, शोक की यन्त्रणाओं तथा हर्ष के क्षणस्थायी ज्वरों एवं उसकी उत्तेजनाओं को हमपर लादता है, बुद्धि और उसके संकल्प को इन सब चीजों के

सहायक बनाकर उन्हींके ढंग के विकृत एवं पंगु यन्त्रों में परिणत कर देता है, अर्थात् संकल्प को वासना के संकल्प में तथा बुद्धि को सीमित, अधीर और कलहरत पूर्वनिर्णय एवं सम्मति के पक्षपाती, स्खलनशील और उत्सुक अनुयायी में बदल डालता है। कामना समस्त दुःख, निराशा और वेदना की जड़ है; कारण, यद्यपि इसमें विषयों के पीछे दौड़ने तथा उनसे तुष्टि प्राप्त करने का उत्तेजनात्मक हर्ष होता है, पर, क्योंकि यह सदा ही सत्ता पर तनाव डालती है, यह अपनी दौड़-धूप तथा प्राप्ति में श्रम, क्षुधा और संघर्ष को साथ लिये फिरती है, शीघ्र थक जाती है, परिमितता अनुभव करती है, अपनी सभी प्राप्तियों से असन्तुष्ट होकर शीघ्र ही निराश हो जाती है, सतत और अस्वाभाविक उत्तेजना, क्लेश एवं अशान्ति को अनुभव करती है। कामना से मुक्त होना सूक्ष्म प्राण की एकमात्र स्थिर और अनिवार्य शुद्धि है,—क्योंकि इस प्रकार ही हम कामनामय आत्मा को और अपने सभी करणों में उसके व्यापक मिश्रण को दूर करके उसके स्थान पर शान्त आनन्द से युक्त मनोमय पुरुष को और अपनी सत्ता तथा जगत् एवं प्रकृति के ऊपर उसके निर्मल और विशुद्ध प्रभुत्व को स्थापित कर सकते हैं; यह मनोमय पुरुष एवं इसका यह प्रभुत्व ही मानसिक जीवन और उसकी पूर्णता का स्फटिकोपम शुभ्र आधार है।

सूक्ष्म प्राण सभी उच्चतर क्रियाओं में हस्तक्षेप करके उन्हें विकृत कर देता है, पर स्वयं उसके इस दोष का कारण यह है कि विश्वप्राण ने जड़तत्त्व में से प्रकट होते समय शरीर में जिन भौतिक करणों को विकसित किया है उनकी प्रकृति सूक्ष्म प्राण में हस्तक्षेप करके उसे विकृत कर डालती है। इसीने शरीर में विद्यमान व्यक्तिगत प्राण को विश्व के प्राण से पृथक् कर दिया है और उसपर अभाव, परिमितता, क्षुधा, तृषा, अप्राप्त वस्तु की लालसा, भोग की चिर अन्धवत् खोज एवं प्राप्ति की बाधापूर्ण और दुष्पूर आवश्यकता के स्वभाव की छाप लगा दी है। वस्तुओं की निरी भौतिक व्यवस्था में सुगमता से नियन्त्रित और सीमित होती हुई यह सूक्ष्म प्राण में अपने-आपको अमित रूप से विस्तृत करती है और जैसे-जैसे मन विकसित होता है एक ऐसी वस्तु बन जाती है जो कठिनता से ही मर्यादित होनेवाली, दुष्पूर और अनियमित होती है तथा अव्यवस्था और व्याधि को उत्पन्न करने में लगी रहती है। अपिच, सूक्ष्म प्राण स्थूल जीवन के ऊपर आधार रखता है, स्थूल शरीर की स्नायविक शक्ति के द्वारा सीमित हो जाता है, उसके द्वारा मन की क्रियाओं को भी सीमित कर देता है और शरीर तथा इस (मन) के बीच एक ऐसी कड़ी का काम करता है कि यह भी शरीर पर निर्भर रहने लगता है, थकान, अक्षमता, व्याधि, अव्यवस्था, उन्मत्तता, क्षुद्रता और अनिश्चितता के वश में हो जाता है, और यहांतक कि स्थूल मन की क्रियाओं के सम्भवनीय विलय का कारण बनता है। परिणामतः, हमारा मन अपनी ही सामर्थ्य से युक्त एक शक्तिशाली करण, चेतन आत्मा का एक स्पष्ट यन्त्र तथा प्राण और शरीर का नियन्त्रण एवं प्रयोग

करने और उन्हें पूर्ण बनाने में स्वतन्त्र और समर्थ होने के स्थान पर, एक मिश्रित रचना के रूप में प्रतीत होता है; यह प्रधानतया स्थूल मन है जो अपनी स्थूल इन्द्रियों से सीमित है तथा शरीर में रहनेवाले प्राण की मांगों एवं बाधाओं के वश में है। इस अवस्था से छुटकारा तभी प्राप्त हो सकता है यदि हम विश्लेषण की एक प्रकार की क्रियात्मक, आन्तरिक एवं मनोवैज्ञानिक क्रिया करें; उस क्रिया के द्वारा हम जान जाते हैं कि मन एक स्वतन्त्र एवं पृथक् शक्ति है, उसे स्वतन्त्र क्रिया करने के लिये पृथक् कर लेते हैं, सूक्ष्म और स्थूल प्राण में भेद भी जान लेते हैं और उन्हें पहले की तरह मन को शरीर के अधीन बनानेवाली कड़ी नहीं, बल्कि बुद्धि में कार्य कर रहे 'विचार' और 'संकल्प' को आगे पहुंचानेवाले माध्यम तथा उसके आदेशों और निर्देशों का अनुसरण करनेवाले यन्त्र बना देते हैं। प्राण तब स्थूल जीवन पर मन के प्रत्यक्ष नियन्त्रण को क्रियान्वित करने के लिये एक निष्क्रिय साधन बन जाता है। यह नियन्त्रण कार्य करने की हमारी अभ्यस्त स्थिति के लिये कितना ही असामान्य क्यों न हो, पर यह सम्भव है,—यह वशीकरण के दृग्विषयों में कुछ हदतक दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि ये दृग्विषय अस्वस्थ रूप में असामान्य होते हैं, क्योंकि इनमें किसी दूसरे का संकल्प ही सुझाव और आदेश देता है,—इतना ही नहीं, बल्कि जब अन्तःस्थ उच्चतर आत्मा सम्पूर्ण सत्ता की बागडोर सीधे अपने हाथ में ले लेता है तब यह नियन्त्रण एक स्वाभाविक क्रिया बन जाता है। तथापि इसका पूर्ण प्रयोग अतिमानसिक स्तर से ही किया जा सकता है, क्योंकि वास्तविक और अमोघ विचार तथा संकल्प केवल वहीं स्थित हैं और मनोमय भूमिका में तो विचारात्मक मन, आध्यात्मिक बनकर भी, एक सीमित प्रतिनिधि ही होता है, भले उसे एक अत्यन्त शक्तिशाली प्रतिनिधि क्यों न बना लिया जाये।

ऐसा समझा जाता है कि कामना मानव-जीवन की वास्तविक चालकशक्ति है और इसे निकाल फेंकने का अर्थ जीवन के स्रोतों को बन्द कर देना होगा; कामना की तृप्ति मनुष्य का एकमात्र भोग है और इसका उन्मूलन करने का अर्थ निवृत्तिमार्गीय वैराग्य के द्वारा जीवन के आवेग को शान्त कर देना होगा। पर आत्मा के जीवन की वास्तविक चालक-शक्ति है संकल्पशक्ति; कामना तो हमारे वर्तमान प्रभुत्वपूर्ण शारीरिक जीवन और स्थूल मन में संकल्पशक्ति का एक विकृत रूप है। जगत् पर स्वत्व प्राप्त करने तथा उसका उपभोग करने की आत्मा की मूल प्रवृत्ति आनन्द प्राप्त करने की उसकी शक्ति (इच्छाशक्ति) में निहित है, और कामना की तृप्ति-रूपी भोग तो आनन्द-प्राप्ति की इच्छा का प्राणिक एवं शारीरिक हीन-रूप है। शुद्ध इच्छाशक्ति और कामना अर्थात् आनन्द-प्राप्ति की आन्तरिक इच्छा और मन तथा शरीर की बाह्य वासना एवं कामना में भेद जानना हमारे लिये आवश्यक है। यदि हम अपनी सत्ता के अनुभव में क्रियात्मक रूप से यह भेद नहीं कर सकते तो हमारे लिये केवल दो ही मार्ग खुले रह जाते हैं, या तो हम जीवन का उच्छेद

करनेवाले वैराग्य और जीने की स्थूल इच्छा में से किसी एक को चुन लें या फिर इन दोनों में एक भद्दा, अनिश्चित और अस्थिर समझौता करने का यत्न करें। सच पूछो तो अधिकतर लोग यही कुछ करते हैं; बहुत थोड़े-से लोग ऐसे भी होते हैं जो जीवन की सहज-प्रवृत्ति को कुचलकर तपस्वियों की-सी पूर्णता के लिये यत्न करते हैं; बहुत-से लोग जीने की स्थूल इच्छा का अनुसरण भी करते हैं, अवश्य ही, वे उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन कर लेते हैं तथा कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगा लेते हैं जिन्हें समाज उनपर लागू करता है या जिन्हें अपने मन तथा कार्यों पर लागू करने की शिक्षा साधारण सामाजिक मनुष्य को दी गयी है; कुछ अन्य लोग नैतिक तपस्या तथा कामनामय मानसिक एवं प्राणिक सत्ता की संयत तृप्ति के बीच एक प्रकार के सन्तुलन का आदर्श स्थापित करते हैं और इस सन्तुलन में अविक्षिप्त मन तथा स्वस्थ मानव-जीवन के सुनहरे मध्यम मार्ग का दर्शन करते हैं। परन्तु हम जिस पूर्णता की खोज कर रहे हैं वह, अर्थात् जीवन में संकल्पशक्ति का दैवी साम्राज्य, उक्त मार्गों में से किसी से भी प्राप्त नहीं होता। प्राण अर्थात् प्राणमय सत्ता को सर्वथा कुचल डालने का अर्थ है जीवन की उस शक्ति का ही उच्छेद कर डालना जिसके द्वारा मनुष्य में स्थित देहधारी आत्मा का अधिकतर कार्य-कलाप पोषण प्राप्त करता है; जीने की स्थूल इच्छा को तृप्त करने का अर्थ है अपूर्णता से तुष्ट रहना; इनमें समझौता करने का अर्थ है अधबीच में ही रुक जाना और न तो भूतल पर अधिकार पाना न स्वर्ग पर। पर यदि हम कामना के द्वारा अविकृत शुद्ध संकल्पशक्ति को और वासना के किसी भी विक्षोभ से पीड़ित या सीमित न होनेवाली आनन्द-लाभ की शान्त आन्तरिक इच्छा को अधिकृत कर सकें तो हम प्राण को इस प्रकार रूपान्तरित कर सकते हैं कि वह मन पर अत्याचार और आक्रमण करनेवाला उसका शत्रु न रहकर एक आज्ञाकारी यन्त्र बन जाये। तब हमें अनुभव द्वारा पता चलेगा कि शुद्ध संकल्पशक्ति कामना की भड़क उठनेवाली, धुंए से दबी-घुटी, शीघ्र क्लान्त एवं पराजित हो जानेवाली ज्वाला से कहीं अधिक स्वतन्त्र, शान्त, स्थिर और प्रभावपूर्ण शक्ति है। इन महत्तर शक्तियों को भी हम चाहें तो कामना के नाम से पुकार सकते हैं, पर तब हमें यह मानना होगा कि एक दिव्य कामना भी है जो प्राण की लालसा से भिन्न वस्तु है, एक भागवत कामना भी है जिसकी यह अन्य एवं निम्नतर कामना एक अन्धकारमय छाया है और जिसमें इसे रूपान्तरित करना होगा। पर जो वस्तुएं अपने स्वरूप तथा आन्तरिक कार्य में सर्वथा भिन्न हैं उनके लिये भिन्न नाम रखना ही अधिक अच्छा है।

अतएव, शुद्धि का पहला कदम है प्राण को कामना से मुक्त करना और इसके साथ ही, प्रासंगिक रूप से, अपनी प्रकृति की साधारण स्थिति को पलटकर प्राणमय सत्ता को एक ऐसे रूप में परिणत कर देना कि वह एक कष्ट देनेवाली प्रभुत्वपूर्ण शक्ति न रहकर स्वतन्त्र और अनासक्त मन का आज्ञाकारी यन्त्र बन जाये। जैसे-

जैसे सूक्ष्म प्राण की इस विकृति में सुधार होता है वैसे-वैसे अन्तःकरण के शेष मध्यवर्ती भागों की शुद्धि का कार्य सुगम होता जाता है, और जब यह सुधार पूरा हो जाता है तब उन्हें भी सहज में पूर्ण रूप से शुद्ध किया जा सकता है। ये मध्यवर्ती भाग हैं—भावप्रधान मन, ग्रहणशील सम्वेदनात्मक मन और सक्रिय सम्वेदनात्मक मन या क्रियाशील आवेगोंवाला मन। ये सब एक तीव्रतः जटिल परस्पर-क्रिया के साथ एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। भावप्रधान मन की विकृति राग-द्वेष अर्थात् भाविक आकर्षण और विकर्षण के द्वंद्व पर आधारित है। हमारे भावों की समस्त जटिलता का और हमारी अन्तरात्मा पर उनके अत्याचार का मूल कारण यह है कि भावों और सम्वेदनों में रहनेवाला कामनामय पुरुष इन आकर्षणों और विकर्षणों के प्रति अपने अभ्यस्त ढंग से प्रतिक्रिया करता है। राग और द्वेष, आशा और भय, हर्ष और शोक—सबके स्रोत इस एक उद्गम में ही हैं। हमारी प्रकृति अर्थात् हमारी सत्ता का प्रथम स्वभाव, या फिर हमारा निर्मित (प्रायः ही विकृत) स्वभाव अर्थात् हमारी सत्ता की दूसरी प्रकृति जिस चीज को हमारे मन के सामने प्रिय (**प्रियम्**) के रूप में प्रस्तुत करती है उसे हम पसन्द करते हैं, प्रेम करते हैं, उसका स्वागत और उसकी आशा करते हैं, उसमें आनन्द लेते हैं; जिस चीज को यह अप्रिय (**अप्रियम्**) के रूप में हमारे सामने रखती है उससे हम घृणा करते हैं, उसे नापसन्द करते हैं, उससे भयभीत होकर पीछे हटते हैं या दुःख मानते हैं। भाविक प्रकृति की यह आदत बुद्धिप्रधान संकल्प के मार्ग में बाधा पहुंचाती है और बहुधा ही इसे भावप्रधान सत्ता का असहाय दास बना देती है या, कम-से-कम, इसे स्वतन्त्र निर्णय तथा प्रकृति का शासन नहीं करने देती। इस विकृति को सुधारना होगा। सूक्ष्म प्राण में से कामना को तथा भाविक चित्त में से उसके मिश्रण को दूर करने से यह सुधार का कार्य सुगम हो जाता है। कारण, तब आसक्ति, जो हृदय को बांधनेवाली दृढ़ ग्रन्थि है, शिथिल होकर हृदय के तारों से अलग हो जाती है; राग-द्वेष का अनैच्छिक एवं यान्त्रिक अभ्यास बना रहता है, पर क्योंकि वह आसक्ति के द्वारा दृढ़ नहीं बनाया जाता, उसके साथ संकल्प और बुद्धि के द्वारा अधिक आसानी से निपटा जा सकता है। अशान्त हृदय को वश में करके राग-द्वेष के स्वभाव से मुक्त किया जा सकता है।

पर, यदि ऐसा हो जाये तो जैसा कामना के उन्मूलन के सम्बन्ध में लोग समझते हैं, वैसे ही हृदय की शुद्धि के बारे में भी यह समझा जा सकता है कि यह भावप्रधान सत्ता की मृत्यु ही होगी। अवश्य, यह ऐसी ही होगी यदि विकृति का उन्मूलन तो कर दिया जाये, पर उसके स्थान पर भाविक चित्त की यथार्थ क्रिया को स्थापित न किया जाये; तब मन भावावेश की हलचल या तरंग से सर्वथा रहित शून्य उदासीनता की निष्क्रिय अवस्था में या शान्तिमय निष्पक्षता की ज्योतिर्मय अवस्था में पहुंच जायेगा। इनमेंसे पहली अवस्था किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं;

दूसरी अवस्था निवृत्तिमार्गीय साधना की सिद्धि हो सकती है, पर पूर्णयोग की सिद्धि में, जो प्रेम का परित्याग नहीं करती और आनन्द की विविध गति से भी नहीं कतराती, यह बस केवल एक ऐसी अवस्था हो सकती है जिसे पार करना होता है, एक ऐसी प्रारम्भिक निष्क्रियता हो सकती है जिसे समुचित क्रिया के प्रथम आधार के रूप में स्वीकार किया जाता है। आकर्षण और विकर्षण, राग और द्वेष सामान्य मनुष्य के लिये एक आवश्यक यान्त्रिक क्रिया हैं, उसके चारों ओर का जगत् उसपर जो हजारों प्रीतिकर और भयङ्कर, सहायक और बाधक आघात करता है उनमेंसे स्वाभाविक और सहज-प्रेरित ढंग से चुनाव करने के लिये ये राग-द्वेष आदि प्रथम सिद्धान्त का काम करते हैं। बुद्धि इस कार्य-सामग्री को लेकर अपना कार्य शुरू करती है और एक अधिक ज्ञानपूर्ण, तर्कसंगत तथा स्वेच्छाप्रेरित चुनाव के द्वारा स्वाभाविक एवं सहजप्रेरित चुनाव को सुधारने का यत्न करती है; कारण, यह स्पष्ट ही है कि प्रिय वस्तु सदा सत्य, अधिक वांछनीय एवं वरणीय ही नहीं होती; न अप्रिय वस्तु असत्य, त्याज्य एवं अस्वीकार्य ही होती है; प्रिय और शुभ, **प्रेयस्** और **श्रेयस्**, में भेद करना होगा, और चुनाव का कार्य यथार्थ तर्कबुद्धि को करना होगा, न कि आवेश की तरंग को। पर जब आवेशात्मक विचार को पीछे हटा दिया जाता है तथा हृदय ज्योतिर्मय निष्क्रियता में शान्त हो रहता है तब बुद्धि चुनाव के कार्य को कहीं अधिक अच्छे ढंग से कर सकती है। तभी हृदय की यथार्थ क्रिया उपरितल पर प्रकट हो सकती है; क्योंकि तब हम देखते हैं कि इस आवेशाधीन कामनामय पुरुष के पीछे प्रेममय, निर्मल हर्षमय एवं आनन्दस्वरूप आत्मा, शुद्ध चैत्य, सदा ही प्रतीक्षा कर रहा था, वह क्रोध, भय, घृणा, द्वेष के विकारों से आच्छादित था और इसलिये जगत् का आलिंगन राग-द्वेषरहित प्रेम तथा आनन्द के साथ नहीं कर सकता था। पर शुद्ध हृदय क्रोध, भय, घृणा तथा प्रत्येक प्रकार की जुगुप्सा एवं विकर्षण से मुक्त होता है : वह सार्वभौम प्रेम से युक्त होता है, वह इस जगत् में परमेश्वर के द्वारा प्राप्त नानाविध आनन्द को प्रशान्त मधुरता तथा निर्मलता के साथ ग्रहण कर सकता है। पर वह प्रेम और आनन्द का असंयत दास नहीं होता; वह कामना नहीं करता, कर्मों के स्वामी होने का दावा करने का यत्न नहीं करता। कर्म करने के लिये चुनाव करने की जो क्रिया आवश्यक होती है वह मुख्य रूप से बुद्धि पर छोड़ दी जाती है और जब बुद्धि को पार कर लिया जाता है तब वह अतिमानसिक संकल्प, ज्ञान और आनन्द की भूमिका में रहनेवाली आत्मा पर छोड़ दी जाती है।

ग्रहणशील सम्वेदनात्मक मन भावावेगों का स्नायुमय मानसिक आधार है; वह वस्तुओं के आघातों को मानसिक रूप से ग्रहण करता है और उनके प्रति मानसिक सुख और दुःख-रूपी प्रतिक्रियाएं करता है जो चित्तगत राग और द्वेष के द्वंद्व का आरम्भ-बिन्दु हैं। हृदय के सभी भावावेगों की स्नायविक मन में एक सहचारी

प्रतिक्रिया भी होती है जो उनके अपने ही अनुरूप होती है, और हम प्रायः ही देखते हैं कि जब हृदय द्वंद्वों की मूलभूत सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है तब भी स्नायविक मन के विक्षोभ की जड़ बची रहती है, अथवा स्थूल मन में एक ऐसी स्मृति बची रहती है जिसे बुद्धि के संकल्प के द्वारा जितना ही हटाया जाता है, उतनी ही वह अधिकाधिक दूर हटकर एक सर्वथा भौतिक रूप धारण करती जाती है। अन्त में तो वह बाहर से आनेवाला एक सुझावमात्र रह जाती है जिसे मन के स्नायविक तन्तु तब भी कभी-कभी प्रत्युत्तर देते हैं जबतक कि पूर्ण शुद्धि उन्हें आनन्द की उसी प्रकाशपूर्ण विश्वमयता में ले जाकर मुक्त नहीं कर देती जिसे शुद्ध हृदय पहले ही प्राप्त कर चुका है। सक्रिय और शक्तिशाली आवेगात्मक मन प्रतिक्रिया का निम्नतर करण या वाहक है; उसकी विकृति यह है कि वह अपवित्र आवेशप्रधान एवं सम्वेदनात्मक मन के सुझाव तथा प्राण की कामना के अधीन हो जाता है, शोक, भय, घृणा, इच्छा, कामवासना, लालसा तथा अन्य सब अशान्त वृत्तियों के द्वारा प्रेरित कार्य के आवेगों का दास बन जाता है। उसके कार्य का ठीक रूप यह है कि वह बल, शौर्य और स्वभावगत सामर्थ्य से सम्पन्न एक ऐसी शुद्ध क्रियाशील शक्ति बनकर रहे जो अपने लिये या निम्न करणों का हुक्म बजाने के लिये कार्य न करे, बल्कि शुद्ध बुद्धि और संकल्प या विज्ञानमय पुरुष के आदेशों को आगे पहुंचाने के लिये एक निष्पक्ष प्रणालिका के रूप में कार्य करे। जब हम इन विकृतियों से मुक्त होकर अपने मन को कार्य के इन सत्यतर रूपों को अपनाने के लिये निर्मल बना लेते हैं तब निम्न मन शुद्ध होकर पूर्णता की प्राप्ति के लिये तैयार हो जाता है। पर यह पूर्णता शुद्ध और आलोकित बुद्धि की प्राप्ति पर निर्भर करती है; क्योंकि बुद्धि मनोमय प्राणी की प्रधान शक्ति है और साथ ही 'पुरुष' का प्रधान मानसिक करण है।

अध्याय ७

बुद्धि और संकल्प की शुद्धि

बुद्धि को शुद्ध करने के लिये हमें पहले उसकी विशेष जटिल रचना को समझना होगा। और इसके लिये सर्वप्रथम हमें मन और बुद्धि (अर्थात् विवेकशील प्रज्ञा एवं आलोकित संकल्प) के पारस्परिक भेद को स्पष्ट रूप में हृदयंगम कर लेना होगा जिसकी साधारण भाषा में उपेक्षा ही की जाती है। मन का मतलब है इन्द्रियाधिष्ठित मन। मनुष्य का प्राथमिक मन बुद्धि और संकल्प से युक्त करण बिल्कुल ही नहीं होता; वह पाशव, भौतिक या इन्द्रियाश्रित मन होता है; वह अपने सम्पूर्ण अनुभव का गठन अपने ऊपर पड़नेवाले बाह्य जगत् के प्रभावों तथा अपनी उस देहबद्ध चेतना के द्वारा करता है जो इस प्रकार के अनुभव की बाह्य उत्तेजना को प्रत्युत्तर देती है। बुद्धि तो केवल एक गौण शक्ति के रूप में प्रकट होती है जिसने विकास में प्रथम स्थान ले लिया है, पर फिर भी वह जिस निम्न करण का प्रयोग करती है उसपर आश्रित रहती है; वह अपनी क्रियाओं के लिये ऐन्द्रिय मनपर निर्भर करती है और अपने उच्चतर धरातल पर तो वह वही कुछ करती है जो कि वह शरीर या इन्द्रिय-रूपी आधार पर से ज्ञान और कर्म को कठिनाई और परिश्रम के साथ एवं विशेष विघ्न-बाधाओं के बाद विस्तारित करके कर सकती है। सामान्य प्रकार का मानव-मन अर्द्ध-आलोकित स्थूल या इन्द्रियाश्रित मन ही है।

वास्तव में मन बाह्य चित्त से विकसित हुआ है; यह **बाह्य स्पर्शों** के द्वारा उत्तेजित एवं उद्‌बुद्ध चेतना के स्थूल उपादान का प्रथम संघटन है। भौतिक रूप में हम जड़-तत्त्व के अन्दर प्रसुप्त एक आत्मा हैं जो बाह्य चेतना के स्थूल तत्त्व से व्याप्त एक प्राणयुक्त शरीर की आंशिक चेतनातक विकसित हो चुकी है; यह चेतना इस बाह्य जगत् के, जिसमें हम अपनी चेतन सत्ता का विकास कर रहे हैं, बाह्य आघातों के प्रति कम या अधिक सचेत और सजग है। पशु में बहिर्मुख चेतना का यह तत्त्व अनुभव और कार्य करनेवाले मन की एक सुव्यवस्थित मानसिक इन्द्रिय या करण के रूप में अपने-आपको संघटित कर लेता है। वास्तव में इन्द्रिय देहस्थित चेतना का अपने चारों ओरकी वस्तुओं के साथ मानसिक संस्पर्श है। यह संस्पर्श मूल रूप में सदा ही एक मानसिक व्यापार होता है; पर वास्तव में यह मुख्य रूप से पदार्थों और उनके गुणों के साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कुछ-एक स्थूल इन्द्रियों के विकास पर निर्भर करता है; अपने ऊपर पड़नेवाले उन पदार्थों और गुणों के संस्कारों को यह अपने अभ्यासवश उनका मानसिक मूल्य प्रदान कर सकता है। जिन्हें हम स्थूल इन्द्रियां कहते हैं उनमें दो तत्त्व होते हैं, प्रथम, हमारी इन्द्रियों पर किसी पदार्थ का जो स्थूल-प्राणमय संस्कार पड़ता है वह और दूसरा,

मनोमय प्राण के द्वारा हम उस संस्कार को जो मूल्य प्रदान करते हैं वह; ये दोनों तत्त्व मिलकर हमारे दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श तथा उन सब प्रकार के सम्वेदनों का गठन करते हैं जिनके लिये कि ये दर्शन आदि और मुख्यतः स्पर्श, आरम्भ-बिन्दु या प्रथम सञ्चारक साधन का काम करते हैं। परन्तु मन इन्द्रियों पर पड़नेवाले संस्कारों को स्थूल इन्द्रिय पर निर्भर न करनेवाले एक सीधे संक्रमण के द्वारा ग्रहण करके उनसे परिणाम निकाल सकता है। निम्न सृष्टि किंवा पशु-जगत् में यह तथ्य अधिक स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि मनुष्य में इस प्रत्यक्ष बोध के लिये सचमुच ही एक अधिक महान् सामर्थ्य है, मन में रहनेवाली छठी इन्द्रिय शक्ति है, फिर भी उसने केवल स्थूल इन्द्रियों पर तथा उनकी पूरक के रूप में बुद्धि की क्रिया पर ही निर्भर रहकर इस शक्ति को स्थगित अवस्था में रख छोड़ा है।

अतएव, मन का सर्वप्रथम कार्य तो इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित करना है; इसके साथ ही वह देहस्थित चेतना के संकल्प की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को भी व्यवस्थित करता है और शरीर को एक साधन के रूप में प्रयुक्त करता है, अथवा, जैसा कि साधारणतया कहा जाता है, वह कर्मेन्द्रियों को अपने करण के रूप में प्रयुक्त करता है। इस स्वाभाविक कार्य में भी दो तत्त्व होते हैं, स्थूल-प्राणमय आवेग और उसके पीछे सहज-प्रेरणात्मक संकल्प-वेग का प्रभाव जो मनोमय-प्राणिक शक्ति से पूर्ण होता है। यह सब प्राथमिक बोधों और कार्यों-रूपी उस सम्बन्ध-सूत्र का गठन करता है जो समस्त विकसनशील प्राणियों के जीवन को जोड़नेवाला एक सामान्य सूत्र है। पर इसके अतिरिक्त **मनस्** या इन्द्रियाश्रित मन में एक परिणामभूत प्राथमिक विचार तत्त्व भी होता है जो प्राणि-जीवन की क्रियाओं के साथ-साथ ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार प्राणयुक्त शरीर में चेतना अर्थात् **चित्त** की एक प्रकार की व्यापक एवं प्रभुत्वशाली क्रिया होती है जो इस ऐन्द्रिय मन का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार ऐन्द्रिय मन में भी एक प्रकार की व्यापक एवं प्रभुत्वशाली शक्ति होती है जो इन्द्रियलब्ध अनुभवों को मानसिक ढंग से प्रयोग में लाती है, उन्हें बोधों तथा प्राथमिक विचारों में परिणत कर देती है, एक अनुभव को अन्य अनुभवों से सम्बद्ध करती है और किसी-न-किसी ढंग से इन्द्रियानुभव के आधार पर ही विचार, अनुभव और संकल्प करती है।

यह सम्वेदनात्मक विचार-शक्ति जो इन्द्रिय, स्मृति और संस्कार पर तथा प्राथमिक विचारों एवं उनसे निकाले हुए अनुमानों या गौण विचारों पर आधारित है, समस्त प्राणियों के विकसित जीवन और मन में सामान्य रूप से पायी जाती है। निःसन्देह मनुष्य ने इसे अत्यधिक विकसित करके एक ऐसा अमित क्षेत्र एवं जटिलता प्रदान कर दी है जो पशु के लिये अप्राप्य है, तथापि यदि वह यहीं रुक जाये तो वह केवल एक महाशक्तिशाली पशु ही रहेगा। वह पशु के क्षेत्र और

उसकी उच्चता के परे इस कारण पहुंच जाता है कि वह अपनी विचार-क्रिया को इन्द्रियाश्रित मन से थोड़े बहुत अंश में मुक्त एवं पृथक् करने, इससे पीछे हटकर इसकी दी हुई सामग्री का निरीक्षण करने और इसपर ऊपर से एक पृथक्कृत एवं अंशतः स्वतन्त्र बुद्धि के द्वारा कार्य करने में समर्थ हो गया है। पशु की बुद्धि और संकल्पशक्ति ऐन्द्रिय मन में उलझी हुई हैं और अतएव वे पूर्ण रूप से इसके द्वारा परिचालित होती हैं तथा इसके सम्वेदनों, इन्द्रियानुभवों और आवेगों की धारा में बहा ले जायी जाती हैं; यह (ऐन्द्रिय मन) अन्धप्रेरणा से चालित होता है। मनुष्य एक ऐसी तर्क-बुद्धि एवं संकल्पशक्ति का अर्थात् अपना और सबका निरीक्षण करनेवाले एवं चिन्तन तथा बुद्धिपूर्वक संकल्प करनेवाले मन का प्रयोग कर सकता है जो पहले की तरह ऐन्द्रिय मन में नहीं फंसा होता, बल्कि इसके ऊपर तथा पीछे स्थित होकर अपने निज अधिकार से और एक प्रकार की पृथक्ता तथा स्वतन्त्रता के साथ कार्य करता है। वह चिन्तनशील है, उसे बुद्धिप्रधान संकल्प की एक प्रकार की सापेक्ष स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसने अपने अन्दर बुद्धि को मुक्त करके एक पृथक् शक्ति बना लिया है।

पर यह बुद्धि है क्या ? यौगिक ज्ञान के दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि यह अन्तरात्मा का, प्रकृति में स्थित आन्तरिक चेतन सत्ता अर्थात् पुरुष का वह करण है जिसके द्वारा वह अपने-आप तथा अपनी परिस्थितियों पर किसी प्रकार का चेतन एवं व्यवस्थित प्रभुत्व प्राप्त करती है। चित्त और मन की समस्त क्रिया के पीछे यह अन्तरात्मा किंवा 'पुरुष' उपस्थित होता है; पर जीवन के निम्न रूपों में यह अधिकतर अवचेतन, अर्द्ध-जागृत या प्रसुप्त ही रहता है, प्रकृति के यान्त्रिक कार्य में डूबा रहता है; तथापि जैसे-जैसे यह जीवन की क्रमशृंखला में ऊंचे उठता है, यह उत्तरोत्तर जागृत होकर अधिकाधिक आगे आता जाता है। बुद्धि की सक्रियता के द्वारा यह पूर्ण जागरण की क्रिया आरम्भ कर देता है। मन की निम्न क्रियाओं में 'पुरुष' प्रकृति को अपने अधिकार में रखने की अपेक्षा कहीं अधिक उसके अधीन रहता है; क्योंकि वहां यह पूर्ण रूप से उस यान्त्रिक क्रिया का दास बना रहता है जो इसे एक देहधारी के चेतन अनुभव की अवस्था में लायी है। पर बुद्धि में हम एक ऐसी वस्तुतक पहुंच जाते हैं जो अभी होती तो प्रकृति का करण है, पर फिर भी जिसके द्वारा प्रकृति पुरुष को इस कार्य के लिये सहायता देती एवं सन्नद्ध करती प्रतीत होती है कि यह उसे समझ ले तथा अधिकार में लाकर उसका स्वामी बन जाये।

पर बुद्धि के द्वारा प्राप्त यह समझ, अधिकार या स्वामित्व पूर्ण नहीं होता, इसका कारण या तो यह है कि हमारी बुद्धि-शक्ति अभीतक स्वयं अपूर्ण है, अभीतक केवल अर्द्ध-विकसित एवं अर्द्ध-गठित है, या यह है कि वह अपने स्वभाव की दृष्टि से केवल एक मध्यवर्ती करण है, और पूर्ण ज्ञान तथा प्रभुत्व प्राप्त कर सकने से पहले हमें बुद्धि से महान् किसी तत्त्व तक ऊंचे उठना होगा। तथापि यह एक

ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि हमारे अन्दर एक ऐसी शक्ति है जो पाशव जीवन से कहीं महान् है, एक ऐसा सत्य है जो ऐन्द्रिय मन के द्वारा अनुभूत प्राथमिक सत्यों या बाह्य रूपों से अधिक महान् है, और तब हम उस सत्य को प्राप्त करने का यत्न कर सकते हैं तथा कार्य और नियन्त्रण की एक अधिक महत् और सफल शक्ति की ओर, अपनी प्रकृति और अपने चारों ओरकी वस्तुओं की प्रकृति के ऊपर एक अधिक प्रभावपूर्ण शासन, एक उच्चतर ज्ञान, उच्चतर शक्ति एवं उच्चतर और विशालतर उपभोग की ओर तथा सत्ता के एक अधिक उन्नत स्तर की ओर बढ़ने का प्रयास कर सकते हैं। तो इस प्रवृत्ति का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? स्पष्टतः ही, लक्ष्य यह है कि पुरुष अपने तथा वस्तुओं के उच्चतम और पूर्णतम सत्य को, अन्तरात्मा या आत्मा तथा प्रकृति के महत्तम सत्य को प्राप्त कर ले, सत्ता की एक ऐसी सक्रिय और निष्क्रिय अवस्था को प्राप्त कर ले जो इस सत्य का परिणाम हो या इससे अभिन्न हो, साथ ही इस महत्तम ज्ञान की शक्ति को तथा जिस महत्तम सत्ता एवं चेतना की ओर वह खुले उसके उपभोग को भी प्राप्त कर ले। प्रकृति में चेतन सत्ता के विकास का अन्तिम परिणाम यही होना चाहिये।

अतएव, अपनी अन्तरात्मा और आत्मा के सम्पूर्ण सत्य तथा अपनी मुक्त और समग्र सत्ता के ज्ञान, महिमा और आनन्द को प्राप्त करना ही बुद्धि की शुद्धि, मुक्ति और सिद्धि का लक्ष्य होना चाहिये। परन्तु आम धारणा यह है कि इसका अर्थ पुरुष का प्रकृति के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व नहीं वरन् उसका परित्याग है। प्रकृति के कार्य को त्यागकर ही हम आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। जैसे बुद्धि, यह जानकर कि ऐन्द्रिय मन हमें केवल ऐसे बाह्य रूपों का ही ज्ञान कराता है जिनमें आत्मा प्रकृति के अधीन है, उनके पीछे अवस्थित अधिक वास्तविक सत्यों को ढूंढ़ निकालती है, वैसे ही अन्तरात्मा को भी यह ज्ञान प्राप्त करना होगा कि बुद्धि भी प्रकृति के ऊपर प्रयोग में लायी जाने पर हमें केवल बाह्य रूपों का बोध प्रदान कर सकती है और इस प्रकार हमारी दासता को बढ़ा ही सकती है; यह ज्ञान प्राप्त करके अन्तरात्मा को बाह्य रूपों के पीछे आत्मा के विशुद्ध सत्य को ढूंढ़ निकालना होगा। आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो प्रकृति से बिल्कुल भिन्न है और बुद्धि को प्राकृतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति तथा उनमें संलग्नता से अपने को मुक्त करके शुद्ध करना होगा; केवल इस प्रकार ही वह शुद्ध पुरुष और आत्मा को अनुभव कर सकती है तथा प्राकृत पदार्थों से पृथक् कर सकती है : शुद्ध पुरुष एवं आत्मा का ज्ञान ही एकमात्र वास्तविक ज्ञान है, शुद्ध पुरुष और आत्मा का आनन्द ही एकमात्र आध्यात्मिक उपभोग है, शुद्ध पुरुष एवं आत्मा की चेतना और सत्ता ही एकमात्र वास्तविक चेतना और सत्ता हैं। इस विचार के अनुसार, कर्म और संकल्प बन्द ही हो जायेंगे, क्योंकि कर्ममात्र प्रकृति का कर्म है; शुद्ध पुरुष एवं आत्मा बनने के सङ्कल्प का अर्थ है कर्म करने के समस्त संकल्प का अन्त।

परन्तु आत्मा की सत्ता, चेतना और शक्ति की तथा उसके आनन्द की उपलब्धि पूर्णता प्राप्त करने की शर्त है,—क्योंकि अन्तरात्मा अपनी सत्ता के सत्य को जानकर, प्राप्त तथा चरितार्थ करके ही मुक्त और सिद्ध बन सकती है, पर इसके साथ-ही-साथ हम यह भी मानते हैं कि प्रकृति आत्मा की एक सनातन क्रिया एवं अभिव्यक्ति है; प्रकृति शैतान का फन्दा नहीं है, भ्रामक आकृतियों का कोई ऐसा समूह नहीं है जिसे कामना, इन्द्रिय, प्राण और मानसिक सङ्कल्प एवं बुद्धि ने उत्पन्न किया हो, बल्कि ये बाह्य आकार आत्मा के संकेत और इंगित हैं और इन सबके पीछे आत्मा का एक सत्य विद्यमान है जो इनसे परे है तथा इनका प्रयोग करता है। हम यह मानते हैं कि प्रकृति में एक आध्यात्मिक विज्ञान एवं सङ्कल्पशक्ति अन्तर्निहित है जिसके द्वारा सर्वव्यापी गुप्त आत्मा अपने सत्य को जानती है, सङ्कल्प करती है, प्रकृति में अपनी सत्ता को प्रकट करके उसका नियमन करती है; उस विज्ञान को प्राप्त करना, उसके साथ अन्तर्मिलन लाभ करना या उसके कार्य में भाग लेना हमारी पूर्णता का अंग होना चाहिये। अतः बुद्धि की शुद्धि का लक्ष्य यह होगा कि हम अपने आत्म-स्वरूप के सत्य को प्राप्त करें, पर साथ ही प्रकृति में व्यक्त हुई अपनी सत्ता के उच्चतम सत्य को भी प्राप्त करें। इस उद्देश्य के लिये हमें सबसे पहले बुद्धि को उन सब चीजों से मुक्त करके शुद्ध करना होगा जो इसे ऐन्द्रिय मन के अधीन कर देती हैं और एक बार इस शुद्धि के सम्पन्न हो जानेपर, इसे इसकी अपनी मर्यादाओं से मुक्त करके इसकी निम्न मानसिक बुद्धि और संकल्प को आध्यात्मिक सङ्कल्प और ज्ञान की महत्तर क्रिया में रूपान्तरित करना होगा।

ऐन्द्रिय मन की सीमाओं को पार करने के लिये बुद्धि की क्रिया एक ऐसा प्रयत्न है जो मानव-विकास में अबतक आधा तो सफल हो चुका है; यह मनुष्य में विश्वप्रकृति की सामान्य क्रिया का एक भाग है। उसके अन्दर विचार-मानस, बुद्धि और सङ्कल्प शुरू-शुरू में जो क्रिया करते हैं वह परवश होती है। वह इन्द्रियों की साक्षी को, प्राण-वासनाओं, अन्ध-प्रेरणाओं, कामनाओं तथा भावावेशों की आज्ञाओं को तथा क्रियाशील ऐन्द्रिय मन के आवेगों को शिरोधार्य करती है और उन्हें केवल एक अधिक व्यवस्थित दिशा एवं प्रभावशाली सफलता प्रदान करने का यत्न करती है। परन्तु जिस मनुष्य की बुद्धि एवं सङ्कल्प-शक्ति निम्न मन से परिचालित एवं शासित होती हैं वह मानव-प्रकृति की निम्न कोटि का प्रतिनिधि है, और हमारी चेतन सत्ता का जो भाग इस शासन की अधीनता को स्वीकार करता है वह हमारी मनुष्यता का सबसे निचला भाग है। बुद्धि का उच्चतर कार्य तो निम्न मन को अतिक्रान्त और नियन्त्रित करना है, निःसन्देह इसका अर्थ मन से छुटकारा पाना नहीं, बल्कि उन सब क्रियाओं को, जिनका यह प्राथमिक संकेत है, सङ्कल्प और बुद्धि के उत्कृष्टतर स्तर में उठा ले जाना है। ऐन्द्रिय मन के ऊपर पड़नेवाले संस्कार एक ऐसी विचार-शक्ति के द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं जो उनसे परे है और उनसे

प्राप्त न होनेवाले सत्योंतक अर्थात् मन के प्रत्ययात्मक सत्यों एवं दर्शन और विज्ञान के सत्योंतक पहुंच सकती है। चिन्तन और अनुसन्धान करनेवाला दार्शनिक मन ऐन्द्रिय संस्कारोंवाले प्राथमिक मन को वश में लाकर संशोधित और नियन्त्रित करता है। बुद्धिमूलक संकल्पशक्ति आवेगात्मक और प्रतिक्रियाशील सम्वेदन-प्रधान मन तथा प्राणिक वासनाओं को एवं आवेशात्मक कामनावाले मन को ऊपर उठा ले जाती है तथा एक महत्तर नैतिक मन उन्हें वश में करके संशोधित और नियन्त्रित करता है। यह मन यथार्थ आवेग, कामना और आवेश तथा यथार्थ कार्य के नियम को खोजकर उनपर लागू करता है। बुद्धि ग्रहण और स्थूल उपभोग करनेवाले सम्वेदनात्मक मन, आवेशप्रधान मन तथा प्राणिक मन को ऊपर उठा ले जाती है और एक अधिक गहरा एवं सुखमय सौन्दर्यरसिक मन उन्हें वशीभूत करके संशोधित और शासित करता है। यह मन सच्चे आनन्द और सौन्दर्य के नियम को ढूंढ़कर उनपर लागू करता है। विचार और सङ्कल्प करनेवाले बुद्धिप्रधान मानव की एक सामान्य 'शक्ति' शासक बुद्धि, कल्पना, निर्णयशक्ति, स्मृति, संकल्प-बल, विवेकशील तर्क-शक्ति और आदर्श वेदन से युक्त मनोमय 'पुरुष' में इन सब नव-निर्मित करणों का प्रयोग करती है। यह मनोमय पुरुष उन्हें ज्ञान, आत्म-विकास, अनुभव, अन्वेषण, सृजन तथा क्रियान्वयन के लिये प्रयोग में लाता है, अभीप्सा और प्रयत्न करता है, आन्तरिक अनुभूति प्राप्त करता है, प्रकृति में रहनेवाली आत्मा के जीवन को एक उच्चतर वस्तु बनाने का यत्न करता है। तब आरम्भिक कामनामय पुरुष सत्ता पर शासन नहीं करता। वह (कामनामय पुरुष) वहां उपस्थित होने पर भी एक उच्चतर शक्ति के द्वारा दमित और नियन्त्रित होता है, वह एक ऐसा तत्त्व होता है जो सत्य, सङ्कल्प, शुभ और सौन्दर्य के देवों को अपने अन्दर प्रकट कर चुका होता है और जीवन को उनके अधीन रखने का यत्न करता है। असंस्कृत कामना-पुरुष एवं मन अपने-आपको एक आदर्श 'पुरुष' एवं मन में रूपान्तरित करने का यत्न कर रहा है, और जिस हदतक इस महत्तर चेतन पुरुष का कुछ प्रभाव एवं सामंजस्य उपलब्ध और प्रतिष्ठित हो पाया है उस हदतक हमारी मानवता विकसित हो चुकी है।

पर बुद्धि की यह क्रिया अभीतक अत्यन्त अपूर्ण है। हम देखते हैं कि जिस मात्रा में हम दो विशेष प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करते हैं उसी मात्रा में यह क्रिया एक अधिक महान् समग्रता की ओर अग्रसर होती है; उन सिद्धियों में से पहली है—निम्नतर सुझावों के नियन्त्रण से अधिकाधिक मुक्ति; दूसरी, ज्योति, शक्ति और आनन्द से युक्त एक ऐसी स्वयंभू सत्ता की अधिकाधिक उपलब्धि जो हमारी सामान्य मानवता के परे है तथा इसका रूपान्तर करती है। नैतिक मन जितना ही कामना, ऐन्द्रिय सुझाव, आवेग तथा अभ्यस्त एवं अन्यचालित क्रिया से अपने-आपको मुक्त करता है तथा जितना ही वह सत्य धर्म, प्रेम, शक्ति और पवित्रता से

युक्त उस आत्मा को खोजता है जिसमें वह चरितार्थ होकर रह सके तथा जिसे वह अपने सब कार्यों का आधार बना सके, उतना ही वह पूर्णता प्राप्त करता जाता है। सौन्दर्यग्राही मन जितना ही अपने सब स्थूलतर सुखों से तथा सौन्दर्यलक्षी बुद्धि के बाह्य प्रचलित नियमों से अपने को मुक्त करता है तथा जितना ही वह शुद्ध और असीम सौन्दर्य एवं आनन्द से युक्त उस स्वयंभू पुरुष एवं आत्मा को खोज लेता है जो सौन्दर्यबोध की सामग्री को अपना प्रकाश और आनन्द प्रदान करता है उतना ही वह पूर्ण बनता जाता है। ज्ञानात्मक मन अपनी पूर्णता तब प्राप्त करता है जब वह अपने व्यक्तिगत संस्कार, सिद्धान्त और मत-अभिमत से परे हटकर आत्मज्ञान और सहजबोध की उस ज्योति को ढूंढ़ लेता है जो इन्द्रियों और बुद्धि की सभी क्रियाओं को तथा समस्त आत्मानुभव और विश्वानुभव को आलोकित करती है। संकल्पशक्ति अपनी पूर्णता तब प्राप्त करती है जब वह अपने आवेगों तथा कार्य-साधन के अभ्यस्त ढर्रों से दूर और पीछे हटकर भीतर प्रवेश करती है और आत्मा की उस आन्तरिक शक्ति को खोज लेती है जो अन्तर्ज्ञानात्मक एवं प्रकाशमय क्रिया तथा मौलिक एवं सामंजस्यपूर्ण सृजन का उद्गम है। पूर्णता-प्राप्ति की क्रिया का अर्थ है—निम्न प्रकृति के समस्त प्रभुत्व से हटकर बुद्धि में आत्मा और 'पुरुष' की सत्ता और शक्ति एवं उसके ज्ञान और आनन्द को शुद्ध एवं शक्तिशाली रूप में प्रतिबिम्बित करना।

आत्मसिद्धियोग का अभिप्राय इस द्विविध क्रिया को यथासम्भव अधिक-से-अधिक पूर्ण बनाना है। बुद्धि में कामना का मिश्रणमात्र एक प्रकार की अपवित्रता है। कामना से रंगी हुई बुद्धि अपवित्र बुद्धि है और वह सत्य को विकृत कर देती है; कामना से रंगी हुई संकल्पशक्ति अशुद्ध संकल्पशक्ति है और वह अन्तरात्मा के कार्य पर विकृति, पीड़ा और अपूर्णता की छाप लगा देती है। कामनामय पुरुष के भावावेगों का मिश्रण मात्र एक अपवित्रता है और वह भी ज्ञान तथा कर्म को पूर्वोक्त ढंग से विकृत कर देता है। सम्वेदनों और आवेगों के प्रति बुद्धि की अधीनता मात्र एक अपवित्रता है। विचार और संकल्पशक्ति को कामना, उद्वेगजनक भावावेश तथा विक्षेपकारी या प्रभुत्वशाली आवेग के प्रति अनासक्त होकर पीछे की ओर स्थित होना होगा तथा अपने निज अधिकार के बल पर कार्य करना होगा, ऐसा उन्हें तबतक करते रहना होगा जबतक वे उस महत्तर मार्गदर्शिका अर्थात् संकल्पशक्ति, तपस् या दिव्य शक्ति को न खोज लें जो कामना, मानसिक संकल्प और आवेग का स्थान ले लेगी, तथा जबतक कि वे आत्मा के उस आनन्द या शुद्ध हर्ष को एवं आलोकित आध्यात्मिक ज्ञान को न खोज लें जो इस शक्ति के कार्य में अपने-आपको प्रकट करेंगे। यह पूर्ण अनासक्ति, जो पूर्ण आत्म-शासन, **शम**, **समता** और **शान्ति** के बिना प्राप्त नहीं हो सकती, बुद्धि की शुद्धि की ओर सबसे अधिक सुनिश्चित पग है। शान्त, सम और अनासक्त मन ही शान्ति को

अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर सकता है अथवा मुक्त आत्मा के कर्म का आधार बन सकता है।

स्वयं बुद्धि एक मिश्रित एवं अशुद्ध क्रिया के बोझ से दबी हुई है। जब हम उसके अपने वास्तविक रूपों में उसका विश्लेषण करते हैं तो हमें पता चलता है कि उसकी क्रिया की तीन अवस्थाएं या तीन उत्तरोत्तर ऊंचे स्तर हैं। सर्वप्रथम, उसका सबसे निचला आधार एक अभ्यस्त एवं रूढ़ क्रिया है जो उच्चतर बुद्धि और ऐन्द्रिय मन के बीच की कड़ी है, एक प्रकार की प्रचलित बोधशक्ति (समझ) है, यह बोधशक्ति अपने-आपमें इन्द्रियों की साक्षी पर तथा कर्म के उस नियम पर आश्रित रहती है जिसे तर्कबुद्धि जीवन के विषय में ऐन्द्रिय मन की अनुभूति तथा वृत्ति के आधार पर निर्धारित करती है। यह अपने-आप शुद्ध विचार और संकल्प नहीं कर सकती, पर यह उच्चतर बुद्धि की क्रियाओं को लेकर उन्हें सम्मति के सिक्के, विचार के रूढ़ मानदण्ड या कार्य के नियम में परिणत कर देती है। जब हम चिन्तनात्मक मन का एक प्रकार का व्यावहारिक विश्लेषण करते हैं तथा उसमें से इस बोधशक्ति को बाद दे देते हैं और उच्चतर बुद्धि को उसके पीछे मुक्त, साक्षी एवं शान्त रूप में धारण किये रहते हैं तो हमें पता चलता है कि यह सामान्य एवं रूढ़ बोधशक्ति व्यर्थ का चक्कर काटने लगती है, अपनी सब गढ़ी हुई सम्मतियों को तथा वस्तुओं के बाह्य स्पर्शों के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को दुहराती रहती है, पर कोई प्रबल सामञ्जस्य साधित नहीं कर सकती, न किसी कार्य का बीड़ा ही उठा सकती है। जैसे-जैसे यह अधिकाधिक यह अनुभव करती है कि उच्चतर बुद्धि इसे अनुमति नहीं देती, वैसे-वैसे यह असफल होने लगती है, उसका आत्म-विश्वास और अपने रूपों एवं अभ्यासों में विश्वास डिगने लगता है, यह बुद्धि की क्रिया में भी अविश्वास करने लगती है तथा दुर्बल पड़कर निस्तब्ध होती जाती है। दौड़ते रहने, चक्कर काटने और पुनरावृत्ति करनेवाले इस रूढ़ चिन्तनात्मक मन को शान्त करना विचारशक्ति को नीरव करने की उस क्रिया का जो योग की सर्वाधिक प्रभावशाली साधनाओं में से एक है, सबसे मुख्य भाग है।

पर स्वयं उच्चतर बुद्धि की पहली अवस्था क्रियाशील व्यवहारलक्षी बौद्धिकता की होती है जिसमें सृजन, कर्म और संकल्प ही वास्तविक प्रेरक होते हैं और विचार एवं ज्ञान तो मुख्यतः क्रियान्विति के लिये प्रयुक्त होनेवाली आधारभूत धारणाओं तथा सुझावों की रचना के लिये काम में लाये जाते हैं। इस व्यवहारलक्षी बुद्धि के लिये सत्य बुद्धि की एक ऐसी रचनामात्र है जो बाह्य तथा आन्तरिक जीवन के कार्य के लिये एक प्रभावशाली साधन है। जब हम इसे उस और भी उच्च स्तर की बुद्धि से, जो वैयक्तिक रूप से एक प्रभावशाली सत्य का सृजन करने की अपेक्षा परम सत्य को निर्व्यक्तिक रूप से प्रतिबिम्बित करने का यत्न करती है, पृथक् कर लेते हैं तो हमें पता चलता है कि यह व्यवहारलक्षी बुद्धि क्रियाशील

ज्ञान के द्वारा अनुभव को उत्पन्न, विकसित और विस्तृत कर सकती है, परन्तु इसे अपने आधार और पाये के रूप में सर्वसामान्य, रूढ़ बोध-शक्ति पर आश्रित रहना पड़ता है और अपना सारा बल जीवन तथा अभिव्यक्ति पर ही देना होता है। अतएव यह अपने-आपमें जीवन और कर्म की प्रेरणा देनेवाले संकल्प से युक्त मन है, ज्ञानात्मक मन की अपेक्षा कहीं अधिक संकल्पात्मक मन है: यह किसी सुनिश्चित, स्थिर और शाश्वत सत्य में नहीं, बल्कि सत्य के उन विकासोन्मुख एवं परिवर्तनशील पक्षों में निवास करती है जो हमारे जीवन और प्राकट्य के बदलते हुए रूपों के लिये उपयोगी होते हैं अथवा, अधिक-से-अधिक, जीवन के अभिवर्धन और विकास में सहायक होते हैं। अपने-आपमें यह व्यवहारलक्षी मन हमें न तो कोई दृढ़ आधार प्रदान कर सकता है और न ही कोई स्थिर लक्ष्य; यह नित्यता के किसी सत्य में नहीं, वर्तमान काल के सत्य में निवास करता है। परन्तु जब यह रूढ़ बोध-शक्ति की अधीनता से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है तो यह महान् स्रष्टा होता है और उच्चतम मानसिक तर्कशक्ति के साथ मिलकर तो यह जीवन में सत्य को कार्यान्वित करने के लिये एक शक्तिशाली वाहन एवं साहसी सेवक बन जाता है। इसके कार्य का मूल्य उच्चतम सत्यान्वेषिणी बुद्धि के मूल्य एवं शक्ति-सामर्थ्य पर निर्भर करेगा। पर अकेला अपने-आप यह काल का खिलौना और प्राण (जीवन) का क्रीतदास है। निश्चल-नीरवता की साधना करनेवाले को इसे अपने से दूर फेंक देना होगा; समग्र भगवान् को पाने के अभिलाषी साधक को इसे अतिक्रम कर जाना होगा, जीवन में व्यग्र इस चिन्तनात्मक मन के स्थान पर एक महत्तर कार्यसाधक आध्यात्मिक संकल्प अर्थात् आत्मा के सत्य-संकल्प को प्रतिष्ठित करके उसके द्वारा इसे रूपान्तरित करना होगा।

बौद्धिक संकल्प और तर्कशक्ति की तीसरी एवं उत्कृष्टतम अवस्था उस बुद्धि की है जो किसी वैश्व सद्वस्तु को या उससे भी ऊंचे किसी स्वयंस्थित सत्य को उसीकी खातिर खोजती है और फिर उस सत्य में जीवन धारण करने का यत्न करती है। यह प्रधानतया ज्ञानात्मक मन है और संकल्पात्मक मन तो यह केवल गौण रूप से ही है। अपनी जिज्ञासावृत्ति की अति होने पर यह प्रायः ज्ञान प्राप्त करने के एकमात्र संकल्प को छोड़कर, सामान्यतः संकल्प को धारण करने में असमर्थ ही हो जाती है; कर्म के लिये यह व्यवहारलक्षी मन की सहायता पर निर्भर करती है और अतएव कर्म करने के समय मनुष्य अपने उच्चतम ज्ञान के द्वारा अधिकृत सत्य की पवित्रता से पतित होकर उसकी एक मिश्रित निम्नतर, अस्थिर और अपवित्र क्रियान्विति में ग्रस्त होता चला जाता है। ज्ञान और संकल्प में यह असामञ्जस्य विरोध रूप न होने पर भी मानव-बुद्धि के मुख्य दोषों में से एक है। पर समस्त मानव-चिन्तन की कुछ अन्य स्वाभाविक सीमाएं भी हैं। यह उच्चतम बुद्धि मनुष्य के अन्दर अपने शुद्ध रूप में कार्य नहीं करती; निम्न मन अपने दोषों

के द्वारा इसपर आक्रमण करता है, इसे निरन्तर तमसाच्छन्न, विकृत और आवृत करता रहता है और इसके अपने विशेष कार्य में बाधा पहुंचाता है या उसे पंगु कर देता है। मानव-बुद्धि को मानसिक विच्युति की इस आदत से यथासम्भव अधिक-से-अधिक मुक्त एवं शुद्ध भले ही कर दिया जाये फिर भी वह एक ऐसी शक्ति रहती है जो सत्य की खोज करती है पर उसे सम्पूर्ण या प्रत्यक्ष रूप में कभी भी नहीं प्राप्त कर पाती; वह तो आत्मा के सत्य को केवल प्रतिबिम्बित कर सकती है और उसे सीमित मानसिक मूल्य एवं सुस्पष्ट मानसिक आकार प्रदान करके अपना बनाने का यत्न कर सकती है। उसका प्रतिबिम्ब भी वह समग्र रूप में ग्रहण नहीं करती, बल्कि या तो एक अनिश्चित समग्रता को पकड़ पाती है या फिर सीमित ब्यौरों के कुल योग को। सर्वप्रथम वह किसी एक या दूसरे आंशिक प्रतिबिम्ब को अपनी पकड़ में लाती है और उसे रूढ़ मन के अभ्यास के वश में करके एक स्थिर एवं बन्धनकारक सम्मति में परिणत कर देती है; इस प्रकार वह जो दृष्टिकोण बना लेती है उसीसे समस्त नये सत्य को परखती है और अतएव उसे एक सीमित करनेवाले पूर्वनिर्णय के रंग में रंग देती है। सीमाबद्ध करनेवाली सम्मति के इस अभ्यास से उसे यथासम्भव अधिक-से-अधिक मुक्त कर भी दो, फिर भी वह एक अन्य बन्धन के वश में रहती है, वह यह कि व्यवहारलक्षी मन उससे प्रत्येक नये सत्य को तुरत-फुरत क्रियान्वित करने की मांग करता है। यह मांग उसे विशालतर सत्य की ओर बढ़ने के लिये अवकाश ही नहीं देती, बल्कि जिस सत्य को वह पहले जांच-परख तथा जान-समझ करके जीवन में उतार चुकी है उसीमें उसे उस सत्य की प्रभावशाली चरितार्थता की शक्ति के द्वारा बांधे रखती है। इन सब बन्धनों से मुक्त होकर बुद्धि सत्य को प्रतिबिम्बित करनेवाला एक शुद्ध और नमनीय दर्पण बन सकती है, तब वह एक ज्योति में दूसरी ज्योति की वृद्धि करती है तथा एक साक्षात्कार से दूसरे साक्षात्कार की ओर अग्रसर होती है। तब वह केवल अपनी स्वाभाविक सीमाओं से ही सीमित होती है।

ये सीमाएं मुख्यतः दो प्रकार की हैं। प्रथम, उसके साक्षात्कार केवल मानसिक होते हैं; साक्षात् सत्यतक पहुंचने के लिये हमें मनोमय बुद्धि के परे जाना होगा। दूसरे, मन अपने स्वभाव से ही उसे उसकी पकड़ में आये सत्यों का प्रभावशाली एकीकरण नहीं करने देता। वह केवल उन्हें पास-पास रखकर उनके विरोधों को देख सकती है अथवा उनमें एक प्रकार का अपूर्ण, कार्यक्षम एवं व्यावहारिक मेल ही स्थापित कर सकती है। पर अन्त में उसे पता चलता है कि सत्य के पहलू अनन्त हैं और इस (सत्य) के बौद्धिक रूपों में से कोई भी पूर्णतः यथार्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा अनन्त है और आत्मा में सब कुछ ही सत्य है, पर मन में ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं जो आत्मा के सम्पूर्ण सत्य को प्राप्त करा सके। ऐसी दशा में या तो बुद्धि अनेक प्रतिबिम्बों को ग्रहण करनेवाला एक शुद्ध दर्पण बन जाती है, अर्थात्

उसपर जिस भी सत्य की किरणें पड़ती हैं उसे वह प्रतिबिम्बित करती है, पर वह उसे क्रियान्वित करने में सफल नहीं होती और जब उसे कार्य में लगाया जाता है तो या तो वह निर्णय करने में असमर्थ रहती है या गड़बड़ा जाती है, अथवा (यदि वह सब सत्यों के लिये दर्पण का काम नहीं करती तो) उसे एक चुनाव करना पड़ता है और इस प्रकार व्यवहार करना पड़ता है मानों वह आंशिक सत्य ही सम्पूर्ण सत्य हो, यद्यपि वह जानती होती है कि बात ऐसी नहीं है। वह अज्ञान की असहाय परिधि के भीतर कार्य करती है, यद्यपि वह अपने कार्य की अपेक्षा कहीं अधिक महान् सत्य से युक्त हो सकती है। इसके विपरीत, वह जीवन और विचार से मुंह मोड़कर अपने-आपको अतिक्रम करने तथा अपने से परे के सत्य में प्रवेश करने का यत्न भी कर सकती है। यह कार्य वह सद्वस्तु के किसी पक्ष या तत्त्व अथवा किसी प्रतीक या संकेत को पकड़ में लाकर तथा उसके एक निरपेक्ष, सर्वग्रासी एवं सर्ववर्जक रूप का साक्षात्कार प्राप्त करके कर सकती है या फिर समस्त विचार एवं जीवन जिस निर्विशेष 'सत्' या 'असत्' में लीन हो जाते हैं उसके विषय में किसी विचार को अधिगत तथा प्रत्यक्ष करके भी वह यह कार्य कर सकती है। तब बुद्धि प्रकाशमय निद्रा में लीन हो जाती है और आत्मा आध्यात्मिक सत्ता के किसी अनिर्वचनीय शिखर पर पहुंच जाती है।

अतएव बुद्धि की शुद्धि का कार्य करते हुए हमें या तो इन उपरिवर्णित सम्भावनाओं में से किसी एक को चुन लेना होगा या फिर अन्तरात्मा को मनोमय भूमिका से आध्यात्मिक विज्ञान में उठा ले जाने का अत्यन्त विरल साहस-कार्य करने के लिये यत्न करना होगा और इस प्रकार यह देखना होगा कि इस दिव्य ज्योति एवं शक्ति के निज अन्तस्तल में हमें क्या सत्य प्राप्त हो सकता है। यह विज्ञानमय कोश दिव्य ज्ञान-संकल्प के सूर्य को अपने अन्दर धारण किये है जो परमोच्च चिन्मय पुरुष के द्युलोक में प्रोज्वल रूप से चमक रहा है, हमारी मनोमय बुद्धि और संकल्प-शक्ति तो उसकी विकीर्ण और विचलित रश्मियों और प्रतिच्छायाओं का एक केन्द्रमात्र हैं। उसमें दिव्य एकत्व है, किन्तु फिर भी या वास्तव में इसी कारण वह अनेकता एवं विभिन्नता को नियन्त्रित कर सकता है : जो भी चुनाव, आत्म-परिसीमन एवं सम्मिश्रण वह करता है वह उसपर अज्ञान के द्वारा नहीं लादा जाता, बल्कि एक स्वराट् दिव्य ज्ञान की शक्ति के द्वारा स्वयं विकसित होता है। जब विज्ञान उपलब्ध हो जाता है तो उसे मानवसत्ता को दिव्य बनाने के लिये सम्पूर्ण प्रकृति पर प्रयुक्त किया जा सकता है। पर विज्ञान में एकदम ही आरोहण कर जाना सम्भव नहीं; यदि ऐसा करना सम्भव हो तो इसका अर्थ होगा सूर्य के द्वारों में से, **सूर्यस्य द्वारा**, एकाएक और जोर-जबर्दस्ती से तीर की तरह छूटते हुए या उन्हें तोड़ते हुए ऊपर चले जाना या उनमें से चुपके से निकलकर ऊपर भाग जाना, जिसके बाद निकट भविष्य में वहां से लौटने की कोई सम्भावना

नहीं रहती। हमें अन्तर्ज्ञानात्मक या ज्ञानदीप्त मन को एक शृंखला या सेतु बनाना होगा, यह मन प्रत्यक्ष विज्ञान-ज्योति नहीं है, पर इसमें विज्ञान का प्रथम गौण रूप निर्मित हो सकता है। यह ज्ञानदीप्त मन आरम्भ में एक मिश्रित-सी शक्ति होगा जिसको हमें मन पर निर्भर रहने की उसकी समस्त प्रवृत्ति से तथा मानसिक रूप-रचनाओं से मुक्त कर शुद्ध करना होगा ताकि संकल्प और विचार की समस्त क्रिया एक आलोकित विवेकशक्ति, अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेरणा और दिव्य साक्षात्कार के द्वारा तत्त्वदृष्टि तथा सत्यदर्शी संकल्प में रूपान्तरित हो जाये। यह बुद्धि की अंतिम शुद्धि होगी और इसके साथ ही विज्ञानमय सिद्धि के लिये तैयारी भी।

अध्याय ८

आत्मा की मुक्ति

मनोमय सत्ता और सूक्ष्म प्राण की शुद्धि आध्यात्मिक मुक्ति के लिये आधार तैयार कर देती है—स्थूल-भौतिक शुद्धि अर्थात् शरीर और स्थूल प्राण की शुद्धि का प्रश्न हम अभी एक ओर छोड़ देते हैं, यद्यपि सर्वांगीण सिद्धि के लिये वह भी आवश्यक है। शुद्धि मुक्ति की शर्त है। शुद्धिमात्र एक प्रकार की मुक्ति या छुटकारा ही है; क्योंकि इसका अर्थ है संकीर्णता, बन्धन तथा अन्धकार उत्पन्न करनेवाली अपूर्णताओं एवं गड़बड़ियों को दूर हटाना : कामना-रूपी अशुद्धि को दूर करने से सूक्ष्म प्राण मुक्त हो जाता है, अशुद्ध भावावेगों और उद्वेगजनक प्रतिक्रियाओं-रूपी अशुद्धि को दूर करने से हृदय मुक्त हो जाता है, ऐन्द्रिय मन के अज्ञानजनक सीमित विचाररूपी अशुद्धि को दूर करने से बुद्धि मुक्त हो जाती है, कोरी बौद्धिकता-रूपी अशुद्धि को दूर करने से विज्ञानमय मुक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह सब तो करणों की मुक्ति है। आत्मा की मुक्ति का स्वरूप अधिक विशाल एवं तात्त्विक है; उसका अभिप्राय मर्त्यसीमा से बाहर निकलकर आत्मा की असीम अमरता में उन्मुक्त हो जाना है।

कुछ-एक चिन्तन प्रणालियों के लिये मुक्ति का अर्थ है—समस्त प्रकृति का परित्याग कर देना, शुद्ध सत्ता की नीरव अवस्था, निर्वाण या लय, प्राकृत सत्ता का किसी परिभाषातीत परब्रह्म में लय, **मोक्ष**। परन्तु हमारा लक्ष्य लीनता एवं मग्नता का आनन्द, निष्क्रिय शान्ति की विशालता, आत्मनिर्वाण-रूपी मोक्ष या परब्रह्म में आत्म-निमज्जन नहीं है। हम मुक्ति के विचार को केवल यह अर्थ प्रदान करेंगे कि यह एक ऐसा आन्तरिक परिवर्तन है जो मुक्ति के ढंग के समस्त अनुभव में सामान्य रूप से देखने में आता है और जो सिद्धि के लिये आवश्यक तथा आध्यात्मिक मुक्ति के लिये अनिवार्य है। हमें पता चलेगा कि तब इसका अभिप्राय सदा दो चीजों से होता है; वे चीजें हैं—परित्याग और ग्रहण, इनमें से एक तो मुक्ति का निषेधात्मक पक्ष है और दूसरा भावात्मक; मुक्ति की निषेधात्मक गति का अर्थ है अपनी सत्ता की निम्न प्रकृति के प्रधान बन्धनों एवं मुख्य ग्रन्थियों से छुटकारा पाना, उसके भावात्मक पक्ष का अर्थ है उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता में उन्मुक्त या विकसित होना। परन्तु ये प्रधान ग्रन्थियां—मन, हृदय और सूक्ष्म प्राणशक्ति की करणात्मक ग्रन्थियों से भिन्न एवं अधिक गहरी ऐंठने हैं क्या ? हम देखते हैं कि गीता में हमारे लिये इनका निर्देश किया गया है और इनपर बड़े बलपूर्वक तथा निरन्तर, प्रबल शब्दों में एवं बारम्बार आग्रह किया गया है; ये चार ग्रन्थियां हैं कामना, अहंकार, द्वंद्व और प्रकृति के तीन गुण; क्योंकि गीता के विचार

में मुक्त होने का अर्थ है निष्काम और निरहंकार होना, मन, अन्तरात्मा और आत्मा में सम तथा त्रिगुण से रहित, **निस्त्रैगुण्य**, होना। हम इस परिभाषा को स्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि मुक्ति के सभी मौलिक तत्त्व इसकी विशालता में समा जाते हैं। दूसरी ओर, मुक्ति का भावात्मक अभिप्राय है अपनी आत्मा को विश्वात्मा के साथ एक करना, विश्व से परे भी भगवान् के साथ एकात्मता लाभ करना, उच्चतम दिव्य प्रकृति को धारण करना,—यूं कहें कि भगवान् के समान बनना या अपनी सत्ता के धर्म में उनके साथ साधर्म्य लाभ करना। यही मुक्ति का सम्पूर्ण और समग्र आशय है और यही आत्मा की सर्वांगपूर्ण मुक्ति है।

सूक्ष्म प्राण की कामना-रूपी अशुद्धि को दूर करने के सम्बन्ध में हम पहले भी एक प्रकरण में कह चुके हैं। स्थूल प्राण की लालसा तो इस कामना का विकासात्मक या, यूं कहें कि, क्रियात्मक आधार है। पर यह मानसिक एवं सूक्ष्म-प्राणिक प्रकृति की बात है; आध्यात्मिक निष्कामता का अर्थ तो इससे अधिक विशाल एवं मौलिक है: क्योंकि कामना की दो ग्रन्थियां हैं, एक है प्राण में विद्यमान निम्नतर ग्रन्थि जो करणों में लालसा के रूप में दृष्टिगोचर होती है; दूसरी है स्वयं अन्तरात्मा में रहनेवाली अत्यन्त सूक्ष्म ग्रन्थि जिसका प्रथम आधार या **प्रतिष्ठा** है बुद्धि और जो हमारे बन्धनके इस सूक्ष्म जाल का अन्तरतम मूल है। जब हम नीचे से देखते हैं तो कामना हमारे सामने प्राणशक्ति की एक ऐसी लालसा के रूप में प्रस्तुत होती है जो भावावेगों में हृदय की लालसा का सूक्ष्म रूप धारण कर लेती है और बुद्धि में उसकी सौन्दर्यात्मक, नैतिक, क्रियाशील या तर्कप्रधान शक्ति की लालसा, अभिरुचि एवं उत्तेजना का और भी सूक्ष्म रूप ग्रहण कर लेती है। यह कामना साधारण मनुष्य के लिये एक आवश्यक तत्त्व है; व्यक्ति के रूप में वह अपने समस्त कर्म को किसी प्रकार की निम्न या उच्च लालसा, अभिरुचि या आवेश की सेवा में ग्रस्त किये बिना न तो जी सकता है और न कोई कार्य ही कर सकता है। पर जब हम कामना पर ऊपर की भूमिका से दृष्टिपात करने में समर्थ हो जाते हैं तो हम देखते हैं कि करणों की इस कामना को आश्रय देनेवाली वस्तु है आत्मा की संकल्पशक्ति। एक संकल्प, **तपस्** या **शक्ति** है जिसके द्वारा गुप्त आत्मा अपने बाह्य करणों को उनकी समस्त क्रिया के लिये बाध्य करती है और उससे अपनी सत्ता का सक्रिय हर्ष, **आनन्द**, आहरण करती है जिसमें वे यदि चेतन रूप से भाग लेते भी हैं तो अत्यन्त अस्पष्ट एवं अपूर्ण रूप से ही लेते हैं। यह तपस् उस परात्पर आत्मा की संकल्पशक्ति है जो विश्वरूपी विराट् व्यापार को उत्पन्न करती है, उस विश्वात्मा की संकल्पशक्ति है जो इस व्यापार को धारण तथा अनुप्राणित करती है, उस स्वतन्त्र जीवात्मा की संकल्पशक्ति है जो विश्वात्मा के 'बहु' रूपों का आत्मा-रूपी केन्द्र है। यह एक ही संकल्पशक्ति है जो एक साथ इन तीनों में स्वतन्त्र रूप में विद्यमान है, व्यापक, समस्वर एवं एकीकृत है; जब हम

आत्मा में निवास तथा कर्म करते हैं तो हमें अनुभव होता है कि यह तपस् सत्ता के आध्यात्मिक आनन्द की एक निरायास और निष्काम संकल्पशक्ति है, स्वयंस्फूर्त और आलोकित, अपने-आपको चरितार्थ और धारण करनेवाली, तृप्त और आनन्दपूर्ण संकल्पशक्ति है।

पर ज्योंही जीवात्मा अपनी सत्ता के विराट् और परात्पर सत्य से मुंह मोड़कर अहंभाव की ओर झुकता है, इस संकल्पशक्ति को अपनी निजी वस्तु, एक पृथक् व्यक्तिगत शक्ति बनाने की चेष्टा करता है, त्योंही इस संकल्पशक्ति का स्वरूप बदल जाता है : यह एक प्रयत्न, आयास एवं शक्तिमय ताप का रूप धारण कर लेती है जो अपनी कार्यसिद्धि और स्वत्वप्राप्ति के आवेशमय हर्षों से युक्त हो सकता है, पर जिसके साथ उसकी दुःखदायक प्रतिक्रियाएं और श्रमजन्य पीड़ा भी जुड़ी रहती हैं। यही आयास प्रत्येक करण में कामना, इच्छा या लालसा-रूपी बौद्धिक, भाविक, क्रियाशील, सम्वेदनात्मक या प्राणिक संकल्प में परिवर्तित हो जाता है। जब करण, अपने-आपमें, कार्य आरम्भ करने के अपने प्रत्यक्ष संकल्प से एवं विशेष प्रकार की कामना से मुक्त एवं शुद्ध हो जाते हैं तब भी यह अपूर्ण संकल्पशक्ति, **तपस्**, बनी रह सकती है, और जबतक यह आन्तरिक क्रिया के उद्गम को छुपाती है या उसके अपने विशिष्ट रूप को विकृत कर देती है तबतक अन्तरात्मा स्वतन्त्रता का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकती, अथवा यदि कर भी सकती है तो कर्ममात्र से पराङ्मुख होकर ही प्राप्त कर सकती है; यहांतक कि यदि इस संकल्पशक्ति को टिके रहने दिया जाये तो यह प्राणिक या अन्य कामनाओं को फिर से भड़का देगी या, कम-से-कम सत्ता पर उनकी ऐसी छाया डालेगी जिससे उनकी याद ताजी हो जायेगी। कामना के इस आध्यात्मिक बीज या आरम्भ का भी बहिष्कार करना होगा, इसका भी त्याग और उन्मूलन करना होगा : साधक को या तो सक्रिय शान्ति एवं पूर्ण आन्तरिक नीरवता का वरण करना होगा या फिर विराट् संकल्प के साथ अर्थात् दिव्य शक्ति के तपस् के साथ एकत्व प्राप्त करके उस एकत्व में अपनी व्यक्तिगत कार्य-प्रवृत्ति, **संकल्पारम्भ**, को विलीन कर देना होगा। निष्क्रिय मार्ग यह है कि साधक अन्दर से निश्चल बने, प्रयत्न, इच्छा एवं आशा से या कार्य करने की समस्त प्रवृत्ति से रहित हो, **निश्चेष्ट, अनीह, निरपेक्ष, निवृत्त** बने; सक्रिय मार्ग यह है कि वह अपने मन में इस प्रकार निश्चल एवं निर्व्यक्तिक रहे, पर अपने शुद्ध हुए करणों के द्वारा परमोच्च संकल्पशक्ति को उसके शुद्ध आध्यात्मिक रूप में कार्य करने दे। तब, यदि अन्तरात्मा आध्यात्मीकृत मन के स्तर पर निवास करे तो वह केवल यन्त्र ही बनती है, पर स्वयं न तो कार्य का संकल्प-रूप आरम्भ करती है और न कार्य ही करती है अर्थात् **निष्क्रिय** और **सर्वारम्भ-परित्यागी** होती है। परन्तु यदि वह ऊपर उठकर विज्ञानभूमिका में पहुंच जाये तो वह यन्त्र होने के साथ-साथ दिव्य कर्म के आनन्द में तथा दिव्य आनन्द के

परमोल्लास में भाग भी लेती है; वह अपने अन्दर प्रकृति और पुरुष को एक कर देती है।

अहं-वृत्ति अर्थात् सत्ता की पार्थक्यजनक वृत्ति अज्ञान और बन्धन के समस्त उद्वेगकारी प्रयास का अवलम्ब है। जबतक मनुष्य अहं-बुद्धि से मुक्त नहीं होता, तबतक उसे वास्तविक मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अहं का स्थान बुद्धि में माना जाता है; अहंभाव विवेककारी मन और बुद्धि का अज्ञान ही है, क्योंकि ये मन और बुद्धि अशुद्ध रूप में विवेक करते हैं और मन, प्राण तथा शरीर के व्यक्तिभावापन्न रूप को भेदभावजनक सत्ता का सत्य समझते हैं और समस्त सत्ता की एकता के महत्तर एवं समन्वयकारी सत्य से विमुख हो जाते हैं। कम-से-कम, मनुष्य में जो अहंमय विचार विद्यमान है वही भेदभावप्रधान सत्ता के असत्य का मुख्य आधार है; अतएव इस विचार से मुक्त होना, इससे उल्टे विचार पर अर्थात् एकता के, एक ही 'पुरुष', एक ही आत्मा, एक ही प्राकृत सत्ता के विचार पर चित्त को एकाग्र करना ही प्रभावशाली उपाय है; पर अकेला अपने-आपमें यह पूर्ण रूप से सफल नहीं होता। कारण, यद्यपि अहं इस अहं-बुद्धि को अपना आधार बनाता है फिर भी अपनी विशेष प्रकार की आग्रहशीलता के लिये या अपने स्थायित्व के आवेश के लिये उसे सबसे अधिक शक्तिशाली साधन ऐन्द्रिय मन, प्राण और शरीर की सामान्य क्रिया में ही मिलता है। अपने अन्दर से अहं-बुद्धि का उन्मूलन तबतक पूर्ण रूप से सम्भव नहीं होता या पूर्णतया प्रभावशाली नहीं होता जबतक ये करण शुद्ध न हो जायें; इसका कारण यह है कि इनकी क्रिया सतत रूप से अहंकारमय एवं पार्थक्यजनक होती है और फलतः ये बुद्धि को उसी प्रकार हर ले जाते हैं जिस प्रकार, गीता में कहा गया है कि समुद्र में आन्धी नौका को उड़ा ले जाती है, बुद्धि के ज्ञान को ये निरन्तर तमसाच्छन्न करते रहते हैं या कुछ समय के लिये लुप्त ही कर देते हैं और अतएव वह ज्ञान हमें फिर से प्राप्त करना पड़ता है, इसके लिये हमें जो प्रयत्न करना होता है वह ठीक भगीरथ के पुरुषार्थ की ही याद दिलाता है। परन्तु, यदि निम्न करणों में से अहंमय कामना, इच्छा, संकल्प, अहंकारपूर्ण आवेश एवं भावावेश को तथा स्वयं बुद्धि में से भी अहंतामय विचार और अभिरुचि को दूर करके उन्हें शुद्ध कर लिया जाये तो एकत्व के आध्यात्मिक सत्य के ज्ञान को एक दृढ़ आधार प्राप्त हो सकता है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक अहंभाव सब प्रकार के सूक्ष्म रूप ग्रहण करता रहता है और हम अपने को इससे मुक्त समझते रहते हैं जब कि वास्तव में हम इसके यन्त्रों के रूप में कार्य कर रहे होते हैं और हमें बस एक प्रकार का बौद्धिक सन्तुलन ही प्राप्त हुआ होता है जो सच्ची आध्यात्मिक मुक्ति नहीं है। और फिर, अहं की सक्रिय भावना को निकाल फेंकना ही काफी नहीं है; इससे तो केवल मन की निष्क्रिय अवस्था ही प्राप्त हो सकती है, पृथक् सत्ता की एक विशेष प्रकार की निष्क्रिय एवं जड़ शान्ति राजसिक अहंभाव

का स्थान ले सकती है, पर यह भी सच्ची मुक्ति नहीं है। अहंभावना के स्थान पर परात्पर भगवान् एवं विराट् पुरुष के साथ की एकता को स्थापित करना होगा।

एकता को स्थापित करने की इस आवश्यकता का कारण यह है कि बुद्धि नानाविध क्रीड़ा करनेवाले अहंकार की प्रतिष्ठा या मुख्य भित्तिमात्र है; पर अपने मूल में यह अहंकार हमारी आध्यात्मिक सत्ता के एक सत्य का ह्रास या विकार है। सत्ता का वह सत्य यह है कि एक परात्पर सत् परम पुरुष या आत्मा है, जगत् का एक त्रिकालातीत आत्मा, एक सनातन सत्ता या भगवान् है, अथवा उस भागवत सत्ता के विषय में आजकल जो मानसिक धारणाएं प्रचलित हैं उनकी तुलना में हम उसे अतिभागवत (भगवान् से परे की) सत्ता भी कह सकते हैं। वह सत्ता यहां अन्तर्यामी रूप में विद्यमान है, अपनी भुजाओं में सबका आलिंगन किये हुए है, सर्व-चालक और सर्व-नियामक है, महान् विधात्मा है; और व्यक्ति सनातन की सत्ता की एक चेतन शक्ति है, वह उनके साथ नित्य ही अनेकविध सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, पर अपनी सनातन सत्ता के सत्स्वरूप के अन्तस्तल में उनके साथ एक भी है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे बुद्धि समझ सकती है, एक बार शुद्ध हो जाने पर तो वह इसे प्रतिबिम्बित करके अन्य करणोंतक भी पहुंचा सकती है, इसे एक गौण एवं अमौलिक ढंग से धारण भी कर सकती है, पर इसका पूर्ण साक्षात्कार तो आत्मा की भूमिका में ही किया जा सकता है, वहां पहुंचकर ही इसे पूर्ण रूप से जीवन में उतारा जा सकता तथा प्रभावशाली बनाया जा सकता है। जब हम आत्मा में निवास करते हैं तब हम अपनी सत्ता के इस सत्य को केवल जानते ही नहीं बल्कि हम स्वयं यही सत्य होते हैं। तब व्यक्ति आत्मा में, आत्मा के आनन्द में, विराट् सत्ता एवं त्रिकालातीत भगवान् के साथ तथा अन्य सब भूतों के साथ अपने एकत्व का उपभोग करता है और अहं-भाव से आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करने का मूल आशय यही है। किन्तु ज्योंही अन्तरात्मा मनोमय बन्धन की ओर झुकती है, त्योंही उसके अन्दर अपने पृथक् आत्मिक व्यक्तित्व की एक विशेष भावना उत्पन्न होती है जिसके अपने नानाविध आनन्द उसे प्राप्त होते हैं, पर वह किसी भी क्षण पूर्ण अहंबुद्धि एवं अज्ञान में तथा एकत्व के विस्मरण की अवस्था में पतित हो सकती है। इस पृथक् व्यक्ति की भावना से मुक्त होने के लिये भगवान् के विचार और साक्षात्कार में अपने-आपको डुबा देने का यत्न किया जाता है, और आध्यात्मिक तपस्या की कुछ-एक पद्धतियों में यह यत्न समस्त व्यक्तिगत सत्ता के उच्छेद के लिये एक कठोर प्रयास का रूप ग्रहण कर लेता है, और इस प्रकार उनमें लयात्मक समाधि की अवस्था में पहुंचकर भगवान् के साथ के सभी व्यक्तिगत या विराट् सम्बन्धों का परित्याग कर दिया जाता है, कुछ अन्य पद्धतियों में इसका रूप यह हो जाता है कि व्यक्ति इस लोक में न रहकर भगवान् में तन्मय हो उन्हींमें निवास करने का यत्न करता है अथवा वह उनकी उपस्थिति में सतत

निमग्न या एकचित्त होकर जीवन धारण करने का अभ्यास करता है, **सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य मुक्ति**। पूर्णयोग के लिये जो मार्ग प्रस्तुत किया जाता है वह यह है कि हम अपनी सम्पूर्ण सत्ता को ऊपर ले जाकर भगवान् को समर्पित कर दें; इसके द्वारा हम न केवल अपनी आध्यात्मिक सत्ता में उनके साथ एक हो जाते हैं अपितु हम उनमें और वे हम में निवास भी करने लगते हैं, जिससे कि हमारी सारी-की-सारी प्रकृति उनकी उपस्थिति से पूर्ण होकर दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित हो जाती है; हम अपनी आत्मा एवं चेतना में तथा अपने प्राण एवं भौतिक तत्त्व में भगवान् के साथ एक हो जाते हैं और साथ ही इस एकता में रहते-सहते तथा चलते-फिरते हैं और इसका नानाविध आनन्द भी उठाते हैं। अहंभाव से इस प्रकार की सम्पूर्ण मुक्ति एवं दिव्य आत्मा और प्रकृति की प्राप्ति हमारी वर्तमान भूमिका में केवल सापेक्ष रूप में ही पूर्ण हो सकती है, पर जैसे-जैसे हम विज्ञान-भूमिका की ओर खुलते और उसमें आरोहण करते हैं वैसे-वैसे यह अपनी चरम पूर्णता को प्राप्त करने लगती है। यह मुक्त पूर्णता है।

अहं से मुक्ति तथा कामना से मुक्ति दोनों मिलकर केन्द्रीय आध्यात्मिक मुक्ति की नींव स्थापित कर देती हैं। यह बोध, यह विचार एवं अनुभव कि मैं इस जगत् में एक पृथक् स्वयं-स्थित सत्ता रखनेवाला जीव हूं, और अपनी सत्ता की चेतना एवं शक्ति को इस अनुभव के सांचे में ढालना—यही समस्त दुःख, अज्ञान और पाप का मूल है। और इसका कारण यह है कि यह अनुभव वस्तुओं के समस्त वास्तविक सत्य को ज्ञान तथा व्यवहार में मिथ्या रूप दे देता है; यह सत्ता तथा चेतना को सीमित कर देता है और हमारी सत्ता के शक्ति-सामर्थ्य एवं आनन्द को भी सीमित कर देता है; यह सीमा फिर जीवन तथा चैतन्य की अशुद्ध प्रणाली को जन्म देती है, हमारी सत्ता और चेतना की शक्ति का प्रयोग करने की अशुद्ध प्रणाली को तथा सत्ता के आनन्द के मिथ्या, विकृत एवं विपरीत रूपों को उत्पन्न करती है। इस प्रकार सत्ता में सीमित हुई तथा अपने परिपार्श्व में दूसरों से स्वतः ही पृथक् हुई अन्तरात्मा फिर अपने परम आत्मा एवं ईश्वर के साथ तथा इस जगत् के एवं अपने चारों ओर की सब वस्तुओं के साथ अपनी एकता और समस्वरता को अनुभव नहीं करती; उल्टे वह इस विश्व के साथ अपना असामंजस्य अनुभव करती है, अन्य प्राणियों के साथ, जो वस्तुतः उसकी ही दूसरी आत्माएं हैं पर जिनके साथ वह अनात्मा के रूप में व्यवहार करती है, संघर्ष और विरोध-वैषम्य में ग्रस्त रहती है; और जबतक यह विरोध-वैषम्य एवं असामञ्जस्य बने रहते हैं तबतक वह अपने जगत् को अपने अधिकार में नहीं ला सकती तथा विराट् जीवन का आनन्द नहीं उठा सकती, बल्कि तबतक वह भय, व्याकुलता तथा सब प्रकार की वेदनाओं से संकुल रहती है, अपनी रक्षा और अभिवृद्धि करने तथा अपनी परिस्थितियों को अपने अधिकार में लाने के लिये कष्टप्रद संघर्ष में उलझी रहती है,—क्योंकि अपने

जगत् को अपने अधिकार में लाना अनन्त आत्मा का निज स्वभाव है तथा प्राणिमात्र की एक आवश्यकता एवं बलवती प्रवृत्ति है। इस श्रम और पुरुषार्थ से उसे जो नाना प्रकार का सन्तोष प्राप्त होता है वह सीमित, विकृत एवं असन्तोषप्रद ढंग का होता है : क्योंकि उसे जो एकमात्र वास्तविक सन्तोष मिलता है वह आत्म-विकास का, अपने स्वरूप की अधिकाधिक पुनः प्राप्ति का, सुसंगति और समस्वरता के किसी साक्षात्कार का तथा सफल आत्म-सर्जन एवं आत्मोपलब्धि का सन्तोष होता है, पर अहं-चेतना के आधार पर वह इन चीजों का जो थोड़ा-सा अंश प्राप्त कर सकती है वह सदा सीमित, असुरक्षित, अपूर्ण एवं क्षणिक ही होता है। वह अपनी सत्ता के साथ भी कलह में रत रहती है,—इसका पहला कारण तो यह है कि अपनी सत्ता के केन्द्रीय सामञ्जस्यकारी सत्य पर अधिकार न होने से वह अपनी प्रकृति के करणों को ठीक ढंग से नियन्त्रण में नहीं रख सकती, न वह उनकी प्रवृत्तियों, शक्तियों और मांगों में समस्वरता ही स्थापित कर सकती है; समस्वरता का रहस्य उसे ज्ञात ही नहीं है; क्योंकि उसे अपनी एकता एवं आत्म-उपलब्धि का रहस्य भी प्राप्त नहीं है; और दूसरे, अपनी उच्चतम आत्मा को उपलब्ध न किये होने से उसे उसकी प्राप्ति के लिये संघर्ष करना पड़ता है तथा जबतक वह अपनी सच्ची उच्चतम सत्ता को उपलब्ध नहीं कर लेती तबतक वह शान्ति भी नहीं प्राप्त कर सकती। इस सबका अर्थ यह है कि वह भगवान् के साथ एकीभूत नहीं है; क्योंकि भगवान् के साथ एकीभूत होने का अर्थ है अपनी आत्मा के साथ एक होना, विश्व के साथ तथा सर्वभूतों के साथ एकमय होना। यह एकता ही यथार्थ एवं दिव्य जीवन का रहस्य है। पर अहं इसे प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपने मूल स्वभाव से ही पृथक्ता को उत्पन्न करनेवाला है और क्योंकि हमारे अपने स्वरूप की अपनी मनोवैज्ञानिक सत्ता की दृष्टि से भी वह एकता का एक मिथ्या केन्द्र है; क्योंकि वह हमारी सम्पूर्ण सत्ता के सनातन आत्मा के साथ नहीं, बल्कि एक परिवर्तनशील मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसी तादात्म्य में हमारी सत्ता की एकता को पाने का यत्न करता है। पर केवल आध्यात्मिक सत्ता में ही हम सच्ची एकता को प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि वहां व्यक्ति विशाल होकर अपनी सम्पूर्ण सत्ता के साथ तदाकार हो जाता है और अपने-आपको विराट् सत्ता तथा परात्पर भगवान् के साथ एक अनुभव करता है।

मानव-आत्मा का समस्त दुःख-कष्ट जीवन-यापन की इस मिथ्या, अहंभावमय और भेदजनक प्रणाली से उत्पन्न होता है। जो आत्मा अपनी चेतना में सीमित होने के कारण **अनात्मवान्** है अर्थात् जिसने अपनी मुक्त स्वयंभू-सत्ता को प्राप्त नहीं किया है वह अपने ज्ञान में भी सीमित होती है; और यह सीमित ज्ञान मिथ्यात्वजनक ज्ञान का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसी दशा में उसे बाध्य होकर सत्य ज्ञान को पुनः प्राप्त करने के लिये संघर्ष करना पड़ता है, पर भेदजनक मन में

विद्यमान अहंभाव ज्ञान के प्रदर्शनों किंवा खण्डों से ही सन्तोष मान लेता है, उन खण्डों को जोड़कर वह किसी ऐसे समुच्चयात्मक या प्रभुत्वशाली विचार का रूप दे देता है जो असत्य या अपूर्ण होता है, और इस विचारात्मक ज्ञान से उसकी आशा पूरी नहीं होती तथा एकमात्र ज्ञेय वस्तु के नूतन अनुसन्धान के लिये उसे इसका त्याग कर देना पड़ता है। वह एकमात्र वस्तु है भगवान्, परम पुरुष, परम आत्मा जिसमें विराट् और व्यक्तिगत सत्ता अन्ततोगत्वा अपनी सही आधारशिला तथा सही समस्वरताओं को पा लेती हैं। और फिर, अहं-बद्ध आत्मा अपनी शक्ति के सीमित होने के कारण अनेक दुर्बलताओं से परिपूर्ण होती है; अयथार्थ ज्ञान के साथ सत्ता का अयथार्थ संकल्प, उसकी अयथार्थ प्रवृत्तियां एवं आवेश भी जुड़े ही रहते हैं, और मानव को जो पाप का भान होता है उसका मूल इस अयथार्थता के तीव्र अनुभव में ही निहित है। अपनी प्रकृति की इस त्रुटि को वह आचार-व्यवहार के ऐसे मानदण्डों के द्वारा सुधारने का यत्न करता है जो उसे पुण्य-विषयक अहम्मय चेतना एवं पुण्यवृत्ति की तुष्टि के द्वारा पापविषयक अहम्मय चेतना और पापवृत्ति की तुष्टियों को अर्थात् सात्त्विक अहंकार के द्वारा राजसिक अहंकार को दूर करने में सहायता पहुंचाये। परन्तु मूल पाप को दूर करना होगा, वह मूल पाप है—भागवत सत्ता एवं भागवत संकल्पशक्ति से अपनी सत्ता और संकल्पशक्ति का विच्छेद; जब वह भागवत संकल्पशक्ति और सत्ता के साथ एकता को पुनः प्राप्त कर लेता है, तब वह पाप और पुण्य से ऊपर उठकर अपनी दिव्य प्रकृति की असीम स्वयं-स्थित पवित्रता एवं सुरक्षा की अवस्था में पहुंच जाता है। वह अपने अपूर्ण ज्ञान को व्यवस्थित करके तथा अपने अर्द्ध-आलोकित संकल्प एवं सामर्थ्य को नियन्त्रित करके और उन्हें बुद्धि के किसी क्रमबद्ध प्रयत्न के द्वारा संचालित करके अपनी दुर्बलताओं को सुधारने का यत्न करता है; पर इसका परिणाम सदा यह होता है कि उसकी कर्म-शक्ति का मार्ग एवं मानदण्ड सीमित, अनिश्चित, परिवर्ती और स्खलनशील ही रहता है। जब वह मुक्त आत्मा की विशाल एकता, **भूमा** को पुनः प्राप्त कर लेता है तभी उसकी प्रकृति के करण पूर्णरूपेण अनन्त आत्मा के यन्त्र की भांति गति कर सकते हैं और उस शुभ, सत्य तथा शक्ति के पगों का अनुसरण कर सकते हैं जो अपनी सत्ता के सर्वोच्च केन्द्र से कार्य करनेवाली मुक्त आत्मा की निज सम्पदा हैं। और फिर, क्योंकि उसकी सत्ता का आनन्द सीमित है, वह आत्मा के सुरक्षित, स्वयंस्थित और पूर्ण आनन्द को आयत्त नहीं कर सकता, न वह विराट् विश्व के उस आनन्द को ही अधिगत कर सकता है जो जगत् को निरन्तर गतिमान् रखता है, वह तो केवल सुखों और दुःखों एवं हर्षों और शोकों की मिश्रित एवं परिवर्तनशील शृंखला में हीं विचरण कर सकता है, या फिर उसे किसी चेतन (जान-बूझकर धारण की हुई) निश्चेतना या जड़ उदासीनता की ही शरण लेनी पड़ती है। अहं-प्रधान मन इससे भिन्न कुछ कर भी नहीं सकता, और जिस आत्मा

ने अपने को अहं के रूप में बहिर्मुख कर दिया है वह जीवन के इस असन्तोषजनक, गौण, अपूर्ण, प्रायः ही विकृत, विक्षुब्ध या सारशून्य उपभोगों में ग्रस्त रहती है; तथापि आध्यात्मिक एवं विराट् आनन्द मानव के भीतर उसकी अन्तरात्मा एवं आत्मा में तथा भगवान् और जगत् के साथ उसकी गुप्त एकता में सदा-सर्वदा विद्यमान है। अहं की बेड़ी को तोड़कर उसके पीछे स्थित मुक्त आत्मा एवं अमर आध्यात्मिक सत्ता में प्रवेश करना—इसीको अन्तरात्मा का अपनी सनातन दिव्यता को पुनः प्राप्त करना कहते हैं।

अपूर्ण, भेदजनक अस्तित्व को धारण करने की इच्छा एक अयथार्थ **तपस्** (संकल्प) है जो प्रकृति में रहनेवाली आत्मा को इस प्रकार का यत्न करने के लिये प्रेरित करता है कि वह अपने-आपको, अपनी सत्ता और चेतना को तथा अपनी सत्ता के सामर्थ्य एवं आनन्द को भेदप्रधान अर्थ में व्यक्तिगत रूप प्रदान करे, इन वस्तुओं को अपनी निजी समझते हुए, अर्थात् इनपर भगवान् का तथा एकमेव विश्वात्मा का नहीं वरन् अपना निज का अधिकार मानते हुए इन्हें धारण करे। यह अयथार्थ संकल्प ही उसे इस गलत दिशा की ओर मोड़ देता है तथा अहं को उत्पन्न करता है। अतएव इस मूल कामना से मुंह मोड़ना तथा इसके पीछे रहनेवाली उस कामनारहित संकल्प-शक्ति को प्राप्त करना अत्यावश्यक है जिसका सत्ता-सम्बन्धी सम्पूर्ण उपभोग एवं जीवन-धारण-सम्बन्धी समस्त संकल्प मुक्त, विराट् और एकीकारक आनन्द का उपभोग है एवं इसी आनन्द को प्राप्त करने का संकल्प है। कामना-स्वरूप संकल्प से मुक्ति तथा अहंभाव से मुक्ति—ये दोनों चीजें एक ही हैं, और कामनात्मक संकल्प तथा अहंभाव के सुखद विलोप से जो एकत्व साधित होता है वही मुक्ति का सार है।

अध्याय ९

प्रकृति की मुक्ति

हमारी सत्ता के दो पक्ष हैं, एक तो अनुभव करनेवाली चेतन आत्मा और दूसरा, कार्यवाहिका प्रकृति, जो आत्मा को सतत और विविध रूप में अपने अनुभव प्रदान कर रही है; ये दोनों पक्ष मिलकर हमारी आन्तरिक अवस्था की सभी वृत्तियों को तथा उसकी प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करते हैं। प्रकृति घटनाओं का स्वरूप तथा अनुभव लेनेवाले करणों के रूप पुरुष के सामने प्रस्तुत करती है, आत्मा अनुभव के सम्पर्क में आने पर या तो इन घटनाओं के प्रति प्रकृति के द्वारा निर्धारित प्रतिक्रिया को अनुमति प्रदान करती है या फिर वह किसी और प्रतिक्रिया को निर्धारित करने के लिये एक संकल्प करती है जिसे वह प्रकृति पर बलपूर्वक थोपती है। करणों की अहम्मय चेतना तथा कामनात्मक संकल्पशक्ति को दी हुई स्वीकृति अनुभव की निम्नतर भूमिकाओं में उतरने के लिये आत्मा की आरम्भिक अनुमति है। इन भूमिकाओं में वह अपनी सत्ता की दिव्य प्रकृति को भूल जाती है; अतः अहं-चेतना तथा कामनामय संकल्प का परित्याग करना एवं मुक्त आत्मा को तथा सत्ता की दिव्यानन्दमय संकल्पशक्ति को पुनः प्राप्त करना ही आत्मा की मुक्ति है। पर दूसरी ओर, कुछ अन्य वस्तुएं भी हैं जिन्हें स्वयं प्रकृति अपने अंशदानों के रूप में इस जटिल मिश्रण में मिला देती है, जब एक बार आत्मा की उक्त प्रथम एवं आरम्भिक अनुमति प्राप्त हो जाती है तथा उसे सम्पूर्ण बाह्य कार्य-व्यापार का नियम बना दिया जाता है तब प्रकृति अपनी क्रियाओं और रचनाओं-विषयक आत्मा के अनुभव में अपने अंशदानों को बलपूर्वक मिला देती है। प्रकृति के मौलिक अंशदान दो हैं, गुण और द्वंद्व। प्रकृति की जिस निम्न क्रिया में अर्थात् अपरा प्रकृति में हम जीवन यापन करते हैं उसके अन्दर कुछ एक मूल गुण हैं, वे गुण उसकी निम्नता का सम्पूर्ण आधार हैं। मन, प्राण और शरीर-रूपी अपनी प्रकृति की शक्तियों से युक्त आत्मा पर इन गुणों का सतत प्रभाव पड़ने के परिणामस्वरूप आत्मा को एक विभक्त एवं विषमतापूर्ण अनुभव प्राप्त होता है, उसके अन्दर विरोधी वस्तुओं के द्वंद्व की सृष्टि होती है, उसके समस्त अनुभव में एक हलचल उत्पन्न होती है और वह विपरीत वस्तुओं के किंवा संयुक्त होनेवाले भावात्मक और अभावात्मक तत्त्वों के स्थायी जोड़ों अर्थात् द्वंद्वों के बीच झूलती रहती है या इनका एक मिश्रण बनी रहती है। अतएव अहंकार और कामनामय संकल्प से पूर्ण मुक्ति का परिणाम यह होगा कि आत्मा अपरा प्रकृति के गुणों से अतीत होने की अवस्था, त्रैगुणातीत्य को प्राप्त कर लेगी, इस मिश्रित और विषमतापूर्ण अनुभव से मुक्त हो जायेगी तथा प्रकृति की द्वंद्वमय क्रिया का अन्त या समाधान हो जायेगा। पर प्रकृति के पक्ष में

भी मुक्ति दो प्रकार की होती है। मुक्ति का पहला रूप प्रकृति के बन्धन से छूटकर आत्मा के प्रशान्त आनन्द में पहुंच जाना है। प्रकृति की मुक्ति का इससे परतर रूप वह है जिसके द्वारा वह दिव्य कोटि की प्रकृति में तथा विश्वानुभव प्राप्त करने की आध्यात्मिक शक्ति में परिणत हो जाती है; इस प्रकार की मुक्ति परम शान्ति को ज्ञान, शक्ति, आनन्द और प्रभुत्व के परम क्रियाशील आनन्द से परिपूरित कर देती है। परमोच्च आत्मा और उसकी परा प्रकृति का दिव्य एकत्व ही सर्वांगीण मुक्ति है।

क्योंकि प्रकृति आत्मा की शक्ति है, उसकी क्रिया मूलतः गुणरूप ही होती है। कोई यहांतक कह सकता है कि प्रकृति आत्मा के अनन्त गुणों की सत्तात्मक शक्ति एवं उनका कार्यगत विकासमात्र है। बाकी सब चीजें तो उसके बाह्य एवं अधिक यान्त्रिक रूपों से सम्बन्ध रखती हैं; पर गुणों का यह खेल मूल वस्तु है, शेष सब तो इसका परिणाम एवं यान्त्रिक संयोग है। जब एक बार हम मूल शक्ति और गुण की क्रिया को सुधार लेते हैं तो शेष सब कुछ अनुभवग्राही पुरुष के नियन्त्रण के अधीन हो जाता है। पर वस्तुओं की निम्न प्रकृति में अनन्त गुणों का खेल एक सीमित मान-प्रमाण, तथा विभक्त एवं संघर्षमय क्रिया के अधीन होता है, ऐसे परस्पर-विरोधी द्वंद्वों तथा उनके विरोधों की प्रणाली के अधीन होता है जिनमें सामंजस्यों की किसी व्यावहारिक गतिशील प्रणाली को स्थापित करके सक्रिय बनाये रखना होता है; सामंजस्य में लाये हुए इन विरोधों एवं परस्पर-विरोधी गुणों में तथा अनुभव की विषम शक्तियों और प्रणालियों में एक केवल कामचलाऊ, अपूर्ण एवं अनिश्चितप्राय समझौता या कोई अस्थिर एवं परिवर्तनशील सन्तुलन बलपूर्वक स्थापित किया जाता है; इन सबकी क्रीड़ा उन तीन गुणों की आधारभूत क्रिया के द्वारा संचालित होती है जो प्रकृति के रचे हुए समस्त पदार्थों में एक-दूसरे के साथ मिले हुए हैं तथा परस्पर संघर्ष भी करते रहते हैं। सांख्य-प्रणाली में, जिसे भारत के दार्शनिक चिन्तन और योग के सभी सम्प्रदाय इस प्रयोजन के लिये सर्वसामान्य रूप से अंगीकार करते हैं, इन तीन गुणों का **सत्त्व, रजस्** और **तमस्**—ये तीन नाम दिये गये हैं;[1] **तमस्** निष्क्रियता का तत्त्व एवं उसकी शक्ति है; **रजस्** क्रिया, आवेश प्रयत्न, संघर्ष और **आरम्भ** का तत्त्व है, **सत्त्व** सात्म्यकरण, सन्तुलन और सामञ्जस्य का तत्त्व है। इस वर्गीकरण का दार्शनिक आधार क्या है इससे हमें कुछ मतलब नहीं; पर अपने मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार की दृष्टि से यह अत्यधिक क्रियात्मक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि ये तीन तत्त्व सभी पदार्थों में व्याप्त हैं, उन्हें उनकी सक्रिय प्रकृति का मोड़ प्रदान करने के लिये, उनका परिणाम और उनकी क्रियान्विति निर्धारित करने के लिये मिलकर काम करते हैं, और हमारे

[1] इस विषय पर कर्मयोग में विचार किया जा चुका है। यहां प्रकृति के सामान्य रूप और सत्ता की पूर्ण मुक्ति के दृष्टि-बिन्दु से इसका पुनः निरूपण किया गया है।

आन्तरिक अनुभव में उनकी विषम क्रिया हमारे सक्रिय व्यक्तित्व, हमारे स्वभाव एवं हमारी प्रकृति के वैशिष्ट्य का और किसी अनुभव के प्रति हमारी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के विशेष स्वरूप का गठन करनेवाली शक्ति है। हमारे अन्दर होनेवाले कर्म और अनुभव का समस्त स्वरूप प्रकृति के इन तीन गुणों या अवस्थाओं में से किसी एक की प्रधानता एवं इनकी आनुपातिक परस्पर प्रतिक्रिया के द्वारा निर्धारित होता है। व्यक्तिभावापन्न आत्मा इनके सांचे में ढलने के लिये मानों बाध्य ही होती है; साथ ही इनपर किसी प्रकार का स्वतन्त्र नियन्त्रण रखने की अपेक्षा कहीं अधिक वह प्रायः इनके नियन्त्रण में ही रहती है। वह मुक्त तभी हो सकती है यदि वह इनकी विषम क्रिया तथा इनके अपर्याप्त मेल-मिलापों एवं अनिश्चित सामंजस्यों के कष्टप्रद कलह की स्थिति से ऊपर उठ जाये तथा उसका परित्याग कर दे; इसके लिये वह चाहे इनकी क्रिया की अर्द्ध-व्यवस्थित अवस्था से मुक्त होकर पूर्ण शान्ति एवं निश्चलता का आश्रय ले या फिर प्रकृति की इस निम्नतर प्रवृत्ति से ऊपर उठकर इन गुणों की क्रिया पर उच्चतर नियन्त्रण स्थापित करे या उसका रूपान्तर ही कर डाले। या तो उसे इन गुणों से रहित हो जाना होगा या इन्हें अतिक्रम करना होगा।

ये गुण हमारी प्राकृत सत्ता के प्रत्येक भाग पर अपना प्रभाव डालते हैं। निःसन्देह इनका प्रबलतम सापेक्ष प्रभुत्व इसके तीन विभिन्न अंगों अर्थात् मन, प्राण और शरीर पर है। **तमस्**, अर्थात् जड़ता का तत्त्व, जड़ प्रकृति में तथा हमारी भौतिक सत्ता में सबसे अधिक प्रबल है। इस तत्त्व की क्रिया दो प्रकार की होती है, शक्तिसम्बन्धी जड़ता और ज्ञानसम्बन्धी जड़ता। जिस वस्तु या व्यक्ति पर प्रधान रूप से तमस्का शासन होता है उसकी शक्ति मन्द क्रिया एवं निष्क्रियता की ओर या फिर एक ऐसी यान्त्रिक क्रिया की ओर प्रवृत्त होती है जिसपर उसका नहीं बल्कि अन्धकारमय शक्तियों का अधिकार होता है, वे शक्तियां उसे क्रिया-शक्ति के एक यान्त्रिक चक्र में घुमाती रहती हैं। इसी प्रकार वह अपनी चेतना में निश्चेतना या आवृत अवचेतना अथवा अनिच्छा-मूलक, मन्द या किसी प्रकार की यान्त्रिक सचेतन क्रिया की ओर मुड़ जाता है; उस क्रिया को अपनी शक्ति के सम्बन्ध में कोई चेतन बोध नहीं होता, बल्कि वह एक ऐसे बोध के द्वारा परिचालित होती है जो उसे अपने से बाह्य या कम-से-कम अपनी सक्रिय चेतनता से छुपा हुआ प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, हमारे शरीर का मूल तत्त्व अपने स्वभाव में जड़ और अवचेतन है, एक यान्त्रिक एवं अभ्यस्त स्वयं-चालित क्रिया के सिवा वह और कुछ नहीं कर सकता : यद्यपि अन्य प्रत्येक करण की भांति उसमें भी क्रिया का तत्त्व अर्थात् रजोगुण और उसकी स्थिति तथा क्रिया के सन्तुलन का तत्त्व अर्थात् सत्त्वगुण—दोनों विद्यमान हैं, प्रतिक्रिया करनेवाला एक सहजात तत्त्व एवं एक गुप्त चेतना विद्यमान है, तथापि उसकी राजसिक क्रियाओं के एक बहुत बड़े भाग का संचालन प्राण शक्ति ही करती है और उसे अपनी समस्त प्रकट चेतना मनोमय

पुरुष से ही प्राप्त होती है। रजस्तत्त्व या रजोगुण का प्रबलतम प्रभुत्व प्राणिक प्रकृति पर है। हमारे अन्दर का प्राणतत्त्व ही सबसे प्रबल एवं क्रियाशील चालक-शक्ति है, पर पार्थिव प्राणियों में प्राणिक शक्ति कामना-शक्ति के अधिकार में है; कामना ही मनुष्य और पशु की अधिकांश गति और क्रिया की सबसे प्रबल प्रवर्तिका है, इसका प्रभुत्व इतना प्रबल है कि बहुत-से लोग इसे समस्त कर्म की जनक और हमारी सत्ता का आदि मूलतक समझते हैं। अपिच, क्योंकि रजस् अपने को एक ऐसे जड़ प्राकृतिक जगत् में पाता है, जो निश्चेतना तथा यन्त्रवत् चालित तमस् के तत्त्व से अपना कार्य आरम्भ करता है, उसे एक बड़ी भारी विपरीत शक्ति का सामना करते हुए अपना कार्य करना पड़ता है; अतएव, उसका सम्पूर्ण कार्य एक प्रयत्न एवं संघट्ट का तथा स्वत्व-प्राप्ति के लिये एक ऐसे आक्रान्त एवं बाधायुक्त संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है जो प्रत्येक पग पर एक सीमाकारी दुर्बलता, निराशा और वेदना से पीड़ित होता है : यहांतक कि उसे प्राप्त होनेवाली सफलताएं भी अनिश्चित-सी होती हैं, प्रयत्न की प्रतिक्रिया के द्वारा सीमाबद्ध और क्षत-विक्षत हो जाती हैं और इसलिये बाद में हमें उनकी परिमितता और क्षणभंगुरता का स्वाद लेना पड़ता है। सत्त्व के तत्त्व अर्थात् सत्त्वगुण का प्रबलतम प्रभुत्व मन पर है, मन के उन निम्नतर भागों पर तो कुछ विशेष नहीं जो राजसिक प्राणशक्ति के द्वारा शासित हैं, पर बुद्धि तथा बुद्धिप्रधान संकल्प-शक्ति पर अत्यधिक मात्रा में हैं। बुद्धि, तर्कशक्ति तथा बुद्धिप्रधान संकल्पशक्ति अपने सत्त्वगुणप्रधान स्वभाव के कारण बाह्य जगत् के साथ ज्ञान तथा बोधमय संकल्पशक्ति के द्वारा सात्म्य स्थापित करने के सतत प्रयत्न की ओर प्रेरित होती हैं, साथ ही वे एक सन्तुलन, किसी प्रकार की स्थिरता के तत्त्व एवं किसी नियम को तथा स्वाभाविक घटना एवं अनुभूति के परस्पर-विरोधी तत्त्वों के सामंजस्य को प्राप्त करने के लिये अनवरत यत्न करने में भी प्रवृत्त होती है। इस प्रकार की तुष्टि को सत्त्वगुण नाना प्रकार से तथा तुष्टिलाभ की नाना मात्राओं में प्राप्त करता है। सात्म्य, सन्तुलन और सामंजस्य की प्राप्ति के परिणामस्वरूप सदा ही सुख, आराम, प्रभुत्व और सुरक्षा की एक सापेक्ष, पर कम या अधिक तीव्र एवं तृप्तिकारक अनुभूति प्राप्त होती है, वह अनुभूति राजसिक कामना और आवेग की तुष्टि के द्वारा असुरक्षित रूप में प्राप्त होनेवाले अशान्त एवं उग्र सुखों से भिन्न प्रकार की होती है। प्रकाश और सुख सत्त्वगुण के विशेष लक्षण हैं। शरीरधारी और प्राणयुक्त मनोमय प्राणी की सम्पूर्ण प्रकृति इन तीन गुणों के द्वारा निर्धारित होती है।

परन्तु हमारी सत्ता के संस्थान के प्रत्येक भाग में ये केवल प्रधान शक्तियों की तरह काम करते हैं। ये तीनों गुण हमारी उलझी मानसिक सत्ता के प्रत्येक तन्तु एवं प्रत्येक अंग में मिश्रित और संयुक्त होकर परस्पर संघर्ष करते हैं। हमारे मन का स्वभाव, हमारी बुद्धि एवं संकल्पशक्ति का तथा हमारी नैतिक, सौन्दर्यग्राही,

भावमय, क्रियाशील और सम्वेदनात्मक सत्ता का स्वभाव इन गुणों के द्वारा ही निर्मित होता है। तमस् उस समस्त अज्ञानता, जड़ता, दुर्बलता एवं अक्षमता को लाता है जो हमारी प्रकृति को पीड़ित करती हैं, तमसाच्छन्न बुद्धि निर्ज्ञान, अबुद्धि, अभ्यस्त विचारों और यान्त्रिक धारणाओं के प्रति आसक्ति, विचारने और ज्ञान प्राप्त करने से इन्कार करने की वृत्ति, संकुचित मन, नवीन विचारों के प्रति बन्द मार्ग, मानसिक अभ्यास का वेगशाली चक्र और अन्धकारमय एवं धूमिल स्थान—इन सबका जन्मदाता तमोगुण ही है। वह संकल्पशक्ति की निर्बलता, श्रद्धा, आत्मविश्वास और 'आरम्भ' के अभाव, कार्य करने की अरुचि, प्रयत्न और अभीप्सा से कतराने की वृत्ति तथा तुच्छ और क्षुद्र भावना को उत्पन्न करता है; हमारी नैतिक और क्रियाशील सत्ता में वह निष्क्रियता, भीरुता, नीचता, दीर्घसूत्रता, क्षुद्र और हीन हेतुओं के प्रति असंयत अधीनता, अपनी निम्न प्रकृति के प्रति दुर्बलतापूर्ण वश्यता को जन्म देता है। हमारी भावप्रधान प्रकृति में वह सम्वेदनशून्यता एवं उदासीनता को तथा सहानुभूति एवं उन्मुक्तता के अभाव को लाता है, बन्द आत्मा एवं क्रूर हृदय को जन्म देता है, शीघ्र थक जानेवाले आवेश और वेदनों की मन्दता को उत्पन्न करता है, हमारी सौन्दर्यात्मक और सम्वेदन-प्रधान प्रकृति में वह सौन्दर्यवृत्ति की जड़ता, प्रतिक्रिया-शक्ति की परिमितता एवं सौन्दर्य के प्रति सम्वेदनहीनता को तथा उन सब चीजों को लाता है जो मनुष्य में स्थूल, तामसिक और असंस्कृत भावना को उत्पन्न करती हैं। रजस् हमारी सामान्य सक्रिय प्रकृति को उसकी सभी शुभ और अशुभ वृत्तियां एवं क्रियाएं प्रदान करता है; जब वह सत्त्वगुण के पर्याप्त अंश के द्वारा अभी विशुद्ध नहीं हुआ होता तब वह अहंकार, स्वेच्छाचारिता और उग्रता, बुद्धि की विकृत, आग्रहपूर्ण या अतिरंजक क्रिया, पक्षपात, अपनी सम्मति के प्रति आसक्ति, भूल से चिपके रहने की वृत्ति, सत्य के प्रति नहीं बल्कि हमारी कामनाओं एवं अभिरुचियों के प्रति बुद्धि की अधीनता, धर्मान्ध या साम्प्रदायिक मन, स्वच्छन्दता, गर्व, अभिमान, स्वार्थ, महत्त्वाकांक्षा, काम-वासना, लोभ, क्रूरता, घृणा, ईर्ष्या, नाना प्रकार के प्रेममूलक अहंकार, समस्त पाप और वासनाएं, सौन्दर्यबोध की अतिरंजनाएं, सम्वेदनात्मक और प्राणिक सत्ता की व्याधियां और विकृतियां—इन सभी की ओर प्रवृत्ति रखता है। जब प्रकृति में तमोगुण प्रधान होता है तो वह अपने निज अधिकार से ही असंस्कृत, जड़ और अज्ञानमय प्रकृतिवाले मनुष्य को जन्म देता है, रजोगुण कर्म, आवेश और कामना के श्वास से चालित, प्राणवन्त, चंचल एवं क्रियाशील मानव की सृष्टि करता है। सत्त्वगुण एक अधिक उच्च कोटि के मानव को जन्म देता है। सत्त्वगुण की देनें ये हैं—विवेकशील और सन्तुलित मन, निष्पक्ष, सत्यान्वेषिणी एवं उन्मुक्त बुद्धि की विशदता, बुद्धि के अधीन या नैतिक भावना के द्वारा परिचालित संकल्पशक्ति, आत्म-संयम, समता, स्थिरता, प्रेम, सहानुभूति, शिष्टता,

मिताचार, सौन्दर्यग्राही और भाविक चित्त की सूक्ष्मता, सम्वेदनात्मक सत्ता में सुकोमलता, समुचित ग्रहणशीलता, मितव्यवहार और समतोलता, प्रभुत्वशाली बुद्धि के वश में रहनेवाली और उसके द्वारा परिचालित प्राणशक्ति। सात्त्विक प्रकृति की पूर्णता के निदर्शन होते हैं दार्शनिक, सन्त और ज्ञानी व्यक्ति तथा राजसिक प्रकृति की पूर्णता के राजनीतिज्ञ, योद्धा और शक्तिशाली कर्मवीर। परन्तु सभी मनुष्यों में ये गुण एक-दूसरे के साथ कम या अधिक प्रमाण में सम्मिश्रित पाये जाते हैं, बहुविध व्यक्तित्व देखने में आता है और बहुतों में तो एक गुण का प्रभुत्व दूर होकर एक बड़ी मात्रा में दूसरे की प्रधानता स्थापित हो जाती है एवं कोई एक या दूसरा गुण बारी-बारी से प्रधानता प्राप्त करता रहता है; यहांतक कि बहुतेरों की प्रकृति का वह रूप भी जो उनकी सत्ता का परिचालन करता है मिश्रित ढंग का होता है। जीवन-पट के रंगों का समस्त वैचित्र्य एवं वैविध्य इन गुणों की बुनावट के जटिल नमूने से बना हुआ है।

परन्तु जीवन की विपुल विविधता से, यहांतक कि मन और प्रकृति की सात्त्विक समस्वरता से भी आध्यात्मिक पूर्णता का स्वरूप गठित नहीं होता। इनसे एक सापेक्ष पूर्णता अवश्य प्राप्त हो सकती है, पर वह अपूर्णता से युक्त होती है, एक प्रकार की अपूर्ण उच्चता, शक्ति एवं सुन्दरता होती है, श्रेष्ठता और महानता की एक परिमित मात्रा तथा बाहर से लादी हुई एवं संदिग्ध रूप से धारण की हुई समतोलता होती है। इनके द्वारा एक सापेक्ष प्रभुत्व भी प्राप्त होता है, पर वह प्राण का शरीर पर या मन का प्राण पर प्रभुत्व होता है, मुक्त और स्वराट् आत्मा का अपने करणों पर स्वतन्त्र प्रभुत्व नहीं। यदि हम आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें गुणों के परे जाना होगा। यह स्पष्ट ही है कि तमस् पर विजय पानी होगी; जड़ता, अज्ञान और अक्षमता सच्ची पूर्णता के अंग नहीं हो सकते; पर विश्व-प्रकृति में इसपर विजय रजस् की एक ऐसी शक्ति के द्वारा ही पायी जा सकती है जिसे सत्त्व की बढ़ती हुई शक्ति की सहायता प्राप्त हो। रजस् पर भी विजय पानी होगी; अहंकार, वैयक्तिक कामना और स्वार्थपरायण आवेग सच्ची पूर्णता के अंग नहीं हैं, परन्तु सत्ता को आलोकित करनेवाले सत्त्व की तथा कर्मशीलता को परिमित करनेवाले तमस् की शक्ति के द्वारा ही इसपर विजय प्राप्त की जा सकती है। स्वयं सत्त्व गुण से भी सर्वोच्च या सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त नहीं होती; सत्त्व सदा ही सीमित प्रकृति का गुण होता है; सात्त्विक ज्ञान सीमित मन का प्रकाश होता है; सात्त्विक संकल्प भी सीमित बुद्धिप्रधान शक्ति का एक प्रकार का शासन होता है। अपिच, सत्त्व विश्व प्रकृति में अकेले अपने-आप कार्य नहीं कर सकता, बल्कि उसे समस्त कार्य के लिये रजस् की सहायता पर निर्भर करना पड़ता है; परिणामस्वरूप, सात्त्विक कार्य भी सदैव रजस् की त्रुटियों के अधीन रहता है; अहंकार, व्यामूढ़ता, असंगति, एकदेशीय प्रवृत्ति, सीमित एवं अतिरञ्जित संकल्प जो अपनी सीमाओं के उग्र रूप में अपने-आपको अतिरञ्जित करता है—ये सभी त्रुटियां साधु-सन्त,

दार्शनिक और ज्ञानी के भी विचार और कर्म का पीछा करती हैं। अहंकार सात्त्विक, राजसिक किंवा तामसिक तीनों प्रकार का होता है, उसका उच्चतम रूप ज्ञान या पुण्य का अहंकार होता है; किन्तु मन का अहंकार, चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो, मुक्ति के साथ असंगत है। अतएव तीनों ही गुणों को अतिक्रम करना होगा। सत्त्व हमें प्रकाश के निकट ला सकता है, पर जब हम दिव्य प्रकृति के ज्योतिर्मय स्वरूप में प्रवेश करते हैं तो सत्त्व का परिमित प्रकाश हमसे दूर हट जाता है।

इस त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त करने के लिये साधारणतया निम्न प्रकृति के कर्म के त्याग का आश्रय लिया जाता है। इस त्याग के परिणाम-स्वरूप व्यक्ति कर्म न करने की प्रवृत्ति पर बल देने लगता है। सत्त्व जब अपने-आपको प्रबल करना चाहता है तो वह रजस् से छुटकारा पाने की चेष्टा करता है और इस उद्देश्य से निष्क्रियता-रूपी तामसिक तत्त्व को सहायता के लिये अपने अन्दर पुकार लाता है; यही कारण है कि एक विशेष कोटि के अतिशय सात्त्विक मनुष्य गभीर रूप से आन्तरिक सत्ता में ही निवास करते हैं, पर सक्रिय बाह्य जीवन में वे कदाचित् बिल्कुल ही निवास नहीं करते, या फिर उसमें वे सर्वथा अक्षम और असफल ही रहते हैं। मुक्ति का अन्वेषक इस दिशा में और भी आगे जाता है, वह अपनी प्राकृत सत्ता में आलोकित तमोगुण को, एक ऐसे तमोगुण को जो इस रक्षाकारी आलोक के कारण अशक्तिरूप होने की अपेक्षा कहीं अधिक शान्त-रूप ही होता है, बलपूर्वक स्थापित करता है और इस प्रकार वह सत्त्वगुण को आत्मा की ज्योति में अपना लय करने की स्वतन्त्रता प्रदान करने का यत्न करता है। शरीर में, कामना और अहंकार से युक्त एवं सक्रिय प्राणिक पुरुष में तथा बाह्य मन में अचंचलता और स्थिरता बलात् स्थापित कर दी जाती हैं, जब कि सात्त्विक प्रकृति ध्यान में अपनी शक्ति लगाकर, अपने-आपको एकमात्र भजन-आराधन में ही एकाग्र करके, अपने संकल्प को भीतर परम देव की ओर मोड़कर अपने-आपको आत्मा में निमज्जित करने का यत्न करती है। यह श्रमप्रधान मुक्ति के लिये भले ही पर्याप्त हो पर सर्वांगीण सिद्धि की अङ्गभूत स्वतन्त्रता के लिये पर्याप्त नहीं है। यह मुक्ति निष्क्रियता पर निर्भर करती है और अतएव यह पूर्णतः स्वयंस्थित तथा निरपेक्ष नहीं है; ज्यों ही आत्मा कर्म की ओर मुड़ती है त्यों ही वह देखती है कि प्रकृति की क्रिया अब भी पुरानी अपूर्ण चेष्टा ही है। आत्मा को प्रकृति से एक ऐसी मुक्ति तो प्राप्त हो जाती है जो निष्क्रियता के द्वारा उपलब्ध होती है, पर उसे प्रकृति में रहते हुए एक ऐसी मुक्ति प्राप्त नहीं होती जो सक्रियता हो या निष्क्रियता दोनों अवस्थाओं में सर्वांग-पूर्ण और स्वयंस्थित हो। तब यहां प्रश्न उठता है कि क्या ऐसी मुक्ति और पूर्णता सम्भव हैं और इस पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति की शर्त क्या हो सकती है ?

सामान्य धारणा यह है कि ऐसी मुक्ति एवं पूर्णता सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि

कर्ममात्र निम्न गुणों का ही एक परिणाम होता है, आवश्यक रूप से दोषपूर्ण, **सदोषम्**, होता है, गुणों की क्रिया, विषमता, असमतोलता और चंचल संघर्षमयता से उत्पन्न होता है; पर जब ये विषम गुण पूर्ण सन्तुलन की अवस्था में पहुंच जाते हैं, तो प्रकृति का समस्त व्यापार बन्द हो जाता है और अन्तरात्मा अपनी शान्ति में विश्राम लेती है। हम कह सकते हैं, भगवान् या तो अपनी नीरवता में ही स्थित हो सकते हैं या फिर वे प्रकृति में उसके करणों के द्वारा ही कार्य कर सकते हैं, पर उस दशा में उन्हें उसकी संघर्षमयता तथा अपूर्णता का रूप धारण करना होगा। यह बात मानव-आत्मा के अन्दर भगवान् के साधारण प्रतिनिधि-तुल्य कर्म के बारे में सत्य हो सकती है क्योंकि तब भगवान् देहधारी अपूर्ण मनोमय सत्ता में पुरुष और प्रकृति के वर्तमान सम्बन्धों के अनुसार कर्म करते हैं, पर उनकी पूर्णतामयी दिव्य प्रकृति के सम्बन्धों के सम्बन्ध में यह बात सत्य नहीं। गुणों का संघर्ष निम्न प्रकृति की अपूर्णता में भगवान् की दिव्य प्रकृति का एक प्रकार का अपूर्ण प्रतिनिधित्वमात्र करता है; तीन गुण जिन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं वे भगवान् की तीन मूल शक्तियां हैं जो केवल एक पूर्ण शान्तिमय सन्तुलन में ही स्थित नहीं हैं बल्कि दिव्य कर्म के एक पूर्ण सामंजस्य में एकीभूत भी हैं। आध्यात्मिक सत्ता में तमस् दिव्य शान्ति का रूप धारण कर लेता है; वह शान्ति कोई जड़ता या कार्य करने की अक्षमता नहीं होती बल्कि एक पूर्ण शक्ति होती है जो अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य को अपने अन्दर धारण किये रहती है और अत्यन्त विशाल एवं बृहत् कर्म को भी नियन्त्रित करने तथा शान्ति के नियम के अनुगत बनाने में समर्थ होती है : रजस् आत्मा की कार्यसिद्धिक्षम, आरम्भकारक एवं विशुद्ध संकल्पशक्ति का रूप धारण कर लेता है, वह शक्ति कामना, प्रयत्न एवं आयासपूर्ण आवेश न होकर सत्ता की वही पूर्ण शक्ति होती है जो अनन्त, अक्षुब्ध एवं आनन्दपूर्ण कर्म करने में समर्थ है। सत्त्व एक विकृत मानसिक **प्रकाश** न रहकर दिव्य सत्ता की स्वयंभू **ज्योति** बन जाता है जो सत्ता की पूर्ण शक्ति का सारतत्त्व है और दिव्य शान्ति तथा कर्मसम्बन्धी दिव्य संकल्पशक्ति दोनों के एकत्वमय स्वरूप को आलोकित करती है। साधारण मुक्ति दिव्य शान्ति में निश्चल दिव्य ज्योति को प्राप्त करती है, पर सर्वांगीण मुक्ति इस महत्तर त्रयात्मक एकता को अपना लक्ष्य बनायेगी।

जब प्रकृति की यह मुक्ति प्राप्त हो जाती है तो प्रकृति के द्वंद्वों से भी, पूरे आध्यात्मिक अर्थ में, मुक्ति प्राप्त हो जाती है। निम्न प्रकृति में द्वंद्व सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अहं की रचनाओं से अभिभूत आत्मा पर गुणों की लीला का अनिवार्य प्रभाव हैं। इस द्वंद्व की ग्रन्थि है अज्ञान जो पदार्थों के आध्यात्मिक सत्य को पकड़ में लाने में असमर्थ है और अपूर्ण बाह्य रूपों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, पर उनके आन्तरिक सत्य पर प्रभुत्व रखते हुए नहीं बल्कि

आकर्षण और विकर्षण, सामर्थ्य और असामर्थ्य, राग और द्वेष, सुख और दुःख, हर्ष और शोक, स्वीकार और विरोध के परस्पर-संघट्ट और बदलते हुए सन्तुलन का क्रीड़ास्थल रहते हुए उनके सम्पर्क में आता है; समस्त जीवन हमारे सामने इन वस्तुओं अर्थात् प्रिय और अप्रिय, सुन्दर और असुन्दर, सत्य और असत्य, सौभाग्य और दुर्भाग्य, सफलता और विफलता, शुभ और अशुभ की विषम ग्रन्थि या प्रकृति के दुहरे जटिल जाले के रूप में उपस्थिति होता है। अपनी रुचियों और अरुचियों के प्रति आसक्ति अन्तरात्मा को शुभ और अशुभ तथा हर्षों और शोकों के इस जाले में बांधे रखती है। मुक्ति का अन्वेषक अपने-आपको आसक्ति से मुक्त कर लेता है, द्वंद्वों को अपनी अन्तःसत्ता से दूर फेंक देता है, पर, क्योंकि द्वंद्व जीवन का सम्पूर्ण कार्य, उपादान एवं ढांचा प्रतीत होते हैं, इस मुक्ति को प्राप्त करने के लिये जीवन का त्याग ही सर्वाधिक सुगम उपाय दिखायी देगा, भले वह त्याग, जहांतक कि शरीर में रहते हुए करना सम्भव है वहांतक, कर्मों का बाह्य एवं भौतिक त्याग हो या कर्मों से एक आन्तरिक निवृत्ति, प्रकृति के सम्पूर्ण कर्म के लिये अनुमति देने से इन्कार-रूप हो या कर्म से मोक्षजनक विरक्ति, **वैराग्य**। इस प्रकार अन्तरात्मा प्रकृति से पृथक् हो जाती है। तब वह ऊपर बैठी हुई, उदासीन और अविचलित भाव से, प्राकृत सत्ता में गुणों के कलह का निरीक्षण करती है, और मन तथा शरीर के सुख-दुःख को एक निर्विकार साक्षी के रूप में देखती है। अथवा वह अपनी उदासीनता को बाह्य मन में भी बलात् स्थापित कर सकती है और विश्व के कार्य-व्यापार को, जिसमें वह अब पहले की तरह सक्रिय आन्तरिक भाग नहीं लेती, एक अनासक्त द्रष्टा की तटस्थ शान्ति या तटस्थ आनन्द के साथ देखती है। इस साधना की परिणति जन्म के परित्याग और नीरव आत्मा में प्रयाण, **मोक्ष**, के रूप में होती है।

परन्तु यह परित्याग मुक्ति की अन्तिम सम्भवनीय परिभाषा नहीं है। पूर्ण मुक्ति तब प्राप्त होती है जब आत्मा वैराग्य पर आधारित इस **मुमुक्षुत्व से**, मुक्ति की इस उत्कण्ठा से, भी परे चली जाती है; तब आत्मा प्रकृति के निम्नतर कर्म के प्रति आसक्ति तथा भगवान् के विराट् जगद्व्यापार के प्रति समस्त घृणा दोनों से मुक्त हो जाती है। यह मुक्ति अपनी पूर्णता को तब प्राप्त करती है जब आध्यात्मिक विज्ञान प्रकृति के कर्म का अतिमानसिक ज्ञान रखते हुए और अतएव उसे अंगीकार करते हुए तथा उसे आरम्भ करने के अतिमानसिक ज्योतिर्मय संकल्प से युक्त होकर कार्य कर सकता है। विज्ञान प्रकृति में निहित आध्यात्मिक प्रयोजन को, वस्तुओं में विद्यमान भगवान् को, खोज निकालता है; जिन वस्तुओं का बाह्य रूप अमंगलमय प्रतीत होता है उन सब में भी वह मंगलमय आत्मा को ढूंढ़ लेता है; वह आत्मा उनके अन्दर तथा उनमें से उन्मुक्त हो उठती है, अपूर्ण या विपरीत रूपों के विकार झड़ जाते हैं या फिर वे अपने उच्चतर दिव्य सत्य में रूपान्तरित हो जाते

हैं,—वैसे ही जैसे कि गुण अपने दिव्य तत्त्वों में लौट जाते हैं,—और आत्मा उस विराट्, असीम और निरपेक्ष 'सत्य', 'शिव', 'सुन्दर' और आनन्द में निवास करती है जो अतिमानसिक या आदर्श दिव्य प्रकृति है। प्रकृति की मुक्ति आत्मा की मुक्ति के साथ एक हो जाती है, और इस सर्वांगीण मुक्ति के रूप में सर्वांगीण सिद्धि का आधार स्थापित हो जाता है।

अध्याय १०

सिद्धि के मूलतत्त्व

जब आत्मा करणात्मक प्रकृति की असत्य और अव्यवस्थित क्रिया से रहित एवं शुद्ध होकर अपनी स्वयंस्थित सत्ता, चेतना, शक्ति और आनन्द में मुक्त हो जाती है और जब स्वयं प्रकृति भी संघर्षकारी गुणों तथा द्वंद्वों की इस निम्न क्रिया के जाल से मुक्त होकर दिव्य शान्ति और दिव्य कर्म के उच्च सत्य में पहुंच जाती है तब आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। शुद्धि और मुक्ति सिद्धि की अनिवार्य पूर्वावस्थाएं हैं। आध्यात्मिक सिद्धि का अर्थ विकास के द्वारा भागवत सत्ता की प्रकृति के साथ एकत्व प्राप्त करना ही हो सकता है, और इसलिये भागवत सत्ता के विषय में हमारी जैसी परिकल्पना होगी वैसा ही आध्यात्मिक सिद्धि की खोज का हमारा लक्ष्य एवं प्रयत्न होगा और उसके लिये हमारी पद्धति भी वैसी ही होगी। मायावादी के लिये सत्ता का सर्वोच्च या, सच पूछो तो, एकमात्र वास्तविक सत्य निर्विकार, निर्गुण एवं आत्म-सचेतन ब्रह्म है और इसलिये आत्मा की निर्विकार शान्ति, निर्व्यक्तिकता और शुद्ध आत्म-चेतनता में विकसित होना ही उसका सिद्धि-विषयक विचार है तथा विश्वगत एवं व्यक्तिगत सत्ता का परित्याग करके शान्त आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही उसका मार्ग है। बौद्धमतावलम्बी के लिये उच्चतम सत्य सत्ता का अस्वीकार है, अतः उसके लिये सत्ता की क्षणिकता और दुःखमयता का तथा कामना की विनाशकारी निःसारता का बोध, अहंकार का तथा उसे धारण करनेवाले विचार-संस्कारों का एवं कर्म की शृंखलाओं का विलय ही सर्वांगपूर्ण मार्ग हैं। परमोच्च-सत्ताविषयक अन्य विचार इससे कम निषेधात्मक हैं; प्रत्येक दर्शन अपने-अपने विचार के अनुसार भगवान् के साथ कुछ सादृश्य प्राप्त करता है और प्रत्येक अपना-अपना मार्ग ढूंढ़ निकालता है; उदाहरणार्थ, भक्त का प्रेम और पूजन तथा प्रेम के द्वारा भगवान् के साथ सादृश्य का विकास करना। परन्तु सर्वांगीण योग के लिये सिद्धि का अर्थ एक ऐसी दिव्य आत्मा और दिव्य प्रकृति को प्राप्त करना होगा जो जगत् में दिव्य सम्बन्ध और दिव्य कर्म को खुला क्षेत्र प्रदान करेंगे; अपने समग्र स्वरूप में उसका अर्थ सम्पूर्ण प्रकृति को दिव्य बनाना तथा उसके अस्तित्व और कर्म की समस्त असत्य ग्रन्थियों का परित्याग भी करना होगा, पर इस सिद्धि में हमारी सत्ता के किसी भी भाग का या हमारे कर्म के किसी भी क्षेत्र का परित्याग नहीं किया जायेगा। अतएव सिद्धि की ओर हमारी प्रगति, निश्चय ही, एक विशाल और जटिल क्रिया होगी और उसके परिणामों एवं व्यापारों का क्षेत्र भी असीम तथा बहुविध होगा। किसी सूत्र या पद्धति को ढूंढ़ निकालने के लिये हमें सिद्धि के कुछ एक सारभूत एवं मौलिक तत्त्वों तथा

आवश्यक साधनों पर अपना ध्यान एकाग्र करना होगा; क्योंकि यदि ये सुरक्षित रूप में प्राप्त हो जायें तो शेष सब कुछ इनका एक स्वाभाविक विकास या इनकी क्रिया का एक विशेष परिणाम मात्र प्रतीत होगा। इन तत्त्वों को हम छः विभागों में बांट सकते हैं, ये एक बड़े परिमाण में एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं, किन्तु फिर भी अपने प्राप्त होने की क्रम की दृष्टि से ये एक प्रकार से स्वभावतः ही क्रमिक होते हैं। इनकी प्राप्ति की क्रिया आत्मा की मौलिक समता से आरम्भ होगी और ऊपर आरोहण करती हुई एक ऐसी अवस्था को प्राप्त करेगी जहां ब्राह्मी एकता की विशालता में हमारी पूर्णता-प्राप्त सत्ता के द्वारा भगवान् का आदर्श कर्म सम्पन्न हो सके।

इसके लिये प्रथम आवश्यक साधन यह है कि अन्तरात्मा अपनी तात्त्विक और प्राकृतिक दोनों प्रकार की सत्ता में एक ऐसी मूलभूत सम-स्थिति को प्राप्त करे जहां से वह प्रकृति के पदार्थों, स्पर्शों और कार्य-व्यापारों को समभाव से देख सके तथा उनका सामना कर सके। इस स्थिति को हम पूर्ण **समता** में विकसित होकर ही प्राप्त कर सकते हैं। आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म सबमें एक ही है और इसलिये वह सबके प्रति एक समान है; वह सम ब्रह्म है, **समं ब्रह्म**, जैसा कि गीता में कहा गया है, जहां समता के इस विचार का पूर्ण रूप से विकास करके कम-से-कम उनके एक पहलू के अनुभव का निर्देश किया गया है; एक सन्दर्भ में गीता ने इससे भी आगे बढ़कर यहांतक कह डाला है कि समता और योग एक ही वस्तु हैं, **समत्वं योग उच्यते**। अर्थात् समता ब्रह्म के साथ एकता का, ब्रह्म-स्वरूप होने का तथा अनन्त में सत्ता की अचलायमान आध्यात्मिक स्थिति के विकास का चिह्न है। इसकी महत्ता का वर्णन जितना किया जाये उतना ही थोड़ा है; क्योंकि यह इस बात का चिह्न है कि हम अपनी प्रकृति के अहम्मूलक निर्धारणों से परे चले गये हैं, द्वंद्वों के प्रति अपनी दासतापूर्ण प्रतिक्रिया को जीत चुके हैं, गुणों के विकारशील विक्षोभ की अवस्था को पार कर गये हैं तथा मुक्ति की स्थिरता और शान्ति में प्रविष्ट हो गये हैं। समता चेतना की एक ऐसी अवस्था है जो हमारी सम्पूर्ण सत्ता और प्रकृति में अनन्त की सनातन शान्ति को ले आती है। अपिच, यह एक सुरक्षित और पूर्ण रूप से दिव्य कर्म की शर्त है; अनन्त के विराट् विश्व-व्यापार की सुरक्षितता एवं विशालता उसकी सनातन शान्ति पर आधारित है और इस शान्ति को वह कभी भंग नहीं करती, न कभी इससे च्युत ही होती है। पूर्ण आध्यात्मिक कर्म का स्वभाव भी ऐसा ही होना चाहिये; आत्मा, बुद्धि, मन, हृदय और प्राकृत चेतना में,—यहांतक कि अत्यन्त भौतिक चेतना में भी,—सभी वस्तुओं के प्रति सम और एक होना तथा, करणीय कार्य के प्रति उन (आत्मा, बुद्धि आदि) की बाह्य अनुकूलता कैसी भी हो, उनकी सभी क्रियाओं को सदा और अक्षुब्ध रूप में दिव्य समता और शान्ति से पूर्ण बनाना ही उसका अन्तरतम नियम होना चाहिये। इसे

समता का निष्क्रिय या मौलिक, आधारभूत एवं ग्रहणक्षम पक्ष कहा जा सकता है, पर इसके साथ ही इसका एक सक्रिय एवं प्रभुत्वशील पक्ष भी है, एक सम आनन्द भी है, जो केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब समता की शान्ति प्रतिष्ठित हो जाये और जो इसकी पूर्णता का आनन्दमय पुष्प है।

सिद्धि के लिये अगला आवश्यक साधन यह है कि मानव-प्रकृति के सभी क्रियाशील अंगों को उनकी शक्ति एवं सामर्थ्य की उस सर्वोच्च अवस्था एवं उच्चतम क्रियात्मक भूमिकातक उठा ले जाया जाये जहां वे मुक्त, पूर्ण, आध्यात्मिक और दिव्य कर्म के सच्चे यन्त्रों के दिव्य स्वरूप में रूपान्तरित होने के योग्य बन जाते हैं। क्रियात्मक प्रयोजनों के लिये हम बुद्धि, हृदय, प्राण और शरीर को अपनी प्रकृति के ऐसे चार अंगों के रूप में ले सकते हैं जिनको हमें इस प्रकार तैयार करना होगा, और इसके लिये हमें उनकी पूर्णता का गठन करनेवाली अवस्थाओं को खोजना होगा। इसके अतिरिक्त, हमारे अन्दर चरित्र और आन्तरिक प्रकृति अर्थात् स्वभाव का क्रियाशील बल (**वीर्य**) भी विद्यमान है जो हमारे करणों की शक्ति को कार्यव्यवहार में सफल बनाता है और उन्हें उनकी विशिष्टता एवं दिशा प्रदान करता है; इस वीर्य को इसकी सीमाओं से मुक्त करना होगा, विशाल, अखण्ड और सर्वतोमुखी बनाना होगा ताकि हमारे अन्दर की समस्त मानवता दिव्य मानवता का आधार बन सके, और तब पुरुष, हमारे अन्दर का वास्तविक मानव, दिव्य 'पुरुष' इस मानव-यन्त्र में पूर्ण रूप से कार्य कर सके और इस मानव-आधार के द्वारा पूर्णरूपेण प्रकाशित हो सके। अपनी पूर्णता-प्राप्त प्रकृति को दिव्य बनाने के हित हमें दैवी शक्ति को अपनी सीमित मानव-शक्ति का स्थान लेने के लिये आवाहन करना होगा ताकि यह एक महत्तर असीम शक्ति, **दैवी प्रकृति, भागवती शक्ति**, की प्रतिमूर्ति में परिणत हो जाये और उसके बल से भर जाये। यह पूर्णता उसी अनुपात में बढ़ेगी जिसमें कि हम पहले तो उस शक्ति के तथा उसके स्वामी के, जो हमारे अस्तित्व और कर्मों का भी प्रभु है, मार्गदर्शन के प्रति और फिर उनकी प्रत्यक्ष क्रिया के प्रति अपने-आपको समर्पित कर सकेंगे; और इस प्रयोजन के लिये श्रद्धा, हमारी पूर्णता-प्राप्ति की अभीप्साओं में, हमारी सत्ता की एक अनिवार्य और महान् चालक शक्ति है,—यहां जिस श्रद्धा की आवश्यकता है वह भगवान् और शक्ति में श्रद्धा है जो हृदय और बुद्धि में आरम्भ होगी पर हमारी सम्पूर्ण प्रकृति को, उसकी समस्त चेतना तथा समस्त क्रियाशील प्रेरकशक्ति को अपने अधिकार में कर लेगी। ये चार चीजें सिद्धि के इस दूसरे तत्त्व के अनिवार्य साधन हैं, करणात्मक प्रकृति के अंगों की समग्र शक्तियां, आन्तरिक प्रकृति की पूर्णता-प्राप्त क्रियाशक्ति, करणों को दिव्य-शक्ति की क्रिया में रूपान्तरित करना और उस रूपान्तर का आवाहन तथा समर्थन करने के लिये हमारे सब करणों में पूर्ण श्रद्धा, **शक्ति, वीर्य, दैवी प्रकृति, श्रद्धा**।

परन्तु जबतक यह विकास हमारी सामान्य प्रकृति के उच्चतम स्तर पर ही सम्पन्न होता है तबतक हम पूर्णता की एक प्रतिबिम्बित एवं संकुचित मूर्ति को ही अपने अन्दर धारण कर सकते हैं जो हमारे मन, प्राण और शरीर के अन्दर आत्मा के निम्नतर रूपों में परिणत हो जाती है, पर दिव्य विज्ञान और उसकी शक्ति की उच्चतम अवस्थाओं के रूप में हमें जो दिव्य पूर्णता प्राप्त हो सकती है उसे हम धारण नहीं कर सकते। वह पूर्णता तो इन निम्नतर तत्त्वों से परे अतिमानसिक विज्ञान में ही प्राप्त होगी; अतएव सिद्धि का अगला सोपान मनोमय सत्ता का विज्ञानमय सत्ता में विकास होगा। यह विकास तब साधित होता है जब हम इस मानसिक सीमा को तोड़कर इसके परे चले जाते हैं, अपनी सत्ता के उस अगले उच्चतर स्तर या प्रदेश की ओर एक डग ऊपर उठा लेते हैं जो मानसिक प्रतिबिम्बों के चमकीले आवरण के कारण इस समय हमसे छुपा हुआ है और जब हम अपनी सम्पूर्ण सत्ता को इस महत्तर चेतना के रूपों में परिणत कर लेते हैं। स्वयं विज्ञान में भी अनेक क्रमिक स्तर हैं जो अपने उच्चतम शिखर पर पूर्ण और अनन्त आनन्द में जा खुलते हैं। जब एक बार विज्ञान का आवाहन करके उसे प्रबल रूप से सक्रिय बना दिया जायेगा तो वह बुद्धि, संकल्पशक्ति, ऐन्द्रिय मन, हृदय और प्राणिक तथा साम्वेदनिक सत्ता की सभी अवस्थाओं को उत्तरोत्तर अपने हाथ में लेकर एक ज्योतिर्मय एवं सामंजस्यकारी रूपान्तर के द्वारा सत्य के एकत्व में तथा दिव्य सत्ता के बल और आनन्द में परिणत कर देगा। वह हमारी सम्पूर्ण बौद्धिक, संकल्पात्मक, क्रियाशील, नैतिक, सौन्दर्यग्राही, सम्वेदनप्रधान, प्राणिक और भौतिक सत्ता को उस ज्योति और शक्ति में ऊपर उठा ले जायेगा तथा उन्हें उनके अपने उच्चतम भाव में रूपान्तरित कर देगा। भौतिक सीमाओं को दूर करके एक अधिक पूर्ण एवं दिव्य-यन्त्र-स्वरूप शरीर का विकास करने की शक्ति भी विज्ञान में विद्यमान है। उसका प्रकाश अतिचेतन के क्षेत्रों को खोल देता है और अवचेतन में बलपूर्वक अपनी किरणें फेंककर तथा अपना ज्योतिर्मय प्रवाह उंडेलकर उसके धुंधले संकेतों एवं अवरुद्ध रहस्यों को आलोकित कर देता है। मन की ऊंची-से-ऊंची भूमिका के भी क्षीणतर आलोक के रूप में अनन्त का जो प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है उससे अधिक महान् प्रकाश में वह हमें प्रवेश प्रदान करता है। जहां वह वैयक्तिक आत्मा और प्रकृति को, दिव्य जीवन के सच्चे अर्थ में, पूर्ण बनाता है और हमारी सत्ता की विभिन्न अवस्थाओं को एक पूर्ण सामंजस्य का रूप देता है, वहां वह अपने समस्त कार्य का आधार उस एकत्व पर स्थापित करता है जो उसका उद्गम है और फिर प्रत्येक वस्तु को उस एकत्व में ही उठा ले जाता है। व्यक्तित्व और निर्व्यक्तिक सत्, जो सत्ता के दो सनातन पक्ष हैं, पुरुषोत्तम की अध्यात्म-सत्ता और प्रकृति-देह में उसके द्वारा एक हो जाते हैं।

विज्ञानमय सिद्धि को, जिसका स्वरूप आध्यात्मिक है, यहां इस देह में ही सम्पन्न

करना होगा, वह स्थूल जगत् के जीवन को अपने एक क्षेत्र के रूप में ग्रहण करती है, यद्यपि विज्ञान जड़ जगत् से परे के स्तरों और लोकों की प्राप्ति का द्वार भी हमारे लिये खोल देता है। अतएव स्थूल शरीर कर्म का आधार, **प्रतिष्ठा** है जिसे तुच्छता या उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता और न जिसे आध्यात्मिक विकास से बहिष्कृत ही किया जा सकता है: भूतल पर सम्पूर्ण दिव्य जीवन के एक बाह्य यन्त्र के रूप में शरीर की पूर्णता, अनिवार्यतः ही, विज्ञानमय रूपान्तर का भाग होगी। वह परिवर्तन भौतिक चेतना और उसके करणों में विज्ञानमय पुरुष के तथा यह ऊपर की ओर जिसमें खुलता है उस आनन्दमय पुरुष के नियम को लाने से साधित होगा। इस क्रिया को यदि इसके उच्च-से-उच्च परिणामतक ले जाया जाये तो यह सम्पूर्ण भौतिक चेतना को आध्यात्मिक बनाती तथा आलोकित कर देती है और शरीर के नियम को भी दिव्य नियम में परिणत कर देती है। कारण, इस स्थूलतः प्रत्यक्ष और इन्द्रियगोचर आधार के स्थूल अन्नमय कोष के पीछे मनोमय पुरुष का सूक्ष्म शरीर है जो स्थूल शरीर को प्रच्छन्न रूप से धारण करता है तथा जिसे एक उत्कृष्टतर सूक्ष्म चेतना के द्वारा जाना जा सकता है, साथ ही इसके पीछे विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष का आध्यात्मिक या कारण-रूप शरीर भी है। उन शरीरों में आध्यात्मिक-देह-धारण की समस्त सिद्धि उपलब्ध हो सकती है और शरीर का जो दिव्य नियम अबतक कभी प्रकट नहीं हुआ वह भी प्रकट हो सकता है। जिन शारीरिक सिद्धियों को कुछ-एक योगी प्राप्त करते हैं उनमें से बहुत-सी सूक्ष्म शरीर के नियम के यत्किंचित् उद्घाटन से या स्थूल देह में आध्यात्मिक शरीर के नियम के किसी अंश के आवाहन से प्राप्त होती हैं। इसके लिये साधारण विधि है—हठयोग की भौतिक प्रक्रियाओं के द्वारा (जिनका कुछ अंश राजयोग में भी समाविष्ट है) या तान्त्रिक साधना की विधियों के द्वारा चक्रों को खोलना। यद्यपि किन्हीं विशेष अवस्थाओं में पूर्णयोग ऐच्छिक रूप से इन विधियों का उपयोग कर सकता है तथापि ये अनिवार्य नहीं हैं; क्योंकि यहां निम्न सत्ता का परिवर्तन करने के लिये उच्चतर सत्ता की शक्ति पर भरोसा किया जाता है, मुख्य रूप से एक ऐसी क्रिया को पसन्द किया जाता है जो ऊपर से निम्न स्तर पर की जाती है न कि इससे उल्टे ढंग से, और अतएव योग के इस भाग में करण के परिवर्तन के रूप में विज्ञान की उच्चतर शक्ति के विकास की प्रतीक्षा की जायेगी।

तब विज्ञान के आधार पर सत्ता का पूर्ण कर्म और उपभोग ही शेष रह जायेगा, क्योंकि यह तभी पूर्णतया सम्भव होगा। पुरुष अपनी अनन्त सत्ता की विविधताओं को प्रकट करने के लिये, ज्ञान, कर्म और उपभोग के लिये, अपने-आपको विराट् रूप में व्यक्त करना आरम्भ करता है; विज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान का पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त कराता है और उसके ऊपर वह दिव्य कर्म की नींव रखता है तथा जगत् एवं अस्तित्व के उपभोग को सत्य के नियम और आत्मा की मुक्ति एवं पूर्णता के

अनुरूप ढाल देता है। परन्तु वह कर्म गुणों का निम्न व्यापार नहीं होगा और न वह उपभोग ही गुणों के निम्न व्यापार से प्राप्त होनेवाला वह अहंकारमय उपभोग होगा जो अधिकांश में राजसिक कामना की तुष्टि का उपभोग हुआ करता है—जीवन-यापन की हमारी वर्तमान प्रणाली तो ऐसा कर्म और उपभोग करने की ही है। जो कामना शेष रहेगी—यदि उसे कामना का नाम दिया जाये तो,—वह दिव्य कामना होगी, अर्थात् आनन्द प्राप्त करने के लिये 'पुरुष' की अपनी इच्छाशक्ति होगी, एक ऐसे 'पुरुष' की जो अपनी मुक्ति और सिद्धि की अवस्था में पूर्णता-प्राप्त प्रकृति तथा उसके समस्त करणों के कार्य का आनन्दोपभोग करेगा। दिव्य पराप्रकृति हमारी सम्पूर्ण मानव-प्रकृति को अपने उच्चतर दिव्य सत्य के नियम में उन्नीत कर देगी और उस नियम में कार्य करती हुई अपने कर्म और अस्तित्व का विराट् आनन्दोपभोग उस आनन्दमय ईश्वर, सत्ता और कर्मों के प्रभु आनन्दस्वरूप परम-आत्मा को अर्पित करेगी जो उसके सब कार्यों का अधिष्ठाता और नियन्ता है। व्यक्ति की आत्मा इस कर्म और अर्पण का वाहन होगी, वह ईश्वर तथा प्रकृति दोनों के साथ अपने एकत्व का एक ही साथ रसास्वादन करेगी और विराट् पुरुष तथा प्रकृति के एकत्व के उच्चतम रूपों में अनन्त और सान्त के साथ, ईश्वर और जगत् तथा इसके प्राणियों के साथ सब प्रकार के सम्बन्धों का आनन्दोपभोग करेगी।

समस्त विज्ञानमय विकास ऊपर की ओर आरोहण करता हुआ आनन्द के दिव्य तत्त्व में जा पहुंचता है; वह आनन्दतत्त्व सच्चिदानन्द या सनातन ब्रह्म की आध्यात्मिक सत्ता, चेतना और आनन्द के पूर्णैश्वर्य का आधार है। पहले वह मानसिक अनुभव में प्रतिबिम्बित होकर प्राप्त होता है, उसके बाद वह विज्ञान से प्राप्त होनेवाली घनीभूत ज्योतिर्मय चेतना, चिद्घन, में एक महत्तर पूर्णता के साथ तथा अधिक प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होगा। सिद्ध या पूर्णता-प्राप्त 'पुरुष' इस ब्राह्मी चेतना में पुरुषोत्तम के साथ एक होकर जीवन धारण करेगा, वह 'सर्व'मय ब्रह्म, **सर्वं ब्रह्म** में, अनन्त सत्ता और अनन्त गुणोंवाले ब्रह्म, **अनन्तं ब्रह्म** में, स्वयंभू-चैतन्य-स्वरूप और विश्व-विज्ञानमय ब्रह्म, **ज्ञानं ब्रह्म** में, स्वयंभू-आनन्द-स्वरूप और विराट् अस्तित्व-आनन्दमय ब्रह्म, **आनन्दं ब्रह्म** में सचेतन होकर निवास करेगा। वह सम्पूर्ण विश्व को एकमेव की अभिव्यक्ति अनुभव करेगा, समस्त गुणों और कर्मों को उसकी विराट् और असीम शक्ति की क्रीड़ा तथा समस्त ज्ञान एवं सचेतन अनुभव को उस चेतना का बहिःप्रवाह अनुभव करेगा, और यह सब अनुभव उसे एकमेव आनन्द के विविध रूपों में ही होगा। उसकी भौतिक सत्ता समस्त जड़ प्रकृति के साथ एक होगी, उसकी प्राणिक सत्ता विश्व के प्राण के साथ, उसका मन वैश्व मन के साथ, उसका आध्यात्मिक ज्ञान और संकल्प दिव्य ज्ञान और संकल्प के निज स्वरूप के साथ तथा उनके इन प्रणालिकाओं के द्वारा प्रवाहित होनेवाले रूप के साथ एक होंगे, उसकी आत्मा सर्वभूतों में स्थित एकमेव आत्मा के साथ

एक होगी। विश्व-सत्ता की समस्त विविधता उसके लिये उसी एकता में परिवर्तित हो जायेगी और उसके आध्यात्मिक अर्थ का रहस्य प्रकट हो जायेगा। कारण, इस आध्यात्मिक सत्ता और आनन्द में वह उस 'तत्' के साथ एक होगा जो समस्त सत्ता का उद्गम और आधार है, सबका अन्तर्वासी, मूल आत्मतत्त्व और उपादान-शक्ति है। यह होगी आत्मसिद्धि की पराकाष्ठा।

अध्याय ११

समता की पूर्णता

आध्यात्मिक सिद्धि के लिये सर्वप्रथम आवश्यक साधन है पूर्ण समता। योग में हम सिद्धि शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करते हैं उसमें इसका आशय अदिव्य अपरा प्रकृति से बाहर निकलकर दिव्य परा प्रकृति में विकसित होना है। ज्ञान की परिभाषा में इसका अर्थ है उच्चतर सत्ता के स्वरूप को धारण करना और अत्यन्त अन्धकारमय एवं खण्डित निम्नतर सत्ता को त्याग देना अथवा अपनी अपूर्ण अवस्था को अपने वास्तविक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व की अखण्ड ज्योतिर्मय पूर्णता में रूपान्तरित करना। भक्ति और आराधना की परिभाषा में इसका अर्थ है अपनी प्रकृति या अपनी सत्ता के नियम के साथ, भगवान् की प्रकृति या उसकी सत्ता के नियम के साथ उत्तरोत्तर सादृश्य स्थापित करना, जिसकी हम अभीप्सा करते हैं उसके साथ एकमय होना,—क्योंकि यदि यह सादृश्य या सत्ता के नियम की यह एकता न हो तो उस परात्पर एवं विश्वगत और इस व्यक्तिगत आत्मा में एकत्व साधित नहीं हो सकता। परमोच्च दिव्य प्रकृति समता पर प्रतिष्ठित है। उसके सम्बन्ध में यह कथन सभी अवस्थाओं में सत्य है, भले हम परमोच्च सत्ता को शुद्ध एवं प्रशान्त पुरुष तथा आत्मा के रूप में देखें या विश्व-सत्ता के दिव्य स्वामी के रूप में। शुद्ध आत्मा सम और अचलायमान है, जगत् की सभी घटनाओं तथा उसके सभी सम्बन्धों का तटस्थ शान्ति के साथ अवलोकन करनेवाला साक्षी है। यद्यपि वह उनसे विरक्त नहीं होता,—विरक्ति का नाम समता नहीं है, यदि आत्मा की जगत्-सत्ता के प्रति यही वृत्ति होती तो जगत् उत्पन्न ही न हो सकता, न वह अपने विकास के वृत्तों पर आगे ही बढ़ सकता,—तथापि अनासक्ति, सम दृष्टि की शान्ति, जो प्रतिक्रियाएं बाह्य प्रकृति में फंसी आत्मा को पीड़ित करती हैं तथा जो उसे अक्षम बनानेवाली उसकी दुर्बलता हैं उनसे ऊपर होना, ये सब प्रशान्त अनन्त ब्रह्म की पवित्रता का असली सारतत्त्व हैं तथा जगत् की अनेकमुखी गति के प्रति उसकी तटस्थ स्वीकृति एवं सहायता के लिये आवश्यक अवस्थाएं हैं। परन्तु परम आत्मा की जो शक्ति इन गतियों को नियन्त्रित और विकसित करती है उसमें भी यही समता एक आधारभूत अवस्था है।

पदार्थों का स्वामी उनकी प्रतिक्रियाओं से प्रभावित या विक्षुब्ध नहीं हो सकता; यदि वह प्रभावित या विक्षुब्ध हो जाये तो वह उनके अधीन है, उनका स्वामी नहीं, अपने प्रभुत्वशाली संकल्प और ज्ञान के अनुसार तथा उनके सम्बन्धों के पीछे जो कुछ विद्यमान है उसके आन्तरिक सत्य और उसकी आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार उनका विकास करने के लिये स्वतन्त्र नहीं है, वरन् सच पूछो तो वह

क्षणस्थायी आकस्मिक संयोग और दृग्विषय की मांग के अनुसार कार्य करने के लिये विवश है। सभी वस्तुओं का सत्य उनकी गहराइयों की शान्ति में निहित है, उपरितल पर उनका जो परिवर्तनशील अस्थिर तरंगमय रूप दिखायी देता है उसमें नहीं। परम चिन्मय पुरुष अपने दिव्य ज्ञान, संकल्प और प्रेम के द्वारा इन गहराइयों से ही उनके विकास का संचालन करता है—हमारे अज्ञान को वह विकास कितनी ही बार एक क्रूर अव्यवस्था और पथ-भ्रष्टता-रूप प्रतीत होता है—किन्तु परम पुरुष उपरितल के कोलाहल से विक्षुब्ध नहीं होता। भागवत प्रकृति हमारे अन्धान्वेषणों और आवेगों में भाग नहीं लेती; जब हम भगवान् के कोप या अनुग्रह की चर्चा करते हैं या यह कहते हैं कि भगवान् मनुष्य में दुःख झेलते हैं, तो हम एक मानवीय भाषा का प्रयोग कर रहे होते हैं जो हमारे द्वारा वर्णित गति के आन्तरिक अर्थ का अशुद्ध निरूपण करती है। जब हम स्थूलतलदर्शी मन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक सत्ता के शिखरों पर पहुंचते हैं तो हम भगवान् के कोप या प्रसाद के वास्तविक सत्य को कुछ-कुछ देख पाते हैं। कारण, तब हम देखते हैं कि, आत्मा की नीरव शान्ति में किंवा उसके विश्वगत कार्य-व्यापार में, भगवान् सदा ही सच्चिदानन्द हैं, अर्थात् वे चिन्मय पुरुष की असीम सत्ता, असीम चेतना एवं स्व-प्रतिष्ठित शक्ति हैं, उसकी समस्त सत्ता में व्याप्त एक असीम आनन्द हैं। तब हम स्वयं एक समत्वपूर्ण ज्योति, शक्ति और आनन्द में निवास करने लगते हैं—वे ज्योति, शक्ति और आनन्द हमारी चेतन सत्ता के अन्दर उन दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्द का ही एक विशेष रूप होते हैं जो आत्मा और पदार्थों में विद्यमान हैं तथा उपर्युक्त असीम मूल स्रोतों से सक्रिय विराट् प्रवाहों के रूप में आते हैं। उस ज्योति, शक्ति और आनन्द के प्रभाव से हमारे अन्दर का गुप्त पुरुष एवं आत्मा मन के द्वारा प्रस्तुत जीवन-विषयक अनुभवों के विवरण के द्वैतात्मक स्वरूप को स्वीकार करता है तथा उसे सदा ही अपने पूर्ण अनुभव की पोषक सामग्री में रूपान्तरित कर देता है, और यदि इस समय भी हमारे अन्दर एक गुप्त महत्तर सत्ता न होती तो हम विश्व-शक्ति का दबाव सहन न कर सकते और न इस महत् और भयानक जगत् में जीवन धारण ही कर सकते। हमारी आत्मा और प्रकृति की पूर्ण समता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम विक्षुब्ध और अज्ञ बाह्य चेतना से पीछे हटकर स्वर्ग के इस आन्तरिक राज्य में प्रवेश कर सकते हैं और आत्मा की महिमा, शान्ति और आनन्द के सनातन राज्यों, **राज्यं समृद्धम्**, को प्राप्त कर सकते हैं। योग का आत्म-सिद्धि प्राप्त करने का लक्ष्य हमसे जिस समत्व-साधना की मांग करता है उसका पूर्ण फल एवं समग्र निमित्त दिव्य प्रकृति की ओर यह आत्म-उत्थान ही है।

हमारी सत्ता के सम्पूर्ण तत्त्व को उसके विक्षुब्ध-मानसिकता-रूपी वर्तमान उपादान से आत्मा के तत्त्व में रूपान्तरित करने के लिये आत्मा की पूर्ण समता एवं शान्ति अनिवार्य है। यदि हम अपने वर्तमान अव्यवस्थित और अज्ञानयुक्त कर्म के स्थान

पर प्रकृति की शासक और विराट् पुरुष के साथ समस्वरित मुक्त आत्मा के स्वराट् और ज्योतिर्मय कर्मों को प्रतिष्ठित करने की अभीप्सा रखते हों तब भी यह समता एवं शान्ति समान रूप से अनिवार्य है। यदि हममें आत्मा की समता नहीं है और हमारी प्रकृति की चालक शक्तियों में भी समता नहीं है तो दिव्य कर्म तो क्या सर्वांगपूर्ण मानवीय कर्म भी हम नहीं कर सकते। भगवान् सबके प्रति सम हैं, अपने रचे हुए विश्व के निष्पक्ष भर्ता हैं जो सबको समत्वपूर्ण नेत्रों से देखते हैं, विकसनशील सत्ता के जिस नियम को उन्होंने अपनी सत्ता की गहराइयों में से प्रकट किया है उसे वे स्वीकृति प्रदान करते हैं, जो कुछ सहन करना आवश्यक हो उसे सहन करते हैं, जिसे दबाना आवश्यक हो उसे दबा देते हैं, जिसे उभारना आवश्यक हो उसे उभारते हैं, समस्त कारणों और परिणामों के पूर्ण और समत्वयुक्त ज्ञान के साथ तथा सभी दृग्विषयों के आध्यात्मिक और व्यावहारिक अर्थ को कार्यान्वित करते हुए, सृजन, पालन और संहार करते हैं। परमेश्वर कामना के किसी विक्षुब्ध आवेग के वश सृष्टि की रचना नहीं करते, न वे पक्षपातपूर्ण अभिरुचि-रूपी आसक्ति के द्वारा उसका धारण-पोषण करते हैं और न ही क्रोध, घृणा और वैराग्य के आवेश में आकर उसका संहार करते हैं। भगवान् बड़े और छोटे, न्यायी और अन्यायी तथा अज्ञ और विज्ञ—सबके साथ उनकी आत्मा के रूप में व्यवहार करते हैं; यह आत्मा सत्तामात्र के साथ गहरे और घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध तथा एक होने के कारण सबको उनकी प्रकृति और आवश्यकता के अनुसार पूर्ण ज्ञान एवं शक्ति के साथ तथा यथोचित प्रमाण में परिचालित करती है। पर इस सब कार्य के द्वारा वह समस्त वस्तुओं को युगयुगव्यापी विकास-चक्रों के मूल में विद्यमान अपने विशाल लक्ष्य के अनुसार संचालित करती है तथा क्रमविकास में अन्तरात्मा को उसकी दृश्यमान प्रगति और प्रतिगति के द्वारा ऊपर की ओर, सदैव उच्च से उच्चतर विकास की ओर उठा ले जाती है जो कि विश्व में कार्य कर रही प्रेरणा का आशय है। आत्म-सिद्धि के लिये यत्नशील व्यक्ति को, जो भगवान् की इच्छाशक्ति के साथ एकता प्राप्त करना चाहता है तथा अपनी प्रकृति को दिव्य उद्देश्य का यन्त्र बनाने की चेष्टा करता है, मानव-अज्ञान के अहंकारमय और पक्षपातपूर्ण विचारों तथा प्रेरक-भावों से बाहर निकलकर अपनेको विशाल बनाना होगा और इस परम समता की प्रतिमूर्ति में अपने-आपको ढालना होगा।

कर्म में यह समत्वपूर्ण स्थिति पूर्णयोग के साधक के लिये विशेष रूप से आवश्यक है। सर्वप्रथम उसे उस समत्वपूर्ण अनुमति एवं समबुद्धि का विकास करना होगा जो दिव्य कर्म के नियम पर अपनी अपूर्ण इच्छाशक्ति और व्यक्तिगत अभीप्सा की उग्र मांग को थोपने की चेष्टा किये बिना उस नियम के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया करेगी। जो व्यक्ति भगवान् के पूर्ण यन्त्रों के रूप में कार्य करना चाहते हैं उनसे जिस पहली चीज की मांग की जाती है वह एक ज्ञानपूर्ण निर्व्यक्तिकता एवं

प्रशान्त समता है, एक विश्वमयता है जो सभी वस्तुओं को भगवान् अर्थात् 'एकं सत्' की अभिव्यक्तियों के रूप में देखती है, वस्तुओं की गतिविधि के सम्बन्ध में क्रुद्ध, क्षुब्ध एवं अधीर नहीं होती और इसके दूसरी ओर उत्तेजित, अति उत्सुक और अविवेकशील भी नहीं होती, वरन् यह देखती है कि विधान का अनुसरण और काल के पदक्षेप का सम्मान करना आवश्यक है, पदार्थों और प्राणियों की वर्तमान अवस्था का निरीक्षण करती और उसे सहानुभूतिपूर्वक समझती है, पर उनके वर्तमान रूप के पीछे उनके आन्तरिक गूढ़ाशयों को भी देखती है और आगे की ओर उनकी दिव्य सम्भावनाओं के अनावरण पर भी दृष्टिपात करती है। परन्तु यह निर्व्यक्तिक अनुमति एक आधारमात्र है। मनुष्य एक ऐसे विकास का यन्त्र है जो आरम्भ में एक संघर्ष का छद्मवेश धारण करता है, पर अपने सतत, ज्ञानपूर्ण सामञ्जस्य-स्थापन-रूपी सत्यतर और गभीरतर अर्थ को अधिकाधिक प्रकट करता जाता है और विश्व की विराट् समस्वरता के गभीरतम सत्य और मर्म को उत्तरोत्तर अधिक प्रमाण में धारण करता जायेगा; वह सत्य एवं मर्म इस समय सामञ्जस्य और संघर्ष के मूल में प्रच्छन्न रूप से ही विद्यमान हैं। सिद्धिप्राप्त मानव-आत्मा को इस विकास की विधियों को द्रुत वेग प्रदान करने के लिये सदैव एक यन्त्र के रूप में कार्य करना होगा। इसके लिये एक दिव्य शक्ति को, जो अपने अन्तःस्थ दिव्य संकल्प की प्रभुता के साथ कार्य करती है, उसकी प्रकृति के अन्दर कुछ-न-कुछ मात्रा में अवश्य उपस्थित होना चाहिये। परन्तु वह शक्ति अपने कार्य को पूर्णतया सिद्ध कर सके, सतत स्थायी और धीर-स्थिर रूप से सम्पन्न कर सके और सच्चे अर्थ में दिव्य बन सके—इसके लिये उसे मानव-आत्मा की आध्यात्मिक समता, शान्ति, सर्वभूतों के साथ निर्व्यक्तिक और समत्वपूर्ण तदात्मता तथा सब शक्तियों की ठीक समझ के आधार पर ही अपना कार्य करना होगा। भगवान् विश्व के अगणित व्यापारों में अति महत् शक्ति के साथ कार्य करते हैं, पर अविचल एकता, स्वतन्त्रता और शान्ति की आश्रयदायिनी ज्योति और शक्ति के द्वारा ही करते हैं। सिद्धिप्राप्त आत्मा के दिव्य कर्मों का ढंग भी यही होना चाहिये। और समता ही सत्ता की वह अवस्था है जो कर्म करने की इस परिवर्तित भावना को सम्भव बनाती है।

परन्तु मानवीय पूर्णता के लिये भी उसके एक अन्यतम प्रधान तत्त्व और यहांतक कि उसके आवश्यक वातावरण के रूप में समता अपरिहार्य है। मानवीय पूर्णता को यदि अपने इस नाम के योग्य बनना है तो उसके लक्ष्य में आत्म-प्रभुत्व तथा परिस्थितियों पर प्रभुत्व—ये दो चीजें अवश्य समाविष्ट होनी चाहियें; ये (प्रभुत्व-रूप) शक्तियां मानव-प्रकृति को जिस बड़ी-से-बड़ी मात्रा में प्राप्त हो सकती हैं उस मात्रा में इन्हें पाने के लिये उसे यत्न करना होगा। प्राचीन भाषा में कहें तो मनुष्य का आत्म-सिद्धिविषयक आवेग **स्वराट्** और **सम्राट्** बनने का ही आवेग है। परन्तु यदि वह निम्न प्रकृति के आक्रमण के अधीन हो, हर्ष और शोक

के विक्षोभ के सुख और दुःख के प्रबल स्पर्शों के, अपने भावावेशों और आवेगों के कोलाहल के, अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचियों के बन्धन के, कामना और आसक्ति की दृढ़ शृंखलाओं के आवेशमूलक पक्षपात से पूर्ण व्यक्तिगत निर्णय और सम्मति की संकीर्णता के, अपने अहंकार के सैंकड़ों स्पर्शों के तथा विचार, भाव और कर्म पर उसकी अटल छाप के अधीन हो तो वह स्वराट् बन ही नहीं सकता। ये सब चीजें निम्न 'स्व' के प्रति दासता-रूप हैं, यदि मनुष्य को अपनी प्रकृति का राजा बनना हो तो उसे चाहिये कि अपने अन्दर की महत्तर 'मैं' के द्वारा निम्न 'स्व' को अपने पैरों तले रखे। इन सब चीजों पर विजय पाना आत्म-शासन (स्वराज्य) की शर्त है; पर उस विजय की भी शर्त तथा उसकी प्रक्रिया का सार है समता। इन सब चीजों से, हो सके तो, पूर्णतः मुक्त होना या कम-से-कम इनका स्वामी तथा इनसे उच्चतर होना—इसीका नाम है समता। और फिर, जो अपना प्रभु नहीं है वह अपनी परिस्थितियों का प्रभु भी नहीं हो सकता। इस बाह्य प्रभुत्व के लिये जिस ज्ञान, संकल्प एवं सामंजस्य की जरूरत है वह आन्तरिक विजय के राज-पुरस्कार के रूप में ही प्राप्त हो सकता है। वह उस स्वराट् अन्तरात्मा एवं मन की सम्पदा है जो निष्पक्ष समता के साथ सत्य, ऋत तथा विश्वव्यापी बृहत् का अनुसरण करता है; इन सत्य, ऋत तथा बृहत् की भूमिका में ही यह प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है,—हमारी अपूर्णता के सम्मुख ये जो महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं उसका भी स्वराट् आत्मा सदा अनुसरण करता है, पर यह उस सबको भी समझता तथा पूरा अवकाश देता है जो इनका विरोध करता तथा इनकी अभिव्यक्ति में बाधा डालता प्रतीत होता है। यह नियम हमारे वर्तमान मानव-मन के स्तरों पर भी सत्य है, जहां हम केवल सीमित पूर्णता ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु योग अपने आदर्श की सिद्धि के लिये स्वराज्य और साम्राज्य के इस लक्ष्य को अपने हाथ में लेकर इसे एक विशालतर आध्यात्मिक आधार पर स्थापित कर देता है। वहां यह अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त कर लेता है, आत्मा की दिव्यतर भूमिकाओं की ओर खुल जाता है; क्योंकि अनन्त के साथ एकत्व तथा सान्त पदार्थों पर आध्यात्मिक शक्ति की क्रिया के द्वारा ही हमारी सत्ता और प्रकृति की एक प्रकार की उच्चतम सर्वांगीण पूर्णता अपना सहज-स्वाभाविक आधार प्राप्त करती है।

आत्मा की ही नहीं बल्कि प्रकृति की भी पूर्ण समता आत्मसिद्धि-योग की शर्त है। प्रत्यक्षतः ही, इसके लिये पहला कदम यह होगा कि हम अपनी भावप्रधान और प्राणिक सत्ता पर विजय प्राप्त करें; क्योंकि बड़े-से-बड़े विक्षोभ के उद्गम, असमता और दासता की सर्वाधिक दुर्दान्त शक्तियां और हमारी अपूर्णता की सबसे अधिक आग्रहपूर्ण मांग हमारी भाविक और प्राणिक सत्ता में ही निहित हैं। अपनी प्रकृति के इन भागों की समता हमें शुद्धि और मुक्ति से प्राप्त होती है। हम कह सकते हैं कि समता मुक्ति का असली चिह्न ही है। प्राणिक कामना के आवेग के

आधिपत्य से तथा आत्मा पर वासनाओं के प्रचण्ड प्रभुत्व से मुक्त होने का मतलब है शान्त और समतापूर्ण हृदय को तथा एक ऐसे प्राण-तत्त्व को प्राप्त करना जो विश्वात्मा की विशाल और समदृष्टि से नियन्त्रित हो। कामना प्राण की अशुद्धि और बन्धन-शृंखला है। मुक्त प्राण का अभिप्राय है सन्तुष्ट और तृप्त प्राणमय पुरुष जो बाह्य पदार्थों के स्पर्श का सामना बिना किसी कामना के करता है और एक समान प्रत्युत्तर के साथ उनका स्वागत करता है; मुक्त होकर, रुचि और अरुचि के दासतापूर्ण द्वंद्व से ऊपर उठकर, सुख-दुःख की प्रबल प्रेरणाओं के प्रति उदासीन रहता हुआ, प्रिय वस्तुओं के द्वारा हर्षोत्फुल्ल तथा अप्रिय के द्वारा क्षुब्ध और अभिभूत न होता हुआ, जो स्पर्श उसे पसन्द हैं उनके साथ आसक्ति के भाव में न चिपकता हुआ और जिनके प्रति उसे तीव्र घृणा है उन्हें उग्रतापूर्वक दूर न हटाता हुआ वह अनुभव के मूल्यों की एक महत्तर प्रणाली की ओर उन्मुक्त हो जायेगा। संसार से उसके पास भय या अनुनय के साथ जो कुछ भी आयेगा उस सबको वह उच्चतर तत्त्वों के आगे अर्थात् आत्मा के प्रकाश एवं शान्त आनन्द के स्पर्श में रहनेवाले या उसके द्वारा परिवर्तित बुद्धि और हृदय के आगे विचारार्थ पेश करेगा। इस प्रकार शान्त होकर, आत्मा के वशीभूत होकर और पहले की तरह हमारे अन्दर की गभीरतर एवं सूक्ष्मतर अन्तरात्मा पर अपने प्रभुत्व को लादने की चेष्टा न करता हुआ यह प्राणमय पुरुष स्वयं अध्यात्ममय हो जायेगा और पदार्थों के साथ आत्मा के दिव्यतर व्यवहारों के विशुद्ध और उदात्त यन्त्र के रूप में कार्य करेगा। यहां प्राण-आवेग तथा उसके सहजात उपयोगों और कार्यों का वैराग्यपूर्वक उच्छेद करने का कोई प्रश्न ही नहीं है; आवश्यकता है इसका रूपान्तर करने की न कि उच्छेद। प्राण का कार्य है उपभोग, पर सत्ता का वास्तविक उपभोग एक आन्तरिक आध्यात्मिक आनन्द है, न कि हमारे प्राणिक, भाविक या मानसिक सुख के समान मर्यादित और अशान्त आनन्द, प्राणिक, भाविक और मानसिक सुख आज स्थूल मन की प्रधानता के कारण हीनता से ग्रस्त हैं, पर वास्तविक उपभोग तो एक विराट् और गहन-गभीर आनन्द है, आध्यात्मिक आनन्द का एक पुंजीभूत सघन रूप है जो आत्मा और समस्त सत्ता के शान्त परमोल्लास में प्राप्त होता है। स्वत्व-प्राप्ति प्राण का कार्य है, स्वत्व-प्राप्ति के द्वारा ही अन्तरात्मा को पदार्थों का आनन्दोपभोग प्राप्त होता है, पर यह स्वत्व-प्राप्ति वास्तविक होती है, एक विशाल और आन्तरिक वस्तु होती है, यह उस बाहरी पकड़ पर निर्भर नहीं करती जो हमें पकड़ में लायी गयी वस्तु के अधीन कर देती है। समस्त बाह्य प्राप्ति एवं उपभोग आध्यात्मिक आनन्द की अपनी ही जगत्-सत्ता के रूपों और दृग्विषयों के साथ तृप्त और समलीला का एक साधनमात्र होगा। अहंकारमय प्राप्ति, अर्थात् भगवान् पर तथा जीवों और जगत् पर अहं के अधिकार के अर्थ में वस्तुओं को अपनी बना लेने की वृत्ति, **परिग्रह**, को त्यागना होगा, ताकि यह महत्तर वस्तु अर्थात् यह विशाल, विश्वमय

और सर्वांगपूर्ण जीवन प्राप्त हो सके। **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**,—कामना और प्राप्ति की अहंकारमय भावना का त्याग करने से ही आत्मा अपनी सत्ता का तथा विश्व का दिव्य रूप में आनन्दोपभोग करती है।

इसी प्रकार मुक्त हृदय एक ऐसा हृदय होता है जो भावों और रागावेशों के आंधी-तूफान से मुक्त होता है; शोक, क्रोध, घृणा और भय का आक्रामक स्पर्श, प्रेमजनित असमता, हर्षजनित विक्षोभ और दुःखजन्य वेदना—ये सब समत्वपूर्ण हृदय से दूर हो जाते हैं जिससे कि वह एक विशाल, शान्त, सम, प्रकाशमय एवं दिव्य तत्त्व ही बना रहता है। ये वस्तुएं हमारी सत्ता की मूल प्रकृति के लिये अनिवार्य नहीं हैं, बल्कि हमारी बाह्य और सक्रिय मानसिक एवं प्राणिक प्रकृति की वर्तमान बनावट की तथा अपनी परिस्थितियों के साथ उसके व्यवहारों की उपज हैं। हमारी अहंबुद्धि ही हमारे हृदय की इन अशुद्ध क्रियाओं के लिये उत्तरदायी है क्योंकि वह हमें ऐसे पृथक् जीवों के रूप में कार्य करने के लिये प्रेरित करती है जो अपनी पृथक् व्यक्तिगत मांग और अनुभूति को विश्व के मूल्यों की कसौटी बनाते हैं। जब हम अपने अन्तःस्थ भगवान् तथा विश्वगत आत्मा के साथ एकत्व में जीवन धारण करते हैं तो ये अपूर्णताएं हमसे झड़कर अलग हो जाती हैं और आन्तर आध्यात्मिक सत्ता के शान्त और सम बल एवं आनन्द में विलीन हो जाती हैं। वह भागवत सत्ता सदा ही हमारे अन्दर विद्यमान है और इसके पूर्व कि बाह्य स्पर्श हमारे अन्तःस्थ प्रच्छन्न चैत्य पुरुष में से होते हुए उसतक पहुंचे वह उन्हें रूपान्तरित कर डालती है; यह चैत्य पुरुष उसका एक गुप्त साधन है जिसके द्वारा वह अपने सत्ता-सम्बन्धी आनन्द का उपभोग करती है। हृदय की समता के द्वारा हम अपने उपरितल पर रहनेवाले अशान्त कामनामय पुरुष से दूर हट जाते हैं, इस गभीरतर सत्ता के द्वारों को खोल डालते हैं, इसकी प्रतिक्रियाओं को प्रकाश में ले आते हैं और जो कुछ भी हमारी भावप्रधान सत्ता को प्रलोभित करता है उस सबपर उनके सच्चे दिव्य मूल्यों को आरोपित करते हैं। इस पूर्णता का फल होता है आध्यात्मिक वेदन प्राप्त करनेवाला, मुक्त, प्रसन्न, समत्वयुक्त और विश्वप्रेमी हृदय।

इस पूर्णता में भी कठोर वैराग्यमय सम्वेदनहीनता या तटस्थ आध्यात्मिक उदासीनता का अथवा आत्मदमन की कष्ट-साध्य कर्कश तपस्या का कोई प्रश्न नहीं है। यह भावप्रधान प्रकृति का उच्छेद नहीं, रूपान्तर है। यहां हमारी बाह्य प्रकृति में जो भी चीजें अपने-आपको विकृत या अपूर्ण रूपों में प्रस्तुत करती हैं उन सबका कुछ महत्त्व और उपयोग है, जब हम उनसे पीछे हटकर दिव्य सत्ता के महत्तर सत्य में प्रवेश करते हैं तो उनका महत्त्व और उपयोग प्रकट हो जाते हैं। प्रेम का उच्छेद नहीं होगा बल्कि वह पूर्णता को पहुंच जायेगा, विस्तृत होकर अपनी विशालतम क्षमता को पा लेगा, गहरा होकर अपने आध्यात्मिक हर्षोल्लास को प्राप्त कर लेगा, ईश्वर-प्रेम और मानव-प्रेम बन जायेगा, अपनी आत्मा के रूप में तथा भगवान् की

सत्ताओं और शक्तियों के रूप में सभी वस्तुओं से प्रेम का रूप धारण कर लेगा; एक विशाल एवं सार्वभौम प्रेम, जो नानाविध सम्बन्ध स्थापित करने में सर्वथा समर्थ होगा, क्षुद्र हर्षों और शोकों तथा आग्रहपूर्ण मांगों से युक्त दावा करनेवाले, अहंकारमय और स्वार्थपरायण प्रेम का स्थान ले लेगा; यह स्वार्थपरायण प्रेम उन क्रोधों, ईर्ष्याओं, तुष्टियों, एकता-प्राप्ति के उतावले प्रयत्नों तथा क्लान्ति, सम्बन्ध-विच्छेद और विरह की गतियों के समस्त चित्र-विचित्र जाल से पीड़ित होता है जिन्हें हम आज इतना अधिक महत्त्व देते हैं। दुःख का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, पर विश्वजनीन एवं समत्वपूर्ण प्रेम और सहानुभूति उसका स्थान ले लेंगे, वह सहानुभूति दूसरों के दुःख में दुःख अनुभव करनेवाली नहीं होगी बल्कि एक ऐसी शक्ति होगी जो अपने-आप दुःखमुक्त होने के कारण दूसरों का धारण-पोषण करने, उन्हें सहायता पहुंचाने और मुक्त करने में सक्षम होती है। मुक्त आत्मा में घृणा और क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकते, पर उसमें भगवान् की वह प्रबल रुद्र-शक्ति प्रकट हो ही सकती है जो घृणा के बिना युद्ध और क्रोध के बिना संहार कर सकती है क्योंकि वह जिन वस्तुओं का विनाश करती है उन्हें बराबर ही अपने अंग एवं अपनी अभिव्यक्तियों के रूप में जानती होती है और अतएव जिनमें ये अभिव्यक्तियां मूर्तिमन्त होती हैं उनके प्रति उसकी सहानुभूति और समझ में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता। हमारी समस्त भावमय प्रकृति इस उच्च मोक्षसाधक रूपान्तर में से गुजरेगी; पर यह ऐसा कर सके इसके लिये पूर्ण समता एक अनिवार्य, फलप्रद अवस्था है।

अपनी शेष सारी सत्ता में भी हमें इसी समता को स्थापित करना होगा। हमारी सम्पूर्ण क्रियाशील सत्ता असमान आवेगों के अर्थात् निम्न अज्ञानमय प्रकृति की अभिव्यक्तियों के प्रभाव के अधीन कार्य कर रही है। इन आवेगों का हम अनुसरण करते हैं या कुछ अंश में नियन्त्रण करते हैं या फिर इनपर अपनी तर्कबुद्धि, परिष्कारक सौन्दर्य-भावना और सौन्दर्यग्राही मन तथा नियामक नैतिक विचारों का परिवर्तनकारी और संशोधक प्रभाव डालते हैं। हमारे प्रयास का मिश्रित परिणाम यह होता है कि हमारे अन्दर सत्य और असत्य, उपयोगी और हानिकारक तथा सामंजस्यपूर्ण या अव्यवस्थित कार्यों का एक उलझा हुआ स्वर उत्पन्न हो जाता है, मानवीय तर्क और अतर्क, पुण्य और पाप, मान और अपमान तथा उच्च और नीच का और लोकसम्मत तथा लोकनिन्दित पदार्थों एवं कार्यों का परिवर्तनशील मानदण्ड स्थापित हो जाता है, आत्म-प्रशंसा और आत्मनिन्दा का अथवा आत्म-पवित्रता और आत्म-घृणा एवं पश्चात्ताप, लज्जा और नैतिक निराशा का अत्यधिक विक्षोभ उठ खड़ा होता है। निःसन्देह, इस समय ये चीजें हमारे आध्यात्मिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। परन्तु एक महत्तर पूर्णता का अभिलाषी साधक इन सब द्वंद्वों से पीछे हटकर इन्हें सम दृष्टि से देखेगा और समता के द्वारा क्रियाशील तपस्

अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति की तटस्थ और विराट् क्रिया को अपने अन्दर स्थापित कर लेगा; उस तपस् में उसकी अपनी शक्ति और संकल्प दिव्य क्रिया के एक महत्तर शान्त रहस्य के शुद्ध और उपयुक्त यन्त्रों में परिणत हो जाते हैं। इस क्रियाशील समता के आधार पर वह साधारण मानसिक मानदण्डों को अतिक्रम कर जायेगा। उसकी संकल्प-दृष्टि को अपने से परे एक दिव्य सत्ता की पवित्रता की ओर तथा दिव्य ज्ञान के द्वारा परिचालित दिव्य संकल्पशक्ति की प्रेरणा की ओर देखना होगा; उसकी पूर्णताप्राप्त प्रकृति उस दिव्य संकल्पशक्ति का ही एक यन्त्र बनकर रहेगी। यह सब तबतक सर्वथा असम्भव ही रहेगा जबतक क्रियाशील अहं भाविक और प्राणिक आवेगों के तथा व्यक्तिगत निर्णय की पसन्दगियों के अधीन रहकर उसके कार्य में हस्तक्षेप करता रहेगा। संकल्पशक्ति की पूर्ण समता ही वह शक्ति है जो कर्मों की निम्न प्रेरणा की इन ग्रन्थियों को छिन्न-भिन्न कर डालती है। यह समता निम्न आवेगों को प्रत्युत्तर नहीं देगी, बल्कि मन के ऊपर अवस्थित प्रकाश से आनेवाली महत्तर दृष्टिसम्पन्न प्रेरणा को प्राप्त करने के लिये सजग होकर प्रतीक्षा करेगी और बुद्धि के द्वारा निर्णय और नियन्त्रण नहीं करेगी, बल्कि अन्तर्दृष्टि के उच्चतर स्तर से प्राप्त होनेवाले प्रकाश और मार्गदर्शन की प्रतीक्षा करेगी। क्रियाशील प्रकृति जैसे-जैसे ऊपर अतिमानसिक सत्ता की ओर आरोहण करेगी और भीतर आध्यात्मिक विशालता की ओर विस्तृत होगी, वैसे-वैसे वह भाविक और प्राणिक प्रकृति की तरह रूपान्तरित होकर अध्यात्ममय बनती जायेगी और दिव्य प्रकृति की एक शक्ति के रूप में विकसित होती जायेगी। करणों का उनकी अपनी नयी क्रिया के साथ सामंजस्य साधने में अनेक स्खलन, भूलें और त्रुटियां होंगी, पर समता को अधिकाधिक धारण करती जानेवाली अन्तरात्मा इन चीजों से अत्यधिक चलायमान या व्यथित नहीं होगी, क्योंकि आत्मा के अन्दर तथा मन के ऊपर अवस्थित ज्योति और शक्ति के मार्गदर्शन की ओर उन्मुक्त होकर वह दृढ़ विश्वास के साथ अपने-अपने मार्ग पर बढ़ती जायेगी और रूपान्तर की प्रक्रिया के उतार-चढ़ावों तथा उसकी पूर्ति की प्रतीक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शान्ति के साथ करेगी। गीता में भगवान् ने जो प्रतिज्ञा की है कि "सब धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आ जा; मैं तुझे सब पापों और बुराइयों से मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर", वह उसके दृढ़ निश्चय का लंगर होगी।

चिन्तनात्मक मन की समता प्रकृति के करणों की पूर्णता का एक अङ्ग एवं अत्यावश्यक अङ्ग होगी। अपनी बौद्धिक अभिरुचियों, अपने निर्णयों और अपनी सम्मतियों तथा कल्पनाओं के प्रति, अपने मन की आधारभूत स्मृतिशक्ति के सीमाकारी संस्कारों, अपने यान्त्रिक मन की वर्तमान पुनरावृत्तियों, अपने व्यवहारलक्षी मन के आग्रहों और यहांतक कि अपने बौद्धिक सत्य-मानस की सीमाओं के प्रति हमारी वर्तमान आकर्षक एवं स्व-समर्थक आसक्ति को भी अन्य आसक्तियों की

तरह समाप्त हो जाना होगा और समत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि की तटस्थता के आगे शीश झुकाना होगा। समत्वयुक्त चिन्तनात्मक मन ज्ञान और अज्ञान एवं सत्य और भ्रान्ति के द्वंद्वों पर, जिन्हें हमारी चेतना के सीमित स्वभाव तथा हमारी बुद्धि के पक्षपात ने और उसके तर्कों एवं सहजबोधों की छोटी-सी पूंजी ने जन्म दिया है, दृष्टिपात करेगा और बन्धनग्रंथी की किसी भी रज्जु से बद्ध हुए बिना उन दोनों को स्वीकार करेगा और उन दोनों से परे की ज्योतिर्मय अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्रतीक्षा करेगा। अज्ञान के अन्दर वह एक ऐसे ज्ञान को देखेगा जो कारा में बद्ध है और मुक्त होने का यत्न कर रहा है या इसकी बाट जोह रहा है, भ्रांति में वह एक ऐसे सत्य को कार्य करते देखेगा जो अपने को खो बैठा है या जिसे अन्धान्वेषी मन ने भ्रामक रूपों में पटक दिया है। दूसरी ओर, वह अपने ज्ञान के द्वारा अपने-आपको आबद्ध एवं सीमित नहीं रखेगा अथवा उसके कारण नये प्रकाश की ओर बढ़ने से रुका नहीं रहेगा, किसी सत्य का पूर्ण रूप से उपयोग करते हुए भी उसे अति उग्रता के साथ पकड़ नहीं रखेगा, न उसे उसकी वर्तमान रूप-रचनाओं में क्रूरतापूर्वक जकड़ ही डालेगा। विचारात्मक मन की यह पूर्ण समता अपरिहार्य है, क्योंकि इस विकास का लक्ष्य एक ऐसे महत्तर प्रकाश को पाना है जो आध्यात्मिक ज्ञान के उच्चतर स्तर का प्रकाश है। यह समता सबसे अधिक सूक्ष्म और कठिन है, मानव मन ने इसकी प्राप्ति की साधना अत्यन्त ही कम की है; जबतक अतिमानसिक ज्योति ऊर्ध्वदर्शी मन पर पूरी तरह से नहीं पड़ती तबतक इस समता को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु इसके पूर्व कि वह ज्योति मन के उपादान पर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके, बुद्धि में समता की स्थापना के लिये अधिकाधिक संकल्प की आवश्यकता है। इस समता का अर्थ भी बुद्धि की जिज्ञासाओं तथा उसके वैश्व उद्देश्यों का परित्याग करना नहीं है, इसका अर्थ न तो उदासीनता या तटस्थ सन्देहवृत्ति है और न ही अनिर्वचनीय की नीरवता में समस्त विचार को शान्त कर देना। जब हमारा उद्देश्य मन को उच्चतर प्रकाश और ज्ञान का एक समत्वयुक्त वाहन बनाने के लिये उसकी आंशिक क्रियाओं से उसे मुक्त करना होता है तब मानसिक विचार को शान्त करना साधना का अंग हो सकता है; पर मन के उपादान का रूपान्तर करना भी आवश्यक है; अन्यथा उच्चतर प्रकाश मन पर पूर्ण प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकता और न ही वह मनुष्य में दिव्य चेतना के व्यवस्थित कार्यों को सम्पन्न करने के लिये शक्तिशाली स्वरूप धारण कर सकता है। अनिर्वचनीय ब्रह्म की नीरवता दिव्य सत्ता का एक सत्य है, पर उस नीरवता से जो 'शब्द' निःसृत होता है वह भी एक सत्य है, और इस शब्द को ही प्रकृति के चेतन रूप में मूर्त आकार प्रदान करना है।

परन्तु, अन्ततोगत्वा, प्रकृति में समता की यह सब स्थापना इस लक्ष्य के लिये तैयारी है कि उच्चतम आध्यात्मिक समता सम्पूर्ण सत्ता को अपने अधिकार में कर

ले तथा एक ऐसा व्यापक वायुमण्डल बनाये जिसमें भगवान् की ज्योति, शक्ति एवं आनन्द मनुष्य के अन्दर अधिकाधिक बढ़ती हुई पूर्णता के साथ प्रकट हो सकें। यह समता सच्चिदानन्द की सनातन समता है। यह अनन्त सत्ता की समता है जो स्वयंसिद्ध है, यह सनातन आत्मा की समता है, पर यह मन, हृदय, संकल्पशक्ति, प्राण और भौतिक सत्ता को अपने सांचे में ढाल देगी। यह अनन्त आध्यात्मिक चेतना की समता है जो दिव्य ज्ञान के आनन्दपूर्ण प्रवाह एवं उसकी तृप्त तरंगों को धारण करेगी तथा उनका आधार बनेगी। यह दिव्य **तपस्** की समता है जो समस्त प्रकृति में दिव्य संकल्प की ज्योतिर्मय क्रिया का आरम्भ करेगी। यह दिव्य आनन्द की समता है जो दिव्य विश्वव्यापी आनन्द एवं विश्वव्यापी प्रेम की, विश्वव्यापी सौन्दर्य की असीम रसशक्ति की लीला का आधार स्थापित करेगी। अनन्त की आदर्श समत्वपूर्ण शान्ति एवं स्थिरता हमारी पूर्णताप्राप्त सत्ता का विशाल व्योम होगी, पर प्रकृति के द्वारा अनन्त की आदर्श, सम और पूर्ण क्रिया जो विश्व के सम्बन्धों पर कार्य करेगी हमारी सत्ता में उसकी शक्ति का एक प्रशान्त प्रवाह होगी। पूर्णयोग के शब्दों में समता का अर्थ यही है।

अध्याय १२

समता का मार्ग

पूर्ण और सर्वांगीण समता के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इस समता के दो पहलू हैं। अतएव इसे दो क्रमिक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त करना होगा। उनमें से एक हमें अपरा प्रकृति की क्रिया से मुक्त कर देगी तथा दिव्य सत्ता की सुस्थिर शान्ति में प्रवेश प्रदान करेगी; दूसरी हमें परा प्रकृति की पूर्ण सत्ता और शक्ति में उन्मुक्त कर देगी और दिव्य एवं अनन्त ज्ञान, कार्य-संकल्प तथा आनन्द की समत्वपूर्ण स्थिति और विश्वमयता में प्रवेश प्रदान करेगी। पहली का वर्णन हम एक निष्क्रिय या अभावात्मक समता अर्थात् सब कुछ का ग्रहण करनेवाली समता के रूप में कर सकते हैं; वह समता जगत् के आघातों और दृग्विषयों का निर्विकार रूप से सामना करती है तथा उनके द्वारा हमपर लादे गये बाह्य रूपों और प्रतिक्रियाओं के द्वंद्वों का निषेध करती है। दूसरी समता सक्रिय और भावात्मक है। वह जगत् के दृग्विषयों को स्वीकार तो करती है पर एकमेव भागवत सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में ही। वह उनके प्रति समत्वपूर्ण प्रतिक्रिया करती है जो हमारे अन्दर की दिव्य प्रकृति से प्रकट होती है तथा उन्हें उसके गुप्त मूल्यों में रूपान्तरित कर देती है। पहली एकमेव ब्रह्म की शान्ति में निवास करती है तथा सक्रिय अज्ञान की प्रकृति को अपने से दूर कर देती है। दूसरी उस शान्ति के साथ-साथ भगवान् के आनन्द में भी निवास करती है और आत्मा के प्रकृतिगत जीवन पर सत्ता के दिव्य ज्ञान, बल और आनन्द की छाप लगा देती है। समता की यह द्विविध स्थिति, जो एक ही सामान्य सिद्धान्त के द्वारा एकीभूत होती है, पूर्णयोग में समता के मार्ग का निर्धारण करेगी।

निष्क्रिय या निरी ग्रहणशील समता की प्राप्ति का प्रयत्न तीन विभिन्न सिद्धान्तों या मनोवृत्तियों से आरम्भ हो सकता है। उन सबका परिणाम किंवा अन्तिम फल एक ही होता है। वे हैं तितिक्षा, उदासीनता और नति। तितिक्षा का सिद्धान्त इसपर निर्भर करता है कि यह जो इन्द्रिय-गोचर प्रकृति हमें हर तरफ से घेरे हुई है उसके सभी स्पर्शों, संघर्षणों और संकेतों को सहन करने की सामर्थ्य हमारी अन्तःस्थ आत्मा में विद्यमान है; हमारी आत्मा उनसे पराभूत नहीं होती, न ही वह उनकी भाविक, साम्वेदनिक, क्रियाशील और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को सहने के लिये बाध्य होती है। निम्न प्रकृति में अवस्थित बाह्य मन में यह सामर्थ्य नहीं है। उसकी सामर्थ्य सीमित चेतना-शक्ति की सामर्थ्य है; सत्ता के इस स्तर पर चेतना और शक्ति का जो महत्तर भंवर इस सामर्थ्य को चारों ओर से घेरे हुए है उससे जो भी चीजें इसपर टूट पड़ती हैं या इसे घेर लेती हैं उन सबका इसे यथाशक्ति उत्तम रीति

से सामना करना होता है। विश्व में जो यह (बाह्य मन) अपने को धारण कर भी सकता है तथा अपनी व्यक्तिगत सत्ता का दृढ़तापूर्वक समर्थन कर सकता है उसका भी कारण, निःसन्देह, इसके अन्दर रहनेवाली आत्मा की सामर्थ्य है, पर यह जीवन के आक्रमणों का सामना करने के लिये उस सामर्थ्य की सम्पूर्ण मात्रा को या उस शक्ति की अनन्तता को प्रकाश में नहीं ला सकता; यदि यह ऐसा कर सकता तो यह एक साथ ही अपने जगत् के समान बलशाली और उसका स्वामी होता। पर वास्तव में इसे जैसे-तैसे काम चलाना होता है। यह किन्हीं विशेष आघातों का सामना करता है और उन्हें अपूर्ण या पूर्ण रूप में, कुछ समय के लिये या सर्वकाल के लिये आत्मसात् करने, उनकी बराबरी करने या उन्हें वश में करने में समर्थ होता है, और तब यह उसी अनुपात में हर्ष, सुख, सन्तोष, अभिरुचि, प्रेम आदि की भाविक और साम्वेदनिक प्रतिक्रियाएं करता है, अथवा स्वीकृति, समर्थन, समझ, ज्ञान और विशेषानुराग की बौद्धिक एवं मानसिक प्रतिक्रियाएं करता है, और इन प्रतिक्रियाओं को इसकी संकल्पशक्ति राग और कामना के साथ तथा उन्हें चिरस्थायी बनाने, दुहराने, उत्पन्न और आयत्त करने एवं उसके जीवन की सुखकर आदत बनाने के लिये यत्न के साथ अधिकृत करती है। अन्य आघातों का भी यह सामना करता है पर उन्हें अपने मुकाबले अत्यन्त शक्तिशाली एवं दुर्धर्ष अनुभव करता है अथवा उन्हें अपनेसे अतीव भिन्न और बेमेल या इतने दुर्बल अनुभव करता है कि वे इसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते; ये चीजें ऐसी होती हैं जिन्हें वह सह नहीं सकता या अपने समान नहीं बना सकता या पचा नहीं सकता, और यह इनके प्रति दुःख, पीड़ा, कष्ट, असन्तोष, अरुचि, अस्वीकृति, परित्याग, समझने या जानने की अक्षमता तथा प्रवेश से इन्कार की प्रतिक्रियाएं करने को बाध्य होता है। यह इनके विरुद्ध अपनी रक्षा करने, इनसे बचने, इनकी पुनः-पुनः आवृत्ति को टालने या कम-से-कम करने का यत्न करता है; इनके सम्बन्ध में यह भय, क्रोध, जुगुप्सा, त्रास, घृणा, विरक्ति तथा लज्जा की चेष्टाएं करता है, इनसे मुक्त होने के लिये सहर्ष उद्यत रहता है, पर यह इनसे छूट नहीं सकता, क्योंकि यह इनके कारणों के साथ बंधा हुआ है और यहांतक कि उन्हें आमन्त्रित करता है और अतएव यह इनके परिणामों के साथ भी बंधा हुआ है और उन्हें भी आमन्त्रित करता है; क्योंकि ये आघात जीवन के अङ्ग हैं, जिन चीजों को हम चाहते हैं उनके साथ उलझे हुए हैं, और इनके साथ निपटने में हमारी असमर्थता हमारी प्रकृति की अपूर्णता का एक अङ्ग है। फिर, कुछ अन्य आघातों को हमारा सामान्य मन दबाने या निःशक्त कर देने में सफल हो जाता है और इनके प्रति वह उदासीनता, सम्वेदनशून्यता या सहिष्णुता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया करता है जिसका स्वरूप न तो भावात्मक स्वीकृति और सुखोपभोग का होता है और न परित्याग या कष्ट-भोग का। वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं, विचारों और क्रियाओं के प्रति, जो कुछ भी मन के सम्मुख

उपस्थित होता है उस सबके प्रति, उसकी प्रतिक्रियाएं सदा ही उक्त तीन प्रकार की होती हैं। परन्तु, ये सामान्य होती हुई भी अनिवार्य बिल्कुल नहीं हैं; ये सामान्य कोटि के अभ्यासपरवश मन के लिये एक योजना का गठन करती हैं जो सबके लिये बिल्कुल एक-सी नहीं होती अथवा किसी एक व्यक्ति के मन के लिये भी विभिन्न समयों या विभिन्न अवस्थाओं में एक-सी नहीं होती। प्रकृति का कोई एक ही आघात किसी एक या दूसरे समय में उसके अन्दर सुखकर या भावात्मक, विरोधी या अभावात्मक अथवा उदासीन या तटस्थ प्रतिक्रियाएं पैदा कर सकता है।

जो आत्मा प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है वह इन प्रतिक्रियाओं पर प्रबल और समत्वपूर्ण तितिक्षा की बाधक और प्रतिरोधी शक्ति का प्रयोग करके अपनी साधना आरम्भ कर सकती है। अप्रिय स्पर्शों से अपनी रक्षा करने या उन्हें त्यागने तथा उनसे बचने की चेष्टा करने के स्थान पर वह उनका सामना कर सकती है और दुःख झेलना तथा धैर्य, सहिष्णुता, अधिकाधिक समता किंवा कठोर या शान्त स्वीकृति की भावना के साथ आघातों को सहना सीख सकती है। यह मनोवृत्ति या यह साधना तीन परिणामों को, वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की आत्मा की तीन शक्तियों को, जन्म देती है। सर्वप्रथम, ऐसा अनुभव होता है कि जो कुछ पहले असह्य था वह अब सुसह्य हो जाता है; जो शक्ति आघात का सामना करती है उसका आदर्शमान ऊंचा हो जाता है; तब अप्रिय प्रतिक्रियाओं के सरगम में कष्ट, वेदना, शोक, घृणा या अन्य किसी स्वर को उत्पन्न करने के लिये आघात को अपनी या अपने सुदीर्घ संस्पर्श की नित अधिकाधिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे, ऐसा अनुभव होता है कि सचेतन प्रकृति अपनेको दो भागों में विभक्त कर लेती है। उनमें से एक तो है सामान्य मानसिक और भावप्रधान प्रकृति जिसमें अभ्यस्त प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं। दूसरा है उच्चतर संकल्पशक्ति एवं बुद्धि। वह इस निम्नतर प्रकृति के आवेश का निरीक्षण करती है और उससे चलायमान या प्रभावित नहीं होती, उसे अपनी चीज नहीं मानती। वह उसे न तो स्वीकृति एवं अनुमति प्रदान करती है और न ही उसमें भाग लेती है। तब निम्नतर प्रकृति अपनी प्रतिक्रियाओं की शक्ति-सामर्थ्य को खोकर उच्चतर बुद्धि और संकल्प की स्थिरता और शक्ति के सुझावों के अधीन होने लगती है, और शनैः-शनैः वह स्थिरता एवं शक्ति मानसिक और भाविक, यहांतक कि सम्वेदनप्रधान, प्राणिक और भौतिक सत्ता पर भी अधिकार कर लेती है। यह अवस्था तीसरी शक्ति एवं परिणाम को उत्पन्न करती है, निम्न प्रकृति के प्रति इस सहिष्णुता तथा उसके ऊपर प्रभुता के द्वारा, उससे इस प्रकार के पार्थक्य तथा उसके परित्याग के द्वारा, सामान्य प्रतिक्रियाओं से मुक्त होने की और यहांतक कि, यदि हम चाहें तो, आत्म-बल के द्वारा अपने सब प्रकार के अनुभवों को फिर से ढालने की शक्ति प्रदान करती है। यह विधि अप्रिय ही नहीं बल्कि प्रिय प्रतिक्रियाओं पर भी प्रयुक्त की जाती है;

अन्तरात्मा अपने-आपको उनके हाथों सौंप देने या उनके द्वारा बहा लिये जाने से इन्कार करती है; जो संस्पर्श हर्ष और सुख लाते हैं उन्हें वह शान्ति के साथ भोगती है; उनके द्वारा उद्वेल्लित होने से इन्कार करती है और प्रिय वस्तुओं से मन को जो हर्ष प्राप्त होता है तथा उनके लिये उसमें जो आतुर चाह होती है उनके स्थान पर आत्मा की शान्ति को स्थापित करती है। इस विधि का प्रयोग चिन्तनात्मक मन पर भी किया जा सकता है, अर्थात् इसके द्वारा मन ज्ञान को और उसके सीमित रूप को शान्तिपूर्वक ग्रहण कर सकता है, वह इस एक आकर्षक विचार-प्रेरणा की मोहकता की तरंग में बह जाने से अथवा उस दूसरी अनभ्यस्त या अरुचिकर विचार-प्रेरणा से घृणावश दूर हटने से इंकार करता है और अनासक्त साक्षिभाव के साथ सत्य की प्रतीक्षा करता है। वह साक्षिभाव शक्तिशाली, निष्काम और प्रभुत्वपूर्ण संकल्प तथा बुद्धि के आधार पर सत्य को विकसित होने देता है। इस प्रकार अन्तरात्मा शनैः-शनैः सब वस्तुओं के प्रति समत्वपूर्ण तथा अपनी स्वामिनी बन जाती है; वह मन की सबल प्रतिरोधशक्ति तथा आत्मा की अचलायमान शांति और गभीरता के साथ जगत् के स्पर्शों का सामना करने में समर्थ हो जाती है।

दूसरा मार्ग तटस्थ उदासीनता की वृत्ति का है। इसकी विधि है—पदार्थों के आकर्षण या विकर्षण को एक ही साथ त्याग देना, उनके प्रति एक प्रकाशमय अविकार्य अवस्था का, उनका निषेध करनेवाली एक परित्याग-वृत्ति का तथा उनसे सम्बन्ध विच्छेद करने एवं उनका प्रयोग न करने के अभ्यास का विकास करना। यह वृत्ति जितना ज्ञान का आश्रय लेती है उतना संकल्प-शक्ति का नहीं लेती, यद्यपि संकल्पशक्ति भी सदैव आवश्यक होती है। यह एक ऐसी वृत्ति है जो मन के इन आवेशों को बाह्य मन के भ्रम से उत्पन्न वस्तुओं के रूप में देखती है अथवा यह इन्हें एक ही सम आत्मा के शान्त सत्य के अयोग्य हीन गतियों के रूप में या फिर तत्त्वज्ञानी की शान्त द्रष्ट्री संकल्प-शक्ति और रागशून्य बुद्धि के द्वारा त्याग देने योग्य प्राणिक और भाविक विक्षोभ के रूप में देखती है। यह मन में से कामना को निकाल फेंकती है, जो अहं-भाव वस्तुओं पर इन द्वंद्वात्मक मूल्यों को थोपता है उसे त्याग देती है, और कामना के स्थान पर तटस्थ एवं उदासीन शान्ति को तथा अहंकार के स्थान पर शुद्ध आत्मा को प्रतिष्ठित करती है। वह शुद्ध आत्मा जगत् के आघातों से अशान्त, उत्तेजित या विचलित नहीं होती। और इस प्रकार केवल भावप्रधान मन ही शान्त नहीं होता बल्कि बौद्धिक सत्ता भी अज्ञान-भूमिका के विचारों को त्याग देती है और निम्न ज्ञान के पक्षपातों से ऊपर उठकर एक ही सनातन एवं अपरिवर्तनशील सत्य को प्राप्त कर लेती है। यह मार्ग भी तीन परिणामों या शक्तियों का विकास करता है जिनके द्वारा यह शान्ति की ओर आरोहण करता है।

सर्वप्रथम, ऐसा अनुभव होता है कि मन जीवन के क्षुद्र सुखों और दुःखों से स्वेच्छापूर्वक ही बंधा हुआ है और वास्तव में, यदि आत्मा बाह्य और क्षणिक पदार्थों के द्वारा असहायवत् परिचालित होने के अपने अभ्यास को त्याग देनाभर पसन्द कर ले तो, ये सुख-दुःख मन पर कोई आन्तरिक प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरे, ऐसा अनुभव होता है कि यहां भी निम्न या बाह्य मन, जो अभीतक पुराने अभ्यस्त स्पर्शों के अधीन है, और उच्चतर बुद्धि तथा संकल्पशक्ति जो आत्मा की उदासीन शान्ति में निवास करने के लिये पीछे की ओर अवस्थित हैं—इन दोनों के बीच विभाजन या मनोवैज्ञानिक पृथक्करण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, एक आन्तरिक तटस्थ शान्ति, जो निम्न करणों के विक्षोभ का निरीक्षण करती है पर उसमें भाग नहीं लेती और न उसे किसी प्रकार की अनुमति ही देती है, हमारे ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करती जाती है। आरम्भ में उच्चतर बुद्धि और संकल्पशक्ति प्रायः आच्छादित और आक्रान्त हो सकती हैं, मन निम्न अंगों की उत्तेजना के द्वारा खींच ले जाया जाता है, पर अन्त में यह शान्ति अजेय और चिरस्थायी बन जाती है, यह उग्र से उग्र स्पर्शों के द्वारा भी चलायमान नहीं होती, **न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते**। यह शान्तिमय आन्तरिक आत्मा बाह्य मन के विक्षोभ को अनासक्त उच्चता की स्थिति से देखती है अथवा यह उसे एक ऐसे क्षणिक और अलिप्त अनुग्रह के साथ देखती है जो एक बालक के क्षुद्र हर्षों और शोकों के प्रति प्रकट किया जा सकता है, यह उन्हें अपनी सत्ता के अंगभूत या किसी स्थिर वास्तविकता पर आधारित नहीं मानती। और अन्त में बाह्य मन भी इस स्थिर और उदासीन प्रशान्ति को क्रमशः स्वीकार कर लेता है; वह जिन चीजों से आकृष्ट होता था उनसे आकृष्ट होना या जिन दुःख-कष्टों को मिथ्या महत्त्व देने का आदी था उनसे दुःखित होना छोड़ देता है। इस प्रकार एक तीसरी शक्ति प्राप्त होती है जो विशाल स्थिरता और शान्ति की सर्वव्यापक शक्ति होती है, हमारी आरोपित, अवास्तविक और आत्मपीड़क प्रकृति के घेरे से मुक्ति का आनन्द रूप होती है, सनातन और अनन्त ब्रह्म के संस्पर्श का गम्भीर, अविचल और निरतिशय सुख होती है जो अपनी नित्यता के द्वारा अनित्य पदार्थों के संघर्ष और उपद्रव का स्थान ले लेता है, **ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते**। अन्तरात्मा आत्मा के आनन्द में स्थिर रूप से स्थित हो जाती है, **आत्मरतिः**, परमात्मा के अखण्ड और अनन्त आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाती है और पहले की तरह बाह्य स्पर्शों तथा उनके दुःखों और सुखों का पीछा नहीं करती। वह जगत् को एक ऐसे खेल या अभिनय के दर्शक के रूप में ही देखती है जिसमें वह भाग लेने के लिये अब और बाध्य नहीं होती।

तीसरा मार्ग नति का है। वह नति या तो ईसाई-धर्मवालों की नति हो सकती है जो ईश्वरेच्छा के प्रति अधीनता पर प्रतिष्ठित होती है, या वह सब वस्तुओं और घटनाओं को वैश्व संकल्पशक्ति की कालगत अभिव्यक्ति मानते हुए उनकी निरहंकार

स्वीकृति हो सकती है, या फिर भगवान् किंवा परम पुरुष के प्रति व्यक्ति का पूर्ण समर्पण-रूप हो सकती है। जैसे पहला मार्ग संकल्पशक्ति का मार्ग था और दूसरा ज्ञान एवं बोधशील बुद्धि का, वैसे ही यह भावमय प्रकृति और हृदय का मार्ग है और भक्ति के सिद्धान्त के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है। यदि इसे अन्तिम छोरतक ले जाया जाये तो यह भी पूर्ण समता के इसी परिणामतक पहुंचता है। क्योंकि, अहं की गांठ ढीली हो जाती है और वैयक्तिक मांग दूर होने लगती है, हमें अनुभव होता है कि अब हम प्रिय वस्तुओं से मिलनेवाले हर्ष या अप्रिय वस्तुओं से होनेवाले दुःख के साथ बंधे हुए नहीं हैं; हम उन्हें उत्सुकतापूर्ण स्वीकृति या क्षोभमय परित्याग के बिना सहन करते हैं, उन्हें अपनी सत्ता के प्रभु के सुपुर्द कर देते हैं, हमारे लिये उनका जो वैयक्तिक परिणाम होता है उससे उत्तरोत्तर कम-से-कम मतलब रखते हैं और केवल एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु को पकड़े रहते हैं। वह वस्तु है भगवान् को प्राप्त करना, अथवा विराट् और अनन्त सत्ता के साथ सम्पर्क और एकस्वरता प्राप्त करना, या भगवान् के साथ एकीभूत होना, उनकी प्रणालिका एवं उनका यन्त्र, सेवक और प्रेमी बनना, उनमें तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध में आनन्द लेना और हर्ष या शोक का और कोई विषय या कारण न रखना। यहां भी कुछ समय के लिये अभ्यस्त आवेशोंवाले निम्न मन और प्रेम एवं आत्मदान करनेवाले उच्चतर चैत्य मन के बीच विभाजन हो सकता है, पर अन्ततोगत्वा निम्न मन वश में हो जाता है, परिवर्तित और रूपान्तरित हो जाता है, भगवान् के प्रेम, आह्लाद और आनन्द में विलीन हो जाता है तथा अन्य कोई स्वार्थ या आकर्षण उसमें नहीं रह जाते। तब भीतर सब कुछ उस एकत्व की सम शान्ति एवं उसका आनन्द ही होता है, वह एकमेव प्रशान्त आनन्द जो बुद्धि से परे है, वह शान्ति जो हमारी आध्यात्मिक सत्ता की गहराइयों में निम्नतर वस्तुओं के आमन्त्रण से अछूती रहती है।

ये तीन मार्ग अपने पृथक्-पृथक् बिन्दुओं से आरम्भ होकर भी एक ही बिन्दु पर आकर मिल जाते हैं। इसका पहला कारण तो यह है कि ये बाह्य वस्तुओं के प्रति, **बाह्यान् स्पर्शान्**, मन की सामान्य प्रतिक्रियाओं का निषेध करते हैं, दूसरा यह है कि ये अन्तरात्मा या आत्मा को प्रकृति के बाह्य व्यापार से पृथक् करते हैं। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यदि हम एक अधिक सक्रिय समता प्राप्त कर सकें तो हमारी पूर्णता अधिक महान् होगी, अधिक सर्वग्राही रूप में पूर्ण होगी, क्योंकि वह समता हमें जगत् से पीछे हटने या अनासक्त और तटस्थ शान्ति के साथ उसका सामना करने में ही समर्थ नहीं बनायेगी, बल्कि उसकी ओर साहसपूर्वक लौटकर शान्त और सम आत्मा की शक्ति के द्वारा उसे अधिकृत करने की सामर्थ्य भी प्रदान करेगी। ऐसी समता प्राप्त करना सम्भव है क्योंकि जगत्, प्रकृति और कर्म वास्तव में कोई सर्वथा पृथक् वस्तु नहीं हैं, बल्कि आत्मा, विराट् पुरुष एवं भगवान् की

एक अभिव्यक्ति हैं। सामान्य मन की प्रतिक्रियाएं उन दिव्य मूल्यों का एक हीन रूप हैं जो इस हीन रूप के अभाव में इस सत्य को हमारे सामने प्रकट कर देते, —ये एक मिथ्या रूप किंवा अज्ञान हैं जो उनकी क्रियाओं को बदल देता है, एक ऐसा अज्ञान है जो अन्ध जड़ निर्ज्ञान के भीतर आत्मा के निवर्तित होने से उद्‌भूत होता है। एक बार जब हम आत्मा किंवा भगवान् की परिपूर्ण चेतना में लौटते हैं, तब हम वस्तुओं का सच्चा दिव्य मूल्य प्रदान कर सकते हैं और परम आत्मा की शान्ति, आनन्द, ज्ञान और सर्वदर्शी संकल्प के साथ उन्हें ग्रहण कर सकते तथा उनपर क्रिया कर सकते हैं। जब हम ऐसा करने लग जाते हैं, तब अन्तरात्मा जगत् में सम आनन्द लेने लगती है, सब शक्तियों के साथ व्यवहार करने वाली सम संकल्पशक्ति तथा एक ऐसे सम ज्ञान को प्राप्त करने लगती है जो इस दिव्य अभिव्यक्ति के सब दृश्यिषयों के पीछे अवस्थित आध्यात्मिक सत्य को अधिकृत कर लेता है। वह जगत् को भगवान् की ही भांति अनन्त प्रकाश, बल और आनन्द की पूर्णता के साथ अधिकृत कर लेती है।

अतएव इस समस्त जगत् और जीवन पर निषेधात्मक एवं निष्क्रिय समता के स्थान पर भावात्मक एवं सक्रिय समता के योग के दृष्टिकोण द्वारा भी विचार किया जा सकता है। इसके लिये सबसे पहले आवश्यकता है नये ज्ञान की जो कि एकता का ज्ञान है, —इसका अभिप्राय है सब वस्तुओं को अपनी ही सत्ता के रूप में देखना और भगवान् में तथा सब वस्तुओं में भगवान् को देखना। तब, सब दृश्य पदार्थों, सब घटनाओं, सब दैवयोगों, सब व्यक्तियों और शक्तियों को आत्मा के प्रच्छन्न रूप, एक ही शक्ति के क्रिया-व्यापार, एक ही कार्यरत शक्ति के परिणाम तथा एक ही दिव्य ज्ञान के द्वारा शासित समझते हुए उन्हें सम भाव से स्वीकार करने के लिये एक संकल्पशक्ति उत्पन्न होती है; और महत्तर ज्ञान से युक्त इस संकल्पशक्ति के आधार पर प्रत्येक वस्तु का अनुद्विग्न आत्मा और मन के द्वारा सामना करने की शक्ति विकसित होती है। मुझे अपनी आत्मा का विश्व की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा, सब प्राणियों के साथ एकत्व का साक्षात्कार और अनुभव प्राप्त करना होगा, सब शक्तियों, सामर्थ्यों और परिणामों को अपनी आत्मा की और अतएव घनिष्ठ रूप से मेरी अपनी ही इस शक्ति की क्रिया के रूप में देखना होगा; यह स्पष्ट ही है कि उनको मुझे अपनी अहं सत्ता की क्रिया के रूप में नहीं देखना होगा, अहंसत्ता को तो शान्त करना होगा, दूर करना एवं त्याग देना होगा,—अन्यथा यह सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती; परन्तु उन्हें एक ऐसे महत्तर निर्व्यक्तिक या विश्वव्यापी आत्मा की, जिसके साथ मैं अब एकमय हूं, क्रिया के रूप में अनुभव करना होगा। कारण, मेरा व्यक्तित्व अब उस विश्वात्मा के कार्य का एक केन्द्रमात्र है, पर एक ऐसा केन्द्र है जो अन्य सब व्यक्तित्वों के साथ तथा उन सब दूसरी वस्तुओं के साथ भी, जो हमारे लिये केवल निर्व्यक्तिक पदार्थ और

शक्तियां हैं, घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध और समस्वर है : पर वास्तव में वे भी एक ही निर्व्यक्तिक 'पुरुष', भगवान्, आत्मा और परमात्मा की शक्तियां हैं। मेरा व्यक्तित्व उन्हींका व्यक्तित्व है और अब पहले की तरह विश्वमय सत्ता के साथ असंगत या उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है; वह स्वयं विश्वमय होकर वैश्व आनन्द का ज्ञाता बन गया है तथा जिन वस्तुओं को वह जानता और भोगता है और जिनपर क्रिया करता है उन सबके साथ एकमय और उनका प्रेमी बन गया है। क्योंकि विश्व के समत्वपूर्ण ज्ञान तथा विश्व को स्वीकार करने के समत्वयुक्त संकल्प के साथ भगवान् की समस्त वैश्व अभिव्यक्ति में सम आनन्द भी प्राप्त होगा।

यहां भी हम इस पद्धति के तीन परिणामों या इसकी तीन शक्तियों का वर्णन कर सकते हैं। सबसे पहले हम अपनी आत्मा में तथा आध्यात्मिक ज्ञान के अनुकूल क्रिया करनेवाली उच्चतर बुद्धि और संकल्पशक्ति में विश्व को समतापूर्वक स्वीकार करने की इस शक्ति का विकास करते हैं। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि यद्यपि प्रकृति को समता की इस सामान्य वृत्ति को ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया जा सकता है तथापि उस उच्चतर बुद्धि एवं संकल्पशक्ति और निम्नतर मानसिक सत्ता के बीच संघर्ष चलता रहता है, क्योंकि निम्नतर मानसिक सत्ता जगत् को देखने के तथा उसके आघातों के प्रति प्रतिक्रिया करने के पुराने अहंकारमय ढंग के साथ चिपकी रहती है। तब हम यह अनुभव करते हैं कि यद्यपि प्रकृति के ये दो भाग आरम्भ में अस्तव्यस्त एवं परस्पर-मिश्रित होते हैं, बारी-बारी से प्रकट होते, एक-दूसरे पर क्रिया करते तथा प्रभुत्व के लिये चेष्टा करते रहते हैं तथापि इन्हें एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है, अर्थात् उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति को निम्नतर मानसिक प्रकृति से मुक्त किया जा सकता है। परन्तु इस अवस्था में जब कि मन अभी भी दुःख, कष्ट, निम्न हर्ष और सुख की प्रतिक्रियाओं के अधीन होता है, पूर्णयोग के साधक के सामने एक बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित होती है जो एक अधिक-तीव्रतः व्यक्तिप्रधान योग में उतना बड़ा प्रभाव नहीं दिखलाती। कारण, पूर्णयोग में मन केवल अपने कष्टों और कठिनाइयों को ही अनुभव नहीं करता बल्कि वह दूसरों के हर्षों और शोकों में भी भाग लेता है, तीव्र सहानुभूति के साथ उनके प्रति स्पन्दित होता है, उनके आघातों को सूक्ष्म संवेदनशीलता के साथ अनुभव करता है, उन्हें अपना आघात बना लेता है; इतना ही नहीं, वरन् दूसरों की कठिनाइयां भी हमारी कठिनाइयों में आ जुड़ती हैं और पूर्णता का विरोध करनेवाली शक्तियां पहले से अधिक दृढ़ता के साथ अपना कार्य करती हैं, क्योंकि वे इस प्रयत्न को किसी अकेली आत्मा का उनके साम्राज्य से भाग निकलना ही नहीं समझतीं बल्कि अपने सार्वभौम राज्य पर आक्रमण तथा उसे जीतने का प्रयत्न अनुभव करती हैं। किन्तु अन्त में, हम यह भी देखते हैं कि इन कठिनाइयों को पार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है; उच्चतर बुद्धि और संकल्पशक्ति निम्नतर

मन पर अपना प्रभुत्व बलपूर्वक आरोपित कर देती हैं, जिससे कि वह प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक प्रकृति के विशाल प्रतिरूपों में परिवर्तित हो जाता है; यहांतक कि वह सब कष्टों, बाधाओं और कठिनाइयों को अनुभव करने तथा उनका सामना और पराभव करने में भी आनन्द लेता है जिससे कि अन्त में वे उसके रूपान्तर के द्वारा दूर ही हो जाती हैं। तब हमारी सम्पूर्ण सत्ता स्वयं परम आत्मा की तथा उसकी अभिव्यक्ति की चरम शक्ति, विराट् शान्ति और हर्षमयता में तथा उसके सर्वदर्शी आनन्द और तपस् में निवास करती है।

समता की यह भावात्मक पद्धति किस प्रकार कार्य करती है यह देखने के लिये ज्ञान, संकल्प और वेदन की तीन महान् शक्तियों में रहनेवाले इसके तत्त्व को अत्यन्त संक्षेप में देख लेना उचित होगा। समस्त भावावेश, वेदन और ऐन्द्रिय सम्वेदन अन्तरात्मा का एक साधन है जिसके द्वारा वह परम आत्मा की प्रकृतिगत अभिव्यक्तियों के सम्पर्क में आती है तथा उन्हें प्रभावशाली मूल्य प्रदान करती है। परन्तु अन्तरात्मा जो कुछ अनुभव करती है वह विश्वव्यापी आनन्द ही है। इसके विपरीत, जैसा कि हम देख चुके हैं, निम्नतर मन में अवस्थित 'पुरुष' उस आनन्द को दुःख, सुख और जड़ उदासीनता के तीन परिवर्तनशील मूल्य प्रदान करता है, जो अपनी कम अधिक मात्राओं के तारतम्य के द्वारा एक-दूसरे को अपना पुट दे देते हैं, और यह तारतम्य इसपर निर्भर करता है कि व्यक्तिभावापन्न चेतना ने अपने को पृथक्कारी वैयक्तिक रूप देकर जिस महत्तर सत्ता को अपने से बाहर कर रखा है तथा जिसे मानों अपने अनुभव के प्रति 'पर' बना रखा है उस सारी सत्ता से अपने ऊपर आनेवाले सभी आघातों का सामना करने, उन्हें जानने और पचाने तथा उनकी बराबरी करने एवं उनपर प्रभुत्व पाने के लिये उसमें कितनी शक्ति है। परन्तु, हमारे अन्दर स्थित महत्तर आत्मा के कारण, हम में सदा ही एक गुप्त अन्तरात्मा भी रहती है जो इन सब चीजों में आनन्द लेती है और अपने सम्पर्क में आनेवाली सभी चीजों से शक्ति आहरण करती तथा उनके द्वारा विकसित होती है, प्रतिकूल अनुभव से भी उतना ही लाभ उठाती है जितना अनुकूल अनुभव से। यह अन्तरात्मा बाह्य कामनामय पुरुष को भी अनुभूत हो सकती है, और वस्तुतः इसी कारण हमें जीने में आनन्द आता है और हम संघर्ष तथा कष्ट में एवं जीवन के कठोरतर रूपों में भी एक प्रकार का सुख अनुभव कर सकते हैं। परन्तु विराट् आनन्द प्राप्त करने के लिये हमारे सब करणों को सभी वस्तुओं का कोई आंशिक या विकृत नहीं बल्कि मूल आनन्द ग्रहण करना सीखना होगा। सभी वस्तुओं में आनन्द का तत्त्व विद्यमान है, जिसे बुद्धि उनमें अवस्थित आनन्द के आस्वाद या उनके रस के रूप में ग्रहण कर सकती है तथा जिसे सौन्दर्यवृत्ति इसी रूप में अनुभव कर सकती है; पर साधारणतः ये इसके स्थान पर उन्हें मनमाने, विषम और विपरीत मूल्य प्रदान करती है : इन्हें वस्तुओं को आत्मा के प्रकाश में देखने और

इन सामयिक मूल्यों को वास्तविक, सम, सारभूत एवं आध्यात्मिक रस में रूपान्तरित करने के लिये प्रेरित करना होगा। हमारे अन्दर जो प्राणतत्त्व है उसका प्रयोजन आनन्द-तत्त्व के इस ग्रहण, **रस-ग्रहण**, को एक ऐसे प्रबल स्वत्वयुक्त **भोग** का रूप देना है जो सम्पूर्ण प्राणसत्ता को अपने द्वारा स्पन्दित कर दे और अपने-आपको स्वीकार करने तथा अपने में आनन्द लेने के लिये प्रेरित करे; पर कामना के वशीभूत होने के कारण यह साधारणतः अपना कार्य करने में सक्षम नहीं होता, बल्कि यह उस रसग्रहण को तीन निम्नतर रूपों में परिणत कर देता है,—सुखभोग, दुःखभोग और इन दोनों का त्याग जिसे सम्वेदनहीनता या उदासीनता कहते हैं। प्राण-तत्त्व या प्राणिक सत्ता को कामना तथा उसकी असमतापूर्ण वृत्तियों से मुक्त करना होगा तथा बुद्धि और सौन्दर्यशक्ति जिस **रस** को अनुभव करती हैं उसे ग्रहण करके शुद्ध भोग का रूप देना होगा। तब फिर तीसरा पग उठाने के लिये करणों में और कोई बाधा नहीं रह जायेगी, उस पग के द्वारा सब कुछ आध्यात्मिक आनन्द की पूर्ण और शुद्ध उन्मादना में रूपान्तरित हो जाता है।

ज्ञान के सम्बन्ध में भी मन की वस्तुओं के प्रति तीन प्रतिक्रियाएं होती हैं, अज्ञान, भ्रम और सत्य ज्ञान। भावात्मक समता आरम्भ में उन तीनों को आत्म-अभिव्यक्ति की गतियों के रूप में स्वीकार करेगी; यह आत्म-अभिव्यक्ति अज्ञान में से सत्य ज्ञान की ओर विकसित होती है। विकास की इस प्रक्रिया में यह आंशिक या विकृत ज्ञान में से गुजरती है जो भ्रम का मूल है। भावात्मक समता मन के अज्ञान के साथ चेतना के तत्त्व की एक तमसाच्छन्न, आवृत या परिवेष्टित अवस्था के रूप में व्यवहार करेगी जो कि उसका मनोवैज्ञानिक रूप है, इस अवस्था में सर्वज्ञ आत्मा का ज्ञान मानों एक अन्धकारमय कोष में छुपा होता है; वह उसपर मन को एकाग्र करेगी और पहले से ज्ञात सम्बद्ध सत्यों की सहायता से बुद्धि के द्वारा या अन्तर्ज्ञानि की एकाग्रता के द्वारा अज्ञान के पर्दे में से ज्ञान को मुक्त करेगी। वह केवल ज्ञात सत्यों में ही आसक्त नहीं रहेगी, न ही सब चीजों को जबर्दस्ती उनके छोटे-से चौखटे के अन्दर कसने का यत्न करेगी, बल्कि ज्ञात और अज्ञात सभी सत्यों पर एक ऐसे समत्वपूर्ण मन के साथ अपने को एकाग्र करेगी जो समस्त सम्भावनाओं के प्रति खुला रहता है। भ्रम के साथ भी वह इसी प्रकार बर्ताव करेगी; वह सत्य और भ्रान्ति के उलझे हुए जाल को स्वीकार करेगी, पर किसी भी सम्मति के प्रति आसक्त नहीं होगी, वरन् सभी सम्मतियों के पीछे स्थित सत्य के तत्त्व की भ्रान्ति के अन्दर छुपे ज्ञान की खोज करेगी,—क्योंकि समस्त भ्रान्ति सत्य के कुछ गलत-समझे-गये अंशों का विकृत रूप है और अपनी शक्ति वह उस सत्य से प्राप्त करती है न कि उसके मिथ्या बोध से; निर्णीत सत्यों को वह स्वीकार करेगी पर उनके द्वारा भी अपने को सीमित नहीं करेगी, बल्कि सदैव नये ज्ञान के लिये तैयार रहेगी तथा एक अधिकाधिक समग्र, अधिकाधिक विस्तृत, समन्वयकारी

और ऐक्यसाधक ज्ञान की खोज करेगी। यह ज्ञान अपने पूर्ण रूप में तभी प्राप्त हो सकता है यदि मनुष्य आदर्श अतिमानसतक उठ जाये, और अतएव सत्य का समत्वपूर्ण अन्वेषक बुद्धि और उसकी क्रियाओं के प्रति आसक्त नहीं रहेगा, न वह यह ही सोचेगा कि सब कुछ बुद्धि में ही समाप्त हो जाता है, बल्कि उसे इसके परे जाने के लिये तैयार रहना होगा, आरोहण की प्रत्येक अवस्था को तथा अपनी सत्ता की प्रत्येक शक्ति की देनों को स्वीकार करना होगा, पर केवल इसलिये कि उन्हें उच्चतर सत्य में उठा ले जाया जा सके। उसे प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करना होगा परन्तु किसीके साथ भी चिपक नहीं जाना होगा, किसी भी वस्तु से घृणापूर्वक पीछे नहीं हटना होगा, चाहे वह कितनी ही अपूर्ण क्यों न हो, अथवा रूढ़ विचारों की कितनी ही विध्वंसक क्यों न हो, पर साथ ही किसी चीज को अपने ऊपर इस प्रकार अधिकार भी नहीं करने देना होगा कि उससे सत्य-रूपी आत्मा की स्वतन्त्र क्रिया को क्षति पहुंचे। बुद्धि की यह समता उच्चतर अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानतक पहुंचने के लिये एक आवश्यक शर्त है।

हमारे अन्दर अवस्थित संकल्पशक्ति हमारी सत्ता की एक ऐसी शक्ति है जो उसके सभी अंगों में अत्यन्त सामान्य रूप से बलवती है,—हमारे अन्दर ज्ञान का संकल्प, प्राण का संकल्प और भावावेश का संकल्प है, हमारी प्रकृति के प्रत्येक भाग में ही एक संकल्पशक्ति कार्य कर रही है,—अपनी इस प्रबलता के कारण हमारी संकल्पशक्ति अनेक रूप ग्रहण करती है और पदार्थों के बाह्य स्पर्शों के उत्तर में नानाविध प्रतिक्रियाएं करती है, जैसे असमर्थता, सीमित शक्ति, स्वामित्व, अथवा सत्य संकल्प, असत्य या विकृत संकल्प, उदासीन प्रवृत्ति की,—नैतिक मन में पुण्य, पाप और अनैतिक प्रवृत्ति की,—तथा इस प्रकार की अन्य प्रतिक्रियाएं करती है। इन्हें भी भावात्मक समता कुछ ऐसे सामयिक एवं कामचलाऊ मूल्यों के जाल के रूप में स्वीकार करती है जिन्हें लेकर उसे अपना कार्य आरम्भ करना होगा, पर जिन्हें विराट् प्रभुत्व में, सत्य और विराट् ऋत के संकल्प में तथा कर्मगत दिव्य संकल्पशक्ति के स्वातंत्र्य में रूपान्तरित कर देना होगा। समत्वपूर्ण संकल्पशक्ति को अपने स्खलनों पर पश्चात्ताप, शोक या निराशा अनुभव करने की कोई जरूरत नहीं; यदि यान्त्रिक मन में ये प्रतिक्रियाएं घटित हों तो वह केवल यही देखेगी कि ये कहांतक किसी अपूर्णता एवं सुधारने योग्य वस्तु की ओर निर्देश करती हैं,—क्योंकि ये सदा यथार्थ निर्देशक ही नहीं होतीं,—और इस प्रकार वह इनसे परे जाकर शान्त और सम मार्गदर्शन प्राप्त करेगी। वह देखेगी कि स्वयं ये स्खलन भी अनुभव के लिये आवश्यक हैं और अन्ततोगत्वा लक्ष्य की ओर जानेवाले पगों का काम करते हैं। हमारे अन्दर तथा संसार में जो कुछ भी घटित होता है उस सबके पीछे और भीतर वह दिव्य अर्थ तथा दिव्य मार्गदर्शन की खोज करेगी; बाहर से जबर्दस्ती लादी हुई सीमाओं से परे वह विश्व-शक्ति के उस

स्वेच्छापूर्ण आत्म-परिसीमन को देखेगी जिसके द्वारा वह शक्ति अपने पगों और क्रमों का नियमन करती है,—वे पग और क्रम हमारी अज्ञानावस्था पर तो बाहर से लाये गये प्रतीत होते हैं पर दिव्य ज्ञान में अपने ऊपर स्वेच्छापूर्वक आरोपित होते हैं,—और इस प्रकार परे जाकर वह भगवान् की अपरिमेय शक्ति के साथ एकत्व प्राप्त करेगी। सब शक्तियों और कर्मों को वह एकमेव सत्ता से उद्भूत होती हुई शक्तियों के रूप में देखेगी तथा उनकी विकृतियों को प्रगति के लिये अपेक्षित शक्तियों की ऐसी अपूर्णताओं के रूप में देखेगी जिनका इस प्रगति में उत्पन्न होना अनिवार्य ही है। अतएव वह सभी अपूर्णताओं को उदारतापूर्वक सहन करेगी पर इसके साथ ही एक विराट् पूर्णता की प्राप्ति के लिये स्थिरतापूर्वक दबाव डालेगी। यह समता प्रकृति को दिव्य और विराट् संकल्पशक्ति के मार्गदर्शन के प्रति खोल देगी तथा इसे उस अतिमानसिक कार्य के लिये तैयार कर देगी जिसमें हमारे अन्दर की आत्मा की शक्ति ज्योतिर्मय रूप में परमोच्च आत्मा की शक्ति से पूर्ण तथा उसके साथ एकमय होती है।

पूर्णयोग हमारी प्रकृति की आवश्यकता तथा अन्तःस्थित आत्मा, **अन्तर्यामी**, के मार्गदर्शन के अनुसार निष्क्रिय तथा सक्रिय दोनों विधियों का प्रयोग करेगा। यह अपने-आपको निष्क्रिय पद्धति की सीमाओं में बांध नहीं लेगा, क्योंकि वह केवल किसी वैयक्तिक निवृत्तिप्रधान मोक्ष की ओर या सक्रिय और विराट् आध्यात्मिक सत्ता के निषेध की ओर ले जायेगी जो कि इसके लक्ष्य की समग्रता के साथ संगत नहीं होगा। यह तितिक्षा की विधि का प्रयोग करेगा, पर अनासक्त शक्ति और प्रशान्ति पर ही नहीं रुक जायेगा, बल्कि उस भावात्मक शक्ति एवं प्रभुत्व की ओर अग्रसर होगा जिसमें फिर तितिक्षा की जरूरत ही नहीं रहेगी, क्योंकि तब आत्मा अपने अन्दर विराट् शक्ति को सुस्थिर, प्रबल और साहसिक रूप में धारण कर लेगी और एकत्व एवं आनन्द में स्थित होकर वहीं से अपनी सब प्रतिक्रियाओं को सरलता और प्रसन्नता के साथ निर्धारित करने में समर्थ बन जायेगी। वह तटस्थ उदासीनता की विधि का भी प्रयोग करेगी, पर सब वस्तुओं के प्रति विरक्त उदासीनता को ही इस योग की पराकाष्ठा नहीं मान लेगी, बल्कि जीवन की एक ऐसी उच्चासीन (उत्+आसीन) तटस्थ स्वीकृति की ओर अग्रसर होगी जो समस्त अनुभव को सम आत्मा के महत्तर मूल्यों में रूपान्तरित करने की शक्ति रखती है। वह कुछ काल के लिये नति और आत्मोत्सर्ग के मार्ग का भी प्रयोग करेगी, पर भगवान् के प्रति अपनी वैयक्तिक सत्ता के पूर्ण समर्पण के द्वारा उस सर्वसम्राट् आनन्द को प्राप्त कर लेगी जिसमें नति की आवश्यकता ही नहीं है, विराट् सत्ता के साथ एक ऐसा पूर्ण सामंजस्य प्राप्त कर लेगी जो कोरा नति का भाव नहीं बल्कि सबका आलिंगन करनेवाला एकत्व है, भगवान् के प्रति प्राकृत सत्ता के पूर्ण यन्त्रभाव और दास्य-भाव को प्राप्त कर लेगी जिसके द्वारा जीवात्मा भी भगवान् को

अधिकृत कर लेती है। वह भावात्मक समता की पद्धति का पूर्ण रूप से प्रयोग करेगी, पर जगत् और जीवन को व्यक्तिगत उद्देश्य से अपनाने की ऐसी किसी भी वृत्ति से परे चली जायेगी जिसके परिणामस्वरूप जीवन केवल पूर्ण व्यक्तिगत ज्ञान, शक्ति और आनन्द का ही क्षेत्र बनकर रह जाये। व्यक्तिगत ज्ञान आदि भी उसे अवश्य प्राप्त होंगे, पर इनके साथ ही वह उस एकत्व को भी प्राप्त करेगी जिसके द्वारा वह दूसरों के अस्तित्व के रूप में केवल अपने लिये नहीं बल्कि उनके लिये भी जीवन धारण कर सके तथा उसने स्वयं जो पूर्णता प्राप्त की है उसीकी ओर उनके प्रयत्न में उनकी सहायता करने, उनके लिये एक साधन किंवा एक सम्बद्ध और सहायक शक्ति का काम करने के लिये जीवन-यापन कर सके। वह जगत्-सत्ता का त्याग न करती हुई भगवान् के लिये जीवन धारण करेगी, पर वह न तो भूतल के प्रति आसक्त होगी और न ही स्वर्गलोकों या विश्वातीत मुक्ति के प्रति, बल्कि वह भगवान् के साथ उनकी सभी भूमिकाओं में समान रूप से एकीभूत होगी और उनमें, उनके आत्मस्वरूप तथा उनकी अभिव्यक्ति में, समान रूप से निवास करने में समर्थ होगी।

अध्याय १३

समता की क्रिया

पिछले अध्याय में हमने समता के जो भेद किये हैं उनसे यह पर्याप्त स्पष्ट हो गया होगा कि समता की अवस्था का क्या अभिप्राय है। वह केवल निश्चल शांति एवं उदासीनता नहीं है, न वह अनुभव से विरत होने का ही नाम है, बल्कि उसका मतलब है मन और प्राण की वर्तमान प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठ जाना। वह जीवन के प्रति प्रतिक्रया करने का अथवा सच पूछो तो उसका आलिंगन करके उसे अंतरात्मा और आत्मा का एक पूर्ण सक्रिय रूप बनने के लिये बाध्य करने का आध्यात्मिक मार्ग है। वह जीवन के ऊपर आत्मा के प्रभुत्व का प्रथम रहस्य है। जब हम उसे पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेते हैं तो हम दिव्य आध्यात्मिक प्रकृति की ठेठ भूमि में प्रवेश पाते हैं। शरीर में स्थित मनोमय पुरुष प्राण को बलात् नियंत्रित करने तथा अपने अधिकार में लाने का यत्न करता है, किन्तु पग-पग पर उसी के द्वारा नियंत्रित होता है, क्योंकि वह प्राणमय सत्ता की कामनात्मक प्रतिक्रियाओं के अधीन हो जाता है। सम रहना अर्थात् कामना के किसी भी दबाव के द्वारा अभिभूत न होना वास्तविक प्रभुत्व की पहली शर्त है, आत्म-शासन इसका आधार है। परन्तु निरी मानसिक समता, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, निष्क्रियता की प्रवृत्तिके द्वारा जकड़ी रहती है। उसे कामना से अपने-आपको स्थिर रूप से सुरक्षित करने के लिये संकल्प और कर्म के क्षेत्र में अपने-आपको सीमित करना होता है। केवल आत्मा ही एक ऐसी सत्ता है जो संकल्प की उदात्त अक्षुब्ध तीव्रताओं को तथा असीम धैर्य को धारण कर सकती है, वही मन्द एवं सुविचारित या तीव्र एवं उग्र कर्म में समान रूप से यथोचित व्यवहार करती है, सुरक्षित रूप से मर्यादित, सीमित या विशाल एवं बृहत् कर्म में समानतया निरापद रहती है। वह संसार के किसी संकीर्णतम क्षेत्र में छोटे-से-छोटे कार्य को स्वीकार कर सकती है, पर वह अव्यवस्था के भँवर पर भी बुद्धिपूर्वक और सर्जन शक्ति के साथ कार्य कर सकती है; और ये सब चीजें वह इस कारण कर सकती है कि वह दोनों प्रकार के कार्यों को अनासक्ति के साथ किन्तु फिर भी घनिष्ठ भाव से स्वीकार करके उनके अन्दर अनन्त शांति, ज्ञान, संकल्प और शक्ति को धारण किये रहती है। यह अनासक्ति उसमें इस कारण होती है कि वह जिन घटनाओं, रूपों, विचारों और कार्यों को अपने क्षेत्र में समाविष्ट करती है उन सबसे ऊपर होती है; और, सब कार्यों को घनिष्ट रूप से स्वीकार करने की वृत्ति उसमें इस कारण होती है कि इस सबके होते हुए भी वह सब वस्तुओं के साथ एकमय होती है। यदि हममें यह

मुक्त एकत्व, **एकत्वम् अनुपश्यतः**, नहीं है तो हमारे अन्दर आत्मा की पूर्ण समता नहीं आयी है।

साधक का पहला कर्तव्य यह देखना है कि उसमें पूर्ण समता है या नहीं, इस दिशा में वह कहांतक आगे बढ़ा है अथवा कहां त्रुटि रह गयी है, साथ ही उसका कर्तव्य यह भी है कि वह अपनी प्रकृति पर अपनी संकल्प शक्ति का स्थिरता-पूर्वक प्रयोग करे या फिर त्रुटि और उसके कारणों को दूर करने के लिये 'पुरुष' की संकल्पशक्ति का आवाहन करे। चार चीजें उसमें अवश्य होनी चाहियें; पहली, **समता** अपने अत्यन्त ठोस एवं व्यावहारिक अर्थ में, अर्थात् मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अभिरुचियों से मुक्ति, उसके भीतर और चारों ओर परमेश्वर की जो भी क्रियाएं हो रही हैं उन सबको सम रूप से स्वीकार करना; दूसरी चीज है सुस्थिर **शान्ति** और समस्त क्षोभ एवं उद्वेग का अभाव; तीसरी, प्राकृत सत्ता का भावात्मक आन्तर आध्यात्मिक सुख और आध्यात्मिक आराम, **सुखम्**, जिसे कोई भी चीज कम न कर सके; चौथी, जीवन और जगत् का आलिंगन करनेवाली आत्मा का शुभ्र आनन्द और हास्य। सम होने का अर्थ है अनन्त और विश्वमय होना, अपने-आपको सीमित न करना, मन और प्राण के इस या उस रूप के साथ तथा उनकी अपूर्ण अभिरुचियों एवं कामनाओं के साथ अपने-आपको न बांधना। पर मनुष्य अपनी वर्तमान सामान्य प्रकृति में अपनी मानसिक और प्राणिक रचनाओं के अनुसार ही जीवन यापन करता है; अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता में नहीं, इसलिये उन रचनाओं के प्रति तथा उनके अन्तर्भूत कामनाओं और अभिरुचियों के प्रति आसक्ति भी उसकी सामान्य अवस्था है। उन्हें स्वीकार करना आरम्भ में अनिवार्य होता है, उनके परे जाना अत्यन्त ही कठिन है और जबतक हम मन को अपने कार्य के प्रधान साधन के रूप में प्रयुक्त करने के लिये बाध्य होते हैं तबतक शायद उनके परे जाना पूर्णतया सम्भव भी नहीं होता। अतएव पहला आवश्यक कार्य यह है कि हम कम-से-कम उनके डंक को निकाल डालें और जब वे डटी रहें तब भी उनकी अत्यधिक हठधर्मिता तथा वर्तमान अहन्ता से और हमारी प्रकृति पर उनकी अधिक उग्र मांग से उन्हें वंचित कर दें।

यह कार्य हमने सम्पन्न कर लिया है या नहीं इसकी कसौटी यह है कि क्या हमारे मन और आत्मा में अविचलित शान्ति उपस्थित रहती है। साधक को मन के पीछे स्थित होकर वरंच, जितनी जल्दी बन पड़े उतनी जल्दी, मन के ऊपर स्थित होकर साक्षी और संकल्पशील पुरुष के रूप में प्रकृति का निरीक्षण करना होगा और अपने मन में उत्पन्न होनेवाली अशान्ति, चिन्ता, शोक, विद्रोह और विक्षोभ के जरा से भी लक्षणों या प्रसंगों को दूर हटाना होगा। यदि ये चीजें प्रकट हों तो उसे इनके मूल कारण को, इनके द्वारा सूचित त्रुटि को, अहंकारपूर्ण मांग के दोष को, तथा उस प्राणिक कामना, भावावेश या विचार को, जिससे ये उद्भूत होती हैं,

तुरन्त ढूंढ़ निकालना होगा और अपनी संकल्पशक्ति एवं अध्यात्मभावित बुद्धि के द्वारा तथा अपनी सत्ता के स्वामी के साथ अपनी आत्मिक एकता के द्वारा इस मूल दोष आदि को क्षीण एवं निस्तेज करना होगा। किसी भी कारण से इन चीजों के लिये कोई भी बहाना उसे स्वीकार नहीं करना होगा, वह चाहे कितना ही स्वाभाविक तथा देखने में न्याययुक्त या सत्याभासी क्यों न हो; इसी प्रकार उसे इनका समर्थन करनेवाली किसी आन्तरिक या बाह्य हेतु को भी अङ्गीकार नहीं करना होगा। उसकी सत्ता का जो भाग क्षुब्ध होता है और शोर मचाता है वह यदि प्राण हो तो उसे उस क्षुब्ध प्राण से अपने-आपको पृथक् कर लेना होगा, अपनी उच्चतर प्रकृति को बुद्धि में स्थित रखना होगा और बुद्धि के द्वारा अपनी कामनामय आत्मा की मांग को नियन्त्रित और निराकृत करना होगा; और कोलाहल एवं उपद्रव करनेवाला भाग यदि भावप्रधान हृदय हो तो उसके साथ भी ऐसा ही बर्ताव करना होगा। इसके विपरीत, यदि दोष स्वयं संकल्पशक्ति और बुद्धि का हो तो इस उपद्रव पर काबू पाना अधिक कठिन होता है, क्योंकि तब उसका मुख्य सहायक एवं यन्त्र दिव्य संकल्पशक्ति के विरुद्ध विद्रोह करनेवालों का सङ्गी बन जाता है और निम्नतर अङ्गों के पुराने पाप इस अनुमति से लाभ उठाकर फिर से अपना सिर ऊपर उठा लेते हैं। अतएव हमें एकमात्र प्रधान विचार पर, अर्थात् अपनी सत्ता के स्वामी, अपने और विश्व के अन्दर अवस्थित भगवान्, परम आत्मा एवं विराट् 'पुरुष' के प्रति आत्मसमर्पण पर, सतत और आग्रहपूर्वक बल देना होगा। बुद्धि को सदा इस प्रधान विचार पर एकाग्र रहकर अपने सब हीनतर आग्रहों और अभिरुचियों को निरुत्साहित करना होगा और सम्पूर्ण सत्ता को यह सिखाना होगा कि चाहे अहंभाव बुद्धि, व्यक्तिगत संकल्पशक्ति और हृदय के द्वारा अपनी मांग पेश करे या प्राणगत कामनापुरुष के द्वारा, पर उसे किसी भी प्रकार का वास्तविक अधिकार नहीं है और समस्त शोक, विद्रोह, अधीरता और अशान्ति सत्ता के स्वामी के विरुद्ध एक प्रकार की जोर-जबर्दस्ती है।

इस पूर्ण आत्मसमर्पण को ही साधक को अपना मुख्य आधार बनाना चाहिये क्योंकि पूर्ण निश्चलता के तथा कर्ममात्र के प्रति पूर्ण उदासीनता के मार्ग के सिवा,—जिसका कि हमें त्याग करना होगा,—आत्मसमर्पण ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा पूर्ण स्थिरता और शान्ति प्राप्त हो सकती हैं। अशान्ति यदि निरन्तर बनी रहे और अपने-आपको पवित्र करने एवं पूर्ण बनाने की इस क्रिया में यदि लम्बा समय लगे तो उसके कारण भी उसे निरुत्साहित और अधीर नहीं होना चाहिये। अशान्ति इसलिये लौट आती है कि उसे प्रत्युत्तर देनेवाली कोई चीज हमारी प्रकृति में अभी भी विद्यमान होती है, और वह बारम्बार लौटकर यह प्रकट करने में सहायक होती है कि अभी हमारे अन्दर त्रुटि विद्यमान है, साथ ही वह साधक को सावधान करने में तथा उस त्रुटि से मुक्त होने के लिये संकल्पशक्ति

की एक अधिक आलोकित और संगत क्रिया को साधित करने में भी सहायता पहुंचाती है। जब अशान्ति इतनी प्रबल हो कि उसे दूर किया ही न जा सके तो उसके तूफान को गुजर जाने देना चाहिये और आध्यात्मीकृत बुद्धि की महत्तर जागरूकता तथा दृढ़ता के द्वारा उसके पुनरावर्तन को निरुत्साहित करना चाहिये। इस प्रकार दृढ़ रहने से यह अनुभव होगा कि इन चीजों का बल उत्तरोत्तर कम होता जाता है, ये अधिकाधिक बाह्य बनती जाती हैं और लौटने पर उत्तरोत्तर कम समयतक ही टिक पाती हैं, जिससे कि अन्त में शान्ति हमारी सत्ता का विधान बन जाती है। यह नियम-पद्धति तबतक चलती रहती है जबतक मनोमय बुद्धि हमारे मुख्य करण का काम करती है; पर जब अतिमानसिक ज्योति मन और हृदय पर अधिकार कर लेती है, तब कोई अशान्ति, शोक, या क्षोभ उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह अपने संग आलोकित शक्ति से युक्त आध्यात्मिक प्रकृति को लाती है जिसमें इन चीजों का कोई स्थान नहीं हो सकता। वहां तो एकमात्र वही स्पन्दन और भावावेश होते हैं जो दिव्य एकता की **आनन्दमय** प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं।

सम्पूर्ण सत्ता में जो शान्ति स्थापित हो वह सभी परिस्थितियों में एक-सी बनी रहनी चाहिये, अर्थात् स्वास्थ्य और रोग में, सुख और दुःख में, यहांतक कि तीव्र-से-तीव्र शारीरिक वेदना में, सौभाग्य और दुर्भाग्य में, वह चाहे हमारा हो या उनका जिनसे हम प्रेम करते हैं, सफलता और विफलता में, मान और अपमान में, स्तुति और निन्दा में, हमारे प्रति किये गये न्याय और अन्याय में, ऐसी प्रत्येक वस्तु में जो साधारणतः मन को प्रभावित करती है, सत्ता की शान्ति एक समान बनी रहनी चाहिये। यदि हम सर्वत्र एकता का दर्शन करें, यदि हम यह अनुभव करें कि सब कुछ भगवान् की इच्छाशक्ति से ही घटित होता है, सबमें परमेश्वर को देखें, अर्थात् अपने शत्रुओं में या यूं कहें कि जीवन की क्रीड़ा में जो हमारे विरोधी हैं उनमें तथा अपने मित्रों में, हमारा विरोध और प्रतिरोध करनेवाली शक्तियों में, तथा हमारा पक्ष लेने और साहाय्य करनेवाली शक्तियों में, सभी बलों एवं शक्तियों में तथा सभी घटनाओं में भगवान् का साक्षात्कार करें और इसके साथ ही यदि हम यह भी अनुभव कर सकें कि कोई भी वस्तु हमारी आत्मा से विभक्त या पृथक् नहीं है, समस्त विश्व हमारी विराट् सत्ता में हमारे साथ एकीभूत है,—तो समता एवं शान्ति की इस वृत्ति को धारण करना हमारे हृदय और मन के लिये कहीं अधिक सुगम हो जायेगा। परन्तु इस विराट् साक्षात्कार को प्राप्त कर सकने या इसमें दृढ़तया स्थित हो सकने से पहले भी हमें अपने अधिकारगत सभी उपायों से इस ग्रहणशील और सक्रिय समता एवं शान्ति पर आग्रह करना होगा। इसका थोड़ा-सा भी अंश, **स्वल्पम् अपि अस्य धर्मस्य**, पूर्णता की ओर एक महान् पग होता है; इसमें आरम्भिक दृढ़ता मुक्ति की सिद्धि की पहली सीढ़ी होती है; इसकी सम्पूर्णता सिद्धि के अन्य सभी अंगों में द्रुत प्रगति के लिये पूर्ण आश्वासन का काम करती है। कारण, इसके बिना हमें ठोस आधार नहीं प्राप्त हो सकता; और

इसका सुनिश्चित अभाव होने पर हम कामना, अहं, द्वंद्व और अज्ञान से युक्त निम्नतर अवस्था में पुनः-पुनः पतित होते रहेंगे।

यह शान्ति जब एक बार प्राप्त हो जाये तो समझो कि प्राण और मन की पसन्दगी शान्ति भंग करने की सामर्थ्य को खो चुकी है; उसके बाद से वह मन का एक रूढ़ अभ्यासमात्र रह जाती है। प्राणिक स्वीकृति या निषेध अर्थात् उस घटना की अपेक्षा इसका अधिक स्वागत करने के लिये प्राण की कहीं अधिक तत्परता, मानसिक स्वीकृति या निषेध अर्थात् उस दूसरे कम अनुकूल विचार या सत्य की अपेक्षा इस अनुकूलता को अधिक पसन्द करना, उस अन्य परिणाम की अपेक्षा कहीं अधिक इस परिणाम पर अपने संकल्प को एकाग्र करना,—ये सब एक रूढ़ यान्त्रिक क्रिया का रूप धारण कर लेते हैं। हमारी सत्ता का स्वामी **शक्ति** को जिस दिशा में मोड़ना चाहता है या इस समय जिस दिशा में प्रवृत्त कर रहा है उसका संकेत करने के लिये वह यान्त्रिक क्रिया अभी आवश्यक होती है। किन्तु प्राण और मन की पसन्दगी में प्रबल अहंकारमय संकल्पशक्ति, असहिष्णु कामना और आग्रहपूर्ण रुचिवाला जो अशान्तिजनक तत्त्व है वह नष्ट हो जाता है। अशान्ति पैदा करनेवाली ये बाह्य वस्तुएं क्षीण रूप में कुछ समयतक टिकी रह सकती हैं, पर जैसे-जैसे समता की शान्ति बढ़ती जाती है तथा गहरी होकर अधिक मूलभूत और घन रूप ग्रहण करती जाती है, वैसे-वैसे ये लुप्त होती चलती हैं और मानसिक एवं प्राणिक तत्त्व को रञ्जित करना छोड़ती जाती हैं या फिर ये अत्यन्त बाह्य भौतिक मन की सतह पर बाह्य स्पर्शों के रूप में ही प्रकट होती हैं, अन्दर नहीं पैठ सकतीं और, अन्त में यह पुनरावर्तन अर्थात् मन के बाह्य द्वारों पर पुनः-पुनः प्रकट होना भी समाप्त हो जाता है। तब यह अनुभव एक सजीव सत्य के रूप में प्राप्त हो सकता है कि हमारे अन्दर जो कुछ भी होता है उस सब को सत्ता का स्वामी ही सम्पन्न और संचालित करता है, **यथा प्रयुक्तोऽस्मि तथा करोमि**, यह अनुभव पहले हमारे अन्दर केवल एक प्रबल धारणा एवं श्रद्धा के रूप में ही विद्यमान था; हां, अपनी वैयक्तिक प्रकृति की घटनाओं के पीछे हमें कभी-कभी, गौण रूप से, दिव्य क्रिया की झांकियां भी मिल जाती थीं। किन्तु अब ऐसा दिखायी देता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया पुरुष के संकेतों को, हमारी अन्तःस्थ दिव्य **शक्ति** के द्वारा दिया गया एक रूप है; निःसन्देह यह रूप अभी भी व्यक्तिभावापन्न होता है, अभी भी निम्नतर मानसिक आकार की क्षुद्रता को लिये होता है, पर मूलतः अहंकारपूर्ण नहीं होता, यह रूप अपूर्ण अवश्य होता है पर स्पष्टतः विकृत नहीं। इसके बाद हमें इस अवस्था के भी परे जाना होगा। कारण, पूर्ण कर्म एवं अनुभव का निर्धारण किसी प्रकार की मानसिक या प्राणिक अभिरुचि को नहीं करना होगा, वह तो सत्योद्भासक और अन्तःप्रेरक आध्यात्मिक संकल्पशक्ति को करना होगा। यह संकल्पशक्ति स्वयं भागवत शक्ति ही होती है जो साक्षात् और वास्तविक रूप से कर्म और अनुभव का संचालन करती है। जब मैं यह कहता हूं कि वह मुझे जिस प्रकार

प्रेरित करता है उसी प्रकार मैं कर्म करता हूं तब भी मैं अपने कार्य में एक सीमाकारी वैयक्तिक तत्त्व और मानसिक प्रतिक्रिया को ले आता हूं। पर (इससे परे की अवस्था में) प्रभु ही मुझे अपना यन्त्र बनाकर मेरे द्वारा अपना कार्य करेगा और इसके लिये मेरे अन्दर कोई ऐसी मानसिक या अन्य प्रकार की अभिरुचि नहीं होनी चाहिये जो उसके कार्य को सीमित करे, उसमें हस्तक्षेप करे तथा क्रिया की अपूर्णता को जन्म दे। मन को अतिमानसिक **सत्य** के साक्षात्कारों के लिये तथा उसके साक्षात्कार में प्रच्छन्न रूप से कार्य कर रही **संकल्पशक्ति** के प्रत्यक्षानुभव के लिये एक प्रशान्त और ज्योतिर्मय वाहन बनना होगा। तब हमारा कर्म इस सर्वोच्च सत्स्वरूप प्रभु एवं सर्वोच्च **सत्य** का कर्म होगा, वह मन में पहुंचकर सीमित या मिथ्या रूप नहीं धारण कर लेगा। जो भी सीमा, पसन्दगी या सम्बन्ध उस कर्म पर आरोपित किया जायेगा उसे भगवान् ही व्यक्ति के अन्दर किसी विशेष समय में अपने किसी उद्देश्य के लिये अपने ऊपर स्वयं आरोपित करेंगे; वह सीमा आदि अनिवार्य, चरम किंवा अटल नहीं होगी, मन के किये हुए अज्ञानयुक्त निर्धारण के समान नहीं होगी। बल्कि तब विचार और संकल्प ज्योतिर्मय अनन्त से उद्भूत होनेवाली क्रियाओं का रूप धारण कर लेते हैं, वे एक ऐसी रचना बन जाते हैं जो अन्य रचनाओं को बहिष्कृत नहीं करती बल्कि उन्हें अपने साथ उनके सम्बन्ध की दृष्टि से उनके ठीक स्थान पर स्थापित कर देती है, यहांतक कि उन्हें अपने घेरे के अन्तर्गत कर लेती या रूपान्तरित कर देती है और दिव्य ज्ञान तथा कर्म के बृहत्तर रूपों या रचनाओं की ओर अग्रसर होती है।

समता के फलस्वरूप सर्वप्रथम जो स्थिरता प्राप्त होती है उसका स्वरूप होता है शान्ति अर्थात् समस्त चंचलता, शोक और उद्वेग का अभाव। जैसे-जैसे समता अधिक घनीभूत होती जाती है, वैसे-वैसे वह भावात्मक सुख एवं आध्यात्मिक निर्वृति के पूर्णतर तत्त्व को ग्रहण करती जाती है। यह निर्वृति एवं सुख आत्मा का एक ऐसा हर्ष होता है जो उसे अपने ही अन्दर मिलता है और जो अपनी निरपेक्ष सत्ता के लिये किसी भी बाह्य वस्तु पर आश्रित नहीं होता, **निराश्रयः**; गीता में इसका वर्णन **अन्तःसुखोऽन्तरारामः**—इन शब्दों में किया गया है, यह निरतिशय आन्तरिक सुख होता है, **ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**। कोई भी चीज इसमें व्याघात नहीं पहुंचा सकती, और आगे चलकर यह आत्मा के द्वारा बाह्य वस्तुओं के अवलोकन के क्षेत्र में भी अपने-आपको विस्तारित करता है, अर्थात् उनपर भी इस शान्त आध्यात्मिक हर्ष का नियम लागू करता है। कारण, इसका आधार होता है निश्चल शान्ति, यह सम, प्रशान्त और निरपेक्ष, **अहैतुक**, हर्ष होता है। और जैसे-जैसे अतिमानसिक ज्योति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे एक महत्तर आनन्द प्राप्त होता जाता है; हमारी आत्मा जो कुछ भी है तथा जो कुछ वह बनती, देखती और अनुभव करती है उस सबमें उसे जो प्रचुर हर्षातिरेक प्राप्त होता है उसके लिये यह महत्तर आनन्द आधार का काम करता है, साथ ही यह आनन्द भगवान् के कर्म को ज्ञानपूर्वक करनेवाली और सभी लोकों में

भगवान् का आनन्द ले रही भागवत शक्ति के अट्टहास्य का भी आधार है।

जब समता की क्रिया पूर्णता प्राप्त कर लेती है तो वह दिव्य आनन्दमय शक्ति के आधार पर पदार्थों के सभी मूल्यों का रूपान्तर कर देती है। बाह्य कर्म जैसा पहले था वैसा ही चलता रह सकता है अथवा बदल भी सकता है, उसका रूप वही होता है जिसके लिये कि परम आत्मा प्रेरित करता है तथा जो जगत् के लिये करने योग्य कर्म को सम्पन्न करने के लिये आवश्यक होता है,—किन्तु आन्तरिक कर्म सारे-का-सारा और ही ढंग का हो जाता है। ज्ञान, कर्म, उपभोग, सर्जन और रूपायण की अपनी विभिन्न सामर्थ्यों के साथ भागवत शक्ति जगत् के विभिन्न लक्ष्यों की ओर अपने-आपको प्रेरित करेगी, पर उसका मूल भाव और ही प्रकार का होगा; वे ऐसे लक्ष्य, फल तथा कार्यपद्धतियां होंगे जिन्हें भगवान् अपने ऊर्ध्वस्थ प्रकाश से निर्धारित करते हैं, वे कोई ऐसी चीज नहीं होंगे जिसकी मांग अहं अपने पृथक् स्वार्थ के लिये करता है। मन, हृदय, प्राण-सत्ता और यहांतक कि शरीर भी, सत्ता के स्वामी के विधान से उन्हें जो कुछ भी प्राप्त होगा उसीसे सन्तुष्ट रहेंगे और उसीमें सूक्ष्मतम किन्तु फिर भी पूर्णतम आध्यात्मीकृत तृप्ति और आनन्द प्राप्त करेंगे; पर ऊर्ध्वस्थित दिव्य ज्ञान एवं संकल्प अपने और भी परे के लक्ष्यों के लिये कार्य करते जायेंगे। यहां सफलता और असफलता दोनों के वर्तमान अर्थ लुप्त हो जाते हैं। यहां असफलता नाम की कोई चीज हो ही नहीं सकती; क्योंकि जो कुछ भी होता है वह लोकों के प्रभु का अभिमत होता है, वह अन्तिम लक्ष्य नहीं वरन् उसके मार्ग का एक सोपान होता है, और यदि वह यन्त्रभूत सत्ता के सामने उपस्थित लक्ष्य का विरोध, पराभव, निषेध, यहांतक कि क्षणभर के लिये पूर्ण निषेध प्रतीत होता हो तो वह केवल ऊपर से देखने में ही ऐसा लगता है और बाद में वह प्रभु के कार्य की मितव्ययतापूर्ण व्यवस्था में अपने ठीक स्थान पर स्थित दिखायी देगा,—यहांतक कि एक पूर्णतर अतिमानसिक दिव्य दृष्टि उसके प्रयोजन को तथा अन्तिम परिणाम के साथ उसके सच्चे सम्बन्ध को तुरन्त या पहले से ही देख सकती है, यद्यपि वह अन्तिम परिणाम के इतना विपरीत और यहांतक कि शायद उसका निश्चित प्रतिषेध ही प्रतीत होता है। अथवा—जब प्रकाश न्यून होता है तब—यदि लक्ष्य को या कार्य की पद्धति तथा परिणाम के क्रमों को समझने के सम्बन्ध में भूल हुई हो तो असफलता उसे सुधारने के लिये आती है और इससे निरुत्साहित या संकल्प में विचलित हुए बिना इसे शान्तिपूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है। अन्त में यह पता लगता है कि असफलता नाम की कोई चीज है ही नहीं और तब अन्तरात्मा सभी घटनाओं को भागवत संकल्पशक्ति के सोपान और रूपायण समझती हुई उनमें एक समान निष्क्रिय या सक्रिय आनन्द लेती है। सौभाग्य और दुर्भाग्य, रुचिकर और अरुचिकर अर्थात् **मंगल-अमंगल** और **प्रिय-अप्रिय** के सभी रूपों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही वृत्ति विकसित हो जाती है।

घटनाओं की तरह व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी समता हमारी दृष्टि और वृत्ति में पूर्ण परिवर्तन ले आती है। समत्वपूर्ण मन और आत्मा का पहला परिणाम यह होता है कि वे एक वृद्धिशील उदारता को तथा सब व्यक्तियों, विचारों, दृष्टिकोणों और कार्यों के प्रति आन्तरिक सहिष्णुता को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि भगवान् सब प्राणियों में विद्यमान हैं और प्रत्येक प्राणी अपने स्वभाव तथा उसकी वर्तमान अभिव्यक्तियों के अनुसार कार्य करता है। जब भावात्मक सम आनन्द प्राप्त होता है तो वह उदारता एवं सहिष्णुता गहरी होकर सहानुभूतिपूर्ण समझ का तथा अन्त में एक सम सार्वभौम प्रेम का रूप धारण कर लेती है। आध्यात्मिक संकल्पशक्ति के द्वारा निर्धारित जीवन-आवश्यकता के अनुसार हमारी आन्तरिक मनोवृत्ति बाह्य जगत् के साथ जो नानाविध सम्बन्ध स्थापित करती है या जो विभिन्न रूप ग्रहण करती है उनमें उपर्युक्त उदारता, सहिष्णुता आदि कोई भी वृत्ति बाधा नहीं पहुंचा सकती, इसी प्रकार उसी संकल्पशक्ति के द्वारा निर्धारित जीवन-आवश्यकता और जीवनोद्देश्य के लिये अमुक एक विचार, दृष्टि और कार्य के विरुद्ध अमुक दूसरे को सुदृढ़ प्रश्रय देने में, अथवा जो शक्तियां विधिविहित कार्य के मार्ग में रोड़ा अटकाने के लिये प्रेरित होती हैं उनके विरुद्ध प्रबल बाह्य या आन्तरिक प्रतिरोध, विरोध या प्रतिक्रिया करने में भी उक्त वृत्ति बाधक नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, बल्कि रुद्र-शक्ति वेगपूर्वक प्रकट होकर मानवीय या अन्य प्रकार की बाधा पर प्रबल रूप से क्रिया कर सकती है या उसे छिन्न-भिन्न कर सकती है, क्योंकि यह मानव-व्यक्ति तथा जागतिक उद्देश्य दोनों के लिये आवश्यक होता है। परन्तु इन अधिक ऊपरी रचनाओं के द्वारा समत्वपूर्ण अन्तरतम वृत्ति के सारतत्त्व में कोई परिवर्तन या कमी नहीं आती। भले ही ज्ञान, संकल्प, कर्म और प्रेम की शक्ति अपना कार्य करे और अपने कार्य के लिये अपेक्षित नानाविध रूप भी धारण करे किन्तु मूल भावना एवं मूलभूत आत्मा एक ही रहती हैं। और अन्त में सब कुछ भगवान् की सत्ता में तथा ज्योतिर्मय, आध्यात्मिक, एकमेव और विश्वव्यापक शक्ति में सब व्यक्तियों, शक्तियों और वस्तुओं के साथ ज्योतिर्मय आध्यात्मिक एकत्व का रूप धारण कर लेता है। उस विश्वव्यापक एकमेव शक्ति में व्यक्ति का अपना कार्य सब के कार्य का अभेद्य अंग बन जाता है, उससे विभक्त एवं पृथक् नहीं होता, बल्कि प्रत्येक सम्बन्ध को पूर्णतया अपने विराट् एकत्व के जटिल रूपों से युक्त सर्वभूतस्थ भगवान् के साथ सम्बन्ध अनुभव करता है। यह एक ऐसी पूर्णता है जिसे भेदकारक मानसिक बुद्धि की भाषा में कदाचित् ही वर्णित किया जा सकता है क्योंकि यह उसके सभी विरोधों का उपयोग करती है किन्तु फिर भी उन्हें अतिक्रम कर जाती है; इसी प्रकार हमारे सीमित मनोविज्ञान के शब्दों में भी इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तो चेतना के एक अन्य ही प्रदेश से एवं हमारी सत्ता की एक अन्य ही भूमिका से सम्बन्ध रखती है।

अध्याय १४

करणों की शक्ति

आत्मसिद्धि-योग का दूसरा अंग है हमारी सामान्य प्रकृति के करणों की शक्ति को समुन्नत, विस्तृत और विशुद्ध करना। सिद्धि के इस दूसरे अंग के विकास को सम मन और आत्मा की सुस्थिर अवस्था प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं, पर अपनी पूर्णता तो यह इस सुस्थिरता में ही प्राप्त कर सकता है तथा इसीमें यह दिव्य मार्गदर्शन की सुरक्षा में अपनी क्रिया भी कर सकता है। इस विकास का लक्ष्य प्रकृति को दिव्य कर्मों के लिये एक योग्य यंत्र बनाना है। सब कर्म शक्ति ही करती है, और क्योंकि पूर्ण योग का ध्येय कर्मों का त्याग करना नहीं वरन् दिव्य चेतना में स्थित होकर वहां से परमोच्च मार्गदर्शन के अनुसार सब कर्मों को करना है, मन, प्राण और शरीर-रूपी करणों की विशिष्ट शक्तियों को दोषों से मुक्त करके शुद्ध ही नहीं करना होगा बल्कि उन्हें उन्नत करके इस अधिक महान् कर्म के लिये सक्षम भी बनाना होगा। अन्त में तो उन्हें आध्यात्मिक और अतिमानसिक रूपान्तर की प्रक्रिया में से भी गुजरना होगा।

आत्म-पूर्णता की साधना के इस दूसरे भाग के चार अंग हैं और उनमें से पहला है यथार्थ शक्ति अर्थात् बुद्धि, हृदय, प्राणमय मन और शरीर की शक्तियों की यथायथ अवस्था। अभी इन चार में से अन्तिम की आरम्भिक पूर्णता का निर्देश करना ही सम्भव होगा, क्योंकि पूर्ण सिद्धि का विवेचन तो अतिमानस का तथा शेष सत्ता पर उसके प्रभाव का वर्णन करने के बाद ही करना होगा। शरीर कार्य के स्थूल भाग के लिये एक आवश्यक बाह्य यंत्र मात्र नहीं है, बल्कि इस जीवन के काम-काज के लिये समस्त आन्तरिक कार्य का आधार या मूल आश्रय भी है। मन या आत्मा की समस्त क्रिया भौतिक चेतना में अपना कम्पन पैदा करती है, एक प्रकार के गौण देहगत संकेत के रूप में वहां अपने-आपको अंकित करती है और भौतिक यन्त्र के द्वारा जड़जगत् के समक्ष अपने-आपको कम-से-कम कुछ अंश में प्रकाशित करती है। परन्तु मनुष्य के शरीर की इस क्षमता की कुछ स्वाभाविक सीमाएं हैं जिन्हें वह अपनी सत्ता के उच्चतर भागों की क्रीड़ा पर बलपूर्वक थोपता है। और, दूसरे, शरीर की एक अपनी ही अवचेतन ढंग की चेतना है जिसमें वह मानसिक और प्राणिक सत्ता के पुराने अभ्यासों और पुरानी प्रकृति को दुराग्रहपूर्ण निष्ठा के साथ संजोये रखता है और जो किसी भी बड़े भारी ऊर्ध्वमुख परिवर्तन का यंत्रवत् विरोध और प्रतिरोध करती है या कम-से-कम उसे सम्पूर्ण प्रकृति का आमूल रूपान्तर नहीं बनने देती। यह प्रत्यक्ष ही है कि यदि हम एक ऐसा मुक्त दिव्य या आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक कार्य करना चाहते हैं जो शक्ति के द्वारा

परिचालित हो और एक दिव्यतर सामर्थ्य के स्वभाव को चरितार्थ करता हो, तो शारीरिक प्रकृति के इस बाह्य स्वरूप में एक प्रकार का काफी पूर्ण रूपान्तर साधित करना होगा। पूर्णता के अन्वेषकों ने मनुष्य की भौतिक सत्ता को सदा ही एक बड़ी भारी बाधा अनुभव किया है और वे उससे घृणा, इन्कार या विद्वेष करते हुए और शरीर एवं स्थूल जीवन को पूर्णरूपेण या यथासम्भव दबा देने की इच्छा से उससे मुंह मोड़ने के आदी रहे हैं। परन्तु पूर्ण योग के लिये यह विधि ठीक नहीं हो सकती। शरीर हमें एक ऐसे एकमात्र यंत्र के रूप में दिया गया है जो हमारे समूचे कार्यों के लिये आवश्यक है; इसका उपयोग करना चाहिये न कि अनादर और उत्पीड़न और न ही दमन या विनाश। यदि वह अपूर्ण, विरोधी और दुराग्रही है तो अन्य अंग अर्थात् प्राण-सत्ता, हृदय, मन और बुद्धि भी तो ऐसे ही हैं। उसे भी उन्हींकी तरह परिवर्तित करके पूर्ण बनाना होगा तथा रूपान्तर की प्रक्रिया में से गुजरना होगा। जैसे हमें अपने लिये एक नया प्राण, नया हृदय और नया मन प्राप्त करना होगा वैसे ही एक विशेष अर्थ में हमें अपने लिये एक नये शरीर का भी निर्माण करना होगा।

शरीर के सम्बन्ध में संकल्प-शक्ति को सबसे पहला कार्य यह करना होगा कि वह उसमें उत्तरोत्तर और बलपूर्वक उसकी समस्त सत्ता, चेतना, शक्ति और बाह्य तथा आन्तर कार्य का एक नया अभ्यास डाले। उसे सिखाना होगा कि वह पहले तो उच्चतर करणों के हाथों में पर अन्त में आत्मा और उसकी नियामक एवं ज्ञानप्रद शक्ति के हाथों में पूर्णतया निष्क्रिय यंत्र बनकर रहे। उसमें अभ्यास डालना होगा कि वह उत्कृष्टतर अंगों पर अपनी सीमाओं को न थोपे, बल्कि अपनी क्रिया और प्रतिक्रिया को उनकी मांगों के अनुसार ढाले, या यूं कहें कि एक उच्चतर स्वर का, उच्चतर कोटि की प्रतिक्रियाओं का विकास करे। वर्तमान अवस्था में शरीर और भौतिक चेतना का स्वर परमेश्वर की इस मानवीय वीणा के संगीत को निर्धारित करने की एक बहुत बड़ी शक्ति रखता है; आत्मा से, चैत्य पुरुष से, अपने भौतिक जीवन के पीछे अवस्थित महत्तर जीवन से हमें जो स्वर प्राप्त होते हैं वे हमारे अन्दर निर्बाध रूप से प्रवेश नहीं पा सकते, अपना उच्च, शक्तिशाली और वास्तविक गीत विकसित नहीं कर सकते। इस स्थिति को पलटना होगा; शरीर और भौतिक चेतना को इन उच्चतर स्वरों को प्रवेश प्रदान करने और इनके अनुसार अपने-आपको ढालने का अभ्यास विकसित करना होगा और उन्हें नहीं बल्कि प्रकृति के श्रेष्ठतर भागों को हमारे जीवन और अस्तित्व का संगीत निश्चित करना होगा।

इस परिवर्तन को साधित करने के लिये पहला पग है मन और उसके विचार एवं संकल्प के द्वारा शरीर और प्राण का नियंत्रण करना। योगमात्र का अभिप्राय यह है कि इस नियंत्रण को अत्युच्च शिखर तक पहुंचाया जाये। पर आगे चलकर

स्वयं मन को अपना स्थान आत्मा एवं आत्मिक शक्ति तथा अतिमानस एवं अतिमानसिक शक्ति को दे देना होगा। और अन्त में शरीर को एक ऐसी पूर्ण शक्ति का विकास करना होगा कि आत्मा उसके अन्दर जो भी शक्ति लाये उसे वह धारण कर सके तथा उसे बिखेरे और गंवाये बिना या स्वयं टूटे-फूटे बिना उसकी क्रिया को भी धारण कर सके। उसमें ऐसी सामर्थ्य होनी चाहिये कि आध्यात्मिक या उच्चतर मन या प्राण की चाहे कितनी ही प्रबल शक्ति उसमें क्यों न भर दी जाये उसे वह धारण कर सके तथा उस शक्ति के द्वारा शक्तिशाली रूप से प्रयोग में भी लाया जा सके और उस प्रबल अन्तःप्रवाह या दबाव से शरीर-यंत्र का कोई भी भाग क्षुब्ध, अस्तव्यस्त, छिन्न-भिन्न या नष्ट न हो,—जैसे कि जो लोग बिना तैयारी के या अनुपयुक्त साधनों के द्वारा, अविवेकपूर्वक, योगाभ्यास करने की चेष्टा करते हैं अथवा जिस शक्ति को धारण करने के लिये वे बौद्धिक, प्राणिक एवं नैतिक रूप से अयोग्य हैं उसका बिना सोचे-विचारे, उतावलेपन से आवाहन करते हैं, उनका मस्तिष्क, प्राणिक स्वास्थ्य या नैतिक स्वभाव प्रायः ही क्षत-विक्षत हो जाता है। और इस प्रकार उच्चतर शक्ति से पूरित होने पर शरीर में यह क्षमता भी होनी चाहिये कि वह उस आध्यात्मिक या अन्य प्रकार की कर्तृ-शक्ति के, जो इस समय हमारे लिये सामान्य नहीं है, संकल्प के अनुसार स्वाभाविक रूप से, यंत्रवत् और ठीक-ठीक काम कर सके और ऐसा करते हुए उसके उद्देश्य तथा प्रबल प्रेरणा को विकृत एवं क्षीण न करे और न उसे किसी मिथ्यारूप में ही परिणत कर डाले। भौतिक चेतना और शक्ति में तथा भौतिक यंत्र में अनन्त आध्यात्मिक शक्ति को धारण करने की यह सामर्थ्य, **धारण शक्ति**, शरीर की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धि या पूर्णता है।

इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप शरीर आत्मा का एक पूर्ण यन्त्र बन जायेगा। आध्यात्मिक शक्ति शरीर में तथा उसके द्वारा, जो कुछ वह चाहती है तथा जैसा चाहती है वही कुछ और वैसा कर सकेगी। वह मन की या, अधिक उच्च अवस्था में, अतिमानसिक असीम क्रिया का सञ्चालन करने में समर्थ हो जायेगी और इसमें शरीर क्लान्ति, अक्षमता, अयोग्यता या मिथ्याकरण के वश छलपूर्वक उस क्रिया का त्याग नहीं कर देगा। वह शक्ति शरीर के भीतर प्राणशक्ति की परिपूर्ण धारा को प्रवाहित करने तथा पूर्णताप्राप्त प्राण-सत्ता के विशाल कर्म और उल्लास का सूत्रपात करने में भी समर्थ होगी, पर यह सब करने में वह विरोध-वैषम्य नहीं उत्पन्न होगा जो अपूर्ण शरीर-यन्त्र के साथ प्राण की सामान्य अन्धप्रेरणाओं एवं उसके आवेगों के सम्बन्ध से पैदा हुआ करता है जब कि वे प्रेरणाएं और आवेग शरीर का प्रयोग करने के लिये बाध्य होते हैं। इसके साथ ही आध्यात्मिक शक्ति अध्यात्म-भावित चैत्य सत्ता की एक ऐसी पूर्ण क्रिया का सञ्चालन करने में भी समर्थ होगी जो शरीर की निम्नतर अन्धप्रेरणाओं के कारण मिथ्या और हीन रूप

नहीं धारण करेगी, न उनसे किसी प्रकार दूषित ही होगी; इसी प्रकार वह शक्ति भौतिक क्रिया और अभिव्यक्ति को उच्चतर आन्तरात्मिक जीवन के मुक्त स्वर के रूप में प्रयुक्त कर सकेगी। और स्वयं शरीर में भी धारक शक्ति की महत्ता, बहिर्गामी और कार्यसञ्चालक शक्ति की प्रचुर सामर्थ्य, ऊर्जा और बल, स्नायविक और भौतिक सत्ता की लघुता (हलकापन), स्फूर्ति, क्षिप्रता एवं अनुकूलनीयता और सम्पूर्ण शरीर-यन्त्र की तथा उसे चलानेवाली कमानियों की धारक और प्रतिक्रियाशील शक्ति[1] विद्यमान होंगी। इस समय शरीर अपनी सबलतम और श्रेष्ठतम स्थिति में भी इन महत्ता और बल आदि को धारण करने में समर्थ नहीं है।

यह शक्ति अपने सारतत्त्व में कोई बाह्य, भौतिक या स्नायविक सामर्थ्य नहीं होगी, बल्कि अपने स्वरूप में सर्वप्रथम तो एक असीम प्राण-शक्ति होगी, दूसरे, इस प्राणशक्ति को धारण और प्रयुक्त करनेवाली एक उत्कृष्टतर या परमोच्च संकल्पशक्ति होगी जो शरीर में कार्य करेगी। शरीर या दृश्य पदार्थ में प्राणिक शक्ति की क्रीड़ा समस्त कार्य के लिये, यहांतक कि अत्यन्त स्पष्ट रूप से जड़ दिखाई देनेवाले भौतिक कार्य के लिये भी आवश्यक है। जैसा कि प्राचीन मनीषियों को ज्ञात था, विश्वव्यापी प्राण ही अपने नाना रूपों में विद्युदणु और परमाणु तथा गैस से लेकर धातु, वनस्पति, पशु और देह-प्रधान मनुष्यतक सभी भौतिक पदार्थों की पार्थिव शक्ति को धारण या संचालित करता है। जो लोग शरीर की या शरीर में एक महत्तर सिद्धि पाने का प्रयास करते हैं उन सबकी जान-अनजान में यही चेष्टा होती है कि इस प्राणिक शक्ति से शरीर में अधिक स्वतन्त्र और प्रबल रूप से कार्य कराया जाये। साधारण मनुष्य इसे यान्त्रिक रूप में शारीरिक व्यायामों तथा अन्य भौतिक साधनों के द्वारा अपने अधिकार में रखने का यत्न करता है, हठयोगी अपेक्षाकृत अधिक महान् और नमनीय किन्तु फिर भी यान्त्रिक ढंग से, आसन और प्राणायाम के द्वारा, इसपर शासन करने का प्रयास करता है; परन्तु हमारे उद्देश्य के लिये इसे अधिक सूक्ष्म, सारभूत और सुनम्य साधनों के द्वारा अधिकार में लाया जा सकता है; सर्वप्रथम, मन के एक ऐसे संकल्प के द्वारा जो उस विराट् प्राणशक्ति की ओर, जिससे कि हम शक्ति आहरण करते हैं, अपने-आपको विशालतापूर्वक खोल दे तथा अपने अन्दर बलशाली रूप से उसका आवाहन करे तथा उसकी बलवत्तर उपस्थिति एवं अधिक प्रबल क्रिया को शरीर के अन्दर स्थिर करे; दूसरे, मन के एक ऐसे संकल्प के द्वारा जो विराट् प्राण नहीं वरंच आत्मा और उसकी शक्ति की ओर अपने-आपको खोले और ऊपर से एक उच्चतर प्राणिक शक्ति का, अतिमानसिक प्राण-शक्ति का अपने अन्दर आवाहन करे; तीसरे, अन्तिम पग के रूप में, आत्मा के उच्चतम अतिमानसिक संकल्प के द्वारा जो कार्य क्षेत्र में उतरकर शरीर की पूर्णता का काम सीधे अपने हाथ में ले ले। सच पूछो तो

[1] महत्त्व, बल, लघुता और धारण-सामर्थ्य।

प्राणिक यन्त्र जब निरे भौतिक दिखाई देनेवाले साधनों का प्रयोग करता है तब भी उसे वास्तव में एक अन्तःस्थ संकल्प ही सदा परिचालित करता है तथा कार्यक्षम बनाता है; पर आरम्भ में वह संकल्प निम्न क्रिया पर आश्रित रहता है। जब हम अधिक ऊंचे स्तर पर पहुंचते हैं तो दोनों का सम्बन्ध शनैः-शनैः उलट जाता है; तब वह संकल्प अपनी विशिष्ट शक्ति के साथ कार्य करने या शेष साधनों को केवल गौण यन्त्र के रूप में ही संचालित करने में समर्थ बन जाता है।

बहुतेरे लोग शरीर में रहनेवाली इस प्राणिक शक्ति को नहीं जानते या फिर जिस अधिक स्थूल-रूपवाली शारीरिक शक्ति को यह अनुप्राणित करती है तथा अपने वाहन के रूप में प्रयुक्त करती है उससे इसका भेद नहीं कर सकते। पर जब चेतना योग-साधना के द्वारा अधिक सूक्ष्म हो जाती है तो हम अपने चारों ओर विद्यमान प्राणशक्ति के सागर को जान सकते हैं, मानसिक चेतना के द्वारा उसे अनुभव कर सकते हैं , मन-रूपी इन्द्रियों के द्वारा ठोस रूप में भी उसे जान सकते हैं, उसकी धाराओं और गतियों को देख सकते हैं और संकल्प के द्वारा सीधे ही उसका निर्देशन कर सकते हैं तथा उसपर क्रिया करके प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। पर जबतक हम उसके प्रति इस प्रकार सचेतन न हो जायें, तबतक हमें उसकी उपस्थिति में तथा इस प्राणशक्ति के ऊपर महत्तर प्रभुत्व का एवं इसके महत्तर प्रयोग का विकास करने के लिये हमारे संकल्प के अन्दर जो शक्ति है उसमें कामचलाऊ या कम-से-कम परीक्षणात्मक श्रद्धा रखनी होगी। मन की इस शक्ति में श्रद्धा रखने की जरूरत है कि वह शरीर की अवस्था और क्रियापर अपने संकल्प का दबाव डाल सकता है, जो लोग रोग का उपचार श्रद्धा, संकल्प या मानसिक क्रिया के द्वारा करते हैं उनमें उक्त प्रकार की श्रद्धा विद्यमान होती है; परन्तु हमें इस प्रभुत्व को प्राप्त करने का यत्न केवल इस या किसी अन्य सीमित प्रयोग के लिये ही नहीं करना चाहिये, बल्कि व्यापकतया एक बाह्य एवं क्षुद्रतर करण के ऊपर आभ्यन्तर एवं महत्तर करण की न्याय्य शक्ति के रूप में इसे पाने का यत्न करना चाहिये। हमारे मन की पुरानी आदतें, हमारे वर्तमान अपूर्ण आधार में उसकी अपेक्षाकृत निःसहायता के विषय में हमारा वर्तमान सामान्य अनुभव तथा शरीर और भौतिक चेतना में विरोधी विश्वास—ये सब इस श्रद्धा का प्रतिरोध करते हैं। क्योंकि, उनमें भी अपनी एक विशेष प्रकार की सीमाकारी श्रद्धा है जो मन के विचार का विरोध करती है जब कि वह शरीर पर एक अबतक अनुपलब्ध उच्चतर पूर्णता के नियम को लागू करना चाहता है। पर जैसे-जैसे हम मन के विचार को दृढ़ करते जायेंगे और इस शक्ति को हमारे अनुभव के प्रति अपना प्रमाण देते अनुभव करेंगे, वैसे-वैसे मन की श्रद्धा अपने-आपको अधिक दृढ़ आधार पर स्थापित करने तथा सबल बनने में समर्थ होती जायेगी, और शरीर की विरोधी श्रद्धा परिवर्तित हो जायेगी, जिस चीज से वह पहले इन्कार करती थी उसे स्वीकार

कर लेगी और अपने अभ्यासों में नये नियन्त्रण को स्वीकार ही नहीं करेगी बल्कि स्वयं भी इस उच्चतर क्रिया के लिये उच्च शक्ति का आवाहन करेगी। अन्त में हम इस सत्य को अनुभव कर लेंगे कि यह सत्ता, जो कि हमारा स्वरूप है, वही कुछ है या बन सकती है जो कुछ बनने की श्रद्धा इसके अन्दर विद्यमान है एवं जो कुछ बनने का यह संकल्प करती है,—क्योंकि श्रद्धा केवल एक ऐसे संकल्प का ही नाम है जो महत्तर सत्य की प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर उसके लिये प्रयास करता है। यह अनुभव कर लेने पर हम अपनी सम्भावनाओं की सीमाएं नियत करना बन्द कर देंगे अथवा अपने अन्तःस्थ आत्मा की एवं मानव-यन्त्र के द्वारा कार्य करनेवाली भागवत शक्ति की गुप्त सर्वशक्तिमत्ता से इन्कार करना छोड़ देंगे। किन्तु यह स्थिति, कम-से-कम एक व्यावहारिक शक्ति के रूप में, उच्च सिद्धि की एक बाद की अवस्था में ही प्राप्त होती है।

प्राण केवल एक ऐसी शक्ति ही नहीं है जो शारीरिक और प्राणिक बल की क्रिया के लिये आवश्यक है, बल्कि वह मानसिक और आध्यात्मिक क्रिया का भी अवलम्बन है। अतएव प्राणिक शक्ति की पूर्ण और निर्बाध क्रिया निम्नतर किन्तु फिर भी आवश्यक प्रयोजन के लिये ही अपेक्षित नहीं है, बल्कि हमारी जटिल मानव-प्रकृति के करणों में मन, अतिमानस और आत्मा की मुक्त और पूर्ण क्रिया के लिये भी आवश्यक है। प्राणशक्ति और उनकी क्रियाओं पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये प्राणायाम के अभ्यासों के प्रयोग का मुख्य आशय यही है; यह प्रयोग योगकी कुछ-एक प्रणालियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अङ्ग है। पूर्णयोग के साधक को भी प्राणशक्ति पर ऐसा ही प्रभुत्व प्राप्त करना होगा; पर वह इसे अन्य साधनों से प्राप्त कर सकता है और, कम-से-कम, इसकी प्राप्ति और सुरक्षा के लिये उसे किसी शारीरिक या श्वास-प्रश्वाससम्बन्धी व्यायाम पर निर्भर नहीं करना होगा, क्योंकि उससे तुरन्त ही एक प्रकार की सीमितता एवं प्रकृति के प्रति अधीनता उत्पन्न हो जायेगी। प्रकृति-रूपी करण का प्रयोग पुरुष को नमनीय रूप में करना होगा पर उसे पुरुष पर एक स्थिर नियन्त्रण का रूप नहीं धारण कर लेना होगा। तथापि, प्राणशक्ति की आवश्यकता बनी ही रहती है और आत्मचिन्तन तथा अनुभव करने पर यह आवश्यकता हमारे सामने स्पष्ट हो जायेगी। वैदिक रूपक में वह (प्राणशक्ति) देहधारी मन और संकल्प का अश्व एवं वाहन है। यदि वह बल और वेग से तथा अपनी सब शक्तियों के प्रचुर ऐश्वर्य से पूर्ण हो तो मन अपने कार्य की सरणियों पर पूर्ण और अकुण्ठित गति के साथ चलता जा सकता है। परन्तु यदि वह पंगु या शीघ्र थक जानेवाली या मन्द या दुर्बल हो तो संकल्प की कार्यान्विति एवं मन की क्रिया उस दुर्बलता के बोझ के नीचे दब जाती है। जब अतिमानस पहले-पहल कार्यक्षेत्र में आता है तो उसपर भी यही नियम लागू होता है। निःसन्देह, ऐसी अवस्थाएं और क्रियाएं भी हैं जिनमें मन प्राणिक शक्ति को

अपने अन्दर समेट लेता है और यह निर्भरता जरा भी अनुभूत नहीं होती; पर तब भी प्राण-शक्ति वहां विद्यमान होती है, भले वह शुद्ध मानसिक शक्ति में तिरोहित ही क्यों न हो। जब अतिमानस पूर्णतया शक्तिशाली हो जाता है तो वह बिलकुल सहज रूप में ही प्राणिक शक्ति के साथ अपनी इच्छानुसार बर्ताव कर सकता है, और हम देखते हैं कि अन्त में यह प्राणशक्ति अतिमानसीकृत प्राण के अपने विशिष्ट रूप में रूपान्तरित हो जाती है जो उस महत्तर चेतना की एक चालक शक्तिमात्र है। परन्तु यह रूपान्तर योगसिद्धि की एक और भी बाद की अवस्था से सम्बन्ध रखता है।

और फिर, हमारे अन्दर चैत्य प्राण, प्राणमय मन या कामनामय पुरुष भी है; यह भी अपनी पूर्णता की मांग करता है। यहां भी सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि मन को प्राणिक सामर्थ्य से परिपूर्ण होना चाहिये अर्थात् उसमें अपना समग्र कार्य सम्पन्न करने की, हमारे आन्तरिक चैत्य प्राण को जो प्रेरणाएं और शक्तियां इस जीवन में चरितार्थ करने के लिये दी गयी हैं उन सबको अपने अधिकार में लाने की, उन्हें धारण करने की तथा क्षमता, स्वतन्त्रता और पूर्णता के साथ उन्हें कार्यान्वित करने के लिये एक साधन के रूप में काम करने की शक्ति होनी चाहिये। अपनी पूर्णता के लिये हमें जिन चीजों की आवश्यकता है उनमें से बहुत-सी—उदाहरणार्थ, साहस, जीवन में फलीभूत होनेवाली अमोघ संकल्पशक्ति, जिन्हें हम आज चरित्र का बल और व्यक्तित्व का बल कहते हैं उनके सभी अङ्ग,—अपनी पूर्णतम शक्ति के लिये तथा ऊर्जस्वी कार्य के मूल स्रोत के लिये बहुत बड़े अंश में चैत्य प्राण की पूर्णता पर ही निर्भर करती है। परन्तु इस पूर्णता के साथ चैत्यप्राण-सत्ता में एक सुस्थिर प्रसन्नता, निर्मलता और शुद्धता भी होनी चाहिये। यह क्रियाशक्ति न तो अशान्त, अति व्याकुल एवं तूफानी होनी चाहिये और न ही आवेशपूर्ण या असंस्कृत रूप में उग्र; प्राणशक्ति तो हमारे अन्दर अवश्य होनी चाहिये, उसे अपने कर्म का आनन्द भी अवश्य प्राप्त होना चाहिये, पर शक्ति होनी चाहिये निर्मल, प्रसन्न और विशुद्ध और आनन्द होना चाहिये सुस्थिर, दृढ़प्रतिष्ठ और विशुद्ध। और इसकी पूर्णता की तीसरी शर्त यह है कि इसे पूर्ण समता में सुस्थित होना चाहिये। कामनामय पुरुष को अपनी कामनाओं के कोलाहल, आग्रह या वैषम्य से मुक्त होना होगा ताकि उसकी कामनाएं न्याय और सन्तुलन के साथ तथा ठीक ढंग से पूरी हो सकें और अन्त में तो उनको कामना के स्वरूप से सर्वथा मुक्त करके दिव्य आनन्द की प्रेरणाओं में रूपान्तरित कर देना होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उसे सब प्रकार की मांगों को छोड़ना होगा, साथ ही, उसे हृदय, मन या आत्मा पर अपना अधिकार स्थापित करने की चेष्टा ही नहीं करनी होगी, बल्कि शान्त मन और शुद्ध हृदय के मार्ग के द्वारा उसके अन्दर आत्मा से जो कोई प्रेरणा एवं आदेश आयें उन्हें निष्क्रिय और सक्रिय दोनों प्रकार

की दृढ़ समता के साथ स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार हमारी सत्ता का प्रभु उस प्रेरणा का जो भी फल उसे प्रदान करे तथा उससे उसे जो भी कम या अधिक अथवा पूर्ण या शून्य भोग प्राप्त हो वह भी उसे स्वीकार करना होगा। तथापि, प्राप्ति और भोग उसका नियम-धर्म हैं, उसका कार्य, उपयोग एवं स्वधर्म हैं। उसका वध या दमन करना अभिप्रेत नहीं है, न उसे एक ऐसी वस्तु बना देना ही अभीष्ट है जिसकी ग्रहण-शक्ति कुन्द हो तथा जो विषण्ण, दमित, अपङ्ग, जड़ या वन्ध्य हो। उसके अन्दर प्राप्त करने की पूर्ण शक्ति, उपभोग की प्रसन्नतापूर्ण शक्ति तथा शुद्ध और दिव्य सम्वेग एवं आनन्द की उल्लासपूर्ण शक्ति अवश्य होनी चाहिये। उसे जो उपभोग प्राप्त होगा वह अपने सारतत्त्व में आध्यात्मिक आनन्द होगा, पर वह एक ऐसा आनन्द होगा जो मानसिक, भावमय, क्रियाशील, प्राणिक एवं भौतिक हर्ष को अपने अन्दर समाविष्ट करके रूपान्तरित कर देता है; अतएव, उसके अन्दर इन सब चीजों के लिये सर्वांगीण सामर्थ्य अवश्य होनी चाहिये; और अक्षमता या थकावट के कारण या फिर तीव्र एवं महान् अनुभूतियों को सहन करने में असमर्थ होने के कारण उसे आत्मा, मन, हृदय, संकल्पशक्ति और शरीर की अनुभूतियों का साथ देने में असफल नहीं हो जाना चाहिये। पूर्णता, शुभ्र पवित्रता और प्रसन्नता, समता, प्राप्ति और भोग के लिये सामर्थ्य—ये तत्त्व चैत्य प्राण की चतुर्विध पूर्णता के अंग हैं।[1]

इसके बाद हमें जिस करण को पूर्ण बनाने की आवश्यकता है वह है **चित्त**, और इस शब्द के पूर्ण अर्थ के अन्तर्गत हम भावप्रधान और शुद्ध चैत्य सत्ता को समाविष्ट कर सकते हैं। मनुष्य का यह हृदय एवं चैत्य पुरुष, जो प्राण की अन्धप्रेरणाओं के तन्तुजाल से ओतप्रोत है, भावावेश और चैत्य स्पन्दनों के मिश्रित और अस्थिर रंगों से बनी हुई वस्तु है। ये भावावेश और चैत्य स्पन्दन अच्छे और बुरे, सुखद और दुःखद, तृप्त और अतृप्त, क्षुब्ध और शान्त तथा तीव्र और मन्द दोनों प्रकार के होते हैं। इन सबसे इस प्रकार आलोड़ित और आक्रान्त होने के कारण हमारा चित्त किसी भी प्रकार की वास्तविक शान्ति से परिचित नहीं है, अपनी सब शक्तियों की स्थिर पूर्णता प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। शुद्धि और समता के द्वारा तथा ज्ञान की ज्योति और संकल्पशक्ति के सामंजस्य के द्वारा उसमें शान्त भावोद्रेक एवं पूर्णता की स्थिति लायी जा सकती है। इस पूर्णता के पहले दो अंग ये हैं—एक ओर तो उच्च और विशाल मधुरता, उन्मुक्तता, भद्रता, शान्ति, निर्मलता और दूसरी ओर प्रबल और उत्कट शक्ति एवं प्रचण्डता। साधारण मानवीय स्वभाव और कर्म की ही भांति दिव्य स्वभाव और कर्म में भी सदैव दो छोर होते हैं, माधुर्य और बल, मृदुता और शक्ति, **सौम्य** और **रौद्र**, धारण, सहन और समस्वर करनेवाली शक्ति, और अपना अधिकार जमाने और विवश कर देनेवाली

[1] पूर्णता, प्रसन्नता, समता, भोग-सामर्थ्य।

शक्ति, **विष्णु** और **ईशान, शिव** और **रुद्र**। सर्वांगपूर्ण जागतिक कर्म के लिये दोनों समान रूप से आवश्यक हैं। हमारे हृदय में रुद्र-शक्ति जो-जो विकृत रूप धारण करती है वे ये हैं—तूफानी आवेश, क्रोध और भयंकरता और कठोरता, कठिनता, पाशविकता, क्रूरता, अहंपूर्ण महत्त्वाकांक्षा, तथा अत्याचार और आधिपत्य से प्रेम। हमें शान्त, निर्मल और मधुर चैत्य पुरुष को प्रस्फुटित करके इन तथा अन्य मानवीय विकृतियों से मुक्त होना होगा।

परन्तु दूसरी ओर, शक्ति को धारण करने की अक्षमता भी एक प्रकार की अपूर्णता है। जब भावप्रधान एवं चैत्य जीवन की शक्ति को किंवा अपने-आपको दृढ़तापूर्वक स्थापित करने की उसकी सामर्थ्य को दबाया और निरुत्साहित किया जाता है अथवा उसका मूलोच्छेद कर दिया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप अन्ततः चित्त में शिथिलता और दुर्बलता, भोगासक्ति, एक प्रकार की अदृढ़ता एवं पंगुता या जड़ निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु केवल डटी रहने तथा सब कुछ सहन करनेवाली शक्ति को प्राप्त करना या केवल प्रेम, उदारता, सहिष्णुता, मृदुता, नम्रता एवं तितिक्षा से युक्त हृदय का विकास करना भी समग्र पूर्णता नहीं है। पूर्णता का दूसरा पक्ष है एक ऐसी आत्म-संहत, शान्त और अहंकाररहित रुद्रशक्ति जो चैत्य शक्ति से सम्पन्न हो किंवा बलवान् हृदय की एक ऐसी शक्ति जो बिना हिचकिचाये एक आग्रहपूर्ण एवं बाहर से कठोर दीखनेवाले कर्म को अथवा आवश्यकता पड़ने पर प्रचण्ड हिंसाकर्म को भी धारण करने में समर्थ हो; बल, शक्ति और सामर्थ्य का अपरिमित तेज जो हृदय की मधुरता और निर्मलता के साथ समस्वरित हो तथा कर्म में उसके साथ एकमय हो सकता हो, अर्थात् सोम की सुधामयी चन्द्र-रश्मियों के मण्डल से समुद्भूत होनेवाली इन्द्र की विद्युत् ही दोहरी पूर्णता है। और, इन दो शक्तियों, **सौम्यत्व** और **तेजस्**, को अपने अस्तित्व और कार्य का आधार आभ्यन्तरिक **प्रकृति** तथा चैत्य पुरुष की दृढ़ समता पर रखना होगा। इसके लिये चैत्य पुरुष को समस्त असंस्कृतता से तथा हृदय की ज्योति अथवा शक्ति की समस्त अतिशयता या न्यूनता से मुक्त होना चाहिये।

दूसरा आवश्यक तत्त्व है हृदय की श्रद्धा, विश्व-कल्याण में विश्वास और उसके लिये संकल्प, विराट् आनन्द की ओर खुले होना। शुद्ध चैत्य पुरुष का सारतत्त्व है आनन्द, उसका उद्भव विश्व में विद्यमान आनन्दमय पुरुष से हुआ है; किन्तु भावावेश से युक्त स्थूल हृदय जगत् के परस्पर-विरोधी बाह्य रूपों से अभिभूत हो जाता है तथा शोक, भय, विषाद, राग और क्षणिक एवं आंशिक हर्ष-रूपी अनेक प्रतिक्रियाओं को अनुभव करता है। पूर्णता प्राप्त करने के लिये आवश्यकता है सम हृदय की, न कि केवल निष्क्रिय समता की; हमें एक ऐसी भागवत शक्ति की अनुभूति होनी चाहिये जो हमारे समस्त अनुभवों के पीछे हमारे कल्याणसाधन की ओर अग्रसर हो रही है, हमारे अन्दर एक ऐसी श्रद्धा एवं संकल्पशक्ति होनी चाहिये

जो जगत् के विषों को अमृत में परिणत कर सके, विपदा के पीछे छुपे हुए एक अधिक सुखदायी आध्यात्मिक हेतु को, दुःख के पीछे प्रेम के रहस्य को तथा वेदना के बीज में छुपे हुए दिव्य शक्ति और आनन्द के पुष्प को देख सके। इस श्रद्धा, **कल्याण-श्रद्धा**, का होना आवश्यक है ताकि हृदय और सम्पूर्ण व्यक्त चैत्य सत्ता गुप्त दिव्य आनन्द को प्रत्युत्तर दे सके और इस वास्तविक मूल सारतत्त्व में अपने-आपको रूपान्तरित कर सके। इस श्रद्धा और संकल्प को असीम, विशालतम और गभीरतम प्रेम-शक्ति से समन्वित तथा उसकी ओर उन्मुक्त होना चाहिये। कारण, हृदय का मुख्य कार्य किंवा उसका सच्चा व्यापार है प्रेम। वह पूर्ण मिलन और एकत्व की प्राप्ति के लिये हमारा विधिनियत करण है; क्योंकि जगत् में केवल बुद्धि के द्वारा एकत्व को देखना ही पर्याप्त नहीं है जबतक कि हम हृदय के द्वारा तथा चैत्य पुरुष में भी उसे अनुभव न करें, और इसका अभिप्राय है,—एकमेव में तथा उसके अन्दर अवस्थित जगत् के सर्वभूतों में आनन्द लेना, भगवान् और समस्त वस्तुओं एवं प्राणियों से प्रेम। विश्व के कल्याण के विषय में हृदय की श्रद्धा एवं संकल्प इस अनुभव पर आधारित होते हैं कि एकमेव भगवान् सब पदार्थों में अन्तर्यामी-रूप से विराजमान हैं तथा जगत् का परिचालन कर रहे हैं। हृदय को समस्त जगत् में एकमेव भगवान् किंवा एकमेव आत्मा का जो यह दर्शन एवं चैत्य और भागवत अनुभव होता है उसीपर हमें विश्वप्रेम का आधार रखना होगा। तब चारों तत्त्व एकता में गठित हो जायेंगे और शुभ तथा मंगल के लिये युद्ध करने की रुद्र-शक्ति भी विश्व-प्रेम की शक्ति के आधार पर अपने कार्य में प्रवृत्त होगी। हृदय की सर्वोच्च और अत्यन्त विशिष्ट पूर्णता यह **प्रेम-सामर्थ्य** ही है।

करणों की पूर्णता में सबसे अन्त में आती है बुद्धि और चिन्तनात्मक मन की पूर्णता। इसके लिये सर्व-प्रथम आवश्यक वस्तु है बुद्धि की निर्मलता और पवित्रता। हमारी प्राणमय सत्ता सत्य के स्थान पर मन की कामना को थोपना चाहती है तथा क्षुब्ध भाव-प्रधान सत्ता, सत्य को भावावेशों के रूप-रंग से रञ्जित, विकृत और सीमित करके मिथ्या रूप देने का यत्न करती है; हमें बुद्धि को इन दोनों सत्ताओं की मांगों से मुक्त करना होगा। उसे अपने निज दोषों से भी मुक्त होना होगा, वे दोष हैं—विचार-शक्ति की जड़ता, ज्ञान की ओर खुलने में बाधा डालनेवाली संकीर्णता और अनिच्छा, चिन्तन की क्रिया में बौद्धिक यथार्थता और सावधानता का अभाव, पूर्व धारणा और पसन्दगी, बुद्धि में विद्यमान अहमात्मक इच्छा और ज्ञानप्राप्ति के संकल्प का मिथ्या निर्धारण। उसका एकमात्र संकल्प यह होना चाहिये कि वह सत्य, उसके सारतत्त्व एवं मान-प्रमाण को तथा उसके रूपों और सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करने के लिये एक निर्मल दर्पण बने, सामंजस्य का एक स्वच्छ मुकुर, यथोचित मानदण्ड और सूक्ष्म एवं सुन्दर यन्त्र अर्थात् सर्वांगपूर्ण बुद्धि बने। यह स्वच्छ और विशुद्ध बुद्धि तब प्रकाश से युक्त एक प्रशान्त करण

एवं सत्य के सूर्य से निःसृत होनेवाली एक शुद्ध और शक्तिशाली ज्योति-रश्मि बन सकती है। किन्तु इसे भी केवल घनीभूत, शुष्क या श्वेत प्रकाशवाला करण ही नहीं बनना होगा, वरन् सब प्रकार के चित्र-विचित्र बोध को प्राप्त करने में समर्थ, नमनीय, समृद्ध, लचकीला भी होना चाहिये, समस्त तेज से देदीप्यमान तथा सत्य की अभिव्यक्ति के सब-के-सब रंगों के द्वारा चित्र-विचित्र और उसके सभी रूपों के प्रति उद्घाटित होना चाहिये। और इस प्रकार सुसम्पन्न होने पर वह सीमाओं से मुक्त हो जायेगी, ज्ञान की इस या उस शक्ति या क्रिया में अथवा उसके अमुकामुक रूप में बन्द नहीं रहेगी, बल्कि पुरुष उससे जिस भी काम की मांग करे उसके लिये तैयार रहनेवाला एक समर्थ यन्त्र बन जायेगी। विशुद्धता, निर्मल ज्ञान-ज्योति, समृद्ध और सुनम्य वैचित्र्य, सर्वांगीण सामर्थ्य—**विशुद्धि, प्रकाश, विचित्र-बोध, सर्वज्ञान-सामर्थ्य**—चिन्तनात्मक बुद्धि की चतुर्विध पूर्णता का गठन करते हैं।

हमारे सामान्य करण जब इस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर लेंगे तो वे एक-दूसरे के कार्य में अनुचित हस्तक्षेप किये बिना अपने-अपने ढंग से काम करेंगे तथा हमारी प्राकृत सत्ता की समस्वरित समग्रता में पुरुष के अप्रतिहत संकल्प की पूर्ति में सहायक होंगे। इस पूर्णता को अपनी कार्यक्षमता में, अपनी क्रियान्विति के शक्ति-सामर्थ्य में तथा सम्पूर्ण प्रकृति के क्षेत्र की एक विशेष प्रकार की महानता में निरन्तर उन्नत होते जाना होगा। तब हमारे करण अपने विज्ञानमय कार्य के करणों में रूपान्तरित होने के लिये तैयार हो जायेंगे जिनमें कि वे सारी-की-सारी पूर्णताप्राप्त प्रकृति के एक अधिक निरपेक्ष, एकीभूत और ज्योतिर्मय आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त कर लेंगे। करणों की इस पूर्णता के साधनों पर हमें आगे एक प्रकरण में विचार करना होगा; पर अभी इतना कहना यथेष्ट होगा कि इसकी मुख्य-मुख्य अवस्थाएं हैं—संकल्प, आत्म-निरीक्षण और आत्मज्ञान तथा आत्म-परिवर्तन एवं रूपान्तर का सतत अभ्यास। 'पुरुष' में इस सबके लिये सामर्थ्य विद्यमान है; क्योंकि अन्तःस्थ आत्मा सदा ही अपनी प्रकृति की क्रिया में परिवर्तन करके उसे पूर्ण बना सकती है। परन्तु मनोमय पुरुष को इसके लिये मार्ग प्रशस्त करना होगा और इसके साधन ये हैं—स्पष्ट तथा सतर्क अन्तर्निरीक्षण, एक ऐसे अन्वेषणशील एवं सूक्ष्म आत्मज्ञान की ओर अपने-आपको खोलना जो उसे अपने प्राकृत करणों का बोध तथा उत्तरोत्तर प्रभुत्व प्रदान करे, आत्मसंशोधन और आत्म-रूपान्तर का सजग और आग्रहपूर्ण संकल्प—क्योंकि प्रकृति को अन्ततोगत्वा, चाहे किसी भी कठिनाई एवं किसी भी प्रारम्भिक या सुदीर्घ प्रतिरोध के साथ क्यों न हो, इसी संकल्प को प्रत्युत्तर देना होगा,—और ऐसा अटूट अभ्यास जो समस्त दोष एवं विकार को निरन्तर दूर फेंकता रहे तथा उसका स्थान समुचित अवस्था और यथार्थ एवं उन्नत क्रिया को दे दे। जबतक हमारी मनोमय सत्ताओं की अपेक्षा महत्तर शक्ति एक अधिक सहज और द्रुत रूपान्तर को साधित करने के लिये सीधे ही हस्तक्षेप नहीं करती तबतक तपस्या और धैर्य का तथा ज्ञान एवं संकल्प की सत्यता और ऋजुता का आश्रय लेना आवश्यक है।

अध्याय १५

आत्मशक्ति और चतुर्विध व्यक्तित्व

सामान्य मन, हृदय, प्राण और शरीर को पूर्ण बनाने से हमें केवल अपने मनोभौतिक यन्त्र की, जिसका हमें प्रयोग करना पड़ता है, पूर्णता प्राप्त होती है तथा दिव्य जीवन एवं दिव्य कर्मों के लिये करणों की कुछ-एक समुचित अवस्थाएं भी उत्पन्न हो जाती हैं। तब जीवन एक अधिक पवित्र, महान् और निर्मल शक्ति एवं ज्ञान के द्वारा बिताया जाता है और कर्म भी उसीके द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा होने के बाद जो शक्ति उन करणों में प्रवाहित की जाती है वह कौन-सी है तथा जो एकमेव उसे अपने वैश्व उद्देश्यों के लिये कार्य में प्रवृत्त करता है वह कौन है। तब जो शक्ति हमारे अन्दर कार्य करेगी उसे व्यक्त दिव्य शक्ति होना चाहिये, परमोच्च या विश्वगत शक्ति होना चाहिये, जो मुक्त जीव के रूप में प्रकट होती है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता**; वह जीवभूत परा प्रकृति ही **कर्त्री** की भांति समस्त कर्म करेगी तथा इस दिव्य जीवन की संचालक शक्ति होगी। इस शक्ति के पीछे रहनेवाली एकमेव सत्ता ईश्वर अर्थात् समस्त सत्ता के प्रभु ही होंगे। जब हम पूर्णता प्राप्त कर लेंगे तब हमारी समस्त सत्ता उन प्रभु के साथ एक प्रकार का 'योग' (एकत्व) होगी। इस योग का अभिप्राय यह है कि भगवान् हमारे अन्दर विराजमान हैं और साथ ही जिनमें हम अब रहते-सहते, चलते-फिरते तथा अपना अस्तित्व रखते हैं उनकी सत्ता के साथ हमारी सत्ता का एकत्व और एक ऐसा मिलन जिसमें उनके साथ पुरुष और उसकी प्रकृति के नानाविध सम्बन्ध भी बने रह सकते हैं। ईश्वर को अपने अन्दर या अपने पीछे धारण किये हुई इस शक्ति की ही दिव्य उपस्थिति और कार्यप्रणाली का हमें अपने समस्त अस्तित्व और जीवन में आवाहन करना होगा। क्योंकि इस दिव्य उपस्थिति और इस महत्तर कार्य-प्रणाली के बिना प्रकृति की शक्ति की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

जीवन में मनुष्य का समस्त कर्म अन्तरात्मा की उपस्थिति और प्रकृति की क्रियाओं (दोनों) की अर्थात् **पुरुष** और **प्रकृति** की ग्रन्थि है। पुरुष की उपस्थिति एवं उसका प्रभाव प्रकृति में हमारी सत्ता की एक विशेष शक्ति के रूप में अपने-आपको प्रकट करता है। उस शक्ति को हम अपने वर्तमान प्रयोजन के लिये आत्मशक्ति कह सकते हैं; सदा-सर्वदा यह आत्मशक्ति ही बुद्धि, मन, प्राण और शरीर की शक्तियों की समस्त क्रियाओं को आश्रय देती है और हमारी चेतन सत्ता की गठन तथा हमारी प्रकृति के विशिष्ट रूप का निर्धारण करती है। सामान्य मनुष्य, जो विकास की साधारण कोटितक ही पहुंचा होता है, इसे एक गौण, परिवर्तित, यान्त्रिकताग्रस्त एवं तिरोहित रूपमें—स्वभाव और चरित्र के रूप

में—धारण करता है; परन्तु वह रूप इसका एक अत्यन्त बाह्य सांचामात्र है जिसमें, ऐसा प्रतीत होता है कि, यान्त्रिक प्रकृति पुरुष को अर्थात् चिन्मय सत्ता या आत्मा को सीमित और परिच्छिन्न करती है तथा कोई आकार भी प्रदान करती है। विकसित होती हुई प्रकृति बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक, क्रियाशील, प्राणिक और भौतिक मन और स्वभाव-विशेष के जिन भी रूपों को ग्रहण करती है उनमें अन्तरात्मा प्रवाहित होती है और यह गठित प्रकृति उसपर जिस प्रणाली को थोपती है उसीके अनुसार वह कार्य कर सकती है और इसकी संकीर्ण प्रणालिका या इसके अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत घेरे में ही गति कर सकती है। तब मनुष्य सात्त्विक, राजसिक या तामसिक होता है या फिर इन गुणों का मिश्रण और उसका स्वभाव आत्मा के एक प्रकार के सूक्ष्मतर रंग से रंगा होता है। आत्मा ने ही उसकी प्रकृति के इन रूढ़ गुणों की प्रधान एवं सुस्पष्ट क्रिया को वह रंग प्रदान किया होता है। जो मनुष्य प्रबलतर शक्ति से सम्पन्न होते हैं उनमें आत्मा की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में ऊपरी सतह पर आयी होती है और वे एक ऐसे व्यक्तित्व का विकास कर लेते हैं जिसे महान् या शक्तिशाली कहा जाता है, गीता के **'विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा'** इस वाक्य में जिस विभूति का वर्णन किया गया है उसका कुछ अंश उनमें विद्यमान होता है, अर्थात् उनमें सत्ता की एक ऐसी उच्चतर शक्ति होती है जिसे बहुधा किसी दिव्य अन्तःप्रेरणा का स्पर्श प्राप्त रहता है या जो कभी-कभी उससे पूर्णतया परिप्लुत भी होती है, अथवा उनमें देवत्व की अभिव्यक्ति साधारण कोटि से अधिक होती है। निःसन्देह वह देवत्व सभी में, यहांतक कि दुर्बल-से-दुर्बल या अत्यन्त तमसाच्छन्न प्राणी में भी, विद्यमान है, पर यहां उसकी कोई विशेष शक्ति सामान्य मानवता के पर्दे के पीछे से प्रकट होने लगती है और साथ ही इन असाधारण व्यक्तियों में कोई सुन्दर, आकर्षक, भव्य या शक्तिशाली वस्तु होती है जो उनके व्यक्तित्व, चरित्र, जीवन और कार्य-कलाप में चमक उठती है। ये व्यक्ति भी अपनी प्रकृति-शक्ति के विशिष्ट सांचे में उसके गुणों के अनुसार कार्य करते हैं। परन्तु उनमें कोई विशेष वस्तु अवश्य विद्यमान होती है, वह होती तो है सुस्पष्ट पर उसका विश्लेषण आसानी से नहीं किया जा सकता। वह वास्तव में 'पुरुष' एवं आत्मा की एक प्रत्यक्ष शक्ति होती है जो प्रकृति के सांचे और उसकी दिशा को एक प्रबल उद्देश्य के लिये प्रयोग में लाती है। उसके द्वारा स्वयं प्रकृति भी अपनी सत्ता के एक उच्चतर स्तरतक उठ जाती है या उस ओर उठने लगती है। उस शक्ति की क्रिया का बहुत-सा अंश अहंकारमय या यहांतक कि विकृत भी प्रतीत हो सकता है, किन्तु फिर भी पीछे अवस्थित भगवान् का स्पर्श ही, वह चाहे कोई भी दैविक, आसुरिक या यहांतक कि राक्षसिक रूप क्यों न धारण करे, प्रकृति का परिचालन करता है तथा अपने महत्तर उद्देश्य के लिये उसका प्रयोग करता है।

सत्ता की शक्ति यदि और भी अधिक विकसित हो जाये तो वह इस

आध्यात्मिक उपस्थिति के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित कर देगी और तब ऐसा दिखायी देगा कि यह उपस्थिति एक निर्व्यक्तिक, स्वयं-सत् एवं स्वतः-समर्थ सत्ता है, एक विशुद्ध आत्म-शक्ति है जो मनःशक्ति, प्राण-शक्ति तथा बुद्धि-शक्ति से भिन्न है, पर उन्हें प्रेरित करती है और उनकी क्रिया-प्रणाली, उनके गुण तथा प्रकृति-वैशिष्ट्य का कुछ अंश में अनुसरण करती हुई भी, एक आरम्भिक त्रिगुणातीतता, निर्व्यक्तिकता तथा शुद्ध आत्माग्नि की छाप उनपर लगा देती है। इस प्रकार, हमें यह प्रत्यक्ष अनुभव होगा कि यह उपस्थिति कोई ऐसी सत्ता है जो हमारी सामान्य प्रकृति के गुणों से परे है। जब हमारे अन्दर का आत्मा मुक्त हो जाता है तो इस आत्मशक्ति के पीछे जो कुछ विद्यमान था वह अपनी समस्त ज्योति, सुषमा और महिमा के साथ प्रकट हो उठता है, अर्थात् जो परम आत्मा किंवा भगवान् अपने विराट् अस्तित्व, मन, कर्म और जीवन में मनुष्य की प्रकृति और आत्मा को अपना आधार एवं जीवन्त प्रतिनिधि बनाता है वह आविर्भूत हो जाता है।

भगवान् अर्थात् प्रकृति में अभिव्यक्त आत्मा अनन्त गुणों के महासिन्धु के रूप में लीला करता दिखायी देता है। परन्तु कार्यवाहिका या यान्त्रिक प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से निर्मित है और अनन्त-गुणमय भगवान् अर्थात् उनके अनन्त गुणों की आध्यात्मिक क्रीड़ा इस यान्त्रिक प्रकृति में अपने स्वरूप को इन तीन गुणों के विशिष्ट रूप में परिवर्तित कर देती है। मनुष्य की उपर्युक्त आत्मशक्ति में यह प्रकृतिगत भगवान् चार प्रकार की कार्यक्षम शक्ति, **चतुर्व्यूह** के रूप में अपने-आपको प्रकट करते हैं। वे चार शक्तियां ये हैं—ज्ञान-शक्ति, पौरुष-शक्ति (क्षात्र-शक्ति), पारस्परिकता और सक्रिय एवं उत्पादन-व्यवसायगत सम्बन्ध और आदान-प्रदान की शक्ति (वैश्य-शक्ति) और कार्य-कलाप, श्रम एवं सेवा की शक्ति (शूद्र-शक्ति)। भगवान् की उपस्थिति समस्त मानवजीवन को इन चार शक्तियों की ग्रन्थि तथा बाह्याभ्यन्तर क्रिया के रूप में ढाल देती है। भारत के प्राचीन मनीषी सक्रिय मानव-व्यक्तित्व और प्रकृति के इस चतुर्विध विभेद से अभिज्ञ थे। अतएव उन्होंने इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-रूपी चार वर्णों की सृष्टि की थी। इन वर्णोंमें से प्रत्येक की अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति, उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा तथा अपना नैतिक आदर्श होता था, समाज में प्रत्येक का नियत कर्तव्य तथा आत्मा की विकास-शृंखला में अपना विशेष स्थान होता था। जब हम अपनी प्रकृति के सूक्ष्मतर सत्यों को अत्यधिक बाह्य और यान्त्रिक रूप देते हैं तो वे सदा ही एक कठिन और कठोर पद्धति का रूप धारण कर लेते हैं, इस नियम के अनुसार वर्ण-व्यवस्था भी एक ऐसी कठोर एवं रूढ़ पद्धति बन गयी जो मनुष्य की विकसित होती हुई सूक्ष्मतर आत्मा की स्वतन्त्रता, विविधता और जटिलता के साथ असंगत थी। तथापि इस व्यवस्था के पीछे एक सत्य अवश्य विद्यमान है जो हमारी प्रकृति-शक्ति की पूर्णता की साधना में बहुत कुछ महत्त्व रखता है; परन्तु इसपर

विचार करते हुए हमें इसके आन्तरिक पक्षों को ही ग्रहण करना होगा, वे पक्ष हैं—प्रथम तो व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव एवं विशिष्ट आत्म-स्वरूप, उसके बाद वह आत्मशक्ति जो उनके पीछे स्थित है तथा ये सब रूप धारण करती है, और अन्त में उस मुक्त आध्यात्मिक शक्ति की लीला जिसमें वे समस्त गुणों से परे अपनी सर्वोच्च अवस्था और एकता को प्राप्त कर लेते हैं। कारण, यह असंस्कृत बाह्य धारणा कि मनुष्य जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के रूप में और एकमात्र इसी रूप में पैदा होता है, हमारी सत्ता का मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि हमारे अन्दर परम आत्मा की तथा उसकी कार्यवाहिका शक्ति की ये चार सक्रिय शक्तियां और प्रवृत्तियां हैं और हमारे व्यक्तित्व के अपेक्षाकृत सुगठित भाग में इनमें से किसी एक या दूसरे की प्रधानता के कारण ही हमें हमारी मुख्य प्रवृत्तियां, प्रभुत्वपूर्ण गुण और क्षमताएं कर्म और जीवन की प्रभावशाली दिशा प्राप्त होती हैं। परन्तु ये न्यूनाधिक मात्रा में सभी मनुष्यों में विद्यमान हैं, कहीं प्रकट हैं तो कहीं प्रच्छन्न, यहां विकसित हैं तो वहां दमित एवं अवसन्न, या वशीभूत। सिद्ध पुरुष में ये एक ऐसी पूर्णता एवं समस्वरता में उन्नीत हो जायेंगी जो आध्यात्मिक मुक्ति की अवस्था में आत्मा के अनन्त गुणों की मुक्त लीला के रूप में फूट पड़ेंगी। वह लीला आन्तर और बाह्य जीवन में तथा अपनी और जगत् की प्रकृति-शक्ति के साथ पुरुष की आत्मरतिपूर्ण एवं सर्जनशील रासक्रीड़ा में प्रकट होगी।

इन चार शक्तियों का अत्यन्त बाह्य मनोवैज्ञानिक रूप है—कुछ-एक प्रबल प्रवृत्तियों, क्षमताओं एवं विशेषताओं की ओर तथा सक्रिय शक्ति के रूप, मन और अन्तर्जीवन के गुण, एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व या विशिष्ट रूप की ओर प्रकृति का झुकाव या उसका तदनुकूल गठन। बहुधा ही प्रकृति का झुकाव बौद्धिक तत्त्व की प्रधानता, ज्ञान की खोज और प्राप्ति में सहायक क्षमताओं, बौद्धिक सृजन या रचनाशीलता, विचारों में निमग्नता, विचारों के या जीवन के अध्ययन तथा चिन्तनात्मक बुद्धि के ज्ञानसंग्रह एवं विकास की ओर होता है। विकास के स्तर के अनुसार प्रथम तो सक्रिय, उन्मुक्त एवं जिज्ञासाशील बुद्धिवाले मनुष्य, उसके बाद बुद्धिप्रधान मनुष्य और अन्त में विचारक, ज्ञानी एवं महान् मनीषी का स्वरूप एवं स्वभाव निर्मित होता है। इस स्वभाव, व्यक्तित्व, और विशिष्ट आत्मस्वरूप के प्रचुर विकास के द्वारा जो आत्मिक शक्तियां प्रादुर्भूत होती हैं वे ये हैं—एक ऐसा ज्योतिर्मय मन जो समस्त विचारों तथा ज्ञान की ओर और सत्य के अन्तःप्रवाहों की ओर उत्तरोत्तर खुलता जाता है; ज्ञान के लिये क्षुधा एवं उत्कट अभिलाषा, अर्थात् अपने अन्दर उसके विकास के लिये, दूसरोंतक उसे पहुंचाने के लिये तथा जगत् में उसके शासन के लिये अर्थात् बुद्धि, सत्य, ऋत और न्याय के शासन के लिये तथा, हमारी महत्तर सत्ता के सामञ्जस्य के उच्चतर स्तर पर, आत्मा एवं उसके वैश्व

एकत्व, ज्योति और प्रेम के शासन के लिये उत्कण्ठा एवं आतुरता; मन और संकल्प में इस ज्योति की शक्ति जो सम्पूर्ण जीवन को बुद्धि और उसके सत्य एवं ऋत या आत्मा तथा आत्मिक सत्य एवं ऋत के अधीन कर देती है और निम्नतर करणों को उनके महत्तर विधान के अनुगत बना देती है; स्वभाव की एक ऐसी सन्तुलित स्थिति जो आरम्भ से ही धैर्य, स्थिर निदिध्यासन और शान्ति तथा चिन्तन एवं ध्यान की ओर मुड़ी होती है और जो संकल्प एवं आवेगों के क्षोभ को वशीभूत और शान्त करती है तथा उच्च चिन्तन एवं शुद्ध जीवन की ओर अग्रसर होती है, आत्म-शासित सात्त्विक मन की नींव डालती है और एक अधिकाधिक कोमल, उदात्त, निर्व्यक्तित्व-सम्पन्न एवं विश्वात्मभावयुक्त व्यक्तित्व में विकसित होती जाती है। यह ब्राह्मण की अर्थात् ज्ञानयज्ञ के पुरोहित की आदर्श प्रकृति एवं आत्मशक्ति है। यदि यह उसके अन्दर अपने सभी पहलुओं के साथ विद्यमान न हो तो इस विशिष्ट प्रकार की प्रकृति की अपूर्णताएं या विकृतियां हमारे देखने में आयेंगी। ये अपूर्णताएं या विकृतियां ये हैं—एक कोरी बौद्धिकता या विचारों के लिये कुतूहलता जिसमें नैतिक या अन्य प्रकार की उच्चता न हो, किसी प्रकार की बौद्धिक क्रिया पर संकुचित एकाग्रता जिसमें मन, अन्तरात्मा एवं आत्मा की एक अधिक महान् अपेक्षित विशालता न हो, अथवा अपनी बौद्धिकता में ही बन्द बुद्धिविलासी व्यक्ति का अहंकार और एकांगीपन, या जीवन पर किसी प्रकार के प्रभुत्व से रहित एक निःशक्त आदर्शवाद, अथवा बौद्धिक, धार्मिक, वैज्ञानिक या दार्शनिक मन की अपनी खास प्रकार की अपूर्णताओं एवं संकीर्णताओं में से कोई अन्य। ये ब्राह्मणत्व के मार्ग में पाये जानेवाले गत्यवरोध हैं या फिर अस्थायी एकपक्षीय एकाग्रताएं हैं, परन्तु मनुष्य में दिव्य आत्मा का पूर्णैश्वर्य एवं सत्य और ज्ञान की शक्ति ही इस धर्म या स्वभाव की पूर्णता है, पूर्ण ब्राह्मण का संसिद्ध ब्राह्मणत्व है।

दूसरी ओर, मानव-प्रकृति का झुकाव संकल्पशक्ति तथा उन क्षमताओं की प्रधानता की ओर हो सकता है जो बल, ऊर्जा, साहस, नेतृत्व, रक्षण और शासन के कार्य में, प्रत्येक प्रकार के युद्ध में विजय पाने तथा सर्जनशील और रचनात्मक कार्य करने में सहायक होती हैं, इसी प्रकार उसका झुकाव उस संकल्पशक्ति की ओर हो सकता है जो जीवन के उपकरणों पर तथा अन्य मनुष्यों के संकल्पों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करती है तथा चारों ओर की चीजों को उन आकारों में ढलने के लिये बाध्य करती है जिन्हें हमारे अन्दर स्थित आत्मशक्ति जीवन पर बलपूर्वक आरोपित करना चाहती है, अथवा जो व्यवस्था किसी समय विद्यमान है उसकी रक्षा करने या उसे नष्ट करके जगत् की प्रगति के मार्गों को साफ करने के लिये या जो कुछ आगे होनेवाला है उसे सुनिश्चित रूप देकर प्रकट करने के लिये जो कार्य करना आवश्यक है उसके अनुसार वह संकल्पशक्ति अत्यन्त प्रबल रूप से कार्य

करती है। मानव-प्रकृति में इस प्रकार की (क्षात्र) शक्ति का बल-सामर्थ्य या रूप-आकार कम या अधिक महान् हो सकता है और इसकी कोटि तथा शक्ति के अनुसार यथाक्रम एक निरा योद्धा या कर्मवीर मानव, अदम्य सक्रिय संकल्प और व्यक्तित्ववाला मनुष्य तथा शासक, विजेता, किसी विशेष कार्य का कर्णधार, नव-स्रष्टा एवं जीवन के सक्रिय निर्माण के किसी भी क्षेत्र में संस्थापक का कार्य करनेवाला मानव हमारे देखने में आते हैं। अन्तरात्मा और मन की नानाविध अपूर्णताओं से इस क्षात्र आदर्श के अनेक अपूर्ण एवं विकृत रूप पैदा होते हैं, जैसे, निरी पाशव संकल्पशक्तिवाला मनुष्य, किसी अन्य आदर्श या उच्चतर लक्ष्य के बिना कोरी शक्ति की पूजा करनेवाला, स्वार्थपरायण, दूसरों पर अपनी हुकूमत चलानेवाला व्यक्ति, आक्रामक एवं अत्याचारी राजसिक मनुष्य, बहुत ही बड़ा अहंकारी, दैत्य, असुर, राक्षस। पर इस प्रकार की क्षात्रप्रकृति अपने उच्चतर स्तरों पर जिन आत्मिक शक्तियों की ओर खुलती है वे हमारी मानव-प्रकृति की पूर्णता के लिये उतनी ही आवश्यक हैं जितनी ब्राह्मण की आत्मिक शक्तियां। उच्च कोटि की निर्भयता जिसे कोई भी भय-संकट या कठिनाई हतोत्साह नहीं कर सकती और जो मनुष्य या दैव के या प्रतिकूल देवताओं के चाहे किसी भी आक्रमण का सामना और मुकाबला करने तथा उसे सहने के लिये अपनी शक्ति को उसके समकक्ष अनुभव करती है, क्रियाशील दुःसाहसिकता एवं साहसपूर्ण पराक्रम जो किसी भी दुःसाहसिक अभियान या महोद्योग को असामर्थ्यजनक दुर्बलता एवं भय से मुक्त मानव-आत्मा की शक्तियों से परे न समझकर उससे कतराता नहीं, यश से प्रेम जो मनुष्य की परम उदात्तता के उच्च शिखरों को नाप सकता है और किसी भी क्षुद्र, निकृष्ट, नीच या दुर्बल वस्तु के आगे नहीं झुक सकता, बल्कि उच्च साहस, शूरवीरता, सत्य, सरलता, उच्चतर आत्मा पर निम्नतर 'स्व' की बलि, मनुष्यों की सहायता, अन्याय और अत्याचार का अडिग प्रतिरोध, आत्मसंयम और प्रभुत्व, महान् नेतृत्व, जीवनयात्रा और रणक्षेत्र के योद्धा और नायक का कर्म—इन सबके आदर्श को अकलंकित रूप में सुरक्षित रखता है, अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य में तथा अपने चरित्र और साहस में उच्च कोटि का आत्मविश्वास जो कर्मवीर मनुष्य के लिये एक अनिवार्य गुण है,—ये ही तत्त्व क्षत्रिय की प्रकृति का निर्माण करते हैं। इन्हें इनकी पराकाष्ठा तक पहुंचाना तथा एक प्रकार की दिव्य समृद्धता, पवित्रता और महिमा प्रदान करना ही उन व्यक्तियों की पूर्णता है जिनका **स्वभाव** उक्त प्रकार का होता है तथा जो उक्त **धर्म** का अनुसरण करते हैं।

प्रकृति का तीसरे प्रकार का झुकाव वह है जो हमारे सामने व्यावहारिक व्यवस्थाशील बुद्धि का तथा प्राण की एक विशिष्ट सहजप्रवृत्ति का उभरा हुआ चित्र प्रस्तुत करता है। वह प्रवृत्ति है वस्तुओं का उत्पादन और आदान-प्रदान करने की, उनकी प्राप्ति और उपभोग करने, उनकी नयी युक्ति ढूंढ़ निकालने, उन्हें व्यवस्थित

और सन्तुलित करने, अपना व्यय और उपार्जन करने एवं देने और लेने की तथा जीवन के सक्रिय सम्बन्धों को उत्तम-से-उत्तम लाभ के रूप में परिणत करने की प्रवृत्ति। यह व्यावहारिक बुद्धि ही वह शक्ति है जो अपनी बाह्य क्रिया में निपुण एवं आविष्कारक बुद्धि, वैधानिक, व्यावसायिक, व्यापारिक, औद्योगिक, आर्थिक, व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक, यान्त्रिक, प्राविधिक और उपयोगितावादी मन के रूप में प्रकट होती है। जब किसी मनुष्य में इस प्रकार की प्रकृति अपनी पूर्णता के साधारण स्तर पर होती है तो इसके संग उसके स्वभाव में, सामान्यतः, अर्थ-लोलुपता के साथ-साथ उदारता भी पायी जाती है, वह स्वभाव से ही उपार्जन और संचय करने तथा उपभोग, प्रदर्शन और उपयोग करने में प्रवृत्त होता है, जगत् या इसकी परिस्थितियों को अपने कार्य के लिये दक्षतापूर्वक उपयोग में लाने पर तुला होता है, किन्तु क्रियात्मक परोपकार, दया तथा व्यवस्थित दान-कार्य करने में भी भली-भांति समर्थ होता है, नियमतः ही व्यवस्था और नैतिकता से सम्पन्न होता है पर सूक्ष्मतर नैतिक भावना का कोई उच्च उत्कर्ष उसमें नहीं होता, उसका मन मध्यम स्तर का होता है जो, न तो शिखरों की ओर उड़ान के लिये जोर मारता है और न इतना महान् ही होता है कि जीवन के वर्तमान सांचों को तोड़कर अन्य श्रेष्ठ सांचों की सृष्टि कर ले, पर वह क्षमता, अनुकूलनशीलता तथा संयम-मर्यादा-रूपी विशेष लक्षणों से युक्त होता है। इस वैश्य-प्रकृति की शक्तियां, सीमाएं और विकृतियां एक बहुत बड़े परिमाण में हमें ज्ञात हैं, क्योंकि ठीक इसी भावना ने हमारी आधुनिक व्यापारिक एवं औद्योगिक सभ्यता का निर्माण किया है। परन्तु, यदि हम इसके महत्तर आन्तरिक सामर्थ्यों तथा आत्मिक मूल्यों पर दृष्टिपात करें तो हमें पता चलेगा कि इसमें भी ऐसे तत्त्व हैं जो मानव-पूर्णता की सर्वांगीणता में स्थान पाते हैं। जो शक्ति हमारे वर्तमान निम्नतर स्तरों पर अपने-आपको इस प्रकार बाह्य रूप में प्रकट करती है वह ऐसी है कि जीवन के महान् उपयोगी कार्यों में भी अपने-आपको झोंक सकती है और, अपने मुक्ततम तथा विशालतम रूप में, वह यद्यपि उस एकत्व एवं तादात्म्य में तो सहायक नहीं होती जो ज्ञान का सर्वोच्च शिखर है, और न उस प्रभुत्व एवं आध्यात्मिक राजत्व में ही सहायक होती है जो शक्ति की पराकाष्ठा है, फिर भी एक ऐसी चीज की प्राप्ति में अवश्य सहायक होती है जो जीवन की समग्रता के लिये अन्य चीजों की भांति ही अनिवार्य है, वह चीज है साम्यपूर्ण पारस्परिक आदान-प्रदान और आत्मा का आत्मा के साथ तथा प्राण का प्राण के साथ लेन-देन। इस वैश्य-प्रकृति की शक्तियां ये हैं—सर्वप्रथम, कौशल जो नियम-विधान का निर्माण करता तथा पालन करता है, सम्बन्धों के उपयोगों और सीमा-बन्धनों को जानता है, अपने-आपको सुनिश्चित एवं विकसनशील गतियों के अनुकूल बनाता है, वस्तुओं का उत्पादन करता है तथा सृजन, कर्म और जीवन के बाह्य शिल्प-विधान को पूर्ण बनाता है, धन-प्राप्ति की सुनिश्चित आशा प्रदान करता

है और फिर प्राप्ति से विकास की ओर बढ़ता है, व्यवस्था के सम्बन्ध में सतर्क तथा प्रगति करने के विषय में सावधान रहता है और जीवन के समस्त उपकरणों तथा साधनों एवं लक्ष्यों का अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है; कौशल के बाद दूसरे नम्बर पर उसमें अपनी सम्पदा का व्यय करने की शक्ति होती है जो उड़ाऊपन तथा मितव्ययता दोनों में कुशल होती है, जो पारस्परिक आदान-प्रदान के महान् नियम को स्वीकार करती है और बदले में बहुत बड़ी मात्रा में लुटाने के लिये ही संग्रह करती है तथा इस प्रकार आदान-प्रदान के प्रवाह एवं जीवन की फलवत्ता में वृद्धि करती है; इसके बाद दान की तथा प्रचुर सर्जनशील उदारता की शक्ति, परस्पर सहायता करने की एवं दूसरों के लिये उपयोगी बनने की वृत्ति जो एक उन्मुक्त आत्मा में निष्पक्ष परोपकार, मानवहित तथा क्रियात्मक ढंग के परार्थ का मूल स्रोत बनती है; अन्त में, उपभोग की शक्ति तथा उत्पादनशील, संग्रहपरायण और क्रियाशील समृद्धि जो जीवन के उर्वर आनन्द का विलासिता के साथ भोग करती है। पारस्परिक विनिमय की विशालता, जीवन के सम्बन्धों की उदार पूर्णता, मुक्तहस्त व्यय और पुनः-उपार्जन तथा जीवन-जीवन के बीच प्रचुर आदान-प्रदान, फलशाली और उत्पादनशील जीवन के लयताल और सन्तुलन का पूर्ण उपभोग एवं उपयोग—ये सब उन लोगों की पूर्णता के तत्त्व हैं जिनमें उक्त प्रकार का स्वभाव होता है तथा जो उक्त धर्म का अनुसरण करते हैं।

मानव-प्रकृति की एक अन्य प्रवृत्ति कार्य तथा सेवा की ओर होती है। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में यह शूद्र का धर्म या विशिष्ट आत्मिक रूप थी और उस व्यवस्था में शूद्र को 'द्विज' वर्णों में से किसी के अन्तर्गत नहीं बल्कि निम्न श्रेणी का माना जाता था। जीवन के मूल्यों के एक अधिक आधुनिक विवेचन में श्रम की महत्ता एवं प्रतिष्ठा पर बल दिया गया है और श्रमिक के घोर परिश्रम को मानव-मानव के सम्बन्धों की दृढ़ आधारशिला के रूप में देखा गया है। इन दोनों मनोवृत्तियों में कुछ सत्य है। कारण, जड़ जगत् में शूद्र की जो यह श्रम-शक्ति देखने में आती है वह अपनी अनिवार्यता की दृष्टि से स्थूल जीवन का आधार है या, सच पूछो तो, वह एक ऐसी वस्तु है जिसके सहारे स्थूल जीवन गति करता है, प्राचीन उपमा की भाषा में कहें तो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का पादयुगल है, और इसके साथ-साथ अपनी उस आदिम अवस्था में, जो ज्ञान और आदान-प्रदान या शक्ति-सामर्थ्य के द्वारा उन्नीत नहीं होती, वह एक ऐसी वस्तु भी होती है जो अन्धप्रेरणा, कामना और जड़ता पर आधार रखती है। शूद्र की सुविकसित प्रकृति में घोर परिश्रम करने की सहज-प्रेरणा एवं श्रम और सेवा की शक्ति होती है; परन्तु सरल या स्वाभाविक कार्य के विरुद्ध श्रम का कार्य प्रकृत मनुष्य पर एक ऊपर से लादा गया कार्य होता है जिसे वह इसलिये सहन करता है कि उसके बिना वह न तो अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकता है और न अपनी कामनाओं की ही पूर्ति कर सकता है और,

क्योंकि वह कर्म के रूप में अपनी शक्ति का व्यय करने के लिये स्वयमेव या दूसरों या परिस्थितियों के द्वारा बाध्य होता है। जो मनुष्य स्वभाव से ही शूद्र होता है वह श्रम की महत्ता की भावना से या सेवा के उत्साह के वश कार्य करता हो ऐसी बात नहीं,—यद्यपि अपने धर्म के विकास के द्वारा उसके अन्दर यह भावना एवं उत्साह भी आ जाता है,—वह ज्ञानी मनुष्य की तरह ज्ञान के आनन्द या प्राप्ति के लिये अथवा क्षत्रिय की तरह अपनी मान-प्रतिष्ठा की भावना से भी कार्य नहीं करता, न ही वह जन्मजात शिल्पी या कलाकार की भांति अपने कर्म से प्रेम होने या उसकी शिल्प-प्रणाली की सुन्दरता के लिये उत्साह होने के कारण अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान या विशाल उपयोगिता की व्यवस्थित भावना के कारण कार्य करता है, वह तो अपने जीवन की रक्षा तथा अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही कार्य करता है, और जब ये आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं तब यदि उसे अपनी इच्छा पर छोड़ दिया जाये तो वह अपने स्वभावगत आलस्य का जी भरकर मजा लेता है, ऐसे आलस्य का जो हम सबके अन्दर विद्यमान तमोगुण का एक सर्वसामान्य अंग है पर एक असभ्य आदिम मनुष्य में, जो कर्म करने के लिये बाध्य न हो, अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट हो उठता है। अतएव असंस्कृत शूद्र स्वतन्त्र श्रम की अपेक्षा कहीं अधिक सेवा के लिये जन्मा होता है और उसका स्वभाव जड़ अज्ञानता, अन्यप्रेरणाओं में स्थूल विचारहीन ग्रस्तता, दासता, विवेकरहित आज्ञाकारिता एवं कर्तव्य का यन्त्रवत् पालन जिसमें आलस्य, टालमटोल तथा आकस्मिक आवेगात्मक विद्रोह के द्वारा हेरफेर होता रहता है, अन्यप्रेरणामय और अशिक्षित जीवन—इन सबकी ओर झुका होता है। प्राचीन ज्ञानियों का मत यह था कि सभी मनुष्य अपनी निम्नतर प्रकृति में शूद्रों के रूप में उत्पन्न होते हैं और नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कार के द्वारा ही द्विज (संस्कृत) बनते हैं, पर अपनी उच्चतम आन्तरिक सत्ता में सभी ब्राह्मण होते हैं जो पूर्ण आत्म-स्वरूप एवं देवत्व प्राप्त कर सकते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो शायद हमारी प्रकृति के मनोवैज्ञानिक सत्य से दूर नहीं है।

तथापि जब अन्तरात्मा विकसित होती है तो कार्य और सेवा-रूपी इस स्वभाव और धर्म में ही हमारी महत्तम पूर्णता के कुछ-एक अत्यन्त आवश्यक एवं सुन्दर तत्त्व देखने में आते हैं; इसके साथ ही उच्चतम आध्यात्मिक विकास के रहस्य के अधिकांश की कुंजी भी इसीमें पायी जाती है। कारण, आत्मा की जो शक्तियां हमारे अन्दर की इस सामर्थ्य (शूद्र-प्रकृति) के पूर्ण विकास से सम्बन्ध रखती हैं वे अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। वे (शक्तियां) इस प्रकार हैं—दूसरों की सेवा करने की शक्ति, अपने जीवन को ईश्वर और मनुष्य के काम और उपयोग की वस्तु बनाने और हर प्रकार के महान् प्रभाव एवं आवश्यक अनुशासन को स्वीकार करके उनका पालन एवं अनुसरण करने का संकल्प, एक ऐसा प्रेम जो अपनी सेवा को समर्पित

करता है, पर बदले में किसी भी चीज की मांग नहीं करता, बल्कि जिससे हम प्रेम करते हैं उसकी तुष्टि के लिये अपने को खपा देता है, इस प्रेम और सेवा को भौतिक क्षेत्र में उतार लाने की शक्ति और अपना शरीर एवं प्राण तथा अपनी अन्तरात्मा, अपना मन, संकल्प और शक्ति-सामर्थ्य ईश्वर और मनुष्य की सेवा के लिये सौंप देने की कामना और, परिणामतः, पूर्ण आत्मसमर्पण की शक्ति जो आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में प्रयुक्त की जाने पर मुक्ति और पूर्णता की महान्-से-महान् तथा अत्यन्त रहस्य-प्रकाशक कुंजियों में स्थान पाती है। इस शूद्र-धर्म की पूर्णता एवं इस शूद्र-स्वभाव की महानता इन्हीं तत्त्वों में निहित है। यदि मनुष्य के अन्दर प्रकृति का यह तत्त्व अपनी दिव्य शक्तितक उन्नीत होने के लिये विद्यमान न होता तो वह पूर्ण और सर्वांगसम्पन्न न बन सकता।

व्यक्तित्व के इन चार भेदों में से कोई भी यदि अन्य गुणों का कुछ अंश अपने अन्दर नहीं लाता तो वह अपने क्षेत्र में भी पूर्ण नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, यदि ज्ञानी मनुष्य में बौद्धिक और नैतिक साहस, संकल्प एवं निर्भयता, तथा नये राज्यों का द्वार खोलने एवं उन्हें जीतने की सामर्थ्य न हो तो वह स्वतन्त्रता और पूर्णता के साथ सत्य की सेवा नहीं कर सकता; उक्त गुणों के अभाव में वह सीमित बुद्धि का दास बन जाता है अथवा एक निरे स्थापित ज्ञान का सेवक या, अधिक-से-अधिक, उसका एक कर्मकाण्डीय पुरोहित बनकर रह जाता है,[1]—अपने ज्ञान को सर्वोत्तम लाभ के लिये प्रयोग में नहीं ला सकता जबतक कि उसके सत्यों को जीवन के व्यवहारार्थ क्रियान्वित करने के लिये उसके अन्दर अनुकूलनशील कौशल न हो, अन्यथा वह केवल विचार में ही निवास करता रहता है,—अपने ज्ञान को पूर्णतया समर्पित नहीं कर सकता जबतक कि मानवजाति के प्रति, मनुष्य में अवस्थित भगवान् तथा अपनी सत्ता के स्वामी के प्रति सेवा की भावना उसके अन्दर न हो। इसी प्रकार शक्तिप्रधान मनुष्य (क्षत्रिय) को चाहिये कि वह अपने शक्ति-सामर्थ्य को ज्ञान के द्वारा, बुद्धि या धर्म या आत्मा के प्रकाश के द्वारा आलोकित, उन्नत और शासित करे, अन्यथा वह कोरा शक्तिशाली असुर बन जायेगा,—उसके अन्दर वह कौशल होना चाहिये जो उसे अपनी शक्ति को प्रयुक्त, परिचालित एवं नियमबद्ध करने एवं सर्जनशील और फलप्रद रूप देने में तथा दूसरों के साथ उसके सम्बन्धों के लिये उपयुक्त बनाने में सर्वोत्तम सहायता करे, अन्यथा वह जीवन के क्षेत्र के आरपार सांय-सांय चलनेवाली शक्ति की एक प्रचण्ड आंधीमात्र बन जाती है, एक ऐसे तूफान का रूप ले लेती है जो प्रबल वेग से आता है और रचना करने की अपेक्षा कहीं अधिक विनाश करके चला जाता

[1] सम्भवतः यही कारण है कि सर्वप्रथम एक क्षत्रिय ने ही अपने साहस और निर्भयता को तथा विजय की भावना को बोधिमूलक ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभव के क्षेत्रों में लाकर वेदान्त के महान् सत्यों का आविष्कार किया।

है,—साथ ही क्षत्रिय में आज्ञापालन करने की सामर्थ्य भी होनी चाहिये और उसे अपनी शक्ति का प्रयोग ईश्वर और जगत् की सेवा के लिये करना चाहिये, अन्यथा वह स्वार्थी एवं स्वेच्छाचारी शासक, अत्याचारी तथा मनुष्यों की आत्माओं और शरीरों का क्रूर नियन्त्रक बन जायेगा। उत्पादन-सम्बन्धी मनोवृत्ति और कार्यप्रवृत्ति रखनेवाले मनुष्य में खुला और जिज्ञासाशील मन, विचार-समूह और ज्ञान होना चाहिये, अन्यथा वह विस्तारशील विकास के बिना अपने दैनिक कार्य-व्यापार के सीमित घेरे में ही विचरण करता रहेगा, उसमें साहस और बड़े कार्य का बीड़ा उठाने की वृत्ति भी होनी चाहिये, अपने उपार्जन और उत्पादन के कार्य में सेवा की भावना लानी चाहिये, ताकि वह केवल उपार्जन ही न करे, बल्कि दान भी कर सके, केवल बटोर करके अपने जीवन के सुखों का ही उपभोग न करे, अपितु अपने चारों ओर के जीवन की, जिससे वह लाभ उठाता है, फलशालिता और पूर्ण समृद्धता में सचेतन रूप से सहायता पहुंचाये। इसी प्रकार यदि श्रम और सेवा करनेवाला मनुष्य (शूद्र) अपने कार्य में ज्ञान, सम्मान-भावना, अभीप्सा और दक्षता न लाये तो वह एक असहाय श्रमिक एवं समाज का दास बन जायेगा, क्योंकि उक्त गुणों को अपने अन्दर लाकर ही वह ऊर्ध्वोन्मुख मन और संकल्पशक्ति तथा सद्भावनापूर्ण उपयोगिता के द्वारा उच्चतर वर्णों के धर्मों की ओर उठ सकता है। परन्तु मनुष्य की महत्तर पूर्णता तभी साधित होती है जब वह अपने-आपको विशाल बनाकर इन चारों शक्तियों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है और अपनी प्रकृति को चतुर्विध आत्मा की सर्वतोमुखी पूर्णता एवं विराट् शक्ति-सामर्थ्य की ओर अधिकाधिक खोलता जाता है, यद्यपि इन चारों में से कोई एक अन्यों का नेतृत्व भी कर सकती है। मनुष्य इन धर्मों में से किसी एक की एकांगी प्रकृति के रूप में गढ़ा हुआ नहीं है, बल्कि आरम्भ में उसके अन्दर ये सभी शक्तियां अनगढ़ एवं अव्यवस्थित रूप में कार्य कर रही होती हैं, पर उत्तरोत्तर जन्मों में वह किसी एक या दूसरी शक्ति को ही रूप प्रदान करता है, एक ही जीवन में किसी एक से दूसरी की ओर प्रगति करके अपनी आभ्यन्तरिक सत्ता के समग्र विकास की ओर बढ़ता जाता है। स्वयं हमारा जीवन सत्य और ज्ञान की खोज-रूप है और इसके साथ ही यह हमारी संकल्पशक्ति का हमारे अपने साथ तथा चारों ओर की शक्तियों के साथ संघर्ष एवं युद्ध है, सतत उत्पादन एवं अनुकूलन है तथा जीवन की सामग्री पर कौशल का प्रयोग है और है एक यज्ञ एवं सेवा।

जब अन्तरात्मा प्रकृति में अपनी शक्ति को कार्यान्वित कर रही होती है तो ये चारों धर्म उसके साधारण रूप होते हैं, परन्तु जब हम अपनी अन्तरात्मा के अधिक निकट पहुंचते हैं तब हमें एक ऐसी सत्ता की झांकी एवं अनुभूति भी प्राप्त होती है जो इन सब रूपों में तिरोहित थी तथा जो अपने-आपको इनमें से मुक्त करके एवं पीछे की ओर स्थित होकर इन्हें प्रेरित कर सकती है, मानो वह एक सार्वभौम

उपस्थिति या शक्ति हो जो इस सजीव और चिन्तनशील मशीन की एक विशेष क्रिया पर प्रभाव डालने के लिये व्यक्त की जाती है। यह स्वयं आत्मा की ही शक्ति है जो अपनी प्रकृति की शक्तियों पर अधिष्ठातृत्व करती हुई उन्हें अपने-आपसे परिप्लुत करती है। भेद इतना ही है कि पहले प्रकार की शक्ति (प्रकृतिगत शक्ति) पर वैयक्तिकता की छाप है, उसका कार्य और क्षेत्र सीमित एवं निर्धारित हैं, वह करणों पर निर्भर करती है, पर यहां (आत्मा की शक्ति में) एक ऐसी सद्वस्तु प्रकट हो जाती है जो वैयक्तिक रूप में भी निर्व्यक्तिक है, करणों का प्रयोग करती हुई भी स्वतन्त्र और स्वतः-पर्याप्त होती है, अपने-आप तथा पदार्थों दोनों का निर्धारण करती हुई भी स्वयं अनिर्धार्य है; वह एक ऐसी सद्वस्तु है जो जगत् पर कहीं अधिक महान् शक्ति के साथ क्रिया करती है और किसी विशेष शक्ति का प्रयोग मनुष्य एवं परिस्थिति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने तथा उनपर अपना प्रभाव उत्पन्न करने के एक साधन के रूप में ही करती है। आत्मसिद्धि-योग इस आत्मशक्ति को प्रकट कर देता है और इसे इसका विस्तृततम क्षेत्र प्रदान करता है, चारों प्रकार की शक्तियों को हाथ में लेकर समग्र और समस्वर आध्यात्मिक क्रियाशक्ति के मुक्त क्षेत्र में झोंक देता है। आत्मा की दिव्य ज्ञान-शक्ति उस उच्च-से-उच्च शिखरतक पहुंच जाती है जिसके लिये व्यक्ति की प्रकृति आश्रयदायी आधार का काम कर सकती हो। एक ज्योतिर्मय मुक्त मन विकसित हो जाता है जो प्रत्येक प्रकार की दृष्टि, श्रुति, स्मृति, विचार, विवेक तथा चिन्तनात्मक समन्वय की ओर खुला होता है; एक मनोमय आलोकित प्राण प्राप्ति, ग्रहण और धारण के आनन्द के साथ तथा आध्यात्मिक उत्साह, संवेग या हर्षोद्रिक के साथ समस्त ज्ञान को अधिगत करता है; एक ज्योतिर्मय शक्ति, जो आत्मिक बल और प्रकाश से तथा क्रियासम्बन्धी पवित्रता से पूर्ण होती है, अपने साम्राज्य को, 'ब्रह्मतेजस्' एवं 'ब्रह्मवर्चस' को, प्रकट करती है; एक अगाध निष्ठा एवं अपरिमेय शान्ति समस्त ज्योति, गति और कर्म को मानों किसी युगों की चट्टान के, सम, अविचल और अच्युत चट्टान के आधार पर स्थापित करती है।

आत्मा की दिव्य संकल्पशक्ति एवं बल-सामर्थ्य भी इसी प्रकार की विशालता और उच्चतातक उठ जाते हैं। मुक्त आत्मा की पूर्ण शान्तनिर्भयता, एक असीम क्रियाशील साहस जिसे कोई भी संकट, सम्भावना की कोई भी सीमा एवं प्रतिरोधी शक्ति की कोई भी बाधा आत्मा के द्वारा आरोपित कर्म या अभीप्सा का अनुसरण करने से नहीं रोक सकती, आत्मा तथा संकल्पशक्ति की उच्च महानता जिसे किसी भी प्रकार की क्षुद्रता या नीचता स्पर्श नहीं कर सकती तथा जो, हर प्रकार की अस्थायी पराजय या बाधा में से, एक विशेष महान् पदक्षेप के साथ आध्यात्मिक विजय की ओर या ईश्वर-प्रदत्त कर्म की सफलता की ओर अग्रसर होती है, एक ऐसी आत्मा जो न तो कभी विषाद में ग्रस्त होती है और न कभी सत्ता में कार्य

करनेवाली शक्ति के प्रति श्रद्धा-विश्वास से विचलित ही होती है,—ये सब इस क्षात्रवृत्ति की पूर्णता के चिह्न हैं। इस पूर्णता में एक और विशाल दिव्यता भी आ जुड़ती है, वह है आत्मा की पारस्परिक आदान-प्रदान की शक्ति, करणीय कर्म में अपनी सत्ता एवं शक्ति का तथा अपनी समस्त प्रतिभा एवं सम्पदा का मुक्तहस्त व्यय जो उत्पादन, सृजन, कार्य-साधन, उपार्जन, लाभ और उपयोगी प्रतिफल के लिये जी खोलकर किया जाता है, एक ऐसा कौशल जो नियम का पालन करता है, दूसरों के साथ अपने सम्बन्ध को अनुकूल बना लेता है तथा आदर्शमान को बनाये रखता है, समस्त भूतों से अपने अन्दर ग्राह्य वस्तु का महान् आहरण करना और सभीको अपनी सत्ता एवं शक्ति का मुक्त प्रदान करना, एक दिव्य विनिमय, जीवन के पारस्परिक आनन्द का विशाल उपभोग। अन्त में इस पूर्णता में एक और दिव्यता भी आ मिलती है, वह है आत्मा की सेवा-शक्ति, एक सार्वजनीन प्रेम जो प्रतिफल की मांग किये बिना अपने को लुटा देता है, एक आलिंगन जो मनुष्य में स्थित भगवान् के शरीर को अपने प्रेम-पाश में समेट लेता है और उसकी सेवा एवं सहायता के लिये कार्य करता है, एक ऐसा आत्मोत्सर्ग जो परम प्रभु के जुए को सहने के लिये और अपने जीवन को उसकी निष्काम-सेवा तथा, उसके निर्देशानुसार, उसके सब प्राणियों की मांग और आवश्यकता की निष्काम पूर्ति का साधन बनाने के लिये तैयार रहता है, अपनी सत्ता के प्रभु के प्रति तथा इस जगत् में उसके कर्म के प्रति अपनी सम्पूर्ण सत्ता का आत्म-समर्पण। ये सब चीजें संयुक्त हो जाती हैं, एक-दूसरे की सहायता करती हैं तथा एक-दूसरे में पैठकर एक हो जाती हैं। इनकी पूर्ण एवं चरम परिणति उन सर्वाधिक महान् आत्माओं में साधित होती है जो पूर्णता प्राप्त करने में अत्यन्त सक्षम होती हैं; पर इस चतुर्विध आत्मशक्ति की एक प्रकार की विशाल अभिव्यक्ति को उपलब्ध करने के लिये पूर्णयोग के सभी साधकों को यत्न करना चाहिये और वे सभी इसे प्राप्त भी कर सकते हैं।

ये सब तो चिह्नमात्र हैं, पर इनके पीछे वह अन्तरात्मा विद्यमान है जो प्रकृति की पूर्णता में अपने-आपको इस प्रकार प्रकट करती है। यह अन्तरात्मा मुक्त मनुष्य के स्वतन्त्र आत्मा का ही प्राकट्य है। अनन्त होने के कारण उस आत्मा का अपना कोई विशेष स्वरूप नहीं है, पर वह सब प्रकार के रूपों एवं व्यक्तित्वों की लीला का धारण-भरण करता है, एक प्रकार के अनन्त, एक किन्तु फिर भी बहुगुणित व्यक्तित्व को आश्रय देता है, **निर्गुणो गुणी**, अपनी अभिव्यक्ति में अनन्त गुणों एवं व्यक्तित्वों को धारण करने में समर्थ है, **अनन्तगुण** है। जिस शक्ति का वह प्रयोग करता है वह एक परमोच्च एवं विश्वव्यापी, तथा दिव्य एवं असीम शक्ति है जो व्यक्ति के अन्दर अपने-आपको उँडेलती है और दिव्य उद्देश्य के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक उसके कार्य का निर्धारण करती है।

अध्याय १६

भागवती शक्ति

योग के इस भाग में हमें जिस अगली बात को ध्यानपूर्वक समझने की आवश्यकता है वह यह है कि आत्म-सिद्धियोग में मनुष्य की प्रगति के साथ-साथ पुरुष और प्रकृति का जो सम्बन्ध प्रकट होता है वह क्या है। जिस शक्ति को हम प्रकृति कहते हैं वह, हमारी सत्ता के आध्यात्मिक सत्य में, सत्ता, चेतना और संकल्प की शक्ति है अतएव आत्मा, अन्तरात्मा या पुरुष के आत्म-प्राकट्य एवं आत्म-सर्जन की शक्ति है। परन्तु हमारे अज्ञानगत साधारण मन को तथा उसके वस्तुओं-विषयक अनुभव को प्रकृति की शक्ति इससे भिन्न रूप में दिखायी देती है। जब हम अपने से बाहर इसकी विश्वगत क्रिया पर दृष्टिपात करते हैं, तो पहले-पहल हम इसे विश्व में विद्यमान एक ऐसी यान्त्रिक शक्ति के रूप में देखते हैं जो जड़तत्त्व पर या स्वरचित जड़ात्मक रूपों के अन्दर क्रिया करती है। जड़तत्त्व में यह प्राण की शक्तियों और प्रक्रियाओं को और प्राणमय भौतिक तत्त्व में मन की शक्तियों एवं प्रक्रियाओं को विकसित करती है। अपनी सभी क्रियाओं में यह निश्चित नियमों के द्वारा कार्य करती है और प्रत्येक प्रकार की सृष्ट वस्तु में शक्ति के विभिन्न गुणों तथा प्रक्रिया के विभिन्न नियमों को प्रकट करती है जो किसी जाति या उपजाति को उसका अपना विशेष स्वरूप प्रदान करते हैं और फिर प्रत्येक व्यष्टि-सत्ता में यह उसकी जाति के नियम को तोड़े बिना कुछ-एक छोटी-छोटी, पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषताओं एवं विभिन्नताओं का विकास करती है। प्रकृति के इस बाह्य यान्त्रिक रूप ने ही आधुनिक वैज्ञानिक मन का सारे-का-सारा ध्यान आकृष्ट कर रखा है और विश्वप्रकृति-विषयक उसके सम्पूर्ण दृष्टिकोण का निर्माण भी इसीने किया है, यहांतक कि भौतिक विज्ञान अभौतिक प्राण के सभी दृग्विषयों की व्याख्या जड़तत्त्व के नियमों द्वारा तथा मन के सभी दृग्विषयों की व्याख्या सप्राण भौतिक तत्त्व के नियम के द्वारा करने की आशा रखता है और इसके लिये प्रयास भी करता है, यद्यपि इसमें उसे बहुत ही कम मात्रा में सफलता प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण में अन्तरात्मा या आत्मा का कोई स्थान नहीं और प्रकृति को आत्मा की शक्ति नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसके अनुसार हमारी सम्पूर्ण सत्ता यान्त्रिक एवं भौतिक है तथा एक अल्पजीवी चेतना के जीवविज्ञानीय बाह्य व्यापारों की सीमा में आबद्ध है और क्योंकि मनुष्य जड़प्राकृतिक शक्ति का रचा हुआ प्राणी है तथा उसीका एक यन्त्र है, योगमूलक आध्यात्मिक आत्म-विकास एक भ्रम एवं मायामात्र या फिर मन की एक असामान्य अवस्था या आत्मसम्मोहनमात्र हो सकता है। कुछ भी हो, उसका जो यह दावा है कि हमारी सत्ता के सनातन सत्य की खोज करना

और मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक प्रकृति के सीमित सत्य से ऊपर उठकर हमारी आध्यात्मिक प्रकृति के पूर्ण सत्य को प्राप्त करना ही उसका स्वरूप है, वह सत्य नहीं हो सकता।

परन्तु जब हम अपने व्यक्तित्व को एक ओर छोड़कर केवल बाह्य यान्त्रिक प्रकृति पर ही नहीं, बल्कि मनुष्य अर्थात् मनोमय प्राणी के आन्तर आत्मपरक अनुभव पर भी दृष्टिपात करते हैं तो हमारी प्रकृति हमें एक सर्वथा भिन्न रूप में दिखायी देती है। बौद्धिक रूप से हम अपनी आभ्यन्तरिक सत्ता के विषय में भी एक कोरे यान्त्रिक दृष्टिकोण को ठीक मान सकते हैं, पर अपने कार्य-व्यवहार में हम उसके अनुसार नहीं चल सकते, न उसे अपने आत्मानुभव के प्रति सर्वथा वास्तविक ही बना सकते हैं। कारण, हम एक ऐसी 'मैं' से सचेतन हैं जो हमारी प्रकृति के साथ एकाकार नहीं प्रतीत होती, बल्कि इससे पीछे हटकर स्थित होने तथा इसका अनासक्त निरीक्षण, समालोचन एवं सर्जनशील उपयोग करने में समर्थ दिखायी देती है, साथ ही हम एक ऐसी इच्छाशक्ति से भी सचेतन हैं जिसे हम स्वभाववश एक स्वतन्त्र इच्छा समझते हैं; और चाहे यह एक भ्रम ही हो फिर भी व्यवहार में हम इस प्रकार कार्य करने को विवश होते हैं मानों हम ऐसे उत्तरदायी मनोमय प्राणी हों जो अपने कार्यों का स्वतन्त्रतापूर्वक चुनाव कर सकते हैं और अपनी प्रकृति का उपयोग या दुरुपयोग करने में तथा इसे उच्चतर या निम्नतर उद्देश्यों की ओर मोड़ने में समर्थ हैं। यहांतक दीख पड़ता है कि हम अपने चारों ओर की प्रकृति तथा अपनी वर्तमान प्रकृति दोनों के साथ संघर्ष कर रहे हैं और एक ऐसे जगत् पर, जो अपने-आपको हमपर थोप करके हमारा स्वामी बन जाता है, प्रभुत्व पाने के लिये और साथ ही आज हम जो कुछ हैं उससे अधिक कुछ बनने के लिये प्रयास कर रहे हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि अपनी सत्ता पर हमारा प्रभुत्व यदि है भी सही तो इसके केवल एक छोटे-से भाग पर ही है, हमारी शेष सारी सत्ता अवचेतन या प्रच्छन्न है तथा हमारे नियन्त्रण के परे है, हमारी इच्छाशक्ति हमारे कुछ थोड़े-से चुने हुए कार्यों में ही अपनी क्रिया करती है, हमारे अधिकतर कार्य तो यान्त्रिक प्रणाली और अभ्यास की एक प्रक्रिया-रूप ही होते हैं और जरा-सी भी उन्नति या आत्म-सुधार करने के लिये हमें अपने साथ तथा चारों ओर की परिस्थितियों के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अन्दर एक द्वैतात्मक सत्ता है, पुरुष और प्रकृति; इन दोनों में कुछ सामञ्जस्य दिखायी देता है, पर उतना ही वैषम्य भी देखने में आता है, प्रकृति पुरुष पर अपना यान्त्रिक नियन्त्रण थोपती है, उधर पुरुष प्रकृति को परिवर्तित और वशीभूत करने का यत्न करता है। अब प्रश्न यह है कि इस द्वैत का मूल स्वरूप एवं अन्तिम परिणाम क्या है।

सांख्य दर्शन का समाधान यह है कि हमारी वर्तमान सत्ता पर दो तत्त्वों का

शासन है। प्रकृति पुरुष के सम्पर्क के बिना जड़ एवं निष्क्रिय रहती है, उसके साथ संयोग होने पर ही कार्य करती है और तब भी अपने करणों एवं गुणों की बंधी-बंधायी यान्त्रिक प्रक्रिया के द्वारा ही कार्य करती है; पुरुष प्रकृति से पृथक्ता की अवस्था में निष्क्रिय और मुक्त है, किन्तु उसके साथ सम्पर्क होने तथा उसके कार्यों को अनुमति देने के कारण इस यान्त्रिक प्रक्रिया के अधीन हो जाता है, उसके अहं-बुद्धि-रूपी घेरे में निवास करता है और अपनी अनुमति को वापिस लेकर तथा अपने निजी मूल तत्त्व की ओर लौटकर ही स्वतन्त्र हो सकता है। एक और समाधान, जो हमारे अनुभव के एक विशेष अङ्ग से मेल खाता है, यह है कि हमारे अन्दर दो प्रकार की सत्ताएं हैं, एक तो है पाशव एवं स्थूल-भौतिक, या अधिक व्यापक शब्दों में कहें तो, निम्नतर एवं प्रकृतिबद्ध, दूसरी है अन्तरात्मा या आध्यात्मिक सत्ता जो मन के कारण जड़-भौतिक सत्ता या जगत्-प्रकृति के जाल में फंसी हुई है, और उसे मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है यदि वह उस जाल से छूट जाये, अर्थात् यदि अन्तरात्मा अपने निज स्तरों में किंवा 'पुरुष' या आत्मा अपनी शुद्ध सत्ता में लौट जाये। अतएव, अन्तरात्मा की पूर्णता प्रकृति के परे ही प्राप्त होगी, प्रकृति में कदापि नहीं।

परन्तु अपनी वर्तमान मानसिक चेतना से अधिक उच्च चेतना में पहुंचने पर हम देखते हैं कि यह द्वैत केवल एक बाह्य प्रतीयमान तथ्य है। सत्ता-विषयक उच्चतम एवं वास्तविक सत्य तो एकमेव आत्मा, परम पुरुष किंवा पुरुषोत्तम ही है, और जिसे हम विश्व के रूप में अनुभव करते हैं उस सबमें इस परम आत्मा की सत्ता की शक्ति ही अपने-आपको व्यक्त करती है। यह विश्व-प्रकृति कोई निर्जीव, जड़ या अचेतन यन्त्र नहीं है, बल्कि अपनी सब क्रियाओं में विश्वात्मा के द्वारा अनुप्राणित होती है। इसकी प्रक्रिया की यान्त्रिकता एक बाह्य प्रतीतिमात्र है, वास्तविक सत्य तो एक परम आत्मा ही है जो विश्वप्रकृति के अन्दर विद्यमान सभी वस्तुओं में सत्ता की अपनी शक्ति के द्वारा अपनी ही सत्ता की सृष्टि या अभिव्यक्ति कर रहा है। हमारे अन्दर विद्यमान पुरुष और प्रकृति भी एकमेव सत्ता का द्विविध रूपमात्र हैं। विश्व-शक्ति हमारे अन्दर कार्य करती है, पर अन्तरात्मा अहं-बुद्धि के द्वारा अपनी सत्ता को सीमित कर लेती है, प्रकृति की क्रियाओं के आंशिक एवं विभक्त अनुभव में निवास करती है, अपनी आत्म-अभिव्यक्ति के लिये उसकी शक्ति की केवल एक थोड़ी-सी मात्रा एवं एक निश्चित क्रिया का ही उपयोग करती है। इस शक्ति का प्रयोग करने की अपेक्षा कहीं अधिक वह इसके द्वारा शासित एवं प्रयुक्त होती दिखायी देती है, क्योंकि वह अहं-बुद्धि के साथ, जो प्रकृति के करणों का ही एक अङ्ग है, अपने को तदाकार कर लेती है और अहम्मय अनुभव में निवास करती है। वास्तव में अहं, प्रकृति-रूपी यन्त्र का ही एक अङ्ग है और अतएव उसीके द्वारा चालित होता है और अहं की इच्छा स्वतन्त्र इच्छा नहीं है और न यह ऐसी हो ही

सकती है। मुक्ति, प्रभुता और पूर्णता प्राप्त करने के लिये हमें पीछे की ओर हटकर अपने अन्तःस्थित वास्तविक पुरुष एवं अन्तरात्मा को प्राप्त करना होगा और उसके द्वारा अपनी निज की तथा विश्व की प्रकृति के साथ अपने सच्चे सम्बन्धों को भी आयत्त एवं स्थापित करना होगा।

हमारी क्रियाशील सत्ता की दृष्टि से इस तथ्य का रूप यह हुआ कि हमें अपने अहम्मय, वैयक्तिक, पृथक् एवं व्यष्टिगत संकल्प एवं शक्ति के स्थान पर विराट् और दिव्य संकल्प एवं शक्ति को प्रतिष्ठित करना होगा। यह दिव्य संकल्पशक्ति विराट् विश्व-कर्म के साथ सामञ्जस्य को दृष्टि में रखते हुए हमारे कर्म का निर्धारण करती है और पुरुषोत्तम के मूल एवं अपरोक्ष संकल्प और सर्वपरिचालक शक्ति के रूप में अपने-आपको प्रकट करती है। हम अपने अन्दर के सीमित, अज्ञ और अपूर्ण व्यक्तिगत संकल्प एवं शक्ति की निम्न क्रिया के स्थान पर भागवत शक्ति की क्रिया को प्रतिष्ठित करते हैं। वैश्व शक्ति की ओर अपने-आपको खोलना हमारे लिये सदा ही सम्भव है, क्योंकि वह हमारे चारों ओर विद्यमान है और हमारे अन्दर सदैव प्रवाहित हो रही है, वही हमारे समस्त आन्तर एवं बाह्य कर्म को धारण करती है तथा उसके लिये हमें आवश्यक सामर्थ्य देती है और सच पूछो तो किसी पृथक्तः वैयक्तिक अर्थ में हमारे पास अपनी निजी शक्ति कोई नहीं है, बल्कि हमारी शक्ति एकमेव शक्ति का एक व्यक्तिगत रूपमात्र है। दूसरी ओर, यह वैश्व शक्ति हमारे अन्दर विद्यमान है, घनीभूत रूप में उपस्थित है, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण शक्ति विश्व की भांति प्रत्येक व्यक्ति में भी विद्यमान है, और ऐसे साधन एवं प्रक्रियाएं भी हैं जिनके द्वारा हम उसकी महत्तर एवं अनन्ततः-कार्यक्षम शक्ति को जागरित कर सकते तथा उसकी विशालतर क्रियाओं की ओर उसे उन्मुक्त कर सकते हैं।

वैश्व शक्ति की सत्ता और उपस्थिति को हम उसके बल-सामर्थ्य के नाना रूपों में जान सकते हैं। इस समय हम शक्ति के केवल उसी रूप से सचेतन हैं जो हमारे अनेक-विध कार्यों को धारण करनेवाले हमारे स्थूल मन, स्नायविक सत्ता और भौतिक शरीर में गठित हुआ है। पर यदि हम योग के द्वारा अपनी सत्ता के गुप्त, गहन एवं अन्तःप्रच्छन्न भागों को यत्किञ्चित् मुक्त कर शक्ति के इस प्राथमिक रूप से एक बार परे पहुंच सकें, तो हम एक महत्तर प्राणिक शक्ति को जान जायेंगे जो शरीर को धारण करती है तथा उसमें ओतप्रोत है और जो शरीर तथा प्राण की समस्त क्रियाओं के लिये आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है, क्योंकि शारीरिक बल-सामर्थ्य इस शक्ति का ही एक परिवर्तित रूप है। साथ ही, यह प्राणशक्ति नीचे से हमारी समस्त मानसिक क्रियाओं को भी आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करके धारण करती है। यह शक्ति हम अपने अन्दर भी अनुभव करते हैं, पर इसे हम अपने चारों ओर और ऊपर भी इस रूप में अनुभव कर सकते हैं कि यह हमारे अन्दर

स्थित इसी शक्ति के साथ एकीभूत है, और इस प्रकार अनुभव करके हम अपने सामान्य करणों की क्षमता बढ़ाने के लिये अपने अन्दर एवं निम्न स्तरों में इसका आहरण कर सकते हैं या फिर अपने अन्दर प्रवाहित होने के लिये इसका आवाहन करके इसे प्राप्त कर सकते हैं। यह शक्ति का एक असीम सागर है और इसका जितना भी अंश हम अपनी सत्ता के अन्दर धारण कर सकते हैं उतने का उतना यह हमारे अन्दर उँडेल देगी। इस प्राणिक शक्ति को हम प्राण, शरीर या मन के किन्हीं भी कार्यों के लिये उससे कहीं महान् और प्रभावशाली क्षमता के साथ प्रयोग में ला सकते हैं जो शारीरिक सूत्र के द्वारा बद्ध एवं सीमित हमारे वर्तमान क्रियाकलाप में हमें हस्तगत है। इस प्राण शक्ति का उपयोग हमें उस हदतक इस सीमाबन्धन से मुक्त कर देता है जिस हदतक हम इसे देहबद्ध शक्ति के स्थान पर प्रयोग में लाने में समर्थ होते हैं। प्राण का संचालन करने के लिये इसका इस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है कि वह शरीर की किसी अवस्था या क्रिया की अधिक शक्तिशाली रूप से व्यवस्था कर सके या उसमें सुधार कर सके, रोग को हटा सके या थकान से मुक्त कर सके, साथ ही अपरिमित मात्रा में मानसिक श्रम करने एवं संकल्प या ज्ञान की लीला को उन्मुक्त करने के लिये भी इस प्राणशक्ति का उपयोग किया जा सकता है। प्राणायाम के अभ्यास प्राणिक शक्ति को मुक्त तथा नियन्त्रित करने के लिये सुपरिचित यान्त्रिक साधन हैं। वे आन्तरात्मिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों को भी, जो साधारणतः अपनी क्रिया का सुअवसर प्राप्त करने के लिये प्राणशक्ति पर निर्भर करती हैं, समुन्नत तथा मुक्त कर देते हैं। परन्तु यह कार्य मानसिक संकल्प एवं अभ्यास के द्वारा या फिर भागवत शक्ति के उच्चतर आध्यात्मिक प्रभाव की ओर अपने-आपको अधिकाधिक खोल करके भी साधित किया जा सकता है। इस प्राणशक्ति को केवल अपने प्रति ही नहीं, बल्कि दूसरे लोगों के प्रति भी किंवा पदार्थों या घटनाओं के प्रति भी, अपनी संकल्पशक्ति द्वारा निर्दिष्ट किन्हीं भी उद्देश्यों की सिद्धि के लिये, प्रभावकारी रूप से प्रेरित किया जा सकता है। इसका प्रभाव अपरिमित है, अपने-आपमें तो वह असीम ही है, किन्तु उसपर आध्यात्मिक या किसी अन्य प्रकार का जो संकल्प प्रयुक्त किया जाता है उसकी शक्ति, पवित्रता और सार्वभौमता में विद्यमान त्रुटि के द्वारा ही वह सीमित होता है; पर कितना ही महान् एवं शक्तिशाली होने पर भी वह शक्ति की एक निम्नतर रूप-रचना है, मन और शरीर के बीच की एक कड़ी है, एक करणात्मक शक्ति है। उसमें एक चेतना, किंवा आत्मा की एक उपस्थिति होती है जिसके प्रति हम सचेतन होते हैं, पर वह कर्म-सम्बन्धी प्रेरणा के भीतर आवृत होती है, उसमें ग्रस्त तथा पूर्णतः निमग्न रहती है। विराट् प्राण-शक्ति की इस क्रिया के ऊपर हम अपने कार्यों का समस्त भार नहीं छोड़ सकते; या तो हमें इसकी सहायताओं का उपयोग अपनी आलोकित व्यक्तिगत इच्छाशक्ति के द्वारा करना

होगा या फिर मार्गदर्शन के लिये इससे ऊंची किसी सत्ता का आवाहन करना होगा; क्योंकि अकेली अपने-आप यह एक महत्तर बल-सामर्थ्य के साथ तो कार्य अवश्य करेगी, किन्तु फिर भी करेगी हमारी अपूर्ण प्रकृति के अनुसार और मुख्यतया हमारी अन्तःस्थ प्राणशक्ति की प्रेरणा और आदेश-निर्देश के द्वारा, उच्चतम अध्यात्म-सत्ता के विधान के अनुसार नहीं।

जिस साधारण शक्ति के द्वारा हम प्राण-शक्ति का नियमन करते हैं वह देहाधिष्ठित मन की शक्ति है। परन्तु जब हम स्थूल मन से सर्वथा ऊपर पहुंच जाते हैं, तो हम प्राणशक्ति के ऊपर एक शुद्ध मानसिक शक्ति के प्रति भी सचेतन हो सकते हैं जो कि भागवत शक्ति का एक अपेक्षाकृत उच्च रूपायण है। वहां हम उस विराट् मानसिक चेतना का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं जो हमारे अन्दर, चारों ओर और ऊपर अर्थात् हमारी साधारण मानसिक अवस्था के स्तर के ऊपर, अवस्थित इस मानसिक शक्ति के साथ घनिष्ठतया सम्बद्ध है और जो हमारे संकल्प एवं ज्ञान को तथा हमारे आवेगों और भावावेशों में अवस्थित चैत्य तत्त्व को उनका समस्त सार और उनके सभी रूप प्रदान करती है। इस मानसिक शक्ति का प्रभाव प्राणशक्ति पर डाला जा सकता है और यह हमारे विचारों का, हमारे ज्ञान तथा अधिक प्रकाशयुक्त संकल्प का प्रभाव, रंग, रूप, स्वभाव और लक्ष्य इसपर बलात् आरोपित कर सकती है और इस प्रकार हमारे जीवन तथा प्राणमय पुरुष को हमारी सत्ता की उच्चतर शक्तियों तथा हमारे आदर्शों एवं आध्यात्मिक अभीप्साओं के साथ अधिक सफलतापूर्वक समस्वरित कर सकती है। हमारी साधारण अवस्था में ये दोनो अर्थात् मानसिक और प्राणिक सत्ता तथा शक्तियां एक-दूसरी के साथ अत्यधिक मिली हुई हैं तथा एक-दूसरी के अन्दर ओतप्रोत होकर एक हो जाती हैं, और हम इनमें स्पष्टतया भेद नहीं कर पाते, न एक का दूसरी पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करके निम्नतर तत्त्व को अधिक उच्च एवं बोधपूर्ण तत्त्व के द्वारा सफलतापूर्वक नियन्त्रित ही कर सकते हैं। पर जब हम स्थूल मन के ऊपर की भूमिका में स्थित हो जाते हैं, तब हम शक्ति के दो रूपों एवं अपनी सत्ता के दो स्तरों को स्पष्टतया पृथक् कर सकते हैं और उनकी क्रियाओं को भी एक-दूसरी से पृथक् करके एक स्पष्टतर एवं अधिक प्रभावशाली आत्मज्ञान तथा एक आलोकित एवं शुद्धतर संकल्पशक्ति के साथ कार्य कर सकते हैं। तथापि जबतक हम मन को अपनी प्रधान मार्गदर्शक एवं नियन्त्रक शक्ति बनाकर उसके द्वारा कार्य करते हैं तबतक निम्न शक्तियों पर हमारा नियन्त्रण पूर्ण, सहज-स्वाभाविक और प्रभुत्वशाली नहीं होता। (स्थूल मन के ऊपर उठकर) हम देखते हैं कि मानसिक शक्ति स्वयं एक गौण शक्ति है, चिन्मय आत्मा की एक अपेक्षाकृत निम्न एवं परिसीमक शक्ति है जो पृथक्कृत और संयुक्त प्रेक्षणों के द्वारा तथा उन त्रुटियुक्त और अपूर्ण अर्द्ध-प्रकाशों के द्वारा ही कार्य करती है जिन्हें हम पूर्ण और प्रर्याप्त प्रकाश समझते हैं,

साथ ही उसके कार्य में विचार एवं ज्ञान और कार्यक्षम संकल्पशक्ति के बीच विरोध भी पाया जाता है। तब हमें शीघ्र ही परम आत्मा और उसकी परा शक्ति की एक कहीं उच्चतर भूमिका (शक्ति) का ज्ञान हो जाता है। वह भूमिका (या शक्ति) प्रच्छन्न है या ऊपर अवस्थित है, मन के लिये अतिचेतन है या आंशिक रूप से उसके द्वारा कार्य करती है; ये सब (मन, प्राण आदि) उसकी निम्नतर एवं गौण शक्तियां हैं।

हमारी सत्ता के शेष स्तरों की भांति मानसिक स्तर पर भी पुरुष और प्रकृति एक-दूसरे के साथ प्रगाढ़ रूप से संयुक्त हैं तथा परस्पर अत्यधिक उलझे हुऐ हैं और हम अपनी अन्तरात्मा और प्रकृति में स्पष्ट रूप में भेद नहीं कर सकते। परन्तु मन के अधिक शुद्ध तत्त्व में हम इस द्विविध स्वर को अधिक सुगमता से पहचान सकते हैं। हम देख ही चुके हैं कि मनोमय पुरुष अपने सहजात मनस्तत्त्व में अपने-आपको अपनी प्रकृति की क्रियाओं से स्वभावतः ही पृथक् कर सकता है और ऐसा कर लेने पर हमारी सत्ता चेतना और शक्ति-रूपी दो भागों में विभाजित हो जाती है। उनमें से चेतना तो निरीक्षण करती और अपनी संकल्पशक्ति को सुरक्षित रख सकती है तथा शक्ति चेतना के एक ऐसे सारतत्त्व से पूर्ण होती है जो ज्ञान, संकल्प और वेदन के रूप ग्रहण करता है। प्रकृति की क्रियाओं से इस प्रकार का पार्थक्य अपनी पराकाष्ठा को पहुंचने पर अन्तरात्मा को एक विशेष स्वतन्त्रता प्रदान करता है जिससे वह अपनी मानसिक प्रकृति के द्वारा विवश किये जाने की अवस्था से मुक्त हो जाती है। कारण, साधारणतः हम अपनी तथा विश्व की क्रियाशील शक्ति की धारा के द्वारा प्रेरित होते हैं तथा उसीमें बहा ले जाये जाते हैं। कुछ अंश में तो हम उसकी लहरों में डूबते-उतराते रहते हैं और कुछ अंश में अपने अस्तित्व को धारण करने में समर्थ होते हैं तथा एकाग्र विचार के द्वारा एवं मानसिक-संकल्प-रूपी मांसपेशी के प्रयत्न के द्वारा अपना मार्गदर्शन या कम-से-कम संचालन करते प्रतीत होते हैं। परन्तु अब हमारी सत्ता में एक ऐसा भाग प्रकट हो जाता है जो आत्मा के शुद्ध सारतत्त्व के निकटतम होता है तथा उक्त शक्ति-प्रवाह से मुक्त होता है। वह अपनी तात्कालिक गति और पथधारा का शांतिपूर्वक निरीक्षण कर सकता है और कुछ हदतक उसका निर्णय भी कर सकता है तथा और भी बड़ी हदतक अपनी अन्तिम दिशा भी निर्धारित कर सकता है। अन्ततोगत्वा पुरुष प्रकृति पर उससे आधा तटस्थ होकर, उसके पीछे या ऊपर स्थित होकर शासक पुरुष या उपस्थिति—**अध्यक्ष** के रूप में, आत्मा के अन्दर स्वभावतः विद्यमान अनुमति एवं नियमन की शक्ति के द्वारा क्रिया कर सकता है।

इस सापेक्ष स्वतन्त्रता का हम क्या प्रयोग करेंगे यह बात हमारी अभीप्सा पर तथा अपने उच्चतम आत्मा, ईश्वर एवं प्रकृति के साथ हम जो सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं उसके विषय में हमारे विचार पर निर्भर करती है। स्वयं मनोमय स्तर पर भी पुरुष इसका प्रयोग अनवरत आत्म-निरीक्षण, आत्म-विकास तथा

आत्म-संशोधन के लिये कर सकता है, प्रकृति के नये रूपायणों को अनुमति देने या त्यागने के लिये अथवा उन्हें परिवर्तित या प्रकाशित करने के लिये और शान्त एवं निष्काम कर्म की, अपनी शक्ति के एक उच्च एवं विशुद्ध सात्त्विक छन्द और सन्तुलन की तथा सत्त्व गुण के चरम उत्कर्ष एवं सिद्धि को प्राप्त किये हुए व्यक्तित्व की स्थापना करने के लिये भी वह इसे प्रयोग में ला सकता है। इसका अर्थ इतना ही हो सकता है कि हमारी वर्तमान बुद्धि और नैतिक एवं चैत्य सत्ता उच्च कोटि की मानसभावापन्न पूर्णता प्राप्त कर सकती है या फिर हमारे अन्दर अवस्थित महत्तर आत्मा को जानता हुआ, पुरुष अपनी आत्म सचेतन सत्ता को तथा अपनी प्रकृति के कार्य को निर्व्यक्तिक, विश्वमय और आध्यात्मिक बना सकता है और अपनी सत्ता की अध्यात्मभावित मानसिक शक्ति की विशाल शान्ति या विराट् पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वह यह भी कर सकता है कि प्रकृति से पूर्णतया पीछे हटकर अपने अन्दर स्थित हो जाये और अनुमति देने से इन्कार करके मन की सारी-की-सारी सामान्य क्रिया को स्वयमेव समाप्त होने और दौड़-धूप करके रुक जाने दे और मन को अपनी अभ्यस्त क्रिया का बचा हुआ वेग खत्म करके शान्त पड़ जाने दे। अथवा मनोमय शक्ति की क्रिया से इन्कार करके तथा उसे शान्त रहने की अनवरत आज्ञा देकर भी वह उसपर इस शान्ति या निश्चल-नीरवता को बलपूर्वक थोप सकता है। अन्तरात्मा इस शम एवं मानसिक निश्चल-नीरवता को सुदृढ़ करके आत्मा की किसी अनिर्वचनीय परम शान्ति में एवं प्रकृति की क्रियाओं के विशाल विलोप की अवस्था में पहुंच सकती है। परन्तु मन की इस निश्चल-नीरवता को तथा निम्न प्रकृति के अभ्यासों का निरोध करने की सामर्थ्य को प्रकृति के एक उच्चतर रूपायण की, अपने अस्तित्व की अवस्था और शक्ति के एक उच्चतर स्तर की, उपलब्धि का प्रथम सोपान भी बनाया जा सकता है और इस प्रकार आरोहण एवं रूपान्तर के द्वारा आत्मा की अतिमानसिक शक्ति प्राप्त की जा सकती है। यह कार्य सामान्य मन की शान्ति की चरम अवस्था का आश्रय लिये बिना समस्त मानसिक शक्तियों और क्रियाओं का उनकी महत्तर स्वानुरूप अतिमानसिक शक्तियों और क्रियाओं में सुस्थिर और क्रमिक रूपान्तर करके भी किया जा सकता है, यद्यपि इसमें अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई होती है। कारण, मन की प्रत्येक वस्तु अतिमानस की किसी वस्तु से ही उत्पन्न होती है तथा मन के अन्दर उसका एक सीमित, निम्नतर, अन्धान्वेषी, आंशिक या विकृत रूप होती है। परन्तु इन क्रियाओं में से कोई भी हमारे अन्तःस्थ मनोमय पुरुष की अकेली व्यक्तिगत शक्ति के द्वारा, बिना और किसी की सहायता के, सफलता-पूर्वक सम्पन्न नहीं की जा सकती, बल्कि उसे पूरा करने के लिये भागवत सत्ता, ईश्वर एवं पुरुषोत्तम के साहाय्य, हस्तक्षेप और मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ती ही है। क्योंकि अतिमानस भगवान् का मन है और अतिमानसिक स्तर पर ही व्यक्ति

परमोच्च एवं विश्वगत पुरुष के साथ तथा परमोच्च एवं विश्वगत पराप्रकृति के साथ अपना समुचित, समग्र, प्रकाशमय और सर्वांगपूर्ण सम्बन्ध प्राप्त करता है।

जैसे-जैसे मन की पवित्रता तथा शान्त रहने की शक्ति बढ़ती जाती हैं या जैसे-जैसे वह अपनी सीमित क्रिया में मग्न रहने की अवस्था से मुक्त होता जाता है वैसे-वैसे उस परम आत्मा अर्थात् परात्पर और विराट् अध्यात्मसत्ता की चिन्मय उपस्थिति का अनुभव होता जाता है और वह उसे प्रतिबिम्बित करने एवं अपने भीतर लाने में या उसके अन्दर प्रवेश करने में समर्थ होता जाता है, साथ ही वह आत्मा की उन भूमिकाओं और शक्तियों से भी सचेतन होता जाता है जो उसके उच्चतम स्तरों से भी ऊंची हैं। उसे सच्चिन्मय अनन्त का, असीम चेतना की समस्त शक्ति और बल-सामर्थ्य के अनन्त सागर का एवं सत्ता के स्वयं प्रेरित आनन्द के अनन्त सागर का साक्षात्कार हो जाता है। वह इन चीजों में से किसी एक या दूसरी से सचेतन हो सकता है, क्योंकि जो चीजें उच्चतर अनुभव में एकमेव की अविभाज्य शक्तियां हैं उन्हें मन पृथक् करके ऐकांतिक रूप से विभिन्न मूल तत्त्वों की भांति अनुभव कर सकता है, अथवा वह उन्हें एक ऐसे त्रिक के रूप में या एक-दूसरे के अन्दर तीनों के एक ऐसे विलय के रूप में अनुभव कर सकता है जो उनके एकत्व को प्रकाशित या प्राप्त करता है। उसे इस एकमेव अनन्त का साक्षात्कार पुरुष के रूप में या प्रकृति के रूप में प्राप्त हो सकता है। पुरुष-पक्ष में यह अपने-आपको परम आत्मा या अध्यात्मसत्ता के, परम सत् या एकमेवाद्वितीय सत्स्वरूप पुरुष किंवा पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में प्रकट करता है, और व्यक्ति का जीवात्मा उसकी कालातीत सत्ता में या उसकी विश्वमयता में उसके साथ पूर्ण एकता प्राप्त कर सकता है, अथवा सामीप्य या अन्तर्वास का या पृथक्ता की किसी खाई से रहित भेद का रसास्वादन कर सकता है; साथ ही सक्रिय अनुभवशील प्रकृति में सत्तासम्बन्धी एकत्व तथा सम्बन्धगत आनन्ददायक भेद—दोनों का एक साथ और अविच्छेद्य रूप से उपभोग भी कर सकता है। प्रकृति-पक्ष में आत्मा की शक्ति और आनन्द इस अनन्त को विश्व के सब भूतों, व्यक्तित्वों, विचारों, रूपों और शक्तियों में प्रकट करने के लिये सामने की ओर आ जाते हैं और तब हमें उस भगवती महाशक्ति, आद्या शक्ति किंवा परा प्रकृति का साक्षात्कार होता है जो अपने अन्दर अनन्त सत्ता को धारण किये है तथा जगत् के आश्चर्यों की सृष्टि कर रही है। मन शक्ति के इस असीम महासागर से सचेतन हो जाता है अथवा वह जान जाता है कि उसके बहुत ऊपर शक्ति की उपस्थिति विद्यमान है और हम जो कुछ भी हैं उस सबका तथा हम जो भी विचार, संकल्प, कर्म, वेदन एवं अनुभव करते हैं उन सबका गठन करने के लिये वह हमारे अन्दर अपना कुछ अंश उंडेल रही है, अथवा वह जान लेता है कि वह शक्ति हमारे चारों ओर विद्यमान है और हमारा व्यक्तित्व आत्मा की शक्ति के महासागर की एक तरंग है, या फिर वह

अनुभव कर लेता है कि हमारे अन्दर उसकी उपस्थिति विद्यमान है और उसकी एक क्रिया भी हो रही है जो हमारी प्रकृतिगत सत्ता के वर्तमान रूप पर आधारित है, पर जो इस ऊर्ध्वस्थित उद्गम से उद्भूत होती है और हमें उच्चतर आध्यात्मिक भूमिका की ओर ऊपर उठा ले जा रही है। मन भी उसकी अनन्तता की ओर उठ सकता तथा उसे स्पर्श कर सकता है अथवा समाधि की मग्नावस्था में अपने-आपको उसके अन्दर निमज्जित कर सकता है या फिर उसकी विश्वमयता में अपने-आपको खो दे सकता है, और तब हमारी व्यष्टिसत्ता लुप्त हो जाती है, हमारा कर्म करने का केन्द्र तब पहले की तरह हमारे अन्दर नहीं, बल्कि वह या तो हमारी देहगत सत्ता के बाहर कहीं होता है या फिर कहीं भी नहीं होता; हमारी मानसिक चेष्टाएं तबसे हमारी अपनी नहीं रहतीं, बल्कि वे मन, प्राण और शरीर के इस ढांचे के अन्दर विराट् सत्ता से आती हैं, अपने-आपको चरितार्थ करके हमारे ऊपर अपनी कोई भी छाप छोड़े बिना चली जाती हैं, और हमारे तन-मन-प्राण का यह ढांचा भी उसकी विश्वमय बृहत्-सत्ता में एक तुच्छ घटनामात्र रह जाता है। परन्तु पूर्णयोग में हम जो सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वह केवल यही नहीं है कि हम परा प्रकृति के साथ उसकी उच्चतम आध्यात्मिक शक्ति में तथा उसकी वैश्व क्रिया में एक हो जायें, बल्कि अपनी व्यक्तिगत सत्ता और प्रकृति में इस शक्ति की पूर्णता को उपलब्ध और अधिकृत करना भी उसके अन्तर्गत है। कारण, परम आत्मा पुरुष-रूप में या प्रकृति-रूप में, अर्थात् चिन्मय सत्ता या उसकी शक्ति के रूप में एक ही है, और जैसे जीव पुरुष एवं आत्मारूपी सारतत्त्व में परम पुरुष के साथ एक है, वैसे ही प्रकृति-पक्ष में, पुरुष एवं आत्मा की शक्ति के रूप में, वह महाशक्ति के साथ एक है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता**। यह दोहरा एकत्व प्राप्त करना ही सर्वांगीण आत्मसिद्धि की शर्त है। जीव तब परम पुरुष और प्रकृति के एकत्व की लीला के लिये एक मिलनस्थल होता है।

यह सिद्धि प्राप्त करने के लिये हमें भगवती शक्ति से सचेतन होना होगा, उसे अपनी ओर खींच लाना तथा अपने अन्दर उसका आवाहन करना होगा ताकि वह हमारे सारे आधार को अपनी सत्ता से परिपूरित कर दे तथा हमारे सारे कार्यों का भार अपने हाथ में ले ले। तब कोई ऐसा पृथक् निजी संकल्प या व्यक्तिगत शक्ति नहीं रहेगी जो हमारे कार्यों का सञ्चालन करने का यत्न करती हो, न हमारे अन्दर कोई ऐसी भावना रहेगी कि तुच्छ व्यक्तिगत सत्ता ही कार्य करती है, और न ही तब तीन गुणोंवाली निम्नतर शक्ति अर्थात् मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक प्रकृति हमारे कार्यों का सञ्चालन करेगी। भागवत शक्ति हमें अपने दिव्य प्रवाह से भर देगी और हमारी सब आन्तरिक क्रियाओं, हमारे बाह्य जीवन तथा योग के ऊपर अध्यक्ष के रूप में विराजमान रहेगी और उनकी बागडोर हाथ में ले लेगी। वह मानसिक शक्ति को, अपनी ही एक निम्नतर रचना को, हाथ में लेकर उसे उसकी

बुद्धि, संकल्पशक्ति और चैत्य क्रिया की उच्चतम, शुद्धतम एवं पूर्णतम शक्तियोंतक ऊपर उठा ले जायेगी। वह मन, प्राण और देह की उन यान्त्रिक शक्तियों को, जो आज हमपर शासन करती हैं, अपनी जीवन्त और सचेतन शक्ति एवं उपस्थिति की आनन्दपूर्ण अभिव्यक्तियों में रूपान्तरित कर देगी। मन जिन भी नानाविध आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त कर सकता है उन सबको वह हमारे अन्दर प्रकट करके एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध कर देगी। इस प्रक्रिया के सर्वोच्च फल के रूप में वह मानसिक स्तरों में अतिमानसिक ज्योति उतार लायेगी, मन के उपादान को अतिमानस के उपादान में बदल डालेगी, समस्त निम्नतर शक्तियों को अपनी अतिमानसिक प्रकृति की शक्तियों में रूपान्तरित कर देगी, और हमें ऊंचे उठाकर हमारी विज्ञानमय सत्ता में ले जायेगी। वहां यह महाशक्ति अपने-आपको पुरुषोत्तम की शक्ति के रूप में हमारे सामने प्रकट करेगी और वस्तुतः ईश्वर ही अपनी अतिमानसिक और आध्यात्मिक शक्ति के रूप में अपने-आपको प्रकट करेंगे और हमारी सत्ता तथा हमारे कर्म, जीवन एवं योग के स्वामी बन जायेंगे।

अध्याय १७

भागवत शक्ति की क्रिया

भागवत शक्ति का यह स्वरूप ही है कि वह भगवान् की एक ऐसी कालातीत शक्ति है जो काल के भीतर अपने-आपको एक वैश्व शक्ति के रूप में प्रकट करती है। यह वैश्व शक्ति विश्व का सृजन, गठन तथा धारण करती है तथा उसकी समस्त गतियों और क्रियाओं का परिचालन करती है। यह पहले-पहल हमें सत्ता के निम्नतर स्तरों पर एक मानसिक, प्राणिक और भौतिक विश्व-शक्ति के रूप में दिखायी देती है और हमारी समस्त मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक क्रियाएं इसी प्रकृतिगत विश्व-शक्ति के व्यापार दीख पड़ती हैं। हमारी साधना के लिये यह आवश्यक है कि हम इस सत्य को पूर्णतया हृदयंगम करें ताकि हम सीमाकारी अहं-दृष्टि के दबाव से मुक्त हो सकें और इन निम्नतर स्तरों पर भी, जहां साधारणतः अहं पूरी शक्ति के साथ शासन करता है, अपने-आपको विश्वमय बना सकें। यह देखना कि कार्य के आरम्भकर्त्ता हम नहीं हैं बल्कि वस्तुतः यह शक्ति ही हमारे तथा अन्य सबके अन्दर कार्य करती है, कर्त्ता मैं तथा दूसरे नहीं बल्कि एका प्रकृति ही है,—जो कि कर्मयोग का नियम है,—यहां भी यथार्थ नियम है। अहंबुद्धि सीमा, पार्थक्य और तीव्र विभेद उत्पन्न करने तथा व्यक्तिगत रूप का अधिकतम लाभ उठाने के काम में आती है और यहां उसका अस्तित्व इसलिये है कि वह निम्नतर जीवन के विकास के लिये अनिवार्य है। परन्तु जब हम इसके ऊपर उच्चतर दिव्य जीवन की ओर उठना चाहेंगे तब हमें अहं की शक्ति की गांठ को ढीला करना और अन्त में उससे छुटकारा पाना होगा—जैसे निम्नतर जीवन के लिये अहं का विकास अनिवार्य है वैसे ही उच्चतर जीवन के लिये अहं के उन्मूलन की यह विपरीत गति अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यदि हम अपने कार्यों को यूं देखें कि ये हमारे अपने नहीं हैं बल्कि चेतन सत्ता के निम्नतर स्तरों पर अपरा प्रकृति के रूप में कार्य करती हुई भागवत शक्ति के हैं तो इससे उक्त परिवर्तन में बड़ी भारी सहायता प्राप्त होती है। यदि हम ऐसा कर सकें तो हमारी मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक चेतना का दूसरे मनुष्यों की ऐसी ही चेतना से पार्थक्य क्षीण होकर कम हो जाता है; निःसन्देह उसकी क्रियाओं की अपूर्णताएं अभी बनी रहती हैं, पर वे विस्तारित होकर वैश्व क्रिया की व्यापक भावना एवं दृष्टि में उन्नीत हो जाती हैं; विश्वप्रकृति के विशेषक और व्यक्तित्वजनक प्रभेद अपने विशिष्ट प्रयोजनों के लिये बने रहते हैं, पर वे अब पहले की तरह बन्धनकारक नहीं रहते। व्यक्ति समस्त भेदों के होते हुए भी अपने मन, प्राण और देहसत्ता को दूसरों के मन-प्राण-शरीर के साथ तथा प्रकृतिगत आत्मा की समग्र शक्ति के साथ एकीभूत अनुभव करता है।

परन्तु यह एक बीच की भूमिका है, समग्र पूर्णता नहीं। चाहे हमारी सत्ता अपेक्षाकृत विशाल और मुक्त हो गयी है पर वह अभी भी निम्नतर प्रकृति के अधीन है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अहं कम हो गया है पर नष्ट नहीं हुआ है; अथवा यदि वह लुप्त होता प्रतीत होता है, तो वह हमारे क्रियाशील अङ्गों में गुणों की सार्वभौम क्रिया में केवल दबभर गया है, उनके अन्दर अवगुण्ठित रूप में स्थित है और प्रच्छन्न या अवचेतन ढंग से अभी भी कार्य कर रहा है तथा किसी भी समय बलपूर्वक सामने आ सकता है। अतएव साधक को सर्वप्रथम इन सब क्रियाओं के पीछे अवस्थित एकमेव सर्वगत पुरुष या आत्मा का विचार बनाये रखना होगा तथा उसका साक्षात्कार प्राप्त करना होगा। उसे प्रकृति के पीछे एकमेव, परमोच्च और विश्वव्यापी पुरुष के प्रति सचेतन होना होगा। उसे केवल यही नहीं देखना और अनुभव करना होगा कि सब कुछ एका शक्ति या प्रकृति का आत्म-रूपायन है, बल्कि उसकी सब क्रियाएं भी सर्वगत भगवान् की, सबमें अवस्थित एकमेव देवाधिदेव की क्रियाएं हैं, चाहे वे अहंभाव और गुणों में से गुज़रकर प्रकट होने के कारण कितनी ही आवृत, परिवर्तित और मानों विकृत क्यों न हो गयी हों—क्योंकि निम्नतर रूपों में परिवर्तित होने से ही विकृति उत्पन्न होती है। यह अनुभव अहं के प्रकट या प्रच्छन्न आग्रह को और भी कम कर देगा और यदि इसे पूर्णरूपेण उपलब्ध किया जाये तो उसके परिणामस्वरूप अहं के लिये अपनी सत्ता को इतने बलपूर्वक स्थापित करना कि आगे की उन्नति में विघ्न-बाधा उपस्थित हो जाये, कठिन या असम्भव हो जायेगा। अहं-बुद्धि जहांतक अपना हस्तक्षेप करेगी भी वहांतक वह एक विजातीय आक्रमणकारी तत्त्व का रूप धारण कर लेगी और चेतना तथा उसकी क्रिया के बाहरी आंचलों के साथ लटक रहे पुराने अज्ञान की कुहेलिका का सिरामात्र रह जायेगी। और, दूसरे, वैश्व शक्ति को उसकी उच्चतर क्रिया तथा अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक कार्यावलि के शक्तिशाली पवित्र रूप में उपलब्ध करना होगा, उसका साक्षात्कार एवं अनुभव करके उसे अपने अन्दर धारण करना होगा। शक्ति का यह महत्तर साक्षात्कार हमें ऐसी सामर्थ्य प्रदान करेगा कि हम गुणों के नियन्त्रण से मुक्त हो सकेंगे, तथा उन्हें उनके दिव्य प्रतिरूपों में बदलकर एक ऐसी चेतना में निवास कर सकेंगे जिसमें पुरुष और प्रकृति एक हैं और पृथक् अथवा एक-दूसरे में या एक-दूसरे के पीछे छुपे हुए नहीं हैं। वहां शक्ति अपनी प्रत्येक गति में हमारे सामने प्रत्यक्ष होगी और सहज, स्वाभाविक तथा अदम्य रूप में यूं अनुभूत होगी कि वह भगवान् की सक्रिय उपस्थिति के सिवा किंवा परमोच्च पुरुष और आत्मा के शक्त्यात्मक स्वरूप के सिवा और कुछ नहीं है।

इस उच्चतर भूमिका में भागवत शक्ति अनन्त सत्ता, चेतना, संकल्प एवं आनन्द की उपस्थिति या गुप्त शक्ति के रूप में प्रकट होती है और जब उसका इस प्रकार

साक्षात्कार एवं अनुभव प्राप्त होता है तो व्यक्ति किसी भी प्रकार से, अपनी आराधना या अभीप्सा-रूपी संकल्प के द्वारा या महत्तर सत्ता के प्रति क्षुद्रतर सत्ता के किसी प्रकार के आकर्षण के द्वारा उसकी ओर मुड़ता है ताकि वह उसे जानकर उससे पूर्ण और अधिकृत हो सके तथा सम्पूर्ण प्रकृति के ज्ञानात्मक और क्रियाशील रूप में उसके साथ एक हो सके। परन्तु शुरू-शुरू में जब कि हम अभी मन में रहते हैं तो विभाजन की एक खाई या फिर एक दोहरी क्रिया बनी ही रहती है। हम में और विश्व में जो मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक शक्ति है वह परमोच्च शक्ति से उत्पन्न अनुभूत होती है, पर साथ ही वह एक निम्न, पृथग्भूत और, किसी अर्थ में, एक अन्य ही क्रिया जान पड़ती है। वास्तविक आध्यात्मिक शक्ति अपने सन्देशों को या हमारे ऊपर अवस्थित अपनी उपस्थिति की ज्योति और शक्ति को नीचे के स्तरों पर भेज सकती है अथवा कभी-कभी अवतरित हो सकती है और कुछ समय के लिये उन्हें अधिकृत भी कर सकती है किंतु तब वह निम्न-क्रियाओं के साथ मिल जाती है और उन्हें कुछ-कुछ रूपान्तरित करके आध्यात्मिक बना देती है, पर ऐसा करते हुए अपने-आप क्षीण और परिवर्तित हो जाती है। प्रकृति की एक उच्चतर क्रिया बीच-बीच में होती रहती है या फिर उच्च और निम्न दोनों प्रकार की क्रिया चलती रहती है। अथवा हम यह देखते हैं कि शक्ति हमारी सत्ता को कुछ समय के लिये उच्चतर आध्यात्मिक स्तरतक उठा ले जाती है और उसके बाद उसे पुनः निम्नतर स्तरों में उतार लाती है। बारी-बारी से आनेवाली इन अवस्थाओं को सामान्य सत्ता से आध्यात्मिक सत्ता में रूपान्तर की प्रक्रिया के स्वाभाविक उतार-चढ़ाव समझना चाहिये। पूर्णयोग के लिये यह रूपान्तर या सिद्धि तबतक पूर्ण नहीं हो सकती जबतक मानसिक और आध्यात्मिक क्रिया के बीच कड़ी स्थापित न हो जाये और हमारी सत्ता के समस्त कार्य-कलाप पर उच्चतर ज्ञान का प्रयोग न किया जाये। वह कड़ी है अतिमानसिक या विज्ञानमय शक्ति जिसमें परमोच्च सत्ता, चेतना और आनन्द की अनन्त, अपरिमेय शक्ति एक व्यवस्थाकारी, दिव्य संकल्प और प्रज्ञा के रूप में या सत्ता की एक ज्योति एवं शक्ति के रूप में अपने-आपको गठित करती है। यह संकल्प एवं प्रज्ञा या ज्योति एवं शक्ति हमारे समस्त चिन्तन, संकल्प, वेदन और कर्म को रूप देती है तथा चिन्तन आदि से सम्बन्ध रखनेवाली वैयक्तिक चेष्टाओं का स्थान ले लेती है।

यह अतिमानसिक शक्ति स्वयं मन के अन्दर अपने-आपको आध्यात्मीकृत अन्तर्ज्ञानात्मक ज्योति और शक्ति के रूप में गठित कर सकती है, और इसकी यह क्रिया एक महान् आध्यात्मिक क्रिया होने पर भी मन के द्वारा सीमित होती है। अथवा यह मन को पूर्णतया रूपान्तरित करके समस्त सत्ता को अतिमानसिक स्तरतक उठा सकती है। जो भी हो, योग के इस भाग के लिये पहली आवश्यक शर्त है—कर्तृत्व के अहंकार का त्याग करना, अहं-बुद्धि का तथा इस भावना का

त्याग करना कि कर्म करने, कर्म का आरम्भ तथा उसके फल का नियमन करने की शक्ति मेरे अपने ही अन्दर विद्यमान है, और अपनी अहं-बुद्धि को इस बोध और साक्षात्कार में निमज्जित कर देना कि एक विराट् शक्ति है जो हमारे तथा दूसरों के कार्यों का एवं जगत् के सब व्यक्तियों और शक्तियों के कार्यों का आरम्भ करती है, उन्हें रूप देती तथा अपने उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त करती है। यह साक्षात्कार हमारी सत्ता के सभी अंगों में पूर्ण और समग्र तभी बन सकता है यदि हम विराट् शक्ति का यह बोध और साक्षात्कार उसके सभी आकारों में, अपनी और विश्व की सत्ता के सभी स्तरों पर भगवान् की अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय शक्ति के रूप में प्राप्त कर सकें। परन्तु इन सब को, सभी स्तरों की सभी शक्तियों को अनन्त सत्ता, चेतना और आनन्द से युक्त एक ही आध्यात्मिक शक्ति की आत्म-अभिव्यक्तियों के रूप में देखना और जानना होगा। यह कोई अपरिवर्तनीय नियम नहीं है कि इस शक्ति को पहले-पहल अपना प्रकाश निम्नतर स्तरों पर शक्ति के निम्न रूपों में करना चाहिये और अपनी उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति को बाद में ही प्रकट करना चाहिये। पर यदि यह पहले-पहल इस प्रकार ही अर्थात् अपने मानसिक, प्राणिक या भौतिक विश्व-रूप में ही प्रकट हो तो हमें सावधान रहना होगा कि हम उसीमें सन्तुष्ट न हो रहें। इसके स्थान पर यह एकदम अपनी उच्चतर वास्तविक सत्ता के रूप में, आध्यात्मिक वैभव की शक्ति के रूप में भी प्रकट हो सकती है। तब कठिनाई यह होगी कि इस शक्ति को सहन और धारण कैसे किया जाये जबतक कि यह हमारी सत्ता के निम्नतर स्तरों को अपने शक्तिशाली हाथों में लेकर उनकी सामर्थ्यों का रूपान्तर नहीं कर देती। कठिनाई उसी अनुपात में कम होगी जिसमें कि हम विशाल शान्ति और समता प्राप्त करने की और या तो एक ही सर्वगत, शान्त एवं अक्षर आत्मा का साक्षात्कार तथा अनुभव करने एवं उसमें निवास करने या फिर योग के दिव्य स्वामी के प्रति अपने-आपको सच्चे और पूर्ण रूप से समर्पित करने की सामर्थ्य पा चुके होंगे।

यहां भगवान् की उन तीन शक्तियों को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है जो सभी प्राणियों में विद्यमान हैं और जिन्हें विचार में लाना ही पड़ता है। अपनी साधारण चेतना में हम इन तीन को अपनी सत्ता अर्थात् अहं-रूप जीव, ईश्वर—उस ईश्वर के विषय में हमारी धारणा कोई भी क्यों न हो—और प्रकृति के रूप में देखते हैं। आध्यात्मिक अनुभव में हम ईश्वर को परम पुरुष या आत्मा के रूप में अथवा एक ऐसे अनन्त सत् के रूप में देखते हैं जिससे हम उत्पन्न होते हैं तथा जिसमें हम रहते-सहते और चलते-फिरते हैं। प्रकृति को हम उसकी शक्ति के रूप में या शक्तिस्वरूप ईश्वर एवं शक्तिगत परम आत्मा के रूप में देखते हैं जो हमारे तथा जगत् के अन्दर कार्य कर रहा है। तब जीव स्वयं यही पुरुष, आत्मा किंवा भगवान् होता है, **सोऽहम्**, क्योंकि वह अपनी सत्ता और चेतना के सारतत्त्व में

उसके साथ-साथ एक होता है, किन्तु एक व्यक्ति के रूप में वह भगवान् का एक अंश, परम आत्मा की एक अंशात्मामात्र होता है, और अपनी प्रकृतिगत सत्ता में वह शक्ति का एक रूप, गतिमय और कार्यरत ईश्वर की एक शक्ति होता है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता**। पहले-पहल, जब हम ईश्वर या शक्ति के प्रति सचेतन होते हैं तब, उनके साथ स्थापित होनेवाले हमारे सम्बन्ध में जो कठिनाइयां आती हैं वे उस अहं-चेतना से उत्पन्न होती हैं जिसे हम आध्यात्मिक सम्बन्ध के अन्दर ले आते हैं। हमारे अन्दर का अहं भगवान् के प्रति आध्यात्मिक मांग से भिन्न अन्य मांगें करता है, और ये मांगें एक अर्थ में ठीक होती हैं, पर जबतक तथा जिस हदतक वे अहंकारमय रूप धारण करती हैं तबतक तथा उस हदतक वे अत्यधिक स्थूलता और बड़े भारी विकारों की ओर खुली रहती हैं, असत्य, अवांछनीय प्रतिक्रिया और उसके परिणामभूत अशुभ के तत्त्व के भार से दबी रहती हैं, और ईश्वर या शक्ति के साथ हमारा सम्बन्ध सर्वथा उपयुक्त, सुखद और पूर्ण तभी बन सकता है जब ये मांगें आध्यात्मिक मांग का अंग बन जायें तथा अपना अहंकारमय रूप त्याग दें। वास्तव में हमारी सत्ता की भगवान् के प्रति मांग पूर्ण रूप से कृतार्थ तभी होती है जब वह मांग का रूप बिल्कुल त्याग देती है और इसके स्थान पर व्यक्ति के द्वारा होनेवाली भगवान् की पूर्ण चरितार्थता का रूप धारण कर लेती है, जब हम केवल इसीसे तृप्त होते हैं, जब हम सत्तागत एकत्व के आनन्द से सन्तुष्ट रहते हैं, अपने-आपको अपनी सत्ता के परम आत्मा और प्रभु के ऊपर छोड़ देने में सन्तोष मानते हैं ताकि उसकी पूर्ण प्रज्ञा और ज्ञान की जो इच्छा हो उसे वह हमारी अधिकाधिक पूर्णताप्राप्त प्रकृति के द्वारा क्रियान्वित करे। भगवान् के प्रति जीव के आत्म-समर्पण का यही आशय है। एकत्व का आनन्द प्राप्त करने की, भागवत चेतना, प्रज्ञा, ज्ञान, ज्योति, शक्ति तथा पूर्णता में भाग लेने की, अपने अन्दर दिव्य चरितार्थता से मिलनेवाली तृप्ति प्राप्त करने की इच्छा को आत्मसमर्पण बहिष्कृत नहीं करता, परन्तु वह इच्छा एवं अभीप्सा हमारी होती है क्योंकि वह हमारे अन्दर उसकी इच्छा होती है। आरम्भ में, जब हम में अपने व्यक्तित्व पर आग्रह करने की भावना अभीतक विद्यमान होती है तो हमारी इच्छा उसकी इच्छा को केवल प्रतिबिम्बित करती है पर इन दोनों में भेद करना उत्तरोत्तर अशक्य होता जाता है और हमारी इच्छा-शक्ति कम वैयक्तिक बनती जाती है और अन्त में इसकी पृथक्ता की समस्त छाया लुप्त हो जाती है, क्योंकि तब हमारे अन्दर की इच्छा-शक्ति दिव्य तपस् के साथ, अर्थात् दिव्य शक्ति की क्रिया के साथ एकमय हो चुकती है।

ठीक इसी प्रकार जब हम पहले-पहल अपने ऊपर या चारों ओर या भीतर अनन्त शक्ति के प्रति सचेतन होते हैं, हमारे अन्दर की अहं-बुद्धि की प्रवृत्ति उसपर अपना अधिकार स्थापित करने तथा इस बढ़ी हुई शक्ति को अपने अहंकारपूर्ण

उद्देश्य के लिये प्रयुक्त करने की ओर होती है। यह एक अत्यन्त भयावह वस्तु है, क्योंकि यह अपने साथ एक महान्, कभी-कभी तो एक दानवीय शक्ति की अनुभूति लाती है एवं उसकी किसी वृद्धिगत वास्तविक सत्ता का अनुभव भी कराती है, और राजसिक अहं, उस नयी अपरिमित शक्ति के इस अनुभव के आनन्द में मग्न होकर, उसके शुद्ध और रूपान्तरित होने की प्रतीक्षा करने के स्थान पर अपने-आपको एक दारुण एवं अपवित्र कर्म में झोंक सकता है और यहांतक कि हमें कुछ समय के लिये या आंशिक रूप से ऐसे स्वार्थपरायण एवं अहंकारी असुर में परिणत कर सकता है जो भगवत्प्रदत्त शक्ति को भगवान् के उद्देश्य के लिये नहीं बल्कि अपने स्वार्थपूर्ण प्रयोजन के लिये प्रयुक्त करता है: पर यदि इस पथ पर आग्रहपूर्वक अड़े रहा जाये तो इसमें अन्ततः आध्यात्मिक विनष्टि एवं भौतिक सर्वनाश निहित है। इससे बचने के एक उपाय के रूप में अपने-आपको भगवान् का एक यन्त्र समझना भी पूर्णतया प्रभावकारी नहीं होता; क्योंकि जब एक प्रबल अहंभाव इस विषय में हस्तक्षेप करता है तो वह आध्यात्मिक सम्बन्ध को मिथ्या रूप दे देता है और अपने-आपको भगवान् का यन्त्र बनाने की आड़ लेकर वस्तुतः इसके स्थान पर भगवान् को अपना यन्त्र बनाने पर तुला होता है। एकमात्र उपाय यह है कि हर प्रकार की अहंकारमय मांग को शान्त किया जाये, वैयक्तिक प्रयत्न एवं पृथक् व्यक्तिगत आयास को जिससे कि सात्विक अहंकार भी बच नहीं सकता, निरन्तर दृढ़तापूर्वक कम किया जाये। इसी प्रकार हमारे लिये अधिक अच्छा यह होगा कि शक्ति पर अधिकार स्थापित करके उसे अहं के उद्देश्य के लिये प्रयोग में लाने के स्थान पर हम उसे अपने ऊपर अधिकार स्थापित करने तथा भागवत उद्देश्य के लिये हमारा प्रयोग करने दें। ऐसा समर्पण तुरन्त ही पूर्ण रूप से नहीं किया जा सकता—जिस शक्ति से हम सचेतन हुए हों वह यदि विश्वशक्ति का निम्नतर रूपमात्र हो तो ऐसा समर्पण सुरक्षित रूप से भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब, जैसा हम पहले कह चुके हैं, किसी अन्य नियन्त्रण का होना भी आवश्यक है, वह चाहे मनोमय पुरुष का हो या ऊपर की किसी शक्ति का,—किन्तु फिर भी यह एक ऐसा लक्ष्य है जो हमें अपने सामने रखना होगा और जिसे पूर्ण रूप से क्रियान्वित तभी किया जा सकता है जब हम भागवत शक्ति की उच्चतम आध्यात्मिक उपस्थिति एवं रूप के प्रति दृढ़-स्थिर रूप से सचेतन हो जायें। व्यक्तिगत सत्ता के सम्पूर्ण कार्यकलाप का दिव्य शक्ति के प्रति यह समर्पण भी वस्तुतः भगवान् के प्रति सच्चे आत्म-समर्पण का एक रूप है।

हम देख ही चुके हैं कि मनोमय पुरुष के लिये अपने-आपको पवित्र करने का अत्यन्त कार्यक्षम उपाय यह है कि वह पीछे की ओर हटकर निष्क्रिय साक्षी के रूप में स्थित हो जाये और अपने स्वरूप का तथा निम्नतर सामान्य सत्ता में प्रकृति की क्रियाओं का निरीक्षण करके ज्ञान प्राप्त करे; परन्तु पूर्णता लाभ करने के लिये इसके

साथ विशुद्ध प्रकृति को उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता में उठा ले जाने का संकल्प भी जोड़ देना होगा। जब ऐसा हो जाता है तब पुरुष केवल साक्षी न रहकर अपनी प्रकृति का स्वामी, ईश्वर भी बन जाता है। सम्भवतः आरम्भ में यह बात स्पष्ट नहीं लगेगी कि सक्रिय आत्म-प्रभुत्व के इस आदर्श को आत्मसमर्पण के तथा स्वेच्छापूर्वक भागवत शक्ति का यन्त्र बनने के **आपात-विरोधी** आदर्श के साथ कैसे समन्वित किया जा सकता है। पर सच पूछो तो आध्यात्मिक भूमिका में कोई भी कठिनाई नहीं होती, जीव जिस अनुपात में अपने ही परम आत्मा भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करता है उसी अनुपात में वह अपनी प्रकृति का स्वामी बन सकता है, इसके बिना वह वास्तव में स्वामी बन ही नहीं सकता। और उस एकत्व में तथा विश्व के साथ अपनी एकता में वह विराट् आत्मा के भीतर उस संकल्प-शक्ति के साथ भी एक होता है जो प्रकृति की सब क्रियाओं का संचालन करती है। पर अधिक प्रत्यक्ष रूप से, कम विश्वातीत रूप से, अपने व्यक्तिगत कर्म में भी वह भगवान् का एक अंश है, और जिसके प्रति उसने आत्मसमर्पण किया है, अपनी प्रकृति पर उसके प्रभुत्व में वह भी भाग लेता है। यन्त्र के रूप में भी वह एक जड़ (यान्त्रिक) नहीं बल्कि सचेतन यन्त्र है। अपने पुरुष-पक्ष में वह भगवान् के साथ एक है और **ईश्वर** के दिव्य प्रभुत्व में भाग लेता है। अपने प्रकृति-पक्ष में वह अपनी विश्वमयता में भगवान् की शक्ति के साथ एकमय है, जब कि अपनी व्यक्तिगत प्राकृत सत्ता में वह विराट् भागवत शक्ति का एक यन्त्र है, क्योंकि व्यक्तिभावापन्न शक्ति यहां वैश्व शक्ति के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये ही विद्यमान है। जैसा कि हम देख आये हैं, जीव भगवान् के द्विविध रूप, प्रकृति और पुरुष, की लीला के लिये एक मिलन-स्थल है, और उच्चतर अध्यात्म-चेतना में वह इन दोनों रूपों के साथ युगपत् एकीभूत हो जाता है और वहां वह इनकी परस्पर-क्रिया के द्वारा उत्पन्न सभी दिव्य सम्बन्धों को अपनाकर समन्वित कर देता है। समन्वय के सत्य के कारण ही सत्ता की यह द्विविध स्थिति सम्भव होती है।

किन्तु मनोमय पुरुष की निष्क्रिय अवस्था में से गुजरे बिना एक ऐसे योग के द्वारा भी जो अधिक स्थिर और प्रबल रूप से क्रियाशील होता है, उक्त परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। अथवा, इन दोनों विधियों को संयुक्त करना, बारी-बारी से अपनाना और अन्त में एक कर देना भी सम्भव है। और इस मार्ग में आध्यात्मिक कर्म की समस्या एक अधिक सरल रूप धारण कर लेती है। इस क्रियाशील साधना में तीन अवस्थाएं होती हैं। पहली में जीव परम शक्ति से सचेतन होता है, बल-सामर्थ्य अपने अन्दर ग्रहण करता है और उसके निर्देशानुसार इसका प्रयोग करता है, उसके अन्दर कुछ-कुछ यह भावना रहती है कि, गौण रूप से मैं भी कर्ता हूं, कर्म में मेरा भी थोड़ा-सा दायित्व है,—यह भी सम्भव है कि आरम्भ में उसके अन्दर परिणाम के दायित्व की भावना भी हो; पर वह पीछे लुप्त

हो जाती है, क्योंकि परिणाम एक उच्चतर शक्ति के द्वारा निर्धारित होता दिखायी देता है, और केवल कर्म ही कुछ अंश में अपना अनुभूत होता है। साधक को तब अनुभव होता है कि स्वयं वह ही विचार, संकल्प और कर्म कर रहा है, पर इन सबके पीछे वह उस भागवत शक्ति या प्रकृति को भी अनुभव करता है जो उसके समस्त विचार, संकल्प, भाव और कर्म का गठन और परिचालन करती है: व्यक्तिगत शक्ति एक प्रकार से उसकी सम्पदा है, किन्तु फिर भी वह विराट् दिव्य शक्ति का एक रूप और यन्त्रमात्र है। शक्ति के ईश्वर अपनी शक्ति की क्रिया के कारण कुछ समय के लिये उससे छुपे रह सकते हैं, अथवा वह ईश्वर का साक्षात्कार भी कर सकता है, जो कि उसके सामने कभी-कभी प्रकट होते हैं या निरन्तर प्रकट रहते हैं। ईश्वर-साक्षात्कार की अवस्था में उसकी चेतना में तीन तत्त्व उपस्थित रहते हैं, ईश्वर के सेवक के रूप में वह स्वयं, उसके पीछे अवस्थित महाशक्ति जो बल-सामर्थ्य प्रदान करती है, कार्य का गठन करती है तथा परिणामों की रचना करती है, उसके ऊपर अवस्थित ईश्वर जो अपने संकल्प से समस्त कार्य का निर्धारण करता है।

दूसरी अवस्था में व्यक्ति-रूप कर्त्ता लुप्त हो जाता है, पर किसी निवृत्तिमार्गीय निष्क्रियता का होना आवश्यक नहीं है; वहां पूर्ण राजसिक कर्म उपस्थित हो सकता है, पर, हां, सब कर्म किया जाता है शक्ति के द्वारा ही। उसकी ज्ञान-शक्ति ही हमारे मन में विचार का रूप धारण करती है; साधक को ऐसा भान बिल्कुल नहीं होता कि वह स्वयं विचार करता है, वरन् यह कि **शक्ति** ही उसके अन्दर विचार करती है। इसी प्रकार उसके संकल्प, भाव और कर्म भी **शक्ति** की एक ऐसी रचना, क्रिया एवं प्रवृत्ति के सिवा और कुछ नहीं जो इसकी साक्षात् उपस्थिति में और समस्त देह-संस्थान पर इसके पूर्ण अधिकार में सम्पन्न होती है। साधक स्वयं विचार, संकल्प, कर्म और वेदन नहीं करता, बल्कि विचार, संकल्प, वेदन और कर्म उसके आधार में घटित होते हैं। कर्म-रूपी पक्ष में व्यक्ति विराट् प्रकृति के साथ एकत्व में विलीन हो गया है, भागवत शक्ति का एक व्यक्तिभावापन्न रूप एवं व्यापार बन गया है। अपनी वैयक्तिक सत्ता के प्रति वह अब भी सचेतन होता है, पर इस रूप में कि वह एक पुरुष है जो सम्पूर्ण कार्य का धारण तथा निरीक्षण करता है, अपने आत्मज्ञान में उसके प्रति सचेतन है तथा अपने योगदान के द्वारा भागवत शक्ति को अपने अन्दर ईश्वर के कार्यों और संकल्प को पूर्ण करने के योग्य बनाता है। तब शक्ति का स्वामी कभी तो शक्ति की क्रिया के कारण छुपा रहता है, और कभी उसपर शासन करता तथा उसकी क्रियाओं को बलपूर्वक संचालित करता प्रतीत होता है। यहां भी चेतना के सामने तीन तत्त्व उपस्थित रहते हैं, एक तो, शक्ति जो एक करणात्मक मानव-आकार में ईश्वर के लिये समस्त ज्ञान, विचार, संकल्प, वेदन और कर्म का संचालन करती है, दूसरा, ईश्वर, अर्थात्

सत्तामात्र का स्वामी जो उसके समस्त कर्म का नियमित तथा बलपूर्वक परिचालन करता है, और तीसरा, उसके व्यक्तिगत कर्म में अवस्थित अन्तरात्मा या पुरुष के रूप में हमारी अपनी सत्ता जो ईश्वर के साथ के उन सब सम्बन्धों का उपभोग करती है जिनकी उत्पत्ति प्रकृति के व्यापारों के द्वारा होती है। इस साक्षात्कार का एक और रूप भी है जिसमें जीव शक्ति में लय प्राप्त कर उसके साथ एक हो जाता है और तब केवल ईश्वर के साथ शक्ति की, महादेव और काली, कृष्ण और राधा किंवा देव और देवी की लीला ही शेष रह जाती है। जीव अपने-आपको प्रकृति की एक अभिव्यक्ति, भगवान् की निज सत्ता की एक शक्ति के रूप में जो अनुभव करता है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता**, उसका जो तीव्र-से-तीव्र रूप हो सकता है, वह यही है।

तीसरी अवस्था हमारे समस्त अस्तित्व और कर्म में भगवान् किंवा ईश्वर की अधिकाधिक अभिव्यक्ति से प्राप्त होती है। यह तब आती है जब हमें निरन्तर और अविच्छिन्न रूप में उनका साक्षात्कार होता है। वे हमारे अन्दर हमारी सत्ता के स्वामी के रूप में और हमारे ऊपर उसकी समस्त क्रियाओं के नियामक के रूप में अनुभूत होते हैं और ये क्रियाएं हमारे लिये जीव की सत्ता में उनकी अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं रह जातीं। हमारी समस्त चेतना उन्हींकी चेतना हो जाती है, हमारा समस्त ज्ञान उन्हींका ज्ञान, हमारा समस्त विचार उन्हींका विचार, हमारा समस्त संकल्प उन्हींका संकल्प, हमारा समस्त वेदन उन्हींका **आनन्द** और उनके सत्तागत आनन्द का रूप तथा हमारा समस्त कर्म उन्हींका कर्म बन जाता है। शक्ति और ईश्वर के बीच का भेद लुप्त होने लगता है; हमारे अन्दर भगवान् की एक सचेतन क्रियामात्र शेष रह जाती है; उस क्रिया के पीछे और चारों ओर भगवान् की महान् आत्म-सत्ता होती है जो उसे धारण कर रही होती है। समस्त सृष्टि एवं प्रकृति केवल भगवान् की एक सचेतन क्रिया के रूप में ही दिखायी देती है। पर यहां वह पूर्णतः सचेतन बन चुकी है, अहं की माया दूर हो गयी है, और जीव यहां उनकी सत्ता के एक सनातन अंश के रूप में ही विद्यमान है जिसे एक दिव्य वैयक्तिक रूपायण और जीवन का आधार बनने के लिये प्रकट किया गया है; यह रूपायण और जीवन अब भगवान् की पूर्ण उपस्थिति और शक्ति में चरितार्थ हो गये हैं; परम आत्मा का पूर्ण आनन्द हमारी सत्ता में प्रकट हो चुका है। सक्रिय एकता के पूर्णत्व और आनन्द का सर्वोच्च साक्षात्कार यही है; क्योंकि इसके परे तो अवतार की अर्थात् लीला में कार्य करने के लिये मानवीय नाम-रूप धारण करनेवाले साक्षात् ईश्वर की चेतना ही हो सकती है।

अध्याय १८

श्रद्धा और शक्ति

अबतक हम अपनी करणात्मक प्रकृति की पूर्णता के जिन तीन अङ्गों के सामान्य लक्षणों का विवेचन करते आ रहे हैं वे ये हैं—बुद्धि, हृदय, प्राणिक चेतना एवं देह की पूर्णता, मूलभूत आत्मिक शक्तियों की पूर्णता और भगवती शक्ति के प्रति अपने करणों एवं अपने कार्य के समर्पण की पूर्णता। ये तीनों अङ्ग अपनी प्रगति के प्रत्येक पग पर एक चौथी शक्ति पर निर्भर करते हैं जो प्रच्छन्न और प्रकट रूप से समस्त प्रयास और कार्य की धुरी है; वह शक्ति है श्रद्धा। पूर्ण श्रद्धा का अर्थ है हमारी समग्र सत्ता का उस सत्य को स्वीकार करना जिसका उसे साक्षात्कार हुआ है या जो उसकी स्वीकृति के लिये उसके सम्मुख प्रस्तुत किया गया है, और ऐसी श्रद्धा की केन्द्रीय क्रिया है—अस्तित्व रखने, प्राप्त करने और बन जाने के अपने संकल्प में, आत्मा और पदार्थों-विषयक अपने विचार में, तथा अपने ज्ञान में अन्तरात्मा की श्रद्धा। बुद्धि का विश्वास, हृदय की सहमति, प्राप्त तथा चरितार्थ करने के लिये प्राणिक मन की कामना इस केन्द्रीय श्रद्धा के बाह्य रूप हैं। यह आत्म-श्रद्धा, अपने किसी-न-किसी रूप में, हमारी सत्ता की क्रिया के लिये अनिवार्य है और इसके बिना मनुष्य अपने जीवन में एक कदम भी नहीं चल सकता, अबतक अप्राप्त पूर्णता की ओर कोई कदम आगे बढ़ाना तो दूर रहा। यह इतनी केन्द्रीय और आवश्यक वस्तु है कि इसके विषय में गीता का यह कहना उचित ही है कि किसी मनुष्य की जो भी **श्रद्धा** होती है, वही वह होता है, **यो यच्छ्रद्धः स एव सः**, और, इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि जिस वस्तु को अपने अन्दर सम्भव के रूप में देखने और उसके लिये प्रयत्न करने की श्रद्धा उसमें होती है उस वस्तु का वह सर्जन कर सकता है तथा वही बन भी सकता है। एक प्रकार की श्रद्धा वह है जिसकी मांग पूर्णयोग एक अनिवार्य वस्तु के रूप में करता है। उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—भगवान् और (भगवती) शक्ति में श्रद्धा, अपने तथा जगत् के अन्दर विद्यमान भगवान् की उपस्थिति और शक्ति में श्रद्धा, यह श्रद्धा कि इस जगत् में जो कुछ भी है वह सब एकमेव भगवती शक्ति की क्रिया है, कि योग के सभी पग, उसके प्रयास और दुःख-कष्ट और विफलताएं तथा उसकी सफलताएं, तुष्टियां और विजयें भागवती शक्ति की क्रियाओं के लिये उपयोगी और आवश्यक हैं और यह कि अपने अन्दर अवस्थित भगवान् एवं उनकी शक्ति पर दृढ़ एवं प्रबल निर्भरता तथा उनके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण के द्वारा ही हम एकता, स्वतन्त्रता, विजय और पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।

श्रद्धा का शत्रु है सन्देह, परन्तु सन्देह की वृत्ति भी उपयोगी और आवश्यक है,

क्योंकि मनुष्य को अपने अज्ञान में तथा ज्ञान की ओर अपने बढ़ते प्रयास में सन्देह से आक्रान्त होने की आवश्यकता होती है, अन्यथा वह एक अज्ञानयुक्त विश्वास एवं सीमित ज्ञान पर ही आग्रहपूर्वक अड़ा रहेगा और अपनी भूलों से नहीं बच सकेगा। जब हम योग के पथ पर पग रखते हैं तब भी सन्देह की यह उपयोगिता एवं आवश्यकता बिलकुल मिट नहीं जाती। पूर्णयोग का लक्ष्य केवल किसी आधारभूत तत्त्व का ज्ञान नहीं, बल्कि एक ऐसा ज्ञान एवं विज्ञान है जो समस्त जीवन और जगत्कर्म पर अपनेको प्रयुक्त करेगा तथा उसे अपने अन्दर समाविष्ट करेगा, और ज्ञान की इस खोज में हम मार्ग में मन की असंस्कृत क्रियाओं के साथ प्रवेश करते हैं तथा ये कई मीलोंतक, जबतक कि ये एक महत्तर ज्योति के द्वारा शुद्ध और रूपान्तरित नहीं हो जातीं, हमारे साथ-साथ चलती हैं : हम अपने साथ अनेक बौद्धिक विश्वासों और विचारों को लिये फिरते हैं जिनमें से सब-के-सब ही ठीक और पूर्ण नहीं होते और बाद में और भी बहुत-से नये विचार एवं सुझाव हमारे सामने आते हैं जो अपने प्रति हमारी आस्था की मांग करते हैं। परन्तु उनकी सम्भवनीय भ्रान्ति, सीमा या अपूर्णता का विचार किये बिना, जिस आकार में वे आते हैं उसीमें उन्हें लपककर पकड़ लेना और उनके साथ सदा चिपके रहना विनाशकारी होगा। निःसन्देह, योग में एक ऐसी अवस्था आती है जब किसी भी प्रकार के बौद्धिक विचार या मत को, उसका बौद्धिक रूप कोई भी क्यों न हो, निश्चित और अन्तिम मानने से इन्कार कर देना आवश्यक हो जाता है तथा जबतक उसे अतिमानसिक ज्ञान से आलोकित आध्यात्मिक अनुभव में उसका यथार्थ स्थान एवं प्रकाशमय सत्यात्मक रूप नहीं दे दिया जाता तबतक उसे विचाराधीन रूप में स्थगित रखना पड़ता है। प्राणमय मन की कामनाओं या आवेगों के साथ तो और भी अधिक ऐसा व्यवहार करना होगा। उन्हें, पूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त करने से पहले, अस्थायी रूप से आवश्यक कर्म के तात्कालिक चिह्नों के रूप में प्रायः ही कुछ समय के लिये स्वीकार करना पड़ता है, पर उन्हें अन्तरात्मा की पूर्ण स्वीकृति देकर उनके साथ सदा चिपके नहीं रहना चाहिये, क्योंकि अन्त में इन सब कामनाओं और आवेगात्मक प्रेरणाओं का त्याग करना होगा अथवा इन्हें उस दिव्य संकल्प की, जो प्राण की चेष्टाओं को अपने हाथ में ले लेता है, प्रेरणाओं में रूपान्तरित करके इनके स्थान पर उन्हींको प्रतिष्ठित करना होगा। हृदय की श्रद्धा की, भावमय अन्तःकरण के विश्वासों तथा स्वीकृतियों की भी मार्ग में आवश्यकता होती है, पर वे सदा अचूक मार्गदर्शक नहीं हो सकते जबतक कि उन्हें भी ऊपर उठाकर तथा शुद्ध करके रूपान्तरित नहीं कर दिया जाता और अन्त में उनका स्थान उस दिव्य आनन्द की, जो दिव्य संकल्प और ज्ञान के साथ एकीभूत है, प्रकाशपूर्ण अनुमतियों को नहीं दे दिया जाता। निम्न प्रकृति की किसी भी चीज में—तर्कबुद्धि से लेकर प्राणिक संकल्पपर्यन्त—योग का साधक पूर्ण और स्थायी श्रद्धा नहीं रख सकता,

वह तो अन्ततः केवल आध्यात्मिक सत्य, शक्ति और आनन्द में ही श्रद्धा रख सकता है जो आध्यात्मिक बुद्धि में उसके कर्म के एकमात्र मार्गदर्शक, ज्योतिःस्तम्भ और नियामक बन जाते हैं।

तथापि श्रद्धा आदि से अन्ततक तथा प्रत्येक पग पर आवश्यक है क्योंकि यह अन्तरात्मा की एक ऐसी अनुमति है जो अपेक्षित है और इस अनुमति के बिना किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकती। सर्वप्रथम, योग के मूल सत्य और तत्त्वों में हमारी श्रद्धा दृढ़ होनी चाहिये, और चाहे हमारी बुद्धि के अन्दर यह श्रद्धा आच्छन्न हो जाये, हृदय के अन्दर यह निराशा से ग्रस्त हो उठे, कामनामय प्राणिक मन के अन्दर सतत निषेध और विफलता के कारण पूर्णतया क्लान्त और समाप्त हो जाये तो भी हमारी अन्तरतम आत्मा के अन्दर कोई ऐसी चीज अवश्य होनी चाहिये जो इसके साथ चिपकी रहे और इसकी ओर बार-बार लौट आये, अन्यथा हम मार्ग पर पतित हो सकते हैं अथवा दुर्बलतावश एवं अल्पकालिक पराजय, निराशा, कठिनाई और संकट को सहने में असमर्थ होने के कारण मार्ग को त्याग भी सकते हैं। जीवन की भांति योग में भी वही मनुष्य जो प्रत्येक पराजय एवं मोहभंग के सामने तथा समस्त प्रतिरोधपूर्ण, विरोधी और निषेधकारी घटनाओं एवं शक्तियों के समक्ष बिना थके-हारे अन्ततक डटा रहता है वही अन्त में विजयी होता है और देखता है कि उसकी श्रद्धा सच्ची सिद्ध हुई है क्योंकि मनुष्य में रहनेवाली आत्मा और दिव्य **शक्ति** के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। सन्देहवादी की शंका जो हमारी आध्यात्मिक संम्भावनाओं की ओर पीठ फेरती है या संकीर्ण, क्षुद्रालोचक एवं सर्जनशून्य बुद्धि, **असूया**, का सतत छिद्रान्वेषण जो हमारे प्रयत्न का पीछा करके उसमें पंगूकारक अनिश्चितता ले आता है—इन दोनों की अपेक्षा एक अन्ध एवं अज्ञानयुक्त श्रद्धा भी अधिक अच्छी सम्पदा है। किन्तु पूर्णयोग के साधक को इन दोनों अपूर्णताओं पर विजय पानी होगी। जिस वस्तु को उसने अपनी अनुमति प्रदान की है और जिसे पाने के लिये उसने अपने मन, हृदय और संकल्पशक्ति को लगा दिया है वह अर्थात् सम्पूर्ण मानव-सत्ता की दिव्य पूर्णता सामान्य बुद्धि के लिये स्पष्टतः ही एक असम्भव वस्तु है, क्योंकि वह जीवन के यथार्थ तथ्यों के विरुद्ध है और क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव चिरकालतक उसका विरोध करता रहेगा, जैसा कि समस्त सुदूर और दुःसाध्य लक्ष्यों का हुआ ही करता है। इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक अनुभव रखनेवाले बहुत-से लोग भी उससे इन्कार करते हैं। उनका विश्वास है कि हमारी वर्तमान प्रकृति ही इस शरीर में मनुष्य की एकमात्र सम्भव प्रकृति है और इस पार्थिव जीवन का या यहांतक कि समस्त व्यक्तिगत सत्ता का परित्याग करके ही हम स्वर्गिक पूर्णता या निर्वाण-रूपी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। दिव्य पूर्णता के ऐसे लक्ष्य के अनुसरण में उस अज्ञ पर दृढ़ाग्रही आलोचक बुद्धि के आक्षेपों या छिद्रान्वेषणों, **असूया**, के लिये

चिरकालतक प्रचुर अवकाश रहेगा जो अपनी नींव, आपात सत्य रूप में, तात्कालिक प्रतीतियों पर तथा सुनिश्चित तथ्यों और अनुभवों की राशि पर स्थापित करती है, उनसे परे जाने से इन्कार करती है तथा आगे की ओर इंगित करनेवाले सभी संकेतों और प्रकाशों की सत्यता पर सन्देह करती है। और यदि वह इन संकीर्ण सुझावों के आगे झुक गया तो वह या तो अपने लक्ष्य पर पहुंचेगा ही नहीं या उसकी यात्रा में गम्भीर बाधा उपस्थित होगी और उसके पूरे होने में बहुत देर लग जायेगी। दूसरी ओर, श्रद्धा में रहनेवाली अज्ञानता और अन्धता विशाल सफलता में बाधक होती हैं, अत्यधिक निराशा तथा मोहभंग को निमन्त्रित करती हैं, झूठी-मूठी अन्तिम अवस्थाओं के साथ दृढ़तापूर्वक चिपक जाती हैं तथा सत्य और पूर्णता की महत्तर रचनाओं की ओर नहीं बढ़ने देतीं। भागवत शक्ति अपनी क्रियाएं करती हुई अज्ञान और अन्धता के सभी रूपों पर तथा हमारे उन सब भागों पर भी निर्दयतापूर्वक प्रहार करेगी जो उसमें गलत और अन्धश्रद्धालु ढंग से विश्वास रखते हैं। हमें श्रद्धा के रूपों के प्रति अति दुराग्रही आसक्ति का त्याग करने को उद्यत रहना होगा और केवल रक्षाकारी सत्य को ही दृढ़तापूर्वक पकड़ना होगा। एक महान् और विशाल आध्यात्मिक एवं बुद्धियुक्त श्रद्धा है, जो उच्च सम्भावनाओं को अनुमति देनेवाली विशालतर तर्कशक्ति की बुद्धि से बुद्धियुक्त हो, पूर्णयोग के लिये अपेक्षित श्रद्धा का स्वरूप है।

यह श्रद्धा—अंग्रेजी शब्द 'फेथ' इसके भाव को प्रकट करने में असमर्थ है—वस्तुतः परम आत्मा से प्राप्त प्रभाव का नाम है और इसका प्रकाश हमारी उस अतिमानसिक सत्ता से आनेवाला सन्देश है जो निम्न प्रकृति को अपने क्षुद्र वर्तमान से निकलकर महान् आत्म-अभिव्यक्ति एवं आत्म-अतिक्रमण की ओर उठने के लिये पुकार रही है। और, हमारी सत्ता का जो भाग इस प्रभाव को ग्रहण करता तथा पुकार का प्रत्युत्तर देता है वह उतना बुद्धि, हृदय या प्राणिक मन नहीं है जितना कि हमारी अन्तरात्मा—ऐसी अन्तरात्मा जो अपनी भवितव्यता और दैवी कार्य के सत्य को अधिक अच्छी तरह जानती है। जो परिस्थितियां हमें इस योग-पथ पर प्रथम पग रखने के लिये प्रोत्साहित करती हैं वे उस वस्तु की यथार्थ सूचक नहीं होतीं जो हमारे अन्दर कार्य कर रही होती हैं। बाहरी परिस्थितियों में तो बुद्धि, हृदय या प्राणिक मन की कामनाएं अथवा यहांतक कि अधिक आकस्मिक दुर्घटनाएं एवं बाह्य प्रेरणाएं एक प्रमुख स्थान ले सकती हैं; पर यदि यही सब कुछ हों, तो पुकार के प्रति हमारी निष्ठा का तथा योग में हमारी स्थायी लगन एवं अध्यवसाय का कोई निश्चित भरोसा नहीं हो सकता। बुद्धि उस विचार को, जिसने उसे आकृष्ट किया था, त्याग सकती है, हृदय श्रान्त हो सकता है या हमारा साथ छोड़ सकता है, प्राणमय मन की कामना अन्य लक्ष्यों की ओर मुड़ सकती है। परन्तु बाह्य परिस्थितियां आत्मा के वास्तविक व्यापारों के लिये एक आवरणमात्र

होती हैं, और जिसे स्पर्श प्राप्त हुआ है एवं पुकार आयी है वह यदि आत्मा या अन्तरात्मा हो, तो श्रद्धा दृढ़ रहेगी और उसकी पराजय या उच्छेद के लिये जो भी प्रयत्न किये जायेंगे उन सबका प्रतिरोध करेगी। यह नहीं कि बुद्धि के सन्देह आक्रमण नहीं कर सकते, हृदय डगमगा नहीं सकता, प्राणिक मन की हताश कामना चूर होकर पथ के किनारे भूमिसात् नहीं हो सकती। ऐसा होना कभी-कभी, शायद प्रायः ही अनिवार्य-सा है, विशेषकर हम लोगों के साथ, जो बौद्धिकता और सन्देहवाद के युग की सन्तान हैं, ऐसा होना अनिवार्य ही है। यह युग आध्यात्मिक सत्य के एक ऐसे जड़वादीय निषेध का युग है जिसने महत्तर सत्तत्व के सूर्य के मुखपर से अपने रंग-बिरंगे मेघों का पर्दा अभी नहीं उठाया है और जो अभीतक भी आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान एवं अन्तरतम अनुभव की ज्योति के विरुद्ध है। बहुत सम्भवतः, उन कष्टप्रद अन्धकारमय कालों में से बहुत-से हमारे जीवन में आयेंगे जिनके विषय में वैदिक ऋषि भी कितनी ही बार इन शब्दों में शिकायत करते थे कि ये "प्रकाश से बारम्बार सुदीर्घ निर्वासन" के काल हैं, और इन कालों में अन्धकार इतना घना हो सकता है, अन्तरात्मा पर छानेवाली रात्रि इतनी काली हो सकती है मानों श्रद्धा हमें बिल्कुल ही छोड़कर चली गयी हो। किन्तु इस सब के भीतर हमारी अन्तःस्थ आत्मा अपना अदृष्ट नियन्त्रण बराबर रखती रहेगी और अन्तरात्मा अपने विश्वास पर नयी शक्ति के साथ लौट आयेगी, उस विश्वास पर जिसे केवल ग्रहण लगा था, पर जो बुझा नहीं था, क्योंकि जब एक बार अन्तरात्मा अपने आन्तरिक श्रद्धा-विश्वास को जान चुकती है तथा अपना दृढ़ निश्चय[1] कर लेती है तब वह विश्वास बुझ ही नहीं सकता। भगवान् सब अवस्थाओं के बीच हमारा हाथ पकड़े रखते हैं और यदि ऐसा दिखायी दे कि वे हमें गिरने दे रहे हैं तो यह हमें अधिक ऊंचे उठाने के लिये ही होता है। अन्तरात्मा का अपने श्रद्धा-विश्वास की ओर यह रक्षाकारी प्रत्यावर्तन हमें इतनी अधिक बार अनुभव होगा कि सन्देहमूलक अविश्वासों का उत्पन्न होना अन्त में असम्भव हो जायेगा और, जब एक बार समता की आधारशिला दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायेगी और, इससे भी बढ़कर, जब विज्ञान-चेतना का सूर्य उदित हो जायेगा तब स्वयं सन्देह भी नष्ट हो जायेगा क्योंकि उसका कारण और प्रयोजन समाप्त हो चुके होंगे।

अपिच, योग के केवल मूल सिद्धान्त में, उसके विचारों और साधन-मार्ग में ही श्रद्धा अपेक्षित नहीं है, बल्कि हमारे अन्दर लक्ष्य को साधित करने की जो शक्ति है, मार्ग पर हमने जो कदम उठाये हैं, हमें जो आध्यात्मिक अनुभव तथा अन्तर्ज्ञान प्राप्त होते हैं, हमारे अन्दर इच्छाशक्ति और मानसिक प्रेरणा की जो मार्गदर्शक गतियां, हृदय की तीव्र द्रवित भावनाएं तथा प्राण की अभीप्साएं एवं चरितार्थताएं होती हैं जो हमारी प्रकृति के विशाल बनने में सहायक साधन-सामग्री, परिस्थितियां

[1] संकल्प, व्यवसाय।

और अवस्थाएं हैं तथा आत्मा के विकास के प्रेरक या सोपान हैं—उन सबमें दैनन्दिन कामचलाऊ श्रद्धा रखना भी आवश्यक है। इसके साथ ही यह सदा स्मरण रखना होगा कि हम अपूर्णता एवं अज्ञान से ज्योति और पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं, और हमारी श्रद्धा को हमारे प्रयत्न के बाह्य रूपों में तथा हमारी उपलब्धि की क्रमिक अवस्थाओं के प्रति आसक्ति से मुक्त होना चाहिये। इतना ही नहीं कि हममें ऐसा बहुत कुछ है जिसे बाहर फेंकने तथा त्यागने के लिये हमारे अन्दर प्रबल रूप से उभाड़ा जायेगा, अर्थात् अज्ञान और निम्न प्रकृति की शक्तियों तथा उनका स्थान लेनेवाली उच्चतर शक्तियों में एक संग्राम होगा, बल्कि हमारे अन्दर ऐसे अनुभव भी हैं, चिन्तन और वेदन की ऐसी अवस्थाएं तथा उपलब्धि के ऐसे रूप भी हैं जो सहायक होते हैं और जिन्हें मार्ग में स्वीकार करना ही होता है। वे हमें कुछ समय के लिये अन्तिम आध्यात्मिक सत्य प्रतीत हो सकते हैं, पर बाद में संक्रमण के पद ही सिद्ध होते हैं, उन्हें अतिक्रम करना होता है और जो व्यावहारिक श्रद्धा उन्हें आश्रय देती थी उसे उनसे हटा लेना पड़ता है ताकि उसके द्वारा उन अन्य महत्तर वस्तुओं या अधिक पूर्ण एवं व्यापक साक्षात्कारों एवं अनुभवों का समर्थन किया जा सके, जो उनका स्थान ले लेते हैं या जिनके अन्दर, एक पूर्णताकारी रूपान्तर में, उन्हें उन्नीत कर दिया जाता है। पूर्णयोग के साधक के लिये मार्ग के पड़ावों या अधबीच के विश्रामगृहों के प्रति आसक्ति का कोई स्थान नहीं हो सकता; वह तबतक सन्तुष्ट नहीं हो सकता जबतक वह अपनी पूर्णता के सभी महान् और स्थायी आधार स्थापित नहीं कर लेता तथा उसकी विशाल और मुक्त अनन्तताओं को भेदकर उनमें प्रविष्ट नहीं हो जाता, और वहां भी उसे अनन्त के और अधिक अनुभवों से अपने-आपको निरन्तर पूरित करते रहना होता है। उसका विकास एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर आरोहणरूप होता है और प्रत्येक नया शिखर, अभी जो और बहुत-सा विकास करना है, **भूरि कर्त्वम्**, उसके अन्य दृश्य क्षेत्रों को सामने लाता है तथा उसके प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन कराता है, जिससे कि अन्त में भागवती शक्ति उसके समस्त प्रयास को अपने हाथ में ले लेती है और उसे तो केवल अपनी सहमति देनी होती है तथा शक्ति के ज्योतिर्मय कार्यों में सहमतिपूर्ण एकत्व के द्वारा सहर्ष भाग लेना होता है। श्रद्धा-विश्वास के बिना ये परिवर्तन, संघर्ष, प्रयास तथा रूपान्तर उसे निरुत्साहित और निराश कर सकते हैं,—क्योंकि बुद्धि, प्राण और भावावेश सदा बाह्य वस्तुओं का ही अत्यधिक आश्रय पकड़ते हैं, अपरिपक्व निश्चयों के साथ दृढ़तापूर्वक चिपक जाते हैं और जब उन्हें अपने पहले सहारे को छोड़ने के लिये बाध्य किया जाता है तो वे दुःखित हो सकते हैं तथा इसके लिये इच्छुक नहीं होते। इन परिवर्तनों, संघर्षों और रूपान्तरों में जो वस्तु उसे निरन्तर सहारा देगी वह है कार्यरत भागवत शक्ति में दृढ़ श्रद्धा और योगेश्वर भगवान् के मार्गदर्शन पर भरोसा। उस योगेश्वर की प्रज्ञा उतावली नहीं मचाती, और

मन की समस्त कठिनाइयों में उसके पग सुनिश्चित, न्यायसंगत और युक्तियुक्त होते हैं, क्योंकि वे हमारी प्रकृति की आवश्यकताओं के साथ पूर्ण-बोधयुक्त व्यवहार पर आधारित होते हैं।

योग की प्रगति का अर्थ है—मानसिक अज्ञान से यात्रा आरम्भ करके अपूर्ण रचनाओं में से होते हुए ज्ञान की पूर्ण आधारशिला और अधिकाधिक वृद्धि की ओर अग्रसर होना और अपने उन भागों में, जो अधिक सन्तोषजनक रूप से भावात्मक होते हैं, इसका अर्थ है ज्योति से महत्तर ज्योति की ओर बढ़ना और यह प्रगति तबतक नहीं रुक सकती जबतक हम अतिमानसिक ज्ञान की महत्तम ज्योति नहीं प्राप्त कर लेते। अवश्य ही, विकसित होते हुए मन की गतियां, कम या अधिक मात्रा में, भूलों से निश्चित होंगी और हमें अपनी श्रद्धा को मन की भूलों के ज्ञान के कारण विचलित नहीं होने देना चाहिये, और क्योंकि बुद्धि के जिन विश्वासों ने हमारी सहायता की थी वे अत्यधिक उतावली से भरे हुए और अतीव भावात्मक थे अतः उनके कारण यह कल्पना भी नहीं कर लेनी चाहिये कि आत्मा में रहनेवाली मूलभूत श्रद्धा भी असत्य थी। मानवी बुद्धि को भूल का बहुत ही भय लगता है। इसका कारण ठीक यही है कि वह निश्चितता की अपरिपक्व भावना के प्रति तथा ज्ञान का जितना अंश वह ग्रहण करती प्रतीत होती है उसमें निश्चयात्मक चरमता के लिये अत्यन्त उतावली उत्सुकता के प्रति अतीव आसक्त होती है। जैसे-जैसे हमारा आत्मानुभव बढ़ेगा, हमें पता लगता जायेगा कि हमारी भूलें भी आवश्यक गतियां थीं; वे अपने साथ अपना सत्यमय अंश या संकेत लायी थीं और उसे हमारे लिये छोड़ गयी थीं और उन्होंने ज्ञान की खोज में सहायता पहुंचायी थी या एक आवश्यक प्रयास का पोषण किया था और यह भी कि जिन निश्चयों को हमें अब त्यागना पड़ेगा वे भी हमारे ज्ञान की प्रगति में कुछ समय के लिये सत्य थे। बुद्धि आध्यात्मिक सत्य की खोज और उपलब्धि में पर्याप्त मार्गदर्शक नहीं हो सकती, पर फिर भी हमारी प्रकृति की समग्र गति में उसका उपयोग करना ही होगा। और, इसलिये जहां हमें पंगूकारक संशय या निरे बौद्धिक सन्देहवाद को त्यागना होगा, वहां जिज्ञासाशील बुद्धि को यह सिखाना होगा कि वह एक ऐसे विशेष प्रकार के, व्यापक तर्क-वितर्क अर्थात् बौद्धिक शुद्धता को स्थान दे जो अर्द्ध-सत्यों से, भ्रान्ति के मिश्रणों या निकटतम सत्यों से सन्तुष्ट न हो और, सबसे अधिक भावात्मक एवं सहायक बात यह है कि, वह पहले से अधिकृत और स्वीकृत सत्यों से उन महत्तर, संशोधक, पूरक या परतर सत्यों की ओर अग्रसर होने के लिये सदा पूर्ण रूप से उद्यत रहे जिनका दर्शन करने में वह पहले असमर्थ थी या सम्भवतः उसके लिये इच्छुक ही नहीं थी। बुद्धि की कामचलाऊ श्रद्धा अनिवार्य रूप से आवश्यक है, ऐसी अन्धविश्वासमय, दुराग्रहपूर्ण या संकीर्णताजनक श्रद्धा नहीं जो प्रत्येक अस्थायी आलम्बन या सूत्र के प्रति आसक्त हो, बल्कि शक्ति के क्रमिक संकेतों और

सोपानों को व्यापक स्वीकृति देनेवाली श्रद्धा, ऐसी श्रद्धा जिसकी दृष्टि वास्तविक सत्यों पर जमी हो, जो लघुतर सत्यों से पूर्णतर सत्यों की ओर आगे बढ़े और समस्त मचान को भूमिसात् करके केवल विशाल और विकसनशील रचना को सुरक्षित रखने के लिये तैयार हो।

हृदय और प्राण की अटूट श्रद्धा या स्वीकृति भी परमावश्यक है। परन्तु जब हम निम्न प्रकृति में होते हैं तो हृदय की स्वीकृति मानसिक आवेश से रंगी होती है और प्राणिक चेष्टाओं के पीछे विक्षोभकारी या आयासजनक कामनाएं उनके पुछल्ले की तरह लगी रहती हैं, और प्राणिक कामना एवं मानसिक आवेश सत्य को आलोड़ित करने तथा कम या अधिक स्थूल या सूक्ष्म रूप में परिवर्तित या विकृत करने की प्रवृत्ति रखते हैं, और हृदय एवं प्राण के द्वारा उसके साक्षात्कार में वे सदा ही कुछ संकीर्णता या अपूर्णता ले आते हैं। हृदय भी जब अपनी आसक्तियों और विश्वासों में छेड़-छाड़ किये जाने पर अशान्त हो जाता है, पराजयों और विफलताओं के कारण तथा अपनी भ्रान्ति के सम्बन्ध में निश्चय हो जाने के कारण व्याकुल हो उठता है अथवा अपनी सुनिश्चित स्थितियों से आगे की ओर बढ़ने के लिये पुकार आने पर उसे जो संघर्ष करने पड़ते हैं उनमें ग्रस्त हो जाता है, तब उसके अन्दर बारम्बार खींचतान, क्लान्ति, दुःख-शोक, विद्रोह, तथा अनिच्छा के भाव उठते हैं जो प्रगति में बाधा डालते हैं। उसे एक अधिक विशाल एवं सुनिश्चित श्रद्धा का अभ्यास करना होगा जो भागवत शक्ति की प्रणालियों एवं सोपानों के प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएं करने के स्थान पर उन्हें शान्त या भाव-स्निग्ध आध्यात्मिक स्वीकृति प्रदान करे। उस स्वीकृति का स्वरूप यह होता है कि एक अधिकाधिक गभीर आनन्द सब आवश्यक क्रियाओं को सहमति प्रदान करता है और हृदय अपने पुराने लंगरों को त्याग कर एक महत्तर पूर्णता के आनन्द की ओर सदा आगे बढ़ने के लिये तैयार रहता है। प्राणिक मन को प्राण के उन क्रमिक उद्देश्यों, आवेगों और कार्यों को अपनी स्वीकृति देनी होगी जिन्हें मार्गदर्शक शक्ति हमारी प्रकृति के विकास के साधनों या क्षेत्रों के रूप में उसके ऊपर थोपती है, साथ ही उसे आन्तरिक योग की क्रमिक अवस्थाओं को भी अपनी अनुमति प्रदान करनी होगी, पर उसे किसी भी अवस्था के प्रति आसक्त नहीं होना होगा, न कहीं रुकना ही होगा, बल्कि पुराने आवश्यक उद्देश्य एवं कार्य का त्याग करके नयी उच्चतर गतियों और क्रियाओं को उतनी ही पूर्ण अनुमति के साथ स्वीकार करने के लिये सदा उद्यत रहना होगा और उसे कामना के स्थान पर समस्त अनुभव और कर्म में विशाल और प्रोज्ज्वल आनन्द को प्रतिष्ठित करना सीखना होगा। बुद्धि की श्रद्धा के समान हृदय और प्राणिक मन की श्रद्धा को भी एक सतत सुधार, विस्तार और रूपान्तर के योग्य होना चाहिये।

यह श्रद्धा मूलतः अन्तरात्मा की निगूढ़ श्रद्धा है, और इसे उत्तरोत्तर उपरितल पर

लाकर वहां आध्यात्मिक अनुभव की अधिकाधिक विश्वस्तता और निश्चितता के द्वारा तृप्त, धारित और वर्द्धित किया जाता है। यहां भी हमारी श्रद्धा निर्लिप्त होनी चाहिये, एक ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये जो सत्य के द्वार पर प्रतीक्षा करे और आध्यात्मिक अनुभवों-सम्बन्धी अपनी समझ को बदलने और विशाल बनाने के लिये, उनके विषय में अपने भ्रान्त या अर्द्ध-सत्य विचारों को संशोधित करने, अधिक प्रकाशप्रद बोधों को ग्रहण करने एवं अपूर्ण अन्तर्ज्ञानों के स्थान पर अधिक पूर्ण अन्तर्ज्ञानों को प्रतिष्ठित करने के लिये तैयार रहे, साथ ही जो अनुभव अपने समय में अन्तिम तथा सन्तोषकारक प्रतीत होते थे उनका समन्वय नये अनुभव तथा महत्तर विशालताओं एवं परात्परताओं के साथ करके उन अधिक तृप्तिकारी समन्वित अनुभवों में उन्हें निमज्जित करने के लिये भी उद्यत रहे। और विशेषकर मानसिक तथा अन्य मध्यवर्ती प्रदेशों में असत्प्रेरक एवं प्रायः ही मोहक भ्रान्ति की सम्भावना के लिये बहुत अधिक अवकाश रहता है, और यहां भी कुछ मात्रा में भावात्मक सन्देहवाद उपयोगी होता है और, चाहे जो हो, अत्यधिक सावधानता एवं सूक्ष्म-बौद्धिक यथार्थता की जरूरत तो होती है, पर हां, साधारण मन का वह सन्देहवाद उचित नहीं जिसका अर्थ केवल अक्षमताजनक निषेध ही होता है। पूर्णयोग में चैत्य अनुभव को, विशेषतः उस प्रकार के अनुभव को, जो प्रायः गुह्यवाद नामक विद्या से तथा 'चामत्कारिक' के आस्वादों से सम्बद्ध होता है, आध्यात्मिक सत्य के पूर्णतया अधीन रखना चाहिये तथा उसे समझने के लिये, उसके बारे में प्रकाश और अनुमति पाने के लिये हमें सत्य के द्वार पर प्रतीक्षा करनी चाहियें। परन्तु शुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कुछ ऐसे अनुभव हैं जो आंशिक हैं। वे कितने ही आकर्षक होने पर भी अपनी पूर्ण प्रामाणिकता और महत्ता तभी प्राप्त करते हैं अथवा उनका ठीक प्रयोग भी तभी होता है जब हम एक पूर्णतर अनुभव की ओर बढ़ने में समर्थ होते हैं। और कुछ अन्य ऐसे अनुभव भी हैं जो अपने-आपमें सर्वथा सत्य, पूर्ण और निरपेक्ष हैं, पर यदि हम अपने-आपको उनतक सीमित रखें तो वे आध्यात्मिक सत्य के दूसरे पहलुओं को प्रकट नहीं होने देंगे और योग की समग्रता के कुछ अंगों को क्षति पहुंचायेंगे। इस प्रकार अवैयक्तिक शान्ति की गहरी और तन्मयकारक निश्चलता, जो मन को शान्त करने से प्राप्त होती है, अपने-आपमें एक पूर्ण और निरपेक्ष वस्तु है, पर यदि हम उसीपर रुक जायें तो वह अपने सहचारी निरपेक्ष तत्त्व को अर्थात् दिव्य कर्म के आनन्द को बहिष्कृत कर देगी जो उतना ही महान्, आवश्यक और सत्य है, कम नहीं। यहां भी हमारी श्रद्धा एक ऐसी स्वीकृति होनी चाहिये जो समस्त आध्यात्मिक अनुभव को ग्रहण करे, पर सदा ही अधिकाधिक ज्योति और सत्य के लिये विशाल भाव से उन्मुक्त और उद्यत रहे, संकीर्णताजनक आसक्ति से रहित हो तथा बाह्य रूपों के प्रति ऐसा लगाव न रखे जो आध्यात्मिक सत्ता, चेतना, ज्ञान, शक्ति एवं कर्म की

समग्रता की ओर तथा एक एवं बहुविध आनन्द की सम्पूर्णता की ओर भागवत शक्ति की प्रगति में हस्तक्षेप करे।

एक सामान्य सिद्धान्त तथा उसका सतत एवं विशिष्ट प्रयोग—इन दोनों रूपों में जिस श्रद्धा की मांग हमसे की जाती है उसका अर्थ है ईश्वर और शक्ति के सान्निध्य एवं मार्गदर्शन के प्रति हमारी सारी सत्ता और उसके सभी अंगों की एक विशाल एवं सदा-वृद्धिशील तथा सतत शुद्धतर, पूर्णतर एवं प्रबलतर अनुमति। जबतक हम शक्ति की उपस्थिति से सचेतन और ओतप्रोत नहीं हो जाते तबतक उसमें श्रद्धा के पूर्व या कम-से-कम उसके साथ-साथ हमारे अन्दर अपनी आध्यात्मिक संकल्पशक्ति और ऊर्जा में तथा एकता, स्वतन्त्रता एवं पूर्णता की ओर सफलतापूर्वक बढ़ने की अपनी शक्ति में सुदृढ़ और सतेज श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये। मनुष्य को अपनी सत्ता और अपने विचारों में तथा अपनी शक्तियों में श्रद्धा इसलिये दी गयी है कि वह महत्तर आदर्शों के लिये कार्य करके उनका सृजन करे तथा उनकी ओर ऊपर उठे और अन्त में अपनी शक्ति परम आत्मा की वेदी पर एक योग्य आहुति के रूप में प्रस्तुत करे। उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा दुर्बल के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**। पंगु बनानेवाले समस्त आत्म-अविश्वास को, कार्यसिद्धि के बारे में अपनी शक्ति के समस्त सन्देह को निरुत्साहित करना होगा, क्योंकि उसका अर्थ है अक्षमता को गलत स्वीकृति देना, अपने अन्दर दुर्बलता की कल्पना करना और आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता से इन्कार करना। वर्तमान अक्षमता हम पर कितना ही भारी दबाव क्यों न डालती प्रतीत हो, फिर भी वह श्रद्धा की एक परीक्षा तथा एक अस्थायी कठिनाईमात्र है, और असमर्थता की भावना के आगे घुटने टेकना पूर्णयोग के साधक के लिये एक मूर्खतापूर्ण बात है, क्योंकि उसका लक्ष्य एक ऐसी पूर्णता को विकसित करना है जो पहले से ही विद्यमान है, सत्ता के अन्दर प्रसुप्त रूप में उपस्थित है, क्योंकि मनुष्य दिव्य जीवन का बीज अपने अन्दर, अपनी आत्मा में धारण किये हुए है, सफलता की सम्भावना भी उसके पुरुषार्थ में अनुस्यूत एवं अन्तर्निहित है और विजय सुनिश्चित है, क्योंकि उसके प्रयत्न के पीछे एक सर्वसमर्थ शक्ति की पुकार एवं मार्गदर्शन विद्यमान है। पर इसके साथ ही इस आत्मश्रद्धा को राजसिक अहंकार और आध्यात्मिक गर्व के समस्त स्पर्श से मुक्त एवं शुद्ध करना होगा। साधक को अपने मन में यावत्सम्भव यह विचार रखना होगा कि उसकी सामर्थ्य अहंकारमय अर्थ में उसकी अपनी नहीं है, बल्कि वह विराट् भागवत शक्ति की है और उसके द्वारा इसके प्रयोग में जो भी अहंकारमय भाव होता है वह अवश्य ही संकीर्णता का कारण होता है और अन्त में बाधक बनता है। विराट् भागवत शक्ति की जो सामर्थ्य हमारी अभीप्सा के पीछे विद्यमान है उसकी कोई सीमा नहीं, और जब उसका ठीक प्रकार से आवाहन किया जाता है तो वह अभी

या बाद में हमारे अन्दर अपने को प्रवाहित करने तथा हर प्रकार की अक्षमता और बाधा को दूर करने से चूक नहीं सकती; क्योंकि हमारे संघर्ष के काल और अन्तराल यद्यपि सर्वप्रथम, एक साधन के रूप में तथा अंशतः, हमारी श्रद्धा और पुरुषार्थ की शक्ति पर निर्भर करते हैं तथापि अन्ततः वे उस निगूढ़ परम आत्मा के हाथों में ही हैं जो सब वस्तुओं का ज्ञानपूर्वक निर्धारण करता है और जो अकेला ही हमारे योग का स्वामी, **ईश्वर**, है।

भागवत शक्ति में श्रद्धा हमारी सामर्थ्य के पीछे सदा ही रहनी चाहिये और जब शक्ति प्रकट हो जाये तो श्रद्धा असंदिग्ध और पूर्ण होनी या बन जानी चाहिये। ऐसी कोई चीज नहीं जो उसके लिये असम्भव हो क्योंकि वह एक चिन्मय शक्ति तथा विराट् भगवती है जो सनातन काल से सबका सृजन करनेवाली जननी है तथा परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता से सुसम्पन्न है। सम्पूर्ण ज्ञान, समस्त शक्तियां, समस्त सफलता और विजय, समस्त कौशल और कर्म-कलाप उसीके हाथों में हैं और वे परम आत्मा के ऐश्वर्यों तथा समस्त पूर्णताओं एवं सिद्धियों से परिपूर्ण हैं। वह महेश्वरी अर्थात् परम ज्ञान की देवी है, और सब प्रकार के सत्यों के लिये तथा सत्य के सभी विशाल रूपों के लिये अपनी अन्तर्दृष्टि हमें प्राप्त कराती है, हमारे अन्दर अपनी आध्यात्मिक संकल्प-सम्बन्धी यथार्थता, अपनी अतिमानसिक विशालता की शान्ति और सम्वेगशीलता तथा अपना ज्योतिर्मय आनन्द लाती है : वह महाकाली अर्थात् परम शक्ति की देवी है, और समस्त शक्तियां, आत्म-बल, तपस् की उग्रतम कठोरता, संग्राम का वेग, विजय और अट्टहास्य उसीके अन्दर विद्यमान हैं, अट्टहास्य ऐसा कि जो पराजय और मृत्यु को तथा अज्ञान की शक्तियों को तृणवत् समझता है : वह महालक्ष्मी है, परम प्रेम और आनन्द की देवी है, और उसकी देनें हैं—आत्मा की सुषमा, आनन्द की मोहकता और सुन्दरता, अभयदान और प्रत्येक प्रकार का दैवी एवं मानवीय वरदान : वह महासरस्वती है, दिव्य कौशल की तथा परम आत्मा के सब कार्यों की अधिष्ठात्री देवी है, और जिस योग को कर्म-कौशल, **योगः कर्मसु कौशलम्**, कहा जाता है वह महासरस्वती का ही है, इसी प्रकार दिव्य ज्ञान के नाना उपयोग, आत्मा का अपने-आपको जीवन के क्षेत्र में प्रयुक्त करना और उसकी समस्वरताओं का आनन्द महासरस्वती के ही गुण और कार्य हैं। अपनी सभी शक्तियों और अपने सभी रूपों में वह सनातन ईश्वरी के प्रभुत्वों की परमोच्च भावना को अपने संग रखती है; साथ ही, किसी यन्त्र से जिन कार्यों की मांग की जा सकती है उन सब प्रकार के कार्यों के लिये तीव्र और दिव्य सामर्थ्य, सर्वभूतों की सभी शक्तियों के साथ एकता, सहानुभूति एवं सुखदुःखसहभागिता, मुक्त तदात्मता, और अतएव विश्व में कार्य कर रहे समस्त दिव्य संकल्प के साथ स्वयंस्फूर्त एवं फलप्रद सामञ्जस्य—इन सब गुणों को भी वह अपने संग रखती है। उसके सान्निध्य और उसकी शक्तियों का घनिष्ठ अनुभव, और हमारे भीतर और

चारों ओर उसकी जो क्रियाएं हो रही हैं उनके प्रति हमारी सम्पूर्ण सत्ता की सन्तुष्ट स्वीकृति—यह भागवत शक्ति में श्रद्धा की चरम पूर्णता है।

और उसके पीछे ईश्वर है, उसमें विश्वास पूर्णयोग की श्रद्धा का सबसे प्रधान अंग है। हमें अपने अन्दर यह श्रद्धा धारण और पूर्णतया विकसित करनी चाहिये कि यहां का सभी कुछ परम आत्मज्ञान और प्रज्ञा की उन क्रियाओं का परिणाम है जो विश्व की विराट् परिस्थितियों में घटित होती हैं, हमारे अन्दर या चारों ओर जो कुछ भी होता है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं जो व्यर्थ हो या जिसका अपना नियत स्थान एवं समुचित अर्थ न हो, जब ईश्वर हमारे परमोच्च 'पुरुष' एवं आत्मा के रूप में हमारे कार्य को अपने हाथ में ले लेते हैं तब सभी कुछ सम्भव हो जाता है और जो कुछ वे पहले कर चुके हैं तथा जो कुछ वे भविष्य में करेंगे वह सब उनके निर्भ्रान्त एवं पूर्वदर्शी मार्गनिर्देश का अङ्ग था और होगा, साथ ही वह हमारे योग की सफलता, हमारी पूर्णता एवं हमारे जीवन-कार्य के लिये भी अभिप्रेत था और होगा। जैसे-जैसे उच्चतर ज्ञान का द्वार खुलेगा यह श्रद्धा अधिकाधिक सार्थक सिद्ध होती जायेगी, जो बड़े एवं छोटे मर्म हमारे संकुचित मन की दृष्टि से परे थे उन्हें हम अब देखने लगेंगे और तब श्रद्धा ज्ञान में परिणत हो जायेगी। तब हम सन्देह की जरा-सी भी सम्भावना के बिना यह देखेंगे कि सभी कुछ एक ही संकल्पशक्ति की क्रिया के अन्तर्गत घटित होता है और वह संकल्पशक्ति प्रज्ञा भी है क्योंकि वह जीवन में सदा ही आत्मा और प्रकृति की सच्ची क्रियाओं को विकसित करती है। जब हम ईश्वर की उपस्थिति को अनुभव करेंगे और अपनी सम्पूर्ण सत्ता एवं चेतना को एवं अपने समस्त चिन्तन, संकल्प और कर्म को उन्हींके हाथ में अनुभव करेंगे तथा सभी वस्तुओं में एवं अपनी आत्मा और प्रकृति के प्रत्येक करण के द्वारा परमात्मा की प्रत्यक्ष, अन्तर्यामी और प्रभुत्वशालिनी संकल्पशक्ति को अनुमति प्रदान करेंगे तब वह हमारी सत्ता की स्वीकृति अर्थात् श्रद्धा की पराकाष्ठा होगी। और श्रद्धा की वह सर्वोच्च पूर्णता दिव्य शक्ति के लिये एक अवसर एवं पूर्ण आधार का भी काम करेगी : पूर्णता प्राप्त कर लेने पर वह ज्योतिर्मय अतिमानिसक शक्ति के विकास, आविर्भाव और कार्य-कलाप का आधार बनेगी।

अध्याय १९

अतिमानस का स्वरूप

योग का लक्ष्य यह है कि मानव-सत्ता को साधारण मन की चेतना से आत्मा की चेतना में उठा ले जाया जाये। साधारण मन की चेतना प्राणिक और भौतिक प्रकृति के नियन्त्रण के अधीन है, जन्म, मृत्यु और काल के द्वारा तथा मुक्त मन-प्राण-शरीर की आवश्यकताओं एवं कामनाओं के द्वारा पूर्णतया आबद्ध है। उधर, आत्मा की चेतना अपनी सत्ता में मुक्त है और मन-प्राण-शरीर-रूपी अवस्थाओं को आत्मा के ऐसे स्वीकृत या स्वयंनिर्वाचित निर्धारणों के रूप में प्रयुक्त करती है जो उसे (आत्मा को) एक मूर्त रूप प्रदान करते हैं। इनका प्रयोग वह मुक्त आत्मज्ञान, सत्ता के मुक्त संकल्प एवं सामर्थ्य तथा मुक्त आनन्द के साथ करती है। साधारण मर्त्य मन जिसमें हम निवास करते हैं और हमारी दिव्य एवं अमर सत्ता की अध्यात्म-चेतना जो योग के उच्चतम परिणाम के रूप में प्राप्त होती है—इन दोनों में मूल भेद यही है। यह एक प्रकार का आमूल रूपान्तर है, यह उस परिवर्तन जितना ही महान् है किंवा उससे भी अधिक महान् है जिसे, हमारी समझ में, विकासात्मक प्रकृति प्राण-प्रधान पशु से पूर्णतः मानसीकृत मानव-चेतना की ओर अपने संक्रमण में साधित कर चुकी है। पशु में सचेतन प्राणमय मन है, पर उसमें किसी उच्चतर वस्तु के जो भी आरम्भिक संकेत हैं वे बुद्धि की प्राथमिक झांकी या स्थूल इंगितमात्र हैं। पर मनुष्य में बुद्धि मानसिक बोधशक्ति, संकल्प, भावावेग, सौन्दर्यवृत्ति और तर्कबुद्धि का उज्वल रूप बन जाती है। मन की चोटियोंतक ऊंचे उठकर और उसकी गहराइयों के द्वारा गभीर बनकर मनुष्य अपने अन्दर स्थित किसी महान् एवं दिव्य सत्ता को जान जाता है जिसकी ओर कि यह सब कुछ गति कर रहा है। वह सत्ता एक ऐसी वस्तु है जो कि वह बन सकता है, पर अभीतक बना नहीं है; वह अपने मन की शक्तियों को, अपनी ज्ञानशक्ति को तथा संकल्प, भावावेग एवं सौन्दर्यबोध की शक्ति को इसी वस्तु की ओर लगा देता है, ताकि वह इसे ढूंढ़ सके, इसका जितना कुछ स्वरूप हो सकता है उस सारे को हृदयंगम करके पूर्ण रूप से जान सके, स्वयं यही बन सके और इसके महत्तर चैतन्य, आनन्द एवं अस्तित्व में तथा इसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति की शक्ति में पूर्ण रूप से अपना अस्तित्व धारण कर सके। परन्तु अपने सामान्य मन में वह इस उच्चतर अवस्था का जितना कुछ अंश प्राप्त करता है वह उसके अन्दर स्थित आत्मतत्त्व की श्री-शोभा, ज्योति, महिमा और भगवत्ता का एक संकेत, प्राथमिक झांकी एवं स्थूल इंगितमात्र है। इसके पूर्व कि वह इस महत्तर वस्तु को, जो कि वह बन सकता है, अपने समक्ष एक सर्वथा वास्तविक, नित्य-अटल एवं सदा-उपस्थित वस्तु के रूप

में अनुभव कर सके और जो वस्तु आज उसके लिये अधिक-से-अधिक एक प्रोज्वल अभीप्सामात्र है उसमें पूर्ण रूप से निवास कर सके, उससे यह मांग की जाती है कि वह अपनी सत्ता के सभी अंगों को आध्यात्मिक चेतना के सांचों और यन्त्रों में पूर्णतया रूपान्तरित कर दे। उसे पूर्णयोग द्वारा एक महत्तर भागवत चेतना को अभिवर्द्धित करने तथा उसमें पूर्णतया विकसित होने का यत्न करना चाहिये।

इस रूपान्तर के लिये जिस आत्मसिद्धियोग की आवश्यकता है उसका स्वरूप, जहांतक हम उसपर विचार करते आ रहे हैं, यह है—मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति की प्रारम्भिक शुद्धि, निम्नतर प्रकृति की ग्रंथियों से मुक्ति, फलतः, सदा ही कामनामय पुरुष की अज्ञानमय एवं विक्षुब्ध क्रिया के अधीन रहनेवाली अहंकारमय अवस्था के स्थान पर एक विशाल और ज्योतिर्मय स्थितिशील समता की स्थापना करना जो बुद्धि, भावप्रधान मन, प्राणिक मन और भौतिक प्रकृति को शान्त कर देती है और हमारे अन्दर आत्मा की शान्ति एवं स्वतन्त्रता लाती है, और अन्त में, निम्नतर प्रकृति की क्रिया के स्थान पर, ईश्वर के नियन्त्रण के अधीन रहनेवाली परमोच्च और विराट् भागवत शक्ति की क्रिया को सक्रिय रूप से स्थापित करना,—यह एक ऐसी क्रिया है जिसका व्यापार पूर्णरूपेण सम्पन्न होने से पहले प्रकृति के करणों की पूर्णता प्राप्त कर लेना आवश्यक है। और यद्यपि ये सब चीजें मिलकर अभी योग का सर्वस्व नहीं हैं तथापि ये वर्तमान सामान्य चेतना से कहीं अधिक महान् एक चेतना का निर्माण करती ही हैं जिसका आधार आध्यात्मिक है और जो एक महत्तर ज्योति, शक्ति एवं आनन्द से परिचालित होती है, और इतना कुछ सम्पन्न हो जाने के बाद यह अधिक सहज हो सकता है कि साधक इसीसे सन्तुष्ट रहे और यह सोचे कि दिव्य रूपान्तर के लिये जो कुछ भी आवश्यक था वह सभी पूरा हो चुका है।

परन्तु प्रकाश की वृद्धि के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है; वह यह कि भागवत शक्ति मनुष्य में किस माध्यम के द्वारा कार्य करेगी ? क्या उसका कार्य सदा मन के द्वारा तथा मानसिक स्तर पर ही होगा अथवा वह किसी ऐसी महत्तर अतिमानसिक रचना के द्वारा होगा जो दिव्य क्रिया करने के लिये अधिक उपयुक्त माध्यम है और जो मानसिक व्यापारों को अपने हाथ में लेकर उनके स्थान पर स्वयं प्रतिष्ठित हो जायेगी ? यदि सदा मन को ही यन्त्र बने रहना है तो, यद्यपि हम अपने समस्त आन्तर और बाह्य मानवीय कर्म का सूत्रपात और सञ्चालन करनेवाली एक दिव्यतर शक्ति को जान जायेंगे तथापि इस शक्ति को अपने ज्ञान, संकल्प, आनन्द तथा अन्य सभी वस्तुओं को मानसिक आकार के रूप में गढ़ना होगा, और इसका अर्थ यह हुआ कि उसे उन ज्ञान आदि को एक निम्न प्रकार की क्रिया में परिवर्तित करना होगा जो भागवत चेतना और उसकी शक्ति की अपनी स्वाभाविक परमोच्च क्रियाओं से भिन्न होगी। मन अपनी सीमाओं में आध्यात्मिक,

शुद्ध एवं मुक्त होकर तथा पूर्णता प्राप्त करके अतिमानसिक वस्तुओं के सच्चे मानसिक रूपान्तर के यथासम्भव अधिक-से-अधिक निकट पहुंच सकता है, किन्तु हमें पता चल जायेगा कि अन्ततोगत्वा यह एक आपेक्षिक सच्चाई है और है एक अपूर्ण पूर्णता। मन अपने स्वभाव के ही कारण सर्वथा यथार्थ सचाई के साथ रूपान्तर नहीं कर सकता, न वह दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्द की एकीकृत पूर्णता के साथ कार्य ही कर सकता है, क्योंकि वह सान्त के विभागों के साथ विभाजन के आधार पर व्यवहार करने का यन्त्र है, अतएव, वह निम्नतर प्रकृति की क्रिया के लिये, जिसमें हम निवास करते हैं, एक गौण यन्त्र एवं एक प्रकार का प्रतिनिधि है। मन अपने अन्दर अनन्त को प्रतिबिम्बित कर सकता है, वह अपने-आपको उसके अन्दर विलीन कर सकता है, वह एक विशाल निष्क्रियता के द्वारा उसमें निवास कर सकता है, वह उसके निर्देशों को ग्रहण करके उन्हें अपने ढंग से क्रियान्वित कर सकता है,—एक ऐसे ढंग से जो सदैव खण्डात्मक एवं गौण होने के साथ-साथ न्यूनाधिक विकृति के अधीन होता है,—पर यह सब करता हुआ भी वह स्वयं अपने ही ज्ञान के द्वारा कार्य करते हुए अनन्त आत्मा का सीधा और पूर्ण यन्त्र नहीं बन सकता। अनन्त चेतना की क्रिया को संघटित करनेवाली और आत्मा के सत्य तथा उसकी अभिव्यक्ति के नियम के अनुसार समस्त वस्तुओं का निर्धारण करनेवाली भागवत संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञा मानसिक नहीं, वरन् अतिमानसिक वस्तु है और अपनी उस रचना में भी, जो मन के निकटतम है, वह अपनी ज्योति और शक्ति में मानसिक चेतना से उतनी ऊपर है जितनी कि मनुष्य की मानसिक चेतना निम्नतर प्राणियों के प्राणिक मन से ऊपर है। प्रश्न यह है कि सिद्ध मनुष्य कहांतक अपने-आपको मन से ऊपर उठा सकता है, अतिमानस के साथ किसी प्रकार का एकीकारक मिलन प्राप्त कर सकता है और अपने अन्दर अतिमानस का एक स्तर, एक प्रकार का विकसित विज्ञान निर्मित कर सकता है जिसके रूप और शक्ति-सामर्थ्य की सहायता से भागवत शक्ति, मानसिक रूपान्तर के द्वारा नहीं, वरन् अपनी अतिमानसिक प्रकृति में अन्तर्जात रूप से, सीधे ही कार्य कर सके।

यह विषय, हमारे चिन्तन और अनुभव की साधारण पद्धतियों से इतनी दूर का है कि इसके सम्बन्ध में पहले यह बता देना यहां आवश्यक है कि वैश्व विज्ञान या दिव्य अतिमानस क्या है, विश्व के वास्तविक कार्य-व्यापार में वह किस रूप में प्रकट होता है और मनुष्य के वर्तमान मनोविज्ञान के साथ उसके क्या सम्बन्ध हैं? तब यह स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि अतिमानस हमारी बुद्धि के निकट अतिबौद्धिक है और उसकी क्रियाएं हमारे बोध के प्रति गुह्य हैं, तो भी वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अबौद्धिक रूप से रहस्यमय हो, वरञ्च उसका अस्तित्व एवं प्रादुर्भाव जगत् की प्रकृति का एक अनिवार्य एवं तर्कसिद्ध सत्य है, हां, इसमें यह शर्त तो सदा ही है कि हम यह स्वीकार करें कि केवल जड़तत्त्व या मन ही नहीं, वरन् आत्मा भी

एक मूलभूत सद्वस्तु है और वह एक विश्वव्यापक उपस्थिति के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। सभी वस्तुएं अनन्त आत्मा की ही एक अभिव्यक्ति हैं जिसे वह अपनी ही सत्ता एवं चेतना में से और उस चेतना की अपने-आपको उपलब्ध, निर्धारित एवं चरितार्थ करनेवाली शक्ति के द्वारा सम्पन्न करती है। हम कह सकते हैं कि अनन्त इस सृष्टि में अपनी सत्ता की अभिव्यक्ति के नियम को अपने आत्म-ज्ञान की शक्ति के द्वारा व्यवस्थित करता है, यहां सृष्टि से अभिप्राय इस इन्द्रियगोचर जड़ जगत् से ही नहीं, वरन् उस सब कुछ से है जो इसके पीछे, सत्ता के किन्हीं भी स्तरों पर विद्यमान है। सभी वस्तुओं की व्यवस्था वही करता है, यह व्यवस्था वह किसी अदम्य निश्चेतन प्रेरणा के वश होकर नहीं, अपने मन की कल्पना या मौज के अनुसार नहीं, बल्कि अपनी असीम आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में अपनी सत्ता के, अपनी अनन्त सम्भाव्य शक्तियों के तथा उन सम्भाव्य शक्तियों में से आत्म-सर्जन करने की अपनी इच्छा के आत्म-सत्य के अनुसार करता है, और इस आत्म-सत्य का विधान ही वह अटल नियम है जो प्रत्येक उत्पन्न वस्तु को उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करने और विकसित होने को बाध्य करता है। जो अनन्त अपनी अभिव्यक्ति को इस प्रकार संघटित एवं व्यवस्थित करता है उसे प्रज्ञा (Intelligence) एवं शब्दब्रह्म (Logos) का नाम दिया जा सकता है, यद्यपि यह एक अनुपयुक्त नाम ही होगा। यह प्रज्ञा किंवा शब्दब्रह्म उस मानसिक प्रज्ञा से, जो हमारे लिये चेतना की ऊंची-से-ऊंची उपलब्ध भूमिका एवं अभिव्यक्ति है, स्पष्टतः ही एक अनन्तगुना महान् वस्तु है, ज्ञान में एक अधिक व्यापक, आत्म-शक्ति में एक अधिक अदमनीय, अपनी आत्म-सत्ता के आनन्द तथा अपनी सक्रिय सत्ता और कार्यकलाप के आनन्द दोनों में एक अधिक विशाल प्रज्ञा है। इसी प्रज्ञा को जो अपने-आपमें अनन्त है, पर अपने आत्म-सर्जन तथा कार्यकलाप में स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवस्था करनेवाली तथा ऐसी सुघटित है कि अपने-आप आत्म निर्धारण भी करती है, हम अपने वर्तमान प्रयोजन के लिये दिव्य अतिमानस या विज्ञान का नाम दे सकते हैं।

इस अतिमानस का मूल स्वभाव यह है कि इसका समस्त ज्ञान मूलतः तादात्म्य एवं एकत्व के द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है, और जब यह अपनेमें अनगिनत प्रत्यक्ष विभाग और प्रभेद-कारक परिवर्तन करता है तब भी, इसके व्यापारों में क्रिया करनेवाला समस्त ज्ञान, इन विभागों में भी, तादात्म्य और एकत्व द्वारा प्राप्त इस पूर्ण ज्ञान पर आधारित होता है और उसीके द्वारा धारित, प्रकाशित एवं परिचालित भी होता है। परम आत्मा सब जगह एक ही है और वह सभी वस्तुओं को अपनी सत्ता के रूप में और अपने ही अन्दर विद्यमान जानता है, उन्हें सदा इसी रूप में देखता है और अतएव उन्हें घनिष्ठ एवं पूर्ण रूप से जानता है, अर्थात् उनका वास्तविक और प्रतीयमान रूप, उनका सत्य और नियम तथा उनकी प्रकृति और क्रियावलि

का पूर्ण भाव, अर्थ और आकार जानता है। जब वह किसी पदार्थ को ज्ञान के विषय के रूप में देखता है तब भी वह उसे अपनी सत्ता के रूप में तथा अपने अन्दर देखता है, न कि किसी ऐसी वस्तु के रूप में जो उससे इतर या विभक्त हो और, अतएव, जिसकी प्रकृति, रचना एवं क्रियावलि के विषय में वह पहले अनभिज्ञ हो और उनके विषय में उसे जानने की जरूरत हो, जिस प्रकार मन पहले अपने विषय से अनभिज्ञ होता है और उसके सम्बन्ध में उसे जानना होता है, क्योंकि मन अपने विषय से विभक्त है और उसे किसी ऐसी वस्तु के रूप में देखता, अनुभव करता और मिलता है जो उससे भिन्न तथा उसकी अपनी सत्ता से बाहर हो। अपनी आभ्यन्तरिक सत्ता और उसकी गतियों के विषय में हमें जो मानसिक बोध है वह यद्यपि इस तदात्मता और आत्म-ज्ञान की ओर संकेत कर सकता है तथापि वह यही चीज नहीं है, क्योंकि जिन चीजों को वह देखता है वह हमारी सत्ता की मानसिक आकृतियां हैं न कि हमारी अन्तरतम या सम्पूर्ण सत्ता, और जो कुछ हमें दिखायी देता है वह हमारी सत्ता की एक आंशिक, गौण एवं ऊपरी क्रियामात्र है जब कि हमारी सत्ता के विस्तृततम भाग, जो अत्यन्त गुप्त रूप से सब चीजों का निर्धारण करते हैं, हमारे मन के लिये गुह्य ही हैं। मनोमय सत्ता के विपरीत, अतिमानसिक **आत्मा** को अपना, अपने सम्पूर्ण विश्व का तथा उन सब चीजों का, जो इस विश्व में उसकी रचनाएं एवं आत्म-आकृतियां हैं, वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि उसे उन सबका अन्तरतम एवं समग्र ज्ञान है।

परमोच्च **अतिमानस** के स्वभाव की दूसरी विशेषता यह है कि उसका ज्ञान समग्र होने के कारण एक वास्तविक ज्ञान है। सर्वप्रथम, उसमें एक परात्पर दृष्टि है और वह इस विश्व को विश्व की परिभाषा में ही नहीं देखता, बल्कि जिस सर्वोच्च एवं सनातन सद्वस्तु से यह उद्भूत होता है तथा जिसकी यह एक अभिव्यक्ति है उसके साथ इसके यथार्थ सम्बन्ध की दृष्टि से भी देखता है। वह वैश्व अभिव्यक्ति का सत्य, मूल-भाव, और सम्पूर्ण अर्थ जानता है, क्योंकि यह अभिव्यक्ति जिस सत्ता को अंशतः व्यक्त करती है उसके सम्पूर्ण सार एवं समस्त अनन्त सत्तत्त्व को तथा उसकी समस्त परिणामभूत और शाश्वत सम्भाव्य शक्ति को वह जानता है। वह सापेक्ष को ठीक-ठीक जानता है, क्योंकि वह उस निरपेक्ष और उसके सब सत्यों को जानता है जिसकी ओर सापेक्ष सत्य निर्देश करते हैं और जिसके वे खण्डात्मक या परिवर्तित या संवृत रूप हैं। दूसरे, वह विश्वमय है और जो कुछ भी वैयक्तिक है उस सबको वह विश्वमय या विराट् की परिभाषा में तथा व्यक्ति-सम्बन्धी अपनी परिभाषा में देखता है और इन सब वैयक्तिक रूपों को विश्व के साथ इनके यथार्थ और पूर्ण सम्बन्ध की स्थिति में धारण किये रहता है। तीसरे, व्यष्टिरूप पदार्थों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप से, उसकी दृष्टि समग्र है, क्योंकि वह प्रत्येक पदार्थ के उस अन्तरतम सारतत्त्व को जानता है जिसके कि और सभी

अंश परिणाम होते हैं, उसकी उस समग्रता को जानता है जो उसका पूर्ण स्वरूप है और उसके भागों तथा उनके सम्बन्धों एवं परस्पर निर्भरताओं को भी जानता है,—साथ ही वह अन्य पदार्थों के साथ उसके सम्बन्धों और उनपर उसकी निर्भरताओं को और विश्व के सकल गूढ़ार्थों और प्रकट उद्देश्यों के साथ उसके सम्बन्ध को भी जानता है।

इसके विपरीत, मन इन सब दिशाओं में सीमित और अशक्त है। मन जब बुद्धि की एक सतत उड़ान के द्वारा 'निरपेक्ष' की कल्पना कर भी लेता है तब भी वह उसके साथ तादात्म्य नहीं प्राप्त कर सकता, बल्कि वह एक प्रकार की मूर्च्छा या निर्वाण की स्थिति में उसके अन्दर लीन भर हो सकता है : वह कुछ-एक निरपेक्ष तत्त्वों का एक प्रकार का बोध या इंगितभर प्राप्त कर सकता है और फिर उन्हें वह मानसिक विचार के द्वारा एक सापेक्ष रूप में प्रस्तुत कर देता है। वह विराट् सत्ता को हृदयंगम नहीं कर सकता, बल्कि व्यष्टि के विस्तार या आपात-पृथक् वस्तुओं के संयोग के द्वारा उसके विषय में केवल किसी कल्पना पर पहुंच जाता है और अतएव उसे या तो एक अनिर्दिष्ट अनन्त या अनिर्धारित सत्ता या एक अर्द्ध-निर्धारित विशालता के रूप में या फिर केवल एक बाह्य योजना या निर्मित आकृति के रूप में देखता है। विराट् की अविभाज्य सत्ता एवं क्रिया, जो उसका वास्तविक सत्य-स्वरूप है, मन की समझ के बाहर रह जाता है, क्योंकि मन उसपर विश्लेषणात्मक ढंग से अर्थात् अपने विभाजनों को इकाइयां समझकर तथा संश्लेषणात्मक ढंग से, अर्थात् इन इकाइयों के अनेकविध संयोग बनाकर, विचार करता हुआ उसका ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु सारभूत एकत्व को नहीं पकड़ पाता और न पूर्ण रूप से उसकी परिभाषा में सोच ही सकता है, यद्यपि वह उसकी कल्पनातक पहुंच सकता है तथा उसके कुछ-एक गौण परिणाम भी प्राप्त कर सकता है। अपिच, वह व्यक्ति एवं प्रत्यक्षतः-पृथक् वस्तु को भी सच्चे और पूर्ण रूप में नहीं जान सकता, क्योंकि यहां भी वह उसी ढंग से आगे बढ़ता है अर्थात् वह उसके भागों, घटकों तथा गुणों का विश्लेषण करके उन्हें संयुक्त करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा वह उसकी एक योजना खड़ी करता है जो उसकी एक बाह्य आकृतिमात्र होती है। वह अपने विषय के तात्त्विक एवं अन्तरतम सत्य का संकेत प्राप्त कर सकता है, पर उस तात्त्विक ज्ञान में शाश्वत और ज्योतिर्मय रूप से निवास नहीं कर सकता, और न शेष सब चीजों पर भीतर से बाहर की ओर इस प्रकार कार्य ही कर सकता है कि बाह्य परिस्थितियां अपने अन्तरङ्ग सत्य और अर्थ में किसी ऐसे आध्यात्मिक तत्त्व का, जो विषय का सत्य स्वरूप होता है, अनिवार्य परिणाम, आत्म-प्राकट्य, रूप और कार्य प्रतीत हों। यह सब कार्य मन सम्पन्न नहीं कर सकता, हां, इसके लिये वह केवल यत्न कर सकता है तथा इसे एक रूपमात्र दे सकता है; पर अतिमानसिक ज्ञान के लिये यह एक सहजात और स्वाभाविक कार्य है।

इस भेद से अतिमानस की एक तीसरी विशेषता प्रकट होती है जो इन दो प्रकार के ज्ञानों का व्यावहारिक भेद हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। वह यह है कि अतिमानस प्रत्यक्ष रूप से ऋत-चित् है। अव्यवहित, सहजात और स्वयंस्फूर्त ज्ञान की दिव्य शक्ति है, एक विज्ञानमय विचार है जो सभी सत्यों को प्रकाशमान रूप में धारण करता है और ज्ञात से अज्ञाततक पहुंचने के लिये अज्ञानशक्ति-रूप मन की भांति संकेतों तथा तर्क-शृंखला आदि सोपानों पर निर्भर नहीं करता। अतिमानस अपना समस्त ज्ञान अपने ही अन्दर समाये हुए है, अपनी सर्वोच्च दिव्य प्रज्ञा के रूप में सम्पूर्ण सत्य को सनातन काल से धारण किये है और अपने निम्न, सीमित या व्यष्टिभावापन्न रूपों में भी उसे प्रसुप्त सत्य को अपने अन्दर से केवल बाहर लाना होता है,—यह वही अनुभव है जिसे प्राचीन मनीषी अपने इस कथन में व्यक्त करने का यत्न करते थे कि समस्त ज्ञान-प्राप्ति अपने वास्तविक उद्गम और स्वरूप में अन्दर विद्यमान ज्ञान की स्मृतिमात्र है। अतिमानस सनातन रूप से और सभी स्तरों पर सत्य से सचेतन और मनोमय तथा अन्नमय सत्ता में भी गुप्त रूप से विद्यमान है, मानसिक अज्ञान की धूमिल-से-धूमिल वस्तुओं को भी सब ओर से देखता और जानता है और उसकी प्रक्रियाओं को समझता है तथा उसकी प्रक्रियाओं के पीछे स्थित रहता हुआ उनका नियमन करता है, क्योंकि मन की प्रत्येक वस्तु अतिमानस से ही निकली है—और अवश्य ही उसीसे निकली होनी चाहिये क्योंकि प्रत्येक वस्तु आत्मतत्त्व से निकली है। जो कुछ भी मानसिक है वह सब अतिमानसिक सत्य का केवल एक आंशिक, परिवर्तित, संवृत या अर्द्ध-संवृत रूप है, उसके महत्तर ज्ञान का एक विकृत या गौण एवं अपूर्ण रूप है। मन अज्ञान से अपनी यात्रा शुरू करता है और ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। यथार्थ तथ्य यह है कि इस जड़ जगत् में वह एक आरम्भिक विराट् निश्चेतना में से प्रकट होता है जो वस्तुतः सर्वसचेतन आत्मा के अपनी एकाग्र एवं आत्म-विस्मृत कर्मशक्ति में निवर्तन का परिणाम है; और अतएव वह विकास-प्रक्रिया का एक अंग प्रतीत होता है, सर्वप्रथम वह प्रत्यक्ष सम्वेदन के लिये यत्नशील एक प्राणानुभूति के रूप में प्रकट होता है, उसके बाद सम्वेदन प्राप्त करने में समर्थ प्राणिक मन का उदय होता है और फिर ये उसमें से भावप्रधान एवं कामनामय मन, सचेतन संकल्पशक्ति तथा वर्द्धनशील बुद्धि—ये सब विकसित एवं व्यक्त होते हैं। इनमें से प्रत्येक अवस्था निगूढ़ अतिमानस एवं आत्मा की दबी हुई महत्तर शक्ति का आविर्भाव करनेवाली होती है।

मनुष्य का मन, जो अपने स्वरूप, अपने आधार और अपनी परिस्थितियों के विषय में चिन्तन एवं सुसम्बद्ध अन्वेषण करने तथा उन्हें समझने में समर्थ है, सत्यतक पहुंचता तो है पर मूल अज्ञान को पृष्ठभूमि में रखते हुए ही। यह सत्य अनिश्चितता और भ्रान्ति की सतत आच्छादक कुहेलिका से आकुलित होता है। मन

के निश्चय सापेक्ष होते हैं और अधिकांश में वे संदिग्ध निश्चय होते हैं या फिर वे एक तात्त्विक नहीं वरन् असमग्र एवं अपूर्ण अनुभव के सुनिश्चित खण्डात्मक निश्चयमात्र होते हैं। वह खोज-पर-खोज करता है, एक के बाद एक विचार पर पहुंचता है, एक अनुभव में दूसरा अनुभव जोड़ता है और परीक्षण पर परीक्षण करता है,—पर इस सब प्रक्रिया में वह खोता, त्यागता और भुलाता रहता है और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है उसे बहुत कुछ पुनः-पुनः प्राप्त करना होता है,—और वह युक्ति-तर्क के तथा अन्य प्रकार के क्रमों की, मूलतत्त्वों और उनकी परस्पर निर्भरताओं की तथा व्यापक सिद्धान्तों और उनके प्रयोग की शृंखला स्थापित करके अपने जाने हुए सभी तथ्यों में सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न करता है और अपनी उपाय-योजनाओं से एक ऐसी इमारत खड़ी कर लेता है जिसमें वह मानसिक ढंग से निवास और गति कर सके तथा कर्म, उपभोग और श्रम कर सके। यह मानसिक ज्ञान अपने विस्तार में सदा ही सीमित होता है : इतना ही नहीं, बल्कि इसके साथ ही मन अन्य स्वेच्छाकृत बाधाएं भी खड़ी कर लेता है, अपना मत बनाने की मानसिक युक्ति के द्वारा सत्य के कुछ अंगों और पक्षों को तो स्वीकार करता है और शेष सबको बहिष्कृत कर देता है, क्योंकि यदि उसने सभी विचारों को उन्मुक्त प्रवेश और क्रीड़ा की अनुमति दी, यदि वह सत्य की असीमताओं को सहन करने को सहमत हुआ, तो वह अपने-आपको समन्वयरहित विविधता तथा अनिर्धारित बृहत्ता में खो बैठेगा और कार्य करने तथा व्यावहारिक परिणामों एवं फलप्रद रचना की ओर बढ़ने में असमर्थ ही रहेगा। मानसिक ज्ञान जब अधिक-से-अधिक विशाल और पूर्ण होता है तब भी वह अप्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है, अर्थात् वह वास्तविक वस्तु का नहीं बल्कि उसके आकारों का ज्ञान होता है, प्रतिरूपों की एक पद्धति या संकेतों की एक योजनामात्र होता है,—निःसन्देह, यहां हम उन कतिपय विशेष गतियों को छोड़ देते हैं जिनमें वह अपने से परे जाता है अर्थात् मानसिक विचार को पार कर आध्यात्मिक तादात्म्य की ओर अग्रसर होता है, पर इस क्षेत्र में उसे कुछ-एक विच्छिन्न और तीव्र आध्यात्मिक अनुभूतियों से परे जाना अथवा ज्ञान के इन विरल तादात्म्यों के यथार्थ क्रियात्मक परिणाम निकालना या इन परिणामों को क्रियान्वित या व्यवस्थित करना अत्यन्त ही कठिन लगता है। इस गहनतम ज्ञान की पूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति और चरितार्थता के लिये बुद्धि से अधिक महान् किसी शक्ति की आवश्यकता है।

यह कार्य अनन्त के साथ घनिष्ठतया सम्बद्ध अतिमानस ही कर सकता है। अतिमानस सत्य के मूलभाव एवं सार, मुख एवं शरीर और परिणाम एवं कार्य को, तथा उसके मूल सिद्धान्तों और उनपर आश्रित उपसिद्धान्तों को एक ही अविभाज्य समष्टि के रूप में प्रत्यक्षतया देखता है और इसलिये परिस्थितिजन्य परिणामों को तात्त्विक ज्ञान की शक्ति के द्वारा गठित कर सकता है, आत्मा की अभिव्रताओं की

ज्योति में उसकी विविधताओं को उत्पन्न कर सकता है, उसके एकत्व के सत्य में उसके प्रतीयमान विभेदों को प्रकट कर सकता है। अतिमानस अपने निज सत्य का ज्ञाता और स्रष्टा है, मनुष्य का मन मिश्रित सत्य और भ्रान्ति के अर्द्ध-प्रकाश और अर्द्ध-अन्धकार में ही ज्ञान प्राप्त करता और सृजन करता है और एक ऐसी वस्तु का भी सृजन करता है जो उसे अपने से परे के किसी महत्तर तत्त्व से प्राप्त होती है, पर जिसे वह परिवर्तित और अनूदित करके हीन बना देता है। मनुष्य मानसिक चेतना में निवास करता है जो दो प्रकार की चेतनाओं के बीच में स्थित है। इसके एक ओर तो है विशाल अवचेतन जो मनुष्य की दृष्टि के लिये एक अन्धकारमय निश्चेतना है और दूसरी ओर है बृहत्तर अतिचेतन जिसे वह स्वभाववश एक अन्य पर ज्योतिर्मय निश्चेतना समझने की प्रवृत्ति रखता है, क्योंकि उसका चेतना-सम्बन्धी विचार उसके अपने मानसिक सम्वेदन और बुद्धिरूपी बीच के स्तरतक ही सीमित है। इस ज्योतिर्मय अतिचेतना में ही अतिमानस और आत्मतत्त्व के स्तर विद्यमान हैं।

और फिर, अतिमानस ज्ञाता होने के साथ-साथ कार्य और सृजन भी करता है। अतएव वह केवल प्रत्यक्ष सत्य-चेतना ही नहीं है बल्कि आलोकित, प्रत्यक्ष एवं स्वतः-स्फूर्त सत्य-संकल्प भी है। आत्मज्ञानसम्पन्न आत्मा के संकल्प में उसके ज्ञान और संकल्प के बीच कोई विरोध, विभाजन या भेद नहीं है और न हो ही सकता है। आध्यात्मिक संकल्पशक्ति परम आत्मा की चिन्मय सत्ता का तपस् या ज्ञानदीप्त बल है जो परम आत्मा में जो कुछ भी है उस सबको निर्भ्रान्त रूप से क्रियान्वित करता है। यह निर्भ्रान्त क्रिया सभी पदार्थों में, जो अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करते हैं, देखने में आती है। सभी बल-सामर्थ्य में जो अपने अन्दर विद्यमान शक्ति के अनुसार परिणाम और घटना की सृष्टि करता है, तथा प्रत्येक कार्य में जो अपने स्वरूप और उद्देश्य के अन्दर निहित फल और घटना को जन्म देता है यह क्रिया पायी जाती है। इसीको हम इसके विभिन्न पक्षों में प्रकृति का नियम, कर्म, नियति और दैव इन नानाविध नामों से पुकारते हैं। मन को ये वस्तुएं अपने बाहर या ऊपर अवस्थित किसी शक्ति की क्रियाएं प्रतीत होती हैं जिनमें स्वयं वह भी गुंथा एवं फंसा हुआ है और जिनमें वह एक प्रकार के सहायक व्यक्तिगत प्रयत्न के द्वारा ही हस्तक्षेप करता है। उसका प्रयत्न कुछ अंश में तो लक्ष्य को प्राप्त करता एवं सफल होता है, और कुछ अंश में असफल होता एवं लड़खड़ा जाता है। अपनी सफलता में भी वह अपने उद्देश्य से भिन्न या कम-से-कम महत्तर एवं सुदूरगामी लक्ष्यों के लिये अधिकांश में दबा दिया जाता है। मनुष्य की संकल्पशक्ति अज्ञान की अवस्था में आंशिक ज्योति के द्वारा या, अधिकतर, ज्योति की ऐसी चंचल शिखाओं के द्वारा ही कार्य करती है जो जितना राह दिखाती हैं उतना भटकाती भी हैं। उसका मन अज्ञान का एक करण है जो ज्ञान के मानदण्ड

स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है, उसकी संकल्पशक्ति भी अज्ञान का एक करण है जो सत्य के मानदण्ड स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है, और इसके परिणामस्वरूप, उसका सम्पूर्ण मन बहुत कुछ एक ऐसा घर है जो परस्पर-विरोधी सत्ताओं में बंटा हुआ एवं आत्म-विरोध से पूर्ण है। इसमें एक विचार दूसरे से संघर्ष करता रहता है, संकल्प प्रायः ही सत्य के आदर्श का या बौद्धिक ज्ञान का विरोध करता है। स्वयं संकल्प भी भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है, बुद्धि का संकल्प, भावप्रधान चित्त की इच्छाएं, आवेशमय एवं प्राणिक सत्ता की कामनाएं, स्नायविक और अवचेतन प्रकृति की उत्तेजनाएं और अन्धी या आधी अन्धी अदम्य प्रेरणाएं, और ये सब वस्तुएं किसी सामञ्जस्य की रचना बिल्कुल नहीं करतीं, बल्कि ये अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी विरोधों के बीच एक अनिश्चित संगति का निर्माण करती हैं। मन और प्राण के संकल्प का अर्थ होता है इधर-उधर ठोकरें खाते हुए यथार्थ शक्ति एवं यथार्थ तपस् की खोज करना जब कि शक्ति एवं तपस् के सच्चे और समग्र प्रकाश एवं मार्गदर्शन की पूर्ण उपलब्धि आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सत्ता के साथ एकत्व के द्वारा ही हो सकती है।

इसके विपरीत, अतिमानसिक प्रकृति सत्यमय, सुसमञ्जस और एकात्मक है, उसमें संकल्प और ज्ञान आत्मा की ज्योति और आत्मा की शक्तिमात्र हैं, शक्ति ज्योति को चरितार्थ करती है, ज्योति शक्ति को आलोकित करती है। विज्ञानमय भूमिका की उच्चात्युच्च अवस्था में वे परस्पर घनिष्ठ रूप से घुली-मिली हैं और उन्हें एक-दूसरे की बाट नहीं जोहनी पड़ती बल्कि वे एक ही क्रिया के रूप में प्रकट होती हैं, संकल्प अपने को आप ही आलोकित करता है, ज्ञान अपने को आप ही चरितार्थ करता है, दोनों एक साथ सत्ता की एक ही तीव्र धारा के रूप में प्रकट होते हैं। मन केवल वर्तमान को ही जानता है और इसकी विच्छिन्न गति में निवास करता है यद्यपि वह अतीत को स्मरण और सुरक्षित रखने और भविष्य का पहले से ही निर्धारण करने का तथा उसे उसी रूप में चरितार्थ होने के लिये बाध्य करने का यत्न करता है। अतिमानस को **त्रिकालदृष्टि** प्राप्त है; वह तीनों कालों को एक अविभाज्य गति के रूप में देखता है और यह भी देखता है कि इनमें से प्रत्येक के अन्दर दूसरे दो विद्यमान हैं। वह समस्त प्रवृत्तियों, सामर्थ्यों और शक्तियों को एकता की विभिन्न लीला के रूप में जानता है और एकमेव आत्मा की एक ही अभिन्न गति में उनके पारस्परिक सम्बन्ध को भी जानता है। अतएव अतिमानसिक संकल्प और कार्य परम आत्मा के अपने-आपको चरितार्थ करनेवाले सहजस्फूर्त सत्य के संकल्प और कार्य होते हैं। वे अपरोक्ष और समग्र ज्ञान की एक यथार्थ क्रिया होते हैं जो अपने सर्वोच्च रूप में निर्भ्रान्त भी होती है।

परमोच्च और विश्वगत **अतिमानस** महेश्वर और स्रष्टा-स्वरूप परमोच्च एवं विश्वगत आत्मा की सक्रिय ज्योति और तपः-शक्ति, **तपस्**, है जिसे हम योग में

दिव्य **प्रज्ञा** एवं **शक्ति** के रूप में किंवा ईश्वर के सनातन ज्ञान एवं संकल्प के रूप में अनुभव करते हैं। 'सत्' के उच्चतम स्तरों पर, जहां सभी कुछ ज्ञात है और सभी कुछ एक ही सत्ता की अंशभूत सत्ताओं, एक ही चेतना की चेतनाओं, एक ही आनन्द की आनन्दात्मक आत्म-रचनाओं तथा एक ही सत्य के अंशभूत अनेक सत्यों और सामर्थ्यों के रूप में व्यक्त होता है, उसके आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक ज्ञान का अविकल एवं समग्र आविर्भाव देखने में आता है। उन स्तरों से सम्बन्ध रखनेवाले हमारी अपनी सत्ता के स्तरों में जीव आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक प्रकृति में भाग लेता है और उसकी ज्योति, शक्ति और आनन्द में निवास करता है। अपने क्रमिक अवरोहण में जब हम अपने ऐहलौकिक स्वरूप के अधिक निकट पहुंचते हैं तो इस आत्मज्ञान का सान्निध्य एवं कार्य संकुचित हो जाता है, किन्तु अतिमानसिक प्रकृति की पूर्णता को तथा उसकी ज्ञान, संकल्प और कर्म की पद्धति को न भी सही पर उसके सार और स्वभाव को सदा सुरक्षित रखता है, क्योंकि वह अभी भी आत्मा के सारतत्त्व और स्वरूप में निवास करता है। जब हम जड़तत्त्व की ओर आत्मा के अवरोहण के सोपानों का अनुसरण करते हैं तो हम मन को उससे उत्पन्न एक ऐसी सत्ता के रूप में देखते हैं जो आत्मा की पूर्णता से तथा उसकी ज्योति और सत्ता की पूर्णता से दूर चली जाती है और जो विभाजन एवं विच्युति में निवास करती है, सूर्य के ज्योतिर्मण्डल में निवास नहीं करती, वरन् पहले तो उसकी निकटतर और फिर सुदूरतर रश्मियों में निवास करती है। किन्तु एक परमोच्च अन्तर्ज्ञानात्मक मन भी है जो अतिमानसिक सत्य को अधिक निकटता से ग्रहण करता है, पर यह भी एक ऐसी रचना है जो प्रत्यक्ष और महत्तर वास्तविक ज्ञान को छुपा देती है। इसी प्रकार एक बौद्धिक मन भी है जो एक प्रकाशमय अर्द्ध-अपारदर्शक आवरण है। यह आवरण उस सत्य को, जो अतिमानस को ज्ञात है, अपने प्रकाशमय पर विकृति पैदा करनेवाले तथा मूल स्वरूप को दबाकर उसमें फेरफार कर देनेवाले वातावरण में अवरुद्ध तथा प्रतिबिम्बित करता है। इससे भी निचले स्तर का एक मन है जो इन्द्रियों की आधारशिला पर निर्मित हुआ है। उसके तथा ज्ञानसूर्य के बीच एक घना बादल है, भावावेगों तथा सम्वेदनों का कुहासा एवं वाष्प है जिसमें कहीं-कहीं बिजलियां एवं ज्योतियां कौंध जाती हैं। इसी प्रकार एक प्राणमय मन भी है जिसका द्वार बौद्धिक सत्य की ज्योति के लिये भी बन्द है, और उससे भी नीचे अवमानसिक जीवन और जड़तत्त्व में परम आत्मा अपने-आपको मानों एक निद्रा और निशा में पूर्ण रूप से तिरोहित कर देता है, एक ऐसी निद्रा में जो एक धुंधले पर तीव्र स्नायविक स्वप्न में डूबी होती है, एक ऐसी निशा में जो एक यान्त्रिक स्वप्नचारिणी शक्ति की निशा होती है। निम्नतर सृष्टि के ऊपर जिस उच्च स्तर में हम अपने को आज पाते हैं वह इस निम्नतम अवस्था में से आत्मा के पुनर्विकास का एक स्तर है। यह स्तर हमारे अन्दर के इन सब निम्नतर स्तरों को

ऊपर उठाकर हमारे आरोहण-क्रम में अबतक सुविकसित मानसिक बुद्धि के प्रकाशतक ही पहुंचा है। आत्म-ज्ञान की पूर्ण शक्तियां और आत्मा की प्रदीप्त संकल्पशक्ति अभी भी हमसे परे, मन और बुद्धि के ऊपर, अतिमानसिक प्रकृति में अवस्थित हैं।

यदि आत्मा सभी जगह, यहांतक कि जड़तत्त्व में भी, विद्यमान है—वस्तुतः स्वयं जड़तत्त्व आत्मा का एक तमसाच्छन्न रूपमात्र है—और यदि अतिमानस परमात्मा के सर्वव्यापक आत्मज्ञान की विश्वगत शक्ति है जो सत्ता की समस्त अभिव्यक्ति की व्यवस्था करती है, तो जड़तत्त्व में तथा सभी जगह एक अतिमानसिक क्रिया अवश्य विद्यमान होनी चाहिये और वह एक अन्य प्रकार की निम्नतर एवं धूमिलतर क्रिया से कितनी ही आच्छन्न क्यों न हो, फिर भी जब हम सूक्ष्मता से देखेंगे तो हमें पता चलेगा कि वास्तव में अतिमानस ही जड़तत्त्व, प्राण, मन और बुद्धि को व्यवस्थित करता है। और जिस ज्ञान की ओर हम अब अग्रसर हो रहे हैं वह वस्तुतः यही है। प्राण, जड़तत्त्व और मन में जो चेतना दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित है उसकी एक सर्वथा प्रत्यक्ष अन्तरंग क्रिया भी है। उसकी वह, स्पष्टतः ही, निम्नतर माध्यम की प्रकृति और आवश्यकता के अधीन रहनेवाली एक अतिमानसिक क्रिया है। उसे हम आज उसके प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन तथा स्वयं-सक्रिय ज्ञान के अत्यन्त सुस्पष्ट लक्षणों के कारण अन्तर्ज्ञान का नाम देते हैं। वास्तव में उसका अन्तर्दर्शन ज्ञान के विषय के साथ किसी गुप्त तादात्म्य से उत्पन्न होता है। तथापि, जिसे हम अन्तर्ज्ञान कहते हैं वह अतिमानस की उपस्थिति का एक आंशिक संकेतमात्र है, और यदि हम इस उपस्थिति एवं शक्ति को इसके विशालतम रूप में लें तो हम देखेंगे कि यह एक गुप्त अतिमानसिक शक्ति है। इस (गुप्त शक्ति) में एक आत्म-सचेतन ज्ञान निहित है जो जड़प्राकृतिक शक्ति के सम्पूर्ण व्यापार को अनुप्राणित करता है। यह गुप्त अतिमानसिक शक्ति ही उस नियम को, जिसे हम प्रकृति का नियम कहते हैं, निर्धारित करती है, प्रत्येक पदार्थ की क्रिया को उसके अपने स्वधर्म के अनुसार धारण किये रहती है और समष्टि-सत्ता को सुसमन्वित तथा विकसित करती है। इसके बिना समष्टि-सत्ता एक ऐसी आकस्मिक रचना होती जो किसी भी क्षण अस्त-व्यस्तता के गर्त में गिरकर विध्वस्त हो सकती। प्रकृति का प्रत्येक नियम एक ऐसा नियम है जिसकी कार्यपद्धति की अनिवार्यताएं सुस्पष्ट और सुनिश्चित हैं, पर यदि हम उसकी इस अनिवार्यता के कारणपर तथा उसके नियम, छन्द-प्रमाण, संयोग, अनुकूलन एवं परिणाम के सातत्य के कारण पर विचार करने लगें तो पता चलता है कि उसकी (प्रकृति के नियम की) व्याख्या नहीं की जा सकती, बल्कि तब हमें पग-पग पर एक रहस्य और चमत्कार का सामना करना पड़ता है, और इसका कारण या तो यह है कि वह अपनी नियमितताओं में भी तर्कविरुद्ध एवं आकस्मिक है या यह है कि वह अतिबौद्धिक है तथा उसका सत्य

हमारी बुद्धि के मूल तत्त्व से अधिक महान् किसी तत्त्व के साथ सम्बन्ध रखता है। वह तत्त्व अतिमानस है; अर्थात् प्रकृति का गुप्त रहस्य है आत्मा के स्वयंभू सत्य की असीम शक्यताओं में से किसी वस्तु का संघटन। इस सत्य का स्वरूप पूर्ण रूप से तो उस आदि ज्ञान को ही प्रत्यक्ष होता है जो मूलभूत तादात्म्य से अर्थात् आत्मा के नित्य आत्म-अनुभव से उत्पन्न होता तथा उसीके द्वारा कार्य करता है। प्राण का समस्त कार्य तथा मन और बुद्धि का समस्त कार्य भी इसी प्रकार का है,—यह बुद्धि ही हमारी सत्ता का वह भाग है जो और सब भागों से पहले इस सत्य को अनुभव करता है कि एक महत्तर बुद्धि एवं सत्ता-सम्बन्धी विधान सर्वत्र क्रिया कर रहा है और जो अपनी विचार-रूपी रचनाओं के द्वारा उसे प्रकट करने का भी यत्न करता है, यद्यपि इस बात को वह सदा नहीं अनुभव करता कि जो सत्ता कार्य कर रही है वह मानसिक प्रज्ञा तथा बौद्धिक शब्दब्रह्म से भिन्न कोई और ही सत्ता है। वास्तव में इन सब प्रक्रियाओं का गुप्त परिचालन एक आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सत्ता के द्वारा ही होता है, पर इनकी प्रत्यक्ष पद्धति मानसिक, प्राणिक और भौतिक दिखायी देती है।

बहिर्मुख जड़ देह, प्राण और मन का अतिमानस की इस गुह्य क्रिया पर स्वत्व नहीं है, यद्यपि वे उस अटल नियम के द्वारा अधिकृत हैं तथा बलात् परिचालित भी होते हैं जिसे यह क्रिया उनके व्यापारों पर थोपती है। स्थूल भौतिक ऊर्जा में तथा परमाणु में एक शक्ति कार्य कर रही है जिसे हम कभी-कभी 'बुद्धि' एवं 'संकल्पशक्ति' के नाम से पुकारने को प्रेरित होते हैं (यद्यपि ये नाम हमारे कानों को खटकते हैं एवं अशुद्ध जान पड़ते हैं क्योंकि वह शक्ति तथा हमारी अपनी बुद्धि एवं संकल्पशक्ति असल में एक ही चीज नहीं हैं),—यूं कहें कि स्वयम्भू सत्ता की एक प्रच्छन्न अन्तर्ज्ञानशक्ति उनमें कार्य कर रही है,—परन्तु परमाणु और ऊर्जा उससे सचेतन नहीं हैं, वे तो जड़तत्त्व तथा पार्थिव शक्ति का एक ऐसा तमसाच्छन्न रूपमात्र हैं जो उसके आत्म-प्राकट्य के प्रथम प्रयास से उत्पन्न हुआ है। प्राणमय भूमिका के समस्त व्यापार में ऐसी अन्तर्ज्ञान-शक्ति की उपस्थिति हमें अधिक प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर होने लगती है, क्योंकि प्राण की भूमिका हमारे अपने (मानवीय) स्तर के अधिक निकट है। और जब प्राण प्रत्यक्ष इन्द्रियबोध और मन का विकास कर लेता है, जैसा कि वह पशु-सृष्टि में करता है, तब हम अधिक विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि उसमें एक प्राणिक अन्तर्ज्ञान विद्यमान है जो उसकी क्रियाओं के पीछे उपस्थित रहता है। वही पशु के मन में अन्ध प्रेरणा के एक सुस्पष्ट रूप में प्रकट हो उठता है,—अन्धप्रेरणा से हमारा मतलब एक स्वयंप्रेरित ज्ञानशक्ति से है जो पशु में बद्धमूल रूप से निहित है, वह अचूक, अपरोक्ष, स्वयम्भू तथा स्वतःचालित होती है तथा इस तथ्य को सूचित करती है कि उसकी सत्ता के किसी भाग में प्रयोजन, सम्बन्ध, पदार्थ या विषय का

ठीक-ठीक ज्ञान विद्यमान है। वह प्राणशक्ति तथा मन में कार्य करती है, तथापि स्थूल प्राण और मन का उसपर अधिकार नहीं है। वे उसके कार्य का ब्यौरा नहीं दे सकते, न अपनी इच्छा और संकल्प-शक्ति के अनुसार प्रेरणा की शक्ति का नियन्त्रण या विस्तार ही कर सकते हैं। यहां हमें दो चीजें दिखायी देती हैं, पहली यह कि प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान केवल एक सीमित आवश्यकता और प्रयोजन के लिये ही कार्य करता है और दूसरी यह कि प्रकृति के शेष सब व्यापारों में दो क्रियाएं देखने में आती हैं, एक तो स्थूल चेतना की अनिश्चित एवं अज्ञानमय क्रिया और दूसरी अन्तःप्रच्छन्न क्रिया जो एक गुप्त अवचेतन मार्ग-निर्देश की सूचक होती है। स्थूल चेतना अन्धान्वेषण एवं शोध की वृत्ति से पूर्ण है। ज्यों-ज्यों प्राण का स्तर ऊंचा उठता है तथा उसकी सचेतन शक्तियों का क्षेत्र विस्तृत होता है त्यों-त्यों स्थूल चेतना की यह वृत्ति घटने के बजाय बढ़ती ही है; परन्तु प्राणमय मन के अन्धान्वेषण के होते हुए भी अन्तस्थित गुप्त आत्मा हमें इस बात का निश्चित आश्वासन देती है कि प्रकृति का कार्य चलता रहेगा तथा प्राणी की आवश्यकता, भवितव्यता और उद्देश्य-सिद्धि के लिये जो परिणाम अपेक्षित है वह भी अवश्य उत्पन्न होगा। चेतना के एक-से-एक ऊंचे स्तर पर, मानव की तर्कशक्ति एवं बुद्धितक, बराबर यही क्रम चलता रहता है।

मनुष्य की सत्ता भी शारीरिक, प्राणिक, भाविक, आन्तरात्मिक और क्रियाशक्ति-मय सहजप्रेरणाओं और अन्तर्ज्ञानों से पूर्ण है, परन्तु वह पशु के समान उनपर निर्भर नहीं करता,—यद्यपि पशुओं तथा उनसे निम्नतर प्राणियों की सृष्टि की अपेक्षा मनुष्य में सहजप्रेरणाओं और अन्तर्ज्ञानों का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत तथा कार्य कहीं अधिक महान् हो सकता है, क्योंकि उसकी जो विकासात्मक प्रगति वर्तमान में साधित हो चुकी है वह उनकी अपेक्षा कहीं महान् है तथा उसकी सत्ता के भावी विकास की जो शक्यता उसके अन्दर गुप्त रूप में विद्यमान है वह और भी अधिक महान् है। उसने इन शक्तियों को दबा डाला है, इन्हें क्षयग्रस्त करके इनकी पूर्ण और प्रत्यक्ष क्रिया को खण्डित कर डाला है,—इन्हें विनष्ट नहीं कर दिया गया है बल्कि पीछे की ओर, तलशायी चेतना में, रोक रखा या ढकेल दिया गया है,—और इसके परिणामस्वरूप उसकी सत्ता का यह निम्नतर भाग अपने बारे में बहुत ही कम निश्चयवान् है, अपनी प्रकृति की दिशाओं के सम्बन्ध में बहुत ही कम विश्वासपूर्ण है, अपने विस्तृततर क्षेत्र में वह उससे कहीं अधिक अन्धान्वेषी, भ्रान्तिपूर्ण और स्खलनशील है जितना कि पशु का निम्नतर भाग उसकी क्षुद्रतर सीमाओं में होता है। ऐसा इस कारण होता है कि मनुष्य का वास्तविक धर्म किंवा सत्ता सम्बन्धी विधान यह है कि वह एक महत्तर आत्म-सचेतन सत्ता की खोज करे और तदनुरूप आत्म-अभिव्यक्ति के लिये भी यत्न करे। वह अभिव्यक्ति न तो पहले की तरह अन्धकारमय होनी चाहिये और न ही समझ-में-न-आनेवाली

आवश्यकता के द्वारा नियन्त्रित। बल्कि वह प्रकाश से युक्त होनी चाहिये तथा जो वस्तु अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही है उससे सचेतन और उसे पूर्णतर एवं समग्रतर अभिव्यक्ति देने में समर्थ होनी चाहिये। और अन्त में मनुष्य की सर्वोच्च पूर्णता यह होनी चाहिये कि वह अपने महत्तम एवं वास्तविक आत्मा के साथ अपने-आपको एक कर दे और उसके स्वयंस्फूर्त पूर्ण संकल्प और ज्ञान के द्वारा कार्य करे, वरन् यूं कहना चाहिये कि उसे उनके द्वारा कार्य करने दे (जब कि उसकी अपनी प्राकृत सत्ता आत्मा की अभिव्यक्ति का एक करणात्मक रूप बनी रहे)। इस अवस्था में पहुंचने के लिये उसका प्रमुख करण है तर्कशक्ति तथा तार्किक बुद्धि का संकल्प और जहांतक इस करण का विकास हुआ होता है वहांतक वह अपने ज्ञान और मार्गदर्शन के लिये इसपर निर्भर करने तथा शेष सारी सत्ता की बागडोर उसके हाथ में सौंपने को प्रेरित होता है। और यदि तर्कबुद्धि सर्वोच्च तत्त्व होती तथा अन्तरात्मा एवं अध्यात्म सत्ता का सबसे महान् और सुपर्याप्त साधन भी होती तो इसके द्वारा वह अपनी प्रकृति की सभी क्रियाओं को पूर्णतया जान सकता तथा पूर्णतया उनका मार्गदर्शन भी कर सकता। पर ऐसा वह पूर्ण रूप से नहीं कर सकता क्योंकि उसकी आत्मा उसकी बुद्धि से विशाल है और यदि मनुष्य तर्कमूलक संकल्प और बुद्धि के द्वारा अपने-आपको सीमित कर ले तो वह अपने आत्म-विकास, आत्म-अभिव्यक्ति, ज्ञान, कर्म और आनन्द पर विस्तार और गुण इन दोनों की दृष्टि से एक मनमानी सीमा लाद देता है। उसकी सत्ता के अन्य भाग भी आत्मा की विशालता और सर्वांगीणता में एक पूर्ण अभिव्यक्ति की मांग करते हैं और यदि तार्किक बुद्धि का अनमनीय यन्त्र उनकी अभिव्यक्ति के गुण को परिवर्तित कर दे तथा उसकी क्रिया को तराशकर एवं काट-छांटकर मनचाहा यान्त्रिक आकार दे दे तो वे अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। तर्कबुद्धि-रूपी देवता, बौद्धिक शब्दब्रह्म, महत्तर विज्ञानमय शब्दब्रह्म का एक आंशिक प्रतिनिधि एवं स्थानापन्न देवतामात्र है, और उसका कार्य प्राणी के जीवन पर प्रारम्भिक आंशिक ज्ञान और व्यवस्था का प्रभुत्व स्थापित करना है, परन्तु वास्तविक, अन्तिम और सर्वांगपूर्ण व्यवस्था तो आध्यात्मिक विज्ञान-तत्त्व का आविर्भाव होने पर ही स्थापित हो सकती है।

निम्नतर प्रकृति में विज्ञान या अतिमानस अन्तर्ज्ञान के रूप में अत्यन्त प्रबलतया विद्यमान है और अतएव अन्तर्ज्ञानात्मक मन के विकास के द्वारा ही हम स्वयंसत्, सहज-स्फूर्त और प्रत्यक्ष अतिमानसिक ज्ञान की ओर पहला पग उठा सकते हैं। मनुष्य की समस्त भौतिक, प्राणिक, भाविक, आन्तरात्मिक और क्रियाशील प्रकृति इन करणों की प्रच्छन्न अन्तर्ज्ञानात्मक आत्म-सत्ता में से उठनेवाले संकेतों को उपरितल पर ग्रहण करने से बनी है और उन्हें वह प्रकृति के स्थूल स्वरूप और शक्ति-सामर्थ्य की क्रिया में चरितार्थ करने के लिये सामान्यतः अन्धवत् और प्रायः

ही चक्करदार ढंग से यत्न करती है। प्रकृति का यह स्थूल रूप एवं शक्ति-सामर्थ्य आन्तरिक शक्ति और ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आलोकित नहीं है। उत्तरोत्तर विकसनशील अन्तर्ज्ञानात्मक मन को ही यह सर्वोत्तम सुयोग प्राप्त है कि उपर्युक्त करण जिस वस्तु को खोज रहे हैं उसे वह उपलब्ध कर सकता है तथा उन्हें उनकी आत्म-अभिव्यक्ति की अभीष्ट पूर्णतातक भी पहुंचा सकता है। तर्कशक्ति भी किन्हीं संकेतों का उपरितलीय नियामक बुद्धि के द्वारा किया गया एक विशेष प्रकार का प्रयोगमात्र है। ये संकेत वस्तुतः अन्तर्ज्ञानात्मक आत्मा की एक गुप्त शक्ति से आते हैं जो कभी-कभी अंशतः प्रत्यक्ष और सक्रिय भी होती है। उसकी समस्त क्रिया के आच्छन्न या अर्द्ध-आच्छन्न मूल बिन्दु पर कोई ऐसा तत्त्व पाया जाता है जो बुद्धि का रचा नहीं होता, बल्कि जो उसे सीधे अन्तर्ज्ञान के द्वारा या परोक्ष रूप में मन के किसी अन्य भाग के द्वारा प्रदान किया जाता है ताकि वह उसे बौद्धिक आकार और प्रक्रिया के रूप में ढाल सके। हमारी बुद्धि की निर्णयात्मक विवेकशक्ति एवं तर्कबुद्धि की यान्त्रिक प्रक्रिया, अपनी अधिक संक्षिप्त क्रियाओं में हो या अधिक विकसित क्रियाओं में, हमारे संकल्प और चिन्तन के सच्चे उद्गम और स्वाभाविक तत्त्व को जहां विकसित करती है वहां छुपाती भी है। महान्-से-महान् मनीषी वे हैं जिनमें यह छुपानेवाला पदार्थ झीना पड़ जाता है और जिनके मन में अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तन का भाग सबसे बड़ा होता है, जो अपने साथ सदा तो नहीं पर प्रायः ही बौद्धिक क्रिया की महान् सहचारिणी अभिव्यक्ति को भी अवश्य लाता है। परन्तु मनुष्य के वर्तमान मन में अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि कभी भी सर्वथा शुद्ध और पूर्ण नहीं होती, क्योंकि वह मन के माध्यम में कार्य करती है और मन तुरन्त ही उसे अपने अधिकार में लाकर उसपर निश्चित मनोमय तत्त्व की तह चढ़ा देता है। वह अभीतक इतनी प्रकट एवं विकसित नहीं हुई है और न इतनी पूर्णता को ही पहुंची है कि जो-जो क्रियाएं आज अन्य मानसिक करणों के द्वारा की जाती हैं उन सबके लिये वह पर्याप्त हो, न वह अभीतक इतनी सधायी ही गयी है कि उन्हें अपने हाथ में लेकर अपनी पूर्णतम एवं प्रत्यक्षतम तथा अत्यन्त सुनिश्चित एवं सक्षम क्रियाओं में रूपान्तरित कर सके अथवा उनके स्थान पर अपनी ऐसी क्रियाओं को प्रतिष्ठित कर सके। निःसन्देह, यह कार्य केवल तभी सम्पन्न हो सकता है यदि हम अन्तर्ज्ञानात्मक मन को उच्चतर अवस्था में पहुंचने के लिये एक साधन बनाकर उसके द्वारा स्वयं निगूढ़ अतिमानस को भी, जिसका वह एक मनोमय रूप है, अभिव्यक्त कर दें तथा अपनी सामने की चेतना में अतिमानस का एक बाह्य रूप एवं करण भी गठित कर लें। उस बाह्य रूप एवं करण के द्वारा अन्तरात्मा एवं आत्मा अपनी निज विशालता और ज्योति के रूप में अपनेको प्रकट कर सकेगी।

यह स्मरण रखना होगा कि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के परमोच्च अतिमानस तथा जीव को प्राप्त हो सकनेवाले अतिमानस में सदा ही भेद होता है।

मनुष्य अज्ञान की अवस्था में से आरोहण कर रहा है और जब वह ऊपर अतिमानसिक प्रकृति में पहुंचेगा तो वह वहां उसके आरोहण के क्रमों को देखेगा और उच्चतर शिखरोंतक आरोहण करने से पहले उसे निम्नतर स्तरों और सीमित सोपानों को निर्मित कर लेना होगा। वहां वह परम आत्मतत्त्व के साथ एकत्व के द्वारा अनन्त आत्मा की पूर्ण सारभूत ज्योति, शक्ति और आनन्द का रसास्वादन करेगा, परन्तु सक्रिय अभिव्यक्ति में इस आत्मा को उस आत्म-अभिव्यक्ति के स्वरूप के अनुसार आत्म-निर्धारण करना होगा तथा अपने-आपको व्यष्टि-रूप प्रदान करना होगा जिसे विश्वातीत और विश्वगत परमात्मा जीव में साधित करना चाहते हैं। ईश्वरोपलब्धि एवं ईश्वराभिव्यक्ति ही हमारे योग का, विशेषकर इसके सक्रिय पक्ष का, लक्ष्य है, और इसका अभिप्राय है हमारे अन्दर ईश्वर की दिव्य आत्म-अभिव्यक्ति, पर वह (अभिव्यक्ति) होती है मानवता की अवस्थाओं के अधीन तथा दिव्यीकृत मानव-प्रकृति के द्वारा।

अध्याय २०

अन्तर्ज्ञानात्मक मन

अतिमानस की मूल प्रकृति अनन्त सत्ता का, पदार्थों में विद्यमान विराट् आत्मा और पुरुष का, आत्म-चैतन्य और सर्वचैतन्य है। इसीके द्वारा वह अनन्त आत्मा विश्व के तथा उसकी सभी वस्तुओं के विकास और नियमित व्यापार के लिये अपनी प्रज्ञा तथा अमोघ सर्वशक्तिमत्ता को प्रत्यक्ष आत्म-ज्ञान के आधार पर तथा उसके स्वरूप के अनुसार संघटित करता है। हम कह सकते हैं कि अतिमानस सृष्टि के स्वामी परमात्मा का, **आत्मा, ज्ञाता, ईश्वर** का, 'विज्ञान'-स्वरूप करण है। जैसे वह अपने-आपको जानता है वैसे ही वह सब पदार्थों को भी जानता है—क्योंकि सब उसीके भूतभावमात्र हैं। उन सबको वह सीधे, समग्र रूप में और अन्दर से बाहर की ओर जानता है। उनकी हर एक बारीकी को और उनकी व्यवस्था को सहज-स्वाभाविक रूप से जानने के साथ-साथ वह प्रत्येक पदार्थ की सत्ता और प्रकृति के सत्य को तथा अन्य सब पदार्थों के साथ उस पदार्थ के सम्बन्ध को भी जानता है। और इसी प्रकार वह अपनी शक्ति के समस्त कार्य को अर्थात् उसके पूर्वनिमित्त को किंवा उसकी अभिव्यक्ति के कारण और प्रसंग तथा उसके फल या परिणाम को भी जानता है, सब वस्तुओं की असीम और ससीम दोनों प्रकार की सम्भाव्य शक्ति को तथा उस शक्ति में से उनकी प्रत्यक्ष वास्तविक क्षमता के चुनाव को और उनके अतीत, वर्तमान एवं भविष्य की शृंखला को भी जानता है। जगत् में विद्यमान किसी दिव्य पुरुष का संघटनशील अतिमानस उसके अपने कार्य और स्वभाव के तथा इसके घेरे में आनेवाले सभी विषयों के प्रयोजन के लिये तथा उनके क्षेत्र के अन्तर्गत इस उपयुक्त सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता का एक प्रतिनिधि होगा। किसी व्यक्ति में आविर्भूत अतिमानस भी एक इसी प्रकार का प्रतिनिधि होगा, उसका परिमाण और क्षेत्र चाहे जो भी हों। परन्तु एक देवता या दिव्य पुरुष में यह एक ऐसी शक्ति का साक्षात् एवं अव्यवहित प्रतिनिधि होगा जो अपने-आपमें असीम है और केवल कार्य में ही सीमित होती है, पर अपनी क्रिया में और किसी प्रकार से परिवर्तित नहीं होती, सत्ता के लिये स्वाभाविक तथा सदैव पूर्ण और मुक्त होती है। उधर मनुष्य में अतिमानस का कोई भी आविर्भाव एक क्रमिक तथा आरम्भ में एक अपूर्ण रचना जैसा ही होगा और उसके प्रथानुगत मन के लिये तो वह एक असाधारण और अलौकिक संकल्प एवं ज्ञान का व्यापार होगा।

पहली बात तो यह है कि वह उसके लिये एक ऐसी सहजात शक्ति के समान नहीं होगा जिसका उपभोग बिना किसी बाधा के सदा किया जाता है, बल्कि वह एक ऐसी गुप्त सम्भाव्य शक्ति के समान होगा जिसकी उसे खोज करनी है तथा

जिसके लिये उसके वर्तमान भौतिक या मानसिक संस्थान में कोई करण नहीं है : उसके लिये उसे या तो एक नये करण का विकास करना होगा या फिर वर्तमान करणों को अपनाकर या रूपान्तरित करके उन्हें इस कार्य के लिये उपयोगी बनाना होगा। उसका कार्य केवल यही नहीं है कि वह अपनी निगूढ़ सत्ता की अन्तःप्रच्छन्न गुहा में छुपे हुए अतिमानस के सूर्य को अनावृत कर दे, न यही है कि आध्यात्मिक गगन में इसके मुखमण्डल पर उसके मानसिक अज्ञान का जो पर्दा पड़ा हुआ है उसे हटा दे ताकि यह तुरन्त ही अपने पूर्ण वैभव के साथ चमक उठे, बल्कि उसका कार्य कहीं अधिक जटिल और दुष्कर है, क्योंकि वह एक विकसनशील प्राणी है और विश्वप्रकृति ने उसे अपने विकास के द्वारा, जिसका वह एक भाग है, एक निम्न कोटि के ज्ञान से ही सज्जित किया है, और ज्ञान की यह निम्न या मानसिक शक्ति अपनी दृढ़ाग्रही अभ्यस्त-क्रिया के द्वारा अपनी प्रकृति से अधिक महान् किसी नयी रचना में बाधा डालती है। सीमित ऐन्द्रिय मन को आलोकित करनेवाली सीमित मनोमय बुद्धि, तथा तर्क के प्रयोग के द्वारा उसका प्रचुर विस्तार करने की क्षमता जिसे सदा सम्यक्तया उपयोग में नहीं लाया जाता—ये दो ही वे शक्तियां हैं जिनके कारण आज अन्य सब पार्थिव प्राणियों से उसका भेद किया जाता है। यह इन्द्रियाश्रित मन, यह बुद्धि, यह तर्कशक्ति कितने ही अपूर्ण क्यों न हों फिर भी यही वे करण हैं जिनमें उसने विश्वास करना सीखा है और इनकी सहायता से उसने कुछ ऐसी आधारशिलाएं रखी हैं जिन्हें हिलाने के लिये वह उद्यत नहीं है, तथा ऐसी सीमा-रेखाएं खींची हैं जिनके बाहर पैर रखने में उसे निरी अव्यवस्था, अनिश्चितता एवं संकटपूर्ण साहस-यात्रा ही दिखायी देती हैं। अपिच, उच्चतर तत्त्व में संक्रमण करने का अभिप्राय उसके सम्पूर्ण मन, तर्कशक्ति और बुद्धि का दुष्कर रूपान्तर ही नहीं है बल्कि एक अर्थ में यह उनकी सब पद्धतियों का आमूल परिवर्तन भी है। अन्तरात्मा परिवर्तन की एक द्विधा-संकुल निर्णायक रेखा के ऊपर आरोहण करने पर देखती है कि उसकी पुरानी सभी क्रियाएं एक निम्नतर एवं अज्ञानयुक्त व्यापार के समान थीं और तब उसे एक अन्य प्रकार की क्रिया करनी होती है जो एक भिन्न आरम्भ-बिन्दु से शुरू होती है तथा जिसमें सत्ता की शक्ति का प्रचालन बिलकुल और ही प्रकार का होता है। यदि पशु के मन को तर्कशील बुद्धि के संकटपूर्ण साहस के लिये ऐन्द्रिय आवेग, ऐन्द्रिय समझ तथा सहजप्रेरणा के सुरक्षित आधार को चेतनतापूर्वक छोड़ने को कहा जाये तो वह सम्भवतः भयभीत होकर तथा अनिच्छावश इस प्रकार के प्रयत्न से पीठ फेर लेगा। मानसिक चेतना के रूपान्तर के कार्य में मानव-मन का इससे कहीं महान् परिवर्तन साधित करने के लिये आह्वान किया जायेगा और यद्यपि वह अपनी शक्यता के क्षेत्र में आत्म-सचेतन तथा साहसपूर्ण है तथापि वह सहज ही इसे अपने क्षेत्र से परे का मानकर ऐसे साहस-कार्य का परित्याग कर सकता है। सच पूछो तो यह

परिवर्तन तभी साधित हो सकता है यदि पहले हमारी चेतना के वर्तमान स्तर पर आध्यात्मिक विकास सम्पन्न हो जाये और विकास का यह कार्य सुरक्षित रूप से तभी हाथ में लिया जा सकता है जब मन अन्तःस्थित महत्तर आत्मा से सचेतन हो जाये, अनन्त के प्रति प्रेम से उन्मत्त हो उठे और भगवान् तथा उनकी शक्ति के सान्निध्य एवं मार्गदर्शन के सम्बन्ध में निःशंक हो जाये।

आरम्भ में इस रूपान्तर की समस्या का समाधान इस प्रकार होता है कि हम एक शक्ति की सहायता से, जो मानव-मन में पहले से ही कार्यरत है, एक मध्यवर्ती अवस्था में से गुजरते हैं। इस शक्ति को हम एक ऐसे तत्त्व के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जो अपनी प्रकृति में या कम-से-कम अपने उद्गम में अतिमानसिक है, यह अन्तर्ज्ञान की क्षमता है, एक ऐसी शक्ति है जिसकी उपस्थिति और क्रियाओं को हम अनुभव कर सकते हैं। जब यह कार्य करती है तो हम इसकी उच्च कोटि की कार्यदक्षता, ज्योति, साक्षात् अन्तःप्रेरणा एवं सामर्थ्य से प्रभावित होते हैं, पर हम इसे उस प्रकार हृद्गत या विश्लेषित नहीं कर सकते जिस प्रकार हम अपनी बुद्धि की क्रियाओं को हृद्गत या विश्लेषित करते हैं। तर्कबुद्धि अपने स्वरूप को तो समझती है, पर जो तत्त्व उससे परे है उसे वह नहीं समझती,—उसका तो वह केवल एक सामान्य आकार या प्रतिरूप ही बना सकती है; केवल अतिमानस ही अपनी क्रियाओं की प्रणाली को जान सकता है। अन्तर्ज्ञान की शक्ति अभी हमारे अन्दर अधिकांशतः गुप्त ढंग से ही कार्य करती है। वह तर्कशक्ति तथा सामान्य बुद्धि की क्रिया में प्रच्छन्न एवं आवेष्टित या उसके द्वारा अधिकतर आवृत रहकर ही क्रिया करती है। जहांतक वह एक स्पष्ट पृथक् क्रिया के रूप में बाहर प्रकट होती भी है वहांतक भी वह कभी-कभी, आंशिक एवं खण्डात्मक रूप में तथा रुक-रुककर ही प्रकट होती है। वह एक आकस्मिक प्रकाश फेंकती है, एक ज्योतिर्मय सुझाव देती है अथवा एक एकाकी उज्ज्वल संकेत-सूत्र फेंक देती है या फिर कुछ-एक पृथक्-पृथक् या सम्बद्ध अन्तर्ज्ञानों, भास्वर विवेकों, अन्तःप्रेरणाओं या साक्षात्कारों को बिखेर देती है, और इस बात को तर्कशक्ति, संकल्प-बल, मानसिक बोधशक्ति या बुद्धि पर छोड़ देती है कि हमारी सत्ता की गहराइयों या शिखरों से सहायता का यह जो बीज उन्हें प्राप्त हुआ है उसके साथ उनमें से प्रत्येक जो कुछ कर सके या करना चाहे वह करे। मानसिक शक्तियां तुरन्त ही इन वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाने में तथा हमारे मन या प्राण के कार्यों के लिये इनका संचालन एवं उपयोग करने, इन्हें निम्न ज्ञान के रूपों के अनुकूल बनाने, मानसिक सामग्री और सुझाव के भीतर लपेट देने या इनके अन्दर उनका संचार करने में लग जाती हैं। इस प्रक्रिया में वे प्रायः ही इनके सत्य में हेरफेर कर देती हैं और इनमें उक्त वस्तुओं की मिलावट करके तथा इन्हें निम्नतर करण की आवश्यकताओं के प्रति इस प्रकार अधीन करके वे इनकी

आलोकदायिनी गुप्त शक्ति को सदा ही सीमित कर देती हैं। प्रायः सदा ही वे इन्हें एक ओर तो जरूरत से बहुत ही कम महत्त्व देती हैं, पर साथ ही दूसरी ओर इनका महत्त्व अत्यधिक बढ़ा भी देती हैं, महत्त्व कम तो इस प्रकार करती हैं कि इन्हें स्थिर होने के लिये तथा आलोकदान के हित अपनी पूरी शक्ति का विस्तार करने के लिये समय ही नहीं देतीं, महत्त्व को बढ़ाती इस प्रकार हैं कि वे इनपर, बल्कि असल में मन इन्हें जिस रूप में परिणत कर देता है उसपर, अत्यधिक आग्रह करती हैं, यहांतक कि अन्तर्ज्ञानशक्ति का अधिक संगत प्रयोग करने से जिस विशालतर सत्य की प्राप्ति हो सकती थी उसे बहिष्कृत ही कर देती हैं। इस प्रकार साधारण मानसिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करती हुई अन्तर्ज्ञानशक्ति विद्युत् की प्रभाओं के रूप में कार्य करती है जो सत्य के एक प्रदेश को आलोकित कर देती हैं, पर यह सूर्य की वह स्थिर ज्योति नहीं है जो हमारे विचार, संकल्प, भाव और कर्म के सम्पूर्ण विस्तृत क्षेत्र और राज्य को सुरक्षित रूप से प्रकाशमान कर देती है।

इससे यह तुरन्त ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि इस ओर प्रगति करने के लिये दो आवश्यक दिशाएं हैं जिनका हमें अनुसरण करना चाहिये। पहली यह है कि हम अन्तर्ज्ञान की क्रिया का विस्तार करते जायें तथा उसे अधिक स्थिर, दृढ़, नियमित एवं सर्वग्राही बनाते चले जायें जिससे अन्त में वह हमारी सत्ता के लिये इतनी अन्तरंग और सामान्य हो जाये कि जो-जो कार्य आज साधारण मन के द्वारा किये जाते हैं उन सभी को वह अपने हाथ में ले सके तथा सम्पूर्ण आधार में उसका स्थान ग्रहण कर सके। यह कार्य पूर्ण रूप से तबतक नहीं किया जा सकता जबतक साधारण मन स्वतन्त्र कार्य और हस्तक्षेप करने की अपनी शक्ति को या अन्तर्ज्ञान की ज्योति पर अधिकार जमाकर उसे अपने कार्यों के लिये प्रयुक्त करने के अपने स्वभाव को बलपूर्वक समर्थित करता रहता है। उच्चतर मन तबतक पूर्ण या सुरक्षित नहीं बन सकता जबतक निम्न बुद्धि उसे विकृत करने में अथवा यहांतक कि उसके अन्दर अपना किसी प्रकार का मिश्रण करने में भी समर्थ रहती है। और, उस दशा में हमें या तो बुद्धि को तथा बौद्धिक संकल्प एवं अन्य निम्न क्रियाओं को सर्वथा शान्त करके केवल अन्तर्ज्ञान की क्रिया को ही अवकाश देना होगा या फिर निम्न क्रिया को अपने अधिकार में लाकर अन्तर्ज्ञान के सतत दबाव से रूपान्तरित करना होगा। अथवा, इन दोनों विधियों को बारी-बारी से एवं मिलाकर प्रयुक्त करना होगा यदि यही उपाय सबसे अधिक स्वाभाविक हो या यदि यह किंचित् भी सम्भव हो। योग की क्रियात्मक प्रक्रिया एवं अनुभव यह दिखलाता है कि अनेक विधियां या क्रियाएं सम्भव हैं जिनमें से कोई भी अकेली व्यवहार में पूरा परिणाम उत्पन्न नहीं करती, भले प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत क्यों न हो कि तर्कतः प्रत्येक विधि या क्रिया परिणाम उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होनी चाहिये या हो सकती है। और जब हम किसी विशेष विधिपर एकमात्र यथार्थ विधि के रूप

में आग्रह न करना सीख जाते हैं तथा सम्पूर्ण क्रिया को एक महत्तर पथ-प्रदर्शन पर छोड़ देते हैं तो हम देखते हैं कि योग का दिव्य स्वामी हमारी सत्ता और प्रकृति की आवश्यकता और दिशा के अनुसार विभिन्न समयों पर किसी एक या दूसरी विधि का किंवा एक साथ सभी का उपयोग करने का कार्य अपनी शक्ति को सौंप देता है।

पहले-पहल ऐसा प्रतीत होगा कि मन को सर्वथा नीरव कर देना, बुद्धि, मानसिक और वैयक्तिक संकल्प, कामनामय मन तथा भावप्रधान एवं संवेदनात्मक मन को नीरव कर देना और उस पूर्ण नीरवता में परम पुरुष, परम आत्मा एवं भगवान् को स्वयं प्रकट होने देना तथा अतिमानसिक ज्योति, शक्ति एवं आनन्द के द्वारा अपनी सत्ता को आलोकित करने का कार्य उनपर छोड़ देना ही सीधा और ठीक मार्ग है, और निःसंदेह यह एक महती और शक्तिशालिनी साधना है। स्थिर और शान्त मन ही क्षुब्ध और सक्रिय मन की अपेक्षा कहीं अधिक आसानी से और अधिक महान् पवित्रता के साथ अनन्त की ओर खुलता है, परम आत्मतत्त्व को प्रतिबिम्बित करता है, परम आत्मा से ओतप्रोत हो जाता है और एक समर्पित एवं परिपूत मन्दिर की भांति हमारी समस्त सत्ता और प्रकृति के प्रभु के प्रादुर्भाव की प्रतीक्षा करता है। यह ठीक भी है कि इस नीरवता की स्वतन्त्रता अन्तर्ज्ञानात्मक सत्ता की बृहत्तर लीला को सम्भव बना देती है तथा अन्दर से उद्भूत या ऊपर से अवतरित होनेवाले महान् अन्तर्ज्ञानों, अन्तःप्रेरणाओं और साक्षात्कारों को मानसिक अन्धान्वेषण एवं आक्रमण की किसी बड़ी बाधा और गड़बड़ी के बिना प्रवेश करने देती है। अंतः यह एक बड़ी भारी प्राप्ति होगी कि हम मन की एक पूर्ण शान्ति एवं नीरवता को, जो मानसिक चिन्तन या हलचल और क्षोभ की किसी भी आवश्यकता से मुक्त हो, अपनी इच्छा के अनुसार आयत्त करने में सदा समर्थ होने की योग्यता प्राप्त कर सकें तथा उस नीरवता की नींव पर स्थित होकर, अपने अन्दर विचार, संकल्प और वेदन को तभी घटित होने दें जब भागवत शक्ति ऐसा चाहे और जब भागवत उद्देश्य के लिये ऐसा होना आवश्यक हो। तब विचार, संकल्प और वेदन के ढंग तथा स्वरूप को परिवर्तित करना अधिक सुगम हो जाता है। तथापि यह कहना ठीक नहीं कि इस विधि से अतिमानसिक ज्योति तुरन्त ही निम्न मन तथा चिन्तनशील बुद्धि का स्थान ले लेगी। नीरवता के बाद जब आन्तरिक क्रिया शुरू होगी, तब वह चाहे प्रधानतया अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तना और क्रिया ही क्यों न हो, फिर भी पुरानी शक्तियां हस्तक्षेप करेंगी, यदि वे अन्दर से हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगी तो बाहर से सैंकड़ों सुझावों के द्वारा करेंगी, साथ ही एक निम्नतर मानसिकता उसके अन्दर आकर मिल जायेगी, महत्तर क्रिया के बारे में सन्देह उत्पन्न करेगी अथवा उसमें बाधा डालेगी या उसपर अधिकार जमाने की चेष्टा करेगी तथा ऐसा करते हुए उसे क्षुद्रतर या अन्धकारमय या विकृत करने या उसका मूल्य अधिक-से-

अधिक गिराने का यत्न करेगी। अतएव, निम्न मन के उच्छेद या रूपान्तर की प्रक्रिया की आवश्यकता सदा ही अटल रूप में बनी रहती है,—या शायद उच्छेद और रूपान्तर दोनों ही एक साथ आवश्यक होते हैं, जो चीजें निम्न सत्ता के सहजात अङ्ग हैं उन सबका उच्छेद, उसके विरूपताजनक गुण-धर्मों का, मूल्य को कम करने तथा तत्त्व को विकृत करने की उसकी वृत्तियों का तथा ऐसी अन्य सभी वस्तुओं का उच्छेद जिन्हें महत्तर सत्य आश्रय नहीं दे सकता, और उन तात्त्विक वस्तुओं का रूपान्तर जिन्हें हमारा मन अतिमानस और आत्म-तत्त्व से ग्रहण करता है, पर जिन्हें वह मानसिक अज्ञान के ढंग से अज्ञानमय रूपों में प्रस्तुत करता है।

दूसरी क्रिया या विधि वह है जो भक्तिमार्ग के अपने विशेष साधनसूत्र के साथ योगाभ्यास का आरम्भ करनेवाले लोगों के सामने स्वभावतः ही उपस्थित होती है। उनके लिये यह स्वाभाविक ही है कि वे बुद्धि और उसकी क्रिया को त्यागकर अन्तर्वाणी पर कान दें, प्रेरणा या आदेश की प्रतीक्षा करें, अपने अन्तरस्थ ईश्वर के, प्राणिमात्र के हृदय में अवस्थित भागवत आत्मा एवं पुरुष के, **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे**, विचार, संकल्प और शक्ति का ही अनुसरण करें, यह एक ऐसी क्रिया या विधि है जो अवश्य ही सारी-की-सारी प्रकृति को अधिकाधिक अन्तर्ज्ञानमय करती चली जायेगी, क्योंकि हृदय में रहनेवाले निगूढ़ पुरुष से जो विचार, संकल्प, प्रेरणाएं और भाव आते हैं उनका स्वरूप प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान का ही होता है। यह विधि हमारी प्रकृति के एक विशेष सत्य के साथ मेल खाती है। हमारे अन्दर का निगूढ़ आत्मा अन्तर्ज्ञानमय आत्मा है और यह अन्तर्ज्ञानमय आत्मा हमारी सत्ता के प्रत्येक केन्द्र में, अर्थात् भौतिक, स्नायविक, भाविक, संकल्पात्मक, प्रत्ययात्मक या बोधात्मक केन्द्रों में तथा इनसे ऊपर के उन केन्द्रों में भी स्थित है जो अधिक प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक हैं और हमारी सत्ता के प्रत्येक भाग में यह हमारे कार्यों का आरम्भ करानेवाली एक गुप्त अन्तर्ज्ञानात्मक प्रेरणा का सञ्चार करती है जिसे हमारा बाह्य मन अपूर्ण रूप से ग्रहण तथा प्रकट करता है और जो हमारी प्रकृति के इन भागों की बाह्य क्रिया में अज्ञान की चेष्टाओं के रूप में परिणत हो जाती है। चिन्तनात्मक कामनामय मन का भावप्रधान केन्द्र अर्थात् हृदय साधारण मनुष्य में सबसे प्रबल केन्द्र होता है, चेतना के समक्ष पदार्थों के जो रूप प्रस्तुत होते हैं उन्हें वही जुटाता है या कम-से-कम स्थूल रूप प्रदान करता है तथा वही देह-संस्थान का मुख्य केन्द्र है। वहीं से सब भूतों के हृदय में स्थित ईश्वर उन्हें मानसिक अज्ञान की माया के द्वारा इस प्रकार घुमाते हैं मानों वे प्रकृति के यन्त्र पर आरूढ़ हों। सुतरां, अपने कर्म का समस्त आरम्भ इस निगूढ़, अन्तर्ज्ञानमय पुरुष एवं आत्मा को, अपने अन्तःस्थ सदा-उपस्थित परमेश्वर को, सौंपकर और उसके प्रभावों को अपनी व्यक्तिगत एवं मानसिक प्रकृति की प्रेरणाओं के स्थान पर प्रतिष्ठित करके निम्न

बाह्य चिन्तन और कर्म से एक अन्य प्रकार के, आभ्यन्तरिक एवं अन्तर्ज्ञानात्मक तथा अत्यन्त अध्यात्मभावित चिन्तन और कर्म पर पहुंचना सम्भव है। तथापि इस क्रिया या विधि का परिणाम सर्वांगपूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि हृदय हमारी सत्ता का सर्वोच्च केन्द्र नहीं है, वह न तो अतिमानसिक केन्द्र है और न सीधे तौर पर अतिमानसिक उद्गमों से परिचालित ही होता है। इस केन्द्र के द्वारा परिचालित अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तन एवं कर्म अत्यन्त प्रकाशपूर्ण और गभीर हो सकता है, पर वह अपनी तीव्रता में सीमित, यहांतक कि संकुचित भी हो सकता है, निम्न आवेगमय क्रिया से मिश्रित हो सकता है, और अपनी सर्वोत्तम अवस्था में भी वह अपनी क्रिया की या कम-से-कम अपने बहुत-से सहचारी तत्त्वों की अद्भुतता या असामान्यता के कारण उत्तेजित एवं विक्षुब्ध हो सकता है, असंतुलित या अतिरञ्जित हो सकता है। यह चीज सत्ता की समस्वरित पूर्णता के लिये हानिकारक है। पूर्णता-प्राप्ति के हमारे प्रयत्न का लक्ष्य यह होना चाहिये कि आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक क्रिया आगे के लिये एक चमत्कार न रहे, भले वह चमत्कार बारम्बार या निरन्तर ही क्यों न घटित होता हो, न वह हमारी प्राकृतिक शक्ति से महत्तर किसी शक्ति का ज्योतिर्मय हस्तक्षेपमात्र बना रहे, बल्कि वह हमारी सत्ता की एक सामान्य क्रिया तथा उसकी समस्त पद्धति का वास्तविक स्वरूप एवं नियम ही बन जाये।

हमारी देहबद्ध सत्ता का और देह में होनेवाले उसके कार्य का सर्वोच्च सुव्यवस्थित केन्द्र है—परमोच्च मनोमय केन्द्र जिसका चित्रण योगियों ने सहस्रदल कमल के यौगिक प्रतीक के द्वारा किया है, और उसके शिखर तथा सर्वोच्च चूड़ा पर ही अतिमानसिक स्तरों के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है। तब एक भिन्न प्रकार की एवं अधिक सीधी पद्धति का अवलम्बन करना सम्भव हो जाता है, वह पद्धति यह है कि अपने समस्त चिन्तन और कर्म का निर्णय हृत्पद्म में प्रच्छन्न प्रभु पर नहीं, बल्कि मन के ऊपर स्थित भगवान् के आवृत सत्य पर छोड़ा जाये और सब कुछ ऊपर से एक प्रकार के अवतरण के द्वारा प्राप्त किया जाये, इस अवतरण के प्रति हम तब आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक रूप से भी सचेतन हो जाते हैं। इस क्रिया की सिद्धि या सम्पूर्ण पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जब हम चिन्तन और सचेतन कर्म के केन्द्र को भौतिक मस्तिष्क से ऊपर ले जाने में तथा उन्हें सूक्ष्म शरीर के अन्दर घटित होते हुए अनुभव करने में समर्थ हो जायें। यदि हम अपने को पहले की तरह मस्तिष्क से नहीं, बल्कि सिर के ऊपर और बाहर के किसी केन्द्र से सूक्ष्म शरीर में चिन्तन करते हुए अनुभव कर सकें, तो वह भौतिक मन की सीमाओं से मुक्ति का अचूक स्थूल चिह्न है, और यद्यपि यह अवस्था एकदम ही पूर्ण नहीं हो जायेगी, न यह अकेली अपने-आपमें अतिमानसिक क्रिया को जन्म ही दे देगी, क्योंकि सूक्ष्म शरीर मन का बना हुआ है अतिमानस का नहीं, तथापि

यह सूक्ष्म और विशुद्ध मन की अवस्था है और अतिमानसिक केन्द्रों के साथ आदान-प्रदान को अधिक सुगम बना देती है। निम्नतर क्रियाएं फिर भी प्रकट होंगी, पर तब एक द्रुत और सूक्ष्म विवेकपूर्ण निर्णय पर पहुंचना अधिक सुगम प्रतीत होता है। वह निर्णय हमें तुरन्त ही दोनों क्रियाओं में भेद बतला देता है, अन्तर्ज्ञानात्मक विचार को निम्नतर बौद्धिक मिश्रण से अलग करके दिखला देता है, उसे उसके मानसिक आवरणों से निर्मुक्त कर देता है, मन की उन निरी वेगमय गतियों को अस्वीकार कर देता है जो अन्तर्ज्ञान के वास्तविक सार से रहित होती हुई भी उसके बाह्य रूप का अनुकरण करती हैं। तब सच्ची अतिमानसिक सत्ता के उच्चतर स्तरों को शीघ्र ही अनुभव करना और अभिष्ट रूपान्तर की सिद्धि के लिये उनकी शक्ति का यहां आवाहन करना अधिक सुगम हो जायेगा। साथ ही यह भी अधिक सहज हो जायेगा कि हम समस्त निम्नतर कार्यों को उच्चतर शक्ति एवं ज्योति के हाथों में सौंप दें ताकि वह उनका परित्याग एवं बहिष्कार या शोधन एवं रूपान्तर कर सके तथा हमारे अन्दर जिस परम सत्य का संघटन करना है उसके लिये उनमें समुचित सामग्री का चुनाव कर सके। एक उच्चतर भूमिका का तथा उसके अधिकाधिक उच्च स्तरों का इस प्रकार उद्घाटित होना और इसके परिणामस्वरूप हमारी सम्पूर्ण चेतना और उसके कार्य का उनके सांचे में ढलकर पुनः गठित होना तथा उनकी शक्ति एवं ज्योतिर्मय सामर्थ्य के सारतत्त्व में रूपान्तरित होना ही, व्यवहार में, भागवत शक्ति के द्वारा प्रयुक्त होनेवाली प्राकृतिक पद्धति का अधिक बड़ा भाग प्रतीत होता है।

चौथी विधि वह है जो विकसित बुद्धि के समक्ष स्वभावतः ही प्रस्तुत होती है और चिन्तनशील मनुष्य के अनुकूल है। वह यह है कि हम अपनी बुद्धि का बहिष्कार करने के स्थान पर उसका विकास करें, पर यह विकास हमें इस संकल्प के साथ करना चाहिये कि हमें उसकी सीमाओं को न पाल-पोसकर उसकी शक्ति, ज्योति एवं प्रखरता को तथा उसकी क्रिया के स्तर और शक्ति-सामर्थ्य को उन्नत करते जाना है जिससे कि अन्त में वह अपने से परे के तत्त्व के किनारे पर पहुंच जाये और उसकी उच्चतर सचेतन क्रिया में सहज ही उन्नीत और रूपान्तरित हो सके। साधना की यह क्रिया (विधि) भी हमारी प्रकृति के सत्य पर आधारित है और आत्मसिद्धि के सर्वांगीण योग की क्रिया-प्रक्रिया में स्थान पाती है। जैसा हम पहले कह आये हैं, इस क्रिया-प्रक्रिया का एक अङ्ग यह भी है कि हम अपने प्राकृत करणों और शक्तियों की क्रिया को उन्नत और महान् बनाते जायें। इस प्रकार अन्त में जब वे शुद्धता और सारभूत अविकलता प्राप्त कर लेते हैं तो हमारे अन्दर कार्य करनेवाली शक्ति की वर्तमान सामान्य क्रिया की प्रारम्भिक पूर्णता साधित हो जाती है। तर्कशक्ति एवं बुद्धिमूलक संकल्प अर्थात् बुद्धि इन शक्तियों और करणों में सबसे महान् है, विकसित मनुष्य में वह शेष सब करणों की

स्वाभाविक नेत्री है, अन्यों के विकास में सहायता करने में सर्वाधिक समर्थ है। हमारी प्रकृति की साधारण क्रियाएं एवं प्रवृत्तियां सब-की-सब, हमारी अभिलषित महत्तर पूर्णता के लिये उपयोगी हैं, उनके अस्तित्व का प्रयोजन ही यह है कि उन्हें महत्तर एवं पूर्णतर क्रिया के उपादान में परिणत किया जाये और उनका विकास जितना अधिक महान् होगा, अतिमानसिक क्रिया की तैयारी उतनी ही अधिक समृद्ध होगी।

योग में भागवत शक्ति को बौद्धिक सत्ता को भी हाथ में लेना होगा और उसे उसकी पूर्णतम एवं उन्नततम शक्तियोंतक ऊंचे उठा ले जाना होगा। उसके बाद बुद्धि का रूपान्तर हो सकता है, क्योंकि बुद्धि का समस्त कार्य-व्यापार गुप्तरूपेण अतिमानस से ही उद्‌भूत होता है, प्रत्येक विचार और संकल्प में उसका कुछ सत्य समाविष्ट होता है, भले वह बुद्धि की निम्न क्रिया के द्वारा कितना ही सीमित और परिवर्तित क्यों न हो गया हो। सीमा-मर्यादा को दूर करके तथा विरूप या विकृत करनेवाले तत्त्व का उच्छेद करके रूपान्तर साधित किया जा सकता है। पर यह कार्य केवल बौद्धिक क्रिया को उच्च और महत् बनाकर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह तो मनोमय बुद्धि के मूल सहजात दोषों के द्वारा सदा ही सीमित रहेगी। अतएव, अतिमानसिक शक्ति का हस्तक्षेप आवश्यक है जो उसकी विचार, संकल्प और वेदन-सम्बन्धी अपूर्णताओं को आलोकित करके दूर कर सके। यह हस्तक्षेप भी तबतक पूर्णतया प्रभावकारी नहीं हो सकता, जबतक कि अतिमानसिक स्तर अभिव्यक्त नहीं हो जाता और, पहले की तरह आवरण या पर्दे के पीछे से नहीं, भले वह पर्दा कितना ही पतला क्यों न हो गया हो,—बल्कि एक सुस्पष्ट और ज्योतिर्मय क्रिया के द्वारा, अधिक सतत भाव के साथ, मन के ऊपर से कार्य नहीं करने लगता। इस प्रकार अन्ततोगत्वा सत्य के सूर्य का परिपूर्ण मण्डल दिखायी देने लगता है जिसकी प्रभा को कोई भी मेघ कम नहीं कर सकता। यह भी आवश्यक नहीं है कि हस्तक्षेप के लिये अतिमानसिक शक्ति का आवाहन करने या उसके द्वारा अतिमानसिक स्तरों को उन्मुक्त करने से पहले बुद्धि को पृथक् रूप से पूर्णतया विकसित कर लिया जाये। हस्तक्षेप पहले भी आरम्भ हो सकता है और बौद्धिक क्रिया को तुरन्त ही विकसित कर सकता है तथा जैसे-जैसे वह विकसित हो वैसे-वैसे उसे उच्चतर अन्तर्ज्ञानात्मक रूप और सारतत्त्व में रूपान्तरित कर सकता है।

भागवत शक्ति की विशालतम स्वाभाविक क्रिया इन सब विधियों को मिलाकर प्रयुक्त करती है। वह कभी तो साधना की पहली ही अवस्था में और कभी किसी बाद की या शायद सबसे अन्तिम अवस्था में आध्यात्मिक निश्चल-नीरवता-रूपी मुक्ति को जन्म देती है। वह स्वयं मन में भी गुप्त अन्तर्ज्ञानात्मक सत्ता को खोल देती है और हमारे अन्दर ऐसा अभ्यास डालती है कि हम अपने समस्त विचार,

भाव, संकल्प और कर्म की प्रेरणा उन भगवान् से, ज्योतिर्मय एवं शक्तिस्वरूप भगवान् से ही प्राप्त किया करें जो आज मन की निभृत गुहाओं के अन्तस्तल में छुपे हुए हैं। जब हम तैयार हो जाते हैं तो वह उसकी क्रियाओं के केन्द्र को मनोमय भूमिका के शिखरतक उठा ले जाती है तथा अतिमानसिक स्तरों को खोल देती है और दो क्रियाओं के द्वारा अपने कार्यपथ पर आगे बढ़ती है। उनमें से एक क्रिया वह है जो ऊपर से निम्न स्तरों पर कार्य करती है तथा निम्न प्रकृति को पूरित एवं रूपान्तरित करती है। दूसरी क्रिया वह है जो नीचे से ऊपर की ओर गति करती है तथा नीचे की सभी शक्तियों को उस भूमिकातक उठा ले जाती है जो उनसे ऊपर है। ये क्रियाएं तबतक चलती रहती हैं जबतक निम्न भूमिका का अतिक्रमण पूरा नहीं हो जाता तथा सम्पूर्ण आधार का रूपान्तर समग्र रूप से सम्पन्न नहीं हो जाता। वह बुद्धि, संकल्प-वृत्ति तथा अन्य प्राकृत शक्तियों को हाथ में लेकर उनका विकास करती है, पर उनकी क्रिया को रूपान्तरित करने और विशाल बनाने के लिये वह पहले तो अन्तर्ज्ञानात्मक मन को पुनः-पुनः प्रकट करती है और पीछे सच्ची अतिमानसिक शक्ति को भी कार्य क्षेत्र में ले आती है। ये सब कार्य वह किसी ऐसे नियत और यान्त्रिकतया अपरिवर्तनीय क्रम से नहीं करती जिसकी मांग कट्टर तर्कबुद्धि कर सकती है, बल्कि यह सब वह अपने कार्य की आवश्यकताओं तथा प्रकृति की मांग के अनुसार स्वतन्त्र और नमनीय ढंग से करती है।

इस क्रिया का पहला परिणाम वास्तविक अतिमानस की सृष्टि नहीं बल्कि एक ऐसे बोधिमय मन का संघटन होगा जो प्रमुख रूप से या यहांतक कि पूर्णरूप से अन्तर्ज्ञानात्मक होगा तथा जो विकास-प्राप्त मनुष्य के साधारण मन एवं तर्कशील विवेकबुद्धि का स्थान लेने के लिये पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका होगा। सबसे मुख्य परिवर्तन यह होगा कि चिन्तन की क्रिया रूपान्तरित हो जायेगी। वह उच्च स्तर पर उन्नीत होकर घनीभूत ज्योति, घनीभूत शक्ति के तत्त्व से तथा ज्योति एवं शक्ति के घनीभूत आनन्द के तत्त्व से एवं प्रत्यक्ष यथातथता से परिपूरित हो जायेगी। यह ज्योति, शक्ति, आनन्द और यथातथता ही सच्चे अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तन के लक्षण हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन केवल प्राथमिक सुझाव या द्रुत निर्णय ही नहीं प्रदान करेगा बल्कि जो सम्बन्ध-योजक और विकास-साधक क्रियाएं आज बौद्धिक तर्कशक्ति के द्वारा संचालित होती हैं उन्हें वह इसी ज्योति और शक्ति से तथा सुनिश्चितता के इसी आनन्द और सत्य के इसी प्रत्यक्ष स्वयंस्फूर्त दर्शन के द्वारा संचालित भी करेगा। संकल्पशक्ति भी इसी अन्तर्ज्ञानात्मक रूप में रूपान्तरित हो जायेगी, 'कर्तव्यं कर्म' की ओर ज्योति और शक्ति के साथ सीधे ही अग्रसर होगी और सम्भावनाओं तथा यथार्थताओं पर द्रुत दृष्टि डालकर वह अपने कार्य एवं उद्देश्य के लिये आवश्यक संयोगों का तुरन्त निर्णय कर डालेगी। वेदन भी अन्तर्ज्ञानात्मक होंगे, वे

समुचित सम्बन्धों को एकदम अधिकृत कर लेंगे, नयी ज्योति, शक्ति और प्रसन्नतापूर्ण निश्चितता के साथ कार्य करेंगे, जबतक कामनाएं और भावावेश टिके रहेंगे तबतक वे केवल यथोचित और सहज स्फूर्त कामनाओं और भावावेगों को ही सुरक्षित रखेंगे, और जब वे हमारी सत्ता में से निकल जायेंगे तब वे उनके स्थान पर ज्योतिर्मय एवं स्वयंस्फूर्त प्रेम तथा एक ऐसे आनन्द को प्रतिष्ठित करेंगे जो अपने विषयों के यथार्थ रस को जानता है तथा तुरन्त अधिकृत कर लेता है। इनकी अन्य सब क्रियाएं भी इसी प्रकार आलोकित हो जायेंगी और यहांतक कि प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियाएं एवं शरीर की चेतना भी प्रकाश से दीप्त हो उठेगी। और प्रायः ही आन्तरिक मन और उसकी इन्द्रियों की उन सूक्ष्म (चैत्य) क्षमताओं, शक्तियों और अनुभूतियों का भी कुछ विकास होगा जो बाह्य स्थूल इन्द्रिय और तर्कबुद्धि पर निर्भर नहीं करतीं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन केवल एक अधिक शक्तिशाली और अधिक प्रकाशमय तत्त्व ही नहीं होगा, बल्कि योग के इस विकास के पूर्व एक मनुष्य का साधारण मन जो क्रिया कर सकता है उसका अन्तर्ज्ञानात्मक मन सामान्यतया उससे कहीं अधिक विशाल क्रिया कर सकेगा।

इस अन्तर्ज्ञानात्मक मन को यदि अपने स्वभाव में पूर्ण बनाया जा सके और यदि यह किसी निम्नतर तत्त्व से मिश्रित न हो और फिर भी अपनी सीमाओं से तथा अपनेसे परे के तत्त्व की महत्ता से अनभिज्ञ हो तो यह पशु के सहज-प्रेरणात्मक मन या मनुष्य के तर्कशील मन की भांति एक अन्य सुनिश्चित स्तर एवं विश्रामस्थल बन सकता है। परन्तु अन्तर्ज्ञानात्मक मन को तबतक स्थायी रूप से पूर्ण एवं स्वयं-समर्थ नहीं बनाया जा सकता जबतक कि उसके ऊपर अवस्थित अतिमानस की शक्ति का द्वार नहीं खुल जाता। यह शक्ति प्रकट होते ही उसकी सीमाएं स्पष्ट दर्शा देती है और उसे बौद्धिक मन तथा सच्ची अतिमानसिक प्रकृति के बीच की एक गौण क्रिया बना देती है। अन्तर्ज्ञानात्मक मन भी आखिर मन ही है, विज्ञान नहीं। निःसंदेह वह अतिमानस से आनेवाला एक प्रकाश है, पर वह प्रकाश जिस मनोमय भूमिका में कार्य करता है उसके तत्त्व के द्वारा विकृत तथा क्षीण हो जाता है, और सदा ही मन के तत्त्व से हमारा मतलब होता है—अज्ञान का आधार। अन्तर्ज्ञानात्मक मन की भूमिका भी सत्य की विशाल सूर्य-ज्योति नहीं बल्कि उसकी दीप्तियों की सतत क्रीड़ा होती है। वे दीप्तियां अज्ञान की या अर्द्धज्ञान तथा अप्रत्यक्ष ज्ञान की एक आधारभूत अवस्था को आलोकित किये रखती हैं। जबतक अन्तर्ज्ञानात्मक मन अपूर्ण होता है, तबतक अज्ञानयुक्त मन अपने मिश्रण के द्वारा उसपर आक्रमण करता रहता है और उसके सत्य पर भ्रांति का जाल बुन देता है। जब वह इस अन्तर्मिश्रण से अधिक मुक्त, एक विशालतर स्वाभाविक क्रिया को प्राप्त कर लेता है तब भी, जबतक उसका कार्यक्षेत्र अर्थात् मन का तत्त्व पुराने बौद्धिक या निम्नतर मानसिक अभ्यास को दुहराने में समर्थ रहता है तबतक उसमें

भ्रांति की उत्पत्ति एवं वृद्धि हो सकती है और वह अज्ञानान्धकार से आच्छन्न तथा अनेक प्रकार के पतनों में ग्रस्त हो सकता है। अपिच, व्यष्टि-मन अकेला तथा अपने लिये नहीं बल्कि समष्टि-मन में निवास करता है और जो कुछ भी वह त्याग चुका है वह उसके चारों ओर के सामष्टिक मनोमय वातावरण में जाकर मिल जाता है और पुराने सुझावों तथा पुराने मानसिक ढंग के अनेक संकेतों के साथ लौटकर उसपर आक्रमण करने की प्रवृत्ति रखता है। अतएव अन्तर्ज्ञानात्मक मन को, वह विकसित हो रहा हो या हो चुका हो, आक्रमण के और विजातीय वस्तु की वृद्धि के विरुद्ध सतत सावधान रहना होगा, मिश्रणों को त्यागने और बहिष्कृत करने के लिये जागरूक रहना होगा, मन के सम्पूर्ण तत्त्व को अधिकाधिक अन्तर्ज्ञानमय करने में संलग्न रहना होगा, और इसका परिणाम केवल यही हो सकता है कि वह स्वयं आलोकित एवं रूपान्तरित होकर अतिमानसिक सत्ता की पूर्ण ज्योति में उन्नीत हो जायेगा।

अपिच, मन का यह नया स्तर प्रत्येक मनुष्य में उसकी सत्ता की वर्तमान शक्ति का एक विकसित रूप है और इसके प्रगतिशील रूप कितने ही नये और अद्‌भुत क्यों न हों, फिर भी इसका सुव्यवस्थित व्यावहारिक रूप शक्ति के एक विशेष क्षेत्रतक ही सीमित है। निःसंदेह यह अपने-आपको हाथ में लिये हुए कार्यतक तथा अपनी चरितार्थ शक्ति के वर्तमान क्षेत्रतक सीमित रख सकता है, पर अनन्त की ओर खुले हुए मन का स्वभाव अपने-आपको विकसित, परिवर्तित और विस्तृत करने का होता है, तथापि अपने उक्त सीमा से परे जाने का साहस करने पर यह वहां अज्ञान में बौद्धिक खोज करने की पुरानी आदत के पुनः अधीन हो जाता है, भले वह आदत नये अन्तर्ज्ञानात्मक अभ्यास के कारण कितनी ही सुधर क्यों न गयी हो। जबतक पूर्णतर, अतिमानसिक ज्योतिर्मय शक्ति की अभिव्यक्त क्रिया इसे निरन्तर अतिक्रम करके इसका मार्गदर्शन नहीं करती तबतक यह पुरानी आदत के अधीन होता ही रहेगा। निःसंदेह इसका स्वरूप यह है कि यह वर्तमान मन और अतिमानस के बीच की एक शृंखला एवं संक्रमणात्मक अवस्था है और जबतक संक्रमण पूरा नहीं हो जाता तबतक कभी-कभी तो निम्न भूमिकाओं की ओर आकर्षण की और कभी-कभी ऊर्ध्वभूमिकाओं की ओर आरोहण की वृत्ति देखने में आती है, एक दोलायमान अवस्था अर्थात् नीचे से आक्रमण और आकर्षण तथा ऊपर से आक्रमण और आकर्षण की अवस्था बनी रहती है; और बहुत हुआ तो दो ध्रुवों के बीच की एक अनिश्चित एवं सीमित अवस्था स्थापित हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य की उच्चतर बुद्धि उसके निम्नस्थ, पाशव, रूढ़िप्रधान मानव-मन तथा ऊर्ध्वस्थ विकसनशील आध्यात्मिक मन के बीच अवस्थित है, उसी प्रकार आध्यात्मिक मन की यह पहली भूमिका बौद्धिक-भावापन्न मानव-मन तथा महत्तर अतिमानसिक ज्ञान के बीच अवस्थित है।

मन का स्वरूप यह है कि वह अधूरे प्रकाशों तथा अन्धकार के बीच, सुशक्यताओं और सम्भावनाओं के बीच, पूरी तरह से समझ में न आये हुए पहलुओं के बीच, अनिश्चितताओं और अर्द्धनिश्चितताओं के बीच निवास करता है : वह एक प्रकार का अज्ञान है जो ज्ञान को पकड़ में लाने की चेष्टा कर रहा है, अपने-आपको विशाल बनाने का यत्न कर रहा है और सच्चे विज्ञान के प्रच्छन्न रूप को उघाड़ने के लिये दबाव डाल रहा है। अतिमानस आध्यात्मिक निश्चितताओं की ज्योति में निवास करता है : वह मनुष्य के लिये एक ऐसा ज्ञान है जो अपनी सहजात ज्योति के वास्तविक रूप को प्रकट कर देता है। अन्तर्ज्ञानात्मक मन पहले-पहल एक ऐसे तत्त्व के रूप में प्रकट होता है जो मन के अर्द्ध-प्रकाशों, उसकी शक्यताओं और सम्भावनाओं, उसके नाना पहलुओं, उसकी अनिश्चित निश्चितताओं तथा स्थापनाओं को अपनी विद्युत्प्रभाओं से आलोकित करता है और इन वस्तुओं के द्वारा गोपित या अर्द्धगोपित एवं अर्द्ध-व्यक्त सत्य को प्रकाशित करता है। अपनी उच्चतर क्रिया में वह अतिमानसिक सत्य की प्रथम रश्मि लाता है। उसके लिये उसके साधन ये हैं—निकटतर प्रत्यक्षता के साथ साक्षात्कार, आत्मा के ज्ञान का ज्योतिर्मय संकेत या स्मृति, सत्ता के गुप्त विराट् अन्तर्दर्शन एवं ज्ञान के द्वारों में से अन्तर्ज्ञान प्राप्त करना या अन्दर देखना। यह उस महत्तर ज्योति एवं शक्ति का प्रारम्भिक और अपूर्ण सुगठित रूप है, अपूर्ण इसलिये कि वह उसकी चेतना के सहजात तत्त्व पर आधारित नहीं है बल्कि मन की भूमिका में गठित किया गया है, वह उसके साथ सतत सम्पर्क रखता है, पर उसकी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं शाश्वत उपस्थिति को मूर्त रूप में प्रकट नहीं करता। पूर्ण सिद्धि तो इससे परे अतिमानसिक स्तरों में निहित है और इसका आधार मन के तथा हमारी सम्पूर्ण प्रकृति के अधिक निश्चयात्मक एवं पूर्ण रूपान्तर पर प्रतिष्ठित है।

अध्याय २१

अतिमानस के क्रमिक सोपान

अन्तर्ज्ञानात्मक मन सत्य का एक ऐसा अव्यवहित रूपान्तर है जो उसे ज्योतिर्मय अतिमानसिक तत्त्व के द्वारा अर्द्ध-रूपान्तरित मानसिक परिभाषाओं के रूप में परिणत कर देता है, वह मन के ऊपर अतिचेतन आत्मा में कार्य करनेवाले किसी अनन्त आत्मज्ञान का एक परिवर्तित रूप है। जब हम उस आत्मा से सचेतन होते हैं तो हमें पता चलता है कि वह एक ऐसी महत्तर सत्ता है जो एक ही साथ हमारे ऊपर, अन्दर और चारों ओर विद्यमान है तथा हमारी वर्तमान सत्ता, हमारा मानसिक, प्राणिक और भौतिक व्यक्तित्व एवं प्रकृति जिसका एक अपूर्ण अंश या एक आंशिक एवं गौण रचना या फिर एक निम्न एवं अपर्याप्त प्रतीक है, और जैसे-जैसे अन्तर्ज्ञानात्मक मन हमारे अन्दर विकसित होता है, जैसे-जैसे हमारी सम्पूर्ण सत्ता एक अन्तर्ज्ञानात्मक तत्त्व के सांचे में अधिकाधिक ढलती जाती है, वैसे-वैसे हम अपने करणों का इस महत्तर आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता की प्रकृति में एक प्रकार का अर्द्ध-रूपान्तर अनुभव करते हैं। हमारे समस्त विचार, संकल्प, आवेग, भाव, यहांतक कि अन्त में हमारे अधिक बाह्य प्राणिक एवं शारीरिक सम्वेदन भी आत्मा से आनेवाले अधिकाधिक प्रत्यक्ष स्पन्दन बनते जाते हैं और उनकी प्रकृति भी अन्य प्रकार की, अधिकाधिक शुद्ध, अक्षुब्ध, शक्तिशाली एवं ज्योतिर्मय होती जाती है। यह रूपान्तर का केवल एक पहलू है : दूसरा पहलू यह है कि जो कोई भी चीज अभीतक निम्नतर सत्ता से सम्बन्ध रखती है, जो भी चीज हमें अभीतक बाहर से आती हुई लगती है या हमारे पुराने निम्नतर व्यक्तित्व की क्रिया का बचा हुआ अंश प्रतीत होती है, वह रूपान्तर का दबाव अनुभव करती है और उसकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अपने-आपको नये तत्त्व और नयी प्रकृति के अनुसार संशोधित एवं रूपान्तरित करने की ओर होती है। उच्चतर सत्ता नीचे उतर आती है और एक बहुत बड़े अंश में निम्नतर सत्ता का स्थान ले लेती है, पर साथ ही निम्नतर सत्ता भी परिवर्तित होती है, वह अपने-आपको उच्चतर सत्ता की क्रिया के उपादान में रूपान्तरित करती है तथा उसके सारतत्त्व का अङ्ग बन जाती है।

मन के ऊपर विद्यमान महत्तर आत्मा सर्वप्रथम एक उपस्थिति, ज्योति एवं शक्ति के रूप में, एक उद्गम एवं अनन्त तत्त्व में प्रतीत होती है, परन्तु उसका जितना भी अंश हम जान सकते हैं वह सब पहले-पहल सत्ता, चेतना, चित्-शक्ति और आनन्द का एक अनन्त अखण्ड स्वरूप ही होता है। शेष सब कुछ भी इसीसे आता है, पर वह हमारी मनोमय भूमिका के ऊपर, अन्तर्ज्ञानात्मक मन तथा उसके स्तर को छोड़कर, और कहीं भी विचार, संकल्प या अनुभूति का कोई निश्चित

आकार नहीं ग्रहण करता। या फिर हम यह अनुभव करते हैं तथा नाना रूपों में हमें यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि एक महान् एवं अनन्त पुरुष है जो उस सत्ता एवं उपस्थिति का एक नित्यतः-जीवन्त सत्य है, एक महान् एवं अनन्त ज्ञान है जो उस ज्योति एवं चेतना की एक गर्भित शक्यता है, एक महान् एवं अनन्त संकल्प-शक्ति है जो उस चिच्छक्ति की एक गर्भित शक्यता है, एक महान् एवं अनन्त प्रेम है जो उस आनन्द की एक गर्भित शक्यता है। परन्तु ये सब शक्यताएं, अपनी मूल उपस्थिति के प्रबल सत्य और प्रभाव से पृथक्, हमें किसी निश्चित रूप में वहींतक ज्ञात होती हैं जहांतक वे हमारी अन्तर्ज्ञानात्मक मनोमय सत्ता के प्रति उसके स्तरपर तथा उसकी सीमाओं के भीतर किसी अनूदित रूप में प्रकट होती हैं। तथापि जैसे-जैसे हम प्रगति करते हैं या जैसे-जैसे हम उस आत्मा या पुरुष के साथ एक अधिक ज्योतिर्मय एवं क्रियाशील एकत्व में विकसित होते हैं वैसे-वैसे ज्ञान, संकल्प और आध्यात्मिक वेदन की एक महत्तर क्रिया मन के ऊपर प्रकट होती है और अपने-आपको व्यवस्थित रूप देती प्रतीत होती है और इसे हम सच्चे अतिमानस के रूप में तथा अनन्त ज्ञान, संकल्प और आनन्द की वास्तविक एवं स्वाभाविक क्रीड़ा के रूप में पहचानते हैं। तब अन्तर्ज्ञानात्मक मन एक ऐसी गौण एवं निम्न क्रियाशक्ति का रूप धारण कर लेता है जो इस उच्चतर शक्ति की सेवा करती है, इसके सब आलोकों और आदेशों को स्वीकार करती और प्रत्युत्तर देती है, उन्हें निम्न करणों तक पहुंचाती है, और जब वे उसतक नहीं पहुंचते या उनकी प्रत्यक्ष उपस्थिति उसे अनुभूत नहीं होती, तब वह बहुधा ही इस उच्चतर शक्ति की स्थान-पूर्ति करने, इसकी क्रिया का अनुकरण करने तथा यथासम्भव सुचारु रूप से अतिमानसिक प्रकृति के कार्यों को सम्पन्न करने का यत्न करती है। वास्तव में अतिमानस की तुलना में अन्तर्ज्ञानात्मक मन का वही स्थान है जो योग की एक अधिक प्रारम्भिक अवस्था में इसकी तुलना में साधारण बुद्धि का था तथा उसके साथ इसका सम्बन्ध भी वैसा ही है जैसा पहले इसके साथ साधारण बुद्धि का था।

हमारी सत्ता के दो स्तरों पर होनेवाली यह दुहरी क्रिया प्रारम्भ में अन्तर्ज्ञानात्मक मन को एक गौण क्रिया के रूप में सुदृढ़ बनाती है और अज्ञान के अवशेषों या आक्रमणों या प्ररोहों को अधिक पूर्ण रूप से बहिष्कृत या रूपान्तरित करने में उसे सहायता पहुंचाती है। और उत्तरोत्तर वह स्वयं अन्तर्ज्ञानात्मक मन को—उसकी ज्ञानज्योति को—भी प्रखर करती है और अन्त में उसे स्वयं अतिमानस की प्रतिमा में रूपान्तरित कर देती है, पर आरम्भ में साधारणतया विज्ञान की एक अधिक सीमित क्रिया में ही रूपान्तरित करती है। इस क्रिया में विज्ञान उस शक्ति का रूप धारण करता है जिसे हम ज्योतिर्मय अतिमानसिक या दिव्य बुद्धि कह सकते हैं। स्वयं अतिमानस भी आरम्भ में इस दिव्य बुद्धि के रूप में ही अपनी क्रिया को व्यक्त कर सकता है और फिर, जब वह मन को अपनी प्रतिमा में रूपान्तरित कर

लेता है, वह अवतरित होकर सामान्य बुद्धि और तर्कशक्ति का स्थान ले लेता है। इस बीच कहीं अधिक महान् प्रकार की एक उच्चतर अतिमानसिक शक्ति अपने-आपको मन के ऊपर व्यक्त करती रही है जो हमारी सत्ता में दिव्य कर्म की सर्वोच्च बागडोर अपने हाथ में लेती है। दिव्य बुद्धि का स्वरूप अधिक सीमित होता है, कारण, यद्यपि उसपर मन की मुहर नहीं होती और यद्यपि वह साक्षात् सत्य और ज्ञान की एक क्रिया होती है, तथापि वह एक प्रतिनिधिभूत शक्ति है, उसके उद्देश्यों की शृंखला चाहे अधिक ज्योतिर्मय है फिर भी वे कुछ अंश में साधारण मानवीय संकल्पशक्ति और तर्कबुद्धि के उद्देश्यों के सदृश हैं। अतः इससे और भी अधिक महान् अतिमानसिक भूमिका में पहुंचने पर ही मनुष्य में ईश्वर की प्रत्यक्ष, पूर्ण-प्रकाशित और साक्षात् क्रिया प्रकट होती है। अन्तर्ज्ञानात्मक मन, दिव्य बुद्धि और महत्तर अतिमानस में ये भेद और फिर स्वयं इन स्तरों में भी अवान्तर भेद करने आवश्यक हैं, क्योंकि अन्त में ये बड़े काम में आते हैं। आरम्भ में मन अपने से परे के स्तर से आनेवाली सभी चीजों को बिना किसी भेद के पर्याप्त आध्यात्मिक प्रकाश के रूप में ग्रहण करता है और आरम्भिक अवस्थाओं तथा प्रथम आलोकों को भी अन्तिम वस्तु के रूप में स्वीकार कर लेता है, पर पीछे उसे पता चलता है कि यहीं रुक जाना एक आंशिक उपलब्धि में विश्राम करने के समान होगा और यह भी कि साधक को उच्च और विशाल बनते जाना होगा जबतक कि, कम-से-कम, एक विशाल और उच्च दिव्य मूर्ति का ढांचा कुछ हदतक पूर्णता न प्राप्त कर ले।

मन से परे के स्तरों के भेदों का क्या अभिप्राय है यह समझना भी बुद्धि के लिये कठिन है : ऐसी मानसिक परिभाषाएं हैं ही नहीं जिनमें इन्हें प्रकट किया जा सके अथवा यदि हैं भी तो वे उपयुक्त नहीं हैं और कुछ साक्षात्कार या कुछ निकटतम अनुभवों के बाद ही इन्हें समझा जा सकता है। इस समय तो कुछ संकेतभर देना ही उपयोगी हो सकता है। और सबसे पहले चिन्तनात्मक मन से कुछ सूत्र लेना पर्याप्त होगा; क्योंकि अतिमानसिक कार्य की कुछ-एक निकटतम कुंजियां वहां ही मिल सकती हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन का चिन्तन सम्पूर्णतया चार शक्तियों के द्वारा उद्भूत होता है जो सत्य का रूप गढ़ती हैं, वे शक्तियां ये हैं—सत्य के विचार का संकेत देनेवाला अन्तर्ज्ञान, विवेक करनेवाला अन्तर्ज्ञान, उसकी वाणी को तथा उसके महत्तर सार के कुछ अंश को लानेवाली अन्तः-प्रेरणा और उसके वास्तविक तत्त्व की साक्षात् मुखच्छवि तथा सम्पूर्ण देह को हमारी दृष्टि के प्रति मूर्तिमन्त करनेवाला दिव्य साक्षात्कार। ये शक्तियां सामान्य मनोमय बुद्धि की उन विशेष क्रियाओं से भिन्न हैं जो देखने में इन जैसी ही लगती हैं और जिन्हें हम अपनी आरम्भिक अनुभवहीन अवस्था में सहज ही अन्तर्ज्ञान समझने की भूल कर बैठते हैं। संकेतकारी अन्तर्ज्ञान आशु बुद्धि की बौद्धिक अन्तर्दृष्टि से अभिन्न

नहीं है, न ही अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक और तर्कबुद्धि का द्रुत निर्णय एक ही चीज है; अन्तर्ज्ञानात्मक अनुप्रेरणा कल्पनाशील बुद्धि की अन्तःप्रेरित क्रिया से अभिन्न नहीं है और न शुद्ध-मानसिक सूक्ष्म बोध एवं अनुभव की प्रखर ज्योति तथा अन्तर्ज्ञानात्मक साक्षात्कार एक ही चीज हैं।

शायद यह कहना ठीक होगा कि मनोमय बुद्धि की ये क्रियाएं उच्चतर गतियों या क्रियाओं के मानसिक रूप हैं, उन्हीं क्रियाओं को करने के लिये किये गये साधारण मन के प्रयत्न हैं अथवा उच्चतर प्रकृति की क्रियाओं के ऐसे उत्तम-से-उत्तम अनुकरण हैं जिन्हें बुद्धि हमारे सामने प्रस्तुत कर सकती है। सच्चे अन्तर्ज्ञान अपने ज्योतिर्मय सारतत्त्व में तथा अपनी क्रिया और ज्ञानप्रणाली में इन प्रभावशाली पर अपर्याप्त अनुकरणों से भिन्न प्रकार के होते हैं। बुद्धि की तीव्र क्रियाएं सत्य के मानसिक आकारों और प्रतिरूपों के प्रति आधारभूत मानसिक अज्ञान के जागरणों पर निर्भर करती हैं। वे आकार एवं प्रतिरूप अपने क्षेत्र में तथा अपने प्रयोजन के लिये सर्वथा सत्य हो सकते हैं, पर वे आवश्यक रूप से तथा अपने मूल स्वभाव से ही विश्वसनीय हों ऐसी बात नहीं। बुद्धि की तीव्र क्रियाएं अपने प्राकट्य के लिये मानसिक और ऐन्द्रिय बोधों के द्वारा प्राप्त संकेतों पर या अतीत मानसिक ज्ञान की सञ्चित सामग्री पर निर्भर करती हैं। वे सत्य की खोज एक ऐसी बाह्य वस्तु के रूप में करती हैं, जिसे प्राप्त करना, देखना तथा अर्जित पदार्थ के रूप में सञ्चित करना होता है और जब वह प्राप्त हो जाता है तो वे उसके तलों, निर्देशों या पहलुओं की छानबीन करती हैं। इस छानबीन से सत्य के विषय में एक सर्वथा पूर्ण एवं पर्याप्त विचार कभी नहीं प्राप्त हो सकता। एक विशेष समय में वे कितनी ही निश्चयात्मक क्यों न प्रतीत हों, किसी भी क्षण उन्हें अतिक्रम करना और त्यागना पड़ सकता है और वे नूतन ज्ञान के साथ असंगत प्रतीत हो सकती हैं।

इसके विपरीत, बोधिमूलक ज्ञान (अन्तर्ज्ञान) अपने कार्यक्षेत्र या प्रयोग में कितना ही मर्यादित क्यों न हो, फिर भी अपने उस क्षेत्र के भीतर वह एक प्रत्यक्ष, स्थायी और, विशेषकर, स्वयंसत् निश्चितता के कारण असन्दिग्ध होता है। वह मन और इन्द्रिय द्वारा प्रदत्त तथ्य-सामग्री को एक आरम्भबिन्दु के रूप में या वस्तुतः एक ऐसी वस्तु के रूप में ग्रहण कर सकता है जिसके वास्तविक अर्थ को आलोकित और अनावृत करना है अथवा भूतकाल के विचार और ज्ञान की परम्परा को प्रदीप्त करके उनसे नये अर्थ और परिणाम निकाल सकता है, पर वह अपने सिवाय और किसी पर भी निर्भर नहीं करता और, पूर्वसंकेत या तथ्यसामग्री से स्वतन्त्र रहते हुए, अपने ही दीप्तिक्षेत्र में से उछलकर प्रकट हो सकता है, और इस प्रकार की क्रिया उत्तरोत्तर अधिक सामान्य होती जाती है तथा ज्ञान की नयी गहराइयों और नयी श्रेणियों को प्रकट करने के लिये दूसरे प्रकार की ज्ञानक्रिया के साथ अपनेको संयुक्त कर देती है। दोनों अवस्थाओं में उसके अन्दर स्वयम्भू सत्य

का कुछ अंश एवं उद्गम की निरपेक्षता का बोध सदा ही विद्यमान होता है जो यह सूचित करता है कि उसका उद्भव आत्मा के तादात्म्यमूलक ज्ञान से हुआ है। वह एक ऐसे ज्ञान का आविर्भाव होता है जो गुप्त रहता हुआ भी हमारी सत्ता में पहले से ही विद्यमान होता है : वह कोई बाहर से प्राप्त ज्ञान नहीं, बल्कि एक ऐसा ज्ञान होता है जो वहां सदा ही विद्यमान तथा प्रकट हो सकने के योग्य था। वह सत्य को अन्दर से देखता है और उस अन्तर्दृष्टि के द्वारा उसके बाह्य पक्षों को आलोकित करता है और, यदि हम अपनी बोधिमय सत्ता में जाग्रत् रहें तो, जिस भी नये सत्य को अभी प्रकट होना होता है उसके साथ वह अपनेको तुरन्त समस्वर भी कर लेता है। उच्चतर एवं वास्तविक अतिमानसिक स्तरों में ये लक्षण अधिक स्पष्ट और तीव्र हो जाते हैं : सम्भव है कि अन्तर्ज्ञानात्मक मन में इनका शुद्ध और पूर्ण स्वरूप सदा पहचान में न आ सके, क्योंकि वहां इनमें मन का उपादान और उसके विजातीय तत्त्व मिश्रित हो जाते हैं, किन्तु दिव्य मनीषा और महत्तर अतिमानसिक क्रिया में ये मुक्त और निरपेक्ष रूप धारण कर लेते हैं।

मन के स्तर पर कार्य करता हुआ संकेतकारी अन्तर्ज्ञान सत्य के प्रत्यक्ष और प्रकाशप्रद आन्तरिक विचार का संकेत दे देता है। यह विचार सत्य का वास्तविक प्रतिरूप एवं संकेत होता है, अभी यह उसका पूर्णतः उपस्थित एवं समग्र प्रत्यक्ष रूप नहीं होता, वरञ्च उसका स्वरूप किसी सत्य की उज्ज्वल स्मृति का-सा होता है, यह आत्मा के ज्ञान के किसी रहस्य का एक स्मरणमात्र होता है। यह एक प्रतिनिधि होता है, पर होता है जीवन्त प्रतिनिधि, न कि विचारात्मक प्रतीक, एक प्रतिबिम्ब होता है, पर ऐसा प्रतिबिम्ब जो सत्य के वास्तविक सार के किसी अंश से प्रदीप्त होता है। अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक दूसरे नम्बर की क्रिया है जो सत्य के इस विचार को अन्य विचारों के साथ इसके सम्बन्ध की दृष्टि से यथास्थान स्थापित कर देती है। और जबतक मन में हस्तक्षेप करने तथा विजातीय तत्त्वों को बढ़ाने की आदत बनी रहती है तबतक वह मानसिक दर्शन को उच्चतर दर्शन से पृथक् करने के लिये तथा निम्नतर मानसिक उपादान को, जो अपने मिश्रण से शुद्ध सत्य-तत्त्व को अस्तव्यस्त कर देता है, विवेकपूर्वक अलग करने के लिये भी कार्य करता है और अज्ञान तथा ज्ञान, अनृत एवं भ्रान्ति की संयुक्त गुत्थी को सुलझाने का प्रयास करता है। जैसे अन्तर्ज्ञान का स्वरूप स्मृति का, स्वयम्भू सत्य के ज्योतिर्मय स्मरण का होता है, वैसे ही अन्तःप्रेरणा का स्वरूप सत्य-श्रवण का होता है : वह सत्य की साक्षात् वाणी का प्रत्यक्ष ग्रहणरूप होती है, वह सत्य को पूर्णतया मूर्त करनेवाले शब्द को तत्क्षण ही ले आती है और उसके विचार की ज्योति से अधिक कुछ को धारण किये होती है; उसकी आन्तरिक परमार्थ-सत्ता की कोई धारा एवं उसके सारतत्त्व की एक विशद उपलब्धिकारी क्रिया पकड़ में आ जाती है। सत्यदर्शन का स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टि का होता है, और वह वस्तु के निज स्वरूप को, जिसका कि विचार एक

प्रतीक होता है, हमारी वर्तमान अन्तर्दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष करा देता है। वह सत्य की मूल आत्मा, देह और वास्तविक सत्ता को प्रकट कर देता है और उसे हमारी चेतना एवं अनुभूति का अंग बना देता है।

यदि यह मान लिया जाये कि अतिमानसिक प्रकृति के विकास की वास्तविक प्रक्रिया एक नियमित क्रमपरम्परा का अनुसरण करती है तो यह देखा जा सकता है कि उस प्रक्रिया में दो निम्नतर शक्तियां पहले प्रकट होती हैं, यद्यपि वे दो उच्चतर शक्तियों की समस्त क्रिया से अनिवार्यरूपेण शून्य ही नहीं होतीं, और जैसे ही वे वृद्धिगत होकर एक सामान्य क्रिया का रूप धारण कर लेती हैं, वे एक प्रकार के निम्न बोधिमय विज्ञान (अन्तर्ज्ञान) का गठन करती हैं। दोनों शक्तियों का परस्पर-संयोग इसकी पूर्णता के लिये आवश्यक है। यदि अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक अपने ही सहारे कार्य करे तो वह एक प्रकार की आलोचक ज्योति का सृजन करता है जो बुद्धि के विचारों और बोधों पर क्रिया करती है और उनपर उनका अपना ही प्रकाश इस प्रकार फेंकती है कि मन उनकी भ्रान्ति से उनके सत्य को पृथक् कर सकता है। अन्त में वह बौद्धिक निर्णय-शक्ति के स्थान पर प्रकाशमय अन्तर्ज्ञानात्मक निर्णय-शक्ति का, एक प्रकार के आलोचक विज्ञान का सृजन करता है : पर सम्भव है कि उसमें अभिनव प्रकाशप्रद ज्ञान की कमी हो अथवा वह सत्य का केवल उतना-सा विस्तार साधित करे जितना भ्रान्ति के पृथक् करने के स्वाभाविक परिणाम के रूप में साधित होता है। दूसरी ओर, यदि संकेतकारी अन्तर्ज्ञान इस विवेक के बिना अकेले, अपने ही सहारे कार्य करे तो निःसन्देह नये सत्य और नयी ज्योतियां निरन्तर ही प्राप्त होती हैं, पर मन के विजातीय तत्त्व उन्हें सहज ही घेरकर अस्तव्यस्त कर देते हैं और उनकी शृंखला तथा उनका सम्बन्ध या एक-दूसरे में से उनका सुसमञ्जस विकास आच्छन्न हो जाते हैं एवं पारस्परिक हस्तक्षेप के कारण छिन्न-भिन्न भी हो जाते हैं। इस प्रकार सक्रिय बोधिमूलक अनुभव की एक सतत कार्यरत शक्ति उत्पन्न हो जाती है, पर बोधिमय विज्ञान का कोई पूर्ण एवं शृंखलाबद्ध मन अभी गठित नहीं हुआ होता। ये दोनों निम्नतर शक्तियां (अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक और संकेतकारी अन्तर्ज्ञान) मिलकर एक-दूसरे की असहाय क्रिया की त्रुटियों को पूरा कर देती हैं और अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव एवं विवेक से युक्त एक मन का गठन करती हैं जो स्खलनशील मनोमय बुद्धि का कार्य तथा उससे भी अधिक कुछ कर सकता है और उसे एक अधिक प्रत्यक्ष एवं अस्खलनशील विचारणा की महत्तर ज्योति, निश्चितता और शक्ति के साथ सम्पन्न कर सकता है।

इसी प्रकार दो उच्चतर शक्तियां उच्चतर बोधिमूलक विज्ञान का निर्माण करती हैं। मन में पृथक् शक्तियों के रूप में कार्य करती हुई वे भी सहचारिणी क्रियाओं के बिना अपने-आप में पर्याप्त नहीं होतीं। निःसन्देह प्रत्यक्ष दृष्टि वस्तु के निज स्वरूप की वास्तविकता एवं विभेदक लक्षणों को हमारे सामने प्रकट कर सकती है

और चेतन पुरुष के अनुभव में एक महान् शक्ति की कुछ वृद्धि भी कर सकती है, पर यह सम्भव है कि इस प्रत्यक्ष दृष्टि में सत्य के शब्द-शरीर का, उसे प्रकट करनेवाले विचार का तथा उसके सम्बन्धों और परिणामों की अविच्छिन्न शृंखला की प्राप्ति का अभाव हो और यह अन्तरात्मा के अन्दर ही एक प्राप्ति (निधि) के रूप में रहे तथा करणोंतक न पहुंचे एवं उनके द्वारा उपलब्ध वस्तु का रूप न ले। हो सकता है कि वहां सत्य की उपस्थिति तो हो पर उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति न हो। अन्तःप्रेरणा से हमें सत्य की वाणी प्राप्त हो सकती है तथा उसकी क्रियाशक्ति एवं गति का स्पन्दन भी, पर यह एक पूर्ण वस्तु नहीं होती और न इसका प्रभाव ही अचूक होता है जबतक कि उन सब चीजों का पूर्ण साक्षात्कार न हो जाये जिन्हें यह अपने अन्दर धारण किये रहती है तथा प्रकाशपूर्ण ढंग से संकेतित करती है और जबतक इसके सम्बन्धों में शृंखला स्थापित न हो जाये। अन्तः-प्रेरित अन्तर्ज्ञानात्मक मन विद्युत्प्रभाओं से युक्त मन है। ये विद्युत्प्रभाएं अनेक अन्धकारमय वस्तुओं को आलोकित कर देती हैं, पर इनकी ज्योति को निष्कम्प प्रभावों की एक ऐसी धारा के रूप में प्रवाहित करना तथा एक ऐसे स्थिर स्रोत का रूप देना आवश्यक है जो व्यवस्थित एवं विशद ज्ञान के लिये एक अविच्छिन्न शक्ति का काम करे। इन दो अनन्य शक्तियों-समेत अकेला उच्चतर विज्ञान एक ऐसा अध्यात्म-ज्योतिर्मय मन होगा जो अधिकतर अपने पृथक् क्षेत्र में ही निवास करेगा, वह शायद अदृश्य रूप में बाह्य जगत् पर भी अपना प्रभाव उत्पन्न करेगा, पर अपनी अधिक सामान्य क्रियाओं के साथ अधिक निकट एवं साधारण आदान-प्रदान करने के लिये उसे जिस सम्बन्ध-सूत्र की आवश्यकता है वह उसके पास नहीं होगा। यह सम्बन्ध-सूत्र निम्न-विचारणात्मक क्रिया के द्वारा स्थापित होगा। इन चारों शक्तियों की संयुक्त या फिर एकीभूत एवं एकीकृत क्रिया ही पूर्ण, सुसन्नद्ध एवं सुसज्जित बोधिमूलक विज्ञान का गठन करती है।

चेतना का नियमित विकास, चारों शक्तियों को कुछ मात्रा में एक साथ अभिव्यक्त करता हुआ भी, पहले पर्याप्त व्यापक प्रमाण में एक संकेतदायी एवं आलोचक अन्तर्ज्ञानात्मक मन के निम्न स्तर का ही निर्माण करेगा और फिर उसके ऊपर अन्तःप्रेरित तथा प्रत्यक्षदर्शक अन्तर्ज्ञानात्मक मन का विकास करेगा। उसके बाद वह दोनों निम्नतर शक्तियों को अन्तःप्रेरणा की शक्ति की भूमिका और क्षेत्र में उठा ले जायेगा और उन सबसे ऐसी एक ही सामञ्जस्ययुक्त शक्ति के रूप में कार्य करायेगा जो एक ही साथ तीनों का संयुक्त कार्य करेगी अथवा एक उच्चतर एवं प्रखर शक्ति की भूमिका में एक ही अविभेद्य ज्योति के रूप में तीनों का एकीभूत कार्य सम्पन्न करेगी। अन्त में वह इस प्रकार की एक और क्रिया करेगा जिसके द्वारा वह इन दोनों शक्तियों को बोधिमय विज्ञान की सत्य-प्रकाशक शक्ति में उन्नीत करके उसके साथ एक कर देगा। सच पूछो तो मानव मन में विकास की स्पष्ट

प्रक्रिया सम्भवतः सदा ही न्यूनाधिक विक्षुब्ध एवं अस्तव्यस्त रहेगी तथा उसका क्रम अनियमित हो जायेगा, उसे पुनः-पुनः पतन का शिकार होना पड़ेगा, प्रगति के पग अपूर्ण ही रहेंगे और व्यक्ति को पुनः-पुनः उन क्रियाओं की ओर लौटना होगा जो मानसिक अर्द्ध-ज्ञान की वर्तमान क्रियाओं के सतत मिश्रण एवं हस्तक्षेप तथा मानसिक अज्ञान के तत्त्व की बाधा के कारण सम्पन्न नहीं हो पायीं या अपूर्ण रूप से ही सम्पन्न हो पायी हैं। तथापि अन्त में एक ऐसा समय आ सकता है जब कि प्रक्रिया पूरी हो जायेगी जहांतक कि स्वयं मन में उसका पूरा होना सम्भव है, और एक मर्यादित अतिमानसिक ज्योति का एक ऐसा स्पष्ट रूप बनना सम्भव हो जायेगा जो इन सभी शक्तियों से गठित होगा। इनमें से सर्वोच्च शक्ति अन्य सबका नेतृत्व करेगी या उन्हें अपनी देह में आत्मसात् कर लेगी। इसी क्षण, जब कि मनोमय प्राणी में अन्तर्ज्ञानात्मक मन पूर्ण रूप से गठित हो चुकता है और अभी नानाविध मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण अधिकार स्थापित करने में न सही पर उनके ऊपर हुकूमत चलाने में पर्याप्त समर्थ हो जाता है, अगला कदम उठाना सम्भव हो जाता है अर्थात् कर्म के केन्द्र एवं स्तर को मन के ऊपर ले जाया जा सकता है और अतिमानसिक बुद्धि का प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है।

इस परिवर्तन का पहला लक्षण है सम्पूर्ण क्रिया का आमूल विपर्यय, पलटाव, अथवा हम यहांतक भी कह सकते हैं कि उसका औंधी हो जाना। इस समय हम मन में और अधिकतर भौतिक मन में निवास करते हैं, किन्तु फिर भी पशु की भांति पूरी तरह भौतिक, प्राणिक और सांवेदनिक क्रियाओं में ही ग्रस्त नहीं हैं। इसके विपरीत, हम मन की एक विशेष चोटी पर पहुंच चुके हैं जहां से हम प्राण, इन्द्रिय और शरीर के कार्य पर दृष्टिपात कर सकते हैं, उनपर उच्चतर मानसिक प्रकाश फेंक सकते हैं, विचार और निर्णय कर सकते हैं, निम्नतर प्रकृति की क्रिया को संशोधित करने के लिये अपने संकल्प का प्रयोग कर सकते हैं। दूसरी ओर, हम कम या अधिक चेतन रूप में उस चोटी से ऊपर की ओर एक ऊर्ध्वस्थित तत्त्व पर भी दृष्टि डालते हैं और उससे सीधे ही अथवा अपनी अवचेतन या अन्तःप्रच्छन्न सत्ता के द्वारा अपने चिन्तन, संकल्प तथा अन्य कार्यों की कोई गुप्त अतिचेतन प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया प्रच्छन्न और अस्पष्ट होती है और कुछ-एक अत्यन्त विकसित प्रकृतियोंवाले व्यक्तियों को छोड़कर लोग साधारणतया इससे अभिज्ञ नहीं होते : पर जब हमारा आत्मज्ञान बढ़ता है तब हमें पता चलता है कि हमारे समस्त चिन्तन और संकल्प का उद्गम ऊपर ही है यद्यपि उनका गठन मन में होता है और उनकी प्रत्यक्ष क्रिया भी पहले-पहल वहीं आरम्भ होती है। स्थूल मन हमें मस्तिष्क-यन्त्र के साथ बांध देता है और शारीरिक चेतना के साथ एकाकार कर देता है, यदि हम इस मन की ग्रन्थियों को खोल दें और शुद्ध मन में विचरण कर सकें तो ऊर्ध्व स्तर के साथ आदान-प्रदान की उक्त

प्रक्रिया हमारे अनुभव के प्रति सतत रूप से स्पष्ट हो जाती है।

अन्तर्ज्ञानात्मक मन के विकास से यह आदान-प्रदान अवचेतन तथा प्रच्छन्न न रहकर प्रत्यक्ष हो जाता है; पर अभी हम मन में ही स्थित होते हैं और मन अभी भी ऊपर की ओर दृष्टि डालकर अतिमानसिक सन्देश प्राप्त करता है तथा उसे अन्य करणों तक पहुंचाता है। ऐसा करने में वह नीचे अपने पास आनेवाले विचार और संकल्प के लिये पहले की तरह पूर्ण रूप से अपना ही आकार नहीं बनाता, किन्तु फिर भी वह उन्हें परिवर्तित, मर्यादित और सीमित कर देता है और उनपर कुछ-कुछ अपनी पद्धति थोप देता है। वह अब भी विचार और संकल्प का ग्रहणकर्ता तथा वाहक होता है,—यद्यपि वह अब उनका निर्माता नहीं होता, हां, सूक्ष्म प्रभाव के द्वारा उनके निर्माण में भाग अवश्य लेता है, क्योंकि वह उन्हें एक मानसिक तत्त्व या एक मानसिक सन्निवेश और ढांचा एवं वातावरण प्रदान करता है या कम-से-कम उन्हें इन चीजों से घेर देता है। परन्तु जब अतिमानसिक बुद्धि विकसित होती है तो पुरुष मन की ऊंचाई से ऊपर उठ जाता है और तब वह मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीर के सम्पूर्ण कार्य पर एक बिलकुल ही अन्य प्रकाश एवं वायुमण्डल से दृष्टिपात करता है, उसे एक सर्वथा भिन्न अन्तर्दृष्टि से देखता और जानता है और क्योंकि अब वह पहले की तरह मन में नहीं फँसा होता, अतः वह उसे मुक्त और यथार्थ ज्ञान के साथ देखता और जानता है। अभी मनुष्य पशु के स्तर के अन्दर निवर्तित होने की अवस्था से कुछ अंश में ही मुक्त हुआ है, —क्योंकि उसका मन प्राण, इन्द्रिय और शरीर से कुछ अंश में ही ऊपर उठा है और शेषांश में तो वह उनके अन्दर डूबा हुआ तथा उनके द्वारा नियन्त्रित ही है, —और वह मानसिक रूपों और सीमाओं से जरा भी मुक्त नहीं है। पर अतिमानसिक शिखर पर आरूढ़ होने के बाद वह नीचे के नियन्त्रण से मुक्त हो जाता है और अपनी सम्पूर्ण प्रकृति का शासक बन जाता है,—पहले-पहल वह केवल तात्त्विक और प्रारम्भिक रूप में तथा अपनी उच्चतम चेतना में ही ऐसा बनता है, क्योंकि शेष चेतना का रूपान्तर करना अभी बाकी होता है,—परन्तु जब या जितना वह रूपान्तर सम्पन्न हो जाता है, तब और उतना वह एक मुक्त जीव तथा अपने मन, इन्द्रिय, प्राण और शरीर का स्वामी बन जाता है।

इस परिवर्तन का दूसरा लक्षण यह है कि विचार और संकल्प का गठन अब पूर्ण रूप से अतिमानसिक स्तर पर ही हो सकता है और अतएव एक पूर्णतः ज्योतिर्मय और अमोघ संकल्प एवं ज्ञान का सूत्रपात हो जाता है। निःसन्देह प्रारम्भ में ज्योति और शक्ति पूर्ण नहीं होती क्योंकि अतिमानसिक बुद्धि अतिमानस का एक प्रारम्भिक रूप मात्र है और क्योंकि मन तथा अन्य करणों को अभी अतिमानसिक प्रकृति के सांचे में ढालकर रूपान्तरित करना होता है। यह ठीक है कि मन अब विचार और संकल्प या किसी अन्य चीज के प्रत्यक्ष उत्पादक, निर्मायक या

निर्णायक के रूप में कार्य नहीं करता किन्तु एक वाहक प्रणालिका का कार्य वह अबतक भी करता है और अतएव उस अंश में एक ग्रहणकर्ता के रूप में और कुछ हदतक, वहन-क्रिया के समय, ऊपर से आनेवाली शक्ति और ज्योति के बाधक और परिसीमक के रूप में भी कार्य करता है। अतिमानसिक चेतना जिसमें 'पुरुष' अब स्थित रहता है तथा विचार और संकल्प करता है और मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक चेतना जिसके द्वारा उसे उसके प्रकाश और ज्ञानको क्रियान्वित करना होता है—इन दोनों चेतनाओं में विषमता होती है। वह एक आदर्श चेतना को अपने जीवन में क्रियान्वित करता है और उसीके द्वारा देखता है, किन्तु अपनी निम्नतर सत्ता में उसे अभी उसको पूर्णतया क्रियात्मक और सफल बनाना होता है। अन्यथा वह आध्यात्मिक स्तर पर तथा उससे अनायास ही प्रभावित होनेवाले उच्चतर मनोमय स्तर पर दूसरों के साथ आभ्यन्तर आदान-प्रदान के द्वारा ही कम या अधिक आध्यात्मिक प्रभाव के साथ उनपर कार्य कर सकता है, परन्तु वह प्रभाव क्षीण या मन्द पड़ जाता है, कारण, या तो हमारी सत्ता में निम्न प्रकार की क्रिया होती रहती है या फिर सभी करण समग्ररूप से अभिव्यक्ति में भाग नहीं लेते। इसका उपाय तभी हो सकता है यदि अतिमानस मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतना को अपने अधिकार में लाकर अतिमानसिक बना दे,—अर्थात् उन्हें अतिमानसिक प्रकृति के सांचों में ढालकर रूपान्तरित कर दे। यदि निम्नतर प्रकृति के करणों की वह यौगिक तैयारी पूरी हो चुकी हो जिसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूं तो यह रूपान्तर कहीं अधिक आसानी से सम्पन्न हो सकता है; नहीं तो आदर्श अतिमानसिक अवस्था और उसका वहन करनेवाले मनोमय करण अर्थात् मनोमय प्रणालिका, हृदय, इन्द्रिय, प्राण एवं शरीर—इनके बीच के विसम्वाद और असामञ्जस्य से मुक्त होने में बड़ी कठिनाई होती है। अतिमानसिक बुद्धि इस रूपान्तर का सम्पूर्ण तो नहीं पर प्रारम्भिक और बहुत सारा कार्य पूरा कर सकती है।

अतिमानसिक बुद्धि का स्वरूप है—आध्यात्मिक, प्रत्यक्ष, स्वतःप्रकाशमान और स्वयं-सक्रिय संकल्प और बुद्धि, मानस-बुद्धि नहीं, विज्ञान-बुद्धि। वह उन्हीं चार शक्तियों से कार्य करती है जिनसे कि अन्तर्ज्ञानात्मक मन, पर यहां ये शक्तियां अपने स्वरूप की आदिम पूर्णता के साथ क्रिया में रत रहती हैं, बुद्धि के मनोमय तत्त्व के द्वारा विकृत नहीं होतीं, इनका कार्य मुख्यतः मन को प्रकाश देना नहीं होता, बल्कि ये अपनी विशेष पद्धति के साथ तथा अपने सहजात उद्देश्य के लिये कार्य करती हैं। यहां इन चारों में से अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक शायद कभी भी एक पृथक् शक्ति के रूप में पहचान में नहीं आता, पर वह अन्य तीनों में निरन्तर ही अन्तर्निहित रहता है और उनके ज्ञान के क्षेत्र और सम्बन्धों का इस प्रकार निर्धारण करता है मानों वह स्वयं उनका ही किया हुआ निर्धारण हो। इस बुद्धि में तीन स्तर हैं, एक वह जिसमें अन्तर्ज्ञान की, यूं कहें कि अतिमानसिक अन्तर्ज्ञान की, क्रिया

सत्य-संकल्प और सत्य-ज्ञान का रूप और प्रमुख धर्म निश्चित करती है, दूसरा वह जिसमें एक द्रुत अतिमानसिक अन्तःप्रेरणा उनका परिचालन करती है तथा उन्हें सामान्य गुण-धर्म प्रदान करती है, और तीसरा वह जिसमें यह सब कार्य एक विशाल अतिमानसिक प्रत्यक्ष दृष्टि करती है। और इनमें से प्रत्येक स्तर हमें सत्य-संकल्प तथा सत्य-ज्ञान के एक अधिक घनीभूत तत्त्व, उच्चतर प्रकाश, स्वतः-पर्याप्त शक्ति-सामर्थ्य तथा उच्चतर क्षेत्रतक उठा ले जाता है।

अतिमानसिक बुद्धि का कार्य मानसिक बुद्धि के द्वारा किये जानेवाले समस्त कार्य को अपने क्षेत्र में समा लेता है तथा उसके भी परे जाता है, पर यह बुद्धि अपना कार्य दूसरे छोर से आरम्भ करती है और इसकी क्रिया भी उसके अनुरूप ही होती है। इस आध्यात्मिक बुद्धि के लिये आत्मा के सारभूत सत्य और वस्तुओं का मूलभाव और अन्तिम तत्त्व कोई ऐसे अमूर्त विचार या सूक्ष्म अपार्थिव अनुभव नहीं होते जिन पर यह सीमाओं का एक प्रकार का अतिक्रमण करके पहुंचती हो, बल्कि वे एक नित्य सद्वस्तु होते हैं तथा इसकी समस्त विचारणा और अनुभूति के लिये स्वाभाविक पृष्ठभूमि का काम करते हैं। यह सत्ता और चेतना के, आध्यात्मिक तथा अन्य प्रकार के सम्वेदन एवं आनन्द के और शक्ति तथा कर्म के सामान्य एवं समग्र तथा विशेष—दोनों प्रकार के सत्यों पर सद्वस्तु और दृग्विषय और प्रतीक, यथार्थ सत्ता, सम्भावित सत्ता और अन्तिम सत्ता, निर्धार्य और निर्धारक पर, मन की भांति नहीं पहुंचती बल्कि उन्हें सीधे ही प्रकाशित कर देती है,—और उन सबको प्रकाशित भी करती है स्वयं-प्रकाश प्रमाण के साथ। यह विचार के साथ विचार के, शक्ति के साथ शक्ति के तथा कर्म के साथ कर्म के सम्बन्धों को और इन सबके पारस्परिक सम्बन्धों को भी गठित और व्यवस्थित करती है और इनमें एक विश्वासोत्पादक एवं प्रकाशपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर देती है। यह इन्द्रियलब्ध तथ्यों को अपने में समाविष्ट करती है, पर उन्हें, उनके पीछे अवस्थित वस्तु के प्रकाश में, एक और ही अर्थ दे देती है और उनके साथ अत्यन्त बाह्य संकेतों के रूप में ही व्यवहार करती है: आन्तरिक सत्य उस महत्तर इन्द्रिय के द्वारा ज्ञात होता है जो इसके पास पहले से ही है। यह उनके अपने विषयों के क्षेत्र में भी केवल उनपर ही निर्भर नहीं करती न उनके कार्यक्षेत्र के द्वारा सीमित ही होती है। इसके एक अपनी ही आध्यात्मिक इन्द्रिय एवं इन्द्रियानुभूति होती है और छठी इन्द्रिय अर्थात् अन्तःकरण के द्वारा लब्ध तथ्य-सामग्री को भी यह ग्रहण करती है तथा आध्यात्मिक इन्द्रियानुभव के साथ सुसम्बद्ध करती है। और यह चैत्य अनुभव के परिचित आलोकों, जीवन्त प्रतीकों तथा प्रतिमाओं को भी स्वीकार करती है और इन्हें भी 'पुरुष' एवं आत्मा के सत्यों के साथ सुसम्बद्ध करती है।

आध्यात्मिक बुद्धि भावावेगों और चैत्य संवेदनों को भी ग्रहण करती है, उन्हें उनके आध्यात्मिक प्रतिरूपों के साथ सुसम्बद्ध करती है, वह उन्हें उस उच्चतर

चेतना एवं आनन्द के मूल्य प्रदान करती है जिससे वे उद्‌भूत होते हैं तथा जिसे वे निम्न प्रकृति के अन्दर विकृत रूपों में प्रकट करते हैं और वह उनकी विकृतियों को सुधारती भी है। इसी प्रकार वह प्राणमय सत्ता और चेतना की गतियों को भी स्वीकार करती है और उन्हें आत्मा के आध्यात्मिक जीवन और उसकी तपःशक्ति की गतियों के साथ सुसम्बद्ध करती है तथा उन्हें आध्यात्मिक जीवन और तपः-शक्ति के गूढ़ार्थ प्रदान करती है। वह भौतिक चेतना को स्वीकार करती है, उसे उसके अन्धकार तथा जड़तारूप तमस् से मुक्त करती है और उसे अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और आनन्द को ग्रहण करने तथा प्रत्युत्तर देनेवाली एवं उसका अत्यन्त संवेदनशील यन्त्र बना देती है। वह जीवन, कर्म और ज्ञान के साथ मानसिक संकल्पशक्ति और बुद्धि की भांति व्यवहार करती है, पर इस कार्य का आरम्भ वह जड़तत्त्व, प्राण और इन्द्रियगण से तथा उनके द्वारा उपलब्ध तथ्यों से नहीं करती और न विचार के माध्यम से उनके साथ उच्चतर वस्तुओं के सत्य का सम्बन्ध जोड़ती एवं सामञ्जस्य बिठाती है, बल्कि इसके विरीत वह अपना कार्य 'पुरुष' और आत्मा के सत्य से आरम्भ करती है और एक ऐसे अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभव के द्वारा, जो अन्य समस्त अनुभवों को अपने आकारों और यन्त्रों के रूप में ग्रहण करता है, मन, अन्तरात्मा, प्राण, इन्द्रिय और जड़त्व के तथ्यों को आत्मा के सत्य के साथ सुसम्बद्ध करती है। उसका क्षेत्र स्थूल इन्द्रियों के कारागार में बन्द साधारण देहबद्ध मन की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है, और शुद्ध मन जब अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र होता है तथा चैत्य मन और आन्तरिक इन्द्रियों की सहायता से कार्य करता है तब भी उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक बुद्धि का क्षेत्र अतीव विशाल होता है। साथ ही उसके अन्दर एक ऐसी शक्ति भी है जो मानसिक संकल्पशक्ति और बुद्धि में नहीं है, क्योंकि वे सच्चे रूप में आत्म-निर्धारित नहीं हैं और न वस्तुओं के मूल निर्धारक ही हैं, वह शक्ति यह है कि वह सम्पूर्ण सत्ता को उसके सभी अङ्गों समेत आत्मा के सामञ्जस्यपूर्ण यन्त्र एवं अभिव्यक्ति में रूपान्तरित कर सकती है।

साथ ही, आध्यात्मिक बुद्धि मुख्यतया आत्मा के अन्दर विद्यमान, सत्य के प्रतिनिधिरूप विचार और संकल्प के द्वारा कार्य करती है, यद्यपि एक अधिक महान् और तात्त्विक सत्य उसके उद्‌गम, पोषक और प्रामाणिक स्रोत के रूप में सतत विद्यमान रहता है। अतः वह ईश्वर की एक ज्योतिर्मय शक्ति है, पर सत्ता में विद्यमान उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति की साक्षात् आत्म-शक्ति नहीं है; उसकी सम्पूर्ण आत्म-शक्ति या **'परा स्वा प्रकृतिः'** नहीं, बल्कि उसकी सूर्य-शक्ति ही आध्यात्मिक बुद्धि में कार्य करती है। साक्षात् आत्म-शक्ति अपनी प्रत्यक्ष क्रिया महत्तर अतिमानस में ही आरम्भ करती है, और वह शरीर, प्राण, मन और अन्तर्ज्ञानमय सत्ता में तथा आध्यात्मिक बुद्धि द्वारा अबतक जो कुछ भी उपलब्ध किया जा चुका

है उस सबको अपने हाथ में लेती है और हमारा मनोमय पुरुष जो कुछ भी उत्पन्न तथा एकत्र कर चुका है एवं जिसे वह अनुभव की सामग्री का रूप देकर चेतना, व्यक्तित्व और प्रकृति का अङ्ग बना चुका है, उस सबका यह आत्म-शक्ति परम आत्मा की ऊर्ध्वस्थ अनन्त सत्ता के साथ तथा उसके विराट् जीवन के साथ सर्वोच्च सामञ्जस्य स्थापित करती है और इस प्रकार उसे एक नया ही रूप दे देती है। मन अनन्त और विराट् सत्ता का संस्पर्श प्राप्त कर सकता है, उन्हें प्रतिबिम्बित कर सकता है, यहांतक कि उनमें अपनेको खो भी सकता है, पर व्यक्ति को वैश्व तथा परात्पर आत्मा के साथ कर्म में पूर्ण एकता प्राप्त करने की शक्ति केवल अतिमानस ही प्रदान कर सकता है।

यहां एक चीज है जो सदैव और निरन्तर उपस्थित रहती है, जिसकी ओर साधक विकसित हो चुका है और जिसमें वह सदा निवास करता है, वह है एकमात्र अनन्त सत्ता। यहां जो कुछ भी है वह सब साधक को केवल एकमेव सत्ता के एक तत्त्व के रूप में ही दृष्टिगत, अनुभूत और ज्ञात होता है तथा वह इसी रूप में उस सबमें निवास भी करता है। यह सत्ता अनन्त चैतन्यस्वरूप है और यहां जो कुछ भी चेतन, क्रियाशील और गतिशील है वह सब उसे एकमेव चेतना की आत्मानुभूति एवं शक्ति के रूप में दृष्टिगत, अनुभूत, गृहीत और ज्ञात होता है तथा इसी रूप में वह उस सबमें निवास भी करता है। यह अनन्त आनन्द-स्वरूप है और यहां अनुभव करनेवाला तथा अनुभव में आनेवाला जो कुछ भी है वह सब उसे एकमेव आनन्द के आकारों के रूप में दृष्टिगत, अनुभूत, ज्ञात और गृहीत होता है और इसी रूप में वह उस सबमें निवास भी करता है। अन्य सभी वस्तुएं उसके लिये हमारी सत्ता के इस एकमात्र सत्य की एक अभिव्यक्ति एवं परिस्थितिमात्र होती हैं। एकमेव सत्ता का यह ज्ञान अब पहले की तरह निरा ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष या मानस ज्ञान नहीं होता, बल्कि साक्षात्कार की उस वास्तविक अवस्था के रूप में प्रकट होता है जिसमें साधक को सब में आत्मा के और आत्मा में सबके, सबमें ईश्वर के और ईश्वर में सबके दर्शन होते हैं और सब ईश्वर-स्वरूप ही दिखायी देते हैं, और यह अवस्था अब कोई ऐसी स्थिति नहीं होती जो सत्य को प्रतिबिम्बित करनेवाले आध्यात्मीकृत मन के समक्ष प्रस्तुत की जाती है, बल्कि यह अतिमानसिक प्रकृति में होनेवाले एक सर्वांगीण, नित्य-विद्यमान, सदा-सक्रिय साक्षात्कार के द्वारा धारण की जाती है और जीवन में उतारी जाती है। इसमें विचार, संकल्प और सम्वेदन भी होते हैं और हमारी प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य प्रत्येक वस्तु भी होती है, पर वह रूपान्तरित हो जाती तथा उच्चतर चेतना में उन्नीत कर दी जाती है। इसमें समस्त विचार सत्ता के सारतत्त्व की ज्योतिर्मय देह, उसकी शक्ति की आलोकित गति तथा उसके आनन्द की प्रकाशपूर्ण तरंग के रूप में दिखायी देता तथा अनुभूत होता है; वह मन के शून्य वायुमण्डल में उठनेवाला कोई विचार नहीं होता, बल्कि

अनन्त सत्ता के सत्स्वरूप के अन्दर तथा उसके किसी वास्तविक सत्य की ज्योति के रूप में अनुभूत होता है। इसी प्रकार हमारी संकल्पशक्ति और हमारे मनोवेग ईश्वर के सत्, चित्, आनन्द की एक वास्तविक शक्ति एवं सारवस्तु के रूप में अनुभूत होते हैं। समस्त अध्यात्मभावित सम्वेदन एवं भावावेग चेतना और आनन्द के शुद्ध सांचों के रूप में अनुभूत होते हैं। स्वयं हमारी दैहिक सत्ता भी परम आत्मा के जीवन की शक्ति और सम्पदा के एक सचेतन स्थूल आकार के रूप में तथा हमारी प्राणिक सत्ता उसके एक सतत प्रवाह के रूप में अनुभूत होती है।

विकास में अतिमानस का कार्य इस उच्चतम चेतना को व्यक्त और संघटित करना है जिससे कि वह पहले की तरह केवल ऊर्ध्वस्थ अनन्त में ही निवास और कार्य न करती रहे तथा व्यक्ति की सत्ता और प्रकृति में कुछ एक सीमित या आवृत या निम्न एवं विकृत अभिव्यक्तियों के रूप में ही न प्रकट होती रहे, बल्कि व्यक्ति को एक सचेतन एवं आत्मवित् अध्यात्म-सत्ता के रूप में तथा अनन्त एवं विराट् आत्मा की एक सजीव और सक्रिय शक्ति के रूप में यन्त्र बनाकर उसके अन्दर व्यापक और समग्र रूप से कार्य करे। इस कार्य का स्वरूप जहांतक शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है वहांतक इसकी चर्चा आगे चलकर उस स्थल पर करना अधिक उपयुक्त होगा जहां ब्राह्मी चेतना एवं अन्तर्दृष्टि के वर्णन का प्रसंग आयेगा। अगले अध्यायों में हम इसके केवल उतने ही अंश का विवेचन करेंगे जितना व्यक्ति की प्रकृति के अन्दर उद्भूत होनेवाले विचार, संकल्प और चैत्य तथा अन्य प्रकार के अनुभव से सम्बन्ध रखता है। इस समय इतना ही ध्यान में रखना आवश्यक है कि यहां भी विचार और संकल्प के क्षेत्र में त्रिविध क्रिया देखने में आती है। आध्यात्मिक बुद्धि सत्य की प्रतिनिधिभूत एक महत्तर क्रिया के स्तर में उन्नीत होकर विशाल बन जाती है। यह क्रिया मुख्यतया हमारे अन्दर और चारों ओर विद्यमान आत्मा की सत्ता के वास्तविक रूपों को हमारे समक्ष सुनिश्चित आकार में प्रकट करती है। उसके बाद अतिमानसिक ज्ञान की एक उच्चतर सत्यद्योतक क्रिया प्रकट होती है किंवा एक ऐसा महत्तर स्तर प्रकट होता है जो वास्तविक रूपों पर कम आग्रह करता है। वह देश-काल में तथा इनसे परे भी और अधिक महान् सम्भाव्य शक्तियों के द्वार खोल देता है। अन्त में आता है तादात्म्य द्वारा प्राप्त होनेवाला उच्चतम ज्ञान। वह ईश्वर की मूल आत्मसंवित् तथा सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता के स्तर में पहुंचने के लिये प्रवेशद्वार है।

तथापि ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि एक-दूसरे के ऊपर अवस्थित ये स्तर हमारे अनुभव में एक-दूसरे के प्रति बन्द हैं। मैंने इन्हें, आरोहणोन्मुख विकास का जो नियमित क्रम हो सकता है उस क्रम में, प्रस्तुत कर दिया है ताकि एक बौद्धिक स्थापना के रूप में इन्हें समझना अधिक सुगम हो सके। परन्तु अनन्त भगवान् हमारे सामान्य मन में ही अपने आवरणों को भेदकर तथा अपनी ही अवरोहण और

आरोहण की विभाजक रेखाओं को पार कर प्रकट हो उठते हैं और प्रायः ही किसी-न-किसी ढंग से अपने स्वरूप की ओर इंगित करते हैं। जब हम अभी अन्तर्ज्ञानात्मक मन की भूमिका में होते हैं, तो उससे ऊपर की भूमिकाएं भी खुलती जाती हैं और उनकी वस्तुएं अनियमित रूप से हमारे पास आती हैं; फिर जैसे-जैसे हम विकसित होते हैं, वे अन्तर्ज्ञानात्मक स्तर के ऊपर पुनः-पुनः और नियमित रूप से अपना कार्य करने लगती हैं। ज्यों ही हम अतिमानसिक स्तर में प्रवेश करते हैं त्यों ही ऊर्ध्व स्तरों के ये पूर्व-संकेत और भी अधिक व्यापक रूप से तथा पुनः-पुनः प्राप्त होने लगते हैं। विराट् एवं अनन्त चेतना सदा ही मन को अधिकृत एवं चारों ओर से आच्छादित कर सकती है और जब वह एक विशेष सीमातक सतत रूप से, बारम्बार या दृढ़तापूर्वक ऐसा करती है तभी मन अपने-आपको अत्यन्त सुगमता से अन्तर्ज्ञानमय मन में रूपान्तरित कर सकता है और यह अन्तर्ज्ञानमय मन भी अपने-आपको अतिमानसिक क्रिया में रूपान्तरित कर सकता है। भेद इतना ही है कि जैसे-जैसे हम ऊपर उठते हैं, हम अधिकाधिक घनिष्ठ एवं सर्वांगीण रूप से अनन्त चेतना में विकसित होते जाते हैं और वह अधिकाधिक पूर्ण रूप से हमारी अपनी आत्मा और प्रकृति बनती जाती है। अपिच, दूसरी ओर, ऐसा लग सकता है कि सत्ता का निम्न स्तर तब हमारी प्राप्त भूमिका से नीचे का ही नहीं वरन् सर्वथा विजातीय होगा, पर असल में जब हम अतिमानसिक भूमिका में निवास करने लगते हैं और जब हमारी सम्पूर्ण प्रकृति उसके सांचे में ढल चुकती है तब भी उससे हम साधारण प्रकृति में रहनेवाले अन्य लोगों के ज्ञान एवं अनुभूति से विच्छिन्न हो जाते हों ऐसी बात नहीं। निम्नतर या सीमिततर प्रकृति को उच्चतर प्रकृति के समझने और अनुभव करने में कठिनाई हो सकती है, पर उच्चतर एवं विशालतर प्रकृति, यदि वह चाहे तो, निम्न प्रकृति को सदा ही समझ सकती है तथा उसके साथ तादात्म्य भी स्थापित कर सकती है। परमेश्वर भी हमसे पृथक् नहीं हैं; वे सबको जानते हैं, सबमें निवास करते तथा उनके साथ अपने-आपको एक कर देते हैं, तथापि विश्व में विद्यमान मन, प्राण और शरीर की प्रतिक्रियाओं के अधीन नहीं होते और न उनकी सीमाओं के कारण अपने ज्ञान, शक्ति और आनन्द में सीमित ही होते हैं।

अध्याय २२

अतिमानसिक विचारशक्ति और ज्ञान

मन से अतिमानस में संक्रमण करने का अर्थ मन के स्थान पर विचार और ज्ञान के एक महत्तर करण को प्रतिष्ठित करना नहीं बल्कि सम्पूर्ण चेतना को परिवर्तित और रूपान्तरित करना है। अतिमानस के विकास से अतिमानसिक विचार ही नहीं, अतिमानसिक संकल्प, इन्द्रियानुभव और भाव भी अभिव्यक्त हो जाते हैं; किं बहुना, जो-जो क्रियाएं आज मन के द्वारा सम्पन्न की जाती हैं उन सबके स्थान पर अनुरूप अतिमानसिक क्रियाएं विकसित हो जाती हैं। ये सब उच्चतर क्रियाएं पहले स्वयं मन में एक महत्तर शक्ति के अवतरणों, प्रस्फुटनों, सन्देशों या दिव्य दर्शनों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। प्रायः यह मन की अधिक साधारण क्रियाओं के साथ मिली होती हैं और हमारी आरम्भिक अनुभवहीन दशा में इनकी उच्चतर ज्योति, शक्ति और आनन्द के सिवा और किसी भी चिह्न के द्वारा मन की क्रियाओं से इनका भेद करना आसान नहीं होता। जब मन इनके पुनः-पुनः प्रादुर्भाव से महान् बनकर या उद्दीप्त होकर अपनी क्रिया का वेग बढ़ा देता है और अतिमानसिक क्रिया के बाह्य गुणों का अनुकरण करता है तब तो इन्हें मानसिक क्रिया से पृथक् रूप में पहचानना और भी कठिन होता है: तब मन की अपनी क्रिया अधिक वेगवती, प्रकाशपूर्ण, प्रबल और निश्चयात्मिका बन जाती है और वह एक प्रकार का अनुकरणात्मक अन्तर्ज्ञान भी प्राप्त करता है जो प्रायः ही मिथ्या होता है तथा ज्योतिर्मय, साक्षात् एवं स्वयम्भू सत्य बनने का यत्न करता है पर वास्तव में बन नहीं पाता। इससे अगला कदम है—अन्तर्ज्ञानमय अनुभव, विचार, संकल्प, वेदना और इन्द्रियानुभव से युक्त एक ऐसे ज्योतिर्मय मन का निर्माण जिसमें से कि क्षुद्रतर मन और अनुकरणात्मक अन्तर्ज्ञान का मिश्रण उत्तरोत्तर बाहर निकाल दिया जाये: यह **शुद्धि** की प्रक्रिया है जो नयी रचना और **सिद्धि** के लिये आवश्यक है। इसके साथ ही मन के ऊपर अन्तर्ज्ञानात्मक क्रिया का मूल स्रोत उन्मुक्त हो जाता है और एक सच्ची अतिमानसिक चेतना, जो मन में नहीं वरन् अपने ही उच्चतर स्तर पर क्रिया करती है, अधिकाधिक व्यवस्थित ढंग से अपना कार्य करने लगती है। अन्त में यह अन्तर्ज्ञानमय मन को, जिसे इसने अपने प्रतिनिधि के रूप में रचा है, अपने अन्दर समेट लेती है और चेतना के सम्पूर्ण कार्य का भार अपने हाथ में ले लेती है। यह प्रक्रिया क्रमशः आगे बढ़ती जाती है, दीर्घकालतक यह क्षुद्रतर क्रिया के मिश्रण के कारण चितकबरी बनी रहती है और साधक को निम्नतर क्रियाओं का सुधार और रूपान्तर करने के लिये उनकी ओर लौटने की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी उच्चतर और निम्नतर शक्तियां बारी-बारी से कार्य करती हैं,—चेतना

जिन ऊचाइयोंतक पहुंच चुकी होती है उनसे उतरकर फिर अपने पहले स्तर पर आ जाती है पर सदा ही पहले से कुछ बदली हुई होती है,—किन्तु कभी-कभी ये दोनों मिलकर एक प्रकार के पारस्परिक विचार-परामर्श के साथ कार्य करती हैं। अन्त में मन पूर्ण रूप से अन्तर्ज्ञानमय बन जाता है और अतिमानसिक क्रिया की एक निष्क्रिय प्रणालिका मात्र रह जाता है। पर यह अवस्था भी आदर्श नहीं है और साथ ही, अबतक भी यह एक प्रकार की कठिनाई उपस्थित करती है, क्योंकि उच्चतर क्रिया को अबतक भी एक बाधक और ह्रासजनक चेतन तत्त्व में से गुजरना पड़ता है,—वह तत्त्व है भौतिक चेतना का तत्त्व। अतः रूपान्तर की अन्तिम अवस्था तब आयेगी जब अतिमानस हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपने अधिकार में लाकर अतिमानसिक बना देगा और प्राणमय तथा अन्नमय कोषों को भी अपने सांचों में ढालकर प्रत्युत्तरशील एवं सूक्ष्म बना देगा तथा अपनी शक्तियों से परिपूरित भी कर देगा। तब मानव पूर्ण रूप से अतिमानव बन जायेगा। कम-से-कम, रूपान्तर की स्वाभाविक एवं सर्वांगीण प्रणाली यही है।

अतिमानस के सम्पूर्ण स्वरूप का यथावत् निरूपण करने जैसे किसी कार्य के लिये प्रयत्न करना अपनी वर्तमान सीमाओं से सर्वथा बाहर जाना होगा; अपिच, उसका पूर्ण निरूपण करना भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि अतिमानस अपने अन्दर अनन्त की एकता को ही नहीं वरन् उसकी विशालता तथा नानाविध अनेकता को भी धारण करता है। इस समय इतना ही करना आवश्यक है कि यौगिक रूपान्तर की यथार्थ प्रक्रिया के दृष्टिकोण से उसके कुछ प्रमुख लक्षणों का वर्णन कर दिया जाये और मन के कार्य के साथ उसका सम्बन्ध तथा रूपान्तर के कुछ एक दृग्विषयों का सिद्धान्त भी प्रतिपादित कर दिया जाये। मन के साथ उसका मूलभूत सम्बन्ध यह है कि मन का समस्त कार्य गुप्त अतिमानस से उद्भूत होता है, यद्यपि जबतक हम अपनी उच्चतर आत्मा को नहीं जान लेते तबतक हमें इस तथ्य का पता नहीं चलता। मन के कार्य में जो कुछ भी सत्य और मूल्यवान् है उस सबको वह अपने इसी उद्गम से ग्रहण करता है। हमारे सभी विचारों, संकल्पों, भावों और ऐन्द्रिय बोधों में या उनके मूल में सत्य का कुछ अंश होता है, जो उनकी सत्ता का उद्गम और धारक होता है, भले ही वे अपने प्रत्यक्ष तात्कालिक स्वरूप में विकृत या मिथ्या ही क्यों न हों। उनके पीछे एक और भी महान् सत्य होता है जो उनकी पकड़ में नहीं आया होता। यदि वे उसे पकड़ में ला सकें तो वह उन्हें शीघ्र ही एकीकृत, समस्वर तथा कम-से-कम अपेक्षाकृत पूर्ण बना देगा। पर, वास्तव में, उनमें सत्य का जो अंश रहता है उसका क्षेत्र संकुचित हो जाता है, वह पतित होकर एक निम्नतर गति का रूप धारण कर लेता है, विखण्डन के द्वारा विभक्त होकर असत्य बन जाता है, अपूर्णता से उत्पीड़ित तथा विकृति के द्वारा क्षत-विक्षत हो जाता है। मानसिक ज्ञान समग्र नहीं बल्कि सदा ही आंशिक होता

है। वह (मन) निरन्तर एक व्योरे में दूसरे व्योरे को जोड़ता रहता है, पर उन सबको एक-दूसरे के साथ ठीक प्रकार से सम्बद्ध करने में उसे कठिनाई पड़ती है; उसके बनाये हुए अखण्ड अवयवी वास्तविक नहीं बल्कि अपूर्ण अवयवी होते हैं जिन्हें वह अधिक वास्तविक एवं समग्र ज्ञान का स्थान देने की प्रवृत्ति रखता है। चाहे वह एक प्रकार के समग्र ज्ञान पर पहुंच भी जाये, तो भी वह खण्डों को एक प्रकार से एकत्र करके, मन और बुद्धि के द्वारा क्रमबद्ध करके अर्थात् एक प्रकार की कृत्रिम एकता के द्वारा ही उसपर पहुंचता है, न कि सारभूत और वास्तविक एकता के द्वारा। यदि इतनी ही बात होती तो भी यह कल्पना की जा सकती थी कि मन समग्र ज्ञान के किसी प्रकार के अर्द्ध-प्रतिबिम्ब एवं अर्द्ध-अनुवाद पर पहुंच सकता है, पर फिर भी उसमें मूल दोष यह रहेगा कि वह प्रतिबिम्ब या अनुवाद वास्तविक वस्तु नहीं होगा, बल्कि, अपने सर्वोत्तम रूप में भी, वह एक बौद्धिक प्रतिरूपमात्र होगा। मानसिक सत्य सदा ही ऐसा होता है, सत्य का एक बौद्धिक, भावमय एवं साम्वेदनिक प्रतिरूप, न कि अपरोक्ष सत्य या अपने शरीर और तात्त्विक रूप में विद्यमान साक्षात् सत्य।

मन जो भी कार्य करता है वह सब अतिमानस कर सकता है, अर्थात् वह व्योरों तथा उन तथ्यों का, जिन्हें हम सत्य के पक्ष या गौण अवयवी कह सकते हैं, निरूपण और संयोजन कर सकता है, पर यह कार्य वह मन की अपेक्षा भिन्न प्रकार से तथा भिन्न आधार पर करता है। वह मन की भांति सत्य में विच्युति, मिथ्या विस्तार तथा आरोपित भ्रान्ति का तत्त्व नहीं लाता, पर जब वह आंशिक ज्ञान प्रदान करता है तब भी वह इसे स्थिर और यथार्थ ज्योति के द्वारा प्रदान करता है, और इसके पीछे वह तात्त्विक सत्य, जिसपर ज्ञान के व्योरे और गौण अवयवी या पक्ष आश्रित होते हैं, सदा विद्यमान रहता है, भले वह चेतना के प्रति प्रकट हो या अप्रकट। अतिमानस में निरूपण करने की शक्ति भी है, पर उसके निरूपण बौद्धिक ढंग के नहीं होते, वे तात्त्विक सत्य की ज्योति के रूप और सारतत्त्व से परिपूर्ण होते हैं, वे उसके वाहन होते हैं न कि स्थानापन्न प्रतिरूप। अतिमानस में इस प्रकार की असीम निरूपण-शक्ति है और वह एक दिव्य शक्ति है; मन की क्रिया उस (शक्ति) का एक प्रकार का हीन प्रतिनिधि है। अतिमानस की यह निरूपण शक्ति उस बुद्धि में, जिसे मैंने अतिमानसिक बुद्धि का नाम दिया है, और जो मनोमय बुद्धि के निकटतम है, तथा जिसमें मनोमय बुद्धि को अत्यन्त सुगमता से उन्नीत किया जा सकता है, एक निम्न क्रिया करती है, और समग्र अतिमानस में, जो सभी वस्तुओं को दिव्य चेतना और स्वयम्भू सत्ता की एकता और अनन्तता में देखता है, यह एक उच्चतर क्रिया करती है। किन्तु किसी भी स्तर पर क्यों न हो, इसकी क्रिया स्व-सदृश मानसिक क्रिया से भिन्न होती है, वह अपरोक्ष, ज्योतिर्मय तथा सुरक्षित होती है। मन की सम्पूर्ण निम्न क्रिया का मूल कारण यह है कि वह

अन्तरात्मा की उस अवस्था की क्रिया है जब वह निर्ज्ञान और अज्ञान में पतित हो चुकी होती है और आत्मज्ञान की ओर लौटने का यत्न कर रही होती है, पर इसके लिये वह अभी निर्ज्ञान और अज्ञान के आधार पर ही यत्नशील होती है। मन अज्ञान का एक करण है जो ज्ञान पाने की चेष्टा कर रहा है अथवा जिसे एक गौण प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है : वह अविद्या की एक क्रिया है। अतिमानस सदा ही सहजात एवं स्वयम्भू ज्ञान का आविर्भावस्वरूप होता है; वह विद्या की क्रिया है।

मन और अतिमानस में जो दूसरा भेद हम अनुभव करते हैं वह यह है कि अतिमानस में एक महत्तर एवं स्वयं-स्फूर्त समस्वरता और एकता विद्यमान है। समस्त चेतना एकात्मक है, पर क्रिया में वह अनेक गतिविधियों को अपनाती है और इन मूल गतिविधियों में से प्रत्येक के अनेक रूप और प्रक्रियाएं होती हैं। मनोमय चेतना के रूपों और प्रक्रियाओं का विशेष लक्षण होता है मानसिक शक्तियों और गतियों का एक ऐसा विभाजन एवं पार्थक्य जो हमारे अन्दर क्षोभ और व्याकुलता उत्पन्न करता है। इन मानसिक शक्तियों एवं गतियों में सचेतन मन की मूल एकता या तो बिलकुल ही नहीं प्रकट होती या फिर वह विच्छिन्न रूप में ही प्रकट होती है। हम अपने मन में विभिन्न विचारों के बीच निरन्तर ही एक संघर्ष या अस्तव्यस्तता एवं असंगति पाते हैं अथवा यदि उनमें कोई संगति हुई भी तो वह टूटी-फूटी-सी होती है। हमारी संकल्पशक्ति और कामना की नाना चेष्टाओं तथा हमारे भावावेशों और वेदनों पर भी यही बात लागू होती है। अपिच, हमारा विचार, संकल्प और वेदन एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक समस्वरता और एकता की स्थिति में नहीं हैं, बल्कि जब उन्हें मिलकर कार्य करना होता है तब भी वे अपनी पृथक्-पृथक् शक्ति के द्वारा कार्य करते हैं, बहुधा ही परस्पर संघर्ष करते हैं अथवा कुछ अंश में एक-दूसरे का विरोध करते हैं। दूसरे की बलि चढ़ाकर एक का असम विकास भी देखने में आता है। मन विरोधों की बनी वस्तु है जिसमें जीवन के कार्यों के लिये एक सन्तोषजनक समस्वरता तो नहीं, वरन् एक प्रकार की क्रियात्मक व्यवस्था स्थापित की जाती है। बुद्धि एक अधिक अच्छी व्यवस्था पर पहुंचने का यत्न करती है, अधिक उत्तम नियन्त्रण एवं तर्कसंगत या आदर्श सामंजस्य को अपना लक्ष्य बनाती है। इस प्रयत्न में वह अतिमानस का एक प्रतिनिधि या स्थानापन्न है और वह कार्य करने की चेष्टा कर रही है जिसे केवल अतिमानस ही अपने निज अधिकार के साथ कर सकता है : पर वास्तव में वह शेष सारी सत्ता पर पूरी तरह काबू नहीं पा सकती और हम अपने विचारों में जो तर्कमूलक या आदर्श सामंजस्य उत्पन्न करते हैं उसमें तथा जीवन की गतिविधि में सामान्यतया अत्यधिक भेद होता है। बुद्धि की रची हुई उत्तम-से-उत्तम व्यवस्था में भी कृत्रिमता और आरोपण का कुछ अंश सदा ही रहता है, क्योंकि अन्ततः साहजिक समस्वर गतियां तो केवल दो ही हैं, एक तो है निश्चेतन या अधिकांशतः अवचेतन जीवन

की समस्वरता जिसे हम निश्चेतन या अवचेतन प्राणियों की सृष्टि में एवं निम्न प्रकृति में पाते हैं, और दूसरी है आत्मा की समस्वरता। मानव की अवस्था इन दोनों समस्वरताओं के बीच की, प्राकृतिक और आदर्श या आध्यात्मिक जीवन के बीच की, एक संक्रमण, प्रयत्न और अपूर्णता की अवस्था है और यह अनिश्चित जिज्ञासा एवं अव्यवस्था से पूर्ण है। यह नहीं कि मनुष्य किसी प्रकार की अपनी निजी सापेक्ष समस्वरता प्राप्त किंवा निर्मित नहीं कर सकता, पर हां, वह इसे स्थायी नहीं बना सकता, क्योंकि उसपर आत्मा का दबाव पड़ता रहता है। मनुष्य के अन्दर अवस्थित एक शक्ति उसे बाधित करती है कि वह एक न्यूनाधिक सचेतन आत्म-विकास के लिये प्रयास करे जो उसे आत्म-प्रभुत्व एवं आत्मज्ञान प्राप्त करायेगा।

इसके विपरीत, अतिमानस अपने कार्य की दृष्टि से एक ऐसी शक्ति है जो एकता, समस्वरता और सहजात व्यवस्था से युक्त है। मन पर जब पहले-पहल ऊपर से दबाव पड़ता है तो वह अनुभव में नहीं आता, यहांतक कि कुछ समय के लिये एक विपरीत दृग्विषय भी सामने आ सकता है। इसके कई कारण होते हैं। प्रथम, निम्न चेतना पर जब एक महत्तर एवं अपरिमेय-सी शक्ति का प्रभाव पड़ता है तो उसके कारण एक गड़बड़ी, यहांतक कि उन्माद भी उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि निम्न चेतना उस महत्तर शक्ति को सजीव रूप से प्रत्युत्तर देने में, यहांतक कि शायद उसका दबाव सहने में भी समर्थ नहीं होती। जब दो सर्वथा विभिन्न शक्तियां एक ही समय, किन्तु बिना मेल-मिलाप के अपना-अपना कार्य कर रही हों तब विशेषकर यदि मन अपनी पद्धति पर अड़ा रहे, यदि वह अपने-आपको अतिमानस तथा उसके उद्देश्य के प्रति अर्पित करने के बजाय उससे लाभ उठाने के लिये जोर-जबर्दस्ती के साथ या हठपूर्वक चेष्टा करे, यदि वह उच्चतर मार्गदर्शन के प्रति पर्याप्त निष्क्रिय एवं आज्ञापालक न हो तो इस अवस्था के परिणामस्वरूप मनोमय शक्ति अत्यधिक उद्दीप्त हो सकती है, पर साथ ही अव्यवस्था भी बहुत बढ़ सकती है। इसी कारण पूर्व तैयारी और दीर्घकालीन शुद्धि,—ये जितनी अधिक पूर्ण हों उतना ही अच्छा—तथा स्थिरता और दृढ़ता के साथ आत्मा की ओर खुले हुए मन की प्रशान्तता एवं साधारणतः उसकी निष्क्रियता, ये सब योग के अनिवार्य साधन हैं।

अपिच, मन, सीमाओं के भीतर कार्य करने का आदि होने के कारण, अपनी शक्तियों में से किसी एक की दिशा में अपने-आपको विज्ञानमय बनाने का यत्न कर सकता है। वह बोधिमय अर्द्ध-अतिमानसीकृत विचार और ज्ञान की प्रचुर शक्ति विकसित कर सकता है, पर संकल्पशक्ति चिन्तनात्मक मन के इस आंशिक अर्द्ध-अतिमानसिक विकास के साथ असमस्वरित एवं अरूपान्तरित ही रह सकती है, और शेष सत्ता अर्थात् भाव-प्रधान तथा स्नायविक सत्ता भी पहले जैसी या

उससे भी अधिक असंस्कृत बनी रह सकती है। अथवा सम्भव है कि बोधिमय या तीव्रतया अनुप्रेरित संकल्पशक्ति तो अत्यधिक विकसित हो जाये, पर उसके अनुरूप चिन्तनात्मक मन या भावप्रधान एवं चैत्य सत्ता का आरोहण सम्पन्न न हो, या फिर, संकल्प-क्रिया पूरी तरह से रुक ही न जाये इसके लिये जितना आरोहण विशेष रूप से आवश्यक है, अधिक-से-अधिक उतना ही सम्पन्न हो। भाव-प्रधान या चैत्य मन अपने-आपको बोधिमय एवं विज्ञानमय बनाने का यत्न कर सकता है और बहुत हदतक इसमें सफल भी हो सकता है, किन्तु फिर भी चिन्तनात्मक मन साधारण बना रह सकता है, उसकी विचार-सामग्री क्षुद्र और उसका प्रकाश धूमिल रह सकता है। नैतिक या सौन्दर्यात्मक सत्ता में अन्तर्ज्ञान का विकास हो सकता है, पर शेष सारी सत्ता बहुत कुछ पहले जैसी ही बनी रह सकती है। यही कारण है कि हमें प्रतिभाशाली मनुष्य में, कवि, कलाकार, विचारक, सन्त या गुह्यवादी में, बहुधा ही एक प्रकार की अस्तव्यस्तता या एकांगिता दिखायी देती है। जो मन कुछ अंश में ही बोधिमय बना है उसमें, उसकी विशेष क्रिया के क्षेत्र को छोड़कर, अत्यन्त विकसित बौद्धिक मन की अपेक्षा बहुत ही कम समस्वरता और व्यवस्था दिखायी दे सकती है। अतः सर्वांगीण विकास की, मन के सम्पूर्ण रूपान्तर की परम आवश्यकता है; अन्यथा एक ऐसे मन की क्रिया देखने में आती है जो अतिमानस के अन्तःप्रवाह को अपने सांचे में ढालकर अपने ही लाभ के लिये प्रयुक्त करता है, और हमारी सत्ता में—भगवान् के तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये उक्त अवस्था को भी स्वीकार्य समझा जाता है, यहांतक कि उसे व्यक्ति के लिये इस एक जीवन में पर्याप्त भी माना जा सकता है: पर यह अपूर्णता की अवस्था है, न कि सत्ता का पूर्ण एवं सफल विकास। पर यदि बोधिमय मन का समग्र विकास साधित हो जाये तो हमें पता चलेगा कि एक महान् सामंजस्य ने अपनी आधारशिला रखना आरम्भ कर दिया है। यह सामंजस्य बौद्धिक मन द्वारा सृष्ट सामंजस्य से भिन्न होगा और निःसन्देह सुगमता से अनुभव में भी नहीं आयेगा अथवा, यदि अनुभव में आया भी सही, तो भी यह तर्कवादी मानव के लिये बुद्धिगम्य नहीं होगा, क्योंकि इसपर वह अपनी मानसिक पद्धति के द्वारा नहीं पहुंचेगा और न ही उसके द्वारा उसका विश्लेषण कर सकेगा। यह तो आत्मा की साहजिक अभिव्यक्ति का सामंजस्य होगा।

ज्योंही हम मन से ऊपर उठकर अतिमानस में पहुंचेंगे, त्योंही इस आरम्भिक सामंजस्य का स्थान एक महत्तर एवं समग्रतर एकता ले लेगी। अतिमानसिक बुद्धि के विचार जब सर्वथा विपरीत दिशाओं से उद्भूत हुए होते हैं तब भी वे एकत्र होकर एक-दूसरे को समझते हैं तथा आप-से-आप ही एक स्वाभाविक व्यवस्था के सूत्र में ग्रथित हो जाते हैं। संकल्प की जो गतियां मन में परस्पर संघर्ष करती रहती हैं वे अतिमानस में अपना-अपना ठीक स्थान प्राप्त कर लेती हैं तथा वहां उनके

बीच आपस में ठीक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतिमानसिक वेदन भी एक-दूसरे के बीच आत्मीयता के सम्बन्धों को खोज लेते हैं और एक स्वाभाविक सम्वाद एवं सामंजस्य में आबद्ध हो जाते हैं। एक उच्चतर अवस्था में यह सामंजस्य प्रगाढ़ होते-होते एकता की ओर अग्रसर होता है। ज्ञान, संकल्प, वेदन तथा अन्य सब क्रियाएं एक ही गति का रूप धारण कर लेती हैं। यह एकता उच्चतम अतिमानस में अपनी महत्तम पूर्णता को पहुंच जाती है। सामंजस्य एवं एकत्व अवश्यम्भावी ही हैं, क्योंकि अतिमानस में ज्ञान, विशेषतः आत्म-ज्ञान, आत्मा के सभी पक्षों का ज्ञान ही आधार है। अतिमानसिक संकल्प इस आत्मज्ञान का एक सक्रिय व्यक्त रूप होता है और अतिमानसिक वेदन आत्मा के ज्योतिर्मय आनन्द का एक व्यक्त रूप, अतिमानस की अन्य सब क्रियाएं भी इसी एक क्रिया के अंग होती हैं। अपने उच्चतम शिखर पर यह, जिसे हम ज्ञान कहते हैं उससे एक अधिक महान् वस्तु बन जाता है, वहां यह हमारे अन्दर विद्यमान भगवान् की सारभूत एवं समग्र आत्म-सम्वित् का, उसकी सत्ता, चेतना, तपस् और आनन्द का रूप धारण कर लेता है, और सभी कुछ उसी एक सत्ता की समस्वर, एकीभूत, प्रकाशमय क्रिया बन जाता है।

यह अतिमानसिक ज्ञान मुख्यतः या तत्त्वतः कोई विचारात्मक ज्ञान नहीं होता। बुद्धि जबतक किसी वस्तु की अनुभूति को विचार की परिभाषाओं में परिणत नहीं कर लेती, अर्थात् जबतक वह उसे निरूपक मानसिक प्रत्ययों की प्रणाली में आबद्ध नहीं कर देती तबतक वह यह नहीं समझती कि उसने उस वस्तु को जान लिया है, और इस प्रकार का ज्ञान अपनी अत्यन्त निर्णयात्मक पूर्णता तभी प्राप्त करता है जब उसे स्पष्ट, यथार्थ और परिभाषात्मक शब्दों में प्रकट किया जा सके। यह ठीक है कि मन अपना ज्ञान मुख्यतया नाना प्रकार के संस्कारों से प्राप्त करता है जो प्राण और इन्द्रिय के संस्कारों से आरम्भ होकर ऊपर बुद्धिगत संस्कारों तक पहुंचते हैं, पर विकसित बुद्धि इन्हें केवल ज्ञात तथ्यों के रूप में ही ग्रहण करती है और उसे ये अपने-आपमें तबतक अनिश्चित एवं अनिर्दिष्ट प्रतीत होते हैं जबतक ये बाध्य होकर अपना सब अन्तर्निहित सार विचार-शक्ति के सम्मुख क्षरित नहीं कर देते और किसी बौद्धिक सम्बन्ध-परम्परा या व्यवस्थित विचार-शृंखला में अपना स्थान नहीं ले लेते। यह भी सच है कि ऐसी वाणी एवं ऐसे विचार भी होते हैं वो व्याख्यात्मक होने की अपेक्षा कहीं अधिक निर्देशक होते हैं और जिनमें अपने ढंग की एक महत्तर क्षमता एवं अर्थ-वैभव होता है, और इस प्रकार की वाणी एवं विचार प्रायः अन्तर्ज्ञान के किनारे को स्पर्श करते हैं; किन्तु फिर भी बुद्धि में यह मांग होती है कि इन निर्देशों के यथातथ बौद्धिक अन्तः-सार को स्पष्ट शृंखला और सम्बन्ध परम्परा के साथ प्रकट किया जाये और जबतक ऐसा न हो जाये तबतक उसे अपने ज्ञान की पूर्णता के बारे में सन्तोष अनुभव नहीं होता। तार्किक बुद्धि में

रहकर सत्य-प्राप्ति के लिये यत्न करती हुई विचार-शक्ति ही एक ऐसी शक्ति है जो सामान्यतया मानसिक क्रिया को सर्वोत्तम रूप से व्यवस्थित करती प्रतीत होती है और मन को उसके ज्ञान में तथा ज्ञान के प्रयोग में अचूक सुनिश्चितता, सुरक्षितता एवं पूर्णता की भावना प्रदान करती है। परन्तु अतिमानसिक ज्ञान के सम्बन्ध में इनमें से कोई भी बात किञ्चित् भी सत्य नहीं है।

अतिमानस विचार के नहीं, तादात्म्य के द्वारा अत्यन्त पूर्ण एवं सुरक्षित रूप से ज्ञान प्राप्त करता है, यहां तादात्म्य का अर्थ है आत्मा में और आत्मा के द्वारा वस्तुओं के आत्म-सत्य की शुद्ध अनुभूति, **आत्मनि आत्मानम् आत्मना**। सत्य के साथ, ज्ञान के विषय के साथ एक होकर ही मैं सर्वोत्तम रूप में अतिमानसिक ज्ञान प्राप्त करता हूं; जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, **ज्ञाता, ज्ञानम्, ज्ञेयम्**, में कुछ भी भेद नहीं रह जाता तभी अतिमानसिक सन्तुष्टि और समग्र ज्योति सर्वाधिक प्राप्त होती हैं। मैं ज्ञात वस्तु को अपने से बाहर स्थित विषय के रूप में नहीं बल्कि अपनी ही आत्मा के रूप में या अपनी विराट् सत्ता के एक ऐसे अंश के रूप में देखता हूं जो मेरी निकटतम चेतना में विद्यमान है। इसके परिणामस्वरूप उच्चतम एवं सम्पूर्णतम ज्ञान प्राप्त होता है; मन का विचार और वाणी ज्ञान के प्रतिनिधि हैं न कि उपर्युक्त, चेतनागत प्रत्यक्ष उपलब्धि, इसलिये अतिमानस के लिये वे ज्ञान का निम्नतर रूप हैं और यदि विचार आत्मिक सचेतनता से परिपूरित न हो तो वास्तव में वह ज्ञान का एक हीन रूप बन जाता है। कारण, मान लो कि वह एक अतिमानसिक विचार है तो वह उस महत्तर ज्ञान की, जो आत्मा में विद्यमान तो है पर तत्क्षण की सक्रिय चेतना के समक्ष उस समय उपस्थित नहीं है, एक आंशिक अभिव्यक्तिमात्र होगा। अनन्त के उच्चतम स्तरों में विचार के अस्तित्व की बिल्कुल जरूरत नहीं रहेगी क्योंकि वहां सब कुछ आध्यात्मिक रूप में, एक अविच्छिन्न शृंखला एवं नित्य उपलब्धि के रूप में तथा निरपेक्ष प्रत्यक्षता एवं सम्पूर्णता के साथ अनुभूत होगा। विचार तो केवल एक अन्यतम साधन है जो इस महत्तर स्वयम्भू ज्ञान में छुपे पड़े सत्य को आंशिक रूप से व्यक्त और वर्णित करता है। जबतक हम अतिमानस के अनेक स्तरों में से होते हुए उस अनन्ततक नहीं पहुंच पाते तबतक निःसन्देह यह सर्वोच्च प्रकार का ज्ञान अपने पूर्ण विस्तार और मात्रा में हमें प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु, फिर भी जैसे-जैसे अतिमानसिक शक्ति आविर्भूत होकर अपना कार्य-विस्तार करती है, वैसे-वैसे इस उच्चतम प्रकार के ज्ञान की कोई कला प्रकट और विकसित होती जाती है, यहांतक कि जैसे-जैसे मनोमय सत्ता के करण अन्तर्ज्ञानमय और विज्ञानमय बनते जाते हैं, वैसे-वैसे वे भी अपने स्तर पर एक अनुरूप क्रिया का अधिकाधिक विकास करते चलते हैं। अपनी चेतना के विषयभूत सभी पदार्थों और प्राणियों के साथ ज्योतिर्मय प्राणिक, आन्तरात्मिक, भाविक, क्रियाशील तथा अन्य प्रकार का तादात्म्य स्थापित करने की शक्ति हमारे अन्दर बढ़ती जाती है और पृथक्कारक चेतना का अतिक्रमण करनेवाली

ये अवस्थाएं अपने साथ अपरोक्ष ज्ञान के अनेक रूप और साधन लाती हैं।

अतिमानसिक ज्ञान या तादात्म्य-लब्ध अनुभव अपने अन्दर अपने एक परिणाम या एक गौण अङ्ग के रूप में अतिमानसिक अन्तर्दर्शन को वहन करता है। इस अन्तर्दर्शन को किसी प्रतिमा के सहारे की जरूरत नहीं होती, जो चीज मन के लिये अमूर्त होती है उसे भी यह मूर्त बना सकता है और इसका स्वरूप एक अन्तर्दर्शन का होता है भले इसका विषय रूपवान् पदार्थ का अदृश्य सत्य हो या अरूप पदार्थ का सत्य। यह अन्तर्दर्शन किसी भी प्रकार के तादात्म्य के पहले, उससे होनेवाले एक प्रकार के पूर्वगामी ज्योति-विकिरण के रूप में प्राप्त हो सकता है, या फिर यह उससे पृथक् रहकर एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में भी कार्य कर सकता है। उस दशा में ज्ञात सत्य या पदार्थ मेरे साथ पूर्णतया एकीभूत नहीं होता या कम-से-कम अभीतक एकीभूत नहीं होता, बल्कि वह मेरे ज्ञान का एक विषय होता है: किन्तु अबतक भी वह एक ऐसा विषय होता है जो आत्मा में आन्तरिक रूप से देखा जाता है या कम-से-कम, चाहे वह ज्ञाता के लिये अभी एक बाह्य विषय के रूप में उससे पृथक् एवं बहुत दूर अवस्थित हो फिर भी, वह आत्मा के द्वारा ही देखा जाता है। आत्मा उसे किसी मध्यवर्ती क्रिया के द्वारा नहीं वरन् या तो एक प्रत्यक्ष आन्तरिक ग्रहण के द्वारा या विषय के साथ आध्यात्मिक चेतना के अन्तर्वेधक एवं आच्छादक ज्योतिर्मय संस्पर्श के द्वारा देखती है। इस ज्योतिर्मय ग्रहण एवं संस्पर्श को ही आध्यात्मिक 'दृष्टि' कहते हैं, उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में निरन्तर "पश्यति" (अर्थात् "वह साक्षात् करता है") शब्द का प्रयोग करती है; और सृष्टि की परिकल्पना करते हुए परम आत्मा के बारे में वह हमारी आशा के अनुरूप यह कहने के बजाय कि "उसने विचार किया" यह कहती है कि उसने "ईक्षण किया"। यह "दृष्टि" आत्मा के लिये वही काम करती है जो स्थूल मन के लिये इन्द्रियां करती हैं और व्यक्ति को एक ऐसी क्रिया में से गुजरने का अनुभव होता है जो सूक्ष्म रूप से इन्द्रियों की क्रिया के ही तुल्य होती है। विचार को जिन पदार्थों का एक संकेत या मानसिक वर्णनमात्र प्राप्त हुआ होता है उनका प्रत्यक्ष आकार स्थूल दृष्टि हमारे समक्ष प्रस्तुत कर सकती है और वे हमारे लिये एक ही साथ वास्तविक और प्रत्यक्ष हो जाती हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि विचार के संकेतों या निरूपणों को भी पार कर सभी वस्तुओं के आत्मा एवं सत्य को हमारे समक्ष उपस्थित एवं प्रत्यक्ष बना सकती है।

इन्द्रिय हमारे सामने पदार्थों की स्थूल प्रतिमा ही प्रस्तुत कर सकती है और उस प्रतिमा को पूरित तथा अनुप्राणित करने के लिये उसे विचार की सहायता की आवश्यकता होती है; पर आध्यात्मिक दृष्टि हमारे सामने वस्तु का निज स्वरूप तथा तद्विषयक सम्पूर्ण सत्य प्रस्तुत करने का सामर्थ्य रखती है। उस अध्यात्म-दृष्टि की प्रक्रिया में ऋषि को विचार की सहायता की आवश्यकता ज्ञान के साधन के रूप में

नहीं बल्कि वर्णन और अभिव्यक्ति के एक साधन के रूप में ही होती है,—विचार तो उसके लिये एक क्षुद्रतर शक्ति के समान होता है और उसका प्रयोग भी वह एक गौण प्रयोजन के लिये ही करता है। यदि और आगे ज्ञान के विस्तार की आवश्यकता हो तो उसे वह नये साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त कर सकता है। उसके लिये उसे उन मन्दतर विचार-प्रक्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती जो मन की खोज के लिये सहारे का काम करती हैं और सत्य के लिये उसकी टोह-टटोल में सहायक होती हैं,—यह कार्य ऋषि ठीक वैसे ही करता है जैसे कि हम प्रथम अवलोकन के समय अपनी दृष्टि से छूट गयी वस्तु को जानने के लिये आंख से पुनः छानबीन करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा प्राप्त होनेवाला यह अनुभव एवं ज्ञान प्रत्यक्षता और महानता में अतिमानसिक शक्तियों के बीच दूसरे नम्बर पर आता है। यह मानसिक साक्षात्कार की अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ, गहन और व्यापक वस्तु है, क्योंकि यह सीधे तादात्म्यलब्ध ज्ञान से उद्‌भूत होता है, और इसमें यह गुण होता है कि जिस प्रकार हम तादात्म्य से साक्षात्कार की ओर बढ़ सकते हैं उसी प्रकार इस आध्यात्मिक साक्षात्कार से हम एकदम तादात्म्य की ओर बढ़ सकते हैं। इस प्रकार जब हमारी अन्तरात्मा आध्यात्मिक साक्षात्कार के द्वारा ईश्वर, परम आत्मा या ब्रह्म को देख चुकती है तो उसके बाद वह परम आत्मा, ईश्वर या ब्रह्म में प्रवेश कर उसके साथ एक हो सकती है।

एकता स्थापित करने की यह क्रिया समग्र रूप से तो अतिमानसिक स्तर पर या उसके परे जाने पर ही सम्पन्न की जा सकती है, पर इसके साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टि अपने मानसिक रूप ग्रहण कर सकती है जिनमें से प्रत्येक अपने-अपने ढंग से इस एकीकरण में सहायता कर सकता है। मानसिक बोधिमय अन्तर्दर्शन या आध्यात्मीकृत मानसिक दृष्टि, चैत्य अन्तर्दर्शन, हृदय का भावावेगमय अन्तर्दर्शन, ऐन्द्रिय मन का अन्तर्दर्शन—ये सभी योगानुभव के अङ्ग हैं। यदि ये अन्तर्दर्शन निरे मानसिक हों, तो वे सत्य हो तो सकते हैं पर यह जरूरी नहीं कि वे सत्य हों ही, क्योंकि मन अपने अन्दर सत्य और भ्रान्ति दोनों को स्थान दे सकता है, वह सच्चे और झूठे दोनों प्रकार के वर्णन कर सकता है। पर जैसे-जैसे मन बोधिमय और अतिमानसिक बनता जाता है, वैसे-वैसे ये शक्तियां अतिमानस की अधिक ज्योतिर्मय क्रिया के द्वारा शुद्ध और संशोधित होती जाती हैं और अपने-आप भी अतिमानसिक एवं वास्तविक अन्तर्दर्शन के रूप बन जाती हैं। यह ध्यान में रखने योग्य है कि अतिमानसिक अन्तर्दर्शन अपने साथ एक पूरक एवं परिपूरक अनुभव लाता है जिसे सत्य का,—उसके सार का तथा इसके द्वारा उसके मर्म का—आध्यात्मिक श्रवण और स्पर्श कहा जा सकता है, अर्थात् उस अनुभव के द्वारा सत्य की गति, स्पन्दना और लय हमारी पकड़ में आ जाती हैं और उसका घनिष्ठ सान्निध्य, सम्पर्क और सारतत्त्व भी हम अधिकृत कर लेते हैं। ये सब

शक्तियां हमें उस तत्त्व के साथ एक होने के लिये तैयार करती हैं जो इस प्रकार ज्ञान के द्वारा हमारे निकटवर्ती बन चुका है।

अतिमानसिक विचार तादात्म्यलब्ध ज्ञान का एक रूप है और अतिमानसिक अन्तर्दर्शन के समक्ष प्रस्तुत सत्य का विचार के रूप में विकास है। तादात्म्य और अन्तर्दर्शन सत्य के सारतत्त्व, देह और अंगों को एक ही अखण्ड दृष्टि में प्रत्यक्ष करा देते हैं: विचार सत्य की इस प्रत्यक्ष चेतना और अव्यवहित शक्ति को विचारमय ज्ञान और संकल्प का रूप दे देता है। वैसे वह कोई नयी चीज नहीं जोड़ता न उसे ऐसा करने की कोई आवश्यकता ही होती है, वह तो केवल ज्ञान की देह को पुनः एक रूप और वाणी प्रदान करता है तथा उसकी परिक्रमा करता है। किन्तु जहां तादात्म्य और अन्तर्दर्शन अभी अपूर्ण ही होते हैं वहां अतिमानसिक विचार का कार्य इससे अधिक महान् होता है और वह उस सत्य की अभिव्यक्ति और व्याख्या कर देता है या मानों अन्तरात्मा की स्मृति को उसकी याद करा देता है जिसे प्रकट करने के लिये वे (तादात्म्य और अन्तर्दर्शन) अभी तैयार नहीं होते। और जहां ये महत्तर अवस्थाएं एवं शक्तियां अभी आवृत होती हैं, वहां विचार सामने आकर आवरण के आंशिक विदारण की तैयारी करता है और कुछ अंश में उसका विदारण भी कर देता है अथवा वह आवरण के हटाने में सक्रिय रूप से सहायता करता है। अतएव मानसिक अज्ञान में से अतिमानसिक ज्ञान की ओर विकसित होने में यह आलोकित विचार हमारे सामने सदा नहीं तो प्रायः ही सबसे पहले प्रकट होता है, इसका उद्देश्य अन्तर्दर्शन का मार्ग खोलना या फिर तादात्म्य की बढ़ती चेतना एवं उसके महत्तर ज्ञान को आरम्भिक आश्रय देना होता है। साथ ही, यह विचार आदान-प्रदान और अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली साधन भी है और व्यक्ति के अपने निम्न मन एवं सत्ता पर या दूसरों के मन एवं सत्ता पर सत्य का संस्कार डालने या उसकी सुदृढ़ प्रतिष्ठा करने में सहायक होता है। अतिमानसिक विचार बौद्धिक विचार से केवल इस कारण ही भिन्न नहीं होता कि वह अज्ञान के प्रति सत्य का एक प्रकार का निरूपण नहीं बल्कि साक्षात् सत्यमय विचार होता है,—आत्मा सत्य-चैतन्य होता है जो सदा ही अपने प्रति यथार्थ रूपों को प्रकट करता है, जिन्हें वेद में **सत्यम्** और **ऋतम्** कहा गया है,—अपितु इस कारण भी कि वह एक प्रबल वास्तविकता, ज्योतिर्मय देह और सारतत्त्व से युक्त होता है।

बौद्धिक विचार सूक्ष्म और परिष्कृत होकर एक विरलीभूत अमूर्त अवस्था की ओर ऊपर उठ जाता है; उधर अतिमानसिक विचार जैसे-जैसे अपनी उच्चता में ऊपर उठता है वैसे-वैसे वह अधिकाधिक आध्यात्मिक मूर्तता धारण करता जाता है। बुद्धि का विचार अपने-आपको मन-रूपी इन्द्रिय के द्वारा गृहीत किसी वस्तु के अमूर्त सार के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है और मानों बुद्धि की अगोचर शक्ति ही उसे

मन के शून्य एवं सूक्ष्म वातावरण में टिकाये होती है। यदि वह चाहे कि अन्तरात्मा की इन्द्रिय और दृष्टि उसे अधिक ठोस रूप में अनुभव करें और देखें तो उसे मन की रूप-निर्माण शक्ति के प्रयोग का आश्रय लेना पड़ेगा। इसके विपरीत, अतिमानसिक विचार किसी भाव को सदा ही सत्ता के एक प्रकाशमान तत्त्व के रूप में तथा चेतना के एक ऐसे ज्योतिर्मय उपादान के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है जो एक अर्थसूचक विचारात्मक रूप ग्रहण कर लेता है और इसलिये वह विचार तथा यथार्थ वस्तु के बीच किसी ऐसी खाई की अनुभूति नहीं पैदा करता जैसी हमें मन में अनुभव हो सकती है, बल्कि वह अपने-आप एक वास्तविक सत्य, एक वास्तविक विज्ञानमय विचार होता है तथा किसी वास्तविक सत्ता का मूर्त रूप होता है। जब वह अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है तब उसके साथ, उसके एक परिणाम के रूप में, बौद्धिक स्पष्टता से भिन्न प्रकार की एक आध्यात्मिक ज्योति का विलक्षण तथ्य, चरितार्थता प्राप्त करनेवाली एक महान् शक्ति और ज्योतिर्मय हर्षोल्लास भी जुड़े रहते हैं। वह सत्ता, चेतना और आनन्द का एक ऐसा स्पन्दन होता है जो तीव्र रूप से अनुभव किया जा सकता है।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, अतिमानसिक विचार की प्रखरता के एक-से-एक ऊंचे तीन स्तर हैं। पहला है साक्षात् विचारमय अन्तर्दृष्टि का, दूसरा अर्थद्योतक अन्तर्दृष्टि का जो एक महत्तर सत्यप्रकाशक विचार-दृष्टि की ओर इङ्गित करती है तथा उसकी तैयारी करती है, तीसरा प्रतिनिधिभूत अन्तर्दृष्टि का जो मानों आत्मा के ज्ञान को उस सत्य का स्मरण करा देती है जिसे उच्चतर शक्तियां अधिक सीधे रूप से प्रकाशित करती हैं। मन में ये चीजें अन्तर्ज्ञानात्मक मन की तीन साधारण शक्तियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। वे शक्तियां हैं—संकेतात्मक और विवेककारी अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेरणा और साक्षात्कार-स्वरूप विचार। ऊपर वे अतिमानसिक सत्ता और चेतना के तीन उच्च स्तरों से सम्बन्ध रखती हैं और, जैसे-जैसे हम आरोहण करते हैं, निम्नतर शक्ति पहले तो उच्चतर शक्ति को पुकारकर अपने अन्दर उतार लाती है और पीछे स्वयं उसीमें उन्नीत हो जाती है, जिससे कि प्रत्येक भूमिका में तीनों के तीनों स्तरों का पुनः-गठन होता है, पर सदा ही विचार के सारतत्त्व में उस विशेष शक्ति की प्रधानता होती है जो उस स्तर के चैतन्य एवं आध्यात्मिक उपादान के अपने विशिष्ट रूप से सम्बन्ध रखती है। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है; कारण, अन्यथा मन अतिमानस के स्तरों के प्रकट होने पर उनकी ओर दृष्टि डालता हुआ यह सोच सकता है कि उसे उच्चतम शिखरों का साक्षात्कार हो गया है जब कि असल में निम्न आरोहण का उच्चतम क्षेत्र ही उसके अनुभव के समक्ष प्रस्तुत होता है। प्रत्येक शिखर पर, **सानोः सानुम् आरुहत्**, अतिमानसिक शक्तियों की प्रखरता, विस्तृतता एवं समग्रता बढ़ती जाती है।

एक ऐसी वाणी अर्थात् एक ऐसा अतिमानसिक शब्द भी है जिसका वेष धरकर उच्चतर ज्ञान, अन्तर्दर्शन या विचार हमारे अन्दर प्रकट हो सकता है। पहले-पहल यह एक ऐसे शब्द, सन्देश या अन्तःप्रेरणा के रूप में हमतक पहुंच सकता है जो हमारे पास ऊपर से अवतरित होकर आती है, या फिर यह परम आत्मा या ईश्वर की वाणी या आदेश भी प्रतीत हो सकता है। बाद में इसका यह पृथक् रूप समाप्त हो जाता है और यह विचार का एक सामान्य रूप बन जाता है जिसे यह तब प्रयोग में लाता है जब यह अपने-आपको अन्तर्वाणी के रूप में प्रकट करता है। विचार अपने-आपको किसी संकेतप्रद या विकसनशील शब्द की सहायता के बिना भी प्रकट कर सकता है और अतिमानसिक अनुभव के किसी प्रकाशपूर्ण तत्त्व के रूप में ही, किन्तु फिर भी सर्वथा सम्पूर्ण और स्पष्ट रूप से तथा अपने अन्तर्निहित समग्र तत्त्वों के साथ अपने-आपको व्यक्त कर सकता है। जब वह इतना स्पष्ट नहीं होता तो वह एक संकेतपूर्ण अन्तर्वाणी की सहायता ले सकता है जो उसके सम्पूर्ण मर्म को प्रकट करने के लिये उसके साथ रहती है। अथवा विचार एक मौन अनुभव के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसी वाणी के रूप में प्रकट हो सकता है जो सत्य में से स्वयमेव जन्म लेती है और अपने निज अधिकार के बल पर ही पूर्ण होती है और अपना अन्तर्दर्शन और ज्ञान अपने ही अन्दर धारण किये होती है। ऐसी दशा में वह एक सत्य-दृष्टि-सम्पन्न, अन्तःप्रेरित या अन्तर्ज्ञानमयशब्द होता है अथवा वह इनसे भी उच्च कोटि का एक ऐसा शब्द होता है जो उच्चतर अतिमानस एवं आत्मतत्त्व के असीम आशय या निर्देश को अपने अन्दर धारण कर सकता है। वह अपने-आपको उस भाषा के रूप में गठित कर सकता है जो आज बुद्धि और ऐन्द्रिय मन के विचारों, अनुभवों और आवेगों को प्रकट करने के लिये प्रयोग में लायी जाती है, पर उसका प्रयोग वह एक भिन्न ढंग से करता है और ऐसा करते हुए वह उन गूढ़ अन्तर्ज्ञानात्मक या सत्य-दर्शक अर्थों को, जिन्हें वाणी प्रकाश में ला सकती है, तीव्र रूप से प्रकट करता है। अतिमानसिक शब्द अन्तर में एक ऐसी ज्योति एवं शक्ति के साथ तथा विचार और अन्तर्ध्वनि की एक ऐसी लय के साथ प्रकट होता है जो उसे अतिमानसिक विचार और अन्तर्दर्शन का स्वाभाविक एवं जीवन्त शरीर बना देती हैं, और वह अपनी भाषा में, जो चाहे मानसिक वाणी की ही भाषा होती है, सीमित बौद्धिक, भावप्रधान या सम्वेदनात्मक अर्थ से भिन्न अर्थ भर देता है। वह अन्तर्ज्ञानमय मन या अतिमानस में गठित होता और सुनायी देता है और आरम्भ में, कुछ एक उच्च शक्ति-सम्पन्न आत्माओं को छोड़कर अन्यों में, उसका वाणी और लेख के रूप में सहजतः प्रकट होना आवश्यक नहीं, पर जब भौतिक चेतना और उसके करणों को तैयार किया जा चुका हो तब वाणी और लेख में भी उसे निर्बाध रूप से प्रकट किया जा सकता है, और यह सर्वांगीण सिद्धि की अपेक्षित पूर्णता एवं शक्ति का एक अंग है।

अतिमानसिक विचार, अनुभव और अन्तर्दर्शन का ज्ञान-क्षेत्र उस समस्त क्षेत्र के समान विस्तृत होगा जो पार्थिव ही नहीं वरन् अन्य सब भूमिकाओं पर भी मानव-चेतना के सामने खुला हुआ है। परन्तु वह उत्तरोत्तर मानसिक चिन्तन और अनुभव की भावना से ठीक उल्टी भावना के साथ कार्य करेगा। मानसिक चिन्तन का केन्द्र है अहं, अर्थात् व्यष्टि-रूप विचारक का अहंमय रूप। इसके विपरीत, विज्ञानमय मानव अधिकतर वैश्व मन के द्वारा चिन्तन करेगा अथवा वह इससे भी परे उठ सकता है, और उसकी व्यष्टि-सत्ता परम आत्मा की विराट् विचार-शक्ति और ज्ञानशक्ति का केन्द्र नहीं होगी वरन् उनका प्रसारण और उनके साथ आदान-प्रदान करने के लिये एक ऐसा आधार होगी जिसकी ओर वे स्वभावतः ही अभिमुख होंगी। मनोमय मनुष्य एक ऐसे घेरे में चिन्तन और कार्य करता है जो उसके मन तथा मानसिक अनुभव की क्षुद्रता या विशालता के द्वारा निर्धारित होता है। विज्ञानमय मानव का क्षेत्र सम्पूर्ण भूतल के साथ-साथ वह सब भी होगा जो कुछ कि इसके पीछे सत्ता के अन्य स्तरों पर विद्यमान है। और अन्तिम बात यह है कि मनोमय मनुष्य वर्तमान जीवन के स्तर पर ही सोचता और देखता है, भले वह ऊर्ध्वमुख अभीप्सा के साथ ही ऐसा क्यों न करे, और उसकी दृष्टि के सामने सब तरफ रुकावट ही रुकावट है। उसके ज्ञान और कर्म का मुख्य आधार वर्तमान है। इसके साथ वह अतीत के गर्भ में भी दृष्टि डालता है तथा उसके दबाव का प्रभाव भी अस्पष्ट रूप से अनुभव करता और भविष्य की ओर भी अन्धभाव से निहारता है। वह अपना आधार पार्थिव जीवन के यथार्थ तथ्यों पर रखता है, उनमें भी पहले तो वह बाह्य जगत् के तथ्यों को अपना आधार बनाता है,—साधारणतः उसकी यह आदत ही है कि वह अपने सम्पूर्ण आन्तर चिन्तन और अनुभव का नहीं तो उसके नव-दशमांशों का सम्बन्ध इन तथ्यों से ही जोड़ता है,—पर बाद में वह अपनी अन्तःसत्ता के अधिक ऊपरी भाग के परिवर्तनशील तथ्यों को ही अपना आधार बनाता है। जैसे-जैसे उसकी मानसिक शक्ति विकसित होती है, वह इनसे परे अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक उन शक्यताओंतक जाता है जो इनसे उद्‌भूत होती हैं और फिर इन्हें अतिक्रम भी कर जाती हैं; उसका मन सम्भावनाओं के विस्ततर क्षेत्र में अपना कार्य करता है : पर अधिकांश में ये उसके लिये वहींतक पूर्णतः वास्तविक होती हैं जहांतक किसी यथार्थ वस्तु के साथ इनका सम्बन्ध होता है और जहांतक इन्हें इस लोक में, आज या बाद में, यथार्थ रूप दिया जा सकता है। वस्तुओं के मूल तत्त्व को वह यदि देखता भी है तो अपने स्वभाव से ही उसे इस रूप में देखता है कि वह उसके अपने प्रत्यक्ष एवं यथार्थ तथ्यों का परिणाममात्र है, उनके साथ सम्बन्ध रखता है तथा उनपर निर्भर करता है, और अतएव वह वस्तुओं को निरन्तर एक मिथ्या आलोक में या सीमित रूप में ही देखता है। इन सब विषयों में विज्ञानमय मानव इससे उल्टे अर्थात् सत्य-दर्शन के सिद्धान्त के आधार पर ही कार्य करेगा।

विज्ञानमय जीव वस्तुओं को ऊपर से विशाल व्योम में देखता है और अपनी सर्वोच्च स्थिति में तो वह उन्हें अनन्त के व्योम से देखता है। उसकी दृष्टि वर्तमान के दृष्टिकोणतक ही सीमित नहीं होती, बल्कि काल के अविरत प्रवाहों में या फिर काल के ऊपर से परम आत्मा के अविभाज्य विस्तारों में वस्तुओं को देख सकती है। वह सत्य को उसके ठीक क्रम में से देखता है, अर्थात् पहले तो वह उसके सारतत्त्व को देखता है, फिर इससे उद्‌भूत होनेवाली उसकी सम्भाव्य शक्तियों को और केवल अन्त में ही वह उसकी यथार्थ एवं प्रत्यक्ष अवस्थाओं को देखता है। मूलभूत सत्य उसकी दृष्टि में स्वयंसत् और स्वयंप्रकाश होते हैं, वे अपनी प्रामाणिकता के लिये इस या उस प्रत्यक्ष तथ्य पर आश्रित नहीं होते; सम्भाव्य सत्य स्वयं 'सत्' की तथा वस्तुओं में विद्यमान 'सत्' की शक्ति के सत्य हैं, शक्ति की अनन्तता के सत्य हैं, और वे इस या उस प्रत्यक्ष तथ्य के रूप में अपनी अतीत या वर्तमान चरितार्थता से पृथक् भी वास्तविक हैं अथवा उन व्यवहारसिद्ध स्थूल रूपों से, जिन्हें हम सम्पूर्ण प्रकृति समझते हैं, पृथक् भी वे वास्तविक ही हैं। प्रत्यक्ष एवं यथार्थ तथ्य तो केवल कुछ ऐसे सत्य होते हैं जो उसके साक्षात्कृत सम्भाव्य सत्यों में से चुने गये होते हैं, उनपर निर्भर करते हैं और सीमित तथा परिवर्तनशील होते हैं। विज्ञानमय मानव के चिन्तन और संकल्प पर वर्तमान का, यथार्थ का, तथ्यों की तात्कालिक शृंखला का और कर्म करने की तात्क्षणिक उत्तेजना एवं मांग का अत्याचार कुछ भी प्रभाव नहीं रखता, और अतएव वह एक अधिक व्यापक ज्ञान पर आधारित विशालतर संकल्पशक्ति को धारण कर सकता है। वह वस्तुओं को एक ऐसे व्यक्ति की तरह नहीं देखता जो वर्तमान तथ्यों और दृग्विषयों के जंगल से घिरे स्तरों में स्थित होता है, बल्कि उन्हें ऊपर से देखता है, वह उन्हें बाहर से तथा उस रूप में नहीं देखता जो उनके उपरितलों के द्वारा निर्णीत होता है, बल्कि भीतर से तथा उस रूप में देखता है जो उनके केन्द्र के सत्य से देखने पर दृष्टिगत होता है। अतएव वह दिव्य सर्वज्ञता के अधिक निकट होता है। वह एक प्रभुत्वशाली शिखर पर से, कालप्रवाह में सुदीर्घ कालतक चलनेवाली गति के साथ तथा शक्तियों की विशालतर क्षमता के द्वारा संकल्प और कार्य करता है। अतः वह दिव्य सर्वशक्तिमत्ता के अधिक निकट होता है। उसकी सत्ता क्षणों की क्रम-शृंखला में आबद्ध नहीं होती, बल्कि अतीत की सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न होती है और द्रष्टा के रूप में भविष्य के आरपार देखती है: वह सीमित करनेवाले अहं और व्यक्तिगत मन के अन्दर बन्द नहीं होती, बल्कि विराट् की मुक्तता में, ईश्वर में तथा सर्वभूतों और सर्वपदार्थों में निवास करती है; भौतिक मन की जड़ घनता में नहीं बल्कि अन्तरात्मा की ज्योति और परम आत्मा की अनन्तता में निवास करती है। विज्ञानमय मानव मन और अन्तरात्मा को परम आत्मा की केवल एक शक्ति और गति के रूप में तथा जड़तत्त्व को उसके एक परिणामभूत आकार के रूप में ही देखता है।

उसका समस्त विचार एक ऐसा विचार होगा जो ज्ञान से उद्‌भूत होता है। वह दृश्य जीवन की वस्तुओं को आध्यात्मिक सत्ता की वास्तविकता के प्रकाश में तथा सक्रिय आध्यात्मिक सारतत्त्व की शक्ति के द्वारा देखता तथा कार्य-व्यवहार में लाता है।

पहले-पहल, इस महत्तर अवस्था में रूपान्तर के आरम्भ में विचार कम या अधिक समयतक, न्यूनाधिक परिमाण में, मन की पद्धति के अनुसार ही कार्य करता रहेगा, पर यह कार्य वह मुक्तता और परात्परता की महत्तर ज्योति के साथ तथा उनकी अधिकाधिक ऊंची उड़ानों, विशालताओं और गतियों के साथ करेगा। बाद में मुक्तता और परात्परता प्रभुत्व प्राप्त करने लगेंगी; चाहे कोई भी कठिनाइयां और पतन क्यों न हों, विचारदृष्टि का पलटाव और विचार-पद्धति का रूपान्तर चिन्तनात्मक मन की, एक के बाद एक, विभिन्न गतियों के रूप में सम्पन्न होगा, जबतक कि वह समग्र रूप में प्रभुत्व प्राप्त करके पूर्ण रूपान्तर साधित नहीं कर देता। साधारणतः अतिमानसिक ज्ञान विशुद्ध विचार और ज्ञान की क्रियाओं में सबसे पहले तथा सर्वाधिक सुगमता के साथ संगठित होगा, क्योंकि इन क्षेत्रों में मानव-मन की गति पहले से ही ऊपर की ओर है और इनमें वह सर्वाधिक मुक्त भी है। इसके बाद ही वह व्यवहारलक्षी और ज्ञान की प्रक्रियाओं में संगठित होगा और वह भी अपेक्षाकृत कम सुगमता के साथ, क्योंकि वहां मनुष्य का मन अत्यन्त सक्रिय होने के साथ-साथ अपनी निम्नतर विधियों के साथ अत्यधिक बद्ध और आसक्त भी है। अन्तिम और अत्यन्त दुष्कर विजय होगी तीनों कालों का ज्ञान, त्रिकालदृष्टि; दुष्कर इसलिये कि आज यह उसके मन के लिये एक अटकलबाजी का या शून्यता का क्षेत्र है। इन सभी विजयों में आत्मा का यह स्वभाव समान रूप से देखने में आयेगा कि वह जिस शरीर को धारण किये है उसके अन्दर ही नहीं वरन् उसके ऊपर और चारों ओर भी सीधे रूप से देखेगा और संकल्प करेगा और इन सब में तादात्म्यलब्ध अतिमानसिक ज्ञान, अतिमानसिक साक्षात्कार, अतिमानसिक विचार और अतिमानसिक वाणी की क्रिया भी, पृथक्-पृथक् या संयुक्त गति के साथ, समान रूप से होगी।

इस प्रकार, अतिमानसिक विचार एवं ज्ञान का सामान्य स्वरूप यही होगा और उसकी मुख्य शक्तियां और क्रियाएं भी यही होंगी। अब उसके विशेष करणों पर वर्तमान मानव-मन के विभिन्न तत्त्वों में अतिमानस जो परिवर्तन लायेगा उसपर तथा जो विशेष क्रियाएं विचार को उसके उपादान, प्रेरक भाव और तथ्यसामग्री प्रदान करती हैं उनपर विचार करना बाकी है।

अध्याय २३

अतिमानसिक करण—विचार-प्रक्रिया

अतिमानस, दिव्य विज्ञान, कोई ऐसी चेतना नहीं जो हमारी वर्तमान चेतना के लिये पूर्णतः विजातीय हो : वह आत्मा का एक उत्कृष्टतर करण है और हमारी सामान्य चेतना की सभी क्रियाएं अतिमानसिक क्रिया के ही सीमित और निम्नतर रूप हैं जो उसीसे उद्‌भूत हुए हैं, क्योंकि ये तो तात्कालिक प्रयोग और रचनाएं हैं, और वह आत्मा की सच्ची एवं पूर्ण, स्वयंस्फूर्त एवं समस्वर प्रकृति और क्रिया है। अतएव, जब हम मन से अतिमानस की ओर उठते हैं, तो चेतना की वह नयी शक्ति हमारी आत्मा और हमारे मन एवं प्राण की क्रियाओं का परित्याग नहीं कर देती, बल्कि उन्हें ऊपर उठाती, विशाल बनाती और रूपान्तरित करती है। वह उन्हें उदात्त बनाती तथा उन्हें उनकी शक्ति और क्रिया का नित अधिकाधिक सच्चा स्वरूप प्रदान करती है। वह मन, चैत्य भागों और प्राण की स्थूल शक्तियों और क्रिया के रूपान्तरतक ही अपने को सीमित नहीं रखती, बल्कि वह हमारी प्रच्छन्न सत्ता की उन विशिष्ट दुर्लभतर शक्तियों और उस विशालतर बल एवं ज्ञान को भी व्यक्त और रूपान्तरित करती है जो हमें आज गुह्य, अद्‌भुत-रूप से चैत्य तथा असामान्य वस्तुओं के समान प्रतीत होते हैं। अतिमानसिक प्रकृति में ये वस्तुएं जरा भी असामान्य नहीं रहतीं, बल्कि पूर्णतया स्वाभाविक एवं सामान्य बन जाती हैं, पृथक् रूप से चैत्य नहीं रहतीं, बल्कि आध्यात्मिक बन जाती हैं, एक गुह्य और विचित्र क्रिया नहीं रहतीं, बल्कि एक सीधी, सरल, स्वाभाविक और स्वयंस्फूर्त क्रिया बन जाती हैं। आत्मा जाग्रत् भौतिक चेतना की भांति सीमित नहीं है, और अतिमानस जब जाग्रत् चेतना को अपने अधिकार में ले आता है तो वह उसे अभौतिक बना देता है, सीमाओं से मुक्त कर देता है, पार्थिव तथा चैत्य भाग को आध्यात्मिक सत्ता की प्रकृति में रूपान्तरित कर देता है।

इस बात का संकेत हम पहले ही कर आये हैं कि मन की जो क्रिया अत्यन्त सहज रूप से व्यवस्थित की जा सकती है वह शुद्ध विचारणात्मक ज्ञान की क्रिया है। उच्चतर स्तर पर यह वास्तविक ज्ञान, अतिमानसिक विचार, अतिमानसिक अन्तर्दर्शन तथा तादात्म्यलभ्य अतिमानसिक ज्ञान में रूपान्तरित हो जाती है। इस अतिमानसिक ज्ञान की सारभूत क्रिया का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। परन्तु यह देखना भी आवश्यक है कि अपने बाह्य व्यावहारिक प्रयोग में यह ज्ञान किस प्रकार कार्य करता है और सत्ता की ज्ञात सामग्री के साथ यह कैसा व्यवहार करता है। मन की क्रिया से इसका पहला भेद यह है कि जो क्रियाएं मन के लिये अत्युच्च तथा अत्यन्त कठिन हैं उनका प्रयोग यह सहज-स्वाभाविक रूप में

करता है, उनके अन्दर या उनपर यह ऊपर से नीचे की ओर क्रिया करता है, इस क्रिया में इसे मन की तरह ऊर्ध्वगति के लिये कुण्ठित आयास नहीं करना पड़ता, न उसकी तरह अपने स्तर तथा निम्नतर स्तरों की सीमाओं में आबद्ध होकर ही कार्य करना पड़ता है। उच्चतर क्रियाएं निम्नतर स्तर की सहायता पर निर्भर नहीं करतीं, बल्कि वस्तुतः निम्नतर क्रियाएं अपने मार्गदर्शन के लिये ही नहीं, वरन् अपने अस्तित्व के लिये भी उच्चतर क्रियाओं पर निर्भर करती हैं। अतः रूपान्तर के द्वारा मन की निम्नतर क्रियाओं का केवल रूप ही नहीं बदलता, बल्कि वे पूर्णतया अधीन भी हो जाती हैं। साथ ही, मन की उच्चतर क्रियाएं भी अपना रूप बदल लेती हैं, क्योंकि विज्ञानमय बनकर वे अपना प्रकाश सीधे उच्चतम ज्ञान से, आत्म ज्ञान या असीम ज्ञान से प्राप्त करने लगती हैं।

इस प्रयोजन के लिये मन की सामान्य विचार-क्रिया को तीन स्तरों की गतियों से गठित माना जा सकता है। उनमें से पहला, सबसे निचला तथा देहस्थित मनोमय पुरुष के लिये सबसे आवश्यक स्तर है रूढ़ विचारात्मक मन। वह अपने विचारों की नींव इन्द्रियों के द्वारा तथा स्नायविक एवं भावप्रधान सत्ता के स्थूल अनुभवों के द्वारा दी हुई तथ्य-सामग्री पर और शिक्षा, बाह्य जीवन एवं परिस्थिति के द्वारा बने हुए प्रथानुगत विचारों पर रखता है। यह रूढ़ मन दो प्रकार की क्रियाएं करता है, उनमें से एक है यन्त्रवत् पुनः-पुनः आनेवाले विचार की एक प्रकार की सतत गुप्त धारा। यह विचार सदा एक भौतिक, प्राणिक, भाविक, व्यावहारिक और संक्षिप्त बौद्धिक धारणा एवं अनुभव के एक ही चक्र में अपने-आपको दुहराता रहता है। इस मन की दूसरी क्रिया उस समस्त नये अनुभव पर, जिसे मन स्वीकार करने को बाध्य होता है, अधिक सक्रिय रूप से कार्य करती है तथा उसे रूढ़ चिन्तन के सूत्रों में परिणत कर देती है। औसत मनुष्य की मानसिकता इस रूढ़ मन के द्वारा सीमित होती है और इसके घेरे के बाहर तो वह अत्यन्त अपूर्ण रूप में ही विचरण करती है।

चिन्तन-क्रिया का दूसरा स्तर है व्यवहारलक्षी विचारात्मक मन, वह प्राण से ऊपर उठ जाता है और विचार तथा प्राण-शक्ति के बीच, जीवन के सत्य तथा अभीतक जीवन में व्यक्त न हुए विचार के सत्य के बीच एक मध्यस्थ की भांति सर्जनशील रूप से कार्य करता है। वह अपनी सामग्री जीवन से ही लेता है और उसमें से तथा उसीके आधार पर ऐसे सर्जनशील विचारों का निर्माण करता है जो भावी जीवन-विकास के लिये सक्रिय एवं प्रभावशाली बन जाते हैं। दूसरी ओर, वह मन की भूमिका से या, अधिक मूल रूप में, अनन्त की विचारोत्पादक शक्ति से नया विचार एवं मानसिक अनुभव ग्रहण करता है और तुरन्त ही उसे मानसिक विचार-शक्ति में तथा वास्तविक अस्तित्व-धारण एवं जीवन-यापन की शक्ति में परिणत कर देता है। इस व्यवहारलक्षी विचारात्मक मन का सारा झुकाव आन्तर

तथा बाह्य कर्म और अनुभव की ओर होता है। आन्तर कर्म एवं अनुभव सत्य की पूर्णतर तृप्ति के लिये अपने को बाहर की ओर झोंकता रहता है। उधर, बाह्य कर्म एवं अनुभव आन्तर में समा लिया जाता है और आत्मसात् एवं परिवर्तित होकर अभिनव रचनाओं के लिये फिर उसकी ओर अभिमुख होता है। इस मानसिक भूमिका में विचार अन्तरात्मा के लिये केवल या मुख्यतया कर्म और अनुभव के एक विशाल क्षेत्र के साधन के रूप में ही आकर्षक होता है।

चिन्तन का तीसरा स्तर हमारे अन्दर शुद्ध विचारणात्मक मन को खोल देता है। यह मन, कर्म और अनुभव के लिये विचार की जो उपयोगिता है उसके प्रति किसी प्रकार की भी आवश्यक अधीनता को एक ओर छोड़कर, विचार के सत्य में तटस्थ रूप से निवास करता है। यह इन्द्रियों तथा उथले आन्तरिक अनुभवों के द्वारा दी हुई सामग्री पर केवल इसलिये विचार करता है कि जिस विचार, जिस सत्य की वे साक्षी देते हैं उसे यह ढूंढ़ निकाले और ज्ञान की परिभाषाओं में परिणत कर सके। यह प्राण में मन की सर्जनशील क्रिया को भी इसी ढंग से तथा इसी प्रयोजन के लिये देखता है। इसका प्रमुख कार्य है ज्ञान प्राप्त करना, इसका सम्पूर्ण उद्देश्य है चिन्तन-क्रिया का आनन्द प्राप्त करना, सत्य की खोज करना, अपने-आपको, जगत् को तथा उस सबको जानने का प्रयत्न करना जो उसके अपने कार्य तथा जगत्-कार्य के पीछे विद्यमान हो। यह विचारणात्मक मन बुद्धि की उच्चतम भूमिका है जिसमें कि वह विशिष्ट रूप से, अपने लिये, अपनी निज शक्ति के द्वारा तथा अपने निज उद्देश्य के लिये ही कार्य करती है।

बुद्धि की इन तीन क्रियाओं को ठीक ढंग से मिलाना तथा समस्वर करना मानव-मन के लिये कठिन है। साधारण मनुष्य मुख्यतया रूढ़िग्रस्त मन में निवास करता है। उसके अन्दर सर्जनशील एवं व्यवहारलक्षी मन की क्रिया अपेक्षाकृत दुर्बल ही होती है और शुद्ध विचारणात्मक मन का प्रयोगभर करने में या उसकी क्रिया के भीतर प्रवेश करने में उसे बड़ी कठिनाई अनुभव होती है। सर्जनशील व्यवहारलक्षी मन साधारणतः अपनी ही गति में इतना अधिक व्यस्त रहता है कि वह शुद्ध विचारणात्मक ढंग के वातावरण में स्वतन्त्र और तटस्थ रूप से विचरण नहीं कर सकता और दूसरी ओर, रूढ़ मन के द्वारा लादी गयी प्रत्यक्ष एवं यथार्थ अवस्थाओं तथा बाधाओं पर उसका अधिकार प्रायः अपूर्ण ही होता है, इसी प्रकार व्यवहारलक्षी चिन्तन और सर्जन की जिस क्रिया का निर्माण करने में उसे स्वयं रस आता है उससे भिन्न क्रियाओं पर भी उसका अधिकार पर्याप्त नहीं होता। शुद्ध विचारणात्मक मन सत्य की अमूर्त और मनमानी प्रणालियों, बौद्धिक खण्डों और विचारात्मक भवनों का निर्माण करने की प्रवृत्ति रखता है, और वह या तो जीवन के लिये आवश्यक व्यावहारिक क्रिया को त्यागकर केवल या मुख्य रूप से विचारों में ही निवास करता है या फिर जीवन के क्षेत्र में पर्याप्त शक्ति के साथ और प्रत्यक्ष रूप से कार्य नहीं

कर सकता, और उसे व्यावहारिक एवं रूढ़िग्रस्त मन के जगत् से बिल्कुल अलग जा पड़ने या उसमें दुर्बल हो जाने का खतरा बना रहता है। इनमें किसी-न-किसी प्रकार का समझौता कर लिया जाता है, किन्तु इनमें से प्रमुख प्रवृत्ति की उग्रता मनुष्य की चिन्तनात्मक सत्ता की समग्रता और एकता में हस्तक्षेप करती है। मन अपनी समग्रता का भी सुनिश्चित स्वामी नहीं बन पाता, क्योंकि उस समग्रता का रहस्य इससे परे आत्मा की उस मुक्त एकता में निहित है जो मुक्त होने के कारण ही अनन्त बहुलता और विविधता को धारण कर सकती है, साथ ही यह उस अतिमानसिक शक्ति में भी निहित है जो अकेली ही आत्मा की एकता की सजीव अनेकात्मक गति को एक स्वाभाविक पूर्णता के रूप में प्रकट कर सकती है।

अतिमानस अपनी पूर्ण अवस्था में मन के चिन्तन के सम्पूर्ण ढंग को बदल देता है। वह इन्द्रियगोचर नहीं, वरन् तात्त्विक सत्ता में अर्थात् आत्मा में निवास करता है और सब वस्तुओं को आत्मा की सत्ता के अंश, उसकी शक्ति, आकृति और गति के रूप में ही देखता है। अतिमानस में समस्त चिन्तन तथा चिन्तन की प्रक्रिया भी इसी ढंग की होनी चाहिये। उसकी समस्त मूलभूत विचारणा अतिमानसिक साक्षात्कार का तथा भूतमात्र के साथ एकत्व के द्वारा अपना कार्य करनेवाले आध्यात्मिक ज्ञान का ही एक रूपान्तर होती है। अतएव, वह मुख्यतया आत्मा, सत्ता और चेतना के नित्य, तात्त्विक और सार्वभौम सत्यों में तथा सत्ता के (जो चीजें हमारी वर्तमान चेतना को अ-सत्ता प्रतीत होती हैं उन सबके भी) अनन्त बल और आनन्द में विचरण करता है। उसका समस्त विशिष्ट चिन्तन इन नित्य सत्यों की शक्ति से उद्‌भूत होता तथा उसीपर निर्भर करता है। पर इसके साथ ही वह सनातन की सत्ता के सत्यों के अनन्त पक्षों, अनन्त व्यावहारिक रूपों, क्रमबद्ध स्तरों और सामंजस्यों से सुपरिचित होता है तथा उनके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार कर सकता है। अतएव, अपने शिखरों पर वह उन सब चीजों में निवास करता है जिन्हें प्राप्त करने और जानने के लिये शुद्ध विचारणात्मक मन अपनी क्रिया के द्वारा यत्न करता है, और उसके निम्न स्तरों पर भी ये चीजें उसकी प्रकाशमय ग्रहणशीलता के प्रति निकट या सुप्राप्त एवं सुलभ होती हैं।

पर जहां सत्य या विशुद्ध विचार विचारणात्मक मन के लिये अमूर्त भाव ही होते हैं, क्योंकि मन कुछ तो बाह्य दृग्विषयों में और कुछ बौद्धिक रचनाओं में निवास करता है और उच्चतर सद्वस्तुओं तक पहुंचने के लिये उसे अमूर्तीकरण की पद्धति का प्रयोग करना पड़ता है, वहां अतिमानस आत्मा में निवास करता है और अतएव, वह उस वस्तु के वास्तविक सारतत्त्व में निवास करता है जिसका कि ये विचार और सत्य प्रतिनिधित्व करते हैं या वस्तुतः जो इनका मूल रूप है। वह वास्तविक रूप में इनका साक्षात्कार करता है। वह इनपर केवल विचार ही नहीं करता, बल्कि विचारते समय इनके सारतत्त्व को अनुभव करता है तथा उसके साथ

अपने को एकाकार कर लेता है। उसके लिये ये, इस संसार में जो अधिक-से-अधिक वास्तविक वस्तुएं हो सकती हैं, उनमें स्थान रखते हैं। चेतना और सारभूत सत्ता के सत्य अतिमानस के लिये सद्वस्तु का वास्तविक उपादान ही हैं, वे सत्ता की बाह्य गति और आकृति की अपेक्षा अधिक अन्तरंग रूप में और, हम यहांतक भी कह सकते हैं कि, अधिक सघन रूप में वास्तविक हैं, यद्यपि ये भी उसके लिये सद्वस्तु की गति और आकृति हैं, कोई भ्रान्ति नहीं जैसी कि वे आध्यात्मीकृत मन की एक विशेष क्रिया के लिये हैं। विचार भी उसके लिये एक परमार्थसत् विचार, अर्थात् चिन्मय सत्ता के वास्तविक स्वरूप का एक उपादान होता है, जो सत्य के स्थूल, भौतिक प्राकट्य के लिये और अतएव, सर्जन के लिये शक्ति से परिपूर्ण होता है।

अपिच, जहां शुद्ध विचारणात्मक मन ऐसी मनमानी प्रणालियों का निर्माण करने की प्रवृत्ति रखता है जो सत्य की मानसिक एवं आंशिक रचनाएं होती हैं, अतिमानस सत्य के किसी भी प्रकार के निरूपण या उसकी किसी भी प्रणाली से बंधा नहीं है, यद्यपि वह अनन्त के व्यवहारलक्षी प्रयोजनों के लिये सत्य का निरूपण और उसकी व्यवस्था करने तथा उसके सजीव सारतत्त्व के अनुसार रचना करने में पूर्ण रूप से समर्थ है। मन जब अपनी एकांगिता से, सत्य को प्रणालीबद्ध करने की अपनी चेष्टाओं से तथा अपनी रचनाओं के प्रति आसक्ति से मुक्त हो जाता है, तो वह अनन्त की अनन्तता में पहुंचकर हक्का-बक्का रह जाता है। अनन्त उसे 'अव्यवस्था'-रूप प्रतीत होता है, भले वह अव्यवस्था ज्योतिर्मय ही क्यों न हो। तब मन पहले की तरह रूप गढ़ने और अतएव निश्चयात्मक रूप से विचार एवं कार्य करने में समर्थ नहीं रहता, क्योंकि वहां सभी चीजें, यहांतक कि अत्यन्त विभिन्न या परस्पर-विरोधी चीजें भी, इस अनन्तता के किसी सत्य की ओर निर्देश करती हैं, तथापि वह जो कुछ भी सोच सकता है उसमें से कुछ भी पूर्णतया सत्य नहीं होता, और उसकी सभी रूप-रचनाएं अनन्त से आनेवाले नये निर्देशों की कसौटी पर टूट-फूट जाती हैं। वह संसार को इन्द्रजाल के रूप में और विचार को ज्योतिर्मय 'अनिश्चित सत्ता' में से निकलनेवाली स्थित चिनगारियों के रूप में देखने लगता है। मन अतिमानस की विशालता और स्वतन्त्रता से आक्रान्त होकर अपने-आपको खो बैठता है और उस विशालता में उसे पग टेकने के लिये कोई दृढ़ आधार नहीं मिलता। इसके विपरीत, अतिमानस अपनी स्वतन्त्रता में स्थित रहता हुआ सद्वस्तु के दृढ़ आधार पर सत्ता-सम्बन्धी अपने विचार और अभिव्यक्ति के सामंजस्यपूर्ण स्तरों का गठन कर सकता है, और फिर भी वह अपने असीम स्वातंत्र्य को धारण किये रहता है तथा अपनी अनन्ततया बृहत् सत्ता का आनन्द भी लेता रहता है। वह जो कुछ भी है, जो भी कार्य वह करता है तथा जो कुछ भी वह चरितार्थ करता है वह सब, इसी प्रकार जो कुछ भी वह सोचता है वह सब भी सत्यम्, ऋतम्, बृहत् से सम्बन्ध रखता है।

इस अखण्डता का परिणाम यह होता है कि मन के विशुद्ध, स्वतन्त्र, निष्पक्ष और निःसीम विचार से सादृश्य रखनेवाला अतिमानस का मुक्त, तात्त्विक चिन्तन और उसका सोद्देश्य, निर्धारक, सर्जनशील एवं व्यवहारलक्षी चिन्तन इन दोनों में कोई विभेद या असंगति नहीं होती। सत्ता की अनन्तता स्वभावतः ही अभिव्यक्ति के सामंजस्यों की मुक्तता को जन्म देती है। अतिमानस सदा ही कर्म को परम आत्मा के आविर्भाव एवं अभिव्यक्ति के रूप में तथा सृष्टि को अनन्त के आत्म-प्रकाश के रूप में देखता है। उसका समस्त सर्जनशील एवं व्यवहारलक्षी विचार आत्मा की सम्भूति के लिये एक यन्त्र एवं प्रकाशप्रद शक्ति है, वह अपरिमेय सत् की शाश्वत एकता तथा अनन्त विचित्रता एवं विविधता के और सभी लोकों में तथा उनके जीवन में उसकी आत्म-अभिव्यक्ति के बीच मध्यस्थ का काम करता है। अतिमानस सदा इसी विचार को देखता और मूर्त रूप देता है और जहां उसका विचार-सर्जक अन्तर्दर्शन और चिन्तन उसके समक्ष उस अनन्त की अपरिमेय एकता एवं विविधता की व्याख्या करते हैं जिसके साथ शाश्वत तादात्म्य के कारण वह स्वयं भी वही है और जिसमें वह अपनी सत्ता और सम्भूति की सम्पूर्ण शक्ति के साथ निवास करता है, वहां उसमें एक विशिष्ट सर्जनशील विचार भी सदा विद्यमान रहता है। यह विचार अनन्त संकल्प, अर्थात् तपस् या सत्ता की शक्ति की क्रिया के साथ सम्बद्ध है। यही इस बात को निश्चित करता है कि काल के प्रवाह में अतिमानस अनन्त में से किस चीज को सामने लायेगा अथवा प्रकट या उत्पन्न करेगा तथा इस लोक में और अभी अथवा काल की किसी भी अवधि में या किसी भी लोक में—विश्व के अन्दर हो रही आत्मा की शाश्वत अभिव्यक्ति को क्या रूप देगा।

अतिमानस इस व्यवहारलक्षी क्रिया के द्वारा सीमित नहीं होता और इस पद्धति से अपने विचार और जीवन में वह जो कुछ बनता एवं उत्पन्न करता है उसकी एक आंशिक गति या सम्पूर्ण धारा को अपनी सत्ता का या अनन्त का समग्र सत्य नहीं मानता। वर्तमान में या सत्ता के किसी एक ही स्तर पर वह अपने चुनाव के अनुसार जो स्वरूप धारण करता है तथा जो कुछ सोचता एवं करता है, केवल उसमें ही वह निवास नहीं करता; वह अपने जीवन का आधार केवल वर्तमान के ऊपर या क्षणों की उस अविच्छिन्न शृंखला के ऊपर ही नहीं रखता जिसकी धड़कनों को हम 'वर्तमान' का नाम देते हैं। वह अपने-आपको काल की या कालगत चेतना की एक गति के रूप में या फिर सम्भूति के शाश्वत चक्र में रहनेवाले एक जीव के रूप में ही नहीं देखता। वह एक ऐसी कालातीत सत्ता से सचेतन है जो अभिव्यक्ति से परे है पर यहां का सब कुछ जिसकी एक अभिव्यक्ति है, वह उस सत्ता को जानता है जो 'काल' के भीतर भी नित्य है, सत्ता के जो अनेकानेक स्तर हैं उनका भी उसे ज्ञान है, वह अभिव्यक्ति के अतीत सत्य को

जानता है और सत्ता का जो बहुत-सा सत्य अभी भविष्य में अभिव्यक्त होने को है पर जो सनातन की आत्म-दृष्टि में पहले से ही विद्यमान है उसे भी वह जानता है। वह व्यावहारिक सत्य को, जो कर्ममय और विकारशील अवस्था का सत्य है, एकमात्र सत्य समझने की भूल नहीं करता, बल्कि उसे उस सत्ता की, जो सनातन रूप से वास्तविक है, एक सतत चरितार्थता के रूप में देखता है। वह जानता है कि जड़तत्त्व, प्राण, मन और अतिमानस में से किसी भी स्तर पर सृष्टि करने का अर्थ सनातन सत्य के स्व-निर्धारित रूप को आविर्भूत करना एवं सनातन को अभिव्यक्त करना ही होता है और हो भी यही सकता है। साथ ही वह अन्तरङ्ग रूप से यह भी जानता है कि सभी वस्तुओं का सत्य सनातन में पहले से ही विद्यमान है। यह दृष्टि उसके सभी व्यवहारलक्षी विचारों एवं उनके परिणामस्वरूप होनेवाली क्रियाओं को मर्यादित करती है। उसके अन्दर की निर्मात्री शक्ति द्रष्टा और मनीषी की एक चुनाव करनेवाली शक्ति है, आत्मस्रष्टी शक्ति आत्मद्रष्टा की एक शक्ति है, आत्म-अभिव्यक्ति करनेवाली शक्ति अनन्त आत्मा की एक शक्ति है। वह अनन्त अध्यात्म-सत्ता एवं आत्मा में से स्वतन्त्रता के साथ सृजन करता है, और उस स्वतन्त्रता के कारण ही और भी अधिक सुरक्षित एवं निश्चयात्मक रूप से सृजन करता है।

अतएव वह अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति में कैद नहीं हो जाता, न अपने घेरे या अपनी कार्यपद्धति में आबद्ध ही होता है। जब वह सर्जनात्मक अभिव्यक्तिसम्बन्धी अपने निज सामंजस्य के लिये एक निश्चयात्मक संकल्प, विचार और क्रिया का प्रबल रूप से प्रयोग करता है तब भी वह इस अभिव्यक्ति के अन्य सामंजस्यों के सत्य की ओर एक ऐसे ढंग से तथा ऐसी मात्रा में खुला होता है जो मन की पहुंच से बाहर हैं। जब वह एक संघर्ष के ढंग के कार्य में लगा होता है,—उदाहरणार्थ, अतीत या किसी अन्य विचार, रूप और अभिव्यक्ति के स्थान पर उस विचार, रूप और अभिव्यक्ति को स्थापित करना जिसे व्यक्त करने का काम उसे सौंपा गया है,—तो वह जिसे पदच्युत करता है उसके सत्य को जानता होता है और पदच्युत करते हुए भी उसे सार्थकता प्रदान करता है; साथ ही उसके स्थान पर वह जिस चीज को प्रतिष्ठित करता है उसका सत्य भी उसे ज्ञात होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति और चुनाव करने की क्रिया से एवं अपनी व्यवहारलक्षी सचेतन क्रिया से बंधता नहीं, किन्तु फिर भी एक विशिष्ट रूप से सर्जनशील विचार का और कर्म-सम्बन्धी यथार्थता की चयनशील वृत्ति का सम्पूर्ण आनन्द, अपनी तथा दूसरों की अभिव्यक्ति के रूपों एवं गतियों के सत्य का आनन्द उसे समान रूप से प्राप्त होता है। जीवन, कर्म और सर्जन-सम्बन्धी उसका समस्त चिन्तन एवं संकल्प समृद्ध और बहुविध होता है तथा अनेक स्तरों के सत्य को केन्द्रित करता है, वह मुक्त होने के साथ-साथ सनातन के अपरिमेय सत्य से आलोकित होता है।

अतिमानसिक विचार और चेतना की इस सर्जनशील या व्यवहारलक्षी गति के साथ-साथ एक ऐसी क्रिया भी जन्म लेती है जो रूढ़ या यान्त्रिक मन की क्रिया के सदृश होती हुई भी अत्यन्त भिन्न प्रकार की होती है। उसके द्वारा सृष्ट होनेवाली वस्तु सामंजस्य का एक आत्मनिर्धारित रूप होती है और समस्त सामंजस्य साक्षात्कृत या स्वीकृत पद्धतियों के आधार पर अपना कार्य करता है तथा एक सतत स्पन्दन एवं तालबद्ध पुनरावर्तन की गति भी सदा उसके संग रहती है। अतिमानसिक विचार, अतिमानसिक भूमिका की व्यक्त सत्ता के सामंजस्य को संघटित करता हुआ इसे सनातन तत्त्वों पर प्रतिष्ठित करता है, जिस सत्य को व्यक्त करना है उसकी यथार्थ प्रणालियों के आधार पर इसे ढालता है, अनुभव और कर्म के जो सतत उपयोगी तत्त्व सामंजस्य का गठन करने के लिये आवश्यक होते हैं उनके पुनरावर्तन को विशेष स्वरों के रूप में गुंजायमान रखता है। वहां विचार का क्रम-विधान, संकल्प का नियमित चक्र एवं गति की स्थिरता विद्यमान होती है। तथापि उसकी स्वतन्त्रता उसे उक्त पुनरावर्तन के वश उस रूढ़ क्रिया की गरारी में बन्द हो जाने से रोकती है जो सदा ही विचारों के परिमित भण्डार के चारों ओर यन्त्रवत् चक्कर काटती रहती है। वह रूढ़ मन के समान चिन्तन के रूढ़ लोकप्रचलित सांचे को अपना आधार मानकर समस्त नये विचार और अनुभव को इसके आगे पेश नहीं करता न उसे इसके समान ही बना डालता है। उसका आधार, जिसके आगे वह सब कुछ निर्णयार्थ प्रस्तुत करता है, ऊपर है, **उपरि बुध्ने**, आत्मा की विशालता में, अतिमानसिक सत्य की परमोच्च आधारभूमि में स्थित है, **बुध्ने ऋतस्य**। उसके चिन्तन का क्रम-विधान, उसका संकल्पचक्र, उसकी कर्मसम्बन्धी स्थिर गति यान्त्रिकता या रूढ़ि का बंधा-बंधाया रूप नहीं धारण करती, बल्कि सदैव मूल भाव से अनुप्राणित रहती है, अन्य सब क्रमों एवं चक्रों का बहिष्कार करके अथवा अन्य सहवर्ती या सम्भव क्रम का विरोध करते हुए अपना अस्तित्व धारण नहीं करती, बल्कि जिन चीजों के भी सम्पर्क में आती है उन सबसे पोषक तत्त्व खींच लेती है तथा उन्हें अपने मूल-तत्त्व के अनुकूल बनाकर आत्मसात् कर लेती है। इस प्रकार का आध्यात्मिक आत्मसातकरण सम्भव है क्योंकि विज्ञानमय भूमिका में सभी कुछ आत्मा की विशालता तथा मुक्त ऊर्ध्वस्थ दृष्टि के समक्ष निर्णयार्थ प्रस्तुत किया जाता है। अतिमानसिक चिन्तन और संकल्प का क्रम-विधान निरन्तर ही ऊपर से नयी ज्योति और शक्ति प्राप्त कर रहा है और इन्हें अपनी गति के अन्दर स्वीकार कर लेने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती : जैसा कि अनन्त के क्रम-विधान का अपना विशिष्ट स्वभाव है, उसके अनुसार वह अपनी गति की स्थिरता में भी अवर्णनीय रूप से नरम एवं नमनीय है, एकमेव में सब वस्तुओं का एक-दूसरे के साथ जो सम्बन्ध है उसे वह देख सकता तथा प्रकट कर सकता है, अनन्त के स्वरूप को सदा ही अधिकाधिक व्यक्त कर सकता है, अपनी पूर्णतम अवस्था में

वह अनन्त के उस समस्त स्वरूप को अपने ढंग से व्यक्त कर सकता है जिसे व्यक्त करना सचमुच में सम्भव हो।

इस प्रकार अतिमानसिक ज्ञान की जटिल गति में किसी प्रकार का असामञ्जस्य एवं विषमता नहीं होती, न उसमें सामञ्जस्य स्थापित करने की ही कोई कठिनाई होती है, बल्कि वहां जटिलता में भी सरलता होती है तथा बहुमुखी समृद्धता में भी एक ऐसी सुरक्षित विश्रान्ति की अवस्था बनी रहती है जो आत्मज्ञान की सहज सुनिश्चितता एवं समग्रता से उत्पन्न होती है। विघ्न-बाधा, अन्तःसंघर्ष, विषमता, कठिनाई, अवयवों और गतियों में असामंजस्य—ये सब मन के अतिमानस में रूपान्तर की प्रक्रिया में ही देखने में आते हैं, पर वहां भी ये केवल तभीतक रहते हैं जबतक रचना की अपनी ही विधियों पर आग्रह करनेवाले मन का व्यापार, प्रभाव या दबाव बना रहता है अथवा जबतक आदि अज्ञान के आधार पर ज्ञान का विचार एवं कर्मसम्बन्धी संकल्प का गठन करने की उसकी प्रक्रिया अतिमानस की इससे उल्टी प्रक्रिया का प्रतिरोध करती है जिसके द्वारा अतिमानस सब चीजों का संगठन आत्मा और इसके सहजात एवं सनातन आत्मज्ञान में से होनेवाली एक प्रकाशमय अभिव्यक्ति के रूप में करता है। इस ढंग से ही अतिमानस आत्मा के तादात्म्यलभ्य ज्ञान की एक प्रतिनिधिभूत, व्याख्याकारिणी, सत्य का दर्शन करानेवाली अलंघ्य शक्ति के रूप में कार्य करता है, अनन्त चेतना की ज्योति को मुक्त और असीम रूप से वास्तविक विचार के उपादान और आकार में परिणत कर देता है, चिन्मय सत्ता और वास्तविक विचार की शक्ति के द्वारा सृजन करता है, एक ऐसी क्रिया को स्थिर रूप दे देता है जो अपने विधान का अनुसरण करती है किन्तु फिर भी अनन्त की एक नमनशील एवं सुनम्य क्रिया होती है। अपनी इन सब क्रियाओं के द्वारा वह प्रत्येक विज्ञानमय व्यक्ति के अन्दर एकमेव पुरुष एवं आत्मा की तत्तद् व्यक्ति के अनुसार विशिष्ट एवं यथार्थ अभिव्यक्ति की व्यवस्था करने के लिये अपने विचार और ज्ञान का तथा एक ऐसे संकल्प का प्रयोग करता है जो अपने सारतत्त्व और ज्योति में ज्ञान से एकाकार होता है।

इस प्रकार की गठनवाले अतिमानसिक ज्ञान की क्रिया, स्पष्ट ही, मनोमय बुद्धि की क्रिया से बहुत ही उत्कृष्ट है और अब हमें देखना यह है कि अतिमानसिक रूपान्तर में मानसिक बुद्धि के स्थान पर कौन-सी शक्ति प्रतिष्ठित होती है। मनुष्य के चिन्तनात्मक मन को अपना अत्यन्त निर्मल और विशेष सन्तोष तर्कशील एवं युक्तिप्रधान बुद्धि में ही प्राप्त होता है और सत्ता की व्यवस्था करने के लिये अपने अत्यन्त सुनिश्चित एवं प्रभावशाली सिद्धान्त की प्राप्ति भी उसे इसीमें होती है। यह ठीक है कि मनुष्य अपने विचार या कर्म में पूर्ण रूप से तर्क-बुद्धि के द्वारा ही नियन्त्रित नहीं होता और ऐसा होना सम्भव भी नहीं है। उसका मन तर्कशील बुद्धि तथा अन्य दो शक्तियों की संयुक्त, मिश्रित एवं गहन क्रिया के प्रति जटिल रूप से

अधीन है। उन दो शक्तियों में से एक है अन्तर्ज्ञान, जो मानव-मन के अन्दर वस्तुतः केवल अर्द्ध-आलोकित है, बुद्धि की अधिक प्रत्यक्ष क्रिया के पीछे रहकर कार्य करता है या फिर सामान्य बुद्धि की क्रिया में छुपा रहता है या उसमें आकर परिवर्तित हो जाता है। दूसरी शक्ति है सम्वेदन, अन्धप्रेरणा और आवेग से युक्त प्राणिक मन। वह अपने स्वभाव में एक प्रकार का धूमिल तिरोहित अन्तर्ज्ञान ही है और वह बुद्धि को नीचे से उसकी आरम्भिक सामग्री एवं ज्ञात तथ्य प्रदान करता है। इन अन्य शक्तियों में से प्रत्येक अपने-अपने ढंग से, मन और प्राण में कार्य कर रहे आत्मा की एक अन्तरंग क्रिया है और इसका कार्य करने का ढंग तर्कशील बुद्धि की अपेक्षा अधिक सीधा एवं सहज-स्फूर्त है, तथा इसकी अनुभव एवं कर्म करने की शक्ति भी उसकी अपेक्षा अधिक अपरोक्ष है। तथापि इनमें से कोई भी शक्ति मनुष्य के मानसिक जीवन को व्यवस्थित करने में समर्थ नहीं है।

उसका प्राणिक मन—इसकी अन्धप्रेरणाएं, इसके आवेग,—उस तरह स्वतः-पर्याप्त एवं प्रभुत्वपूर्ण नहीं है और हो भी नहीं सकता जिस तरह वह निम्नतर सृष्टि में है। इसे बुद्धि ने अपने अधिकार में लाकर अत्यधिक बदल डाला है। जहां बुद्धि का विकास अपूर्ण है और यह (प्राण-मन) स्वयं अपनी श्रेष्ठता पर अत्यधिक आग्रह करता है वहां भी यही बात देखने में आती है। यह अपने अन्तर्ज्ञानात्मक स्वरूप को अधिकांश में खो चुका है, वास्तव में अब यह ज्ञान की सामग्री और ज्ञात तथ्यों के जुटानेवाले एक करण के रूप में पहले से अनन्तगुना समृद्ध है, पर अब यह सर्वथा स्वरूपप्रतिष्ठ नहीं रहा और न ही यह अपना कार्य सहज में कर सकता है, क्योंकि यह आधा बौद्धिक बन गया है, कम-से-कम यह तार्किक या बौद्धिक क्रिया के किसी अन्तःसञ्चारित तत्त्व पर आश्रित रहता है, भले वह तत्त्व कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो; अतएव अब यह बुद्धि की सहायता के बिना किसी अच्छे उद्देश्य के लिये कार्य नहीं कर सकता। इसकी जड़ें अवचेतन में हैं जहां से यह उद्भूत होता है, और इसका पूर्णता प्राप्त करने का स्थान भी वहीं है और मनुष्य का कार्य अभिवृद्धि प्राप्त करना है, इस अर्थ में कि वह अधिकाधिक चेतन ज्ञान और कर्म की ओर प्रगति करता जाये। यदि वह प्राणिक मन के द्वारा अपनी सत्ता का नियन्त्रण करने की ओर लौटे तो वह या तो विवेकहीन एवं अव्यवस्थित बन जायेगा या जड़ एवं निःशक्त और मानवता के मूल लक्षण को गंवा बैठेगा।

इसके विपरीत अन्तर्ज्ञान का मूल और इसका पूर्णता प्राप्त करने का धाम अतिमानस में है जो आज हमारे लिये अतिचेतन है, और मन में इसकी क्रिया न तो विशुद्ध होती है न व्यवस्थित, बल्कि वह तत्क्षण ही तर्कशील बुद्धि की क्रिया के साथ मिल जाती है, बिल्कुल अपने ही स्वरूप में नहीं रह पाती, बल्कि सीमित, खण्डात्मक, मिश्रित, हलकी एवं अशुद्ध हो जाती है, और अपने निर्देशों के व्यवस्थित प्रयोग एवं संगठन के लिये तर्कबुद्धि की सहायता पर निर्भर करती है।

मानव-मन अपने अन्तर्ज्ञानों के विषय में तबतक कभी भी पूरी तरह से निश्चयवान् नहीं होता जबतक तर्कबुद्धि की निर्णय-शक्ति उनपर विचार करके उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर देती : तर्कबुद्धि की इस शक्ति में ही वह अपने को अत्यन्त सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित एवं सुरक्षित अनुभव करता है। यदि मनुष्य अन्तर्ज्ञानात्मक मन के द्वारा अपने चिन्तन और जीवन की व्यवस्था करने के लिये तर्कबुद्धि से ऊपर उठ जाये तो इतने से ही वह अपनी मानवता के विशिष्ट लक्षण को पार कर अतिमानवता के विकास के पथ पर चल रहा होगा। यह कार्य केवल ऊर्ध्व भूमिका में ही किया जा सकता है : क्योंकि नीचे की भूमिका में इसके लिये यत्न करने का अर्थ एक अन्य प्रकार की अपूर्णता प्राप्त करना ही है : वहां तो मनोमय बुद्धि एक आवश्यक करण है।

तर्कशील बुद्धि, प्राणिक मन और अबतक अविकसित अतिमानसिक अन्तर्ज्ञान—इन दोनों के बीच का एक करण है। उसका कार्य एक मध्यस्थ का कार्य है, अर्थात् एक ओर तो उसका काम है—प्राणिक मन को आलोकित करना, इसे सचेतन बनाना तथा इसकी क्रिया को यथासम्भव नियन्त्रित एवं व्यवस्थित करना। यह सब उसे तबतक करते जाना होगा जबतक विश्व-प्रकृति अतिमानसिक शक्ति का विकास करने के लिये तैयार नहीं हो जाती। यह शक्ति विकसित होकर प्राण को अपने अधिकार में ले लेगी और उसकी सभी क्रियाओं को आलोकित करके पूर्ण बनायेगी। इसके लिये वह उसकी कामना, भावावेश, सम्वेदन और कर्म की अस्पष्टतः अन्तर्ज्ञानमय गतियों को आत्मा और अध्यात्मसत्ता की एक ऐसी प्राणिक अभिव्यक्ति में रूपान्तरित कर देगी जो आध्यात्मिक एवं ज्योतिर्मय रूप से सहजस्फूर्त होगी। दूसरी ओर, उच्चतर स्तर पर तर्कबुद्धि का कार्य है—ऊपर से आनेवाली ज्योतिरश्मियों को ग्रहण करना तथा उन्हें बौद्धिक मन की परिभाषाओं का रूप देना, साथ ही, अन्तर्ज्ञान की जो धाराएं अपनी सीमा को पार कर अतिचेतना से मन में उतर आती हैं उन्हें स्वीकार करना, परखना, विकसित करना तथा बौद्धिक ढंग से उपयोग में लाना। यह कार्य वह तबतक करती है जबतक मनुष्य अपने स्वरूप, अपनी परिस्थिति और अपनी सत्ता के प्रति अधिकाधिक बौद्धिक रूप से सचेतन होकर यह भी नहीं जान जाता कि वास्तव में वह इन चीजों को अपनी बुद्धि के द्वारा नहीं जान सकता, बल्कि अपनी बुद्धि के समक्ष इनका मानसिक निरूपणमात्र कर सकता है।

परन्तु बुद्धिप्रधान मनुष्य में तर्कबुद्धि अपने सामर्थ्य और व्यापार की सीमाओं की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति रखती है और 'पुरुष' एवं आत्मा का एक यन्त्र एवं करण नहीं बल्कि उसकी स्थानापन्न शक्ति बनने की चेष्टा करती है। अपनी सफलता और प्रधानता के कारण एवं अपने प्रकाश की अपेक्षाकृत महत्ता के कारण आत्मविश्वास से पूर्ण होकर वह अपनेको एक प्रधान एवं निरपेक्ष तत्त्व समझती है, अपने पूर्ण

सत्य एवं स्वयं-समर्थता के बारे में विश्वस्त अनुभव करती है और मन एवं प्राण की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासिका बनने का यत्न करती है। पर यह कार्य वह सफलता-पूर्वक नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपने वास्तविक सारतत्त्व एवं अस्तित्व के लिये निम्नतर प्राणिक अन्तर्ज्ञान पर तथा प्रच्छन्न अतिमानस एवं उसके अन्तर्ज्ञानात्मक सन्देशों पर निर्भर करती है। उसे केवल अपनेको ऐसा लग सकता है कि मैं सफल हो रही हूं, क्योंकि वह अपने समस्त अनुभव को तार्किक सूत्रों में परिणत कर देती है और इसके पीछे विचार और क्रिया का जो वास्तविक स्वरूप विद्यमान है उसमें से आधे की ओरसे तथा जो अपरिमित सत्य उसके सूत्रों के घेरे में नहीं आता उसकी ओरसे अपनी आंखें मूंद लेती है। बुद्धि की अति तो केवल जीवन को एक कृत्रिम वस्तु एवं बुद्धि-चालित यन्त्र-सा बना देती है, इसे इसकी स्वाभाविकता एवं जीवनशक्ति से वञ्चित कर देती है और आत्मा के स्वातंत्र्य एवं विस्तार को रोक देती है। सीमित और परिसीमक मनोमय बुद्धि को अपने-आपको सुनम्य एवं संस्कारग्राही बनाना होगा, अपने मूल स्रोत के प्रति अपने-आपको खोलना होगा, ऊपर से ज्योति प्राप्त करनी होगी, अपने को अतिक्रम करके रूपान्तर-रूपी सहजमृत्यु-प्रक्रिया के द्वारा अतिमानसिक बुद्धि के रूप में परिणत हो जाना होगा। इस बीच उसे विशिष्ट मानवीय स्तर पर चिन्तन और कर्म की व्यवस्था के लिये सामर्थ्य और नेतृत्व प्रदान किया गया है। मानवीय स्तर एक बीच का स्तर है जिसके एक ओर तो आत्मा की अवचेतन शक्ति है जो पशु के जीवन की व्यवस्था करती है और दूसरी ओर आत्मा की अतिचेतन शक्ति है जो चेतन बनकर आध्यात्मिक अतिमानवता के अस्तित्व एवं जीवन की व्यवस्था कर सकती है।

तर्कबुद्धि की विशिष्ट शक्ति अपने पूर्ण विकसित रूप में एक तार्किक क्रिया है। यह क्रिया सर्वप्रथम, निरीक्षण और व्यवस्था के द्वारा, समस्त प्राप्य सामग्री एवं स्वीकृत तथ्यों का सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर लेती है, और फिर इसके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले ज्ञान के लिये यह उनपर कार्य करती है। यह ज्ञान चिन्तन-शक्तियों के प्राथमिक प्रयोग के द्वारा प्राप्त, सन्तुष्ट तथा परिवर्द्धित होता है, अन्त में तर्कबुद्धि अपने परिणामों की यथार्थता के बारे में अपनेको आश्वस्त करती है। इसके लिये वह एक अधिक सतर्क, औपचारिक, जागरूक, सुचिन्तित एवं कठोर-तर्कयुक्त क्रिया का प्रयोग करती है जो विचार और अनुभव के बल पर विकसित हुए कुछ-एक सुरक्षित मानदण्डों एवं प्रक्रियाओं के अनुसार इन परिणामों को परखकर इनका खण्डन या मण्डन करती है। अतएव तर्कबुद्धि का पहला कार्य अपनी प्राप्य सामग्री एवं स्वीकृत तथ्यों का यथार्थ, सतर्क एवं पूर्ण निरीक्षण करना है। स्वीकृत तथ्यों का जो सबसे पहला एवं सहजतम क्षेत्र हमारे ज्ञान के सामने खुला है वह प्राकृतिक जगत् है, उन भौतिक पदार्थों का जगत् है जिन्हें मन की पृथक्कारी क्रिया ने उसे अपने प्रति बाह्य बना रखा है, ऐसी वस्तुओं का जगत् है जो अनात्मा हैं और

इसलिये जो केवल हमारे इन्द्रियानुभवों की व्याख्या के द्वारा, निरीक्षण, सञ्चित अनुभव, अनुमान और ध्यानपूर्ण चिन्तन के द्वारा परोक्ष रूप से ही जानी जा सकती हैं। ज्ञात तथ्यों का दूसरा क्षेत्र है हमारी अपनी आन्तरिक सत्ता और उसकी क्रियाएं जिन्हें मनुष्य, स्वभावतः ही, अन्दर से कार्य करनेवाले मानसिक बोध, अन्तर्ज्ञान एवं सतत अनुभव के द्वारा तथा हमारी प्रकृति की साक्षियों पर ध्यानपूर्ण चिन्तन के द्वारा जानता है। इन आन्तर क्रियाओं के सम्बन्ध में भी बुद्धि सर्वोत्तम रूप में अपना कार्य तभी करती है तथा इनका अत्यन्त यथार्थ ज्ञान तभी प्राप्त करती है यदि वह अपने-आपको इनसे पृथक् करके इन्हें सर्वथा निर्व्यक्तिक दृष्टि से एवं बहिःस्थित रूप में देखे। इस प्रकार का साक्षिभाव एक ऐसी क्रिया है जिसका परिणाम ज्ञानयोग में यह होता है कि हम अपनी सक्रिय सत्ता को भी अनात्मा के रूप में, शेष जगत्-सत्ता की भांति प्रकृति की एक यान्त्रिक रचना के रूप में देखने लगते हैं। अन्य विचारशील एवं सचेतन जीवों-विषयक ज्ञान इन दो क्षेत्रों के बीच में आता है, पर यह भी परोक्ष रूप में निरीक्षण एवं अनुभव से तथा आदान-प्रदान के नाना साधनों से और इन साधनों पर चिन्तन एवं अनुमान के द्वारा कार्य करके प्राप्त किया जाता है। यह चिन्तन एवं अनुमान अधिकतर हमारी अपनी प्रकृतिसम्बन्धी हमारे ज्ञान के साथ इस ज्ञान के सादृश्य के आधार पर (उपमान प्रमाण पर) प्रतिष्ठित होता है। स्वीकृत तथ्यों का एक अन्य क्षेत्र भी है जिसका बुद्धि को निरीक्षण करना होता है। वह उसकी अपनी क्रिया तथा सम्पूर्ण मानवीय बुद्धि की क्रिया का क्षेत्र है, क्योंकि इस अध्ययन के बिना वह अपने ज्ञान की यथार्थता या अपनी पद्धति एवं प्रक्रिया की शुद्धता के बारे में असंदिग्ध नहीं हो सकती। अन्त में, ज्ञान के कुछ अन्य क्षेत्र भी हैं जिनके लिये स्वीकृत तथ्य इतने सुलभ नहीं हैं और जिनके लिये लोकोत्तर शक्तियों का विकास करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक क्षेत्र उन वस्तुओं तथा सत्ता के उन स्तरों की खोज का है जो स्थूल जगत् की प्रतीतियों के पीछे विद्यमान हैं और दूसरा क्षेत्र है मनुष्य एवं विश्वप्रकृति के गुप्त आत्मा की या उनकी सत्ता के मूल तत्त्व की खोज का। इनमें से पहले पर तर्कबुद्धि, जो भी तथ्य प्राप्त हो जायें उन्हें अपनी छानबीन के लिये स्वीकार करके, उन्हींके आधार पर विचार करने का यत्न कर सकती है जिस तरह वह स्थूल जगत् पर विचार करती है, पर साधारणतया उसमें उन तथ्यों पर विचार करने की प्रवृत्ति बहुत ही कम होती है, क्योंकि, उसे सन्देह और इन्कार करना ही अधिक आसान मालूम होता है, साथ ही इस क्षेत्र में उसकी क्रिया भी कदाचित् ही सुनिश्चित या प्रभावशाली होती है। दूसरे क्षेत्र की खोज वह सामान्यतया एक ऐसे रचनात्मक दार्शनिक तर्क के द्वारा करने का यत्न करती है जो प्राण, मन और जड़तत्त्व के दृग्विषयों के सम्बन्ध में बुद्धि द्वारा किये हुए विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक निरीक्षण पर आधारित होता है।

अपने ज्ञात तथ्यों के इन सभी क्षेत्रों में तर्कबुद्धि की क्रिया एक-सी होती है। सबसे पहले बुद्धि निरीक्षणों, संस्कारों, प्रत्यक्ष-बोधों, गृहीत-विचारों तथा प्रत्ययों की विपुल सामग्री का संग्रह करती है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों का तथा सभी पदार्थों का, उनकी समानताओं और विषमताओं के अनुसार एक कम या अधिक स्पष्ट व्यवस्थापन एवं वर्गीकरण करती है, और फिर विचारों, स्मृतियों, कल्पनाओं एवं निर्णयों की संचित होती हुई निधि एवं सतत वृद्धि के द्वारा उनपर क्रिया करती है; मुख्य रूप से यही चीजें हमारे ज्ञान की क्रिया का स्वरूप गठित करती हैं। अपने ही गतिवेग के द्वारा विकसित होते हुए मन की इस बुद्धिप्रधान क्रिया का एक प्रकार का स्वाभाविक विस्तार भी होता है, यह एक ऐसा विकास होता है जिसमें व्यक्ति के सचेतन योगदान से अधिकाधिक सहायता प्राप्त होती है, विकास के इस सचेतन अनुशीलन से शक्तियों में जो वृद्धि होती है वह फिर अपने क्रम में, जैसे ही ये शक्तियां एक अधिक सहज-स्वाभाविक क्रिया के रूप में प्रतिष्ठित होती हैं, प्रकृति का एक अंग बन जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप जो विकास साधित होता है वह बुद्धि की अपनी स्वरूपगत विशेषता एवं सारभूत शक्ति का नहीं, वरन् उसकी शक्ति की मात्रा, उसकी नमनीयता, सामर्थ्य की विविधता एवं सूक्ष्मता का विकास होता है। तब भ्रान्तियों का संशोधन, सुनिश्चित विचारों एवं निर्णयों का संग्रह तथा नवीन ज्ञान का ग्रहण या निर्माण—ये सब क्रियाएं आरम्भ हो जाती हैं। साथ ही, बुद्धि की एक अधिक यथार्थ एवं सुनिश्चित क्रिया की आवश्यकता भी उत्पन्न हो जाती है, ऐसी क्रिया की जो बुद्धि की इस साधारण पद्धति की स्थूलता से मुक्त होकर प्रत्येक पग की जांच करेगी, प्रत्येक निष्कर्ष की कठोरतापूर्वक छानबीन करेगी और मन की क्रिया को एक दृढ़प्रतिष्ठ प्रणाली एवं व्यवस्था का रूप दे देगी।

यह क्रिया पूर्ण तार्किक मन का विकास करती है और बुद्धि की तीक्ष्णता एवं क्षमता को पराकाष्ठातक पहुंचा देती है। एक अधिक अनगढ़ एवं स्थूल निरीक्षण के स्थान पर या उसके परिपूरक के रूप में दो अन्य क्रियाएं प्रतिष्ठित हो जाती हैं। उनमें से एक तो पदार्थ का गठन करनेवाली या उससे सम्बद्ध सभी प्रक्रियाओं, गुणों, उपादानों तथा शक्तियों की छानबीन करनेवाले विश्लेषण की क्रिया है और दूसरी पदार्थ की समूचे रूप में संश्लेषणात्मक रचना करने की क्रिया है जो मन की उस पदार्थ-विषयक स्वाभाविक परिकल्पना में जोड़ दी जाती है या अधिकांश में उस परिकल्पना के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दी जाती है। उस पदार्थ का अन्य सब पदार्थों से भेद अधिक ठीक रूप में किया जाता है और साथ ही अन्य पदार्थों के साथ उसके सम्बन्धों की खोज भी अधिक पूर्ण रूप से की जाती है। साम्य या सादृश्य एवं सम्बन्ध का और साथ ही भेदों एवं विषमताओं का भी निर्धारण कर लिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर तो सत्ता और विश्वप्रकृति की मूलभूत एकता तथा उनकी प्रक्रियाओं की सदृशता एवं अविच्छिन्नता का अनुभव

होता है और दूसरी ओर विभिन्न शक्तियों तथा विभिन्न प्रकार के प्राणियों और पदार्थों का स्पष्ट निर्धारण एवं वर्गीकरण भी सम्भव हो जाता है। ज्ञान के लिये आवश्यक सामग्री और स्वीकृत तथ्यों का संग्रह एवं व्यवस्था भी वहांतक पूर्णता को पहुंचा दी जाती है जहांतक कि तर्कबुद्धि के लिये ऐसा करना सम्भव है।

स्मृति मन का एक अनिवार्य साधन है जो उसके अतीत निरीक्षणों को सुरक्षित रखने में उसकी सहायता करता है। यहां 'स्मृति' में व्यक्ति की ही नहीं सम्पूर्ण जाति की स्मृति भी सम्मिलित है, चाहे वह सञ्चित अभिलेखों के कृत्रिम रूप में हो या सर्वसामान्य जातिगत स्मृति के रूप में जो एक प्रकार के सतत पुनरावर्तन एवं नवीकरण के द्वारा अपने लाभों की सुरक्षा करती है। इनके साथ ही एक और तत्त्व भी होता है जिसका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया है। वह प्रसुप्त स्मृति का तत्त्व है। वह नाना प्रकार के उत्तेजकों का दबाव पड़ने पर ज्ञान की अतीत क्रियाओं को नयी अवस्थाओं में दुहरा सकती है जिससे कि बढ़ी हुई जानकारी एवं बुद्धि के द्वारा उन क्रियाओं पर विचार किया जा सके। विकसित तर्कप्रधान मन मानव स्मृति की क्रिया एवं साधन-सम्पदा को व्यवस्थित करता है और उसे अपनी सामग्री का अधिकतम उपयोग करने की प्रशिक्षा देता है। मानव की निर्णयशक्ति, स्वभावतः ही, इस सामग्री पर दो विधियों से कार्य करती है, उनमें से एक निरीक्षण, अनुमान, सर्जनशील या आलोचनात्मक निष्कर्ष, अन्तर्दृष्टि और तात्कालिक विचार को कम या अधिक द्रुत एवं संक्षिप्त रूप से संयुक्त करती है। यह अधिकांश में मन का सहज ढंग से तथा ऐसी प्रत्यक्षता के साथ कार्य करने का प्रयत्न है जो केवल अन्तर्ज्ञान की उच्चतर शक्ति के द्वारा ही सुरक्षित रूप से प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि मन में यह बहुत-कुछ मिथ्या विश्वास एवं अविश्वसनीय निश्चय-भाव पैदा कर देती है। दूसरी विधि खोज, विचार तथा परीक्षा करनेवाले निर्णय की है जो अपेक्षाकृत धीमी है, पर अन्त में बौद्धिक रूप से अधिक सुनिश्चित होती है तथा एक सावधानतापूर्ण तार्किक क्रिया के रूप में विकसित हो जाती है।

स्मृति और निर्णय-शक्ति दोनों को कल्पना-शक्ति से सहायता प्राप्त होती है। कल्पना-शक्ति, ज्ञान के एक करण के रूप में, ऐसी सम्भावनाओं का संकेत देती है जिन्हें अन्य शक्तियों ने प्रत्यक्षतया प्रस्तुत या समर्थित नहीं किया होता। साथ ही वह नये दृश्य क्षेत्रों के द्वार भी खोल देती है। विकसित तर्कबुद्धि कल्पना-शक्ति का प्रयोग नये अनुसन्धान एवं नये वाद का संकेत देने के लिये करती है, पर निरीक्षण एवं संशयशील या सतर्क निर्णयशक्ति के द्वारा उसके संकेतों को पूरी तरह से परखने का ध्यान रखती है। वह स्वयं निर्णय-शक्ति के समस्त व्यापार को भी यथासम्भव परखने का आग्रह करती है, निगमन और उपपादन की व्यवस्थित प्रणाली के पक्ष में उतावले अनुमान का परित्याग कर देती है और अपने सभी पगों के बारे में तथा अपने निष्कर्षों की न्यायपरता, शृंखलाबद्धता, सुसंगतता एवं संहतता के बारे

में अपने-आपको आश्वस्त कर लेती है। एक अतीव रूढ़िबद्ध तार्किक मन सद्यः अन्तर्दृष्टि की एक विशेष क्रिया को, अर्थात् उच्चतर अन्तर्ज्ञान की ओर मन की निकटतम पहुंच को, निरुत्साहित करता है, किन्तु तर्कबुद्धि के समस्त व्यापार का उन्मुक्त प्रयोग इस क्रिया को अपेक्षाकृत उन्नत ही कर सकता है, पर वह इसपर अमर्यादित रूप से भरोसा नहीं करता। तर्कबुद्धि का प्रयत्न सदा यही रहता है कि वह एक अनासक्त, निष्पक्ष एवं सुप्रतिष्ठित विधि के द्वारा भूल, पूर्वनिर्णय एवं मन के मिथ्या विश्वास से मुक्त होकर विश्वसनीय ध्रुव सत्यों पर पहुंचे।

और यदि मन की यह विस्तृत एवं सुनिष्पन्न विधि सत्य की खोज के लिये सचमुच में पर्याप्त होती तो ज्ञान के विकास में इससे ऊंचे किसी सोपान की आवश्यकता ही न पड़ती। वास्तव में, यह मन के अपने ऊपर तथा अपने चारों ओर के जगत् के ऊपर प्रभुत्व को बढ़ाती है तथा इसके ऐसे महान् उपयोग भी हैं जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता: पर इस विषय में यह कभी असंदिग्ध नहीं हो सकती कि इसकी ज्ञात तथ्य-सामग्री इसे वास्तविक ज्ञान का ढांचा प्रदान करती है या केवल एक ऐसा ढांचा प्रदान करती है जो मानव-मन एवं संकल्प के लिये उसकी वर्तमान कार्यप्रणाली में ही उपयोगी एवं आवश्यक है। यह अधिकाधिक अनुभव में आता है कि दृग्विषयों का ज्ञान तो बढ़ जाता है, पर सद्वस्तु का ज्ञान इस श्रमपूर्ण प्रक्रिया से छूट जाता है। एक ऐसा समय अवश्य आयेगा और वह आ ही रहा है जब मन अन्तर्ज्ञान को और इसके शब्द के अस्पष्ट प्रयोग तथा इसके अर्थ के अनिश्चित बोध के पीछे जो महान् शक्तियां छिपी पड़ी हैं उन सबको अपनी सहायता के लिये पुकारने तथा पूर्ण रूप से विकसित करने की आवश्यकता अनुभव करेगा। अन्त में वह इस सत्य को अवश्य उपलब्ध कर लेगा कि ये शक्तियां उसकी अपनी विशिष्ट क्रिया में सहायता देकर उसे पूर्ण ही नहीं कर सकतीं, बल्कि उसका स्थान भी ले सकती हैं। इस सत्य की उपलब्धि आत्मा की अतिमानसिक शक्ति की उपलब्धि का आरम्भ होगी।

हम देख ही चुके हैं कि अतिमानस मानसिक चेतना की क्रिया को अन्तर्ज्ञान की ओर ऊपर ले जाकर उसके अन्दर प्रविष्ट करा देता है। पहले वह एक मध्यवर्ती अन्तर्ज्ञानात्मक मन की सृष्टि करता है जो अपने-आपमें अपर्याप्त होता हुआ भी तर्कबुद्धि की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। इसके बाद वह इस मन को भी और ऊपर ले जाकर सच्ची अतिमानसिक क्रिया में रूपान्तरित कर देता है। आरोही क्रम में अतिमानस का प्रथम सुव्यवस्थित करण है अतिमानसिक बुद्धि, उच्चतर तर्कबुद्धि नहीं, बल्कि घनिष्ठतया आत्मगत एवं घनिष्ठतया विषयगत ज्ञान का एक सीधा प्रकाशपूर्ण व्यवस्थित करण, अर्थात् उच्चतर बुद्धि, तर्कात्मक या यूं कहें कि शब्दब्रह्मात्मक विज्ञान। विज्ञानमय बुद्धि तर्कबुद्धि का समस्त कार्य करती है और उससे भी अधिक कुछ करती है, पर करती है एक महत्तर शक्ति के साथ तथ

एक भिन्न ढंग से। फिर वह स्वयं भी ज्ञान-शक्ति के एक उच्चतर स्तर में उन्नीत हो जाती है और उसमें भी खोया कुछ भी नहीं जाता, बल्कि सब कुछ और भी उन्नत हो जाता है, उसका क्षेत्र और भी विस्तृत तथा उसकी कार्य करने की शक्ति रूपान्तरित हो जाती है।

बुद्धि की साधारण भाषा विज्ञानबुद्धि के इस कार्य का वर्णन करने के लिये पर्याप्त नहीं, क्योंकि शब्द तो वही-के-वही प्रयोग में लाने पड़ते हैं जो कुछ सादृश्य का ही संकेत देते हैं, पर असल में एक भिन्न वस्तु को अपूर्ण रूप से प्रकट करने के लिये भी प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रकार, अतिमानस इन्द्रियों की एक प्रकार की क्रिया का प्रयोग करता है जो स्थूल इन्द्रियों को प्रयोग में लाती है, पर उनसे सीमित नहीं होती। यह क्रिया अपने स्वरूप एवं स्वभाव में रूप-चेतना एवं (इन्द्रियार्थ) स्पर्श-चेतना होती है, परन्तु इन्द्रिय के सम्बन्ध में हमारी जो मानसिक धारणा और अनुभूति हैं वे हमें इस अतिमानसीकृत इन्द्रिय-चेतना की तात्त्विक एवं विशिष्ट क्रिया की कुछ भी कल्पना नहीं करा सकतीं। अतिमानसिक क्रिया में चिन्तन भी मनोमय बुद्धि के चिन्तन से भिन्न होता है। अतिमानसिक चिन्तन, मूलतः, ज्ञात वस्तु की सत्ता के सारतत्त्व के साथ ज्ञाता की सत्ता के सचेतन सम्पर्क या मिलन या तादात्म्य के रूप में अनुभूत होता है और उसके विचार का स्वरूप आत्मा की स्वचेतनता की एक ऐसी शक्ति के रूप में अनुभूत होता है जो मिलन या एकत्व के द्वारा किसी विषय के अन्तर्निहित तत्त्व, व्यापार और मर्म के एक विशेष ज्ञानात्मक रूप को प्रकट करती है, क्योंकि वह उसे अपने अन्दर धारण किये होती है। अतएव, निरीक्षण, स्मृति और निर्णय में से भी प्रत्येक का मनोमय बुद्धि की प्रक्रिया में जो अर्थ होता है, अतिमानस में उसका उससे भिन्न अर्थ होता है।

मनोमय बुद्धि जिस सबका अवलोकन करती है, अतिमानसिक बुद्धि उस सबका और उससे भी बहुत अधिक अवलोकन करती है। दूसरे शब्दों में, वह ज्ञेय वस्तु को बोध-क्रिया का एक क्षेत्र, अर्थात् एक प्रकार से एक बाह्य विषय बनाती है। यह बोधक्रिया उस वस्तु के स्वरूप, स्वभाव, गुण और व्यापार को प्रकट करा देती है। पर विषय की यह बाह्यता वह कृत्रिम बाह्यता नहीं होती जिसके द्वारा बुद्धि अपने अवलोकन में वैयक्तिक या विषयिगत भूल का अंश दूर करने की चेष्टा करती है। अतिमानस प्रत्येक वस्तु को आत्मा के अन्दर देखता है और इसलिये उसका अवलोकन एक आत्मगत वस्तु का अवलोकन होता है तथा हम अपनी आन्तरिक गतियों को ज्ञान का विषय मानकर उनका जो अवलोकन करते हैं, अतिमानस का अवलोकन उसके अत्यधिक सदृश होता है, यद्यपि बिल्कुल वैसा ही नहीं होता। वह अपनी पृथक्-वैयक्तिक सत्ता के अन्दर या उसकी शक्ति के द्वारा नहीं देखता और अतएव उसे व्यक्तिमूलक भूल के अंश से बचने के लिये सतर्क नहीं रहना पड़ता : व्यक्तिगत भूल तो केवल तभी हस्तक्षेप करती है जब मन का तल या पारिपार्श्विक वायुमण्डल अभी बचा होता है और अपना प्रभाव डाल सकता

है अथवा जब अतिमानस मन को बदलने के लिये अभीतक उसके अन्दर उतरकर कार्य कर रहा होता है। और भूल के साथ बरताव करने का अतिमानस का ढंग यह है कि उसे किसी अन्य युक्ति से नहीं वरन् अतिमानसिक विवेक की बढ़ती हुई स्वयंस्फूर्तता से तथा उसकी अपनी शक्ति की सतत वृद्धि के द्वारा दूर किया जाये। अतिमानस की चेतना वैश्व चेतना है और विराट् चेतना की इस सत्ता में ही, जिसमें व्यष्टि-रूप ज्ञाता निवास करता है और जिसके साथ वह कम या अधिक घनिष्ठ रूप से एकीभूत होता है, वह उसके सम्मुख ज्ञान के विषय को प्रस्तुत करती है।

ज्ञाता अपने अवलोकन में एक साक्षी होता है और इससे ऐसा प्रतीत होगा कि यह सम्बन्ध एक अन्य-पन एवं भेद को सूचित करता है, किन्तु असली बात यह है कि यह कोई पूर्ण रूप से पृथक् करनेवाला भेद नहीं है, यह दृष्ट वस्तु के सम्बन्ध में उस विचार को स्थान नहीं देता जो उसे पूर्णतया अनात्मा मानकर द्रष्टा से बहिष्कृत कर देता है, जैसा कि किसी बाह्य पदार्थ के मानसिक अवलोकन में किया जाता है। अतिमानस में तो ज्ञात वस्तु के साथ एकत्व की मूलगत अनुभूति सदा ही बनी रहती है, क्योंकि इस एकत्व के बिना अतिमानसिक ज्ञान हो ही नहीं सकता। ज्ञाता अपने विषय को अपनी विश्वभावापन्न चिन्मय सत्ता में अपनी साक्षि-दृष्टि के केन्द्र-स्थान के सामने अवस्थित पदार्थ के रूप में धारण करता हुआ अपनी विशालतर सत्ता के अन्तर्गत कर लेता है। अतिमानसिक अवलोकन ऐसी वस्तुओं का अवलोकन होता है जिनके साथ हम अपनी सत्ता और चेतना में एकीभूत होते हैं और जिन्हें हम उस एकत्व के बल पर उसी प्रकार जानने में समर्थ होते हैं जिस प्रकार हम अपने-आपको जानते हैं : अवलोकन की क्रिया छुपे हुए ज्ञान को बाहर लाने की क्रिया है।

इस प्रकार सर्वप्रथम, चेतना की एक मूलभूत एकता है जिसकी शक्ति अतिमानसिक स्तरों में हमारे जीवन-धारण, अनुभव और अवलोकन की प्रगति, उच्चता और गभीरता के अनुसार कम या अधिक होती है तथा इन्हींके अनुसार जो अपने अन्दर निहित ज्ञानसामग्री को कम या अधिक पूर्ण एवं तात्क्षणिक रूप से प्रकट करती है। इस मूलभूत एकता के परिणामस्वरूप ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सचेतन सम्बन्ध की एक धारा या सेतु स्थापित हो जाता है—हम रूपकों का प्रयोग करने को बाध्य होते हैं, भले वे रूपक कितने ही अपूर्ण क्यों न हों—और फिर उसके फलस्वरूप एक ऐसा सम्पर्क या सक्रिय मिलन स्थापित हो जाता है जो व्यक्ति को, पदार्थ में या उसके बारे में जो कुछ भी जानने योग्य है उसे अतिमानसिक रूप से देखने, अनुभव करने और जानने की सामर्थ्य प्रदान करता है। कभी-कभी सम्बन्ध की यह धारा या सेतु उस विशेष क्षण में सचेतन रूप से अनुभूत नहीं होता, केवल इस सम्बन्ध के परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं, पर वास्तव में यह सदा ही वहां विद्यमान होता है और यदि हम बाद में स्मरण करके देखें तो हमें

सदैव यह पता चल सकता है कि वास्तव में यह सेतु सारा समय वहां विद्यमान था : जैसे-जैसे हम अतिमानसिक अवस्था में विकसित होते हैं, वैसे-वैसे यह एक स्थायी तत्त्व बनता जाता है। जब यह आधारभूत एकता एक पूर्ण सक्रिय एकता बन जाती है तब सम्बन्ध की इस धारा या इस सेतु की आवश्यकता नहीं रहती। यह प्रक्रिया उस पद्धति का आधार है, जिसे पतञ्जलि **संयम** कहते हैं। संयम का अभिप्राय है एकाग्रता, चेतना का किसी एक ही विषय की ओर प्रेरण या उसकी उसमें निमग्नता। पतञ्जलि का कहना है कि संयम के द्वारा साधक किसी पदार्थ में जो कुछ भी है उस सबका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु जब सक्रिय एकत्व विकसित हो जाता है तब एकाग्रता की आवश्यकता बहुत कम हो जाती है या बिल्कुल ही नहीं रहती; ज्ञेय और उसके अन्तर्निहित तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रकाशपूर्ण चेतना अधिक स्वयंस्फूर्त, सामान्य एवं सहजसाध्य हो जाती है।

इस प्रकार के अतिमानसिक अवलोकन की क्रिया तीन प्रकार की हो सकती है। प्रथम, ज्ञाता अपने-आपको अपनी चेतना में ज्ञेय पदार्थ पर प्रक्षिप्त कर सकता है, यह अनुभव कर सकता है कि उसकी बोधशक्ति पदार्थ का स्पर्श कर रही है अथवा इसे चारों ओर से आच्छादित कर रही है या इसमें पैठ रही है और वहां, मानों स्वयं पदार्थ में ही, वह ज्ञातव्य तथ्यों को जान सकता है। अथवा, वह ज्ञेय के साथ चेतना के संस्पर्श के द्वारा, जो कुछ ज्ञेय में है या उससे सम्बन्ध रखता है उस सबको जान सकता है, उदाहरणार्थ, किसी दूसरे व्यक्ति के विचार या वेदन को; वह अनुभव करता है कि ज्ञेयगत ये सभी चीजें ज्ञेय से आ रही हैं और उसके अन्दर वहां प्रवेश कर रही हैं जहां वह अपनी साक्षी की भूमिका में स्थित है। अथवा वह, किसी ऐसे प्रक्षेप या प्रवेश के बिना, अपनी साक्षि-स्थिति में केवल एक प्रकार के अतिमानसिक बोध के द्वारा अपने अन्दर ज्ञेय को जान सकता है। अवलोकन का आरम्भ-बिन्दु एवं प्रत्यक्ष आधार स्थूल या किन्हीं अन्य इन्द्रियों के सम्मुख पदार्थ की उपस्थिति-मात्र हो सकता है, पर अतिमानस के लिये स्थूल पदार्थ की ऐसी उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। वहां इसके स्थान पर पदार्थ की आन्तरिक प्रतिमा या केवल उसका विचार ही आरम्भ-बिन्दु या आधार का काम कर सकता है। ज्ञाता की जानने की इच्छामात्र या, सम्भव है कि, ज्ञेय पदार्थ की ज्ञात होने की या अपना ज्ञान प्रदान करने की इच्छामात्र, अतिमानसिक चेतना के समक्ष अपेक्षित ज्ञान ला सकती है।

तार्किक बुद्धि विश्लेषणात्मक निरीक्षण एवं संश्लेषणात्मक निर्माण की जिस श्रमसिद्ध प्रक्रिया का अवलम्बन करती है वह अतिमानस की पद्धति नहीं है और फिर भी अतिमानस एक इससे मिलती-जुलती क्रिया करता है। वह एक प्रत्यक्ष अवलोकन के द्वारा वस्तु के विशेष व्योरों अर्थात् इसके रूप, शक्ति-सामर्थ्य, व्यापार, गुण, मन और आत्मा को, जो उसकी दृष्टि में होते हैं, पृथक्-पृथक् जान

लेता है, इसके लिये उसे वस्तु को खण्ड-खण्ड करने की किसी मानसिक प्रक्रिया का आश्रय नहीं लेना पड़ता। साथ ही, वह उस अर्थपूर्ण समग्र वस्तु को भी, ये विशेष ब्योरे जिसके गौण अङ्गमात्र होते हैं, उतनी ही प्रत्यक्षता के साथ तथा समन्वयात्मक रचना की किसी प्रक्रिया के बिना ही देखता है। स्वयं वस्तु के स्वभाव को भी वह देखता है। किसी पदार्थ की समग्रता (समग्र स्वरूप) तथा उसकी विशिष्टताएं उसके स्वभाव की ही अभिव्यक्ति होती हैं। और फिर, इस स्वभाव के पृथक् रूप में हो या इसके द्वारा, वह उस एकमेव आत्मा को उस एकमेव सत्ता, चेतना, शक्ति एवं तपस् को भी देखता है जिसमें से यह एक आधारभूत तत्त्व के रूप में प्रकट होता है। हो सकता है कि किसी विशेष समय में वह किसी पदार्थ की विशिष्टताओं का ही अवलोकन कर रहा हो, पर उस समय पदार्थ की समग्रता भी उस अवलोकन में गर्भित रहती है, और इसी प्रकार समग्रता के अवलोकन के समय विशिष्टताएं गर्भित रहती हैं,—उदाहरणार्थ, यदि किसीके मन में से एक विचार या वेदन उत्पन्न हो तो उस विचार या वेदन के ज्ञान के साथ वह उसके मन की समग्र अवस्था को भी जान सकता है। अपिच, अतिमानस की बोध-शक्ति समग्रता और विशिष्टता में से किसी एक से अपना कार्य आरम्भ कर सकती है और फिर एक अविलम्ब निर्देश के द्वारा तुरंत ही गर्भित ज्ञान की ओर अग्रसर हो सकती है। इसी प्रकार स्वभाव पदार्थ के समग्र स्वरूप में और उसकी प्रत्येक या सभी विशिष्टताओं में अन्तर्निहित रहता है और यहां भी वही प्रक्रियाएं विकल्प से या बारी-बारी से तथा द्रुत वेग से या तत्क्षण हो सकती हैं। अतिमानस का तर्क मन के तर्क से भिन्न है : वह सदा-सर्वत्र आत्मा को ही एक सत् पदार्थ के रूप में देखता है, पदार्थ के स्वभाव को आत्मा की सत्ता और शक्ति की एक आधारभूत अभिव्यक्ति के रूप में तथा पदार्थ के समग्र स्वरूप एवं विशिष्ट गुणों को इस शक्ति के एक परिणामभूत आविर्भाव तथा इसकी एक सक्रिय अभिव्यक्ति के रूप में देखता है। अतिमानसिक चेतना और ज्ञान-शक्ति की पूर्ण-विकसित अवस्था में यही स्थायी विधान होता है। अतिमानसिक बुद्धि एकता, सदृशता, विषमता, जाति और विशिष्टता का जो भी ज्ञान प्राप्त करती है वह सब इस विधान के साथ समस्वर होता है तथा इसपर निर्भर करता है।

अतिमानस की यह अवलोकन-क्रिया सब पदार्थों पर प्रयुक्त होती है। उसका स्थूल पदार्थों का अवलोकन, जब बाह्य ब्योरों पर एकाग्र होता है तब भी, केवल एक उपरितलीय या बाह्य अवलोकन नहीं होता और न हो ही सकता है। वह पदार्थ के आकार, व्यापार और विशेष धर्मों को देखता है, पर इनके साथ ही वह उन गुणों या शक्तियों को भी जानता है जिनका कि वह आकार एक रूपान्तर होता है और उन्हें वह आकार या व्यापार के आधार पर अनुमान या उपपादन करके नहीं देखता, बल्कि सीधे पदार्थ की सत्ता में ही तथा बिल्कुल उतने ही स्पष्ट रूप से

अनुभव करता और देखता है जितने स्पष्ट रूप से कि आकार या गोचर व्यापार को,—हम यह भी कह सकते हैं कि उन्हें वह एक सूक्ष्म मूर्तता एवं सूक्ष्म वास्तविकता के साथ अनुभव करता है। वह उस चेतना को भी जानता है जो अपने-आपको गुण, शक्ति एवं रूप में प्रकट करती है। जो शक्तियां, प्रवृत्तियां, प्रेरणाएं और वस्तुएं हमारे लिये अमूर्त हैं उन्हें वह बिल्कुल उन पदार्थों की तरह ही, जिन्हें हम आज प्रत्यक्ष एवं गोचर कहते हैं, अपरोक्ष और स्पष्ट रूप में अनुभव कर सकता एवं जान सकता है तथा देख सकता एवं साक्षात् कर सकता है। व्यक्तियों और समस्त सत्ताओं को भी वह ठीक इसी प्रकार से, प्रत्यक्ष रूप में, देखता है। किसी व्यक्ति या सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वह उसकी वाणी, क्रिया एवं बाह्य चिह्नों को अपने आरम्भबिन्दु या प्रथम संकेत के रूप में अपना सकता है, पर वह उनके द्वारा सीमित या उनके अधीन नहीं हो जाता। वह दूसरे की ठेठ आत्मा एवं चेतना को जान सकता, अनुभव कर सकता और देख सकता है, वह या तो किसी चिह्न के द्वारा सीधे उसकी ओर अग्रसर हो सकता है या अपनी अधिक शक्तिशाली क्रिया में आत्मा एवं चेतना से ही आरम्भ कर सकता है और, बाह्य अभिव्यक्ति की साक्षी के द्वारा अन्तःसत्ता को जानने की चेष्टा करने के स्थान पर, अन्तःसत्ता के प्रकाश में समस्त बाह्य अभिव्यक्ति को तुरत समझ सकता है। अतिमानसिक (विज्ञानमय) जीव अपनी आन्तरिक सत्ता और प्रकृति को भी ठीक इसी प्रकार जानता है। भौतिक व्यवस्था के पीछे जो कुछ छुपा है उसपर भी अतिमानस इतनी ही शक्ति के साथ कार्य कर सकता है और उसे भी वह सीधे अनुभव के द्वारा साक्षात् देख सकता है; वह जड़ जगत् से इतर स्तरों में भी विचरण कर सकता है। वह वस्तुओं की आत्मा एवं वास्तविक सत्ता को तादात्म्य के द्वारा, एकत्व के अनुभव या संस्पर्श के द्वारा तथा एक अन्तर्दर्शन, अर्थात् साक्षात्कार एवं उपलब्धि करानेवाले विचार एवं ज्ञान, के द्वारा जानता है जो इन वस्तुओं पर निर्भर करते हैं या इनसे उद्भूत होते हैं, और आत्मा के सत्यों के विषय में उसका विचारात्मक निरूपण इस प्रकार की दृष्टि और अनुभूति की अभिव्यक्ति-रूप होता है।

अतिमानसिक स्मरणशक्ति मानसिक स्मरणशक्ति से भिन्न है, वह अतीत ज्ञान और अनुभव का संग्रह नहीं बल्कि ज्ञान की एक स्थायी उपस्थिति है जिसे सामने लाया जा सकता है या जो, अपने अधिक लाक्षणिक रूप में आवश्यकता होने पर अपने-आपको स्वयं ही प्रस्तुत कर देती है। वह ध्यान देने या सचेतन रूप से ग्रहण करने के ऊपर निर्भर नहीं करती, क्योंकि अतीत की जो वस्तुएं व्यक्ति को वस्तुतः ज्ञात नहीं होतीं या जो उसने नहीं देखी होतीं उन्हें भी एक विशेष क्रिया के द्वारा निगूढ़ावस्था से ऊपरी तल पर लाया जा सकता है। यह क्रिया (स्मरणात्मक न होने पर भी) मूलतः एक स्मृति ही होती है। विशेषकर, एक विशेष स्तर पर समस्त ज्ञान

अपने-आपको स्मरण के रूप में ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है, क्योंकि सभी कुछ अतिमानस की सत्ता के अन्दर प्रसुप्त या सहजात रूप में विद्यमान है। भूत की तरह भविष्य भी अपने-आपको अतिमानस के ज्ञान के समक्ष पूर्व-ज्ञात की स्मृति के रूप में प्रस्तुत करता है। कल्पनाशक्ति, अतिमानस में रूपान्तरित होकर, एक ओर तो सच्चे प्रतिरूप एवं प्रतीक का निर्माण करनेवाली शक्ति के रूप में कार्य करती है, यह प्रतिरूप या प्रतीक सदा ही सत्ता के किसी मूल्य या गूढ़ार्थ या किसी अन्य सत्य को प्रकट करता है। दूसरी ओर, अतिमानसिक कल्पनाशक्ति उन सम्भावनाओं एवं शक्यताओं की अन्तःप्रेरणा देने या उनका अर्थबोधक साक्षात्कार करानेवाली शक्ति के रूप में कार्य करती है जो यथार्थ या सिद्ध वस्तुओं से कम वास्तविक नहीं होतीं। इन सम्भावनाओं एवं शक्यताओं को इनके साथ रहनेवाली एक अन्तर्ज्ञानमय या अर्थ-प्रकाशक विवेकशक्ति अथवा प्रतिमा, प्रतीक या शक्यता के अन्तर्दर्शन में अन्तर्निहित विवेकशक्ति इनके अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। या फिर जो तत्त्व प्रतिमा या प्रतीक के पीछे अवस्थित है या जो शक्य एवं यथार्थ का तथा उनके सम्बन्धों का निर्धारण करता है और, सम्भवतः, उन्हें पादाक्रान्त एवं अतिक्रम करके चरम सत्यों तथा परम ध्रुवताओं की स्थापना करता है उसका परमोच्च साक्षात्कार इन सब सम्भावनाओं को यथास्थान स्थापित कर देता है।

अतिमानसिक विवेकशक्ति अतिमानसिक अवलोकन-शक्ति या स्मरणशक्ति से अपृथक् रहकर कार्य करती है, वह मूल्यों, गूढ़ार्थों, कारणों, परिणामों, सम्बन्धों आदि के प्रत्यक्ष दर्शन या ज्ञान के रूप में उसके अन्दर रहती हुई कार्य करती है; अथवा वह अवलोकन के ऊपर एक अतिरिक्त प्रकाशपूर्ण एवं अनावरक विचार या सुझाव के रूप में आ उपस्थित होती है; या फिर वह किसी भी अवलोकन से स्वतन्त्र रूप में, उससे पहले ही आ सकती है, और उसके बाद हमें पदार्थ का स्मरण आता है तथा हम उसका अवलोकन करते हैं और तब वह पदार्थ हमारे विचार के सत्य को प्रत्यक्ष रूप से पुष्ट करता है। परन्तु इनमें से हर एक अवस्था में वह अपने कार्य के लिये अकेली ही पर्याप्त होती है, वह अपना प्रमाण आप ही होती है तथा वास्तव में अपने सत्य के लिये वह किसी भी प्रकार की बाहरी सहायता या पुष्टि पर निर्भर नहीं करती। अतिमानसिक बुद्धि का भी अपना एक प्रकार का तर्क है, पर उसका कार्य परीक्षा या छानबीन करना, पुष्ट एवं प्रमाणित करना या भूल को ढूंढ़ निकालना और दूर करना नहीं है। उसका कार्य तो बस ज्ञान को ज्ञान से जोड़ना, सामंजस्यों को और व्यवस्था एवं सम्बन्धों को खोजना और उपयोग में लाना है तथा अतिमानसिक ज्ञान की क्रिया को व्यवस्थित करना है। यह कार्य वह किसी रूढ़ नियम या अनुमान-रचना के द्वारा नहीं करता बल्कि शृंखला और सम्बन्ध को सीधे, जीवन्त और प्रत्यक्ष रूप में देखकर तथा स्थापित करके करता है। अतिमानस में समस्त विचार अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेरणा या साक्षात्कार के ढंग

का होता है और ज्ञान की सारी कमी इन्हीं शक्तियों की और आगे की क्रिया से पूरी करनी होती है; भूल का निवारण एक सहजस्फूर्त एवं प्रकाशमय विवेक की क्रिया के द्वारा किया जाता है; वहां गति सदा ज्ञान से ज्ञान की ओर ही होती है। वह हमारी मानवीय परिभाषा में बौद्धिक नहीं है, बल्कि अतिबौद्धिक है,—जिस कार्य को मनोमय बुद्धि के द्वारा स्खलनशील एवं अपूर्ण रूप से करने की चेष्टा की जाती है उसे वह प्रभुत्वपूर्ण ढंग से करता है।

विज्ञानमय बुद्धि के ऊपर ज्ञान के जो स्तर हैं, जो उसे ऊपर उठाकर अतिक्रम कर जाते हैं, उनका सम्यक् वर्णन करना सम्भव नहीं। यहां उनके वर्णन का प्रयास करने की आवश्यकता भी नहीं है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि इन भूमिकाओं में ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया अपनी ज्योति में अपेक्षाकृत अधिक स्वयं-पूर्ण, गभीर और विशाल है, साथ ही वह अटल है और क्षणमात्र में सम्पन्न हो जाती है। इनमें सक्रिय ज्ञान का क्षेत्र अधिक विशाल है, इनकी पद्धति तादात्म्यलभ्य ज्ञान के अधिक निकट है, इनमें जो विचार उद्‌भूत होता है वह आत्मचैतन्य और सर्व-दृष्टि के ज्योतिर्मय तत्त्व से अधिक ठसाठस भरा होता है और निम्न कोटि के किसी अन्य आश्रय या सहायता से, अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप में, स्वतन्त्र होता है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये लक्षण अन्तर्ज्ञानात्मक मन की तीव्रतम क्रिया पर भी पूरी तरह से नहीं घटते, बल्कि वहां ये अपनी आरम्भिक झांकियों में ही दिखायी देते हैं। जबतक अतिमानसिक सत्ता केवल निर्माण की प्रक्रिया में होती है और उसके नीचे मानसिक क्रिया की धारा बह रही होती है या वह उसके साथ मिली या उससे घिरी रहती है तबतक ये लक्षण पूर्ण या विशुद्ध रूप से प्रकट हो भी नहीं सकते। जब मानसिक सत्ता का अतिक्रमण हो जाता है और वह निष्क्रिय-नीरवता में डूब जाती है तभी अतिमानसिक विज्ञान पूर्णतया अनावृत होकर अपनी प्रभुत्वपूर्ण और सर्वांगीण क्रिया कर सकता है।

अध्याय २४

अतिमानसिक इन्द्रिय

अतिमानसिक शक्ति की क्रिया में मानसिक चेतना के सब करणों की अपनी अनुरूप शक्तियां हैं और मन की सभी क्रियाओं के अनुरूप क्रियाएं भी हैं और वहां मानव के ये सब करण और क्रियाएं उन्नत एवं रूपान्तरित हो जाती हैं, परन्तु वहां इनकी प्रधानता एवं आवश्यक महत्ता का क्रम बिल्कुल उलट जाता है। जैसे एक अतिमानसिक चिन्तन-शक्ति तथा अतिमानसिक मूल-चेतना है वैसे ही एक अतिमानसिक इन्द्रिय भी है। इन्द्रिय, मूलतः, शरीर के किन्हीं विशेष अंगों की क्रिया नहीं है, बल्कि वह चेतना का अपने विषयों के साथ सम्पर्क, **संज्ञान**, है।

जब किसी व्यक्ति की चेतना पूर्णतया अपने अन्दर मुड़ी होती है तो वह केवल अपने-आपसे, अपनी सत्ता और चेतना से, अपनी सत्ता के आनन्द और सत्ता की एकाग्र शक्ति से ही सचेतन होता है, और इन चीजों के भी बाह्य रूपों से नहीं, बल्कि मूलतत्त्व से। जब वह इस आत्म-निमज्जन से बाहर निकलता है, तो वह अपनी सत्ता, चेतना, आनन्द और शक्ति के व्यापारों एवं रूपों से सचेतन हो जाता है अथवा वह इन्हें अपने आत्म-निमज्जन में से मुक्त या विकसित करता है। तब भी, विज्ञानमय भूमिका में, उसका प्राथमिक (अर्थात् रूपों और क्रियाओं के सम्बन्ध में) ज्ञान एक ऐसे ढंग का रहता है जो आत्मा की स्व-चेतनता के लिये, एकमेव तथा अनन्त के आत्मज्ञान के लिये स्वाभाविक होता है और उसकी विशेषताओं से पूर्णतया युक्त होता है। यह एक ऐसा ज्ञान होता है जो अपने सब विषयों, रूपों और कार्यों को जानता है, अपनी अनन्त आत्मा में उनसे सचेतन होकर यह उन्हें व्यापक रूप से जानता है, उनके अन्दर उनकी आत्मा के रूप में सचेतन होकर यह उन्हें घनिष्ठ रूप से जानता है, उन्हें अपनी सत्ता के साथ एकात्मा अनुभव करके वह उन्हें पूर्ण एवं समग्र रूप से जानता है। उसके अन्य सब प्रकार के ज्ञान इस तादात्म्य-लब्ध ज्ञान से उदित होते हैं, इसके अंग या इसकी क्रियाएं होते हैं, या कम-से-कम अपनी सत्यता और ज्योति के लिये उसपर निर्भर करते हैं, अपनी पृथक् कार्य-प्रणाली में भी उसीसे प्रभावित और पोषित होते हैं और उसे अपना प्रमाण एवं उद्गम मानकर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसीका आश्रय लेते हैं।

जो क्रिया इस तात्त्विक तादात्म्यलभ्य ज्ञान के सबसे निकट होती है वह एक विशाल सर्वग्राही चेतना ही होती है। यह चेतना अतिमानसिक शक्ति के लक्षणों से विशेषतया युक्त होती है। यह ज्ञान के अन्दर निहित समस्त सत्य एवं विचार को और ज्ञान के समस्त विषय को अपने अन्दर ग्रहण कर लेती है और उनके मूलतत्त्व

एवं समग्रता को तथा उनके खण्डों या पक्षों को एक साथ देखती है,—**विज्ञान**। इसकी क्रिया एक समग्र दर्शन एवं ग्रहण की क्रिया है; यह विज्ञानमय पुरुष में विषय का व्यापक ज्ञान तथा उसपर अधिकार है। यह चेतना के विषय को अपनी सत्ता के एक भाग के रूप में या अपने साथ एकीभूत पदार्थ के रूप में अपने अन्दर धारण करती है। यह एकत्व ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया में स्वयंस्फूर्त तथा प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत होता है। विज्ञान की एक अन्य क्रिया तादात्म्यलब्ध ज्ञान को अपेक्षाकृत पृष्ठभूमि में रख छोड़ती है और ज्ञात पदार्थ की विषयता (बाह्यता) पर अधिक बल देती है। उसकी विशिष्ट क्रिया, मन में अवतरित होती हुई, हमारे मानसिक ज्ञान के विशेष स्वरूप, **प्रज्ञान**, का स्रोत बन जाती है। मन के स्तर पर प्रज्ञा (प्रज्ञान) की क्रिया में शुरू-शुरू में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात के बीच पार्थक्य एवं भेद रहता है; पर अतिमानस में इसकी क्रिया अभी अनन्त तादात्म्य में या कम-से-कम वैश्व एकत्व में ही होती है। हां, इतना अवश्य है कि विज्ञानमय पुरुष चेतना के विषय को मूल एवं सनातन एकत्व की अधिक प्रत्यक्ष निकटता की स्थिति से कुछ दूर, किन्तु सदा अपने अन्दर ही रखने तथा उसे पुनः एक और ढंग से जानने में आनन्द लेता है जिससे कि वह उसके साथ परस्पर-क्रिया के नानाविध सम्बन्ध स्थापित कर सके जो कि चेतना की लीला की समस्वरता में इतने सारे गौण स्वर (तार) होते हैं। इस अतिमानसिक प्रज्ञा, **प्रज्ञान**, की क्रिया अतिमानस की एक गौण, तीसरे दर्जे की क्रिया बन जाती है जिसकी पूर्णता के लिये विचार और शब्द की आवश्यकता पड़ती है। उसकी प्रथम क्रिया का स्वरूप तादात्म्यलब्ध ज्ञान का या चेतना के अन्दर व्यापक रूप से धारण कर लेने का होता है और अतएव, वह अपने-आपमें पूर्ण होती है तथा उसे रूप ग्रहण करने के लिये इन साधनों की आवश्यकता नहीं होती। अतिमानसिक प्रज्ञा, **प्रज्ञान**, का स्वरूप है सत्य का दर्शन, सत्य का श्रवण और सत्य का स्मरण। यद्यपि वह एक प्रकार से स्वतः पर्याप्त हो सकती है तथापि वह विचार और शब्द के द्वारा, जो उसे अभिव्यक्तिमय रूप देते हैं, अपने-आपको अधिक समृद्धतया पूर्ण अनुभव करती है।

अन्त में, अतिमानसिक चेतना की चौथी क्रिया के द्वारा अतिमानसिक ज्ञान की नानाविध सम्भावनाएं अपनी पूर्णता प्राप्त करती हैं। यह क्रिया ज्ञात वस्तु की बाह्यता पर और भी अधिक बल देती है, उसे अनुभव करनेवाली चेतना के केन्द्र-स्थान से दूर रखती है और फिर एक एकत्वसाधक सम्पर्क के द्वारा उसे निकट ले आती है। यह सम्पर्क या तो अव्यवहित समीपता, स्पर्श एवं मिलन के द्वारा साधित होता है अथवा, कुछ कम निकटता के साथ, चेतना के सेतु को पार करके या उसकी सम्बन्ध जोड़नेवाली धारा के द्वारा स्थापित किया जाता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सत् के साथ, प्रत्यक्ष सत्ताओं, वस्तुओं, रूपों, शक्तियों एवं क्रियाओं के साथ सम्पर्क स्थापित करना, जड़तत्त्व के भेद-विभेदों में तथा स्थूल

करणों के द्वारा नहीं, वरन् अतिमानसिक सत्ता और शक्ति के उपादान में इनके साथ सम्पर्क स्थापित करना ही अतिमानसिक इन्द्रिय के व्यापार, **संज्ञान**, को गठित करता है।

मानव-मन को, जो अभी अपने अनुभव का विस्तार करके अतिमानसिक इन्द्रिय से परिचित नहीं बना है, इस (इन्द्रिय) का स्वरूप समझाना कुछ कठिन है, क्योंकि इन्द्रिय के व्यापार के विषय में हमारा विचार स्थूल मन के सीमाकारी अनुभव के द्वारा शासित है और हम यह समझते हैं कि इसमें मूल वस्तु वह प्रभाव है जो बाह्य पदार्थ के द्वारा आंख, कान, नाक, त्वचा वा रसना-रूपी स्थूल इन्द्रिय पर पड़ता है, और फिर यह है कि हमारी चेतना के वर्तमान प्रधान करण, मन, का काम केवल स्थूल प्रभाव एवं उसके स्नायविक रूपान्तर को ग्रहण करना और इस प्रकार पदार्थ के प्रति बौद्धिक रूप से सचेतन बनना है। इन्द्रिय (व्यापार) के अतिमानसिक रूपान्तर को समझने के लिये हमें पहले यह हृदयंगम करना होगा कि पदार्थ को जानने की स्थूल प्रक्रिया में भी मन ही एकमात्र वास्तविक इन्द्रिय है : स्थूल प्रभावों के प्रति उसकी अधीनता पार्थिव विकास की परिस्थितियों का परिणाम है, पर यह कोई मौलिक एवं अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। मन देखने की एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर सकता है जो स्थूल आंख से स्वतन्त्र हो, सुनने की भी एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर सकता है जो स्थूल कान से स्वतन्त्र हो और यही बात अन्य सब इन्द्रियों की क्रिया के बारे में भी समझनी चाहिये। वह ऐसे पदार्थों का भी अनुभव प्राप्त कर सकता है जिनका ज्ञान या संकेततक स्थूल इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं होता। हमें ऐसा लगता है कि ऐसे अनुभव की प्राप्ति में वह, उसपर पदार्थ के जो संस्कार पड़ते हैं उनके द्वारा, कार्य करता है। वह ऐसे सम्बन्धों, घटनाओं एवं रूपों तक की ओर और शक्तियों की क्रिया की ओर भी उद्घाटित हो सकता है जिनकी साक्षी स्थूल इन्द्रियां नहीं दे सकती थीं। तब, इन दुर्लभतर शक्तियों से सचेतन होकर, हम कहते हैं कि मन छठी इन्द्रिय है; पर सच पूछो तो यही एकमात्र वास्तविक इन्द्रिय है और शेष इन्द्रियां इसके बाह्य, सुविधाजनक साधनों एवं गौण उपकरणों से अधिक कुछ नहीं हैं, यद्यपि इसके उनपर निर्भर करने के कारण, वे इसे सीमित करनेवाली तथा इसकी अत्यन्त अपरिहार्य और एकमात्र सन्देशवाहिका बन बैठी हैं। अपि च, हमें यह भी अनुभव करना होगा—और इस विषय में हमारे जो सामान्य विचार हैं उनके लिये यह स्वीकार करना अधिक कठिन है—कि स्वयं मन भी इन्द्रिय (संज्ञान) का एक विशेष करणमात्र है, किन्तु इन्द्रिय का विशुद्ध स्वरूप, स्वयं इन्द्रिय, अर्थात् **संज्ञान** मन के पीछे और परे अवस्थित है और इसका (एक करण के रूप में) प्रयोग करता है। यह संज्ञान आत्मा की ही एक क्रिया है, उसके चैतन्य की असीम शक्ति की एक सीधी और मौलिक गति है। इन्द्रिय की विशुद्ध क्रिया एक आध्यात्मिक क्रिया है और स्वयं विशुद्ध इन्द्रिय भी आत्मा की ही एक शक्ति है।

आध्यात्मिक इन्द्रिय सभी वस्तुओं का, वे चाहे कोई भी क्यों न हों, चाहे जड़ वस्तुएं हों या वे जो हमारे लिये अजड़ हैं—सभीका तथा सब रूपों का और रूपातीत का ज्ञान अपने विशिष्ट ढंग से प्राप्त कर सकती है। यह ढंग अतिमानसिक विचार के, अथवा प्रज्ञा या आध्यात्मिक समग्रबोध, अर्थात् **विज्ञान**, किंवा तादात्म्यलभ्य ज्ञान के ढंग से भिन्न होता है। कारण, सभी वस्तुएं सत् के आध्यात्मिक उपादान से, चिच्छक्ति और आनन्द के आध्यात्मिक उपादान से बनी हुई हैं; और आध्यात्मिक इन्द्रिय, विशुद्ध संज्ञान, का अभिप्राय है चिन्मय सत्ता को अपने आत्मा के सर्वत्र विस्तृत उपादान के स्पर्श का, उसकी पदार्थता का भान होना और साथ ही इस उपादान के अन्दर उस सबका भी भान होना जो इस अनन्त या विराट् तत्त्व से बना है। हम आत्मा, 'पुरुष', भगवान् एवं अनन्त को केवल सचेतन तादात्म्य के द्वारा, सत्ता के, मूलतत्त्वों और पक्षों के, शक्ति, लीला और क्रिया के आध्यात्मिक समग्र-बोध के द्वारा, अपरोक्ष, आध्यात्मिक, अतिमानसिक एवं बोधिमूलक विचारमय ज्ञान के द्वारा, हृदय के अध्यात्म-प्रकाशित एवं विज्ञान-आलोकित वेदन, प्रेम और आनन्द के द्वारा ही नहीं जान सकते, वरन् अत्यन्त शाब्दिक अर्थ में उसका इन्द्रियानुभव-इन्द्रिय-ज्ञान या सम्वेदन—भी प्राप्त कर सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक ऐसी स्थिति का वर्णन आया है जिसमें व्यक्ति सब प्रकार से ब्रह्म को और केवल ब्रह्म को ही देखता और सुनता है, अनुभव और स्पर्श करता तथा मात्रा स्पर्शों के द्वारा जानता है, क्योंकि तब सभी पदार्थ चेतना के लिये ब्रह्म ही बन गये होते हैं और उनका उससे भिन्न, पृथक् या स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता। यह स्थिति कोई अलंकारमात्र नहीं है, बल्कि विशुद्ध इन्द्रिय की आधारभूत क्रिया का, शुद्ध संज्ञान के आध्यात्मिक विषय का यथायथ वर्णन है। यह मूल क्रिया हमारे अनुभव के लिये इन्द्रिय की एक रूपान्तरित, महिमान्वित और अनन्तानन्दपूर्ण क्रिया है, आत्मा का अपने अन्दर, चारों ओर तथा सर्वत्र प्रत्यक्षानुभव है, जिसका प्रयोजन उसकी विराट् सत्ता में विद्यमान सभी वस्तुओं का आलिंगन और स्पर्श करना तथा उनका ऐन्द्रिय सम्वेदन प्राप्त करना होता है। इस क्रिया में हम एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं आनन्दपूर्ण ढंग से 'अनन्त' का तथा उसके अन्दर जो कुछ भी है उस सबका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, समस्त सत्ता के साथ अपनी सत्ता के घनिष्ठ सम्पर्क के द्वारा हम उस सबका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो कुछ कि इस विश्व में है।

अतिमानसिक इन्द्रिय की क्रिया इन्द्रिय-विषयक इस वास्तविक सत्य पर आधारित है; वह इस शुद्ध, आध्यात्मिक, अनन्त, निरपेक्ष **संज्ञान** की एक व्यवस्थित क्रिया है। इन्द्रिय के द्वारा कार्य करता हुआ अतिमानस सभी चीजों को भगवान् के रूप में तथा भगवान् के अन्दर अनुभव करता है, सब पदार्थों को अनन्त के व्यक्त स्पर्श, रूप, शब्द, रस और गन्ध के रूप में, अनन्त के अनुभूत, दृष्ट एवं

साक्षात्कृत उपादान, बल, शक्ति, क्रिया एवं लीला के रूप में उसके अनुप्रवेश (व्यापकता), स्पन्दन, रूप, सामीप्य, दबाव, तथा वास्तविक आदान-प्रदान से युक्त पदार्थों के रूप में अनुभव करता है। उसके इन्द्रियानुभव के लिये कोई भी चीज अनन्त ब्रह्म से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व नहीं रखती, वरन् सब कुछ एक ही सत्ता एवं गति के रूप में अनुभूत होता है और प्रत्येक वस्तु यों प्रतीत होती है कि वह शेष सब से विभक्त नहीं हो सकती तथा अपने अन्दर सम्पूर्ण 'अनन्त' को, सम्पूर्ण भगवान् को धारण किये है। इस अतिमानसिक इन्द्रिय को केवल रूपों का ही नहीं, बल्कि शक्तियों का और पदार्थों में विद्यमान ऊर्जा एवं गुण का तथा उस दिव्य वस्तु एवं उपस्थिति का भी साक्षात् वेदन एवं अनुभव होता है जो उनके अन्दर और चारों ओर विद्यमान है और जिसके अन्दर वे (सब पदार्थ), अपने गुप्त सूक्ष्म स्वरूप और तत्त्वों में, अपने-आपको खोलते तथा विस्तारित करते हैं और इस प्रकार असीम के अन्दर विस्तृत होकर उसके साथ एक हो जाते हैं। अतिमानसिक इन्द्रिय के लिये ऐसा कुछ भी नहीं है जो वस्तुतः सान्त हो : वह प्रत्येक में सबको और सबमें प्रत्येक को अनुभव करती है और इस अनुभव पर ही अपना आधार रखती है। अतिमानस द्वारा की हुई अतिमानसिक इन्द्रिय-बोध की व्याख्या यद्यपि मानसिक व्याख्या से अधिक यथार्थ एवं पूर्ण होती है तथापि वह सीमा की दीवारें नहीं खड़ी करती। वह एक महासागर एवं आकाश-जैसी इन्द्रिय है जिसमें तत्तत्, प्रत्येक इन्द्रिय-बोध एवं संवेदन एक ऐसी तरंग या गति या फुहार या बिन्दु होता है जो बिन्दु होने पर भी सम्पूर्ण सागर का एक घनीभूत रूप होता है और जिसे सागर से पृथक् नहीं किया जा सकता। उसकी क्रिया सत्ता और चेतना को ज्योति, शक्ति और आनन्द के आकाशातीत आकाश में, उपनिषदों के आनन्द-आकाश में विस्तारित और स्पन्दित करने के परिणाम के रूप में उत्पन्न होती है। यह आनन्द-आकाश परमात्मा की विश्वमय अभिव्यक्ति का सांचा और आधार है,—यहां देह और मन में सीमित विस्तारों और स्पन्दनों में ही अनुभूत होता है,—और उसके वास्तविक अनुभव का माध्यम भी है। यह इन्द्रिय-चेतना (संज्ञान) अपनी निम्नतम शक्ति में भी एक ऐसी सत्योद्भासक ज्योति से प्रकाशमान होती है जो अपने अनुभव में आनेवाली वस्तु के रहस्य को अपने अन्दर धारण करती है और अतएव शेष सारे अतिमानसिक ज्ञान का,—अतिमानसिक विचार, आध्यात्मिक प्रज्ञा और समग्रबोध, सचेतन तादात्म्य का,—आरम्भ-बिन्दु एवं आधार बन सकती है। अपनी उच्चतम भूमिका में या अपनी क्रिया की अतिशय तीव्रता की अवस्था में यह (इन्द्रिय-चेतना) इन वस्तुओं की ओर खुलती है या इन्हें अपने अन्दर धारण किये रहती है और अपने अन्दर से तुरन्त मुक्त भी करती है। यह एक ऐसी ज्योतिर्मय शक्ति से सम्पन्न है जो अपने अन्दर आत्म-साक्षात्कार की शक्ति तथा एक अतिशय तीव्र या असीम फलसाधकता को धारण करती है, और अतएव यह

इन्द्रियानुभव आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक संकल्प और ज्ञान की सर्जनशील या चरितार्थताकारी क्रिया की प्रेरणा का आरम्भ-बिन्दु हो सकता है। यह एक ऐसे शक्तिशाली और ज्योतिर्मय आनन्द की मस्ती से भरी होती है जो इसे अर्थात् समस्त इन्द्रियानुभव एवं संवेदन को दिव्य एवं अनन्त आनन्द की कुंजी या उसका पात्र बना देता है।

अतिमानसिक इन्द्रिय-चेतना अपनी निज शक्ति से कार्य कर सकती है और अपने कार्य के लिये वह शरीर, स्थूल प्राण और बाह्य मन पर निर्भर नहीं करती तथा वह आन्तर मन और उसके अनुभवों के भी ऊपर स्थित है। वह सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकती है, चाहे वे किसी भी लोक या किसी भी स्तर की क्यों न हों अथवा वैश्व चेतना के किसी भी रूपायण के अन्तर्गत क्यों न हों। समाधि की तन्मयावस्था में भी वह स्थूल जगत् की वस्तुओं से सचेतन हो सकती है, वे जैसी हैं या स्थूल इन्द्रियों को जैसी प्रतीत होती हैं उस रूप में उन्हें ठीक वैसे ही जान सकती है जैसे कि वह अनुभव की अन्य अवस्थाओं को, अर्थात् पदार्थों के शुद्ध-प्राणिक, मानसिक, चैत्य एवं अतिमानसिक रूप को जानती है। भौतिक चेतना की जाग्रत् अवस्था में वह हमारे सामने ऐसी चीजों को भी प्रस्तुत कर सकती है जो हमारी सीमित ग्रहणशीलता से छुपी हुई हैं या स्थूल इन्द्रियों के क्षेत्र से परे हैं, उदाहरणार्थ, सुदूरस्थित आकारों, दृश्यों एवं घटनाओं को, उन पदार्थों को जो भौतिक सत्ता में से विलुप्त हो चुके हैं; अथवा उन्हें जो अभी भौतिक अस्तित्व में आये ही नहीं हैं, जैसे, प्राणिक, चैत्य, मानसिक, अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक लोकों के दृश्यों, आकारों, घटनाओं तथा प्रतीकों को—इन सबको वह इनके वास्तविक या अर्थपूर्ण सत्य में तथा इनके बाह्य रूप में प्रस्तुत कर सकती है। वह इन्द्रिय-चेतना की अन्य सब अवस्थाओं को तथा उनकी उपयुक्त इन्द्रियों एवं करणों को भी प्रयुक्त कर सकती है और इस प्रकार उनमें उस चीज की वृद्धि कर सकती है जो उनमें नहीं है, उनकी भूलों को सुधारकर उनकी कमियों को पूरा कर सकती है : क्योंकि वह इन्द्रिय-चेतना की अन्य अवस्थाओं का उद्गम है और वे तो इस उच्चतर इन्द्रिय-चेतना से, इस सच्चे और असीम **संज्ञान** से उद्भूत निम्न क्रियाएं मात्र हैं।

२

यदि चेतना का स्तर मन से अतिमानस तक उठ जाये और उसके परिणामस्वरूप हमारी सत्ता मनोमय पुरुष की अवस्था से विज्ञानमय पुरुष की अवस्था में रूपान्तरित हो जाये तो इसके साथ ही, इस अवस्था के पूर्ण होने के लिये, प्रकृति के सभी भागों और उसकी समस्त क्रियाओं का रूपान्तर हो ही जायेगा। हमारा सारा मन

अतिमानसिक क्रियाओं की एक निष्क्रिय प्रणालिका, प्राण और शरीर के अन्दर उनके अधःप्रवाह की और साथ ही उनके बहिःप्रवाह की या बाह्य जगत् अर्थात् जड़ सत्ता के साथ उनके आदान-प्रदान की प्रणालिका बन जाता है—यह तो प्रक्रिया की केवल पहली अवस्था है। इसके साथ ही वह स्वयं तथा उसके सब उपकरण भी विज्ञानमय बन जाते हैं। तदनुसार स्थूल इन्द्रियानुभव में भी एक परिवर्तन, एक गहन रूपान्तर हो जाता है, स्थूल अवलोकन, श्रवण और स्पर्श आदि का भी अतिमानसीकरण हो जाता है जो जीवन और उसके प्रयोजन के ही नहीं वरन् जड़ जगत् और उसके सभी रूपों तथा पक्षों के भी एक सर्वथा भिन्न दृश्य की सृष्टि करता है या उसे हमारे समक्ष प्रकट करता है। अतिमानस भौतिक करणों का प्रयोग करता तथा उनकी कार्यप्रणाली को सम्पुष्ट करता है, पर वह उनके पीछे उन आभ्यन्तर एवं गहनतर इन्द्रियों को विकसित करता है जो स्थूल इन्द्रियों से छिपे हुए पदार्थों को भी देखती हैं तथा आगे चलकर वह इस प्रकार सृष्ट हुए नये चक्षु, श्रोत्र आदि को भी अपने सांचे में एवं इन्द्रियानुभव करने की अपनी प्रणाली में ढालकर रूपान्तरित कर देता है। यह एक ऐसा रूपान्तर होता है जो पदार्थ के भौतिक सत्य में से कुछ भी कम नहीं करता, वरन् अपना अतिभौतिक सत्य उसमें जोड़ देता है और अनुभव के भौतिक ढंग में जो मिथ्यात्व का अंश है उसे वह उसकी भौतिक सीमा को दूर करके निकाल डालता है।

भौतिक इन्द्रियों के अतिमानसीकरण का जो परिणाम हमारे सामने आता है वह इस (इन्द्रियानुभव-रूपी) क्षेत्र में उस परिणाम के सदृश ही होता है जो कि चिन्तन एवं मानसिक चेतना के रूपान्तर के क्षेत्र में हमारे अनुभव में आता है। उदाहरणार्थ, ज्योंही हमारी दृष्टि अतिमानसिक अवलोकन के प्रभाव में आकर परिवर्तित होती है त्योंही हमारे चक्षु को पदार्थों का तथा हमारे चारों ओर के जगत् का एक नया एवं रूपान्तरित साक्षात्कार प्राप्त होने लगता है। उसकी दृष्टि को एक असाधारण समग्रता तथा आशु एवं सर्वग्राही यथार्थता प्राप्त हो जाती हैं। इस समग्रता एवं यथार्थता में वस्तु का समग्र रूप तथा उसका प्रत्येक व्योरा तुरन्त ही उस पूर्ण सामञ्जस्य के साथ तथा उस गूढ़ आशय की स्पष्टता के साथ प्रकट हो उठते हैं जो प्रकृति को उस वस्तु के अन्दर अभिप्रेत होते हैं तथा जिन्हें वह, अन्नमय सत्ता पर विजय पाकर वस्तु के रूप के अन्दर अपने एक विचार को मूर्तिमन्त करती हुई, प्रकट करना चाहती है। यह तो ऐसा होता है मानों हमारी धुंधली या क्षुद्र एवं अन्ध साधारण दृष्टि का स्थान किसी कवि और कलाकार की आंख ने ले लिया हो, पर वह स्वयं भी अद्भुत रूप से आध्यात्मिक एवं महिमान्वित हो गयी हों,—मानों कि जिस दृष्टि में हम भाग ले रहे हैं वह, वास्तव में, परम दिव्य कवि एवं कलाकार की ही दृष्टि हो और विश्व की तथा विश्वगत प्रत्येक वस्तु की योजना में उसका जो सत्य एवं आशय अन्तर्निहित हैं उनका पूर्ण

साक्षात्कार हमें प्रदान कर दिया गया हो। इस अतिमानसिक दृष्टि में एक असीम प्रकर्ष एवं प्रखरता होती है जो, हम जो कुछ भी देखते हैं उस सबको गुण, विचार, रूप और रंग की गरिमा की एक अभिव्यक्ति बना देती है। तब भौतिक आंख अपने अन्दर एक ऐसी आत्मा एवं चेतना को धारण करती प्रतीत होती है जो पदार्थ के केवल भौतिक पहलू को ही नहीं देखती बल्कि उसके अन्तर्निहित गुण की आत्मा को, शक्ति के स्पन्दन को तथा उन ज्योति, शक्ति और आध्यात्मिक उपादान को भी देखती है जिनसे कि वह पदार्थ बना हुआ है। इस प्रकार, ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष के भीतर और पीछे जो समग्र इन्द्रिय-चेतना विद्यमान है उसे, भौतिक इन्द्रिय के द्वारा, दृष्ट वस्तु की आत्मा का तथा उस विश्वात्मा का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है जो अपनी ही चेतन सत्ता के इस बहिर्गत रूप में अपने-आपको प्रकट कर रहा है।

इसके साथ ही एक सूक्ष्म परिवर्तन भी घटित होता है जो आंख को एक प्रकार के चौथे दिङ्मान में देखने की सामर्थ्य देता है। इस दिङ्मान का विशेष लक्षण है एक प्रकार की अन्तर्मुखता, उपरितल एवं बाह्य रूप को ही नहीं बल्कि उस तत्त्व को भी देखना जो इसे अनुप्राणित करता है तथा इसके चारों ओर सूक्ष्म रूप से फैला रहता है। जड़ पदार्थ इस दृष्टि के लिये उससे भिन्न कोई चीज बन जाता है जिसे हम इस समय देखते हैं, वह शेष प्रकृति की पृष्ठभूमि पर या उसके घेरे के अन्दर एक पृथक् पदार्थ नहीं रहता, वरन् हम जो कुछ भी देखते हैं उस सबकी एकता का एक अविभाज्य अंग तथा एक सूक्ष्म रूप में उसकी एक अभिव्यक्ति तक बन जाता है। और यह एकता, जिसका हमें साक्षात्कार होता है, केवल सूक्ष्मतर चेतना को ही नहीं बल्कि स्वयं कोरे चर्मचक्षु को एवं आलोकित स्थूल दृष्टि को भी 'सनातन' की अभेदमयता, ब्रह्म की अद्वैतात्मकता के रूप में प्रत्यक्ष होने लगती है। कारण, अतिमानसीकृत दृष्टि के लिये जड़ जगत्, 'देश' और जड़ पदार्थ उस अर्थ में जड़ नहीं रहते जिस अर्थ में हम उन्हें आज अपनी सीमित स्थूल इन्द्रियों की और उनके द्वारा देखनेवाली भौतिक चेतना की एकमात्र साक्षी के बलपर अपने स्थूल प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण करते हैं तथा जड़तत्त्व-विषयक अपनी परिकल्पना के द्वारा समझते हैं। यह जड़ जगत् एवं 'देश' और ये पदार्थ साक्षात् आत्मा ही प्रतीत होते एवं दिखाई देते हैं—ऐसा आत्मा जो अपने ही एक रूप में तथा अपने चेतन विस्तार में यहां विद्यमान है। सब कुछ ही एक अखण्ड एकत्व है—ऐसा एकत्व जो पदार्थों और व्योरों की किसी भी बहुलता से प्रभावित नहीं होता। इस एकत्व को चेतना अपने अन्दर आत्मिक आकाश में धारण करती है और वहां समस्त उपादान चेतन उपादान है। देखने के ढंग का यह रूपान्तर एवं उसकी यह समग्रता हमें अपने वर्तमान स्थूल चक्षु की सीमाओं को पार करने से ही प्राप्त होती हैं, क्योंकि सूक्ष्म या चैत्य आंख की शक्ति हमारी स्थूल आंख में संचारित हो जाती है और फिर दृष्टि की इस चैत्य-भौतिक शक्ति में आध्यात्मिक दृष्टि, शुद्ध इन्द्रिय-शक्ति, अतिमानसिक संज्ञान सञ्चारित हो जाता है।

अन्य सब इन्द्रियों का भी इसी प्रकार का रूपान्तर हो जाता है। कान जो कुछ भी सुनता है वह सब अपनी नाद-रूपी देह की तथा नाद के गर्भित अर्थ की समग्रता को और अपने कंपन के सभी सुरों को प्रकाशित कर देता है। साथ ही वह एक ही अखण्ड एवं पूर्ण श्रवण के प्रति नाद के गुण, उसकी लयात्मक शक्ति और आत्मा को तथा उसके द्वारा होनेवाली एकमेव विराट् आत्मा की अभिव्यक्ति को भी प्रकाशित कर देता है। यहां भी वैसी ही आन्तरिकता पायी जाती है, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय ध्वनि की गहराइयों में जाती है और वहां उस चीज को ढूंढ़ निकालती है जो ध्वनि को अनुप्राणित करती है तथा उसे विस्तृत करके समस्त ध्वनि एवं समस्त नीरवता की स्वर-सुषमा के साथ एकत्व में प्रतिष्ठित कर देती है, फलतः श्रोत्र सदा ही अनन्त की श्रवण-गोचर अभिव्यक्ति का एवं उसकी नीरवता की वाणी का श्रवण करता रहता है। विज्ञानमय रूपान्तर को प्राप्त श्रोत्र के लिये सब ध्वनियां भगवान् की वाणी बन जाती हैं जो उस ध्वनि के भीतर स्वयं प्रादुर्भूत होता है, और साथ ही वे उसे वैश्व स्वर-संगति की एकतानता में लयताल के रूप में अनुभूत होती हैं। और यहां भी वैसी ही पूर्णता, सजीवता, तीव्रता, श्रुत शब्द की आत्मा की अभिव्यक्ति तथा श्रवण-क्रिया में आत्मा की आध्यात्मिक तृप्ति अनुभव में आती हैं। विज्ञानभावापन्न स्पर्शेन्द्रिय भी सब वस्तुओं में भगवान् का सम्पर्क प्राप्त करती है अथवा सबमें उन्हींको स्पर्श करती है और स्पर्श में विद्यमान अपनी सचेतन सत्ता के द्वारा सब वस्तुओं को भगवान् के रूप में ही अनुभव करती है : और यहां भी वैसी ही समग्रता एवं तीव्रता पायी जाती है तथा स्पर्श के अन्दर और पीछे जो कुछ भी विद्यमान है वह सब अनुभव-कारिणी चेतना के समक्ष प्रकाशित हो उठता है। अन्य इन्द्रियों का भी इसी प्रकार का रूपान्तर हो जाता है।

इसके साथ ही सभी इन्द्रियों में नयी शक्तियां खुल जाती हैं, उनका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है तथा भौतिक चेतना एक अतर्कित क्षमता की सीमा तक विस्तृत हो जाती है। अतिमानसिक रूपान्तर भौतिक चेतना को शरीर की सीमाओं से बहुत ही परेतक विस्तृत कर देता है और उसे दूरस्थ वस्तुओं का स्थूल स्पर्श पूर्ण मूर्तता के साथ प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। स्थूल इन्द्रियां चैत्य तथा अन्य इन्द्रियों के लिये प्रणालिकाओं का कार्य करने में समर्थ बन जाती हैं। फलतः, जो चीजें साधारणतः केवल असामान्य अवस्थाओं में तथा चैत्य अवलोकन, श्रवण या अन्य-विध इन्द्रिय-ज्ञान के प्रति ही प्रकाशित होती हैं उन्हें भी हम जाग्रत् अवस्था में स्थूल चक्षु से देख सकते हैं। ऐसे समयों में वस्तुतः अध्यात्मसत्ता या अन्तरात्मा ही देखती और ऐन्द्रियबोध प्राप्त करती है, पर स्वयं शरीर और उसकी शक्तियां भी अध्यात्ममय बन जाती हैं और अनुभव में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती हैं। इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले समस्त भौतिक सम्वेदन का विज्ञानमय रूपान्तर हो जाता है और इन्द्रियां शक्तियों एवं गतियों को तथा पदार्थों और प्राणियों के भौतिक, प्राणिक,

भाविक एवं मानसिक स्पन्दनों को सीधे ही अनुभव करने लगती हैं, इस अनुभव में स्थूल रूप से भाग लेती हैं और अन्त में तो वे इन चीजों को सूक्ष्मतर करणों के साथ एकाकार होकर अनुभव करती हैं। इन सबको वे अपनी अन्तःसत्ता में आत्मिक या मानसिक रूप से ही नहीं वरन् शारीरिक रूप से तथा इन अनेकानेक शरीरों में विद्यमान एक ही आत्मा की गतियों के रूप में भी अनुभव करती हैं। शरीर और उसकी इन्द्रियों की सीमाओं ने हमारे चारों ओर जो दीवार खड़ी कर रखी है वह स्वयं शरीर और इन्द्रियों के रहते भी ढह जाती है और उसके स्थान पर सनातन एकत्व का मुक्त आदान-प्रदान होने लगता है। समस्त इन्द्रियां और उनके सम्वेदन दिव्य ज्योति से, अनुभव की दिव्य शक्ति एवं तीव्रता से, दिव्य हर्ष एवं ब्रह्मानन्द से ओतप्रोत हो जाते हैं। जो कुछ आज हमारे लिये बेसुरा है और इन्द्रियों को कर्कश प्रतीत होता है वह भी तब वैश्व गति की वैश्व समस्वरता में अपना स्थान पा लेता है, अपना **रस**, आशय एवं उद्देश्य प्रकट कर देता है और इस प्रकार, भागवत चेतना में निहित 'अपने अस्तित्व के मूल हेतु' में आनन्द लेते हुए, अपने विधान एवं धर्म की अभिव्यक्ति के द्वारा, समग्र सत्ता के साथ अपने सामंजस्य तथा भागवत सत्ता की अभिव्यक्ति में अपने स्थान के द्वारा हमारे अन्तरनुभव के प्रति सुन्दर और सुखद बन जाता है। समस्त सम्वेदन आनन्द का रूप धारण कर लेता है।

हमारा देह-स्थित मन साधारणतया स्थूल इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता है और उनके द्वारा भी वह उनके विषयों को तथा उन आभ्यन्तरिक अनुभवों को ही जान पाता है जो स्थूल अनुभवों से उद्‌भूत होते दीखते हैं तथा जो, सुदूर परम्परा से ही क्यों न हो, उन्हींको अपना आधार तथा अपनी रचना का सांचा मानते प्रतीत होते हैं। शेष सब कुछ, वह सब कुछ जो इन्द्रिय-गोचर स्वीकृत-तथ्यों से संगत नहीं है अथवा उनका अंग या उनके द्वारा संपुष्ट नहीं है वह उसे सत्य से कहीं अधिक एक कल्पना प्रतीत होता है और केवल असामान्य अवस्थाओं में ही वह (हमारा मन) अन्य प्रकार के चेतन अनुभवों की ओर खुलता है। पर वास्तव में स्थूल भूमिका के पीछे अनुभव की अनेक विशाल भूमिकाएं हैं और यदि हम अपनी अन्तःसत्ता के द्वार खोल दें तो हम इन्हें जान सकते हैं। ये भूमिकाएं वहां पहले से ही कार्य कर रही हैं और हमारे अन्दर प्रच्छन्न पुरुष इन्हें जानता भी है, और हमारी स्थूल चेतना का भी बहुत-सा भाग सीधे इन्हींसे उद्‌भूत होता है तथा हमारे बिना जाने वह पदार्थ-विषयक हमारे अन्तरीय अनुभव को प्रभावित करता है। स्थूल चेतना के पीछे स्वतन्त्र प्राणिक अनुभवों की भी एक भूमिका है जो प्राणभावापन्न भौतिक चेतना की स्थूल क्रिया के स्तर के नीचे प्रच्छन्न रूप में विद्यमान है तथा उससे भिन्न है। और जब यह भूमिका अपने-आपको खोल देती है या किसी प्रकार से कार्य करने लगती है तब जाग्रत् मन के सामने एक प्राणिक चेतना, एक प्राणिक अन्तर्ज्ञान एवं प्राणिक इन्द्रिय-शक्ति के दृग्विषय प्रकट हो उठते

हैं। यह प्राणिक चेतना, अन्तर्ज्ञान किंवा इन्द्रिय-शक्ति शरीर और उसके करणों पर निर्भर नहीं करती, यद्यपि यह एक गौण माध्यम या एक वृत्त-संग्राहक के रूप में उनका प्रयोग कर सकती है। इस स्तर को पूर्ण रूप से भी खोला जा सकता है और जब हम ऐसा करते हैं तो हमें पता चलता है कि इसकी क्रिया हमारे अन्दर की व्यक्तिभावापन्न सचेतन प्राण-शक्ति की ही एक क्रिया है जिसे वह तब करती है जब वह विराट् प्राणशक्ति के सम्पर्क में आ जाती है तथा वस्तुओं, घटनाओं और व्यक्तियों में होनेवाली उसकी क्रियाओं का भी स्पर्श प्राप्त करती है। हमारे मन को उन सब वस्तुओं में व्याप रही प्राणमय चेतना का भान हो जाता है और वह उसे हमारी प्राण-चेतना के द्वारा तुरन्त एवं सीधे ही प्रत्युत्तर देता है। अपनी इस क्रिया में वह शरीर और उसकी इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले साधारण आदान-प्रदान से सीमित नहीं होता। वह इस सर्वव्यापी प्राणमय चेतना से प्राप्त होनेवाली अन्तःस्फुरणाओं को अंकित करता है, सत्तामात्र को वैश्व प्राण की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति के रूप में अनुभव करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जिस क्षेत्र को प्राणमय चेतना एवं प्राणमय इन्द्रिय मुख्य रूप से जानती है वह रूपों का नहीं वरन् सीधे ही शक्तियों का क्षेत्र है : उसका जगत् शक्तियों की क्रीड़ा का जगत् है, और उसे रूप एवं घटनाएं तो शक्तियों के परिणाम एवं मूर्त आकार के रूप में केवल गौण रूप से ही अनुभूत होती हैं। स्थूल इन्द्रियों के द्वारा कार्य करनेवाला मानव मन एक बुद्धिगत विचार के रूप में ही इस भूमिका की कल्पना कर सकता है एवं इसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पर वह शक्तियों की भौतिक प्रतिमूर्ति के परे नहीं जा सकता, और अतएव उसे प्राण के यथार्थ स्वरूप का वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं होता, प्राण-शक्ति एवं वास्तविक प्राण-सत्ता की यथार्थ उपलब्धि नहीं होती। हमारे अन्दर अवस्थित अनुभव के इस अन्य स्तर या गहराई को खोलने से और प्राणमय चेतना एवं प्राणेन्द्रियों में प्रवेश पाने से ही मन यथार्थ एवं प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकता है। तथापि, जबतक यह अनुभव हमें मानसिक स्तर पर ही होता है तबतक यह प्राणिक परिभाषाओं तथा उनके मानसिक रूपान्तरों से सीमित रहता है और इस विस्तारित इन्द्रियानुभव एवं ज्ञान में भी धूमिलता रहती है। अतिमानसिक रूपान्तर प्राण को अतिप्राणिक रूप में परिणत कर देता है, उसे आत्मा की गतिशक्ति के रूप में प्रकट कर देता है, प्राण-शक्ति एवं प्राण-सत्ता के पीछे और भीतर निहित समस्त आध्यात्मिक सद्वस्तु को और उसके समस्त आध्यात्मिक, मानसिक एवं शुद्ध-प्राणिक सत्य और मर्म को पूर्ण रूप से अनावृत तथा यथार्थ रूप से प्रकाशित कर देता है।

भौतिक सत्ता में अवतरित होते समय अतिमानस हमारे अन्दर की उस (प्राणिक) चेतना को, जो हममें से बहुतों के अन्दर छुपी हुई है या तम से ढकी पड़ी है और जो प्राण-कोष का धारण एवं गठन करती है, जागृत कर देता है यदि

वह पहले ही हमारी पिछली योग-साधना के द्वारा जाग न चुकी हो। जब यह जाग जाती है, तबसे हम केवल स्थूल शरीर में ही नहीं अपितु एक प्राणमय शरीर में भी निवास करते हैं जो स्थूल शरीर के भीतर ओतप्रोत है और उसे सब ओर से घेरे भी हुए है तथा एक अन्य प्रकार के आघातों के प्रति सम्वेदनशील है और उन प्राणिक शक्तियों की क्रीड़ा को भी तुरन्त सूक्ष्मता के साथ अनुभव कर सकता है जो हमारे चारों ओर विद्यमान है तथा जो विश्व से या विशेष व्यक्तियों से अथवा समष्टि जीवनों से या पदार्थों से किंवा इस जड़ जगत् के पीछे विद्यमान प्राणिक स्तरों एवं लोकों से हमपर आक्रमण करके हमारे अन्दर घुस आती हैं। इन आघातों को हम इनके परिणामों तथा कुछ-एक स्पर्शों एवं छद्मवेशों के रूप में आज भी अनुभव करते हैं, पर यह तो हम बिल्कुल ही नहीं जानते या बहुत ही कम जानते हैं कि इनका मूल स्रोत क्या है और ये आते कैसे हैं। प्राण-शरीर में रहनेवाली चेतना जब जाग जाती है तो वह इन्हें तुरन्त ही अनुभव कर लेती है, वह भौतिक शक्ति से भिन्न एक अन्य, व्यापक प्राण-शक्ति को जान जाती है, और प्राण-बल बढ़ाने एवं भौतिक शक्तियों को धारण करने के लिये उसमें से शक्ति आहरण कर सकती है, प्राण के इस अन्तःप्रवाह के द्वारा या प्राणधाराओं को अभीष्ट लक्ष्य पर प्रेरित करके स्वास्थ्य और रोग की अवस्थाओं तथा कारणों के साथ सीधे ही बर्ताव कर सकती है, दूसरों के प्राणिक और प्राणावेगमय वातावरण को अनुभव कर सकती है, तथा उसके साथ स्वेच्छापूर्वक आदान-प्रदान कर सकती है, इसके अतिरिक्त वह और भी कितने ही दृग्विषयों को अनुभव कर सकती है जो हमारी बाह्य चेतना के अनुभव में नहीं आते या उसके प्रति अस्पष्ट ही रहते हैं पर जो इस प्राणिक चेतना में सचेतन एवं सम्वेद्य बन जाते हैं। यह हमारे तथा दूसरों के अन्दर विद्यमान प्राणमय पुरुष एवं प्राण-शरीर को तीव्र रूप से अनुभव करती है। अतिमानस इस प्राणिक चेतना एवं प्राणेन्द्रिय को अपने हाथ में लेकर इसे इसके यथार्थ आधार के ऊपर स्थापित करता है और इसे रूपान्तरित कर देता है यह प्रकट करके कि यहां जो प्राण-शक्ति है वह आत्मा की ही निज शक्ति है जिसे इसलिये सक्रिय किया गया है कि आत्मा सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थ पर तथा उसके द्वारा घनिष्ठ एवं सीधी क्रिया कर सके और जड़ जगत् में रूपों का गठन तथा अपना कार्य-व्यापार भी कर सके।

इसका पहला परिणाम यह होता है कि हमारी वैयक्तिक प्राण-सत्ता की सीमाएं टूट जाती हैं और आगे से हम व्यक्तिगत प्राणशक्ति के द्वारा नहीं जीते,—यह भी नहीं कि अब भी साधारणतया उसके द्वारा जीते हों,—बल्कि विराट् प्राण-शक्ति के अन्दर और उसके द्वारा ही जीते हैं। सारा वैश्वप्राण ही सचेतन रूप से हमारे अन्दर और हमारे द्वारा प्रवाहित होता हुआ आता है, वहां वह एक क्रियाशील अविच्छिन्न आवर्त को, अपनी शक्ति के एक अविभक्त केन्द्र को, संग्रह एवं आदान-प्रदान के प्रस्पन्दनशील स्टेशन को बनाये रखता है, उसे अपनी शक्तियों से निरन्तर परिपूरित

करता रहता है और उन्हें हमारे चारों ओरके जगत् पर क्रिया-व्यापार के रूप में उण्डेलता रहता है। और फिर इस प्राण-शक्ति को हम प्राण के एक महासागर और उसकी धाराओं के रूप में ही अनुभव नहीं करते, बल्कि एक चिन्मय वैश्व शक्ति के प्राणमय रूप-स्वरूप, प्राणमय देह और प्रवाह के रूप में भी अनुभव करते हैं। वह सचेतन शक्ति अपने-आपको भगवान् की चित्शक्ति, परात्पर और विराट् आत्मा तथा पुरुष की शक्ति के रूप में प्रकट करती है,—हमारा विश्वभावापन्न व्यक्तित्व इन्हींका—या यूं कहें कि परात्पर और विराट् 'पुरुषों' का—यन्त्र एवं प्रणालिका बन जाता है। इसके फलस्वरूप हम अपने-आपको अन्य सबके प्राण के साथ, समस्त विश्वप्रकृति के और जगत् की सब वस्तुओं के प्राण के साथ एकमय अनुभव करते हैं। हमारे अन्दर कार्य कर रही प्राण-शक्ति दूसरों में कार्य कर रही उसी शक्ति के साथ मुक्त और सचेतन रूप से आदान-प्रदान करती है। हमें उनके प्राण का भी उसी तरह भान होता है जिस तरह अपने अथवा, कम-से-कम, हमें इतना भान अवश्य होता है कि हमारी प्राणमय सत्ता उन्हें स्पर्श करती है, उनपर दबाव डालती है तथा अपनी क्रियाएं उनतक सम्प्रेषित करती है और उनकी प्राण-सत्ता भी हमारे साथ यह सब व्यवहार करती है। हमारी प्राणेन्द्रिय शक्तिशाली और तीक्ष्ण बन जाती है, इस प्राण-जगत् के—इसके सभी स्तरों, भौतिक और अतिभौतिक, प्राणिक और अतिप्राणिक के—समस्त, छोटे या बड़े, सूक्ष्म या स्थूल स्पन्दनों को सहने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है, इसके समस्त क्रिया-व्यापार एवं आनन्द से पुलकित होती है और सभी शक्तियों को अनुभव करती तथा उनकी ओर खुली होती है। अतिमानस अनुभव के इस महान् क्षेत्र को अपने अधिकार में लेकर सारे के सारे को प्रकाशमान और समस्वर बना देता है, तब इस क्षेत्र का अनुभव हमें अस्पष्ट और खण्डित रूप में नहीं होता, न वह मानसिक अज्ञान के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण सीमाओं और भूलों में ग्रस्त ही होता है, वरन् वह और उसकी प्रत्येक गति अपने सत्य स्वरूप में तथा अपने समग्र बल एवं आनन्द के साथ साक्षात् प्रकाशित हो उठती है। इसके साथ ही, अतिमानस क्रियाशक्तिमय प्राण की—उसके सभी स्तरों की—महान् शक्तियों एवं सामर्थ्यों को,—जो शायद तब असीम हो जाती हैं,—हमारे जीवन में कार्य कर रही भगवान् की सरल, किन्तु फिर भी जटिल, विशुद्ध और सहजस्फूर्त किन्तु फिर भी अस्खलित एवं गहन इच्छा के अनुसार सञ्चालित करता है। वह प्राणेन्द्रिय को हमारे चारों ओर की प्राणशक्तियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक वैसा ही पूर्ण साधन बना देता है, जैसा कि स्थूल इन्द्रियां स्थूल विश्व के रूपों और मात्रा-स्पर्शों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हैं, साथ ही वह उसे आत्म-अभिव्यक्ति के यन्त्र के रूप में कार्य करनेवाली हमारी सक्रिय प्राण-शक्ति की प्रतिक्रियाओं का वहन करने के लिये एक पूर्ण प्रणालिका भी बना देता है।

३

इस प्राणमय चेतना एवं इन्द्रिय के दृग्विषयों को, भौतिक शक्तियों की अपेक्षा सूक्ष्म शक्तियों की क्रिया के इस प्रत्यक्ष सम्वेदन एवं अनुभव को और फिर उस क्रिया के प्रति की गयी प्रतिक्रिया को प्रायः बिना किसी भेद के 'चैत्य दृग्विषयों' की श्रेणी के अन्तर्गत कर दिया जाता है। एक विशेष अर्थ में, हमारे चैत्य अर्थात् अन्तरात्मा का जागरण ही,—ऐसी अन्तरात्मा का जो इस समय छुपी हुई है तथा भौतिक मन और इन्द्रियों की स्थूल क्रिया के द्वारा पूर्णतया अवरुद्ध या अंशतः आच्छादित है,—निमज्जित या प्रच्छन्न आन्तरिक प्राणमय चेतना को उपरितल पर ले आता है। इसके साथ ही वह एक आन्तरिक या प्रच्छन्न मानसिक चेतना और इन्द्रिय को भी प्रकट कर देता है जो केवल प्राण-शक्तियों के उनकी क्रीड़ा, परिणामों और दृग्विषयों को ही नहीं, वरन् मानसिक और चैत्य लोकों तथा उनके अन्दर विद्यमान सभी पदार्थों को और इस लोक के मानसिक व्यापारों, स्पन्दनों, दृग्विषयों, रूपों और प्रतिमाओं को भी प्रत्यक्ष रूप से देख सकती एवं अनुभव कर सकती हैं तथा स्थूल इन्द्रियों की सहायता के बिना और उनके द्वारा हमारी चेतना पर थोपी हुई सीमाओं में बंधे बिना एक मन एवं दूसरे मन के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं। परन्तु चेतना के इन आन्तरिक स्तरों की क्रिया दो भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। उनमें से पहली जागते हुए प्रच्छन्न मन एवं प्राण की एक अधिक बाह्य एवं अव्यवस्थित क्रिया होती है जो मन और प्राणमय सत्ता की स्थूलतर कामनाओं एवं भ्रान्तियों से अवरुद्ध तथा उनके अधीन होती है और अपनी अनुभूति, शक्ति एवं क्षमताओं के क्षेत्र के व्यापक होने पर भी संकल्प और ज्ञान की भूलों एवं विकृतियों के अपरिमित संघात से कलुषित होती है, मिथ्या सुझावों और प्रतिमाओं से, मिथ्या और विरूप सहजबोधों, स्फुरणाओं एवं आवेगों से पूर्ण होती है जो प्रायः दूषित एवं विपर्यस्ततक होते हैं, इसके अतिरिक्त यह स्थूल मन और उसकी धूमिलताओं के हस्तक्षेप से भी दूषित होती है। यह एक निम्न कोटि की क्रिया है। अतीन्द्रियदर्शी, चैत्यवादी, प्रेतात्मवादी, गुह्यदर्शी तथा शक्तियों एवं सिद्धियों की खोज करनेवाले इसमें सहज ही फंस सकते हैं। इस प्रकार की खोज के खतरों और भूलों के विरुद्ध जो चेतावनियां दी जाती हैं वे सभी विशेष रूप से इस क्रिया पर ही लागू होती हैं। आध्यात्मिक पूर्णता के अभिलाषी को चाहिये कि यदि वह संकट के इस क्षेत्र से पूरे तौर पर न बच सकता हो तो इसे जितना जल्दी हो सके पार कर जाये, और इस विषय में निरापद नियम यह है कि साधक इनमें से किसी भी चीज में आसक्त न हो, वरन् आध्यात्मिक उन्नति को अपना एकमात्र वास्तविक लक्ष्य बनाये और अन्य वस्तुओं में तबतक पक्का विश्वास न करे जबतक मन और प्राण-सत्ता शुद्ध न हो जायें और अनुभव के ये आन्तरिक क्षेत्र आत्मा और अतिमानस की या

कम-से-कम अध्यात्मप्रकाश-युक्त मन और अन्तरात्मा की ज्योति से आलोकित न हो उठें। कारण, जब मन शान्त और शुद्ध हो जाता है और शुद्ध चैत्य कामनामय पुरुष की इच्छाओं के आग्रह से मुक्त हो जाता है तब इन अनुभवों में किसी प्रकार का भी गंभीर संकट नहीं रहता,—हां, संकीर्णता का खतरा एवं भूल का कुछ अंश अवश्य रहता है जिसे तबतक पूर्ण रूप से दूर नहीं किया जा सकता जबतक आत्मा मन की भूमिका पर अनुभव और कार्य करती है। इनके सिवा अन्य संकटों से मुक्त हो जाने का कारण यह होता है कि तब सच्ची आन्तरात्मिक चेतना और उसकी शक्तियों की शुद्ध क्रिया होने लगती है तथा व्यक्ति एक ऐसे चैत्य अनुभव को ग्रहण करने लगता है जो व्याख्याकारी मन की सीमाओं में ग्रस्त रहने पर भी निकृष्ट विकृतियों से रहित, शुद्ध एवं वास्तविक होता है और उच्च आध्यात्मिकता एवं ज्योति प्राप्त कर सकता है। तथापि पूर्ण शक्ति एवं सत्य तो विज्ञान-भूमिका के उद्घाटन से तथा मानसिक और चैत्य अनुभव को विज्ञानमय बनाने से ही प्राप्त हो सकता है।

चैत्य पुरुष की चेतना और इसके अनुभवों का क्षेत्र लगभग असीम है और इसके दृग्विषयों की विविधता एवं जटिलता भी लगभग अनन्त है। यहां केवल उनकी कुछ-एक मोटी रूपरेखाओं और मुख्य लक्षणों का ही उल्लेख किया जा सकता है। उनमें से प्रथम और प्रधानतम है चैत्य इन्द्रियों की क्रिया। इन इन्द्रियों में से साधारणतया दर्शनेन्द्रिय सबसे अधिक विकसित होती है और जब स्थूल चेतना में निमग्नता-रूपी आवरण जो हमारी आन्तर दृष्टि को रोके रहता है, भंग हो जाता है तब सबसे पहले यह दर्शनेन्द्रिय ही कुछ विशाल रूप में प्रकट होती है। परन्तु चैत्य सत्ता में सभी स्थूल इन्द्रियों के अनुरूप सूक्ष्म इन्द्रियशक्तियां हैं, चैत्य श्रोत्र, स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा स्वादेन्द्रिय हैं: निःसंदेह स्वयं भौतिक इन्द्रियां, वास्तव में, आन्तरिक इन्द्रिय का ही एक सीमित एवं बहिर्मुख क्रिया के रूप में बहिःप्रक्षेप हैं जिसके द्वारा वह स्थूल जड़तत्त्व के दृग्विषयों के अन्दर, उनमें से और उनपर अपने-आपको प्रकट करती है। चैत्य दृष्टि निज स्वभाववश ही उन प्रतिमाओं को ग्रहण करती है जो मानसिक या चैत्य आकाश, **चित्ताकाश**, के सूक्ष्म उपादान में निर्मित होती हैं। ये भौतिक पदार्थों, व्यक्तियों, दृश्यों एवं घटनाओं की तथा इस स्थूल जगत् में जो कुछ भी है, था या होगा या हो सकता है उस सबकी चित्ताकाशगत प्रतिलिपि या छाप हो सकती हैं। ये प्रतिमाएं नाना रूपों में तथा सब प्रकार की अवस्थाओं में दिखायी देती हैं; कभी समाधि में तो कभी जाग्रत् अवस्था में, और जाग्रत् में भी कभी स्थूल नेत्रों के खुले होने पर तो कभी मुंदे रहने पर; कभी ये स्थूल पदार्थ अथवा माध्यम पर या उसके अन्दर प्रक्षिप्त-सी जान पड़ती हैं और कभी यों दिखायी देती हैं मानों इन्होंने भौतिक वायुमण्डल में स्थूल रूप धारण कर लिया हो; या फिर ये केवल **चित्ताकाश** में दिखायी देती हैं जो अपने-आपको

इस स्थूलतर भौतिक वायुमण्डल के माध्यम से प्रकट करता है; कभी-कभी ये स्वयं स्थूल आंखों को एक गौण उपकरण बनाकर उनके द्वारा और मानों स्थूल प्रत्यक्ष की अवस्थाओं में भी दृष्टिगोचर होती हैं और कभी ये केवल चैत्य दृष्टि के द्वारा ही दिखायी देती हैं और तब ये, 'देश' के साथ हमारी साधारण दृष्टि के जो सम्बन्ध हैं उनसे बिलकुल स्वतन्त्र रहती हैं। इन सभी अवस्थाओं में वास्तविक करण सदा चैत्य दृष्टि ही होती है और उसकी शक्ति यह सूचित करती है कि चैत्य शरीर में चेतना कम जागृत है या अधिक, कभी-कभी जागती है या सामान्य रूप से जागृत ही रहती है और अधिक पूर्ण रूप में जागृत है या कम पूर्ण रूप में। इस प्रकार स्थूल दृष्टि के क्षेत्र से परे चाहे कितनी ही दूरी पर विद्यमान पदार्थों की प्रतिलिपि या छाप को अथवा भूत या भविष्य काल की प्रतिमाओं को देखा जा सकता है।

इन प्रतिलिपियों या छापों के अतिरिक्त चैत्य दृष्टि उन विचार-प्रतिमाओं तथा अन्य प्रकार के रूपों को भी ग्रहण करती है जो हमारे या दूसरे में मनुष्यों के अन्दर चेतना की अनवरत क्रिया से उत्पन्न होते हैं, और ये इस क्रिया के स्वरूप के अनुसार सत्य या असत्य की प्रतिमाएं या फिर ऐसी मिश्रित प्रतिमाएं हो सकती हैं जो कुछ सत्य हों या कुछ झूठी, और ये या तो केवल खोखले आवरण एवं रूप हो सकती हैं या फिर ऐसी प्रतिमाएं जो क्षणस्थायी जीवन एवं चेतना से अनुप्राणित हों और यह भी सम्भव है कि इनमें किसी-न-किसी रूप में हमारे मन या प्राण पर अथवा उनके द्वारा हमारे शरीर पर भी किसी प्रकार की मंगल या अमंगल क्रिया करने किंवा कोई स्वेच्छाकृत या अनिच्छाकृत प्रभाव डालने की शक्ति भी हो। ये प्रतिलिपियां, प्रभाव, विचार-प्रतिमाएं एवं प्राणमय रूप तथा चेतना के ये बहिःप्रक्षेप ऐसी प्रतिनिधि-सत्ताएं या रचनाएं भी हो सकते हैं जो स्थूल जगत् की नहीं, वरन् हमसे परे के प्राणिक, चैत्य या मानसिक लोकों की हों तथा जो हमारे अपने मन में हमें दिखायी पड़ें अथवा मनुष्येतर सत्ताओं की ओर से हमपर प्रक्षिप्त की गयी हों। और जिस प्रकार चैत्य चेतना में यह चैत्य दृष्टि है जिसकी कुछ-एक अधिक बाह्य एवं साधारण अभिव्यक्तियां अतीन्द्रियदर्शन के नाम से सुप्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार चैत्य श्रवण, चैत्य स्पर्श, स्वाद और गन्ध की शक्तियां भी हैं—अतीन्द्रिय श्रवण, अतीन्द्रिय बोध इनकी अधिक बाह्य अभिव्यक्तियां हैं। इनमें से प्रत्येक का अपने-अपने ढंग का ठीक वैसा ही क्षेत्र है जैसा चैत्य दृष्टि का, इनके दृग्विषयों के क्षेत्र, ढंग, अवस्थाएं और विविधताएं भी वैसी ही हैं।

ये तथा अन्य दृग्विषय चैत्य अनुभव के एक परोक्ष एवं प्रतिनिधिभूत क्षेत्र की सृष्टि करते हैं; पर चैत्य इन्द्रिय में ऐसी शक्ति भी है कि वह पार्थिव या अतिपार्थिव सत्ताओं के साथ, उनकी चैत्य आत्माओं या चैत्य देहों के द्वारा, हमारा अधिक सीधा सम्बन्ध स्थापित करा सकती है, यहांतक कि वह पदार्थों के साथ भी हमारा ऐसा सम्बन्ध जोड़ सकती है, क्योंकि पदार्थों में भी ऐसी चैत्य सत्ता तथा ऐसी

आत्माएं या अन्तःसत्ताएं होती हैं जो उन्हें धारण करती हैं तथा जो हमारी अन्तरात्म-चेतना के साथ आदान-प्रदान कर सकती हैं। इन अधिक प्रभावशाली पर विरलतर दृग्विषयों में से सर्वाधिक उल्लेखनीय वे हैं जो हमारी चेतना की एक विशेष शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। वह शक्ति यह है कि हमारी चेतना स्थूल देह से भिन्न किसी और जगह तथा किसी और ढंग से नाना प्रकार के कार्य करने के लिये अपने-आपको बाहर किसी भी केन्द्र पर केन्द्रित कर सकती है। वे कार्य हैं : चैत्य शरीर में आदान-प्रदान करना अथवा उसकी कोई अंशविभूति या प्रतिमूर्ति किसी अन्य स्थान पर प्रकट करना—यह आवश्यक रूप से तो नहीं, किन्तु प्रायः निद्रा या समाधि की अवस्था में होता है, तथा सत्ता के किसी अन्य स्तर के अधिवासियों के साथ नाना तरीकों से बहुविध सम्बन्ध या आदान-प्रदान स्थापित करना।

कारण, चेतना के स्तरों की एक अविच्छिन्न शृंखला है जो पृथ्वी के स्तर से सम्बद्ध एवं उसपर आश्रित चैत्य तथा अन्य मेखलाओं से आरम्भ होती है और यथार्थ, स्वतन्त्र, प्राणमय एवं चैत्य लोकों में से गुजरती हुई देवों के लोकों तथा सत्ता के उच्चतम अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरोंतक पहुंचती है। और ये, हमारे जाग्रत् मन के बिना जाने, सचमुच ही हमारी अन्तः-प्रच्छन्न सत्ता पर सदैव कार्य कर रहे हैं, और हमारे जीवन तथा प्रकृति पर इनका काफी अधिक प्रभाव पड़ता है। भौतिक मन हमारा केवल एक छोटा-सा भाग है और इसके अतिरिक्त हमारी सत्ता का एक और कहीं अधिक विशाल क्षेत्र है जिसमें अन्य स्तरों का प्रभाव तथा उनकी उपस्थितियां एवं शक्तियां हमपर कार्य कर रही हैं और हमारी बाह्य सत्ता तथा उसके कार्यों को गठित करने में सहायता देती हैं। चैत्य चेतना का जागरण हमें हमारे अन्दर और चारों ओर विद्यमान इन शक्तियों, उपस्थितियों और प्रभावों से सचेतन होने की सामर्थ्य प्रदान करता है; और यद्यपि अशुद्ध, अद्यावधि अज्ञ एवं अपूर्ण मन में यह अनावृत सम्पर्क संकटों से पूर्ण होता है, तथापि यदि इसे ठीक प्रकार से तथा ठीक उद्देश्य के लिये प्रयुक्त किया जाये तो यह हमें उनके दास न रहकर उनके स्वामी बनने की तथा अपनी प्रकृति के आन्तर रहस्यों पर सचेतन एवं आत्म-नियन्त्रित प्रभुत्व प्राप्त करने की सामर्थ्य भी प्रदान करता है। चैत्य की चेतना आन्तर और बाह्य भूमिकाओं की, इस लोक तथा अन्य लोकों की इस परस्पर-क्रिया को दो प्रकार से हमारे सामने प्रकट करती है। एक तो यह कि हमें अपनी आन्तर चिन्तन-शक्ति एवं चेतन सत्ता पर उनके आघातों का, उनके सुझावों तथा सन्देशों का कुछ-कुछ भान होता है जो अत्यन्त स्थायी, विशाल, विशद एवं सजीव हो सकता है और उन आघातों आदि के प्रति हम वहां प्रतिक्रिया भी कर सकते हैं। दूसरे यह कि पार्थिव या अतिपार्थिव दृग्विषयों की अनेक प्रकार की प्रतीकात्मक, प्रतिलिप्यात्मक या प्रतिनिधि-रूप प्रतिमाएं विभिन्न चैत्य इन्द्रियों के समक्ष प्रकट होती हैं। परन्तु अन्य लोकों एवं भूमिकाओं की शक्तियों, बलों और

सत्ताओं के साथ एक अधिक सीधा आदान-प्रदान स्थापित करना भी सम्भव है जो मूर्त रूप से गोचर एवं लगभग भौतिक हो, यहांतक कि कभी-कभी तो सक्रिय रूप से भौतिक हो; उसे एक पूर्ण किन्तु अस्थायी स्थूल-भौतिक रूप प्रदान करना भी सम्भव प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि भौतिक चेतना और स्थूल जगत् की सीमाएं पूर्णतया भङ्ग हो जायें।

चैत्य चेतना के जागरण के फलस्वरूप हमारे अन्दर मन का छठी इन्द्रिय के रूप में सीधा एवं उन्मुक्त प्रयोग होने लगता है, और इस शक्ति को स्थिर एवं स्वाभाविक बनाया जा सकता है। भौतिक चेतना बाह्य साधनों, चिह्नों एवं संकेतों के द्वारा केवल दूसरों के मनों के साथ ही आदान-प्रदान कर सकती है अथवा हमारे चारों ओर के जगत् की घटनाओं को जान सकती है, और इस सीमित कार्यक्षेत्र के परे वह मन की अधिक सीधी सामर्थ्यों का केवल अनिश्चित एवं अव्यवस्थित प्रयोग ही कर सकती है तथा उसे कभी-कभी जो पूर्वबोध, सहज ज्ञान एवं सन्देश प्राप्त होते हैं उनका क्षेत्र अत्यन्त ही संकुचित है। निःसन्देह, हमारे मन अज्ञात गुप्त धाराओं के द्वारा दूसरों के मनों पर निरन्तर क्रिया कर रहे हैं तथा स्वयं भी उनकी क्रिया से निरन्तर प्रभावित हो रहे हैं, किन्तु हमें इन साधनों का कोई ज्ञान नहीं है और न इनपर हमारा कोई नियन्त्रण ही है। जैसे-जैसे चैत्य चेतना विकसित होती है, वैसे-वैसे वह हमें उन सब प्रकार के विचारों, सम्वेदनों, सुझावों, संकल्पों, आघातों और प्रभावों के महान् संघात का ज्ञान कराती चलती है जिन्हें हम दूसरों से ग्रहण कर रहे हैं या दूसरों के पास भेज रहे हैं अथवा अपने चारों ओरके सर्वसामान्य मानसिक वातावरण से ग्रहण कर रहे हैं और उसके अन्दर फेंक रहे हैं। जैसे-जैसे उसकी शक्ति, यथार्थता एवं स्पष्टता का विकास होता है वैसे-वैसे हम इन विचारों आदि के मूल स्रोत का पता लगा सकते हैं अथवा इनके उद्गम एवं हमारे प्रति संक्रमण को तत्क्षण ही अनुभव कर सकते हैं तथा अपने सन्देशों को भी सचेतन रूप से एवं ज्ञानयुक्त संकल्प के साथ प्रेषित कर सकते हैं। हम दूसरों के मनों की, चाहे शारीरिक रूप से वे हमारे पास हों या दूर, क्रियाओं को कम या अधिक यथार्थ रूप में एवं विवेकपूर्वक जान सकते हैं तथा उनके स्वभाव एवं चरित्र को, विचारों, वेदनों एवं प्रतिक्रियाओं को चैत्य इन्द्रिय या सीधे मानसिक प्रत्यक्ष के द्वारा अथवा अपने मन के अन्दर या उसके अंकनकारी तल पर उनके अत्यन्त गोचर एवं प्रायः अतिशय मूर्त ग्रहण के द्वारा समझ सकते और अनुभव कर सकते हैं या उनके साथ अपनेको एकाकार कर सकते हैं। इसके साथ ही हम कम-से-कम दूसरों की अन्तरात्माओं को तथा उनके स्थूल मनों को—यदि ये पर्याप्त सम्वेदनशील हों तो—अपनी आन्तर मानसिक या चैत्य सत्ता का, सचेतन रूप से, अनुभव करा सकते हैं और उन्हें उसके विचारों, सुझावों एवं प्रभावों के प्रति नमनशील बना सकते हैं अथवा, यहांतक कि, उसे या उसकी एक सक्रिय प्रतिमा

को उनकी आध्यन्तरिक ही नहीं, प्राणिक और भौतिक सत्ता में भी प्रभावकारी रूप में निक्षिप्त कर सकते हैं ताकि वह वहां एक सहायक या रूप-निर्मायक या आधिशासक शक्ति एवं उपस्थिति के रूप में कार्य कर सके।

चैत्यगत चेतना की इन सब शक्तियों का उपयोग एवं महत्त्व मानसिक से अधिक कुछ हो यह जरूरी नहीं और प्रायः वह इससे अधिक कुछ होता भी नहीं, किन्तु उसका उपयोग आध्यात्मिक भाव, प्रकाश और उद्देश्य के साथ तथा आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये भी किया जा सकता है। ऐसा तभी हो सकता है यदि दूसरों के साथ हमारे चैत्य आदान-प्रदान का कोई आध्यात्मिक प्रयोजन हो तथा उसका आध्यात्मिक उपयोग किया जाये, और अधिकतर इस प्रकार के चैत्य-आध्यात्मिक आदान-प्रदान के द्वारा ही एक योगी गुरु अपने शिष्य की सहायता करता है। अपनी आन्तरिक प्रच्छन्न एवं चैत्य प्रकृति का तथा उसकी शक्तियों, उपस्थितियों और प्रभावों का ज्ञान एवं अन्य स्तरों और उनकी शक्तियों तथा सत्ताओं के साथ आदान-प्रदान की क्षमता किसी मानसिक या लौकिक उद्देश्य से ऊंचे उद्देश्य के लिये, अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को अपने अधिकार और वश में लाने के लिये तथा सत्ता के परमोच्च आध्यात्मिक शिखरों के मार्ग में पड़नेवाले मध्यवर्ती स्तरों को पार करने के लिये भी प्रयुक्त की जा सकती है। परन्तु चैत्य की चेतना का सबसे सीधा आध्यात्मिक प्रयोग उसे भगवान् के साथ सम्पर्क, आदान-प्रदान और एकत्व का करण बनाना है। उसके द्वारा चैत्य-आध्यात्मिक प्रतीकों का एक लोक सहज ही खुल जाता है, प्रकाशप्रद, सशक्त और सजीव रूप एवं करण उन्मुक्त हो जाते हैं। इन सबको आध्यात्मिक रहस्यों के प्रकाशक हमारी आध्यात्मिक अभिवृद्धि के तथा आध्यात्मिक क्षमता एवं अनुभूति के विकास के सहायक और आध्यात्मिक शक्ति, ज्ञान या आनन्द के साधन बनाया जा सकता है। मन्त्र इन चैत्य-आध्यात्मिक साधनों में से एक है जो दिव्य अभिव्यक्ति के लिये एक प्रतीक, करण और नाद-शरीर—सब कुछ एक साथ ही है, और भगवान् तथा उनके व्यक्तित्वों या शक्तियों की मूर्तियां भी, जो योग में ध्यान या आराधना के लिये प्रयुक्त की जाती हैं, इसी प्रकार के साधन हैं। भगवान् के महान् रूप या विग्रह प्रकाश में आते हैं जिनके द्वारा वे अपनी जीवन्त उपस्थिति हमारे समक्ष प्रकट करते हैं। उनकी सहायता से हम उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सुगमता के साथ तथा घनिष्ठ रूप में जान सकते हैं, उनकी उपासना कर सकते हैं, अपने-आपको उन्हें सौंप सकते हैं और जिन विभिन्न लोकों में उनका आवास एवं उपस्थिति है उनमें प्रवेश कर सकते हैं तथा वहां उनकी सत्ता की ज्योति में निवास कर सकते हैं। उनका शब्द एवं आदेश, उनकी उपस्थिति, उनका स्पर्श एवं मार्गनिर्देश हमें अपनी आध्यात्मीकृत चैत्य चेतना के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं और, आत्मा से होनेवाले संक्रमण के एक सूक्ष्मतः-मूर्त साधन के रूप में, यह (चेतना) हमें हमारी सभी

चैत्य इन्द्रियों के द्वारा उनके साथ निकट सम्पर्क एवं सान्निध्य प्रदान कर सकती है। ये चैत्य चेतना और चैत्य इन्द्रियों के कुछ आध्यात्मिक उपयोग हैं और इनके अतिरिक्त और भी कितने ही हैं। यह ठीक है कि वे (चैत्य चेतना और इन्द्रिय) सीमित और विकृत हो सकती हैं—क्योंकि सभी गौण उपकरण हमारे मन की एकांगी आत्म-परिसीमन की क्षमता के कारण आंशिक उपलब्धि के साधन भी हो सकते हैं, पर साथ ही वे एक अधिक सर्वांगीण उपलब्धि में बाधक भी बन सकते हैं,—तथापि वे आध्यात्मिक पूर्णता के पथ पर अत्यन्त ही उपयोगी हैं और पीछे, हमारे मनों की सीमा से मुक्त होकर, रूपान्तर प्राप्त कर तथा अतिमानसिक बनकर तो वे आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति में एक विविध-समृद्धिशाली तत्त्व बन जाती हैं।

भौतिक और प्राणिक चेतना एवं इन्द्रियों की भांति चैत्यगत चेतना एवं इन्द्रियां भी अतिमानसिक रूपान्तर प्राप्त कर सकती हैं और उसके द्वारा अपनी समग्र पूर्णता एवं सार्थकता प्राप्त करती हैं। अतिमानस चैत्य सत्ता को अपने अधिकार में कर लेता है, उसमें अवतरित होता है, उसे अपनी प्रकृति के सांचे में ढालकर रूपान्तरित कर देता है और उसे ऊपर उठाकर अतिमानसिक क्रिया और अवस्था का एक अङ्ग एवं विज्ञान-पुरुष की एक अति-चैत्य सत्ता बना देता है। इस परिवर्तन का पहला परिणाम यह होता है कि हम चैत्यगत चेतना के दृग्विषयों को उनके सच्चे आधार पर स्थापित करते हैं। इसके लिये हमें उसमें दूसरों के मनों और अन्तरात्माओं तथा वैश्व प्रकृति के मन एवं अन्तरात्मा के साथ अपने मन और अन्तरात्मा की एकता का स्थायी बोध, पूर्ण साक्षात्कार एवं सुरक्षित उपलब्धि साधित करनी होती है। कारण, अतिमानसिक विकास का प्रभाव सदा ही यह होता है कि वह वैयक्तिक चेतना को विश्वमय बना देता है। जिस प्रकार वह, हमारी व्यक्तिगत प्राणिक क्रिया में तथा हमारे चारों ओर के सब लोगों के साथ उसके सम्बन्धों में भी हमें विश्वगत प्राण के द्वारा ही जीवन धारण करवाता है, उसी प्रकार वह हमें विश्वगत मन एवं चैत्य सत्ता के द्वारा ही विचार, वेदन और बोध करवाता है यद्यपि यह विचार आदि होता है व्यक्तिगत केन्द्र या करण के माध्यम से ही। इसके दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम होते हैं।

प्रथम, चैत्य इन्द्रिय और मन के दृग्विषयों की वह खण्डात्मकता, असम्बद्धता अथवा दुःसाध्य व्यवस्था एवं प्रायः सर्वथा कृत्रिम क्रमबद्धता समाप्त हो जाती है जो इन दृग्विषयों का उससे भी अधिक पीछा करती है जितना कि उपरितल की हमारी अधिक साधारण मानसिक क्रियाओं का करती है। ये दृग्विषय हमारे अन्दर अवस्थित विराट् आन्तर मन एवं हृत्पुरुष की समस्वर लीला बन जाते हैं, अपने सच्चे नियम को एवं यथार्थ रूपों और सम्बन्धों को प्राप्त कर लेते हैं तथा अपने ठीक-ठीक अर्थ प्रकट कर देते हैं। मानसिक भूमिका में भी मनुष्य मन को आध्यात्मिक बनाकर आत्मिक एकता का किसी-न-किसी प्रकार का साक्षात्कार प्राप्त

कर सकता है, पर वह साक्षात्कार कभी भी सच्चे अर्थों में पूर्ण नहीं होता, कम-से-कम अपने व्यावहारिक प्रयोग में तो वह पूर्ण होता ही नहीं, और न वह इस वास्तविक एवं समग्र नियम, रूप और सम्बन्ध को तथा अपने गूढ़ार्थों की पूर्ण एवं अचूक सत्यता और यथार्थता को ही प्राप्त करता है। और, दूसरे, चैत्यगत चेतना की क्रिया में जो असामान्यता के, एक असाधारण, अनियमित और यहांतक कि अतिसामान्य एवं संकटपूर्ण क्रिया के लक्षण पाये जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप प्रायः मनुष्य का अपने जीवन पर नियन्त्रण नहीं रहता तथा सत्ता के अन्य भागों की क्रिया में बाधा या क्षति पहुंचती है, वे सब नष्ट हो जाते हैं। वह न केवल अपने अन्दर निज यथोचित व्यवस्था ही प्राप्त कर लेती है, बल्कि एक ओर तो भौतिक जीवन के साथ तथा दूसरी ओर सत्ता के आध्यात्मिक सत्य के साथ अपना यथार्थ सम्बन्ध भी आयत्त कर लेती है और तब सब कुछ ही देहधारी आत्मा की एक समस्वर अभिव्यक्ति बन जाता है। सृष्टिकारी अतिमानस ही सदा हमारी सत्ता के अन्य भागों के सच्चे मूल्यों, मर्मों और सम्बन्धों को अपने अन्दर धारण करता है और उसका प्राकट्य ही हमारे लिये अपनी आत्मा और प्रकृति की समग्र उपलब्धि की शर्त है।

पूर्ण रूपान्तर हमें अपनी साक्षी चिन्मय आत्मा की स्थिति या भूमिका के ही एक विशेष प्रकार के परिवर्तन से प्राप्त नहीं होता, यहांतक कि उसके गुणधर्म के परिवर्तन से भी वह प्राप्त नहीं होता, वरन् उसके लिये हमारी चेतन सत्ता के सम्पूर्ण तत्त्व का भी परिवर्तित होना आवश्यक है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक अतिमानसिक चेतना सत्ता के मानसिक एवं चैत्य वातावरण के—जिसमें भौतिक चेतना हमारी आत्मा की अभिव्यक्ति की एक गौण और, अधिकांश में, एक आश्रित प्रणाली बन गयी होती है,—ऊपर के स्तर में प्रकट होती है और उसे आलोकित एवं रूपान्तरित करने के लिये वह उसके अन्दर अपनी शक्ति, ज्योति एवं प्रभाव प्रेषित करती है। परन्तु जब निम्न चेतना का तत्त्व सत्ता की महत्तर शक्ति और बृहत्ता में, **महान्, बृहत्** में परिवर्तित हो जाता है, उसके द्वारा प्रबलतया परिपूरित और उसमें अद्भुततया रूपान्तरित हो जाता है, मानों उसमें निगीर्ण एवं विलीन हो जाता है,—उस महान् एवं **बृहत्** में जिससे कि यह उद्भूत एवं प्रक्षिप्त हुआ है, केवल तभी हमें परिपूर्ण, समग्र एवं सुस्थिर अतिमानसिक चेतना प्राप्त होती है। सत्ता के जिस सारतत्त्व में, जिस चिन्मय आकाश में मानसिक या चैत्य चेतना एवं इन्द्रिय अपना अस्तित्व धारण करती हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान, वेदन और अनुभव प्राप्त करती हैं, वह स्थूल मन और इन्द्रिय के (सत्ता-सम्बन्धी) सारतत्त्व एवं चिदाकाश से अधिक सूक्ष्म, मुक्त और नमनीय तत्त्व है। जबतक हमपर स्थूल मन और इन्द्रिय का प्रभुत्व रहता है तबतक चैत्य दृग्विषय हमें कम वास्तविक, यहांतक कि भ्रमात्मक प्रतीत हो सकते हैं, पर जितना ही अधिक हम अपनेको चैत्य के

वातावरण के लिये तथा सत्ता के जिस आकाश में वह अवस्थित है उसके लिये अभ्यस्त बनाते हैं, उतना ही अधिक हम एक महत्तर सत्य को देखने लगते हैं तथा उन सब वस्तुओं के अधिक आध्यात्मिक एवं मूर्त सारतत्त्व को भी अनुभव करने लगते हैं जिनके अस्तित्व की साक्षी उस (चैत्य) का अधिक मुक्त एवं विशाल कोटि का अनुभव हमें प्रदान करता है। तब, भौतिक सत्ता भी अपने-आपको अवास्तविक एवं मायामय प्रतीत होने लग सकती है—पर यह भी एक अतिरञ्जना है और है एक नयी भ्रामक एकाङ्गिता जिसका कारण है केन्द्र का स्थानान्तरण तथा मन और इन्द्रिय की क्रिया का परिवर्तन—या फिर, कम-से-कम, एक ऐसी सत्ता प्रतीत हो सकती है जो कम प्रबल रूप में सत्य है। परन्तु जब चैत्य और भौतिक अनुभव, अपने सच्चे सन्तुलन में, सम्यक् रीति से संयुक्त हो जिते हैं तब हम एक साथ अपनी सत्ता के दो परस्पर पूरक लोकों में निवास करते हैं जिनमें से प्रत्येक की अपनी वास्तविकता होती है, पर तब चैत्य लोक उस सबको प्रकाश में लाता है जो भौतिक लोक के पीछे विद्यमान है, आत्म-दृष्टि एवं आत्मानुभव प्रमुखता प्राप्त कर लेता है और भौतिक दृष्टि तथा अनुभव को आलोकित करता एवं उसकी व्याख्या करता है। और जब अतिमानसिक रूपान्तर होता है तो वह हमारी चेतना के सम्पूर्ण सारतत्त्व को फिर बदल डालता है; वह एक महत्तर सत्ता, चेतना, इन्द्रिय और प्राण के आकाश को प्रकट कर देता है जो चैत्य आकाश को भी अपूर्णता का दोषी ठहराता है और यह दिखलाता है कि वह भी अपने-आपमें एक अपूर्ण सत्य है तथा हम जो कुछ हैं, जो कुछ बन जाते और देखते हैं उस सबका केवल एक आंशिक सत्य है।

निःसन्देह, अतिमानसिक चेतना और उसकी शक्ति में चैत्य के समस्त अनुभवों को स्वीकार तथा सम्पुष्ट किया जाता है, पर उन्हें एक महत्तर सत्य के प्रकाश तथा एक महत्तर आत्मा के सारतत्त्व से परिपूरित कर दिया जाता है। चैत्यगत चेतना पहले तो अतिमानसिक ज्योति एवं शक्ति तथा उसके स्पन्दनों की सत्यप्रकाशक तीव्रता के द्वारा धारित तथा आलोकित होती है और फिर वह उससे ओतप्रोत तथा अधिकृत हो जाती है। किसी विच्छिन्न आकस्मिक घटना, अपर्याप्त-आलोकित आभास, वैयक्तिक सुझाव, भ्रामक प्रभाव एवं विचार से अथवा सीमा या विकृति के किसी अन्य कारण से उत्पन्न जो कोई भी भूल या अतिरञ्जना मानसिक और आन्तरात्मिक अनुभव एवं ज्ञान के सत्य में हस्तक्षेप करती है वह प्रकाश में आ जाती है तथा उसे सुधार लिया जाता है या फिर वह वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और संकेतों के तथा इस महत्तर विशाल सत्ता के अपने विशिष्ट प्रतिरूपों के सत्य की, **सत्यम्, ऋतम्** की ज्योति में न ठहर सकने के कारण विलुप्त ही हो जाती है। समस्त चैत्य सन्देश, प्रतिलेख, प्रभाव, प्रतीक और प्रतिरूप अपना यथार्थ मूल्य प्राप्त करके, अपना सही स्थान ग्रहण कर लेते हैं तथा उन्हें उनके ठीक सम्बन्धों में

सुस्थापित कर दिया जाता है। चैत्य बुद्धि और संवेदन अतिमानसिक इन्द्रियानुभव एवं ज्ञान से आलोकित हो उठते हैं; उनके दृग्विषय, जो आध्यात्मिक और भौतिक लोकों के मध्यवर्ती होते हैं, अपने सत्य और अर्थ को तथा अपने सत्य और महत्त्व की सीमाओं को भी स्वयमेव प्रकट करने लगते हैं। आन्तर दर्शन, श्रवण तथा अन्य सब प्रकार के ऐन्द्रिय संवेदन के समक्ष जो प्रतिमाएं उपस्थित होती हैं वे स्पन्दनों के एक विशालतर एवं उज्ज्वलतर संघात के द्वारा, ज्योति और तीव्रता के एक महत्तर सारतत्त्व के द्वारा अधिकृत हो जाती तथा उसमें धारित रहती हैं। वह संघात एवं सारतत्त्व उनके अन्दर वैसा ही परिवर्तन लाता है जैसा कि स्थूल इन्द्रियों की वस्तुओं में, अर्थात् वह उनमें एक महत्तर समग्रता और यथार्थता के साथ-साथ ऐन्द्रिय ज्ञान की एक ऐसी सत्यप्रकाशक शक्ति भी लाता है जो वस्तु की प्रतिमा में निहित होती है। अन्त में सभी कुछको ऊपर अतिमानस में ले जाकर तथा उसके अन्दर आत्मसात् करके विज्ञान पुरुष के अनन्त-ज्योतिर्मय चैतन्य, ज्ञान और अनुभव का एक अङ्ग बना लिया जाता है।

इस अतिमानसिक रूपान्तर के बाद जीव की अवस्था उसके चेतना और ज्ञान-सम्बन्धी सभी अङ्गों में एक अनन्त वैश्व चेतना की अवस्था होगी जो विश्वभावापन्न व्यष्टि-पुरुष के द्वारा कार्य कर रही होगी। उसकी आधारभूत शक्ति होगी तादात्म्य की चेतना, तादात्म्य के द्वारा ज्ञान,— तादात्म्य का अभिप्राय है सत्ता का, चेतना का, सत्ता और चेतना की शक्ति का, सत्ता के आनन्द का अनन्त के साथ, भगवान् के साथ, अनन्त के अन्दर जो कुछ भी है उस सबके साथ, जो कुछ भी भगवान् की अभिव्यक्ति एवं आविर्भाव है उस सबके साथ तादात्म्य। यह चेतना एवं ज्ञान जिन साधनों को अपने करणोपकरणों के रूप में प्रयुक्त करेगा वे ये हैं—तादात्म्यलब्ध ज्ञान जिन चीजों की स्थापना कर सकता है उन सबका आध्यात्मिक साक्षात्कार, अतिमानसिक यथार्थ भाव एवं विचार जो अपनी प्रकृति में विचार का साक्षात् दर्शन, श्रवण और स्मरण ही होता है तथा जो चेतना के सामने सब वस्तुओं के सत्य को प्रकाशित, विवृत या निरूपित करता है, एक आन्तर सत्य-वाणी जो उसे व्यक्त करती है, और अन्त में एक अतिमानसिक इन्द्रिय जो सत्ता के सभी स्तरों में सब वस्तुओं, व्यक्तियों, बलों और शक्तियों के साथ सत्ता के सारतत्त्व में हमारा संस्पर्श-रूपी सम्बन्ध स्थापित करती है।

अतिमानस करणों की, उदाहरणार्थ, इन्द्रिय की सहायता पर उस प्रकार निर्भर नहीं करेगा, जिस प्रकार स्थूल मन हमारी इन्द्रियों की साक्षी पर निर्भर करता है, यद्यपि वह उन्हें ज्ञान के उच्चतर रूपों के लिये एक आरम्भ-बिन्दु बना सकेगा, जैसे कि वह सीधे इन उच्चतर रूपों के द्वारा आरम्भ करके इन्द्रियों को केवल रचना और बाह्य अभिव्यक्ति का साधन भी बना सकेगा। इसके साथ ही अतिमानसिक या विज्ञानमय जीव मन के वर्तमान चिन्तन को तादात्म्यलब्ध ज्ञान में एवं समग्र बोध

से, ब्योरे और सम्बन्ध के अन्तरीय अनुभव से प्राप्त ज्ञान में रूपान्तरित करके अपने अन्दर समा लेगा, वह सब ज्ञान असीम रूप से अधिक विशाल होगा, साक्षात्, प्रत्यक्ष एवं स्वतः-स्फूर्त, वह आत्मा के पहले से ही विद्यमान सनातन ज्ञान की अभिव्यक्ति होगा। विज्ञानमय जीव स्थूल इन्द्रियों को, मन की छठी इन्द्रिय की क्षमताओं को, चैत्य चेतना और चैत्य इन्द्रियों को हाथ में लेकर रूपान्तरित कर देगा, उन्हें विज्ञानमय बना देगा तथा उन्हें अनुभव के चरम आन्तर विषयीकरण के साधनों के रूप में प्रयुक्त करेगा। उसके लिये कोई भी चीज वस्तुतः बाह्य विषय नहीं होगी, क्योंकि वह सभी को उस वैश्व-चेतना की एकता में अनुभव करेगा जो कि उसकी अपनी होगी, अनन्त की उस सत्ता की एकता में अनुभव करेगा जो उसकी अपनी ही सत्ता होगी। वह जड़तत्त्व को, स्थूल जड़तत्त्व को ही नहीं, वरन् सूक्ष्म तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म जड़तत्त्व को भी आत्मा के उपादान और आकार के रूप में अनुभव करेगा, प्राण को तथा सब प्रकार की शक्ति को आत्मा की क्रिया-शक्ति के रूप में, अतिमानसीकृत मन को आत्मा के ज्ञान के साधन या प्रणालिका के रूप में, अतिमानस को आत्मा की अनन्त ज्ञान-सत्ता, ज्ञान-शक्ति और ज्ञानानन्द के रूप में अनुभव करेगा।

अध्याय २५

अतिमानसिक काल-दृष्टि की ओर

समस्त सत्ता, चेतना एवं ज्ञान सत् की दो अवस्थाओं एवं शक्तियों के बीच गति करता है—कालातीत 'अनन्त' की अवस्था, और सब वस्तुओं को अपने अन्दर काल में प्रकट और व्यवस्थित करनेवाले 'अनन्त' की अवस्था के बीच। हमारी वर्तमान स्थूल चेतना के लिये तो यह गुप्त रूप में गति करता है, पर जब हम इससे परे आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक स्तरों की ओर उठ जाते हैं तब यह खुले रूप में इन अवस्थाओं के बीच गति करता है। ये दो अवस्थाएं केवल हमारे मानसिक तर्क के लिये ही परस्पर-विरुद्ध और असंगत हैं, क्योंकि वह विरोधों के एक मिथ्या विचार के चारों ओर परेशान होकर चक्कर काटता हुआ निरन्तर ठोकरें खाता रहता है तथा सनातन द्वंद्वों को एक-दूसरे के सामने खड़ा करता रहता है। वास्तव में, जब हम अतिमानसिक तादात्म्य और अन्तर्दर्शन पर आधारित ज्ञान के साथ वस्तुओं को देखते हैं और उस ज्ञान के अपने विशिष्ट, महान्, गभीर एवं नमनीय तर्क के साथ सोचते हैं तो हमें पता चलता है कि ये दोनों अनन्त के एक ही सत्य की केवल सहवर्तिनी एवं सहगामिनी स्थिति एवं गति की अवस्थाएं हैं। कालातीत अनन्त इस अभिव्यक्ति से परे अपने अन्दर, अपनी सत्ता के सनातन सत्य के अन्दर उस सबको धारण करता है जिसे वह काल में व्यक्त करता है। उसकी कालगत चेतना भी स्वयं अनन्त है और जो कुछ हमें वस्तुओं का भूत, वर्तमान और भविष्य प्रतीत होता है उसे वह अपने अन्दर, समग्रताओं एवं विशिष्टताओं के, गतिशील क्रम या क्षण-दृष्टि तथा समग्र स्थिरीकारक दृष्टि या स्थिर समग्र दृष्टि के अन्तरनुभव में एक ही साथ धारण करती है।

कालातीत अनन्त की चेतना हमें कई प्रकार से हृदयंगम हो सकती है, पर साधारणतया उसकी एक प्रतिच्छाया एवं प्रबल छाप के द्वारा उसे हमारे मन पर लाद दिया जाता है या फिर वह एक ऐसी वस्तु के रूप में हमारे सामने उपस्थित की जाती है जो मन से ऊपर है, जिसके प्रति मन सचेतन होता है, जिसकी ओर वह उठता है, पर जिसमें वह प्रवेश नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं कालभावना तथा क्षण-परम्परा में ही निवास करता है। यदि हमारा वर्तमान मन, जो अतिमानसिक प्रभाव से रूपान्तरित नहीं हुआ, कालातीत में प्रवेश करने का यत्न करे तो उसे या तो समाधि की मग्नावस्था में विलुप्त एवं आत्म विस्मृत हो जाना होगा, अथवा यदि वह जागरित अवस्था में रहे तो वह अपने-आपको एक ऐसे अनन्त में विकीर्ण हुआ अनुभव करेगा जहां शायद एक अतिभौतिक आकाश की, विशालता की, चेतना के असीम विस्तार की अनुभूति होती है, पर जहां काल-सत्ता, काल-गति या काल

व्यवस्था नहीं है। और यदि तब भी मनोमय पुरुष कालगत पदार्थों के प्रति यन्त्रवत् सचेतन होता है तो भी वह उनके साथ अपने ढंग से बरताव नहीं कर सकता, कालातीत सत्ता और कालगत पदार्थों में सत्य सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता और अपने अनिर्दिष्ट 'अनन्त' में से कर्म और संकल्प नहीं कर सकता। तब मनोमय पुरुष के लिये जो कर्म करना सम्भव रहता है वह प्रकृति के करणों का यान्त्रिक कार्य ही होता है। यह कार्य पुरानी प्रवृत्ति एवं स्वभाव के बलपर या अतीत शक्ति के भोगे जा रहे फल के कारण, **प्रारब्ध** कर्म के कारण चलता रहता है, या फिर यह एक अस्तव्यस्त, अनियन्त्रित एवं असम्बद्ध कार्य होता है, अर्थात् एक ऐसी शक्ति का अव्यवस्थित एवं आकस्मिक परिणाम होता है जिसका कोई चेतन केन्द्र अब नहीं होता।

इसके विपरीत, अतिमानसिक चेतना कालातीत अनन्त की परम चेतना पर आधारित है, पर 'काल' के भीतर अनन्त शक्ति के प्राकट्य का रहस्य भी उसे उपलब्ध है। वह कालगत चेतना में स्थित होकर कालातीत अनन्त को अपनी परमोच्च-मूल-सत्ता-रूपी पृष्ठभूमि के रूप में रख सकती है जहां से वह अपना समस्त व्यवस्थाकारी ज्ञान, संकल्प और कर्म प्राप्त करती है। अथवा, वह अपनी मूल सत्ता में केन्द्रित होकर कालातीत में रह सकती है, पर साथ ही वह कालगत अभिव्यक्ति में भी रह सकती है जिसे वह अनन्त एवं उसी एक 'अनन्त' के रूप में अनुभव करती तथा देखती है, और जिसे वह एक में (कालातीत अनन्त में) दिव्यतया धारण करती है उसे दूसरे में (कालगत अनन्त में) प्रकट, धारण और विकसित कर सकती है। अतः उसकी कालगत चेतना मनोमय पुरुष की काल-चेतना से भिन्न होगी। वह क्षणों की धारा पर अवश रूप से बही नहीं चली जायेगी, न ही प्रत्येक क्षण को एक आश्रय-बिन्दु एवं तेजी से विलीन हो जानेवाले दृष्टिकोण के रूप में पकड़ेगी, बल्कि प्रथम तो वह काल के परिवर्तनों से परे अपनी सनातन एकता पर आधारित होगी, दूसरे, इस एकता के साथ रहनेवाली काल की उस शाश्वत धारा पर जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य सनातन के आत्म-ज्ञान एवं आत्म-बल में सदा के लिये एक साथ रहते हैं आधारित होगी, तीसरे, तीनों कालों की इस समग्र दृष्टि पर कि ये तीनों एक ही गति हैं जो इनके क्रमों, युगों और चक्रों के अनुक्रम में भी एक और अविभाज्य दिखायी देती है, अन्त में—और ऐसा केवल करणात्मक चेतना में ही होता है—क्षणों के क्रमिक विकास पर आधारित होगी। अतः उसे तीनों कालों का ज्ञान होगा, **त्रिकालदृष्टि** प्राप्त होगी जिसे प्राचीन काल में द्रष्टा एवं ऋषि का सर्वोच्च चिह्न माना जाता था। पर यह त्रिकालदृष्टि उसकी एक असाधारण शक्ति नहीं, वरन् काल-ज्ञान का उसका साधारण ढंग होगी।

यह एकीकृत एवं अनन्त काल-चेतना और यह अन्तर्दृष्टि एवं ज्ञान विज्ञानमय

पुरुष के, अपने परम ज्योतिर्लोक में, ऐश्वर्य हैं और ये अतिमानसिक प्रकृति के उच्चतम स्तरों पर ही अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। परन्तु ऊंचा उठाने एवं रूपान्तर करनेवाली विकासात्मक योग-प्रक्रिया के द्वारा—अर्थात्, अपने-आपको अनावृत, विकसित और उत्तरोत्तर पूर्ण बनानेवाली योग-प्रक्रिया के द्वारा मानव-चेतना का जो आरोहण होता है उसमें हमें तीन क्रमिक अवस्थाओं को विचार में लाना होगा। इन तीनों को पार करके ही हम उच्चतम स्तरों पर विचरण करने के योग्य बन सकते हैं। हमारी चेतना की पहली अवस्था, जिसमें कि हम आज विचरण करते हैं, यह अज्ञानमय मन है जो जड़ प्रकृति की निश्चेतना और निर्ज्ञान में से उद्भूत हुआ है। यह अज्ञ होता हुआ भी ज्ञान की खोज करने में समर्थ है और उसे, कम-से-कम मांनसिक निरूपणों की एक शृंखला के रूप में प्राप्त करता है। इन निरूपणों को यथार्थ सत्य के संकेत-सूत्र बनाया जा सकता है और ये ऊर्ध्व स्तर की ज्योति के प्रभाव, अन्तःक्षरण एवं अवतरण से अधिकाधिक परिष्कृत, आलोकित एवं पारदर्शक बनकर बुद्धि को सत्य ज्ञान की क्षमता की ओर खुलने के लिये तैयार करते हैं। इस मन के लिये समस्त सत्य एक ऐसी वस्तु है जो इसके पास मूलतः नहीं थी और जो इसे प्राप्त करनी पड़ी है या अभी प्राप्त करनी है, एक ऐसी वस्तु जो इसके लिये बाह्य है और जो अनुभव से या अनुसन्धान की कुछ-एक निश्चित विधियों एवं नियमों का अनुसरण करके, गणना के द्वारा, आविष्कृत नियम के प्रयोग से, चिह्नों और संकेतों की व्याख्या के द्वारा सञ्चित करने योग्य है। इसका ज्ञान ही एक पूर्ववर्ती निर्ज्ञान का सूचक है; यह अविद्या का करण है।

चेतना की दूसरी अवस्था मनुष्य के लिये केवल सुप्त और सम्भाव्य रूप में ही विद्यमान है और यह आन्तरिक ज्ञान-दीप्ति तथा अज्ञानमय मन के रूपान्तर से ही प्राप्त होती है। इस अवस्था में पहुंचकर ही मन अपने ज्ञान के उद्गम को बाहर न खोजकर भीतर खोजता है और, चाहे जिन भी साधनों से हो, वह अपने वेदन एवं आत्मानुभव के प्रति मूल अविद्या से युक्त मन न रहकर आत्मविस्मृतिपूर्ण ज्ञान से सम्पन्न मन बन जाता है। यह मन जानता है कि सब वस्तुओं का ज्ञान इसके अन्दर ही छिपा है या कम-से-कम मानव-सत्ता में ही कहीं पर विद्यमान है पर मानों वह आवृत एवं विस्मृत पड़ा है, और ज्ञान उसके पास एक ऐसी वस्तु के रूप में नहीं आता जो बाहर से प्राप्त की गयी हो, वरन् वह गुप्त रूप से सदा ही वहां विद्यमान होता है और अब स्मृति में आ जाता है तथा तत्काल ही सत्य जान पड़ता है,—उसमें प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर तथा अपनी मात्रा, रीति-नीति और नाप-तोल के अनुसार होती है। ज्ञान के प्रति इस मन की यही वृत्ति होती है—उस समय भी जब कि कोई बाह्य अनुभव, चिह्न या संकेत ही ज्ञान की प्राप्ति में निमित्त बना हो, क्योंकि वह तो इसके लिये एक निमित्तमात्र है और ज्ञान की सत्यता के लिये यह बाह्य संकेत या प्रमाण पर नहीं अपितु अन्दर के निश्चायक साक्षी पर

निर्भर करता है। वास्तविक मन हमारे अन्दर का वैश्व मन ही है और व्यक्तिगत मन तो उसका उपरितल पर एक प्रक्षेपमात्र है। अतएव, चेतना की यह दूसरी अवस्था हमें या तो तब प्राप्त होती है जब वैयक्तिक मन अधिकाधिक भीतर जाता है और सदा ही चेतन या अवचेतन रूप से वैश्व मन के स्पर्शों के निकटवर्ती एवं उनके प्रति संवेदनशील होता है,—उस वैश्व मन के जिसमें सब कुछ निहित है, सब कुछ ग्रहण किया जाता है और अभिव्यक्त किया जा सकता है, अथवा, और भी शक्तिशाली रूपमें यह अवस्था तब प्राप्त होती है जब हम वैश्व मन की चेतना में निवास करते हैं और व्यक्तिगत मन उसका उपरितल पर एक प्रक्षेप या संकेत-पटल या एक सञ्चारक बटनमात्र होता है।

चेतना की तीसरी अवस्था ज्ञानमय मन की है जिसमें सभी वस्तुएं और सभी सत्य इस रूप में प्रत्यक्ष और अनुभूत होते हैं कि वे पहले से ही विद्यमान और ज्ञात हैं और उसपर (मन पर) अन्दर की ज्योति फेंकनेमात्र से तुरन्त उपलब्ध हो सकते हैं, जैसे, जब कोई व्यक्ति एक कमरे में रखी हुई, पहले से ही विदित और परिचित वस्तुओं पर दृष्टि डालता है और पाता है कि वे पूर्व-विद्यमान ज्ञान के विषय हैं, यद्यपि वे सदा दृष्टि के सामने उपस्थित नहीं होतीं, क्योंकि वह उनकी ओर एकाग्र नहीं होती। चेतना की दूसरी, आत्मविस्मृतिपूर्ण, अवस्था से इसका भेद यह है कि इसमें किसी प्रकार के प्रयत्न या खोज की जरूरत नहीं होती, जरूरत होती है केवल ज्ञान के किसी भी क्षेत्र की ओर अन्दर की ज्योति फेंकने या खोल देने की। अतएव, इसका अर्थ मन की स्मृति से उतर गयी एवं उससे छुपी हुई वस्तुओं का स्मरण नहीं है, बल्कि पहले से ही विद्यमान, प्रस्तुत और उपलभ्य वस्तुओं का उज्ज्वल निरूपण है। यह अन्तिम अवस्था केवल तभी प्राप्त हो सकती है यदि अन्तर्ज्ञानात्मक मन कुछ अंश में विज्ञानमय बन जाये तथा वह अतिमानसिक स्तरों से आनेवाले प्रत्येक सन्देश के प्रति पूर्ण रूप से खुला रहे। यह ज्ञानमय मन अपने तात्त्विक रूप में गर्भित सर्वशक्तिमत्ता की ही एक क्षमता है, परन्तु मन के स्तर पर इसकी जो यथार्थ क्रिया होती है उसमें इसका क्षेत्र एवं कार्य-व्यापार सीमित होता है। यह सीमितता का स्वभाव स्वयं अतिमानस पर भी लागू होता है जब वह मानसिक स्तर के भीतर अवतरित होकर मन के क्षुद्रतर उपादान में कार्य करता है, चाहे वह करता है अपने ही ढंग से तथा अपने शक्तिमय एवं ज्योतिर्मय स्वरूप में। यह स्वभाव अतिमानसिक बुद्धि की क्रिया में भी दृढ़ रूप से बना रहता है। अपने स्तरों पर कार्य करती हुई उच्चतर अतिमानसिक शक्ति ही एक ऐसी शक्ति है जिसका संकल्प और ज्ञान सदा एक असीम प्रकाश में या ज्ञान का अपरिमेय विस्तार करने की स्वतन्त्र क्षमता के साथ कार्य करते हैं। यह ज्ञान-विस्तार केवल ऐसी सीमाओं के अधीन होता है जिन्हें आत्मा अपने प्रयोजनों के लिये तथा अपनी इच्छानुसार अपने ऊपर लादता है।

अतिमानस की ओर विकसित होते हुए मानव-मन को इन सब अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है और अपने आरोहण एवं विस्तार में वह अनेक परिवर्तनों को तथा अपनी काल-चेतना एवं काल-ज्ञान की शक्तियों और शक्यताओं की नाना प्रवृत्तियों को अनुभव कर सकता है। पहले-पहल अज्ञानमय मन की अवस्था में मनुष्य न तो अनन्त काल-चेतना में निवास कर सकता है और न त्रिविध काल-ज्ञान की किसी प्रत्यक्ष एवं वास्तविक शक्ति को अधिकृत कर सकता है। अज्ञानमय मन काल की अविभाज्य, अविच्छिन्न धारा में नहीं, बल्कि क्रमशः एक-एक क्षण में निवास करता है। उसे आत्मा की अविच्छिन्नता की तथा अनुभव की सारभूत अविच्छिन्नता की एक अनिश्चित अनुभूति होती है। इस अनुभूति का मूलस्रोत हमारे अन्दर की गभीरतर आत्मा है, किन्तु, क्योंकि अज्ञानमय मन इस गभीरतर आत्मा में नहीं रहता, वह सच्चे अविच्छिन्न काल-प्रवाह में भी नहीं रहता, पर हां, वह इस अनिश्चित, किन्तु फिर भी आग्रहपूर्ण अनुभूति को अपनी वर्तमान अवस्था में एक पृष्ठभूमि, आश्रय एवं आश्वासन के रूप में प्रयुक्त करता है, नहीं तो यह अवस्था उसके लिये अपनी सत्ता का एक सतत आधारहीन प्रवाह ही होगी। अपनी व्यावहारिक क्रिया में वह वर्तमान में स्थित होने के अतिरिक्त केवल उस लीक का सहारा लेता है जिसे भूतकाल अपने पीछे छोड़ जाता है और जो स्मृति में सुरक्षित होती है। इसके साथ ही वह पूर्व अनुभव से सञ्चित संस्कार-पुंज का भी आश्रय लेता है और, भविष्य के लिये, अनुभव की नियमितता के आश्वासन का तथा अनिश्चित अनुमान की उस शक्ति का सहारा पकड़ता है जो कुछ तो पुनरावृत्त अनुभव एवं सुप्रतिष्ठित अनुमान पर आधारित होती है और कुछ कल्पनात्मक रचना एवं अटकल पर। अज्ञानात्मक मन अपनी सामान्य क्रिया के लिये आपेक्षिक या नैतिक निश्चितताओं के एक विशेष आधार या तत्त्व पर भरोसा रखता है, पर बाकी सब चीजों के लिये सुशक्यताओं और सम्भावनाओं के साथ व्यवहार करना ही उसका मुख्य साधन है।

इसका कारण यह है कि अज्ञानावस्था में मन एक विशेष क्षण में निवास करता है और एक घण्टे से दूसरे घण्टे की ओर उस पथिक की भांति ही बढ़ता है जो अपने तत्क्षण के दृष्टि स्थान के निकट और चारों ओर दिखायी देनेवाली वस्तुओं को ही देखता है और जिन चीजों से वह पहले गुजर चुका है उन्हें अधूरे रूप में ही याद रखता है, किन्तु उसकी तात्क्षणिक दृष्टि के परे उसके सामने जो कुछ भी है वह सब अदृष्ट एवं अज्ञात है जिसका अनुभव उसे अभी प्राप्त करना है। अतएव, जैसा कि बौद्ध दार्शनिकों ने देखा था, अपनी अज्ञानावस्था में मनुष्य काल-चक्र के अन्तर्गत गति-चेष्टा करता हुआ विचारों और संवेदनों की तथा अपने विचार और संवेदन के समक्ष उपस्थित बाह्य रूपों की क्रमधारा में ही निवास करता है। उसकी वर्तमान क्षणस्थायिनी सत्ता ही उसके लिये सत्य है, उसकी अतीत सत्ता मिट चुकी है या लुप्त हो रही है अथवा केवल स्मृति, परिणाम एवं संस्कार के रूप में ही

सुरक्षित है, उसकी भावी सत्ता पूर्णतया असत् है या केवल रचना की प्रक्रिया में से गुजर रही है या जन्म लेने की तैयारी में है। उसके चारों ओर का जगत् भी प्रत्यक्ष के इसी नियम के अधीन है। इसका यथार्थ रूप तथा इसकी घटनाओं और दृश्विषयों का समूह ही उसके सामने उपस्थित है तथा उसके लिये सर्वथा वास्तविक है, इसके अतीत की अब कोई सत्ता नहीं है, अथवा वह केवल स्मृति तथा इतिवृत्त के रूप में और अपने उतने ही अंश में विद्यमान है जितना कि अपना मृत स्मारक छोड़ गया है या वर्तमान में अभी भी जीवित है। इसके भविष्य का तो अभी तनिक भी अस्तित्व नहीं है।

तो भी यह ध्यान में रखना होगा कि यदि हमारा वर्तमान-सम्बन्धी ज्ञान स्थूल मन तथा इन्द्रियों पर हमारी निर्भरता के कारण सीमित न हो तो उक्त परिणाम सर्वथा अनिवार्य नहीं रहेगा। यदि हम किसी क्षण कार्य कर रही शारीरिक, प्राणिक, मानसिक शक्तियों के सम्पूर्ण वर्तमान को, उनके सम्पूर्ण कार्य को जान सकें तो यह कल्पना की जा सकती है कि हम उनके अन्दर तिरोहित उनके अतीत को तथा उनके गुप्त भविष्य को भी देख सकेंगे या कम-से-कम वर्तमान ज्ञान से अतीत और भावी ज्ञान की ओर बढ़ सकेंगे। कुछ विशेष अवस्थाओं में यह वास्तविक एवं नित्य-विद्यमान, अविच्छिन्न काल-धारा की अनुभूति को, पिछले, अगले और वर्तमान क्षण में जीवन धारण करने की अनुभूति को उत्पन्न कर सकता है, और इससे आगे का और एक कदम हमें इस नित्य अनुभूति में ले जा सकता है कि अनन्त काल में तथा अपने कालातीत आत्मा में हम सदा ही अस्तित्व रखते हैं, और तब सनातन काल में उस (आत्मा) की अभिव्यक्ति हमारे लिये वास्तविक हो सकती है और साथ ही हम लोकों के पीछे अवस्थित कालातीत आत्मा को तथा उसकी शाश्वत विश्व अभिव्यक्ति की वास्तविकता को अनुभव कर सकते हैं। कुछ भी हो, इस समय हमारे अन्दर जो काल-चेतना है उससे भिन्न प्रकार की काल-चेतना तथा त्रिविध काल-ज्ञान की सम्भावना इसपर निर्भर करती हैं कि स्थूल मन और इन्द्रिय की अपनी विशेष चेतना से भिन्न चेतना का हम कहांतक विकास कर सकते हैं और संवेदन, स्मृति, अनुमान एवं अटकल की सीमाओं में बंधे अज्ञानमय मन की तथा तत्तत् क्षण की जिस कारा में हम कैद हैं उसे हम कहांतक तोड़ सकते हैं।

वस्तुतः मनुष्य केवल वर्तमान में निवास करने से ही सन्तुष्ट नहीं होता, यद्यपि यही वह अत्यन्त प्रबल सजीवता एवं आग्रह के साथ करता है : वह आगे और पीछे देखने के लिये प्रेरित होता है, अतीत का अधिक-से-अधिक जितना भी अंश वह जान सकता है उसे जानने के लिये तथा, कितने धूमिल रूप में ही सही, भविष्य के अन्दर दूर से दूरतक पैठने का यत्न करने के लिये प्रेरित होता है। इस प्रयास के लिये उसके पास कुछ-एक सहायक साधन भी हैं जिनमें से कुछ उसके स्थूल

मनपर पर आश्रित हैं, जबकि दूसरे एक अन्य अन्तःप्रच्छन्न या अतिचेतन सत्ता से आनेवाले संदेशों की ओर खुले रहते हैं। इस सत्ता को अधिक महान्, अधिक सूक्ष्म और सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त है। मनुष्य के पास सबसे पहला सहायक साधन बुद्धि है जो आगे तो कारण से कार्य की ओर गति करती है और पीछे कार्य से कारण की ओर, शक्तियों के नियम और उनकी सुनिश्चित यान्त्रिक प्रक्रिया की खोज करती है, प्रकृति की गतियों की शाश्वत एकरूपता की कल्पना करती है, उसके काल-परिमाणों को निश्चित करती है और इस प्रकार सामान्य दिशाओं तथा सुनिश्चित परिणामों के विज्ञान के आधार पर भूत और भविष्य का आकलन करती है। भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में इस पद्धति से कुछ सफलता प्राप्त हुई है जो परिमित होने पर भी काफी आश्चर्यजनक है और ऐसा लगता है कि मन और प्राण की क्रियाओं पर भी अन्ततः यही विधि प्रयुक्त की जा सकती है और कि, चाहे जो भी हो, किसी भी क्षेत्र में यथार्थता के साथ पीछे और आगे देखने के लिये यही मनुष्य का एकमात्र विश्वसनीय साधन है। पर वास्तव में प्राणिक प्रकृति की और, इससे भी अधिक, मानसिक प्रकृति की घटनाएं सुनिश्चित नियम के आधार पर अनुमान एवं गणना करने की उन विधियों से जो भौतिक ज्ञान के क्षेत्र में लागू होती हैं, एक बड़ी हदतक, अगोचर ही रह जाती हैं। यह नियम वहां नियमित घटनाओं एवं दृग्विषयों के सीमित क्षेत्रतक ही लागू हो सकता है और बाकी के लिये हमें यह सापेक्ष निश्चितताओं, अनिश्चित सुशक्यताओं और अगण्य सम्भावनाओं के एक मिश्रित संघात के बीच, जहां हम थे वहीं छोड़ देता है।

इसका कारण यह है कि मन और प्राण क्रिया की एक महान् सूक्ष्मता एवं जटिलता को ले आते हैं, प्रत्येक संसिद्ध क्रिया अपने अन्दर शक्तियों के एक जटिल संघात को धारण किये होती है, और यदि हम इन सबको अर्थात् जो बस अभी हाल में चरितार्थ हुई हैं और उपरितल पर या उसके निकट हैं उन सबको संघात में से पृथक् करके जान भी सकें तो भी हम बाकी की उन सब चीजों के बारे में जो तमसाच्छन्न या प्रसुप्त हैं, हतप्रभ ही रहेंगे, अनेकों गुप्त और फिर भी शक्तिशाली सहायक कारण, प्रच्छन्न गति एवं प्रेरक शक्ति, अप्रकाशित सम्भावनाएं, परिवर्तन की अनवधारित एवं अनवधार्य सम्भावनाएं—इन सबके बारे में हमारी बुद्धि चकरायी ही रहेगी। यहां भौतिक क्षेत्र की भांति एक निश्चित कारण से निश्चित कार्य का यथार्थ आकलन करना अर्थात् वर्तमान अवस्थाओं के एक ज्ञात, प्रत्यक्ष समुदाय से परवर्ती अवस्थाओं के एक अनिवार्य, परिणामभूत समुदाय का या पूर्ववर्ती अवस्थाओं के एक अनिवार्य पूर्वभाव का ठीक-ठीक और सुनिश्चित हिसाब लगाना हमारी सीमित बुद्धि के लिये व्यवहार्य नहीं रहता। यही कारण है कि तथ्य-सामग्री के अवलोकन में व्यापक से व्यापक दृष्टि तथा सम्भावित परिणाम के पर्यालोचन में अत्यन्त सतर्कता के होने पर भी मानव-बुद्धि की भविष्यवाणियां और भाविदृष्टियां

यथार्थ घटना से निरन्तर पराजित और खण्डित होती रहती हैं। प्राण और मन आत्मा और जड़तत्त्व के बीच में आ सकनेवाली सम्भव वस्तुओं का एक सतत प्रवाह हैं और पग-पग पर ये सम्भव वस्तुओं के एक अनन्त नहीं तो कम-से-कम एक अनिश्चित संघात को ले आते हैं और यह चीज समस्त तार्किक अवधारणा को अनिश्चित एवं सापेक्ष रूप देने के लिये काफी है। पर साथ ही इनके पीछे एक परमोच्च कारण-तत्त्व प्रभुत्वशाली रूप में स्थित है जिसका आकलन मानव-मन नहीं कर सकता। वह है चैत्य का संकल्प तथा गुह्य आत्मा का संकल्प। इनमें से पहला अनियमित रूप से परिवर्तनशील, तरल तथा जटिल है, दूसरा अनन्त है, अज्ञेय रूप से अटल है और यदि वह बद्ध है भी तो केवल अपने-आपसे तथा अनन्त के संकल्प से ही बद्ध है, और किसी से नहीं। अतएव स्थूल भौतिक मन से पीछे हटकर चैत्य और आध्यात्मिक चेतना में जाने से ही तीनों कालों का साक्षात्कार एवं ज्ञान तथा तत्तत् क्षण के दृष्टिबिन्दु एवं दृष्टिक्षेत्र के प्रति अपनी सीमितता का पूर्ण अतिक्रमण किया जा सकता है।

इस बीच, अन्तश्चेतना पर से बहिश्चेतना की ओर खुलनेवाले कुछ ऐसे द्वार हैं जो स्थूल मन में भी अतीत के प्रत्यक्ष अनुदर्शन, वर्तमान के परिदर्शन और भविष्य के पूर्वदर्शन की कभी-कभी उत्पन्न होनेवाली पर अपर्याप्त शक्ति को कम-से-कम एक सम्भावना के रूप में साध्य बना देते हैं। सर्वप्रथम, मन-रूपी इन्द्रिय और प्राणिक चेतना की कुछ विशेष क्रियाएं इसी प्रकार की हैं—जिनमें से एक प्रकार की क्रिया को, जिसने हमारे प्रत्यक्ष बोधों को अत्यन्त प्रभावित किया है, 'पूर्वबोध' की संज्ञा दी गयी है। ये क्रियाएं ऐन्द्रिय मन तथा प्राणिक सत्ता के सहज-बोध एवं अस्पष्ट अन्तर्ज्ञान हैं, और मनुष्य में जो भी सहज-प्रेरित वृत्तियां हैं उनके समान इन्हें भी मनोमय बुद्धि की सर्वग्रासिनी क्रिया ने दबा दिया, दुर्लभ बना दिया या अविश्वसनीय कहकर निन्द्य ठहराया है। यदि इन्हें खुला क्षेत्र प्रदान किया जाये तो ये विकसित होकर ऐसी तथ्य सामग्री प्रदान कर सकती हैं जो साधारण बुद्धि और इन्द्रियों के लिये प्राप्य नहीं है। किन्तु फिर भी ये अपने-आपमें पूर्णतया उपयोगी या विश्वसनीय संकेत नहीं होंगी जबतक कि इनकी अस्पष्टता एक ऐसे अर्थ-विवरण एवं मार्गदर्शन द्वारा आलोकित न हो जिसे साधारण बुद्धि नहीं प्रदान कर सकती, पर उच्चतर अन्तर्ज्ञान प्रदान कर सकता है। अतएव अन्तर्ज्ञान दूसरा अधिक महत्त्वपूर्ण और सम्भव साधन है जो हमें प्राप्त हो सकता है, और वह हमें वास्तव में ही, इस कठिन क्षेत्र में सामयिक आलोक एवं मार्गदर्शन प्रदान कर सकता है और कभी-कभी प्रदान करता ही है। पर हमारी वर्तमान मानसिकता में कार्य करता हुआ वह इस असुविधा का शिकार होता है कि उसकी क्रिया निश्चित नहीं होती, उसका व्यापार अपूर्ण होता है, वह कल्पना तथा भ्रान्तिशील मानसिक निर्णय की मिथ्या अनुकरणात्मक क्रियाओं से आच्छन्न हो जाता है और सतत-भ्रान्तिशील मन की

सामान्य क्रिया उसे निरन्तर अपने अधिकार में लाकर मिश्रित और विकृत करती रहती है। उच्चतर प्रकाशपूर्ण बुद्धि के कार्य की इस सम्भावना को विस्तृत और सुनिश्चित रूप देने के लिये उपर्युक्त त्रुटियों से मुक्त एवं विशुद्ध, व्यवस्थित अन्तर्ज्ञानात्मक मन का निर्माण करना आवश्यक होगा।

बुद्धि की इस असमर्थता के सामने खड़ा हुआ पर भविष्य के ज्ञान के लिये उत्कण्ठित मानव फिर से अन्य बाह्य साधनों की, शकुनों, भाग्य-निर्णयों, स्वप्नों तथा फलित ज्योतिष की और भूत एवं भावी के ज्ञान के लिये अन्य अनेक प्रस्थापित तथ्यों की शरण में चला गया है जिन्हें कम संशयवादी युगों में सच्चे विज्ञानों का रूप दे दिया गया है। संशयप्रधान बुद्धि के द्वारा चुनौती दिये जाने एवं अविश्वास किये जाने पर भी ये अभीतक हमारे मनों को आकृष्ट करने में निरन्तर निरत हैं और अपना अधिकार जमाये हुए हैं; इसमें इन्हें कामना, श्रद्धालुता और अन्धविश्वास का सहारा मिलता है, साथ ही इनके दावों में सत्य का कुछ अंश होने की जो साक्षी, अपूर्ण ही सही, हमें प्रायः मिलती है वह भी इनका समर्थन करती है। एक उच्चतर चैत्य ज्ञान हमें दिखाता है कि वास्तव में जगत् सादृश्यों और संकेतों की अनेक पद्धतियों से पूर्ण है और चाहे इन चीजों का मानव-बुद्धि द्वारा कितना ही अधिक दुरुपयोग क्यों न किया गया हो, फिर भी ये अपने स्थान पर तथा ठीक अवस्थाओं में हमें अतिभौतिक ज्ञान के लिये वास्तविक तथ्य सामग्री दे सकती हैं। तथापि यह स्पष्ट ही है कि अन्तर्ज्ञान (बोधिमय ज्ञान) ही इन्हें खोजकर सूत्रबद्ध रूप दे सकता है,—जैसे कि वास्तव में चैत्य एवं अन्तर्ज्ञानात्मक मन ने सत्य-प्रतिपादक ज्ञान की इन पद्धतियों की पहले-पहल रचना की थी,—और व्यवहार में भी यह पता चलेगा कि परम्परागत या दैव-घटित व्याख्या या यान्त्रिक नियम एवं सूत्र का कोरा प्रयोग नहीं वरन् बोधिमूलक ज्ञान ही हमें इन संकेतों के यथायथ प्रयोग का निश्चय बंधा सकता है। अन्यथा, स्थूल बुद्धि द्वारा प्रयोग में लाये जाने पर ये भ्रान्ति के एक घने जंगल का रूप धारण कर सकते हैं।

भूत, वर्तमान और भविष्य का सच्चा और प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार चैत्य चेतना और चैत्य शक्तियों के उद्घाटन से आरम्भ होता है। चैत्य चेतना वह है जिसे आजकल प्रायः प्रच्छन्न अन्तःसत्ता कहा जाता है, अर्थात् भारतीय मनोविज्ञान का सूक्ष्म या स्वाप्न आत्मा। उसके सम्भाव्य ज्ञान का क्षेत्र, जैसा कि पिछले अध्याय में निर्दिष्ट किया जा चुका है, लगभग अनन्त ही है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य की सम्भावनाओं और निश्चित यथार्थताओं में पैठनेवाली अन्तर्दृष्टि की एक बहुत व्यापक शक्ति को तथा इस अन्तर्दृष्टि के अनेक रूपों को अपने अन्दर समाविष्ट करता है। उसकी प्रथम शक्ति, जो सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, देश और काल में विद्यमान किन्हीं भी वस्तुओं की मूर्तियों को चैत्य इन्द्रिय द्वारा देखने की उसकी शक्ति है। अतीन्द्रिय-दर्शियों, माध्यमों तथा कुछ दूसरों के द्वारा

यह जिस रूप में प्रयोग में लायी जाती है उसमें यह प्रायः ही और, वास्तव में साधारणतया ही, एक विशिष्ट शक्ति है जो सीमित होती हुई भी अपनी क्रिया में प्रायः सुनिश्चत और यथार्थ होती है, और यह अन्तरात्मा या आध्यात्मिक सत्ता या उच्चतर बुद्धि के किसी प्रकार के विकास को द्योतित नहीं करती। यह एक द्वार है जो जाग्रत् मन और अन्तःप्रच्छन्न मन के बीच संयोगवश या एक सहजात देन के कारण या किसी प्रकार के दबाव से खुल जाता है और यह हमें प्रच्छन्न मन के ऊपरी तल या बाहरी अंचल में ही प्रवेश प्रदान करता है। गुप्त विराट् मन की एक विशेष शक्ति एवं क्रिया में सभी वस्तुएं प्रतिमाओं के द्वारा—केवल चाक्षुष ही नहीं वरन्, यदि हम ऐसी पदावलिका प्रयोग कर सकते हों तो, श्रव्य या अन्यविध प्रतिमाओं के द्वारा भी—प्रतिरूपित होती हैं। और यदि रचनाकारी मन और उसकी कल्पनाओं का हस्तक्षेप न हो, अर्थात् यदि कृत्रिम या मिथ्याकारक मानसिक प्रतिमाएं बीच में दखल न दें, यदि चैत्य इन्द्रिय मुक्त, सच्ची और निष्क्रिय (निष्प्रतिरोध) हो तो सूक्ष्म या चैत्य इन्द्रियों के एक विशेष प्रकार के विकास से इन प्रतिरूपों या प्रतिलेखों को पूर्ण यर्थाथता के साथ ग्रहण करना सम्भव हो जाता है। इसके साथ ही, मन की यथार्थ प्रतिमाओं में भूत और भविष्य को तथा स्थूल इन्द्रिय की पहुंच से परे के वर्तमान को साक्षात् देखना भी सम्भव हो जाता है, यद्यपि उनके बारे में भविष्यवाणी करना उतना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार के साक्षात्कार की यथार्थता इसपर निर्भर करती है कि मन दृष्ट वस्तु के वर्णनतक ही सीमित रहे। अनुमान एवं व्याख्या करने की अथवा किसी और प्रकार से चाक्षुष ज्ञान के परे जाने की चेष्टा अत्यधिक भ्रान्ति की ओर ले जा सकती है। पर हां, यदि इस चेष्टा के साथ ही एक परिष्कृत, सूक्ष्म, विशुद्ध और तीव्र चैत्य अन्तर्ज्ञान भी विद्यमान हो या ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि का उच्च विकास हो चुका हो तो बात दूसरी है।

चैत्य चेतना का एक अधिक पूर्ण उद्घाटन हमें प्रतिमाओं द्वारा साक्षात्कार करने की इस शक्ति से बहुत ही परे ले जाता है और निःसन्देह वह हमें एक नयी काल-चेतना में तो नहीं पर तीनों कालों के ज्ञान की अनेक पद्धतियों में प्रवेश प्रदान करता है। अन्तः-प्रच्छन्न या चैत्य सत्ता अपने-आपको चेतना एवं अनुभूति की अतीत अवस्थाओं में वापिस ले जा सकती या प्रक्षिप्त कर सकती है और चेतना एवं अनुभूति की भावी अवस्थाओं को भी पहले से जान सकती है अथवा उनमें अपनेको प्रबलतया प्रक्षिप्त भी कर सकती है, यद्यपि साधारणतया ऐसा कम ही देखने में आता है। ऐसा वह भूत और भविष्य के नित्य स्वरूपों या प्रतिरूपों में कुछ काल के लिये प्रवेश करके या उनके साथ अपनी सत्ता को या ज्ञानानुभव की शक्ति को एकीभूत करके करती है। ये नित्य स्वरूप या प्रतिरूप हमारे मन के पीछे स्थित सनातन काल-चेतना में धारित रहते हैं या फिर अतिमानस की सनातनता के द्वारा काल-दृष्टि की अविभाज्य, अविच्छिन्न धारा में उपरितल पर उछाल फेंके जाते

हैं। अथवा, चैत्य सत्ता इन वस्तुओं की छाप को ग्रहण करके चैत्य के सूक्ष्म आकाश में एक प्रतिलेख के रूप में इनका अनुभव रच सकती है। या फिर वह भूत को अवचेतन स्मृति में से, जहां वह प्रसुप्त रूप में सदा ही विद्यमान है, उभार सकती है और उसे अपने अन्दर एक जीवन्त रूप तथा एक प्रकार का नया स्मृत्यात्मक अस्तित्व प्रदान कर सकती है, और इसी तरह वह भविष्य को प्रसुप्तता की गहराइयों में से, जहां यह हमारी सत्ता में पहले से ही निर्मित एवं तैयार है, उपरितल पर ला सकती है और अतीत की भांति उसे भी अपने लिये रूप दे सकती एवं अनुभव कर सकती है। वह एक प्रकार की चैत्य विचार-दृष्टि या चैत्य अन्तर्ज्ञान के द्वारा—यह अन्तर्ज्ञान और ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि की सूक्ष्मतर एवं कम मूर्त विचार-दृष्टि एक ही चीज नहीं है—भविष्य को पहले से ही देख या जान सकती है या जो भूतकाल पर्दे के पीछे चला गया है उसमें इस चैत्य अन्तर्ज्ञान की प्रभा फेंककर उसे वर्तमान ज्ञान के लिये पुनः प्राप्त कर सकती है। वह एक प्रतीकात्मक अन्तर्दर्शन का विकास कर सकती है जो शक्तियों और गूढ़ार्थों के अन्तर्दर्शन के द्वारा भूत और भविष्य को प्रकाशित करता है। ये शक्तियां और गूढ़ार्थ अतिभौतिक स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं पर जड़ जगत् में सर्जन करने में समर्थ हैं। अन्तःप्रच्छन्न या चैत्य सत्ता भगवान् के प्रयोजन एवं देवताओं के विचार को और सभी पदार्थों तथा उनके चिह्नों एवं संकेतों को भी अनुभव कर सकती है जो अन्तरात्मा पर ऊर्ध्व से प्रकट होते हैं और शक्तियों की जटिल गति का निर्धारण करते हैं। वह उन शक्तियों की गति को भी अनुभव कर सकती है जो हमारे जीवनों से सम्बन्ध रखनेवाली, मानसिक, प्राणिक तथा अन्य लोकों की सत्ताओं के दबाव को सूचित करती हैं तथा उसे प्रत्युत्तर देती हैं, जैसे कि वह इन सत्ताओं की उपस्थिति और क्रिया का भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकती है। वह भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल की घटनाओं के सब प्रकार के संकेतों को सभी साधनों से अर्जित कर सकती है। वह अपनी दृष्टि के समक्ष आकाशलिपि को ग्रहण कर सकती है जो सभी अतीत वस्तुओं का इतिवृत्त सुरक्षित रखती है तथा उस सबकी प्रतिलिपि करती जाती है जो वर्तमान में घटित हो रहा है, और जो भविष्य को भी लेखबद्ध कर डालती है।

ये सब तथा अन्य अनेक शक्तियां हमारी अन्तःप्रच्छन्न सत्ता में छुपी हुई हैं और चैत्यगत चेतना के जागरण के साथ ये उपरितल पर लायी जा सकती हैं। हमारे अतीत जन्मों का ज्ञान,—वह चाहे आत्मा की अतीत अवस्थाओं या उसके व्यक्तित्वों का हो या किन्हीं दृश्यों एवं घटनाओं का तथा दूसरों के साथ हमारे सम्बन्धों का,—दूसरों के विगत जन्मों का, संसार के अतीत का, भविष्य का ज्ञान, उन वर्तमान वस्तुओं का ज्ञान जो हमारी स्थूल इन्द्रियों के क्षेत्र से परे हैं या जो स्थूल बुद्धि के सामने खुले हुए ज्ञान के किसी भी साधन की, पहुंच से परे हैं, भौतिक पदार्थों का ही नहीं, वरन्, हमारे तथा दूसरों के अतीत, वर्तमान और भावी मन,

प्राण एवं आत्मा के कार्य-व्यापार का सहजज्ञान एवं स्मृति-अंकन, इस लोक का ही नहीं बल्कि अन्य लोकों या चेतना-स्तरों का तथा उनकी कालगत अभिव्यक्तियों का ज्ञान और पृथ्वी तथा इसकी देहधारी आत्माओं तथा उनके भाग्यों पर अन्य लोकों की क्रियाओं एवं प्रभावों का, इन सबमें उनके हस्तक्षेप का ज्ञान हमारी चैत्य सत्ता के लिये खुला पड़ा है, क्योंकि वह वैश्व सत्ता के सन्देशों के अत्यन्त निकट है, केवल या मुख्य रूप से प्रत्यक्ष और वर्तमान में ही ग्रस्त नहीं है और न निरे वैयक्तिक एवं भौतिक अनुभव के संकुचित घेरे में ही बन्द है।

पर इसके साथ ही ये शक्तियां इस दोष से ग्रस्त हैं कि ये भूल-भ्रान्ति में फंसने की सम्भावना से किसी तरह भी मुक्त नहीं हैं, और विशेषतया चैत्य चेतना के निम्न स्तर एवं अधिक बाह्य क्रिया-व्यापार तो भयानक प्रभावों, प्रबल भ्रमों, और भ्रान्त, दूषित एवं विकृत करनेवाले सुझावों और प्रतिमाओं के शिकार होते हैं। शुद्ध मन और हृदय तथा तीव्र और सूक्ष्म चैत्य अन्तर्ज्ञान इस विकृति और भ्रान्ति से बचाने के लिये बहुत कुछ कर सकते हैं, पर अधिक-से-अधिक सुविकसित चैत्य चेतना भी तबतक पूर्णतया सुरक्षित नहीं हो सकती जबतक कि चैत्य शक्ति अपने से ऊंची शक्ति के द्वारा आलोकित एवं उन्नीत न हो और उसे ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक मन का स्पर्श एवं बल प्राप्त न हो और जबतक इस अन्तर्ज्ञानात्मक मन को भी आत्मा की अतिमानसिक शक्ति की ओर उन्नीत न कर दिया जाये। चैत्य चेतना अपने काल-ज्ञान को आत्मा की अविभाज्य, अविच्छिन्न धारा में सीधे निवास करके नहीं प्राप्त करती और उसके पास अपने मार्गदर्शन के लिये न तो एक पूर्ण अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक होता है और न उच्चतर सत्य-चेतना की चरम-परम ज्योति। वह अपने कालानुभवों को मन की भांति केवल किसी अंश एवं ब्योरे में ही ग्रहण करती है, सब प्रकार के सुझावों की ओर खुली रहती है, और जैसे, इसके परिणामस्वरूप, उसका सत्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत है, वैसे ही इसके भ्रान्ति के मूलस्रोत भी अनेक और नानाविध हैं। भूत में से उसके पास केवल वह ही नहीं आता जो असल में था, बल्कि वह भी जो हो सकता था या जिसने यत्न किया पर घटित होने में असफल रहा, वर्तमान से उसके पास केवल वह ही नहीं आता जो है, बल्कि जो हो सकता है या होना चाहता है उस सबकी भीड़ भी आ जमा होती है और भविष्य से उसके पास आगे होनेवाली वस्तुएं ही नहीं आतीं वरन् अनेक प्रकार की सम्भावनाओं के सुझाव, अन्तर्ज्ञान, अन्तर्दर्शन और मूर्त रूप भी आ जाते हैं। इसके साथ ही चैत्य अनुभव के निरूपण के समय मानसिक रचनाएं और मानसिक प्रतिमाएं वस्तुओं के वास्तविक सत्य में सदा ही हस्तक्षेप कर सकती हैं।

अन्तःप्रच्छन्न सत्ताके सन्देशों का उपरितल पर आना और चैत्यगत चेतना की क्रिया ये दोनों अज्ञानमय मन को, जिससे हम अपनी साधना आरम्भ करते हैं, पूर्णतया तो नहीं पर उत्तरोत्तर आत्म-विस्मृतिपूर्ण ज्ञान से युक्त मन में बदलते चले

जाते हैं। यह मन अन्तरात्मा से उठनेवाली सन्देशवाणियों एवं ज्ञानधाराओं से, उसकी समग्र सत्ता एवं अनन्त अन्तर्निधि-विषयक और भी गुप्त चैतन्य से निर्गत रश्मियों से निरन्तर आलोकित होता है। सनातन आत्मा भूत, वर्तमान और भविष्य के जिस सहजात, नित्य पर गुप्त ज्ञान को सदा ही अपने अन्दर धारण किये है, तद्विषयक चैतन्य से भी यह सतत प्रकाशित रहता है—यह चैतन्य यहां अपने-आपको आत्मा के उक्त ज्ञान के एक प्रकार के स्मरण, पुनरुद्बोधन या आविष्करण के रूप में प्रकट करता है। पर क्योंकि हम देहधारी हैं तथा भौतिक चेतना पर आधारित हैं, अतः अज्ञानमय मन तब भी एक अवरोधक परिस्थिति, हस्तक्षेपकारक शक्ति तथा सीमाजनक स्वभाव-शक्ति के रूप में डटा रहता है जो नयी रचना में बाधा डालती हैं तथा उसके साथ मिल-मिला जाती हैं अथवा, व्यापक ज्ञानदीप्ति के क्षणों में भी, यह मन एक साथ एक सीमा-भित्ति एवं दृढ़ आधार के रूप में बना रहता है और अपनी अक्षमताओं एवं भूलों को लादता रहता है। उसकी इस हठधर्मी का इलाज करने के लिये पहला आवश्यक साधन यह प्रतीत होगा कि एक ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि की शक्ति का विकास किया जाये जो काल और उसकी घटनाओं के सत्य को तथा अन्य सब प्रकार के सत्य को अन्तर्ज्ञानात्मक विचार, ऐन्द्रिय सम्वेदन और अन्तर्दर्शन के द्वारा देखती है और अपनी सहजात विवेक-ज्योति के द्वारा भूल-भ्रान्तियों के आक्रमणों का पता लगाकर उन्हें बहिष्कृत करती है।

समस्त बोधिमूलक ज्ञान (अन्तर्ज्ञान), कम या अधिक प्रत्यक्ष रूप से, स्व-सचेतन आत्मा की ज्योति के मन के अन्दर प्रवेश करने से ही प्राप्त होता है। यह आत्मा मन के पीछे छुपा है। इसके अपने अन्दर तथा इसकी सब आत्माओं के अन्दर जो कुछ भी है उस सबसे यह सचेतन है। यह सर्वज्ञ है तथा अज्ञानमय या आत्म-विस्मृतिपूर्ण मन को विरली या सतत दीप्तियों के द्वारा या अपनी उस ज्योति के द्वारा आलोकित कर सकता है जो इसकी सर्वज्ञता में से उसके अन्दर स्थिरतया प्रवाहित होती है। इस 'सब'के अन्दर, जिससे कि यह सचेतन है, वह सभी कुछ आ जाता है जो काल में था, है या होगा और यह सर्वज्ञता हमारे मन के किये हुए तीन कालों के विभाजन से, परिसीमित, प्रतिहत या कुण्ठित नहीं होती, न ही यह एक मृत, इस समय अविद्यमान, अल्प-स्मृत या विस्मृत अतीत के, तथा अभीतक अस्तित्व में न आये और अतएव, अज्ञेय भविष्य के,—जो अज्ञानावस्था में मन के लिये अत्यन्त अटल है,—विचार एवं अनुभव से सीमित, व्याहत या पराभूत होती है। इस प्रकार, अन्तर्ज्ञानात्मक मन का विकास अपने साथ काल-ज्ञान की क्षमता ला सकता है जो उसके पास बाहरी संकेतों से नहीं, वरन् वस्तुओं के विराट् आत्मा के भीतर से आती है। उसके अन्दर अतीत की जो सनातन स्मृति है, वर्तमान वस्तुओं का जो असीम भण्डार है तथा भविष्य का जो पूर्व-दर्शन है, जिसे

स्व-विरोधात्मक, पर सांकेतिक भाषा में भविष्य की स्मृति कहा गया है,—उस सबसे उसे काल-ज्ञान की क्षमता प्राप्त होती है। पर यह क्षमता पहले-पहल व्यवस्थित ढंग से नहीं, वरन् विक्षिप्त एवं अनिश्चित रूप से कार्य करती है। जैसे-जैसे अन्तर्ज्ञान की शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे इस क्षमता के प्रयोग पर प्रभुत्व प्राप्त करना तथा इसके क्रिया-व्यापार एवं नाना गतियों को कुछ सीमातक व्यवस्थित करना अधिक सम्भव होता जाता है। तीनों कालों की वस्तुओं के उपादानों पर तथा उनके मूलतत्त्वों या सूक्ष्म व्योरों के ज्ञान पर प्रभुत्व प्राप्त करने की शक्ति अभ्यास द्वारा आयत्त एवं स्थापित की जा सकती है, पर साधारणतया यह एक विशिष्ट या असामान्य शक्ति के रूप में ही अस्तित्व रखती है और मन का सामान्य कार्य या उसका एक बहुत बड़ा भाग अब भी अज्ञानमय मन का व्यापार बना रहता है। यह स्पष्ट ही एक न्यूनता एवं सीमा है। जब यह शक्ति पूर्णतः बोधि-भावापन्न मन की सामान्य एवं स्वाभाविक क्रिया के रूप में अपना स्थान ग्रहण कर लेती है तभी यह कहा जा सकता है कि जहांतक मनोमय मनुष्य में सम्भव है वहांतक त्रिकाल-ज्ञान की क्षमता पूर्णता को पहुंच गयी है।

बुद्धि की सामान्य क्रिया को उत्तरोत्तर बहिष्कृत करके, अन्तर्ज्ञानमय चेतना पर पूर्ण एवं समग्र निर्भरता प्राप्त करके और इसके फलस्वरूप मनोमय सत्ता के सभी भागों को अन्तर्ज्ञानमय बनाकर ही अज्ञानमय मन के स्थान पर अन्तर्निहित ज्ञान से युक्त मन को, अभी पूर्ण रूप से नहीं तो अधिक सफलतापूर्वक, प्रतिष्ठित किया जा सकता है। परन्तु, आवश्यकता है अज्ञानमय मन की नींव पर खड़ी की गयी मानसिक रचनाओं को समाप्त करने की, विशेषकर, उक्त प्रकार के अन्तर्ज्ञान के लिये तो इन्हें समाप्त करना अत्यावश्यक है। साधारण मन और अन्तर्ज्ञानात्मक मन में भेद यह है कि साधारण मन अन्धेरे में या, अधिक-से-अधिक, अपनी अस्थिर मशाल के प्रकाश द्वारा खोजता हुआ पहले तो पदार्थों को वैसे ही देखता है जैसे वे उस प्रकाश में उसे प्रतीत होते हैं और दूसरे, जहां उसे पता नहीं चलता वहां वह कल्पना, अनिश्चित अनुमान तथा अपने कुछ अन्य साधनों एवं कामचलाऊ युक्तियों के द्वारा वस्तुओं को गढ़ लेता है जिन्हें वह तुरत ही सत्य मान लेता है, अर्थात् वह छाया-प्रक्षेपों, गन्धर्व-नगरों, मिथ्या-विस्तारित-छायाओं, प्रतारक-पूर्वबोधों, सम्भावनाओं और सुशक्यताओं को घड़ लेता है जो उसके लिये सुनिश्चित सत्यों का कार्य करती हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन इस प्रकार की कोई भी कृत्रिम रचना नहीं करता, वरन् अपने-आपको ज्योति का ग्रहण करनेवाला पात्र बनाता है और सत्य को अपने अन्दर व्यक्त होने तथा उसकी रचनाओं को संघटित करने की अनुमति देता है। पर जबतक मिश्रित क्रिया चलती रहती है और जबतक मानसिक रचनाओं तथा कल्पनाओं को क्रिया करने दी जाती है, तबतक उच्चतर ज्योति या सत्य ज्योति के प्रति अन्तर्ज्ञानात्मक मन की यह निष्क्रियता पूर्ण नहीं हो सकती, न यह सुरक्षित प्रभुत्व ही प्राप्त कर सकती है और अतएव त्रिकालज्ञान की सुदृढ़ व्यवस्था भी

स्थापित नहीं हो सकती। इस बाधा एवं मिश्रण के कारण ही त्रिकाल-दर्शन की, अर्थात् पश्चाद्दर्शन, परिदर्शन और पुरोदर्शन की वह शक्ति, जो कभी-कभी आलोकित मनपर अपनी छाप लगाती है, मानसिक क्रिया की बुनावट का भाग न होकर अन्य शक्तियों की तरह केवल एक असामान्य शक्ति ही है। इतना ही नहीं, वरन् वह केवल कभी-कभी ही प्रकट होनेवाली तथा अत्यन्त अपूर्ण होती है और प्रायः ही विकृत हो जाती है, क्योंकि हमें बिना पता लगे ही उसमें भूल मिल-मिला जाती है या उसमें हस्तक्षेप करके वह उसका स्थान स्वयं ले लेती है।

जो मानसिक रचनाएं हस्तक्षेप करती हैं वे मुख्यतया दो प्रकार की हैं। उनमें से पहले प्रकार की एवं अत्यन्त प्रबल रूप से विकृत करनेवाली वे हैं जो इच्छाशक्ति के दबावों से उत्पन्न होती हैं। हमारी इच्छाशक्ति देखने और निर्णय करने का दावा करती है, वह ज्ञान में हस्तक्षेप करती है और अन्तर्ज्ञान को सत्य ज्योति के प्रति निष्क्रिय तथा उसकी निष्पक्ष एवं शुद्ध प्रणालिका नहीं बनने देती। व्यक्तिगत इच्छाशक्ति,—वह चाहे भावावेगों और हृदय की कामनाओं का रूप ले या प्राण की लालसाओं का अथवा प्रबल क्रियाशील संकल्पों का रूप ले या बुद्धि की स्वेच्छापूर्ण अभिरुचियों का,—स्पष्टतया ही विकृति का मूल होती है, उस समय जब कि ये सब (भावावेग आदि) अपने-आपको ज्ञान पर लादने की चेष्टा करते हैं और जिस चीज के लिये हम कामना या संकल्प करते हैं उसीको अतीत, वर्तमान या भविष्य की वास्तविक वस्तु समझने के लिये हमें प्रेरित करते हैं, और ऐसी चेष्टा ये प्रायः अवश्य ही करते हैं और इसमें इन्हें सफलता भी मिलती है। कारण, या तो ये सत्य-ज्ञान को अपनी क्रिया नहीं करने देते, अथवा यदि वह अपने को सामने लाता भी है तो ये उसपर झपटकर उसे अपने अधिकार में कर लेते हैं, उसे तोड़-मरोड़कर उसका रूप ही बदल डालते हैं और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए विकृत रूप को एक ऐसा आधार बना देते हैं जो इच्छाशक्ति द्वारा रचे मिथ्यात्व के संघात को सही सिद्ध करता है। अतः व्यक्तिगत इच्छाशक्ति को या तो बिल्कुल त्याग देना होगा या फिर उसके सुझावों को तबतक उनके उचित स्थान पर रखना होगा जबतक कि उच्चतर निर्व्यक्तिक ज्योति के सामने उन्हें प्रस्तुत करके उनके बारे में उसका सर्वोच्च निर्णय न प्राप्त कर लिया जाये और तब मन की अपेक्षा कहीं गहरी एक भीतरी सत्ता से या एक उच्चतर स्तर से प्राप्त सत्य के अनुसार उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करना होगा। पर, यद्यपि व्यक्तिगत इच्छाशक्ति को निरुद्ध तथा मन को उच्चतर सत्य के ग्रहण के लिये निष्क्रिय रखा जाये, तो भी सब प्रकार की शक्तियों और सम्भावनाओं के सुझाव उसपर (मन पर) आक्रमण कर सकते हैं तथा अपने-आपको उसपर लाद सकते हैं। ये शक्तियां और सम्भावनाएं संसार में अपनी चरितार्थता के लिये प्रयास करती हैं। अपनी अस्तित्वेच्छा के (अपने-आपको प्रकट करने की इच्छाशक्ति के) प्रवाह में ये जिन वस्तुओं को घड़ती हैं उन्हें ये

भूत, वर्तमान या भविष्य के सत्य के रूप में प्रस्तुत करती हुई हमारे सामने प्रकट होती हैं। यदि मन इन प्रतारक सुझावों पर ध्यान दे, उनके स्व-मूल्यांकनों को स्वीकार कर ले, उन्हें दूर न हटाये या सत्य ज्योति के सामने निर्णयार्थ प्रस्तुत न करे तो सत्य का अवरोध या विकृति-रूपी उपर्युक्त परिणाम उत्पन्न होकर रहेगा। यह भी सम्भव है कि इच्छाशक्ति के तत्त्व को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाये और मन को उच्चतर ज्योतिर्मय ज्ञान की एक नीरव एवं निष्क्रिय पंजिका बना दिया जाये, और ऐसी दशा में काल-सम्बन्धी अन्तर्ज्ञानों को कहीं अधिक शुद्ध रूप से ग्रहण करना सम्भव हो जाता है। परन्तु सत्ता की समग्रता एक निष्क्रिय ज्ञान की ही नहीं, इच्छाशक्ति के कार्य की भी मांग करती है, और इसलिये अधिक व्यापक और पूर्ण उपचार यह है कि व्यक्तिगत इच्छा के स्थान पर विश्वभावापन्न इच्छा को उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित किया जाये। यह विश्वभावापन्न इच्छा ऐसी किसी भी चीज पर आग्रह नहीं करती जिसे यह सुरक्षित रूप में यों अनुभव नहीं कर लेती कि यह उस उच्चतर ज्योति से प्राप्त भावि-सम्बन्धी अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेरणा या साक्षात्कार है जिसमें इच्छाशक्ति ज्ञान के साथ एकीभूत है।

दूसरे प्रकार की मानसिक रचना हमारे मन एवं बुद्धि के वास्तविक स्वभाव के साथ तथा कालगत वस्तुओं के प्रति उसके व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखती है। मन को यहां सभी वस्तुएं ऐसी संसिद्ध, प्रत्यक्ष, यथार्थ वस्तुओं का संघात दिखायी देती हैं जिनके कुछ पूर्ववर्ती कारण तथा स्वाभाविक परिणाम होते हैं, उसे सब कुछ सम्भावनाओं का एक अनिर्धारित संघात प्रतीत होता है। और सम्भवतः उसे एक और चीज भी दीख पड़ती है, यद्यपि इसके सम्बन्ध में वह निश्चयवान् नहीं होता। इन सब सम्भावनाओं के पीछे उसे एक निर्धारक तत्त्व,—एक संकल्पशक्ति, नियति या कोई शक्तिशालिनी सत्ता,—दिखायी देता है जो अनेक सम्भव वस्तुओं में से कुछ को अस्वीकार कर देता है तथा कुछ दूसरी वस्तुओं को स्वीकृति देता है या प्रकट होने के लिये बाध्य करता है। अतएव, उसकी रचनाएं, कुछ अंश में तो, अतीत और वर्तमान दोनों की वास्तविक वस्तुओं के आधार पर किये गये अनुमानों से बनी होती हैं, कुछ अंश में सम्भावनाओं के संकल्पानुगत या कल्पनामूलक एवं आनुमानिक चयन एवं संयोजन से और, थोड़े-से अंश में, निर्णायक तर्कणा या रागमूलक निर्णय या आग्रहपूर्ण सर्जनशील संकल्प-बुद्धि से बनी होती हैं जो यथार्थ और सम्भव वस्तुओं के संघात में उस सुनिश्चित सत्य को निर्धारित करने का यत्न करती है जिसे खोजने या निर्धारित करने का वह प्रयास कर रही है। इस सबको, जो हमारे मन के चिन्तन एवं व्यापार के लिये अनिवार्य है, बहिष्कृत या रूपान्तरित करना होगा। ऐसा होने के बाद ही अन्तर्ज्ञान को एक सुदृढ़ आधार पर अपने-आपको व्यवस्थित करने का अवसर प्राप्त हो सकता है। ऐसा रूपान्तर सम्भव है, क्योंकि अन्तर्ज्ञानात्मक मन को भी वही (मन का) कार्य करना होता है और उसका

क्षेत्र भी वही होता है; पर हां, वह अपने साधन-द्रव्यों का प्रयोग भिन्न ढंग से करता है तथा उनके अर्थ पर एक और ही प्रकार का प्रकाश डालता है। इसी प्रकार, मन की रचनाओं का बहिष्कार करना भी सम्भव है, क्योंकि वास्तव में सब कुछ ऊपर, सत्य-चेतना में ही निहित है और अज्ञानमय मन की वह निश्चल-नीरवता एवं फलगर्भित ग्रहणशीलता हमारी पहुंच के बाहर नहीं है जिसमें सत्य-चेतना से उतरनेवाले अन्तर्ज्ञान की रश्मियां सूक्ष्म या तीव्र यथार्थता के साथ ग्रहण की जा सकती हैं और ज्ञान के सब साधन-द्रव्यों को भी उनके समुचित स्थान एवं यथार्थ अनुपात में देखा जा सकता है। व्यवहार में हमें यह पता चलेगा कि एक प्रकार के मन से दूसरे प्रकार के मनतक संक्रमण साधित करने के लिये दोनों विधियां बारी-बारी से या एक साथ प्रयुक्त की जाती हैं।

त्रिकाल की गति के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अन्तर्ज्ञानात्मक मन को प्रत्यक्ष यथार्थ तथ्यों, सम्भव पदार्थों तथा अटल भावी वस्तुओं—तीनों को अपनी विचारात्मक इन्द्रिय तथा विचारात्मक दृष्टि के द्वारा ठीक-ठीक देखना होगा। सबसे पहले एक प्राथमिक अन्तर्ज्ञानात्मक क्रिया विकसित होती है जो साधारण मन की तरह मुख्यतया काल में विद्यमान क्रमिक यथार्थ-सत्ताओं की धारा को देखती है, पर यह कार्य वह सत्य की एक ऐसी तात्क्षणिक प्रत्यक्ष-क्रिया के द्वारा तथा सहज यथार्थता के साथ करती है जो साधारण मन को आयत्त नहीं हो सकती। पहले-पहल वह उन्हें एक प्रत्यक्ष-बोध के द्वारा, एक विचार-क्रिया, विचारेन्द्रिय एवं विचारदृष्टि के द्वारा देखती है जो व्यक्तियों और पदार्थों पर कार्य कर रही शक्तियों को अर्थात् उनके अन्दर और चारों ओर कार्यरत विचारों, निश्चयों, प्रेरणाओं, सामर्थ्यों और प्रभावों को तुरन्त ही जान लेती है, केवल उन्हीं विचारों, निश्चयों आदि को नहीं जो उनके अन्दर रूप ग्रहण कर चुके हैं या ग्रहण कर रहे हैं, वरन् उन्हें भी जो परिपार्श्व से या साधारण मन को न दीखनेवाले गुह्य उद्गमों से उनके अन्दर या ऊपर आ रहे हैं या आनेवाले हैं। यह विचारात्मक क्रिया, इन्द्रिय एवं दृष्टि इन शक्तियों के जटिल संघात को खोज और आयास से रहित एक द्रुत अन्तर्ज्ञानात्मक विश्लेषण के द्वारा या एक समन्वयात्मक समग्र दृष्टि के द्वारा विभक्त करके इन सब शक्तियों में भेद करती हैं, फलप्रद शक्ति और निष्फल या कम फलप्रद शक्ति में विवेक करती है तथा उनसे निकलनेवाले परिणाम को भी देख लेती है। प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओं के अन्तर्ज्ञानात्मक दर्शन की सर्वांगीण विधि यही है, किन्तु अन्य विधियां भी हैं जो अपने स्वरूप में इतनी पूर्ण नहीं हैं। कारण, कार्यरत शक्तियों को परिणाम से पहले या उसके साथ-साथ प्रत्यक्ष किये बिना भी परिणाम को देख लेने की शक्ति साधक में विकसित हो सकती है। या फिर यह भी हो सकता है कि पहले परिणाम ही तीव्र वेग से, तुरन्त उसके सामने आ जाये और कार्यरत शक्तियां बाद में ही दिखायी दें। दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि शक्तियों के जटिल

संघात का कुछ-कुछ या पूर्ण प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाये, पर अन्तिम निश्चित परिणाम के विषय में निश्चय न होने पाये या, केवल धीमे-धीमे ही निश्चय हो पाये या फिर एक सापेक्ष निश्चय ही प्राप्त हो। यथार्थ वस्तुओं के समग्र और एकीकृत साक्षात्कार की क्षमता के विकास में यही क्रमिक अवस्थाएं आती हैं।

इस प्रकार का अन्तर्ज्ञान काल-ज्ञान का पूर्णतया निर्दोष यन्त्र नहीं है। साधारणतया यह वर्तमान की धारा में ही बहता है, और एक-एक क्षण में केवल वर्तमान, निकटतम भूत और निकटतम भविष्य को ही ठीक-ठीक देखता है। यह ठीक है कि वह अपने को पीछे की ओर (भूतकाल में) प्रक्षिप्त करके अपनी इसी शक्ति और पद्धति के द्वारा एक अतीत क्रिया को फिर से ठीक रूप में निर्मित कर सकता है या अपने को आगे की ओर (भविष्य में) प्रक्षिप्त करके अधिक दूरस्थ भविष्य की किसी वस्तु की ठीक प्रतिमूर्ति बना सकता है। पर विचारात्मक अन्तर्दृष्टि की सामान्य शक्ति के लिये यह एक अधिक असाधारण एवं दुष्कर प्रयास है और साधारणतया वह इस आत्म-प्रक्षेपण को अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग में लाने के लिये चैत्य साक्षात्कार की सहायता और आश्रय की अपेक्षा रखती है। अपिच, वह केवल वही कुछ देख सकती है जो कि प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओं की अनुद्वेल्लित प्रक्रियामें स्वतः ही उसके सम्मुख आ जाये और यदि शक्तियों की कोई अदृष्ट भीड़ या कोई हस्तक्षेपकारी शक्ति विशालतर सम्भाव्य शक्ति के प्रदेशों से टूट पड़े तथा अवस्थाओं के जटिल संघात को बदल डाले तो उसकी अन्तर्दृष्टि फिर अपना कार्य नहीं करती। काल की गति में कार्य कर रही शक्तियों की क्रिया में ऐसी घटना निरन्तर ही होती रहती है। अन्तर्ज्ञान की उक्त शक्ति इन सम्भाव्य शक्तियों पर प्रकाश डालनेवाली अन्तःप्रेरणाओं को ग्रहण करके उनसे सहायता प्राप्त कर सकती है, इसी प्रकार उसे सत्य के उन अटल साक्षात्कारों से भी सहायता मिल सकती है जो यह बताते हैं कि इन सम्भाव्य शक्तियों में निर्णायक तत्त्व कौन-सा है और उसके परिणाम क्या होंगे। इन दो शक्तियों से वह यथार्थ वस्तुओं के बोधक अन्तर्ज्ञानात्मक मन की त्रुटियों को सुधार सकती है। परन्तु अन्तर्ज्ञान की इस प्रारम्भिक क्रिया में अन्तर्दर्शन के इन महत्तर उद्गमों के साथ व्यवहार करने की जो क्षमता है वह कभी भी पूर्णतया सफल नहीं होती। एक निम्न स्तर की शक्ति के लिये यह सदा स्वाभाविक ही है कि महत्तर चेतना से प्राप्त सामग्री के साथ बर्ताव करते समय वह पूर्णतया सफल न हो। उसका स्वभाव सदा तात्कालिक यथार्थ-सत्ताओं की धारा पर बल देकर अन्तर्दर्शन को काफी सीमित कर देने का ही होता है।

तथापि ज्योतिर्मय अन्तःप्रेरणा से सम्पन्न मन का विकास करना सम्भव है। यह मन काल-गति की महत्तर सम्भाव्य शक्तियों के मध्य अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करेगा, दूर की वस्तुओं को अधिक आसानी से देखेगा और इसके साथ ही

प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओं के अन्तर्ज्ञान को अपने अन्दर, अपने अधिक उज्ज्वल, व्यापक और शक्तिशाली प्रकाश में ग्रहण करेगा। यह अन्तःप्रेरित मन वस्तुओं को विश्व की विशालतर सम्भाव्यताओं के प्रकाश में देखेगा और प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओं की धारा को शक्तिशाली सम्भव पदार्थों के संघात में से किये गये एक चुनाव के रूप में एवं उसमें से निकले एक परिणाम के रूप में देखेगा। तथापि, यदि अटल सत्यों का उद्‌भासक ज्ञान पर्याप्त मात्रा में इसे प्राप्त न हो तो यह काल-गति की नाना सम्भाव्य दिशाओं के बीच निर्णय करनेवाले विचार के सम्बन्ध में संशयग्रस्त ही रहेगा या यह ऐसे विचार को स्थगित ही रखेगा अथवा, यहांतक कि, अन्तिम यथार्थ वस्तु की दिशा से दूर एक ऐसे कालचक्र में जा फंसेगा जो किसी और, अभीतक अव्यवहार्य परिणाम का अनुसरण कर रहा होगा। ऊपर से प्राप्त होनेवाले अटल सत्य-दर्शनों की सम्पदा इस त्रुटि को कम करने में सहायक होगी, पर यहां भी वही कठिनाई सामने आयेगी कि उच्चतर ज्योति और शक्ति के खजाने से प्राप्त सामग्री को निम्न स्तर की शक्ति की क्रिया में से गुजरना पड़ेगा। किन्तु ज्योतिर्मय सत्य-दर्शन प्राप्त करनेवाले मन का विकास करना भी सम्भव है। यह मन दो निम्न गतियों को अपने अन्दर समेटकर देखता है कि शक्य और यथार्थ वस्तुओं की क्रीड़ा के पीछे निर्णीत वस्तु कौन-सी है तथा अपने अटल निर्णयों को प्रकट करने के लिये यह प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओं को अपने साधनमात्र समझता है। इस प्रकार से गठित हुआ अन्तर्ज्ञानात्मक मन सक्रिय चैत्य चेतना की सहायता पाकर काल-ज्ञान की एक अत्यन्त विलक्षण शक्ति पर प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है।

पर इसके साथ-साथ हमें यह भी ज्ञात हो जायेगा कि यह मन भी अभी एक सीमित यन्त्र है। पहली बात तो यह है कि यह एक ऐसे उच्चतर ज्ञान को प्रकट करेगा जो मन के उपादान में ही कार्य कर रहा होगा तथा जो मनोमय आकारों के सांचे में ढला होने के कारण अबतक भी मानसिक अवस्थाओं और मर्यादाओं के अधीन होगा। यह पीछे या आगे की ओर कितनी ही दूरतक विचरण क्यों न करे, फिर भी यह ज्ञान के सोपानों या क्रमों के आधार के रूप में सदा मुख्य तौर पर वर्तमान क्षणों की शृंखला का ही सहारा लेगा,—अपनी उच्चतर सत्योद्‌भासक क्रिया में भी यह काल के प्रवाह में ही विचरण करेगा और काल की गति को ऊपर से या सनातन काल की उन स्थिरताओं में प्रतिष्ठित होकर नहीं देखेगा जिनकी अन्तर्दृष्टि के क्षेत्र अति विशाल होते हैं, और अतएव, यह अपने कार्यों में सदा एक गौण एवं सीमित क्रिया के साथ, एक प्रकार की तरलता, मर्यादा और सापेक्षता के साथ बंधा होगा। अथच, इसका ज्ञान ज्ञान की वास्तविक उपलब्धि एवं अधिकृति नहीं होगा, वरन् ज्ञान का ग्रहण-रूप होगा। अज्ञानमय मन के स्थान पर यह, अधिक-से-अधिक, आत्म-विस्मृतिपूर्ण ज्ञानवाले मन को जन्म देगा जिसे प्रस्तुत आत्म-चेतना एवं विराट् चेतना सतत आत्म-स्मृति और ज्ञान-ज्योति प्रदान करेंगी।

ज्ञान की क्रिया का क्षेत्र एवं विस्तार तथा उसकी साधारण दिशाएं विकास के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगी, पर इस ज्ञान में कुछ अत्यन्त प्रबल मर्यादाएं सदा ही रहेंगी। ये मर्यादाएं अज्ञानमय मन में, जो अभी भी हमें चारों ओर से घेरे होगा या हमारे अन्दर अवचेतन रूप से विद्यमान होगा, यह प्रवृत्ति पैदा करेंगी कि वह अपनी सत्ता को फिर से दृढ़तापूर्वक स्थापित करे, फिर अन्दर घुस आये या उभड़कर ऊपर आ जाये, जहां अन्तर्ज्ञान काम करने से इन्कार करे या काम करने में असमर्थ हो वहां अपना काम करे और अपनी अव्यवस्था एवं भ्रान्ति को तथा अपने मिश्रण को फिर से अपने साथ ले आये। ऐसी दशा में सुरक्षा का एकमात्र साधन यह होगा कि साधक जानने की चेष्टा करने से इन्कार कर दे अथवा, कम-से-कम जबतक उच्चतर ज्योति उतरकर अपनी क्रिया का विस्तार न कर ले तबतक वह ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न स्थगित रखे। यह आत्म-नियन्त्रण मन के लिये कठिन है और यदि अत्यन्त सन्तुष्ट-भाव से इसका प्रयोग किया जाये तो यह जिज्ञासु साधक के विकास को अवरुद्ध कर सकता है। दूसरी ओर, यदि अज्ञानमय मन को पुनः उभड़ने दिया जाये और उसे अपनी स्खलनशील अपूर्णशक्ति के साथ पुनः ज्ञान की खोज करने दी जाये तो साधक एक सापेक्ष, पर सुनिश्चित पूर्णता प्राप्त करने के स्थान पर अज्ञानमय मन और अन्तर्ज्ञानमय मन—इन दो भूमिकाओं के बीच निरन्तर दोलायमान स्थिति में रह सकता है या फिर उसमें इन दोनों शक्तियों की मिश्रित क्रिया चलती रह सकती है।

इस द्विविधा में से निकलने का उपाय यह है कि साधक इससे भी महान् पूर्णता की ओर आगे बढ़े। अन्तर्ज्ञानात्मक, अन्तःप्रेरित एवं सत्योद्भासक मन का गठन इस पूर्णता की दिशा में एक उपक्रमात्मक अवस्थामात्र है। यह महत्तर पूर्णता तभी प्राप्त होती है यदि अतिमानसिक ज्योति और शक्ति हमारी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता में सतत और अधिकाधिक प्रवाहित एवं अवतरित हों और यदि अन्तर्ज्ञान तथा उसकी शक्तियों को अतिमानसिक प्रकृति के उन्मुक्त वैभवों में विद्यमान उनके उद्गम की ओर निरन्तर ऊंचा उठाया जाये। ऐसा होने पर एक दोहरी क्रिया आरम्भ हो जाती है। प्रथम तो यह कि अन्तर्ज्ञानात्मक मन, जो अपने से ऊर्ध्वस्थित ज्योति के प्रति सचेतन होता है और उसकी ओर खुला रहता है और अपने ज्ञान को निर्णयात्मक विचार, पुष्टि और समर्थन के लिये इस ज्योति के सम्मुख निरन्तर प्रस्तुत करता है। दूसरे, स्वयं यह ज्योति ज्ञानमय मन के उच्चतम स्तर का निर्माण करने लगती है। वास्तव में यह स्वयं अतिमानस की ही क्रिया होती है जो मन के अधिकाधिक रूपान्तरित उपादान में हो रही होती है तथा जिसमें मानसिक अवस्थाओं के प्रति दासता उत्तरोत्तर कम प्रबल होती जाती है। इस प्रकार एक अवर कोटि की अतिमानसिक क्रिया गठित हो जाती है, एक ज्ञानमय मन गठित हो जाता है जिसकी प्रवृत्ति सदा सच्चे विज्ञानमय अतिमानस में परिणत हो जाने की होती है। अज्ञानमय

मन अधिकाधिक सुनिश्चित रूप से बहिष्कृत हो जाता है, इसका स्थान आत्मविस्मृतिमय ज्ञानवाला मन ले लेता है जो अन्तर्ज्ञान से आलोकित होता है, और स्वयं अन्तर्ज्ञान भी अधिक पूर्ण रूप से व्यवस्थित होकर अपनेसे की जानेवाली अधिकाधिक बड़ी मांग का उत्तर देने में समर्थ बन जाता है। विकसित होता हुआ ज्ञानमय मन एक मध्यवर्ती शक्ति के रूप में कार्य करता है और, जैसे-जैसे यह गठित होता है, यह अज्ञानमय मन पर क्रिया करता है, उसे रूपान्तरित करता या उसका स्थान ले लेता है और उस अगले रूपान्तर को अनिवार्य बना देता है जो मन से अतिमानस में संक्रमण को संसिद्ध करता है। इस अवस्था में पहुंचने पर ही काल-चेतना एवं काल-ज्ञान में परिवर्तन आरम्भ होता है। पर यह काल-चेतना एवं काल-ज्ञान अपना आधार और अपनी सम्पूर्ण वास्तविकता एवं गूढ़ अर्थ अतिमानसिक स्तरों पर ही प्राप्त करता है। अतएव अतिमानस के सत्य के साथ इसके सम्बन्ध से ही इसकी क्रिया-प्रक्रिया पर अधिक फलप्रद रूप से प्रकाश डाला जा सकता है : क्योंकि ज्ञानमय मन विज्ञानमय भूमिका का एक बहिः-प्रक्षेपमात्र है और है अतिमानसिक प्रकृति की ओर आरोहण का अन्तिम सोपान।

विशद विषय-सूची

१

जीवन

और योग ३-७

मनुष्यजाति का और भारतीय योग ३-४

सम्पूर्ण, योग है ४-५, ७

के मनोविज्ञान पर आधारित हैं भारतीय यौगिक पद्धतियां : हठयोग, राजयोग, भक्तियोग आदि ५

सांसारिक और आध्यात्मिक, में असंगति भारत में ५-६

में व्यापक हो जाने से ही योग का पूर्ण उपयोग और सच्चा उद्देश्य साधित ६-७

२

प्रकृति [विश्व प्रकृति]

के तीन पग ८-१८; इसे जानने की जरूरत ८

का विकास तीन तत्त्वों—विकसित हो चुका, हो रहा, और होनेवाला—पर आधारित ८-९

का विकसित तत्त्व : शारीरिक जीवन ९-११

सूचना :

ऐसे पढ़ें : —

१. गुण	योग की प्रणालियां	जीवन
-ों के	-ों के	मानव, की अक्षमता
गुणों के	योग की प्रणालियों के	मानव जीवन की अक्षमता

२. जिस वाक्य के शुरू में (') है, वह अपने-आपमें स्वतंत्र वाक्य है। उसे मूल शब्द के साथ मिलाकर न पढ़ें। 'उदाहरण' के नीचे के सभी वाक्य स्वतन्त्र वाक्य हैं।

३. कहीं-कहीं अधिक स्पष्टता के लिये इस प्रकार लिखा है : दे० 'पूर्णयोग' की क्रिया में भी, इसका मतलब है 'पूर्णयोग' के नीचे का वह वाक्य जो की क्रिया में से शुरू होता है।

४. पृष्ठसंख्या के बाद अ का मतलब है वह प्रसंग उस पृष्ठ के अन्त से शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठ के आरम्भतक ही गया है। और दे० का मतलब है देखो, वि० का मतलब है विशद विषय-सूची, टि० का मतलब है टिप्पणी। दे० वि० ७ का मतलब है देखो विशद विषय-सूची में ७वां नम्बर अर्थात् 'आत्म-निवेदन'वाला अध्याय।

५. लगातार के वाक्यों (running)में (;) के बाद के वाक्य को मूल शब्द के साथ पढ़ें, पर यदि पहले (:) हो और पृष्ठसंख्या के बाद (;) न देकर (,) दिया हो तो मूल शब्द को (:) तक के वाक्य के साथ मिलाकर अगला वाक्य पढ़ें।

६. जहां कहीं वाक्य रचना मूल शब्द के साथ संगत न जान पड़े, वहां मूल शब्द के आगे कोष्ठ में जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़ने से वह सगंत बन जायेगी।

७. वाक्य के अंत में (,) का मतलब है कि मूल शब्द को वहां अंत में पढ़ें।

८. जहां (")का आरंभ नहीं दिखाया गया है, वहां मूल शब्द से पहले (")की कल्पना कर लें।

९. मूल शब्द के आगे या उसके वाक्यों में जो पृष्ठसंख्याएं होती हैं वहां मूल शब्द का कोई भी पर्याय हो सकता है। यह बात 'भगवान्' शब्द पर विशेष रूप से लागू होती है। वहां ईश्वर, परमेश्वर, परम आत्मा, परम देव, परम तत्त्व, परम सत्, अनन्त, एकमेव, ब्रह्म, सनातन, सद्वस्तु आदि हो सकता है।

१०. [ ] में पृष्ठसंख्या का मतलब है कि गौण या अवान्तर रूप से वह बात वहां भी है।

का अगला पग : मानसिक जीवन ११-४
का वह तत्त्व जिधर विकास बढ़ रहा है : उच्चतम जीवन १४-८

३

त्रिविध जीवन (भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक) १९-३०
परस्पर-आश्रित, हमारी समस्त क्रियाओं की शर्त १९
मनुष्य में १९-२०
में प्रत्येक की—शारीरिक जीवन, मन, आत्मा की—विशेष शक्ति २०
वैयक्तिक और सामूहिक २१
'भौतिक जीवन [भौतिक मनुष्य] और उसकी उन्नति तथा सामाजिक जीवन २१-३
'मानसिक जीवन और भौतिक जीवन २३-४
'मानसिक जीवन का भौतिक जीवन के साथ सम्बन्ध व्यक्तिगत लाभ के लिये या जाति के उत्थान के लिये २४-५
'आध्यात्मिक जीवन और मानसिक जीवन २५
'आध्यात्मिक जीवन और भौतिक जीवन २५-६
'आध्यात्मिक जीवन के बाह्य अस्तित्व का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये या जाति के उत्थान के लिये २६-८
का परस्पर सम्बन्ध २९
का प्राकृतिक विकास और योग २९-३०

४

योग की प्रणालियां ३१-४०
-ों के समन्वय का आधार और शर्त ३१
प्रत्येक, में तीन विचार—भगवान्, प्रकृति, मानव आत्मा—आवश्यक ३१-२
-ों में—हठयोग, राजयोग तथा भक्ति, ज्ञान, कर्म के त्रिमार्ग में—एक आरोहणकारी क्रम ३२-४०

५

समन्वय (योग प्रणालियों का) ४१-५०
सब प्रणालियों को संयुक्त कर देने से या उनके क्रमिक अभ्यास से प्राप्त नहीं हो सकता ४१-२
के लिये आवश्यकता है केन्द्रीय सामान्य सिद्धांत को पकड़ने की ४२
की एक प्रणाली पहले से है : तंत्र मार्ग ४२-३; तंत्र और योग की वैदिक प्रणालियों में भेद, पुरुष और प्रकृति की स्थिति में ४३
का समग्र विचार ४३-५
की आवश्यकता ४५
की प्रणाली ४५-६; इसमें तीन अवस्थाएं और उच्चतर प्रकृति की तीन विशेषताएं ४६-८
की इस सर्वांगीण प्रणाली का परिणाम ४८
विशालतम ४८-५०

६

साधन, चार ५३-६९
शास्त्र ५३-७
उत्साह [प्रयत्न, वैयक्तिक] ५८-६१
गुरु ६१-८
काल ६८-९

७

आत्म-निवेदन ७०-९०
और आध्यात्मिक जागरण ७०
और पुकार का आना ७०; करणीय

आवश्यक बातें ७०-१
का स्वरूप ७०-१
जब एकाएक और सुनिश्चित ७१
क्रमशः ७१-२
अपूर्ण, भी निष्फल नहीं ७२
पूर्ण, सफलता का रहस्य ७२
अपनी शक्तियों का ७२-३
पूर्ण, और प्रकृति के विरोध की कठिनाई ७३; करणीय आवश्यक बातें ७३-४
पूर्ण, और सरल उपायों का अनुसरण : जगत् के जीवन को आंतरिक जीवन से पृथक् करने की प्रवृत्ति ७४-५
अपनी संभूति और सत्ता दोनों का ७५; यह हमारे संघर्ष में चाहे जो भी कठिनाइयां बढ़ा दे . . . ७५-६
अपने जटिल, बहुविध व्यक्तित्व का ७६-७
पूर्ण, में विश्व की अंतःप्रवाही शक्तियों का विचार भी ७७
सरल, में किसी एक शक्ति की एकांगी एकाग्रता, शेष सभी को स्तब्ध . . . ७७-८
पूर्ण, में जगत् का भार भी : व्यष्टिगत संग्राम नहीं, समष्टिगत युद्ध भी ७८-९
पूर्ण, में आंतरिक अंगों के संघर्ष को मनमाने ढंग से हल करने की छूट भी नहीं ७९
पूर्ण, में सर्वग्राही एकाग्रता, भगवान् पर ७९-८०
में उच्चतर मन और हत्पुरुष, दो अंकुश ८१-२
में भगवान् पर एकाग्रता के लिये भगवान् के ज्ञान की अपेक्षा आत्मा की पुकार और मन का समर्थन पर्याप्त ८२-३
के भाव के साथ कोई भी नाम, रूप अर्घ्य . . . ८३
को प्रेरित करनेवाला भगवान् विषयक विचार या भाव ८३-४
में कामना के निम्न तत्त्व का अवलंबन ८५-६
और दिव्य कर्म का निर्दोष यंत्र ८६
और विचार, संकल्प, हृदय की एकाग्रता ८६-७
पूर्ण, से अभिप्राय ८७
में तीन अवस्थाएं ८७-९०
उस सबका जो हम हैं, जो हम सोचते, करते हैं ८९
पूर्ण, का चिह्न ९०

८

कर्म

में आत्म-समर्पण—गीता का मार्ग ९१-१०७
'समर्पण, संपूर्ण सत्ता का, साधन, सामान्य मानव जीवन का दिव्य जीवन-प्रणाली में रूपांतर साधित करने का ९१; सामान्य जीवन और उसका विकास ९१-२; प्राकृतिक विकास और योग और नूतन संभावनाएं ९२-३
सभी, ईश्वरार्पण-भाव से ९२
एवं संकल्प हमारे, का नूतन जन्म ९३
बहिर्मुख, जीवन का एक बड़ा भाग ९३-४
-में और बाह्य चेष्टाओं को भी समर्पित करना होगा ९४
करने की सामर्थ्य का—कर्ता और कर्मी भाव का—भी समर्पण ९४
-में का अर्पण ज्ञानी व भक्त के लिये भी आवश्यक ९४
-में को योग की अंतिम गति के लिये रख छोड़ने से हानि : हमारा कर्म

अंतर्ज्योति से मेल नहीं खाता ९५
विषयक गीतोक्त सत्य ९६-१०७
में समता और एकता की दोहरी नींव ९७, ९८; एकता के विपरीत भिन्नता और अहं की स्वतंत्रता का विचार ९८-९; अहं की स्वतंत्रता और निगूढ़ दिव्य इच्छा शक्ति ९९-१००
-में के बीच आत्मा की स्वतंत्रता का आश्वासन ९७
अचल शांति के आधार पर ९७
मुक्त, के लिये गीता के पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान महत्त्वपूर्ण १००-२
-में का बंधन नहीं रहता १०२
में समर्पण का आदर्श, कुछ सूत्रों में १०३
ईश्वर में निवास करते हुए, अहं में नहीं १०३
का चुनाव १०३
में कामना और अहं की ग्रन्थि को खोलना १०३-४
का गीतोक्त पहला नियम : फल-कामना का त्याग, निष्काम कर्म १०४
निष्काम, की कसौटी : पूर्ण समता १०५-६
कामना के बगैर कैसे संभव १०६
सभी, भगवान् के प्रति यज्ञ-रूप में १०६
का प्रेरक भाव : ईश्वर-प्रेम, ईश्वर-सेवा १०७
द्वारा ईश्वर-प्राप्ति के गीतोक्त तीन प्रधान साधन १०७

९

यज्ञ

, **त्रिदल पथ और यज्ञ के अधीश्वर** १०८-३५
सृष्टि और, १०८
का विधान १०८-९
का विधान और गीता १०८, ११०
का विधान और अहं १०८
साधन, अंतिम पूर्णता का १०९, १११
अचेतन १०९
हर्षपूर्वक १०९, का आधार १०९
संगठन, निकटता और सच्ची एकता का ११०
आत्मबलिदान, आत्म-पीड़न नहीं ११०-१
का सार : आत्मार्पण १११
का प्रतिफल १११
के पात्र [यजनीय] और अर्घ्य १११-२
कर्मों के, का फल ११२
आत्मदान के सिवा, अन्य सभी एकांगी, अपूर्ण ११२
पूर्ण रूप से स्वीकार्य ११२
सचेतन, का रूप दे दें अपने संपूर्ण जीवन और उसके सब कर्मों को, यही मांग हमसे की जाती है ११३
का त्रिदल पथ—इसके अभ्यास के तीन परिणाम : उच्चतम भक्ति, सर्वस्पर्शी ज्ञान, भगवान् से अंतर्मिलन ११४-६
कर्मों के, की क्रमिक प्रगति की नाप ११६
के अधीश्वर : के आधारभूत तीन अनुभव ११६-२०, के द्वैत का अनुभव १२१-३१, के अन्यान्य अनुभव १३१-२, का प्राकट्य किसी भी स्थिति में, किसी भी रूप में १३२
की सफलता का रूप १३३-४
की इस कठिन परिणति के लिये आरोहण और अवतरण आवश्यक १३४; यह अवतरण चारों ओर की विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष होता है १३४, १३५; दीर्घकाल तक आयासपूर्ण, कष्टप्रद अवस्था . . .

नमन, समर्पण अनिवार्य . . . दो आभ्यन्तर परिवर्तन सहायक १३५

१०

यज्ञ

का आरोहण (१) ज्ञान के कर्म—चैत्यपुरुष १३६-५९

त्रिविध १३६

कर्मों के, से हमारा मतलब बाह्य कर्मों का नहीं, आंतरिक गतियों का भी अर्पण है १३६

कर्मों के, का मूल तत्त्व : भगवत्-साधर्म्य १३६

कर्मों के, में तब जीवन और कर्म के वर्तमान रूप के साथ एवं अपनी सत्ता की वर्तमान क्रियाओं के—ज्ञान, भाव, संवेदन, इच्छाशक्ति की क्रियाओं के—साथ किस प्रकार व्यवहार करना होगा १३६-७; नैतिक व धार्मिक-नैतिक समाधान और पूर्णयोग की दृष्टि १३७-४१

कर्मों के, का विभाजन तीन श्रेणियों में : ज्ञान के कर्म, प्रेम के कर्म, शक्ति के कर्म १४१

ज्ञान के कर्म [ज्ञान-यज्ञ]

'परा विद्या और अपरा विद्या १४१

और दर्शन १४१-२

और धर्म १४२-३

जब अविधिपूर्वक और मिथ्या देवों को अर्पित १४३

और पूर्ण योग १४३

सभी, यज्ञ रूप में १४३, १४४; यज्ञ की ठीक भावना १४३

जो ज्वाला के निकट और जो उससे दूर १४३अ, १४७

सभी, उत्सर्ग के लिये उचित सामग्री . . . प्रत्येक सुनिर्मित कविता, चित्र, मूर्ति, भवन सर्जनशील ज्ञान की कृति १४४

-ें को स्वीकार करने में योगी का भाव १४४, १४७

'विद्याओं के अध्ययन में योगी का लक्ष्य १४४-५

लोक संग्रहार्थ १४५

-ें को उनकी सीमा से ऊपर उठा ले जाना १४५

दिव्य और मानवीय, पवित्र और अपवित्र का भेद १४६-७, १५१

-ें का विकास आध्यात्मीकृत मन में : सामान्य क्रम १४८

और योग शक्ति १४८-९

-ें के रूपांतर के दो चिह्न १४९

-ें का और भी ऊंचा आरोहण : आध्यात्मीकृत मन से अतिमानसिक ज्योति की ओर १५०-१

-ें में मुक्ति का मार्ग १५१

-ें का आरोहण : संक्षेप में १५१

चैत्य पुरुष

'प्रेम और ज्ञान अथवा हृदय और बुद्धि १५१-२

'भावमय सत्ता का दोहरा स्वरूप १५२-३

का स्थान गुह्य हृदय में १५२

को कम ही जानते हैं १५२

का सामने आना पूर्णयोग का निर्णायक क्षण १५२-३

'हृदय की क्रियाओं के दो भेद : अंतरात्मा से प्रेरित और प्राणिक संतुष्टि में लगे १५३

'हृदय की क्रियाओं के साधारणतः जो भेद किये जाते हैं : धार्मिक नैतिक . . . १५३-५; पूर्णयोग का बल तीन केन्द्रीय विधियों पर १५५अ

विवरण १५६-९

का निज स्वभाव १५६, १५७, १५८
मानव जीवन में पहले-पहल और बाद में १५६
का प्रयास मानव जीवन को देवत्व की ओर ले जाने में १५६, १५७-८
और भूलें १५६
और तर्कबुद्धि १५७
अचूक पथप्रदर्शक १५७
की आवाज १५७
सामने आने में कब समर्थ १५७
की मांग १५८
और प्रेम व प्रेम-संबंध १५८, १५९
और बाहरी बुलावे १५९
और अधोमुख आकर्षण १५९
जगत् के लिये परात्पर प्रेम व आनन्द का आह्वान भी करता है १५९

११

यज्ञ का आरोहण (२) प्रेम के कर्म—प्राण के कर्म १६०-८९

प्रेम के कर्म [प्रेम-यज्ञ]
और ज्ञान-यज्ञ १६०
में पावन विशालता तब १६०
'वैयक्तिक लौकिक प्रेम १६०
'वैयक्तिक आराधन रूप प्रेम—देवता पूजा, प्रतिमा पूजा, व्यक्ति पूजा, सुनिर्मित कृति की पूजा १६१-२; पूजा उसे सर्वत्र अर्पित १६२
'वैयक्तिक प्रेम के पीछे एक रहस्य १६२
'सार्वभौम प्रेम १६२-३
-ों का धार्मिक-नैतिक सूत्र और पूर्णयोग की दृष्टि १६३-४
'समस्त जीवन पूजा-रूप १६४-५
'पत्र-पुष्प की बाहरी भेंट ही नहीं, विचार, भाव, संवेदन, बाह्य चेष्टाएं भी भक्ति-भेंट १६४-५
'पूजा-कर्म में तीन अवयव : क्रियात्मक पूजा, पूजा-प्रतीक, हृदय की भावना १६५-७
'कर्ममय आराधन : कर्मों के कठोरतर पथ में भी प्रेम का रस १६७
का असली प्राण : अर्पण की भाव-भावना १६७-८
और चैत्य पुरुष १६८-७०
और अतिमानसिक विज्ञान १७०-१

प्राण के कर्म [जीवन के कर्म]
और तपस्यात्मक आध्यात्मिकता की दृष्टि १७१-२
और पूर्ण योग १७२, १७५, १७६अ, १८७-८
और दर्शन व धर्म तथा ज्ञान-मार्ग व प्रेम मार्ग १७२
-ों में जीवनेच्छा के चंगुल की कठिनाई; शरीर, स्थूल मन, कामनात्मा और आदर्शात्मक मन में १७२-४
-ों से—संकल्प, शक्ति, अधिकार, उपार्जन, उत्पादन, युद्ध आदि से—किनारा कठिनाई का हल नहीं १७४-५
-ों को स्थगित रखना भी हल नहीं १७५-६
'प्राण-शक्ति को उदात्त किये बिना अतिमानसिक चेतना का अवतरण संभव नहीं १७६
-ों में कठिनाई का मूल : कामनात्मा १७७-८
-ों के दिव्य अनुष्ठान की शर्तें १७७-८
'प्राण-प्रकृति के परिवर्तन की तीन शर्तें १७८-८०
भगवान् के प्रति यज्ञ-रूप में १८१
और भगवान् का आत्म-प्राकट्य १८१-२
और भागवत शक्ति की क्रिया—मार्गदर्शन, मन्थन, संरक्षण १८२-३;

खण्डित सत्ता का अखण्डीकरण १८३-४; मुक्ति, सिद्धि, स्वामित्व की ओर १८५-६
-ें को किस भाव से करना और उनका क्या स्थान है इसमें धार्मिक, तापसी, नैतिक और पूर्णयोग की दृष्टि १८७-८; मार्गदर्शन के लिये भागवत-शक्ति अकेली सर्वसमर्थ है, उसे कार्य करने देने एवं पथ की कठिनाई को कम करने के लिये जरूरी चीजें १८८-९

१२

मानदण्ड, आचार के, और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य १९०-२०९
अविभाज्य विश्व-कर्म में व्यक्ति-रूपी कर्मी के भागवत संकल्प को उत्तरोत्तर आविर्भूत करने के लिये वृद्धिशील आत्म-विकास की सहज प्रवृत्ति के परिणाम हैं १९०-२
और अनंत सत्ता १९२, १९४
अधिकाधिक ऊंचे, अस्थायी १९२-३
अस्थायी, पर अपने समयतक आवश्यक १९३-४
-ें का प्रयोजन १९४
मुख्य चार १९४
'वैयक्तिक आवश्यकता व कामना का नियम १९४-५
'सामाजिक नियम १९५-७
'वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का संघर्ष १९७-९; उपाय १९८
'नैतिक नियम १९९-२००
'नैतिक नियम और समाज की स्थिति २००-२
'नैतिक नियम और वैयक्तिक व सामाजिक नियम में असामंजस्य २०१
'नैतिक नियम का आग्रह प्रेम, सत्य, न्याय पर २०१-२; प्रयोग में लाने पर ये . . . २०१-२
'नैतिक आदर्श की अपर्याप्तता २०१-३
'नैतिक नियम की हमें सहायता २०३
'नैतिक आदर्श के पूर्ण प्रेम, न्याय, सत्य का एकीकरण अतिमानसिक आत्मा में २०३
'दिव्य नियम २०४-७
'दिव्य नियम द्विविध २०४
'नैतिक नियम और दिव्य नियम २०४-५, २०६
'दिव्य नियम और धर्मशास्त्र २०५
'दिव्य नियम को वास्तविक बनाने की आवश्यकता २०६
'दिव्य नियम की प्राप्ति कब २०७
और दिव्य शक्ति २०७
और हमारे अंदर का सच्चा पुरुष २०७-८
और अतिमानसिक कर्म २०८; इसका ध्येय २०८
'दिव्य नियम का मार्गदर्शक व्यक्ति २०९

१३

परम इच्छा शक्ति २१०-२२
के हाथों में सौंप देता है कर्मयोगी सभी मानदण्डों को २१०-१; अपने वैयक्तिक आवश्यकता और कामना के नियम को २११-२; सामाजिक नियम व संबंधों को २१२-४; नैतिक आदर्शों को २१४-५
क्या है ? २१६-८
का सचेतन यंत्र होने के लिये जो-जो करना है २१८-२०
की क्रिया हमारे अन्दर २२०-१; इसमें तीन अवस्थाएं २२१

और हमारी निम्न प्रकृति २२२; अग्नि-परीक्षा को हल्का करने के लिये अपेक्षित चीजें २२२

१४

समता

की प्राप्ति और अहं का नाश २२३-३३

की प्राप्ति और कर्म-यज्ञ, कर्मों का समग्र आत्मनिवेदन २२३-५

कर्मों के स्वामी की पूजा का प्रतीक है २२५-६

सर्वभूतों के प्रति २२५

सब वस्तुओं के प्रति २२६

न होना इस बात का चिह्न कि . . . २२६

का अर्थ नया अज्ञान या अंधता नहीं : विविधता एवं विभेद का लोप नहीं २२६-७

सब घटनाओं के प्रति २२७

के विकास के काल : तितिक्षामय काल २२८; उदासीनता का काल २२९; महत्तर दिव्य समता में प्रवेश २२९-३०

अहं (कर्म के) का नाश

समता-प्राप्ति के प्रयत्न की सफलता के लिये आवश्यक २३०-१

का क्रम : कर्म का सच्चा स्वामी ईश्वर है इसे मन से ही नहीं, गहराई के साथ अनुभव करना २३१; ऐसी वृत्ति में प्रच्छन्न अहं का भय : सद्हृदयता और सजग दृष्टि आवश्यक २३१-२

का अगला कदम : अपनी प्रकृति का साक्षी और फिर अनुमन्ता बनना २३२

'अंत में अपने कर्मों का परम इच्छा को पूर्ण समर्पण २३२-३

१५

गुण, प्रकृति के

तीन, २३४-४४

-ें के अतिक्रमण की आवश्यकता २३४

सत्त्व : का लक्षण २३४, २३६; सात्त्विक वृत्तियां २३६

रजस् : का लक्षण २३४, २३५, की संतानें २३५, २३६, की देन २३५; राजसिक वृत्तियां २३७

तमस् : का लक्षण २३४, २३५; तामसिक वृत्तियां २३७

तीनों, हर एक में २३६-७

स्वाश्रित हैं २३७

-ें की क्रीड़ामात्र हैं मनुष्य का चरित्र, बुद्धि आदि २३८

-ें का नियन्तृत्व ही सब कुछ नहीं है २३८

-ें की क्रीड़ा के लिये आत्मा की अनुमति अपेक्षित २३८

दो निम्न, से छुटकारा पाना अनिवार्य २३८

तम और रज, के दुष्प्रभाव २३८-९

सत्त्व, के ऐकान्तिक अवलंबन में कठिनाई : कोई भी गुण अन्य दो के विरोध में अकेला विजयी नहीं हो सकता २३९

रज, को शांत करने पर सत्त्व में तम का प्रवेश २३९

तमस्, एक दुहरा तत्त्व २३९

सत्त्व और रज, के सम्मिलित प्रभाव से तम को सुधारने का प्रयत्न २३९

सत्त्व, की प्रधानता आध्यात्मिक स्वातंत्र्य या आत्मप्रभुता नहीं २३९अ

सत्त्व, को भी पार करना होगा २४०

-ें की क्रीड़ा से पीछे हटकर साक्षी भाव में स्थित होना २४०; इसके लाभ :

प्रकृति की क्रीड़ा की समझ और अहं से मुक्ति २४०-१
-ों से निर्लिप्त उत्कृष्टता, पहला कदम २४१
-ों से मुक्ति, सक्रिय अंगों में भी २४१; प्रकृति का—शरीर, प्राण, मन का —सक्रिय रूपान्तर २४२-३
'महत्तर त्रिविध गुण का प्रारंभ २४३
'निस्त्रैगुण्य स्थिति २४३; इस भित्ति पर प्रकृति की स्वतंत्रता के कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग के तरीके २४३-४
'त्रिगुणातीत की स्थिति २४४; यह तबतक प्राप्त नहीं हो सकती ... २४४

१६

कर्म का स्वामी २४५-६६
की सत्ता की सत्ता हैं हम २४५
का साक्षात् २४५-६; श्रद्धा और धैर्य की आवश्यकता इसमें २४६-९
हमारी प्रकृति का मान करता है २४७-९, २५३
न प्रमादी है, न उदासीन २४८
का शुद्ध यंत्र बनना चाहें तो ... २४९-५५
से मिलन विश्वमय, विश्वातीत और घनिष्ठ वैयक्तिक रूप में २५५-६०; इस अधिक वैयक्तिक अभिव्यक्ति के द्वारा ही परात्पर के पूर्ण अनुभव के द्वार खुल सकते हैं २५९
की इन तीन मूल अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् अनुभव पर्याप्त नहीं २६०-२; परात्पर आरोहण-अवरोहण भी आवश्यक २६२-३
का दिव्य हस्त पहले भी नाना रूपों में २६३-४; अतिमानसिक सीमाओं पर ये रूप ... २६४
भ्रमों का स्वामी नहीं २६५
की इच्छा : अतिमानसिक परात्परता की अभिव्यक्ति विश्व-चेतना और वैयक्तिक चेतना में हो २६५-६

१७

दिव्य कर्म =
कर्म (मुक्त आत्मा का) २६७-७९
शेष रहता है या नहीं ? २६७
शेष नहीं रहता, का आधार २६७-८
में आवश्यक वस्तु २६८
वैसे ही जैसे भगवान् का—बिना आवश्यकता व अज्ञान के २६८-९
परिचालित कामना से नहीं, परम संकल्प व ज्ञान से २७०, २७८
का क्षेत्र और रूप २७०-१
और मोक्ष का लक्ष्य २७१-४
मानवीय प्रतिमान से निश्चित नहीं २७४-५, २७६अ
का अनुमोदन या निन्दा २७४अ
लोक संग्रहार्थ २७५
और कर्तव्य कर्म २७६-७
स्वभाव द्वारा निर्धारित २७७-८
'मुक्ति और पूर्णता की खोज का तथा दिव्य प्रकृति को पाने का सच्चा हेतु २७८-९
'ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग में प्राप्य स्थिति, पर कर्म-मार्ग में एक और ही भविष्य ... २७९; तीनों का मिलन पूर्ण योग में और दिव्य प्रकृति की पूर्णता की प्राप्ति २७९

१८

अतिमानस और कर्मयोग २८०-६
में ज्ञान, भक्ति, कर्म का समग्रीकरण

पूर्णता के शिखर पर २८१
विवरण २८१
की खोज शक्ति व महानता की लालसा से करना संकटपूर्ण २८१-२
दूरवर्ती लक्ष्य २८२-३
से पहले प्राप्तव्य चीजें २८३
को तात्क्षणिक लक्ष्य बनाने में संकट २८३-४
योग में विकृति या संतुलन भंग को स्थान नहीं २८४
समझ बैठना उच्चतर मध्यवर्ती चेतना को २८४-६
का साक्षात्कार तो तभी . . . २८५

१९

ज्ञान का लक्ष्य २८९-३०१
ज्ञानमार्ग
में प्राप्तव्य भूमिका २८९-९०; प्राप्ति के साधन २९०, २९१
का निरपेक्ष सत्ता का विचार २८९, २९९
में व्यक्ति और विश्व का परित्याग २८९, २९९
में कर्म और भक्ति २९०
बुद्धि [विचार] द्वारा साधित २९०-१; विचार से संकल्प अधिक सुनिश्चित मार्गदर्शक २९१-२; विचार की ही तृप्ति नहीं, अन्य अंगों की तृप्ति भी अभिप्रेत २९२-३
की प्रक्रिया विवर्जन की २९३; एक मात्र वर्जनीय वस्तु २९३-४
का मुक्ति का अनुभव २९४-५
का लक्ष्य है परम सत्—व्यक्ति के साथ संबंध की दृष्टि से वह जो है, और उसे पाने के लिये शरीर, प्राण, मन को आत्मा समझने की भ्रामक प्रतीतियों का त्याग २९६-८; विश्व के साथ संबंध की दृष्टि से वह जो है २९८; परात्पर रूप में वह जो है उसके बारे में मन की परिकल्पना और अतिमानस की दृष्टि व अनुभूति २९८-९
बुद्धि और परम सत् के बीच के स्तरों को नहीं देखता २९७-८
की सर्वोच्च परिणति का अर्थ अस्तित्व एवं कर्म की परिसमाप्ति नहीं ३००-१

२०

ज्ञान की भूमिका ३०२-९
और सामान्य ज्ञान ३०२-३
भौतिक विज्ञान या बुद्धि से लभ्य नहीं ३०३-४
पाने में यथार्थ विचार, विवेक, स्व-निरीक्षण आदि से सहायता ३०४-६, ३०९
में तीन क्रमिक अवस्थाएं : अंतर्दृष्टि, आंतरिक अनुभव, तादात्म्य ३०६-९
का शिखर ३०९
में आरोहण की कुंजियां ३०९

२१

विशुद्ध बुद्धि ३१०-८
की आवश्यकता ३१०-१
तथा अन्य अंगों की शुद्धि अन्योन्य निर्भर ३११, ३१५
शक्तिशाली शोधक ३११
से हमारा अभिप्राय ३११-२
इन्द्रिय मानस नहीं ३११अ
औसत अर्द्ध-पाशविक बुद्धि भी नहीं ३१२
है बौद्धिक प्रज्ञा ३१२
और उच्चतर बुद्धि ३१३-१४
पाने के लिये बुद्धि की तीन अशुद्धताओं का—कामना के मिश्रण, इन्द्रिय

मानस के मिश्रण और ज्ञानेच्छा की अनुपयुक्त क्रिया का—निवारण आवश्यक ३१४-७
बौद्धिक विचार का सच्चा, निर्दोष यंत्र ३१७
और वास्तविक ज्ञान (बोधि ज्ञान एवं आत्मज्ञान) ३१७-८
और बौद्धिक निष्क्रियता ३१७-८

२२

एकाग्रता ३१९-२७
और शुद्धता ३१९, ३२०
का अभिप्राय ज्ञानमार्ग में : विचार की एकमेव पर एकाग्रता ३२०
में तीन शक्तियां : ज्ञान की प्राप्ति, वस्तु की प्राप्ति, वही बन जाना ३२०
के प्रयोग का अर्थ ३२०अ
की अवस्थाएं राजयोग में : ध्यान, धारणा, समाधि ३२१
के अवलंबन ३२१
एवं समाधि, और पूर्णयोग का लक्ष्य ३२२-४
साधन, भगवान् के साथ ऐक्य-लाभ का ३२३
एकाग्रता विचार की ३२३-६
का लक्ष्य और परिणति ३२३, ३२५
की आवश्यकता मन को, उपलब्धि के बाद इसके बिना ही सहज रूप से ज्ञान की प्राप्ति ३२४-५
और भगवान् की एकाग्रता ३२४
की तीन प्रक्रियाएं ३२५-६
का विषय यदि भागवत प्रेम हो ३२५
एकाग्रता संकल्प की ३२६-७

२३

त्याग ३२८-३६
असत्यों के निवारण के लिये ३२८
पूर्णता का साधन ३२८
साधन कि साध्य ! ३२८, ३३१
जगत्-जीवन का, इस प्रथा के पीछे अनेक कारण ३२८-९; इनमें कोई भी युक्तियुक्त नहीं ३२९-३१
निषेधात्मक साधन, इसका मतलब ३३१
जगत् का नहीं, आंतरिक तीन चीजों का : आसक्ति और कामना का ३३१-२; अहंतापूर्ण स्वेच्छा का ३३२-३; अहंभाव का ३३३-५
का प्रचलित अर्थ : स्वार्थ-त्याग, सुख का वर्जन, सुख-भोग के विषयों का त्याग ३३५-६
की आवश्यकता ही न पड़ती यदि . . . ३३५
बाह्य ३३५-६
अशुभ के साथ शुभ का भी ३३६
सबका, करके तू 'सर्व' का उपभोग कर ३३६

२४

ज्ञानयोग
की साधन-पद्धतियों का समन्वय ३३७-४५
में एकता और त्याग की दोहरी शक्ति की सहायता ३३७, ३४१
और आत्मा का शरीर आदि के साथ मिथ्या तादात्म्य ३३७-४०
की विधि मिथ्या तादात्म्यों से छुटकारा पाने और आत्म-प्राप्ति तथा निरपेक्ष सत् में प्रवेश की ३४१
निवृत्ति प्रधान, का समाधान दृश्य जगत् और विश्व में व्याप्त आत्मा के संबंध के बारे में : जगत् आकाश-ब्रह्म में नाम-रूपात्मक भ्रम ३४१-२
की दृष्टि और समग्र ज्ञान की मांग ३४२-३

प्राचीन निवृत्ति-मार्ग, का समाधान : विराट् पुरुष, हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ और निरपेक्ष ब्रह्म में क्रम-परंपरा ३४३
और पूर्णयोग : समन्वय ३४३-५

२५

देह [शरीर]
की दासता से मुक्ति ३४६-५२
की दासता का कारण : पुरुष की आत्म-विस्मृति ३४६
के प्रति मन की अनासक्ति व उदासीनता की वृत्ति ३४६-७
के प्रति पुरुष की वास्तविक वृत्ति ३४७-८
एक वस्त्र या यंत्र ३४७अ, ३५२
और मन में विभाजन, साक्षी भाव के अभ्यास से ३४८
की क्रियाएं और मनोमय पुरुष की अनुमति—पुराने अभ्यासों में, भूख-प्यास थकान रोग आदि में, परिवर्तन और कार्य-क्षमता में वृद्धि ३४८-९
और मन के संबंध में जड़वादी विज्ञान की मिथ्या धारणाएं ३४९
और मन की पूर्णता का ज्ञानमार्ग में महत्त्व नहीं ३५०
'शारीरिक कर्म करने या न करने का प्रश्न ३५०-१
और देहबद्ध प्राण ३५१-२
की मृत्यु से जुगुप्सा ३५२

२६

हृदय [भावमय मन]
और मन के बंधन से मुक्ति ३५३-८
'इन्द्रियाश्रित मन और चिन्तनात्मक मन में चैत्य प्राण का (कामनामय मन) का हस्तक्षेप ३५३-५
और वास्तविक चैत्य सत्ता ३५४
का कामनामय मन से तादात्म्य-विच्छेद ३५५
में विभाजन ३५५-६
की शुद्धि और मुक्ति ३५६
के आवेशों के स्थान पर क्या चीज आती है ? नीरवता और उदासीनता या सक्रिय प्रेम और आनन्द ३५६-७
की भावात्मक पूर्णता ३५७
चिन्तनात्मक मन
का यथार्थ कार्य ३५४
में चैत्य प्राण का हस्तक्षेप ३५५
में से कामनामय मन को निकालने का उपाय ३५७-८
से पार्थक्य ३५८
का विभाजन ३५८
की दासता से मुक्ति ३५८
में पूर्णता की प्राप्ति तभी ३५८

२७

अहं
से मुक्ति ३५९-७०
की रचना, फिर अहं का विलय, दोहरी क्रिया ३५९
की पूर्ति का जीवन या कि अहं पर विजय : नाना मत ३५९-६०
से मुक्ति की आवश्यकता ३६०-१
का विलय दो प्रकार से ३६१
का विलय वैश्व आत्मा में, और मानव जाति की सेवा का आदर्श ३६१-२
-बुद्धि का उन्मूलन ही नहीं, आधारभूत अहं से मुक्ति भी ३६२-४
आधारभूत, की प्रतारकता ३६३
से मुक्ति और जीवात्मा के साथ एकत्व इतने तक सब सहमत, पर विश्वात्मा और परात्पर के साथ एकत्व भी

अपेक्षित ३६४-६
का विनाश—निषेधात्मक और भावात्मक रूप में ३६६
का विनाश और वर्धमान आध्यात्मिक अनुभव का स्वरूप, और उसमें अहंरहित वैयक्तिक कर्म की स्थिति ३६६-७०
भावना का स्थान कौन चीज लेगी? ३७०

२८

विश्वात्मा का साक्षात्कार (विश्वात्मा के साथ अपनी सत्ता की एकता का साक्षात्कार) ३७१-७
की आवश्यकता ३७१-३
का विवरण तीन सूत्रों में ३७३
के प्रति मन का विरोध ३७३
के तीन रूप : सबको धारण करनेवाला, सबमें व्याप्त, जो सब कुछ है ३७४-७
का अभ्यास ३७३-४
में सहायता आकाश-ब्रह्म के ध्यान से ३७४-५
और नाम-रूपात्मक जगत् के प्रति हमारी दृष्टि ३७५-६
के बाद मन-प्राण-शरीर का फिर से ग्रहण ३७६-७

२९

आत्मा की अभिव्यक्ति के प्रकार ३७८-८७
का ज्ञान जरूरी, आत्म-ज्ञान के बाद ३७८
परस्पर-विपरीत तत्त्वों की एकता पर आधारित ३७९
एक और बहु ३७९-८२; क्षर, अक्षर, परात्पर ३८३
सगुण और निर्गुण ३८३-५, ३८६
सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक ३८५-७

३०

सच्चिदानन्द का साक्षात्कार ३८८-९६
अत्यंत व्यावहारिक एवं उपयोगी ३८८-९१
ही पूर्ण ज्ञान की मांग ३८९-९१
'निर्व्यक्तिकता और व्यक्तित्व, निर्गुण और सगुण, एकता और अनेकता, व्यक्ति और विराट्—इन सब द्वंद्वों का मूल एकीकारक तत्त्व है सच्चिदानन्द का त्रैत ३९०-१
'सत्-चित्-आनन्द का त्रैत अविच्छेद्य ३९१-२
में चित् ३९२-४
में आनन्द ३९४-५
न कर सकने का कारण ३९५-६
है : अपने और सबके सच्चे आत्मा का साक्षात्कार ३९६अ

३१

मनोमय सत्ता की कठिनाइयां ३९७-४०५
सच्चिदानन्द के परात्पर रूप के साक्षात्कार में ३९७-८
१. दिव्य स्तर और मानवीय स्तर में भेद है (सत्ता, चेतना, आनन्द, ज्ञान और संकल्प में), और इनके बीच पर्दा पड़ा है ३९८-९
'साक्षात्कार का वर्णन नानाविध नामों से ३९९-४००
२. परात्पर सत्ता और अपनी सत्ता में एक खाई का अनुभव (सत्ता, चेतना, आनन्द, ज्ञान और संकल्प में) ४००-१; खाई को पाटने की दो संभावनाएं ४०१-३

३. मन का विभाजक स्वभाव : सच्चिदानन्द के शुद्ध सत् या चित् या आनन्द के पक्ष पर ही एकाग्रता ४०४-५
४. एकता और अनेकता को एक साथ धारण करने की असमर्थता ४०५

३२

निष्क्रिय ब्रह्म
और सक्रिय ब्रह्म ४०६-१४
का साक्षात्कार ४०६-७
का साक्षात्कार और जगत्-सत्ता ४०७-९
और सक्रिय ब्रह्म में खाई ज्ञानयोग में ४०८, ४११
के साक्षात्कार के बाद जगत् के प्रति दो प्रकार की मनोवृत्ति : निष्क्रिय साक्षीमात्र, और निष्क्रिय यंत्र की ४०९-११
और सक्रिय ब्रह्म में एकत्व की कठिनाई का कारण ४१२-३; उपाय : सच्चिदानन्द के सत्य को पकड़ रखना ४१३-४

३३

विराट् चेतना [वैश्व चेतना] ४१५-२३
का आधार ४१५-७
के साथ व्यक्तिगत सत्ता के संबंध ४१७-८
और सच्चिदानन्द ४१८, ४२३
में निवास से हमारे मूल्यांकनों में परिवर्तन ४१९-२०
को पूर्णतया उपलब्ध करना कठिन, मन की विभाजक प्रवृत्ति के कारण ४२०-१
की प्राप्ति निम्न स्तरों पर निवास करते हुए भी ४२१-२
की प्राप्ति के क्रमिक सोपान ४२२-३
और अतिमानस ४२३

३४

एकत्व (का साक्षात्कार) ४२४-३०
सच्चिदानन्द के, अपनी सत्ता के सभी व्यक्त स्तरों पर ४२४
परंपरागत ज्ञान और पूर्णज्ञान में ४२४-५
की क्रियान्विति, सच्चिदानन्द के व्यक्त सत्ता के सात मूल तत्त्वों में ४२५-६
सच्चिदानन्द की उच्चतर प्रकृति और निम्नतर प्रकृति [मन-प्राण-शरीर] के बीच ४२६-७; और सत्य-चेतन मन ४२७; और अतिमानस ४२८-९
ज्ञान, कर्म, भक्ति के मार्गों के—सत्, चित्तपस्, आनन्द के—बीच ४२९-३०

३५

पुरुष और प्रकृति का द्वैत ४३१-४०
के भिन्न-भिन्न नाम ४३२-३
सांख्य के अनुसार ४३३
का मूल मनोवैज्ञानिक अनुभव ४३३-४
निम्नतर और उच्चतर भूमिका में—निम्नतर भूमिका में पुरुष पर प्रकृति का निर्धारण, उच्चतर भूमिका में स्थिति पलटी हुई—४३४-६
'गीता के अनुसार पुरुष की प्रकृति के प्रति संभवनीय वृत्तियां : साक्षी, भर्ता, अनुमन्ता, ज्ञाता, ईश्वर और भोक्ता ४३७-९
के सच्चे संबंध ४३९-४०
सच्चिदानन्द की सत्ता से ही उद्भूत ४३९-४०

३६

पुरुष
और उसकी मुक्ति ४४१-५१
का प्रकृति के साथ उच्च संबंध ४४१

और प्रकृति की लीला सनातन एकत्व पर आधारित ४४१-२; यह एकत्व सत्ता और अभिव्यक्ति के द्वैत द्वारा चरितार्थ ४४२
और प्रकृति ४४३
बनना होगा हमें ४४३
की शक्यताएं : अहं-प्रकृति में ग्रस्तता या मुक्ति और अमरता ४४३
की प्रकृति के साथ मुक्त लीला ४४३-४
के ईश्वर-प्रकृति-जीव के ज्ञान [आत्म-ज्ञान] का फल : मुक्ति और अमरता ४४४-५
का निर्धारक आनन्द ही निर्णय करता है कि मुक्ति व अमरता की प्राप्ति केवल निर्व्यक्तिक सत्ता में हो या अभिव्यक्ति के आनन्द में भी ४४५-६
की निरपेक्ष स्वतंत्रता की स्थापना निर्वाण और लय के लक्ष्यों में ४४६-७
को आत्मानुभव के बाद जगत् के अवास्तविक प्रतीत होने का तथा जगत् में आनन्द लेने की उसकी असमर्थता का कारण ४४७-८
आत्म-साक्षात्कार के बाद जब मुक्त-भाव से पुनः जगज्जीवन को अपने अधिकार में लेता है ४४८-९
का मुक्त आत्म-ज्ञान और ईश्वर-जीव-प्रकृति की अवस्थाएं ४४९
की नयी चेतना और दूसरी सत्ताएं ४४९
की स्वतंत्रता और स्वतंत्र-अस्तित्व का अहम्मय सिद्धांत ४४९-५०
नित्य मुक्त, की स्थिति ४५०-१
नित्य मुक्त, और दीन-दुःखी लोग ४५०-१

३७

स्तर

हमारी सत्ता के, ४५२-६३
वर्तमान भौतिक, पर प्रकृति का ही शासन ४५२, ४५७
वर्तमान भौतिक, में स्वातंत्र्य एवं स्वामित्व नहीं ४५२
दो कि अनेक, ज्ञानयोग और पूर्णयोग की दृष्टि ४५२-३
सात, वैदिक व्यवस्था में ४५४
-ों से हमारा अभिप्राय ४५४-५
जड़ प्राकृतिक [स्थूल भौतिक] ४५५-७
जड़ प्राकृतिक ही यदि एकमात्र स्तर होता ४५७
उच्चतर, अन्य लोक, उच्चतर जीव हैं ४५७-८
प्राणिक या कामनामय ४५८-९
-ों की शृंखला में सूक्ष्म सातत्य ४५८, ४६४
प्राणिक और जड़-जगत् के बीच संबंध ४५९-६०
प्राणिक, का प्रक्षेप है जड़-जगत् ४५९
प्राणिक, से हमारे सचेतन न होने का कारण ४६०-१
मनोमय ४६१-२
मनोमय, के प्रक्षेप हैं प्राण लोक और अन्नमय लोक ४६१
अतिमानसिक ४६२-३

३८

पुरुष

निम्न त्रिविध, ४६४-७१
साधारण, की स्तर-शृंखला के बारे में अज्ञता ४६४, ४६९
साधारण, का जगज्जीवन के विषय में दृष्टिकोण ४६४-५; इस दृष्टि के परे जाने का धर्म का प्रयत्न ४६५-७; पीछे विद्यमान गुप्त सत्यों का ज्ञान ज्ञान-योग का क्षेत्र ४६७-८
अन्नमय ४६८-९

प्राणमय ४६९-७०
मनोमय ४७०-१

३९

आत्म-अतिक्रमण की सीढ़ी ४७२-८१
और उच्च व निम्न गोलार्द्ध ४७२-३
अन्नमय पुरुष की ४७३-५
प्राणमय पुरुष की ४७५-७
मनोमय पुरुष की ४७७-९; और विज्ञानमय पुरुष ४७९-८१

४०

विज्ञान ४८२-९४
में संक्रमण मनोमय पुरुष से : मतलब ४८२-३
क्या वस्तु है ४८३
बुद्धि या विवेक-बुद्धि नहीं है ४८३-६
अनन्त ब्रह्म नहीं है ४८३-४
अंतर्ज्ञानात्मक बुद्धि भी नहीं है ४८६-८
का प्रतीक : सूर्य ४८८, ४९२
का वर्णन बुद्धि से उसकी विषमता दिखाकर—सत्य, निरीक्षण, कल्पना, निर्णय, स्मरण-शक्ति, काल, समग्र दृष्टि, एकता व भेद-प्रभेद, सांत वा अनंत के बारे में—४८८-९१
चेतना का सर्वोच्च स्तर नहीं, जोड़नेवाला स्तर है ४९१-२
ज्योति ही नहीं, शक्ति भी है ४९२
का सृजन-कार्य दिव्य आनन्द से प्रेरित ४९२
-मय भूमिका का उपादान तत्त्व ४९२
की तीन शक्तियां ४९३
-मय रूपांतर का मूल अनुभव ४९३अ

४१

विज्ञान की प्राप्ति की शर्तें ४९५-५०४
और ज्ञान ४९५
से पहले बुद्धि मनुष्य का प्रधान तत्त्व, पर विज्ञान में . . . ४९५-६
की पहली शर्त : विश्वात्मभाव ४९६-७; विश्वात्मभाव पूर्ण रूप से साधित विज्ञान-केन्द्र में स्थित होने पर ४९७-९
का आधार अनन्त का बोध ४९९-५००
में ज्ञान की उच्चतर शक्ति की सहायता—वह हमारी इन्द्रियों, हमारे संवेदन, वेदन, विचार, संकल्प, कामना, भावावेग, सहजप्रेरणा, प्रेम, आनन्द आदि को अपने हाथ में लेकर . . . ५००-३
और सिद्धियां व गुह्य-शक्तियां ५०३
होने पर ईश्वर ही अपनी प्रकृति की सहायता से व्यक्ति के द्वारा लीला करता है ५०३-४

४२

विज्ञान [विज्ञानमय पुरुष] **और आनन्द** ५०५-१८
-मय पूर्णता पहली पूर्णताओं की तुलना में ५०५
-मय पूर्णता भी आनन्दमय पुरुष में आरोहण का पथ मात्र ५०५-६
-मय आरोहण-अवरोहण के बिना भी सच्चिदानन्द को सीधे प्रतिबिंबित कर सकना : अन्नमय पुरुष का (जड़वत्, बालवत्) ५०६-७; प्राणमय पुरुष का (उन्मत्तवत्, पिशाचवत्) ५०७; मनोमय पुरुष का ५०७-८
सनातन के स्वातंत्र्य में ही नहीं, उसकी शक्ति और प्रभुता में भी भाग लेता है ५०८-९
में पुरुष-प्रकृति का स्वरूप ५०९, ५१०, ५१८

आत्म-विस्मृति की अवस्था ही नहीं, आत्म-प्रभुत्व भी पा लेता है : वहां सत्ता और कर्म का नियमन... ५०९-१०
नीचे के स्तरों की उपलब्धि का त्याग नहीं करता—उसकी जड़वत्, बालवत्, उन्मत्तवत्, पिशाचवत् अवस्थाएं ५१०-१
राजशिशु है ५१०
का कार्य अतिबौद्धिक ५११
और मानवीय मानदण्ड ५११
और आनन्दमय पुरुष में भेद ५११-४
में आनन्द और निम्न स्तरों पर आनन्द ५१२
-मय भूमिका का आधार आनन्द का निज उपादान ५१२
में ज्ञान और आनन्द भूमिका में ज्ञान ५१२, ५१३-४
में क्रीड़ा के लिये केन्द्र, आनन्द-कोष में कोई केन्द्र नहीं ५१३

आनन्द
-भूमिका : विवरण ५१४-५
-भूमिका का वर्णन विचार नहीं कर सकता ५१५
'परम सत् और आनन्द के आकर्षण में जीवन के त्याग की प्रवृत्ति ५१५-६
-मय पुरुष जन्म या अजन्म से बंधा नहीं ५१६-७
-मय प्रकृति में आरोहण से पहले जो करना होगा ५१७
-मय प्रकृति का स्वरूप ५१७-८

४३

ज्ञान
उच्चतर और निम्नतर, ५१९-२६
-मार्ग का प्रथम लक्ष्य, इसे अमूर्त भूमिका में ही नहीं, यहां भी प्राप्त करना होगा ५१९
-मार्ग का दूसरा लक्ष्य : दिव्य अस्तित्व एवं दिव्य प्रकृति को धारण करना ५१९-२०
दो प्रकार का—निम्नतर और उच्चतर [यौगिक] ५२०-१, ५२३अ
निम्नतर, की सभी शाखाएं— विज्ञान, कला, दर्शन, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास और स्वयं कर्म—हमें ईश्वर-साक्षात्कार की ओर... ५२१-२
निम्नतर, और योग की क्रिया व पद्धति में भेद ५२२-३
उच्चतर, की तीन क्रियाएं : शुद्धि, एकाग्रता, तादात्म्य ५२३-४
निम्नतर, और योग ५२४-६
निम्नतर—नैतिक ज्ञान, दर्शन, कला, विज्ञान—भी हमें शुद्धि, एकाग्रता, तादात्म्य के लिये तैयार करते हैं पर एक सीमातक ५२४-५
निम्नतर, का त्याग नहीं करता योग, वह इस बात में भिन्न है कि... ५२५-६
निम्नतर, का परिवर्तित स्वरूप ईश-प्राप्ति के बाद भी बना रहता है ५२६

४४

समाधि ५२७-३५
का महत्त्व ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयोग में ५२७
और पूर्णयोग ५२७
का महत्त्व जिस सत्य पर आधारित ५२७
'हमारी चेतना की चार अवस्थाएं : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय ५२८
साधन, जाग्रत् के पीछे की उच्च भूमिकाओं के अनुभव प्राप्त करने के लिये ५२८, ५३५
की गहरी-गहरी अवस्थाएं ५२८-९

में से जगाना या वापस बुलाना ५२९
की अवस्था में जीवन का त्याग ५२९
'स्वप्न-समाधि और स्थूल मन के स्वप्न ५२९-३०
'स्वप्न-समाधि में बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति ५३०, ५३१
'स्वप्न-समाधि के लिये आवश्यक कार्य : स्थूल इन्द्रियों के द्वारों को बंद करना और स्थूल निद्रा के हस्तक्षेप से छुटकारा पाना ५३०-१
'स्वप्न-समाधि के अनुभव अनेक प्रकार के ५३१
'स्वप्न-समाधि और दूरदर्शन, दूरश्रवण की घटनाएं ५३२
'स्वप्न-समाधि का सबसे बड़ा महत्त्व ५३२-३
'स्वप्न-समाधि और पूर्णयोग ५३३
'स्वप्न-समाधि के अनुभव और जागरित अवस्था ५३३, ५३५
की सुषुप्ति अवस्था ५३३-४
'स्वप्न-समाधि और सुषुप्ति की सीमा-रेखा ५३४
अतिमानसिक और आनन्द के स्तर पर ५३४
की उपयोगिता दो प्रकार की पूर्णयोग में ५३५

४५

हठयोग ५३६-४४
समाधि और, ५३६
और पूर्णयोग ५३६
की क्रियाओं का सिद्धांत : शरीर और आत्मा में घनिष्ठ संबंध ५३७
की दृष्टि देह-संस्थान के पीछे सूक्ष्म शरीर पर ५३७
का संपूर्ण लक्ष्य ५३७
की क्रियाएं वैज्ञानिक ५३७
और ज्ञानयोग ५३७-८
के, और सभी साधना के, तीन मूल तत्त्व : शुद्धि, एकाग्रता, मुक्तता ५३८
के दो मुख्य अंग : आसन और प्राणायाम ५३८-९
की आसन-प्रणाली : इसके मूल में दो विचार ५३९-४०; इसका उद्देश्य और फल ५४०-२
और प्राणायाम : इसकी विधि, लक्ष्य और लाभ ५४२-३
और राजयोग ५४४

४६

राजयोग ५४५-५१
हठयोग और, ५४५
में बंद द्वारों की कुंजी है मन ५४५; मन के शरीर और प्राण के अधीन होने का सिद्धांत ५४५
में चैत्य शरीर, षट्-चक्र, कुण्डलिनी . . . ५४५-७
आसन और प्राणायाम से आरंभ नहीं करता, उसका आग्रह पहले मन की नैतिक शुद्धि पर ५४८; सीधे प्राणायाम से शुरू करना संकटपूर्ण ५४८ टि०
में यम और नियम ५४८
के आसन और प्राणायाम ५४८-९
की एकाग्रता की चार क्रमिक अवस्थाएं : प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ५४९
का कार्य एवं लक्ष्य ५५०
में गुह्य शक्तियों या सिद्धियों का अभ्यास और प्रयोग ५५०-१
और हठयोग की विधियां और पूर्णयोग ५५१

४७

त्रिमार्ग [त्रिवेणी]

प्रेम और, ५५५-६१
'इच्छा, ज्ञान, प्रेम तीनों में भगवान् से मिलन पूर्णयोग की नींव ५५५
कर्म, ज्ञान, प्रेम की ५५५
ज्ञान, कर्म, प्रेम की ५५५-६
प्रेम, ज्ञान, कर्म की ५५६-७
'ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के अनुयायियों में परस्पर निन्दा और घृणा की वृत्ति ५५८-६१; इन दोनों की कर्ममार्ग के प्रति घृणा ५६१
'प्रेममार्ग और पूर्णयोग ५६१

४८

भक्ति [भक्तिमार्ग, भक्तियोग]
के हेतु ५६२-७०
का श्रीगणेश ५६२
और धार्मिक पूजा ५६२-६; धार्मिक पूजा के मिश्रित प्रेरक भाव और सच्ची भक्ति की कसौटी ५६२-३; धार्मिक वृत्ति के विकास में प्रेरक भाव : भय और स्वार्थ ५६३-५; धर्म की ईश्वर-विषयक परिकल्पना : अनेक प्रेरकों का मिश्रण ५६४-५; ईश्वर में संदेह और योग का अनुभव ५६५-६
में, और धर्म में, भागवत व्यक्तित्व, भगवान् के साथ मानवीय संबंध, और भगवान् का हमारे भावों के अनुरूप उत्तर देना—इन बातों का स्वीकार ५६६-८
और निर्व्यक्तिक भगवान् ५६६-७
में, (धर्म से), प्रवेश करने के लिये प्रेरक भावों में करणीय आवश्यक बातें तथा अहैतुक प्रेम ५६९
हृदय का विषय है, बुद्धि का नहीं ५६९
और भगवान् के रूप धारण करने का प्रश्न ५६९अ
में मानव आत्मा और भगवान् के बीच नित्य भेद का विचार ५७०
का मूल प्रेरक है : प्रेम ५७०

४९

भगवन्मुख भाव [संबंध] ५७१-९
-ें में ईश्वर-भय का योग से बहुत कम संबंध ५७१; ईश्वर-भय का धर्मों में बहुत बड़ा स्थान ५७१-३; इन असंस्कृत धारणाओं से मुक्ति आवश्यक भक्तियोग में प्रवेश के लिये ५७२-३
वे, जो हमें भक्तियोग के समीप ले जाते हैं ५७३-४; ईश्वर-भय नैतिक सदाचार से संबंधित, पर योग का नैतिक विकास का आदर्श... ५७४-५
स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र का ५७४, ५७५; इस संबंध की कुंजी है प्रेम, स्वामी और सखा साथ-साथ, भय असंगत ५७५
पिता और माता का, (अर्थार्थी वृत्ति) ५७५-६; प्रार्थना के द्वारा आवश्यकता की पूर्ति; रक्षा व आश्रय के लिये शरण ५७६-७
पिता-पुत्र और सखा का ५७७-८
माता-पुत्र का ५७८
प्रेमी और प्रियतम का ५७८-९

५०

भक्ति का मार्ग [भक्ति] ५८०-५
किसी शास्त्रीय पद्धति से बांधी नहीं जा सकती ५८०
की चार गतियां ५८०
का पहला रूप : आराधना ५८०; आराधना, बाह्य पूजा ५८०-१; आराधना, आत्म-निवेदन और शुद्धि ५८१-२

'आत्म-निवेदन व अर्पण संपूर्ण जीवन और कर्मों का [प्रेम-यज्ञ] ५८२; समर्पण भक्त का : तपस्यात्मक और विशालतर ५८२
'आत्मनिवेदन विचारों का भी ५८३
का ध्यान ज्ञानयोग के ध्यान से भिन्न ५८३
'सर्वत्र भगवान् के दर्शन ५८३
अधिक अंतरंग—वंशी की तान पर सुधबुध खो देनेवाला ५८४-५; काव्यात्मक प्रतीक ५८४
में दिव्य व्यक्ति का दर्शन और मानवीय संबंधों का प्रयोग ५८४-५; भीतर और जगत् में आराध्य की खोज ५८५

५१

भागवत व्यक्तित्व ५८६-९४
'व्यक्तित्व, विचार की दृष्टि में ५८६
के बिना भक्तिमार्ग संभव नहीं ५८६
'व्यक्तित्व और निर्व्यक्तिकता के सत्य को जानना जरूरी ५८६-७; दार्शनिक बुद्धि की प्रवृत्ति निर्व्यक्तिकता की ओर ५८७-८; हृदय और प्राण अमूर्त भावों में नहीं जी सकते ५८८; कुछ बौद्धिक दर्शन निर्गुण की तो कुछ सगुण की स्थापना करते हैं ५८८-९; बुद्धि और हृदय दोनों में सत्य ५८९; समन्वय की शक्ति अंतर्ज्ञान में ५८९-९१
के विषय में हमारा विचार ५९१-२
संबंधी विचारों की परीक्षा बुद्धि के द्वारा और आध्यात्मिक अनुभव ५९२-३
'वैश्व स्तर पर भी दोनों पक्षों से भगवान् के पास पहुंच ५९३-४
में कठोर या भीषण रूप भी ५९४

५२

भगवान् का आनन्द ५९५-९
'हमारा आध्यात्मिक भविष्य ५९५
जब योग में प्रवेश करता है तभी पूर्ण मिलन रूपी हेतु सर्वथा अपरिहार्य बनता है ५९५-७
का अभिप्राय : भगवान् में आनन्द, उन्हींके लिये, और किसी चीज के लिये नहीं—परात्परता, विश्वमयता, वैयक्तिक संतुष्टि के लिये नहीं, शांति, स्वर्ग या वैयक्तिक सत्ता के लिये नहीं ५९७-८
पूर्ण और अशेष, भक्तिमार्ग का मर्म ५९८
के अपने अंदर क्रियाशील हो जाने पर अन्य सभी मार्ग इस नियम में परिवर्तित हो जाते हैं : ईश्वर-प्रेमी ईश्वर-ज्ञानी व दिव्य कर्मी भी होगा, वह पूर्णता की खोज करेगा, जीवन के समस्त व्यापार उसकी पूजा के क्षेत्र होंगे और वह विश्व-प्रेमी होगा ५९८-९
में एकत्व की आधारशिला है पारस्परिक अधिकार ५९९

५३

आनन्द ब्रह्म ६००-५
का निर्व्यक्तिक आकर्षण ६००
की पुकार ६००
छुपा हुआ है तलवर्ती मन के श्रम के कारण ६०१
का प्रतिबिंब शुद्ध मन में पहले-पहल सौंदर्य, प्रेम, उपस्थिति आदि रूपों में ६०१
साक्षात्, की प्राप्ति के लिये... ६०१-३

हमारे सम्मुख प्रकट तीन प्रकार से : भीतर, चारों ओर, ऊपर ६०३-५
के मुखमण्डल के दर्शन ६०५

५४

प्रेम [प्रेम-मार्ग]
का रहस्य ६०६-१२
और निर्व्यक्तिक भगवान् की उपासना ६०६
भागवत व्यक्तित्व की उपासना से आरंभ करता है ६०६-७; भागवत पुरुष की अशेष सर्वांग पूर्णता को प्रारंभ से अधिकृत करना संभव नहीं . . . इष्ट देवता . . . ६०७-८
सर्वांगीण, में ईश्वर-विषयक विचार का रूप, और उनके साथ घनिष्ठ वैयक्तिक संबंध के लिये जो-जो करना होगा ६०८-९
सर्वांगीण, में प्रियतम के साथ गुरु, स्वामी, सखा, प्रेमी और प्रियतम के संबंध ६०९-११
में प्रेमी भी हमारा पीछा कर सकता है ६१२
'प्रेम और आनन्द, रहस्यों का रहस्य ६१२
और परमोच्च मुक्ति ६१२

५५

पूर्णयोग
का मूल सिद्धांत ६१५-२१
और अन्य योगों का—हठयोग, राजयोग, त्रिमार्ग, तांत्रिक साधना का—मूल सिद्धांत ६१५-८
में तंत्र के लक्ष्य को पाने के लिये वेदांत की पद्धति ६१८
में मनुष्य मनोगत आत्मा है और वह मन के स्तर से ही साधना आरंभ कर सकता है ६१८-९
का मूल सूत्र : आत्म-समर्पण ६१९
का लक्ष्य योग के लक्ष्यों से अधिक विस्तृत ६१९-२०
मानव जाति में दिव्य प्रकृति के सामूहिक योग का अंग है ६१९-२०
का लक्ष्य है ऐसी पूर्णता जिसमें मानसिक प्रकृति अतिमानसिक प्रकृतितक ऊंची उठ जाये ६२०
के सर्वांग पूर्ण होने की आवश्यकता ६२०-१
का आरंभ त्रिमार्ग में से किसी एक का भी अनुसरण करके ६२१
का आरंभ एक साथ तीनों मार्गों से भी ६२१

५६

पूर्णता
सर्वांगीण ६२२-९
की ओर मनुष्य अग्रसर हो सकता है ६२२
लौकिक और धार्मिक ६२२-३
मन, प्राण, शरीर की अंतिम, की कुंजी ६२३-४
वास्तविक, की शर्त ६२४
की प्रक्रिया में दो अवस्थाएं : व्यक्तिगत प्रयत्न और समर्पण ६२४-५
महान्, की प्राप्ति तभी ६२५
लौकिक, का लक्ष्य, और समग्र पूर्णता का योग ६२५-७
मानवीय, का अभिप्राय ६२५
का धार्मिक आदर्श, और पूर्ण योग ६२७-८
सर्वांगीण, की दो आवश्यक शर्तें ६२८-९
समग्र, का अभिप्राय ६२९
सर्वांगीण, और अतिमानसिक रूपांतर ६२९

सर्वांगीण दिव्य, के तीन तत्त्व व सार ६२९

५७

मनोविज्ञान आत्म-पूर्णता का, ६३०-९
की आवश्यकता ६३०
और साधारण मनोविज्ञान व जड़ वैज्ञानिक मनोविद्या ६३०-१
कि मनुष्य वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से एक आत्मा है, अनंत सत्ता, चेतना, आनन्द है ६३१-२
कि आत्मा के चार करण हैं: अतिमानस, मन, प्राण, शरीर ६३२-४
कि परम आत्मा ने अपनी सब क्रियाओं का आधार पुरुष और प्रकृति पर रखा है ६३४-५
कि पुरुष अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थिति को (सनातन पुरुष, विराट् पुरुष, व्यक्तिगत पुरुष या एक साथ तीनों को) ग्रहण कर सकता है ६३५
कि पुरुष जितना कुछ दिखायी देता है उससे वह और भी बहुत कुछ होता है, और वह अपने जिस स्वरूप में विश्वास रखता है वैसा बनता चला जाता है ६३५-६
कि पुरुष का प्रकृति पर यह अधिकार अत्यधिक महत्त्व रखता है ६३६
कि पुरुष सत्ता के किसी भी स्तर पर प्रतिष्ठित हो सकता है सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, अन्न किसी में भी ६३६-८
कि मनुष्य ब्रह्माण्ड का ही एक पिण्ड है, उसमें सब भूमिकाएं हैं, वह उच्चतर भूमिका की क्रिया शुरू करा सकता है ६३८
कि साधना का आरंभ अपनी वर्तमान अपूर्णता के नियम से ही करना होगा, उसके लिये उसे जो देखना और करना जरूरी है ६३८-९

५८

मानसिक सत्ता की पूर्णता (या सिद्धि) ६४०-५१
का पहला पग: बहिर्मुख अहं-बुद्धि से मुक्ति और भीतर अंतरात्मा में प्रवेश ६४०; अंतरात्मा में प्रवेश के, मन से भिन्न मनोमय पुरुष के, अनुभव का लक्षण: तीन प्रकार के अंतर्ज्ञान ६४१-२; मनोमय पुरुष के अलावा पुरुष अन्नमय या प्राणमय पुरुष की स्थिति भी ग्रहण कर सकता है ६४२-३
का मार्ग ६४३; यह दो दिशाएं ग्रहण कर सकता है: साक्षी पुरुष की ६४३-४, और प्रभुत्व की (साक्षी, अनुमंता, भर्ता, ईश्वर की) ६४४-६
की शर्त: स्वराट् बनना ६४६
का सर्वोच्च पथ: विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष में आरोहण ६४६-७
के लिये वर्तमान अव्यवस्थित व्यवस्थावाली प्रकृति में संशोधन करना होगा ६४७-८
के चार घटक अवयव: शुद्धि, मुक्ति, सिद्धि, भुक्ति ६४८
विश्वभावापन्न व्यक्तित्व को पाये बिना प्राप्त नहीं की जा सकती ६४८-५०; विश्व-प्रकृति के तीन गुणों की विषम क्रिया से उत्पन्न अपूर्णता के अतिक्रमण के लिये विश्व के विज्ञानमय पुरुष से एक होना होगा ६५०
अपनी आत्मा और अपने विश्वभावापन्न व्यक्तित्व में परमात्मा से मिलन

साधित कर लेने पर ही ६५०
का प्रभाव जगत्-सत्ता पर ६५१

५९

आत्मा के करण ६५२-६३
-ों की शुद्धि आवश्यक सक्रिय पूर्णता के लिये ६५२-६
बाह्य, प्राणयुक्त शरीर ६५६
आभ्यंतरिक (अंतःकरण) के चार विभाग : १—चित्त (आधारभूत चेतना, भावप्रधान मन, स्नायविक मन, संवेदनात्मक मन) ६५७-६०; २—मन (इन्द्रियाश्रित मन) ६६०-१; ३—बुद्धि ६६१-२; ४—अहंकार ६६२-३

६०

शुद्धि
निम्नतर मन की, ६६४-७२
का आरंभ कहां से करें ६६४
बुद्धि मूलक संकल्प की प्रमुख ६६४-५; यह साधित नहीं की जा सकती अंतःकरण की क्रिया में सूक्ष्म प्राण के मिश्रण की बाधा को दूर किये बिना ६६५
सूक्ष्म प्राण की, शुद्धि का पहला कदम ६६५-७०
भावप्रधान मन की ६७०-१
ग्रहणशील संवेदनात्मक मन की ६७१-२
सक्रिय आवेगात्मक मन की ६७२

६१

बुद्धि
और संकल्प की शुद्धि ६७३-८४
और मन (इन्द्रियाश्रित मन) का भेद ६७३-५
पशु और मनुष्य में ६७४-५
है क्या ? ६७५
की सक्रियता के द्वारा पुरुष में पूर्ण जागरण का आरंभ ६७५
का स्वामित्व पूर्ण नहीं ६७५
एक मध्यवर्ती करण ६७५-६
की क्रिया का अंतिम लक्ष्य ६७६
की शुद्धि का लक्ष्य ६७६-७
को ऐन्द्रिय मन की सीमाओं से मुक्त करना बुद्धि का उच्चतर कार्य ६७७-८
की क्रिया अभीतक अपूर्ण ६७८
की क्रिया की पूर्णता के लिये द्विविध क्रिया आवश्यक ६७८-९
में कामना के मिश्रण की अपवित्रता के निवारण का सबसे सुनिश्चित पग : अनासक्ति ६७९-८०
की क्रिया की तीन अवस्थाएं : रूढ़ चिंतनात्मक मन, व्यवहार-लक्षी मन, ज्ञानात्मक मन ६८०-२
का मुख्य दोष : ज्ञान और संकल्प में असामंजस्य ६८१
की कुछ अन्य स्वाभाविक सीमाएं ६८१-३
तब शुद्ध और नमनीय दर्पण बन सकती है ६८२
को मनोमय भूमिका से विज्ञान में उठा ले जाना होगा ६८३-४
की अंतिम शुद्धि ६८४

६२

मुक्ति
आत्मा की, [आध्यात्मिक मुक्ति] ६८५-९३
का स्वरूप ६८५
का अर्थ ६८५-६
का अभिप्राय दो चीजों से ६८५
की निषेधात्मक गति का अर्थ है चार

प्रधान ग्रन्थियों—कामना, अहंकार, द्वंद्व और प्रकृति के तीन गुण—से मुक्ति ६८५-६
का भावात्मक अभिप्राय ६८६
कामना से ६८६-८
अहंबुद्धि से ६८८-९३
का सार ६९३

६३

प्रकृति
की मुक्ति ६९४-७०३
और पुरुष ६९४
के अंशदान दो : गुण और द्वंद्व ६९४
की मुक्ति दो प्रकार की ६९५
के तीन गुण :—
तमस् : का तत्त्व ६९५; का प्रबलतम प्रभुत्व शरीर पर ६९६; जिन चीजों को जन्म देता है ६९८; आलोकित ७००
रजस् : का तत्त्व ६९५; का प्रबलतम प्रभुत्व प्राणिक प्रकृति पर ६९७; की देनें ६९८
सत्त्व : का तत्त्व ६९५; का प्रबलतम प्रभुत्व मन पर ६९७; की देनें ६९८-९
के गुणों की विषम क्रिया ही हमारे व्यक्तित्व एवं स्वभाव का गठन . . . ६९६, ६९७अ
के गुणों से रहित हो जाना या उन्हें अतिक्रम कर जाना होगा ६९६
की सात्विक समस्वरता से भी आध्यात्मिक पूर्णता नहीं ६९९
के गुणों के परे जाना होगा ६९९-७००
'त्रिगुणातीत अवस्था पाने के लिये कर्म के त्याग का आश्रय ७००-१
में ऐसी मुक्ति जो सक्रियता और निष्क्रियता दोनों अवस्थाओं में . . . ७००; क्या ऐसी मुक्ति और पूर्णता संभव है ? ७००-१
के त्रिगुण के स्थान पर महत्तर त्र्यात्मक एकता ७०१
की मुक्ति पा लेने पर द्वंद्वों से भी मुक्ति ७०१-२
की मुक्ति और आध्यात्मिक विज्ञान ७०२-३

६४

सिद्धि
के मूल तत्त्व ७०४-१०
की अनिवार्य पूर्वावस्थाएं ७०४
का अर्थ ७०४-५
के लिये हमारा प्रयत्न और मार्ग भागवत सत्ताविषयक हमारी परिकल्पना पर निर्भर ७०४; भागवत सत्ताविषयक विचार मायावादी और बौद्धमतावलंबी का ७०४
के मूल तत्त्व छः ७०५
का प्रथम आवश्यक साधन : समता ७०५-६
के अगले आवश्यक साधन : शक्ति, वीर्य, दैवी प्रकृति और श्रद्धा ७०६
का अगला सोपान : मनोमय सत्ता का विज्ञानमय सत्ता में विकास ७०७; विज्ञानमय सिद्धि इस देह में ७०७-८; विज्ञान के आधार पर पूर्ण कर्म और उपभोग ७०८-९
की पराकाष्ठा ७१०

६५

समता
की पूर्णता ७११-२१
सिद्धि का प्रथम आवश्यक तत्त्व ७११; सिद्धि शब्द से हमारा आशय, ज्ञान और भक्ति की परिभाषा में इसका

अर्थ ७११
पर प्रतिष्ठित है परमोच्च दिव्य प्रकृति ७११
विरक्ति का नाम नहीं ७११
साधन, 'राज्यं समृद्धम्' को पाने का ७१२
एवं शांति अनिवार्य मन से आत्मतत्त्व में जाने, समरूप भगवान् का यंत्र बनने व दिव्य कर्म करने के लिये ७१२-४
अपरिहार्य मानवीय पूर्णता के लिये भी ७१४-५
निम्न प्रकृति पर विजय की शर्त ७१५
प्रकृति की भी ७१५-२०
भाव प्रधान और प्राणिक सत्ता में, शुद्धि और मुक्ति से ७१५-८
मुक्ति का असली चिह्न ७१५
क्रियाशील सत्ता में ७१८-९
संकल्प शक्ति की ७१९
स्खलन, भूल और त्रुटि में ७१९
चिंतनात्मक मन की ७१९-२०; इसका अर्थ बुद्धि की जिज्ञासाओं का त्याग नहीं ७२०
प्रकृति की, तैयारी है सच्चिदानन्द की समता को पाने की ७२०-१

६६

समता
का मार्ग ७२२-३४
के दो पहलू : निष्क्रिय या अभावात्मक, और सक्रिय या भावात्मक ७२२
निष्क्रिय, की प्राप्ति के तीन मार्ग ७२२
निष्क्रिय, का तितिक्षा का मार्ग ७२२-५, ७३३; इस साधना के तीन परिणाम ७२४
निष्क्रिय, का तटस्थ उदासीनता का मार्ग ७२५-६, ७३३; इसके तीन परिणाम ७२५-६
निष्क्रिय, का नति का मार्ग ७२६-७, ७३३
निष्क्रिय, के ये तीनों मार्ग एक ही बिंदु पर आकर मिलते हैं ७२७
सक्रिय, पाना संभव ७२७-८
सक्रिय, के लिये आवश्यकता है नये ज्ञान की ७२८-९
सक्रिय, के तीन परिणाम ७२९
की भावात्मक पद्धति का कार्य ऐन्द्रिय संवेदन में ७३०-१; ज्ञान में ७३१-२ (बुद्धि की समता अतिमानसिक ज्ञानतक पहुंचने की शर्त ७३२); संकल्प में ७३२-३
की निष्क्रिय तथा सक्रिय दोनों विधियों का प्रयोग ७३३
की भावात्मक पद्धति का प्रयोग व्यक्तिगत उद्देश्य से नहीं बल्कि दूसरों की सहायता के लिये और भगवान् के लिये ७३४

६७

समता [की क्रिया] ७३५-४२
का मतलब ७३५-६
प्रभुत्व की पहली शर्त ७३५
मानसिक, और आत्मिक ७३५-६
में साधक का पहला कर्तव्य : समता का निरीक्षण और त्रुटि को दूर करने के लिये संकल्प-शक्ति का प्रयोग ७३६-७; 'चार चीजें साधक में अवश्य होनी चाहियें ७३६; 'वर्तमान स्थिति में पहला कार्य डंक को निकाल डालना ७३६, इसकी कसौटी ७३६
अशांति, चिंता, शोक आदि के प्रति ७३६-७; किसी भी कारण इनके लिये कोई बहाना स्वीकार न करना ७३७

क्षुब्ध भाग यदि प्राण या भाव-प्रधान मन या स्वयं बुद्धि हो तो . . . ७३७
में मुख्य आधार : आत्मसमर्पण ७३७
अशांति के प्रति, यदि वह निरंतर बनी रहे ७३७-८
में लंबा समय लगने के कारण भी निरुत्साहित या अधीर न होना ७३७-८
से स्थापित शांति सभी परिस्थितियों में एक-सी बनी रहनी चाहिये ७३८; एकता का दर्शन इसमें सहायक ७३८
का थोड़ा-सा भी अंश पूर्णता की ओर महान् पग ७३८
से शांति एक बार प्राप्त हो जाने पर प्राण और मन की पसंदगी रूढ़ अभ्यास मात्र रह जाती है और फिर समाप्त हो जाती है ७३९
से 'यथा प्रयुक्तोऽस्मि तथा करोमि' यह एक सजीव सत्य बन जाता है ७३९
में इस अवस्था के भी परे जाना होगा, कारण, कर्म और अनुभव का निर्धारण . . . ७३९-४०
के फलस्वरूप प्राप्त स्थिरता घनी होकर शांति का, फिर सुख, फिर हास्य का रूप ले लेती है ७४०-१
जब पूर्णता प्राप्त कर लेती है तो वह पदार्थों के सभी मूल्यों का रूपांतर . . . ७४१; व्यक्ति के संबंध में भी हमारी दृष्टि में परिवर्तन . . . ७४२

६८

करण
-ें की शक्ति [पूर्णता] ७४३-५३
-ें के विकास का लक्ष्य ७४३
शरीर
की चतुर्विध पूर्णता : महत्त्व, बल, लघुता और धारण सामर्थ्य ७४३-९
के रूपांतर की आवश्यकता ७४३-४
में नया अभ्यास, उच्चतर स्वर का विकास ७४४
में आध्यात्मिक शक्ति की क्रिया के परिणाम ७४५-६
में प्राण-शक्ति का आहरण ७४६-९
में मन की शक्ति में श्रद्धा ७४७-८
चैत्य प्राण
की चतुर्विध पूर्णता : पूर्णता, प्रसन्नता, समता, भोगसामर्थ्य ७४९-५०
चित्त [हृदय और चैत्य पुरुष]
की चतुर्विध पूर्णता : सौम्यत्व, तैजस्, श्रद्धा और प्रेम-सामर्थ्य ७५०-२
बुद्धि और चिंतनात्मक मन
की चतुर्विध पूर्णता : विशुद्धि, प्रकाश, विचित्र बोध, सर्वज्ञान-सामर्थ्य ७५२-३
करणों की पूर्णता के मुख्य-मुख्य साधन ७५३

६९

आत्मशक्ति
और चतुर्विध व्यक्तित्व ७५४-६६
और करणों की शक्ति ७५४
क्या है ७५४
ही हमारी प्रकृति के विशिष्ट रूप का निर्धारण करती है ७५४-५
सतह पर आयी होती है विभूतिमत् पुरुषों में ७५५
मनःशक्ति, प्राण-शक्ति, बुद्धि-शक्ति से भिन्न है ७५५
में प्रकृतिगत भगवान् ज्ञान-शक्ति, क्षात्र-शक्ति, वैश्य-शक्ति और शूद्र-शक्ति के रूप में प्रकट . . . ७५५
'व्यक्तित्व ब्राह्मण का ७५७-८
'व्यक्तित्व क्षत्रिय का ७५८-९

'व्यक्तित्व वैश्य का ७५९-६१
'व्यक्तित्व शूद्र का ७६१-३
'व्यक्तित्व के इन चारों भेदों में कोई यदि अन्य गुणों का कुछ अंश अपने में नहीं लाता तो वह अपने क्षेत्र में भी पूर्ण नहीं हो सकता ७६३-४
और प्रकृतिगत शक्ति : भेद ७६४-५
की समग्र, समस्वर चतुर्विध पूर्णता ७६५-६
के पीछे स्थित अंतरात्मा जब अपने-आपको प्रकट करती है ७६६

७०

भागवती शक्ति ७६७-७७

प्रकृति

आध्यात्मिक सत्य में ७६७
बाह्य यांत्रिक रूप में ७६७
आधुनिक वैज्ञानिक की दृष्टि में ७६७-८
हमारे आंतर आत्मपरक अनुभव में ७६८
और पुरुष द्वैतात्मक सत्ता हमारे अन्दर ७६८
और पुरुष के द्वैत का समाधान सांख्य का तथा एक और ७६८-९
और पुरुष का द्वैत एकमेव सत्ता का द्विविध रूप ७६९
और पुरुष की वर्तमान स्थिति हमारे अन्दर और मुक्ति का उपाय ७६९-७०
'अहम्मय वैयक्तिक संकल्प एवं शक्ति के स्थान पर वैश्व और भागवत संकल्प एवं शक्ति को प्रतिष्ठित करना होगा ७७०

वैश्व-शक्ति

की ओर अपने-आपको खोलना हमारे लिये सदा ही संभव ७७०
'वैश्व प्राण-शक्ति का अपने अंदर आहरण, उसका उपयोग और प्रभाव ७७१
'वैश्व-प्राण-शक्ति की क्रिया पर हम अपने कार्यों का समस्त भार नहीं छोड़ सकते ७७१-२
'प्राण-शक्ति का नियमन मानसिक शक्ति के द्वारा ७७२; मानसिक शक्ति का नियंत्रण अपूर्ण ७७२-३
'मन के स्तर पर पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य से प्राप्त सापेक्ष स्वतंत्रता का उपयोग सत्त्वोत्कर्ष, मानसिक शांति, आत्मिक शांति या महत्तर रूपायण के लिये ७७३-४; इन्हें संपन्न करने के लिये भागवत सहाय्य की आवश्यकता ७७४-५
'एकमेव अनंत का साक्षात्कार ७७५; पुरुष-पक्ष में और प्रकृति-पक्ष में ७७५; प्रकृति-पक्ष में यह भगवती शक्ति का साक्षात्कार होता है ७७५

भागवती शक्ति

का साक्षात्कार... व्यष्टि सत्ता का लोप... ७७५-६
का अपने अंदर आवाहन करना होगा ताकि वह हमारे सारे कार्यों का भार अपने हाथ में ले ले ७७६
की रूपांतरकारी क्रिया ७७६-७
पुरुषोत्तम के रूप में प्रकट ७७७

७१

भागवती शक्ति की क्रिया ७७८-८६

ही वैश्व शक्ति के रूप में समस्त गतियों और क्रियाओं का संचालन करती है इस सत्य को हृदयंगम करना आवश्यक अहं-कर्तृत्वभाव से मुक्ति के लिये ७७८; अहं के पूर्ण विनाश के लिये सर्वप्रथम सब क्रियाओं के पीछे अवस्थित एकमेव सर्वगत पुरुष

का विचार रखना होगा, दूसरे वैश्व शक्ति को उसकी उच्चतर क्रिया के रूप में उपलब्ध करना होगा ७७९
उच्चतर भूमिका में, और उसकी क्रिया ७७९-८०
की क्रिया और बारी-बारी से आनेवाले उतार-चढ़ाव ७८०
की क्रिया की सिद्धि [रूपांतर] तबतक पूर्ण नहीं जबतक बीच की अतिमानसिक शक्ति की कड़ी स्थापित नहीं . . . ७८०
की क्रिया के लिये पहली आवश्यकता : अहंकर्तृत्वभावना का त्याग और विराट् शक्ति के साक्षात्कार में अहंबुद्धि का निमज्जन ७८०-१
का साक्षात्कार यदि निम्न रूपों में, तो सावधान, कि हम उसी से संतुष्ट न हो रहें ७८१
का साक्षात्कार यदि उच्चतर वास्तविक रूप में तो कठिनाई उसे सहन और धारण करने की ७८१; कठिनाई उसी अनुपात में कम . . . ७८१
'भगवान् की तीन शक्तियां : ईश्वर, प्रकृति, जीव ७८१-२, ७८५
या ईश्वर के साथ स्थापित होनेवाले संबंध में कठिनाई अहं-चेतना से : अहं आध्यात्मिक मांग से भिन्न अन्य मांगें करता है ७८२
'भगवान् के प्रति जीव के आत्म-समर्पण का आशय ७८२
'अनंत शक्ति के प्रति सचेतन होने पर अहंबुद्धि की प्रवृत्ति उस पर अधिकार जमाने की ७८२-३; इससे बचने का उपाय : समर्पण और शुद्धि ७८३; शुद्धि और आत्म-प्रभुत्व ७८३अ
'सक्रिय आत्म-प्रभुत्व और आत्म-समर्पण को समन्वित कैसे करें ७८४; इस क्रियाशील साधना की तीन अवस्थाएं ७८४-६

७२

श्रद्धा

और शक्ति ७८७-९८
पूर्ण, का अर्थ ७८७
'आत्म-श्रद्धा इतनी अनिवार्य कि . . . ७८७
जिस, की मांग पूर्णयोग करता है ७८७
का शत्रु है : सन्देह ७८७-८
के साथ अंततक डटे रहना ७८९
अंध, अज्ञ ७८९, ७९०
पूर्णयोग के लिये जैसी अपेक्षित ७८९-९०
परम आत्मा का प्रभाव है, इसे प्रत्युत्तर बुद्धि, हृदय, प्राणिक मन इतना नहीं जितना अंतरात्मा . . . ७९०-१
दैनन्दिन, लक्ष्यों को साधित करने की अपनी शक्ति में ७९१-२
परिवर्तनों, संघर्षों के बीच ७९२
को भूलों से विचलित नहीं होने देना चाहिये ७९३
बुद्धि की ७९३-४
हृदय और प्राण की ७९४
को उपरितल पर लाकर तृप्त, धारित, वर्धित किया जाता है ७९४अ
आध्यात्मिक अनुभवों के प्रति ७९५
सफलतापूर्वक बढ़ने की अपनी शक्ति में ७९६
'आत्म-अविश्वास ७९६
'आत्म-श्रद्धा, अहंकारमय ७९६
भागवत शक्ति में ७९७
ईश्वर में ७९८
तब ज्ञान में परिणत ७९८
की सर्वोच्च पूर्णता ७९८

७३

अतिमानस

का स्वरूप ७९९-८१६

'आध्यात्मिक चेतना और मानसिक चेतना : भेद ७९९

'दिव्य सत्ता को जान सकने या वही बन सकने के लिये मनुष्य से जो मांग की जाती है ७९९-८००

'आध्यात्मिक चेतना में रूपांतर के लिये जिस आत्मसिद्धि योग की आवश्यकता है ८००

के माध्यम के द्वारा या कि मन के माध्यम के द्वारा भागवत शक्ति मनुष्य में काम करेगी ? ८००-१

क्या है ? ८०१-२, ८१६

का प्रादुर्भाव एक अनिवार्य, तर्क-सिद्ध सत्य ८०१

का मूल स्वभाव : तीन विशेषताएं : तादात्म्य जनित ज्ञान, व्यापक समग्र दृष्टि, ऋत चित् ८०२-५

का ज्ञान ८०२-४, ८१६; और मन का ज्ञान ८०४-५

की और मन की सत्यतक पहुंच ८०५-७

सत्य चेतना ही नहीं, सत्य संकल्प भी है ८०७

में और मन में ज्ञान और संकल्प ८०७-८

की निर्भ्रान्त क्रिया सभी पदार्थों में ८०७

सत्यमय, सुसमंजस, एकात्म है, मन आत्म-विरोध से पूर्ण है ८०८

को त्रिकाल दृष्टि प्राप्त है, मन केवल वर्तमान को जानता है ८०८

'सत्' के उच्चतम स्तरों पर, और अपने क्रमिक अवरोहण में ८०९

की क्रिया जड़-तत्त्व में और सभी जगह ८१०-१

की क्रिया पर जड़ देह, प्राण और मन का स्वत्व नहीं ८११-२

अंतर्ज्ञान के रूप में निम्न प्रकृति में विद्यमान ८११-४

'अतिमानसिक ज्ञान की ओर पहला पग अंतर्ज्ञानात्मक मन के विकास के द्वारा ८१३-४

ईश्वर का परमोच्च, और जीव को प्राप्त हो सकनेवाला ८१४-५, ८१६

७४

अंतर्ज्ञानात्मक मन ८१६-२८

'उच्चतर तत्त्व में संक्रमण का अभिप्राय है मन, तर्क-शक्ति और बुद्धि का (जिन पर ही मनुष्य ने विश्वास करना सीखा है) आमूल परिवर्तन . . . साहस-यात्रा ८१७; यह परिवर्तन तभी साधित . . . ८१८; यह रूपांतर अंतर्ज्ञान की मध्यवर्ती अवस्था में से ८१८

का कार्य अभी हमारे अंदर, और मन का उसमें हस्तक्षेप ८१८-९

की ओर प्रगति : दो दिशाएं ८१९

की ओर प्रगति : मन को सर्वथा शांत करके ८२०-१; हृदय की अंतर्वाणी पर कान देकर ८२१-२; सहस्रदल कमल पर समस्त चिंतन और कार्य का निर्णय छोड़कर ८२२-३; बुद्धि के विकास और उसके रूपांतर के द्वारा ८२३-४; सब विधियों को मिलाकर ८२४-५

का संघटन : चिंतन, संकल्प शक्ति, वेदन आदि का अंतर्ज्ञानात्मक रूपांतर ८२५-६

और अतिमानस ८२६

को निम्न मन और समष्टि मन के मिश्रण व आक्रमण से सावधान रहना होगा ८२६-७

और भ्रांति ८२६-७
मन और अतिमानस के बीच संक्रमणात्मक अवस्था है ८२७-८

७५

अतिमानस के क्रमिक सोपान ८२९-४३
इनमें आत्मा का अनुभव ८२९-३०
अंतर्ज्ञानात्मक मन, अतिमानसिक बुद्धि और महत्तर अतिमानस ८३०-१

अंतर्ज्ञानात्मक मन
की चार शक्तियां : संकेतकारी अंतर्ज्ञान, अंतर्ज्ञानात्मक विवेक, अंतर्ज्ञानात्मक अंतःप्रेरणा, अंतर्ज्ञानात्मक साक्षात्कार ८३१-६; ये शक्तियां सामान्य बुद्धि की तीव्र क्रियाओं से भिन्न हैं ८३१-२

अतिमानसिक बुद्धि
में परिवर्तन : इसके लक्षण ८३६-८
का स्वरूप ८३८-९
का कार्य ८३९-४०

महत्तर अतिमानस
और अतिमानसिक बुद्धि ८४०-१
में निवास ८४१
में विचार, संकल्प, संवेदन ८४१-२
का कार्य ८४२
में निवास से अन्य लोगों के ज्ञान एवं अनुभूति से विच्छिन्नता नहीं ८४३
'ये स्तर हमारे अनुभव के प्रति बंद नहीं, भगवान् हमारे सामान्य मन में ही अपने आवरणों को भेदकर प्रकट हो उठते हैं ८४२-३

७६

अतिमानसिक विचारशक्ति और ज्ञान ८४४-५९

अतिमानस
में, मन से, संक्रमण का अर्थ ८४४
'अतिमानसिक क्रिया को मानसिक क्रिया से पृथक् पहचानने के लिये शुद्धि आवश्यक ८४४-५
में, मन से, रूपांतर की अंतिम अवस्था तब . . . ८४५
और मन ८४५ . . .
से उद्भूत मन का समस्त कार्य ८४५
वह सब कर सकता है जो मन करता है ८४६
के निरूपण और मन के निरूपण ८४६-७
की चेतना एकात्मक है, मनोमय चेतना का लक्षण है विभाजन, पार्थक्य ८४७-८
के मन पर दबाव से विपरीत दृग्विषय : कारण ८४८
की ओर एक दिशा में विकास से सत्ता में असमस्वरता ८४८-९
में ज्ञान, संकल्प, वेदन तथा अन्य सब क्रियाएं एक ही गति का रूप धारण . . . ८४९-५०
में ज्ञान [आत्मज्ञान] ही आधार है ८५०

अतिमानसिक ज्ञान
और विचारात्मक ज्ञान ८५०-२
और अतिमानसिक अंतर्दर्शन [आध्यात्मिक दृष्टि] ८५२-३; और तादात्म्य ८५३; और आध्यात्मिक श्रवण व स्पर्श ८५३

अतिमानसिक विचार
का स्वरूप ८५४
का कार्य ८५४
और बौद्धिक विचार ८५४-५
के तीन स्तर और अंतर्ज्ञानात्मक मन की तीन शक्तियां ८५५
और अतिमानसिक शब्द ८५६
और मानसिक चिंतन ८५७-९
का संगठन ८५९
और त्रिकाल दृष्टि ८५९

७७

अतिमानसिक करण—विचार-प्रक्रिया ८६०-८२
'अतिमानस हमारी चेतना के लिये विजातीय नहीं ८६०
'यह नयी शक्ति हमारे मन, प्राण की क्रियाओं का त्याग नहीं करती, उन्हें उदात्त बनाती है ८६०
'अतिमानसिक प्रकृति में ये गुह्य, दुर्लभतर शक्तियां असामान्य नहीं रहतीं ८६०
अतिमानसिक विचार
-क्रिया का मन की क्रिया से भेद ८६०-१, ८६३
'मन की विचार-क्रिया के तीन स्तर : रूढ़ विचारात्मक मन, व्यवहारलक्षी मन, शुद्ध विचारणात्मक मन ८६१-२; इन तीन क्रियाओं को मिलाना मानव मन के लिये कठिन ८६२-३
की शुद्ध विचारणात्मक क्रिया ८६३-४
की व्यवहारलक्षी क्रिया ८६५-६
की रूढ़ मन के सदृश क्रिया ८६७-८
की जटिल गति में असामंजस्य एवं विषमता नहीं होती ८६८
तर्क बुद्धि
का नियंत्रण ८६८
अंतर्ज्ञान और प्राणिक मन—इनकी मिश्रित क्रिया मन में ८६८-९
प्राणिक मन और अतिमानसिक अंतर्ज्ञान के बीच का करण ८७०
का कार्य मध्यस्थ का ८७०
में अपनी सीमाओं की उपेक्षा की प्रवृत्ति ८७०-१
की विशिष्ट शक्ति : तार्किक क्रिया ८७१
का पहला कार्य : स्वीकृत तथ्यों का—प्राकृतिक जगत्, अपनी आंतरिक सत्ता, अन्य जीवों, सामान्य मनोमय बुद्धि की क्रिया, अन्य स्तर, आत्मा का—निरीक्षण ८७१-२
का सचेतन विकास ८७३
की विश्लेषण और संश्लेषणात्मक रचना की क्रिया ८७३-४
के अनिवार्य साधन : स्मृति, निर्णय-शक्ति और कल्पना-शक्ति ८७४-५
की उपयोगिता और अंतर्ज्ञान की ओर बढ़ने की आवश्यकता ८७५
अतिमानसिक बुद्धि
अतिमानस का प्रथम सुव्यवस्थित करण ८७५-६
और तर्कबुद्धि ८७५-६
'मनोमय बुद्धि के मुकाबले :—
अतिमानसिक इन्द्रिय ८७६
अतिमानसिक चिंतन ८७६
अतिमानसिक अवलोकन ८७६-८०
अतिमानसिक स्मरण-शक्ति ८८०-१
अतिमानसिक कल्पना-शक्ति ८८१
अतिमानसिक विवेक-शक्ति ८८१
अतिमानसिक तर्क ८८१-२
के ऊपर के स्तरों में ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया ८८२
'अतिमानसिक विज्ञान पूर्णतया अनावृत तभी . . . ८८२

७८

अतिमानसिक इन्द्रिय ८८३-९०६
भी है ८८३; अतिमानसिक विज्ञान, अतिमानसिक प्रज्ञान, अतिमानसिक संज्ञान [इन्द्रिय] ८८३-५
के ज्ञान का ढंग, अतिमानसिक विज्ञान के ढंग से भिन्न ८८६
का अभिप्राय ८८६

-ज्ञान भगवान् का ८८६
की क्रिया ८८६-८

(२)

अतिमानसीकरण
भौतिक इन्द्रियों का ८८८-९०
चक्षुरिन्द्रिय का ८८९-९०
श्रवणेन्द्रिय का ८९१
स्पर्शेन्द्रिय का ८९१-२
प्राणेन्द्रिय का ८९२-५

(३)

'प्राणेन्द्रिय के दुःखविषय और चैत्य दुःखविषय ८९६
'प्रच्छन्न मन-प्राण की क्रिया और इसके संकटों के विषय में निरापद नियम ८९६-७
चैत्य चेतना एवं इन्द्रिय
-ों में दर्शनेन्द्रिय प्रथम विकसित ८९७-८
की शक्तियां (पार्थिव या अतिपार्थिव सत्ताओं के साथ सीधा संबंध, अंश विभूति किसी अन्य स्थान पर प्रकट करना, अन्य स्तरों की व परिपार्श्व की शक्तियों, उपस्थितियों, प्रभावों के प्रति सचेतनता . . .) ८९८-९०१
की शक्तियों का उपयोग ९०१
की शक्तियों का आध्यात्मिक उपयोग ९०१-२
-ों का अतिमानसिक रूपांतर ९०२-५
'इस रूपांतर के बाद जीव की अवस्था ९०५-६

७९

अतिमानसिक काल-दृष्टि की ओर ९०७-२७
'कालातीत 'अनन्त' और कालगत 'अनन्त' ९०७
'कालातीत अनन्त की चेतना में यदि हमारा मन प्रवेश करे . . . ९०७-८
'कालातीत अनन्त और कालगत अनन्त की एकीकृत अनन्त कालचेतना है अतिमानसिक चेतना की ९०८
'मानव चेतना के आरोहण में तीन क्रमिक अवस्थाएं : अज्ञानमय मन, आत्मविस्मृतिपूर्ण ज्ञान से युक्त मन, ज्ञानमय मन ९०९-१०
(त्रि) काल दृष्टि [वर्तमान, भूत, भविष्य का ज्ञान]
अज्ञानमय मन की ९११-८; भूत और भविष्य के आकलन के इसके साधन : बुद्धि ९१३-४; अंतर्ज्ञान ९१४-५; शकुन, स्वप्न, फलित ज्योतिष ९१५; चैत्य चेतना और चैत्य शक्तियों का उद्घाटन ९१५-८
और आत्मविस्मृतिपूर्ण ज्ञान से युक्त मन ९१८-९; इसमें अज्ञानमय मन का हस्तक्षेप ९१९ (इलाज : अंतर्-ज्ञानात्मक मन का विकास ९१९-२१); हस्तक्षेप करनेवाली मानसिक रचनाएं दो प्रकार की : व्यक्तिगत इच्छाशक्ति और मन-बुद्धि की रचनाएं ९२१-३
से संबंधित अंतर्ज्ञानात्मक मन को यथार्थ तथ्यों, संभाव्य पदार्थों तथा अटल भावी वस्तुओं को—तीनों को देखना होगा, अंतःप्रेरित मन, और सत्योद्भासक मन का गठन करना होगा ९२३-५
के लिये सीमित यंत्र है यह मन भी ९२५-६
की महत्तर पूर्णता और ज्ञानमय मन का गठन ९२६-७
अतिमानसिक, की ओर ९२६-७

अनुक्रमणिका

अंतर्ज्ञान १५०, १५२, २५७, ५८९-९०; बोधि-ज्ञान ३१७; संबोधि ४७९
तीन, मनोमय पुरुष को प्राप्त कर लेने के ६४१-२
गुप्त अतिमानसिक शक्ति है ८१०
शक्ति का कार्य भौतिक ऊर्जा, परमाणु, प्राणमय भूमिका और मनुष्य में ८११-२
अनुकरणात्मक ८४४
की क्रिया में मन का मिश्रण ८६९, ९१४ (दे० वि०७९)
अंतर्ज्ञानात्मक चिंतन ८२५
अंतर्ज्ञानात्मक मन ४६२, ६८४, ८२९, ८४४, ८४५, ८७५, ९१५; बोधिमय मन ३१३; संबोधि मानस ३१७
और तर्क बुद्धि ४८४-५, ४८७, ८१४
मिथ्या ४८५
सच्चा ४८५-६
का विकास ४८७-८
और साधारण मन में भेद ९२०
(दे० वि०७४, ७५, ७९)
अंतर्दृष्टि २२०, ३०६-७, ४९०
अंतःस्थ आत्मा [अन्तरात्मा] ६०३, ६५५, ७७०
को पीड़ा पहुंचाना ११०
विवरण २१७-८
के अंधकार के भीतर आने का हेतु २६२ (दे० 'पुरुष' ने भी)
का साक्षात्कार प्रधान लक्ष्य ३४४-५
को ढूंढ़ लेने पर हम सब में विद्यमान एक आत्मा को भी ढूंढ़ लेते हैं ३४५, ३७३
जीवन-विषयक अनुभवों को पोषक सामग्री में . . . ७१२, ७३०
की सामर्थ्य बाह्य स्पर्शों को सहने की ७२२
जब मुक्त हो जाता है तो पीछे स्थित भगवान् समस्त ज्योति, सुषमा सहित आविर्भूत . . . ७५६
अंतर्ज्ञानमय आत्मा है ८२१
(दे० 'चैत्यपुरुष' भी)
अंतःस्थ पथप्रदर्शक
की प्रच्छन्न क्रिया व पद्धति ६१-२, ६४, ७१
को पूरी तरह पहचानना और अंगीकार करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण ६२-३
छुपा क्यों रहता है ६२
की सहायता को तब हम विगत जीवन पर दृष्टि डालकर नहीं, तत्क्षण पहचानने . . . ६२-३
वैयक्तिक रूप में अनुभूत ६३
'इस एकमेव को जानना और चरितार्थ करना अब सचेतन उद्देश्य ६३-४; इस कृतार्थता का पथ और वैसा करना अहंमय चेतना के लिये कठिन क्यों ६४
हमारे विद्रोह से, हमारी श्रद्धा की कमी से निरुत्साहित नहीं होता परन्तु उससे अपनी अनुमति हटा लेने के कारण . . . ६४-५
अंतःस्थ भगवान् ७१७
को अब हमारे मन के समक्ष सदा उपस्थित . . . ११३
का स्थान गुह्य हृदय में १५२
ही उसके कर्म का भार अपने ऊपर . . . ५०८
तब योग को अपने हाथ में ले लेते हैं ६३६
अंधकार ६१, १२७, २३२, २६४
की घड़ियां २२२, २४६-७

अंध प्रेरणा ४८७, ८११
अंध विश्वास ४६०, ४६७
'अंध श्रद्धा ७८९, ७९०
अक्षमता [असमर्थता] ३९९, ४१९, ४८१, ७९६ दे० दुर्बलता भी
अक्षर पुरुष ३८३
अचेतनता अन्यविध चेतनता है ३९१
अज्ञान १६२, १७०, १७३, २१८, २३५, २४९, २५७, २८५, २८९, ३११, ३९९, ४१९, ४४४, ६४६, ७२०, ७३१
के प्रधान चतुष्टय : अंधकार, असत्य, मृत्यु, दुःख २६४
अतिमानस २५७, ३९४, ४२३, ४२८, ४६२, ६५७, ८२४
आत्मा का करण है ६३२, ६६२
का स्वरूप ६३२-३
और मन—इनमें एकता और भिन्नता, ज्ञान और अज्ञान ६३२
निम्नतर करणों में—जड़तत्त्व, प्राण और मन में ६३२-३
अनन्त में से किस चीज को सामने लायेगा, यही इसे निश्चित करता है ८६५
(दे० 'विज्ञान' अतिमानसिक और वि० १८, ७३, ७५, ७६, ७७)
अतिमानसिक अवलोकन ८७६-८०
अतिमानसिक इन्द्रिय दे० वि० ७८
अतिमानसिक करण दे० वि० ७७
अतिमानसिक कल्पना-शक्ति ८८१
अतिमानसिक काल-दृष्टि दे० वि० ७९
अतिमानसिक चिंतन ८७६
अतिमानसिक चेतना २१०
का अवतरण संभव नहीं जबतक प्राण-शक्ति पर्याप्त विकसित और उदात्त . . . १७६
और आध्यात्मिक जीवन को सार्वभौम बनाना ही व्यक्तिगत और सामूहिक पूर्णता ला सकता है २०६
तथा आध्यात्मिक जीवन की भित्ति है : विश्वमयता २०७
परिपूर्ण, समग्र, सुस्थिर की प्राप्ति तभी . . . ९०३
अतिमानसिक जाति ९२, ९३
अतिमानसिक ज्योति १५०
जैसे-जैसे बढ़ती है अशांति, शोक या क्षोभ उत्पन्न ही नहीं हो सकते, एक महत्तर आनन्द . . . ७३८, ७४०
अतिमानसिक ज्ञान ८७७ दे० वि० ७६
अतिमानसिक तर्क ८८१-२
अतिमानसिक दृष्टि ८८९-९०
अतिमानसिक बुद्धि दे० वि० ७५, ७८
अतिमानसिक लोक
जहां से लौटना नहीं होता ६४३ दे० 'स्तर' भी
अतिमानसिक विकास
का प्रभाव : विश्वमयता ९०२
अतिमानसिक विचार
बोध, संवेदन . . . की ओर प्रगति ५००-३
(दे० वि० ७६, ७७ भी)
अतिमानसिक विवेक शक्ति ८८१
अतिमानसिक समुदाय
यदि बनाया जा सके तो दिव्य सृष्टि . . . २०९
अतिमानसिक स्मरण शक्ति ८८०-१
अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय श्रवण, अतीन्द्रिय बोध ८९८
अद्वैतवादी ३६०, ३६४, ४०४, ५६६
अधिमानस १५०, २५७, ४८२, ४९८
अनासक्ति २४०, ३४६, ६४३, ६७९, ७३५
अनुभव [साक्षात्कार] (भगवान् का, आत्मा का, आध्यात्मिक) ११४,

३३३, ४९९अ, ७९२, ७९५
बहुमुख, आवश्यक ११६
आधारभूत तीन, ११६-२०
का आरंभ पहले अपने अंदर या पहले दूसरे में ११८-९, ३७४
जगत् के स्वप्न या भ्रम प्रतीत होने का दे० 'जगत्'
अन्य, भी आवश्यक १२०, १३१
द्वैत का दे० 'द्वैत'
में पूर्णता क्रमशः २४५अ
उच्चतर, जब विस्मृत २४६
विश्वमय, विश्वातीत, व्यष्टिरूपों में २५५-६३
अतिबौद्धिक, में संतुलन आदि चीजों की आवश्यकता २८४
एकीकारक २९६
में तीन क्रमिक अवस्थाएं ३०६-९
प्रत्यक्ष ३०७; इसके बाद तिरोभाव के चाहे कितने भी अंतराय . . . ३०७
स्थायी कब और कितनी शीघ्रता से यह . . . ३०७
'सोऽहम्' का, करने के बाद 'तत्त्वमसि' का ३४५
उच्चतम और विस्तृतम ३६५
उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ ३६६-८
मानसिक, आध्यात्मिक अनुभव में परिणत ३६६
जो मायावाद का आधार है ३६९
वह, चरम नहीं ३९०; आंशिक है ७९५
सर्व ब्रह्म का ४०७-८
सर्वप्रथम और बाद में जिस रूप में ४१६-७
परमोच्च ४३१, ७८६
जो भी प्राप्त हो, उससे संतोष न कर, उसे और अधिक शुद्ध, तीव्र करने . . . ६०२
तबतक रुक-रुक कर ६०३
कि मर्त्यता आनन्द कलश बन जाती है, फिर उसी पुरानी मर्त्यता में जा गिरती है ६०५
सच्चिन्मय अनंत का और भगवती महाशक्ति का ७७५
निरपेक्ष शांति और आनन्द का, और उसका सहचारी निरपेक्ष तत्त्व : दिव्य कर्म का आनन्द ७९५
मन, अंतर्ज्ञानात्मक मन और अतिमानस में ८२९-३०
(दे० 'उपस्थिति'; वि० १६, २८, ३०, ३२, ३३, ३४, ४४, ७०, ७१)
अनेकेश्वरवादी धर्म ५९२
अन्नमय पुरुष ४६८-९, ४७३-५, ६४२
का आध्यात्मिक विकास ४७४-५
की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम ६३८
(दे० 'भौतिक मनुष्य' भी)
अपूर्णता ६४, २१८, २२६, २४७, ५९९, ७१७, ७३३
का जरा-सा कंकड़ भी . . . १०५
क्रियाशील अंगों में २५३-४
अभिमान ६२, ५५८
अभीप्सा ५८, २२२, ५७६, ५७७
दूसरों में, उद्दीप्त करनेवाली चीज ६७
भी कर्म और रूप के बिना शरीर-रहित शक्ति १६५
'आध्यात्मिक कामना ६२५
अभ्यास
प्राण, शरीर और हृदय के ६५७-८
अमरता ३, २०, ४४३, ४४५
अर्घ्य [हवि] ८३, १११-२, ११३
अवचेतन सत्ता १८३, ३९२
अवतरण १३२, १३३, २६२, ६०५
प्रकाश, शक्ति, आनन्द का १३०-१
'दिव्य सत्ता को पुकार कर अपने अंदर उतार लाने की संभावना ४०३
(दे० 'आरोहण'-अवरोहण भी)

अवतार ६५, ६६, १३२, ३३०, ७८६
अशुद्धता [अपवित्रता] ३५३, ५३९, ५४०, ६५४, ६७९
का अर्थ ३१४, ३१९
और अपूर्णता से ही सीमाओं एवं बंधनों का जन्म ६४८
के दो रूप ६५५
(दे० 'शुद्धि' भी)
अशुभ [अशिव] १२७, १८६, २१४, २२६, ३३६, ५१७
(दे० 'शुभ' भी)
असत्य १५५, २६४, ३२८
असफलता [विफलता] २५, ६३, २२७, २४७, २४८, ७४१
असुर ११०, ११८, ४७६
असूया ७८९
अहं ६२, ८७, ९४, ११८, १४२, १५९, २२१, २३२, २३९, ५१३, ६३८, ६४८, ६५६, ८५७
का समाज के साथ यथार्थ संबंध २१
का समर्पण : ४६, ५९-६०, ६४, ९१, आवश्यक ८८
से मुक्ति : ४८, ६०, ९७, १२९, १६२, २८२, ४४४, ५००, ५७५, ७२७, के सोपान २४९-५३, की कसौटी ३३४-५
का ग्रसन ५८
-कर्तृत्व की भावना : का भ्रम ५९, २३८, ४३५, का त्याग ९४, २१७, २१९, २३०-१, २४५, २४९, २५०, ७७८, ७८०अ
के संकल्प, ज्ञान, बल की अपर्याप्तता ५९ दे० 'प्रयत्न' भी
की स्वतंत्रता [स्वतंत्र इच्छा] ६०, ९७, ९८-९, १००, १०४, १०८, १९०, १९१, २१६, २१९, ४५२, ६४५, ७६८, ७६९अ
का प्रयत्न दे० 'प्रयत्न', 'संकल्प' वैयक्तिक
का पृथक्-अस्तित्व का बोध ७७, १०८, ४४४, ४९७, ५००, ५०६, ५०७, ६४८-९, ६९१
-व्यक्तित्व : और सच्चा आध्यात्मिक पुरुष ८६, २१८, नश्वर, सांस्थानिक स्व है २७७, प्रकृति की एक रचना है (दे० नीचे [मन] प्रकृति), क्षर पुरुष है ३८२-३, के प्रति आसक्ति ही अज्ञान, असामंजस्य, कलह का मूल है ३८९
[मन] अपने बल पर रूपांतर नहीं साध सकता ८८, ६२५, ७७४
का त्याग करना होगा ९२, ११५, १५४, १७७, १८९, २४४, ३३१, ३३२, ३३३-५, ४४७, ६४०, ७२८
के स्थान पर प्रतिष्ठा : ईश्वर की ९२, केन्द्रीय पुरुष की १७९, दिव्य शक्ति तथा प्रज्ञा की गति की २०८, सच्चे केन्द्र की २३१, सच्चे व्यक्तित्व की ४४४
में रहते हम प्रकृति के गुणों के अधीन हैं ९७
से ऊपर उठ कर हम विश्व-प्रकृति को लांघ जाते हैं ९७
में नहीं ईश्वर में निवास १०३, ४४१
का कुछ संशोधन भर १०४अ, १५५
का स्थान १०४, ३५५, ६८८
और यज्ञ-विधान १०८
उग्र, के लिये उग्रता ११०
का विलय : १११, ११९, १७९, २०७, २५८, २८९, ४४४, ५००, ५०६, ५०७, यदि न हो भगवान् के अनुभव के बाद . . . ११८
-अस्तित्व के लिये संघर्ष १६६
-व्यक्तित्व और अविभाज्य विश्व-कर्म १९१

[मन] प्रकृति की एक रचना, उसका यंत्र, खिलौना १९१, २१६, २१९, २३८, २५६, ६४०, ६४१, ७६९; मन, प्राण, शरीर में इसका रूप २१६
और सामाजिक नियम १९६अ, २१२अ
तथा कर्मसंबंधी सत्य २१६-८
विषयक सत्य २१६, ४४३, ४४६
-मय तृप्तियां २२४
के पड़ाव २२४
गुणों की परस्पर-क्रिया की धारक ग्रंथि है २४०
सात्त्विक, राजसिक, तामसिक से मुक्ति २४०अ
यंत्र-भाव का २५०-२
को वश में तो कर लिया जाये, पर उन्मूलन न किया जाये तो . . . २५३
यंत्र-स्वरूप, को समर्पित करने के बाद भगवती शक्ति के सत्य-स्वरूप के प्रति उन्मीलन २५३-४
-पूर्ण तरीके से अतिमानस की खोज संकटपूर्ण २८१अ, २८३अ
से मुक्ति पहली शर्त विज्ञान की प्राप्ति की २८२, ४९७
'अहंतापूर्ण स्वेच्छा का त्याग ३३१, ३३२-३
के सूक्ष्म छद्मवेश ३३३-४ (दे० 'कर्म-यज्ञ' भी)
के लिये जीना ३९५
के साथ तादात्म्य ४१५
की दीवारों को तोड़ना चारों ओर से या ऊपर से ४१५, ४२१
के साथ जकड़ा हुआ नहीं है विज्ञान-केन्द्र ४९८
बन्धन की प्रधान ग्रन्थि है ६४८
को विस्तृत करने के आवेग के द्वारा ही मनुष्य एकता की ओर प्रेरित ६४९
एकत्व को नहीं पा सकता ६९१
का विकास, फिर उससे छुटकारा ७७८ (दे० वि० १४, २७, ७१)
अहंबुद्धि ६४०
का विलय ११९
से छुटकारा २४९-५३
इस सब बुराई की जड़ ३५५
का स्थान ३५५
की आग्रहपूर्ण ग्रन्थि: चैत्य प्राण, कामनामय मन ३५५
आत्मा का एक करण ६५६, ६६२
से मुक्ति ६८८-९३
से मुक्ति का उपाय ६८८
का पूर्ण उन्मूलन करणों की शुद्धि के बिना संभव नहीं ६८८
से मुक्ति के लिये एकता के विचार को स्थापित करना आवश्यक ६८८-९
से मुक्त होने के यत्न और पूर्णयोग का मार्ग ६८९-९०
समस्त दुःख, अज्ञान और पाप का मूल ६९०-३
सीमाकारी ६९०
विश्व के साथ असामंजस्य में रहती और अपनी सत्ता के साथ भी कलहरत ६९०-१
को उत्पन्न करनेवाली चीज ६९३
का निमज्जन वैश्व साक्षात्कार में ७८०

आ

आकाश ब्रह्म ३७४, ३७५
आकाश लिपि ९१७
आत्म-अविश्वास ७९६
आत्मख्यापन १७७
आत्मज्ञान ९१, ३९०
का सबसे पहला कदम २१६
भौतिक विज्ञान या बुद्धि से लभ्य नहीं ३०३-४
के लिये यथार्थ धारणा आवश्यक पूर्व

साधन ३०४-५
पूर्ण बौद्धिक निष्क्रियता में ३१८
और शुद्धि व मुक्ति परस्पराश्रित ३५८
के साथ विश्वज्ञान भी ३७६अ, ३७८
का कार्य ४४२
की शक्ति ४४४
का फल ४४४
आत्मदान
है परम पुरुष के साथ अविच्छिन्न संबंध की पराकाष्ठा २०६अ
आत्मनिवेदन
कर्मों में समग्र, का अभ्यास २२३-५
भक्तियोग में ५८१-३
का स्वरूप सर्वांगीण योग में ५८२
(दे० वि० ७)
आत्म-प्रभुत्व २४८, ६४०
और परिस्थितियों पर प्रभुत्व ७१४-५
और आत्मसमर्पण को समन्वित कैसे करें ७८४; इस साधना में तीन अवस्थाएं ७८४-६
(दे० 'प्रभुत्व' भी)
आत्मभाव २१४
आत्म-यंत्रणा [आत्मपीड़न] ११०, १११, ३३५
आत्मा
का सर्वोच्च सत्ता के साथ यथार्थ संबंध २१
, जड़पदार्थ और मन के परस्पर संबंध २९, ४७३
के साहसिक कर्म का लक्ष्य ८६
की स्वतंत्रता कर्मों के भीतर भी ९७, २१५, २३४, ३७०, ४११
बन जाते हैं हम, अहं से ऊपर उठकर ९७
में हम प्रकृति के गुणों से उत्कृष्ट हैं ९८
की प्राप्ति, समता के द्वारा ९८
हमारी सच्ची, सबके साथ एकीभूत है ९८, ३७३, ४१७
हमारी सच्ची, अहं [प्राकृत व्यक्तित्व या मानसिक सत्ता] नहीं है ९९, ११८, २९८, ३४०, ३४६, ३७३, ३८२
का अनुभव [प्राप्ति, साक्षात्कार] : ११८, २५०, ३०७, ३४१, ३५५, ३५६, ३५८, ३६५, ४७२अ, ६५२, ६७६, व्यक्ति को ही ३१, ३८१, अपने अंदर और बाहर ३७४, अंतर्व्यापी स्वरूप का ३७५-६; को पाने का अर्थ है आत्मानन्द को पाना ३९४-५
प्रकृति में से प्रकट १२८
की स्थितिशीलता में ही नहीं, प्रकृति की गति में भी दिव्य चरितार्थता २५४
की अभिव्यक्ति नीरवता में ३१८, ३५८
की जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएं ३२४ टि० ५२८
के बंधन : ३३२-३, की त्रिविध रज्जु ४८८
में निवास का अर्थ ३३५
को निज स्वरूप की विस्मृति ३४६
को पा लेने के बाद जगत् के साथ सच्चे संबंध की स्थापना ३७१-२
पहले परोक्ष प्रत्यय . . . ३७१; तब महज एक नाम ४१२ दे० 'भौतिक मन' का प्रभुत्व भी
और जगत् के संबंध को जोड़नेवाला सूत्र ३७२
और जगत्-सत्ता के संबंध ४४१, ४५५-७
के संबंध में अन्नमय पुरुष का सर्वोच्च प्रत्यय ४७४
की भूमिका के अनुसार प्रकृति की भूमिका ४८२
शरीर में नहीं, शरीर आत्मा में ४९८
के प्रत्यक्ष करण : अतिमानसिक ज्ञान, संकल्प और आनन्द ६२०; आत्मा के

चार करण : अतिमानस, मन, प्राण, शरीर ६३२-४; आत्मा के करण : शरीर, चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार ६५२-६३
की समस्त शक्ति—सत्ता और चेतना—इन दो रूपों में कार्य करती है ६३३
के स्वातंत्र्य और प्रभुत्व का पहला पग : अहंबुद्धि से मुक्ति ६४०
को शुद्धि की आवश्यकता नहीं ६५२
की मुक्ति ६९४
सम और अचलायमान है ७११
की समता ७३५-६
(दे० 'पुरुष', 'जीवन', 'द्वैत', 'संकल्प' भी)

आध्यात्मिक आत्मसात्करण ८६७

आध्यात्मिक चेतना
जो रसग्राही नहीं १६६

आध्यात्मिक जीवन १९, २११
और जागतिक कर्ममय जीवन में विरोध ६, ३२८, ३२९, ३३०
की विशेष शक्ति २०
का सच्चा कार्य २७
पूर्ण ४८-५०
के प्रति जागरण ७०, १८६, ६२४
को वास्तविक बनाने, जीवन में उतारने की आवश्यकता ७०, २०६, ३८८
का वास्तविक रूप ४३६
(दे० वि० २, ३ भी)

आध्यात्मिक ज्ञान ३१५, ५२१
में हम बच्चे हैं : चिह्न ४६७

आध्यात्मिकता
और सामाजिक जीवन २३, २७-८
और नैतिकता १३९

आध्यात्मिक भविष्य हमारा ५९५

आध्यात्मिक शक्यता विशालतर ६१९

आध्यात्मिक सत्ता
और मानसिक सत्ता ३९८-९
(दे० वि० ३१ भी)

आध्यात्मिक सिद्धि [सिद्धि] १८५, ६४७
का स्थिर आधार और उसका सक्रिय सिद्धांत ६३२
(दे० वि० ५८, ६४, ६५ भी)

आध्यात्मिक स्वातंत्र्य [आत्मा में स्वतंत्र] ९७, १९२अ, २३४, ४११, ४५०, ६८७ दे० 'स्वतंत्रता' भी

आनन्द ४४, ४९, ६४, १०६, ३२९, ३५७, ३९४, ३९९, ४००अ, ४२८, ४२९, ४५६अ, ४९६, ७३०, ७३१
और सुख १५, १२२, १८६, २२४, ५०५, ७१६
से ही जगत् बना है ८४, ५१४
का अवतरण १३१
और दुःख कष्ट १३१, ३९२, ४५६
वस्तुओं में हमें अवश्य लेना चाहिये ३३२
मनुष्य का ४५६-७
और विज्ञान-शक्ति ५०२-३
आत्मा का मूल स्वभाव ५०५
का अनुभव देह, प्राण, मन के स्तरों पर भी ५०६; की प्राप्ति सभी स्तरों पर ५१२
और प्रेम : ५५५, ५७९, और सौंदर्य ५९९
का मतलब ६५५
की प्राप्ति ६६५
का तत्त्व सभी वस्तुओं में ७३०अ
(दे० वि० ४२, ५२, ५३ भी)

आनन्द-आकाश ८८७

आनन्द-कोष १५, ४६२

आनन्दमय पुरुष ४८१ (दे० वि० ४२ भी)

आनन्द-भूमिका दे० 'स्तर'

आराधना ५८०-२

आरोहण
महत्तर चेतना की ओर : ९२, १३४, १३६, १९४, २५६, २५७, ६४६-७, ७७४, ७९२ में कठिनाई का कारण ६४६
-अवरोहण ९२, १३४, १८६-७, २५७, २५८, २६२, ३२६, ५०६
'यत्सानोः सानुमारुहद् . . . १३४ टि०, ८५५
जहां पूरा हो जाता है ४८१
आवश्यकता (भौतिक) १४०, १९५, २०७, २१०, २११, २६७अ
आवेग [आवेश, भावावेग . .] ८७, १५२, २३९, २४३, ४५८, ४७६, ५०२, ७१८-९, ७८८, ७९४
शुभ कार्य, कृपा एवं प्रेम का ३५६अ
आवेगात्मक मन [सक्रिय मन]
की शुद्धि ६७२
के कार्य का ठीक रूप ६७२
आसक्ति (का त्याग) २१९, ५९९, ६७०, ७०२, ७३६
जीवन की किसी वस्तु के प्रति १८८, ३३१-२
विचार, सम्मति, दृष्टिकोण के प्रति ३१६, ३३२, ७१९अ, ७३१
मोक्ष के प्रति ३३१
सत्यों के प्रति ३३३, ७९२
अहं को छुपा सकनेवाले चिथड़ों के प्रति ३३३-५; अहं-व्यक्तित्व के प्रति ३८९
अकर्म के प्रति ३३५, ३५०
पुण्य के बाह्य रूपों के प्रति ३३५
आत्मा की किन्हीं भूमिकाओं एवं साक्षात्कारों के प्रति ३३६, ७९२
देह व प्राण के प्रति ३४१, ३४७, ३५२
प्रतिमा या प्रतीक में ६०२
(दे० 'कर्मयज्ञ' भी)
आसन ३४, ३६, ५४८, ५४९, ७४६

इ

इच्छा शक्ति ८६, १३७, २२२, ३१४
मानसिक, और दिव्य इच्छा शक्ति ९९
व्यक्तिगत, का हस्तक्षेप त्रिकाल-ज्ञान में ९२१-२
(दे० 'कामना'; 'संकल्पशक्ति' भी)
इन्द्रिय [इन्द्रियां] २९३अ, २९४, २९५, ३०८, ३३५, ४९५, ५००, ५०१, ५०२, ८५२
स्थूल, की समाधि में बाधा और उपाय ५३०-१
सूक्ष्म, का ज्ञान-क्षेत्र ५३०-१
विवरण ६६०, ६७३-४
मूलतः संज्ञान है ८८३
के व्यापार के विषय में हमारा विचार ८८५
शुद्ध, आत्मा की ही शक्ति है ८८५
(दे० वि० ७८ भी)
इन्द्रियाश्रित मन २९५, ३११अ, ६५६
का मिश्रण बुद्धि में ३१५-६
का निज स्वरूप ३१६
से मुक्ति ३१६
का यथार्थ धर्म ३५४
में प्राण का हस्तक्षेप ३५४
को सबमें सर्व-सुन्दर का समरस प्राप्त करना होगा ३५७
विवरण ६६०-१, ६७३-५
और इन्द्रियों की क्रिया ६६०
आभ्यन्तरिक, में सूक्ष्म शक्ति भी ६६०-१, ६७४
भौतिक और अतिभौतिक, दोनों प्रकार का हमारे अंदर ६६०-१
का सर्वप्रथम कार्य ६७४
में प्राथमिक विचार-तत्त्व ६७४
इष्ट देवता ६५, ६६, ३८५, ६०७अ

के पास पहुंचने के तीन सोपान ३८६-७
ईक्षण २२०, ८५२
ईसाई आचार-शास्त्र २०५

उ

उच्चतर जीवन [दिव्य जीवन] १४-८, ४८-५०, ६९१
उच्चतर प्रकृति ४४
की क्रिया की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएं ४६-८
उच्चतर बुद्धि
और इन्द्रिय मानस २९५
और बौद्धिक प्रज्ञा ३१३
में निरीक्षण, कल्पना, तर्क, निर्णय और स्मृति का रूप ३१३-४
उच्चतर मन ८०, ८१, ८२
और तर्क बुद्धि ८१
उत्सर्ग
पत्र-पुष्प-फल-तोय का १११, १६४ टि०
उत्साह ५३, ५८-६१
(दे० 'प्रयत्न' भी)
उदासीन १०२, २४१, ३६८टि०
उदासीनता ३३३, ७२३
एवं तटस्थता का काल समता की प्राप्ति में २२९, ७२५-६, ७३३
नहीं, सक्रिय प्रेम और आनन्द ३५७
उदाहरण
'मीडिया' का कड़ाह ३
यहूदी लोग जिन्होंने पैगंबरों को पत्थरों से मारा २२
अंधे को देखने और लंगड़े को . . . ४६
जैसे लुहार कच्ची धातु से कोई चीज गढ़ता है ४७
मानों सारे संसार को दो हाथों में भर लेना चाहें ८०
समिधाएं, सूखी और आर्द्र १४४
जैसे सूर्यमुखी का स्वभाव सूर्य की ओर मुड़ना . . . १५६
मानव-प्रकृति कुत्ते की दुम के समान १७४
जैसे सूर्य से प्रकाश निकलता है . . . २२०
जैसे एक बार चलाकर काम में लगायी हुई मशीन २३७अ
जैसे लड़की पुतलियों से खेलती है २३८
सोने की जंजीर भी वैसे ही तोड़ फेंकनी होगी जैसे बेड़ियां २४०
कुंभकार यदि एक पात्र को दूसरे की अपेक्षा अधिक पूर्णता से गढ़ता है तो उसका श्रेय . . . २५२
मिट्टी के ढेले की जड़ता भी एक कर्म है २६८
स्थिर, निश्चेष्ट बैठा मनुष्य अज्ञान से उतना ही बंधा . . . २६८
सैनिक का कर्तव्य . . . २७६
स्वच्छ, शांत, निस्तरंग सागर के समान ३१८
भले हम दुर्बलता और भय के पुंज रहे हों . . . ३२०
जाले में मकड़े की तरह ३३२
घड़ा मिट्टी का एक रूप ३४२
जैसे कोई बच्चे के काल्पनिक सुख-दुःखों पर मुस्कराता . . . ३५६, ७२६
स्वच्छ सरोवर में आकाश की भांति ३६६, ४०३
गगन में मुक्त किये गये पक्षी की तरह या मुक्त प्रवाह की तरह ३६७
जैसे आकाश घट को अपने अंदर . . . ३७५
एक ही समुद्र की लहरें . . . ३७९
मैं शक्कर बनना नहीं चाहता, शक्कर खाना चाहता हूं ३८१
मैं था तो सही, पर अचेतन था ३९१

स्वच्छ दर्पण ४०३, ५२३
मनोवैज्ञानिक परीक्षण: सब क्रियाएं प्रत्यक्ष कर्ता के विचार और संकल्प के बिना . . . ४१०
भारतीय संत: बैल पर पड़े कोड़े के निशान उनकी देह पर ४२२
बंद पुस्तक के समान ४५६
हवा में लुढ़कते पत्ते की तरह ५०६, ५१०
हृदय की धड़कन स्थगित करना ५४२
जैसे बीज में से पत्ता और फूल . . . ५८४
फूल के खिलने के समान ५९९, ६०३
जिस प्रकार वाद्य-तार गायक की अंगुली के संकेत पर . . . ६१०
पशु के मन को यदि तर्कशील बुद्धि के संकटपूर्ण साहस के लिये ऐन्द्रिय आवेग, समझ व सहज-प्रेरणा के सुरक्षित आधार को छोड़ने को कहा जाये तो . . . ८१७
जैसे कोई कमरे में रखी, पहले से विदित वस्तुओं पर दृष्टि डालता है ९१०
(दे० 'उद्धरण-सूची' भी)
उपस्थिति (भागवत) ११३, १३२, १४०, १७९, २०५, २४९
का अधिकाधिक अनुभव ११६, १३५, ७७५
सर्वव्यापी, का बोध ११७, २६४
का अनुभव प्रत्येक गतिविधि में २५४
स्थितिशील विद्यमान, पर प्रकृति की क्रियाएं त्रिगुण का अनुसरण . . . ४८३
के प्रति आकर्षण ६००
आश्रयदायिनी ६०१
का नित्य-निरन्तर चिंतन यदि . . . ६०४
के साथ भी प्रेम एवं उसकी उपासना संभव ६०६
की क्रिया, और रूपांतर ६२८
उपभोग दे० 'भोग'
ऋषि ३०६, ९०८
-यों की साधन-पद्धति ४०६
को विचार की सहायता . . . ८५२अ
ऋतम् ४९३ टि०

ए

एकत्व [एकता] १६६, २०९, ४९१, ७११, ७५२
और समता ९७, ९८, ७२८-९, ७३५अ, ७३८
सक्रिय, स्थितिशील ही नहीं ९७, ६४६, ७८६
ब्रह्म के साथ और सबके साथ १०२, ३३१, ३४४, ३६६, ३८२, ५१९, ६९१, ७०९
निगूढ़, सभी अहं की १०८, ६४८-९
प्राणियों की समस्त, आत्म-गवेषणा है १०९
सच्चा, संगठन और निकटता नहीं ११०
द्वैत में, का अनुभव क्रियाशील और फलोत्पादक १२३, १२५
और बहुत्व [विविधता] १३१, ३९९, ४२० टि०, ५५९, ६३७
और संबंधों की क्रीड़ा साथ-साथ १७१
विश्व-कर्म की १९०
विश्वमय, से परात्परता के एकत्व में आरोहण २५६
सर्वभूतों के साथ सारतः ही नहीं, लीला में भी २५८
आत्मा और भूतमात्र की: ३४५, ३७२, का आधार ३७३
उच्चतम और विस्तृततम ३६५
वास्तविक ३७९
का अनुभव ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग व प्रेममार्ग में ३८१अ

ही सत्ता का मूल सत्य ३८८, ४४१-२
वह, जो सच्चे ज्ञान को प्राप्त करना होगा ३९०
पूर्णरूपेण तृप्त करनेवाली ३९०-१
को फिर से पाना ही सर्वोपरि साधन, मानव कष्ट में से निकलने का ३९५अ
देश-काल-गत अभिव्यक्ति के साथ भी ३९८
पर आधारित है दिव्य स्तर ३९९, ६३७
पूर्ण, से जुगुप्सा ४२०-१
विराट् ४३१
पर बल देने का कारण ४४१-२
को फिर से पाना आत्म-ज्ञान का मूल कार्य ४४२
विश्वमय, विज्ञान-प्राप्ति की पहली शर्त ४९६-७
परमदेव के साथ, का अर्थ ५३६
व्यक्ति और विश्व की ६४८-९
के विचार को स्थापित करना अहं-बुद्धि से मुक्ति के लिये आवश्यक ६८८-९
और अतिमानसिक ज्ञान ८७७
(दे० 'तादात्म्य' और वि० २८, ३४ भी)
एकाग्रता २९०, ४६९, ५००अ, ५२५, ५३०, ५३८, ८७८
आवश्यक एवं पहली शर्त ७०, ७९, ८०, ८८
एकांगी ७४-५, ७८, ७९, ४०८
सर्वांगीण ७९, ८०
विचार, संकल्प, हृदय की ८२, ८४-५, ८६-७, ९१
और शुद्धता ३१९, ३२०, ३२८
और त्याग की दोहरी शक्ति की सहायता ३३७, ३४१, ३६६
की आवश्यकता दो कारणों से ५२३-४
सर्व समर्थ साधन, इन्द्रियों के द्वारों को बंद करने का ५३१
के अवलंबन ५८३
(दे० वि० ७, २२ भी)
ओ३म् ३२१, ५३७

क

कठिनाइयां सर्वश्रेष्ठ सुअवसर १०
कर्तव्य कर्म २७६
कर्म ३७८, ४६९, ५००, ५२२, ६८१, ६८६, ६८७, ७४२, ८४१, ८६५
सभी ईश्वरार्पण भाव से ९७, ११३
-ों में आत्मा की स्वतंत्रता ९७, २१५, २३४
अचल शांति में से ९७, २४३, ३८४, ४०९
यंत्रारूढ़ की भांति ९७, ९९, २५५, ८२१
का प्रेरक बल कामना नहीं, महत्तर शक्ति १०३, १४८
का चुनाव १०३, २१२, ६७१
समस्त, करने ही होंगे १०६; 'सर्वकृत् ३०१
-ों का [कर्मों के परिणाम का] निर्धारण ११२, १९०, २१७, २९२, ४३५, ४७३, ७३९-४०, ७७०; के परिणाम ही नहीं, प्रारंभ, क्रिया-प्रक्रिया का निर्धारण भी १९१
-ों का अर्पण अपने-आपको, दूसरों को या जाति को नहीं, बल्कि इनके द्वारा एकमेव को ११३
-ों की प्रक्रियाएं और परिणाम भगवान् को अर्पित ११३
हम ही करते हैं, की भावना दे० 'अहं'-कर्तृत्व
को अपने हाथ में लेना भगवान् द्वारा १३२

और जीवन के स्वीकार में तीन अवस्थाएं १४०-१
अज्ञानमय, से अकर्म के निकृष्टतर अज्ञान में नहीं गिराना १४६
का कर्ता (कर्त्री) १८०, २१७, २१८, २२५, २६८, ४१०, ४११, ४१८, ४३५, ७५४, ७६९, ७८५
हमारा, अविभाज्य विश्व-कर्म का भाग १९०
की यह सार्वभौम दृष्टि और अहंमय वैयक्तिक स्थिति १९१
निर्दोष, तभी संभव २०८
अतिमानसिक, और आचार के मानदण्ड २०८
-में, कामना के बिना, रहने का अर्थ २१३
की परिस्थिति २१३-४, २७०-१
हम नहीं करते, हममें घटित होता है २१६
-विषयक सत्य २१६-८
में सबसे पहले साधक को जो करना होगा २१८-२०
-में का भर्तामात्र, कर्म करता हुआ भी अकर्ता २४४
भगवान् का, हमारे अंदर अपूर्ण यदि हमारी प्रकृति अपूर्ण २५३-४
में यथा 'नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' की स्थिति २५४, इससे भी महान् अतिमानसिक संभावना २५५
-में भगवान् से मिलन २५५-६, २८०, ५५५, ५६२
-में भगवान् से मिलन विश्वमय, विश्वातीत, व्यष्टिरूप में २५५-६०
-में वैश्व-शक्ति से परिचालित होने का अनुभव २५५-६
तब आद्या भगवती सत्य-शक्ति से उद्भूत २५५
में विश्वमय एकत्व से परात्पर एकत्व में आरोहण २५६-७
-में भगवान् से मिलन—जो दूसरे पराभक्ति या शुद्ध ज्ञान से उपलब्ध करते हैं २५६
की प्रेरणा, प्राणिक प्रकृति को, तीन निम्न आशयों से २६७
अनिवार्य है, जबतक जीवन है २६८
मनुष्य नहीं करता, प्रकृति करती है २६८
का कोई बंधन नहीं रहता २६८, २६९, ३६९, ३७०, ३८४, ४११
प्रथम अपने विकास और परिपूर्णता के, बाद में दिव्य चरितार्थता के साधन के रूप में २६८, ३००-१
बिना कामना के, असंभव, यह समझना भूल २६९
ज्ञानमार्ग में दे० 'ज्ञानमार्ग'
शारीरिक, करने या न करने का प्रश्न ३५०-१
अत्यधिक, योग में बाधक ३५०
से विरत होने की शक्ति ३५०
प्रकृति की शक्तियों की तरह—बिना उद्वेग, श्रम, प्रतिक्रिया के ३५०अ
में युक्ताहारविहार ३५१
'पूर्ण स्थिरता, एकांतवास, निष्कर्मता के अवसर परम वांछनीय ३५१
हमारी प्रकृति का और भगवान् का ३६८
तो होता है, पर व्यक्तिरूप कर्ता नहीं ३६९
के पूर्ण प्रवाह में भी ईश्वर के साथ एक ३७०
बुद्धिप्रधान भी, निष्क्रिय यंत्र के रूप में ४०९-११
हमारा अधिकांश, यांत्रिक गति द्वारा ४०९
केवलैरिन्द्रियैः ४१०
बाह्य, साक्षात्कार के बाद ५०७, ५०८

का नियमन निम्न स्तरों पर और विज्ञान में ५०९-१०
जीवन की प्रमुख शक्ति ५५५
-ों को भगवान् की ओर मोड़ देने का परिणाम ५५५
ज्ञान में परिसमाप्त ५५५
सभी, आनन्द से उत्पन्न ५५७
बाहरी तथा विक्षिप्त करनेवाले तभीतक ५६१
मनुष्य का, सामान्यतः भय और कामना से प्रेरित ५६३
के गुण पर नहीं, कर्म के मूल स्रोत-रूप आत्मा के गुण पर बल ५७४
भी करना है, शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही नहीं ६५२
का त्याग, त्रिगुणातीत अवस्था पाने के लिये ७००-१
आध्यात्मिक, का स्वभाव ७०५
विज्ञान के आधार पर ७०८अ
तब सर्वोच्च प्रभु का ही कर्म होगा ७४०
आंतरिक, और ही ढंग का हो जाता है ७४१
विषयक, पूर्णयोग का, ध्येय ७४३
कठोर या प्रचण्ड हिंसापूर्ण, में भी समर्थ ७५१
जीवन में मनुष्य का समस्त, पुरुष और प्रकृति की ग्रन्थि है ७५४-५
करने का केन्द्र तब पहले की तरह हमारे अंदर नहीं रहता ७७६
करना अंतःस्थ परमेश्वर को, अंतर्ज्ञानमय पुरुष को सौंपकर ८२१-२
कामना से परिचालित दे० 'कामना'
(दे० 'आध्यात्मिक जीवन', 'प्रेम', 'भागवत शक्ति', 'विज्ञान', 'समर्पण'; वि० ८, १०, ११, १७ भी)

कर्म (मुक्त आत्मा का) [आध्यात्मिक कर्म, दिव्यकर्म] ८६, ३६८, ३८२, ४२०, ४३०, ६५३-४, ६८०, ७०५, ७८४
तब भी शेष २७४, ३०१
का ढंग ७१४
(दे० वि० १७ भी)

कर्म-मार्ग [कर्मयोग] ३२, २१५, २५३, २८०, ३६९, ३८१, ५६२, ५७३, ५९६, ५९७, ६१६
का स्वरूप ३९-४०
पूर्णयोग का अनिवार्य अंग ९३
का मूल साधन और साध्य ९४
भक्ति मार्ग से जा मिलता है ११४
ज्ञान मार्ग में बदल जाता है ११५ (दे० वि० ४७ भी)
का शिखर २१५
में प्रकृति की मुक्ति २४४
की पूर्णता २७८, ४३०
में हमारे सामने एक और ही भविष्य खुलता है २७९
तबतक पूर्ण नहीं ३६५

कर्म-यज्ञ
के दो पहलू : स्वयं कर्म और कर्मगत भाव २२३
का निर्धारक प्रकाश २२३
का मूल तत्त्व : फल कामना का समर्पण २२३
जब भगवान् को नहीं, अहं को अर्पित २२३-४
में फल कामना और अहं के छद्म रूपों के प्रति जागरूकता आवश्यक २२४, ३३३-४
में फल के प्रति, कर्म के प्रति और कर्ताभाव के प्रति आसक्ति का त्याग २२४-५

कर्मयोगी
की श्रद्धा ११४

की चेतना १९०
पूर्ण, के कार्य को प्रेरित करनेवाले उद्देश्य २११, २७५
में दिव्य सत्य उसके स्वधर्म के अनुसार ज्ञानी, शूरवीर, योद्धा, प्रेमी, कर्मी आदि रूप में कार्य करेगा २१५
की और ऊंची उपलब्धि : आनंत्य की २१५
(दे० 'परिस्थिति'; वि० १३ भी)
कर्म-शृंखला ४०२
कला २४, १४४, १४५, ४३१, ५२१
कल्पना [कल्पना-शक्ति] ३१३, ४५९, ४९०, ८७४
कामना ७९, १०३, १३९, १४२, १४८, १८१, २८३, ५०२, ५६३, ५७६, ५७८, ७८८, ७९४
प्रकृति का शक्तिशाली उपकरण ८०
पर वशित्व ८०, ८१
का तत्त्व ऊर्ध्वमुख प्रयत्न में ८५
को प्रशिक्षित करना ८५-६
का त्याग ९२, ९७, १७७, १७९, १८९, २४४, २४९, ३३१, ७४९
'फल कामना का त्याग १०४, १७९, २४९; 'फल कामना का अर्पण २२३-४
'फल कामना के बिना कर्तव्य कर्म करना १०४-५
के रूप १०४, १०६, २२४ (दे० 'प्रलोभन' भी)
की जन्मभूमि १०४, ६८६
के बिना काम करना कैसे संभव १०६, २६९
ही हमारे कर्म की चालिका १०६, १७७, ६६८, ६८६
से मुक्ति १२९, ६८६-८
के विनाश का अचूक चिह्न : पूर्ण समता १७९
की मृत्यु १८०
और आवश्यकता का नियम १९५, २०७, २१०, २११-२, २६७अ
और अहंभाव जहां-जहां, आवेग और विक्षोभ भी वहां-वहां २३९
'फल-कामना और श्रद्धा २४६
प्रकृति का एकमात्र इंजन नहीं २६९
सहायक इंजन कबतक २६९
मुक्ति की दे० 'मुक्ति'
का मिश्रण बुद्धि में ३१४-५
इच्छा शक्ति की एक अशुद्धि ३१४, ६६८
का अर्थ ३३२, ६६६
की तृप्ति प्राण का प्रधान रूप ३५३, ४५८
सब कार्य-सिद्धियों का, साथ ही सब दुःखों का मूल ३५३
को ज्ञान की उच्चतर शक्ति हाथ में लेकर . . . ५०२
जब मिट जाती है तो दुःख-शोक भी मिट जाते हैं ५०२
'आध्यात्मिक कामना ६२५; दिव्य कामना ६६९, ७०९
का मिश्रण प्राण की क्रिया में ६५५
का मिश्रण मन-बुद्धि की क्रिया में ६५५, ६७९
सूक्ष्म प्राण की सबसे बड़ी विकृति ६६६, ७१६
का मूल ६६६
की क्षुधा अनंत, दुष्पूर ६६६
समस्त दुःख, निराशा, वेदना की जड़ ६६७
से मुक्ति, सूक्ष्म प्राण की शुद्धि है ६६७
को निकाल फेंकने से जीवन के स्रोत कहीं बंद तो नहीं हो जायेंगे ६६८-९
और शुद्ध इच्छाशक्ति में भेद जानना आवश्यक ६६८-९

की दो ग्रन्थियां : प्राणिक लालसा और आत्मिक संकल्प-शक्ति ६८६
के इस आध्यात्मिक बीज का भी बहिष्कार करना होगा : निष्क्रिय मार्ग और सक्रिय मार्ग ६८७-८
से मुक्ति का मतलब ७१५अ
कामनामय पुरुष [कामनात्मा, कामनामय मन] ८५, ५२०, ६७९, ७४९
का जन्म १५२, १७७, ६५७, ६५९; की सृष्टि ४६१
और जीवनेच्छा १७२-३
स्वरूप १७७
के स्थान पर प्रतिष्ठा : हृत्पुरुष की १७७ वास्तविक आत्मा की ३५६ सच्चे प्राणमय पुरुष की १७८ मनोमय पुरुष की ६६७
के पीछे वास्तविक प्राणमय पुरुष १७७
के नाश का अर्थ जीवन पर बलात्कार नहीं १७७
पर विजय आवश्यक ३५३
से तादात्म्य-विच्छेद ३५५
पूर्णता की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा ६५७
और सच्चा भावप्रधान पुरुष ६५९
पर बुद्धि की क्रिया ६७८
(दे० 'प्राण' (चैत्य) भी)
कारण-शरीर [विज्ञान-कोष] १५, ४६२, ४८०, ५२८, ६३४, ६८३, ७०८
काल ५३, ६८-९
के संबंध में आदर्श वृत्ति ६९
के साथ संबंध, बुद्धि का और विज्ञान का ४९०
(दे० वि० ७९ भी)
कुण्डलिनी शक्ति ३४, ३६, ५४६अ
कृपा
और दया ३३४
और दिव्य करुणा ३५६अ
कोष ४६०अ
अन्नमय और प्राणमय दे० 'शरीर'
मनोमय दे० 'सूक्ष्म शरीर'
विज्ञानमय दे० 'कारण शरीर'
आनन्दमय दे० 'आनन्द-कोष'
-ों के ज्ञान का फल ४६१
क्षर पुरुष ३८२-३
क्षत्रिय ७५८-९

ग

गीता
का मार्ग (कर्म-विषयक) ९६-१०७ (दे० वि० ७ भी)
(दे० 'उद्धरण-सूची' भी)
गुण (प्रकृति के) २५४, ३६८, ३८९, ७७९
सत्त्व १०१, ७७४
रजस् १०१
तमस् १०१, १४६
-ों के द्वारा प्रकृति ही सब प्राणियों में कर्मकर्त्री है २१७
-ों को निश्चित किसने किया ? २१७
(दे० वि० १५, ६३ भी)
गुरु २८, ५३, ६४, १३२, १५८, १८९, ६०९, ६१०
अंतःस्थ पथ-प्रदर्शक ६१-५
मानव रूप में व्यक्त भगवान् ६५-६
मेरा, की प्रवृत्ति ६६
मानव : ६६-७, के तीन साधन—शिक्षण, दृष्टांत, प्रभाव ६७-८, का सर्वोत्कृष्ट लक्षण ६८
की शिष्य को सहायता चैत्य आदान-प्रदान के द्वारा ९०१
गुह्य विद्या ४५३
यूरोपीय ४६०
गुह्य शक्तियां ५०३, ५५०-१
गोलार्द्ध

उच्च और निम्न ४७२-३, ४८०
निम्न, का आरंभ वहां . . . ६३७

च

चक्र छः ५४३, ५४६
चमत्कार ६४, ८२२
चिंतन
सर्वोच्च ३१७
का केन्द्र तब . . . ४९७
मस्तिष्क से नहीं, बल्कि सिर से ऊपर या बाहर . . . ८२२
और संकल्प हमारे, का उद्गम ऊपर ही है ८३६
चिंतनात्मक मन दे० वि० २६
चित् ३९२-४, ४०४, ५५६
चित्त ६५६
की दो प्रकार की क्रियाएं : निष्क्रिय और सक्रिय ६५७
में यह शक्ति भी कि बिलकुल न देखी या बिलकुल ध्यान न दी गयी वस्तु को भी उपरितल पर . . . ६५७
आत्मा का एक करण ६५७-६०
चित्तवृत्तियां ६५८
चिदाकाश [चिताकाश] ५३१, ८९७
चेतना १२९, ३९९, ४००, ४५६, ५५६
का विपर्यय [पलटाव] १३७, ५११
का परिवर्तन १४९, १६३, १७८, १८९
महत्तर ३०३
प्रत्येक वस्तु में है ३९२
ही निर्धारक तत्त्व है, शारीरिक जीवन नहीं ४०२
को विस्तृत करना होगा ४३६
हमारी स्थूल, पीछे स्थित प्रदेशों का प्रांत भाग ४६५
की चार अवस्थाएं : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय ५२८
चैतन्यघन ४८३, ४९३
चैत्य अग्नि प्रज्वलित करनी होगी १६७
चैत्य चेतना
और चैत्य शक्तियों के उद्घाटन का परिणाम ९१५-८
(दे० वि० ७८ भी)
चैत्य दृग्विषय ८९६, ९०३-४
चैत्य पुरुष [हृत्पुरुष] ९३, १७९, ५४८, ७१७
और उच्चतर मन, ये मनुष्य में भगवान् के दो अंकुश ८०अ, ८२
का सामने आना १३५, १४०, १५२-३
अचूक पथ-प्रदर्शक १४०, १६८-९, १८०-१
यज्ञ का नेता १६०, १६८, १७९
और निम्न गतियों की बाधा एवं उनके गर्तजाल १६८-९
का पथ-प्रदर्शन तबतक पर्याप्त नहीं जबतक . . . १६९-७०
का कार्य १८०-१
का सारतत्त्व है आनन्द ७५१
का उद्भव ७५१
के जागरण से प्राणिक व चैत्य दृग्विषय प्रकट . . . ८९६
(दे० वि० १० भी)
चैत्य शरीर ५४५अ

ज

जगत् [संसार] २५, ३८, १८४, ६५५
-जीवन और कर्म का त्याग या कि स्वीकार ६, १०, २४-६, २८, ३५, ३७, ३८, ३९, ४५, ७४, १२१, १३७, १६३अ, १७१-२, १७४अ, २६१, २७३-४, २८९, २९९, ३२२, ३२८-३१, ३६४, ३७५, ४०५, ४०९, ४३६, ५१५, ५१९, ६०९, ६२७-८, ६४४, ७०२, ७३४, ७४४, ७८९

विषयक सत्य १७, २४७, २५६, २९३, २९८, ३७५, ३८३अ
-जीवन को आंतरिक जीवन से पृथक् कर देने की प्रवृत्ति ७४
को अपने अंदर . . . ११८, ४१६, ४३६, ४४५, ४९७
स्वप्न या भ्रम ११९, ३६९, ३७१अ, ४०७; के अवास्तविक प्रतीत होने का कारण ४४७
और जीवन के वर्तमान रूप के साथ एक साधक को किस प्रकार व्यवहार करना होगा १३६-४१
को उसकी ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा में आगे बढ़ाना १४६
और दिव्य प्रेम १६६
और भगवान्, बिलकुल एक ही चीज नहीं २५६
के विषय में अनेक दृष्टिकोण ३२८, ३३७
की सहायता ३३०
विषयक पूर्णयोग की दृष्टि ३३०अ, ३३७, ५८२
के प्रति, मिथ्या तादात्म्यों से छुटकारे के बाद, ज्ञानयोग की दृष्टि ३४१-३, पूर्णयोग की दृष्टि ३४३-५
और पूर्ण आत्मज्ञान ३९०
की वस्तुओं में मुक्त आनन्द भी, केवल शांति ही नहीं ३९८
को अपनी दिव्यीकृत चेतना में पूर्ण रूप से अधिकृत करना हो तो . . . ४३१
के साथ आदर्श संबंध का आधार ४४२ दे० 'आत्मा' भी
-जीवन के प्रति साधारण भौतिक दृष्टि ४६४-५; इस दृष्टिकोण से मनुष्य देरतक संतुष्ट नहीं रह सकता ४६५
को देखने का हमारा वर्तमान दृष्टिकोण ५२३
को अपने अधिकार में लाना आत्मा का निज स्वभाव तथा प्राणिमात्र की प्रवृत्ति ६९१
(दे० 'विश्व', 'सृष्टि' भी)

जड़तत्त्व [जड़ पदार्थ] ९, २०, २७, २९, २९३, २९६, २९८, ४२७, ४५७, ९०६
पर मन की विजय २२
पर आत्मा की विजय २३
पर पूर्ण विजय के लिये . . . २३
का प्रतिरोध और विशुद्ध मन २३-४
की निश्चेतना चेतना से भरी १२९, ३९२
का चरम रहस्य १८६
का अभिप्राय एवं जड़ प्राकृतिक अभिव्यक्ति का लक्ष्य ४५५
या शरीर आत्मा का एक करण है ६३३-४
प्राण की ही एक रचना है ६३४ [जड़-जगत् प्राण लोक का प्रक्षेप ४५९]

जड़वत् ५०६, ५०९, ५१०

जड़वाद २९६, ४३३, ४३५, ४६८
और संदेहवाद के युग के बाद गुह्यवाद और धर्म के युग ४६५

जन्म
'पुनर्जन्म से छुटकारा २७१-४
का अभाव [अपुनर्भव] ४४४
का भय तथा जन्म से छुटकारे की कामना ५१६-७
-मरण के चक्करों का प्रयोजन ५१७

जीव [जीवात्मा] २५६, ३६०, ७५४, ७८६
विवरण २१८, ३६४, ३८०
और परमेश्वर ३८०, ३८५
परम पुरुष और प्रकृति के एकत्व की लीला के लिये मिलन-स्थल ७७६, ७८४

जीवन १५६
संपूर्ण, योग है ४-५, ७, ४५, ४७, ५२०, ५६८अ, ६२३
सारा, तबसे एक-एक पंखड़ी कर के . . . ५३
सारा, अंतःस्थ पथ-प्रदर्शक द्वारा आयोजित ६२-३
में उतारना होता है आत्मा के सत्य को ७०, ३८८
भगवान् की अभिव्यक्ति का क्षेत्र, जो पूर्ण नहीं ७५
तब, स्वयं सहायक ७५
समस्त, हमारे योग का क्षेत्र ९१
का लक्ष्य ९१, १३६ दे० 'लक्ष्य' हमारा भी
का सच्चा उद्देश्य : विकास, स्वामित्व, उपभोग, विजय और साम्राज्य १७७अ
का लक्ष्य : नाना मत ३५९-६०
मानव, का अर्थ दे० 'मनुष्य' के अस्तित्व
संपूर्ण, एक सचेतन यज्ञ ११३, ११५अ, १८१, २२३, ७६४
के गुप्त रहस्य की कुंजी ११७
-व्यवहार और आत्म-साधना १३६-४१
में अहं-अस्तित्व के लिये संघर्ष १६६
अपने वर्तमान रूप में कामना की हलचल है . . . १७८-९
पर नियंत्रण १८३, १८५
सारे, को अपनाना होगा, पर उसका रूपांतर भी करना होगा १८८ दे० 'पूर्णयोग' भी
जीना भी एक कर्म है २६८
को मुक्त पुरुष यदि अपनाये तभी दिव्य अभिव्यक्ति साधित . . . ३०१
हमारा वर्तमान, अज्ञान और मिथ्यात्व पर आधारित ३३७-८
विषयक मिथ्या दृष्टिबिंदु ही समस्त दुःख-कष्ट का मूल ३३८
रूपी नाटक का स्वरूप ३५४ [१७३]
सच्चा यापित करने और सच्चा अस्तित्व धारण करने की शर्त ३७८
और मृत्यु ३९९
दोहरा, बिताना ४२६
आत्मा की अपनी प्रकृति के साथ क्रीड़ा है ४४३
का मूल्य आत्मसाक्षात्कार के बाद ४४८-९
बहिर्मुख, का रूपांतर ५२०
में योग का प्रवेश ५२२, ५६९
को भगवान् का मंदिर बनाने लगते हैं ५८१, ६०४
के समस्त व्यापार ईश्वर-प्रेमी के लिये पूजा के क्षेत्र ५९९
में एकमात्र हृदय या एकमात्र बुद्धि का अनुसरण यदि . . . ५८९
साधारण, के अनुभव का उद्देश्य ६०७, ६२४
मानवीय, की समस्या ६३०
मानव, की अक्षमता और अपूर्णता का कारण मूल स्रोत से विच्छेद ६४९-५०
का उच्छेद या जीने की स्थूल इच्छा या समझौता ६६८अ
हमारा, सत्य की खोज है, संघर्ष और युद्ध है, सतत अनुकूलन है और है एक यज्ञ ७६४
(दे० 'जगत्', 'पूर्णयोग'; वि० १, २, ३ भी)

जीवनेच्छा १७२-३

ज्ञान १८, ४३, ५४, ५९, ७९, १२०, १२९, १६२, १७४, २०८, २३८, २४२, २५७, २८९, ३४०, ३४१, ४०१, ४९५, ५००, ५०१, ५१३, ६३४, ७११

नित्य, का कमल ५३
की प्राप्ति अपने अंदर पहले से विद्यमान ज्ञान की स्मृतिमात्र ५३, ५४, ८०५, ८३३; समस्त, एक विशेष स्तर पर स्मरण के रूप में ८८०अ
से योग में मतलब ८२
बौद्धिक, भगवान् का ८२-३, ८४; बौद्धिक, योग के काम का नहीं ११७; बौद्धिक, में मनुष्य पूर्ण हो सकता है, फिर भी... ३०४; दार्शनिक, को ज्ञान नहीं कह सकते ३७८; मानसिक २६३, ६४६, ८०६, ८४५अ, ८५०
मोक्षदायक ११४
उच्चतर और निम्नतर विज्ञान १४३
अधूरा [अपक्व, अपूर्ण] १६१, ३४४, ३८९-९०
कि सब भले के लिये किया जा रहा है १८२
[विचार] और संकल्प मन में और अतिमन में १८६, २९१, ४८३, ५०१, ५०२, ५१०, ७७३, ८४७
कर्मयोगी का १९०
जो मुक्त तो कर सकता है, पर क्रियान्वित कुछ नहीं... २६१
'सत्य ज्ञान का आरंभ तभी २९५, ३१५
'इन्द्रियज्ञान और सत्यज्ञान २९५, ३०३, ३१५
[सत्य-चेतना] की दृष्टि में जगत् २९५-६
चरम, सनातन ३००
यौगिक, का लक्ष्य ३००, ३०२, ३०३, ३३७
पूर्ण [समग्र] : ३०१, ३३५, ४२५, ३७६अ, तबतक नहीं ३६५अ, का लक्षण ४२४, का फल एवं कार्य ४३१
की भूमिका ३१०
से, सामान्यतः हमारा मतलब ३०२
दो प्रकार का : प्रत्यक्ष और परोक्ष ३०६-७, निम्नतर और उच्चतर दे० वि०४३
के बिना प्रेम [भक्ति] ३११, ५५७, ५५८, ५६०
और प्रेम दे० 'प्रेम'
वास्तविक, की प्राप्ति ३१७-८
की प्राप्ति एकाग्रता के द्वारा ३२०; -प्राप्ति की अनिवार्य शर्त ३५१ दे० 'तादात्म्य' भी
परम महत्त्वपूर्ण वस्तु ३३८
असली [सच्चा] ३४४, ३९०; वास्तविक ६४६, ६७६
सच्चिदानन्द का, अत्यंत व्यावहारिक एवं उपयोगी ३८८-९१
को स्थिरतापूर्वक क्रियान्वित करने से मुक्ति अवश्य ३४८
उच्चतम, का अधिकारी नहीं यदि कोई एकांत और नीरवता में रहने की शक्ति पाने में असमर्थ है ३५०
'ब्रह्म-ज्ञान ३७८
किसी व्यक्ति या समष्टि का तभी... ३७९ [९८]
व्यक्ति व पदार्थ का पाने के लिये... ४३१
मध्यवर्ती स्तरों के, का प्रयोजन ४४७
दूसरों के आंतरिक जीवन का ४४७, ४५६, ९००
अन्य जीवों के मनोव्यापार का, मनोमय पुरुष में उठकर ४७१
बुद्धि का और विज्ञान का ४८९
बाह्य, का अर्जन और उच्चतर सत्य की प्राप्ति ५२३-४
, कर्म और प्रेम की त्रिवेणी ५५५-७
के बिना कर्म ५५६

कर्मों के बिना पूर्ण नहीं ५५६
वह, जिसमें पूर्णयोग को निवास करना होगा ५६१
आनन्द में परिसमाप्त ५९८
'आत्मा और प्रकृति का ज्ञाता बनना होगा ६४६-७
के संबंध में समता की भावात्मक पद्धति का कार्य ७३१-२
के संबंध में मन की तीन प्रतिक्रियाएं : अज्ञान, भ्रम, सत्यज्ञान ७३१
विज्ञानमय भूमिका में ८८३
की खोज का रूप अज्ञ मन का, आत्मविस्मृति-पूर्ण ज्ञान से युक्त मन का और ज्ञानमय मन का ९०९-१०
अतिमानसिक दे० वि० ७६
वर्तमान, भूत, भविष्य का दे० वि० ७९
(दे० वि० १०, २० भी)
ज्ञानमार्ग [ज्ञानयोग] ५, ३२, ३८, ४०, ७८, १६३, १७२, २८०, ५६२, ५९६, ६१६
में प्रकृति की मुक्ति २४४
का लक्ष्य २७९, २८९-९०, २९३, ३२१, ३३७, ३६५, ३६८, ४१८, ४४२, ४६७; का प्रथम लक्ष्य ३८९, ३९७; का सर्वोच्च लक्ष्य ४२४; का प्रथम और दूसरा लक्ष्य ५१९-२०
में व्यक्ति और विश्व का त्याग २८९, २९९, ३४१
और कर्म २९०, ३५०, ३६९, ४०३, ४०८, ६७६
शुद्ध बुद्धि से शुद्ध आत्मा में . . . २९७, ३७२, ४८२
-ें का मूल सूत्र ३२३
में शरीर और मन की पूर्णता का महत्त्व नहीं ३५०
में पूर्ण शांति, नीरवता, शून्य ब्रह्म की ओर ३६८-९
सर्वांगीण, की मांग ४०७ [३४२-३]
की तब प्रथम और दूसरी प्रक्रिया पूर्ण ४२४
की साधना ४५२-३
व्यापक, का क्षेत्र ४६७-८
की विधि ५२३
(दे० वि० १९, २४ भी)

त

तंत्र-मार्ग [तांत्रिक साधना] ४२-३, ४०४, ५४७, ५८१, ६१७-८, ६१९
तप ३२३
तपस् ४४, ४५, १७६, २९२, ६३६, ६८६, ८०७
तमस् दे० 'गुण' और वि० १५, ६३
तर्कबुद्धि दे० 'बुद्धि'
तादात्म्य १०३, १३६, ५२५, ८५३
पर पहुंचने के साधन हैं सब ज्ञान और अनुभव ३०८
को समझने में सहायता वर्डस्वर्थ से ३०८-९
मिथ्या, मन-प्राण-शरीर के साथ आत्मा का ३३७-४०, इससे छुटकारे का उपाय ३४१
पूर्णज्ञान और उपलब्धि की शर्त ५२४ दे० 'ज्ञान' भी
परम आत्मा से : निष्क्रिय, समाधिगत और अतिमानसिक ६४६
द्वारा ज्ञान—यहां तादात्म्य का अर्थ ८५१ का अभिप्राय ९०५
(दे० 'एकत्व' भी)
तैयारी ६२४, ८४८
और प्रकाशमयता की अवस्थाएं ३१०
(दे० 'पूर्णयोग' की क्रिया में तीन अवस्थाएं भी)
त्याग १११, १२५, १८८, २१२, २४४, २५०

प्राण की पुरानी प्रकृति का ७४
निम्नतर प्रकृति का ८८
उस सबका जो... ८८अ, १८९, १९३, ३३१, ५८२
'सर्वारम्भ परित्याग २४४, ६८७
मिथ्यात्व का—अहं के, प्राण, इन्द्रियों, हृदय और विचार के, ताकि... २९३-४
हीनतर व आंशिक उपलब्धि का ३३१
महत्तर के लिये लघुतर का, अनंत के लिये सांत का ३३३
'त्यक्तेन भुञ्जीथाः ३३६ टि०, ७१७
और एकाग्रता ३३७, ३४१, ३६६
(दे० 'आसक्ति'; वि० २३ भी)

त्रिकाल दृष्टि दे० वि० ७९

त्रिमार्ग [त्रिविध मार्ग] ३३, ३७-४०, ५६, ८२
(दे० वि० ४७, ५५ भी)

द

दण्ड-विधान २००

दर्शन [दर्शन-शास्त्र] १४१-२, १७२, ३१५, ३८८, ५२१अ, ५२४, ५२५अ, ५६०

दिव्य और अदिव्य ४४

दिव्य कर्म दे० 'कर्म' (मुक्त आत्मा का); वि० १७

दिव्य जीवन दे० 'उच्चतर जीवन'

दिव्य प्रकृति [दैवी प्रकृति] १३३-४, २४८अ, २७८, ३२९, ४४३, ५९४, ७०६, ७११, ७१२
में कठोरता भले, पर घृणा नहीं २२५
को धारण करने का अर्थ ५१९-२०

दुःख-कष्ट ४७, ६४, १३१, १५८, १६३, १८६, २२७, २४८, २६४, ३६८, ३९२, ४१९, ४५६, ५०२, ५७८, ६०९, ७१८, ७२३, ७२६
जीवन के, का मूल [कारण] १११, १५९, ३३८, ३५३अ, ३८८-९, ३९५, ६६७, ६९१

दुर्बलता ४७, ६४, ७१, २३७, २४८, ३२०, ३२९, ४१९, ४८१
का मतलब ३३४
(दे० 'अक्षमता' भी)

दुष्ट २३७

दृष्टि
नवीन ७३, ३७३
आभ्यन्तरिक ३०६-७
विराट् ४१९
अंतर्मुख ४७२, ५२३
'दूरदर्शन ५३२
'दिव्य दृष्टि ६६०
आध्यात्मिक ८५२
अतिमानसिक ८८९-९०
चैत्य ८९७, ८९८

देवता १३२, १६१, २६३, ४२३, ५९२, ६०८

द्वंद्व
-ों का कारण १०२, ६९४
-ों से मुक्ति १०२, १५५, १८६-७, ६९४, ७०१-२
-ों की ग्रन्थि ७०१-२

द्वैत
आत्मा और जगत् या ब्रह्म और माया का १२१-३, ४३२अ
पुरुष और प्रकृति या साक्षी आत्मा और कार्यवाहक प्रकृति का १२४-६, ४३२-३
ईश्वर और शक्ति का १२६-८
निर्व्यक्तिकता और व्यक्तिकता का १२८-३१
की आवश्यकता १३०
का सम्मिलन : परिणाम १३०

द्वैतवाद और अद्वैतवाद ३८१-२

ध

धर्म ५७, १६२, १६५, १७२, १७३, २०४ टि०, ४३४, ५५८
का प्रयास जाति के जीवन को भगवान् की सेवा के योग्य बनाने का १४२-३
और विज्ञान १४३
द्वैतवादी ३८१
स्थूल तथ्यों के परे जाने का एक प्रयत्न ४६५
का मुख्य कार्य ४६५-६
-में में पाये जानेवाले सामान्य विचार . . . ४६६-७
ज्ञान नहीं, श्रद्धा है ४६७
का अंतरीय पक्ष ४६७
और योग ४६७, ५६२, ५६५
का प्रारंभिक रूप ५६२
के स्थूल एवं आदिम तत्त्वों का औचित्य ५६८
और पूजा ५८१
(दे० वि० १०, ११, ४८ भी)

धर्मान्धता [मतान्धता] ६६, १४२, १५३, ३११

धैर्य ४६, ६९, २४६, २४७-९

ध्यान ११४, २९०, ३२१, ५८३
की प्रक्रिया ३२५-६
आकाश-ब्रह्म का ३७४अ

न

नरक ४५९, ५७३

निदिध्यासन ३०७ टि०, ५८३

निम्न प्रकृति ४४
को नवीन दृष्टि के आगे सीस नवाने को बाधित करें ७३-४, ७५
का प्रतिरोध ७३, १३४, १६८-९
के प्रति अधीनता की दो ग्रन्थियां : कामना और अहंकार १०४
उच्च प्रभावों से स्वार्थपूर्ण लाभ उठाने को प्रेरित १६८-९
हमारी, और परम इच्छा शक्ति २२२
में भी यद्यपि भगवती शक्ति की क्रिया . . . २५३
'निम्न स्व से मुक्त रहते हैं जबतक भगवच्चिंतन में रहते हैं, पर ज्यों ही अपनी ओर मुड़ते हैं भगवान् से दूर जा पड़ते हैं, वह तिरोहित हो जाता है ४०१
से बांध रखनेवाली तीन गांठें ३३१; की प्रधान चार ग्रन्थियां ६८५
(दे० 'मुक्ति' भी)

नियम [आभ्यन्तर पथ-प्रदर्शक] १३९-४१
की प्राप्ति तभी १४०, १८९, २७७-८
का जन्म भगवती शक्ति की क्रिया और चैत्य पुरुष के प्रकाश से १४०
बुद्धि और कामना के स्थान पर १८१, २७६अ
(दे० वि० १२ भी)

निराशा ६२

निरीक्षण दे० 'स्व-निरीक्षण'

निरीक्षण (शक्ति) ३१३, ४८९-९०, ८७१-२

निर्णय (शक्ति) ३१४, ४९०, ८७४

निर्वाण २८९, ४४४, ४४६, ५१५, ५१६
(दे० 'ज्ञानयोग' का लक्ष्य भी)

निर्व्यक्तिकता
मोक्षप्रद शक्ति १२९
'निर्व्यक्तिक उपस्थिति, प्रकाश, शक्ति, आनन्द, प्रेम आदि जब साधक को आप्लावित . . . १३०-१

निश्चल आत्मा [निष्क्रिय ब्रह्म] २८९, २९१, ४१५-६
और परम तत्त्व २९२, २९५
का साक्षात्कार यथेष्ट नहीं, सच्चिदानन्द के परात्पर रूप का साक्षात्कार भी

अपेक्षित ३९७-८
को बाद में विश्व व्यापार के स्वामी के रूप में अनुभव करना ४१६-७
(दे० 'साक्षी पुरुष'; वि० ३२ भी)
निश्चलता २५४
और कर्म ९७, २९०, ३०१
शरीर की, ५३९
द्वारा शक्ति की प्राप्ति ५३९
नीरवता १२०, २५४, २९०, ३७०, ७२०, ९२२
की शक्ति ३१८
में आत्मा की प्राप्ति ३१८, ३५८
में रहने की शक्ति ३५०
को पाना आवश्यक ३५८
में आरोहण ३६८
नूतन जगत् २०९
नूतन जन्म [नव जन्म] ७०, ९२, १८५
प्राणिक, मानसिक सत्ता और संकल्प एवं भावों का ९३
में दो अवस्थाएं: तैयारी और प्रकाशमयता की ३१०
नैतिकता [नैतिक नियम, नैतिक मन . . .] १३८, १३९, १४८, १९६, ५२४, ५२५, ५७४-५, ६५३-४, ६७८अ
'मानवीय बंधनों को तोड़ना २५२
नैतिक भावना [Conscience] १५७
न्याय २०२, ५६४

प

परम इच्छाशक्ति [दिव्य इच्छा-शक्ति]
निगूढ़, और अहं की स्वतंत्र इच्छा ९९-१००
(दे० वि० १३ भी)
पराप्रकृति दे० उद्धरण-सूची
परात्पर ३१अ, ११२, ११९, १८४, २६२, ३६५, ३८३
का भी अस्तित्व है २५६-७
व्यक्तित्व के मूल में एक दिव्य रहस्य २६१
(दे० 'सच्चिदानन्द'; वि० १६, ३०, ३४ भी)
परार्थ [परोपकार] २४, १५४, १६४, १६६, १७७, १८७, ३३३, ३६१
परा विद्या और अपरा विद्या १४१
परिग्रह ७१६अ
परिवर्तन
दो आभ्यन्तर, अत्यधिक सहायक १३५
ऊर्ध्वमुख, का प्रभावशाली चिह्न ६२४अ
(दे० 'रूपांतर' भी)
परिस्थिति ७१
के प्रति मनुष्य की साधारण वृत्ति १९१
कार्य की, और कर्मयोगी २१३-४, २७०-१
का सूक्ष्म प्रभाव ३३३-४
पशु
-ओं में सहज प्रेरणा और मनुष्य का मानसिक अंतर्ज्ञान ४८६-७, ८१२
(दे० 'मनुष्य' भी)
पाप ५०२, ६९२
-पुण्य १८६, २०९, २१४, २४८, ३३५, ५६४, ५७३
पाश्चात्य मन [यूरोपीय मन] १३
और बौद्धिक निष्क्रियता ३१८
और हिन्दू धर्म ३८५अ
पिशाचवत् ५०७, ५११
पुकार ७०, ८३, १८१, ६००
पुण्य ५९, १९४
(दे० 'पाप' भी)
पुनर्जन्म दे० 'जन्म'
पुरुष
तलीय अहं नहीं है २१७ दे० 'आत्मा' भी
तीन—क्षर, अक्षर, परात्पर ३८३
ने जड़ जगत् की कठिन अवस्थाओं को स्वेच्छया स्वीकार किस लिये किया ४६३ दे० 'अंतःस्थ आत्मा' के भी

की स्थिति—उसकी चेतना, दृष्टि, शक्ति—निम्न गोलार्द्ध में ४७२
की उच्चतर भूमिकाओं का विवरण हमें अपने सामने अवश्य . . . ४८१
जब ज्ञान के पक्ष की ओर या अज्ञान के पक्ष की ओर मुड़ता है ६३७अ
ये तीन (मनोमय, प्राणमय, अन्नमय) परम आत्मा के आंतरात्मिक रूप हैं ६४३
(दे० वि० ५७ भी)
पुरुष और प्रकृति ३५६
की स्थिति तंत्र में और वेदांत में ४३-४
'पुरुष प्रकृति के अधीन निम्न स्तरों पर ९७, ४३४-५, ४५२, ४५७, ४७१, ५०९, ५१८, ६३६, ६७५, ७६९; 'पुरुष प्रकृति के अधीन नहीं रहता आत्मा में उठकर ९७, ४३५-६; 'प्रकृति के प्रति हमारी अधीनता की दो ग्रन्थियां १०४
का विवेचन, सांख्यकृत १००-१, ४०८अ, ४३३, ४३५, ५०९, ७६८अ; का द्वैत १२४-६; के संबंध २१७-८, २३८, ३७०, ६४७-८, ६९४
'पुरुष प्रकृति के कार्यों को अनुमति देता है १००, २१७; 'पुरुष की स्वीकृति या अस्वीकृति की शक्ति १२४अ, २१९अ, २३८, २४१अ, ३४८-९, ६४४-५
'पुरुष की प्रकृति के साथ तदाकारता १०१-२, ६४०, ७६९; 'प्रकृति में अपने-आपको झोंक देता है साधारण मनुष्य ४१२
'आत्मा के प्रकृति में लीन होने का चिह्न १०२
और ईश्वर-शक्ति एक ही नहीं २१८ टि०
का अनुभव कर्मयोगी के लिये अत्यंत उपयोगी २१८ टि०
'पुरुष का प्रकृति से पार्थक्य २३२, ३४६, ७७३
के संबंधों की सुस्थिर भूमिका से ही स्तरों का निर्माण ४५४
'आत्मा या पुरुष किसे कहते हैं ४५४अ
विज्ञान में ५०३, ५०९, ५१८
सच्चिदानन्द के : जड़ साक्षात्कार में ५०६अ, प्राणिक साक्षात्कार में ५०७, आनन्दमय भूमिका में ५१८
एक-दूसरे पर निर्भर ६४५
'पुरुष की आत्मशक्ति ही हमारी प्रकृति के विशिष्ट रूप का निर्धारण करती है—साधारण पुरुषों में और विभूतिमत् पुरुषों में ७५४-५
'पुरुष अनन्तगुण है, प्रकृति सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंवाली है ७५६
मन के स्तर पर ७७३
(दे० वि० ३५, ३६, ५७, ७० भी)
पूजा ११४, २२३, ५५८-९, ५६४, ५६७
देवता, प्रतिमा व व्यक्ति की १६१
-कर्म में तीन अवयव १६५
-पद्धति १६५-६
प्रेम में विकसित ५५९, ५६२
'बाह्य पूजा ५८१
पूर्णता १८, ४८-९, ५४, ७९, २२६, ३६२, ३६७, ४५५, ६००, ६०३, ६५४, ६५६, ७७०
अहं की निजी तृप्ति के लिये नहीं ८६, २७८
की ओर सहज प्रवृत्ति समष्टि तथा व्यष्टि में १९२
काल में विकासशील है १९३
की शर्त : स्वतंत्र विकास १९७
संकुचित, नहीं २४८
लक्ष्य, मुक्ति ही नहीं २५३
की खोज क्यों २७८-९, ५९८अ

भावात्मक, हृदय की ३५७
मनोमय पुरुष की, महत्तर संभावनाओं से बहुत नीचे की ४७९
सर्वांगीण, तभी . . . ५०६
के दो पथ : निम्न प्रकृति पर प्रभुत्व और उसका उन्नयन ५०६अ
'दिव्य आत्म-पूर्णता का अर्थ ६३०
प्राप्त करने की शर्त ६७७
नैतिक मन, सौंदर्यग्राही मन, ज्ञानात्मक मन और संकल्प-शक्ति की ६७८-९
-प्राप्ति की क्रिया का अर्थ ६७९
उच्चतम, सर्वांगीण ७१५
जिसे बुद्धि की भाषा में वर्णित नहीं किया जा सकता ७४२
-प्राप्ति के हमारे प्रयत्न का लक्ष्य ८२२
(दे० 'अपूर्णता' तथा वि० ५६, ५८, ६८ भी)

पूर्णयोग
में शरीर की उपेक्षा नहीं १०
में स्नायविक शक्तियों का नाश नहीं १०-१
में जगत्-जीवन का स्वीकार १८, ५६, ७५, ७८, ९१, १२१, १३८, १५३, १७२, १८३, १८८, ३०२, ३२२, ४४१, ४५३; में समस्त जीवन का समावेश ३०२ 'समस्त जीवन' में उच्चतर जीवन भी ३०२
की कुंजी : वैदांतिक सूत्र २६
का लक्ष्य ३७, ४५, ६३, ७३, ९१, ९२, १३१, १७२, १८९, २३१, २९३, २९४, ३२२, ३६५, ५९५, ६२४, ६५०, ७८८, ७८९; का सुदूर परम लक्ष्य १५१, २८०-१; का लक्ष्य पंगु उपलब्धि नहीं ३२६; और लक्ष्यसंबंधी अन्य दार्शनिक विचार ३६४-६
में अपेक्षित आवश्यक गुण : श्रद्धा, साहस . . . ४६, ६४
की क्रिया में तीन अवस्थाएं ४६, ५८-६१, ८७-९
'समन्वयात्मक योग की प्रणाली ४७-५०
और मनुष्य-जाति ४९
की स्थिति वन में मार्गान्वेषक की-सी ५७
की पूर्णता तब . . . ५७
ऐसी क्रांति के लिये प्रयास करता है जिससे बढ़कर कोई . . . ७३-४
में सार्वभौम शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष ७७, ७८-९, १३५
व्यष्टिगत संग्राम नहीं, समष्टिगत युद्ध भी ७८-९
की विशाल क्रिया ८०
की पहली आधारभूत सिद्धि ८७
की निर्णायक गति ९१; का निर्णायक क्षण १५३
की परिणति १३३
और : जीवन के कर्म १३७-४१, ज्ञान के कर्म १४३, प्रेम के कर्म १५३, १५५अ, प्राण के कर्म १७२, १७५, १७६अ, १८७-८
और व्यावहारिक अपूर्णता २५४
में साक्षी की निश्चलता एक सोपान मात्र २५४
में व्यष्टि, विश्वात्मा, परात्पर किसी की उपेक्षा नहीं २६२
और वैयक्तिक मोक्ष २७४ दे० 'मुक्ति' वैयक्तिक भी
में ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों का मिलन २७९, ५५५
का अनुसरण अतिमानस की प्राप्ति के लिये नहीं २८१
की सबसे सीधी और शक्तिशाली साधना ३२६-७
में क्योंकि आधार की समग्र पूर्णता

अपेक्षित अतः . . . ३६७अ
का सार ४२५
और प्रेम-मार्ग ५६१
और भक्ति-मार्ग ६००
का मूल सूत्र : समर्पण ६१९, ६९०
की समस्या : निष्क्रिय शांति ही नहीं अपेक्षित, कर्म भी करना है ६५२
में हम जो सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं . . . ७७६
(दे० 'जगत्'; वि० ५५ भी)
पूर्वबोध ९१४
प्रकाश
बुद्धि, जीवन-शक्ति और भौतिक आवश्यकता के १४०
कर्म का निर्धारक, २२३
समस्त, आत्मा का प्रकाश ही नहीं होता २८४
प्रज्ञा ८, ५११, ८०२
प्रज्ञान २५७, ८८४
प्रतिभा १२
प्रतिमा [मूर्ति] १६२, १६५, २६३, ५८३, ९०१
-पूजा १६१
-भंग १६१
प्रतीक १६५-६, १६८, ५१५
प्रकृति
की क्रिया दोहरी ४४
का अधिष्ठाता कौन ? २१७
का नियन्तृत्व ही सब कुछ नहीं है २३८, ६४४
किसे कहते हैं ४४३, ४५५
अपने बाह्य रूप में और आध्यन्तरिक रूप में ६३४-५
मनोमय पुरुष के लिये एक व्यापार-मात्र, साथ ही . . . ६४१-२
(दे० 'प्रकृति' (मानव), 'प्रकृति' (वैश्व), 'उच्चतर प्रकृति', 'दिव्य प्रकृति', 'निम्न प्रकृति'; वि०७० भी)
प्रकृति (मानव, हमारी, अपनी)
को आत्म-निवेदन के लिये तैयार करना ७२-४
का प्रतिरोध ७३, १३४
में प्रत्येक अंग का अपना व्यक्तित्व ७६-७
का रूपांतर दे० 'रूपांतर'
-यां, कोई भी दो, एक समान विकास से आगे नहीं बढ़तीं १४८
कुत्ते की दुम के समान १७४
तब पूर्ण सत्य में कार्य करने लगती है २११
के पुराने अभ्यास २४१
अपूर्ण, में पूर्णता की सामग्री २४७
अपूर्ण, दुर्बल किंतु भगवती शक्ति विद्यमान है २४७-९
अपूर्ण, तो भगवान् का कर्म भी अपूर्ण २५३-४
का दोष ३१९
पर प्रभुत्व और उसका उन्नयन, पूर्णता के दो पथ ५०७
के बारे में पश्चिमी विचार और भारतीय ५७४
पर प्रभुत्व दे० 'प्रभुत्व'
(दे० 'भागवत प्रेम' भी)
प्रकृति (वैश्व) [विश्व-प्रकृति] ३०, ३१, ८०, १६१, १९८, २५८, ३७०
के दो प्रयोजन रूपों के विकास में ३
का योग ४, २९, ३१, ४७अ, ६२३
के तीन पग दे० वि०२
की गति नियमित रूप से आगे नहीं बढ़ती ९
में विकास १७, २०
का उद्देश्य १९, ३१, १९५, ३४९
का काम वैयक्तिक और सामूहिक दोनों रूपों में २१

में विकास और योग २९
उसी के लिये हमसे समस्त प्रयत्न और अभीप्सा करवाती है ११३
यांत्रिक इसी अंश में कि... १२५, १२७, ७६९
का सचेतन मार्ग-निर्देश १२७-८
ही कर्मकर्त्री है २१७ दे० 'कर्म' भी
के दो रूप २१७
के तीन गुण दे० वि० १५
के भीतर विश्वात्मा की उपस्थिति का अनुभव २५४-५
पर प्रभुत्व ३४९
वर्तमान, की जटिल ग्रन्थि का रूढ़ नियम, और उसका उद्देश्य ६४७
की मिश्रित एवं अव्यवस्थित क्रिया में संशोधन करना होगा ६४८
आत्मा की ही अभिव्यक्ति है, शैतान का फंदा नहीं ६७७
का नियम हम जिसे कहते हैं उसे अतिमानसिक शक्ति निर्धारित करती है ८१०
(दे० वि० २ भी)

प्रभुत्व [स्वामित्व]
अपनी प्रकृति एवं सत्ता पर ११, ६३, १०२; १७७, १८५, १९१, २३४, ३६८, ४३६, ४४१, ४५६, ४५८, ४७१, ५०७, ५१०, ६४०, ६४४-६, ६६७, ७६८, ७७०
हमारा अपनी सत्ता पर कितना-सा ७६८
(दे० 'आत्म-प्रभुत्व' भी)

प्रयत्न (वैयक्तिक) ५८-६१, ६९, ७१, १८६, ४८१, ५७७, ६३९, ७६६, ७८३, ८०७
स्वयं, ही सर्जनकारी है २५
पर निर्भर, दीर्घकालतक, अनुभव का विकास ५८
की तीव्रता के नाप ५८
और उच्चतर शक्ति ५८-९, ६१, ८८, ८९
का भ्रम ५९-६०
की भी अपनी आवश्यकता और उपयोगिता ६०
के काल में करणीय बातें ६०-१, ८८-९, दे० 'संकल्प' भी
हमारे, का परिणाम नहीं, यह विकास ६३
ऊर्ध्वमुख, व्यर्थ नहीं जाता ७२
के स्थान पर सहज-स्वाभाविक विकास ८९
पूर्णता-प्राप्ति का, सफल तभी जब परम इच्छा-शक्ति इसे हाथ में ले लेती है २२२
और समर्पण ६०४, ६२४-५
के बल की सीमा ६२५, ७७४, दे० 'अहं' भी
और भागवत कृपा ६२८
(दे० 'पूर्णयोग' की क्रिया में, 'भागवत शक्ति' भी)

प्रलोभन २७२
पहला, दूसरा, अंत का ५१६ दे० 'विजय' पहली भी

प्राण [प्राण-शक्ति] १९, ७४, ९३, १२८, १२९, १५७, ४२७, ४५६, ५२०, ६२३, ६५५, ६५६
और अध्यात्म में कुसंबंध १३९, १७५
के बिना ज्ञान और प्रेम... १७४
अपरिहार्य माध्यम १७५; समस्त कार्य के लिये आवश्यक ७४६; वैदिक रूपक में अश्व या वाहन ७४८
और मन १७९, २९७, ७३५, ७७२
सच्ची १८०
का धर्म : उपभोग २१२, ३१५, ७१६, प्राप्ति और भोग ६५५, ६६५, ७५०; का प्रयोजन है रस-ग्रहण को भोग

का रूप देना ६६६, ७३१
की शुद्धि ३१५
नहीं हूं, मैं ३४१, ३५३
हमारे अंदर सर्वत्र ओतप्रोत ३५३, ३५५
में विश्वात्म-भाव ३७६
का रूपांतर ४२७, ४२८; को यदि रूपांतरित . . . ६६९
प्राणलोक में ४५८
शरीर के अधीन जड़तत्त्व में ४७३
आत्मा का एक करण ६३३
और मन के अपने विशिष्ट स्तर भी हैं ६३३
को कुचल डालना ६६९, ७५०; -आवेग का उच्छेद नहीं ७१६; यदि पंगु ७४८
मुक्त, का अभिप्राय ७१६
से शक्ति आहरण ७४६-९, ७७१, ८९४
पर निर्भरता जब जरा भी अनुभूत नहीं होती ७४८-९
हममें अवश्य होनी चाहिये, पर होनी चाहिये निर्मल, प्रसन्न ७४९
का नियमन मानसिक शक्ति के द्वारा ७७२-३
'प्राणिक अनुभवों की भूमिका ८९२-५ (दे० वि० ११, ३७, ७८ भी)

प्राण (चैत्य) [सूक्ष्म प्राण] ३५७
और स्थूल ३५१
के तीन धर्म ३५४
कामनामय मन के रूप में अनुभूत ३५३
का [कामनामय मन का] हस्तक्षेप इन्द्रियाश्रित मन, भावमय मन और चिंतनात्मक मन में ३५३-५, ६६६-७
ही [कामनामय मन ही] अहं की आग्रहपूर्ण ग्रन्थि ३५५
की शुद्धि ६६५-७०
के विकृतिकारक दोष का कारण ६६७-८
का प्रभाव, स्थूल मन की क्रियाओं पर ६६७-८
तब मन का उपयुक्त साधन बन जाता है ६६८
की मुक्ति ६८५

प्राण (देहबद्ध) ३५४
के लक्षण ३५१
के विश्व प्राण से पृथक् होने का परिणाम ४५६, ६६७

प्राणमय पुरुष १७७, १७८, १८१, ६३७, ६४२-३
सच्चे, का बाहर आना १८०
बन सकते हैं हम अन्नमय पुरुष से ऊपर उठकर ४६९-७०
की चेतना के प्राप्ति के चिह्न ४७०
बन जाता है आत्मा प्राणतत्त्व में स्थित होकर ४७५-७
का आध्यात्मिक विकास ४७६-७

प्राणलोक ४५८-९
में भौतिक तत्त्व और मानसिक तत्त्व ४७५
'प्राणमय भूमिका पूरी की पूरी हमारे अंदर छिपी हुई है ४७५अ
'प्राणिक अनुभवों की भूमिका ८९२-५

प्राणात्मवाद २९६अ

प्राणायाम ३४, ३६, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ७४६, ७४८, ७७१

प्राणिक मन ८६९
मनुष्य में अपने अंतर्ज्ञानात्मक स्वरूप को खो चुका है ८६९

प्राणिक शरीर ४७५, ८९४

प्राणेन्द्रिय के दृग्विषय ८९२-५

प्रार्थना ५६४, ५७६-७

प्रेम १३१, १७४, २०२, ३०८, ५१७, ६०१
अहंमूलक १०९, १५६, १५८, १६०,

३५७, ७१८
मानवीय ११०, ३११, ३७०, ५६१
सार्वभौम ११४, १६२-३, ३३२, ४२१, ५१७
सार्वभौम भागवत, १५४अ, १५९
और ज्ञान १५१, ३११, ५६०-१ दे० 'ज्ञान' भी
अतिमानसिक, और निष्क्रिय शांति १७०
हृदय का शोधक, पर . . . ३११
भी ज्ञान के बिना ३११, ५५७, ५५८, ५६०
करने की इच्छा हृदय का स्वभाव, पर चुनाव . . . ३१५
सामान्य, के स्थान पर सर्वालिंगी प्रेम ३५७
और आनन्द, सक्रिय ३५७ दे० 'आनन्द' भी
ही उच्चतर नियम है, अपनी स्वतंत्र चरितार्थता नहीं ४४९
ज्ञान का मुकुट है ५५६
और कर्म ५५७
द्वित्व का बोधक ५५९
कर्मों का मुकुट और ज्ञान का प्रस्फुटन है ५६१
अहैतुक, सच्ची भक्ति की कसौटी ५६३
ही ऐसा भाव है जो सर्वथा निःस्वार्थ, अहैतुक, स्वयंसत् हो सकता है ५६९
की तृप्ति दो प्रकार की ५७०
को दो चीजों की चाह : नित्यता और तीव्रता की ५७९
और प्रेम-संबंध : विवरण ५७९
हमारे अंदर अनेक प्रकार से उदित होता है ६११अ
दिव्य, का वर्णन असंभव ६१२
हृदय का एक आवेग ६५९
वासनामय और शुद्ध ६५९
का उच्छेद नहीं ७१७-८
(दे० 'भागवत प्रेम'; वि० ४७ भी)
प्रेयस् और श्रेयस् ६७१

फ-ब

फल-कामना दे० कामना
फलित ज्योतिष ९१५
बर्बर जाति १३
बलि आंतरिक रिपुओं की १११
बालवत् ५०६, ५१०
बाह्यशून्यवाद [Idealism] २९७
बुद्धि [तर्क बुद्धि] ४६, ७९, १४०, २२१, २३८, २४४, ४२७, ६५६, ७२५
का मध्यवर्ती एवं अंतिम महत्त्व ८१
और हृदय १५१-२, २९१, २९२, ५५८, ५५९, ६७०
और इन्द्रिय मानस २९५, ३११, ३१५-६, ६७३-५
और सत्य चेतना २९५
और आत्मज्ञान ३०४ दे० 'ज्ञान' बौद्धिक भी
की शुद्धि ३०५, ४८७अ, ७५२
की शुद्धि अन्य करणों की शुद्धि पर निर्भर ३११, ३१५, ६६४
जड़ स्तर और आध्यात्मिक स्तर के बीच स्थित ४५२
की मुक्ति ४७९, ६८५
और अंतर्ज्ञानात्मक बुद्धि ४८४-५, ४८७, ८१४
प्रधान तत्त्व मनुष्य में ४९५-६, ६७२, ८१३, ८२३अ
का स्वभाव ५८७-८
आत्मा का एक करण : विवरण ६६१-२
की क्रिया तीन भूमिकाओं में विभक्त : बोधात्मक समझ, मध्यवर्ती बुद्धि, विवेक बुद्धि ६६१-२
की शक्तियां अतिमानस भूमिका में नष्ट नहीं . . . ६६२अ

में सूक्ष्म प्राण का हस्तक्षेप दे० 'प्राण'
चैत्य
सर्वोच्च तत्त्व नहीं ८१३
द्वारा मनुष्य अपने-आपको सीमित कर ले तो . . . ८१३
का विकास और उसका रूपांतर ८२३-४
का समस्त कार्य-व्यापार अतिमानस से ही उद्भूत ८२४
की व्यवस्था ८४७
की अति का परिणाम ८७१
का आकलन भूत और भविष्य का ९१३
अतिमानसिक दे० वि० ७७
(दे० 'मन', 'अतिमानसिक बुद्धि', 'उच्चतर बुद्धि'; वि० २१, ४०, ६१, ७७ भी)
बुद्धिभेद २१४
बृहत् ४९३ टि०, ९०३
बौद्धमत [बौद्धमतवादी] ३६०, ३८०, ४०४, ४२२, ४३५, ५६६, ५८८, ७०४
बौद्धिक ज्ञान ७०, ३१७ दे० 'ज्ञान' भी
बौद्धिक धारणाएं ३०४
बौद्धिक प्रज्ञा ३१२, ३१३
बौद्धिक संन्यासी २४
ब्राह्मण ७५७-८
ब्राह्मी चेतना ३६८
के आधार पर जीवन को अपनाने की आवश्यकता ३०१

भ

भक्त ३२, ७७-८, १५३, १६४, ५६०, ५७१, ५८२, ७०४
चार प्रकार के ५७८ टि०
भक्ति ११०, ११४, २९०, ३०७, ५५७, ५६०, ६२८, ७११
तीन प्रकार की ५६०
भक्तिमार्ग [भक्तियोग, प्रेम-मार्ग] ३२, ३८-९, ४०, ७७-८, १७२, २४४, २७९, २८०, ३६५, ३८२, ४३०, ५६२, ५६७, ५७१, ५९६, ६१६ (दे० वि० ४७, ४८, ४९, ५०, ५४)
भगवान्
व्यष्टि और समष्टि के द्विविध रूप में अपने-आपको प्रकट करते हैं २१, १९५
[आत्मा] में सब, सबमें भगवान् [आत्मा] और भगवान् ही सब कुछ हैं २६, १०३, ११४, ३७३, ७२८, ८४१
को भी भक्त की खोज ३२, ५६७
के साथ संबंध ३२-३, ४८, २०६, ४१७-८
'शिल्पी ४७
को जो चुनता है वह . . . ५३
के साथ वैयक्तिक संबंध ६३, १३१, १३२, १७०, २५९-६०, २६४ दे० वि० ४८, ४९, ५०, ५१, ५४ भी
सर्व है . . . ६५
को नहीं जानते, तो उनपर एकाग्रता कैसे करें ? ८२
विषयक विचार या भाव ८३-५; विवरण ११२, ११७, १२१-२, १२६, २९२
वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक भी ८४, ८५, १२६, १२८, १३३, ३८५-७, ३९४; निर्व्यक्तिक, तो बन सकते हैं हम, पर सव्यक्तिक ईश्वर नहीं : अर्थ ३८४; सगुण और निर्गुण १२६, ३८३-५, ३८६, ३९४; एक और बहु ३७९-८२, ३९४; व्यक्तित्व-निर्व्यक्तित्व, एकत्व-बहुत्व, सगुण-निर्गुण के भेद से परे है २९९, ३८४, ५५९-६०
के दर्शन सर्वत्र ८७, १६१-२, ४१७,

४३१-२ दे० वि० २८, ३३, ५०
सबमें सम हैं ९७, ९८, २२५, ७०५, ७११-२, ७१३
सब चीजों के हृदेश में ९९, ८२१
में निवास करना अहं में नहीं १०३
की प्राप्ति के गीतोक्त तीन साधन १०७
को जो पूर्ण रूप से अपने-आपको देता है, ईश्वर भी उसे . . . ११२
के पास जिस रूप में, जिस भावना के साथ . . . ११२, ५६८
का अधिकाधिक अनुभव ११४, १४८ दे० 'अनुभव' भी
की अनन्तता ११७
के साथ मिलन : १३१, तीन प्रकार का १३३
मानव-शरीर में १३२ [६६]
का आत्म-प्राकट्य १३२, १८१-२, २४४, २४५-६, २६३-४, ५९६, ८४२-३
के शरीर का आकर्षण १६२
की ओर हमें खोलनेवाली चीजें १८१
में डुबकी २१०, २८०
ही तब हमारे स्वधर्म के अनुसार हमारे विकास को गढ़ता है २११, २१५
अहंकारी का २५१
धर्मसंस्थापकों का २५१
आप जैसे प्रेरित करते हैं वैसे ही करता हूं २५४, ५०४
गोचर देवताओं एवं प्रतिमाओं में . . . २६३
का पूर्ण क्रियाशील प्राकट्य मन में नहीं २६३
जगत् में उपस्थित हैं, स्थितिशील रूप में ही नहीं, गतिशील रूप में भी २७१, २९८
व्यक्ति और विश्व के साथ संबंध की दृष्टि से और परात्पर रूप में २९६-३०० दे० वि० १६ भी
की खोज, भगवान् के लिये ही २७२, ५९७-८
के साथ एकत्व प्रधान प्रेरक भाव योग के अनुसरण में २८२
मन द्वारा ज्ञेय नहीं पर आत्मा द्वारा उपलभ्य २९९
की प्रकृति ३२९ दे० 'दिव्य प्रकृति' भी
'नर-नारायण ३३१, ३७०
'निरपेक्ष सत्, जगत्, विश्वात्मा और एक सत् के बारे में ज्ञानयोग और पूर्णयोग की दृष्टि ३४१-४
में निवास सब समयों, सभी अवस्थाओं और परिस्थितियों में ३६७-८
के साक्षात्कार के तीन रूप : सब पदार्थों को अपने अंदर धारण करता है, सब में अंतर्व्याप्त है, सब कुछ है ३७४-६ दे० वि० ५३ भी
और जीव ३८०, ३८५
की प्राप्ति व्यष्टि आत्मा के द्वारा ३८१
'भेदाभेद संबंध ३८२
का नानाविध नामों से वर्णन ३९९-४००
निरपेक्ष, की चेतना ४२५-६
की आत्म-सचेतनता और हमारा आत्मानुभव ४४२
जिन प्रलोभनों से आत्माओं को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं ५१६, ५६२
की प्राप्ति निःसंबंध स्वरूप में और समस्त संबंधों में ५१९
में नित्य निवास की नींव है : ज्ञान ५५५
में निवास करने का मतलब ५६०अ
से यदि हमारी अपूर्ण शरणागति को उत्तर न मिलता . . . ५६८
की परिकल्पना धर्मों में ५७२
विषयक परिकल्पना हमारी ५९१-२
का जो भी रूप हम देखते हैं, वही हम बन सकते हैं ५९५

पहले-पहल हमसे जिस रूप में मिलता है ६०७-८
'प्रियतम की मूर्ति को अंतर्नयन के लिये गोचर बनाना होगा ६०८अ
के साथ एकीभूत होने का अर्थ ६९१
का कोप या अनुग्रह ७१२
सब अवस्थाओं के बीच हमारा हाथ पकड़े रखते हैं ७९१
की प्रज्ञा उतावली नहीं मचाती ७९२अ
जब हमारे कार्य को अपने हाथमें ले लेते हैं तब सभी कुछ संभव हो जाता है ७९८
का इन्द्रियानुभव-इन्द्रिय-ज्ञान ८८६
(दे० 'निश्चल आत्मा', 'परात्पर', 'विश्वात्मा', 'सच्चिदानन्द', 'साक्षी पुरुष', 'अंतःस्थ भगवान्', 'अनुभव', 'उपस्थिति', 'कर्म', 'यंत्र'; वि० ७, १६, २८, ३०, ३२, ३३, ३४, ४८, ५०, ५१, ५३, ५४ भी)
भय ३२०, ३५२, ५१६
'ईश्वर-भय ५६३, ५७१-३, ५७४-५
भविष्यवाणी ३१४ टि०, ९१३अ
भागवत प्रेम १५८, २१४
और सृष्टि १६६
और मानव प्रकृति १६९
पर यदि एकाग्रता ३२५
(दे० 'प्रेम' भी)
भागवत व्यक्तित्व [दिव्य व्यक्तित्व] ३८६, ६०५
(दे० वि० ४८, ५१, ५४, भी)
भागवत शक्ति [उच्चतर शक्ति, दिव्य शक्ति, परम शक्ति] १४०, १२६-८
की क्रिया ४६, ६४, १२७-८, १४१, १८२-६, १८८-९, ७७६-७ दे० वि० १३, ४१, ७०, ७१ भी
अकेली ही सर्वसमर्थ है १८९; पर विश्वास रखें तो . . . २४८, २४९; के लिये कुछ भी असंभव नहीं ७८९, ७९६-७
और आचार के मानदण्ड २०७ दे० वि० १३ भी
ही एकमात्र कर्त्री है २१८, २२५
और वैश्व-शक्ति [निम्न प्रकृति] २५३
उतर कर यदि संपूर्ण क्रिया को हाथ में ले ले . . . ६२५
ही हमारे कर्म का निर्धारण करती है ७७०
अंत में हमारे समस्त प्रायास को अपने हाथ में ले लेती है ७९२
महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती हैं ७९७-८
मनुष्य में किस माध्यम के द्वारा कार्य करेगी ? ८००-१
की क्रिया अंतर्ज्ञानात्मक विकास के लिये ८२४-५
(दे० वि० १३, ७०, ७१ भी)
भारत ४५३
में आध्यात्मिक और भौतिक जीवन ६, २७-८
भावमय मन [हृदय] ३१, ४६, ८२, ८४, ८७, १२९, १६३, १६५, २९१, २९३, २९४, ३०८, ३११, ३३५, ३७६, ६६४, ६६६, ६८५
और सच्ची आत्मा १५२-३, ३५४ यह प्रकट तभी . . . ६५९
की शुद्धि १६७, ३१५, ३५६, ६७०-१
की तरंगें शोक, क्रोध, घृणा आदि अभ्यास मात्र हैं ६५८ इनके दास हम तभीतक . . . ६५८
की शुद्धि कहीं भावना प्रधान सत्ता की मृत्यु तो न होगी ? ६७०-१
का उच्छेद नहीं ७१७-८, ७५१
शुद्ध, मुक्त ६७१, ७१७
की चतुर्विध पूर्णता ७५०-२

का मुख्य कार्य है : प्रेम ७५२
और अंतर्ज्ञानात्मक मन ८२१
साधारण मनुष्य में सबसे प्रबल केन्द्र ८२१
(दे० 'प्रेम', 'बुद्धि'; वि० २६ भी)
भूल १५६, २४८, ७९३, ८७६अ
भोग [उपभोग] १७७, ३५६, ४३९, ४५८, ४५९, ६५५, ६७६, ६९३, ७०८-९, ७३१
की इच्छा प्राण का धर्म, पर चुनाव . . . २१२, ३१५ दे० 'प्राण', 'प्राण' (चैत्य) भी
भी, मुक्ति ही नहीं ६१८
जगत् का पूर्ण, तभी ६६५
सर्वथा वैध ६६६
की शुद्धता में बाधा : कामना ६६६
वास्तविक ७१६
'भोग-सामर्थ्य ७५०
भोजन ११३, ३४७
भौतिक चेतना
का अतिमानसिक रूपांतर ८९१
का ज्ञान-क्षेत्र ९००
भौतिक जीवन दे० 'शारीरिक जीवन'; वि० २, ३
भौतिक मन [स्थूल मन] २२, २३, ४५६, ४६२, ६६७-८, ८३६
और जीवनेच्छा १७३
की क्रिया में सूक्ष्म प्राण का हस्तक्षेप ६६७
की सीमाओं से मुक्ति का चिह्न ८२२
हमें मस्तिष्क यंत्र के साथ बांध देता है ८३६
का प्रभुत्व जबतक तबतक चैत्य दृग्विषय कम वास्तिविक, चैत्य चेतना में प्रवेश के बाद भौतिक सत्ता अवास्तविक . . . ९०३-४
भौतिक मनुष्य २१-३, १९५, ५४६
(दे० 'अन्नमय पुरुष' भी)
भ्रांति ६४, ७२०, ७३१, ८२६अ
भ्रातृभाव १६८

म

मंत्र ५४७, ५४९, ५८३, ९०१
मध्यवर्ती सत्य ४४७
मन १४, १५, २९, ७४, ८२, ८७, १३९, १७५, १७९, १८९, १९२, २४३, २४४, २८६, ३०८, ३३५, ३७६, ४३६, ४५६, ४८४, ५०८, ५६९, ६२३, ६५५, ६६०
त्रिविध ११
प्रथमतः शारीरिक जीवन [जड़तत्त्व] में आवृत ११, ४४७, ४९५
विकास की अंतिम अवस्था नहीं १५
का भी उपयोग है १७-८
की विशेष शक्ति : परिवर्तन, पूर्णता, प्रगति १९, २०, २३
और भौतिक जीवन २३-४
की आत्मा, स्वप्नद्रष्टा २३, २५
जीवन को अपनाकर ही अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त करता है २४
की शुद्धि ३५-६; शुद्ध, का मतलब ३७३
के बहिर्मुख झुकाव के स्थान पर भगवान् की खोज ६३
हमारा, ग्रहण-संवर्धन-परिवर्तन की मशीन ७७; वास्तविक, हमारे अंदर का वैश्व मन ही है, व्यक्तिगत मन तो उसका उपरितल पर प्रक्षेप मात्र है ९१०
प्राकृतिक शक्तियों के भंवर पर सवार होता है . . . ९८-९
का रूपांतर १४९-५०, २४२, ४२८; के संपूर्ण रूपांतर की आवश्यकता ८४९

का स्वरूप एवं स्वभाव १५०, १५५, २४६, २६२-३, ३२४, ६३२, ६३३, ६८२, ८२८; का विभाजक स्वभाव ४०४, ४७९, ५५९; अज्ञान का करण है ८०७-८, ८२८, ८४७, ९०९; (प्रकाश और ज्ञान का करण ३४०); आत्म-विरोध से पूर्ण है ८०८, ८४७; से मतलब : अज्ञान का आधार ८२६
जब निश्चल हो जाता है १५७, २११, ३१८, ३४१, ८२०, ८९७
को पूर्णरूपेण शांत करने की विधियां ३२६, ७७४; सक्रिय और निष्क्रिय, को शांत करना ६४४अ; की अभावात्मक निश्चलता नहीं, भावात्मक रूपांतर ४०३-४; की निश्चलता उच्चतर रूपायण का प्रथम सोपान ७७४; की शांति बढ़ने के साथ-साथ उपस्थिति का अनुभव ७७५
और प्राण १७९, २९७, ७३५, ७७२; को प्राणिक सामर्थ्य से पूर्ण होना चाहिये ७४९
नहीं हूं, मैं ३४१, ३५८
भगवान् को [उसके तरीकों को] समझ नहीं सकता २४७अ, २४८अ, २५६; परात्पर को निषेध प्रणाली द्वारा ही परिकल्पित कर सकता है २९९, ३०० दे० 'ज्ञान' बौद्धिक भी
को भी पार करना होगा २६२-३
आत्मा का पूर्ण यंत्र कदापि नहीं बन सकता २६३, ४७९, ८००-१
भी 'तत्' नहीं है २९७
प्राण, शरीर के संबंध जड़तत्त्व में ३३९, ४७३, ६५५, ६५६
और शरीर के संबंध ३४६-५०, ५४५-७
की शक्ति, शरीर पर ३४६-५०, ६६८, ७४७; की शक्ति में श्रद्धा, और शरीर में विरोधी विश्वास ७४७-८
में अनासक्ति की शक्ति ३४६
की पवित्रता और भोजन ३४७
जबतक शोक, भय, क्रोध आदि के अधीन है तो शरीर-त्याग के समय योग-समाधि में एकाग्रता भर से मुक्ति . . . ४०२-३
की प्रतिबिंबित करने की शक्ति ४०३
का जगत् को नाम-रूपात्मक रूप में देखने का अभ्यास ४४७, ६०८
की स्थिति मनोमय लोक में ४६१, ४७७, ४७८
से उच्चतर भूमिकाएं ४७८ टि०
उच्चतर भूमिकाओं का जो वर्णन . . . ४८१
को चेतना व प्रकृति के रूपांतर एवं आत्म-अतिक्रमण का विवरण अपने सामने अवश्य . . . ४८१
दिव्य प्रकाशयुक्त और विज्ञान ४८२-३
अनन्त की स्वतंत्रता में प्रवेश करने पर . . . ५०९, ८६४, ९०७-८
के आरोहण एवं बल की सीमा ६२५, ६३२, ६३३, ६८२-३
में अहं-स्वतंत्रता का विचार कब ६३७
'मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव ६५९
की प्रत्यक्ष बोध की शक्ति ६६०-१, ६७४
छठी इन्द्रिय ६७४, ८८५; ही एकमात्र इन्द्रिय ८८५; भी शुद्ध इन्द्रिय का एक करण मात्र ८८५
रूढ़ चिंतनात्मक, व्यवहारलक्षी और ज्ञानात्मक ६८०-२; ८६१-३; अज्ञानमय, आत्मविस्मृतिपूर्ण ज्ञान से युक्त और ज्ञानमय दे० वि० ७९

बाह्य, की सामर्थ्य ७२२अ
की जीवन के आघातों के प्रति तीन प्रकार की प्रतिक्रिया : सुख, दुःख, उदासीनता की ७२३-४
जीवन के सुखों और दुःखों से स्वेच्छापूर्वक बंधा हुआ है ७२६
की प्रतिक्रियाएं दिव्य मूल्यों का हीन रूप ७२८
'मानसिक शक्ति द्वारा प्राण-शक्ति का नियमन ७७२
'मानसिक स्तर पर पुरुष और प्रकृति ७७३
मन की प्रत्येक वस्तु अतिमानस से निकली है ७७४, ८०५
और अतिमानस दे० वि० ७३, ७६
और अंतर्ज्ञानात्मक मन ८३६ दे० वि० ७४ भी
की निम्न क्रिया का कारण ८४६अ
की विचार क्रिया के तीन स्तर ८६१-२
स्थूल इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता है ८९२
का दूसरे मन के साथ सीधा संबंध ८९६
(दे० 'अंतर्ज्ञानात्मक मन', 'इन्द्रियाश्रित मन', 'उच्चतर मन', 'चिंतनात्मक मन', 'भावमय मन', 'भौतिक मन', 'संवेदनात्मक मन', 'स्नायविक मन', 'बुद्धि', 'अहं'; वि० ७३, ७४, ७६ भी)

मनन ३०७ टि०, ५८३
-चिंतन अनवरत, ब्रह्म का ६०२, ६०४, ६०८

मनीषी ८१४

मनुष्य
की संभावनाएं ६, १९-२०, ४६६, ६२२, ७४८, ७७३-४ दे० वि० ५७ भी; की सामर्थ्य ६३१, ६३५-६, ६३८; को जो बनना है ६४०; एक ऐसे विकास का यंत्र है जो... ७१४; में आत्म-विकास के लिये आत्मा का दबाव ८४८
का शरीर देवताओं को स्वीकार ९
मानसिक प्राणी है ११, ८०, २९१, ६४३; का विशेष लक्षण ८०-१, १०१; का वास्तविक धर्म ८१२अ
और पशु ११, ८१, ३१२, ६३१, ६७३, ६७४-५, ७९९, ८१७, ८३६
में त्रिविध जीवन १९-२०
की साधारण सत्ता [जीवन] ३५, ७३, ७६, ९१, ४१२, ५२३, ७३६; की सम्मुख सत्ता और उसके पीछे, नीचे, ऊपर के स्तर १८३-४
में अनेक व्यक्तित्व ७७, १८४ दे० 'व्यक्तित्व' भी
अंदर से भी अकेला नहीं ७७
के भीतर पुरुष के दो केन्द्र ८१-२, ६०३
के अस्तित्व [जन्म] का हेतु [अर्थ] ९१, २५७, ३३०, ५९६
ने जब पशु की प्राणिक क्रियाओं को बुद्धि के संचार से रूपांतरित... १३७
एक सामाजिक प्राणी है १९६
की पूर्णता की शर्त १९७, ४५५
का अपने विषय में विचार २१६, ४७४
की सत्ता का सत्य दे० 'सत्य' हमारी सत्ता का
जो यंत्रभाव के अहंकार से पूर्ण हैं २५०-२
भौतिक तथा अवप्राणिक चेतना से लेकर मानसिक चेतनातक के संपूर्ण विकास को अपने अंदर धारण किये हुए है ३९२-३
की चेतना वैयक्तिक ही नहीं, अहंमयी भी है ४१५
का उच्चतम लक्ष्य, और उसके शरीर,

प्राण, मन, चेतना, जीवन और आनन्द की सीमाएं ४५५-७ दे० 'लक्ष्य' भी
जगज्जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण से देरतक संतुष्ट नहीं रह सकता ४६५
अपने गोलार्द्ध को अतिक्रम कर फिर नहीं लौटता ४८०
का अंतर्ज्ञान और पशु की सहज प्रेरणा ४८६-७, ८१२, ८६९
स्वयं, कुछ एक गुण नहीं, एक व्यक्ति है ५९४
को इन्द्रियाश्रित मन व बुद्धि से बाहर पैर रखने में संकट . . . ८१७
यदि तर्क-बुद्धि से ऊपर उठ जाये तो इतने से ही वह मानवता को पार . . . ८७०
(दे० 'पुरुष', 'व्यक्ति', 'भौतिक मनुष्य', 'राजसिक मनुष्य', 'योगी' भी)
मनोबल ४७१
मनोमयकोष दे० 'सूक्ष्म शरीर'
मनोमय पुरुष २८५, ६३७, ६७८
के अनुभव का लक्षण : तीन प्रकार के अंतर्ज्ञान ६४१
की दृष्टि में प्रकृति का कार्य-व्यापार ६४१-२
पीछे हटने की क्रिया को एक बार संपन्न कर लेने पर फिर से बाह्य कार्य में ग्रस्त होने पर भी अपने निकट वह बिलकुल वही कभी नहीं हो सकता जो कुछ कि वह पहले था ६४२
(दे० वि० ३८, ३९ भी)
मस्तिष्क ४९८
माता (भगवती) [जगन्माता] १५९, २२०
चाहती है कि सभी कामनाओं और कष्टों में मानव आत्मा उस के पास जाये ताकि . . . ५७८
मानदण्ड [नियम] आचार के १५४, ३३६
सभी छोड़ मेरी शरण ले २१०, २७८, ७१९
-ें में आरोहणकारी तीन क्रम २१०-५
और आभ्यन्तर पथ-प्रदर्शक नियम २७६अ दे० 'नियम' भी
और विज्ञानमय पुरुष ५११
और महत्तर पूर्णता का अभिलाषी साधक ७१८-९
(दे० वि० १२, १३ भी)
मानवजाति [जाति, मनुष्यजाति] २३
का उत्थान १४, २१, २४-५, २७
की सेवा ३६१-२
की सहायता ४५०, ६२०, ६५१
मानसिक जीवन २१०अ
हाल में ही प्रकट नहीं हुआ १३
की पूर्णता का आधार ६६७
(दे० वि० २, ३ भी)
मानव रूप ईश्वरवाद १३१
माया ३८, २७०
के द्वारा यंत्रारूढ़ की भांति ९७, ९९, २५५, ८२१
सनातन पुरुष की चिच्छक्ति १२३, ४३९, ६३४-५
(दे० 'द्वैत' भी)
मिथ्यात्व
का त्याग २९३-४
पर आधारित हमारा वर्तमान जीवन ३३७-८
मुक्त आत्मा १३७, १३८, ४३९
के संगी-साथी २७४
का वास्तविक जीवन भीतर २७५
जीवन को अपनाये तभी . . . ३०१
और दूसरों के कष्ट ४२३
ऐसा यंत्र बन जाता है . . . ६२०
का कर्म, जीवन . . . ६५३-४
विकास को द्रुतवेग प्रदान . . . ७१४
(दे० 'योगी'; वि० १७, ३६ भी)

मुक्ति [मोक्ष] १८, ६०, १५१, १८५, २८५, ३००, ३२९, ३४८, ३५७, ४१८, ४२४, ४४५, ४५२, ५००, ७०४
सायुज्य [सान्निध्य] ४८, १३३, १३६, २७९, ५५७, ६१२, ६९०
सामीप्य [सालोक्य] ४८, १३३, ५३६, ६१२, ६९०
साधर्म्य [सादृश्य] ४८, १३३, १३६, २७९, ३८४ टि०, ५८२, ६०३, ६१२, ६३०, ६८६, ६९०
पूर्ण और अंतिम ४८; पूर्ण ४२०, ७०२; पूर्ण, का रहस्य ४३१; सर्वांगीण ६९५, ७०३
निम्न प्रकृति से २४०, ४३४, ५७५, ५८२
ही नहीं, परिपूर्णता लक्ष्य २५३; ही नहीं, भुक्ति भी ६१८; ही नहीं, प्रभुत्व भी ६४४
सच्चा २६८, २७३
का प्रयोजन पुनर्जन्म से छुटकारा . . . २७१-४
स्वर्ग से अधिक आकर्षक २७२
से बड़ा एक और आकर्षण २७३
की कामना २७३, ४०२अ, ५१५-६, ७०२
और पूर्णता की खोज क्यों २७८-९; तथा पूर्णता हमारी, का अर्थ ४४१
निश्चल आत्मा में, का अनुभव २९४-५, इस अनुभव में से जो नहीं गुजरा . . . २९५
के निषेधात्मक अनुभव के परे भावात्मक उपस्थिति २९५
और शुद्धि दे० 'शुद्धि'
मानव जन्म से, शरीर के त्याग भर से ! ४०२
दिव्य विश्राम की ४२०
सांख्यों की ६४३
, प्रभुता, पूर्णता प्राप्त करने के लिये . . . ७७०
(दे० 'अहं', 'अहंबुद्धि', 'आत्मा', 'कामना', 'द्वंद्व', 'प्राण', 'प्राण' (चैत्य), 'बुद्धि', 'भौतिक मन', 'विज्ञान', 'शरीर' भी)
मुक्ति [मोक्ष] वैयक्तिक ७७, २६१, ३२८, ३३०, ३३१, ४४९
एक प्रलोभन २७२, ५१६
का समर्थन किस कारण २७२
प्रथम लक्ष्य ६१९अ
मृत्यु ६८, २६४, ३९९, ४४५, 'शरीर-त्याग ४०२
का भय ३५२
के बाद ४६८अ
'इच्छा-मृत्यु ५२९

य

यंत्र ६०, २२०, २३३, २४४, २६४, ६०४, ६१०, ६४६, ७१३
निर्दोष ८६
शुद्ध और पूर्ण, बनने के सोपान २४९-५३
-भाव का अभ्यास २५०
-भाव का अहंकार २५०-३
भगवान् के नहीं, वृत्रों के २५२
-भाव में सच्ची विशाल दृष्टि २५२
भगवान् का, बनने की आड़ में भगवान् को अपना यंत्र बनाना २५३, ७८३
ही नहीं, उसके अंग २५५
यथार्थ विचार ३०४, ३०५
यथार्थ विवेक की सहायता ३०४
यज्ञ
स्वीकार्य, ६०, ८३, ११२
के प्रतीक का गुह्य तात्पर्य १३६, ४२३
का एकमात्र सच्चा, स्पृहणीय फल २४९

द्वारा पुत्र का जन्म ६०५
(दे० वि० ९, १०, ११ भी)
युग
वर्तमान ३, १४, ७९१
संदेहवाद के, के बाद गुह्य विद्या और धर्म का युग ४६५
यूरोपीय मन दे० 'पाश्चात्य मन'
योग १६, ५७, ९५, ४६९, ५३६, ६२८, ६३१, ६३८, ६४०
प्रकृति का विकास और, ४-५, २९, ३१, ४७अ, ६२३
की संपूर्ण विधि मनोवैज्ञानिक है ५, ४४, ५२५
का अर्थ [अभिप्राय] ४, ५८०, ६३०, ७४४; की भावना : अपवाद रूप चेतना को सामान्य चेतना बनाया जाये ६०२
द्रुत विकास का साधन ४, २९, ९२, २८३, फिर भी वह क्रमिक अवस्थाओं को लील नहीं . . . २८३ दे० 'रूपांतर' एक भी
का लक्ष्य [उद्देश्य] ३१, ४४अ, १३६, १६६, १७८, १८८, २४५, २८१, ३०२, ३९१, ५८१, ६१९अ, ७९९; का लक्ष्य वैयक्तिक महानता पाना नहीं २८२ दे० 'पूर्णयोग' भी
का सार ३२, ७२, ५९५; का मूल सूत्र ५७१
का आधार ४४
की मौलिक प्रक्रिया ५८; की क्रिया का क्रम ८९; की प्रक्रिया का स्वरूप, प्रयुक्त करण के अनुसार ६१६अ
एक नूतन जन्म है ७० दे० 'नूतन जन्म' भी
अपूर्ण, भी निष्फल नहीं ७२
में सफलता ७२
की विघ्न-बाधाओं का मूल ७३
से हमारी सत्ता की जटिलता और बहुविधता सामने . . . ७६
का श्रीगणेश [आरंभ] ८२, ८६, ५८१, ६२४
विचार का सत्य नहीं . . . ११७
का आरंभबिंदु ज्ञान, भक्ति व कर्ममार्ग में २८०
से शक्ति का विकास ३०२टि० दे० 'योगशक्ति' भी
की विद्या और योग की कला ३७८
और सांख्य ३८८
का सर्वस्व ४२५
और धर्म दे० 'धर्म'
और सायंस ४६७
का प्रवेश : जीवन में ५२२, धर्म में ५६९
का अभ्यास जब बिना तैयारी के . . . ७४५
की प्रगति का अर्थ ७९३
के अनिवार्य साधन ८४८
का त्रिविध मार्ग दे० त्रिमार्ग
(दे० कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, 'पूर्णयोग', राजयोग, हठयोग; वि० १, ३, ४ भी)
योगशक्ति
के स्पर्श से मानसिक सर्जन की नयी क्षमताओं . . . १४८-९
योगी ६, १७४, ४१८
और सामान्य मनुष्य ४५, १४५
और कर्म ३५०, ४११
की सार्वभौमता ४१३अ, ४२१
और निम्नतर ज्ञान ५२६ दे० वि० १० [ज्ञान के कर्म] भी
(दे० 'मुक्त आत्मा' भी)
यौगिक निष्क्रियता ५३९

र

रजस् दे० 'गुण'; वि० १५, ६३

राग-द्वेष २२५, ६७०, ६७१
राजयोग ५, ३३, ५६
की प्रणाली ३५-७, ३२१
का मूल सिद्धांत ६१५-६
(दे० वि०४६ भी)
राजसिक मनुष्य और असुर ४७६
रास-लीला ५११
रिपु आंतरिक १११
रुद्रशक्ति ७१८, ७४२, ७५१
रूपांतर [परिवर्तन] ५९, ६२-३, ९१, ९६, ११६, २८०, २८२, ४२३, ४३२, ६२४
अपने बल पर संभव नहीं ८८, ६२५, ७७४
के लिये प्रकृति की परिपक्वता का चिह्न ८९अ
प्रकृति का ९२-३, १३३-५, २४३-४; निम्न प्रकृति का पूर्ण, और अतिमानस ४२७-९; सर्वांगीण ६२८
पंगु ९४
जो संपन्न करना है १३३अ
सुमहान् १८२-६
की कठिनाइयों और अग्नि परीक्षाओं में सहारा देनेवाली चीजें १८२, १८९, २२२
जिन चीजों पर निर्भर १८६, २०६
जैसे पशु से मनुष्य में, वैसे ही मनुष्य से अतिमानसिक जीवन में १८८, ७९९
विज्ञानमय ४९३अ, ७०७-८
आंतरिक चेतना का ६०४
'पूर्ण उद्धार तो तभी होता है जब . . . ६०५
की प्रारंभिक शक्ति ६२४अ
एक प्रक्रिया द्वारा, मनमौजी जादू द्वारा नहीं ६३६ दे० 'योग' द्रुत भी
के द्वारा ही पूर्णता ६४८
के दो पहलू ८२९
पूर्ण, कब ९०३
(दे० 'चेतना', 'प्राण', 'बुद्धि', 'भौतिक चेतना', 'मन', 'शरीर'; वि०७०, ७१ भी)
रोग ३४७, ३४९, ७४७, ७७१, ८९४

ल

लक्ष्य [उद्देश्य] ९२
हमारा १९, ३७, ४५, ६३, ८२, १३८, १७९, २२४, २५४, ३३१, ३६०, ३६२, ४०९, ४४१, ४४९अ, ६२२, ६४४, ६८५ दे० 'जीवन', 'पूर्णयोग', 'योग'; वि०५५, ५६ भी
अभिव्यक्ति का २७८, ४५५
जहांतक सभी एकमत हैं ३६४
मानव प्राणी का ३८८-९, ४५५, ६४९, दे० 'मनुष्य' भी
लय
वास्तविक ५१५
एक प्रलोभन ५१६
(दे० 'ज्ञानमार्ग' का लक्ष्य भी)
लोक दे० 'स्तर'
लोकमत
'बाह्य मानव की दृष्टि का महत्त्व नहीं, अंदर की आंख ही सब कुछ है ३३३-४
लोक संग्रह १४५, २०८, २७५, ५५७

व

वर्चु [virtue] २१४
वर्ण-व्यवस्था ७५६-७
वर्तमान ८५७, ८६५
(दे० 'युग'; वि०७९ भी)
विकास १७, १९, २०, ११६, १७७, १९२, ३९३, ७१२, ७१३
अपने, को समाज की खातिर रोकना नहीं, बल्कि . . . २१

सामान्य मनुष्य का ९१
को निर्व्यक्तिक अनुमति, और उसे वेग प्रदान करना ७१४
सर्वांगीण, आवश्यक ८४९
(दे० 'योग' द्रुत; वि० २ भी)
विचार ७४, ९३, २४३, २५५, २६८, २९४, ३४१, ३५७, ४०८, ४१०, ६५९
हमारे, हमारे निजी नहीं ७७, २१६, ४६०
भगवान् विषयक दे० 'भगवान्'
साक्षी आत्मा के निकटतम २९१
अज्ञान को आलोकित करने का साधन २९१
-विमर्श की सहायता ३०४
साधन विकीर्णता का, विचार ही साधन वापस लौटने का ३२०
पर एकाग्रता अतिचेतन स्तरों को खोलने की कुंजी ३२३
-ों को शांत करने की विधि ३२६ दे० 'मन' भी
और संकल्प दे० 'ज्ञान'
स्वतः प्रकाशमान, का स्तर ३९४
को जानना [विचार-संक्रमण] ५३२, ८७८
-ों का आत्म-निवेदन भक्तियोग में ५८३
'दूर-विचार-प्राप्ति ६६१
-ों के विषय में संदेह की उपयोगिता ७८८
अतिमानस में ८४१अ
-ों में संघर्ष, मन में ८४७
की जरूरत नहीं उच्चतम स्तरों में ८५१
(दे० 'अतिमानसिक विचार', 'आसक्ति', 'एकाग्रता'; वि० १९, २२ भी)
विजय
अपूर्ण ३२९
पहली, दूसरी और अंतिम ४५०
विज्ञान १४३, १४४, २९५, ३१५, ४३४, ५२४
विज्ञान (भौतिक, जड़वादी) ५अ, १४, ४६५, ५२१
और आत्मज्ञान ३०३
की धारणा शरीर, मन आदि के संबंध में ३४९, ६३०अ, ७६७
विज्ञान (भावी) ४६०
विज्ञान प्रज्ञान, संज्ञान ८८४-५
विज्ञान (अतिमानसिक) २५७
जिस वस्तु को स्पर्श करता है वह रूपांतरित होकर . . . १५१
में आरोहण मानव की नियति और उसका अवतरण पार्थिव विकास में अवश्यंभावी २५७
का अर्थ ४२० टि०
सत्ता मात्र में गुप्त रूप से अवस्थित ४८१
की उपस्थिति एक आश्वासन ४८१
का प्रधान तत्त्व : ज्ञान ४९५, ४९६
से तबतक हम कोसों दूर ४९९
-मय अस्तित्व का अभिप्राय ६२१
में एकदम ही आरोहण कर जाना संभव नहीं ६८३-४; ऐसा करने का अर्थ होगा : वहां से लौटने की कोई संभावना न होना ६८३अ
-मय मुक्ति ६८५
में मुक्ति की पूर्णता ७०२-३
-मय सत्ता का विकास ७०७
-मय सिद्धि इस देह में ७०७-८
की क्रिया के परिणाम : वह सारी सत्ता को अपने हाथ में लेकर . . . ७०७
के आधार पर पूर्ण कर्म और उपभोग ७०८-९
-मय विकास और आनंद तत्त्व ७०९
(दे० 'अतिमानस'; वि० ४०, ४१, ४२ भी)

विज्ञान-केन्द्र ४९८, ५१०
में स्थित होने का परिणाम ४९८
विज्ञानमय कोष दे० 'कारण शरीर'
विज्ञानमय पुरुष ४८०
का स्वभाव व प्रकृति ४९२
की चेतना ४९६-७
(दे० वि०४२ भी)
विनाश २२५, ३०२ टि०, ७१८
विभूति १३२, ७५५
विशिष्टाद्वैतवाद ३६४, ३८०
विश्व
और व्यक्ति का तीव्र भेद दे० 'अहं' का पृथक्-अस्तित्व
का सत्यज्ञान २९५, ३०३
और व्यक्ति दे० 'व्यक्ति'
(दे० 'जगत्', 'द्वैत' भी)
विश्वात्मा [विराट् पुरुष] ३६१, ३९५ ६३८
के दो पार्श्व २५८
(दे० वि०२८ भी)
विश्वमयता [विश्वात्मभाव] ८७, १७९, १८५, २०७, २६०, २६१, २८३, ३६७, ३६८, ४३६, ४९७, ६४८-५०, ७७८, ९०२ (दे० वि० २८, ३३ भी)
विश्व-संगीत
के सभी स्वरों का स्वीकार ४३०
वैदान्तिक सूत्र २६, ३७३
वैश्य ७५९-६१
वैश्व प्रकृति दे० 'प्रकृति' (वैश्व)
वैश्व प्राण-शक्ति १८५, ७४६-८, ७७०-२, ८९४
वैश्वशक्ति ३६, २५३, २५८, ३०४, ७७८
-यों का प्रत्यक्ष अनुभव १८४, १८५
ही कर्मकर्त्री है २१६-७
विवरण २५५-६
ही सब कुछ है कार्य की शक्ति, विचार की शक्ति, ज्ञान की शक्ति, प्रेम की शक्ति . . . २५६
और विश्वात्मा २५८, ४१५
की ओर अपने को खोलना ७७०
का साक्षात्कार ७८१
(दे० 'भागवत शक्ति'; वि०७० भी)
व्यक्ति
और समूह २१, २८, १९५-९, ३५९, ३६१
और प्रकृति का योग ३१
, ईश्वर और प्रकृति ३१, ७०९
भी भगवान् के लिये आवश्यक ३२ दे० 'भगवान्' को भी भक्त . . . भी
-पूजा १६१
रूपी कर्मी की स्थिति अखण्ड विश्व-कर्म में १९२
ही होता है विचारक, और नैतिक प्रयासी भी २००; व्यक्ति ही अमरत्व व आत्मज्ञान प्राप्त करता है ४४३
की प्रकृति और धर्मशास्त्र २०६
अपनी प्रकृति में वैश्व पुरुष की अभिव्यक्ति, अपनी आत्मा में परात्पर की अंशविभूति है २५६, २९८
और विश्व [विराट्] २७८अ, ३४५, ३९१, ६४८-५०
प्रत्येक, भगवान् ही है ३७९
का सत्य दे० 'सत्य' हमारी
असाधारण ७५५
(दे० 'पुरुष', 'मनुष्य' भी)
व्यक्तिवाद की आवश्यकता १९८
व्यक्तित्व ४९८
और निर्वैयक्तिकता १२८-३१ दे० 'भगवान्' भी
उपरितलीय २१९
हमारा, सदा एक-सा नहीं रहता ३८२अ
सच्चे, को पाने का अर्थ ४४४
के विषय में हमारा विचार ५९१, ५९२

(दे० 'भागवत व्यक्तित्व', 'अहं' भी)

श

शक्ति २२९, २६४, ४५६
का प्रवाह १३०अ
की निंदा एक भूल १७६
सब, अपने मूल में आध्यात्मिक और दिव्य है १७६
महत्तर, से परिचालित होने का बोध २५१
अतिमानसिक रूपांतर के द्वारा अनिवार्यतः प्राप्त होती है २८२
की लालसा से अतिमानस की खोज संकटपूर्ण २८२
का विकास योग से ३०२टि०
दुधारा शस्त्र ३०२टि०
नीरवता की ३१८
अनंत, स्वयंपूर्ण ४१६
का मतलब ४५५
निश्चलता की ५३९
का अपव्यय ५३९
समस्त—भौतिक, प्राणिक, मानसिक—अंत में आत्मशक्ति ही है ६१७
-यों की एकता समन्वय की संभावना का संकेत ६१७
प्रत्येक, पराकाष्ठा को पहुंचकर अनंततक पहुंचने का मार्ग ६२१
को धारण करने की अक्षमता ७५१
जो करणों की पूर्णता के बाद उनमें प्रवाहित की जाती है वह कौन-सी है और उनका प्रवर्तक कौन है ७५४
हमारी निजी ७७० दे० 'साधक' की सामर्थ्य भी
(दे० 'प्राण' भी)

शक्तियां
, सत्ताएं, जीव प्राण लोक के ४६०
(दे० 'सिद्धियां' भी)

शब्द ५४, ७२०

शब्दब्रह्म [Logos] ८०२

शरीर [देह] १९, २९, ७४, १५७, २९३, ३०८, ४२१, ४५६, ४९८, ५३७, ६२३अ, ६९६
अन्नकोष और प्राणकोष से निर्मित ९, १५, ३३, ३५१, ४६१, ५३८, ६५६
को एक बाधा समझना १०, ७८, ७४४
एक यंत्र, आधार १०, ३३, ७०८, ७४३, ७४४
और जीवनेच्छा १७२अ
की सीमाओं से मुक्ति १८५, ८९२
का रूपांतर २४२; में विज्ञानमय सिद्धि ७०७-८ दे० वि० ६८ भी
हमारी आत्मा नहीं, यह तो . . . २९६, ३४६; नहीं हूं, मैं ३४१
का त्याग समाधि अवस्था में ३२१, ४०२, ५२९
के साथ मन के व्यावहारिक संबंधों को ठीक करना पहला कदम ३४६
पर पूर्ण विजय स्थूल प्राण-शक्ति पर विजय से ही ३५२
में वैश्वभाव ३७६
एक वस्त्र या यंत्र ३४७अ, ३७६, ४७०
की भी अपनी एक चेतना है ३९३
से छूटने का अर्थ मर्त्य मन से छुटकारा नहीं ४०२
का आधिपत्य ४६८
के दास हैं हम ५३८
की निश्चलता ५३९
की चंचलता का अर्थ ५३९-४०
में थकान ३४९, ५४१, ५४२
भी रग-रग में सोम-सुरा से परिपूर्ण . . . ६१२
आत्मा का बाह्य करण ६५६ दे० 'जड़तत्त्व' भी
(दे० 'कारण शरीर', 'सूक्ष्म शरीर',

'शारीरिक जीवन', 'मन'; वि० २५ भी)
शांति ७८, ७९, १०२, १०६, १२०, १२४, १२९, १७०, २३०, २३९, २६४, ३१८, ३२०, ३२९, ३८९, ३९०, ३९८, ४२०, ५१६, ५२४, ५९७, ६०४, ६५२, ६७९, ६९१, ७३६, ७५०, ७७४
सर्वाधार १७९
रिक्त, नहीं २४८
अभिभूतकारी ३६८
पूर्ण, की आवश्यकता ३६८
आंतरात्मिक, का बलिदान ४१२
अजेय ७२६
(दे० 'नीरवता', 'कर्म'; वि० ६७ भी)
शारीरिक जीवन १९९, २१०
नहीं, चेतना निर्धारक तत्त्व ४०२
(दे० वि० २, ३ भी)
शारीरिक बल-सामर्थ्य ७७०
शारीरिक व्यायाम ७४६
शास्त्र [धर्म शास्त्र]
सनातन वेद ५३-४, ६१
के या गुरु के शब्द ५४-५
प्राचीन, के अनुसार साधना और पूर्णयोग ५५-७
और विविधता एवं विकास के लिये स्वतंत्रता ५६-७
और दिव्य नियम २०५-६
और व्यक्ति की प्रकृति २०६
शिक्षा ५३अ, ६७
शुद्धि [पवित्रता] ३७, २४८, ३१०, ३२०, ३४७, ३७३, ५२५, ५३८, ८४८
, आनन्द और पूर्णता भी, स्वतंत्रता ही नहीं ४८अ
हृदय की दे० 'भावमय मन'
बुद्धि की ३०५, ४८७अ, ७५२ दे० वि० २१ भी
प्राण की ३१५
और एकाग्रता ३१९, ३२०, ३२८
और मुक्ति ३५६, ३५८, ३६७, ६४८, ६८५, ७०४
का उद्देश्य ५२३
आत्म-निवेदन का एक तत्त्व ५८१अ
'आत्म-शुद्धि का मतलब ५८२; साधारणतः जिसे कहा जाता है ६५२; का अर्थ ६८५
मानसिक मिश्रण से, अनुभव की ६०२
और सिद्धि ६४८, ७०४, ८४४
के बाद रूपांतर का काम शेष ६४८
करणों की आवश्यक ६५२-६
की आत्मा को आवश्यकता नहीं ६५२
निष्क्रिय नहीं, सक्रिय ६५३
जिसकी सर्वांगीण सिद्धि मांग करती है ६५३-४
नैतिक ६५३
के विषय में हमारा कर्तव्य ६५४अ
का उपाय ७८३
के साथ-साथ प्रकृति को ऊपर उठाने का संकल्प भी ७८३अ
(दे० 'प्राण', 'मन'; वि० ६०, ६१ भी)
शुभ ५०२, ५१७, ५२२
और अशुभ नैतिक १५५
'शिव और अशिव १८६
और अशुभ के द्वंद्व से मुक्ति १९३-४
का भी त्याग ३३६
-कार्य का आवेश ३५६
और अशुभ से परे' का अर्थ ६५३
शूद्र ७६१-३
की स्थिति प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में और आधुनिक विवेचन में ७६१-२
शून्य ४०७, ५९३
शून्य ब्रह्म ३६९
शूली १५९
श्रद्धा [विश्वास] ४४, ४६, ६०, ६४, ७३,

८३, १८२, २२२, ५७६, ५७७, ६३१, ७०६
'यो यच्छ्रद्धः स एव सः ४४, ६३६, ७४८, ७८७
जो पूर्णयोग में अपेक्षित ८५
अगोचर को प्राप्त करने के अपने पुरुषार्थ में ८५
तब ज्ञान में परिणत ८५
दिव्य कर्मी की ११४
पहली आवश्यकता २४६-७
ऊपर से मिलनेवाला अवलंब २४७
यदि दिव्य प्रज्ञा और शक्ति में हो तो . . . २४८-९
आंतरात्मिक [संकल्प, तपस्] २९२
की शक्ति ६३५अ
शरीर पर प्रभाव डाल सकने की मन की शक्ति में ७४७, और शरीर में विरोधी विश्वास ७४७-८
'कल्याण-श्रद्धा ७५१-२
(दे० 'अंध-विश्वास', 'भागवत शक्ति'; वि०७२ भी)
श्रवण
, मनन, निदिध्यासन ३०७ टि०, ५८३
'दूर श्रवण ५३२
'दिव्य श्रवण शक्ति ६६०
'श्रवणेन्द्रिय का अतिमानसीकरण ८९१

स

संकल्प [संकल्प-शक्ति] ४४, ९३, १२९, १५७, १७६, ४१०, ४२८, ५२५, ५७६, ५७७, ६३५, ७४६, ७४९
वैयक्तिक, द्वारा साधना में करणीय बातें ६०-१, ८२, ८४, २२३, २३२, ३२० दे० 'प्रयत्न' भी
की भगवान् पर एकाग्रता दे० 'एकाग्रता'
हमारे, का नूतन जन्म ९३
और ज्ञान दे० 'ज्ञान'
'सर्वारम्भ परित्याग २४४, ६८७
यज्ञ का पुरोहित, तपस्, शक्ति, श्रद्धा है २९१-२
भागवत और वैयक्तिक २९२
'इच्छा-शक्ति और कामना दे० 'कामना'
की पूर्णता ६७९
कामना से रंगी ६७९
आत्मा की ६८६-७
का स्वरूप अहं में ६८७
में समता की भावात्मक पद्धति का कार्य ७३२-३
के अनेक रूप और बाह्य स्पर्शों के उत्तर में उसकी नानाविध प्रतिक्रियाएं ७३२-३
अतिमन में और मन में ८०७-८
(दे० 'इच्छा-शक्ति' भी)
संत १५३, १६४, १७४, ८४९
संदेह २४७, ४६५, ७९१
की उपयोगिता ५६५, ७८८, ७९५
संन्यास २७३
संन्यासी २२, २५, २७
संबंध
आत्मा का अपनी रची हुई सत्ताओं के साथ ११७, ४४२
मानवीय १३२
अन्यों के साथ ३९९, ४२०, ५०७अ
(दे० 'भगवान्' भी)
संयम २२०, ५०१ टि०, ८७८
संवेदन (ऐन्द्रिय) ५०१, ५०२, ७३०
भगवान् का ८८६
का विज्ञानमय रूपांतर ८९१-२
जो आज बेसुरा, कर्कश . . . ८९२
संवेदनात्मक मन ४२७, ६६६
की चीजें हैं भय, क्रोध ६५९
का अपना विशेष धर्म ६५९अ
ग्रहणशील, की शुद्धि ६७१-२
सच्चिदानन्द १६ टि०, ४१३, ४१६, ४१८,

४४३, ६३१अ
का साक्षात्कार दे० वि० ३०
के त्रैत की अभीप्सा ३२२
'एकता और निर्व्यक्तिकता से युक्त तथा गुणों की क्रीड़ा से मुक्त एक सत्ता यहां अवश्य ही विद्यमान है ३८८-९
के साक्षात्कार में मन की कठिनाई दे० वि० ३१
की स्थितिशील एकता भी सुदीर्घ कठिन प्रयास से साधित ४७३
में निवास ८४१
(दे० वि० ३०, ३१, ३२, ३३, ३४)
सत् ४३, ३८६, ३९२, ४०४
सत्ता ३९९, ४००
हमारी, में संघर्ष का कारण ३९३
और अभिव्यक्ति का द्वैत ४४२
निम्न त्रिविध, की धारण-शक्ति की सीमा ४८०
के दो ध्रुव : ब्रह्म और शक्ति, आत्मा और प्रकृति ६१७
सत्य १५६, १५८, १५९, १८०, २०१, ३२८, ४८३, ४८९, ५०१, ७२०, ७९२
को जीवन में उतारना ७०, ३८८
सर्वसमन्वयात्मक ११७
हमारी सत्ता का २४५, २७८, २९८, ३३७, ३४०, ३८०, ३८८, ३९२, ४१४, ४१६, ४४२, ४४९, ६१९, ६३१, ६८९, ७६९
नित्य सनातन २६१अ
वास्तविक, में जीवनयापन तबतक नहीं ३७९
अपनी सत्ता का, न पा सकने का कारण ३९५
जिससे अन्य सब सत्य उद्भूत होते हैं ४४१
मध्यवर्ती ४४७
सत्ता के बाह्य, के परे भी कुछ सत्य विद्यमान हैं ४६५
उच्च गोलार्द्ध के, हमारे अंदर मोटे आवरणों से छनते हुए आते हैं ४८०अ
'सत्यम् ४९३ टि०
एकता एवं अद्वैत का ४९६
शिव, सुन्दर ५१८
उच्चतर, का ग्रहण तभी ५२४
के पहलू अनंत हैं ६८२
वस्तुओं का, उनकी गहराइयों में . . . ७१२
का कुछ अंश हमारे सभी विचारों, संकल्पों, भावों, ऐन्द्रिय बोधों में . . . ८४५
मानसिक ८४६
को विज्ञानमय जीव उसके ठीक क्रम में देखता है ८५८
सत्य-चेतन मन ४२७
सत्य युग [स्वर्ण युग] २९अ, २०८
का चिह्न २०८अ
(दे० 'स्वर्ग-राज्य' भी)
सत्त्व दे० 'गुण'; वि० १५, ६३
सद्हृदयता की आवश्यकता २३१
सभ्यता का वास्तविक मूल १९६
समता १०२, १०७, १२९, १६३, १८१, १८२, २३२, ३१६
और एकता का मिलन गीता के कर्मयोग की प्रणाली ९७-८
और दूसरों का ज्ञान ९८
सभी वस्तुओं एवं घटनाओं के प्रति १०३, १०५, १७९, २२६, २२७
पूर्ण, निष्काम कर्म की कसौटी १०५
न होना इस बात का प्रमाण [चिह्न] कि . . . १०५, २२६
'सम आत्मभाव से मिलती-जुलती अवस्थाएं १०५

का अभ्यास १०६
प्राण-प्रकृति के परिवर्तन की एक शर्त १७९-८०
कामना के नाश का चिह्न १७९
आदि मंत्र ज्ञानमार्ग में भी ३१५
आधार, न कि उदासीनता ३५७; 'सम हृदय, न कि निष्क्रिय समता ७५१
अभावात्मक और भावात्मक ३५७
सिद्धि का प्रथम आवश्यक तत्त्व ७०५, ७११
चैत्य प्राण की पूर्णता की तीसरी शर्त ७४९-५०
(दे० वि० १४, ६५, ६६, ६७ भी)
समन्वय (योग प्रणालियों का) ६१७
का आधार ४अ, ३१
संतोषप्रद तभी ६-७
पाने के लिये हमें . . . ८
(दे० वि० ८ भी)
समर्पण [आत्म-समर्पण] २०७, ७८३, ८२३
संपन्न तभी . . . ६०, १६७
कठिन क्यों ६४
सारी प्रकृति को करना होगा ७३
पूर्ण, सरल नहीं ७३
को पूर्ण बनाने के लिये ८६अ; सिद्ध करने के सोपान २२३
साधन, रूपांतर का ९१, ९६
अपनी सचेतन इच्छा के, से सच्चा स्वातंत्र्य ९९अ
रहस्य, कामना रहित कर्मों का १०६
पूर्णरूप से स्वीकार्य यज्ञ में जैसा, अपेक्षित ११२
अनिवार्य क्यों १३५
पूर्ण होने का चिह्न १३५
तबतक साधित नहीं . . . १४०
और नियंत्रण से पथ-प्रदर्शन की प्राप्ति १४०
कर्मों का, प्रेममय १६७
अपेक्षित गुणों [शर्तों] में से एक १८६, १९४, २२२, २४४, २४५
कर्मयोग का साधन तथा साध्य २१५, २८०
कर्मों के फल की समस्त कामना का २२३-४
दिव्य संकल्प के प्रति ही नहीं, दिव्य प्रज्ञा के प्रति भी २३०
सक्रिय आत्मदान के साथ कर्मों का, २३३
मन और हृदय का भाव है २४९
भक्त का ५८२
पूर्णयोग का मूल सूत्र ६१९, ६९०
का आशय ७८२
और आध्यात्मिक मांग ७८२
(दे० 'अहं', 'कर्म', 'प्रयत्न'; वि० ८, १३ भी)
समस्वरता
अवचेतन जीवन की, आत्मा की और मानव की ८४७-८
समाज [समष्टि, समूह]
और आध्यात्मिकता २३, २७-८
प्रत्येक, भगवान् ही है ३७९
और व्यक्ति दे० 'व्यक्ति'
की प्रवृत्ति २००, इस पर विचारक की विजय वर्तमान में २००, भविष्य में २०१
समाजवाद का खतरा १९८
समाधि ३२६, ३४१, ३६८, ४६२, ५४७, ५४९, ५८३
और राजयोग ३६-७, ३२१, ४०१-२
की वह अवस्था जहां से सबके लिये वापस आना संभव नहीं ४०१
का मतलब ३२३-४, ४४४
और जागरित अवस्था के क्षण ४०२-३
'जाग्रत् समाधि ४०३

(दे० 'शरीर'; वि०४४ भी)
सम्मोहन-वशीकरण ६६१, ६६८
सहस्रदल कमल [ऊर्ध्व कमल] ५४६, ८२२
जब खुलता है ६०३-४
सांख्य ३८०, ४०८, ६४३, ६९५
और योग ३८८
और वेदांत ४०९
(दे० 'पुरुष और प्रकृति' भी)
सांत १२२
और अनंत ४९१, ४९९
साक्षी आत्मा [पुरुष] १७९अ, २५७, २९१, २९४, ६४१, ६४३
और कार्य वाहिका प्रकृति १२४-५, २६१, ६४४
की स्थिति सोपान मात्र २५४
साक्षीभाव [द्रष्टाभाव] २३२, ३४८, ३५०, ८७२
में प्रकृति से ऊर्ध्व में आसीन रहती है आत्मा १०२, २१७, २४१, ४३७
में, गुणों की क्रिया से पीछे हटकर, स्थित होना होगा २१९, २३२, २४०, ३५५, ३५८, ७२५
साधक ४५ टि०
आदर्श ५८
क्रमशः ही आगे ले जाया जाता है ७१
से जिस चीज की मांग की जाती है ११३, २१८-९, ७१३-४ दे० 'प्रयत्न', 'संकल्प' भी
का जैसे ही गुह्य नेत्र खुलता है... १२९अ
पूर्णयोग के, के लिये कोई भी एक अनुभव या पथ ऐकान्तिक सत्य नहीं १३१
का जीवनेच्छा की शक्तियों के साथ संघर्ष तथा युद्ध १७३-४
के लिये एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु ३३३
के लिये सर्वाधिक अनिवार्य चीज ३४४-५
पूर्णयोग के, के लिये मन-प्राण-शरीर से अलग होने तथा एक सत् ही सब जगह ओतप्रोत है—दोनों क्रियाओं का एक साथ अभ्यास... ३७४
पूर्णयोग के, की कठिनाई अधिक-तीव्रतः व्यक्तिप्रधान योग से अधिक बड़ी ७२९
तब स्वयं विचार, संकल्प, कर्म, वेदन नहीं करता, बल्कि ये उसके आधार में घटित होते हैं ७८५
का पहला कर्तव्य समता की क्रिया में दे० वि०६७
की सामर्थ्य ७९६ दे० 'शक्ति' हमारी भी
साधन चार दे० वि०६
साधना [योग साधना] ४५ टि०
में बदल-बदल कर आनेवाली अवस्थाएं ३६७, ७८०
के तीन मूल तत्त्व: शुद्धि, एकाग्रता, मुक्तता ५३८
-काल के दिन और रात ६०४; के अंधकारमय काल ७९१
की कठिनाई को कम... दे० 'रूपांतर'
और उन्नति—बुद्धि, संकल्प आदि की हितकर है, पर यह एक चक्कर में घूमते रहना है ६२४
साधु २३७
सामाजिक कर्तव्य २१२अ
सामाजिक जीवन दे० वि०३
सामाजिक नियम दे० वि०१२, १३
साम्राज्य ३७, ६३, १७८
सायंस और योग ५, ४६७
सार्वभौम हितकामना १५४
साहस
अपेक्षित गुण ४६, ६४, २४९, ३२९, ७४९

सिद्धि दे० 'आध्यात्मिक सिद्धि'; वि० ५८, ६४, ६५
सिद्धियां ५०३, ५५०
शारीरिक ७०८, ७४६
सुख [सुख-संतोष] १०४, १७०, ४१९, ६५२, ७२३, ७२६
जिसे जीवात्मा खोज रही है ६३
प्राणिक १५८, २२४
एकमात्र सच्चा ६००
-दुःख अविच्छेद्य हों, ऐसा नहीं है ६५३
'सुखम् ७३६
-भोग का वर्जन ३३५, ३३६
(दे० 'आनन्द' भी)
सूक्ष्म शरीर [मनोमय कोष] १५, ४६१, ४७५, ४७७अ, ७०८, ८२२
सूर्य ४८०, ४८८, ४९२, ६०४, ६८३
सृष्टि ८६५
यज्ञ और, १०८
-रचना भ्रम नहीं १३०
का गुप्त तात्पर्य १३२
भागवत प्रेम का कार्य १६६
की रचना, उसका धारण-पोषण और संहार भगवान् . . . ७१३
की व्यवस्था [विधान] ८०२
(दे० 'जगत्', 'भागवत प्रेम' भी)
सौंदर्य १५८, १७०, ३०८, ५२१, ५२४, ५९९, ६००, ६०१
सौंदर्यग्राही मन ६७८, ६७९
स्टोइक २४
स्तर [भूमिका, लोक] २५७
आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक, पर ब्रह्म-माया का द्वैत १२३, १२५
-में, महत्तर, का प्रभाव यहां १८४, ८९९
'सत्य-भूमिका ३९४
अन्य भी हैं ४६६, ८९९
-परंपरा और मनुष्य की सामान्य सत्ता ४७२
विज्ञानमय ४९१-२, ४९९, ५०३ दे० 'अतिमानसिक लोक' भी
'आनन्द भूमिका—ब्रह्म लोक, वैकुण्ठ, गोलोक नाम से वर्णित ५१४
(दे० 'प्राण', 'प्राण लोक', 'मन'; वि० ३७ भी)
स्नायविक मन [सत्ता] ६५९
का नियम : कर्म एवं उपभोग, किंतु चुनाव . . . २१२
स्मरण
अखण्ड ११३
अपने सच्चे स्वरूप का ३४६
स्मृति [स्मरण-शक्ति] ३१४, ४९०
भविष्य की ३१४, ५३२, ८८१, ९२०
सूक्ष्म आकाश में विद्यमान प्रतिमाओं की ५३२
चित्त की ६५७
प्राणिक एवं शारीरिक ६५७
भावमय मन की ६५८
तर्कबुद्धि का एक साधन ८७४
प्रसुप्त ८७४
स्व-ज्ञान
और आत्मा का ज्ञान ३०५, ३०६
'आत्मानं विद्धि ३०६
स्वतंत्रता [स्वातंत्र्य] ४८अ, ९९अ, १०२, २०४, ४४६, ४७१
साधन, स्वामित्व पाने के लिये ११, ६४, ६४०
योगाभ्यास में ५५-७
गीता निर्दिष्ट १०५
शर्त, पूर्णता की १९७
शर्त, विकास की २०६
अपनी सत्ता और कर्मों में, पानी हो तो . . . २३४
दिव्य कर्म की, और निष्क्रिय साक्षी की ४२०-१
पुरुष की और स्वतंत्र अस्तित्व का

अहम्मय सिद्धांत ४४९-५०
अपनी सापेक्ष, का उपयोग ७७३-४
(दे० 'मुक्ति', 'आत्मा', 'आध्यात्मिक स्वातंत्र्य' भी)
स्वभाव ८७९
द्वारा निर्धारित कर्म २७७
स्वराज्य ३७
स्वराट् ४३४, ४३६, ४५७, ६४६
और सम्राट् ६५०, ७१४-५
स्वर्ग २७२, ४५९, ४८०, ५१६, ५७३, ५९७
चैत्य या मानसिक ४७१
स्वर्ग राज्य ५०, ६२३
(दे० 'सत्य-युग' भी)
स्वार्थ [स्वार्थपरता] ३२९, ५६३
-त्याग ३३६
स्व-निरीक्षण ३०५

ह

हठयोग ६१६
का आधार ५
और प्राण व शरीर का संतुलन ३३-४, ५३९-४०
की मुख्य क्रियाएं: आसन और प्राणायाम ३४, ३६
की दुर्बलता ३४-५
और राजयोग ३६, ३७
का मूल सिद्धांत ६१५
(दे० वि० ४५)
हवि दे० 'अर्घ्य'
हृदय दे० 'भावमय मन'
हृदय कमल
जब खुलता है ६०३

नामानुक्रमणिका

अर्जुन ३३४
ईसा ६६, ६७, २७४, ३३१, ५९४, ६०८
उपनिषद् दे० 'उद्धरण-सूची'
कन्फ्यूशस २०५
कल्विन ३८५
काली ३८५, ५९४, ६०८, ७८६
कृष्ण दे० 'श्रीकृष्ण'
गीता दे० 'उद्धरण-सूची'
घोर ऋषि ५४
जनक २७४
दुर्गा ६०८
पतञ्जलि ५६, ५०१ टि०, ८७८
फ्रांसिस सेंट ३८५
बाइबिल ५८
बुद्ध ६६, ६७, २६८, २७३, २७४, २७५, ५६६, ५९४, ६०८
ब्रह्मा ३८५
भागवत पुराण २७३
भारत दे० 'अनुक्रमणिका'
मनु २०५
महाकाली ७९७
महादेव ५०९ टि०, ७८६
महालक्ष्मी ७९७
महासरस्वती ७९७-८
महेश्वरी ७९७
याज्ञवल्क्य १०९
राधा ७८६
राम ३३४
रामकृष्ण परमहंस ४१, ५४
रावण ३३४
वर्ड्सवर्थ का प्रकृति-तादात्म्य ३०८-९
विवेकानन्द ४, ५७, २७३, २७५
विष्णु ३८५, ५९४, ६०८
वेद ५३, ६१, ४८१ दे० 'उद्धरण-सूची' भी
शंकर २७४
शिव २२६, ३८५, ५९४, ६०८
शुनः शेप ४८८
श्रीकृष्ण [कृष्ण] ५४, ६६, ६७, ११०, २७४, ५८८, ५९४, ६०८, ७८६
हरगौरी ५०९
हिराक्लिटस् ५१० टि०

उद्धरण-सूची

उपनिषद्

जब देवताओं के सामने पशुओं के रूप उपस्थित किये गये... ज्यों ही मनुष्य आया... ९

जिस प्रकार पहिये के आरे उसके केन्द्र में जुड़े... १० टि०

मनोमयः प्राण शरीर नेता ११ टि०

ऐसी आत्मा जो 'स्वप्न' में निवास करती है २३ टि०

वह एकीकृत सत्ता... सबकी स्वामिनी, सर्वज्ञात्री... २५ टि०

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ७४ टि०

इहैव ७५

पत्नी पत्नी के लिये नहीं, आत्मा के लिये प्यारी १०९

हृदये गुहायाम् १५२

अंतरात्मा इस देहसंघात में मनुष्य के अंगूठे से बड़ा नहीं १५६

बुद्धेः परस्तु सः २९७

नेति-नेति २९९

अंतरात्मा के द्वार बाहर की ओर खुलते हैं ३०५

आत्मानं विद्धि ३०६

सोऽहमस्मि ३०८, ३४५, ४२९, ४९३ टि०, ७८१

ओ३म् ३२१

अमृतस्य पुत्राः ३३०

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ३३६ टि०, ७१७

सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् ३४३ टि०

तत्त्वमसि ३४५

संपूर्ण मनश्चेतना इस प्राण से ओतप्रोत ३५५

यो वै भूमा तत्सुखम्... ३६० टि०

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति... तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ३७३ टि०, ४२०, ४३०, ७३६

यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं ३७८ टि०

निर्गुणो गुणी ३८३, ७६६

सः ३८६

आत्मविस्तार और रूपांतर की समावेशकारी क्रिया ४०६

न कर्म लिप्यते नरे ४११

जगत्यां जगत् ४२१

पुरुष पांच प्रकार का ४६८

जड़तत्त्व [अन्न] को ही ब्रह्म मानो... ४७४

मनोमय पुरुष को प्राप्त होनेवाले स्वर्ग वे हैं... ४८०

सूर्य, व्यूह रश्मीन् समूह... ४९३ टि०

मनोमय पुरुष से ऊपर विज्ञानमय पुरुष उपलब्ध हो जाने के बाद भी एक पग शेष रह जाता है ५०५

आनन्द ही वास्तविक सृष्टिकारी तत्त्व ५१४

अनात्म्यं अनिलयम् ५९३

जो कोई उसे सत् के रूप में देखता है वह वही सत् बन जाता है, जो उसे असत् रूप में... ५९५

यदि यह आनन्द का गुह्य आकाश न होता... ६०१

सूर्य देखनेवाली आंख के दोषों से प्रभावित नहीं होता... ६५२

सर्वं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म ७०९

प्रकाश से बारंबार सुदीर्घ निर्वासन ७९१

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ७९६

"पश्यति", "ईक्षण किया" ८५२

ब्रह्म को... मात्रास्पर्शों द्वारा जानता है ८८६

गीता

यो यच्छ्रद्धः स एव सः ४४, ६३६, ७८७
शब्द ब्रह्मातिवर्तते ५५ टि०
श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ५५ टि०
सब जीवों के हृदेश में ईश्वर विराजमान है, ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशे... ९९, ८२१
माया के द्वारा यंत्रारूढ़ की भांति चला रहा है ९९, २५५, ८२१
सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा... १०८ टि०
मानुषीं तनुमाश्रितम् १३२, १६२ टि०
मुक्त आत्मा को भी जीवन के सभी कर्म करते रहने चाहियें १३८
ज्ञानी मनुष्य को अपने जीवन के ढंग से लोगों को संसार-कर्म से हटाना नहीं चाहिये १४६
यदि मैं कर्म न करूं तो... १४६
परं भावम् १६१ टि०
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति... १६४ टि०
कर्म के प्रेरक के रूप में फलों की कामना का त्याग १७९
"धर्म" २०४ टि०
सब धर्मों का त्याग कर मेरी शरण ले २१०, २७८, ७१९
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा २२२ टि०, २४७ टि०
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन २२४ टि०
अंशः सनातनः २३१ टि०, ४३९
पराप्रकृतिर्जीवभूता २३१ टि०, ५०३, ७५४, ७७६, ७८२, ७८६
गुणों की क्रिया से पीछे हटकर... साक्षी की भांति... २४०
त्वया हृषीकेष हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि...२५४ टि०, ५०४ टि०
जो अंदर से स्वतंत्र है वह सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता २७३
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते २७४ टि०
मुक्त मनुष्य का कर्म कामना से परिचालित नहीं... लोकसंग्रह... २७५
कर्तव्यं कर्म २७६
स्वभाव के द्वारा निर्धारित कार्य... २७७
सर्वकृत् ३०१
ज्ञान परम पवित्र वस्तु है ३११
समस्त विचार को बहिष्कृत कर बिल्कुल विचार न करने... ३१८
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ३२१
समाधिस्थ ३२४
अहंभाव से मुक्ति की मांग सूक्ष्म... अर्जुन... ३३४
इन रुधिर लिप्त भोगों को भोगने से तो... ३३४
ये दुर्बलता, भ्रम और अहंकार हैं जो तेरे अंदर बोल रहे हैं... युद्ध कर विजय प्राप्त कर... ३३४
युक्ताहार विहार का सिद्धांत ३५१
एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ३६८
तीन पुरुष : क्षर, अक्षर, परात्पर ३८३
सर्वं ब्रह्म ४०७, ७०९
केवलैरिन्द्रियैः ४०९ टि०, ४१०
प्रविलीयन्ते कर्माणि ४११
हर्ष किंवा शोक में सब भूतों को आत्मवत् देखना ४२२
दुःखम् आप्तुम् ५३८
सर्वं कर्माखिलं ज्ञाने परिसमाप्यते ५५५
यस्मात् क्षरमतीतो... स सर्ववित् भजति मां सर्वभावेन... ५५६
भक्ति से मनुष्य मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है ५५७
ज्ञान की भांति भक्ति से भी पुरुषोत्तम के

साथ सायुज्य . . . ५६०
तथैव भजते ५६८
तुम जीवन में मेरे निमित्तमात्र बनो ५७५
सर्वलोकमहेश्वरं सुहृदं सर्वभूतानाम् ५७५
योगक्षेमं वहाम्यहम् ५७६, ५७७
भक्त चार प्रकार के ५७८ टि०
निम्न प्रकृति की चार ग्रन्थियां : कामना, अहंकार, द्वंद्व और त्रिगुण ६८५
सर्वारम्भपरित्यागी ६८७
जिस प्रकार समुद्र में आंधी नौका को उड़ा ले जाती है . . . ६८८
समं ब्रह्म ७०५
समत्वं योग उच्यते ७०५
राज्यं समृद्धम् ७१२
मैं तुझे सब पापों और बुराइयों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत कर ७१९
न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ७२६
ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते ७२६, ७४०
आत्मरतिः ७२६
बाह्यान् स्पर्शान् ७२७
स्वल्पम् अपि अस्य धर्मस्य ७३८
निराश्रयः ७४०
अंतःसुखोऽन्तरारामः ७४०
विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा ७५५
योगः कर्मसु कौशलम् ७९७

बाइबिल

मेरे भगवत्प्राप्ति के उत्साह ने मुझे पूर्णतः ग्रस लिया है ५८

भागवत पुराण

मुझे न तो आठों सिद्धियों से युक्त परमपद की . . . २७३

विवेकानन्द

मुझे अपनी मुक्ति की भी इच्छा नहीं . . . २७३

वेद

यत्सानोः सानुमारुहद् . . . १३४ टि०, ८५५; भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् [भूरि कर्त्वम्] १३४ टि०, ७९२
यज्ञ १३६, ४२३
सदस्, गृह, धाम, पद, भूमि, क्षिति ४०४
ऋतं ज्योतिः ४८८
सविता सूर्य ४९२
ऋतं भद्रम् ४९२
देवानामदब्धानि व्रतानि ५०१
परार्द्धे परमस्यां परावति ५०४
ऋतस्य स्वे दमे ५९०
ऋतेन ऋतम् अपिहितम् . . . दशशता सहतस्थुः, तद् एकम् ५९०
नाना देव एकमेव भगवान् के व्यक्तित्व ५९२
सूर्यस्य द्वारा ६८३
सत्यम्, ऋतम् ८५४, ९०४
उपरि बुध्ने ८६७
बुध्ने ऋतस्य ८६७
महान्, बृहत् ९०३

इस योग में हमने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है वह इससे लेशभर भी कम नहीं है कि हम अपने भूत और वर्तमान के उस सारे ढांचे को तोड़ डालें जो साधारण भौतिक तथा मानसिक मनुष्य का निर्माण करता है और उसके स्थान पर अपने अन्दर दृष्टि के उस नवीन केन्द्र तथा कर्मण्यताओं के उस नये संसार की रचना करें जो एक दिव्य मानवता या अतिमानव-प्रकृति का गठन करेंगे। ... मन को मन ही बने रहना छोड़कर अपने से परे की किसी वस्तु से प्रकाशमान बनना होगा। प्राण को एक ऐसी विशाल, शान्त, तीव्र और शक्तिशाली वस्तु में बदल जाना होगा जो अपनी पुरानी अन्ध, आतुर एवं संकीर्ण सत्ता को या क्षुद्र आवेग एवं कामना को पहचान तक न सके। यहां तक कि शरीर को भी परिवर्तन में से गुजरना होगा और आज की तरह एक तृष्णामय पशु या बाधक रोड़ा न रहकर आत्मा का सजग सेवक और तेजस्वी यन्त्र तथा जीवन्त विग्रह बनना होगा।

—श्रीअरविन्द

ISBN 978-81-7058-183-3
Rs 360